
THE
HĪRASAUBHĀGYA
OF

DEVAVIMALAGANI

with his own gloss.

EDITED BY

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA PĀṆDIT ŚIVADATTA

Head Pandit and Superintendent, Sanskrit Department,
Oriental College, Lahore,

AND

KĀSHĪNĀTH PĀṆDURANG PARAB.

PRINTED AND PUBLISHED

BY

TUKĀRĀM JĀVAJĪ,

PROPRIETOR OF JĀVAJĪ DĀDĀJĪ'S "NĪRṆAYA-SĀGARA" PRESS.

BOMBAY.

1900.

(Registered according to act XXV of 1867.)

काव्यमाला. ६७.

श्रीदेवविमलगाणिविरचितं

हीरसौभाग्यम् ।

स्वोपज्ञया व्याख्यया समलंकृतम् ।

जयपुरमहाराजाश्रितमहामहोपाध्यायपण्डितदुर्गाप्रसाददारक-
केदारनाथकृपाङ्गीकृतशोधनकर्मणा महामहोपाध्याय-
पण्डितशिवदत्तशर्मणा, मुम्बापुरवासिपरवोपाह्व-
पाण्डुरङ्गात्मजकाशीनाथशर्मणा च
संशोधितम् ।

तच्च

मुम्बय्यां निर्णयसागराख्ययन्त्रालये तदधिपतिना मुद्राक्षरैरङ्कयित्वा
प्राकाश्यं नीतम् ।

१९००

(अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणादिविषये सर्वथा निर्णयसागरमुद्रायन्त्रालयाधिपते-
रेवाधिकारः ।)

भूमिका ।

—००००—

अस्य हि सटीकस्य हीरसौभाग्यनामकमहाकाव्यस्य कविता देवविमलगणिः कस्मिन्काले कस्मिन्देशे कं ग्राममलंचकारेति सम्यक्तया न निश्चितम्, तथापि ग्रन्थप्रशस्ति-लेखतः श्वेताम्बरजैनलमस्य प्रतीयते. प्रतिसर्गसमाप्तिश्लोकतस्तु 'अस्य पिता शिवसाधुः, माता सौभाग्यदेवी, गुरुः सीहविमलगणिः,' इति व्यक्तमेव प्रतीयते.

ग्रन्थनिर्माणसमयस्तु वर्णनीयस्य हीरविजयगणेश्वरस्य १६५२ विक्रमसंवत्सरे (1595 A. D.) भाद्रपदशुक्लैकादश्यां वर्णितत्वेन षोडशशतकादुपरितन एव संभाव्यते.

अनेन प्रायः सर्वेऽपि कविवर्णनीयाः पदार्था वर्णिताः. तेषामनुक्रमण्यपि प्रतिसर्ग-समाप्तिटीकायां ग्रन्थकर्त्रैव प्रकाशिता. अस्माभिरपि विषयानुक्रमणिका स्थूलतया पृथग्मुद्रापिता. ततश्च सर्वेऽपि विषया द्रष्टव्याः.

अस्य च पुस्तकमेकमेव प्राप्तम्, तदाधारेणैव शोधनं कृतम्. तथा चात्रास्मद्दोषादक्ष-रयोजकदोषाद्वा यत्र कचनाशुद्धिः स्थिता जाता वा, तां सहृदया दयार्थचित्ततया शोधयिष्यन्ति इति संभावयामः. यतः—

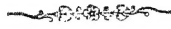
गच्छतः स्खलनं कापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सजनाः ॥

इति प्रार्थयतः

पण्डितशिवदत्त-काशीनाथौ ।

विषयानुक्रमिका ।



| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|-----------------------------------|----------|------------------------------------|----------|
| भङ्गलाचरणम् | १ | वसन्तर्तुवर्णनम् | २८ |
| वाग्देवीनमस्कारोक्तिः | २ | ग्रीष्मर्तुवर्णनम् | २९ |
| प्रसत्तिस्पृहा | ३ | वर्षावर्णनम् | २९ |
| अनुकूलत्वदर्शना | ३ | शरद्वर्णनम् | २९ |
| प्रस्तुताभिधेयत्वम् | ३ | हेमन्तवर्णनम् | ३० |
| खानौद्धत्यप्रकटनम् | ४ | शिशिरवर्णनम् | ३० |
| स्वेतरायोग्यत्वम् | ४ | प्राकारवर्णनम् | ३३ |
| स्वीययोग्यताप्रदर्शना | ४ | हृदावर्णनम् | ३४ |
| रचनासामर्थ्यदर्शना | ५ | गृहवर्णनम् | ३५ |
| पीठिकासमाप्तिः | ५ | नागरवर्णनम् | ३९ |
| वर्णनारम्भः | ५ | नागरीवर्णनम्, प्रह्लादपुरवर्णनसमा- | |
| जम्बुद्वीपवर्णनम् | ७ | प्तिश्च | ४० |
| मेरुवर्णनम् | ७ | मुहमन्दपातिसाहिर्वर्णनम् | ४० |
| भरतक्षेत्रवर्णनं तद्भागश्च | ८-९ | प्रथमसर्गसमाप्तिः | ४३ |
| तदन्तःपातिगङ्गावर्णनम् | ९ | | |
| आनन्दपुरवर्णनम् | ११ | द्वितीयसर्गारम्भः | ४४ |
| शङ्खेश्वरनाथवर्णनम् | १२ | कुंरासाहवर्णनम् | ४४ |
| स्तम्भननाथवर्णनम् | १६ | नाथीवर्णनम् | ४८ |
| सरस्वतीवर्णनम् | १७ | दम्पत्योर्वनक्रीडा | ४९ |
| साभ्रमतीवर्णनम् | १८ | गजखप्रादिकम् | ६४ |
| केलिशैलवर्णनम् | १९ | गजखप्रविचारकथनस्वशयनसङ्गम- | |
| केदारवर्णनम् | २० | नम् | ६५ |
| गोधेनुवर्णनम् | २१ | खप्रजागरिकायां भरतदिग्विजयो- | |
| देशवर्णनम् | २२ | द्धारप्रतिमाप्रासादकारादिवर्णनम् | ७० |
| प्रह्लादनपुरवर्णनम् | २३ | सख्युक्तरात्रिविरामादिकथनम् | ८० |
| प्रह्लादनपार्श्वनाथवर्णनम् | २५ | द्वितीयसर्गसमाप्तिः | ८७ |
| नररत्नखनिर्नगरम् | २५ | | |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|-----------------------------------|----------|
| कपोलस्तनादिपाण्डित्यं स्तनयोः | |
| पयःपूर्णत्वं च | ९२ |
| हीरजन्मसमयादिकम् | ९७ |
| हीरजन्ममाहात्म्यम् | १०१ |
| पुत्रवर्धापनिकादानादिः | १०५ |
| पुत्रोत्सवनामकरणादिः | १०७ |
| धात्रीपरिपालनशृङ्गारकरणादिकम् | ११० |
| बालक्रीडा | ११६ |
| हीरकुमारसर्वाङ्गवर्णनम् | १२० |
| कुमारगुणलक्षणभूषणादिवर्णनम् ... | १३५ |
| तृतीयसर्गसमाप्तिः | १४१ |
| चतुर्थसर्गारम्भः | १४२ |
| महावीरपट्टपरम्परावर्णनारम्भः ... | १४३ |
| महावीरवर्णनम् | १४३ |
| गौतमस्वामिवर्णनम् | १४३ |
| सुधर्मास्वामिवर्णनम् | १४५ |
| जम्बूस्वामिवर्णनम् | १४६ |
| प्रभवस्वामिवर्णनम् | १४८ |
| शायंभवस्वामिवर्णनम् | १४८ |
| यशोभद्रस्वामिवर्णनम् | १४९ |
| संभूतिविजयस्वामिवर्णनम् | १५० |
| भद्रबाहुसूरिवर्णनम् | १५० |
| स्थूलभद्रवर्णनम् | १५१ |
| आर्यमहागिरि-आर्यसुहस्तिवर्णनम् | १५३ |
| सुस्थितसुप्रतिबद्धयोर्वर्णनम् ... | १५५ |
| इन्द्रदिन्नसूरिवर्णनम् | १५५ |
| दिन्नसूरिवर्णनम् | १५६ |
| सीहगिरिसूरिवर्णनम् | १५६ |
| वज्रस्वामिवर्णनम् | १५७ |
| वज्रसेनसूरिवर्णनम् | १५९ |
| चन्द्रसूरिवर्णनम् | १६० |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|-----------------------------------|----------|
| सामन्तभद्रवर्णनम् | १६१ |
| वृद्धदेवसूरिवर्णनम् | १६१ |
| प्रद्योतनसूरिवर्णनम् | १६२ |
| मानदेवसूरिवर्णनम् | १६२ |
| मानतुङ्गसूरिवर्णनम् | १६४ |
| वीराचार्यवर्णनम् | १६५ |
| जयदेवसूरिवर्णनम् | १६५ |
| देवानन्दवर्णनम् | १६५ |
| विक्रमसूरिवर्णनम् | १६६ |
| नरसिंहसूरिवर्णनम् | १६६ |
| समुद्रसूरिवर्णनम् | १६६ |
| द्वितीय-मानदेवसूरिवर्णनम् | १६७ |
| विबुधप्रभसूरिवर्णनम् | १६७ |
| जयानन्दसूरिवर्णनम् | १६७ |
| रविप्रभसूरिवर्णनम् | १६७ |
| यशोदेवसूरिवर्णनम् | १६८ |
| प्रद्युम्नदेवसूरिवर्णनम् | १६८ |
| तृतीय-मानदेवसूरिवर्णनम् | १६८ |
| विमलचन्द्रसूरिवर्णनम् | १६९ |
| उद्योतसूरिवर्णनम् | १६९ |
| सर्वदेवसूरिवर्णनम् | १६९ |
| देवसूरिवर्णनम् | १७० |
| द्वितीय-सर्वदेवसूरिवर्णनम् | १७१ |
| यशोभद्र-नेमीचन्द्रसूरिवर्णनम् | १७१ |
| मुनिचन्द्रसूरिवर्णनम् | १७१ |
| अजितदेवसूरिवर्णनम् | १७२ |
| सोमप्रभ-मणिरत्नसूरिवर्णनम् | १७३ |
| जगच्चन्द्रसूरिवर्णनम् | १७३ |
| देवेन्द्रसूरिवर्णनम् | १७४ |
| धर्मघोषसूरिवर्णनम् | १७४ |
| सोमप्रभसूरिवर्णनम् | १७७ |
| सोमतिलकसूरिवर्णनम् | १७७ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|------------------------------------|----------|--------------------------------------|----------|
| देवसुन्दरसूरिवर्णनम् ... | १७७ | विमलायास्तृतीयवारं वाक्यम् ... | २०८ |
| सोमसुन्दरसूरिवर्णनम् ... | १७८ | विमलां स्वसारं प्रति कुमारस्यापि | |
| मुनिसुन्दरसूरिवर्णनम् ... | १७८ | तृतीयवारं प्रतिवचः ... | २१० |
| रत्नशेखरसूरिवर्णनम् ... | १८० | विमलाया दीक्षादेशप्रदानम् ... | २१० |
| लक्ष्मीसागरसूरिवर्णनम् ... | १८० | दीक्षानुज्ञादानानन्तरं धर्मकारकत्वेन | |
| सुमतिसाधुसूरिवर्णनम् ... | १८० | भगिनीस्तुतिः ... | २१० |
| हेमविमलसूरिवर्णनम् ... | १८१ | भगिनीवचनानन्तरं स्वजनवर्गादेश- | |
| आनन्दविमलसूरिवर्णनम् ... | १८१ | ग्रहणम् ... | २१२ |
| विजयदानसूरिवर्णनम् ... | १८७ | दीक्षामुहूर्तदिवसावलोकनम् ... | २१३ |
| चतुर्थसर्गसमाप्तिः ... | १८९ | दीक्षासमये कुमारशृङ्गारवर्णनम् ... | २१४ |
| पञ्चमसर्गरम्भः ... | १८९ | दीक्षासमये हीरस्यारोहणार्थं तुरगा- | |
| हीरकुमारागमन-गुरुवन्दने ... | १८९ | द्यानयनम् ... | २२४ |
| गुरुदेशना ... | १९२ | दीक्षाग्रहणप्रस्थानसमये कुमारपुरो | |
| हीरकुमारस्य वैराग्योत्पत्तिः ... | १९५ | गीतनृत्यवादित्रादिकथनम् ... | २२४ |
| हीरकुमारं प्रति गुरुवाक्यानि ... | १९५ | तत्समयानीतगजाश्वरथलोकभारवा- | |
| विजयदानसूरिपुरो हीरकुमारस्य | | हुल्यम् ... | २३० |
| दीक्षाग्रहणनिश्चयः ... | १९८ | पौराङ्गनाविविधविचेष्टितवर्णनम् ... | २३१ |
| विमलाभगिनीं प्रति हीरकुमारस्य | | कुमाररूपदर्शनादिविचारः ... | २३७ |
| दीक्षादेशमार्गणवचनम् ... | १९९ | पौराङ्गनानां हीरकुमारदर्शनाद्भूत- | |
| विमलायाः प्रथमोक्तिः ... | २०१ | मिथः कथाप्रथा ... | २३९ |
| प्रव्रज्यादढतायां भगिनीं प्रति कु- | | हीरकुमारस्योपवनप्रवेशः ... | २४१ |
| मारवचः ... | २०३ | दीक्षाग्रहणयोग्यवटद्रुमवर्णनम् ... | २४३ |
| शीतकालकाव्यम् ... | २०४ | हीरकुमारस्य दीक्षाग्रहणम् ... | २४४ |
| ग्रीष्मसमयकाव्यम् ... | २०५ | पञ्चमसर्गसमाप्तिः ... | २४९ |
| वर्षर्तुकाव्यम् ... | २०६ | षष्ठसर्गरम्भः ... | २४९ |
| विमलाया द्वितीयवारं वाक्यानि ... | २०६ | हीरहर्षगणेः पठनसमयगुणवत्त्वम् | २४९ |
| कुमारोक्तं यत्तिसातकृच्छीतकाल- | | मलयाचलवर्णनम् ... | २५३ |
| काव्यम् ... | २०७ | माणिक्यस्वामिवर्णनम् ... | २५५ |
| कुमारोक्तमुनिमनःसुखकृद्वीधर्तु- | | अन्तरीक्षपार्श्वनाथवर्णनम् ... | २५५ |
| काव्यम् ... | २०७ | करहेटकपार्श्वनाथवर्णनम् ... | २५६ |
| कुमारोक्तश्रमणस्वान्तविश्रामकारि- | | जीवत्स्वामिवर्णनम् ... | २५६ |
| वर्षर्तुकाव्यम् ... | २०७ | गिरिवननद्यः ... | २५८ |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|---|----------|
| देवगिरिवर्णनम् | २५७ |
| देवगिरिनागरवर्णनम् | २५८ |
| देवगिरिनगराङ्गनावर्णनम् | २५८ |
| देवगिरिनिजामसाहिवर्णनम् | २६० |
| देवसीव्यवहारिवर्णनम् | २६१ |
| जसमादेवीवर्णनम् | २६२ |
| पण्डितद्विजवर्णनम् | २६४ |
| हीरहर्षगणेद्विजपण्डितपार्श्वे पठन- वर्णनम् | २६५ |
| हीरहर्षगणेः खपरशास्त्रपरिज्ञानम् | २६७ |
| विहारमार्गवर्णनम् | २६८ |
| हीरहर्षगणेशुरुपाश्वर्गमनम् | २७० |
| हीरहर्षगणेशोपाश्वर्गमनमयः | २७१ |
| स्वाभाविकदानम् | २७२ |
| विजयदानसूरेध्यानम् | २७३ |
| विजयदानसूरिपुरोध्यानप्रत्यक्षीकृत- शासनदेवताप्रोक्ताचार्यपदोचि- तकथनम् | २७४ |
| विजयदानसूरिध्यानविधानानन्तरं बहिरागमनम् | २७६ |
| शकुनावलोकनम् | २७७ |
| हीरविजयसूरेराचार्यपदस्थापनाकालः | २७८ |
| आचार्यपदमहोत्सवः | २८० |
| सूरीन्द्रद्वयस्य पत्तनप्रवेशः | २८१ |
| समरथभणशालीकृतमहोत्सवपूर्वक- हीरविजयसूरिपुरंदराचार्यपदन- न्दिवन्दनप्रदानवर्णनम् | २८२ |
| हीरविजयसूरेस्तपागच्छसाम्राज्य- प्राप्तिः | २८४ |
| हीरविजयसूरिगुणाः | २८६ |
| भेदपादमण्डलवर्णनम् | २८७ |
| नारदपुरीवर्णनम् | २८९ |
| उदयसिंहराजवर्णनम् | २९० |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|---|----------|
| कमावर्णनम् | २९१ |
| कोडिमदेवीवर्णनम् | २९२ |
| कोडिमदेव्याः सिंहस्वप्नदर्शनम् | २९३ |
| विजयसेनसूरेर्जन्मदीक्षादिवर्णनम् | २९५ |
| हीरविजयसूरेः पट्टधरत्ववर्णनम् | ३०० |
| डीसानगरवर्णनम् | ३०१ |
| चतुर्मासागमनम् | ३०२ |
| षष्ठसर्गसमाप्तिः | ३०३ |
| सप्तमसर्गारम्भः | ३०३ |
| वर्षावर्णनम् | ३०३ |
| हीरविजयसूरेः सूरिमन्त्रस्य ध्यान- विधानारम्भः | ३०५ |
| शरद्वर्णनम् | ३०५ |
| सूर्यास्तवर्णनम् | ३०८ |
| संध्यावन्दनाधिकारे सर्वपक्षिरवादि- वर्णनम् | ३११ |
| संध्यारागवर्णनम् | ३१४ |
| संध्यारागतिसिखवर्णनम् | ३१७ |
| अन्धकाराविर्भवनम् | ३१८ |
| तारकाणामुदयः | ३२० |
| चन्द्रोदयवर्णनम् | ३२४ |
| चन्द्रिकाप्रचारवर्णनम् | ३२७ |
| सप्तमसर्गसमाप्तिः | ३३३ |
| अष्टमसर्गारम्भः | ३३४ |
| सूर्येध्यानविधानम् | ३३४ |
| सूरिपुरो निशीथे शासनदेवागमनम् | ३३५ |
| शासनदेवतावर्णनारम्भः | ३३७ |
| अङ्गवर्णनारम्भः | ३३९ |
| पादतलरक्तिमवर्णनम् | ३३९ |
| पदनखाः | ३३९ |
| पादाः | ३४१ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|------------------------------|----------|-----------------------------------|----------|
| पार्थिवः | ३४३ | कर्णकुण्डलवर्णनम् | ३८० |
| चरणनूपुरवर्णनम् | ३४३ | कर्णोत्पलवर्णनम् | ३८० |
| जङ्घावर्णनम् | ३४४ | भ्रूयुगलवर्णनम् | ३८१ |
| जानुवर्णनम् | ३४६ | देवीललाटस्थलवर्णनम् | ३८२ |
| जघनवर्णनम् | ३४६ | देवीवदनवर्णनम् | ३८३ |
| नितम्बवर्णनम् | ३४८ | केशपाशवर्णनम् | ३८४ |
| कटिवर्णनम् | ३४९ | सीमन्तवर्णनम् | ३८५ |
| पृष्ठदेशवर्णनम् | ३४९ | केशपाशे कुसुमरचनावर्णनम् | ३८६ |
| नाभिवर्णनम् | ३५० | अष्टमसर्गसमाप्तिः | ३८८ |
| मध्यवर्णनम् | ३५१ | | |
| त्रिवलीवर्णनम् | ३५२ | नवमसर्गारम्भः | ३८९ |
| रोमराजीवर्णनम् | ३५४ | गुर्वभिप्रायजिज्ञासया देवीप्रश्नः | ३८९ |
| वक्रवाकदम्पत्योर्विरहवर्णनम् | ३५५ | गुरोर्देवीप्रश्नः | ३९१ |
| स्तनवर्णनम् | ३५६ | देवतया पट्धुरंधरत्वकथनम् | ३९२ |
| पाणिनखाः | ३५७ | गुरोर्हृदये विमर्शः | ३९३ |
| कराङ्गुलिवर्णनम् | ३५८ | शासनदेवतागमनम् | ३९४ |
| पाणिवर्णनम् | ३५९ | चन्द्रस्यास्ताचलगमनम् | ३९८ |
| भुजावर्णनम् | ३५९ | चन्द्रस्यास्तमयनम् | ३९९ |
| स्कन्धवर्णनम् | ३६१ | शुक्रादिमहत्तारास्तः | ३९९ |
| कण्ठपीठवर्णनम् | ३६२ | अन्धकारगमनम् | ४०१ |
| मुखवर्णनम् | ३६३ | रात्रिगमनम् | ४०१ |
| देवीचिबुकवर्णनम् | ३६४ | प्रातःसंध्यावर्णनम् | ४०३ |
| अधरवर्णनम् | ३६५ | सूर्योदयवर्णनम् | ४०५ |
| सस्मितदन्तकान्तिवर्णनम् ... | ३६६ | अरुणतरुणप्रभावर्णनम् | ४०६ |
| दन्तवर्णनम् | ३६८ | सूर्यप्रभाप्रस्तारः | ४०७ |
| वाणीवर्णनम् | ३७० | ध्यानोत्थानाकमिपुरागमनाचार्यपद- | |
| अधरोष्ठमध्यरेखावर्णनम् ... | ३७३ | स्थापनम् | ४०८ |
| देवीवक्रपरिमलवर्णनम् | ३७३ | मेघजीमुनेर्लुम्पाकमतत्यागः | ४१६ |
| नासिकावर्णनम् | ३७४ | हीरविजयसूरेरकमिपुरगमनम् | ४१८ |
| कपोलवर्णनम् | ३७५ | अकब्बारागमनम् | ४२० |
| लोचनवर्णनम् | ३७६ | प्राचीनश्राद्धकरणम् | ४२१ |
| कर्णवर्णनम् | ३७८ | वाद्यानयनम् | ४२१ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|--|----------|---|----------|
| देवगिरिवर्णनम् | २५७ | कमावर्णनम् | २९१ |
| देवगिरिनागरवर्णनम् | २५८ | कोटिमदेवीवर्णनम् | २९२ |
| देवगिरिनागराज्ञावर्णनम् | २५८ | कोटिमदेव्याः सिंहस्वप्रदर्शनम् | २९३ |
| देवगिरिनिजामनादिवर्णनम् | २६० | विजयमुरे मन्मदीश्वरिवर्णनम् | २९५ |
| देवसीव्यवहारिवर्णनम् | २६३ | हीरविजयमुरेः पटधरखवर्णनम् | ३०० |
| जसमादेवीवर्णनम् | २६२ | जीशानगरवर्णनम् | ३०१ |
| पण्डितमित्रवर्णनम् | २६६ | चार्मागमनम् | ३०२ |
| हीरहर्षगणेश्विजयपण्डितपार्श्वे पठन- वर्णनम् | २६५ | पञ्चमयोगमामिः | ३०३ |
| हीरहर्षगणेश्वरपरशास्त्रपरिज्ञानम् | २६७ | सधमसर्गारम्भः | ३०३ |
| विहारमार्गवर्णनम् | २६८ | वर्णवर्णनम् | ३०३ |
| हीरहर्षगणेश्वरुपाध्वगमनम् | २७० | हीरविजयमुरेः सूरिमन्त्रस्य ध्यान- विधानारम्भः | ३०५ |
| हीरहर्षगणेश्वरार्चकपदस्थापनासमयः | २७१ | सरवर्णनम् | ३०५ |
| स्वाभाविकदानम् | २७२ | सूर्यास्तवर्णनम् | ३०८ |
| विजयदानमुरेर्ध्यानम् | २७३ | संभवावन्दनाधिकारे सर्वपक्षिरवादि- वर्णनम् | ३११ |
| विजयदानसूरिपुरोध्यानप्रत्यक्षीकृत- शासनदेवताप्रोक्ताचार्यपदोच्च- तकथनम् | २७४ | संभारागवर्णनम् | ३१४ |
| विजयदानसूरिध्यानविधानानन्तरं बहिरागमनम् | २७६ | संभारागनमिध्ववर्णनम् | ३१७ |
| शकुनावलोकनम् | २७७ | अन्धकाराविर्भवनम् | ३१८ |
| हीरविजयमुरेराचार्यपदस्थापनाकालः | २७८ | तारकाणामुदयः | ३२० |
| आचार्यपदमहोत्सवः | २८० | चन्द्रोदयवर्णनम् | ३२४ |
| सूरीन्द्रद्वयस्य पत्तनप्रवेशः | २८१ | चन्द्रिकाप्रचारवर्णनम् | ३२७ |
| समरधमणशालीकृतमहोत्सवपूर्वक- हीरविजयसूरिपुरंदराचार्यपदन- न्दिवन्दनकप्रदानवर्णनम् | २८२ | सममसर्गारम्भः | ३३४ |
| हीरविजयमुरेस्तपागच्छसाम्राज्य- प्राप्तिः | २८४ | मुरेर्ध्यानविधानम् | ३३४ |
| हीरविजयसूरिगुणाः | २८६ | सूरिपुरो निशीथे शासनदेवागमनम् | ३३५ |
| मेदपादमण्डलवर्णनम् | २८७ | शासनदेवतावर्णनारम्भः | ३३७ |
| नारदपुरीवर्णनम् | २८९ | अहवर्णनारम्भः | ३३९ |
| उदयसिंहराजकवर्णनम् | २९० | पादतलरक्तिमवर्णनम् | ३३९ |
| | | पदनखाः | ३३९ |
| | | पादाः | ३४१ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|--------------------------------|----------|-----------------------------------|----------|
| पाणिः | ३४३ | कर्णकुण्डलवर्णनम् | ३८० |
| चरणनूपुरवर्णनम् | ३४३ | कर्णीत्पलवर्णनम् | ३८० |
| जङ्घावर्णनम् | ३४४ | भूयुगलवर्णनम् | ३८१ |
| जानुवर्णनम् | ३४६ | देवीललाटस्थलवर्णनम् | ३८२ |
| जघनवर्णनम् | ३४६ | देवीवदनवर्णनम् | ३८३ |
| नितम्बवर्णनम् | ३४८ | केशपाशवर्णनम् | ३८४ |
| कटिवर्णनम् | ३४९ | सीमन्तवर्णनम् | ३८५ |
| पृष्ठदेशवर्णनम् | ३४९ | केशपाशे कुसुमरचनावर्णनम् | ३८६ |
| नाभिवर्णनम् | ३५० | अष्टमसर्गसमाप्तिः | ३८८ |
| मध्यवर्णनम् | ३५१ | | |
| त्रिवलीवर्णनम् | ३५२ | नवमसर्गारम्भः | ३८९ |
| रोमराजीवर्णनम् | ३५४ | गुर्वभिप्रायजिज्ञासया देवीप्रश्नः | ३८९ |
| चक्रवाकदम्पत्योर्विरहवर्णनम् | ३५५ | गुरोर्देवीप्रश्नः | ३९१ |
| स्तनवर्णनम् | ३५६ | देवतया पट्टधुरंधरत्वकथनम् | ३९२ |
| पाणिनखाः | ३५७ | गुरोर्हृदये विमर्शः | ३९३ |
| कराङ्गुलिवर्णनम् | ३५८ | शासनदेवतागमनम् | ३९४ |
| पाणिवर्णनम् | ३५९ | चन्द्रस्यास्ताचलगमनम् | ३९८ |
| भुजावर्णनम् | ३५९ | चन्द्रस्यास्तमयनम् | ३९९ |
| स्कन्धवर्णनम् | ३६१ | शुक्रादिमहत्तारास्तः | ३९९ |
| कण्ठपीठवर्णनम् | ३६२ | अन्धकारगमनम् | ४०१ |
| मुखवर्णनम् | ३६३ | रात्रिगमनम् | ४०१ |
| देवीचिबुकवर्णनम् | ३६४ | प्रातःसंध्यावर्णनम् | ४०३ |
| अधरवर्णनम् | ३६५ | सूर्योदयवर्णनम् | ४०५ |
| सस्मितदन्तकान्तिवर्णनम् | ३६६ | अरुणतरुणप्रभावर्णनम् | ४०६ |
| दन्तवर्णनम् | ३६८ | सूर्यप्रभाप्रस्तारः | ४०७ |
| वाणीवर्णनम् | ३७० | ध्यानोत्थानाकमिपुरागमनाचार्यपद- | |
| अधरोष्ठमध्यरेखावर्णनम् | ३७३ | स्थापनम् | ४०८ |
| देवीवक्त्रपरिमलवर्णनम् | ३७३ | मेघजीमुनेर्दुष्प्राकमतत्यागः | ४१६ |
| नासिकावर्णनम् | ३७४ | हीरविजयसूरेरकमिपुरगमनम् | ४१८ |
| कपोलवर्णनम् | ३७५ | अकब्बरागमनम् | ४२० |
| लोचनवर्णनम् | ३७६ | प्राचीनश्राद्धकरणम् | ४२१ |
| कर्णवर्णनम् | ३७८ | वाद्यानयनम् | ४२१ |
| कर्णान्तर्गतनवसंख्याङ्कवर्णनम् | ३७९ | मेघजीकृषिमहः | ४२३ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|---|----------|--|----------|
| विजयसेनसूरिनन्दः | ४२३ | श्राद्धानामाकरणं तत्प्रश्नश्च ... | ४९४ |
| हीरविजयसूरिधर्मकृत्यानि महिम- संपदश्च | ४२४ | राजनगरश्राद्धानां खानदत्तहीरविज- यसूरीश्वराकारणादेशः ... | ४९६ |
| गान्धारवर्णनम् | ४२६ | अकमिपुरश्राद्धानां गुरुवन्दनालोचः | ४९७ |
| गान्धारनगरे हीरसूरिस्थितिः ... | ४२७ | गन्धारे श्राद्धानां गमनम्... | ४९८ |
| नवमसर्गसमाप्तिः | ४२८ | श्राद्धानामकञ्चरसाहिंसाहिवखानयो- रुदन्तकथनपूर्वं गुरुणां तत्स्फुर- न्मानार्पणम् | ४९९ |
| दशमसर्गारम्भः | ४२९ | उपकारकरणकथनम् | ५०२ |
| दिह्नीदेशवर्णनम् | ४२९ | सतामपकारकारिण्युपकारकरणवि- ज्ञप्तिः | ५०४ |
| दिह्नीपुरवर्णनम् | ४३२ | प्रभोः साहिसमीपे गमनार्थं श्राद्धानां विज्ञप्तिः | ५०५ |
| हर्माउपातिसाहिवर्णनम् | ४३३ | हीरसूरिप्रतिवचनम् | ५०६ |
| अकञ्चरवर्णनम् | ४३४ | हीरगुरोः श्राद्धकृतस्तुतिः... | ५१० |
| श्रीकरीवर्णनम् | ४५५ | हीरविजयसूरेः प्राचीं दिशं प्रति प्रस्थितौ शुभशकुनानि ... | ५१२ |
| तस्याः प्राकारवर्णनम् | ४५९ | गन्धाराकमिपुरमध्यमार्गवर्णनम् ... | ५१६ |
| हृष्टावलीवर्णनम् | ४६० | सूरेरकमिपुरसंमुखीकरणम् ... | ५१९ |
| नगरनृपगृहवर्णनम् | ४६० | सूरेर्भूपगृहागमनोपवेशने ... | ५२३ |
| नरनारीवर्णनम् | ४६२ | साहिवखानस्य सूरिपुरो वस्तुग्रहण- विषया विज्ञप्तिः | ५२५ |
| अकञ्चरवासितफतेपुरवर्णनम् ... | ४६२ | खानस्य तुरङ्गादिप्रदानाग्रहे गुरोः प्रतिवचनानि | ५२८ |
| अकञ्चरसभावर्णनम् | ४६३ | स्वसंयमसमृद्धिनिरूपणम्... | ५३१ |
| साहिप्रश्नाः | ४६९ | सूरिणा तस्य स्वाभिभक्तता प्रका- शिता | ५३४ |
| हीरविजयसूरिगुणाः | ४७२ | एकादशसर्गसमाप्तिः | ५३६ |
| दशमसर्गसमाप्तिः | ४८४ | द्वादशसर्गारम्भः | ५३६ |
| एकादशसर्गारम्भः | ४८५ | हीरसूरेः पत्नये समागमनम् ... | ५३६ |
| दूताह्वानवचनानि | ४८५ | पुरकृतानुसारेण समवसरणवर्णनम् | ५४० |
| दूतप्रोक्तलोकपालादिषु कृत्याभाव- कथनम् | ४८८ | पत्न्यात् शिरोत्तरायावन्मार्गः ... | ५४४ |
| दूतयोः साहेः सूरिसमाकारणादेशः | ४८९ | | |
| अकमिपुरे दूतगमनम् | ४९० | | |
| साहिस्फुरन्मानस्यार्पणं वाचनं च | ४९१ | | |
| साहिवखानकृतसाहिपरिवारादीनां कुशलप्रश्नः | ४९२ | | |
| दूतप्रोक्तसाहिप्रमुखकुशलोक्तिः ... | ४९४ | | |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|---|----------|---|----------|
| अर्जुनपल्लीपतिगृहागमनम् ... | ५४५ | साहिसंदिष्टवचनश्रवणपूर्वं शेषगृह- गमनम् ... | ६१५ |
| अर्जुनकिरातपतिप्रमदानां विविधवि- लासे चेष्टास्वरूपवर्णनम् ... | ५४७ | स्वमतानुशिष्टिपृच्छा ... | ६१८ |
| अर्जुनपल्लीपतितत्सेवकानां नियम- दानम् ... | ५५३ | कर्मणो जगत्कर्तृत्वस्थापने सूरिप्रत्यु- त्तरम् ... | ६२० |
| अर्बुदाचलवर्णनम् ... | ५५४ | हीरविजयसूरिवर्णनम् ... | ६२१ |
| अर्बुदाचलकौतुकानि ... | ५६० | शारीरकमुखप्रश्नः ... | ६२० |
| अर्बुदाचलसर्वप्रासादवर्णनम् ... | ५६३ | साध्वाचारादिकुशलप्रश्नः ... | ६२० |
| विमलवसतिवर्णनम् ... | ५६५ | साहित्यतकुशलालापप्रश्नः ... | ६२० |
| विमलवसतिमध्यवर्णनम् ... | ५६७ | साहित्यतकुशलागमादिप्रश्नप्रत्युत्तराणि | ६२१ |
| ऋषभदेवस्तुतिः ... | ५७१ | आक्षेपप्रश्नवाक्यम् ... | ६२३ |
| वस्तुपालवसतिवर्णनम् ... | ५७४ | आकारणाद्यपराधोद्भावनम् ... | ६२५ |
| द्वादशसर्गसमाप्तिः ... | ५७८ | स्थानस्य साहेः प्रश्नोत्तरम् ... | ६२५ |
| त्रयोदशसर्गारम्भः ... | ५७८ | मौन्दीकमालमेवाडावर्णितसूरिगुणाः | ६२७ |
| शिवपुर्यां प्रभोः पादावधारणवर्णनं तन्महवर्णनं च ... | ५७८ | दूतौ प्रति साहेः सूरेराकारणगमन- हेतूक्तिः ... | ६४२ |
| धरणविहारवर्णनम् ... | ५८२ | सूरिकथितानि तीर्थानि ... | ६४३ |
| राणपुरयात्रा ... | ५८५ | साहिजातानामाशीर्वाददानम् ... | ६४६ |
| मेदिनीपुरागमनफलपार्श्वनाथयात्रा वाचकप्रस्थापनं च ... | ५८६ | त्रयोदशसर्गसमाप्तिः ... | ६४७ |
| विमलहर्षोपाध्यायस्य साहिना मिल- नगोष्ठीपश्चादागमनानि ... | ५८८ | चतुर्दशसर्गारम्भः ... | ६४८ |
| फतेपुरसमीपे प्रभोरागमः ... | ५९० | सूरिन्द्रकुपालुताजैनशासनयोः प्रशंसा | ६४८ |
| सूरेः प्रवेशोत्सवकरणार्थं साहेर्विश्व- स्तिस्तदादेशप्राप्तिश्च ... | ५९१ | चित्रशालिकायामागत्य सूरिनृपावुप- विष्टौ ... | ६५१ |
| फतेपुरसंघस्य संमुखगमनारम्भः | ५९२ | धर्मकथारम्भः ... | ६५२ |
| पुरसंघकृतहीरसूरिसंमुखकरणोत्सवः | ५९२ | साहेदैवगुरुनृप्रति देवगुरुधर्माणां प्रश्नः ... | ६५५ |
| गुरुवन्दनाधिकारः ... | ६०२ | देवस्वरूपम् ... | ६५६ |
| सूरिदेशनानन्तरं श्राद्धदानम् ... | ६०४ | गुरुस्वरूपम् ... | ६५७ |
| वर्षागमनारम्भः ... | ६०६ | धर्मस्वरूपम् ... | ६५७ |
| सूरिसमागमस्य साहेर्निवेदनम् ... | ६११ | सुधर्मदेवगुरुनिरूपणम् ... | ६५८ |
| | | साहेः पुरः सूरिभिः स्वस्य तत्त्वत्र- याराधनं प्रोक्तम् ... | ६५८ |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|---|----------|
| सूरीणां कियद्वतधारणविषये साहेः | |
| प्रश्नः | ६५८ |
| प्रथमं व्रतम् | ६५९ |
| द्वितीयं व्रतम् | ६६० |
| तृतीयं व्रतम् | ६६१ |
| चतुर्थं ब्रह्मव्रतम् | ६६१ |
| पञ्चमं व्रतम् | ६६५ |
| षष्ठं रात्रिभोजनम् | ६६६ |
| सप्तमं निमित्ताद्यभाषणव्रतम् ... | ६६७ |
| स्वस्य व्रतपालनसामर्थ्यकथनम् ... | ६६७ |
| परीक्षार्थं साहिप्रश्ने गुरोर्निषेधवाक् | ६६८ |
| शेखपुरः साहिवर्णिता गुरोर्युणाः ... | ६६९ |
| साहेः गुरुन्प्रति शिष्यप्रश्नः ... | ६७३ |
| साहिना स्वयमेवोक्तसूरिशिष्यसंख्या | ६७४ |
| यतिना परस्पराभिधाननिवेदनम्... | ६७४ |
| यतिप्रोक्तपुस्तकरहस्यावबोधः ... | ६७५ |
| पुस्तकोत्पत्तितत्प्रदानकथनम् ... | ६७७ |
| साहेः पुस्तकदानाग्रहः सूरैर्निषेधवचश्च | ६७८ |
| शेखनाथसिंहविज्ञापनात्साहिपुस्तक- | |
| ग्रहणम् | ६८१ |
| सूरैः समहं वसतावागमनम् ... | ६८४ |
| थानसिंहकृतसूरिसमागममहोत्सवः | ६८८ |
| पुस्तककोशः | ६८९ |
| आगरानगरे गमनम् | ६८९ |
| आगरानगरे चातुर्मासकरणम् ... | ६८९ |
| सूरैः शौर्यपुरागमनम् | ६९० |
| नेमिनाथवर्णनम् | ६९३ |
| फतेपुरागमनम् | ६९४ |
| पुनर्युरोः शेखगृहागमनम्... .. | ६९७ |
| सूरिणां समं साहेर्द्वितीयवारं गोष्ठी | ६९७ |
| सूरीणां गजाश्वादिप्रदाने साहिविज्ञप्तिः | ६९८ |
| साहिदीयमानवस्त्वनुपादाने सूरिप्र- | |
| त्युत्तरवचः | ७०० |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|-----------------------------------|----------|
| गुरोर्दानाय पुनराग्रहः | ७०२ |
| गुरोर्बन्दिमोचनार्थं याचना | ७०३ |
| सूरिवाक्याद्वन्दिमोचनम् | ७०३ |
| पञ्जरपक्षिमोचनमार्गणम् | ७०४ |
| मनसा साहिप्रशंसा | ७०६ |
| डामरतटाकार्पणम्... .. | ७१० |
| सर्वजगज्जन्तुकृपाविषयप्रश्नः ... | ७११ |
| नवरोजनामाभारिप्रदानं गुरोः ... | ७११ |
| जगद्गुरुविरुदम् | ७१३ |
| बन्दीमोचनम् | ७१३ |
| पक्षिमोचनम् | ७१४ |
| अभारिप्रवर्तनम् | ७१५ |
| वनचारिणां वार्त्ता | ७१६ |
| गजमिथुनालापः | ७१६ |
| महिषमिथुनालापः | ७१७ |
| व्याघ्रमिथुनालापः | ७१७ |
| वराहमिथुनालापः... .. | ७१९ |
| मृगमिथुनालापः | ७२० |
| इति वनचराः | ७२० |
| मयूरमिथुनालापः | ७२० |
| कोकिलमिथुनालापः | ७२१ |
| कुक्कुटमिथुनालापः... .. | ७२१ |
| हंसमिथुनालापः | ७२२ |
| चक्रवाकमिथुनालापः | ७२२ |
| इति खचराः | ७२३ |
| मत्स्यमिथुनालापः | ७२३ |
| बादलमिथुनालापः | ७२४ |
| नकादिजलजन्तुमिथुनालापः ... | ७२४ |
| इति जलचराः... .. | ७२४ |
| इति श्रीहीरविजयसूरिवचनादकव्व- | |
| रसाहिना निखिलमण्डलेष्वभारिः | |
| प्रवर्त्तिता | ७२७ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|---|----------|---|----------|
| थानसिंहप्रतिष्ठायां शान्तिचन्द्रस्यो- | | पद्मया प्रथममेखलारोहणम् ... | ७९७ |
| पाध्यायपदम् | ७२८ | गुरोर्विमलाचलपठ्यारोहणे गिरिमेख- | |
| मधुरायान्ना | ७२८ | लावर्णनम् | ७९८ |
| गोपगिरियात्रा | ७२९ | शत्रुंजयतीर्थे प्रथमप्राकारे प्रवेशः | ८०३ |
| श्रीहीरविजयसूरिश्राद्धदानम् ... | ७३० | मरुदेवीशिखरवर्णनम् | ८०४ |
| मेवातमण्डलादागत्य नागपुरे चतु- | | द्वितीयप्राकारप्रासादेषु देववन्दनम् | ८०६ |
| र्मासकरणम् | ७३० | सर्वाभ्यन्तरप्राकारप्रतोलिसोपानानि | ८०८ |
| विराटनगरप्रतिष्ठा | ७३२ | मूलप्रासादवर्णनम् | ८१० |
| शिवपुर्यां देवप्रतिष्ठाद्वयपूर्वकं चतु- | | तोरणवर्णनम् | ८१२ |
| र्मासकरणम् | ७३४ | चैत्यकंधारामुगेन्द्राः | ८१४ |
| गुर्जरदेशागमनम् | ७३५ | शिखरवर्णनम् | ८१५ |
| शान्तिचन्द्रोपाध्यायगुर्जरागमनं | | चैत्यकलशः | ८१७ |
| फुरमानदानं च | ७३६ | चैत्यशृङ्गदण्डः | ८१७ |
| अमारिदिनव्यक्तिः | ७३७ | पताका | ८१८ |
| जेजीयाकरविमुक्तिः | ७३८ | पताकापञ्चाननः | ८१९ |
| गुरोर्विमलाचलार्पणम् | ७३८ | शिखरपार्श्वप्रदेशाः | ८२१ |
| भानुचन्द्रस्योपाध्यायपदम् | ७४१ | मण्डपमध्यचित्राणि | ८२२ |
| विजयसेनसूरेवोदे विजयाः सवाई- | | प्रासादमध्यस्तम्भाः | ८२३ |
| विरुदं च | ७४२ | गजस्कन्धाधिरूढा मरुदेवी ... | ८२४ |
| सूरिकीर्तिवर्णनम् | ७४४ | गर्भागारः | ८२५ |
| चतुर्दशसर्गसमाप्तिः | ७४८ | ऋषभप्रतिमा | ८२६ |
| पञ्चदशसर्गारम्भः | ७४९ | राजादनी | ८२७ |
| शत्रुंजयदर्शनम् | ७४९ | हीरसूरिकृता ऋषभदेवस्तुतिः | ८३० |
| सिद्धिशैलं विशिनष्टि | ७५० | शत्रुंजयाद्रिमाहात्म्यवर्णनम् ... | ८३६ |
| त्रिवैणीसंगमः | ७६० | षोडशसर्गसमाप्तिः | ८४८ |
| पञ्चदशसर्गसमाप्तिः | ७८५ | सप्तदशसर्गारम्भः | ८४८ |
| षोडशसर्गारम्भः | ७८५ | पादलिप्तपुराद्वीपबन्दिनं प्रति प्रस्थानम् | ८४८ |
| पादलिप्तपुरम् | ७८५ | मार्गोल्लङ्घनम् | ८५० |
| संघागमनम् | ७८८ | जलदोदयः | ८५८ |
| ललितसरोवरे यात्रिकजनविधिक्रीडा | ७९२ | सागरस्य सागरे पिपत्तिषा | ८६० |
| शत्रुंजयान्तिकशिवप्रासादे वासका- | | पद्मावल्यादेशः | ८६१ |
| वस्थानम् | ७९४ | अजयराजस्य रागोपशमः | ८६२ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|--|----------|---|----------|
| अजयराजरोगापहारका जयपार्श्वना- | | सर्वनियमविरोधनालोचनम् ... | ८९३ |
| थप्रस्तावनम् ... | ८६५ | आराधनाविधानम् ... | ८९३ |
| द्वीपबन्दिरे संघागमनम् ... | ८६६ | उन्नतपुरपार्श्वग्रामस्य भट्टस्य दिव्य- | |
| द्वीपोन्नतपुरसंमुखगमनवर्णनम् ... | ८६७ | विमानदर्शनम् ... | ८९७ |
| उपाश्रयागमनम् ... | ८७२ | मण्डपिकाकरणसूरिशरीरशायनम् | ९०१ |
| उन्नतनगरे चतुर्मास्यवस्थानम् ... | ८७२ | सूरिशरीरसंस्कारकरणम् ... | ९०४ |
| अभिग्रहध्यानस्वाध्यायादि ... | ८७३ | सूरिनिर्वाणप्रस्तावनम् ... | ९०५ |
| सूरेरातपस्यासमयं तपःक्रियानुष्ठाना- | | पार्तिसाहेः स्वप्ने स्वस्य स्वर्लोकगमन- | |
| दिवर्णनम् ... | ८७५ | कथनम् ... | ९०६ |
| परिवारकथनम् ... | ८८२ | नागरनैगमस्य नक्तं नाटकदर्शनम् | ९०७ |
| माहात्म्यकथनम् ... | ८८४ | विमानदर्शनवार्ताकथनम् ... | ९०७ |
| संलेखनादर्शनम् ... | ८८६ | माकन्दफलस्य पातिसाहिसमीपे प्रे- | |
| अर्हत्सिद्धसाधुधर्माणां चतुर्णां शरणम् | ८८७ | षणम् ... | ९०७ |
| पञ्चज्ञानाचारादिपञ्चाचारातीचारा- | | स्तूपकरणं तन्माहात्म्यं च ... | ९०८ |
| लोचनम् ... | ८८८ | विजयसेनसूरिविजयः ... | ९१० |
| प्रथमव्रते प्राकृतजीवहिंसालोचनम् | ८८९ | विजयसेनसूरेर्गुरौ स्वर्गते खेदवा- | |
| द्वितीयव्रते मृषावादालोचनम् ... | ८९१ | क्यानि ... | ९११ |
| तृतीयव्रते अदत्तादानालोचनम् ... | ८९१ | आशीर्वादः ... | ९१४ |
| चतुर्थव्रते मैथुनालोचनम् ... | ८९१ | ग्रन्थान्तमङ्गलकरणम् ... | ९१६ |
| पञ्चमव्रते परिग्रहालोचनम् ... | ८९२ | ग्रन्थसमाप्तिः ... | ९१६ |
| पञ्चव्रताधारणलोचनम् ... | ८९२ | ग्रन्थप्रशस्तिः ... | ९१७ |
| षष्ठव्रते रात्रिभोजनक्रियाशैथिल्या- | | | |
| लोचनम् ... | ८९२ | | |

काव्यमाला ।

देवविमलगणिविरचितं हीरसौभाग्यम् ।

स्वोपज्ञया व्याख्यया समलंकृतम् ।

प्रथम सर्गः ।

श्रेयः श्रीजयमङ्गलैकनिलयः संकल्पकल्पद्रुमो
भूयाद्भूरिविभूतये स भगवाञ्श्रीपार्श्वचिन्तामणिः ।
भव्यानां दशदिग्भुवां प्रणमतां मन्ये निहन्तुं तमो
बिभ्राणा दशतां बभुः क्रमनखा यस्यार्भमास्वस्विषः ॥
श्रीचिन्तामणिपार्श्वमोहितकरं चिन्तामणीववृणां
सिद्धिश्चैपरिरम्भिणं प्रणिदधे विश्वत्रयीनायकम् ।
सान्द्रानन्दमरन्दसुन्दरहृदम्भोजन्मलीलालसां
हंसीवद्विधिना पुनः प्रवि(णि)दधे वाग्वादिनीं देवताम् ॥
स्वोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यस्याव्यासशालिनीम् ।
कुर्वे वृत्ति विदग्धानां झगित्यर्थविवोधिकाम् ॥

इह हि ग्रन्थारम्भे ग्रन्थकर्ता स्वाभिमतार्थसिद्धये शिष्टाचारपरिपालनाय च सकलवि-
घ्नविघातकारकं विशिष्टेष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरति । तदेव सूत्रमुच्यते—

श्रियं स पार्श्वधिपतिः प्रदिश्यात्सुधाशनाधीशवतंसितांहिः ।

जगन्निदिध्यासुरिव त्रिमूर्तिर्यत्कीर्तिरासीन्निदशस्रवन्ती ॥ १ ॥

स त्रिजगदद्वैतमहिमा श्रिया त्रैलोक्याधिपत्यलक्षणया चतुर्भिः[श]दतिशयरूपया ल-
क्ष्म्या वा युक्तः पार्श्व एवाधिपतिः स्वामी जगदीश्वरः । यद्वा—अष्टचत्वारिंशत्सहस्रयक्ष-
नायकः पार्श्वनामा यक्षस्तस्याधिपतिः प्रभुः । सकलसुरासुराधिपत्येऽपि पार्श्वनाथशासनाधि-
ष्ठातृतया सर्वदा पार्श्वनाथसमीप एव वर्तितया च । भद्रबाहुस्वामिनापि तथैवोक्तम् ।
'उवसग्गहरं पासम्' इति तस्योपादानम् । श्रियं लक्ष्मीं प्रदिश्यात्प्रदेयादित्याशीः प्र-
योगः । किंलक्षणः पार्श्वधिपतिः । सुधाममृतमश्नन्तीति सुधा अमृतमशनं येषां वा ।
सुधा पीयूषमश्नते एभिरिति भावे(?) वा । सुधाशना देवास्तेषामधीशा नायकाः । द्वात्रिं-
शद्यन्तरिन्द्राः, विंशतिर्भुवनेन्द्राः, दश कल्पेन्द्राः, द्वौ सूर्यचन्द्रमसौ इति चतुःषष्टि-
रिन्द्रास्तैर्वर्तन्ति । 'तत्करोति तदाचष्टे' इतीनक्तप्रत्यये 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपस-

र्गयोः' इत्यकारलोपे च वर्तसिताविति सिद्धौ । अवतंसौ कुर्वन्तीति अवतंसयन्ति, अव-
तंस्येते स्म इत्यवतंसितौ । अथवा सुधाशनाधीशानामवतंसः । 'संजातोऽनयोः । इतो जा-
तार्थे' इतीतःप्रत्ययः । तादृशावह्री चरणौ यस्य । अथ यत्तदोन्मिताभिसंबन्धात्स कः ।
यत्कीर्तिः यस्य पार्श्वनाथस्य समाज्ञा । 'श्लोकः कीर्तिर्यशोऽभिख्या समाज्ञा' इति हेमचन्द्र-
नाममालायाम् । जगन्ति त्रीणि भुवनानि निदिध्यासुनिध्यातुमिच्छुरिव । 'निध्यानम-
वलोकनम्' इति हैम्यम् । तथा—'पश्यति विभावयत्यपि विलोकते वीक्षते गवेषयति ।
निध्यायत्यन्विषति' इति क्रियाकलापे । द्रष्टुकामेव । तिस्रो मूर्त्यस्तनवो यस्याः सा त्रिमू-
र्तिस्त्रिदशस्रवन्ती सुरनदी गङ्गा आसीज्जाता । गङ्गारूपा जातेत्यर्थः । गङ्गा हि त्रिष्वपि
लोकेषु प्रवहतीति कविसमयः । तथा [हि]—'विबुधानन्दमन्दिरं विबुधानां देवानां जल-
क्रीडादिभिरानन्दमन्दिरं प्रमोदसदनम् । अर्थात्स्वर्गमार्गप्रवृत्तम् । पुनः—रसान्तरप्रौढं
रसायां पृथिव्यामन्तरे स्वप्ने अर्थात्पाताले प्रवहति स्मेति प्रौढम्' इति चम्पूकथायां
तद्विष्पनकेऽर्थश्च । इति गङ्गा त्रिपथगा । तेन त्रिलोकीं स्वैरं दिदृक्षोर्यत्कीर्तेस्त्रिपथगारू-
पमूर्तिनिर्माणं युक्तमेवेति ॥

सम्यगुपासिता हि वाग्देवता कवितृणामसाधारणीं कवित्वशक्तिं विश्राणयति, अतो
वाग्वादिनीं नमस्कुर्वन्कविराह—

प्रीणाति या प्राज्ञदृशश्चकोरीर्विभावरीवल्लभमण्डलीव ।

तमस्तिरस्कारकरीं सुरीं तां भक्तेर्नतेर्गोचरयामि वाचम् ॥ २ ॥

अहं तां प्रसिद्धां विद्यासंसिद्धये सकलकविकुलैः समाराध्यमानां वाचं सुरीं सरस्वतीं
देवतां भक्तेः सेवासत्क्रियावशान्नतेः प्रणामस्य गोचरीकरोमि । गोचरां करोमीति गोच-
रयामि । 'जिडिंत्करणे' इति जिः । प्रणमामीत्यर्थः । 'गोचरयन्ति न वाचो यच्चरितं च-
न्द्रचन्द्रिकारुचिरम् । वाचस्पतेर्वचस्वी को वान्यो वर्णस्य जगति ॥' इति हस्तिमतीचैत्य-
प्रशस्तौ । कीदृशीं वाचम् । तमसोऽज्ञानस्य पापस्य वा । तस्याः पापक्षयकारिता शा-
स्त्रेऽपि दृश्यते । यथा—'सुअदेवया भगवईनाणावरणीयकम्मसंधायं । ते सिंखवे उसययन्ति ।'
तथा—'भवविरहवरं देहि मे देवि सारम्' इति संसारदावास्तुतौ । भवविरहस्तु कर्मक्षय-
जनित एव स्यात् । तथा—'जीसेरिव ते सा हता देवी हरतु दुरियाई' । यद्यपरा क्षेत्र-
देवी दुरितहन्त्री तर्हि श्रुतदेवी पातकघातुका कथं न । तिरस्कारो विनाशस्तस्य करीं
कारिकां अज्ञानहन्त्रीम् । सा का । या वाग्देवी प्राज्ञानां विदग्धानां दृष्टो दृष्टीः प्रीणा-
नानन्दयति । केव । विभा० । यथा विभावरी रात्रिस्तस्या वल्लभो भर्ता चन्द्रस्तस्य म-
ण्डली संपूर्णबिम्बम् । मण्डलशब्दस्य त्रिलिङ्गत्वेन मण्डली । यथा—'शुद्धा सुधादीधिति-
मण्डलीयम्' इति । चकोरीश्चकोराङ्गनाः प्रीणयति । विभावरीवल्लभमण्डल्यपि कीदृग्वि-
न । तमसो ध्वान्तस्य तिरस्कारकरी निर्नाशिका ॥

अथ गुरोरनुभावादेव देवादीनां सम्यक्स्वरूपावगमो वाग्देवतासमाराधनमन्त्रायुपा-
गाधिगमश्च भवेत्, ततस्तत्प्रसात्तिं स्पृहयन्कविराह—

यच्चक्षुषा मातृमुखोऽप्यशेषविशेषविच्छेखरतानुषङ्गी ।

गुरुं सुराणामधरीकरोति भवन्तु ते श्रीगुरवः प्रसन्नाः ॥ ३ ॥

ते विश्वविख्याताः श्रिया शोभया युक्ता गुरवोऽर्थान्मयि विषये प्रसत्तिभाजः प्रसाद-
भाजनं भवन्तु । ते के । यच्च० । येषां गुरूणां चक्षुषा दृशा प्रसन्ननयनावलोकनेन कृत्वा ।
'यद्दृष्टिपातसामर्थ्यान्मूको वाचस्पतिर्भवेत्' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । मातृमुखो जडोऽपि
अशेषाः समस्ता ये विशेषा वाङ्मयरहस्यानि विदन्ति जानन्तीति अशेषविशेषविदो
विशारदास्तेषां शेखरताया उत्तंसभावस्यानुषङ्गः प्रसङ्गोऽस्यास्तीति तादृशः सन् सुराणां
गुरुं बृहस्पतिमधरीकरोति हीनीकरोति स्वप्रतिभाप्रागल्भ्येन पराजयते ॥

विशदहृदयात्मदर्शप्रतिबिम्बितसमस्तभुवनपदार्थसार्थान्सदसद्विवेचनचातुर्याचार्यान्महा-
त्मनो निजविनिर्मितवृत्तविशुद्धिहेतवे अनुकूलयन्कविराह—

कवित्वनिष्कं कषितुं कवीनां येषां मनीषा कषपट्टिकेव ।

सन्तः प्रसन्ना मयि सन्तु शुद्धाशयाः प्रवाहा इव जाह्नवीयाः ॥ ४ ॥

ते सन्तो महात्मानो मयि विषये प्रसन्नाः प्रसादोपेताः प्रज्ञाप्राग्भारावगताशेषवि-
शेषोपनिषत्तया वृत्तशुद्धिविधानविधिना मध्यनुग्रहपरायणाः सन्तु भवन्तु । किं [विधाः]
सन्तः । शुद्धो मात्सर्यरहित आशयोऽभिप्रायो मनो वा येषां ते । आशयशब्देन चित्त-
मपि प्रोच्यते । यथा नैषधे—'दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार' इति । तद्वृत्तिः—त-
दाशये नलचित्ते । शुद्धाशयाः क इव । प्रवाहा इव । यथा जाह्नवीया जाह्नव्या गङ्गाया
इमे जाह्नवीयाः प्रवाहा ओघा निर्मलमध्याः स्युः । ते के सन्तः । येषां सतां मनीषा
बुद्धिः कवीनां काव्यकर्तृणां कवित्वं काव्यम् । जातावेकवचनम् । तदेव निष्कं सुवर्णं क-
षितुं सम्यक्परीक्षितुं कषपट्टिकेव कषः स्वर्णपरीक्षणपाषाणविशेषस्तस्य पट्टिका शिला
तद्वद्वर्तते । यथा कषोपलेन स्वर्णं परीक्ष्यते तथा यत्प्रतिभाप्रागल्भ्येन काव्यमपि वि-
शुद्धं विधीयते ॥

अथ प्रस्तुताभिधेयमाह—

अमन्दगन्धैरिव गन्धसारो दिशो यशोभिः सुरभीकरोति ।

वृत्तं व्रतीन्द्रस्य तनोमि तस्य कुरान्ववायाम्बरपद्मबन्धोः ॥ ५ ॥

अहं तस्य साहि श्रीमदकब्बरनरपतिप्रदत्तजगद्गुरुविरुदतया जगति विख्यातिभाजो
व्रतिनां साधूनामिन्द्रस्य श्रीहीरविजयसूरीश्वरस्य वृत्तं काव्यं चरितं वा तनोमि
विस्तारयामि । करोमीत्यर्थः । 'कथिताः करणे तनने ग्रथने चोत्पादने च ये पू-
र्वम् । ते धातवः स्पृशन्ति प्रायस्तुल्यार्थतामेव ॥' इति क्रियाकलापोक्तेः । किं च वृत्त-
नायकाश्चतुर्विधा वर्ण्यन्ते । धीरोदात्ताः, धीरोद्धताः, धीरललिताः, धीरप्रशान्ताश्च । तत्र
धीरोदात्ता रामचन्द्रादयः, धीरोद्धता दुर्योधनादयः, धीरललिता नलादयः, धीरप्रशान्ता
जीमूतवाहनप्रमुखाः । तेषु तेष्वपि नायकेषु श्रीहीरविजयसूरीधीरप्रशान्तत्वेन वृत्तकरणं

युक्तिमदेव । किं० । कुरा इति नामा व्यवहारी तस्य योऽन्ववायो वंशः । 'गोत्रं तु संता-
नोऽन्ववायोऽभिजनः कुलम्' इति हैमः । स एवाम्बरमाकाशं तत्र प्रकाशकत्वात्पद्मानां
बन्धुरिव पद्मबन्धुर्भास्वान् । यत्तदोः संबन्धात्तस्य । कस्य । यो व्रतीन्द्रो यशोभिः स्वकी-
र्तिभिः कृत्वा दिशः सर्वा अप्याशाः सुरभीकरोति वासयति । चित्रास्पदीकरोतीत्यर्थः । क
इव । गन्धसार इव । यथा चन्दनद्रुमः अमन्दैरतिबहुलैर्गन्धैः परिमलैर्दिशः सुरभयति
समस्तहरितः सुरभीकुरुते ॥

वर्णनीयस्योत्कर्षाविष्करणद्वारेण आत्मनोऽनौद्धत्यं प्रतिपादयन्कविराह—

पारे गिरां वृत्तमिदं क सूरेस्तनुप्रकाशा क च शेमुषी मे ।

प्रक्रम्य मोहादहमङ्गुलीस्तत्प्रमातुमीहे चरणं मुरारेः ॥ ६ ॥

सूरेः श्रीहीरविजयतीन्द्रस्य गिरां पारे वाचामगोचरः । 'गिरां हि पारे निषधेन्द्रवृ-
त्तम्' इति नैषधे । वक्तुमशक्यमिदमिदानींतनसर्वजनप्रतीतं वृत्तं क्रास्ते । च पुनः तनुः
स्तोकः प्रकाशो विषयो यस्या एतादृशी मे मम शेमुषी बुद्धिः क । तत्तस्मात्कारणादहं
मोहान्मौढ्यादज्ञानाद्वा । 'सोऽहं हंसायितुं मोहाद्वकः पञ्चुर्यथेच्छति' इति चम्पूकथायाम् ।
मोहोऽज्ञानमिति तद्वृत्तिः । अङ्गुलीः करशाखाः प्रक्रम्य प्रारम्भ्य । 'प्रारम्भः प्रोपतः क्रमः'
इति हैम्याम् । स्थापयित्वा । मुरारेर्नारायणस्य चरणं पदम् । आकाशमित्यर्थः । प्रमा-
तुमीहे प्रमाणविषयं नेतुमिच्छामि । यथा कश्चिदज्ञानवान्पुमान्स्वाङ्गुलीर्मण्डयित्वा अ-
नन्तं नभः प्रमातुमारभते, न पुनः प्रभवति, तथा वाचां गोचरातीतं गुरुवृत्तं कर्तुं प्रार-
ब्धवानप्यहं न सम्यक्तया पूर्णं प्रणेतुं प्रभविष्णुरिति तत्त्वम् ॥

न तु कश्चिदपि प्रभुवृत्तं भाषितुं प्रभुर्भवेत्तदेवाह—

यो वालुका हैमवतीप्रतीरे प्रमाति संख्याति च विष्णुषोऽब्धेः ।

ताराः पुनः पारयति प्रमातुं गुणान्गणेन्दोर्गणयेन्न सोऽपि ॥ ७ ॥

यो जनो हैमवत्या मन्दाकिन्याः । 'गङ्गा त्रिपथगा ऋषिकुल्या हैमवती' इति हैम्याम् ।
प्रतीरे तटे । 'तटं तीरं प्रतीरं च' इति हैम्याम् । वालुकाः सिकताकणान्प्रमाति प्रमाणय-
ति च । पुनः—यो अब्धेः समुद्रस्य विष्णुषो जलबिन्दून्संख्याति संख्यागोचरीकरोति । पुनः—
यस्तारास्तारकाः प्रमातुं प्रमाणीकर्तुं पारयति समर्थोभवति । सोऽपि प्रज्ञाप्रकर्षपराभूत-
पुरुहूतसूरिरपि गणस्तपागच्छस्तत्र इन्दुरिव सर्वेषामाह्लादकत्वेन इन्दुस्तस्य गच्छनाय-
कस्य हीरविजयसूरेशुणाञ्ज्ञानदर्शनचारित्रशमदमादिकाज्ञ न गणयेद्गणयितुं न शक्नुयात् ॥

प्राशुक्तं पुनरपि द्रढयन्स्वकीयसामर्थ्यं वक्ति—

वृत्तं विभोर्भाषितुमप्रभुर्यज्जम्भारिसूरिस्तदहं किमीशे ।

यः शृङ्गिशृङ्गाग्रगतैर्दुरापः किं भूमिगस्तं विधुमाददीत ॥ ८ ॥

विभोर्हीरविजयसूरीश्वरस्य यद्वृत्तं चरित्रं भाषितुं वक्तुं जम्भारेः शक्तस्य सूरि-

राचार्यः । 'प्रज्ञाप्राग्भारपराख्युत्कीकृतपुरंदरगुरुः' इति चम्पूकथायाम् । सोऽप्रभुरसमर्थः । तद्वृत्तं वक्तुमहं कविः किं कथम् । अथ वा किमिति प्रश्ने वितर्के ईशे समर्थमिवामि । अपि तु नेत्यर्थः । उक्तमर्थमर्थान्तरेण द्रढयति—यश्चन्द्रः शृङ्गिणः शिखरिणः शैलस्य शृङ्गं शिखरं तस्य यदग्रं सर्वोपरितनभूमिभागः तत्र गतैः प्रातैः पुरुषैः । दुःखेन कष्टेन आप्यते लभ्यते इति दुरापः । सर्वथापि प्राप्तुं न शक्यः । तं विधुं चन्द्रमसं भूमिगो भूमौ स्थितः पुमान्किमिति प्रश्ने आददीत गृहीयात्स्वपाणिना ॥

यथेवं तर्हि वृत्तं न कर्तव्यम् । नहि, कर्तव्यं त्ववश्यमेव । तर्हि कथं करिष्यतेऽतः करणसामर्थ्यमाह—

प्रभोः प्रभावादथ वा कथं न प्रभुर्भवामि प्रविधातुमेतत् ।

स्वःसत्प्रसादान्निदशाचलस्य शिखासु खेलायति किं न खल्वः ॥ ९ ॥

अथ वेति स्मरणगर्भे पक्षान्तरे वा । अत्रान्तरे मम गुरुभक्तिप्राग्भारवशाविर्भूतभाग्योदयात्स्मृतिविषयमायातम्, तदेव काव्ये प्रोच्यते । प्रभोर्हीरविजयसूरेः प्रभावान्माहात्म्यादेतत्काव्यं प्रविधातुं निर्मातुमहं प्रभुः समर्थः कथं न भवामि । अपि तु प्रभुर्भवाम्येव । उक्तमर्थमर्थान्तरेण समर्थयति—खञ्जश्चरणविकलः पुमान् स्वः स्वर्गे सीदति तिष्ठतीति स्वःसदेवस्तस्य प्रसादादनुग्रहान्निदशाचलस्य मेरोः शिखासु अग्रभागभूमीषु किं न खेलायति क्रीडति । अपि तु खेलतीत्यर्थः । यथा खञ्जो दिव्यानुभावात्सुरशिखरिशिखरे खेलति, तथाहमपि हीरसुरिमाहात्म्यादेतत्काव्यं कर्तुं समर्थमिवाम्येव । 'क्रीडति विहरति रमते खेलति खेलायतीति खेलार्थाः' इति क्रियाकलापे ॥

इति पीठिकापद्धतिः ।

अथ वर्णनप्रारम्भः—

सुपर्वभिर्भोगिभिरङ्गिसंवैलीलां स्वयं विभ्रदिव त्रिलोक्याः ।

प्रेयानिव स्त्रीभिरिहास्ति जम्बूद्वीपोऽब्धिवेलाभिरुपास्यमानः ॥ १० ॥

इह जगति भूमण्डलरूपमध्यमलोके पार्थिवो रजतहेमरत्नमयोऽनादताभिधानस्य द्वीपाधिदेवस्यावासभूत उत्तरकुर्वती जम्बूद्वीपस्तेनोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपोऽस्ति वर्तते । जम्बूद्वीपः किं क्रियमाणः । उपास्यमानः सेव्यमानः । कामिः । अब्येः समुद्रस्य वेलाभिर्जलवृद्धिभिः । कः कामिरिव । प्रेयान् स्त्रीभिरिव । यथा अतिशयेन प्रियः । मातृपितृभ्रातृपुत्रादिसर्वस्वजनेभ्योऽपि पतिव्रतानां स्त्रीणां प्रेमाधिक्यं भर्तार्येव तेन प्रेयानिति पदोपादानम् । कान्तः स्त्रीभिर्निषेव्यते । जम्बूद्वीपः किं कुर्वन् । उत्प्रेक्ष्यते—विभ्रदिव धारयन्निव । काम् । लीलां शोभां विलासं वा । कस्याः । त्रिलोक्या जगत्रयस्य । कथम् । स्वयमात्मना । कैः । क्रीडार्थमागतैर्हिमवद्भिरिधुरसरित्पद्मह्रदादिनिवासिभिर्वा सुपर्वभिर्देवैः । तथा—भोगिभिर्नागकुमारैः । तथा—अङ्गिसंवैर्देहिसार्यैः । 'संघः सार्थस्तु देहिनां समूहे' । अथवाङ्गिविशेषणान्यपि । अङ्गिसंवैः । किं० । सुशोभनानि

पर्वाणि पर्युषणादीपालिकादीनि येषां ते तथा । पुनः किं० । भोगो राज्यादिसुखमस्त्ये-
षामिति मत्वर्थीयप्रत्यये भोगिनस्तैः । विलासम् । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इति धात्वर्थत्वा-
दाश्लेषणं मिलनं कलयन् ॥

नीराजयन्तीष्विव चित्रभानुमादाय दिग्गवारविलासिनीषु ।

संवर्धयन्तीषु पयःपृषद्भिर्वेलासु कान्तास्विव मुक्तिकाभिः ॥ ११ ॥

यं शंभुशैलच्छविरोमगुच्छचन्द्रातपत्रोद्धतवाहिनीकम् ।

वार्धेस्तरङ्गा मगधा इवोर्वीधवं स्तुवन्तीव गभीररावैः ॥ १२ ॥

यं जम्बूद्वीपं वार्धेः समुद्रस्य तरङ्गाः कल्लोलाः । उत्प्रेक्ष्यते—गभीररावैर्मन्दस्वरैः स्तुव-
न्तीव स्तुतिं कुर्वन्तीव । के इव । मगधा इव । यथा मागधा वंशादिस्तुतिकारिणः उर्वी-
धवं पृथ्वीपतिं स्तुवन्ति । किं० जम्बूः । शंभुशैलः कैलासस्तस्य च्छवयः स्फटिकरत्न-
निर्यद्दुतय एव रोमगुच्छाश्चामराणि यस्य तथा चन्द्रो विधुमण्डल एवातपत्रं छत्रं यस्य ।
पुनः किं० । उद्धता रङ्गतरङ्गैरुत्कटा वाहिन्यो नद्यो यस्य । पश्चात्कर्मधारयः । उर्वीधवम-
पि शंभुशैलच्छविवदुज्ज्वला रोमगुच्छा यस्य । तथा—चन्द्रतुल्यमातपवारणं यस्य । तथा—
उद्धताः स्वच्छोत्कर्षाद्वैरिवारं तृणं मन्यमाना वाहिन्यः सेना यस्य । अत्रापि कर्मधारयः ।
कासु सतीषु । दिग्गवारविलासिनीषु सतीषु दिश एव वाराङ्गनास्तासु । उत्प्रेक्ष्यते—नीरा-
जयन्तीष्विव । नीराजनामारात्रिकां कुर्वतीषु । नीराजनां कुर्वन्ति इति नीराजयन्ति ।
करणे अिप्रत्ययः । नीराजयन्तीति नीराजयन्त्यस्तासु । 'प्रदाक्षिणीकृत्य जयाय सृष्ट्या
रराज नीराजनया स राजयः' इति नैषधे । 'नीराजनया आरात्रिकविधानेन' इति तट्टतिः ।
किं कृत्वा । चित्रभानुं सूर्यमादाय गृहीत्वा । अन्या अपि वारविलासिन्यश्चित्रभानुं वह्नि-
मादाय राजानं नीराजयन्ति । 'ब्रह्मो हंसश्चित्रभानुर्विवस्वान्' । तथा—'वृषाकपिः पावक-
चित्रभानु' इति सूर्यवह्निनाम्री हैम्पाम् । पुनः कासु सतीषु । वेलासु समुद्रजलवृद्धिषु
सतीषु । किं कुर्वतीषु । संवर्धयन्तीषु अवकिरन्तीषु । उत्प्रेक्ष्यते—वर्धापयन्तीष्विव ।
वर्धापयन्तीति प्रयोगः कल्पकिरावल्याम् । कैः । पयसां पानीयानां पृषद्भिर्विन्दुभिः ।
कास्विव । कान्तास्विव । यथा कामिन्यः क्षमाकान्तं मुक्तिकाभिर्मुक्ताफलैरुपलक्षणाग्राजै-
रपि वर्धापयन्ति । 'अवाकिरन्वयोद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः' इति रघुवंशेऽपि । 'सिता
वमन्तः खलु कीर्तिमुक्तिकाः' इति नैषधे ॥ युग्मम् ॥

चन्द्रार्कचक्रद्वयभृत्प्रभूतक्षेत्रप्रभू रत्ननिधानवार्धिः ।

यः कोऽपि चक्रीव चकास्त्यसंख्यद्वीपावनीपैः समुपास्यमानः ॥ १३ ॥

यो जम्बूद्वीपः कोऽप्यद्भुतवैभवः । 'जयति मधुसहायः सर्वसंसारवल्लीजननजरठकन्दः
कोऽपि कन्दर्पदेवः' इति चम्पूकथायाम् । 'कोऽप्यद्भुतवैभवः' इति तट्टिप्पनके । च-
क्रीव सार्वभौम इव चकास्ति शोभते । किंविशिष्टो यः । चन्द्रो विधुरकैः सूर्यस्तावेव

चक्रे रथाङ्गे तयोर्द्वयं बिभर्तीति चक्रद्वयभृत् । पुनः किंभूतः । प्रभूतानां क्षेत्राणाम् । १ भरत
 २ हिमवत् ३ हरिवर्ष ४ महाविदेह ५ देवकुरु ६ उत्तरकुरु ७ रम्यक ८ ऐरण्यवत् ९
 ऐरावताभिधानानां नवसंख्याकानां वर्षाणां प्रकर्षेण भूरुपत्तिस्थानम् । पुनः किंभूतः ।
 रत्नानां मणीनां निधानानां च वार्धिर्वार्धिनामघेया संख्या यत्र । 'शतं सहस्रमयुतं लक्ष-
 प्रयुतकोटयः । अर्बुदमब्जं खर्वं च निखर्वं च महाम्बुजम् । शङ्खुर्वार्धिरन्त्यं मध्यं परार्ध्यं
 चेति नामतः ॥' इति हैममालायाम् । लौकिका संख्या । यद्वा रत्नैरुपलक्षितानि संपूर्णानि
 वा निधानानि निधयः वार्धिश्च । सगरचक्रवर्तिवधसा सुस्थितसुरानीतः शत्रुंजयशैला-
 द्वादशशक्रोशदूरमुक्तः समुद्रो यत्र । पुनः किंभूतः । असंख्याः संख्यातीता ये द्वीपाः । १ घातु-
 कीखण्ड २ पुष्कर ३ वारुणी ४ क्षीर ५ घृत ६ इक्षु ७ नन्दीश्वर ८ अरुण ९ अरुण-
 वर १० अरुणवरावभास एवं त्रिप्रत्ययावतारकुण्डल-शङ्ख-रुचक-भुजग-कुश-क्रौञ्चप्रमुखा
 असंख्याता द्वीपास्त एवावनीं पृथ्वीं पान्ति रक्षन्ति इति कृत्वा भूपास्तैरुपास्यमानः संसे-
 व्यमानः । चक्री तु एकचक्रभृत्तथा एकस्य भरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुः स्वामी । तथा चतु-
 र्दशनवनिधानवानेव, द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्याकैरेव भूपै राजभिः सेव्यः ॥ इति जम्बूद्वीपः ॥

अन्तःस्फुरन्मौक्तिकरत्नराजीविराजिकुल्येशदुकूलभाजः ।

भास्वज्जगत्यर्जुनमेखलाया निशावशाहर्मणिकर्णिकायाः ॥ १४ ॥

संध्यारुचीकुङ्कुमपङ्किलाङ्गप्राचीप्रतीचीक्षितिभृत्कुचायाः ।

द्वीपश्रियास्तारकतारहारे किनायको राजति रत्नसानुः ॥ १५ ॥

यत्र जम्बूद्वीपे रत्नसानुर्मेरु राजति शोभते । किं० । उत्प्रेक्ष्यते—द्वीपश्रिया जम्बूद्वीपल-
 क्ष्म्यास्तारका ज्योतीषि ता एव तारा निर्मलमौक्तिकानि । 'तारो निर्मलमौक्तिके' इत्यने-
 कार्थः । तेषां हारस्तत्र किनायको मध्यमणिः । किंभूताया द्वीपश्रियाः । अन्तर्मध्ये
 स्फुरतां द्योतमानानां मौक्तिकानां मुक्ताफलानां रत्नानां मणीनां राजी श्रेणी तथा विरा-
 जते इत्येवंशीलो यः कुल्यानां नदीनाम् । 'कुल्या तु सारिणी नद्योः' इत्यनेकार्थः । ईशः
 स्वामी । 'यादः स्रोतोवार्नदीशः' इति हैमीवचनात् । स[मुद्र] एव दुकूलं क्षौमवत्त्वं भ-
 जत्याश्रयते सा तस्याः । 'सागराच्चाग्रे स्युर्नेमी मेखलाम्बराः' इति हैमीवचनात् । समुद्रस्य
 वल्लत्वेनोपादानम् । पुनः किंभूतायाः । भास्वन्ती दीप्यमाना या जगती । कपिशिषिकव-
 र्जितप्रकारभित्तिः । सैवार्जुनस्य सुवर्णस्य मेखला काञ्ची यस्याः सा तस्याः । पुनः किंभू-
 तायाः । निशा रात्रिर्वशा प्रिया यस्य स निशापतिश्चन्द्रस्तथाहर्मणिर्भास्करस्तावेव कर्णिके
 कर्णभूषणे यस्याः सा तस्याः । पुनः किंभूतायाः । संध्ये दिनाद्यवसानभवे तयो रुची कान्तिः ।
 रुचीशब्दो दीर्घकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—'रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनाभिः' इति नैषधे ।
 सैव कुङ्कुमं केसरं तेन पङ्किलौ व्याप्तावङ्कावुत्सङ्गौ ययोस्तथाविधौ यौ प्राची पूर्वा प्रतीची
 पश्चिमा तयोः क्षितिभृतौ पर्वतानुदयास्ताचलनामानौ तावेव कुचौ स्तनौ यस्यास्तस्याः ॥
 युग्मम् ॥

यत्रोल्लसद्गौरिमतुङ्गिमश्रीर्गिरप्रवृत्तिः स्फुटभद्रशाली ।

करीव हेम्नः शिखरी विभाति रवीन्दुघण्टाग्रहवर्धरीमान् ॥ १६ ॥

यत्र द्वीपे हेम्नः स्वर्णस्य शिखरी पर्वतो मेरुर्विभाति । क इव । करीव हस्तीव । किंभूतो मेरुः करी च । उल्लसन्ती प्रोल्लासं प्राप्नुवन्ती स्फुरन्ती गौरिम्नः । 'गौरस्तु श्वेतपीतयोः' इत्यनेकार्थः । पीतत्वस्य श्वेततायाश्च । तथा—तुङ्गिन्न उन्नतत्वस्य श्रीः शोभा यस्मिन् सः । समासान्तविधेरनित्यत्वाद्भवस्थितविभाषयात्र समासान्तः कप्रत्ययो नागात् । नैषधेऽप्येवं दृश्यते । यथा—'उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार' इति । गजविशेषणेऽप्येवमेव । पुनः किंभूतः । झराणां निर्झराणां प्रवृत्तिः प्रवर्तनं असरणं यस्माद्यस्मिन्वा मेरौ । करिणि तु निर्झरप्रचारवत्सत्तथाप्रवृत्तिर्मदप्रवाहो यस्मिन् । 'भदो दानं प्रवृत्तिश्च' इति हैम्याम् । पुनः किंभूतः । स्फुटं विनिद्रमुन्मिषितं विकसितम् । 'दलितं स्फुटितं स्फुटम्' इति हैम्याम् । भद्रशालाख्यं वनं यत्र । करी तु स्फुटं प्रकटं भद्रजातिवेन शालते शोभते इति सः । 'शाल प्रशंसायाम्' इति कल्पद्रुमे । पुनः किंभूतः । रवीन्दु सूर्याचन्द्रमसौ तावेव घण्टे तथा ग्रहा मङ्गलाद्या उपलक्षणान्नक्षत्रतारकास्त एव घर्घर्यः क्षुद्रघण्टिका यस्मिन्सः । गजोऽपि रवीन्दुवद्वृत्तघण्टाभ्यां ग्रहसदृक्किङ्किणीभिश्च युक्तो भवति ॥

यत्रार्थिनोऽर्थेशमिव प्रसार्य करान्सुवर्णं विवरीषवः किम् ।

प्रदक्षिणागोचरतां नयन्ति ज्योतिर्गणा गैरिकसानुमन्तम् ॥ १७ ॥

यत्र जम्बूद्वीपे ज्योतिर्गणा ग्रहनक्षत्रतारासमूहा गैरिकस्य । 'गैरिकं स्वर्णधात्वोः' इत्यनेकार्थः । सानुमन्तं पर्वतं सुमेरुम् । प्रदक्षिणाया दक्षिणावर्तभ्रमिक्रियाया गोचरतां नयन्ति प्रापयन्ति । 'मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि' इति कल्याणमन्दिरस्तवे । तथा—'द्वीपाधिपान्नयनयोर्नय गोचरत्वम्' इति नैषधे । कि० । उत्प्रेक्ष्यते—करान्किरणान्पाणीन्प्रसार्य विस्तार्य विवरीषवः । 'वृञ् याचने' । वरीतुमिच्छवो याचितुकामाः किम् । के इव । अर्थिन इव । यथा याचकाः करान्प्रसार्य सरलीकृत्य स्वर्णमभ्यर्थयितुकामा अर्थेशं धनपतिं प्रदक्षिणयन्त्यनुकूलीकुर्वन्ति ॥ इति मेरुः ॥

सवेशकैश्यायितकूलिनीशो ललामलीलायितसिद्धशैलः ।

द्वीपेन्दिराया इव भालपट्टो यस्मिन्व्यभाद्भारतनाम वर्षम् ॥ १८ ॥

यस्मिञ्जम्बूद्वीपे भारतमिति नाम यस्य तादृशं वर्षं क्षेत्रं व्यभाद्भारते । यादृक् प्रथमाद्यैरेवभूत् तादृक्पञ्चमारके नास्ते । अवसर्पिणीकालानुभावात्सर्वेऽपि पदार्था अनन्तगुणपर्यादिभिर्हीयमानाः सन्त्यत एव भूतकालः । उत्प्रेक्ष्यते—द्वीपेन्दिराया जम्बूद्वीपलक्ष्म्या भालपट्टो ललाटमिव । किंभूतः । सवेशे संविधौ श्यामत्वात्कैश्यायितः केशसमूहः

क्षयते—स्वच्छन्दं स्वच्छया केली क्रीडा । 'केलीभिरुद्धर कशोदरि' इति नैषधे । तया तरलीभवन्त्याश्चलाजायमानाया वर्षलक्ष्म्या भरतक्षेत्रश्रियाः शिरस्तो मस्तकाद्भुवि भूमौ सस्तं पतितमुत्तरीयमुपर्याच्छादनवस्त्रं प्रावरणमिव । किंभूतम् । मरुता वायुना उत्प्राबल्येन तरङ्गयुक्तं कृतम् । पुनः किंभूतम् । सितमुज्ज्वलम् ॥ इति गङ्गा ॥ इति भरतक्षेत्रम् ॥

तदक्षिणार्धे सुरगेहगर्वसर्वकषो गूर्जरनीवृदास्ते ।

श्रियेव रन्तुं पुरुषोत्तमेन जगत्कृताकारि विलासवेश्म ॥ २३ ॥

तस्य भरतक्षेत्रस्य दक्षिणदिक्पार्श्ववर्तिनि अर्धे सामिभागे खण्डे सुरगेहस्य स्वर्गस्य यो गर्वः स्ववैभवाहंकारस्तस्य सर्वकषः सर्वापहारी गूर्जर इति नामा नीवृद्देश आस्ते वर्तते । उत्प्रेक्षयते—पुरुषोत्तमेन नरश्रेष्ठेन । जातावेकवचनम् । विष्णुना च सार्धं रन्तुं क्रीडितुं श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या जगत्कृता सर्वसृष्टिविधायिना विधात्रा विलासवेश्म केलिनिकेतनमकारि कारितमिव । प्यन्तप्रयोगः ॥

अशेषदेशेषु विशेषितश्रीर्यो मञ्जिमानं वहते स्म देशः ।

आक्रान्तदिक्चक्र इवाखिलेषु वसुंधराभर्तृषु सार्वभौमः ॥ २४ ॥

यो देशो गूर्जरमण्डलो मञ्जुनो भावो मञ्जिमा तं चारुतां वहते स्म दधौ । किंभूतो देशः । विशेषः सर्वातिशायिता संजातोऽस्यामिति विशेषिता श्रीर्धनधान्यादिका सर्वापि संपत्तिरूपा लक्ष्मीः शोभा वा यस्य । अत्र समाप्तान्तविधेरनित्यत्वात्कप्रत्ययाभावः । केषु । अशेषेषु समस्तेषु देशेषु जनपदेषु । पुनः किंभूतम् । आक्रान्तं महत्त्वादात्मना व्याप्तं दिशां चतसृणामुपलक्षणाद्विदिशामपि एतावता अष्टानां हरितां चक्रं मण्डलं येन । क इव । सार्वभौम इव । यथा सर्वभूमेरीश्वरश्चक्रवर्ती अखिलेषु सर्वेषु वसुंधराभर्तृषु भूपालेषु विशेषितश्रीर्भवति । किंभूतः । आक्रान्तं स्वभुजबलेन विजितं दिक्चक्रं येन ॥

सुस्वामिभाजो विबुधाभिरामाः सजिष्णवो यत्र पुरः स्फुरन्ति ।

धृता दधानेन दिवाभ्यसूयां येनामरावत्य इवाप्रमेयाः ॥ २५ ॥

यत्र देशे पुरो नगर्यः स्फुरन्ति । किंभूताः । सुशोभनं नीतिमन्तं स्वामिनं राजानं भजन्ति इति सुस्वामिभाजः । पुनः किंभूताः । विशेषेण बुधाश्चतुर्दशविधावेदिनः पण्डितास्तैरभिरामा मनोज्ञाः । पुनः किंभूताः । सह जिष्णुभिर्जयनशीलैः सुमटादिभिर्वर्तन्ते यास्ताः । उत्प्रेक्षयते—दिवा देवलोकैः सहाभ्यसूयामीर्ध्यां दधानेन वहता येन देशेन अप्रमेयाः प्रमातुमशक्या गणनातीता अमरावत्य इन्द्रपुर्य इव धृताः । किंभूता अमरावत्यः । सुस्वामिनं सहास्राक्षत्वात्सर्वप्रकृतिभाववेदिनं पुरंदरं स्वामिकार्तिकं वा भजन्तीति । पुनः किंभूताः । विबुधैर्देवै रम्याः । पुनः किंभूताः । सह जिष्णुना शक्रेण कृष्णेन वा वर्तन्ते यास्ताः । सश्रीका हरय इति चम्पूकथयाम् । अथ वा जिष्णुश्च जिष्णुश्च जिष्णुः कृष्णेन्द्रौ ताभ्यां सह । सरूपाणामेकशेषे ॥

अथ कानिचित्तीर्थानि प्रतिपाद्यन्ते—

शत्रुञ्जयाद्रेस्तलहट्टिकायां यदार्षभिर्वासयति स्म पूर्वम् ।

द्विषन्निव क्षोणिभृतां विनीतां यस्मिंस्तदानन्दपुरं समस्ति ॥ २६ ॥

यन्नगरं पूर्वं प्रथमयात्राकरणसमये शत्रुञ्जयाद्रिदर्शनादुत्पन्नामन्दानन्दात् शत्रुञ्जयाद्रेः सिद्धावलयस्य तलहट्टिकायां सीमभूमौ । 'सम्मेतशैलतलहट्टिकायां ग्रामसत्तमे । क्षेमकरः सार्यनामा ग्रामाध्यक्षो भवानभूत् ॥' इति प्रतिक्रमणसूत्रबृहद्भूतौ । ऋषभस्यापत्यमार्षभिर्भरतचक्री वासयति स्म निवेशितवान् । वार्धकिरत्नेनेति शेषः । क इव । क्षोणिभृतां द्विषन्निव । यथा पर्वतानां शत्रुरिन्द्रः पूर्वं प्रथमं श्रीऋषभस्वामिराज्यावसरे सर्वनगर-पुरग्रामादिनिवेशनप्रथमप्रारम्भे विनीतां नान्नीं नगरीं वासितवान् । धनदेनेति शेषः । यस्मिन्देसे तदानन्दपुरमधुना नु बृहन्नगरापरामिधानं पुरं विभाति ॥ इत्यानन्दपुरम् ॥

यत्तुङ्गतारङ्गगिरौ गिरीशशैलोपमे कोटिशिला समस्ति ।

स्वयंवरोर्वीव शिवाम्बुजाक्षीपाणिग्रहे कोटिमुनीश्वराणाम् ॥ २७ ॥

यस्मिन्देसे तुङ्गेऽभ्रंलिहे तारङ्गनाम्नि पर्वते कोटिशिला समस्ति विद्यते । किंभूते तारङ्गगिरौ । गिरीशस्य शिवस्य शैलः कैलाशस्तस्योपमा सादृश्यं यस्य स तस्मिन् । उत्प्रेक्ष्यते—कोटिसंख्याकानां मुनीश्वराणां शिवं सिद्धिः सैवाम्बुजाक्षी वधूस्तस्याः पाणिग्रहे विवाहे स्वयंवरोर्वी स्वयंवरमण्डपमेदिनीव ॥

यत्पर्वते कल्पितसप्तभूमी राजर्षिणाकार्यत जैनगेहः ।

इवाधिरौढं शिवचन्द्रशालां निःश्रेणिकारोहणसप्तकाङ्का ॥ २८ ॥

यस्मिंस्तारङ्गशैले राजर्षिणा कुमारपालेन कल्पिता रचिताः सप्तसंख्याका भूमयः । पिङ्गिका । उपर्युपरि स्थितिस्थानकानि यत्र स कल्पितसप्तभूमिजैनगेहः प्रासादः शिल्पिभिरकार्यत निर्मापितः । उत्प्रेक्ष्यते—शिवं मोक्षस्तदेव चन्द्रशाला शिरोगृहं तामधिरौढमुपरि चटितुम् । चटतिप्रयोग ऋषिमण्डलभूतौ । यथा—'चटिष्यति कथं प्रौढदेहोऽयं गजराजवत्' इति । आरोहणानां सोपानानां सप्तकमङ्के उत्सङ्गे यस्यास्तादृशी निःश्रेणिका अधिरौहणी कारितेव ॥

गभीरताघःकृतवार्धिनेवोपदीकृतं दन्तिनमुद्रहन्तम् ।

राजर्षिरसिन्विजयाङ्गजातं तीर्थाधिपं स्थापयति स्म चैत्ये ॥ २९ ॥

अस्मिंस्तारङ्गगिरौ चैत्ये स्वकारिताप्रासादे राजर्षिः कुमारपालभूपालो विजयाया जित-शत्रुनृपपत्न्या अङ्गजातं नन्दनमजितनामानं द्वितीयतीर्थकरं स्थापयति स्म निवेशयामास । किं कुर्वन्तम् । उद्रहन्तं दधतम् । कं कर्मतापन्नम् । दन्तिनमर्थाल्लञ्छनरूपं गजम् । उत्प्रेक्ष्यते—गभीरतया गाम्भीर्येणाघःकृतेन अलब्धमध्यत्वेन पराभूतेन वार्धिना समुद्रेण उपदीकृतं ढौकितमिव । वार्धो जलकरिणां सद्भाव[स]त्वादैरावणस्याप्यर्णवे समुत्पन्नत्वा-

चेयमुत्प्रेक्षा । अथ वा 'विन्ध्येन धैर्यैरिव धिकृतेन' इति पाठः । तत्र धैर्यैर्मन्दरादिभ्योऽप्यतिशायिस्वधीरताभिधिकृतेनातिभूतेन विन्ध्येन विन्ध्याचलेनोपदीकृतमिव । विन्ध्याचले हि करिणां सद्रावः । 'रोहणाचले रत्नानि । मलयाद्रौ चन्दनानि । विन्ध्याचले गजाः' इत्यादि काव्यकल्पलतायाम् । तथा—'स्वस्थानात्पदमात्रमप्यचलतो विन्ध्यस्य चानेकशो जायन्ते मदपालिपालितयशःश्रीलम्भिनः कुम्भिनः' इति सूक्तेऽपि ॥

चैत्येन चूडामणिनेव शीर्षं विभूष्य राजर्षिरमुष्य शृङ्गम् ।

सिद्धाचलस्येव सुमङ्गलाभूस्तीर्थत्वमुर्व्यां प्रथयांचकार ॥ ३० ॥

कुमारपालोऽमुष्य तारणगिरिः । तारण इत्यभिधानं सामसौभाग्यकाव्ये । तीर्थत्वं च सकलकर्मक्षयकरणविधिना मोक्षगमनस्यानकतामुर्व्यां पृथिव्यां प्रथयांचकार विस्तारयामास । क इव । सुमङ्गला भूरिव । यथा सुमङ्गला ऋषभदेवपत्नी तस्या तस्या वा भवतीति सुमङ्गलाभूर्भरच(त)क्री सिद्धाचलस्य शत्रुंजयाद्रेस्तीर्थतां प्रथयति सा । किं कृत्वा । विभूष्य विभूषां शोभां लम्भावित्वा । कम् । शृङ्गं शिखरम् । अर्थात्तारणगिरिरेव । केन । चैत्येन स्वकारितविहारेण । किं केनैव । शीर्षं चूडामणिनेव । यथा कश्चित्पुमान् मस्तकं चूडामणिना विभूषयति ॥

देशे पुनस्तत्र समस्ति शङ्खेश्वरोऽन्तिकस्थायुकनागनाथः ।

धात्रा धरित्र्यां जगदिष्टसिद्धौ मेरोरिवादाय सुरद्रुस्तः ॥ ३१ ॥

अपरतीर्थवर्णनाधिकारे तत्र गुर्जरदेशे पुनरन्यत् श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथः तीर्थं समस्ति जागर्ति । किं शङ्खेश्वरः । अन्तिके समीपे स्थायुकः सेवाहेवाकितया नित्यं तिष्ठत्येवंशीलः नागानां नाथः प्रभुर्धरणेन्द्रो यस्य । अथ वा । षष्ठाशीतिसहस्रनागनायकप्राग्जन्मवर्धमानाचार्याभिधानशङ्खेश्वराधिष्ठायकनागेन्द्रो यस्य । अथ वा पुरुषादेयनामकर्माणं श्रीपार्श्वनाथं विमुच्य अन्येषां देवानां समीपे अधिष्ठातृत्वेन । अमानोना प्रतिषेधे । ना कदाचिदपि न गच्छन्तीति नागाः अष्टाचत्वारिंशसहस्रयक्षास्तेषां नाथः पार्श्वयक्षो यस्य सः । उत्प्रेक्ष्यते—जगदिष्टसिद्धौ । 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः' इति न्यायाज्जगज्जनानामिष्टस्याभिलषितस्य सिद्धौ पूर्तये मेरोः सुरतरुनिवासभूमेरादाय गृहीत्वार्थात्कल्पद्रुमं धात्रा ब्रह्मणा धरित्र्यां गुर्जरमण्डलमेदिन्याम् । धरित्रीति गुर्जराभिधानम् । अथवा केवलं भूमावेव सुरद्रुः कल्पवृक्ष उतः प्ररोपित इव ॥

विद्याधरेन्द्रौ विनमिर्नमिश्र यद्विम्बमभ्यर्चयतः स पूर्वम् ।

स्वर्गे ततोऽपूजि विडौजसा यत्स्वधाम्न एव स्पृहयेव सिद्धेः ॥ ३२ ॥

नमिश्च पुनर्विनमिर्नाम विद्याधरेन्द्रौ छद्मस्थश्रीऋषभदेवसेवासंतुष्टधरणेन्द्रप्रदत्तवैताह्यदक्षिणोत्तरश्रेणिद्वयराज्याष्टाचत्वारिंशद्विद्यालंकृतौ पूर्वं प्रथममस्याशत्रुविंशत्यादिसमये श्रीमद्युगादिदेवे विद्यमाने सति नमिविनमिनामानौ खेचरेन्द्रौ यस्य श्रीशङ्खेश्वरपार्श्व-

नाथस्य बिम्बं प्रतिमामभ्यर्चयतः स्म पूजयतः स्म । बिम्बशब्दः पुनपुंसके । ततस्तदनन्तरं यद्विम्बं विडौजसा शक्रेणापूजि पूजितम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गे देवलोके मनुष्यावतारं विनैव देवसंबन्धिवैक्रियशरीरेणैव सिद्धेर्मुक्तेः स्पृहया वाञ्छयेव ॥

तेनाथ मुक्तं गिरिनारिशृङ्गेऽधिगम्य माणिक्यमिवामराणाम् ।

नीत्वात्मघातोर्विधुपद्मपाणी यदार्चतां निर्वृतिमीहमानौ ॥ ३३ ॥

विधुपद्मपाणी चन्द्रार्कौ यत् श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वबिम्बमात्मघातोः स्वस्पृहयोर्निजविमानयोर्वा नीत्वा आनीय आर्चतां पूजयतः स्म । किं कृत्वा । अथ कियत्कालं पूजनात् तं शक्रेण सौधमेन्द्रेण गिरिनारिशृङ्गे रैवताद्रेः काञ्चनबलानकाख्यशिखरे मुक्तं स्थापितम् अर्थाद्यत्पार्श्वबिम्बं सुराणां माणिक्यमिव चिन्तारत्नमिवाधिगम्य संप्राप्य । विधुपद्मपाणी किं कुर्वाणौ । ईहमानौ काङ्क्षन्तौ । काम् । निर्वृतिं मुक्तिं सुखं च ॥

ताभ्यां ततः स्थापितमुज्जयन्ते पार्श्वं स्वसर्वस्वमिवावसाय ।

आखण्डलः कुण्डलिनां क्रमेण सभाजनायानयदात्मघात्रि ॥ ३४ ॥

कुण्डलिनां भुजंगनामाखण्डलः पुरंदरो नागेन्द्रः क्रमेण कियता कालेन श्रीपार्श्वबिम्बं सभाजनाय पूजनार्थम् । ‘सभाजनं तत्र ससर्ज तेषां सभाजने पश्यति विस्मिते सा’ इति नैषधे । ‘सभाजनं पूजनम्’ इति तद्वृत्तिः । आत्मघात्रि स्वमन्दिरे आनयदानयति स्म । किं कृत्वा । अवसायं ज्ञात्वा । कम् । पार्श्वेनाथम् । पुनः पूर्ववदेव ताभ्यां चन्द्रार्काभ्यामुज्जयन्ते रैवताचले स्थापितं न्यासीकृतम् । किमिव । स्वसर्वस्वमिव स्वस्यात्मनः सर्वद्रव्यनिधिमिव ॥

गिराथ नेमेररविन्दनाभिरुपास्य पद्माप्रियमष्टमेन ।

आनाययत्तेन जितं तमात्मद्विषज्जयं मूर्तिमिवाश्रयन्तम् ॥ ३५ ॥

अथ कियत्कालपूजनानन्तरमरविन्दनाभिर्नारायणो नेमेः श्रीनेमिनाथस्य गिरा वाचाष्टमेनाष्टमभक्तेन पद्माप्रियं पद्मावत्याः प्राणनाथं धरणेन्द्रमुपास्य आराध्य तेन धरणेन्द्रेण तं पूर्वव्यावर्णितस्वरूपं जितं पार्श्वेनाथमानाययत् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिं शरीरमाश्रयन्तमात्मनः स्वस्य द्विषतां वैरिणां विजयमिव । ‘अरविन्दनाभिः’ इति माधकाव्ये । तथा ‘अरविन्दनाभिर्भालोचनश्चक्रपाणिरित्यादयः शिष्टप्रयोगाः संमता एव’ इति कातन्त्रव्याकरणवार्तिकेऽपि ॥

ततो जरा येन यदूद्धहानां न्यवारि वारा स्त्रपनोद्धवेन ।

बाणस्य कुष्ठं वपुषस्त्विवेव राजीविनीजीवितवल्लभेन ॥ ३६ ॥

ततोऽत्रागमनानन्तरं येन श्रीपार्श्वेनाथेन स्त्रपनोद्धवेन निजस्नानसमुत्पन्नेन वारा सलिलेन कृत्वा यदूद्धहानां यदुनन्दनानां समस्तयादवानां जरा प्रतिवासुदेवजरासंधविद्याशस्त्रसमुद्धूतविस्त्रसा । ‘विस्त्रसा जरा’ इति हैम्याम् । न्यवारि निवारिता । केनेव । राजी-

विनीजीवितवल्लभेनेव । यथा पद्मिनीप्राणनाथेन भानुना त्विषा स्वकिरणेन कृत्वा बाणस्य
बाणनाम्नः कवेर्वपुषः शरीरात्कुष्ठं दुष्टरोगविशेषो निराकृतः । एतद्व्यतिकरविस्तरभक्ता-
मरस्तवदृत्तेरवसेयः ॥

यत्रार्हताध्मायि निजध्वजिन्यास्त्राणाय कम्बुभ्रमता समन्तात् ।

तत्राच्युतेनारिजयप्रशस्तिरिवात्मनः शङ्खपुरं न्यधायि ॥ ३७ ॥

यत्र स्थाने निजस्या(जाया) आत्मीयाया निजस्य स्वस्य वा ध्वजिन्याः सेनायास्त्रा-
णाय रक्षणाय समन्तात्सेनासर्वतो भ्रमता भ्रमणीं कुर्वता सता अर्हता श्रीनेमिनाथेन
कम्बुः शक्रशङ्खोऽध्मायि वादितः पूर्यते स्म । तत्र तस्मिन्स्थाने अच्युतेन विष्णुना श-
ङ्खपुरं नाम नगरं न्यधायि स्थापितम् । वासितमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनो निजस्य
शत्रूणामरीणां जयप्रशस्तिः संग्रामे जरासंधादिद्वेषिनिषूदनाद्यक्षरमालिकेव ॥

वसुंधराया इव वैजयन्तं निर्माप्य चैत्यं सुरगोत्रमित्रम् ।

निवेशयामास सुवर्णबिन्दुरानन्दसान्द्रोऽत्र जिनेन्द्रबिम्बम् ॥ ३८ ॥

सुवर्णबिन्दुर्नारायणोऽत्र चैत्ये जिनेन्द्रबिम्बं श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां निवेशयामास स्थापि-
तवान् । किं कारयित्वा । निर्माप्य विधापयित्वा । किम् । चैत्यं प्रासादम् । किंभूतम् ।
सुराणां गोत्रस्य गिरेर्मैरोः । 'शैलोऽद्रिः शिखरी शिलोच्चयगिरी गोत्रोऽचलः सानुमान्'
इति हैम्याम् । मित्रं सुराद्रिवत्तुङ्गमित्यर्थः । किं० सुवर्णबिन्दुः । आनन्दसान्द्रः प्रमो-
दमेदुरः । उत्प्रेक्ष्यते—वसुंधरायाः पृथिव्या वैजयन्तमिन्द्रप्रासादमिव ॥

स्वकारितेशाचलचारुचैत्ये निवेशितः सज्जनमन्त्रिणा यः ।

स रोषितः स्वःशिखरीव सौधाङ्गणेऽस्य जज्ञेऽखिलसिद्धिदायी ॥ ३९ ॥

स शङ्खेश्वरपार्श्वनाथोऽस्य सज्जनमन्त्रिणोऽखिलाः समस्ता अष्टसंख्याका अणिमाद्या
अन्या वा मन्त्रतन्त्रस्वर्णरूप्यादिका हृदयाभिलाषिता सिद्धीर्ददानीत्येवंशीलो दायी दा-
यको जज्ञे जातः । क इव । स्वःशिखरीव । यथा सौधस्य निजमन्दिरस्याङ्गणे रोषित
उत्तः सुरदुर्मो निखिलार्थसिद्धिदः स्यात् । स कः । यः प्रभुः स्वेनैवात्मनैव कारितं शि-
ल्पिभिर्निर्मापितम्, तथा—ईशाचलः कैलाशस्तद्वच्चारु तुङ्गं सुधाधवलं च यच्चैत्यं प्रासा-
दस्तस्मिन् सज्जननाम्ना मन्त्रिणा निवेशितः स्थापितः । अथ वा सज्जनमन्त्रिणा स्वकारि-
तोत्तुङ्गचैत्ये निवेशितस्तस्मिन् सौधाङ्गणे प्ररोषितसुरतरुरिव सकलार्थसिद्धिदातासीत् ।
अत्र च 'प्ररोषितः' इति पाठः ॥

निःस्वादिवैश्वर्यमनाप्य झञ्झूपुरार्कतो दुर्जनशल्यभूमान् ।

रूपं यतः स्मारमिवाप्य देवसन्नेव यच्चैत्यमचीकरच्च ॥ ४० ॥

च पुनः—कियति काले व्यतीते सति दुर्जनशल्यनामा भूमान् राजा यच्चैत्यं यस्य
भगवतः प्रासादमचीकरत् शिल्पिभिः कारयामास । उत्प्रेक्ष्यते—देवसन्नेव सुपूर्वविमान-

मिव । किं कृत्वा । यतः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथत्वं रूपं दुष्टरोगापगमात्सर्वाङ्गसुभगतामाप्य लब्ध्वा । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरं स्मरसंबन्धि रूपं संप्राप्य । पुनः किं कृत्वा । अनाप्य अनासाय । कुतः—झञ्जपुरे झञ्जुवाढाख्यग्रामे । योऽर्कः साधिष्टायकसूर्यप्रतिमा ततः । प्रथमं हि दुर्जनशल्यभूमीपतिः सूर्यपुर उपविष्टः । ततस्तदधिष्टायकेन प्रोक्तं यत्—‘तवाङ्गकुष्ठादिरोगामयो मयापनेतुं न शक्यते । ततस्त्वं शङ्खेश्वरपार्श्वनाथपार्श्वं प्रयाहि । स एव तव सर्वाङ्गीणान् रोगानपनेष्यति ।’ तदनु शङ्खेश्वरपार्श्वनाथमाराध्य सम्यग् रूपवानासीदिति संप्रदायः । अतो झञ्जुपुरस्थभास्करात्सम्यक् रूपं न प्राप्तम् । कस्मादिव । निःस्वादिव । यथा दरिद्रपुरुषादैश्वर्यं नाप्यते । अत्र पूर्वाचार्यप्रणीतस्तुतिकाव्यानि यथा—‘अपूपुजत्वां विनमिरंमिश्र वैताव्यशैले बृषभेशकाले । सौधर्मकल्पे सुरनायकेन त्वं पूजितो भूरितरं च कालम् ॥ १ ॥ आराधितस्त्वं समयं कियन्तं चान्द्रे विमाने किल भानवेऽपि । पद्मावतीदेवतया च नागाधिपेन देवावसरेऽर्चितस्त्वम् ॥ २ ॥ यदा जरासंधप्रयुक्तविद्यावलेन जातं स्वबलं जरार्तम् । तदा मुदा नेमिगिरा मुरारिः पातालतस्त्वां तपसा निनाय ॥ ३ ॥ तव प्रभोस्तान्त्रजलेन सिक्तं रोगैर्विमुक्तं कटकं बभूव । संस्थापितं तीर्थमिदं तदानीं शङ्खेश्वराख्यं यदुपुंगवेन ॥ ४ ॥ तथा कथंचित्तव चैत्यमत्र श्रीकृष्णराजो रचयांचकार । स द्वारकास्थोऽपि यथा भवन्तं ननाम नित्यं किल सप्रभावम् ॥ ५ ॥ श्रीविक्रमान्मन्मथबाणमेरुमहेशतुल्ये समये व्यतीते । त्वं श्रेष्ठिना सज्जननामकेन निवेशितः सर्वसमृद्धिदोऽभूः ॥ ६ ॥ झञ्जपुरे सूर्यपुरोऽनवाप्तं त्वतोऽधिगम्याङ्गमनङ्गरूपम् । अचीकर-दुर्जनशल्यभूपो विमानतुल्यं तव देवचैत्यम् ॥ ७ ॥’ इति ॥

पद्मावतीप्राणपतिः प्रसूनाशनी भविष्णुश्चरणारविन्दे ।

तन्तन्यते यन्महिमानमुर्व्यां सरोजसौरभ्यमिवाहिकान्तः ॥ ४१ ॥

पद्मावत्या वैरोध्यापरनामधेयायाः प्राणपतिर्भर्ता धरणोरगेन्द्रो यन्महिमानं यस्य श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्य माहात्म्यमुर्व्यां धरित्र्यां तन्तन्यते अद्यापि यावदतिशयेन विस्तारयति । पद्मापतिः किंभूतः । प्रसूनं पुष्पं तदेवाशनमाहारो यस्य स प्रसूनाशनी ऋद्धः । ‘भोज्यं तु पुष्पमधुनी’ इति हैमीवचनात् । स भविष्णुर्भवनशीलः । कस्मिन् । अर्थाद्यद्भगवत्-श्चरणारविन्दे पादपद्मे । क इव । अहिकान्त इव । यथा अहिकान्तो वायुः । ‘वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्’ इति हैम्याम् । सरोजसौरभ्यं कमलपरिमलं क्षितौ तन्तनोति ॥

यो ध्वंसतेऽष्टापि दरान्नराणां व्यालान्ववायानिव वैनतेयः ।

शयेशयालः पुनरष्टसिद्धीः प्रणेषुषां यः कुरुते कृपालुः ॥ ४२ ॥

यो भगवान्नराणामर्थादात्माश्रितमानवानां दरान् मनुष्यादुत्पन्न इह लोकभयम्, सिंहसर्पाद्युत्पन्नपरलोकभयम्, चौरराजाद्युत्पन्नादानभयम्, अग्निविशुदायकस्माद्भयम्, दुःकालजातजीविकाभयम्, मरणभयम्, अयशोभयम्, नरकतिर्यग्गत्यादिदुःखजं संसारभयमेतान्यष्टौ । अथ वा मत्तेभ्योऽन्तर्दवाग्निभुजंगसंग्रामसमुद्भूतचौराभिधानानि महाभयानि विध्वंसते ना-

शयति । क इव । वैनतेय इव । यथा वैनतेयोऽष्टसंख्यान् व्यालानां सर्पाणामन्ववायान् कुलानि वासुक्यनन्ततक्षककंकोलपद्ममहापद्मशङ्खकुलीशशिनामानि विध्वंसते । पुनर्यः कृपालुर्दयावान् प्रणमुषां निजपादाम्बुजयोर्मन्त्रीभूतानां जनानां लघिमा वशिता ईशत्वं प्राकाम्यं महिमा अणिमा यत्र कामावसायित्वं प्राप्तिरित्यष्टसंख्याका अष्टनाम्न्यो वा सिद्धयः ताः शये हस्ते शयालः शयनशीला हस्तस्थिताः कुरुते संपादयति ॥

उर्जस्वलत्वं कलयन्कलौ यो निधिर्महिम्नां महसामिवांशुः ।

जागर्ति शङ्खेश्वरपार्श्वनाथः श्रेयःपुरीप्रस्थितपान्थसार्थः ॥ ४३ ॥

यः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो जागर्ति स्फूर्जति । किं कुर्वन् । कलौ कलिकालेऽपि युगे उर्जस्वलत्वं स्फूर्तिमत्तां कलयन् धारयन् । किंभूतः । महिम्नां माहात्म्यानां प्रभावानां निधिराश्रयस्थानम् । क इव । अंशुरिव । यथा सूर्यो महसां तेजसां प्रतापानां वा निधानम् । पुनः किंभूतः । श्रेयः सिद्धिरेव पुरी नगरी तत्र प्रस्थिताश्चलिता ये पान्था भव्याध्वगास्तेषां सार्थ इव सार्थः ॥ इति श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथः ॥

तत्रापि च स्फूर्तिमियत्यपूर्वा श्रीस्थम्भने स्थम्भनपार्श्वदेवः ।

व्यध्वंसि धन्वन्तरिणेव येन कुष्ठोपतापोऽभयदेवसूरैः ॥ ४४ ॥

अपि च—पुनरन्यद्वर्णनप्रस्तावे तत्र गुर्जरमण्डले श्रिया लक्ष्या युक्तं यत्स्थम्भनं स्थम्भतीर्थपुरं तत्र स्थम्भननामा पार्श्वदेवोऽपूर्वमसाधारणी स्फूर्तिमियति गच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः । येन श्रीस्थम्भनपार्श्वदेवेन नवाङ्गीकृतिविधोऽभयदेवसूरैः कुष्ठोपतापः । अर्थात् शरीरात्कुष्ठनामा उपतापो रोगः । ‘रोगो रुजा रुगातङ्को० आम आमय आकलयमुपतापो गदः समः’ इति हैम्याम् । व्यध्वंसि निरस्तः । केनेव । धन्वन्तरिणेव । कविसमयानुसारेण नारायणासुसुरमथितक्षीरसमुद्रसमुद्भूतचतुर्दशरत्नमध्ये धन्वन्तरिनाम वैद्यरत्नमजायत । यथा धन्वन्तरिरत्नेन धन्वन्तरिनाम्ना वैद्यराजेन कुष्ठादिसर्वरोगो विध्वस्यते ॥

स्वक्षारतां सूनुकलङ्कितां च मार्ष्टुं क्रमाम्भोजरजोमृतेन ।

वेलाछलाद्यं जलधिर्द्विवेलमुत्कण्ठितो नन्तुमिवाभ्युपैति ॥ ४५ ॥

जलधिः समुद्रो द्विवेलं द्वे वेले वारौ यत्रेति क्रियाविशेषणम् । वारद्वयं वेलाछलाद्वारिवृद्धिव्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—यं स्थम्भनपार्श्वदेवं नन्तुं नमस्कर्तुमिवाभ्युपैति अभिमुखं समेति । किंभूतो जलधिः । उत्कण्ठितः कण्ठाद्ध्वमुत्कण्ठ उत्कण्ठत्वं संजातमस्येति भावप्रधानो निर्देशः । अन्योऽप्युत्कण्ठित औत्सुक्यकलितो जिनं नन्तुमायाति । किं कर्तुम् । मार्ष्टुमपनेतुम् । काम् । स्वस्यात्मनः क्षारतां लवणतां द्रोहन्तशक्रोद्धतां च । च पुनः सूतोश्चन्द्रमसः । विधोः समुत्पन्नत्वात् । कलङ्को गुरुदाराधिगमनात्परस्त्रीलाम्पव्यापवादोऽस्यास्तीति कलङ्को तस्य भावः कलङ्किता ताम् । ‘कलङ्कोऽङ्गापवादयोः’ इत्यनेनैकार्थः । केन । क्रमादर्थाद्भगवत्पादावेवाम्भोजे कमले तयो रजो रेणुस्तदेवामृतं पीयूषं तेन । ‘त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा’ इति भक्तामरस्तोत्रे ॥ इति स्थम्भनपार्श्वनाथः ॥

तीर्थानि तीर्थाधिपपावितानि परस्सहस्राण्यपराण्यपीह ।

स्फूर्तिं परां बिभ्रति पूर्वदेशे जिनेशकल्याणकशालिनीव ॥ ४६ ॥

अपि पुनः, इह देशे लाडणचारूपप्रमुखानि अन्यान्यपराणि परस्सहस्राणि सहस्रात्पराणि सहस्रशः अनेकसहस्रसंख्यानि तीर्थानि पुण्यस्थानानि परां प्रकृष्टां स्फूर्तिं बिभ्रति कलयन्ति । किं० । तीर्थाधिपैर्जिनेन्द्रैरर्थात् जिनप्रतिमाभिः पावितानि पावनीकृतानि । पवित्रितानीत्यर्थः । कस्मिन्निव । पूर्वदेश इव । यथा पूर्वदेशे सहस्रसंख्याकानि तीर्थानि स्फुरन्ति । किंभूते पूर्वदेशे । जिनेशास्तीर्थकरास्तेषां कल्याणकानि व्यवनजन्मदीक्षाज्ञान-मोक्षगमनस्थानानि तैः शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलस्तस्मिन् ॥ इति पुण्यस्थानानि ॥

अथ क्रीडास्थानकानि—

नवोदयं हीरकुमारचन्द्रं निरीक्षितुं कौतुकिनीसमेता ।

स्वयं स्वयंभूतनया किमेषा सरस्वती यत्र विभाति सिन्धुः ॥ ४७ ॥

यत्र देशे सरस्वतीनामा सिन्धुर्नदी विभाति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—नवो नूतनो भा-विनि भूतोपचारादुदयो यस्य तं तथोक्तम् । हीरनामा कुमारेषु कुमारणां वा मध्ये चन्द्र इव दीप्यमानत्वात् विविधनादहासवाग्विलासविश्राणनादिभिराह्लादकत्वाद्वा कुमा-रचन्द्रस्तं निरीक्षितुं द्रष्टुं कौतुकं विद्यते यस्याः सा कौतुकिनी कुतूहलाकलिता । एषा किं स्वयंभुवो धातुस्तनया पुत्री भारती स्वयमात्मना नदीरूपेणेत्यर्थः । ‘ब्रह्मपुत्री सरस्वती नदी’ इति हैमीवचनात् । समेता समागतेव । अन्यापि वशा कौतुकावबोधयं चन्द्रं प्रे-क्षितुं समेति ॥

कपोलपालीमृगनाभिपन्नलताङ्कितैश्च द्विजचन्द्रिकाङ्कैः ।

क्रीडन्मृगाक्षीवदनैर्बभौ या सहस्रचन्द्रेव विरञ्चिपुत्री ॥ ४८ ॥

या विरञ्चिपुत्री सरस्वती सरित् क्रीडन्त्यो जलविलासं सृजन्त्यो या मृगाक्ष्यः सारङ्गन-यनास्तरुण्यस्तासां वदनैर्मुखैः सहस्रचन्द्रेव दशशतमृगाङ्कैव बभौ भाति स्म । किंभूतैर्व-दनैः । कपोलपालीषु गण्डस्थलेषु । पालीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । ‘कपोलपाली जनितानु-बिम्बयोः’ इति नैषधे । या मृगनाभेः कस्तूरिकायाः पन्नलताः पन्नवलयः ताभिरङ्कितैः क-लितैः । पुनः किंभूतैः । द्विजानां दन्तानां चन्द्रिका ज्योत्स्ना । कान्तिरित्यर्थः । ता अङ्के क्रोडे येषां तैः । ‘दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्’ इति रघुवंशे ॥

यूनो रिरंसोपगतान्सकान्तान्हंसस्वनैः स्वागतमुच्चरन्ती ।

तरङ्गहस्तस्थितपङ्कजैर्या विश्राणयामास किमर्धमर्ध्यान् ॥ ४९ ॥

या सरस्वती नदी यूनस्तरुणान् । तरङ्गाः स्वकल्लोला एव हस्तास्तेषु स्थितैः पङ्कजैः कमलैः कृत्वा । किम् । उत्प्रेक्ष्यते—अर्धं पूजाविधिम् । ‘अर्धः पूजाविधौ मूल्ये द्रव्ये’ इत्यनेकार्थः । विश्राणयामास । ‘दत्ते ददाति विश्राणयति प्रयच्छति च’ इति क्रियाकलापे । प्र-

दत्ते स्म । या किं कुर्वती । उच्चरन्ती कथयन्ती । पृच्छन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चरन्तीव ।
गर्भितोत्प्रेक्षा । किम् । स्वागतं मुखेनागतं कुशलप्रश्नं वा । कैः । हंसस्वनेर्मङ्गलरावैः ।
कान्प्रति । यूनस्वरूपान् । किंभूतान् । रिरंसया जलक्रीडां कर्तुमिच्छया उपग-
तान् स्वस्मिन् विषये समागतान् । पुनः किंभूतान् । सकान्तान्सहकान्ताभिर्वर्तन्ते ये
प्रियायुक्तान् । पुनः किंभूतान् । अर्घ्यान् पूजायोग्यान् ॥

विधोर्धियामन्दमरन्दलीनशिलीमुखोन्मीलितपुण्डरीकम् ।

वीक्ष्यामितो यत्र चकोरिकामिरभ्रामि पीयूषरसाभिकाभिः ॥ ९० ॥

यत्र सरस्वत्यां सरिति अमन्दमरन्दार्थं प्रचुरमकरन्दपानकृते लीना अन्तर्नीलीय स्थि-
ताः शिलीमुखा भ्रमराः यत्र एवंविधम् । तथा—उन्मीलितं विकसितं पुण्डरीकं सिता-
म्भोजं वीक्ष्य विलोक्य पीयूषस्यामृतस्य रसो निःस्पन्दस्तस्याभिकाभिः कामयित्राभिः ।
'कामुकः कमिता कम्प्रोऽनुकः कामयिताभिकः' इति हैम्याम् । चकोरिकामिज्योत्स्ना-
प्रियजायाभिर्विधोर्धिया चन्द्रबुद्ध्या अभितः समन्ताद्भ्रामि भ्राम्यते स्म । चकोरिकाना-
ममृतपानमग्रे वक्ष्यते ॥ इति सरस्वती ॥

मुक्तालताङ्गेव निजोपकण्ठश्रेणीभवलक्ष्मणपक्षिलक्षैः ।

शिञ्जानमञ्जीरवतीव कूलानुकूलकूजत्कलहंसिकाभिः ॥ ९१ ॥

शिलीमुखाश्लेषिसरोरुहेव सनेत्रवक्रश्रियमाश्रयन्ती ।

रथाङ्गनामद्वितयेन तुङ्गपीनस्तनद्वन्द्वमिवोद्वहन्ती ॥ ९२ ॥

रोमावलीं शैवलवल्लरीभिरिवाद्धानापि च यत्र देशे ।

स्वकेलिलोलान्वरवर्णिनीव युवव्रजान्साभ्रमती तनोति ॥ ९३ ॥

अपि च पुनः—यत्र देशे साभ्रमती नाम नदी वरवर्णिनीव प्रधानस्त्रीव युवव्रजांस्तरुणग-
णान् स्वस्यात्मनि विषये केलिषु जलक्रीडासु कामकेलिविलासेषु वा लोलांश्चपलानत्युत्सु-
कांस्तनोति । करोतीत्यर्थः । किंभूता साभ्रमती । निजस्यात्मनः स्वकीयस्य वोपकण्ठे समीपे
तटपार्श्वे । 'कांठा' इति लोकप्रसिद्धा । श्रेणीभवतां पङ्क्त्या वितिष्ठमानानां लक्ष्मणपक्षिणां
सारसविहंगमानाम् । 'सारसस्तु लक्ष्मणः स्यात्' इति हैम्याम् । लक्षैः मुक्तालताङ्गेव मुक्ता-
फलहारोऽङ्गैः । 'पूर्वभागे उपत्योऽङ्गैः' इति हैम्याम् । कटेरुर्ध्वं पूर्वकायः । कण्ठादिषु
यस्याः । अथवा अङ्को भूषा यस्यास्तादृशीव । 'अङ्को भूषारूपकलक्ष्मणसु' इत्यनेकार्थः ।
पुनः किंभूता । कूले तटेऽनुकूलं कर्णयोरमृतायमानं कूजन्तीभिः शब्दायमानाभिः कल-
हंसिकाभिः कृत्वा शिञ्जानमञ्जीरवतीव रणमणिनि निक्कणायमाननूपुरमण्डितेव । पुनः
किंभूता । सह नेत्रेण नयनेन वर्तते यत्तत्सनेत्रं यद्वक्रं तस्य श्रियं लक्ष्मीमाश्रयन्तीवेत्युत्प्रे-
क्ष्यते । केन । शिलीमुखं भ्रमरमाश्लिषत्यालिङ्गतीत्येवंशीलं यत्सरोरुद पद्मं तेन । 'तजला-
त्सरसः पङ्कात् परै रदृहजन्मजैः' इति हैम्याम् । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—उद्वहन्तीव दधतीव ।

किम् । तुङ्गमुच्चं पीनं पुष्टं यस्तत्तद्वन्द्वं कुचयुग्मं तत् । केन । रथाङ्गनाञ्चोश्चक्रवाकयो-
द्वितयेन युगलेन । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—आदधाना आ ईषत्कलयन्तीव । काम् । रोमावली लो-
मलेखाम् । कामिः । शैवलमञ्जरीभिः शेवालमञ्जरीभिः । ‘घञ्चुच्युता शैवलमञ्जरीव’ इति
कुमारसंभवे । स्त्रीणां प्रायो लोमलेखा स्वल्पैव प्रशस्यते । ‘बहुलोमा दरिद्रा स्यात्’ इति
वचनात्ततोऽत्रादधानेत्युपादानम् । किं च स्त्रीणामुदरे रोमराजी वर्ण्यमाना दृश्यते । तथा—
‘घणपव्वयरोमरायवणगहण’ इति । तथा—‘वयसी शिशुता तदुत्तरे सुदृशी स्वाभिविधिं
विधित्सुनी । विधिनापि न लोमलेखया कृतसीत्री प्रविभज्य रज्यतः ॥’ इति नैषधेऽपि ।
तथा—‘वरवर्णिन्यप्युक्तविशेषणविशिष्टैव स्यात्’ इति ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति साध्रमती ॥

यत्रोन्नमद्वारिदवर्मिताङ्गास्तडिल्लतोपात्तनिशातशस्त्राः ।

आखण्डलेन द्विषतेव रोषाद्योद्धुं व्यवस्यन्ति विलासशैलाः ॥ ९४ ॥

यत्र देशे कुत्राप्येकस्मिन्पार्श्वे इलादुर्गपुरसवेशप्रदेशे विलासशैलाः क्रीडापर्वता रो-
षात् स्ववंश्यलक्षपक्षच्छेदोद्भूतात्क्रोपाद्विषता वैरिणा आखण्डलेन शक्रेण साकं योद्धुं सं-
ग्रामं कर्तुं व्यवस्यन्ति प्रगल्भन्ते प्रयतन्ते इव । किंभूताः शैलाः । उन्नमन्त उत्प्राब-
ल्येन जलभरेण नभीभवन्तो वारिदा मेघास्तैर्वर्मितं वर्म संनाहः । स संजातोऽस्मिन्निति
वर्मितं संनाहयुक्तं जातमङ्गं वपुर्येषां ते । संनाहानां तु जात्यलोद्वेगेन श्यामत्वात् । घनोऽपि
श्यामस्तत एकवर्णत्वेन तदुपमानमिति । पुनः किंभूताः । तडिल्लता विद्युद्वितानान्येव उपा-
त्तानि गृहीतानि शाणोत्तेजितानि शस्त्राणि प्रहरणानि यैः । विद्युता निकषनिर्मलीकृतानां
सांयुगीनानां शस्त्राणां झगट्मिति दीप्तिवत्तुल्यता । तथा—करवालंउलालइकरीषीजझब-
झबइझबूकइजिसीबीज’ इति पूर्वाचार्यकृतजीरापल्लीपार्थनाथप्राकृतस्तोत्रे संग्रामाधिकारे ॥

इयत्तयानन्तमपि प्रमातुं प्रगल्भमाना इव कौतुकेन ।

शैलाः कृतव्योमवहावगाहा जगाहिरे निर्जरराजमार्गम् ॥ ९५ ॥

कापि यत्र देशे शैलाः पर्वता निर्जराणां राजा निर्जरराजः शक्रस्तस्य मार्गं पन्थानमे-
तावता गगनं यथा सुराणां मार्गस्तथा सुरेन्द्रस्यापि मार्गः । ‘येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्व-’
इत्यादि नैषधे । जगाहिरे अवगाहन्ते स्म । व्याप्नुवन्ति स्मेत्यर्थः । किंभूताः शैलाः । कृतो
निर्मितोऽत्युन्नततया व्योमवहायामाकाशगङ्गायामवगाहो जले प्रवेशो यैस्ते इवेत्युत्प्रेक्ष्यते ।
कौतुकेन कुतूहलेन । अनन्तमपि पाररहितमपि निर्जरनभ इयत्तया एतावत्प्रमाणत्वेन
प्रमातुं प्रमाणविषयीकर्तुं प्रगल्भमाना उद्यमं कुर्वाणा इव । कौतुकिनो हि निर्विचारम-
लौत्सुक्याद्यत्र तत्राप्युत्सहन्ते ॥

सवाहिनीकाः स्मितनूत(ल)चूतच्छत्रा झरन्निर्झरोमगुच्छाः ।

अनिहुवाना धरणीधरत्वमिवात्मनां यत्र वभुर्गिरीन्द्राः ॥ ९६ ॥

यत्र देशे कुत्रापि प्रदेशे गिरीन्द्रास्तुङ्गशैलाः वभुर्बभूवुः इवेत्युत्प्रेक्ष्यते । आत्मनां स्वेषां
धरणीधरत्वं भूभृद्भारं गिरित्वं राजतां चेत्यर्थः । अनिहुवानाः प्रकटीकुर्वाणा इव । ‘स्फुटं

च लब्ध्वामरयुगमचिह्ननैरनिङ्गवानं निजवाजिराजताम्' इति नैषधे । किंभूता गिरीन्द्राः । सह वाहिनीभिर्नदीभिः सेनामिश्र वर्तन्ते ये । अत्र समासान्तः कः । पुनः किंभूताः । स्मिता विकसिता मञ्जरीपिञ्जरीकृतास्थता नूता(ला) नवीना ये चूताः सहकारास्त एव च्छत्राणि आतपत्राणि येषाम् । पुनः किंभूताः । झरन्तो वहन्तो ये निश्चरास्त एव रोमगु-
च्छाश्वामराणि येषाम् । राजानोऽपि छत्रचामरसेनासंयुताः स्युः ॥

विद्युन्मणीभूषणभूष्यमाणा मिलद्वलाकाघनपुष्पनद्धा ।

कादम्बिनी बद्धशिखानुषङ्गा यद्गोत्रलक्ष्म्याः कवरीव रेजे ॥ ९७ ॥

यत्र देशे शैलोपरि कादम्बिनी मेघमाला रेजे । प्रायो मेघा गिरौ भवन्त्येवेति 'गिरौ वर्षन्ति वारिदाः' इति सूक्तेऽपि । भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यद्गोत्राणां गुर्जरभूधराणां लक्ष्म्याः श्रियः कवरी वेणीव । किंभूता कादम्बिनी कवरी च । बद्धो रचितः शिखाया-
मधित्यकायां शृङ्गाग्रे मस्तकोपरि वा अनुषङ्गः प्रसङ्गो यया सा । पुनः किंभूता । विद्यु-
देव विद्योतमानानि वा । 'विद्युन्मणिमेखलालंकारधारिण्यः' इति चम्पूकथायाम् । 'वि-
द्योतमानरत्नकाङ्क्षी' इति तद्विष्णुके । मणीनां भूषणान्याभरणानि तैर्भूष्यमाणा अलंक्रिय-
माणा । पुनः किंभूता । मिलन्तीभिः सङ्गं कुर्वन्तीभिर्बलाकाभिर्वककान्ताभिः । तथा
घनपुष्पैर्जलैर्नद्धा युक्ता । 'क्षीरं पुष्करमेघपुष्पकमलान्यापः पयःपायसी' इति हैम्याम् ।
क्षयैत्वात् घनपुष्पमिति पक्षे मिलद्वलाकातुल्यैः शुभ्रत्वाद्धनैः सान्द्रैः पुष्पैः कुसुमैर्नद्धा
गुम्फिता ॥

नित्यातिवाहाद्विगतावलम्बेऽम्बरद्वीपवती विखिन्ना ।

प्रोत्तुङ्गयद्भूधरनिर्झराणां निभेन भूभागमिवाभ्युपैति ॥ ९८ ॥

अम्बरद्वीपवती गगनापगा आकाशगङ्गा भूभागं पृथ्वीदेशमभि लक्ष्मीकृत्याभ्युपैति
अवतरति । पृथिव्यामवतरतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रोत्तुङ्गा अभ्रंलिहा ये भूधरागुर्जरगिरयस्ते-
षां निर्झराणां निभेन कपटेनेव भूभागमभ्युपैतीति शेषः । किंभूता अम्बरद्वीपवती । वि-
खिन्ना प्राप्तखेदेव । कस्मात् । नित्यातिवाहान्निरन्तरातिशयेन वहनात् । क । अम्बर
आकाशे । किंभूते अम्बरे । विगतावलम्बे सर्वथापि सर्वत्राप्यपगत आश्रयो यस्माद्यस्य
वा ॥ इति केलिशैलाः ॥

कैदार्यमुज्जृम्भितशालि यसिन्विहंगवृन्दैर्व्यरुचच्चरद्भिः ।

महीन्दिराया मणिगुम्फगर्भो नीलीविनीलः किमयं निचोलः ॥ ९९ ॥

यस्मिन् देशे । कचिदपीत्युपहायम् । कापि प्रदेशे उज्जृम्भिता निर्यदङ्कुराः शालयः क-
लमाया यत्र तत्तथोक्तम् । कैदार्यं केदारसमूहः । चरद्भिर्भक्षयद्भिश्चूर्ण कर्तुमितस्ततो
विचरद्भिर्वा विहंगवृन्दैः खगणैर्व्यरुचद्भाति स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—महीन्दिराया भूमिलक्ष्म्या

मणीनां विविधरत्नानां गुम्फो रचना गर्भे मध्ये यस्य । तथा नीली । लोके 'गुली' इति प्रसिद्धा । तद्वन्नीलो हरितवर्णो निचोलः । असौ कञ्जुक इव ॥

कैदारिकं क्वापि समञ्जरीकशालि व्यलासीन्नदसंनिधाने ।

रोमावली नाभिविभासिमध्यदेशे किमेषा विषयेन्दिरायाः ॥ ६० ॥

यत्र क्वापि कस्मिन्नपि प्रदेशे समञ्जरीकाः कलिकाकलिताः शालयो यत्र तत्तथोक्तं कैदारिकं केदारवारो नदसंनिधाने ब्रह्म(ब्रह्म)संनिधाने व्यलासीद्विलसति स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—विषयेन्दिरायाः देशश्रियाः नाभिना तुन्दकूपिकया । नाभिश्चन्दः पुंस्त्रियोः । विभासिनि शोभनशीले मध्यदेशे उदरे । एषा प्रत्यक्षलक्षा रोमावली लोमलेखेव ॥

उत्तालतालं करतालिकाभिः सृजन्ति गीतीरिह शालिगोप्यः ।

श्रिया समग्रान्विषयान्विजित्य कीर्तीः स्थितानामिह गुर्जराणाम् ॥ ६१ ॥

इह गुर्जरदेशे उत्तालतालमुत्तालास्त्वरितवादिनस्ताला यत्रैवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । करतालिकाभिर्हस्ततालाहतिध्वनितैः । शालीनां कमलक्षेत्राणां गोप्यो रक्षिका गीतीर्मधुरध्वनितालापगानानि सृजन्ति कुर्वन्ति । इवोत्प्रेक्ष्यते—श्रिया सर्वातिशयिलक्ष्म्या समग्रान् भूमीमण्डलवतिसमस्तान् विषयान् मण्डलान् विजित्य स्थितानामेकस्थानस्थायुकानां गुर्जराणां गूर्जरेनामदेशानाम् । देशानामग्रे बहुत्वमेव वाच्यम् । कीर्तीर्यशांसीव गायन्ति ॥ इति केदाराः ॥

कुत्रापि दम्भैरनुगम्यमानाः सरिद्वरायाः सखितां दधानाः ।

यद्गोचरद्रोणदुग्धाश्वरन्ति मूर्ताः समाज्ञा इव मण्डलस्य ॥ ६२ ॥

कुत्रापि कस्मिन्नपि स्थाने क्वचन गुर्जरदेशप्रदेशे यस्य देशस्य गोचरे गवां चरणस्थाने । द्रोणपरिमाणं दुग्धमासामिति द्रोणदुग्धा गावश्चरन्ति । 'चर गतिभक्षणयोः' अयं प्रयोगः । तृणादि भक्षयन्ति । गावः किं क्रियमाणाः । दम्भैर्वत्सतरैरनुगम्यमानाः । स्वप्रौढवत्ससहिता इत्यर्थः । पुनः किं कुर्वाणाः । सरिद्वराया गङ्गायाः सखितां श्रैत्यात्सादृश्यं दधाना बिभ्रत्यः । इवोत्प्रेक्ष्यते—मण्डलस्य गुर्जरदेशस्य मूर्ताः शरीरसंयुक्ताः समाज्ञाः कीर्तय इव ॥

गावः क्वचिद्भ्रान्ति सुधामुधाकृत्पयःस्त्रवन्त्यः प्रविभाव्य वत्सान् ।

यदीर्ष्यया निष्ठितनाकभाग्यैरिवावतीर्णा भुवि देवगावः ॥ ६३ ॥

क्वचित् प्रदेशे गावो धेनवो भान्ति । किं कुर्वन्त्यः । सुधां पीयूषं मुधा स्वमाधुर्यातिशयान्निष्फलां करोति तादृशं पयो दुग्धं स्त्रवन्त्यः । किं कृत्वा । वत्सांस्तर्णकानात्मनीयवत्सरूपाणि प्रविभाव्य दृष्ट्वा । इवोत्प्रेक्ष्यते—यदीर्ष्यया गुर्जरदेशेन समरूपया । ईर्ष्याद्भूतपापेनेति शेषः । निष्ठितैः समग्रमुक्त्वा अतिदुरितोदयेन वा क्षीणैर्नाकस्य खल्लोकस्य भाग्यैः पुण्यैः भुवि क्षोण्यामुर्व्यामवतीर्णाः समागता देवगावः कामधेनव इव ॥

ब्रह्माण्डभाण्डोपरिभित्तिभागप्रोत्तानयानोद्भवदतिभाजः ।

सातं चरन्त्यः किमुपेत्य धात्र्यां स्वर्धेनवो यत्र विभान्ति गावः ॥ ६४ ॥

यत्र देशे गावो भान्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—ब्रह्माण्डभाण्डस्य भुवनगोलकस्योपरितनभि-
त्तिभागे ऊर्ध्वकुञ्चप्रदेशे प्रोत्तानयानमम्बुप्रतिविम्बवदूर्ध्वपादमधोवपुरेर्विविधं यद्गमनं ते-
नोद्भवन्तीं प्रादुर्भवन्तीमिति पीडाम् । ‘पीडा बाधातिराभीलम्’ इति हैम्याम् । चिन्तां
वा भजन्तीति तादृशः सत्यः धात्र्यां भूमौ उपेत्सागत्य सातं सुखं यथा स्यात्तथा चरन्त्यः
स्वैरं गच्छन्त्यः । अथ वा । स्वेच्छया तृणाद्याहरन्त्यः । ‘चर गतिभक्षणयोः’ इति धा-
तौर्गमनभक्षणार्थत्वात् । स्वर्धेनवः कामगव्य इव । प्रोत्तानयानं नैषधे यथा—‘वैदर्भीकैलि-
शोभे मरकतशिखरादुज्जितैरंशुदर्भै ब्रह्माण्डाघातभ्रमस्यदजमदतया हीवृतावाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशे गताग्रैर्ध्वोऽप्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृ-
म्भते स्म ॥’ इति ॥ इति गोधेनवः ॥

यस्मिंश्च राजर्षियशोमरन्दवृन्दारविन्दैः पुटभेदनान्तः ।

द्वात्रिंशता श्रीऋषभादिसार्वचैत्यैर्विलेसे दशनैरिवास्ये ॥ ६५ ॥

यस्मिन्देशे च पुनः पुटभेदनान्तः । अणहिल्लपटक्रनामपत्तनमध्ये । किं च सामान्य-
तोऽपि पुटभेदनशब्देन नगरमुच्यते । नैषधे यथा कुण्डिनपुरम्—‘द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं
तत्क्षणादवापे सुरभूमिभूयैः’ इति । विशेषस्तु ‘पत्तनं रत्नयोनितत्पत्तनं पुटभेदनम्’ ।
द्वात्रिंशता द्वात्रिंशत्संख्याकैः श्रिया युक्तानाम् ऋषभादीनां सार्वानां जिनानां चैत्यैर्दन्त-
पङ्क्तयेव एकैयैव श्रेण्या स्थापितैः एकस्मिन्नेव प्रासादे । द्वात्रिंशत्प्रासादा दन्तद्वात्रिंशिका-
विहारः । तैर्द्वात्रिंशद्विहारैर्विलेसे शुशुभे । कैः । राजर्षयः कुमारभूपालस्य यशांसि कीर्तयस्ता-
न्येव मरन्दानां मकरन्दानां वृन्दानि पटलानि तेषामरविन्दानि कमलानि तैः । कैः क-
स्मिन्निव । दशनैरास्य इव । यथा वक्त्रे दन्तैर्विलस्यते ॥

श्रीस्तम्भतीर्थं पुटभेदनं च यत्रोभयत्र स्फुरतः पुरे द्वे ।

अहम्मदाबादपुराननाया किं कुण्डले गूर्जरदेशलक्ष्म्याः ॥ ६६ ॥

यत्र देशे उभयत्र द्वयोः पार्श्वयोः द्वे पुरे नगरे विभातः शोभेते । द्वे के । एकं श्रिया
जलधिनन्दनया युक्तं तत्तम्भतीर्थं च पुनर्द्वितीयं पुटभेदनं बृहत्पत्तनम् । इयोत्प्रेक्ष्यते—अह-
म्मदाबादपुरं सांप्रतीनसमये राजधानी राजनगरमेवाननं वदनं यस्यास्तादृश्या गूर्जरदेश-
लक्ष्म्या द्वे कुण्डले कर्णभरणे इव ॥

विभूतिभाक्कालभिदङ्कदुर्गः क्रीडत्कुमारः सकलाधरश्च ।

अहीनभूषः सवृषः सुपर्वसरस्वतीभृद्भववद्भौ यः ॥ ६७ ॥

यो देशो भववदीश्वर इव बभौ भाति स्म । किंभूतो देशो भवश्च । विशिष्टां भूतिं
लक्ष्मीं विभूतिं संपदं वा भस्म च भजतीति । ‘भूतिस्तु भस्मनि । मांसपाकविशेषे च सं-

पदुत्पादयोरपि' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतः । कालं कलिकालं सर्वदापि सर्वसुखानुभवन-
त्वाद्यन्मण्डले कलियुगस्य प्रवेशमात्रमपि नास्तीति । तथा—दैत्यं कालनामानं भिनत्तीति
कालभित् । पुनः किंभूतः । अङ्गे क्रोडे दुर्गाः कोट्याः पार्वती च यस्य सोऽङ्कदुर्गः । पुनः
किंभूतः । क्रीडन्तो विविधबालावस्थोचितकलिपरायणा रममाणाः कुमारः बालकाः । तथा
क्रीडन् बालवयोयोग्यां यौवनसमययोग्यां वा क्रीडां विलासं कुर्वन्कुमारः स्वामिकार्तिको
यस्य यत्र वा स क्रीडत्कुमारः । पूर्वं हि तारकासुराभिभूताः पुरंदरप्रमुखाः सर्वे सुराः
विधातुः पार्श्वे गत्वा स्वदेवीरत्नमञ्जूषाग्रहणसुरदुर्मोन्मूलनादिममात्मपराभवं निवेदयामासुः ।
तदनु ब्रह्मणोक्तम्—'प्राग्नेन दुस्तपस्तप्त्वा मामति प्रसन्नं प्रणीय सप्तवासराशिशुं सुक्त्वा
परः कश्चित्सुरो नरो वा मां हन्तुं न शक्यादिति मत्तो वरं जप्राह । ततः स्वयमुत्तवि-
ष्वक्षोऽपि स्वेनैव छेतुमसंप्रतम् । तस्मान्ममैवायं हन्तुमनुचितः । ततो यदा ईश्वरः पा-
र्वतीं परिणेष्यति तत्सुतः सप्तमे दिने युष्माकं सेनानीत्वमङ्गीकृत्य तारकं हनिष्यति' ।
ततो मुदिता देवाः । स्वस्थानमागत्य कामः प्रेषितः । स शंभुना मस्मीकृतः । ततो गौ-
रीतप्ता प्रीत ईश्वरः परिणिनाय । तत्पुत्रः स्वामिकार्तिको जातः—इति कुमारसंभवे ।
पुनः किंभूतः । कलाश्वतुःषष्टिर्द्वासप्ततिश्च धरन्तीति तादृशैः स्त्रीपुंसैः सह वर्तते यः ।
पक्षे कला षोडशशः षोडश कला विभर्तीति तादृशेन शशिना सह वर्तते यः । पुनः
किंभूतः । अहीनां संपूर्णम् । तथा अहीनां सर्पाणामिनः स्वामी तेन भूषा शोभा यस्य । पुनः
किंभूतः । वृषेण धर्मेण वृषभेन वर्तते यः । पुनः किंभूतः । सुशोभनानि पर्वाण्यक्षतद्वती-
यादीनि सरस्वतीं नाम्नीं नदीं सुरसरितं वा विभर्तीति ॥

यत्रैकदेशे वपुषीव वक्रः श्रीधानधाराभिधमण्डलोऽस्ति ।

स्वर्लोकजैत्रैर्विभवैरिव खैरधःकृतो येन भुजंगलोकः ॥ ६८ ॥

त(य)त्र गुर्जरदेशे एकदेशे एकस्मिन् भूभागे स प्रसिद्धो धानधाराभिधमण्डलोऽस्ति ।
क इव । वक्र इव । यथा वपुषि शरीरे एकदेशे सुखमस्ति । वक्रशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गयोः ।
येन धानधारदेशेन स्वर्लोकस्य जैत्रैर्जयनशीलैः स्वैर्विभवैः स्वधियामतिशयैर्भुजंगलोको नाग-
लोको बलिवेश्म अधःकृतो हीनीकृतस्तिरस्कृतः स्वाद्यो विहितः ॥ इति देशवर्णनम् ॥

अथ प्रह्लादनपुरवर्णनावसरः—

सवाडवे श्रीपुरुषोत्तमाङ्गे नाथे नदीनामिव तत्र देशे ।

प्रह्लादनं नाम पुरं चकास्ति पुरः प्रतिच्छन्द इवाद्रिदस्योः ॥ ६९ ॥

प्रह्लादनं नाम पुरं नगरं चकास्ति दीप्यते । कुत्र । देशे । किंभूते । तत्र—गुर्जर-
मण्डलस्यैकपार्श्ववर्तिनि धाराधराख्यमण्डले । उत्प्रेक्ष्यते—नदीनां नाथे इव समुद्रे ।
किंभूते देशे समुद्रे च । सह वाडवैर्विप्रैर्वाडवेन वाडवानलेन च वर्तते यः स सवाडवस्तस्मिन् ।
पुनः किंभूते । श्रिया विविधविभवेन शोभया वा युक्ताः पुरुषोत्तमाः प्रकृष्टनरा व्यवहारि-
प्रमुखाः, लक्ष्मीकृष्णौ च, अङ्गे उत्सङ्गे मध्ये यस्य स श्रीपुरुषोत्तमाङ्गस्तस्मिन् । पुरमुत्प्रे-

क्ष्यते—अद्रिदस्योरिन्द्रस्य पुरो नगर्या अमरावत्याः प्रतिच्छन्दः प्रतिबिम्बसिव । समुद्र-
जले प्रतिबिम्बमुचितमेव ॥

इदं पुरा सारदलैः प्रणीय त्वष्ट्रावशिष्टैरिव तदलंशैः ।

दृक्कर्णगीर्वाणपुरे प्रणीते न चेत्किमाभ्यामतिरिच्यते तत् ॥ ७० ॥

त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा दृक्कर्णानां नागानां गीर्वाणानां देवानां पुरे नगरे प्रणीते निर्मिते
इवोत्प्रेक्ष्यते । किंभूते । अवशिष्टैः शेषैरुद्धतैस्तस्य सारस्य दलानि तेषामंशैर्लवैरिव
कृते । किं कृत्वा । पुरा पूर्वं सारदलैः प्रधानद्रव्यैरिदं प्रह्लादनाहं पुरं प्रणीय निष्पाद्य ।
एवं चेन्न तर्हि प्रह्लादनपुरमाभ्यां नाकिनागपुराभ्यां कथं केन प्रकारेण अतिरिच्यते अ-
धिकीभवति । श्रियेति शेषः ॥

रघूद्वहोपक्रममब्धिमध्यस्थायीव सेतुः शशिकान्तकृष्टः ।

चन्द्रार्चिराश्लेषविनिर्यदर्णःपूर्णान्तिकः कापि चकास्ति यस्मिन् ॥ ७१ ॥

यस्मिन् प्रह्लादनपुरे कापि कुत्रापि स्थाने शशिकान्तैश्चन्द्रोपलैः कृतो रचितः सेतुः
पथा चकास्ति । नगरवर्णने च चन्द्रकान्तसूर्यकान्तमयाः सेतवो वर्ण्यमाना दृश्यन्ते ।
यथा नैषधे—‘रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहर्ज्वलनोहितोष्मणा’ इति । किंभूतः ।
चन्द्रस्यार्चिषः कान्तेराश्लेषेण संपर्केण विनिर्यद्भिर्गच्छद्भिर्णोभिः पानीयैः पूर्णं पूरिते म-
रिते अन्तिके समीपे द्वे पार्श्वे यस्य सः । क इव भाति । रघूद्वहोपक्रमसेतुरिव । यथा रघू-
द्वहेन नन्दनेन रामेण आदावुपक्रान्तः मन्दोदरीप्रमुखसपादलक्षान्तःपुरीपतित्वेऽपि
परदारातिलम्पटतया स्वभगिनीशूर्पनखाव्यावर्णितद्वैतरूप[प]लक्ष्मीसमाकर्णनतत्सङ्गमो-
त्सुकितदशमस्तकापहतस्वकान्तासीतानयनाय लङ्कागमनावसरे रघुनन्दनेन समुद्रोपक-
ण्ठादारभ्य लङ्कां यावन्निबद्ध इत्यर्थः । तादृशः सेतुश्चकास्ति । किंभूतः । अब्धेर्दक्षिण-
समुद्रस्य मध्ये विचाले तिष्ठतीत्येवंशीलः ॥

क्वचित्पुरं प्रत्यफलत्तटाकोदरे जगत्पत्तनजित्वरश्चि ।

येनाभिभूतिं गमिता महेन्द्रपुरीव दुःखादिह दत्तज्ञम्पा ॥ ७२ ॥

जगतां त्रयाणां भुवनानां पत्तनानां यावन्नगराणाम् । अत्र पत्तनशब्दः सामान्यतः पुं-
रनगरवाची । न विशेषद्योतकः । जित्वरी जयनशीला पुंवद्भावे ईकारो गतः । श्रीः संपत्
शोभा वा यस्य तत्तथोक्तं पुरं नगरम् । क्वचित्कुत्रापि समीपभूमागभाजि तटाकोदरे सरो-
मध्ये प्रत्यफलत्प्रतिबिम्बति स्म । नैषधेऽपि नगरस्य जलाशये प्रतिफलनं दृश्यते । यथा—
‘विललास जलाशयोदरे कचन द्यौरनुविम्बितेव या’ इति । इवोत्प्रेक्ष्यते—येन प्रह्लाद-
पुरेणाभिभूतिं स्वाद्वैतश्रिया पराभवं गमिता प्रापिता सती दुःखाजगत्समक्षस्वविजयकर-
णजाता सा तादृशे तटाकोदरे दत्ता ज्ञम्पा अगाधतलमध्ये संपातपाटवं यथा तादृशी
महेन्द्रपुरिन्द्रनगरीव अमरावतीव ॥

कपालिमित्रं त्रिशिराः कुबेरः पिशाचकी पुण्यजनः पतिर्मे ।

तन्नाभिगम्यः किमितीत्वरीव त्यक्त्वा तमागादलकेयमुर्व्याम् ॥ ७३ ॥

यत्पुरं भातीति संबन्धः । किमुत्प्रेक्ष्यते—इयं प्रत्यक्षलक्ष्या अलका धनदपुरी उर्व्या भूमण्डले आगादायाता । किं कृत्वा । त्यक्त्वा मुक्त्वा । कम् । तं धनदपतिम् । केव । इत्व-
रीव । यथा पांशुला धनदमपि स्वकान्तं विहाय स्वाभिमतेऽन्यपुंसि रता परपृथिव्यामा-
गच्छति । किमिति हेतोः । तं हेतुं दर्शयति—यस्मान्मे मम पतिरेवंविधः कपालिनो
रुद्रस्य रुण्डमालिनो योगिनो वा मित्रं सुहृद एतावता भिक्षुकः । पुनः किंभूतः । त्रीणि
शिरांसि मस्तकानि यस्य इति बीभत्सः । पुनः किंभूतः । कुत्सितं निकृष्टं वेरं शरीरं
यस्येति कुरूपः । पिशाचाश्छलकारिणो देवविशेषा यस्येति छलविशेषादिदोषभीतिः । पुनः
किंभूतः । पुण्यजनो राक्षसः इति क्रूरः । ‘यक्षो नृधर्मधनदौ नरवाहनश्च’ इति यक्षापरा-
भिधानम्, तथा ‘यक्षः पुण्यजनो राजा’ इति द्वयमपि हैम्याम् । तत्त्वतस्तु सर्वाण्यपि धनद-
नामानि । तत्तस्मात्कारणान्नाभिगम्यः न सेव्यः ॥

रामायुतैस्ताड्यशतै रमाभिः प्रद्युम्नकोट्या शतशूरवंशैः ।

जितेन कृष्णेन पुरी स्वकीयोपदीकृतेयं किमु मण्डलस्य ॥ ७४ ॥

पुरं भातीति संबन्धः । किमुत्प्रेक्ष्यते—कृष्णेन नारायणेन मण्डलस्य देशस्योपदीकृता
द्वौकिता इयं प्रह्लादनपुरलक्षणा स्वकीया पुरी द्वारकेव । किंभूतेन कृष्णेन । जितेनार्था-
द्भूर्जदेशेन । कैः । रामाणामयुतैः । अयुतं दशसहस्री स्यात् । बहुवचनत्वाल्लक्षसंख्यैः ।
रामो बलभद्रः, रामाः स्त्रियः । समासान्तपदेन कोऽपि भेदः । ताड्याणां शतैः शतसंख्यैः ।
उपलक्षणत्वात्सहस्रलक्षसंख्यैः । ताड्यो गरुडो वाजी च । पुनः कामिः । रमाभिविधि-
प्रकाराभिर्धनधान्यरूपाभिलक्ष्मीभिः संपद्भिः । पुनः कैः । प्रकृष्टानां न्यायमार्गोपाजि-
तानां बहुसंततिस्थायिनां वा युञ्जानां द्रव्याणां कोट्या शतलक्ष्या । प्रद्युम्नो मदनः । पुनः
कैः । शतसहस्रसंख्यैः शूराणां सुभटानां वंशैरन्वयैः कुलैः । शूरनामा यादवपूर्वजहरिवं-
श्यनुपः । कृष्णस्य तु एतत्सर्वेऽप्येकैका इति पराजयः ॥ इति समुदायेन प्रह्लादनपुरवर्णनम् ॥

अथ पृथक्पृथग्वर्णनेषु प्रथमं प्रह्लादनपार्श्वनाथवर्णनप्रस्तावः—

प्रह्लादनाच्चन्द्र इवाङ्गभाजामन्वर्थनामाजनि यो जगत्याम् ।

प्रह्लादनः पार्श्वपतिः स तत्र प्रह्लादनाद्दे व्यलसद्विहारे ॥ ७५ ॥

तत्र प्रह्लादनपुरे प्रह्लादन इत्याह्वा नाम यस्य तस्मिन्विहारे चैत्ये । पालहविहार
इति लोके प्रसिद्धे । स जाग्रन्महिमा प्रह्लादनो नाम पार्श्वपतिर्व्यलसद्विलसति स्म ।
स कः । यः पार्श्वनाथोऽङ्गभाजां प्राणिनां प्रह्लादनादानन्दोत्पादनाज्जगत्यां क्षितौ विश्वे
वा । ‘स्याल्लोको विष्टपं विश्वं भुवनं जगती जगत्’ इति हैमीवचनात् । अन्वर्थमनुगतार्थं
सत्यार्थं नाम यस्य स तथोक्तः । अजनि संजातः । क इव । चन्द्र इव । यथा चन्द्रो-
ऽङ्गिनामाह्लादनादनुगतार्थो जायते । ‘चदि आह्लादे’ । चन्दत्याह्लादयति जनानिति चन्द्रः ॥

यदीयमूर्तिर्निरमापि भक्त्या प्रह्लादनाम्ना पुरि राणकेण ।

तस्याजयस्येव नृपस्य पार्श्वोऽप्यामापहः स्नानजलेन जज्ञे ॥ ७६ ॥

प्रह्लादनाम्ना राणकेन पुरि स्वनगरे भक्त्या सेवासक्त्या । अर्बुदशैलाचलदुर्गशिखर-
स्थचतुर्वदनप्रासादमध्यगतैकपित्तलमयप्रतिमागालनादुत्पन्नकुष्ठादिमहामयेन निजरोगाप-
गमनचिकित्साप्रश्रादनु नवीनश्रीपार्श्वनाथप्रतिमाप्रासादनिर्मापणात्तवाङ्गात्समप्ररोगाः
शान्तिं यास्यन्तीति सातिशयज्ञानवत्साधुसिन्धुरवचसा यदीया श्रीप्रह्लादनपार्श्वनाथसर्व-
न्धिनी मूर्तिः प्रतिमा निरमापि कारिता । अपि पुनः स पार्श्वनाथस्तस्य प्रह्लादनराणकस्य
स्नानजलेन आमान् रोगान् कुष्ठादीनपहन्तीति आमापहस्तादृशो जज्ञे जातः । कस्येव ।
अजयस्येव । यथा पद्मावतीवचनात् जलदगर्जिततडितप्रचण्डपवनादिविघ्नोपशान्तिक्लृते स-
मुद्रसलिलान्तरालाकर्षणस्वयानपात्रे निवेशनान्निविघ्नद्वीपवन्दिनागरतलसारव्यवहारिसमा-
नीतापिताजयपार्श्वनाथो दशरथपितुरजयनाम्नो नृपस्य राज्ञः सप्तोत्तरशतरोगापहन्ता जातः ।
एतद्विस्तरस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥

प्रदेहि नः साक्षरतामबाह्यां बाह्यामिवाख्यातुमितीव पार्श्वः ।

भोगैर्निजैः पञ्चशतीमिताभिर्यः सेव्यते विश्वलयुक्पुरीभिः ॥ ७७ ॥

पञ्चशतीमिताभिर्यसहस्रप्रमाणाभिः विश्वल इति पूर्वप्रयुक्तेन शब्देन युञ्जन्ति योगं
प्राप्नुवन्तीति ताश्च ताः पुनश्च ताभिः । वीसलपुरीनामानाणकविशेषैरित्यर्थः । कर्त्रीभिर्नि-
जैरात्मीयैर्मोगैः पूजादिप्रकारैर्यः पार्श्वनाथः सेव्यते उपास्यते । इत्याख्यातुं वक्तुमिव ।
इति किम् । यन्नोऽस्माकमबाह्यामन्तरङ्गां साक्षरतां प्रदेहि प्रयच्छ । कामिव । बाह्यामि-
व । यथास्माकं बाह्या साक्षरता अक्षरयुक्तास्ते । एतावता प्रत्यहं पञ्चशतीवीसलपुरी-
णां श्रीपार्श्वनाथस्य भोगो जायते ॥

स्वचोक्षभावेन जिता जिनेन निर्मातुकामा इव तत्प्रसत्तिम् ।

यत्राक्षता मूढकसंमिता यच्चैत्येऽनिशं प्रागुपजग्मिवांसः ॥ ७८ ॥

यत्र नगरे यस्मिन्प्रह्लादनविहारे अनिशं निरन्तरं प्रतिदिनं मूढकसंमिता मूढकप्र-
माणा अक्षता निस्तुषाः कलमाः प्राक् पूर्वं श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिवारके उपजग्मिवांस आग-
च्छन्तोऽभूवन् । उत्प्रेक्ष्यते—जिनेन श्रीपार्श्वनाथेन स्वस्यात्मनश्चोक्षभावेन निर्मलाशयत्वेन
जिता अभिभूताः सन्तस्तस्य श्रीप्रह्लादनपार्श्वस्य प्रसत्तिं प्रसादनां निर्मातुकामाः कर्तुमि-
च्छन्त इवागताः । एतावता प्रह्लादनविहारे नित्यमेकमूढकमाना अक्षता आयान्ति स्मे-
त्यर्थः ॥

उद्वेगभावं स्वमिवापकर्तुं श्रीपार्श्वमर्तुः परिशीलनाभिः ।

नित्यं कलासंख्यमणप्रमाणान्यस्मिन्पुनः पूगफलान्युपेयुः ॥ ७९ ॥

आस्मिन्चैत्ये प्रह्लादनविहारे नित्यं प्रत्यहं कलाः षोडश तत्संख्यानां मणानां चत्वारिंश-

त्वेरमितानां प्रमाणं येषां तानि पूगफलानि क्रमुकीसस्यानि । 'पूगे क्रमुकगीवाकू तस्यो-
द्वेगं पुनः फलम्' इति हैम्याम् । उपेयुः पुरा आगच्छन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीपार्श्वभर्तुः
परिशीलनाभिः सेवाभिः कृत्वा स्वं स्वकीयमुद्वेगभावं निर्वेदत्वमपकर्तुं हन्तुमिव । एता-
वता चैत्ये प्रत्यहं षोडशमणपूगीफलान्यागच्छन्ति स्म ॥

अशीतिरस्मिन्नधिकाश्चतुर्भिर्महेभ्यमुख्याः श्रितशीकरीकाः ।

सुरा विमानैरिव याप्यमानैः सागत्य शृण्वन्ति गिरं गुरूणाम् ॥ ८० ॥

अस्मिन् प्रह्लादनपुरे चतुर्भिरधिका अशीतिः । चतुरशीतिरित्यर्थः । महेभ्यमुख्याः प्रकृष्ट-
व्यवहारिणोऽर्थात् प्रह्लादनपार्श्वनाथं प्रणम्य गुरूणां धर्माचार्याणां गिरं वाणीं देशनां शृ-
ण्वन्ति स्म श्रुतुः । किंभूताः । श्रिताः शीकर्यो महेभ्यताया राजमान्यताया वा चिह्न-
विशेषा यैः आसन्नविशेषा वा छत्राकृतयो वा । फिरङ्गदेशप्रसिद्धाः । किं कृत्वा । आगत्य ।
कैः । याप्यमानैः शिविकाभिः । कैरिव । विमानैरिव । यथा देवा विमानैरागच्छन्ति ॥

अथ रत्नपुरुषोत्पत्तिस्थानकतां कविर्दर्शयति—

वपुःश्रिया भर्त्सितमच्छकेतुरद्वैतवैराग्यरसाम्बुराशिः ।

लब्धीर्दधानो विविधाश्च वज्रस्वामीव विश्वागमपारदृश्वा ॥ ८१ ॥

सोमादिमः सुन्दरसूरिसिंहः प्राग्वाटवंश्यो निजजन्मना यत् ।

साकेतमिक्ष्वाकुकुलावतंसो महोक्षलक्ष्मेव पुरापुनीत ॥ ८२ ॥

प्राग्वाटानां वंशे भवः प्राग्वाटवंश्यः । सोम इति शब्द आदिमः प्रथमो यस्य स सु-
न्दरनामा सूरिष्वाचार्येषु सिंहो मुख्यः । 'सिंहशार्दूलनागाद्याः प्रशस्यार्थप्रकाशकाः' इति
हैमीवचनात् । एतावता श्रीसोमसुन्दरसुरीन्द्रः निजस्यात्मन उत्पत्त्या कृत्वा यत्प्रह्लाद-
नपुरं पुरा पूर्वमपुनीत पवित्रीचकार । क इव । महोक्षलक्ष्मेव । यथा इक्ष्वाकूणां कुलस्य
वंशस्य अवतंसः शेखरः श्रीवृषभलाञ्छनो जिनो भाविनि भूतोपचारात् । साकेतं को-
शलां नगरीं स्वजन्मना पावनीकरोति स्म । सूरिः किंविशिष्टः । वपुषः शरीरस्य श्रिया
शोभया भर्त्सितो न्यकृतो मच्छकेतुर्मानध्वजो मदनो येन । पुनः किंभूतः । अद्वैतोऽसा-
धारणो यो वैराग्यरसः संसारविरक्तताशान्ततादिरूपः तस्याम्बुराशिः समुद्रः । पुनः किं
कुर्वाणः । दधानो बिभ्राणः । काः । विविधा नानाप्रकारा लब्धीः सामर्थ्यविशेषान् । च
पुनः किंभूतः । विश्वे समस्ताः स्वदर्शनपरदर्शनसक्ता ये आगमाः शास्त्राणि तेषां पारं
दृष्टवानिति पारदृश्वा । स्वसमयपरसमयपारगामी । क इव । वज्रस्वामीव यथा वज्रस्वामी
पूर्वोक्ताविशेषणविशिष्टोऽजनिष्ट ॥ युग्मम् ॥ इति नररत्नखनिर्नगरम् ।

अथ मुख्यतो नगरवर्णनम् । तत्रादावुपवनं वर्ण्यते—

विभाति यत्रोपवनं विनिद्रत्सान्द्रद्रुमद्रोणिमिलद्विहङ्गम् ।

भूवास्तुपौलस्त्यपुरीभ्रमेण तामन्वितं चित्ररथं किमेतत् ॥ ८३ ॥

यत्र प्रह्लादनपुरे उपवनं समीपोद्यानं विभाति शोभते । किंभूतम् । विनिद्रन्तो विक-
स्वरीभवन्तस्तथा सान्द्राः सच्छाया घनपत्रच्छन्ना वा ये द्रुमा वृक्षास्तेषां द्रोणिः श्रेणिः ।
'भिन्नी पल्लवशङ्कया विचिनुते सान्द्रद्रुमद्रोणिषु' इति चम्पूकथायाम् । द्रोणिः श्रेणिरिति
तद्विप्पनके । तथा 'द्रोणी तु नीवृति । नौभेदे शैलसंधौ वा' इत्यनेकार्थः । 'द्रोणी द्रोणिरि-
दन्तः श्रेण्यामपि' इत्यनेकार्थावचूरिः । तत्र मिलन्तो विहङ्गाः पक्षिणो यत्र तत् । किमु-
त्प्रेक्ष्यते—भुवि पृथिव्यां वास्तु गृहं यस्याः । वास्तुशब्देन गृहमपि । यथा नैषधे—'याव-
त्पौलस्त्यवास्तुभवदुभयहरिल्लोमलेखोत्तरीये' इति । सा पौलस्त्यपुरी धनदनगरी तस्या भ्र-
मेण शङ्कया तामन्वितमनुपृष्टे समेतं तच्चक्षुर्गोचरतामगच्छत् । चैत्ररथं वैश्रवणोद्यानमिव ॥

आमुष्मिकामैहिकवत्समीहां निर्माहि नः पूरयितुं प्रभूष्णून् ।

विज्ञीप्सवः पार्श्वमितीव यत्र प्राप्ता द्रुमाङ्गा इव कल्पवृक्षाः ॥ ८४ ॥

यत्रोपवने द्रुमा वृक्षास्त एवाङ्गं शरीरं येषां ते कल्पवृक्षाः प्राप्ताः समेताः । उत्प्रेक्ष्यते—
पार्श्वं प्रह्लादनपार्श्वनाथमित्यमुना प्रकारेण विज्ञीप्सवो विज्ञापितुं विज्ञातिकां कर्तुमिच्छव
इव । इति किम् । हे पार्श्वप्रभो, त्वं नोऽस्मानैहिकवत् इहलोकसंबन्धिनीमिव आमु-
ष्मिकां परलोकसंबन्धिनीमपि समीहां वाञ्छां पूरयितुं प्रदातुमर्थात्सुरासुरनराणां प्रभू-
ष्णून् समर्थान् निर्माहि ॥

अथ वने षड्रतूनां सत्तां दर्शयति—

श्रीनन्दनं हीरकुमाररूपं यस्यां भविष्यन्तमवेत्य मन्ये ।

साहायकायास्य समं समेत्य सर्वतर्वस्तद्विपिनं भजन्ते ॥ ८५ ॥

सर्वे वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिरनामान ऋतवः समयविशेषाः समं समकालं
समेत्यागत्य तस्याः पुर्यास्तदेव वा विपिनं वनं भजन्ते सेवन्ते । तत्राहमेवं मन्ये जानामि
विचारयामि वा । हीरकुमारस्य रूपं स्वरूपं यस्य तादृशं श्रीनन्दनं कामं यस्यां पुर्यां
भविष्यन्तं भावितमवेत्य ज्ञात्वा अस्य स्मरस्य प्राग्वत्साहायकाय सहायककार्यायेव वनं
श्रयन्ते ॥ इति समुदायेन सर्वतर्वः ॥

अथ प्रथमं वसन्तऋतुः—

यत्र भ्रमद्भृङ्गरसालमाला विलोक्य कूजत्कलकण्ठबालाः ।

रतीशवीरस्तृणवत्रिलोकीमजीगणान्निस्तुलशस्त्रलाभात् ॥ ८६ ॥

यत्र वने भ्रमन्तो मकरन्दपानार्थमितस्ततः पर्यटन्तो भृङ्गा मधुकरा यासु तादृश्यो
रसालमालाः सहकारपङ्कीविलोक्य निस्तुलानामसाधारणानां प्रतिभटकोटीभिरप्यभिभ-
वितुमशक्यानां शस्त्राणामायुधानां लाभात्प्राप्तेः । रतीशवीरः स्मरसुभटखिलोकीं जगत्रयीं
तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशान्नाकिनागनागरान् तृणवत्तृणमिव अजीगणत् गणयति स्म मन्यते
स्म वा । किंभूता रसालमालाः । कूजन्त्यः पञ्चमध्वनिमुद्गावयन्त्यः कलकण्ठानां कोकि-
लानां बालाः स्त्रियो यासु ताः ॥

चूतप्ररोहायुधकिंशुकार्धचन्द्राशुगानां दलवर्मितानाम् ।

यद्भूरुहां स्वर्दुजयोद्यतानामदुन्दुभीयन्त पिकाः कणन्तः ॥ ८७ ॥

स्वर्भूरुहां कल्पवृक्षाणां जयाय पराभवायोद्यतानां प्रगल्भमानानां कृतोद्यमानां यस्य वनस्य भूरुहां तरूणां कणन्तः कूजन्तः पिकाः कलकण्ठा अदुन्दुभीयन्त दुन्दुभय इवाचरन्ति स्म । किंभूतानां भूरुहाम् । चूतानां माकन्दानां प्ररोहा अङ्कुरास्त एवायुधानि प्रहरणानि येषां ते तथा किंशुकानि पलाशकुसुमानि तान्येवार्धचन्द्राकारा आशुगा बाणा येषां पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किंभूतानाम् । दलैः पत्रैः कृत्वा वर्मितानां सनाहितानां कवचयुक्तीभूतानां तथा दलानि सैन्यानि कर्माणि कवचास्तानि संजातानि एषामिति वा ॥

अथ ग्रीष्मः—

वभे नभस्याम्बुधरायमाणतमालधारागृहधोरणीभिः ।

तपर्तुताम्यत्तनुकुञ्जलक्ष्म्याः सुसीमतायै किमनुष्ठिताभिः ॥ ८८ ॥

नभस्यस्य भाद्रपदस्य अम्बुधरो मेघस्तद्वदाचरन्तीभिस्तमालानां तापिच्छतरूणां धाराभिर्यन्त्रविशेषकृतजलधाराभिरुपलक्षितानां गृहाणां सौधानां धोरणीभिः श्रेणीभिर्वभे रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—तपर्तुना ग्रीष्मसमयेन ताम्यन्ती ग्लानिं खेदं वा गच्छन्ती तनुः शरीरं यस्यास्तादृश्याः कुञ्जलक्ष्म्या वनश्रियाः सुसीमतायै शीतलताकृते । ‘शीते तुषारः शिशिरः सुसीमः शीतलो जडः । हिमः’ इति हैम्याम् । किंभूताभिः । अनुष्ठिताभिः कृताभिरर्थान्नैस्तया वा ॥

अथ वर्षा—

श्रीहीरवीक्षोत्सुकिता इवान्तर्नेत्राणि विस्मेरमणीचकानि ।

धाराकदम्बा दधतेऽत्र सत्रा सान्द्रापनिद्रत्कुटजावनीजैः ॥ ८९ ॥

अत्रोपवने धाराभिर्मेषवृष्टिभिराहता आच्छोटिताः कदम्बा नीपद्रुमास्ते विस्मेराणि विकचानि मणीचकानि कुसुमानि दधते धारयन्ति । कथम् । सत्रा सार्धम् । कैः । सान्द्राः क्षिग्धा अपनिद्रन्तो विकसन्तो ये कुटजा गिरिमल्लिका एवावनिजा द्रुमास्तैः । इवोत्प्रेक्ष्यते । अन्तश्चित्ते श्रीभिर्युक्तस्य हीरकुमारस्य वीक्षायां दर्शने उत्सुकिता उत्कण्ठिताः सन्तो विनिद्रनेत्राणीव दधते ॥

अथ शरत्—

सप्तच्छदान्स्पर्धितदानगन्धीन्रोलम्बरावाकुलितान्विलोक्य ।

विरोधिकुम्भिभ्रममादधाना धावन्ति मुग्धा इह सिन्धुरेन्द्राः ॥ ९० ॥

इह वने मुग्धा मूर्खा मदोद्धततया किमप्यविदन्तो वा सिन्धुरेन्द्रा गजराजा अभिमुखा धावन्यभिमुखं गच्छन्ति । किं कुर्वाणाः । विरोधिकुम्भिनां प्रतिभटगजानां भ्रमं भ्रान्तिं आदधाना विभ्रतैः । किं कृत्वा । सप्तच्छदान् सप्तपर्णद्रुमान् विलोक्य । किंभूतान् ।

स्पर्धितः स्पर्धाविषयीकृतो दानस्य निजमदाम्बुनो गन्धो यैस्तान् । पुनः किंभूताम् ।
रोलम्बानां भ्रमराणां रावैर्युञ्जितैराकुलितान् सशब्दान्संजातान् ॥

अथ हेमन्तः—

शाखाविशेषोन्मिषितप्रसूनान्शार्दूलबालानिव लोद्रसालात् ।

दृष्ट्वा हृदुत्पिञ्जलितैर्निकुञ्जे ललङ्घिरे तत्ककुभः कुरङ्गैः ॥ ९१ ॥

निकुञ्जे उपवने नगरोद्याने कुरङ्गैर्मृगैस्तेषां लोद्रद्रुमाणां ककुभो दिशो ललङ्घिरे उल्लङ्घिताः । पलायितैरित्यर्थः । किंभूतैः । हृदि मनसि विषये उत्पिञ्जलत्वं भृशमाकुलत्वं जातं येषां तैः । किं कृत्वा । दृष्ट्वा । कान् । शाखाविशेषेषु शिखाप्रेषु उन्मिषितानि विकसितानि प्रसूनानि पुष्पाणि एषां तथोक्तान् । लोद्रा जातिविशेषा गान्धिकापणेषु प्रसिद्धाः । सालाः पादपास्तान् । कानिव । शार्दूलानां व्याघ्राणाम् । 'शार्दूलो राक्षसान्तरे' । व्याघ्रऽत्र पशुभेदे च सत्तमे तूत्तरस्थितः' इत्यनेकार्थः । बालान् डिम्भानिव ॥

अथ शिशिरः—

पङ्क्तिप्ररूढैः प्रचलत्पतङ्गपोतैः प्रियङ्गुप्रकरैर्बभेऽस्मिन् ।

वनश्रियाः प्रावरणैरिवान्तर्विच्छित्तिमद्भिस्तुहिनद्विषद्भिः ॥ ९२ ॥

अस्मिन् पुरो वने प्रियङ्गुप्रकरैः फलिनीपटलैः बभे । किंभूतैः । पङ्क्त्या श्रेण्या प्ररूढैरुद्भूतैः । पुनः किंभूतैः । प्रचलन्तोऽन्तः संचन्तः पतङ्गानां विहङ्गानां पोताः शिशवो येषु ते तैः । उत्प्रेक्ष्यते—वनश्रिया उद्यानलक्ष्म्याः प्रावरणैरिव प्रच्छादनैरिव । पुनः किंभूतैः । विच्छित्तिमद्भिः रचनाञ्चितैः । पुनः किंभूतैः । तुहिनस्य हिमस्य । शीतस्येत्यर्थः । द्विषद्भिः शत्रुभिर्निवारकैः ॥

दृग्दानदासीकृतदेववन्याः प्रगल्भसे त्वं पुरतः कियन्मे ।

वनश्रियाश्चैत्ररथं किमित्थं दन्ता हसन्त्या इव भान्ति कुन्दाः ॥ ९३ ॥

कुन्दा मुचकुन्दतरवो भान्ति शोभन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यममुना प्रकारेण चैत्ररथमलकाकाननं प्रति हसन्त्या पराभूतिगर्भं हास्यं स्रजन्त्या वनश्रियाः प्रह्लादनगरोपकाननलक्ष्म्या दन्ता दक्षना इव । इत्थं कथम् । हे चैत्ररथ, दृग्दानेनैव संमुखावलोकनेनैव दासीकृताः किंकर्यो देवानां वन्यो यावत्काननानि यया । 'स्ववनीसंप्रवदत्पिकापिका' इति नैषधे । तादृश्या मे मम पुरोऽग्रे त्वं कियत् प्रगल्भसे कियन्तमुत्साहं वहसे । मत्पुरस्त्वं न किमपीत्यर्थः ॥

इति षडृतवः ।

क्रीडतुरङ्गद्विपपद्मनेत्राः क्रीडासरस्यो विपिने विरेजुः ।

उच्चैःश्रवःस्वर्द्धिरदाप्सरस्वक्त्रः सुधापयोधेः प्रतिमा इवैताः ॥ ९४ ॥

यस्येति संबन्धः । विपिने क्रीडार्थं सरस्यो महान्ति सरांसि विरेजुर्भान्ति स्म । किंभूताः । क्रीडन्तो जलकलिं कुर्वन्तस्तुरङ्गा अश्वा द्विपा हस्तिनः पद्मनेत्रा विलासवत्यश्च यासु ताः । इवोत्प्रेक्ष्यते—सुधापयोधेः क्षीरसमुद्रस्यैताः क्रीडासरस्यः प्रतिमाः प्रतिविम्बानीव । किंभूताः । उच्चैःश्रवा इन्द्राश्वः, स्वद्विरद ऐरावतः, अप्सरसः उर्वश्यादयो यासु ताः । सर्वेषां क्षीरसमुद्रसमुत्पन्नत्वेन ॥

मधुप्रधावन्मधुकृन्निरुद्धैर्जाम्बूनदैर्यत्र बभेऽरविन्दैः ।

सरःश्रियामाभरणैरिवान्तःसंदर्भगर्भीभवदश्मगर्भैः ॥ ९९ ॥

यत्र वने जाम्बूनदैः सौवर्णैररविन्दैः कमलैर्बभे बभासे । 'विकसितकनककमलकुवलयोच्छलितरजःपुञ्जपिञ्जरितराजहंसावतंसया' इति चम्पूकथायां स्वर्णकमलसद्भावः । किंभूतैः । मध्वर्थं मकरन्दकृते प्रधावन्तो दूरादाप्राय त्वरितमागच्छन्तो मधुकृतो भ्रमरास्तैर्निरुद्धैर्व्याप्तैः । उत्प्रेक्ष्यते—सरःश्रियां तटाकलक्ष्मीणामाभरणैर्भूषणैरिव । किंभूतैः । अन्तर्मध्ये संदर्भो विविधरचना येषां तादृशा गर्भीभवन्तः कुक्षौ संपद्यमाना अश्मगर्भा मरकतमणयो येषु तैः ॥

पत्रान्तराजज्जलविन्दुवृन्दैः सरःसु यस्मिन्स्मितपुण्डरीकैः ।

अदीपि मुक्ताकलितातपत्रैर्नन्दीसरःश्रीजयिनामिवैषाम् ॥ ९६ ॥

यस्मिन् वने सरःसु अर्थादुपवनमध्यस्थक्रीडातटकेषु स्मितैर्विकसितैः पुण्डरीकैः श्वेतकमलैरदीपि व्यराजि । किंभूतैः । पत्रान्तेषु पलाशप्रान्तेषु राजन्तो झगब्भगिति कान्त्या दीप्यमाना ये विन्दवः सलिलकणास्तेषां वृन्दानि येषु तैः । इवोत्प्रेक्ष्यते—नन्दीसरःश्रीजयिनां शक्रसरसीलक्ष्मीजित्वराणाम् । 'मघवास्य तु । (अस्येन्द्रस्य) द्विषः पत्नी सुतः' इत्याद्यारभ्य 'हाहादयस्तु गन्धर्वाः' इति यावत्सर्वेऽप्यस्य हरेरिति व्याख्येयमिति हेमचन्द्रहार्दम् । तेनेन्द्रसर इति । एषां सरसां मुक्ताकलितातपत्रैर्मुक्ताजालकयुक्तच्छत्रैरिव ॥ इति वनक्रीडातटकाः ॥

दृक्कण्वेणी कलकण्ठकण्ठी बिम्बाधरा सिन्धुरराजयाना ।

प्रसूननेत्रा स्तबकस्तनी च भुक्ता वनश्रीरिह गन्धवाहैः ॥ ९७ ॥

इह स्थाने पुरीबहिःपरिसरे वनश्रीरुद्यानलक्ष्मीर्गन्धवाहैर्भुक्ता विलसिता । अन्यापि स्त्री वने गन्धस्य मृगनाभिचन्दनादिसौरभस्य वाहैर्धोरकैर्युवभिर्भुज्यते । किंभूता वनश्रीः स्त्री च । दृक्कर्णा भुजङ्गा एव तत्तुल्या च वेणी कबरी यस्याः सा । पुनः किंभूता । एकोऽपि चकारः सर्वत्रापि योज्यः । कलकण्ठानां कोकिलानां कण्ठो ध्वनिर्यस्याः तत्तुल्यश्च ध्वनिर्यस्याः सा । 'कण्ठो ध्वनौ संनिधाने ग्रीवायां मदनद्रुमे' इत्यनेकार्थः । च पुनः किंभूता । बिम्बं बिल्वं गोहूकं वा तदेव तत्सदृशश्च अधर ओष्ठो यस्याः । पुनः किंभूता ।

सिन्धुराजानां गजेन्द्राणां यानं गमनं तद्वद्वा गतिर्यस्याः । च पुनः किंभूता । प्रसूनं पुष्प-
मेव तत्समानं नेत्रं नयनं यस्याः । च पुनः किंभूता । स्वबकौ कुसुमगुच्छौ एव तत्स्वरूपौ
स्तनौ कुचौ यस्याः सा ॥ इति प्रह्लादनपुरोपवनवर्णनम् ॥

कम्पेण वप्रेण वसुप्रभेणासतीव यूना सह संसिस्त्रुः ।

दूतीं चिकीर्षुः परिखामिवास्य स्थितानुबिम्बेन निकुञ्जलक्ष्मीः ॥ ९८ ॥

निकुञ्जलक्ष्मीर्वनश्रीरनुबिम्बेन प्रतिबिम्बितेन कृत्वा स्थिता । अर्थात् परिखापयसि
तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य पुरस्य परिखां दूतीं संदेशहारिकां स्वेच्छया परदारपुरुषेषु
संचारभाजोरभिसारिकयोः पुरुषयोषितोर्मिथः संदेशादीनुक्त्वा दत्त्वा च मिथः संगमकारि-
कावार्तां चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरिव स्थिता । दूतीकरणे हेतुमाह—वनश्रीः किं कर्तुमिच्छुः ।
संसिस्त्रुः । सङ्गं कर्तुमिच्छुः । ‘निर्वापयिष्यन्निव संसिस्त्रुः’ इति नैषधे । केन । वप्रेण
प्राकारेण । ‘वप्रत्रयं चारुचतुर्मुखाङ्गता’ इति हैम्याम् । तथा ‘वप्रः प्राकाररोधयोः । क्षेत्रे
तते चये रेणौ’ इत्यनेकार्थः । किंभूतेन । कम्पेण मनोज्ञेन । ‘काम्यं कम्पं कमनीयम्’ इति
हैम्याम् । वसूनां मणीनां प्रभा कान्तिर्यत्र । केव । असतीव । यथा पांसुला स्त्री केनापि
यूना सङ्गं कर्तुकामा कामपि समीपवर्तिनीं दूतीं कर्तुमिच्छन्ती तद्वद्हे उपेत्य तिष्ठति । किं-
भूतेन यूना । कम्पेण स्वकामुकेन । ‘कामुकः कमिता कम्पः’ इति हैम्याम् । पुनः किंभूतेन ।
वसुभिर्द्रव्यैः प्रकर्षेण भातीति । ‘वसु स्वादौ रत्ने कृद्यौषधे धने’ इत्यनेकार्थः ॥

स्वर्जिष्णुपुर्याः परिखाप्लवङ्गरावैरुदस्यात्मतरङ्गहस्तान् ।

अदःपुरस्ते कियती विभूतिर्वस्वोकसारामिति गर्हतीव ॥ ९९ ॥

स्वः स्वर्गस्य जिष्णोर्जयनशीलायाः पुर्याः प्रह्लादननगर्याः परिखा खनिका । उत्प्रे-
क्ष्यते—आत्मनस्तरङ्गानेव हस्तानुद्यम्य ऊर्ध्वोक्त्य प्लवङ्गरावैर्मण्डूकशब्दैर्वस्वोकसारां ध-
नदनगरीम् । इत्यमुना प्रकारेण गर्हति निन्दतीव । यददःपुरः अस्या नगर्या अग्रे ते
विभूतिः समृद्धिः कियती कियत्प्रमाणा । न किमपीत्यर्थः । इहाखिलेऽपि काव्ये केवल-
मुत्प्रेक्षैव । अन्यत्र ग्रन्थादावप्येवं कापि दृश्यते । यथा नैषधे—‘सिन्दूरद्युति मुग्धमू-
र्धनि धृतस्कन्धावधि श्यामिके व्योमान्तःस्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरारम्भोद्धुरे धावति । जा-
नीमो नु यदि प्रदोषतिस्मिरव्यामिश्रसंध्याधियेवास्तं यान्ति समस्तबाहुजमुजातेजःसहस्रां-
शवः’ ॥, ‘अविरलमिदमम्भः स्वच्छयोच्छालयन्त्या विकचकमलकान्तोत्तानहस्तद्वयेन ।
परिकलित इवार्थः कामबाणातिथिभ्यः सलिलमिव वितीर्णं बाल्यलीलासुखाय ॥’ इति
चम्पूकथायाम् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥

पिपासितं रोचकितं च रङ्गं वाः पायितुं चारयितुं च शष्पान् ।

चन्द्रः किमागात्परिखेन्दुबिम्बपश्यैर्व्यमर्शीति जनै रजन्याम् ॥ १०० ॥

परिखायां खातिकाजले इन्दोश्चन्द्रस्य बिम्बं प्रतिबिम्बं पश्यन्तीति परिखेन्दुबिम्ब-

पश्यास्तैर्जनैर्लोकै रजन्यां रात्रौ इत्यमुना प्रकारेण व्यमर्शि वितर्क्यते स्म । इति किम् ।
पिपासितं तृषितम् । च पुनः रोचकितं बुभुक्षितम् । 'बुभुक्षायामशनाया जिघत्सा रोचको
रुचिः' इति हैम्याम् । रोचकः संजातोऽस्येति रोचकितस्तं रङ्गमुत्सङ्गमृगं वाः पानीयं
पायितुं च पुनः शष्पान्नीलतृणांश्चारयितुम् । किमुत्प्रेक्ष्यते—इह परिखायां चन्द्र आगा-
दिव ॥ इति पुरपरिखा ॥

नभःपरीरम्भणलोलुभैर्यद्वप्रो मणिश्रेणिमहःप्ररोहैः ।

घनान्विनाखण्डलधन्वदण्डमकाण्डमाडम्बरयन्निवास्ते ॥ १०१ ॥

यद्वप्रो यस्य प्रह्लादनपुरस्य वप्रः प्राकार आस्ते वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—मणिश्रेणीनां रत्न-
राजीनां महःप्ररोहै रोचिरङ्कुरैर्घनान् मेघान्विना । अन्येष्वपि ऋतुषु मेघागमः काला-
नुभावेन भवत्येव । माघेऽपि मेघस्य दृश्यमानत्वात् । तथा प्रावृट्कालेऽपि कदाचि-
ज्जलधारा भवन्ति न भवन्ति चेति कलियुगे नियमो न दृश्यते, अतः प्रोक्तं प्रावृषं
विना मेघानपि विना चेति । अकाण्डं प्रावृषमन्तरेण आखण्डलधन्वदण्डमिन्द्रधनुर्गृही-
माडम्बरयन् प्रकटयन्निवास्ते । रत्नकान्तिरिन्द्रधनुकारा निर्यान्ति । किंभूतैः प्ररोहैः ।
नभस आकाशस्य परीरम्भणमालिङ्गनं तत्र लोलुभैर्लोलसैः ॥

सालोऽदसीयः ससनातनश्रीः कपाटपक्षश्च सुवर्णकायः ।

विगाहमानो गगनं कथं न लभेत ताक्ष्येण सदृक्षभावम् ॥ १०२ ॥

अस्याः पुर्या अयमदसीयः 'नासादसीया तिलपुष्पतूणम्' इति नैषधे । सालः प्राकारः
ताक्ष्येण गरुडेन सदृक्षभावं सादृश्यं कथं केन प्रकारेण न लभेत प्राप्नुयात् । अपि तु प्रा-
प्रोत्सेवेति । किंभूतः सालो गरुडश्च । सह सनातनया अनश्वरया नित्यस्थायुकया । 'सदा
सनानिशं शश्वत्' इति हैमीवचनात् । श्रिया अद्वैतशोभया विष्णुलक्ष्मीभ्यां च वर्तते यः ।
'दामोदरः शौरिसनातनौ विभुः' इति हैम्याम् । स च पुनः किंभूतः । कपाटवेव
तत्तुल्यौ पक्षौ यस्य सः । स च पुनः किंभूतः । सुवर्णस्य हेम्नः कायोऽङ्गं यस्य स
हिरण्यः । पुनः किं कुर्वाणः । गगनमाकाशमुच्चैस्त्वेन भ्रमणेन च विगाहमानः स्वगो-
चरीकुर्वाणः ॥

मणीघृणिश्रेणिधुतान्धकारैरभ्रं कर्षैर्यत्कपिशिर्षिकौघैः ।

यानश्वरोदित्वरकर्मसाक्षिलक्षेव पूर्वक्षजनैरलक्षि ॥ १०३ ॥

दक्षजनैर्विदग्धलोकैर्या प्रह्लादनपुरी अनश्वराः शाश्वता उदित्वरा उदयशीलाः कर्म-
साक्षिणो भास्करास्तेषां लक्षाः शतसदृखाणि, यस्यामेवंविधे वालक्षि दृश्यते स्म ।
कैः । अभ्रं कर्षैर्गनोल्लेखिभिर्यत्कपिशिर्षिकाणामद्वालकानामौघैः समूहैः । किंभूतैः ।
मणीघृणीनां रत्नकान्तीनां श्रेणीमी राजीभिर्धुतानि दलितान्यन्धकाराणि यैः ॥

चन्द्राश्मवेश्मस्मितमुद्ग्रहन्तीं कटाक्षयन्तीं सितकेतनैश्च ।

युवेव जायां नगरीमिवैतां क्रोडीकरोति प्रणयेन वप्रः ॥ १०४ ॥

वप्रः प्राकारः प्रणयेन स्नेहेन । 'प्रणयः स्नेहयाञ्जयोः । विस्मये प्रसरेऽपि च' इत्यनेकार्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एतां नगरीं क्रोडीकरोति आलिङ्गतीवेत्युत्प्रेक्षा । 'आलिङ्गनं परिष्वङ्गपरी-
रम्भः क्रोडीकृतिः' इति हैम्याम् । वास्तवार्थे तु मध्येकरोति इत्यर्थः । क इव । युवेव । यथा युवा तरुणः स्नेहेन जायां पत्नीं क्रोडीकरोति परिरम्भते । किंभूतां पुरीं जायां च । चन्द्राश्मवेश्मानि विधुकान्तरन्नघटितगृहाणि तान्येव तत्तुल्यं च स्मितं हसित-
मुद्ग्रहन्तीं बिभ्रतीम् । पुनः किंभूताम् । सितकेतनैरुज्ज्वलपताकाभिः कृत्वा कटाक्षयन्तीं कटाक्षान्मृजन्तीं मुञ्चन्तीम् । 'कटाक्षाः कृष्णाः श्वेताश्च' वर्ण्याः' इति काव्यकल्पलता-
याम् ॥ इति प्राकारः ॥

स्वव्यालवेश्मावनिवास्तुशस्तवस्तुव्रजात्मभरिगर्भगेहैः ।

यत्रापणैः कुत्रितयापणानां वंश्यैरिवावाप्यत कापि लक्ष्मीः ॥ १०५ ॥

यत्र पुर्यामापणैर्हृष्टैः काप्यनिर्वचनीया लक्ष्मीः शोभा अवाप्यत प्राप्ता । उत्प्रेक्ष्यते—
कुत्रितयापणानां कूनां स्वर्गनागलोकभूलोकनानां भूमीनां त्रितयं त्रिकम् । त्रैलोक्यमित्यर्थः । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्त्रिभुवने विद्यमानसकलपदार्थसार्थास्ते मन्त्रतन्त्रादिविधिनाराध्यमानैः
पूर्वमित्रैर्वा देवैः संपूर्यते (पण्यन्ते) एष्विति ते कुत्रिकापणास्तेषां वंश्यैः कुलेषूद्भवैरिव ।
किंभूतैरापणैः । स्वः स्वलोके, व्यालवेश्मनि नागलोके पाताले, अवनौ भूमण्डले च
वास्तु स्थानं येषां तादृशाः शस्ताः सर्वोत्कृष्टाः प्रशस्या वस्तुव्रजा धनधान्यवस्त्रादिपदा-
र्थसार्थास्तैरात्मभरयो भृतमध्या गर्भगेहा गर्भागाराणि अपवरकादिस्थानानि येषां तैः ।
'कुमुदमकरन्दौघैः कुक्षिभरिभ्रमरोत्करः' इति नैषधे । कुक्षिभरिभृतमध्य इति तद्दृत्तौ ॥

वाह्मीकालागुरुगन्धसारसारङ्गनाभीहिमवालुकाभिः ।

सद्भिः समाज्ञाभिरिवादसीयापणैरवास्यन्त दिशोऽप्यशेषाः ॥ १०६ ॥

अदसीयापणैः पुरीसंवन्धिभिर्हृष्टैरशेषाः समस्ता अपि दिशोऽवास्यन्त सुरभी-
क्रियन्ते । काभिः । बालिकानि कुङ्कुमानि कालागुरवः काकतुण्डाः गन्धसाराश्चन्दनाः
सारङ्गनाभ्यः कस्तूरिकाः । कस्तूरीवाच्यपि नाभिश्चन्दो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—
'गोरोचनाकुङ्कुमचन्दनैर्गनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्ति' इति । हिमवालुकाः कर्पूरास्ताभिः ।
काभिरिव । समाज्ञाभिरिव । यथा—सद्भिरुत्तमैः समाज्ञाभिः स्वकीर्तिभिर्दिशो वास्यन्ते ॥

यदापणश्रेणिषु सान्द्रचान्द्रक्षोदेषु गाङ्गास्त्रिव वालुकासु ।

मौग्ध्येन नीलैरिव काचगोलैः क्रीडन्ति डिम्भाः स्फुरदिन्द्रनीलैः ॥ १०७ ॥

यदापणश्रेणिषु पुरीविपणिपङ्क्तिषु डिम्भा महेभ्यबालकाः क्रीडन्ति रमन्ते । केषु ।

सान्द्रचान्द्रक्षोदेषु स्निग्धेषु निविडेषु वा कर्पूराणां चूर्णेषु । केन । मौग्ध्येन ज्ञानेन । कास्विव । वालुकास्विव । यथा गाङ्गासु गङ्गासम्बन्धिनीषु पुलिनसिकतासु कुमाराः क्रीडन्ति, तथैव घनसारचूर्णेषु रमन्ते इति कर्पूरपारीप्राचुर्यात्तत्क्षोदास्तु बहिः क्षिप्यन्ते । कैः । स्फुरन्तो दीप्यमाना ये इन्द्रनीला नीलमणयो मरकतरत्नानि तैः । कैरिव । काचगोलैरिव । यथा—शिशवः काचानां क्षारमृद्विकाराणां गोलैर्गुटकैः शङ्खा इति प्रसिद्धैः खेलन्ति । किंभूतैः । नीलैर्हरिद्रणैः । अनेन विशेषणेन मणिरत्नबाहुल्यमपि प्रतिपादितम् ॥ इति दृष्टाः ॥

यच्चान्द्रचामीकरवेश्मचन्द्रचण्डार्चिषौ गर्भगताङ्गिरावैः ।

मिथः किमित्युन्नयतोऽभियातिर्जेयः कथं राहुरजय्यवीर्यः ॥ १०८ ॥

यस्याः पुर्याश्चान्द्राणां चन्द्रक्रान्तमणीनां (चान्द्राणां सौवर्णानाम् ?) । ‘चन्द्रोऽम्बु-
काम्ययोः । स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे कम्पिष्ठे मेचकेऽपि च’ इत्यनेकार्थः । (चामीकराणां सौवर्णानाम्) चन्द्रोपलैः स्वर्णैश्च घटिते क्वापि वेश्मनि गृहे एव चन्द्रचण्डार्चिषौ विधु-
भास्करो तौ गर्भे गृहमध्ये गतानां प्राप्तानामङ्गिनां मनुष्याणां रावैर्मिथोवार्तादिशब्दैः
मिथः परस्परमित्यमुना प्रकारेण । किमुत्प्रेक्ष्यते—उन्नयतः किमु । विचारयत इव । ‘वितर्कः
स्यादुन्नयनं परामर्शो विमर्शनम्’ इति हैम्याम् । इति किम् । यत् अजय्यं जेतुम-
शक्यं वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशो राहुरभियातिः शत्रुः । कथं केन प्रकारेण आत्मभ्या-
मावाभ्यां वा जेतो जेतव्यः । पराभवगोचरीकर्तव्य इति ॥

शशाङ्कबिम्बं कुलिशाङ्गणान्तर्दृष्ट्वा वृणानानिह मुग्धडिम्भान् ।

विलोभ्य केलीकलहंसबालैराश्यासयन्ति स्म कथंचिदम्बाः ॥ १०९ ॥

इह पुरि मुग्धानविदग्धान् डिम्भान् बालकान् केलीकृते क्रीडार्थम् । ‘नित्योद्योतपदं
समस्तकमलाकेलीगृहं राजते’ इति पूर्वाचार्यप्रणीतचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्रे । रक्षिता
ये राजहंसबालकास्तैर्विलोभ्य लोभयित्वा अम्बा जनन्यः कथंचिन्महता कष्टेन आश्यास-
यन्ति । किं कुर्वाणान्बालान् । वृणानान् याचमानान् । किं कृत्वा । दृष्ट्वा प्रेक्ष्य । किम् ।
शशाङ्कबिम्बं चन्द्रबिम्बम् । क । कुलिशैर्हरिकैर्बद्धानाम् । ‘शुचीमुखं तु हीरकः । वरा-
टकं रत्नमुख्यं वज्रपर्यायनाम च’ इति हैम्याम् । बद्धानां निमित्तानामङ्गणानां गृहाजिरा-
णामन्तर्मध्ये ॥

चन्द्रोदये चन्दिरकान्तगर्भसंदर्भशृङ्गत्ववदम्बुपूरैः ।

शिरःस्फुरत्सिद्धधुनी धरेन्द्रो यत्रानुचक्रे कलधौतसौधैः ॥ ११० ॥

यत्र पुरे चन्द्रोदये विधोरभ्युद्गमकाले कलधौतसौधै रूप्यमन्दिरैः शिरसि मस्तके स्फु-
रन्ती प्रसरन्ती वहन्ती वा सिद्धधुनी गङ्गा यस्य तादृशो धराणां पर्वतानामिन्द्रो राजा

हिमाचलः । 'अद्विराप्तेनकाप्राणेशो हिमवान्' इति हैम्याम् । अनुचके सदृशीकृतः । किंभूतैः सौधैः । चन्दिरकान्तानां चन्द्रोपलानाम् । चन्दिर इति चन्द्रमाः शेषनाममाला-याम्, अन्येष्वपि ग्रन्थेषु दृश्यते । गर्भे मध्ये संदर्भो रचना येषां तादृशेभ्यः शृङ्गेभ्यः स्रवन्तो निःसरन्तोऽम्बुपूराः पयःप्रवाहा येषु तैः ॥

वातातिवेल्लङ्घजपल्लवाग्रकरणे रावेण च किङ्किणीनाम् ।

या वैभवस्पर्धितया मघोनः पुरीं स्मयादाह्वयतीव योद्धुम् ॥ १११ ॥

या नगरी वैभवेन स्वलक्ष्म्या सार्धं स्पर्धितया संहर्षिभावेन मघोनः शकस्य पुरीमम-रावतीं स्मयादहंकाराद्योद्धुं संग्रामं कर्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—आह्वयत्याकारयतीव । केन । वातेन वायुना अत्यतिशयेन वेल्लन्तश्चबलीभवन्तो ये ध्वजपल्लवाः पताकावस्त्राणि तेषा-मग्रः स एव करो हस्तस्तेन । च पुनः केन । किङ्किणीनां क्षुरध्वण्टिकानां रावेण शब्देन ॥

श्रीवत्सरामाङ्गजकम्बुताक्ष्यचक्राङ्कितैर्मरकितैर्निकैतैः ।

जज्ञे मुकुन्दैरिव यत्र चित्रमेतत्परं धेनुकमद्विषद्भिः ॥ ११२ ॥

यत्र मरकतानामिमानि मारकतानि अश्मगर्भसंबन्धीनि तैर्निकैतैर्गृहैः । 'शङ्के स्व-सेकेतनिकेतमाप्ताः' इति नैषधे । मुकुन्दैः कृष्णैरिव जज्ञे जातम् । अत्र बहुवचनं बहुवासुदेवापेक्षया, महत्त्वख्यापनार्थं वा । यथा च जिनशतके—'यत्क्रमाश्चक्रिणो वा' इति । किंभूतैर्गृहैः कृष्णैश्च । श्रीलक्ष्मीः, वत्सास्तर्णकाः, श्रीवत्सो हृदयचिह्नम् । उत्त-मपुरुषाणां वक्षसि लक्षणविशेषः । रामाः स्त्रियः, रामो बलभद्रश्च । अङ्गजा नन्दनाः, अङ्गजः कामश्च । कम्बवः शङ्खाः, कम्बुः पाञ्चजन्यः । गृहेषु कम्बवो दृश्यन्ते । यथा नैषधे—'बहुकम्बुमणिर्वराटिका—' इति । ताक्ष्या अश्वाः, ताक्ष्यो गरुडश्च । तेषां चक्राणि समूहाः, चक्रं सुदर्शनं च । तैरङ्कितैः सहितैः । परं केवलमिदं चित्रमाश्रयम् । यन्निकैतैर्धेनुकं धेनुसमूहो गोकुलमद्विषद्भिः पालयद्भिः । 'धेनूनां धेनुकं धेन्वन्तानां गोधेनुकादयः' इति हैम्याम् । कृष्णैस्तु धेनुकनामा असुरस्तं द्विषद्भिर्दुष्टाद्विस्तस्य द्विषद्भिः शत्रुभिर्वा घातुकैः ॥

एतज्जगज्जित्वरलक्ष्मिवीक्षासणोदिताद्वै(द्भू)तकुतूहलेन ।

शङ्के त्रिदशयः स्तिमितीभवन्त्यो विभान्ति यद्वेश्मसु शालभङ्ग्यः ॥ ११३ ॥

यद्वेश्मसु पुरीमन्दिरेषु शालभङ्ग्यः पुत्रिका विभान्ति । तत्रैवं शङ्के मन्ये । एतस्याः पुर्यां जगतां त्रिभुवनपुरीणां जिव्यया जयनशीलाया लक्ष्म्याः वीक्षा विलोकनं स एव क्षण उत्सवस्तेनोदितमुद्भूतं यत्कुतूहलं कौतुकं तेन स्तिमितीभवन्त्यो निश्चला जाय-मानात्रिदशो देव्य इव । लक्ष्मीशब्दः समासमध्ये ह्रस्वोऽप्यायाति । यथा ऋषभनम्र-स्तवे—'वरणलक्ष्मिकरग्रहणोत्सवे' इति ॥

विष्णोर्निहन्तुं नरकं गतस्यौत्सुक्यात्क्रमान्निर्गलितेव गङ्गा ।

ज्यौत्स्नीषु यच्चान्द्रगृहच्युताम्भोधारा भुवं भूषयति स्म यस्मिन् ॥ ११४ ॥

यस्मिन् पुरे ज्यौत्स्नीषु पूर्णिमारात्रिषु यस्य पुरस्य चान्द्रगृहेभ्यः चन्द्रकान्तमणिनिर्मित-
मन्दिरेभ्यश्च्युतानां चन्द्रकिरणसंपर्केण निःसृतानामम्भसां पानीयानां धारा प्रवाहः । 'प्र-
वाहः पुनरोघः स्याद्वेणी धारा रयश्च सः' इति हैम्याम् । भुवं भूमीं भूषयति स्म अलंकुरुते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—औत्सुक्याद्रामस्यान्नरकं नरकनामानं दैत्यमसुरं निहन्तुं गतस्य विष्णोः
कृष्णस्य क्रमाच्चरणात् निर्गलिता निर्गत्य पतिता । 'विदत्यसव्ये मकरन्दलीलां मन्दाकिनी
यच्चरणारविन्दे' इति नैषधे । गङ्गा भूमीमभ्येतीव ॥

ज्योतिस्तरङ्गीकृतयन्त्रिकेतहरिन्मणीशालिशिखा चकासे ।

इदंपदव्येव पतङ्गपुत्री नभः प्रयान्ती मिलितुं स्वतातम् ॥ ११५ ॥

ज्योतिर्भिः कान्तिभिस्तरङ्गीकृतानां कल्लोलयुक्तीकृतानां यन्त्रिकेतानां नगरीगृहाणां
हरिन्मणीभिर्नीलरत्नैः शालते शोभते इत्येवंशीला शालिनी शिखा उपरितनप्रदेशः चकासे
शुशुभे दिदीपे वा । उत्प्रेक्ष्यते—इदंपदव्या एतन्नगरं मन्दिरशिखरमार्गेण । 'इदं यथांस्ति
द्विषतः सुधामुचे' इति नैषधे । 'अस्य कीर्तयः' इति तद्वृत्तौ । समासान्त एव इदंशब्दः ।
स्वतातं भास्करम् । 'सूर्यजा यमी' इति हैम्याम् । तथा 'यावद्गङ्गा तपनतनयाभारतीनां
समाजे' इति पूर्वकविकृतौ । मिलितुं प्रयान्ती गच्छन्ती पतङ्गपुत्री यमुनेव ॥

गाङ्गेयगारुत्मतपद्मरागचन्द्राश्मवेश्मावलिरुल्लास ।

प्रेयांसमुद्दिश्य महीमहेन्द्रं पुरश्चिया क्लृप्त इवाङ्गरागः ॥ ११६ ॥

गाङ्गेयानि सुवर्णानि, गारुत्मतानि हिरण्मणयः, पद्मरागा रक्तोपलाः, चन्द्राश्मानः श-
शिकान्तमणयः । तैर्निबद्धा घटिता वेश्मावलिः सौधश्रेणिरुल्लास स्फुरति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—महीमहेन्द्रं भूमीवासवं राजानं स्वप्रेयांसं निजकान्तं प्रत्युद्दिश्य पुरश्चिया नगर-
लक्ष्म्या अङ्गरागो विलेपनं क्लृप्तो रचितः । अन्यापि स्त्री भर्त्रा सङ्गं चिकीर्षुर्वपुष्यङ्गरागं
कुरुते ॥

वेश्माश्मगर्भाङ्कसिताश्मकुम्भं निभाल्य मुग्धाभ्रधुनीरथाङ्गयः ।

शशी स विश्लेषयिता द्विपन्नः कुधेति तं घ्नन्ति किमङ्घ्रिवातैः ॥ ११७ ॥

यस्येति संबन्धात् । वेश्मनि कापि नगरीगृहे अश्मगर्भाणां मरकतमणिनामङ्गो मध्यो
यस्य तादृशं सिताश्मनां स्फटिकरत्नानां कुम्भं कलशं निभाल्य दृष्ट्वा मुग्धा अचतुरा
अभ्रधुन्या गगनापगाया आकाशगङ्गायाः रथाङ्गयश्चक्रवाक्योऽङ्गीणां पदानां वातैः प्रहारैः
घ्नन्ति प्रहरन्ति । किमुप्रेक्ष्यते—इति कुधा घ्नन्ति । इति किम्—यत् नोऽस्माकं द्विष-
न्नहितः अत एव विश्लेषयिता विद्योगकारकः स प्रसिद्धः शशी मृगाङ्क इति रुषा ॥

अर्काशुसंपर्कचयार्ककान्तोद्भूतानलोमावनसंनिभस्य ।

गेहाग्रशृङ्गस्थगजद्विषद्भिर्द्वैषैरघृण्यस्य कथंचनापि ॥ ११८ ॥

भियाभ्रमूवल्लभवाहनारेः प्रणश्य शङ्के शरणं श्रयन्तः ।

लघूभवन्मन्दरमुख्यशैलाः पुरस्य रेजुर्मणिहेमगेहाः ॥ ११९ ॥

पुरस्य मणिहेममया गेहाः सौधा रेजुर्मान्ति स्म । तत्रैवमहं शङ्के विचार-
यामि । अभ्रमूनामा हस्तिनी । अभ्रमूशब्दो दीर्घोकारान्तोऽप्यस्ति । 'गजानामभ्रमू-
पतिः' इति काव्यकल्पलतायाम् । तथा 'अभ्रमूवल्लभारूढम्' इति पाण्डवचरित्रेऽपि ।
तस्या वल्लभो भर्ता ऐरावणः स एव वाहनं यानं यस्येन्द्रस्य स एवारिः शत्रुस्तस्य भिया
भयेन प्रणश्य स्वस्थानात्रां पुरस्य शरणमाश्रयन्तो भजन्तस्तथा लघूभवन्तः स्वल्पतनवः
संपद्यमाना मन्दरमुख्याः । मन्दरो जैनमते मेरुः । शैवशासने तु मन्दरोऽन्य इन्द्रकील-
नामा मन्या नगः स एव प्रधानं येषु ते शैलाः पर्वता इव । इह पुरे शत्रुप्रवेशाभावे कारण-
द्वयमाह—किंभूतस्य पुरस्य । अर्कस्य भानोरंशवः किरणास्तेषां संपर्कः संगमस्तेन च-
यस्य वप्रस्य प्राकारपीठभूमिकासंहृद्भ्योऽर्ककान्तेभ्यः सूर्यकान्तमणिभ्य उद्भूतः प्रकटी-
भूतो योऽनलो वह्निस्तेनोमावनसंनिभस्य बाणासुरपुरसदृशस्य । तत्र हि वङ्गिप्राकारो-
ऽस्तीति ख्यातिः । तथा 'यथोह्यमानः खलु भोगिभोजिना प्रसह्य वैरोचनिपुत्रपत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥' इति नैषधे । एतत्काव्यो-
परि पुरावृत्तमुच्यते—पूर्वं हि स्त्रीकार्यादन्यत्राजयो भावीत्याराद्धगौरिपतिसुपर्वदत्तवरस्य
बाणासुरस्य उधानाश्रया कन्यया गौरीं कुलदेवीमाराध्य मम को भर्ता भविष्यतीति प्रश्ने
कृते प्रद्युम्ननन्दनोऽनिरुद्धो भावीति गौर्या प्रोक्ते कथंचित्कुमारिकया स आनाय्य परिणी-
तः । तामादाय गच्छन्तं ज्ञातव्यतिकरो बाणस्तं निर्जित्य नागपाशैर्वद्धवान् । तत उषया कृष्ण-
प्रद्युम्नादयः तद्वाचिकं विज्ञापिताः । ततः कृष्णरामप्रद्युम्ना गरुडमारुह्य पावकप्राकारेऽपि
बाणपुरे गत्वा हरिर्बाणासुरं शतखण्डीकृत्योषायुक्तमनिरुद्धमादाय द्वारिकायामगादिति ।
पुनः किंभूतस्य । गेहानां पुरसौधानामग्रशृङ्गाणि उपरितनशिखराणि तेषु तिष्ठन्तीति
तत्स्था गजद्विषन्तः सिंहास्तैः । पुरमन्दिरेष्वपि केसरिणां सद्भावो यथा—'यदनेककसौ-
धकंधरा हरिभिः कुक्षिगतीकृता इव' इति नैषधे । कथंचनापि महता प्रयासेनापि
द्वेष्टैर्वैरिभिरवृष्यस्यानाकलनीयस्य । गजयानस्य हि सिंहाङ्कितमार्गं समागमनमशक्यम् ।
कुशानौ तु सर्वथा प्रवेशोऽपि न स्यादत एतत्पुराश्रयणं शत्रुभयाभावात् ॥ युगम् ॥

बालारुणज्योतिरखर्वगर्वनिर्वासिमाणिक्यनिकाय्यकोटिः ।

व्यक्तीभवन्भात्यनुभूपकान्तं पुरश्रियोद्गीर्णं इवानुरागः ॥ १२० ॥

बालारुणस्याभ्युदयद्गानोर्ज्योतिषां कान्तीनामखर्वमतिशयितं गर्वमहंकारं निर्वासि-
यन्ति निष्कासयन्ति निर्नाशयन्तीत्येवंशीलानि यानि माणिक्यानि पद्मरागमणयः निका-
य्यानां तन्मयानां गृहाणां कोटिर्विभाति शोभते । कापि माणिक्यशब्देन केवलरत्नमेव ।
कुत्रापि माणिक्यशब्देन पद्मरागमणयः । 'रत्नं वसु मणिर्माणिक्यमपि' इति हैमिवृत्तौ ।
'आघ्रातं परिचुम्बितं परिमुहुर्लोटं च यच्चवितं यद्दूरं निहितं च नीरसतया तत्र व्यथां

मा कृथाः । अन्तस्तत्त्वविचारणान्धबधिरे तद्वानरेणाधुना रे माणिक्य तदेतदेव सुकृतं यच्चूर्णितं नाश्मना ॥' इत्यत्र केवलमाणिक्यमेव । 'शिशुतरमहोमाणिक्यानामहर्मणिमण्डली' इति नैषधे । प्रत्यग्रकिरणपद्मरागाणामिति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—भूपं नृपतिं भर्तारमनु-लक्ष्यकृत्य पुरश्चिया उद्गीर्णा अत एव प्रकटीभवन् प्रकटो जायमानः अनुराग इव ॥

प्रीतादुपास्त्याधिगता गिरीशान्निरङ्कनैकाङ्गविधानविद्या ।

प्रपञ्चिता कौतुकिना किमेषा चन्द्रेण यच्चान्द्रगृहच्छलेन ॥ १२१ ॥

कौतुकिना कुतूहलाकलितेन चन्द्रेण एषा प्रत्यक्षलक्ष्या । निर्गतोऽङ्को लक्ष्म येभ्यस्तानि नैकानि बहूनि यान्यङ्गानि शरीराणि तेषां विधानं निर्माणं यस्यां तादृशी विद्या । यस्यां नगर्याश्चान्द्रगृहाणां चन्द्रकान्तमणिमयमन्दिराणां छलेन कपटेन । किमुत्प्रेक्ष्यते—प्रपञ्चिता विस्तारिता । किंभूता विद्या । अधिगता प्राप्ता । कस्मात् । गिरीशादीश्वरात् । किंभूतात् । उपास्त्या नित्यसेवया प्रीतात् । प्रसन्नीभूतादित्यर्थः । संतुष्टात् ॥ इति गृहाः ॥

यस्मिन्दिदीपे मधुदीपरूपश्रीगर्वनिर्वासिविलासिवृन्दैः ।

रूपस्यं वीक्ष्य जयस्य तस्य मदच्छिदे किं विधिना प्रणीतैः ॥ १२२ ॥

यस्मिन् पुरे मधुदीपस्य मदनस्य रूपश्रिया शरीरसौन्दर्यलक्ष्म्या गर्वमभिमानं निर्वासयन्ति निर्दलयन्तीत्येवंशीला ये विलासिनो भोगिनस्तेषां वृन्दानि तैर्दिदीपे चकासे । 'मधुदीपमारौ मधुसारथिस्मरौ' इति हैम्याम् । किमुत्प्रेक्ष्यते—जयस्येन्द्रपुत्रस्य रूपस्मयं निजाङ्गचङ्गिमगर्वं वीक्ष्य दृष्ट्वा तस्य जयन्तस्य मदच्छिदे उन्मत्ततोच्छ्रित्यै विधिना धात्रा कृतैः प्रणीतैरिव ॥

मेरोः शिखाग्रावसथव्यथाभिरुत्तीर्य सातस्थितिमीहमानाः ।

यस्मिन्समेताः किमु नाकिशाखित्रजा वदान्या व्यलसन्युवानः ॥ १२३ ॥

यस्मिन् युवानस्तरुणा व्यलसन् शुशुभिरे । किंभूताः । वदान्या दानशीला दान-शौण्डा वा । किमुत्प्रेक्ष्यते—शिखाग्रे शिखरोपरि य आवसथो वसतिः स्थानं वासस्तेनोद्भवन्तीभिः प्रकटाभिर्जायमानाभिर्व्यथाभिरर्तिभिः कृत्वा मेरोः काञ्चनाचलादवतीर्य भूमीमण्डले समेत्य सातस्थितिं सुखनिवासमीहमाना इच्छन्तो नाकिनां शाखिनो देवतरवः कल्पद्रुमास्तेषां व्रजा गणा यस्मिन् समेता इव संगता इव ॥

जितसरान्पौरजनान्निपीय मा तद्वृषस्यन्त्यसती सती स्तात् ।

इतीव योषावपुषा स्ववर्ष्म द्विषा मखस्य व्यतिसीव्यते स्म ॥ १२४ ॥

मखनाम्नो दैत्यस्य द्विषा वैरिणा शंभुना । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्वोषावपुषा पार्वती-शरीरेण समं स्ववर्ष्म निजशरीरं व्यतिसीव्यते स्म परस्परं स्यूतं योज्यते स्म । इति किम् । यत् जितो रूपाभिभूतः स्मरः कामो यैस्तादृशान् पौरजनान् नगरतरुणान् निपीय सादर-मवलोक्य सती पार्वती तद्वृषस्यन्ती रागोद्रेकात् कामातुरा तेषां कामुकी भवन्ती सती सती असती व्यभिचारिणी मा स्तात् भवतात् ॥ इति नागराः ॥

यस्मिन्विभान्ति स विलासवत्यः स्मरावरोधभ्रममुद्वहन्त्यः ।

किं शक्तयो मन्मथमेदिनीन्दोरमूरमोवास्त्रिजगद्विजेतुः ॥ १२९ ॥

यस्मिन् पुरे विलासवत्यः प्रमदा विभान्ति । किं कुर्वन्त्यः । स्मरावरोधः कन्दर्पोन्तः-
पुरं रतिस्तस्य भ्रमं भ्रान्तिम् । 'स्मरावरोधभ्रममावहन्ती' इति नैपथ्ये दमयन्तीवर्णने । उद्व-
हन्त्यो विभ्रत्यः । किमुत्प्रेक्ष्यते—मन्मथमेदिनीन्दोर्मदननरेन्द्रस्य अमूरः प्रत्यक्षाश्चक्षुर्लक्ष्या
अमोघा अवन्ध्याः सफलाः शक्तयः प्रहरणविशेषाः । किंभूतस्य मन्मथस्य । त्रिजगत्स्त्रि-
भुवनस्यापि विजेतुः पराभवशीलस्य ॥

त्यक्ताश्रवःकञ्चुकिकामुकाभिः सकर्णयन्नागररागिणीभिः ।

स्वमन्दिरात्कुण्डलिनीभिरस्मिन्किमीयुषीभिः शुशुभेऽङ्गनाभिः ॥ १२६ ॥

अस्मिन् नगरे अङ्गनाभिः शुशुभे । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्वमन्दिरात्त्रिजनिकेतनाम्नागलो-
कादीयुषीभिरागतभिः कुण्डलिनीभिर्नागाङ्गनाभिरिव । किंभूताभिः । त्यक्ता उज्जिता
अश्रवसः । अकर्णावधिरा इत्यर्थः । कञ्चुकिनः सौविदल्लाः । कुञ्जवामना इत्यर्थः । अथवा
कृत्रिमल्लीबाः कामुकाः कामयितारः कान्ता याभिस्ताभिः । पुनः किंभूताभिः । सकर्णाः
प्राज्ञाः श्रोतारो वा यस्याः पुर्या नागरादृष्टेकास्तेषु रागः स्नेहातिशयो विद्यते यासां
तास्ताभिः । तेष्वनुरागयुक्ताभिरित्यर्थः ॥

भान्ति स यस्मिन्सुमनोभिरामा रामा रमाधःकृतकामरामाः ।

स्वस्पर्धिनं येन रुषेव देवगृहं निगृह्याप्सरसो गृहीताः ॥ १२७ ॥

यस्मिन् नगरे रामा नागर्यो भान्ति स्म । किंभूताः । सुमनोभिः कुसुममालिकाभिः,
अथवा सुमनस्त्वेन सतीत्वेन निष्पापत्वेन वा अभिरामा मनोहराः । पुनः किंभूताः । रमाभिः
वपुःप्रियरूपकसुषमाभिरधःकृते हीने विहिते तिरस्कृते कामस्य मदनस्य रामे रतिप्रीती
याभिस्ताः । इवोत्प्रेक्ष्यते—येन प्रह्लादपुरेण रुषा कुधा स्वस्पर्धिनं निजसमृद्ध्या सार्धं
स्पर्धाविधायिनं देवगृहं स्वर्गं निगृह्य पराजित्य वन्दीकृत्य गृहीता अप्सरसः स्वर्गवध्व इव ॥

किमग्रदूत्यो मदनावनीन्दोः सख्योऽथ वा स्वर्वरवर्णिनीनाम् ।

भुजंगमीनां किमुतानुवादा यत्राब्जनेत्रा मदयन्ति चेतः ॥ १२८ ॥

यत्र पुरे अब्जनेत्राः कमललोचनाः सुदृशः चेतः अर्थाद्यूनां मनः मदयन्ति उन्मा-
दयुक्तं कुर्वन्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—मदनावनीन्दोः स्मरराजस्य किम् अग्रदूतः प्रथमसंदेश-
हारिका इव । अथ वा स्वः स्वर्गस्य वरवर्णिनीनां प्रधानस्त्रीणां रम्भाघृताचीतिलोत्तमा-
प्रमुखाणाम् अथवा पौलोमीप्रभृतीनां सख्यो वयस्यः किमु । उत पुनः । भुजंगमीनां
नागाङ्गनानामनुवादा अनुकारा इव ॥ इति नागर्यः ॥

इति प्रह्लादपुरवर्णनम् ।

तत्रास्ति भूमान्महमुन्दनामा स्थामैकभूर्भूवल्यैकवीरः ।

वधूर्नवोडेव दिने दिने भूः श्रियं दधौ यत्करपीडितापि ॥ १२९ ॥

तत्र देशे महसुन्द इति नामाभिधानं यस्य तादृशो भूमान् पातिसाहिरिति म्लेच्छवंश-
प्रसिद्धमधिपतिनाम । सोऽस्ति तत्समयानुसारेण बभूव । किंभूतः । स्थात्रां पराक्रमा-
णमेकाद्वितीया भूः स्थानम् । पुनः किंभूतः । भूवल्यस्य भूमण्डले वा एकोऽसाधा-
रणो वीरः सुभटः । स कः । यस्य करेण राजदेशांशेन पीडिता संयुक्ता जाता भूर्वसुधा दिने
दिने श्रियं लक्ष्मीं धनधान्यादिकां दधौ धारयति स्म अनेकलक्ष्मीवती भवति स्म ।
केव । वधूरिव । यथा नवोढा नवपरिणीता वधूर्वशा करेण पीडिता आक्षेपणादिकं नीता
सती दिने दिने श्रियं शरीरोपचयलक्षणां शोभां धत्ते ॥

प्रजां द्विजिह्वैरिव पीड्यमानां कलेर्विलासैरवसाय विश्वाम् ।

तां शासितुं दाशरथिः किमात्तजन्मा स्वयं साहिरसौ बभासे ॥ १३० ॥

असौ महसुन्दनामा साहिः पातिसाहिः बभासे राजते स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—तां
विश्वां वसुधां शासितुं पालयितुं स्वयमात्मना पुनर्द्वितीयवारमात्तजन्मा दृष्टीतावतारो
दाशरथी राम इव । किं कृत्वा । अवसाय विशाय । काम् । विश्वां पृथ्वीम् । किं क्रियमा-
णाम् । कलेः कलियुगस्य विलासैर्विलसितैः पीड्यमानां संताप्यमानाम् । कामिव । प्रजा-
मिव । यथा प्रजां प्रकृतिं पुरदेशलोकां द्विजिह्वैः पिशुनैः पीड्यमानाः कश्चित्प्रशास्ति ॥

निस्त्रिशमन्थानगमथ्यमानमहाहवक्षीरधिजन्मना यः ।

वव्रे बलिध्वंसविधानधुर्यो जयश्रिया शत्रुरिवासुराणाम् ॥ १३१ ॥

यः साहर्जयश्रिया विजयलक्ष्म्या वव्रे वृतः । क इव । असुराणां शत्रुरिव । यथा कृष्णो
जयेनोपलक्षितया श्रिया त्रियते । किंभूतः । यः बलिनां बलवताम् । बलं सैन्ये पराक्रमे च ।
रिपुनृपाणां बलेदैत्यस्य ध्वंसविधानं वधकरणं तत्र धुर्यः समर्थः शत्रुवधविधायिनां धुरि-
गण्यः । किंभूतया जयश्रिया । निस्त्रिशः खड्गः स एव मन्थानगः मन्दराद्रिः । 'मन्था-
नगः स भुजगप्रभुवेष्टिपृष्ठिलेखाचलद्रवलिनिर्झरवारिधारः' इति नैषधे । वासुकेर्वैष्टन-
घर्षणजातासु लेखासु भ्रमन्त्यो धवला निर्झरवारिधारा यस्य स मन्थाः । मथिनशब्दस्य
'पथिमथ्यभृक्षामात्' इत्यात्वे थेन्थादेशे रूपम् । नगः शैलः मन्दराद्रिः—इति तद्वातिः ।
तेन मथ्यमानो विलोब्धमानो यो महाहवो महासंग्रामः स एव क्षीरधिः दुग्धसमुद्रः तस्मा-
ज्जन्मोत्पत्तिर्यस्याः सा तथा ॥

अश्यामितास्यं कमलातिदानैर्जितैः प्रसत्तिप्रणिनीषयास्य ।

अभ्रैरिवाभ्राद्भुवमभ्युपेतैर्यद्भुभुजो गन्धगजैर्विरेजे ॥ १३२ ॥

यस्य भूभुजः साहर्गन्धगजैः गन्धोपलक्षितैः सिन्धुरैः विरेजे शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्रादा-
काशाद्भुवं भूमीमभ्युपेतैः समागतैर्भूमीमभिलक्षीकृत्य । 'अभिरभागे' भागवर्वाजतेऽर्थेऽभिः

१. 'मन्थानग' इत्यस्य समासघटकत्वेन सुपरत्वाभावादात्वानुपपत्तेश्चिन्त्यमेतत्.
नैषधे तु समासाभावान्न कोऽपि दोषः.

कर्मप्रवचनीयः स्यात्तत्र द्वितीया । हरिमभीति प्रक्रियायाम् । पृथिव्यामायातैरभ्रैर्मवैरिव । कया । अस्य भूभुजः प्रसत्तेः प्रसादस्य प्रणिनीषया कर्तुमिच्छया । किमभ्रैः । जितैरभिभूतैः । कैः । कमलानां लक्ष्मीनामुत्सर्गपयसां च दानैर्विश्रान्तैः । कथम् । अश्यामिता-स्यमुज्ज्वलीकृतं वक्रं यत्रैवविधं यथा स्यात्तथा ॥

अजय्यवीर्यं निजनिर्जयायोद्यतं यमालोक्य विपक्षलक्षैः ।

स्वक्षत्रवृत्तिरपहाय भेजे क्षेत्रस्य वृत्तिः कृषिकैरिवात्र ॥ १३३ ॥

अत्र भुवि विपक्षाणां साहिशत्रूणां लक्षैः स्वस्यात्मनः क्षत्रवृत्तीः क्षत्रियत्वेन या आजीविकाः । 'क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा' इति हैम्याम् । ता अपहाय साहितः स्वमारणभी-तेस्त्यक्त्वा क्षेत्रस्य केदारस्य वृत्तिर्जोवनं भेजे सिषेवे । कैरिव । कृषिकैरिव । यथा कृषिकारकैः क्षेत्रवृत्तिर्विधीयते । किं कृत्वा । निजस्यात्मनो निर्जयायाभिभवायोद्यतं प्रग-ल्भीभूतम्, तथा अजय्यं जेतुमशक्यं वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशं पातिसाहिमालोक्य दृष्ट्वा ॥

जम्बालयद्भिर्जलदैरिवोर्वी मदाम्बुभिर्यस्य बभे द्विपेन्द्रैः ।

दिग्जैत्रयात्रासु जितैर्दिगीशैर्दिग्ग्वारणेन्द्रैरुपदीकृतैः किम् ॥ १३४ ॥

यस्य साहेद्विपेन्द्रैर्गजराजैर्बभे व्यराजि । किं कुर्वद्भिः । जम्बालान्कुर्वन्तीति जम्बाल-यन्ति, जम्बालयन्तीति जम्बालयन्तः, तैर्जम्बालयुक्ता विदधद्भिः । काम् । उर्वी पृथ्वीम् । कैः । मदाम्बुभिः दानवारिभिः । कैरिव । जलदैरिव । यथा मेघैर्भूर्जम्बालकलिता क्रियते । किमुत्प्रेक्ष्यते—दिशां हरितां जैत्रीषु जयनशीलासु यात्रासु अभिषेकनेषु । सेनासमुदायेन रिपून् प्रत्यभिगमनेष्वित्यर्थः । जितैः स्ववशीकृतैर्दिगीशैर्दिग्यतिभिरुपदीकृतैर्दौकितैर्दि-ग्ग्वारणेन्द्रैर्दिग्गजैरिव ॥

विश्वैकधन्वी शरसान्नृपोऽसौ मा कापि कुर्यात्परराजवन्माम् ।

जिजीविषुर्भीत इतीव राजा नभो भ्रमीगोचरयांचकार ॥ १३५ ॥

राजा चन्द्रो नभो गगनं भ्रमण्या आन्तेः । 'अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गम्' इति नैषधे । गोचरीकरोति स्म गोचरयांचकार । नमसि बभ्रामेत्यर्थः । राजा किं कर्तुमिच्छुः । जी-जीविषुः साहेः सकाशाज्जीवितुमिच्छुः । इवोत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण भीतश्चकित इव । इति किम् । विश्वे जगति पार्थ इवैकोऽद्वितीयो धन्वी धनुर्धरोऽसौ नृपः, परे शत्रवः, अन्ये च ये राजानस्तानिव मां राजानं शरसाद्वाणविद्धम् । 'प्रसूनधन्वा शरसात्करोति माम्' इति नैषधे । मा कुर्यात् । यथा साहिः विपक्षक्षितिपान्बाणैर्विध्यति तथा मामपि बाणैर्मा हतादित्यर्थः ॥

यस्य द्वेषिनिषूदनव्रतजुषः प्रत्यर्थिपृथ्वीभुजं

संत्रासेन कलिन्दभूधरगुहागर्भं किमासेदुषाम् ।

स्त्रेणस्याञ्जननीलिमाङ्कितपतद्वाष्पाम्बुपूरैरिव

क्षमापीठे प्रसरद्भिराविरभवत्पाथोजबन्धोः सुता ॥ १३६ ॥

यस्य साहेः प्रत्यर्थिपृथ्वीभुजां वैरिन्पाणां स्त्रेणस्य स्त्रीणां समूहस्य अञ्जनानां नयनक-
ज्जलानां नीलिमा श्यामत्वेनाङ्कितैर्युक्तैः तथा पतद्भिः दुःखभराल्लोचनेभ्यो निःसरद्भिः वाष्पा-
म्बुपूरै रोदनजलप्लवैः । इवोत्प्रेक्षते—पाथोजबन्धोर्भानोः सुता पुत्री यमुना आविरभव-
त्प्रकटीभूता । किं वा—‘अये यदि समीहसे परन्तुपावरोधं तदा त्वमाकलय मद्बचः किमपि
रूपनारायण । प्रतीपनृपनागरीनयननीरकल्लोलिनीसमुत्तरणचातुरीं तुरगराजमध्यापय ॥’ इति
कविकृतकाव्यादौ बाष्पजलेभ्यो नदीप्रादुर्भावः । तथा—‘राम त्वत्तरुणप्रतापदहन्ज्वालाव-
लीशोषिताः सर्वे वारिधयस्तवारिवनितानेत्राम्बुभिः पूरिताः’ इति खण्डप्रशस्तौ बाष्पजलैः
समुद्रसद्भावोऽपि वर्णितः । किंभूतैः पूरैः । क्षमापीठे भूमण्डले प्रसरद्भिः पयःप्रवाहतया
विस्तारं गच्छद्भिः । किंभूतस्य यस्य । द्वेषिणां निषूदने मूलादुन्मूलने व्रतं सर्वेऽपि
शत्रवो मयावश्यमुच्छेदनीया इति रूपं नियमं जुषते सेवते तस्य । किंभूतानां प्रत्यर्थि-
पृथ्वीभुजाम् । संत्रासेनास्याकस्मिकमयेन कलिन्दनाम्नो भूधरस्य शैलस्य गुहानां कन्द-
राणां गर्भो मध्यभागस्तस्याङ्गमुत्सङ्गमासेदुषां प्राप्तवताम् । कलिन्दाद्रिकन्दरामध्यप्रविष्टा-
नामित्यर्थः ॥

सुत्रामाम्बुविधामदिगिरिकुचद्वन्द्वान्विधनेमीधवः

पृथ्वीपालललाटचुम्बितपदप्रोद्दामकामाङ्कुशः ।

द्यां स्वर्णाचलसार्वभौम इव यो निःशेषविश्वभरां

शासच्छात्रवगोत्रजिद्विजयते श्रीगुर्जरोर्वीपतिः ॥ १३७ ॥

श्रिया सप्ताङ्गलक्ष्म्या ऐश्वर्यशोभया वा युतो गुर्जराणां गुर्जरभूमेर्नायक उर्वीपतिः
पातिसाहिर्विजयते सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते । किंभूतः । सुत्रामा शक्रः अम्बुविधामा वरुण-
स्तयोर्दिशोः प्राचीप्रतीच्योगिरी पर्वतौ उदयास्ताचलाभिधानौ तावेव कुचद्वन्द्वं स्तनयु-
गलमस्यास्तादृश्या अब्धिनेमेः समुद्रमेखलाया भूमेर्धवो भर्ता । पुनः किंभूतः । पृथ्वी-
पालानां राज्ञां ललाटेर्भालैश्चुम्बिताः स्पृष्टाः पदयोश्चरणयोः प्रोद्दामाः प्रकृष्टाः कामाङ्कुश
नखा यस्य । किं कुर्वन् । शासत् पालयन् । काम् । निःशेषां समग्रां विश्वभरां पृथ्वीम् ।
कामिव । यामिव । यथा स्वर्णाचलस्य मेरोः सार्वभौमश्चक्रवर्ती दिवं शास्ति । ‘जाम्बू-
नदोर्वीधरसार्वभौमः’ इति नैषधे । यथा भूसार्वभौमस्तथैवेति यतः परसमये मेरोरुपरि
स्वलोकः । नैषधे यथा—‘दिवमङ्गादमराद्रिरागताम्’ इति । मेरुर्भूमी(?)स्तत्रामरावती
नगरी तस्याः पतिरिन्द्रः इति तत्त्वम् । किंभूतो राजा इन्द्रश्च । शात्रवाणामात्मवैरिणां
गोत्राणि वंशान् । शात्रवा रिपव एव गोत्राः पर्वतास्तान् जयतीति ॥ इति नृपवर्णनम् ॥

यं प्रासूत शिवाह्मसाधुमथवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिवास्तोष्पतिम् ।

तद्वाह्यीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिहरीरसूरिचरिते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥ १३८ ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हारसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये प्रथमप्रारम्भे जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-गुर्जरदेश-प्रह्लादनपुर-महमुन्दपातिसाहि-वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

हीर इति शब्देन युनक्ति योगं प्राप्नोतीति हीरयुक् तादृशं सौभाग्यमिति अभिधा नाम यस्य । एतावता हीरसौभाग्यकाव्यम् । तच्च तद्धीरसूरेहीरविजयसूरीश्वरस्य चरितं वृत्तं च । पश्चात्कर्मधारयः । तत्र तस्मिन् हीरसौभाग्यकाव्ये अयं प्रत्यक्षलक्षो वर्णनागोचरीकृतः । तथा आद्यः प्रथमः सर्वसर्गाणां धुरि अभिहितः सर्गः अधिकारविशेषः अभवत् बभूव । किंभूतः । स पूर्वोक्तश्चासौ ब्राह्म्या वाग्देवतायाः क्रमौ चरणौ सेवते आराधयतीत्येवं-शीलश्च तादृशेन देवविमलेन व्यावर्णिते । विशेषवर्णनागोचरतां प्रापिते इत्यर्थः । यत्तदोर्नि-त्याभिसंबन्धात् स कः । यं देवविमलं शिवा इत्याह्ला नाम यस्य तादृशः साधुः साहेषु-मथवा प्रधानत्वादिन्द्रः साधुरिति वर्णजां नाम प्राकृते तु अमुकसाह इत्युच्यते । तथा श्रीसुमतिसाधुसूरिकृतसोमसौभाग्यकाव्ये वर्णजः साहस्य साधुरिति संज्ञा दृश्यते । सात्रापि । तथा—‘अपलपति रहसि दत्तं प्रकटितदत्तेऽपि संशयं कुरुते । क्रयविक्रये च लुण्ठति तथा लोके वर्णिकसाधुः ॥’ इति सुभाषिते । पुनः शिवासाहपत्नी नाम्ना सौभा-ग्यदेवी यं प्राप्तुं जनयामास । यं किंभूतम् । श्रीमन्तो विद्वद्वृन्दारकत्वेन शोभाभाजो ये कोविदाः पण्डितास्तेषु सिंह इव सिंहः परवादिपुञ्जकुजरेन्द्रैरप्यजेयः कथमप्यना-कलनीयश्च । मुख्य इत्यर्थः । सीहविमलनामा प्रज्ञांशः । तस्यान्तेवासिनां शिष्याणां मध्ये वास्तोष्पतिरप्रणीः प्रथमशिष्यत्वेन प्रधानः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते स्वोपज्ञहीरसौभाग्य-काव्यवृत्तौ प्रथमप्रारम्भे जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-सतीर्थसरिद्विरिकेदारगोधनबन्धुरगुर्जरदेश-प्रह्लादनपार्श्वनाथोपवनपरिखाप्राकारगृहदृष्ट्युवयुवतीयुक्तप्रह्लादनपुर-महमुन्दपातिसाहि-वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

द्वितीयः सर्गः ।

पुरेऽथ तस्मिन्व्यवहारिपुंगवो बभूव कुंरा इति नाम धामवान् ।

महीरुहां स्वःशिखरीव विश्रुतो रसास्पृशां न्यकृतविश्वनिःस्वतः ॥ १ ॥

अथ देशग्रामादिवर्णनान्तरं मातृपितृमातृस्वप्नादिवर्णनादि प्रारम्भे । तस्मिन्पूर्ववर्णित-प्रह्लादनपुरे कुंरा इति नाम व्यवहारिषु महेश्वेषु पुंगवः श्रेष्ठो बभूव संजातः । ‘पुंगवो गवि भैषज्ये प्रधाने चोत्तरस्थितेः’ इत्यनेकार्थः । किंभूतः । धामवान् गृहमेधी । अथवा तेजस्वी प्रभाववान् । ‘धाम स्थाने गृहे गेहे प्रभावे जन्मतेजसोः’ इत्यनेकार्थतिलकः । पुनः

किंभूतः । विश्रुतो विख्यातः । केषां मध्ये । रसास्पृशां पुरुषाणाम् । क इव । स्वःशि-
खरीव । यथा महीरुहाणां वृक्षाणां मध्ये कल्पवृक्षो विख्यातोऽस्ति । अतएव किंभूतः
कल्पद्रुः स च । न्यकृता निवारिता जगन्नानां समस्तार्थिनां निःस्वता दारिद्र्यं येन ॥

अरिष्टकेतुं नवभोगसङ्गिनं त्रिरेखपाणिं पुरुषोत्तमं पुनः ।

अमाद्विवोदुर्जलधेरिवोद्वहा महेभ्यमभ्येत्य बभाज यं मुदा ॥ २ ॥

जलधेरुद्वहा समुद्रपुत्री लक्ष्मीर्ये महेभ्यं व्यवहारिणमभ्येत्य समागत्य मुदा प्रीत्या बभाज
समाश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते—विवोदुः स्वभर्तुः कृष्णस्य अमात् आन्तेरिव । किंभूतं महेभ्यम् ।
अरिष्टेषूपद्रवेषु अरिष्टनाम्नि वृषभरूपे दैत्ये च केतुं धूमकेतुनामग्रहस्य सदृक्षम् । तद्विध्वंसक-
त्वात् । पुनः किंभूतम् । नवानां नूतनानां स्तुतिसंयुक्तानां वा भोगानां सुखानां सङ्गः
संगमोऽनुभवः प्राप्तिरस्येति । पक्षे—भोगः सर्पकायः अर्थात् शेषनागशरीरं तस्य सङ्गिनं
तच्छयनत्वात् । पुनः किंभूतः । त्रिरेखः आकृत्या शङ्खः पाञ्चजन्यश्च पाणौ हस्ते यस्य ।
पुनः किंभूतः । पुरुषेषु समस्तेषु मानवेषु उत्तमं श्रेष्ठं नाम च ॥

कुबेर इत्यात्मजनावमाननां व्यपोहितुं किंपुरुषेश्वरः स्वयम् ।

वितीर्णसौवर्णमणीगणोऽर्थिनां प्रणीय यन्मूर्तिमिवावतीर्णवान् ॥ ३ ॥

कुंराख्यो महेभ्यो भातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—किंपुरुषेश्वरो धनदः यस्य कुंरासाधोः
मूर्तिं शरीरं प्रणीय निर्माय स्वयमात्मना अवतीर्णवान् प्रह्लादपुरे । अवतारं गृहीतवानिव ।
किं कर्तुम् । व्यपोहितुमपकर्तुम् । काम् । अयं कुबेरः कुत्सितशरीरः । कुरूप इत्यर्थः ।
तथा—‘जातौ न वित्ते न गुणे च कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः । स्वच्छे स्वशैले-
क्षितकुत्सवेरस्तां प्रत्यगान्न खितरां कुबेरः ॥’ इति नैषधे । स वामो वक्रः । जातावुत्तम-
वंशे प्रवणो न, नापि वित्ते धने, न च गुणे त्यागशौर्यादौ, किं तु स कुटिलः कामः सौन्दर्य
एव तात्पर्यवान् । अत एव स्वच्छे निर्मले स्वशैले कैलाशे ईक्षितं दृष्टं कुत्सितं वेरं वपु-
र्येन ईदृशः कुबेरस्तां खितरां नारीश्रेष्ठां दमयन्तीं प्रति नागात् । ‘घरूपकल्पं चेल्ङ्-’
इत्यत्र ‘स्त्रियोऽन्यतरस्याम्’ इति ह्रस्वः । कलेवरशब्दे त्वक्षरद्वयलोपे मात्राविपर्यये बेर इति
प्रयोगः । सत्यमामा भामेतिवत्—इति वृत्तिः । इत्यात्मनः स्वस्य लोके जनेऽवमानना-
मवगणनाम् । निन्दामित्यर्थः । किंभूतः । अर्थिनां याचकानां वितीर्णः विश्राणितः प्रदत्तः
सौवर्णः सुवर्णानां समूहः । तथा मणीनां रत्नानां गणो व्रजो येन । एतावता वदान्यता
सूचिता ॥

तमःसपन्नः श्रितशंभुशीलनः कुमुद्विकाशी वचनामृतं किरन् ।

शशीव योऽशीलि कलाभिरिभ्यराट् विमुक्तदोषः स तदत्र कौतुकम् ॥ ४ ॥

य इभ्यराट् व्यवहारिवासवः कलाभिर्द्रासततिलक्षणाभिः शिल्परूपाभिर्वा अशीलि से-
वितः । क इव । शशीव । यथा चन्द्रः षोडशसंख्याभिः कलाभिः शील्यते । किंभूतो यः शशी

तद्भाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिहरीरसूरिचरिते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥ १३८ ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये प्रथमप्रारम्भे जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-गुर्जरदेश-प्रह्लादनपुर-महमुन्दपातिसाहिवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

हीर इति शब्देन युनक्ति योगं प्राप्नोतीति हीरयुक् तादृशं सौभाग्यमिति अभिधा नाम यस्य । एतावता हीरसौभाग्यकाव्यम् । तच्च तद्धीरसूरेहीरविजयसूरीश्वरस्य चरितं वृत्तं च । पश्चात्कर्मधारयः । तत्र तस्मिन् हीरसौभाग्यकाव्ये अयं प्रत्यक्षलक्षो वर्णनागोचरीकृतः । तथा आद्यः प्रथमः सर्वसर्गाणां धुरि अभिहितः सर्गः अधिकारविशेषः अभवत् बभूव । किंभूतः । स पूर्वोक्तश्चातौ ब्राह्म्या वाग्देवतायाः क्रमौ चरणौ सेवते आराध्यतीत्येवं-शीलश्च तादृशेन देवविमलेन व्यावर्णिते । विशेषवर्णनागोचरतां प्रापिते इत्यर्थः । यत्तदोर्न-त्याभिसंबन्धात् स कः । यं देवविमलं शिवा इत्याह्ना नाम यस्य तादृशः साधुः साहेषु-मथवा प्रधानत्वादिन्द्रः साधुरिति वर्णिजां नाम प्राकृते तु असुकसाह इत्युच्यते । तथा श्रीसुमतिसाधुसूरिकृतसोमसौभाग्यकाव्ये वर्णिजः साहस्य साधुरिति संज्ञा दृश्यते । सात्रापि । तथा—‘अपलपति रहसि दत्तं प्रकटितदत्तेऽपि संशयं कुरुते । क्रयविक्रये च लुण्ठति तथा लोके वर्णिक्साधुः ॥’ इति सुभाषिते । पुनः शिवासाहपत्नी नाम्ना सौभाग्यदेवी यं प्राप्तुं जनयामास । यं किंभूतम् । श्रीमन्तो विद्रुद्वन्द्वारकत्वेन शोभाभाजो ये कोविदाः पण्डितास्तेषु सिंह इव सिंहः परवादिपुञ्जकुजरेन्द्रैरप्यजेयः कथमप्यना-कलनीयश्च । सुख्य इत्यर्थः । सीहविमलनामा प्रज्ञांशः । तस्यान्तेवासिनां शिष्याणां मध्ये वास्तोष्पतिरप्रणीः प्रथमशिष्यत्वेन प्रधानः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते स्वोपज्ञहीरसौभाग्य-काव्यवृत्तौ प्रथमप्रारम्भे जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-सतीर्थसरिद्रिकेदारगोधनबन्धुरगुर्जरदेश-प्रह्लादनपार्श्वनाथोपवनपरिखाप्राकारगृहद्वयव्युवतीयुक्तप्रह्लादनपुर-महमुन्दपातिसाहिव-र्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

द्वितीयः सर्गः ।

पुरेऽथ तस्मिन्व्यवहारिपुंगवो बभूव कुंरा इति नाम धामवान् ।

महीरुहां स्वःशिखरीव विश्रुतो रसास्पृशां न्यकृतविश्वनिःस्वतः ॥ १ ॥

अथ देशग्रामादिवर्णनानन्तरं मातृपितृमातृस्वप्रादिवर्णनादि प्रारम्भे । तस्मिन्पूर्ववर्णित-प्रह्लादनपुरे कुंरा इति नाम व्यवहारिषु महेश्वेषु पुंगवः श्रेष्ठो बभूव संजातः । ‘पुंगवो गवि भैषज्ये प्रधाने चोत्तरस्थितेः’ इत्यनेकार्थः । किंभूतः । धामवान् गृहमेधी । अथवा तेजस्वी प्रभाववान् । ‘धाम स्थाने गृहे गेहे प्रभावे जन्मतेजसोः’ इत्यनेकार्थतिलकः । पुनः

किंभूतः । विश्रुतो विख्यातः । केषां मध्ये । रसास्पृशां पुरुषाणाम् । क इव । स्वःशि-
खरीव । यथा महीरुहाणां वृक्षाणां मध्ये कल्पवृक्षो विख्यातोऽस्ति । अतएव किंभूतः
कल्पवृक्षः स च । न्यकृता निवारिता जगजनानां समस्ताधिनां निःस्वता दारिद्र्यं येन ॥

अरिष्टकेतुं नवभोगसङ्गिनं त्रिरेखपाणिं पुरुषोत्तमं पुनः ।

भ्रमाद्विवोदुर्जलधेरिवोद्वहा महेभ्यमभ्येत्य बभाज यं मुदा ॥ २ ॥

जलधेरुद्वहा समुद्रपुत्री लक्ष्मीर्यं महेभ्यं व्यवहारिणमभ्येत्य समागत्य मुदा प्रीत्या बभाज
समाश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते—विवोदुः स्वभर्तुः कृष्णस्य भ्रमात् भ्रान्तेरिव । किंभूतं महेभ्यम् ।
अरिष्टेषूपद्रवेषु अरिष्टनाम्नि वृषभरूपे दैत्ये च केतुं धूमकेतुनामग्रहस्य सदृक्षम् । तद्विध्वंसक-
त्वात् । पुनः किंभूतम् । नवानां नूतनानां स्तुतिसंयुक्तानां वा भोगानां सुखानां सङ्गः
संगमोऽनुभवः प्राप्तिरस्येति । पक्षे—भोगः सर्पकायः अर्थात् शेषनागशरीरं तस्य सङ्गिनं
तच्छयनत्वात् । पुनः किंभूतः । त्रिरेखः आकृत्या शङ्खः पाञ्चजन्यश्च पाणौ हस्ते यस्य ।
पुनः किंभूतः । पुरुषेषु समस्तेषु मानवेषु उत्तमं श्रेष्ठं नाम च ॥

कुबेर इत्यात्मजनावमाननां व्यपोहितुं किंपुरुषेश्वरः स्वयम् ।

वित्तीर्णसौवर्णमणीगणोऽर्थिनां प्रणीय यन्मूर्तिमिवावतीर्णवान् ॥ ३ ॥

कुंराख्यो महेभ्यो भातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—किंपुरुषेश्वरो धनदः यस्य कुंरासाधोः
मूर्तिं शरीरं प्रणीय निर्माय स्वयमात्मना अवतीर्णवान् प्रकादपुरे । अवतारं गृहीतवानिव ।
किं कर्तुम् । व्यपोहितुमपकर्तुम् । काम् । अयं कुबेरः कुतिसतशरीरः । कुरूप इत्यर्थः ।
तथा—‘जातौ न वित्ते न गुणे च कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः । स्वच्छे स्वशैले-
क्षितकुत्सवेरस्तां प्रत्यगात्र खितरां कुबेरः ॥’ इति नैषधे । स वामो वक्रः । जातावुत्तम-
वंशे प्रवणो न, नापि वित्ते धने, न च गुणे त्यागशौर्यादौ, किं तु स कुटिलः कामः सौन्दर्य
एव तात्पर्यवान् । अत एव स्वच्छे निर्मले स्वशैले कैलाशे ईक्षितं दृष्टं कुतिसतं वेरं वपु-
र्येन ईदृशः कुबेरस्तां खितरां नारीश्रेष्ठां दमयन्तीं प्रति नागात् । ‘घरूपकल्पं चेलङ्-’
इत्यत्र ‘त्रियोऽन्यतरस्याम्’ इति ह्रस्वः । कलेवरशब्दे त्वक्षरद्वयलोपे मात्राविपर्यये वेर इति
प्रयोगः । सत्यभामा भामेतिवत्—इति वृत्तिः । इत्यात्मनः स्वस्य लोके जनेऽवमानना-
मवगणनाम् । निन्दामित्यर्थः । किंभूतः । अर्थिनां याचकानां वित्तीर्णः विश्राणितः प्रदत्तः
सौवर्णः सुवर्णानां समूहः । तथा मणीनां रत्नानां गणो व्रजो येन । एतावता वदान्यता
सूचिता ॥

तमःसपत्नः श्रितशंभुशीलनः कुमुद्विकाशी वचनामृतं किरन् ।

शशीव योऽशीलि कलाभिरिभ्यराट् विमुक्तदोषः स तदत्र कौतुकम् ॥ ४ ॥

य इभ्यराट् व्यवहारिवासवः कलाभिर्द्वांसतिलक्षणाभिः शिल्परूपाभिर्वा अशीलि से-
वितः । क इव । शशीव । यथा चन्द्रः षोडशसंख्याभिः कलाभिः शील्यते । किंभूतो यः शशी

च । तमसामज्ञानानां दुष्कृतकर्मणां वा ध्वान्तानां च सपत्न उच्छेदकृत् । पुनः किंभूतः । श्रितमर्थान्निमित्तं शंभोजिनेन्द्रस्य जैनश्रावकत्वात्, शिवस्य च शिरःस्थायुकत्वात्, शील-
नमाराधनं सेवा येन सः । पुनः किंभूतः । कौ पृथिव्यां सुदं प्रीतिं प्रमोदं कैरवाणि
कुमुन्दि विकाशयति प्रकटीकरोति विदधाति प्रबोधयतीत्येवंशीलः । पुनः किंभूतः ।
वचनमेव वाणीतुल्यं च अमृतं सुधां किरन् विस्तारयन् वर्षन् परं तदत्र व्यवहारिणि
चित्रमाश्चर्यमस्ति । यत्स महेभ्यो मुक्तास्त्यक्ता दोषा अपगुणा येन । शशी तु सह दोषया
रात्र्या वर्तते यः स सदोषः ॥

अलम्बि दम्भोलिशयेभशालिनी न कीर्तिरेतस्य परश्शतैः परैः ।

शरत्प्रसन्नीकृतचन्द्रगोलिका सुधामरीचेर्ग्रहतारकैरिव ॥ ९ ॥

तस्य कुराव्यवहारिणः दम्भोलिर्वज्रं शये यस्य स शक्रः तस्य य इभ ऐरावणस्तद्वत्
शालिनी श्वेत्वात् शोभमाना कीर्तिः परश्शतैः शतात्परैः परश्शतैः सहस्रलक्षकोटिसंख्यैरन्यैः
परैरिभ्यैर्नालम्बि न प्राप्ता । कैरिव । ग्रहतारकैरिव । यथा सुधामरीचेरमृतकिरणस्य
चन्द्रस्य शरदा घनात्ययेन प्रसन्नीकृता जलधरोधापसारणाद्विमलीकृता चन्द्रगोलिका
चन्द्रिका ग्रहा मङ्गलादयः, तारका नक्षत्रतारास्तैर्न लभ्यते नैव प्राप्यते ॥

वहन्सुपर्वदुमरामणीयकं सनन्दनो गोत्रपराध्यतां दधत् ।

सुजातरूपः सुमनोमनोरमोऽनुयाति यः स्वेन सुपर्वपर्वतम् ॥ ६ ॥

यो महेभ्यः स्वेनात्मना सुपर्वपर्वतं सुरगिरिं मेरुमुयाति अनुकरोति । मेरुणा
सदृशीभवतीत्यर्थः । किं कुर्वन् । वहन् कलयन् । किम् । सुपर्वदुमाः कल्पवृक्षाः
दानरूपभूषणसुषमाभिस्तद्वत्तैश्च रामणीयकं मनोहरताम् । पुनः किंभूतः । सहनन्दनाभ्यां
हीरकुमारश्रीपालाभिधाभ्यां वर्तते यः । भाविनि भूतोपचारात् । पक्षे—नन्दनवनेनान्वि-
तः । पुनः किंभूतः । गोत्रे स्ववंशे, गोत्रेषु सर्वशैलेषु हीरसूरिपुरंदरपितृत्वेन लक्षयोज-
नप्रमाणतया सर्वोन्नतत्वेन च परार्ध्यतां प्रकृष्टतां महिमानं दधत् विश्रुत् । पुनः किं-
भूतः । सुशोभनं जातमुत्पन्नं रूपं वपुः सुभगता यस्य । मेरौ तु सुष्ठु जातरूपं स्वर्णं
यत्र । पुनः किंभूतः । सुमनोभिर्हारादिकुसुमैर्मनो हरती(?)त्येवंशीलः । सुष्ठु निष्पापं
मनो येषां साधूनां तेषां मनसि सुगुणधर्मित्वेन रमते इति वा । सुमनसां महात्मनां मध्ये
अभिरामो वा । सुमनस्त्वेन मनोज्ञो वा । मेरुस्तु सुमनोभिर्दैवैः सुन्दरः ॥

जगज्जनावाङ्मनसावगाहिना गम्भीरभावेन जितेन साधुना ।

सुधास्त्रवन्तीपतिना हृदा दधे किमेष रोषो वडवार्चिषो मिषात् ॥ ७ ॥

येन साधुना कुरासाहेन गम्भीरभावेन स्वगाम्भीर्येण जितेनाभिभूतेन सुधास्त्रवन्ती-
पतिना क्षीरसमुद्रेण । किमुत्प्रेक्ष्यते—हृदा हृदयेन कृत्वा वडवार्चिषो वडवानलस्य
मिषात् कपटात् रोषः कोपः एष प्रत्यक्षः किं दधे धृत इव । किंभूतेन गम्भीरभावेन ।

जगतां पातालभूमिस्वलोकानां जनानामसुरनरसुराणां न वाङ्मनसौ वचनचित्ते अवगा-
हते गोचरयतीत्येवंशीलस्तेन । वक्तुमशक्येनेत्यर्थः ॥

समाप्य कामान्मरुतां स्वदारुतां निरस्य तेषां च वरात्प्रसेदुषाम् ।

मिषादमुष्येप्सितदित्सया विशामिवावनौ स्वःफलदोऽवतीर्णवान् ॥ ८ ॥

इभ्यो भातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—अमुष्य व्यवहारिणो मिषाद्भूमादवनौ पृथि-
व्यामवतीर्णवानागतः स्वःफलदः कल्पवृक्ष इव । कया । विशां नरेन्द्राणामीप्सितानां
कामितानां मनोभिलाषाणां दित्सया दातुमिच्छया । किं कृत्वा । मरुतां देवानां का-
मान्सर्वाभिलाषान्समाप्य संपूर्णाकृत्य । दत्त्वेत्यर्थः । पुनः किं कृत्वा । प्रसेदुषां स्वाभिल-
षितसकलार्थाभिगमेन प्रसन्नीभूतानां तेषां देवानां वरादिष्टप्रदानवचनात्स्वस्यात्मनो दारुतां
काष्ठभावं निरस्यापाकृत्य ॥

अतिस्मरैतत्तनुकामनीयकैः सहाभ्यसूयां दधतौ निजश्रिया ।

अनौचितीकुट्टजगत्कृतार्कजावकारिषातां वडवासुताविव ॥ ९ ॥

निजश्रियां स्वरूपसौन्दर्यलक्ष्म्या अतिक्रान्तोऽर्थान्निर्जितः स्मरः कामो यैस्तादृशै-
रेतस्य कुंराव्यवहारिणस्तनोः शरीरस्य कामनीयकै रमणीयताभिः । ‘कामनीयकमधः-
कृतकामम्’ इति नैषधे । सह सार्धमभ्यसूयामीर्ष्यां दधतौ विभ्राणौ अर्कजौ अश्विनीपुत्रौ ।
उत्प्रेक्ष्यते—अनौचित्या अयुक्ततया कुट्टेन कुपितेन जगत्कृता ब्रह्मणा वडवासुतावश्वा-
विवाकारिषातां कृतौ ॥

मिथः परिस्पर्धितया वदान्यतागुणैर्विजित्य व्यवहारिणासुना ।

इमा अरक्ष्यन्त सुधाशधेनवः स्वगोधनस्योपधिनेव धामनि ॥ १० ॥

अमुना कुंरासाहनाद्वा महेभ्येन स्वगोधनस्य निजगोकुलस्योपधिना कपटेन धामनि
अर्थादात्ममन्दिरे इमाः सकलजगज्जनदृग्गोचराः सुधाशधेनवः कामगव्य इव अर-
क्ष्यन्त रक्षिताः । किं कृत्वा । वदान्यता दानशीलत्वं तस्या गुणैरुत्कर्षैः स्फूर्तिभिर्वी-
मिथः परस्परं परिस्पर्धितया समन्तात्स्पर्धनशीलत्वेन विजित्य पराभूय गृहे रक्षिताः ॥

सुपात्रसस्त्रेहगुणाग्र्यवृत्तिभृत्तमःप्रतीपः स्वकुलप्रकाशकृत् ।

प्रदीपदेश्योऽपि परं न धूमभाक्कुलं न चाध्यामलयत्कदापि यः ॥ ११ ॥

यो महेभ्यः प्रदीपस्य देश्योऽपि सदृशोऽपि सन् । ‘देवं देवेन्द्रदेशीयम्’ इति पाण्डवचरित्रे ।
परं केवलं कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे न धूमभाक् न निषेधे कोपयुक्तो बभूव ।
धूमशब्देन कोपः । यथा भक्तामरस्तोत्रे—‘निर्धूमवतिरपवर्जिततैलपूरः’ इति । दी-
पस्तु धूमयुक्तः । च पुनः कदाचिदपि कुलं वंशमपवादादिना नाध्यामलयन्न मलिनी-
चकार । दीपस्तु यत्र रक्ष्यते तद्गृहं स्थानं वा श्यामलयति । ‘कुलं कुल्यगणे
गेहे देहे जनपदेऽन्वये’ इत्यनेकार्थः । किंभूत इभ्यः । सु शोभनानि पात्राणि

महाव्रताणुव्रतधारकादिसंघो यस्य, तथा सहस्रेहेन देवे गुरौ स्वजनादिषु प्रीत्या वर्तते यः सः, तथा गुणैरौदार्यादिभिरग्रायां मुख्यां वृत्तिं वाणिज्यादिकामाजीविकां वा विभर्तीति । 'वृत्तिस्तु वर्तने । केशिक्यादौ जीवने च' इत्यनेकार्थः । सर्वेष्वप्यग्रेसरो वा । पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किंभूतः । तमसामज्ञानानां पापानां वा प्रतीपः शत्रुः स्वयं पुण्यकर्माण्याचरन् परानपि धर्मे दृढीकरोति । पुनः किंभूतः । स्वस्यात्मनः कुलमौकेशवं शस्तत्र प्रकाशकृत् उद्योतकर्ता । स्वेन सूरिसिंहेन सूनुना वा । दीपोऽपि पात्रकलितः, स्नेहेन तैलेन युक्तः । 'तैलं स्नेहोऽभ्यञ्जनं च' इति हैम्याम् । तन्तुप्रधानदशाधारकः । 'वृत्तिर्वीतिश्च तदशा' इति हैम्याम् । तथा ध्वान्तोच्छेत्ता, यस्मिन् गृहे येन वा प्रबोधितस्तदेव तस्य वा गेहं तत्रोद्योतकारकः ॥

धुनीधवं येन गभीरनिःस्वनैर्विजित्य मुक्तामणिविद्रुमावलिः ।

ततः समग्रा जगृहे तदाद्यसौ बभूव किं निःस्वतया जडाशयः ॥ १२ ॥

येन कुराव्यवहाराणां गभीरैः सजलजलधरगर्जितसान्द्रमधुरैर्निःस्वनैः स्वशब्दैर्धुनी-धवं नदीपतिं समुद्रं विजित्य ततः समुद्रात् मुक्ताफलानि मुक्तामणयो रत्नानि विविध-जातीनि विद्रुमाः प्रवालानि तेषामावलिः श्रेणिः समग्रा समस्तापि जगृहे गृहीता । किमुत्प्रेक्ष्यते—असौ समुद्रस्तदादि तं दिनमारभ्य निर्गतं स्वं समग्रद्रव्यं यस्मात्स निःस्वस्तस्य भावस्तया निःस्वतया दरिद्रत्वेन जडः किं कर्तव्यतामूढ आशयश्चित्तं यस्य । अथ किं करिष्यते, कं गमिष्यते, कस्य पुनः पूत्करिष्यते, कथं वा स्वं प्रत्यानेष्यते इति विमर्शानभिज्ञो बभूव । डलयोरैक्यादियं घटना ॥

व्यमोचि नामुष्य कदाचिदन्तिकं रथाङ्गपाणेरिव पद्मसन्नना ।

गुणव्रजेनेव नियन्त्र्य मुक्तया वितीर्णवाचेव यदृच्छयाथ वा ॥ १३ ॥

पद्मे कमले सन्न गृहं यस्याः सा तया पद्मसन्नना लक्ष्म्या अमुष्य कुरासाधोः कदाचिदपि कस्मिन्नपि समये अन्तिकं समीपं न व्यमोचि न मुक्तम् । कसेव । रथाङ्गपाणे-रिव । यथा रथाङ्गं चक्रं पाणौ हस्ते यस्य तस्य कृष्णस्य स्वभर्तृत्वेन कदाचिदपि काले पतिव्रतया श्रिया पार्श्वं न विमुच्यते नैव त्यज्यते । उत्प्रेक्ष्यते—अनेन व्यवहाराणां गुणानामौदार्यधैर्यगाम्भीर्यादीनां रश्मीनां वा व्रजेन समूहेन । 'गुणो भीमे हृषीके ज्यारज्जुशौर्यादितन्तुषु । सूदेऽप्रधाने संध्यादौ निर्दोषे रूपसत्त्वयोः ॥' इत्यनेकार्थतिलकः । नियन्त्र्य निर्बध्येव मुक्तया रक्षितया । अथ वेति पक्षान्तरे । उत्प्रेक्ष्यते—यदृच्छया तन्महेभ्यभू-रिभाग्यप्राग्भारप्रेरितस्वेच्छया वितीर्णा विश्राणिता दत्ता वाक् वागवधो यया तादृश्येव । वाचं दत्त्वा स्थितयेत्यर्थः ॥ इति कुरासाहः ॥

मनः समुत्कण्ठयतस्तनूमतां पयःप्लवं शैवलिनीपतेरिव ।

अमुष्य नाथी सुमुखी बभूवुषी कुमुद्वतीव द्विजचक्रवर्तिनः ॥ १४ ॥

अमुष्य कुरासाहस्य नाथीति नाम्ना सुमुखी प्रसन्नवदना पत्नी बभूवुषी संजाता ।

केव । कुमुद्वतीव । यथा द्विजचक्रवर्तिनश्चन्द्रस्य । 'कन्दर्पेऽनल्पदपे विकिरति
किरणञ्जश्वरीसार्वभौमः' इति नाटकग्रन्थे । यथा शर्वरीसार्वभौमस्तथा द्विज-
चक्रवर्तीति । कुमुदिनी नाम प्रिया वर्तते । अमुष्य किं कुर्वतः । तन्मतां मनश्चित्तं स-
मुत्कण्ठयतः सम्यगुत्कण्ठया स्वदर्शनात्मगुणगणाकर्णनविधावत्यौत्सुक्येन कलितं कुर्वतः ।
कमिव । पयःप्लवमिव । यथा विधुः शैवल्लिनीनां नदीनां पत्युर्भर्तुः समुद्रस्य पानीयपूरं
कण्ठात्कूलादूर्ध्वं नयति । वृद्धिमन्तं करोतीत्यर्थः । कण्ठादूर्ध्वं करोतीत्युत्कण्ठयति । 'त-
त्करोति तदाचष्टे' इति णिजिति पाणिनिः । सारस्वते तु 'जिडित्करणे' इति । 'उत्कण्ठयति
मां भक्तिरिन्दुलेखेव सागरम्' इति वाग्भट्टालंकारे ॥

चलेति विश्वे वचनीयताश्रुतेः प्रियेण वाणद्विषता तिरस्कृता ।

उदीतदुःखादिदमात्मना जनुः परं प्रपेदे किमु पद्ममन्दिरा ॥ १५ ॥

नाथी भातीति संबन्धः । किमुत्प्रेक्ष्यते—पद्ममन्दिरा लक्ष्मीरिदमात्मना एतत्स्व-
रूपेण । नाथीवपुषा इत्यर्थः । परमन्यजनुर्जन्म प्रपेदे प्रतिपन्नवतीव । कस्मात् । उ-
दीतदुःखात्प्रकटीभूतासातात् । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कित—'इति नैषधे । किंभूता । वाण-
नाम्नो दैत्यस्य द्विषता वैरिणा कृष्णेन प्रियेण भर्त्रा तिरस्कृता धिक्कृता । कस्याः । इयं
श्रीश्चलास्थिरातिचपला इत्यमुना प्रकारेण विश्वे लोके जगति वचनीयताया अर्थाल्ल-
क्ष्म्या अपवादस्य श्रुतेः श्रवणात् ॥

ततं वचो यत्र घनं पदाङ्गदध्वनिश्च काञ्चयाः सुषिरं स्वनः पुनः ।

तया बभे जङ्गमरङ्गशालया किमत्र शृङ्गारनटस्य नृत्यतः ॥ १६ ॥

तया मृगदृशा नाथीदेव्या बभे शुशुभे । अत्र जगति । नृत्यतस्ताण्डवं कुर्वतः शृङ्गा-
रनाम्नो नवरसेष्वादिभूतस्य रसस्यैव । नटस्य नर्तकस्य जङ्गमया चलन्त्या रङ्गशालया नर्त-
नमवनभुवेव । यत्र रङ्गशालायां वचः अर्थात्तस्या वचनं ततं वीणाप्रभृतिकं विस्तीर्णं च ।
च पुनर्यत्र पदाङ्गदानां नूपुराणाम् । 'नूपुरं तु तुलाकोटिः पादतः कटकाङ्गदे' इति हैम्याम् ।
ध्वनी रावः । घनं तालप्रभृतिकं बहलं चास्ति । पुनर्यत्र काञ्चया मेखलायाः स्वनः शब्दः
सुषिरं वंशादिकं किंकण्यादिजं च वर्तते । 'ततं वीणाप्रभृतिकं तालप्रभृतिकं घनम् । वंशा-
दिकं तु सुषिरम्' इति हैम्याम् ॥ इति नाथीवर्णनम् ॥

जगन्नयीजन्मजुषां मृगीदृशां विजित्य राजीर्निजजित्वरप्रिया ।

अधारि किं मूर्धनि पद्मचक्षुषा जयाङ्कवालव्यजनं कचच्छटा ॥ १७ ॥

यया पद्मचक्षुषा कमललोचनया नाथीदेव्या मूर्धनि स्वमस्तके कचच्छटा केशपाशः ।
'बालाः स्युस्तत्पराः पाशो रचना भार उच्चयः । हस्तः पक्षः कलापश्च केशभूयस्त्ववा-
चकाः ॥' इति हैम्याम् । तथा छटाशब्दः समूहवाचकश्च । 'तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा'
इति नैषधे । किमुत्प्रेक्ष्यते—जयाङ्कवालव्यजनं वैरिविजयसूचकविह्वलचामरं किं धृतमिव ।
अर्थात्स्वमस्तके । जयचिह्नं हि चामराङ्कुशादिकं मौलावेव ध्रियते । गारुडिकादीनाम-

द्यापि तथैव दर्शनात् । किं कृत्वा । विजित्य परिभूय । कया । निजस्यात्मनो जित्वर्या जयनशीलया श्रिया शोभया पुंवद्भावे ईकारलोपः । काः । राज्ञीः श्रेणीः । कासाम् । मृगीदृशो हरिणनयनानां स्त्रीणाम् । किंभूतानाम् । जगतां नागलोकस्वर्लोकभूलोकानां त्रयी त्रिकं तत्र जन्मावतारं जुषन्ते भजन्ते तादृशीनाम् । त्रिभुवनोद्भवानामित्यर्थः । एतावता सुरासुरनररमणीश्रेणीर्निजित्य जयचामरं विभर्तीत्यर्थः ॥

विधुं द्विधाकृत्य विधिव्यधत्त यल्ललाटमर्धेन शिवे न्यधात्परम् ।

न चेन्मृगाङ्गार्धधरः कथं हरः किमर्धचन्द्रोपमितं च तद्वहेत् ॥ १८ ॥

विधिविधाता विधुमर्थादीश्वरमस्तकस्थसंपूर्णचन्द्रमादाय द्विधाकृत्य द्वौ खण्डौ विधाय अर्धेन विधोस्तदेकभागेन यस्या ललाटं भालं व्यधत्त चक्रे । अत्र गर्भितोत्प्रेक्षा । कृतवा-
वानिव । पुनः परं द्वितीयमर्धं शिवे ईश्वरे न्यधात्स्थापयामास । एवं चेन्न स्यात्तदा हरः शिवो मृगाङ्गार्धधरो अर्धचन्द्रभृत् । ‘लब्धार्धचन्द्र ईशः’ इति चम्पूकथायाम् । कथं केन प्रकारेण । च पुनस्तद्भालं तस्या ललाटमर्धचन्द्रोपम(मित)मष्टमीमृगाङ्गोपमानं च कथं कया रीत्या वहेद्वरेत् ॥

मृगीदृशो हेलितकेलतीश्रियो ललाटपट्टे कुरलेन निर्वभे ।

स्मितारविन्दस्य धियेव तस्थुषा यदानने पौष्पपिपासयालिना ॥ १९ ॥

तस्या मृगीदृशो नाथीदेव्या ललाटपट्टे भालस्थले कुरलेन भ्रमरालकेन निर्वभे ब-
भासे । ‘अक्षबाजवलयेन निर्वभे’ इति रघुवंशे । किंभूताया मृगीदृशः । हेलिता अप-
गणिता केलत्याः कन्दर्पपत्न्या रत्याः श्रीः शोभा यया । ‘केलतीमदनयोरुपाश्रये’ इति
नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—स्मितस्य विकसितस्यारविन्दस्य पद्मस्य धिया बुद्ध्या यदानने नाथी-
मुखे पौष्पस्य पुष्पानामयं पौष्पो रसः यथा पुष्पोद्भवजस्तथा पुष्पोद्भवो मकरन्दोऽपि
तस्य पिपासया पातुमिच्छया तस्थुषा स्थितवता अलिना भ्रमरेण च । किं च पौष्पं मक-
रन्द इति भोजप्रबन्धादिककाव्येषु दृश्यते । तथापि सति परः पाठः—‘स्मितारविन्दस्य
धिया यदानने स्थितं रसस्येव पिपासयालिना’ । उत्प्रेक्ष्यते—स्मितारविन्दस्येव प्रोज्ज-
म्भिताम्भोजस्य धिया यदानने नाथीवदने रसस्य मकरन्दस्य । ‘रसो मधु मकरन्दो भर-
न्दश्च’ इति हैम्याम् । पिपासया पानस्याभिलाषेण स्थितमर्थादागत्य अलिना भृङ्गेण
स्थीयत इव ॥

अमूदृशाम्भोजदृशा स्म भूयते न जातुचिद्यौवतनिर्मितौ मम ।

इतीव रेखेयमिदंमुखे मर्षेर्मिषाद्भुवोर्नाभिभुवा व्यधीयत ॥ २० ॥

नाभिभुवा धात्रा इदंमुखे अस्या नाथीदेव्या वदने । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्भुवोर्भि-
षाद्भ्रान्तमर्षमेलिनाम्बुन इयं दृश्या रेखा व्यधीयत कृतेव । इति किम् । यन्मम यौवत-
निर्मितौ त्रिभुवनस्त्रीसमूहनिर्माणे अमूदृशा एतत्सदृक्ष्या अम्भोजदृशा पद्मलोचनया

स्त्रिया जातुचित्कदाचिदपि न भूयते स्म न जाता । त्रैलोक्येऽप्येवंविधा मया कापि युवती
निर्मिता नास्तीत्यर्थः ॥

स्वकामिनीकैरविणीतनूभवे विरञ्चिना लोचनतामवापिते ।

विधातुमङ्गे किमु लोलकैरवे यदास्यभावः शरदिन्दुना दधे ॥ २१ ॥

शरदिन्दुना घनात्ययसमयसंबन्धिना चन्द्रेण यदास्यभावो नाथीवदनता दधे अङ्गी-
कृता । उत्प्रेक्ष्यते—लोले चपले कैरवे कुमुदे अङ्गे उत्सङ्गे विधातुं कर्तुमिव । उत्सङ्गग्रहणे
हेतुमाह—स्वस्यात्मनः कामिन्याः प्रियायाः कैरविण्याः कुमुदस्यास्तनूभवे अङ्गजाते ।
स्वसुतयोरुत्सङ्गे करणं तु न्याय्यमेव । पुनः किंभूते कैरवे । अवापिते नीते । काम् ।
लोचनताम् । अर्थान्नाथीदेव्या नेत्रत्वम् । केन । विरञ्चिना वेधसा ॥

विभाति यद्भूयुगभासिनासिका विजित्य विश्वत्रितयं मनोभुवा ।

यदङ्गरुक्पुञ्जपयोधिसंनिधौ कृतो यशःस्तम्भ इव ध्वजाङ्कितः ॥ २२ ॥

यस्या भुवोर्बुगेन भासते दीप्यते इत्येवंशीला नासिका विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—मनो-
भुवा स्मरेण यशःस्तम्भः कृतः कीर्तिस्तम्भ आरोपित इव । किंभूतः । ध्वजाङ्कितः
पताकाकलितः । कस्मिन्नरोपितः । यस्या नाथीदेव्या अङ्गं शरीरं तस्य रुचां का-
न्तीनां पुञ्जः समूहः स एव पयोधिरतिबहुलत्वात्समुद्रस्तस्य संनिधौ पार्श्वे । किं कृत्वा ।
विश्वानां स्वर्भूमीपाताललक्षणानां जगतां त्रयं विजित्य निजौजसा स्वाज्ञावशंवदं विधाय ।
अपरोऽपि विजयी राजा जगन्निवा समुद्रतटे कीर्तिस्तम्भानारोपयतीति स्थितिः ॥

विडम्बिताखण्डमृगाङ्गमण्डले कपोलपाली स्फुरतस्तदानने ।

मणीमये दर्पणिके यदोकसोरिमे रतिप्रीतिमृगीदृशोरिव ॥ २३ ॥

तस्या देव्या आनने मुखे विडम्बितं निजश्रिया पराभवनं विडम्बनां प्रापितमनुकृतं
वा अखण्डं संपूर्णं मृगाङ्गस्य चन्द्रमसो मण्डलं विम्बं याभ्यां तादृशे कपोलपाली गण्डस्थले
स्फुरतो लसतः । उत्प्रेक्ष्यते—यदोकसोर्या नाथी एवौको गृहं ययोस्तादृशो रतिप्रीत्येव
मृगीदृशोः कामस्य कान्तयोः । एतावता यां नाथीं निभात्य(व्य) रतिश्चित्तनिर्वृतिः, प्रीतिः
स्नेहः प्रमोदश्च, संपद्यत इत्यर्थः । इमे दृग्लक्ष्ये मणीमये रत्नरचिते दर्पणिके आदर्शिके
इव । 'यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम्' इति नैषधे ॥

किमिच्छता पाशयितुं जगत्रयीयुवत्रजान्वागुरिकेन(ण) रङ्गवत् ।

स्मरेण यादःपतिपाशजित्वरी दधे द्विपाशी सुदृशः श्रुतिद्वयी ॥ २४ ॥

सुदृशो नाथीदेव्याः श्रुतिद्वयी श्रवणयुगली । भातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरेण
मदनेन द्वयोः पाशयोः समाहारो द्विपाशी बन्धनग्रन्थी किं दधे श्रुतेव । अन्योऽप्यर्थो
या—स्मरेण किं द्विपाशी बन्धनग्रन्थिद्वितयी किं दधे । सा का । सुदृशो नाथी-
व्याः श्रुतिद्वयी । 'ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यं शतमध्यासत तत्सखीजनः' इति नैषधे । ध्रु-

वमुत्प्रेक्ष्यते—अप्सरसोऽवतीर्य यां कुण्डिनपुरीमध्यासत । कः । तत्सखीजनः—इति तद्वृत्तिः । स्मरेण किं कुर्वता । इच्छता वाञ्छता । किं कर्तुम् । पाशयितुं पाशे पतितान् पाशेन बद्धान् वा कर्तुम् । कान् । जगत्रयीयुवत्रजान् त्रिभुवनतरुणगणान् । किंवत् । रङ्गवत् । यथा वागुरिकेण जालिकेन रङ्गन् जातिविशेषमृगान् । ‘मृगभेदा रुरुन्यङ्कुरङ्कुगोर्कर्ण-शम्बराः’ इति हैम्याम् । पाशयितुं काङ्क्षता पाशो ध्रियते । किंभूता द्विपाशी । यादःपते-र्वरुणस्य पाशस्य जिह्वरी जयनशीला ॥

वियोगवत्यौषधियोषया यदाननीभवत्कान्तसितद्युतिं प्रति ।

स्थितस्तदङ्गे प्रहितस्तनूजवत्प्रवाल आह्वातुमिवाधरोपधेः ॥ २९ ॥

वियोगो विरहो वीनां शृङ्गप्रमुखखगानां योगः संबन्धो यस्यास्तादृश्या, औषधिरेव योषा स्त्री तथा । यदाननीभवन्तं नार्थीवृक्षसंपद्यमानं कान्तं स्वभर्तारं सितद्युतिं चन्द्रं प्रति आह्वातुमाकारयितुं प्रहितः प्रेषितस्तनूजवत् पुत्रवत् । प्रवालः प्रकृष्टो दक्षः । श्लेपे बवयोरैक्यात् बालः शिशुः, पल्लवश्च । उत्प्रेक्ष्यते—अधरोपधरोष्ठकपटात् तदन्तिके चन्द्रोत्सङ्गे स्थित इव । बालः सुतः पितुरुत्सङ्गे तिष्ठतीति स्थितिरेव ॥

निपातुकेन द्विजकान्तिमिश्रितसितेन यस्या रदनच्छदे बभौ ।

जलेन वातूलतरङ्गितात्मना सुधापयोधेरिव हेमकन्दले ॥ २६ ॥

यस्या रदनच्छदेऽधरो निपातुकेन निपतनशीलेन द्विजानां दन्तानां कान्त्या मिश्रितेन खचितेन स्मितनेषद्वसितेन । ‘ताम्रोष्ठपर्यस्त रुचः स्मितस्य’ इति रघौ । बभौ शुभमे । केनेव । जलेनेव । यथा सुधापयोधेः क्षीरार्णवस्य पयसा हेमकन्दले विद्रुमे दीप्यते । किंभूतेन । वातूलेन वातव्रजेन तरङ्गितः कल्लोलयुक्तीभूत आत्मा स्वरूपं यस्य ॥

स्वकान्तवक्रामृतकान्तिदर्शनाद्भृदन्तरुद्वेलितरागसागरात् ।

निरित्वरी विद्रुमकन्दली च यद्विलासवत्या दशनच्छदो बभौ ॥ २७ ॥

यस्याः । ‘विलासो हावे लीलायाम्’ इत्यनेकार्थः । तत्र ‘हावः शृङ्गारभावात्सौ रम्योक्त-स्मितवीक्षितम् । प्रियस्यानुकृतिर्लीला क्षिप्रवाग्वेषचेष्टितैः ॥’ इति तद्वचूरिः । स विद्यते यस्याः सा तस्या विलासवत्या दशनच्छदोऽधरो बभौ भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्या-त्मनः कान्तस्य भर्तुः कुंरासाधोर्वक्रामृतकान्तेर्मुखेन्दोर्दर्शनादवलोकनात् हृदन्तर्मनोमध्ये उद्वेलितद्विलामतिक्रान्त उद्वेल उद्वेलत्वं संजातमस्मिन्निति भावप्रधानो निर्देशः । तस्मादुत्क-ष्ठितात् कण्ठादूर्ध्वमागतात् रागसारात् निरित्वरी निर्गमनशीला विद्रुमकन्दली प्रवा-लाङ्कुर इव । कन्दलशब्दत्रिलिङ्गः ॥

द्विजाधिपत्यं मुख एव मुरुयतो मृगीदृशोऽस्या न कुमुद्वतीपतौ ।

द्विजैरमीभिर्यदसौ दिवानिशं निषेवणाया विषयं स नीयते ॥ २८ ॥

अस्या मृगीदृशः सारङ्गलोचनाया मुखे वदने एव मुख्यतः प्राधान्याद् द्विजानामाधि-
पत्यमैश्वर्यमास्ते । परं कुमुद्वतीपतौ कुमुदिनीवल्लभे चन्द्रे न, यद्यस्मात्कारणात् असौ
मुख एव । मुखशब्दः पुनर्पुंसके । दिवानिशम् अहोरात्रम् अमीभिश्चक्षुर्लक्ष्यैर्द्विजैर्दन्तैर्नि-
षेवणायाः सेवायाः विषयं गोचरं नीयते स्म प्रापितः । चन्द्रस्य तु नक्षत्रताराग्रहा यथा
प्रत्यक्षा दृश्यन्ते, तथा न द्विजा इति ॥

यदाननान्तर्वसतेः सुधारसादिवोद्धतः पाटल एष कन्दलः ।

विलासदोलेव निखेलितुं गिरोऽथ वा मृगाक्षीरसना स्म शोभते ॥२९॥

मृगाक्ष्या नाथीदेव्या रसना जिह्वा शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यस्या आननं मुखं त-
स्यान्तर्मध्ये वसतिर्वासो यस्य तादृशात् सुधारसादमृतनिस्यन्दादुद्धतः प्ररूढः प्रकटीभूतो
वा पाटलो रक्त एष जिह्वालक्षणः कन्दलो नवाङ्कुर इव । अथ वा पक्षान्तरे यद्वदनमध्य-
सौधाया गिरो वाग्देवताया निखेलितुमान्दोलितुं दोलान्दोलनलीनां निर्मातुं विलासदो-
लेव क्रीडाप्रेक्षेव ॥

यदीयवाचं विधिना विधित्सुना सुधामुपात्तामधिगम्य निस्तुपाम् ।

सुधाशना अध्वरभोजिनस्तदादितो बभूवुस्तदभावतः किमु ॥ ३० ॥

सुधाशनाः पीयूषभोजना देवास्तदादितस्तदिवसप्रारम्भात् । यस्मिन्नहनि सुधा निष्ठिता
तद्दिनमादौ कृत्वेत्यर्थः । किमुप्रेक्ष्यते—तस्याः सुधाया अभावात्क्षयादध्वरमर्थाद्यज्ञांशं
भुजन्तीत्येवंशीला अध्वरभोजिनो यज्ञाहारा बभूवुः संजाता इव । किं कृत्वा । अधिगम्य
ज्ञात्वा । काम् । सुधाम् । किंभूतां सुधाम् । उपात्तां गृहीताम् । पुनः किंभूताम् ।
निर्गतस्तुषो अवशिष्टो बुशमात्रो यस्यां सा । ‘तुषो बुशे’ इति हैम्याम् । केन । विधिना
सृष्टिकर्त्रा । विधिना किं चिक्रीर्णुणा । विधित्सुना कर्तुं काङ्क्षता । काम् । यदीयां ना-
थीसंबन्धिनीं वाचं वाणीम् । नाथीवचनचातुरीमित्यर्थः ॥

कुशेशयादर्शसुधांशुजित्वरं विधाय वेधाः इदमीयमाननम् ।

इदं दृशा मा कुदृशां प्रदुष्यतादितीव चक्रे चिबुकेन दन्तुरम् ॥३१॥

वेधा विधाता अस्या इदम् इदमीयमाननं वदनं विधाय निर्माय । उत्प्रेक्ष्यते—इति
हेतोः चिबुकेन असिकाधःप्रदेशेन कृत्वा । ‘दन्तवत्त्वं च तत्प्रान्तौ स्रक्णी असिकं त्वधः ।
असिकाधस्तु चिबुकम्’ इति हैम्याम् । दन्तुरं विषमोन्नतं चक्रे कृतवानिव । किंभूतमान-
नम् । कुशेशयानि पद्मानि, आदर्शा दर्पणाः, सुधांशवश्चन्द्राः, तेषां जित्वरं जयनशीलम् ।
यथा द्वादशसूर्यास्तथा चन्द्रा अपि बहवः सन्ति । ‘स्फुरदम्भःसरोदम्भात्सैहिकेयमया-
दिव । राकामृगाङ्गाः संभूय विभान्ति शरणागताः ॥’ इति राघवपाण्डवीयचरित्रे । तथा—
‘विधोविधिर्विम्बशतानि लोपं लोपं कुडूरात्रिषु मासि मासि । अभङ्गुरश्रीकामिमं किमस्या मु-
खेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥’ इति नैषधे । तत्र चन्द्राणां बहुत्वोक्तेर्न दोषः । इति किम् ।
यदिदमाननं कुदृशां दुष्टानां दृशा दृग्दोषेण मा दुष्यताद्विकृतिं मा गच्छतादिति हेतुः ॥

विजित्य कान्त्या जगृहे कुधा यदाननेन लक्ष्मीः क्षणदापतेस्तथा ।

हृदस्फुटच्चेन्न कुतस्ततः सुधा निरित्वरी क्षुद्रतदङ्करन्ध्रतः ॥ ३२ ॥

यदाननेन नाथीमुखेन कान्त्या स्वशोभया । ‘आभा राढाविभूषा श्रीरभिख्याकान्ति-
विभ्रमाः’ इति हैम्याम् । तथा—‘कान्तिः शोभाकामनयोः’ इत्यनेकार्थः । कामना इच्छा ।
‘प्रभायां काव्यगुणे च कान्तिः’ इति तदवचूरिः । विजित्य क्षणदापतेर्निशापतेश्चन्द्रस्य
तथा तेन प्रकारेण कुधा स्वस्पर्धिभावोद्भूतकोपेन लक्ष्मीर्जगृहे आदत्ता । तथा कथम् ।
यथा येन स्ववैभवादानाविर्भूताद्वैतदुःखातिरेकेण तस्य चन्द्रस्य हृत् हृदयमस्फुटत् स्फु-
टितम् इति चेन्न भवेत्तदा कुतः कारणात् क्षुद्रो लघुर्यस्तस्य चन्द्रस्याङ्कः कलङ्कः स एव
रन्ध्रं छिद्रं ततस्तस्मात्ततश्चन्द्रात्सुधा निरित्वरी निर्गमनशीला स्यात् ॥

समं यदास्येन मृधे महौजसा निरोजसाभाजि किमेणलक्ष्मणा ।

यतोऽमुनाद्यापि तदङ्गबोधिका व्यमोचि नाभ्रभ्रमणी कदाचन ॥ ३३ ॥

महौजसा महाकान्तिना महाबलेन वा महाप्रतापेन वा । ‘ओजो दीप्तिप्रकाशयोः ।
अवष्टम्भे बले धातुतेजसोः’ इत्यनेकार्थः । ‘प्राणः स्यामतरः पराक्रमबलद्युन्नानि शौया-
जसी’ इति हैम्याम् । ओजःशब्देन प्रतापोऽप्युच्यते । यथा नैषधे—‘तदोजसस्तद्यशसः
स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा । तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः
कुण्डलनां विधोरपि ॥’ इति । यदास्येन नाथीमुखेन समं सार्धं मृधे संप्राप्ते निरोजसा
निर्बलेन एणलक्ष्मणा मृगलाञ्छनेन चन्द्रेण अभाजि भग्नम् । पलायितमित्यर्थः । यतो यस्मा-
त्कारणात् अमुना विधुना तस्य भङ्गस्य अङ्गश्चिद्रं तस्य बोधिका ज्ञापयित्री कथयित्री वा ।
‘निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिका’ इति नैषधे । कदाचनापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे । अथयाव-
दित्यर्थः । अभ्रे आकाशे भ्रमणी पर्यटनम् । ‘विधेः कदाचिद्भ्रमणी विलासे’ इति नैषधे ।
नभसि भ्रान्तिर्न व्यमोचि न मुक्ता । नेत्यव्ययं निषेधे ॥

त्रिनेत्रनेत्रानलभसितात्मभूप्रभोर्जगन्निर्जयवादनोचितः ।

जगत्कृतादाय यदङ्गनिर्मितौ किमेष कम्बुर्गलकन्दलीकृतः ॥ ३४ ॥

जगत्कृता विश्वविधायिना धात्रा यदङ्गनिर्मितौ नाथीदेहनिर्माणे । किमुत्प्रेक्ष्यते—एष
प्रत्यक्षः कम्बुः शङ्को गलकन्दलीकृतः कण्ठपीठतां प्रापित इव । किं कृत्वा । आदाय
गृहीत्वा अर्थात् कम्बुम् । कस्य । त्रिनेत्रः शिवस्तस्य नेत्रं तृतीयलोचनं तस्यानलेन
कोपवाहिनो भस्मितस्य ज्वालितस्य आत्मभूप्रभोः स्मरराजस्य । ‘आत्मभूः स्मरवेद्यतोः’
इत्यनेकार्थः । किंभूतं कम्बुम् । जगतां सुरासुरनराणां निर्जये वादनस्योचितो योग्यः ॥

अनन्यलावण्यतरङ्गचङ्कतां नितम्बलीलापुलिनं च विभ्रती ।

धुनीव रोधोविहसन्मृणालिकां भुजाद्वयीं या विभरांबभूवुषी ॥ ३५ ॥

या नाथी भुजाद्वयीं बाहुयुगलीम् । ‘अस्तं यान्ति समस्तबाहुजभुजातेजःसहस्रांशवः’

इति नैषधे । विभरां वभ्रुवुषी विभर्ति स्म । केव । धुनीव । यथा सरित् रोधसि तटे विहसन्तीमुन्मिषन्तीं मृणालिकां विसलतां धत्ते । या किं कुर्वती । अनन्यस्यासाधारणस्य लावण्यस्य रूपातिशयस्य तरङ्गाणां चङ्कतां चारुताम् । 'राजते जिनवचनपद्मतिरुक्तिचङ्गिममालिनी' इति पद्मसुन्दरकविकृतसंस्कृते चङ्गशब्देन मनोज्ञः । पुनः किं कुर्वती । नितम्ब आरोहः स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागः । 'नितम्ब आरोहौ स्त्रीकट्याः पश्चाजघनमभ्रतः' इति हैम्याम् । स एव लीलाकारि विलासविधायकमर्थान्मध्यपदलोपाद्वा पुलिनं तटं विभ्रती धारयन्ती ॥

सकुङ्कुमैतद्वदनेन निर्जितं जिगीषया तच्छलदर्शनोत्सुकम् ।

किमागतं कोकनदं तदन्तिके चकास्ति तस्या नवपाणिपल्लवः ॥ ३६ ॥

तस्या नाथीदेव्या नवनं नवः स्तुतिः । 'णु स्तुतौ' । सलक्षणतया दातृतया वा स्तुति-युक्तो यः पाणिपल्लवः करकिसलयं स चकास्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—कोकनदं रक्तोत्पलं तस्य मुखस्य समीपे पार्श्वे आगतं समेतमिव । किंभूतम् । सह कुङ्कुमेन घुष्ठणेन वर्तते तादृशः । रक्तीभूतेनेत्यर्थः । एतस्याः कुराकान्ताया वदनेन मुखेन निर्जितं पराभूतम् । 'अयमुदयति घुष्ठगारुणतरुणीवदनोपमश्चन्द्रः' इति विदग्धमुखमण्डनकाव्ये । तथा—'स्पर्धामिलत्कुङ्कुमरोषभाता' इति नैषधेऽपि । अत एव । पुनः किंभूतम् । तस्य मुखस्य च्छलयः स्खलितस्य दर्शने अवलोकने उत्सुकमुत्सुकीभूतम् । कथा । जिगीषया अर्थान्त्वशत्रोस्तन्मुखस्यैव जेतुमिच्छया । प्रतिपक्षो हि छले प्राते परिभूयते ॥

पृथक्पृथक्पञ्चमुखद्विषन्मुखान्निहन्तुकामेन रुषा मनोभुवा ।

शराश्रये यत्करनास्त्रि कल्पिता अमी शराः पञ्च किमङ्गुलीमयाः ॥ ३७ ॥

मनोभुवा चेतोजन्मना स्मरेण यस्या हीरजनन्याः करः पाणिरेव नाम यस्य तादृशे तस्मिन्वा शराश्रये तूष्णीरे । किमुत्प्रेक्ष्यते—अङ्गुलीमयाः करशाखारूपाः पञ्च कल्पद्रुमसंख्याकाः अमी जनदृग्गोचराः कल्पिता रचिता इव । स्मरेण किं कर्तुकामेन । रुषा स्वव्यापादनापादनोदितद्वेषाकोपेन पञ्चमुखः शंभुरेव द्विषन् वैरी तस्य मुखान् पञ्चसंख्याकानि वक्त्राणि । मुखशब्दः पुंनपुंसके । पृथक् पृथक् भिन्नानि भिन्नानि कृत्वा निहन्तुकामेन छेतुमिच्छता । एतावता पञ्च शिरांसि छेतुमित्यर्थः । मुखशब्देन शिरःसमेतमेव । यथा दशमुखस्य । 'हरिहरि हरिणीदृशो निमित्तं दश दशकंधरमौलयो छुठन्ति' इति खण्डप्रशस्तौ । यथा तत्र दश मौलयस्तथात्रापि पञ्चापि मस्तकानि इति ॥

यदीयपृष्ठे कनकत्विषि स्मितप्रसूनशून्येतरकुन्तलच्छटा ।

शिलातले स्वर्गिगिरेरिव ग्रहाङ्किताभ्रवीथी प्रतिबिम्बिता व्यभात् ॥ ३८ ॥

कनकत्विषि काञ्चनकान्तिनि यस्या इदं यदीयं नाथीसंबन्धि तच्च तत्पृष्ठं च तनोश्चरमः प्रदेशः । 'पृष्ठं तु चरमं तनोः' इति हैम्याम् । तत्र स्मितैर्विकसितैः प्रसूनैः पुष्पैः

शून्येतरा निर्भरभृता कुन्तलच्छटा केशश्रेणिर्व्यभाद्रभासे । केव । अभ्रवीथीव ।
 यथा स्वर्गिगिरिर्मैरोः काञ्चनेन स्वर्णत्वेन त्विषते दीप्यते इति काञ्चनत्वित्
 तस्मिन् तादृशे शिलातले प्रतिबिम्बिता । 'तत्कम्बुप्रतिबिम्बितं किमु शरत्पर्जन्यराजि-
 श्रियः' इति नैषधे । अभ्रवीथी गमनपद्धतिर्बिभाति । 'वीथी वर्त्मनि पङ्क्तौ च गृहाङ्गे ना-
 ध्यरूपके' इत्यनेकार्थः । किंभूता अभ्रवीथी । ग्रहैरुपलक्षणाचक्षत्रताराग्रहैः अङ्किताः
 सहिताः ॥

परां नवाप्यान्निजवासपत्तनान्मनोभिधानान्मदनावनीभुजः ।

जगद्विजेतुं चलितस्य हृत्सुमस्रजा पुरो वन्दनमालिकायितम् ॥ ३९ ॥

यस्या नाथीदेव्या हृत् हृदयं तत्र वक्षसि सुमस्रजा पुष्पमालया मदनावनीभुजः स्मर-
 राजस्य पुरोऽग्रे पुरस्ताद्गन्दनमालिकायितं मङ्गल्यदामवदाचरितम् । मङ्गलाय जातमि-
 त्यर्थः । किंभूतस्य मदनस्य । चलितस्य प्रस्थितस्य । कुतः । परैरन्यराजन्यजनैरवापुं
 योग्यमवाप्यं न अवाप्यमनवाप्यं तस्मात्प्राप्तुमशक्यात् मनोभिधानादर्थत्वात् नाथीचित्त-
 नान्नः निजस्यात्मीयस्य पत्तनादधिष्ठाननगरात् । राजधान्या इत्यर्थः । एतावता स्वभर्तारं
 विना परेण केनापि पुंसा तन्मनः सर्वथापि ग्रहीतुमशक्यम् । एतेन विशेषणेन तस्याः स-
 तीत्वमसूचि । चलितस्य किं कर्तुम् । विजेतुं स्ववशीकर्तुम् । किम् । जगत् विभुवनम् ॥

यदीयहृत्केलिनिकेतखेलिनं शृषाङ्कमाकारयितुं सुहृत्तया ।

सितांशुनेव प्रहितोडुमण्डली विभाति यद्वक्षसि मौक्तिकावली ॥ ४० ॥

यस्या वक्षसि हृदये मौक्तिकावली हारलता हारमौक्तिकपङ्क्तिर्विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—
 सितांशुना चन्द्रेण सुहृत्तया स्वमित्रत्वेन शृषाङ्कं मच्छलाञ्छनं काममाकारयितुं स्वपार्श्वे
 आह्वातुं प्रहिता प्रेषितोडुमण्डली तारकश्रेणिरिव । किंभूतं शृषाङ्कम् । यदीयं नाथीसं-
 बन्धि हृन्मन एव केलिनिकेतं क्रीडाग्रहं तत्र खेलतीत्येवंशीलम् । 'भीमं कृत्वाङ्कखे-
 लिनम्' इति पाण्डवचरित्रे ॥

रथाङ्गलीलां दधतौ प्रभाम्भसि स्तनौ तदीयौ स्फुरतः सचूचुकौ ।

मरन्दलुभ्यद्भ्रमरानुपङ्गिनौ(णौ) सुवर्णपङ्केरुहकुञ्जलाविव ॥ ४१ ॥

प्रभाम्भसि यत्कावकान्तिनीरपूरे रथाङ्गयोश्चक्रवाकयोर्लीलां शोभां दधतौ धारयन्तौ
 तस्या इमौ तदीयौ नाथीसंबन्धिनौ कुचौ स्फुरतः । किंभूतौ । सह चुचुकाभ्यां स्तनवृ-
 न्ताभ्यां वर्तते यौ । उत्प्रेक्ष्यते—सुवर्णपङ्केरुहयोः कनककमलयोः कुड्मलौ कोशाविव । कु-
 ञ्जलौ पुङ्खीषलिङ्गे । किंभूतौ । मरन्देषु मधुषु लुभ्यतां लोलुपीभवतां भ्रमराणामनुषङ्गः
 सङ्गो ययोः । उपरिभ्रमरपरीरम्भितावित्यर्थः ॥

तनूलागाधतरङ्गितप्रभाप्रतानपाथोधिपयस्तितीर्षया ।

हरिन्मणीसेतुरिवात्मजन्मना व्यधायि रोमावलिरेणचक्षुषः ॥ ४२ ॥

यस्या एणचक्षुषो मृगेषणाया रोमावलिलोमलेखा । इवोत्प्रेक्ष्यते—आत्मजन्मना स्मरेण हरिन्मणीनां मरकतरत्नानाम् । नीलरत्नघटित इत्यर्थः । सेतुः पथेव व्यधायि निष्पादितः । कया । तनूलता नाथीकाययष्टिः तस्या अगाधमतिशायि अलब्धमध्यं तथा तरङ्गितं कल्लोलितं यत् प्रमाणां कान्तीनां प्रतानं वृन्दः स एव पाथोधिः समुद्रः तस्य पानीयानां तितीर्षया तरीतुमिच्छया । अथ वा 'रिरंसया' इति पाठे तु समुद्रजले सहावरोधेन खेलितुमिच्छया । श्रूयते हि 'स्तम्भतीर्थे खासमोहल इति नाम्नः स्वमन्दिराजलधिजले खेलनार्थं केनापि पातिसाहिना सेतुः कारितोऽभूत्तदाकृतिरधुनापि किञ्चित् दृश्यते श्रूयते च' इति । अत्रोत्प्रेक्षार्थे स्मरेण, वास्तवार्थे त्वात्मजन्मना धात्रा । 'मनःशृङ्गारसंकल्पात्मनो योनिः' इति स्मराभिधानम् । तथा 'नाभिपद्मात्मभूरपि' इति धातुरभिधा । इदं द्वयमपि हैम्याम् ॥

द्रवीभवद्भूरिसिताभ्रचन्दनप्रगल्भवालहीककुरङ्गनाभिभिः ।

विलिप्य काचित्कुतुकात्पृथग्बलीः कदाचिदेतामिदमूचुषी सखी ॥ ४३ ॥

काचित्सखी कदाचित्प्रसाधनसमये एतां नाथीदेवीमिदमग्रे वक्ष्यमाणमूचुषी कथितवती । किं कृत्वा । कुतुकात्कौतूहलाद्वलीरुदरवर्तिमांससंकोचलक्षणा रेखा विलिप्य लिप्त्वा । काभिः । द्रवीभवन्त्यः सपङ्कजलभावं भजन्त्यो याः भूरिः प्रचुरः, सिताभ्रः कर्पूरो यत्र तादृक्चन्दनं श्रीखण्डम्, तथा प्रगल्भं मनोज्ञं वालहीकं कुङ्कुमम्, तथा कुरङ्गनाभिः कस्तूरिका, ताभिः । कथम् । पृथक् एकां वलीं चन्दनेन, द्वितीयां वलीं कुङ्कुमेन, तृतीयां वलिं कस्तूरिकयेत्यर्थः । इदं किमुवाच तदेवोच्यते ॥

त्वया स्वकीर्या सुमनस्तरङ्गिणी वचोविलासेन पुनः सरस्वती ।

यमस्वसा कुन्तलभङ्गिभिर्जिता भजन्त्युपेत्य त्रिवलीललादिव ॥ ४४ ॥

हे सखि, त्वया भवत्या स्वकीर्या अद्वैतपतिव्रताव्रतोद्भूतात्मयशसा सुमनस्तरङ्गिणी सुरसरिर्द्रवा । पुनर्वचोविलासेन वचनचातुर्येण सरस्वती ब्रह्मपुत्री । पुनः कुन्तलानां केशानां भङ्गिभी रचनाभिर्यमस्वसायमुना तिस्रोऽपि नद्यो जिताः सन्त्य उपेत्य पार्श्वे आगत्य त्रिवलिच्छलादुदरस्थवलित्रिकपटाद्भजन्तीव सेवन्ते इव । इत्यनयासाधारणयोत्प्रेक्षया तत्तनूलतायां त्रिवेणीसंगमोऽपि सूचितस्तेन च सा तीर्थभूतापि प्रतिपादिता । तीर्थं च महापुरुषागमनं संभवत्येव । तेन महापुरुषस्य हीरविजयसूररत्रावतरणं युक्तमेवेति ॥ युगम् ॥

निरीक्ष्य लक्ष्मीं निजभर्तृमातरं स्थितां सदाध्यास्य विजृम्भि पङ्कजम् ।

इवानुकर्तुं रतिरात्मनापि तां यदीयनाभीनलिने निषेदुषी ॥ ४५ ॥

रतिः कन्दर्पपत्नी यदीयनाभीनलिने नाभीतुन्दकूपिकाकमले । 'नाभिः स्यात्तुन्दकूपिका' इति हैम्याम् । 'नाभीविलेपात्पुनरुक्तयन्तीम्' इति नैषधे । निषेदुषी स्थितवती । इवोत्प्रेक्ष्यते—आत्मना स्वेन स्वयमपि लक्ष्मीमनुकर्तुं कमलायाः सदृशीं भवितुमिव ।

किं कृत्वा । निरीक्ष्य दृष्ट्वा । अर्थात् काम् । तां लक्ष्मीम् । किंभूताम् । निजस्या-
त्मनो भर्तुः कन्दर्पस्य मातरं जननीं स्वश्वश्रूम् । पुनः किंभूताम् । स्थितां वसन्तीम् ।
किं कृत्वा । विजृम्भि पङ्कजं स्मेरारविन्दं सदा नित्यमध्यास्य आश्रित्य ॥

अगण्यलावण्यतरङ्गचङ्किमानुषङ्गिशोचिः सुरसिन्धुसंनिधौ ।

निखेलितुं किं पुलिनं सराभ्रमूप्रियस्य यस्या जघनं विधिर्व्यधात् ॥ ४६ ॥

विधिर्वद्वा यस्या जघनं स्त्रीकट्या अग्रेतनप्रदेशः । 'पेडू' इति जने प्रसिद्धम् । तद्वय-
धात् चकार । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्मरः काम एवाभ्रमूप्रिय ऐरावणस्तस्य । अभ्रमूशब्दो दी-
र्घोकारान्तः । तस्य शास्त्रोक्तानि प्रागुक्तानि सन्ति । खेलितुं क्रीडितुं पुलिनं जलोज्झितं
तटमिव । कुत्र । अगण्यं प्रमातुमशक्यमेतावत्तया सम्यङ्निश्चेतुमशक्यं वा यद्वावण्यं य-
द्यपि 'सद्रमनसन्निरीक्षणसज्जल्पनमिति वदन्ति लावण्यम् । स्पृहणीयो रतिसुभगः स्पर्श-
गुणो भवति सौभाग्यम् ॥' एवं प्रतिपादितमस्ति, तथाप्यत्र तु कोऽप्यद्वैतरूपातिशय
एव लावण्यमुच्यते न प्राक्तनः । वपुः सुभगता । तस्य तरङ्गाणां लहरीणाम् । 'रूपचतुर-
पणविभवघणयौवनलहरा इं जाइ । एणइ अवसरि रंढापणुं पणिपणि षडकइ माइ ॥' इति
दोधकेऽप्युक्तम् । चङ्किन्नश्चाश्वस्यानुषङ्गोऽस्त्यस्य चङ्किन्नस्तु प्रागुक्तम् । अत्रेमन्प्रत्ययः ।
तादृक् । शोचिरेव कान्तिरूपा सुरसिन्धुर्गङ्गा तस्याः संनिधौ पार्श्वे ॥

अजय्यवीर्यं मृडमन्यहेतिभिर्विजित्वरीभिर्जगतोऽपि जानता ।

स्मरेण धात्रा किमु कार्यते स्म यन्नितम्बचक्रं युवयोगिधैर्यजित् ॥ ४७ ॥

स्मरेण कामेन कर्त्रा धात्रा विश्वसृष्टिकृता पार्श्वे । किमुत्प्रेक्ष्यते—यस्या नितम्बः कटी-
पश्चाद्भाग आरोहः एव चक्रं कार्यते स्म । कारितम् । स्मरेण किं कुर्वता । जानता अ-
वधारयता । किं कर्मतापन्नम् । मृडमीश्वरम् । किलक्षणम् । अजय्यं जेतुमशक्यं वीर्यं
विक्रमो यस्य तम् । कामिभिः । अन्याभिरपराभिर्हेतिभिर्धनुर्बाणकृपाणकुन्तशक्तिप्रमुख-
प्रहरणैः । किंभूताभिः । जगतः समस्तस्य विश्वजनस्य विजित्वरीभिर्जयनशीलाभिः ।
तर्हि चक्रेणापि किं भावि । अत एव किं चक्रं युवानो यावन्नजगत्तरुणा योगिनः समाधि-
भाजः तेषां धैर्यं सत्वमतिशयवद्वीर्यमवष्टम्भं जयतीति । शंभुरपि योगी । अतस्तद्वैर्यवि-
श्वसकारकं चक्रं कारितमिति ॥

करीन्द्रहस्तात्कदलीप्रकाण्डतो निरस्य कार्कश्यमसारतां पुनः ।

इमौ किमादाय परस्पररोपमं यदूरुयुगं विधिना विनिर्ममे ॥ ४८ ॥

विधिना विधात्रा यस्या ऊरुयुगं विनिर्ममे कृतम् । किंभूतम् । परस्परमन्योन्यमे-
वोपमा सादृश्यं यस्य तत् । किमुत्प्रेक्ष्यते—इमौ करीन्द्रहस्तकदलीप्रकाण्डौ आदाय गृही-
त्वा किमु चक्रे । किं कृत्वा । निरस्य अपाकृत्य कर्षयित्वा । किम् । कार्कश्यं कठि-
नताम् । कस्मात् । करीन्द्रः प्रधानहस्ती भद्रजातीयगन्धसिन्धुरस्तस्य हस्तः शुण्डादण्ड-

स्तस्मात् । पुनः किं कृत्वा । निरस्य अपास्य । काम् । असारताम् । कुतः । कदली-
प्रकाण्डतः रम्भाद्रुमस्य मूलशाखावधिप्रदेशस्यान्तरालभागात् ॥

यदूरुजङ्घायुगयोर्विवृतसतोः परस्परद्वैतविरोधिताजुषोः ।

द्विराजताया भयतस्तदन्तरानिवासिजानू किमलक्ष्यतां गतो ॥ ४९ ॥

यस्या ऊरुजङ्घायुगयोरन्तराले मध्ये निवासिनौ नितरां वसनशीलौ जानू ऊरुपर्वणां
अलक्ष्यतामदृश्यभावं गतौ प्राप्तौ । किं कर्तुमिच्छतोः । विवृतसतोः वधितुमिच्छतोः ।
किंभूतयोर्यदूरुयुगयोः—परस्परमन्योन्यं या अद्वैतता असाधारणत्वं तथा विरोधितावै-
रिभावः । ऊरु जङ्घे आक्रम्य तदुपरिस्थिते । इदमेव परमविद्वेपितामूलम् । तां जुषेते
सेवेते । किमुत्प्रेक्ष्यते—द्वौ राजानौ यत्र तद्विराजं द्विराजस्य भावो द्विराजता द्विराज्यस्य
भयतो भयात् किमदृश्यतां याताविव ॥

रतीशगेहेऽजनि यत्र जङ्घयोर्गृहाश्रयस्थूणिकयोरिव द्वयम् ।

यदीयगुल्फावपि गुप्ततां गताविवाङ्मिशोचिः सलिले निमज्जनात् ॥ ५० ॥

यत्र देहे जङ्घयोर्द्वयमजनि । उत्प्रेक्ष्यते—रतीशस्य स्मरस्य गेहे मन्दिरे गृहाश्रययोः
सौधाधारभूतयोः स्थूणिकयोः स्तम्भयोर्द्वयमिव । अपि पुनर्यदीयगुल्फौ नाथीचरणग्रन्थौ
गुप्ततां प्रच्छन्नतां प्राप्तौ । स्त्रीणां गुल्फावदृश्यावेव वर्ण्येते । यथा नैषधे—‘अरुन्धती का-
मपुरन्ध्रलक्ष्मीजम्भद्विषदारनवाम्बिकानाम् । चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयासा
यददृश्यसिद्धिः ॥’ एतद्वृत्तिः—‘वसिष्ठपत्नी च, रतिश्च, लक्ष्मीश्च, जम्भद्विषद्वाराः शची
सा च, नवाम्बिकानवदुर्गास्ताश्च, एतासामियं भैमी चतुर्दशी चतुर्दशसंख्यापूरिकापि
चतुर्दशी तिथिश्च तत्तुल्येत्यर्थः । तदिहास्यां भैम्यामुचितैव यतो हेतोरदृश्यसिद्धिरदृश्यत-
यावस्थानम् अन्तर्धानविधिविद्या गुल्फद्वयेनासा । अरुन्धत्यादिसंनिधाने अदृश्यसिद्धि-
युक्तैव । चतुर्दशीतिथौ चादृश्यसिद्धिर्जायते इत्यागमशास्त्रसंप्रदायः । गुल्फयोश्चानभिव्य-
क्तत्वं सुलक्षणम्’ इति । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—अङ्गयोश्चरणयोः शोचिः कान्तिरेव सलिलं पा-
नार्थं तस्मिन्निमज्जनाद्बुडनादिव । जले निमग्नं न दृश्यते इति प्रसिद्धिः ॥

पदारविन्दोन्नततामिरात्मनः पराजितैः कुञ्जरराजयानया ।

अगोपि मन्दाक्षविलक्षितात्मभिर्वने वसद्भिः कमठैरिवाननम् ॥ ५१ ॥

कमठैः कच्छपैराननं स्वमुखमगोपि गुप्तीकृतम् । क्रोटिक्षेपणादिति शेषः । किं कुर्वद्भिः ।
वने जले विपिने वा वसद्भिस्तच्छिद्भिः । ‘वनं प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽम्भसि कानने । समूहे पर्वते-
ऽपि स्यात् (प्रस्रवणे निर्झरे)’ इत्यनेकार्थः । किमुत्प्रेक्ष्यते—कुञ्जरराजयानया गजेन्द्रगमनया
यया आत्मनः स्वस्य पदारविन्दयोश्चरणकमलयोरुन्नतताभिः पराजितैः सद्भिः मन्दाक्षेण
लज्जया विलक्षितो विमनीभूत आत्मा चित्तं यस्य तादृशैः किमास्यमगोपि । ‘आत्मा
चित्ते धृतौ यत्ने विषणायां कलेवरे । परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः ॥ स्वभावे,
इत्यनेकार्थः ॥

यदीयपादौ सरलाङ्गुली द्युता करम्बितौ झांकृतिकारिनूपुरौ ।

श्रियानुयातः कमले दलदले मरन्दनिःस्यन्दिनदत्तितच्छदे ॥ ५२ ॥

यदीयौ पादौ नाथीसंबन्धिनौ चरणौ श्रिया शोभया कमले पद्मे अनुयातः अनुकु-
रतः । सदृशौ भवत इत्यर्थः । किंभूतौ पादौ । सरला अङ्गुलि अङ्गुलयः पदशाखा ययोः ।
पुनः किंभूतौ । द्युता कान्त्या करम्बितौ व्याप्तौ । पुनः किंभूतौ । झांकृतिं रणझणिति-
शब्दं कुरत इत्येवंशीलौ नूपुरौ मञ्जीरौ ययोः । कमले किंभूते । दलन्ति विजृम्भमा-
णानि दलानि पत्राणि ययोः । पुनः किंभूते । मरन्दं मधु निःस्यन्देते क्षरत इत्येवंशीले ।
तथा—नन्दतः शब्दायमानाः सितच्छदा हंसा ययोस्तौ पश्चात्कर्मधारयः ॥

प्रभाप्रथातैलकरम्बितान्तरे यदङ्घ्रिपात्रेऽङ्गुलिवर्तिवर्तिनः ।

नखाः प्रदीपा इव विस्फुरन्निषोऽपुषन्विभूषामभिभूततामसाः ॥ ५३ ॥

नखा अर्थात्नाथीकामाङ्गुलाः प्रदीपा इव विभूषां शोभामपुष्पं पुष्टामकार्षुः । क ।
यदङ्घ्रिपात्रे यस्याश्चरणनाम्नि अमत्रे भाजने । किंभूते । प्रभानां कान्तीनां प्रथा विस्तार
एव तैलं स्नेहस्तेन करम्बितमर्थात्संपूर्णमन्तरं मध्यं यस्य तस्मिन् । नखाः किंभूताः ।
अङ्गुलय एव वर्तयो दशास्तासु वर्तन्ते तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः । पुनः किंभूताः । विस्फुरन्ती
विद्योतमाना त्विट् ज्योतिर्येषां ते । पुनः किंभूताः । अभिभूता ध्वस्तास्तामसास्तमसां
ध्वान्तानां समूहा यैस्ते । ‘तामसास्तिग्मरोचिषः’ इति वीतरागस्तवे ॥

व्यलीलसत्पाटलिमा पदाम्बुजद्वयस्य यस्याः सरसीजचक्षुषः ।

स्वमार्दवेनाभिभवं विधित्सतः प्रवालपुञ्जैरुपदीकृतः किमु ॥ ५४ ॥

सरसीजं कमलं तद्वच्चक्षुर्लोचनं यस्यास्तादृश्या यस्याः पदाम्बुजयोश्चरणकमलयोर्द्वय-
स्य युगलस्य पाटलिमा रक्तता व्यलीलसद्भासते स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्वमार्दवेन निज-
सुकुमारतया अभिभवं पराभूतिं विधित्सतो विधातुमिच्छतः चरणारविन्दद्वन्द्वस्य प्रवा-
लपुञ्जैः पल्लवपटलैः उपदीकृतः किमु । दौकित इव ॥

असौ जयन्ती जलजं स्वपाणिना रदैश्च तारश्रियमात्मना रमाम् ।

भृगाङ्गमास्येन रुचा च चम्पकं स्मरस्य हेतिः किमु विश्वजित्वरी ५५

असौ नाथीदेवी । किमुत्प्रेक्ष्यते—विश्वजित्वरी जगज्जयनशीला स्मरस्य कामस्य
हेतिः किमु शस्त्रमिव । जगज्जिष्णुतां दर्शयति—असौ किं कुर्वती । जयन्ती परा-
भवन्ती । किम् । जलजं कमलम् । केन । स्वपाणिना निजहस्तेन । पुनः काम् ।
तारश्रियं तारकाणां निर्मलमौक्तिकानां वा । ‘तारो निर्मलमौक्तिके’ इत्यनेकार्थवचनात् ।
यद्वा रजतानां श्रियं शोभाम् । नक्षत्रवाची तारशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । ‘प्रथममुप-
हृतार्थं तारैरखण्डिततण्डुलैः’ इति नैषधे । कैः । रदैर्देवैः । पुनः काम् । रमां लक्ष्मीम् ।

केन । आत्मना स्वरूपेण शरीरेण वा आत्मशब्देन च वपुः । प्राग्नेकार्थोक्तैन दर्शितम-
स्तीति । पुनः कम् । मृगाङ्गं चन्द्रम् । केन । आस्येन वदनेन । अपि पुनः किम् ।
चम्पकं हेमपुष्पकम् । चम्पककुसुममित्यर्थः । जातावेकवचनम् । कया । रुचा कान्त्या ॥
इति नाथीसर्वाङ्गवर्णनम् ॥

अथो मिथः प्रीतिपरीतदम्पती इमौ कलाकेलिविलासशीलिनौ ।

विलेसतुः केलिसरः सरिद्वनीगिरीन्द्रभूमीषु रतिस्मराविव ॥ ९६ ॥

अथो कुरानाथीदेव्योर्गुणरूपवर्णनानन्तरं तयोर्विविधक्रीडावर्णनारम्भः । मिथः परस्परं
प्रीत्या स्नेहेन प्रमोदेन वा परीतौ व्याप्तौ दम्पती स्त्रीभर्तारौ इमौ नाथीकुराख्यमहेभ्यौ
अथवा इमौ पूर्वं व्यावर्णितस्वरूपौ दम्पती नाथीकुराव्यवहारिणौ केलये क्रीडार्थं ये
सरांसि पद्माकराः सरितो नद्यः वन्य उद्यानानि गिरीन्द्राः सर्वक्रीडास्पर्दोपेताः पर्वताः
तेषां भूमीषु स्थानकेषु विलेसतुः विविधक्रीडां चक्रतुः । इमौ किंभूतौ । कलाकेलेः कामस्य
विलासं लीलां शीलतो भजत इत्येवंशीलौ । इवोत्प्रेक्ष्यते—इमौ रतिस्मरौ केलती-
कामाविव ॥

सकाकतुण्डैणमदद्रवाङ्कितोरसोः परिक्षालनतः कदापि तौ ।

सुतामिवार्कस्य विहारवाहिनीं विनिर्मिमाते जलकेलिलालसौ ॥ ९७ ॥

कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे दम्पती नाथीकुराख्यौ सह काकतुण्डेन कृष्णागुण्णा
वर्तते तादृशस्यैणमदस्य कस्तूरिकाया द्रवः पङ्कस्तेनाङ्कितयोर्व्याप्तयोरुरसोर्वक्षःस्थलयोः
परिक्षालनतो धावनतः विहारवाहिनीं विलासनदीम् । 'विहारस्तु जिनालये । लीलायां
भ्रमरे स्कन्धे' इत्यनेकार्थः । 'निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्' इति रघौ । अर्कस्य सुता-
मिव यमुनामिव कस्तूरीद्रवैः श्यामलीकृतजलाम् अत एव यमुनोपमां निर्ममाते कुर्वते ।
किंभूतौ । जलकेलौ सलिलक्रीडायां लालसौ लोलौ । 'लालसा लोलायचक्रयोः । दृष्ट्वाति-
रंके औत्सुक्ये' इत्यनेकार्थः ॥

कुमुत्सिता षट्पदपङ्क्तिकुन्तला सितोत्पलाक्षी कजकुञ्जलस्तनी ।

प्रियेव पाथःप्लवने सहसिका तरङ्गबाहुः सरिदालिलिङ्ग तम् ॥ ९८ ॥

सरित् क्रीडानदी पाथःप्लवने जलकेलिसमये स्नानविधाने तं महेभ्यं कुरासायुमालिलिङ्गम् ।
केव । प्रियेव । यथा पाणिगृहीती पत्नी स्वपतिमाश्लिष्यति । किंभूता नदी प्रिया च ।
कुमुत्कैरवम् । जातावेकवचनम् । तदेव तद्वद्वा स्मितमीषद्वसितं यस्याः सा । भर्त्रा श्लेष-
णसमये स्त्रियाः किंचित्स्मितं जायते । पुनः किंभूता । षट्पदानां भ्रमराणां पङ्क्तयः श्रेणयस्ता
एव तद्वच्च श्यामाः कुन्तला केशा यस्याः । पुनः किंभूता । स्मितं विकसितं यदुत्पलं
तदेव तद्वद्वा अक्षिणी चक्षुषी यस्याः । 'किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्यास्त्रिदशप-
तिरहल्यां तापसीं यत्सिषेवे' इति चम्पूकथायाम् । पुनः किंभूता । कजकुञ्जलौ कमल-
मुकुलौ तावेव तद्वद्वा स्तनौ कुचौ यस्याः । पुनः किंभूता । हंस एव हंसकः । 'हंसको

हंसनूपुरयोः' । सह हंसकैर्मरालैर्हंसकाभ्यां नूपुराभ्यां वा वर्तते या । पुनः किंभूता । तरङ्गौ
अर्थादुभयपार्श्ववर्तिनौ कल्लोलौ तावेव च तत्तुल्यौ बाहू भुजौ यस्याः ॥

विजृम्भिजाम्बूनदपद्मनिष्पतत्परागपिङ्गीकृतवारिशालिनि ।

समं करिण्या करिणेव पङ्कजाकरेऽमुनाक्रीडि कुरङ्गचक्षुषा ॥ ९९ ॥

अमुना कुंरामहेभ्येन कुरङ्गचक्षुषा खमृगलोचनया आत्मस्त्रिया समं कदाचित्पङ्कजा-
करे कमलकलिततटाके अक्रीडि क्रीडां चक्रे । किंभूते पङ्कजाकरे । विजृम्भीणि विस्मे-
राणि जाम्बूनदानि सौवर्णानि यानि पद्मानि तेभ्यो निष्पतद्भिनिःसरद्भिर्विगलद्भिः परागै-
रजोभिः पिङ्गीकृतेन पीततां प्रापितेन वारिणा जलेन शालते शोभते इत्येवंशीलस्तस्मिन् ।
कनककमलसद्भावश्चम्पूकथोक्तेन प्राग्दर्शितोऽस्तीति । केनेव । करिणेव । यथा करिणा
हस्तिना करिण्या स्त्रहस्तिन्या समं विन्ध्याचलजलाशये क्रीड्यते ॥

स्मितारविन्दोदयदिन्दुविभ्रमादिवाम्बुलीलासमये तयोर्मुखे ।

विमुग्धसारङ्गचकोरशावका मरन्दपीयूषपिपासयाभजन् ॥ १० ॥

विमुग्धा अचतुराः सारङ्गाणां भृङ्गाणाम् । 'सारङ्गो हरिणे शैले कुञ्जरे चातके खगे ।
शबले चित्रिके च' इत्यनेकार्थतिलके । चकोराणां ज्योत्स्नाप्रियाणां शावका बाला अम्बु-
लीलासमये जलक्रीडाकरणव्यतिकरे तयोर्नाथीकुंरामहेभ्ययोर्मुखे वके अभजन् सेवन्ते
स्म । कया । मरन्दानां मधूनां पीयूषाणाममृतानां च पिपासया पातुमिच्छया । इवोत्प्रे-
क्ष्यते—स्मितारविन्दस्य विकसितकमलस्य तथा उदयत उदयं गच्छत इन्दोश्चन्द्रस्य च
भ्रमाद्भ्रान्तेः । 'कणे हल्य चकोरीणां गणः पीत्वा सुधासवम् । अजायत मदेनेव गुञ्जापुञ्जा-
रणेक्षणः ॥' इति चकोराणां सुधापानं वस्तुपालकीर्तिकौमुद्याम् ॥

प्रफुल्लकङ्कलिरसालमल्लिकाकदम्बजम्बूनिकुरम्बचुम्बिते ।

अलीव साकं सुदृशा स निष्कुटे कदापि रेमे श्रितसूनशीलनः ॥ ११ ॥

स महेभ्यः कदापि कस्मिन्नपि समये सुदृशा स्वस्त्रिया साकं सार्धं निष्कुटे गृहारामे
रेमे क्रीडति स्म । क इव । अलीव । यथा भ्रमरो भ्रमर्या सममारामे रमते । किंभूतः । श्रितं
निमित्तं सूतानां कुसुमानां शीलनमवचयमालाग्रन्थनप्रियावतंसीकरणादि येन । भृङ्गोऽपि
पुष्पसेवी । किंभूते निष्कुटे । प्रफुल्लः कुसुमिता ये कङ्कल्योऽशोकाः, रसालाः सहकाराः,
मल्लिका विचकिलाः, कदम्बा नीपाः धाराकदम्बाश्च, जम्बवः श्यामफलाः प्रसिद्धाः
तेषां निकुरम्बं वृन्दं तेन चुम्बिते कलिते ॥

रसालसालस्य तले विलासिना प्रणीय वीणां कणनानुवादिनीम् ।

अगीयत श्रोत्रसुधारसोपमं कचिन्मृगाक्ष्या सह किंनरेन्द्रवत् ॥ १२ ॥

विलासिना क्रीडाशीलेन कुंरासाधुना मृगाक्ष्या स्वप्रियया नाथीदेव्या सह कुत्रापि
कस्मिन्नपि वनप्रदेशे रसालसालस्य सहकारतरोस्तले अधोभूमौ श्रोत्रयोः कर्णयोः सुधा-

रसस्य अमृतनिस्यन्दस्य उपमा साम्यं यत्रैवंविधमगीयत गीतम् । किं कृत्वा । कणनं निजध्वनिमनुवदतीति अनुकरोतीत्येवंशीलां वीणां प्रणीय सजीकृत्य । किंवद् । किनरेन्द्रवत् । यथा किंपुरुषेश्वरेण स्वरसेन स्त्रिया सह गीयते ॥

कदापि मन्दार इव स्मितद्रुमे विलासदोलामवलम्ब्य लीलया ।

न्यखेलि तेनोपवने मृगीदृशा समं स्वदेव्या द्युसदेव नन्दने ॥ ६३ ॥

कस्मिन्नप्यवसरे तेन व्यवहारिणा मृगीदृशा स्वदयितया सह उपवने पुरस्य वा स्वगृहस्य समीपारामे लीलया शृङ्गारभावजक्रियया न्यखेलि क्रीडितम् । 'लीला केलिर्विलासश्च शृङ्गारभावजा क्रिया' इत्यनेकार्थः । अत्र विलासः स्थानादीनां वैशद्यमित्यवचूर्णो । किं कृत्वा । मन्दारे कल्पद्रुमे इव । कस्मिन्नपि स्मितद्रुमे विकसिततरौ । तरुशाखायामित्यर्थः । विलासार्थं दोलां क्रीडाकृते प्रेङ्खोलनमवलम्ब्याश्रित्य । केनेव । द्युसदेव । यथा देवेन स्वदेव्या समं मन्दारे मन्दारनाम्नि कल्पवृक्षे दोलां बद्ध्वा नन्दनवने क्रीज्यते ॥

कदाचिदिभ्यः कलधौतभूधरे चिखेल सार्धं परमाणुमध्यया ।

मृगाङ्गचूडामणिरद्रिचक्रिणस्तनूजयेवाद्भुतभूतिभासुरः ॥ ६४ ॥

इम्यो व्यवहारी कदाचित्कस्मिन्नपि वासरे कलधौतभूधरे क्रीडार्थनिमित्तरजतपर्वते परमाणुमध्यया स्वकृशोदर्या नाथीदेव्या समम् । 'अध्यापयामः परमाणुमध्याः' इति नैषधे । चिखेल खेलति स्म । श्वैत्यद्रूपतुल्योरूपमयो वा । तथा चम्पूकथायाम्—'राजते राजतेनायं सानुना सानुनायकः' इति । यथा शृङ्गं तथा सर्वोऽप्यद्रिः । क इव । मृगाङ्गचूडामणिरिव । 'मृगाङ्गचूडामणिवर्जनाजितम्' इति नैषधे । यथा—ईश्वरोऽद्रिचक्रिणो हिमाद्रिस्तनूजया पुत्र्या पार्वत्या समं रूप्याचले कैलाशे खेलति । इभ्यः किंभूतः । अद्भुतया विद्वच्चैतश्चमत्कारकारिण्या भूत्या संपदा भासुरो नागरिकेषु दीप्यमानः । शिवस्तु भस्मना शुभ्रः । 'भूतिस्तु भस्मनि । मांसपाकविशेषे च संपदुत्पादयोरपि' इत्यनेकार्थः ॥

विनोदमेवं सृजतोरहर्निशं तयोः स्मराज्ञैकवशंवदात्मनोः ।

दिनानि दोगुन्दकदेवयोरिव प्रमोदभाजोरतिचक्रमुः क्रमात् ॥ ६५ ॥

तयोर्नाथीकुंराव्यवहारिणोः क्रमाद्विविधविलासकरणपरिपाद्या दिनानि वासरा अतिचक्रमुरतिक्रामन्ति स्म । तयोः किंभूतयोः । प्रमोदभाजोरानन्दमेदुरयोः । पुनः किंभूतयोः । स्मरस्य मदनस्याज्ञा आदेशः तस्या एकोऽद्वितीयो वशंवद आयत्त आत्मा चित्तं च ययोस्तौ । पुनः किं कुर्वतोः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण अहर्निशं निरन्तरं विनोदं क्रीडां सृजतोः । कयोरिव । दोगुन्दकदेवयोरिव । यथा दोगुन्दकदेवयोर्विविधक्रीडाकुर्वतोर्वासरा अतिक्रामन्ति ॥ इति दम्पत्योर्वनादिक्रीडाकरणादिः ॥

कदाचिदम्भोरुहिणीव निद्रया सुखं प्रसुप्ता प्रहरेऽन्तिमे निशः ।

तदङ्गनास्वप्नसरोवगाहिनं न्यभालयज्जम्भनिशुम्भकुम्भिनम् ॥ ६६ ॥

कदाचिदाधानकाले तदङ्गना कुंरापत्नी नाथी निशो रात्रेरन्तिमे पश्चिमे चतुर्थे प्रहरे यामे जम्भनाम्नो दैत्यस्य निशुम्नो हिंसनं यस्य यस्माद्वा । स इन्द्रस्तस्य कुम्भिनमैरावणं न्यभालयत्पश्यति स्म । किंभूतम् । स्वप्न एव सरस्तटाकस्तमवगाहते भजते इत्येवं-शीलः । ऐरावणोऽपि तदङ्गना इत्यतोऽकारपृथक्करणेन अस्वप्नानां सरो नन्दीसरोनामानं पद्माकरमवगाहते मध्ये प्रविश्य क्रोडया इतस्ततः स्वेच्छया गच्छतीत्येवंशीलः स्यात् । किंभूता तदङ्गना । निद्रया निरतिस्वापेन । अतएव सुखं यथा स्यात्तथा । सातेनेत्यर्थः । प्रसुप्ता शय्यायां शयाना । केव । अम्बुरुहिणीव । यथा पद्मिनी राजौ स्वपिति ॥

अथ चतुर्भिर्गजं विशिनष्टि—

श्रियेव निर्जित्य समग्रदिग्गजान्धृतेर्जयाङ्कैश्चमरैर्विराजितम् ।

प्रभुं धराणामिव धात्वधित्यकां स्वमूर्ध्नि सिन्दूररुचिं च बिभ्रतम् ॥ ६७ ॥

किलक्षणं गजम् । चमरै रोमगुच्छैर्विराजितं शोभितम् । इवोत्प्रेक्ष्यते—श्रिया शौण्डीरिमतुङ्गिमथेतिमलक्षणगणितगुणगणादिमत्स्वलक्ष्म्या समग्रान् सर्वान् । पुण्डरीक-वामन-कुमुद-अञ्जन-पुष्पदन्त-सार्वभौम-सुप्रतीकाख्यान् सप्त दिग्गजान्निर्जित्य जित्वा जयाङ्कैस्तद्विजयसूचकैश्चैतैरिव । पुनः किं कुर्वन्तम् । बिभ्रतं धारयन्तम् । काम् । सि-न्दूरस्य शृङ्गारभूषणस्य रुचिं कान्तिम् । रक्तिमानमित्यर्थः । कस्मिन् । स्वमूर्ध्नि निजमस्तके । कमिव । धराणां प्रभुमिव । यथा गिरिराजो हिमाद्रिर्धातोर्गैरिकस्य अधित्यकामूर्ध्व-भूमीं धत्ते ॥

अखण्डचण्डेतरधाममण्डलान्तरालतो निर्गतमङ्कवर्त्मना ।

महीतले स्त्यानतया कथंचनावतिष्ठमानं किमु वा सुधारसम् ॥ ६८ ॥

वा अथवा । गजं किमूत्प्रेक्ष्यते—महीतले भूमण्डले स्त्यानतया स्तिमितत्वेन कथंचन केनापि प्रकारेण अवतिष्ठमानं स्थितिं कुर्वाणं सुधारसमिव । किमूत्प्रेक्षायाम् । किंभूतं सुधारसम् । अखण्डस्य संपूर्णस्य चण्डात्तीक्ष्णादितरं शिशिरं धाम तेजो यस्यैतावता चन्द्रस्य मण्डलं बिम्बं तस्यान्तरालतो मध्यान्निर्गतं निःसृतम् । केन । अङ्कवर्त्मना ला-ञ्छनमार्गेण ॥

सृजन्तुच्चैः स्वकरं मदोदयात्कुलाद्रिसान्द्रप्रतिनादमन्दुरैः ।

स्वगर्जितैः स्पर्धितया पयोमुचां चमूं विगायन्तमिवातिकोपतः ॥ ६९ ॥

गजं किं कुर्वन्तम् । मदस्योन्मत्तताया उदयादाविर्भावात्स्वकरं निजशृणुषादण्डमुच्चै-रुर्ध्वं सृजन्तं कुर्वन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्वगर्जितैरात्मगर्जांरावैः सार्धं स्पर्धितया हंस्पर्धित्वेन अतिकोपतोऽधिकक्रोधात् पयोमुचां मेघानां चमूमनीकम् । वृन्दमित्यर्थः । विगायन्त-मवगणयन्तमिव । 'नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने' इति रघुवंशे । अनीकवच्चमूः । किंभूतै-र्गर्जितैः । कुलाद्रिषु मन्दरप्रमुखकुलशैलेषु सान्द्रेण बहुलेन प्रतिनादेन प्रतिशब्देन मेदुरैः पुष्टैः ॥

कुतूहलेनेव महीविहारिणं महीधरं कैरवबन्धुधारिणः ।

किमेतयोर्भाग्यनभोमणेरहः शरद्विधोर्वा किमु पिण्डितं महः ॥ ७० ॥

अथ वा उत्प्रेक्ष्यते—कुतूहलेन कौतुकेन मद्यां प्रथिव्यां विहरति खेलति इत्येवं-
शीलं कैरवबन्धुं चन्द्रं धरतीत्येवंशीलस्तस्य शंभोर्महीधरं शैलं कैलासमिव । अथ वा
किम् । उत्प्रेक्ष्यते । एतयोर्नाथीकुंराव्यवहारिणोर्भाग्यं पुण्यं तदेव नभोमणिः सूर्यस्तस्याहर्दि-
नमिव । अहो भानोरुदयः । तथा एतस्मात्स्वप्राप्तयोर्भाग्याभ्युदयो भविष्यति । अथ वा
शरद्विधोर्मोघात्ययोदितचन्द्रस्य पिण्डितं पिण्डीभूतं महः कान्तिरिव ॥ आदितः पञ्चभिः
कुलकम् ॥ इति गजस्वप्रः ॥

व्यमोचि तं स्वप्नमवेक्ष्य संलये विलोचनाम्भोरुहमुद्रणानया ।

पयोरुहिण्येव पयोजबान्धवोदये शचीकान्तहरिन्महीधरे ॥ ७१ ॥

अनया नाथीदेव्या संलये निद्रायाम् । ‘निद्रा प्रमीला शयनं संवेशः स्वापसंलयौ’
इति हैम्याम् । तं पूर्वोक्तं गजस्वप्नमवेक्ष्य दृष्ट्वा विलोचनाम्भोरुहयोर्नयनकमलयोर्मुद्रणा निमी-
लनं व्यमोचि मुक्तम् । निद्रा त्यक्त्यर्थः । कयेव । पयोरुहिण्येव । यथा शच्या इन्द्राण्याः
कान्तः शक्रस्तस्य हरित् दिक् पूर्वा तस्या महीधर उदयशैलस्तत्र पयोजबान्धवस्य
भास्करस्य अभ्युदयं विभाव्य पयोजिन्या पद्मिन्या नेत्रतुल्यपयोरुहयोर्मुद्रणा मुकुलनं
विमोच्यते ॥

सुखं शयाना निशि निद्रयाङ्गना निभात्य तं स्वप्नमवाप संमदम् ।

यथा परब्रह्म समीररुन्ध(रोध)नैर्निबद्धपद्मासनयोगिमण्डली ॥ ७२ ॥

अङ्गना नाथी संमदं हर्षमवाप लेभे । किं कृत्वा । निभात्य दृष्ट्वा । कम् । तं पूर्व-
व्यावर्णितस्वरूपं हस्तिस्वप्नम् । किंभूता नाथी । निशि रात्रौ निद्रया सुखं सातेन शयाना
स्वपन्ती । सुप्ता सतीत्यर्थः । केव । निबद्धेति । यथा निबद्धं रचितं पद्मासनमासनविशेषो
यैस्तादृशानां योगिनां योगमार्गसाधकानां मण्डली श्रेणी समीराणां प्राणापानादीनां
पवनानां रुन्ध(रोध)नै रोधैः परब्रह्म परमात्मानमालोक्य परमं संमदं प्राप्नोति । योगिनो
हि पद्मासनेनोपविश्य वातरुन्ध(रोध)नपूर्वकमेकताना योगध्यानं कुर्वन्तः परमात्मानमा-
त्मनि हृदयकमलकर्णिकायां वीक्ष्य । ‘त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूपमन्वेषयन्ति
हृदयाम्बुजकोशदेशे’ इति कल्याणमन्दिरस्तवेऽपि । ‘परमानन्दभाजः सन्तो ध्याना-
द्विरमन्ते’ इत्येष व्यतिकरः कुमारसंभवे ॥

गभीरिमाणं दधतः सपल्लवसितप्रसूनव्रजराजितान्तरात् ।

स्वहंसतूलीशयनोदरादसौ क्षणादुदस्थात्करिणीव सैकतात् ॥ ७३ ॥

असौ नाथी स्वस्य हंसतूलीनाम्नः शयनस्य । यद्वा आत्मनो हंसानां पक्षरोमभिर्भृता
तूली । अथवा हंसनामलक्षणकेन पट्टशाटकेन । ‘स्वयमेवाभरणालंकारं मुयइ’ इति कल्पसू-

त्रे । 'भगवान्स्वयमेवाभरणालंकारान्मुञ्चति । तान्याभरणानि कुलमहतरिका हंसलक्षणेन पटशाटकेन प्रतीच्छति । तथा 'पञ्च मुढियं लोयं करेइ ।' शक्रोऽपि हंसलक्षणेन पटशाटकेन केशान्प्रतीक्ष्य क्षीरसमुद्रे वाहयति ।—इति कल्पवृत्तिः । निर्मिता तूली प्रस्तरणोपकरणविशेषः । लोके 'तुलाइ' इति प्रसिद्धा । तत्संयुक्तस्य शयनस्य वा शय्याया उदरान्मध्याक्षणात्तत्कालमुदस्थादुत्थिता । किं कुर्वतः स्वहंसेत्यादि । दधतो धारयतः । कम् । गभीरिमाणं मध्ये निन्नतां 'मञ्जन्ने गम्भीरे' इति कल्पादिमसूत्रवचनात् । पुनः किंभूतात् । सपल्लवाः किसलयकलिताः स्मिता विकसिता ये प्रसूनव्रजाः कुसुमसमूहास्तै राजितं शोभितमन्तरं मध्यं यस्य । केव । करिणीव । यथा हस्तिनी उभयपक्षपरावर्तनादिना । कथंचिन्निम्नीभूतात् । 'शय्यां त्यजन्त्युभयपक्षविनीतनिद्राः' इति रघौ । उभयाभ्यां पक्षाभ्यां पार्श्वभ्यां परावर्तनेन लोठनेन विनीता अपाकृता निद्रा यैः—इति तद्वृत्तिः । तथा समीपतरुनिष्पतत्पल्लवपुष्पोपचितात्सैकताजलोज्झिततटादुत्तिष्ठते ॥

मरालबालेव विलासगामिनी क्षितौ क्षिपन्ती पदपद्मयामलम् ।

ततः समुद्दिश्य पतिं पतिव्रता महेभ्यपत्नी पदवीं व्यभूषयत् ॥ ७४ ॥

शय्याया उत्थानानन्तरं महेभ्यपत्नी नाथी पतिं स्वभर्तारमुद्दिश्य । पतिपार्श्वे गन्तुकामेत्यर्थः । पदवीं मार्गं व्यभूषयदलंकृतवती । किंभूता । पतिरेव स्वभर्तैव व्रतं सतीत्वेन यस्याः स्वपाणिग्रहीतारं विना स्वप्नेऽपि त्रिधापि नान्यं पुमांसं कामयते सा पतिव्रता । प्रथमं तु सतीत्वसूचनमुक्तम् । अत्र काव्ये तु प्रकटत्वेन सतीत्वं प्रतिपादितम् । किं कुर्वन्ती । क्षितौ पृथिव्यां पदपद्मयोर्मलं युग्मं क्षिपन्ती स्थापयन्ती । पुनः किंभूता । विलासेन लीलया मन्थरं गच्छतीत्येवंशीला । केव । मरालबालेव । यथा हंसस्य पत्नी हंसी विलासगामिनी भवेत् ॥

क्षणादथोर्वीवलयोर्वसी मणीविभूषणध्वंसितरोदसीतमाः ।

असौ पुरस्तात्प्रकटीवभूवुषी प्रियस्य मूर्तेव कुलाधिदेवता ॥ ७५ ॥

अथ स्वप्रदर्शनोत्थाननिर्गमनानन्तरमसौ नाथी क्षणात्स्तोककालादेव प्रियस्य कुरासाधोः स्वभर्तुः पुरस्तादप्रे प्रकटीवभूवुषी व्यक्ता जाता समेत्याप्रे तस्यौ । किंभूता । उर्वीवलस्य भूमण्डलस्य उर्वसी नामाप्सराः । 'विशति विशति वेदीमुर्वसी सेयमुर्व्याः' इति नैषधे । पुनः किंभूता । मणीभूषणे रत्नाभरणैर्ध्वंसितं निर्दलितं रोदस्योर्द्यावाभूम्योस्तमो ध्वान्तं यया सा । उत्प्रेक्ष्यते । तस्येत्यस्य मूर्तां तनुमती कुलाधिदेवता गोत्राधिष्ठात्री देवीव । साप्यप्सरा भूषणमाणिक्यकान्तिविध्वस्ततमाः स्यात् ॥

तया क्रमादिभ्यविभावरीवरो विमुद्रणाया गमितः स गोचरम् ।

वचोविलासैररुणांशुभिर्यथारविन्दवृन्दं दिवसाननश्रिया ॥ ७६ ॥

तया नाथीदेव्या क्रमादागमनानुक्रमेण वचोविलासैः स्ववचनचातुर्यातिशयैः स कुरा-

ह्म इभ्येषु लक्ष्मीवत्सु विभावरीवरश्चन्द्रो मुख्यो विमुद्रणाया जागरणस्य गोचरं विषयं गमितः प्रापितः । प्रबोधित इत्यर्थः । कथेव । दिवसाननश्रियेव । यथा प्रभातलक्ष्म्यारुणां शुभिर्भानुकिरणैरविन्दानां पद्मानां घृन्दं विमुद्रणाया गोचरं गम्यते । विकाश्यते इत्यर्थः ॥

सुमध्वजोर्वीधरजैत्रशस्त्रया रहस्यवत्स्वप्न उदात्तनेत्रया ।

विनिद्रतां लोचनयोर्वितन्वते न्यवेदि तस्मै व्यवहारिभास्वते ॥ ७७ ॥

उदात्ते स्फारे कुमुदकमलकुवलयचक्रोरहरिणखञ्जनजयनशीले नेत्रे नयने यस्यास्तथा तस्मै स्वकान्ताय स्वप्नो निद्रावस्थायां गजेन्द्रदर्शनं न्यवेदि कथितः । किंवत् । रहस्यवत् । यथा रहस्यं स्वप्रियाय निवेद्यते । तस्मै किंभूताय । व्यवहारिषु दीप्यमानत्वाद्भास्वते सूर्याय । पुनः किं कुर्वते । विलोचनयोनैत्रयोर्विनिद्रतां निद्राभावात्स्मेरतां तन्वते विस्तारयते । कुर्वत इत्यर्थः । तथा किंभूतया । सुमध्वजोर्वीधरः स्मरराजस्तस्य जैत्रं जगज्जयनशीलं यत् शस्त्रमायुधं तद्रूपया ॥

किमावयोरेष फलं प्रदास्यति स्वपाणिसिक्तस्मयमानशाखिवत् ।

इदं निगद्य प्रमदाद्वसुंधराप्सरा व्यरंसीद्व्यवहारिवर्णिनी ॥ ७८ ॥

व्यवहारिणः कुरासाधोर्वर्णिनी स्त्री नार्थी प्रमदादानन्दात् इदमेतदुच्यमानं निगद्य कथयित्वा अर्थोद्घर्तुः पुरः । व्यरंसीद्विरमति स्म । किंभूता । वसुंधराया भूमेर्दिव्यरूपत्वाद्-प्सराः । 'वातु जलौकोऽप्सरसः' । 'सिकताः सुमनः समाः' । एतेषां शब्दानां बहुत्वं वा स्यात् । इति लिङ्गानुशासने । इदं किम् । यदेष गजस्वप्न आवयोर्दम्पत्योः किं फलं प्रदास्यति । किंवत् । स्वपाणिना निजहस्तेन सिक्तो जलेनाभिषिक्तोऽत एव स्मयमानः शाखाप्रशाखापत्रपल्लवपुष्पोपचितो जायमानः शाखिवद्दृक्ष इव ॥

तदानेन्दोरमृतोर्मिमालिनो गिरं सुधाया भगिनीमिवोद्वताम् ।

निपीय कर्णैः पुटकैरिवान्तरा स कूणिताक्षः परमां मुदं दधौ ॥ ७९ ॥

स महेभ्यः कुराख्योऽन्तरा हृदयमध्ये परमामुत्कृष्टां मुदं प्रीतिमानन्दं दधौ धारयति स्म । किं कृत्वा । निपीय पीत्वा । सादरं श्रुत्वेत्यर्थः । काम् । गिरं वाणीम् । कैः । कर्णैः श्रवणैः । तादृक् शुभस्वप्नश्रवणोत्कण्ठया वारंवारप्रश्ने मुहुर्मुहुः कर्णदानाद्बहुवम् । उत्प्रेक्ष्यते । पुटकैरिव । अन्योऽपि रसः पुटकैः पयिते । किंभूतः सः । विकूणिते निमीलिते अक्षिणी दृशौ येन । 'उत्कल्लोलां दिशि दिशि जनाः कीर्तिपीयूषसिन्धुं यस्याद्यापि श्रवणपुटकैः कूणिकाक्षाः पिबन्ति' इति चम्पूकथायाम् । किंभूतां गिरम् । उद्वतां प्रकटीभूताम् । कस्मात् । तदानेन्दोर्नाथीवदनचन्द्रात् । उत्प्रेक्ष्यते । सुधाया अमृतस्य भगिनीं जासिमिव । भगिनीं किंभूताम् । अमृतोर्मिमालिनः सुधासमुद्रात्प्रादुर्भूताम् । 'लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजः सूनुः सुधाम्भोनिधेर्देवेन प्रणयप्रसाराविधिना मूर्ध्ना धृतः शंभुना । अद्याप्युज्जति नैव दैवविहितं क्षीणं क्षपावल्लभं केनान्येन विलङ्घ्यते विधिगतिः

पाषाणरेखासखी ॥' इति भोजप्रबन्धे क्षीरसमुद्रस्य सुधासमुद्रत्वं प्रतिपादितमस्ति ।
तथान्यत्रापि काव्यकल्पलताग्रन्थादिष्वपि विद्यते च । अथ वा वदनेन्दोः कथंभूतात् ।
अमृतोर्मिमालिनः सुधासमुद्रात् । 'तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्क्तिभवनदङ्कतां
विधौ' इति नैषधे । अथवा 'तदानेन्दोरमृताब्धिजन्मनः' इति पाठः । सुधायाः किंभू-
तायाः । तदानेन्दोर्वा किंभूताम् । अमृताब्धिः समुद्रस्तस्मान्जन्मोत्पत्तिर्यस्या यस्य वा ॥

द्विजावलीचन्द्रिकयानुविद्धया स्मितश्रिया श्वेतितसृक्कदेशया ।

भुजान्तराभोगविलासिनीरिवोपचिन्वता चञ्चुरमौक्तिकावलीः ॥ ८० ॥

निगद्यते स्म व्यवहारिणा क्षणं विमृश्य सा तेन सुकेशमानिनी ।

रथाङ्गनाम्नेव रथाङ्गवान्धवोदये रथाङ्गी सविधे समीयुषी ॥ ८१ ॥

(युग्मम्)

तेन व्यवहारिणा कुरासाधुना क्षणं स्वल्पकालं विमृश्य विचार्य स्वबुद्ध्या सु शोभनाः
केशाः कुन्तला यस्याः सा सुकेशी । सुकेशीं स्वां मन्यते इति सुकेशमानिनी । 'क्यङ्
मानिनोश्च' एतयोः परयोः पुंवद्भावः स्यात् । सा नाथी निगद्यते स्म भाषिता । केनेव ।
रथाङ्गनाम्नेव । यथा रथाङ्गवान्धवस्य भानोरुदये सविधे आत्मनः पार्श्वे समीयुषी समागता
रथाङ्गी चक्रवाकी रथाङ्गेन चक्रवाकेन वाद्यते । तेन किं कुर्वता । चञ्चुराः प्रधाना मौ-
क्तिकावलीहाराणिव उपचिन्वता पुष्णता । किंभूताः । भुजान्तरस्य हृदयस्याभोगो वि-
स्तारस्तत्र विलसन्तीत्येवंशीलास्ताः । तथा [स्मितश्रिया ईषद्वस्तिलक्ष्म्या ।] किंभूतया
[स्मितश्रिया ।] द्विजावलीचन्द्रिकया दन्तपङ्क्तिज्योत्स्नया । 'दशनचन्द्रिकया व्यव-
भासितम्' इति रघौ । अनुविद्धया व्याप्तया । पुनः किंभूतया । श्वेतितो धवलीकृतः
सृक्कदेश औष्ठप्रान्तदेशो यया । 'दन्तवत्त्वं च तत्प्रान्तौ सृक्कणी' इति हैम्याम् ॥ युग्मम् ॥

अनेकपस्वमनिरीक्षणादवाप्स्यते तदन्वर्थसुतोऽचिरान्त्वया ।

महोदयः केवललम्भतो मुनीसमज्ययेवाम्बुजमञ्जुलोचने ॥ ८२ ॥

हे अम्बुजं कमलं तद्वन्मञ्जुनी मनोज्ञे लोचने नयने यस्यास्तस्याः संबोधनमम्बुजमञ्जु-
लोचने हे प्रिये, अनेकपस्य गजस्य स्वप्नस्य निरीक्षणादर्शनात् अचिरान्तोक्तकालादेव
तस्यनेकपस्यान्वर्थोऽनेकान् बहून् पाति रक्षति स्वामितया संसाराद्धर्मोपदेशमहाव्रताणुव्रता-
दिप्रदानेन तारयतीत्यनुगतार्थो यस्य तादृशः सुतः पुत्रस्त्वया भवत्या अवाप्स्यते । कथं ।
मुनीसमज्ययेव । यथा मुनीनां साधूनाम् । मुनीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा लिङ्गानुशासने—
'यानीमुन्यौ स्वातिगव्युतिवस्त्यः' इति । भावचारित्रं विना केवलज्ञानं न स्यादिति मुनीपदो-
पादानम् । समज्यया सभया अर्थाद्विन्द्वेन केवलस्य एकागाकारस्य पञ्चमज्ञानस्य केवलज्ञानस्य
आसादनात्तृतेर्महोदयो मोक्षोऽवाप्स्यते । य उदय आगतः कदापि न याति स एव महोदयः ॥

जयन्तवज्जम्भनिशुम्भभामिनी पतिं चमूनामिव सर्वमङ्गला ।

वशेव शौरेः सुमनःशरासनं क्रमाच्च पुत्रं प्रसविष्यसि प्रिये ॥ ८३ ॥

हे प्रिये, गर्भत्वेन प्राप्तं च पुनः क्रमात्पूर्णसमयपरिपाद्या पुत्रं नन्दनं प्रसविष्यसि जन-
यिष्यसि । का किंवत् । जम्भनिशुम्भस्य इन्द्रस्य भामिनी प्रिया इन्द्राणी जयन्तवत् ज-
यदत्तमिव । पुनः का कमिव । सर्वमङ्गला पार्वती चमूपतिं स्वामिकांतिकामिव । पुनः
का कमिव । शौरेर्विष्णोर्वंशा लक्ष्मीः सुमनाः सुमनसो वा पुष्पं शरासनं धनुर्यस्य । सुमनः-
शब्दस्य वा बहुत्वमिति लिङ्गानुशासने । 'पुष्पाण्यस्येषुचापास्त्राणि' इति हैम्याम् । कन्दर्पमिव ॥

इति प्रणीय श्रुतिगोचरं वचः प्रियस्य दध्रे पुलकोद्गमस्तया ।

तडिद्वतासुर्वरयेव जीवनं निपीय सस्याङ्कुरराजिराजिता ॥ ८४ ॥

तया नाथीदेव्या पुलकोद्गमो रोमाञ्चाविर्भावो दध्रे धृतः । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्त-
प्रकारेण प्रियस्य स्वभर्तुर्वचः वचनं श्रुतिगोचरं श्रवणगतं प्रणीय कृत्वा । ध्रुत्वेत्यर्थः ।
कयेव । उर्वरयेव । यथा सर्वसस्यया भुवा तडिद्वतां मेघानां जीवनं जलं निपीय पीत्वा स-
स्यानां सर्वधान्याङ्कुराणां प्ररोहाणां राजिभी राजते इत्येवंशीला तस्या भावो राजिता
सस्याङ्कुरराजिराजिता । सर्वधान्यप्ररोहश्रेणिशोभनशीलत्वं ध्रियते । 'उर्वरा सर्वसस्या भूः'
इति हैम्याम् ॥

धवः सुधाधामसगोत्रवक्रयेत्यवादि बद्धाञ्जलिपाणिपद्मया ।

वरे सुरेन्दोरिव कान्त तावके वचःप्रपञ्चेऽव्यभिचारितास्तु मे ॥ ८५ ॥

सुधाधाम्नोऽमृतकिरणस्य चन्द्रस्य सगोत्रं स्वजनो बान्धवः । तुल्यमिति यावत् । वक्रं
मुखं यस्यास्तया चन्द्रवदनया धवः स्वभर्ता इत्यमुना प्रकारेण अवादि भाषितः । तथा
किंभूतया । बद्धो रचितोऽञ्जलिर्योजनं याभ्यां तादृशौ पाणिपद्मौ करकमलौ यस्याः । क-
मल(?)शब्दः पुंल्लिङ्गयोः । इति किम् । हे कान्त, तावके त्वदीये वचःप्रपञ्चे वचन-
विस्तारे वाग्वैभवे वा मे मम व्यभिचरति मृषा भवतीत्येवंशीलं व्यभिचारि न व्यभिचारि
अव्यभिचारि तस्य भावः अव्यभिचारिता सत्यता अस्तु भवतात् । कस्मिन्निव । वरे
इव । यथा सुरेन्दोरिन्द्रस्य प्रधानदेवस्य वा वरे अभीष्टवाक्प्रदाने अव्यभिचारिता भवेत् ॥

मिथः प्रथाभिर्वचसां वचस्विनौ कियच्चिरं तस्थतुरत्र दम्पती ।

वसन्तफुल्लत्सहकारकानने पिकाविवोदीरितपञ्चमस्वनौ ॥ ८६ ॥

अत्र इभ्यशय्यागृहे वचस्विनौ विशिष्टवाग्विलासशालिनौ दम्पती स्त्रीभर्तारौ मिथः
परस्परं वचसां निजनिजवचनानां प्रथाभिर्विस्तरैः । वार्ताविनोदैरित्यर्थः । कियच्चिरं कियन्तीं
वेलां यावत्तस्थतुः स्थितौ । काविव । पिकाविव । यथा वसन्तेन मधुमासेन फुल्लतां विक-
सताम् । मञ्जरीपिञ्जरीभवतामित्यर्थः । सहकाराणाम् आम्राणां कानने उदीरितः प्रकटीकृतः

पञ्चमनाभो रागस्य स्वनो ध्वनिर्याभ्यां तौ । पिकी च पिकश्च पिकौ । 'पुमान् स्त्रिया त-
लक्षणश्चेदेवविशेषः । स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते न स्त्री, स्त्रीपुंसलक्षणश्चेदेव विशेषः ।
ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च ब्राह्मणौ तलक्षणः किम् । कुकुटमयूयौ' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।
तेन पिकीशब्दस्य लोपे पिकाविति । किञ्चिच्चिरं तिष्ठतः ॥

मुदाथ नाथी शयनीयमन्दिरं क्रमेण संक्रन्दनसञ्जसुन्दरम् ।

व्यभूषयत्किंपुरुषप्रभोरिवारविन्ददृढमन्दिरकन्दरोदरम् ॥ ८७ ॥

अथ स्वप्रार्थकथनतत्तद्वातानन्तरं नाथी मुदा प्रमोदेन क्रमेण भर्तृविसर्जनमृह-
मागर्गमनपरिपाठ्या शयनीयमन्दिरं स्वशय्यागृहं व्यभूषयदलंकरोति स्म । किंभूतम् ।
संक्रन्दनः शक्रस्तस्य सञ्ज मन्दिरं तत्संबन्धि वा वैजयन्तप्रासादस्तद्वत्सुन्दरं रमणीय-
मिति गर्भितोपमा । केव । अरविन्ददृगिव । यथा किंपुरुषाणां किनराणां प्रभोरिन्द्रस्य प्र-
कृष्टकिनरस्य कस्यचिद्वा पत्नी मन्दरस्य मेरोरिन्द्रकीलशैलस्य वा कन्दराया गुहाया
उदरं मध्यं विभूषयति । किनराणामवस्थानं मन्दरकन्दरासु वर्ण्यते । यथा चम्पूकथायाम्—
'मन्दं मन्दरकन्दरासु शयितानुत्थापयन्किनरान्' इति ॥ इति गजस्वप्रविचारकथनस्व-
शयनसञ्जगमनम् ॥

सुखं स्वकीये सदने निषेदुषी मुदं महास्वप्नजुषं प्रपेदुषी ।

इदं कलाकेलिमरालमानसे व्यचिन्तयत्सा विदुषीव मानसे ॥ ८८ ॥

सा नाथी मानसे स्वचित्ते इदं वक्ष्यमाणं व्यचिन्तयद् विमृशति स्म । केव । विदु-
षीव । यथा पण्डिता हृदये शास्त्रार्थादि विचिन्तयति । किंभूते मानसे । कलाकेलिः
कामः स एव मरालो राजहंसस्तस्य क्रीडार्थं वासार्थं वा । 'मानसौकाः' इति ह्रैमिविच-
नात् मानसनान्नि सरसि । सा किंभूता । सुखं निराधिव्याधिकं यथा स्यात्तथा स्वकीये निजे
शयनीयसदने मन्दिरे निषेदुषी उपविष्टा । पुनः किंभूता । महानद्भुत आश्चर्यकारी यः
स्वप्नः स्वापावस्थायामैरावणवारणविलोकनं तं जुषते सेवते तादृशीं महास्वप्नसंजातां मुदं
प्राप्तिमानन्दं प्रपेदुषी ॥

पुनः सृजन्त्यां मयि मुद्रणां दृशोः परैरपस्वप्नविजृम्भितैरसौ ।

निहन्यतां मासहजैरिव ग्रहैस्त्रिकोणकेन्द्रोपगतः शुभग्रहः ॥ ८९ ॥

पुनर्द्वितीयवारं दृशोलौचनयोर्मुद्रणां निमीलनम् । निद्रामित्यर्थः । सृजन्त्यां कुर्वतां मयि
परैरन्यैरपस्वप्नविजृम्भितैर्दृष्टस्वप्नदर्शनविलसितैरसौ गजदर्शनलक्षणः शुभः स्वप्नो मा नि-
हन्यतां मा व्यर्थक्रियताम् । क इव । शुभग्रह इव । यथा असहजैः शत्रुभूतैर्भौममन्दा-
दिभिर्ग्रहैः खेटैर्नवपञ्चमं त्रिकोणं प्रथमचतुःसप्तमदशमाख्यानि केन्द्राणि तेषु भवनेषु गतः
प्राप्तः शुभो गुरुबुधादिः प्रशस्यग्रहो निहन्यते निर्बलीक्रियते ॥

इदं विमृश्येयमजुह्वत्ततः सखीरशेषाः स्वकपारिपार्श्विकाः ।

द्विरेफगुञ्जारवमञ्जुवादिनी वसन्तलक्ष्मीः पिककामिनीरिव ॥ ९० ॥

इदं पूर्वोक्तं विमृश्य विचार्य । इयं नाथी मुदा हर्षेण स्वकपारिपार्थिका निजसमीप-
वर्तिनीरशेषाः समस्ता अपि सखीर्वियसी(?) रज्जुहृवदाकारयामास । केव । वसन्तलक्ष्मी-
रिव । यथा द्विरेफाणां भ्रमराणां गुञ्जारवेण गुञ्जितेन एव मनोज्ञं वदतीत्येवंशीला वस-
न्तश्रीः पिककामिनीः कोकिला आह्वयते ॥

ततो वयस्यो(?)ऽन्तिकमाश्रिता मधुव्रताङ्गनाश्चूतलतामिव स्मिताम् ।

वभाषिरे कोकिलकामिनीगणकणाद्वयीवादिनादयानया ॥ ९१ ॥

ततः सखीसमागमनानन्तरमनया नाथीदेव्या वयस्यः (?) सख्यो वभाषिरे वादिताः ।
वयस्यः (?) किंभूताः । अन्तिकं नाथीसमीपमाश्रिताः सेवमानाः अर्थात्संनिधाने समागताः ।
का इव । मधुव्रताङ्गना इव । यथा भृङ्ग्यः स्मितां विकसितां कलिकाकलितां चूतलतां
माकन्दवल्लीमाश्रयन्ते । अनया किंभूतया । कोकिलकामिनीगणानां पिकीप्रकराणां कणेन
रावेण सह अद्वयीवाद एकीभावो यस्य कणः कलकूजितमिवाद्वयीवादोऽसाधारणतया
यस्मिन्तादृशो निनादो रावो ध्वनिर्यस्याः ॥

चकोरिके चन्द्रकले लवङ्गिके मृणालिके पुष्पलते कुरङ्गिके ।

कुरङ्गनाभे सुरभे शशिप्रभे विनोदिके मोदिनि वन्दि सुन्दरि ॥ ९२ ॥

तथा प्रथन्तां कथका यथा कथा ममाग्रतः श्रीजिनचक्रिसंकथाः ।

यथा शुभस्वप्नदृशा मया निशापनीयते पद्धतिवत्पथिस्पृशा ॥ ९३ ॥

(युग्मम्)

पूर्वकाव्ये केवलानि सखीनां विशेषणान्येव सन्ति । चम्पूकथायामप्येवंविधान्येव
सखीनामानि दृश्यन्ते । नैषधेऽपि च । एवंविधा अभिधाना हे सख्यः, यूयं ममाग्रतो
मत्पुरस्तात् जिनानामृषभादीनां चक्रिणां भरतप्रमुखाणां चक्रवर्तिनां संकथा वार्ता । 'त्वत्सं-
कथापि जगतां दुरितानि हन्ति' इति भक्तामरस्तोत्रे । नववार्तापीति तद्वृत्तिः । तथा तेन
प्रकारेण प्रथन्तां विस्तारयन्तु । कथयन्त्वित्यर्थः । क इव । कथका इव । यथा कथका
वाचका वक्तारः कथाः पूर्वपुरुषचरितानि प्रथयन्ति विस्तारेण वदन्ति तथा । कथम् ।
यथा शुभं प्रशस्तं स्वप्नं पश्यतीत्येवंशीला तथा शुभस्वप्नदृशा मया भवत्स्वामिन्या निशा
अवशिष्टा रजनिरपनीयतेऽतिक्राम्यते परिपूर्णक्रियते वा । किं वत् । पद्धतिवत् । यथा पन्थानं
मार्गं स्पृशति भजतीति पथिस्पृक् पथिकी तथा कथाभिर्वार्ताभिः कृत्वा पद्धतिमार्गेऽपनीयते
उल्लङ्घयते तथा । 'कलहंता, भरकन्ता, भयसंतत्ता, कहाणयेलग्गा । पियहंसण उतसिया,
पञ्च वि मग्गं न याणंति ॥' इति सूक्तोक्तेः ॥ युग्मम् ॥

कथानुषङ्गेषु मिथः सखीजनोदितेषु काचिद्वयसीदमालपत् ।

परेषु गान्धर्वरसेषु पञ्चमप्रपञ्चगीतिं विदुरेव गायनी ॥ ९४ ॥

मिथोऽन्योन्यं सखीरूपैर्जनैर्लोकैरुदितेषु उक्तेषु कथितेषु कथानुषङ्गेषु वार्ताप्रस्तावेषु

सत्सु काचिदनिर्दिष्टनामा वयसी सखी इदमग्रे वक्ष्यमाणमालपट्टभाषे । केव । गायनीव ।
यथा परेष्वन्येषु गान्धर्वाणां गायनानां गीतानां वा । 'गीतं गानं गेयं गीतिर्गान्धर्वम्'
इति हैम्याम् । रसेषु सत्सु विदुरा गीतिनिपुणी गायनी गान्धर्विका पञ्चमरागस्य प्रपञ्चो
विस्तारो यत्र तादृशीं गीतिमालपति । गायतीत्यर्थः ॥

पुराभवन्नाभिमहीहिमद्युतेस्तनूभवः श्रीवृषभध्वजो जिनः ।

इवात्मभू राजसभावभासितः ससर्ज यो विष्टपसृष्टिमात्मना ॥ ९९ ॥

हे स्वामिनि, पुरा पूर्वे युगस्यादौ सर्वव्यवस्थाप्रादुर्भवनव्यतिकरे नवाशीतिपक्षाधिकत्र्य-
शीतिपूर्वलक्षावशेषे तृतीयारकपर्यन्ते नाभिर्नामा मह्यं भूमौ हिमद्युतिश्चन्द्रस्तस्य ।
'इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिम्' इति नैषधे । तनूभवः पुत्रः श्रिया राज्यतीर्थकृलक्ष्म्या युक्तो
वृषभः ककुब्धान् कुरुदेशे ध्वजश्चिह्नं यस्य तादृक् जिनस्तीर्थकरः एतावता ऋषभजिनो-
ऽभवद्भूव । स कः । यत्तदोः संबन्धात् यो राज्ञां राजन्यानामिक्ष्वाकुवंशोद्भवानां
सभया समूहेन । 'सदेवमणु आसुराए परिसाए समणुगम्ममाणरगो' इति कल्पसूत्रे ।
'पर्षदा समूहेन' इति तद्वृत्तिः । 'सुरसमाजसमाक्रमणोचितः' । समाजः समूह इति रघु-
वंशे । 'उडुपरिषदः किं नार्हन्ती निशः किमनौचिती' इति नैषधे । नक्षत्रसमूहस्येति
तद्वृत्तिः । ततः सभावाचकाः शब्दाः समूहेऽपि दृश्यन्ते । अथवा सभायां परिषदि
अवभासितः शोभित उपविष्टः । तादृशः सन्नात्मना स्वेन विष्टपस्य विश्वस्य सृष्टिं सर्व-
व्यवहारशिल्पकलाराज्यस्थितिप्रजापालनादिसर्गं ससर्ज करोति स्म । क इव । आत्मभू-
रिव । यथा । ब्रह्मा राजसभावेन रजोगुणस्वभावेन भासितः सन् जगत्सर्गं चक्रे ॥

अमुष्य नाभेयजिनावनीनभोमणेराजयन्त शतं तनूरुहाः ।

पवेरिवास्त्राः क्रतवः शतक्रतोरिव च्छदानीव पुनः पयोरुहः ॥ ९९ ॥

अमुष्य एतस्य नाभेरपत्यं नाभेयो वृषभः स एव जिनानां सामान्यकेवलानां मध्ये
अवन्या भूमेरति तेजस्त्वेन नभोमणेः सूर्यस्य । अथवा—अवनीनभोमणी राजा । 'मध्यं-
दिनावधिविधेर्वसुधाविवस्वान्' इति नैषधे । तथा 'पाण्डोरवनिमार्तण्डस्य' इति पाण्डव-
चरित्रे । जिनराजस्येत्यर्थः । शतं शतसंख्याकास्तनूरुहाः । 'तनूरुहस्तु पुत्रे गरुति लोम्नि
वा' इत्यनेकार्थः । अजायन्त जाताः । कस्येव । पवेरिव । यथा वज्रस्य शतमल्लाः कोट्यो
भवन्ति स्म । पुनः कस्येव । शतक्रतोरिव । यथा इन्द्रस्य शतमिताः क्रतवः प्रतिमा यज्ञा
वा आसन् । 'इन्द्रेण कार्तिकश्रेष्ठिभवे पञ्चमी प्रतिमा शतवारं व्यूढा' इति कल्पकिरणा-
वल्याम् । पुनः कस्येव । पयोरुह इवात्र षष्ठी । यथा कमलस्य शतं छदानि पत्राणि
जायन्ते ॥

जिनावनीन्दोः किल धर्मकर्मणोर्व्यवस्थयास्मादुदभावि भूतले ।

रथाङ्गपाथोरुहयोर्मुदोदितारविन्दिनीवल्लभमण्डलादिव ॥ ९७ ॥

किलेति श्रूयते निश्चितं वा । भूतले भरतक्षेत्रक्षोणीमण्डले अस्माजिनावनीन्दोरेतस्माद्-
षमतीर्थकराद्धर्मः सुकृतं कर्म कृषिवाणिज्यादि तयोर्व्यवस्थया विवेकेन उदभावि प्रकटी-
भूतम् । कस्मात्कयेव । उदितादभ्युदयं प्राप्तादरविन्दिनीवल्लभस्य पद्मिनीपतेर्मानोर्मण्डलाद्
बिम्बात् रथाङ्गश्चक्रवाकः पाथोरुहं कमलम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । तयोर्मुदा हर्षणो-
द्भूयते । यतो रथाङ्गानां प्रियाभिर्वियोगः कमलानां संकोचश्च रात्रौ भवेदतो दिवसे हर्षः ।
मुदेति कर्तृपदं तृतीयान्तम् ॥

बभूव नाभेयविभुः स आदिमः क्षितौ समग्रावनिभामिनीभुजाम् ।

पुलोमजाप्राणपतेर्मतङ्गजो महामृगाणामिव दानशालिनाम् ॥ ९८ ॥

हे नाथीदेवि, क्षितौ पृथिव्यां स पूर्वोक्तस्वरूपो नाभेय एव विभुः स्वामी ऋषभदेवः ।
समग्रा ये अवनीं भूमिमिव भासिनीं भुङ्गन्ति इति अवनिभामिनीभुजः । 'वसुमतीयुवती-
भुजङ्गः' तथा 'यामिनीकामिनीपतिः' इत्यादि काव्यकल्पलतायाम् । राजानस्तेषां मध्ये
आदिमः प्रथमः । अस्यासवसर्पिण्यां प्रथमं श्रीऋषभदेवस्यैव राज्यस्य जातत्वात् ।
शक्रेण प्रथमम् ऋषभदेवस्य राज्याभिषेकः कृत इति । क इव । मतङ्गज इव । यथा पुलो-
मजाया इन्द्राण्याः । 'हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः' इति नैषधे । प्राणपतिर्भर्ता शक्रस्तस्य
गज ऐरावणः स महामृगाणां हस्तिनाम् आदिमो जज्ञे । तथा च चम्पूकथायाम्—'नारा-
यणनाभ्यम्भोरुहकुहरकुटीमधिशयानस्य वेदविद्यां निगदतो भगवतः पितामहस्य बृहद्रथा-
न्तरविकीर्णाभासनामानि सामानि गायतः सामश्लोकरसनिष्पन्दादुदपद्यन्त ऐरावतसुप्रती-
कप्रभृतयोऽष्टौ दिग्गजेन्द्राः । तेभ्योऽभवन् भद्रमन्द्रमृगसंकीर्णजातयो गिरिचरनदीचरो-
भयचारिणः करिणः । प्रसिद्धं चैतत्सामजा गजा इति । केचित्पुनरन्यथा कथयन्ति ।
किल सकलसुरासुरकरपरिघपरिवर्त्यमानमन्दरमन्थानमथितदुग्धाम्भोधेरजनि जनिजग-
द्विस्मयोल्लसलक्ष्मीमृगाङ्कसुरभिसुरद्रुमधन्वन्तरिकौस्तुभोच्चैःश्रवसां सहस्रैः शशधरकरका-
न्तिरैरावतः । तत्प्रसूतिरशेषवनान्यलंकरोति' इति । किंभूतानां नृपाणां च गजानां च ।
दानैर्विश्राणनैर्मदाम्बुभिश्च शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलाः ॥

पयोधिपुत्रीतनयावनीपतेरिवानुबिम्बेषु महीविहारिषु ।

शताङ्गजातेषु तदादिमप्रभोर्बभूव मुख्यो भरताभिधोऽङ्गजः ॥ ९९ ॥

तस्य पूर्ववर्णितस्वरूपस्य आदिमप्रभोर्ऋषभदेवस्य शतसंख्येष्वङ्गजातेषु भरत इत्य-
भिधा नाम यस्य तादृशोऽङ्गजः पुत्रो मुख्यः प्रथमः श्रेष्ठो वा बभूव । उत्प्रेक्ष्यते । शता-
ङ्गजातेष्वनुबिम्बेष्विव । कस्य । पयोधेः क्षीरसमुद्रस्य पुत्री नन्दना लक्ष्मीस्तस्यास्तनयः
कामः स एवावनीपती राजा तस्य । किंभूतेष्वनुबिम्बेषु । महां भूमौ विहरन्ति क्रीडन्ती-
त्येवंशीलेषु । शतमपि सुताः स्मरप्रतिकृतय इव दृश्यन्ते इत्यर्थः ॥

यदीययात्रासु चमूसमुत्थितैर्दिवस्पृथिव्योः प्रविसारिपांसुभिः ।

अहस्त्रियामीयति पद्मिनीपतिः पतङ्गति ध्वान्तति तत्प्रभाभरः ॥ १०० ॥

यस्येमा यदीयास्तासु भरतचक्रिसंबन्धिनीषु यात्रासु दिग्विजयकृतप्रयाणेषु चम्-
समुत्थितैश्चतुरङ्गचक्रचलनादुद्भूतैरङ्गिनीर्वा दिवस्पृथिव्योराकाशमुवोः प्रविसरन्ति विस्त-
रन्तीत्येवंशीलैः पांसुभिर्धूलीभिरहर्दिवसस्त्रियामीयति निशेवाचरति । निःशेषतया
रविप्रकाशस्य रुन्धनात् । पुनः पद्मिनीपतिः भास्वान् पतङ्गति खद्योत इवाचरति ।
किञ्चिद्दृश्यमानत्वेन । 'सर्वप्रातिपदिकात् किप् वा आचारे' इत्येके । तेन कृष्णवदाचर-
तीति कृष्णति' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा पतङ्गति । पुनस्तस्य भानोः प्रभाभरो
ध्वान्तति अन्धकार इवाचरति । भासां श्यामीभूतत्वेन ॥

हरैर्महिष्यां हरति प्रयातवान्य आदितः सादितगोत्रशात्रवः ।

पतिः सुराणामिव दानवारियुग्मजेन्द्रसिन्धूद्भववाजिराजितः ॥ १०१ ॥

यो भरतचक्रवर्ती आदितो दिग्विजयकरणव्यतिकरे प्रथमतो हरेरिन्द्रस्य महिष्यां
पत्न्यां हरति दिशि । प्राच्यामित्यर्थः । 'निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरैर्महिषी हरित्'
इति नैषधे । प्रयातवान् गतः । क इव । सुराणां पतिरिव । यथा शक्रः पूर्वा दिशं प्रति
प्रयाति, तत्पतित्वात् । किंभूतो यः शक्रश्च । सादितं हतं गोत्रं वंशो येषां तादृशः शा-
त्रवा वैरिणो यस्य । यद्वा सादिता निर्मूलमुच्छेदिताः गोत्रसहिताः सर्वंशाः शात्रवा
रिपवो येन । पक्षे—सादिता गोत्राः पर्वता एव शात्रवो येन । पुनः किंभूतः । दान-
वारिभिर्मदजलैर्युञ्जन्ति योगं प्राप्नुवन्तीति दानवारियुजो निर्यद्बहुलमदसलिला ये गजेन्द्रा
भद्रजातीयगन्धोपलक्षिताः सिन्धुराः [तैः] सिन्धुदेशे उद्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशैर्वीजि-
भिरथै[श्च] राजितः शोभितः । पक्षे—दानवानां दैत्यानामरिभिवैरिभिर्गुणन्तीति । देव-
युक्त इत्यर्थः । तथा गजेन्द्र ऐरावणः सिन्धूद्भवः समुद्रोत्पन्न उच्चैःश्रवा अश्वः तेन च
राजितः । 'स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हसन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्' इति नैषधे ॥

स सार्वभौमो ध्वजदण्डशेखरीकृतस्फुरत्काञ्चनकुम्भकान्तिभिः ।

मतङ्गजैरञ्जनशैलमांसलैः क्षितौ तनोतीव सविद्युदम्बुदम् ॥ १०२ ॥

सर्वस्या भूमेरीश्वरः सार्वभौमश्चक्रवर्ती स भरतः । उत्प्रेक्ष्यते । सविद्युदम्बुदं तडि-
त्कलितजलधरं क्षितौ पृथिव्यां तनोतीव करोतीव । कैः । अञ्जननामा शैलः पर्वतः
तद्वन्मांसलैः पुष्टैरुन्नतैश्च । तादृशैर्मतङ्गजैः स्वसेनाकुञ्जरैः । किंभूतैर्मतङ्गजैः । ध्वजानां
पताकानामर्थाद्रजसंबन्धिनीनां दण्डेषु शेखरीकृतानामुत्तंसतां प्रापितानामुपरिस्थि-
तानां वा स्फुरतां दीप्यमानानां झगझगितिकान्तीनां काञ्चनकुम्भानां हेमकलशानां
कान्तिज्योतिर्येषु तैः ॥

दशामवाप्स्यन्ति यदन्तिमामिमेऽसदाश्रया लक्षमिताः क्षितिक्षितः ।

विवर्णतेतीव दिगङ्गनागणैर्मुखे निषेवेऽस्य चमूरजोभरैः ॥ १०३ ॥

दिगङ्गनागणैर्हरिद्वधूवृन्दैः कर्हैभिरस्य भरतचक्रिणश्चमूरजोभरैश्चतुरङ्गदलचलनोद्भूत-

भूरिधूलीपटलैर्मुखै वक्त्रे । उत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः विवर्णता विच्छाद्यता इयामत्वं निधेवे भेजे । सेवितं धृतमित्यर्थः । इति किम् । यद्यस्मात्कारणादस्मदाश्रया वयमेवाश्रयो निवास-स्थानं शरणं वा येषां तादृशा इमे लक्ष्मिताः शतसहस्रसंख्याकाः क्षितिक्षितो राजानः । अन्ते अर्यादायुषोऽवसाने भवामन्तिमां चरमां संग्रामादिना मरणलक्षणां दशामवस्था-मवाप्स्यन्ति लप्स्यन्ते ॥

चमूध्वनिः प्रागिरिकंदरोदरे प्रियोपगूढं सुखसुप्तकिंनरान् ।

इदं यशो गापयितुं गुहागतप्रतिस्वनैर्जागरयन्निबोद्धतः ॥ १०४ ॥

अस्य भरतचक्रिणश्चमूध्वनिर्गजवाजिरथपत्तिचतुरङ्गकटककोलाहलशब्द उद्धतः प्रादुर्भूतः । उत्प्रेक्ष्यते । प्रागिरेः पूर्वाचलस्योदयाद्रेः कंदराणां गुहानाम् उदरे मध्ये प्रियोपगूढं प्रियां किंनरीसुपगूह्यालिङ्ग्य । 'व्यवर्थे समासे णसुल्' इति प्रक्रिया-कौमुद्याम् । चिरविरचितविविधनिधुवनविमोदखेदनिद्रालुतया क्रीडारसिकतया च स्वस्वसुखेन निरातङ्गया सुप्तान् किंनरान् प्रति इदं यशो भरतचक्रिकीर्ति गापयितुं गानविषयां कारयितुं गुहासु गह्वरेषु गतैः प्रातैः प्रतिस्वनैः प्रतिशब्दैः कृत्वा जागरयन् प्रबोधयन्निव विनिद्रान् कुर्वन् उत्थापयन्निव ॥

प्रगल्भफालैर्गगने नखैः पुनर्महीतलस्योत्खननैर्हयव्रजः ।

जयं सृज स्वर्बलिवेश्मनोर्द्वयोरथेति संज्ञापयति स्वयं पतिम् ॥ १०५ ॥

हयव्रजो वाजित्रातो गगने नभोङ्गणे प्रगल्भफालैः प्रकृष्टप्रकर्षोल्लसन्स्रवचैरुड्य-नैर्वा पुनर्नखैः खुरैर्महीतलस्य भूमैर्मण्डलस्य अधःप्रदेशस्य उत्प्राचल्येन खननैः क्षोदनैः । उत्प्रेक्ष्यते । यं पतिं भरतचक्रिणं स्वं स्वामिनमित्यमुनाकारेण संज्ञापयतीव । इति किम् । यत् हे सार्वभौम, भूमिस्त्वया सर्वापि साधिता । अथ स्वः स्वर्लोकः, बलि-वेश्म पातालम्, तयोर्द्वयोस्त्वं जयं सृज साधय । स्वर्गपाताले अपि भूमिवत्स्वाय-त्तीकुरु इत्यर्थः ॥

पयोधिरोधःस्थलरोधिभिः प्रभोरसर्जि गजज्जनबन्धुसिन्धुरैः ।

चराचरे वर्षितुमुत्सुकैरितः किमम्बुदैरम्बुजिघृक्षयागतैः ॥ १०६ ॥

प्रभोर्भूतक्षेत्रस्वामिनो भरतभर्तुरञ्जनस्य कञ्जलस्य श्यामत्वेन बन्धुभिस्तुल्यैः । अथवा अञ्जनाचलस्य श्यामत्वेन तुङ्गत्वेन वा सदृशैः । अथवा अञ्जनाद्रेः सहोदरैरन्यै-रञ्जनाचलैरिवेत्यर्थः । तादृशैः सिन्धुरैः गन्धगजैर्गजा बृंहितं गजितमसर्जि चक्रे । किं-भूतैः सिन्धुरैः । पयोधेः समुद्रस्य रोधस्तटस्तस्य स्थलं बेलागमनभूस्तदुन्धन्तीत्येवं-शीलैः । उत्प्रेक्ष्यते । इतः समुद्रादम्बुजिघृक्षया पानीयानां ग्रहणेच्छया आगतैः किम् अम्बुदैर्मैधैरिव । किंभूतैः । चराचरे सर्वजगति भूमिमण्डले वर्षितुं जलवृष्टिं विधातु-मुत्सुकैरुत्कण्ठितैः ॥

इवेक्षुडिम्भान्क्षितिरक्षिणो महौजसा समुत्खाय पुनः प्ररोपयन् ।

स पूर्वपाथोनिधिसैकतक्षिति(तौ) क्षितेर्विवोढा व्रजति स्म सस्मयः १०७

स क्षितेर्भूमेर्विवोढा भर्ता भरतभूपतिः पूर्वपाथोनिधेः प्राचीसमुद्रस्य । 'पूर्वपर्वतति-
रोहितात्मनः' इति वीरधवलनृपपुरोहितसोमेश्वरभट्टविनिर्मितवस्तुपालकीर्तिकौमुदी-
सोदरसुरथोत्सवकाव्ये । सैकते(तक्षितौ) जलोज्झितप्रदेशे व्रजति स्म जगाम । किंभूतः ।
सह स्मयेन गर्वेण वर्तते यः स सस्मयः । किं कुर्वन् । महौजसा सर्वेभ्यः सातिशा-
यिना षट्खण्डमण्डितभरतभूमीवलयोद्भवयावद्वाजिवारणवेसरसैरभकरभट्टभयुगलमण्ड-
लाकलितसबालवृद्धवयस्थवशासखपुरुषपौरुषानाक्रमणीयेन पराक्रमेण अधिकप्रतापेन
वा । ओजःशब्देन प्रतापोऽपि कथ्यते । यथा नैषधे—'तदोजसस्तद्यशसः स्थिता-
विमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा । तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः
कुण्डलनां विधोरपि ॥' इति । क्षितिरक्षिणो भूपालान् । 'निपथि यस्य क्षितिरक्षिणः
कथाः' इत्यपि नैषधे । समुत्खाय राज्याङ्गं शयित्वा । पुनः पश्चात्प्ररोपयन् । राज्यस्थाने
वा स्थापयन् । कानिच । इक्षुडिम्भानिच । यथा कश्चित्कृषिकः इक्षुणामसिपत्रकाणां
डिम्भान् प्ररोहान् उत्खाय उत्स्थानकादुत्खन्यान्यस्मिन्स्थाने प्ररोपयति । 'पलालजालैः
पिहितेक्षुडिम्भः' इत्यपि नैषधे ॥

अजिह्वता सुहृन्पैर्विले बिलेशयैरिवैतद्वसुधाधवे दधे ।

विनम्रता च ध्रियते स्म वेतसै रये खवन्त्या इव भूरिवेतसैः ॥ १०८ ॥

एतद्वसुधाधवे एतस्मिन् भरतभूपाले सुहृन्नामा देशस्तन्नायकैः सुहृन्नाजैरजिह्वता सर-
लत्वं दधे धृतं तत्कालमेवागत्य प्रणेमे । कैरिव । यथा बिलेशयैः भुजङ्गमैर्विले भूगतरन्ध्रे
स्वनिवसनस्थाने प्रवेशसमये अजिह्वता अवक्रत्वं ध्रियते । च पुनः अस्मिन् नृपे भूरिवेतसै-
र्वेतस्वदेशभूपालैर्विनम्रता विशेषेण नमनशीलत्वं ध्रियते स्म । कैरिव । वेतसैरिव । यथा
खवन्त्या नद्या रये प्रवाहे मध्ये तटे वा उद्गमनशीलैर्वेतसनामवृक्षविशेषैर्विनम्रता ध्रियते ॥

अवापितो गोचरतां स मागधैरिव स्तवस्य प्रमदेन मागधैः ।

सृजद्भिरिन्द्रोऽद्रिगणैः कलिं गजैरिवोपलै रुद्धनतः कलिङ्गजैः ॥ १०९ ॥

स भरतचक्री मागधैर्मगधदेशोद्भवभूपैः प्रमदेन हर्षेण स्तवस्य स्तुतेर्गोचरतां विषयत्वम् ।
'द्वीपाधिपान्नयनयोर्नय गोचरत्वम्' इति नैषधे । अवापितः लम्बितः । कैरिव । मागधै-
रिव । यथा मागधैर्बन्दिजनैश्चक्रवर्ती स्तूयते । पुनः कलिङ्गदेशजैर्भूपैः रुद्धनतः पूर्वं रुद्धः
पश्चात्ततः नमस्कृतः । 'पीतप्रतिबद्धवत्साम्' इति रघौ । 'पूर्वं पीतः पश्चात्प्रतिबद्धो
वत्सो यस्याः सा' इति तद्वृत्तिश्च । "पूर्वकालैकजरत्नपुराणनवकेवलाः सामानाधिकरणेन'
एते समानाधिकरणेन समस्यन्ते स तत्पुरुषः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे
प्रवृत्तिः समानाधिकरणम् । पूर्वकालार्थस्तु अपरकालार्थेन । यथा स्नातानुलितः । पूर्वं
स्नातः पश्चादनुलितः । तथा 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' । समानाभिधेयो

यस्तत्पुरुषः स कर्मधारयाख्यः स्यात् । पीतश्चासौ प्रतिबद्धश्च । तथा स्नातश्चासावनुलि-
तश्च । तथा रुद्धश्चासौ नतश्च । इत्येषोऽपि विग्रहस्तेन कर्मधारयगर्भितस्तत्पुरुषः समासः”
इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । किं कुर्वद्भिः । गजैः साधनभूतैर्हस्तिभिः कलिं संग्रामं सृजद्भिः
कुर्वद्भिः । कैरिव । अद्रिगणैः । यथा पर्वतप्रकरैः उपलैः प्रस्तरैः कृत्वा । युद्धं विदधद्भिः
सद्भिरिन्द्रो रुध्यते प्रणम्यते च ॥

चतुर्दिशामप्ययमर्णवावधीनिति प्रदेशान्ध्वजिनीभिरानशे ।

विभासिताभिः सितसिन्धुरश्रिया यथाभ्रिकाभिः प्रसरत्पयोधरः ॥ १० ॥

अथ भरतसार्वभौम इत्यमुना प्रकारेण ध्वजिनीभिः सेनाभिः कृत्वा चतस्रश्च पूर्वद-
क्षिणपश्चिमोत्तरलक्षणास्ता दिशश्च चतुर्दिशस्तासाम् । कथम् । अपि चतस्रणामपि दि-
शामित्यर्थः । प्रदेशान् विभागान् आनशे व्याप्नोति स्म । किंभूतान्प्रदेशान् । अर्णवः
समुद्रोऽवधिर्मर्यादा यस्य । अथवा अर्णवाश्चत्वारः समुद्राः । ‘पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जु-
गोप गोरूपधराभिवोर्वीम्’ इति रघुकाव्ये । तथा ‘चतुः समुद्रो परिखे नृपाणामन्तःपुरे
वासितक्रीतिदारे । दानं दया सूनुतमातिथेयी चतुष्टयी रक्षणसौविदह्लाः ॥’ इति नैषधे ।
‘वासिता रक्षिताः कीर्तय एव दारा यत्र । तादृशे चतुर्णवखातिके भूमीमण्डले एव नृपा-
णामन्तःपुरे दानं, कृपा, सत्यवचनम्, अतिथिसत्क्रिया, एतच्चतुष्टयी तदन्तःपुररक्षणार्थं
सौविदह्लाः कञ्चुकिनः । एभिश्चतुर्भिः प्रकारैर्विना कीर्तिर्न तिष्ठति ।’ इति तद्वृत्तिः ।
अतश्चत्वारः समुद्रा मर्यादा येषां ते । किंभूताभिर्ध्वजिनीभिः । सितानां भद्रजातित्वेन
शुभ्राणां सिन्धुराणां हस्तिनां श्रिया शोभया विभासिताभिः शोभिताभिः । क इव ।
प्रसरत्पयोधर इव । यथा श्वेतगजेन ऐरावणेन । ‘प्रावृषेणं पयोवाहं विद्युदैरावताविव’ इति
रघौ । अथ वा अभ्रस्य मेघस्य मातङ्गो हस्ती अभ्रमातङ्गः । ‘ऐरावणोऽभ्रमातङ्गश्चतु-
र्दन्तः’ इति हैमीवचनात् । विभासिताभिरभ्रिकाभिर्वर्द्धलैः कृत्वा गगनाङ्गणविस्तरन्मेघ-
श्चतुर्दिक्प्रदेशान्व्याप्नोति । अत्र यथा इवार्थे ॥

अथैष वेलातटतः समं भटैर्यवीवृतन्नीरधिनेमिनायकः ।

गभीररावैरुदरं भरन्भुवो रयः पयोधेरिव यादसां भरैः ॥ ११ ॥

अथ चतुर्दिग्विजयानन्तरमेव वर्ण्यमानबलोत्कर्षो नीरधिनेमेरासमुद्रान्तर्पृथिव्या ना-
यकः पतिर्भरतचक्रवर्ती वेलातटतः समुद्रस्य वेलाया जलवृद्धिस्थानकस्य तटात्तीराद्भटैः
सेनाचरैः शूरैः समं सार्धं न्यवीवृतन्निवर्तते स्म । पश्चाद्वले इत्यर्थः । क इव । रय इव ।
यथा पयोधेः समुद्रस्य रयः पयःप्रवाहः । ‘प्रवाहः पुनरोद्यः स्याद्वेणी धारा रयश्च सः’ इति
हैम्याम् । यादसां नक्रचक्रपाठीनपीठादीनां भरैः व्रजैः साकं वेलातटान्निवर्तते । किंभूत
एष रयश्च । गभीररावैश्चतुरङ्गतुरङ्गजस्यन्दनपदातिप्रबलबलचलनोद्भूतैः स्वभावजैश्च ग-
म्भीरध्वनिभिः कृत्वा भुवः पृथिव्या उदरं मध्यं भरन् पूरयन् । अथ वा ‘पृथिवी प्रपूरयन्’
इत्यपि पाठः ॥

स चक्रिणां भारतभूमिभामिनीविशेषकाणां वृषभाङ्गजोऽग्रणीः ।

तदीयवक्तेव जिनावनीभुजामभूत्सुरश्रेणिनिषेवितक्रमः ॥ ११२ ॥

स जगद्विख्यातो वृषभस्यादिदेवस्याङ्गजः सूनुर्भरतचक्री भारतं भरतक्षेत्रं तस्य भूमिः
सैव भामिनी स्त्री तस्या विशेषकाणां तिलकानां भरत-सगर-मधवा-सनत्कुमार-शान्ति-
कुन्त्यु-अर-सुभूम-पद्म-हरिषेण-जय-ब्रह्मदत्ताभिधानानां द्वादशसंख्याकानां चक्रिणां मध्ये
अग्रणीर्मुख्यः प्रथमो वा अभूदभूव । क इव । तदीयवक्तेव । यथा तस्य भरतस्यायं
तदीयः वक्ता पिता युगादिदेवः । जिनानां सामान्यकेवल्लिनाम् । अथ वा ऋषभ-अजित-
शंभव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-वि-
मल-अनन्त-धर्म-शान्ति-कुन्त्यु-अर-मल्लि-मुनिसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्धमाननाम्नां चतुर्विं-
शतितीर्थकृतानां मध्ये आदिमः अजायत । किंभूतो भरतस्तत्पिता च । सुराणां षो-
डशसहस्राङ्गरक्षकयक्षमुख्यानां चतुःषष्टिदेवेन्द्रादीनां च श्रेणिभिर्निषेवितौ परिचितौ क्रमौ
चरणौ यस्य ॥

य आदिमोद्वारकरो जिनालयं व्यधापयन्मूर्धनि सिद्धभूभृतः ।

समग्रतीर्थेष्वपि सार्वभौमताममुष्य वक्तुं किमु हेमशेखरम् ॥ ११३ ॥

आदौ भवः अर्सापिणीतृतीयारपर्यन्ते । प्रथमस्योद्वारस्य चैत्यस्थापनारूपस्य करः
कारकः अत एव यो भरतचक्री सिद्धभूभृतः शत्रुंजयस्य मूर्धनि ऋषभकूटनामनि शिखरे
जिनालयम् ऋषभदेवप्रासादं व्यधापयद्वार्धकिरलपार्श्वे कारयति स्म । किमूत्रेक्ष्यते ।
अमुष्य श्रीशत्रुंजयगिरेः समग्रेषु त्रिजगद्वासिषु तीर्थेषु सार्वभौमतां चक्रवर्तित्वं वक्तुं क-
थयितुम् । जनानां पुर इति शेषः । हेमशेखरं सुवर्णोत्तंसं किमु कारयति स्म ॥

मृगाक्षि सोपारककुल्यपाकयोरमूल्यमाणिक्यविनीलरत्नयोः ।

स्वतातमूर्तीं भरतेन कारिते दृशाविवैते भरतावनीश्रियः ॥ ११४ ॥

मृगवदक्षिणी नयने यस्यास्तस्याः संबोधने हे हरिणलोचने, तेन भरतेन अमूल्ययोर्म-
हद्वययोर्मूल्यं ज्ञातुमपि कर्तुमपि केनाप्यशक्ययोर्माणिक्यं पद्मरागमणिरन्यो वा कश्चिन्म-
णिविशेषः विनीलरत्नं मरकतमणिस्तयोः स्वतातस्य ऋषभदेवस्य मूर्तीं प्रतिमे कारिते
निर्मापिते । कयोः पुरयोः । सोपारकनाम शत्रुंजयतलहट्टिकायां पत्तनम्, कुल्यपाकनामा-
न्यन्नगरम्, तयोः पुरयोः । अद्यापि विद्यते इत्यध्याहारः । उत्प्रेक्ष्यते । भरतावनीश्रियो
भरतक्षेत्रक्षोणिलक्ष्म्या एते प्रतिमे दृशौ नेत्रे इव ॥

तथा चतुर्विंशतितीर्थकृद्दृहं धराधवोऽष्टापदभूध्रमूर्धनि ।

व्यधापयच्छाश्वतसार्ववेश्मवत्तदद्य यावद्ध्रुववद्वितीष्ठते ॥ ११५ ॥

तथा पुनः स धराधवो भरतभूपतिरष्टापदभूध्रमूर्धनि कैलाशशैलशिखरे तुल्यना-
साप्रस्वस्ववर्णप्रमाणपद्मासनायद्विस्तृतचतुर्विंशतितीर्थकृतप्रतिमालंकृतसिंहनिषद्या नाम चतु-

विंशतेस्तीर्थकृतामृषभादीनां वर्धमानान्तानां जिनानां गृहं प्रासादं व्यधापयत्कारित-
वान् । किं तत् । शाश्वतसार्वभेदमवत् सिद्धायतनमिव । तच्चैत्यमद्य यावदद्यतनं दिवसं
मर्यादीकृत्य वितिष्ठते स्थितमस्ति । किंवत् । ध्रुववत् । यथा ध्रुव उतानपादजस्तारको-
ऽद्याप्याकाशे विद्यते ॥

परान्परःकोटिजिनालयानयं हिरण्यमाणिक्यमयानचीकरत् ।

जिनेन्द्रमूर्तीरपि कोटिशस्तरिरीवाङ्गिनां संसृतिसिन्धुपातिनाम् ॥ ११६ ॥

अयं भरतचक्रवर्ती परान् अन्यान् परःकोटिजिनालयान् कोटेः परे परःकोट्यः ।
कोटिश इत्यर्थः । तादृशान् प्रासादानचीकरत् कारयामास । किंभूतान् । हिरण्यं सुवर्णं
माणिक्यानि रत्नानि मणिविशेषा वा तन्मयान् तै रचितान् । अपि पुनः कोटिशो जि-
नेन्द्राणाम् अतीतानागतवर्तमानचतुर्विंशतितीर्थकृतां मूर्तीः प्रतिमाः काग्यति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते । संसृतिः संसारः स एव सिन्धुः समुद्रः तत्र रागद्वेषादिना पतनशीलाना-
मङ्गिनां प्राणिनां तरीस्तरीतुं नाव इव ॥

नृपोऽयमाद्योऽजनि संघनायकः कृशाङ्गि शत्रुंजयरूप्यशीलयोः ।

क्षमाभृतां भोगभृतां च योऽग्रणीरभूत्पुनः कुण्डलिनामिदाधिभूः ११७

हे कृशाङ्गि तन्वङ्गि, अयं नृपो भरतभूमीन्द्रः शत्रुंजयरूप्यशीलयोर्विमलाचलाष्टापद-
योराद्यः प्रथमः संघनायकः संघपतिरजनि संजातः । पुनर्यः क्षमाभृतां राज्ञां भोगभृतां
भोगिनाम् । 'भोगः श्रीभरतेश्वरे प्रतिपदं लब्धस्तथा गौतमे' इति सूक्तवचनात् । भोगो
राज्यादिसुखं सर्पदेहश्च राज्यादिसर्वसुखभाजां वा अग्रणीर्मुख्योऽभूद्भव । क इव ।
कुण्डलिनामधिभूरिव । यथा नागनाथः शेषः पृथ्वीधारिणां कुलपर्वतादीनां तथा भोगं
सर्पकार्यं विभ्रतीति भोगभृतास्तेषां वासुकिप्रमुखनागानामग्रणीः । शैला हि पादैर्धरां दधते,
शेषस्तु सहस्रसंख्यैः स्वकणामण्डलैः सर्वा वसुंधरां धत्ते । अतोऽग्रणीत्वम् ॥

असौ प्रकामप्रमदं ददानया प्रसूतया ध्यानसुधापयोधिना ।

शिवश्रिया अग्रजयेव केवलश्रिया श्रितो दर्पणिकानिकेतने ॥ ११८ ॥

असौ भरतचक्रा दर्पणिकानिकेतने आदर्शगृहे । 'यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम्' इति
नैषधे । केवलश्रिया केवलज्ञानलक्ष्म्या श्रितो भेजे । किंभूतया । प्रकामं सर्वातिशयिन-
मनन्तं प्रमदं हर्षम् । परमानन्दमित्यर्थः । ददानया यच्छन्त्या । श्रीरपि प्रकृष्टस्य मातृपादाम्भो-
जभक्तस्य कामस्य प्रयुन्नस्य स्वाङ्गजातस्य प्रमोदं दत्ते । पुनः किंभूतया । ध्यानं शुक्ल-
प्रणिधानं तदेव सुधापयोधिः क्षीरसमुद्रः शुक्लध्यानवदुज्ज्वलत्वात्क्षीरमयत्वात् ध्यानामृ-
ताब्धिः । 'गुणश्रेणिसुधासिन्धोः पाण्डोरुज्जागरौजसः' इति पाण्डवचरित्रे । तेन प्रसूतया
जनितया । श्रीरपि दुग्धाब्धेर्जाता । उत्प्रेक्ष्यते । शिवश्रिया मूर्तिलक्ष्म्या अग्रजया ज्ये-
ष्ठभगिन्येव प्रथमोत्पन्नत्वेन केवलज्ञानानन्तरं मोक्षमाप्तेः ॥

दिगन्तवासं किमपास्य काश्यपीविलासशीलैः ककुभां पुरंदरैः ।

तदष्टपट्टक्षितिपैरवाप्यतामुनेव सीमन्तिनि केवलेन्दिरा ॥ ११९ ॥

‘केशेषु वर्त्म सीमन्तः’ इति हैम्याम् । प्रशस्यः सीमन्तोऽस्त्यस्यास्तस्याः संबोधनं हे सीमन्तिनि, तस्य भरतस्य अष्टसंख्याकैः पट्टेषु पदेषु क्षितिपैः । अथ वा । तत्पट्टधारिभिर्मध्यपदलोपे नृपैः । भरतादारभ्य अष्टपट्टधरै राजभिरित्यर्थः । अमुनेव भरतचक्रिणेव आदर्शगृहे केवलेन्दिरा केवलज्ञानलक्ष्मीरवाप्यत प्राप्ता । उत्प्रेक्ष्यते । दिगन्तवासं दिशां प्रान्ते वसतिमपास्य त्यक्त्वा काश्यपी भूमिस्तस्यां विलासः स्थानवैशिष्ट्यं क्रीडनं वा तत्र शीलं स्वभावो येषां तैः । ‘लीला केलिविलासश्च शृङ्गारभावजक्रिया’ इत्यनेकार्थः । केलिः क्रीडा विलासः स्थानवैशिष्ट्यमित्येवं भूरिः ककुभां पुरंदरैरष्टदिक्पालैः किम् । ‘आखण्डलो दण्डधरः शिखावानपतिः प्रतीच्या इति दिग्बहेन्द्रैः’ इति नैषधे ॥

ततोऽस्य संख्यातिगपट्टपङ्क्तिभिः प्रपद्य शत्रुंजयमूर्ध्नि केवलम् ।

महोदयश्रीः समसेवि भास्करैरिवोदयं द्यौरुदयावनीधरे ॥ १२० ॥

ततः अष्टमपट्टधरदण्डवीर्यराजानन्तरमस्य भरतचक्रिणः संख्यामतिगच्छन्त्यतिक्रामन्तीति संख्यातिगाः । कर्मणि ङः । ताभिः । असंख्याताभिरित्यर्थः । पङ्क्तिभिः पट्टधरराजराजीभिः शत्रुंजयमूर्ध्नि विमलाचलशिखरे केवलं केवलज्ञानं प्रतिपद्यासाद्याधिगत्य महोदयश्रीर्मुक्तिलक्ष्मीः समसेवि संसेविता । कैरिव । भास्करैरिव । यथा दिवाकरैरुदयावनीधरे पूर्वपर्वते उदयमुद्गममवाप्य द्यौर्गगनमण्डली सेव्यते ॥

बभूवुरिक्ष्वाकुकुले सहस्रशः सहस्रशोचिःसदृशा महौजसा ।

ततः क्षितीन्द्रा जगदीहितावहा महेन्द्रशैले सुरभूरुहा इव ॥ १२१ ॥

ततः संख्यातिगपट्टपरंपराप्रान्तवार्तितजितशत्रुभूपतिरासीत्तेन स्वसुताजिततीर्थकृते राज्ये विश्राणितम्, श्रीभगवता च स्वपितृभ्रातृसुमित्रधात्रीपतिपुत्राय सगरकुमाराय राज्यं प्रददे, स क्रमाद्वक्त्री भूत्वा चारित्र्यमादाय सिद्धः सगरचक्रिणोऽनन्तरम् । इक्ष्वाकुकुले सौधमेन्द्रेण स्वयं स्थापितस्य श्रीऋषभदेवस्य वंशे सहस्रशः अर्थादसंख्याताः क्षितीन्द्राः पृथिवीपुरंदरा राजानो बभूवुः संजाताः । किंभूताः । महौजसा अतिशायिप्रतापैः सहस्रशोचिषः सूर्यस्य सदृशास्तुल्याः । पुनः किंभूताः । जगदीहितावहाः विश्वकामितविधायकाः । क इव । सुरभूरुहा इव । यथा महेन्द्रशैले मेरौ जगदभिलषितपूरकाः कल्पवृक्षा भवन्ति ॥

इति स्वप्रजागरिकायां भरतदिग्विजयोद्धारप्रतिमाप्रासादकारापणकेवलज्ञानतत्पट्टपरंपरावर्णनम् ॥

इदं वदन्त्यामरविन्दचक्षुषः पुरोऽथ तस्यामपरा निपस्तनी ।

गिराननं योजयति स कौतुकान्मरालिकायामिव कीरकामिनी ॥ १२२ ॥

अथ भरतचक्रिदिग्विजयादिकथितानन्तरम् अरविन्दचक्षुषः कमललोचनाया नाथी-
देव्याः पुरोऽग्रे तस्यां प्रागुक्तायां सख्यामिदं पूर्वोक्तम् ऋषभभरतदिग्विजयचैत्यनिर्मापणादि
वदन्त्यां सत्याम् अपरा अन्या काचिन्निपस्तनी कलशोचकुचा कौतुकात् कौतूहलाद्विरा वाचा
आननं मुखं योजयति स्म । उवाचेत्यर्थः । केव । कीरकामिनीव । यथा मरालिकायां
वदन्त्यां हंस्यां भाषमाणायां सत्यां शुकी वक्ति ॥

मृगाक्षि पश्यामरसिन्धुसारिणीं त्वमभ्रवीथीं सुमनोवनीमिव ।

मयूखलेखामकरन्दितारकामणीचंका मेचकिमालिमण्डलाम् ॥ १२३ ॥

मृगवदक्षिणी यस्यास्तस्याः संबोधनं हे मृगाक्षि स्वामिनि, त्वमभ्रवीथीं गगनपद्धतिं
पश्य विलोकय । उत्प्रेक्ष्यते । सुमनोवनीमिव पुष्पवाटिकामिव । देववनं वा । किंभूता ।
अमरसिन्धुराकाशगङ्गा सैव सारिणी कुल्या यस्याम् । पुनः किंभूता । मयूखलेखा किर-
णश्रेणिरेव मकरन्दो मधु विद्यते येषु तादृशास्तारका एव मणीचकानि कुसुमानि यस्याम् ।
मेचकिमा गगनश्यामत्वम् । 'धृतगम्भीरखनीखनीलिमा' इति नैषधे । तथा 'अचि-
श्चण्डांशुरोचिर्गगनमलिनिमा कज्जलं दह्यमानम्' इति खण्डप्रशस्तौ । तदेव अलिनां भ्रम-
राणां मण्डलानि वृन्दानि यस्याम् ॥

मृगेन्द्रमध्ये मृगयस्व तारकाञ्श्रमोदबिन्दुस्तवकानिवाङ्गके ।

विभावरीकैरवचक्षुषोऽमुना निखेलयन्त्या दयितामृतांशुना ॥ १२४ ॥

मृगेन्द्रः केसरी तद्वन्मध्यमुदरं यस्याः, यद्वा मृगेन्द्रमध्यवन्मध्यं यस्याः । मध्यमपद-
लोपी समासः । कुशोदरीत्यर्थः । त्वं तारकान्(?) ज्योतिश्चक्राणि मृगयस्व पश्य । 'पयः-
पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते' इति खण्डप्रशस्तौ । इवोत्प्रेक्ष्यते । अमुना दृश्यमानेन
दयितेन भर्त्रामृतांशुना सुधाकरेण चन्द्रेण सार्धं निखेलयन्त्या सुरतादिक्रीडां कुर्वत्या
विभावरीकैरवचक्षुषो रजनीकुमुदनेत्राया रात्रिलियः अङ्गमेवाङ्गकम् । 'अकिंचने किंचन
नायकाङ्गके' इति नैषधे । श्रमोदबिन्दुस्तवकान् परिश्रमसंजातप्रस्वेदजलकणगुच्छानिव ।
'श्रमोदबिन्दुप्रकरान्' इति पाठो वा । तदा परिश्रमसलिलकणनिकरानिव ॥

कुशेशयामोदिनि वीक्ष्यतामसौ शनैः शनैः पङ्कजकाननानिलः ।

त्वदाननाम्भोजजनुःप्रभञ्जनैर्जितान्तिके किं समुपैति सेवितुम् ॥ १२५ ॥

कुशेशयं कमलं तद्वदामोदो वपुः परिमलोऽस्त्यस्यास्तस्याः संबोधनं हे कुशेशयामो-
दिनि । पद्मिनीत्यर्थः । हे स्वामिनि, वीक्ष्यतां विलोक्यताम् । अवधार्यतामित्यर्थः । असौ
प्रत्यक्षं शरीरस्पर्शनानुभूयमानः पङ्कजकाननानिलो नलिनवनपवनः शनैः अन्तिके श्री-
मत्याः पार्श्वे उपैत्यागच्छति किम् । उत्प्रेक्ष्यते । त्वदाननाम्भोजात्तव वदनारविन्दाज्जनुरुत्प-
त्तिर्येषां तादृशैः प्रभञ्जनैः त्वद्वक्त्रकमलसुरभिश्चाससमरिणैर्वीतैः सेवितुं त्वत्समीपे
इव समुपैति ॥

करेणुकुम्भस्तनि पश्य दीप्यतेऽन्तिके मणीकुट्टिमविम्बितारकैः ।

त्वदाननस्वामिसितांशुसेवनाकृते नभस्तः किमुपागतैरिह ॥ १२६ ॥

करेणोर्हीस्तनः कुम्भौ शिरसः पिण्डाविव पीनावुच्चौ स्तनौ कुचौ यस्यास्तस्याः सं-
बोधनं हे करेणुकुम्भस्तनि कुम्भिकुम्भपीनोच्चकुचकलशे स्वामिनि, त्वं पश्य निरीक्षस्व ।
अन्तिके श्रीमत्याः सर्मापि मणिकुट्टिमविम्बितारकैर्विविधरत्ननिबद्धसौधप्राङ्गणभूमौ वि-
म्बन्ति अतिस्वच्छवस्तुनि संक्रामन्ति इति विम्बानि विम्बान्यस्त्ये(नि सन्त्ये)षां तादृशै-
स्तारकैर्ज्योतिर्भिर्दीप्यते । किमुत्प्रेक्ष्यते । त्वदाननं तव सुखमेव स्वामी पतिः सि-
तांशुश्चन्द्रस्तस्य सेवनाकृते पर्युपासनां कर्तुं किमु नभस्तो गगनादिह त्वदृहाङ्गणे समा-
गतैः समेतैरिव ॥

त्वदीयवापीतपनास्तमुद्रिताम्बुजन्मकोशव्यसनानुपातिनः ।

क्षपाक्षयायौक्यतिमन्त्रवर्णकानिव द्विरेफा गणयन्ति गुञ्जितैः ॥ १२७ ॥

हे स्वामिनि, त्वदीयवाप्यां तव क्रीडागृह्णीयिकायां तपनस्य सूर्यस्यास्तेन परद्वीपो-
पगमनेनादृशीभावेन । 'तेजोवसाने व्रजति द्वीपान्तरमहर्मणिः' इति सूक्तवचनात् ।
मुद्रितानां निमीलितानां मुकुलीभूतानामम्बुजन्मनां कोशेषु यद्वन्धलक्षणं व्यसनमापत्
कोशान्तरदुःखास्थितिविपात्तिस्तामनुलक्षीकृत्य ज्ञात्वैव । यत्पद्ममुद्रणायां यामिनीं याव-
त्कोशान्तरदुःखेन स्थातव्यमेवेति विचार्य पतन्तीत्येवंशीलाः पातिनः । पतित्वा स्थिता
इत्यर्थः । द्विरेफा भ्रमराः । अत एवोत्प्रेक्ष्यते । गुञ्जितैर्गुञ्जारवैः कृत्वा क्षपाक्ष-
याय निशानाशाय । औक्यतिमन्त्रवर्णकान् ओंकारपूर्वकवर्णस्तस्याक्षराणि गणयन्ति
जपन्तीव ॥

नभःश्रियास्तारकमौक्तिकस्त्रजः किमेणनाभीशितिमाङ्गनायकः ।

दशा विनिर्दिश्य शशाङ्कमादरात्परा ददे कापि गिरं मृगेक्षणा ॥ १२८ ॥

परा अन्या कापि मृगेक्षणा सखी आदरात् तस्यां स्वस्वामिन्यामतिबहुमानाङ्गिरं
वाणीमाददे । जप्राहेत्यर्थः । किं कृत्वा । दशा नेत्रेण शशाङ्कं चन्द्रं विनिर्दिश्य दर्शयित्वा ।
यतः । शशः अङ्गे चक्षुषि उत्सङ्गे वा यस्य । 'अङ्कः क्रोडेऽन्तिकागसोः' इत्यनेकार्थः ।
अत एवोत्प्रेक्ष्यते । नभःश्रिया गगनलक्ष्म्यास्तारका ज्योतिर्गणा उज्ज्वलानि वा मौ-
क्तिकानि स्थूलमुक्ताफलानि तेषां स्रजो मालायाः । हारस्येत्यर्थः । एणनाभ्याः कस्तूरी-
कायाः शितिमा श्यामत्वमङ्गे क्रोडे यस्य कस्तूरीकलितमध्यो नायको मध्यमणिः किम् ॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसिताञ्जखञ्जनेऽधरीकृतः सुभ्रु तवास्यविभ्रमैः ।

विवर्णताश्लेषिमुखस्त्रपाभरादिवास्ततां याति तमस्विनीपतिः ॥ १२९ ॥

निजस्यात्मनः । यद्वा निजयोरात्मीययोरक्षणोर्नयनयोर्लक्ष्म्या शोभया हसिता निर्भ-
त्सिता अवजानि उत्पलकुसुमदजातियावत्कमलानि, तथा खञ्जनाः खञ्जरीटा यया तस्याः

संबोधनं हे निजाक्षिलक्ष्मीहसिताब्जखञ्जने । तथा शोभने भ्रुवौ यस्यास्तस्याः संबोधनं हे सुभ्रु, तमस्विनीपतिश्चन्द्रोऽस्ततां याति । उत्प्रेक्ष्यते । त्रपाभराळज्जातिशयादिव किम् अधरीकृतो हीनो हितः जित इत्यर्थः । कैः । तवास्यविभ्रमेः भवन्मुखश्रीभिः । अत एव किंभूतः । विवर्णताया विच्छायाताया आक्षेपो यत्र तादृक्मुखं यस्य ॥

निजास्यदासीकृतशारदोदयत्सितद्युते भृङ्गिततारतारके ।

विनिद्रतां वीक्ष्य तवेक्षणांभुजे ह्रियेव निद्राति कुमुद्रनं वने ॥ १३० ॥

निजेनात्मीयेनास्येन कृत्वा दासीकृतः किंकरतां प्रापितः शारदः शरत्कालसंबन्धी उदयन्नभस्युद्वच्छन् सितद्युतिश्चन्द्रो यया तस्याः संबोधने निजास्यदासीकृतशारदोदय-त्सितद्युते हे स्वामिनि, वने कानने जले वा स्थलेऽपि कमलिनीकमलसद्भावो दृश्यते । यथा—‘ददर्श तत्र स्थलपद्मिनीं नलः’ इति नैषधे । तथा—‘उत्फुल्लस्थलपद्माभभवच्चर-णभूषिता’ इति चम्पूकथायाम् । कुमुद्रनं कैरवकाननं निद्राति संकुचति । उत्प्रे-क्ष्यते । भृङ्गिते भृङ्गाविवाचरिते श्यामलत्वात् तारे निर्मलतारिके कनीनिके यत्र तादृशं तव श्रीमत्या ईक्षणं लोचनमेवाम्बुजं कमलं तत्र विनिद्रतां विकाशतां वीक्ष्य विलोक्य यदा कमलं विकसति तदा कुमुदं संकुचतीति स्थितिः । ह्रियेव लज्जयेव क(त)स्मा-त्स्वस्य हीनश्रीकत्वात्त्रपा ॥

कृशाङ्गि राजन्यपयातवैभवेऽपराश्रये शोच्यदशावशंवदे ।

शनैः शनैस्तारगणा इवानुगा विभावयाभ्रे विरलीभवन्त्यमी ॥ १३१ ॥

हे कृशाङ्गि तन्वङ्गि, त्वमभ्रे नभसि विभावय पश्य । अपयातवैभवे गतश्रीके राजनि भूपाले चन्द्रे च अनुगाः सेवका इव अमी दृश्यमानास्तारगणा ज्योतिर्त्रजाः शनैः शनै-विरलीभवन्ति स्तोका जायन्ते । किंभूते राजनि । अपरेषां सश्रीकाणामाश्रयो भाजनं यस्य । गताखिललक्ष्मीको हि तदर्थं सश्रीकं परं श्रयते इति स्थितिरेवेति । तत्त्वतस्तु अपरस्यां पश्चिमायामाश्रयो वैश्व यस्य । पुनः किंभूते । शोच्या शोचनार्हा दशा अव-स्था तस्या वशंवदे आयत्ते ॥

प्रपूर्णपाथोरुहबन्धुगर्भिणी तनूभवत्तारकतारभूषणा ।

हरेर्हरित्पाण्डुरिमाणमानने बिभर्ति मत्तेभगतेव सुस्मिते ॥ १३२ ॥

सु शोभनं स्मितमीषद्वसनं यस्यास्तस्याः संबोधने हे सुस्मिते । एतावता बहुहास-निषेधः । हरेरिन्द्रस्य हरित् दिक् पूर्वा आनने मुखे पाण्डुरिमाणमौज्ज्वल्यं धत्ते । किंभूता । प्रपूर्णाः संपूर्णीभूतः प्रसवसमयं प्राप्तः पाथोरुहाणां पद्मानां बन्धुः भास्वान् स एव गर्भोऽस्त्यस्याः । अत एव । पुनः किंभूता । तनूभवन्तः स्तोकीभावं भजन्तः प्रभातत्वात्तारकास्तारा एव ताराण्येवौज्ज्वलानि भूषणानि यस्याः सा । केव । मत्तेभ-गतेव । यथा आपन्नसत्त्वा स्त्री वक्रे पाण्डुरतां धत्ते । किंभूता । संपूर्णा भाग्यवत्तया

भानुवत्स्वयं दीप्यमानो मातुश्च दुःप्रेक्ष्यतेजः करोति । यथा—‘धामैकधामगगा(ङ्गा?)या गङ्गाया इव भास्करम् । गर्भमन्तर्धानाया दुरालोकमभूद्वपुः ॥’ इति पाण्डवचरित्रे । गर्भोऽस्त्यस्या एतावता नार्थादेव्या भास्वत्सन्निभो गर्भो भावीत्यसूचि । पुनः किंभूता । गर्भोद्भवात्वेदादल्पीभवत्सारकवदुज्ज्वलमौक्तिकाभरणानि यस्याः । ‘शरीरसादादसमग्र-भूयणा’ इति रघुकाव्ये ॥

तमस्विनीशेऽस्तमिते प्रकाशतां विलोकयास्ये दधतेऽखिला दिशः ।

कलङ्किदोपाकररुद्रसङ्गिनां वहन्ति केन व्यसनोदये मुदम् ॥ १३३ ॥

हे स्वामिनि, त्वं विलोकय निरीक्षस्व । तमस्विनीशे निशानायके चन्द्रे अस्तं नाशं क्षयं वा इते प्राप्ते सति अखिलाः सर्वा अपि दिशः आस्ये मुखे प्रकाशतां प्रकटतां नक्तं तु तमिस्रवस्त्रेणाच्छादितत्वादव्यक्तता जातासीत् । प्रभाते पुनस्तमःपटोत्सारणात्प्रकटत्वं हर्षहास्यं वा दधते धारयन्ति । ‘प्रकाशः स्फुटहास्ययोः’ इत्यनेकार्थः । युक्तोऽयमर्थः । कलङ्किनामपवादवताम् । ‘कलङ्कोऽङ्गापवादयोः । कालायसमलावपि’ इत्यनेकार्थः । तथा दोपाकराणां निखिलापगुणखनीनां रुद्रस्य चण्डस्य जनसंहारकारिणः सङ्गोऽस्त्येषामिति रुद्रसङ्गिनास्तेषाम् । ‘क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन्’ इति नैषधे । पश्चात्कर्मधारयः । पाप्मवतीपतीनां च । ‘तमोऽज्ञानेऽन्धकारे च पाप्मनि’ इत्यनेकार्थः । पुंसां व्यसनोदये आपत्प्रकटीभावे के जना मुदं हर्षं न वहन्ति बिभ्रति । अपि तु सर्वेऽपि मुदमावहन्ते ॥

इतः श्रियानिर्जितविश्वयौवते समुज्जिहानः सविता निपीयताम् ।

किमु स्फुरद्भाग्यभरो विभावरीवियुज्यमानद्विजसंततेरसौ ॥ १३४ ॥

हे श्रिया स्ववपुर्लक्ष्म्या निर्जितानि पराभूतानि विश्वेषां त्रयाणां जगताम् । त्रैलोक्यस्यापीत्यर्थः । यौवतानि युवतीसमूहा यया तस्याः संबोधने श्रियानिर्जितविश्वयौवते । अलुप्तमासः । हे स्वामिनि, इतः अस्मिन् पार्श्वे । प्राच्यां दिशीत्यर्थः । उज्जिहानः समभ्युदयन् । ‘मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहानाम्’ इति नैषधे । ‘उज्जिहानामुदयन्तीम्’ इति तद्वृत्तिः । सविता सूर्यस्त्वया निपीयतां सादरमवलोकयताम् । यथा सूर्योदयः संजातस्तथा तवापि कुलदिनकरः पुत्रः संजात एवेति सादरत्वम् । किमुत्प्रेक्ष्यते । विभावरी निशायां वियुज्यमानानां वियोगमाप्नुवतां द्विजानां पक्षिणामर्याचक्रवाकविहंगमानाम् । ‘विहगयोः कृपधैव शनैर्ययोरविरहविरहभ्रुवभेदयोः’ इति रघुवंशे । संततेः श्रेण्याः असौ सूर्यलक्षणः स्फुरन् प्रकटीभवन् भाग्यभरः पुण्यसमुदय इव ॥

निरित्वरीभिर्मधुपीभिरुलसत्सरोजकोशात्सखि मञ्जु गुड्यते ।

किं गायनीभिर्वलस्य वासरश्रियाञ्जवन्धोः करपीडनोत्सवे ॥ १३५ ॥

हे सखि, उलसत्सरोजकोशात् विकसत्कमलमुकुलान्निरित्वरीभिर्निर्गमनशीलाभिर्मधुपीभिर्भ्रमरीभिर्मञ्जु मनोहरं यया सात्तथा गुड्यते गुञ्जारवः क्रियते । किमुत्प्रेक्ष्यते ।

अब्जबन्धोर्भास्करस्य वासरश्रिया दिनलक्ष्म्या समं करपीडनोत्सवे पाणिग्रहणमहे धवलस्य गायनीभिर्गानकर्त्रीभिः । किं धवमङ्गलगायनीभिरिवेत्यर्थः ॥

हले हिमाम्भः पतितं विहंगमव्याहारलीलायितवल्लिपल्लवे ।

गायन्मृगाक्षीदशनच्छदे द्विजज्योत्स्नास्मितश्रीरिव लक्ष्यते क्षणम् १३६

हे हले हे सखि, 'किं नान्दिः किं मुरारिः—क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि तु हले भूप-
तिर्भोजदेवः' इति धनपालप्रोक्तभोजस्तुतौ । विहंगमानां पक्षिणां व्याहाराणां वचसाम् । कू-
जितानामित्यर्थः । 'व्याहारो भाषितं वचः' इति हैम्याम् । लीलया क्रीडया आचरितं यत्र
तादृश्या वक्ष्या लतायाः पल्लवे किसलये पतितं हिमाम्भः तुहिनजलं क्षणं क्षणमात्रं ल-
क्ष्यते दृश्यते । केव । द्विजज्योत्स्नास्मितश्रीरिव । यथा गायन्त्या गानं कुर्वत्या मृगाक्ष्याः
स्त्रिया दशनच्छदे अधरे पर्यस्ता द्विजानां दन्तानां ज्योत्स्ना कान्तिस्तया कलितस्मितस्य
हसितस्य श्रीर्लक्ष्मीः क्षणमीक्ष्यते ॥

हैर्भाञ्जनिर्यासपिशङ्कितैः..... ।

..... ॥ १३७ ॥

हे स्वामिनि, हेन्र इमानि हैमानि अब्जानि तेषां निर्यासे रसैरर्थात् परागमकरन्दैः पि-
शङ्कितैः पिङ्गीकृतैः सितच्छदैर्हंसैः कृत्वा पल्वलाः सरोवराणि भान्ति । उत्प्रेक्ष्यते । वतं-
सैः स्वर्णशेखरैरिव । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । अपि पुनः
क्रौञ्चैः प्रसिद्धैः पक्षिविशेषैः क्रैक्रियते प्रभातप्रथमारम्भोत्थितैः क्रैकारवो विधीयते । किमू-
त्प्रेक्ष्यते । कंजाश्रये पद्माकरे पद्मसद्मनि वा प्रवेशे प्रवेशकरणमहोत्सवे तूर्यानिःस्वनैः
किमु वादित्रनिर्घोषैरिव ॥

वाता वान्ति स्मितकजसरिद्वारि कल्लोलयन्तो

मन्दं मन्दं स्खलितगतयः स्त्रैणवक्षोजशैलैः ।

जातिस्नेहात्किमिह मिलितुं कम्पितैराननाना-

माजानेया अपि हरिहयानाद्वयन्ते विभाते ॥ १३८ ॥

हे स्वामिनि, वाताः प्रातर्वायवो वान्ति । वातास्त्रिविधाः । वर्ण्यन्ते—शीता मन्दाः
सुरभयश्च । तदेव दर्शयति—किंभूता वाताः । स्मितानि विकसितानि कजानि कमला-
नि यत्र तादृश्याः सरितो नद्या वारि प्रवहत्पयःपूरं कल्लोलयन्तः लहरीकलितं कुर्वन्तः
उत्तुङ्गरङ्गतरङ्गयुक्तं विरचयन्तः । एतावता कमलकलितजलकल्लोलनेन सुगन्धत्वं शीतत्वं
च दर्शितम् । पुनः किंभूताः । मन्दं मन्दं शनैः । 'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो
यथा त्वाम्' इति मेघदूतकाव्ये । स्खलिता मन्दीभूता भग्ना वा गतिर्येषाम् । कैः । स्त्रै-
णस्य युवतीजनव्रजस्य वक्षोजशैलैः विकञ्चुकितकुचाचलैः । एतावता मन्दत्वं च इति

त्रिधापि वाता दक्षिताः । अपि पुनर्विभाते दिनोदये समये आजानेयाः कुलीनाश्चा आ-
ननानां वक्राणां कम्पितैर्वल्लनैरुर्ध्वाधः करणैर्हरेरिन्द्रस्य रवेर्वा ह्योस्तुरङ्गान् । 'हरिं विदि-
त्वा हरिभिश्च वाजिभिः' इति रघुवंशे । इति प्रसिद्धोच्चैःश्रवस्येकस्मिन्नथेऽपि इन्द्रस्या-
श्वबाहुल्यम् । तथा—'पर्य(ज)न्यहर्यश्वरुभुक्षिबाहु—' इति हैम्याम् । उच्चैःश्रवाः श्वेताश्वः ।
हरयो नीलवर्णा अश्वा यस्येतन्यहरिद्वर्णवाजिसद्भावः प्रोक्तः । रवेस्तु तुरङ्गमानां सप्तत्वेन
बाहुल्यमेवास्ते । आह्वयन्ते आकारयन्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते । जातेरश्वानां कुलस्य स्नेहा-
त्प्रीतेः मिलितुमिह भुवि उच्चैर्गमनशक्त्यभावाद्भूमीमण्डले स्वसमीपे वा किमाह्वयन्ते ॥

चन्द्राननेऽमन्दमरन्दवाष्पा कुमुद्वती मुद्रितनेत्रपत्रा ।

विधोर्वियोगादिव कोशमध्यावरुद्धगुञ्जन्मधुपैर्विरौति ॥ १३९ ॥

चन्द्रानने संपूर्णपार्वणेन्दुरिव वदनं यस्याः । अथवा चन्द्रवदालहादकं मुखं यस्याः
संबोधने नार्थादेवि, कुमुद्वती कैरविर्णा कोशमध्ये स्वरुद्धमुदमुकुलान्तराले अवरुद्धैश्चन्द्रा-
स्तेन बद्धमुकुलमध्य एव स्थितैः । तथा—गुञ्जद्भिः शब्दायमानैर्मधुपैर्भृङ्गैर्विरौति शब्दायते ।
इवोत्प्रेक्ष्यते । विधोर्भर्तृश्वन्द्रमसो वियोगाद्विरहादिव रोदिति । रोदनलक्षणमाह—किंभूता
कुमुद्वती । अमन्दो बहुलो यो मरन्दो मधु स एव बाष्पो नेत्राम्बु अभ्युजलं यस्याः ।
पुनः किंभूता । मुद्रिते निमीलिते नेत्रे एव तत्तुल्ये वा पत्रे यस्याः सा ॥

उपगतमिहान्यसाद्वीपास्त्रगेऽधिपतिं त्विषा-

मनुरतिपरीरम्भारम्भप्रसारिकरं पुरः ।

विकचवदना राजीविन्यः स्फुटोद्भूतकण्टका

नयनकमलैरालोकन्ते वशा इव वल्लभम् ॥ १४० ॥

हे स्वामिनि, राजीविन्यः पद्मिन्यः प्रगे प्रभाते त्विषां पतिं सूर्यं नयनान्येव तत्तु-
ल्यैर्वा कमलैः । कमललोचनैरित्यर्थः । आलोकन्ते पश्यन्ति । का इव । वशा इव । यथा
कामिन्यो वल्लभं स्वकान्तं वीक्षन्ते । किंभूतं सूर्यं वल्लभं च । अन्यस्मादपरस्माद्वीपाह्वन्दि-
रात् । 'तेजोवसाने व्रजति द्वीपान्तरमहर्मणिः' इति सूक्तोक्तेः । तथा—'द्वीपमन्तर्जले
तटम्' इत्युक्तेश्च । इतरस्मात्कस्माच्चिद्वीपान्तरात् इह द्वीपे उपगतमागमने । 'गमनार्थाः
समभ्युपाङ्म्यः पराः कथिताः ।' 'उपगतोऽपि च मण्डलनाभिताम्' इति रघुवंशे । उप-
गतः प्राप्त इति तद्वृत्तिः । पुनः किंभूतम् । पुरोऽग्रे अनुरत्ना अनुरागेण । 'रागोऽनुरागो-
ऽनुरतिः' इति हैम्याम् । यः परीरम्भ आलिङ्गनं तस्यारम्भाय उपक्रमार्थं प्रसारिणः प्रसरण-
शीलाः कराः किरणा हस्ताश्च यस्य । किंभूताः पद्मिन्यो वशाश्च । विकचवदना विकस्ति-
तमुखाः । पुनः किंभूताः । स्फुटं प्रकटमुद्भूताः प्रादुर्भूताः कण्टका अङ्कुरविशेषाः । ना-
ल्योतः कण्टकाः स्युः । 'कण्टकः पद्मनाले' इति वचनात् । तथा—उद्भूतो रोमाञ्चो या-
माय । 'रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हैम्याम् । स्त्रीपुरुषयोरपि विशेष-
णानि स्युः ॥ इति सखिकथितरात्रिविरामविभातादिनकरोदयवर्णनम् ॥

आनन्दाद्वयवादमेदुरमना मध्ये सखीनामिति

प्रारब्धाभिनवोक्तियुक्तिरचना वाग्देवताश्रीजुषाम् ।

देवीनां जयवाहिनीव सुमनोवल्लीव वा वीरुधां

ताराणां विधुमण्डलीव महिला कामप्यवाप श्रियम् ॥ १४१ ॥

सा महिला नाथी देवी सखीनां स्ववयसी(स्या)नां मध्ये स्थिता सती कामप्यनिर्व-
चनीयां श्रियं शोभामवाप लेभे । किंभूता सा । आनन्दस्य प्रमोदस्य योऽद्वयवादो-
ऽद्वैतता तेन मेदुरं पुष्टं मनो यस्याः । किंभूतानां सखीनाम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेणा-
रब्धाः प्रकाशिता अभिनवा नूतना उक्तयो वार्तास्तासां युक्तीनां योजनानां न्यायानां
रचनाः संदर्भास्तैः कृत्वा तासु वा वाग्देवतायाः सरस्वत्याः श्रीजुषां शोभाभाजां वाग्वा-
दिनीवद्वा लक्ष्मीभूताम् । केव कासां मध्ये श्रियमाप्नोति । देवीनां देवाङ्गनानां मध्ये
जयवाहिनी इन्द्राणीव । पुनः केव । वीरुधां वल्लीनां मध्ये सुमनोवल्ली कल्पलतेव ।
ताराणां तारकाणाम् । 'भकनीनिकयोस्ताराः' इति लिङ्गानुशासने । पुंस्त्रीलिङ्गे तारा-
शब्दः । मध्ये विधुमण्डली चन्द्रबिम्बमिव । 'कुवलयमृणालमण्डला' इति लिङ्गानुशासने
मण्डलशब्दखिलिङ्गे ॥

यं प्राप्तुं शिवाहसाधुमथवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाङ्गीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरचरिते सर्गो द्वितीयोऽभवत् ॥ १४२ ॥

पण्डितदेवविमलगणिव्यावर्णिते हीरसौभाग्याभिधे महाकाव्ये हीरविजयसूरचरिते
द्वितीयः सर्गोऽभवत् जातः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौ-
भाग्यनाम्नि महाकाव्ये कुराणाथीगजस्वप्न-तजागरिका-ऋषभदेवभरतदिविजय-सखीक-
थितभरतदिविजयादि-नात्रिविरामदिनकरोदयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

तृतीयः सर्गः ।

कल्पद्रुमाङ्कुरमिवामरशैलभूमी

रत्नं विदूरधरणीव घनस्वनोत्थम् ।

अन्तर्मदोदयमिवेभकपोलपाली

नाथी ततोऽवहत दोहदलक्षणं सा ॥ १ ॥

ततः स्वप्नदर्शनधर्मजागरिकरणानन्तरं सा कुरामहभ्यपत्नी नाथीदेवी दोहदलक्षणं गर्भ-

मवहत धत्ते स्म । 'सुदक्षिणा दोहदलक्षणं दधौ' इति रघुवंशे । तथा 'गर्भस्तु गरभो-
भ्रूणो दोहदलक्षणं च सः' इति हैम्यामपि । केव । अमरशैलभूमीव । यथा मेरुमही
कल्पद्रुमाङ्कुरं सुरतप्ररोहं वहते । पुनः केव । विदूरधरणीव । यथा विदूरपर्वतस्य पृ-
थिवी । 'यथा विदूरीन्दिरदूर्तां गमी' इति नैषधे । घनस्वनोत्थं प्रावृत्समयप्रादुर्भूतं पयो-
धरधीरगर्जारवध्वजसमुद्भूतं रत्नं वैदूर्यं नाम मणिं विभर्ति । प्रावृत्काले हि सजलजल-
धरैर्जितगजिताकर्णनसमये एव विदूरभूधरभूमौ वैदूर्यरत्नशलाकाः प्रादुर्भवन्तीति श्रुतिः ।
पुनः केव । इभकपोलपालीव । यथा गजेन्द्रगण्डस्थलम् । पालीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति ।
यथा—'कालिन्दीकूलपालीपु' इति पाण्डवचरित्रे । अन्तर्मध्ये मदानां दानजलानामुदयं
प्रादुर्भावं धत्ते । 'अन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः' इति रघौ ॥

श्रीमन्महेभ्यपुरुहूतपयोरुहाक्षी

नीराज्यमानवदना शरदिन्दुबिम्बैः ।

आसेदुषी शशिमुखी सुषमां दधाना

गर्भं पलालपिहितेक्षुशिशुं क्षमेव ॥ २ ॥

शुक्ती रसोद्भवमिवाम्बु धनावलीव

माणिक्यराशिमिव शैवलिनीशवेला ।

विद्याविशेषमिव विज्ञसभासबिम्बं

प्रासादभूमिरिव वायुसखं शमीव ॥ ३ ॥

रक्ताङ्कपङ्क्तिरिव कृष्णलताप्ररोह-

मात्रेयदृष्टिरिव वल्लभमौषधीनाम् ।

धात्री निधानमिव शैलगुहेव सिंहं

कंसारिनाभिकजकोशकुटीव शंभुम् ॥ ४ ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रीमतः शोभाभाजो गणनातीतलक्ष्मीकलितस्य वा, महेभ्यानां अत्युच्चशिलोच्चय-
प्रमाणवारणपरिमाणसुवर्णवतां व्यवहारिणां मध्ये पुरुहूतस्य इन्द्रस्य सर्वेभ्योऽपि लक्ष्म्या
अतिशायित्वात् कुरासाधोः पयोरुहाक्षी कमलनयना स्त्री नाथी नामा पत्नी सुषुमां
सातिशयिनीं शोभाभासेदुषी प्राप्तवती । लेभे इत्यर्थः । किंभूता । शशिमुखी चन्द्रानना ।
किं क्रियमाणा । शरदिन्दुबिम्बैः शरत्कालसंबन्धिमुगाङ्कमण्डलैः । अर्थात् वेधसा भ्र-
मर्णाक्रियाभिः । नीराज्यमानमारात्रिकं क्रियमाणं वदनं सुखं यस्याः । पुनः किं
कुर्वाणा । गर्भं धारयन्ती । केव । क्षमेव । यथा पलालैर्धान्यत्वग्भिः पिहितमाच्छादि-

तमिक्षुशिखुं बालरसालप्ररोहम् । 'इक्षुः स्याद्रसालोऽसिपत्रकः' इति हैम्याम् । 'रसाल इक्षौ चूते च' इत्यनेकार्थः । 'पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासाद्यतीक्षु-
डिम्भः' इति नैषधे । तं धारयन्ती भूमी सुषमामासादयति इति सर्वत्र योज्यम् ॥ पुनः
केव । शुक्तिरिव । यथा शुक्तिका रसोद्भवं मौक्तिकम् । पुनः केव । घनावलीव । यथा
मेघमाला अम्बु जलम् । पुनः केव । शैवलिनीश्वरेव । यथा समुद्रवेला माणिक्य-
राजो रत्नमण्डलीम् । पुनः केव । विज्ञप्तमेव । यथा विज्ञानां पण्डितानां सभा समाजः
श्रेणी वा विद्यानां विशेषं रहस्यमुपनिषदं वा । 'ब्राह्मीव दौर्जनी संसद्वन्दनीया समेखला'
इति चम्पूकथायाम् । पुनः केव । प्रासादभूमिरिव । यथा प्रासादस्य जैनविहारस्य भूमिः
गर्भागारक्षोणी आसस्यार्हतो बिम्बं प्रतिमाम् । बाहुल्येऽपि मूलनायकस्यैवैक्येनैकमेवाप्त-
विम्बमिति । पुनः केव । शमीव । यथा शमी 'खेजडी' नामातर्वायुसखं कुशानुम् ॥ पुनः
केव । रक्ताङ्गपङ्क्तिरिव । यथा विद्रुममालिका कृष्णलतायाः 'कालीविल' इति प्रसिद्धायाः
प्ररोहमङ्कुरम् । पुनः केव । आत्रेयदृष्टिरिव । यथा अत्रेर्मुनिविशेषस्थेयमात्रेयी सा चासौ
दृष्टिश्च । अत्रिनामतापससंवन्धिनी दक् । औषधीनां वल्लभं विधुम् । 'विधुरत्रिद्वर्जः'
इति हैम्याम् । 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' इति रघौ । 'अत्रिजातस्य या
मूर्तिः शशिनः सज्जनस्य च' इति चम्पूकथायाम् । पुनः केव । धात्रीव । यथा भूमि-
निधानम् । पुनः केव । शैलगुहेव । यथा गिरिकन्दरा केसरिणं सिंहम् । पुनः केव ।
कंसारिनाभिकजकोशकुटीव । यथा कंसारेः कृष्णस्य नाभिस्तत्रोद्भूतं यत्कजं कमलं तस्य
कोशः कुड्मलं स एव कुटी पर्णतणाच्छादितसदनं सा शंभुं ब्रह्माणम् । 'शंभुर्ब्रह्मार्हतोः
शिवे' । 'नारायणनाभ्यम्भोरुहकुहरकुटीमधिशायनस्य' इति चम्पूकथायाम् । प्राशुक्त-
मस्ति । नाभिभवत्वेनैवमुपमा । 'नाभिपद्मात्मभूरपि' इति हैम्याम् ॥ इति गर्भाधानम् ॥

एकातपत्रमिह यत्तनुजो विधाता

साम्राज्यमिन्दुविशदं जिनशासनस्य ।

शीतांशुमण्डलमितीव सितातपत्री-

कर्तुं स्वमूर्धनि तया स्पृहयाबभूवे ॥ ९ ॥

तया नार्थदेव्या स्वमूर्धनि निजमस्तके । उत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः शीतांशुमण्डलं चन्द्र-
बिम्बं सितातपत्रीकर्तुं श्वेतच्छत्रं विधातुं स्पृहयाबभूवे आचकाङ्क्षे । इति किम् । यत्तनुजो
यस्यास्तनुजः पुत्रो जिनशासनस्य इह भूमण्डले एकमद्वितीयमातपत्रं छत्रं विधाता
करिष्यतीति । किंभूतम् । इन्दुविशदं चन्द्रकलोज्ज्वलम् ॥

प्रेम्णा गुणाननुगुणीकृतवेणुवीणा

एणीदृशः सुमनसामदसीयसूनोः ।

गास्यन्ति ताभिरिति कीव(?)तया विधातुं

सौहार्दमम्बुजदृशा हृदि काम्यते स्म ॥ १० ॥

तया अम्बुजदृशा नलिननयनया । उत्प्रेक्ष्यते । इति किं कारणात्ताभिः सुरीभिः
सार्धं सौहार्दं मैत्र्यं विधातुं कर्तुं हृदि चित्ते काम्यते स्म वाञ्छयते स्म । इति किम् ।
यददृसीयसूनोर्नाथीनन्दनस्य गुणान् शमदमसंयमगाम्भीर्यधैर्यौदार्यस्थैर्यादिकान् सुमनसां
देवानां तादृशापरानन्यागण्यग्राभगानश्रवणेन निजस्त्रैणोपरि नाभ्यसूयन्ति प्रत्युत प्रमोदन्ते
इति सुमनसः । तेषामेणीदृशो वशादेव्यः प्रेम्णा हृदयहार्देन स्नेहेन गास्यन्ति । किंभूता
देव्यः । अनुगुणीकृताः स्वस्वरानुयायिनीविहिता निजालापसदृशीकृता वेणवो वंशास्तथा
वीणा याभिः ॥

शौण्डीर्यचङ्क्रमणचारिमदानलीला-

श्रीभिर्यतो मम सुतस्तमधो विधाता ।

आरोढुमन्तरिति जम्भनिशुम्भकुम्भि-

कुम्भस्थले किमनया हृदि काम्यते स्म ॥ ७ ॥

अनया नार्थदेव्या । किमुत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः जम्भनिशुम्भस्य शक्रस्य कुम्भिन ऐ-
रावणस्य कुम्भस्थले स्कन्धप्रदेशे आरोढुं चढितुं काम्यते स्म चक्रमे । कुम्भस्थले चढित्वा
उपवेष्टुं वाञ्छयते स्मेत्यर्थः । यतो यस्मात्कारणात् । शौण्डीर्यस्य पराक्रमस्य । 'पौरुषं
विक्रमः शौर्यं शौण्डीर्यं च पराक्रमे' इति हैम्याम् । तथा—चङ्क्रमणचारिम्णो मन्थरग-
तिविलासमञ्जुलत्वस्य, तथा—दानस्य विश्राणनस्य मदवारिणो वा, लीला आधिक्याति-
शयविलासास्तासां श्रीभिः कृत्वा मम सुतो नन्दनस्तमैरावणमधो विधाता अधः कर्ता ।
तिरस्करिष्यतीत्यर्थः ॥

यत्तत्सुतो मधुरिवावनिजव्रजानां

कर्ता यशःसुरभिदिग्बलयः प्रबोधम् ।

प्रीतिं प्रणेतुमृतुना किमिति सितास्या

ग्रीष्माग्रजेन सह कामयते स्म चित्ते ॥ ८ ॥

यद्यस्मात्कारणात् तत्सुतस्तस्या नार्थदेव्याः सुतः पुत्रः, मधुरिव वसन्तसमयवत् अ-
वनौ पृथिव्यां जाता अवनिजा जना द्रुमाश्च । 'भुविदिविजमहि(ही?)यम्' इत्यजितशा-
न्तिस्तववचनान् । भुविजा जना दिविजा देवाः अलुक्समासेन नामानि यथा 'दिविषदो
देवाः' 'क्षितिरुदः कारस्करो विष्टरः' इति हैम्याम् । तथा 'नृत्यन्ति भीमानुजगोजभाजः' ।
भीमानुजोऽर्जुनः स एव गोजः शास्त्री तं भजन्ते इति विदग्धसुखमण्डने । तेषां व्रजास्तेषां
प्रबोधे प्रतिबोधं विकारां कर्ता करिष्यति । किंभूतस्तत्सुतः । यशोभिः कीर्तिभिः सु-
रभिः सुगन्धं वासितं दिग्बलयं दिशां विभागो यस्मात् । अथ वा । यशःसुरभीकृत-
दिग्बलयः यशसा स्वकीत्यां सुरभीकृतं सकलदिग्बलं येन । कृतमध्यमपदस्य लोपे नि-
मित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः । कृधार्ता परे चित्रप्रत्ययनिमित्ते गते दीर्घस्याप्यभावो जात

इति । सुरभिदिग्वलयो वसन्तोऽपि । विविधविकसिततरुकुसुमपरिमलैः सुगन्धीकृता-
खिलदिव्यचक्रः स्यात् । इति हेतोः स्मितास्या हसितवदना नाथीदेवी ग्रीष्माग्रजेन नि-
दायसमयवृद्धभ्रात्रा उष्णकालात्प्रथमजत्वेन वसन्तानन्तरं हि ग्रीष्मसमयोद्भवनात् ।
ऋतुना वसन्तऋतुना समं सार्धं प्रीतिं स्नेहं प्रणेतुं कर्तुं हृदि चित्ते कामयते स्म
ईदृते स्म ॥

तस्याः सुतो रविरिवाम्बुजपाणिविश्व-

चक्षुः प्रबोधकरकृततमा महस्वी ।

भावी यतः किमिति पद्मदृशा च काङ्क्षे

तन्मण्डलं स्वसदनेऽनिशमुज्जिहानम् ॥ ९ ॥

यतः कारणात्तस्या नाथीदेव्याः सुतः पुत्रो रविर्मानुमानिव अम्बुजे पद्मे इव पाणी
हस्तौ यस्य । तथा—अम्बुजमाकृत्या कमलं पाणौ यस्य । तथा—विश्वस्य जगज्जनस्य धर्ममा-
र्गप्रकाशकत्वेन चक्षुरिव चक्षुः । तथा प्रबोधं तत्त्वज्ञानं तस्य करः कारकः । प्रतिबोधदायक
इत्यर्थः । तथा कृत्तं छिन्नं तमः पापमज्ञानं वा येन स तादृशो भावी भविष्यति । रवि-
स्तु—कमलकलितकरः जगच्चक्षुर्नामा । प्रबोधो विनिद्रता जागरणं तत्कारकः दलित-
न्धकारश्च वर्तते । पुनः किंभूतः । महस्वी प्रतापवान् । कुदृशामधृष्यः । अथ वा—
उत्सववान् । उत्सववाच्यपि महःशब्दः सकारान्तोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—‘एनं मह-
स्विनमुपैहि सदारुणोच्चैः’ इति । महस्विनमुत्सववन्तमिति तद्वृत्तिः । यत्र यत्रैष व्रजति
तत्र तत्रोत्सवपरम्पराः पदे पदे भविष्यन्तीत्यर्थः । रविरपि तेजस्वी इति हेतोः किमु-
त्प्रेक्ष्यते । पद्मदृशा कमललोचनया नाथीदेव्या तया तन्मण्डलं रविबिम्बमनिशमहोरात्रं
स्वसदने निजमन्दिरे उज्जिहानमुदयमानं चकाङ्क्षे वाञ्छितम् ॥

स्वः सानुमन्तमधिरोढुमथात्मदर्शी-

कर्तुं विधुं पुनरपांपतिमुत्तरीतुम् ।

सिद्दालयेष्वपि सभाजयितुं जिनान्सा

गर्भानुभावत इयेष यथार्हदम्बा ॥ १० ॥

सा नाथी गर्भानुभावतः शुभगर्भप्रभावात् स्वः सानुमन्तं सुमेरुम् । ‘रत्नसानुः सुमेरुः
स्वः स्वर्गिकाञ्चनतो गिरिः’ इति हैम्याम् । अधिरोढुमध्यासितुं चढितुम् । अथ पुन-
विधुं चन्द्रमसमात्मदर्शीकर्तुं दर्पणं विधातुम् । स्वाननविलोकनायेति शेषः । पुनरन्यत् ।
अपांपतिं समुद्रमुत्तरीतुं स्वभुजाभ्यामखिलमपि जलमाक्रम्य तीर्त्वा परतटे प्रयातुम् ।
अपि पुनः सिद्दालयेषु शाश्वतजिनप्रासादेषु जिनान् शाश्वतनामभाज ऋषमवर्धमानच-
न्दाननवारिषेणान् तीर्थकृतप्रतिमाः सभाजयितुं पूजयितुम् । ‘सभाजनं तत्र ससर्जं तेषां
सभाजने पश्यति विस्मिते सा’ इति नैषधे । सभाजनं पूजनमिति तद्वृत्तिः । ‘सभाजनार्थं

सभाजयति' इति क्रियाकलापे । तथा 'भ्रुवा विनिर्दिश्य सभा सभाजितम्' इत्यपि नैषधे ।
समया सभाजनेन सभाजितं पूजितमिति तद्वृत्तिः । अथ प्रस्तुतम् । इयेष पूर्वोक्तं मन्द-
राधिरोहणादि सर्वमपि वाञ्छति स्म । केव । अर्हदम्बेव । यथा जिनजननी श्रीजिनग-
र्भानुभावाद् पूर्वोक्तप्रकारानन्यानपि शुभदोहदोद्भूतप्रकारान् काङ्क्षति स्म ॥ इति दोहदाः ॥

तदोहदप्रकरपूर्तिविधौ सुपर्व-

वल्ल्या विधेरिह तथा स्पृहया व्यलासि ।

श्रेयोवतामिव ततिः परिपूर्णकामा

जज्ञे यथानतिचिरादियसायताक्षी ॥ ११ ॥

इहास्मिञ्जगति तस्या गर्भवत्याः दोहदानां गर्भानुभावोद्भूताभिलाषाणां प्रकरस्य समू-
हस्य प्रपूर्तिविधौ प्रकर्षेण संपूर्णिकरणप्रकारे सुपर्ववल्ग्या कल्पलतातुल्यया विधेर्जगत्स्थि-
कर्तुः स्पृहया वाञ्छया तथा तेन प्रकारेण व्यलासि विलसितं प्रवृत्तम् । तथा कथम् ।
यथा आयताक्षी आयते प्रसूतिप्रमाणे कर्णान्तं यावत्प्रसूते वा अक्षिणी नेत्रे यस्याः सा
इयं नाथी अनतिचिरात्स्तोककालादेव परिपूर्णकामा संपूर्णभूताभिलाषा निवृत्तमनोरथा
जज्ञे जाता । केव । श्रेयोवतां ततिरिव । यथा पुण्याङ्गानां जनानां श्रेणी अभिलाषावि-
र्भवनानन्तरं त्वरितं प्रसूतपुण्यवत्त्वात्पूर्णमनोरथा जायते ॥

सा दोहदोदयकृशीकृततत्प्रपूर्ति-

संप्रापितोपचयसंचरचारिमश्रीः ।

भाति स फाल्गुनविपन्नितचैत्रसान्द्री-

भूतावनीरुहततिर्विपिनस्थलीव ॥ १२ ॥

सा नार्था भाति स्म । किंभूता । पूर्वं तेषां दोहदानां जगत्प्रशस्यानामुदयेनाविर्भावेन
कृशीकृता दुर्बला विहिता पश्चाच्च तेषां दोहदानां प्रपूर्त्या प्रकर्षेण पूरणेन संपूर्णभवनेन
संप्रापितः सम्यक्प्रकारेण लम्बित आसादितो वा उपचयः पुष्टिर्यस्य येन वा तादृशस्य
संचरस्य देहस्य चारिमणो मनोहरतायाः श्रीर्यस्याः, चारुत्वयुक्ता लक्ष्मीर्यस्याः सा वा,
समासान्तविधेरनित्यत्वात् । केव । विपिनस्थलीव यथा वनभूमिर्भाति । किंभूता वनस्थ-
ली । प्रथमं फाल्गुनेन फाल्गुनिकमासेन विगतानि पत्राणि पर्णानि येभ्यस्ते विपत्राः । वि-
पत्रान् करोतीति विपत्रयति । 'तत्करोति तदाचष्टे' इतीप्सरस्यः । विपत्र्यन्ते स्म इति
विपत्रिताः । अथवा । विपत्रत्वं संजातमेष्टेयां वा । 'इतो जातार्थे' इतीत प्रत्ययेऽपि ।
विपत्रिताः पत्ररहिताः कृता इत्यर्थः । पश्चाच्चैत्रेण मधुमासेन सान्द्रीभूताः पल्लवपुष्पफलै-
र्धनच्छाया जाता अवनीरुहा वृक्षास्ते विव्रन्ते यस्यां सा ॥

निस्तीर्य दोहदभवातिमथैणचक्षु-

र्भदस्वितामवयवेषु वभौ वहन्ती ।

स्मेरद्वलैरुपचिता नवशारदीन-

नालीकिनीवदतिवाहितवारिवाहा ॥ १३ ॥

अथ दोहदपूर्णभवनानन्तरम् । एणचक्षुर्मृगनेत्रा नाथी अवयवेष्वङ्गेषु मेदस्वितां पुष्टिं वहन्ती विभ्रती सती बभौ राजते स्म । किं कृत्वा । दोहदेभ्यो गर्भानुभावोत्पन्नविविधा-भिलाषेभ्यो भवासुत्पन्नामति पीडां चिन्तां वा निस्तीर्य निरस्य । किंवत् । नवशारदीन-नालीकिनीवत् । यथा नवा नूतना शारदीना शरत्कालसंबन्धिनी नालीकिनी कमलिनी स्मेरद्विकसद्भिः । 'स्मेरदम्भोरुहाराम' इति पाण्डवचरित्रे । दलैः पञ्चरूपचिता पुष्टा कृता । पुनः किंभूता । अतिवाहितो वारिवाहो मेघसमयो यया । 'वर्षासु कमलानि शीर्यन्ते विद्राणपङ्कजसरसि' इति चम्पूकथायाम् । 'त्रिदिवसमुद्भवन्ति प्रोन्मीलत्सु नीलनी-रजेषु शरच्छ्रीकटाक्षेष्विव' इत्यपि चम्पूकथायाम् ॥

शुद्धां क्रियां विदधतामधिभूर्यदेष्ट

भावीरितः किमिति भागवतैः प्रतापैः ।

आनन्दपूर्वविमलव्रतिवासवस्तां

प्राग्जन्मनः समय एव समुद्धार ॥ १४ ॥

आनन्द इति शब्दः पूर्वं यस्य तादृशो विमलः एतावता आनन्दविमलनामा व्रतिनां साधूनां मध्ये वासवः शक्रः सुरीन्द्रः जन्मनः प्राक्समये एवार्थात् श्रीहीरविजयसूरिजन्म-कालात्प्राक् पूर्वकमेव निदेशां निरवद्यां क्रियामनुष्ठानमुद्धार समुद्धारति स्म । एतावता हीरकुमारे गर्भेऽवतीर्णमात्र एवानन्दविमलसूरिः क्रियोद्धारं कृतवानित्यर्थः । किमुत्प्रेक्ष्यते । भागवतैर्भविष्यत्सूरिसंबन्धिभिः प्रतापैः प्रभावैर्माहात्म्यैः । 'स प्रतापः प्रभाववत्' इति है-म्याम् । इति हेतोः ईरितः प्रेरितः किम् । यत्कारणात् एष हीरविजयसूरिः शुद्धां निर्मलां क्रियामनुष्ठानं विदधतां साधूनामधिभूरधिपतिर्भावी स्वामी भविष्यति । प्रागित्यव्ययम् ॥

कालागुरुद्रवकरम्बितगन्धधूली-

पत्रावलीकलितपाण्डुरगण्डभाजा ।

छायाधरः शरदपास्तपयोदरोधो-

ऽवश्याय दीधितिहरहस्यत तन्मुखेन ॥ १५ ॥

तन्मुखेन नाथीवदनेन अवश्यायदीधितिर्हिमद्युतिः । 'अवश्यायस्तु तुहिनं प्रालेयं मि-हिका हिमम्' इति हैम्याम् । अहस्यत हसितः । तिरस्कृत इत्यर्थः । किंभूतेन तन्मुखे-न । कालागुरुद्रवेण काकतुण्डस्य पयसा पङ्केन वा करम्बिताया व्याप्ताया गन्धधूल्या-कस्तूर्याः पत्रावलीभिः कलितौ संयुतौ । तथा—गर्भानुभावात्पाण्डुरौ विशदौ गण्डौ क-पोलौ भजतीति भाक् तेन भाजा उल्लसद्बहलमृगमदजललिखितविचित्रपत्रभङ्गमव्यविपु-लकपोलमण्डलेन मुखेन । 'शशाङ्कमन्तःस्फुरत्कलङ्कमुपहसन्ती' इति चम्पूकथायाम् ।

किंभूतश्चन्द्रः । छायामन्तःश्यामतां धरतीति । पुनः किंभूतः । शरदा घनात्ययेन अपास्तो निराकृतः पयोदानां मेघानाम् । ‘प्रावृषेण्यो घनो जलदायी न शारदः’ । यत उक्तम्—‘अन्ये ते [खलु नीरदा] जलधरास्तृष्णां विनिघ्नन्ति ये भ्रातश्चातक किं वृथात्र रटितैः खिन्नोऽसि विश्राम्यताम् । मेघः शारद एष काशधवलः पानीयविरक्तोदरो गर्जत्येव हि केवलं भृशमपां नो बिन्दुमुद्यच्छति ॥’ इति वर्षाहाष्टके । अतः पयोदानाम् सार्थकम् । रोधो रुन्धनं यस्याः ॥

लीलाचलद्वलगणा विगलन्मरन्द-

लुभ्यन्निलीनमधुपा सितपद्मपङ्क्तिः ।

प्रस्पन्दमाननयनेन सविभ्रमभ्र-

भाजा यदीयवदनेन विडम्ब्यते स्म ॥ १६ ॥ त्रैलोक्ये-

यदीयवदनेन गर्भसमयत्वात् पाण्डिमण्डितेन नाथीमुखेन सितपद्मपङ्क्तिः कुमुदमण्डला । ‘श्वेतो तु तत्र कुमुदम्’ इति हैम्याम् । विडम्ब्यते स्म अनुक्रियते स्म । ‘पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्कासचामरः । ऋतुविडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्लयम् ॥’ इति रघौ । शरद-
तुस्तं रघुं राजानं विडम्बयामास । अत्र चामरादिभिरनुचकार, परं तल्लक्ष्मीं न तद्वृत्तिः । किंभूतेन वदनेन । प्रस्पन्दमाने स्वभावचपले नयने लोचने यस्मिन् । ‘प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्’ इति रघौ । पुनः किंभूतेन मुखेन । सह विभ्रमेण विलासेन वर्तते तादृशी भ्रुवं नयनोर्ध्वरोमपद्मं भजतीति । किंभूता सितपद्मपङ्क्तिः । लीलया नातिशयेन मन्दमरुत्प्रेरणया चलतां लोलीभवतां दलानां पत्राणां गणो यत्र । पुनः किंभूता । विगलन्तो निष्पतन्तो ये मरन्दा मधूनि तदर्थं लुभ्यन्तो लोलुपीभवन्तोऽत एव निलीनाः कोशान्तर्निश्चलीभूय स्थिता मधुपा भ्रमरा यस्याम् । तादृशी कुमुदावली सगर्भत्वेन पाण्डुरमुखस्योपमानमिदम् । स्वभावमुखस्यान्योऽर्थः । निःसरन्मधुकृते लुब्धीभवतां निलीनानां च भृङ्गाणामासितमवस्थितं यत्र तादृक् पद्मपङ्क्तिः हसिता ॥

नीलारविन्दनयना कलमावदाता

बन्धूकदन्तवसना सितकान्तिवक्त्रा ।

काससिता कुमुदिनी सुरभिर्मराल-

लीलागतिः सरसि वाजनि सा तदानीम् ॥ १७ ॥

सा नाथी तदानीं तस्मिन् गर्भाधानसमये शरदिव घनात्ययसमय इव अजनि संजाता । किंभूता नाथी देवी शरच्च । नीलारविन्दे इन्दीवरे । ‘नीले तु स्यादिन्दीवरम्’ इति हैम्याम् । उपले तद्वत्ते एव वा नयने यस्याः । पुनः किंभूता । कलमा कलमनामशालयः तद्वत्तथावदाता गौरकान्तिः । पुनः किंभूता । बन्धूकानि बन्धुजीवकतरुकुसुमानि म-

ध्याद् एव विकसनशीलानि 'विपोरियां' इति लोके प्रसिद्धानि । 'बन्धूकप्रसवारणाम्बर-
धराम्' इति लघुस्तवे । तथा 'बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिह्वानाम्'
इति नैषधेऽपि । तद्वत्तान्येव वा दन्तवसनमधरो यस्याः । पुनः किंभूता । सिता उ-
ज्ज्वला कान्तिर्यस्य तादृक् वक्त्रं मुखं यस्याः । पक्षे सितकान्तिश्चन्द्र एव वदनं
यस्याः । पुनः किंभूता । काशः ईषीकाः कासाः प्रसिद्धास्तद्वत्ते एव स्मितमीषद्वसितं
यस्याः । पुनः किंभूता । कुमुदिन्यः कैरविष्यस्तथा ताभिश्च सुरभिः सुगन्धिः । पुनः
किंभूता । मराला राजहंसास्तद्वत्तेषां च लीलया मन्थरतया गतिर्गमनं यस्यां वा ।
वर्षासु हंसा मानससरसि यान्ति । 'प्रोषितकलहंसवयसि' इति चम्पूकथायां मेघवर्णने ।
प्रोषिता मानसं प्रति प्रस्थापिताः कलहंसा एव वयांसि पक्षिणो येनेति तद्विपनके ।
तथा 'अगदि पुनरत्रायान्ति' इति कविसमयः ॥

माणिक्यभूषणगणैर्न तदा कदाचि-

त्खेदोदयाद्वपुरभूष्यत चन्द्रमुख्या ।

क्रीडागतामरकरावचिताम्बुजातं

जानेऽनुयातुमनसा सरितं सुराणाम् ॥ १८ ॥

तदा गर्भसमये चन्द्रमुख्या नार्थदेव्या विधुवदनया कदाचिदपि माणिक्यानां मणी-
नामुपलक्षणात्स्वर्णरजतादीनां भूषणानामाभरणानां गणैः समूहैः वपुः स्वशरीरं नाभूष्यत
न भूषितं नालंकृतवती(?) । अल्पशब्दस्त्वभावस्यैव वाची । नालंचक्रे । कस्मात् । खेदो-
दयात् गर्भधारणनिर्वेदाविर्भावात् । तत्राहमेवं जाने उत्प्रेक्ष्यते वा । क्रीडार्थं जलावगाह-
लीलाकृते आगतानामभरणामर्थदेवीसखानां देवानां करैर्हस्तैरवचितानि स्वप्रियाहारा-
वतंसादिक्रियाकृते चुण्टितानि । गृहीतानीत्यर्थः । अम्बुजानि कमलानि यस्यां तादृशीं
सुराणां सरितं देवद्वीं स्वर्गङ्गामनुयातुं स्वेनानुकर्तुकामयेव । अत्र जाने इवार्थः ॥

रेजे स्तनाननविनीलमञ्जुलेन

यस्याः समुज्ज्वलपयोधरयामलेन ।

केलीकृते मरकिताङ्कितसानुनेव

रौप्येण शैलयुगलेन मनोभवस्य ॥ १९ ॥

यस्या गर्भवत्याः समुज्ज्वलेन गर्भानुभावात्पाण्डुरीभूतेन पयोधरयामलेन स्तनद्वन्द्वेन
रेजे । तथा—'ऐरावतमस्तकपिण्डपाण्डुरमुच्चूचुकश्यामलिमालाङ्कृतम् आपूर्वमाणमन्तः-
क्षीरेण क्षणमखिद्यत पयोधरद्वन्द्वमुद्वहन्ती' इति चम्पूकथायाम् । किंभूतेन । स्तनानन-
योश्चूचुकयोर्विनीलिभ्रा प्रकृष्टश्यामत्वेन मञ्जुलेन मनोज्ञेन । इवोत्प्रेक्ष्यते । मनोभवस्य
कामस्य केलीकृते क्रीडार्थं रौप्येण रजतसंबन्धिना शैलयुगेन गिरियुग्मेनेव । किंभूते-
न । मरकतैरश्मगर्भिनीलमणिभिरङ्कितं कलितम् । रचितमित्यर्थः । साञ्जु शिखरं यत्र ॥

यस्याः समेचकिमचूचुकचञ्चुरेण
व्यभ्राजि शुभ्रिमभृता स्तनयोर्द्वयेन ।

यन्मानसाश्रयनिवासिरतीशरत्यो-
विप्रो विनोदमधुपाङ्ककुमुद्युगेन ॥ २० ॥

प्रेम्णा प्रणेतुमजरामरतां प्रसद्य
विश्राणितेन विधिना कुसुमायुधेन ।

रौप्येण नीलदृषदां दधता पिधानं
पीयूषपूर्णकलशीयुगलेन किं वा ॥ २१ ॥

यस्या गुर्विण्याः स्तनयोर्द्वयेन व्यभ्राजि शुभ्रमे । किंभूतेन । सह मेचकिन्ना श्याम-
लत्वेन वर्तते ये ते समेचकिमनी कृष्णत्वकलिते तादृशे चूचुके स्तनवृन्ते ताभ्यां चञ्चुरेण
मनोहारिणा । पुनः किंभूतेन । शुभ्रिमाणं पाण्डुरतां बिभर्तीति । तत्र वयमेवं विद्मः ।
उत्प्रेक्षामहे वा । यन्मानसं नाथीचितं तदेवाश्रयः स्थानं गृहं वा तत्र निवसनशीलयो
रतीशरत्योः स्मरतद्भार्ययोः विनोदार्थं क्रीडाकृते मधुकरा भ्रमरा अङ्गे क्रोडे सन्त्यस्येति
तादृशा कुमुद्युगेन कैरवद्वयेनैव किं वा । अथ वा प्रसद्य प्रसन्नीभूय विधिना ब्रह्मणा
कुसुमायुधस्य मदनस्य विश्राणितेन प्रदत्तेन रौप्येण राजतेन रजतसंबन्धिना पीयूषपूर्णेन
अमृतभृतेन सुधारसपरिपूरितेन कलशीयुगेन कुम्भीद्वयेनैव । कुम्भकलशशब्दौ पुंस्त्री-
लिङ्गे । ‘अवलम्बितकर्णशङ्कुलीकलशी कं रचयन्नवोचत’ इति नैषधे । कलशीयुगेन
किं कुर्वता । नीलदृषदां हरिन्मणीनां पिधानं दधता विभ्रता । किं कर्तुं दत्तेन । प्रेम्णा
पितामहत्वक्नेहेन अजरामरतां जरामरणराहित्यं प्रणेतुं कर्तुम् ॥ युगम् ॥

पीनस्तनद्वयममेचकितं पयोभि-

स्तस्याः क्षणं क्षणमपूर्यत गर्भवत्याः ।

सान्द्रै रसैरिव विकस्वरकैरविण्याः

कोशद्विकं विशदिमश्रियमुद्वहन्त्याः ॥ २२ ॥

तस्या गर्भवत्या गुर्विण्याः पीनं पुष्टं तथा अमेचकितं पाण्डुरीभूतं स्तनद्वयं कुचद्वन्द्वं
क्षणं क्षणं पयोभिः स्तन्यैः । दुग्धैरित्यर्थः । अपूर्यत पूर्णं जायते स्म । निभृतं भ्रियते स्म ।
किमिव कोशद्विकमिव । यथा विकस्वराया विकसनशीलायाः । ‘प्रभातेऽम्भोजिनीवास्ति
किं चाकस्माद्विकस्वरा’ इति पाण्डवचरित्रे । कैरविण्याः कुमुदिन्याः सुकुल्युगलं क्षणं
क्षणं सान्द्रैर्वहलैर्धनै रसैर्मकरन्दैः संपूर्यते । किं कुर्वत्याः कैरविण्याः । विशदिन्नः श्वेत-
तायाः श्रियं शोभां तस्या अप्यर्थध्वनिः । विशदिन्ना सतीत्वेन । ‘असूर्यपश्या राजदाराः’
इति वचनात् । नैर्मल्येन पावित्र्येण वा युक्तां श्रियं लक्ष्मीमिन्दिरां वा उद्वहन्त्या
विश्राणायाः ॥

दम्भोलिभूषणभरोद्भवदंशुचाप-

चक्राङ्कितेन पयसा परिपूरितेन ।

आदीयते किमु समुन्नमता चकोर-

चक्षुःपयोधरयुगेन पयोधरश्रीः ॥ २३ ॥

चकोरी चकोरश्च चकोरौ । 'पुमान् स्त्रिया' स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते न स्त्री इति प्रक्रियासूत्रेण चकोरौ तयोश्चक्षुषी इव रक्ते चक्षुषी नेत्रे यस्यास्तस्याः । पयोधरयुगेन स्तनद्वन्द्वेन । किंमूत्रप्रेक्ष्यते । पयोधराणां जलवाहानां मेघानां श्रीः लक्ष्मीः शोभा वा आदीयते किमु गृह्यते इव । किंभूतेन पयोधरयुगेन । दम्भोलीनां वज्ररत्नानामाभरणानां भराद्वृन्दादुद्भवन्तः प्रकटाः जायमाना ये निःसरन्तो वा अंशवः किरणास्तैः । अर्थात् प्रारब्धेन चापचक्रेण धनुर्मण्डलेन अङ्कितेन कलितेन । 'उल्लसन्मयूखमञ्जरीरचितेन्द्रचापचक्राण्याभरणानि' इति चम्पूकथायाम् । तथा 'वृता विभूषामणिरश्मिकार्मुकैः' इति नैषधेऽपि । पुनः किंभूतेन । सं सम्यक् समीचीनं यथा स्यात्तथा उन्नमता उच्चैर्भवता उन्नतीभवता च । पुनः किंभूतेन । पयसा स्तन्येन पानीयेन च परि सामस्त्येन पूरितेन भृतेन ॥ इति कपोलस्तनादिपाण्डिमा स्तनयोः पयःपूर्णत्वं च ॥

संपूर्णचन्द्रवदना प्रसवोन्मुखत्वं

पूर्णेऽथ गर्भसमये बिभरांबभूव ।

वर्षाभिमुख्यमुपकण्ठवितिष्ठमान-

ज्येष्ठोन्मुखीकृतजनान्बुदमण्डलीव ॥ २४ ॥

अथ सार्धसप्तदिनाधिकनवमासपूर्णीभवनोत्तरं संपूर्णः षोडशकलाकलितः पूर्णिमासंबन्धी । चेदेकयापि कलया यत्रेन्दुर्हीनः स्यात्सा तिथिरनुमितिरित्युच्यते । 'कलाहीने त्वनुमितिः' इति हैमीवचनात् । पूर्णिमायामेव संपूर्णश्चन्द्रः स्यादतः संपूर्णचन्द्रवदनेति । तेन पूर्णिमायामभ्युदितो यश्चन्द्रस्तद्वददं वक्रं यस्याः पार्वणेन्दुमुखी सा नाथी गर्भस्य समये काले पूर्णे परिपूर्तिभावं प्राप्ते सति सार्धसप्तदिनाधिकनवसु मासेषु संपूर्णीभूतेषु सत्सु प्रसवस्य संतानजननस्य उन्मुखतां बिभरांबभूव धारयामास दधाति स्म । केव । अम्बुदमण्डलीव । यथा मेघमाला कादम्बिनी वर्षणं वर्षः वृष्टिस्तस्याभिमुख्यं वर्षणसंमुखतां धत्ते । किंभूता सा कादम्बिनी च । उपकण्ठे समीपे वितिष्ठमानाः स्थितिं कुर्वाणा ज्येष्ठाः कुलवृद्धस्त्रियो ज्येष्ठमासश्च यस्याः । पुनः किंभूता । उन्मुखीभूता गर्भानुभावावगतलोकोत्तरप्रभावसंतानावलोकनार्थमुत्कण्ठीकृता उच्चमुखाश्च कृताः । वर्षाकाले हि लोका उन्मुखीभूय मेघागमं विलोकन्ते । यथा चम्पूकथायाम्— 'तिरस्कृतशशाङ्ककान्तिकलापोच्चमुखमण्डलाः' । अथ तद्विप्लवकम्—स्त्रियः वर्षाश्च किंभूताः । तिरस्कृतः शशाङ्कस्य कान्तिकलापः शोभासमुदायो येन तादृशमुच्चमुन्नतं

मुखमण्डले यामां तथा तिरस्कृता आच्छादिता शशाङ्कस्य चन्द्रस्य कान्तिश्चन्द्रिका
याभिस्तथा काय पयोवाहपानीयाय लापाः कुटुम्बीजनजेगीयमानरासकास्तैरुच्चं
मेघागमविलोकनार्थमूर्ध्वं सुखं वदनं येषां तादृशा मण्डला देशा यासु इति । तादृशा
जना विश्वलोकाश्च यथा ॥

वंश्यैः मुग्धाशनचिकित्सकयोरिवार्भ-

भृत्याविनिर्मितविशारदतां दधानैः ।

अध्यूपिरेऽखिलमिषग्वृषभैर्महेभ्य-

जम्भद्विषद्ववनगर्भभुवः प्रदेशाः ॥ २५ ॥

अर्भस्य दालकस्य भृत्याया विनिर्मितौ करणे विशारदतां पाण्डित्यं दधानैर्विभ्रद्भिः
अखिलेषु समग्रेषु मिषक्षु वैद्येषु प्रधानत्वाद्वृषभाः पुङ्गवास्तैः । दायीप्रमुखैरित्यर्थः । तथा
‘कुमारभृत्याकुशलैरधिष्ठिते मिषगिभरात्तैरथ गर्भवेद्मनि’ इति रघौ । महेभ्येषु महाव्य-
वहारेषु जम्भद्विषतः शकस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्कुंरासाहस्य भवनस्य गेहस्य गर्भभुवो
मध्यभूमः प्रदेशा विभागा अध्यूपिरे । आशिथ्रियिरे । संश्रिताः । उत्प्रेक्ष्यते । वैद्यैः
मुग्धाशनानां देवानां चिकित्सकयोर्वैद्ययोर्दस्त्रयोः खलोकवैद्ययोर्वैद्यैर्गोत्रे समुत्पन्नैरिव ॥
इति प्रसवसमयः ॥

लङ्गं गुणै शिखिनि शीलति युग्मनाम

भूमीभवे भजति खिङ्ग इवाथ कन्याम् ।

याते तुलां सितमरीचिसुते सिते च

सुरेऽपि सारस इवालिबिलासशीले ॥ २६ ॥

गहौ पुनः सुकृतिनीव धनं प्रपन्ने

पत्यौ रतेरिव विधौ मकराश्रयेव ।

मीनं शनौ सलिलवन्मदयत्यदीन-

मित्थं ग्रहेषु तदयाभ्युदयावहेषु ॥ २७ ॥

विश्वावनीधरशिलीमुखपूषसंख्ये

संवत्सरेऽवनिपुरंदरविक्रमार्कात् ।

भासः सहस्य विशदश्रियमाश्रयन्त्यां

जन्मानुभावत इवास्य तिथौ नवम्याम् ॥ २८ ॥

लभोदयेऽथ शुभशंसिनि सार्वभौम-

जन्मोचितेऽहनि ससाधिमधिषण्ययोगे ।

कूलकषा मखभुजामिव केकियान-

माखण्डलामृतमयूखमुखी जयं वा ॥ २९ ॥

आमोदमम्बुरुहिणीव विजृम्भमाणा

पञ्चाक्षिषं शुचिमरीचिचकोरचक्षुः ।

सौदामनीवलयमम्बुदमालिकेव

पृथ्वीव तीर्थमनघं कृषिमुर्वरेव ॥ ३० ॥

पीयूषकान्तिमिव दुग्धपयोधिवेला

सिंहं महामृगरिपोरिव वा महेला ।

विश्रावबोधमिव वासरवक्रलक्ष्मीः

श्रीखण्डसालमिव वा मलयाचलोर्वी ॥ ३१ ॥

शृङ्गारयोनिमिव नीरजनाभपत्नी

राज्ञः प्रतापमिव वा जगतीजयश्रीः ।

आचार्यमध्वरभुजामिव फाल्गुनी सा

नाथी क्रमेण तनयं जनयांचकार ॥ ३२ ॥

(सप्तभिः कुलकम्)

सा नाथी क्रमेण परिपाठ्या तनयं नन्दनं जनयांवभूव जनयति स्म । कस्मि-
न्सति । लग्नं मूर्तं तनुभवनं गुरौ बृहस्पतौ, तथा शिखिनि केतुग्रहे । 'अश्लेषाभूः शिखी
केतुः' इति हैम्याम् । शीलति भजति सति । किंभूतं लग्नम् । युग्मं मिथुनमिति नाम
यस्य इति गुरुकेतूलभे । पुनः कस्मिन्सति । भूमीभवे मङ्गले कन्यां भजत्याश्रयति
सति । कस्मिन्निव । खिङ्ग इव । यथा विटः कन्यां कुमारिकामपरिणीतां स्त्रियं भजते ।
इति कन्यायां मङ्गलः । पुनः कस्मिन्सति । सितमरीचेश्चन्द्रस्य सुते बुधे च पुनः
सिते शुके सति । किंभूते बुधे शुके च । याते प्राप्ते । काम् । तुलां तुलानामलग्नम् ।
अर्थात्तुलायां बुधे शुके च सति । अपि पुनः । सूर्ये सूर्ये अलिनाम वृश्चिकलग्नं तत्र यो
विलासः । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इति धात्वर्थात् । श्लेषणमाश्रयणं स्थितिः तत्र शीलं
स्वभावो यस्य । क इव । सारस इव । यथा सारसपक्षी आल्या श्रेण्या-कृत्वा यो विलासः
क्रीडया गमनमासनं च तत्र स्वभावो यस्य यथा । 'श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरण-
स्रजम् । सारसैः कलनिर्द्वादैः कचिदुन्नमिताननौ ॥' इति रघौ । इति चतुर्थे वृश्चिके
सूर्यः । पुनः । राहौ विधुतुदे धनं धनलग्नं प्रपन्ने सति । कस्मिन्निव । सुकृतिनि । यथा
पुण्यवान् धनं द्रव्यं प्रपद्यते प्राप्नोति । इति धने राहुः । च पुनः । विधौ चन्द्रे मकरो मकरलग्नं

स आश्रयोऽधिष्ठानं यस्य । कस्मिन्निव । पत्याविव । यथा रतेः पत्न्यौ भर्तारि मकरे ध्वज-
 रूपत्वाद्वाहने आश्रय आश्रयणं यस्य । इति मकरे चन्द्रमाः । पुनः शनौ शनैश्चरे मीनं
 मीनलभं मदयति सति । किंवत् । सलिलवत् । यथा पानीयं मीनं समदं कुरुते पयस्यैव
 मीनाः समदाः । इति मीने शनैश्चरः । इति नवापि ग्रहा जन्मकुण्डल्याम् । इत्थममुना
 प्रकारेण जन्मसमये ग्रहेषु सूर्यादिखेचरेषु तस्य हीरकुमारस्य अयस्य शुभकर्मणः
 पुण्यस्य अभ्युदयस्य वर्धमानकीतिप्रतापसंपद्रूपस्य महोदयस्य आवहेषु कारकेषु सत्सु ।
 पुनः कस्यां सत्याम् । नवम्यां तिथौ विद्यमानायां सत्याम् । किलक्षणायाम् । विशदश्रियं
 श्वेत्यलक्ष्मीमाश्रयन्त्यां सत्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—हीरकुमारस्य जन्मानुभावतः जननप्रभा-
 वादिव । तिथिः कस्य सहस्य मार्गशीर्षमासो मासस्य । कस्मिन् । विश्वानि त्रीणि, जगन्ति
 अवनीधरा अष्टौ महाकुलशैलाः, शिलीमुखाः पञ्च स्मरबाणाः, पूषा भातुरेकः, इति
 संह्या यस्य तादृशे संवत्सरे । कस्मात् । अन्तेः पृथिव्याः पुरंदरो यो विक्रमार्कस्तस्मात् ।
 एतावता संवत् १५८३ विक्रमादित्यसंवत्सरे मार्गशीर्षमासे नवम्यां तिथौ सोम-
 वासरे पूर्वाभाद्रपदमे हर्षणनामयोगे घटी १२ उपरान्तवज्रयोगे सिधुनलभे प्रवहमाने
 तद्दिने प्रछादनपुरवास्तव्य औकशवंदयसाहकुरापत्नी नाथी देवी सुतरत्नमजीजनत् । इति
 संवत्सरादिः । पुनः कस्मिन्सति । अस्य हीरकुमारस्य शुभशंसिनि श्रेयः कथयितरि
 लभोदये सिधुनलभोद्रमे सति । पुनः कस्मिन्सति । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमश्चक्रवर्ती
 तस्य जन्मनोऽवतारस्य उचिते योग्ये अहनि वासरे सति । पुनः कस्मिन्सति । सह
 साधिना प्रधानत्वेन वर्तते तादृशे धिष्यस्य नक्षत्रस्य योगे सति । 'त्वयाहतः किं नरसा-
 धिमभ्रमः' इति नैषधे । नाथी नन्दनमसूत इति संबन्धः । अथोपमानान्याह—केव ।
 कूलंकेव । यथा मखभुजां देवानां कूलंकथा नदी गङ्गा केकियानं स्वामिकार्तिकं जनयतीति
 सर्वत्र योज्यम् । पुनः केव । आखण्डलामृतमयूखमुखीव । यथा आखण्डलस्य शकस्य
 अमृतमयूखमुखी पीयूषकान्तिवक्त्रा चन्द्रवदना इन्द्राणी जयं जयन्तनामानमङ्गजम् ।
 पुनः केव । अम्बुरुहिणीव । यथा विजृम्भमाणा विकसन्ती कमलिनी आमोदं परि-
 मलम् । पुनः केव । शुचिमरीचिकोरचक्षुरिव । यथा श्वेतवृत्तेश्वन्द्रस्य चलचक्रलोचना
 पत्नी रोहिणी पञ्चाचिपं बुधम् । पुनः केव । अम्बुदमालिकेव । यथा कादम्बिनी सौ-
 दामिनी वलयं विद्युन्मण्डलम् । पुनः केव । पृथ्वीव । यथा वसुंधरा अनघं संसारापार-
 पारावारप्रारप्रपक्त्वेन सवेजगज्जनश्लाघनीयं तीर्थं शत्रुंजयशैलादिसिद्धगमनस्थानम् ।
 'पृथ्वीव पुण्यतीर्थं सा' इति चम्पूकथायाम् । पुनः केव । उर्वरेव । यथा सर्वसस्या क्षेत्र-
 धरित्री कृपि कर्षणम् । पुनः केव । दुग्धपयोधिवेलेव । यथा क्षीरसमुद्रवेला पीयूष-
 कान्ति चन्द्रम् । पुनः केव । महेलेव । यथा महामृगाणां गजानां रिपोर्वैरिणः केसरिणो
 महेला स्त्री सिद्धी । 'महिला स्यान्महेलया' इति शब्दप्रभेदे । तथा 'यश्च परमहेलारतो-
 ऽप्यपारदारिकः' इति चम्पूकथायाम् । सिंहं मृगेन्द्रम् । पुनः केव । वासरवकलक्ष्मी-
 रिव । यथा दिनाननस्य प्रभातस्य श्रीविश्वस्य जगतोऽवबोधं जागरणम् । पुनः केव । म-
 लयाचलोर्वीव यथा मलयशैलस्य वनभूमिः श्रीखण्डं चन्दनहमाङ्कुरम् । पुनः केव । नीरः

जनाभस्य पद्मं ब्रह्मोत्पत्तिकमलं नाभौ यस्य स कृष्णस्तस्य पत्नी जाया लक्ष्मीरिव ।
यथा कृष्णकान्ता श्रीः शृङ्गारयोनिं मदनम् । पुनः केव । जगतीजयश्रीरिव । यथा राज्ञो
विजयिनृपस्य जगत्या भूमेर्विजयलक्ष्मीप्रतापम् । पुनः केव । फाल्गुनीव । यथा पूर्वा-
फाल्गुनी अध्वरभुजां यज्ञभाजिनां देवानामाचार्यं गुरुं बृहस्पतिम् ॥ सप्तभिः कुलकम् ।
इति जन्मसमयः ॥

श्यामीकृतानि कुट्टशामपकीर्तिपङ्के-

रस्मन्मुखानि विशदानि विधास्यते यत् ।

एष स्वकीर्तिविमलत्रिदशस्रवन्ती-

विस्फूर्तिभिः किमिति दिक्प्रमदाः प्रसेदुः ॥ ३३ ॥

दिक्प्रमदा दिगङ्गनास्तज्जन्मसमये प्रसेदुः प्रसन्नीवभूवुः । निर्मला जाताः । किमुत्प्रे-
क्ष्यते—इति हेतोः । इति किम् । यदेष हीरकुमारः कुट्टशां दुर्वादिनां कुमतीनां वा
अपकीर्तिभिः अपयशोभिरेव पङ्कैः कर्दमैः श्यामीकृतानि मलिनीकृतानि अस्मन्मुखानि
स्वीयकीर्तिरेव विलसन्त्याखिजगति प्रसरन्त्याखिदशस्रवन्त्या गङ्गाया विस्फूर्तिभिर्विला-
सैर्विशदान्युज्ज्वलानि विधास्यते करिष्यतीति । पङ्ककलुषितानां हि गङ्गासलिलक्षालनेन
निर्मलीभवनं युक्तिमदेव । पङ्कांघे कर्दमे च । गङ्गास्नानात्पापगमनेन निर्मलीभवत्वेन प्रस-
न्नता स्यादेव ॥

भावी यदेष पृथुकः सुमनोनिषेव्य-

स्तद्वृष्टयो दिव इतीव गृहे निपेतुः ।

हन्ता यतः स तमसां तमसामिवारिः

प्रागेव तैः किमिति भीतिवशात्प्रणेशे ॥ ३४ ॥

यद्यस्मात्कारणात् नाथीनन्दनः पृथुकः बालकः सुमनोभिर्देवैर्निषेव्य उपास्यो भावी
भविष्यति । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः तद्वृष्टयः सुमनोवर्षणानि पुष्पवृष्टयः दिवो व्योम-
मण्डलात् गृहे अर्थात्तद्भवने निपेतुः पतिताः । ‘चित्रायितमतिबह्वलपतत्पुष्पवृष्ट्या’
इति नलजन्मसमये चम्पूकथायाम् । पुनर्यत्कारणात्स कुमारस्तमसामज्ञानानां पापानां वा
अरिहन्ता निवारकः भावी भविष्यति । क इव । तमसामरिरिव । यथा ध्वान्तानां
शत्रुर्भास्वान् तमसामन्धकाराणां हन्ता घातको भवति । किमुत्प्रेक्ष्यते—इति भीतिव-
शाद्भयाधीनत्वात् प्रागेव पूर्वमेव तद्वपुःप्रभाभरैरर्थान्निरस्तैस्तमोभरैः सूतिकागृहात्प्र-
णेशे प्रणष्टम् । पलायितमित्यर्थः । ‘सुमनसः पुष्पे देवे महात्मनि च’ ‘तमोऽज्ञाने पापे
ध्वान्ते राहौ च’ इत्यनेकार्थाः ॥

लब्धश्रियानुसरता वसुभूतिपुत्रं

सारूप्यमाकलयता च युगप्रधानैः ।

जज्ञे चिराद्यदमुना विभुना ममान्तः-

प्रीत्येत्यनृत्यदिव शांभवशासनश्रीः ॥ ३५ ॥

शंभोजिनस्येदं शांभवं शासनं मतं तस्य श्रीजिनशासनलक्ष्मीरनृत्यत् नृत्यति स्म । इवोत्प्रेक्ष्यते—इति कारणादन्तश्चित्ते प्रीत्या हादेन स्नेहेन प्रमोदेन वा । इति किम् । यच्चिरादनल्पकालादमुना कुमारेण मम जिनशासनश्रिया विभुना स्वामिना जज्ञे संजातम् । अमुना किं कुर्वता । लब्धानां विविधानां क्षीरास्रवादिकानां श्रिया शोभया संपदा वा वसुभूतिपुत्रम् । ‘श्रीइन्द्रभूति वसुभूतिपुत्रं पृथ्वीभवं गौतमगोत्ररत्नम्’ इति पूर्वसूरिस्त्योक्ते । वसुभूतिनाम्नो ब्राह्मणश्रेष्ठस्य पुत्रं नन्दनं गौतमस्वामिनमनुसरता अनुकुर्वता । च पुनः किं कुर्वता । युगप्रधानैः वज्रस्वाम्यादिभिः सूरिभिः सारूप्यं सादृश्य-माकलयता विव्रता ॥

विश्वत्रयीश्रुतिपुटैकवतंसिकाना-

मस्माकमेष समजायत वासवेऽहम् ।

गम्भीरधीरिममुखाभिरधःकृतेन्दु-

श्रीभिश्च वल्गितमितीव गुणावलीभिः ॥ ३६ ॥

गम्भीरिमा गम्भीर्यं भावप्रधानो निर्देशः । धीरिमा धैर्यं तावैव मुखे आदौ यासाम् । अथवा गम्भीरश्च धीरश्च गम्भीरधीरौ गम्भीरधीरयोर्भावो गम्भीरधीरिमाणौ तावैव सुखं प्रथमौ यासां तादृशीभिर्गुणानामावलीभिः श्रेणीभिः वल्गितं प्रोल्लसितम् । ‘सुविकासहाससहकारिकारणोपलम्भपूर्णमनोरथेन वल्गितमिव वसन्तमासेन’ इति चम्पूकथायाम् । किंभूताभिर्गुणावलीभिः । अधःकृता तिरस्कृता निर्मलत्वेन इन्दुश्रीश्चन्द्रिकाशोभा याभिः । इवोत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोर्वल्गितमिव । इति किम् । यद्विश्वेषां त्रिभुवनानां तात्स्थ्यात्त-द्यप्यंदेशात्रिजगजनानां श्रुतिपुटेषु कर्णपालेषु एकानामद्वैतानां वतंसिकानामुत्तंसानाम् । ‘वष्टि भागुरिरल्लोपम्’ इत्यलोपाद्वतंसिकानाम् । ‘विदर्भपुत्रीश्रवणावतंसिका’ इति नैषधे । त्रैलोक्याद्वैतकर्णाभरणानामस्माकं गुणावलीनामेष हीरकुमारः वासवेऽहम् निवसनसदनं समजायत संजातः ॥

आजन्म यद्विधुरिवैष उदेति कीर्ति-

ज्योत्स्नाः किरन्कुवलयैकविकाशकारी ।

अस्मादृशैः किमयशोऽञ्जनमादधानैः

किंचित्यकाशितनिशान्तदशान्तदीपैः ॥ ३७ ॥

भास्वन्मयूखविजिगीषुयदङ्गजात-

नैसर्गिकाङ्गभयभास्वदभीपुजालैः

तत्कालमल्पतमतैलदशैरिवोप-

दीपैरितीव समजायत दीप्तिदुःस्थैः ॥ ३८ ॥

(युग्मम्)

उपदीपैः सूतिकासन्नानि समीपे प्रदीपितः प्रदीपैर्दाप्तिभिर्ज्योतिर्भिर्दुःस्थैर्दरिद्रैः । विच्छाद्यैरित्यर्थः । समजायत जातम् । कैः कृत्वा । भास्वतो भानोर्मयूखाः किरणास्तानपि विजिगीषुभिः स्वस्फूर्त्या विजेतुमिच्छुमिस्तादृशैर्यस्या नाथीदेव्या अङ्गजातस्य पुत्रस्य नैसर्गिकैः स्वाभाविकैः । 'तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्' इति रघौ । अङ्गात् काययष्टेर्भवैः समुत्पन्नैर्भास्वतां दीप्यमानानामभीष्टाणां कान्तीनां जालैर्वितानैर्वृन्दैः । इवोत्प्रेक्ष्यते । तत्कालं स एव कालो यत्र तत्कालं तस्मिन्नेव समये अल्पतमा अतिशयेन स्तोकास्तैलदशाः स्नेहवर्तयो येषाम् । 'वृत्तिर्वर्तिश्च तद्दशा' इति हैम्याम् । तादृशैरिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः । इति किम् । यदेष हीरकुमार आजन्म जन्मसमयादारभ्य विधुश्चन्द्र इव कुवलयस्य भूमण्डलस्य, उत्पलस्य च एकमद्वितीयं यथा स्थातथा विकाशं(सं) प्रतिबोधं विकचतां च करोतीत्येवंशील उदेति प्रादुर्भवति । किं कुर्वन् । कीर्तिरेव औज्ज्वल्याद्विस्तारवत्तया वा ज्योत्स्नाश्चन्द्रिकाः किरन् विस्तारयन् । तर्हि किञ्चित्स्वल्पं प्रकाशितमुद्योतितं प्रकटीकृतं निशान्तं गृहं रात्रेरन्तो वा यैस्तथा दशाया अवस्थाया वर्तेश्च अन्ते प्रान्ते अवसाने दीपैर्दीपनशीलैरेवंविधैरस्मादृशैर्दीपैः किमिति प्रयोजनं न किमपीह कार्यम् । किं कुर्वाणैः । अयशोऽपकीर्तिः श्यामलत्वात्तदेवाञ्जनं कज्जलमाधानैः कुर्वाणैर्द्विरद्विः । अथवा—आ सामस्त्येन दधद्भिः ॥ युग्मम् ॥

स्वःकूलिनीजलविलोलनकुसुकेलिः

पाटच्चरो विकचवारिजसौरभाणाम् ।

उत्फुल्लवलिनवनाटकसूत्रधार-

स्तं प्रेक्षितुं किमु ववौ पवनोऽनुकूलः ॥ ३९ ॥

अनुकूलस्तज्जन्मसमये जनानानुकूलत्वाद्रोचमानः पवनो वायुर्ववौ वाति स्म । किंभूतः । स्वःकूलिन्या गगनगङ्गाया जलस्य पयःपूरस्य विलोलनेन मध्ये प्रविद्यावगाहनादुल्लसत्कल्लोललोलीकरणेन कूप्ता रचिता केलिविलासो येनेति शीतलता । पुनः किंभूतेन । विकचवारिजानाम् । अर्थात्स्वःकूलिन्या एव । स्मेराम्भोरुहाणां सौरभाणां परिमलानां पाटच्चरस्तस्करोऽपहर्ता । 'स्मेराम्भोरुहपत्तने परिमलस्तेयी वसन्तानिलस्तत्रल्यैरिव यामिकैर्मधुकैः प्रारब्धकोलाहलः । निर्यातस्त्वरया चलन्निपतितः श्रीखण्डपङ्कजैर्लिते केरलकामिनीकुचतटे खञ्जश्चनैर्गच्छति ॥' इति भोजप्रबन्धे वाग्वादिन्या पानीयहारिणीरूपं विधाय कालिदासगर्वापहारार्थमुक्तम् । इति सुरमिता । पुनः किंभूतेन । उत्फुल्लवल्लीनां विकसितलतानां नवे नूतने नाटके नृत्तकरणे चपलीभवने सूत्रधारः सूचकः ताण्डवप्रारम्भकारको रङ्गकर्ता च । 'लतावलालास्यकलागुरुः' इति नैषधे । 'असौ ते बन्धुविद्वं-

सनवनाटकसूत्रभृत्' इति पाण्डवचरित्रे । इति मन्दता । त्रिविधोऽपि समीरणो वर्णितः ।
किमूत्प्रेक्ष्यते—तं कुमारं प्रेक्षितुं किमु अवलोकयितुमिव ववौ ॥

आसीदसौ कलियुगे युगबाहुरस्मि-

अर्हन्निवातिशयितातिशयाश्रितत्वात् ।

एतस्य जन्मनि जिनाधिपतेरिवान्तः-

प्रीतेरितीव दिवि दुन्दुभयः प्रणेदुः ॥ ४० ॥

हीरकुमारस्य जन्मनि जननसमये दिवि आकाशे दुन्दुभयो मदन(ङ्गल)भैरवो निःस्वना
वा प्रणेदुर्वाद्यन्ति स्म । 'उन्नदितं वियत्यदृष्टमङ्गलवादित्रैः' इति नलजन्मनि चम्पूक-
थायाम् । तथा 'निःशेषदिविषद्वर्गप्रमोदपिशुनास्तदा । समाकर्ण्यन्त सानन्दं दुन्दुभिध्व-
नयो दिवि ॥' इति युधिष्ठिरजन्मनि पाण्डवचरित्रे च । जिनाधिपतेरिव यथा श्रीजि-
नेश्वरस्य जन्मनि व्योमनि दुन्दुभयः प्रणदन्ति इवोत्प्रेक्ष्यते । इत्यमुना प्रकारेण
अन्तः स्वमनसि प्रीतेर्मुदः । इति किम् । यदस्मिन् कलियुगे अतिशयितैः स्फूर्तिप्राप्तै-
रतिशयैर्महिमविशेषैराश्रितत्वादसौ शिशुः अर्हन्निव तीर्थंकर इवासीत् । किंभूतः । युग-
बद्धाह्वयस्य धृसरप्रमाणभुजः । आजानुबाहुरित्यर्थः ॥

एकांशवानपि कलौ शिशुनामुनाह-

मङ्गैश्चतुर्भिरुदयीह पुरा भवामि ।

धर्मेण पल्लवितमन्तरितीव जाते

विश्वामुमलमददायितदङ्गजाते ॥ ४१ ॥

विश्वेषां त्रयाणां सप्तानां वा चतुर्दशानां वा एकविंशतेर्वा । 'भुवनानि निबध्नीयात्री-
णि सप्त चतुर्दश' इति वाग्भट्टालंकारे । वृत्त्यादावेकविंशतिरपि । जगतामसुमन्तो ज-
न्तवः तेषां प्रमोदं हर्षं ददातीत्येवंशीलस्तादृशे तदङ्गजाते नाथीकुंराव्यवहारिणोरङ्ग-
जाते पुत्रे जाते सति धर्मेण अन्तश्चित्ते पल्लवितम् । प्रहृष्टमित्यर्थः । 'चिरात्पल्लवितमिव
राजवंशेन' इति चम्पूकथायां नलजन्माधिकारे । इति हेतोरेव । इति किम् । यद्य-
स्मात्कारणात्कलौ कलिकाले एको न द्वितीयः अंशो भागोऽर्थाच्चतुर्थपादो विद्यते यस्य
स एकांशवानप्यहं धर्मः । 'पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे ।
भुवं यदेकाङ्गि कनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥' इति नैषधे ।
कृतयुगे किल धर्मैश्चतुर्भिः पादैर्विजयी भवेदधर्मः पुनरेकांशेन स्यात्, कलियुगे तु
अधर्मैश्चतुर्भिः पादैर्धर्मस्त्वैकांशमात्रः एतदेव तपस्विनां महत्तपः यद्धूर्मी एकपादकनि-
ष्ठाह्वया स्पृशन् तिष्ठति तथा कृतयुगेऽधर्मः कलियुगे तु धर्मस्त्वपसी कृशत्वं भजते ।
प्रसूतम् । अमुना कुमारेण चतुर्भिरङ्गैः संपूर्णावयवैः सर्वात्मनैव इह भरतभूमौ उदयी

अभ्युदयवान् पुरा भवामि । भविष्यामीत्यर्थः । यावत्पुरानिपातयोर्योगे भविष्यत्काले वर्तमानाः इति प्रक्रियासूत्रेण पुरायोगे वर्तमानयोर्विभक्तयोर्भविष्यदर्थः प्रकाश्यते । 'पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया' इति नैषधे ॥

एतदुणाभिनवगानविधानपूर्व-

प्रारब्धताण्डवतरङ्गिरसाङ्गरङ्गः ।

प्रारप्स्यते विबुधराजसमाजरङ्गे-

ऽस्माभिर्मुदेति दिवि किं ननृतेऽप्सरोग्भिः ॥ ४२ ॥

रम्भातिलोत्तमोर्वशीघृताचीप्रमुखामिरप्सरोग्भिः स्वर्गाङ्गनाभिः । किमुत्प्रेक्ष्यते । इत्युक्ता प्रकारेण कृत्वा मुदा किं हर्षेणैव दिवि आकाशे ननृते नतितं ताण्डवमण्डि । इति किम् । विबुधानां पण्डितानां राज्ञामत एव पण्डितराजत्वान्नवस्वपि शृङ्गारादिरसेषु कुशलत्वं ज्ञातुत्वं च यस्य तादृक् । वास्तवार्थं देवानां नायकस्तस्य समाजः समास एव रङ्गो नतनस्थानं तत्र एतस्य भाविसूरेः कुमारस्य गुणानां शमदमसंयमाकि (दि)कानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकासंख्यानां गणनातीतानां वा अभिनवानां पूर्वगीतापेक्षया नूतनानां गानानां गीतीनां प्राक्श्रुतगीतिश्रवणे तादृक् रसो न स्याद्यादृक् नवीनगानश्रवणे रसः समुत्पद्यते । तस्मादेतस्य ध्रुवपदगानानां विधानं निर्माणं तदेव पूर्वमादित्यत्र तादृशं प्रारब्धमुपक्रान्तम् । 'प्रारम्भः प्रोपतः क्रमः' इति हैम्याम् । यत्ताण्डवं नाट्यं तस्य तत्र वा तरङ्गयुक्ता जातास्तरङ्गिताः कलोलिता ये रसाः शृङ्गारादयो नव आस्वादो वा । 'रसः स्वादे जले वीर्यं शृङ्गारादौ विषे द्रवे । बोले रागे देहधातौ तित्तादौ पारदेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । त एव अङ्गमवयवः शरीरं वा तादृशो रङ्गः अस्माभिरप्सरोग्भिः अवाप्स्यते उपक्रंस्यते । 'तदनन्तरमाकाशे संगीतमुदजृम्भत । रम्भोर्वशीप्रभृतयो नृत्यमप्सरसो व्यधुः ॥' इति पाण्डवचरित्रेऽर्जुनजन्माधिकारे । तथा 'स्वकान्तिसर्वखापहारभयादिव दिवि ननृतुरप्सरसः' इति चम्पूकथायां दमयन्तीजन्मनि ॥ इति हीरकुमारजन्ममाहात्म्यम् ॥

प्रल्हादनाह्ननगरं पुरमप्यमुष्य

मूर्त्या पवित्रयितुमन्तरिवेहमानः ।

श्रीसोमसुन्दरयतिक्षितिशीतकान्ति-

र्जन्मापरं स्वयमसौ ग्रहयांबभूव ॥ ४३ ॥

असौ सोमसुन्दरनामा यतीनां साधूनां मध्ये क्षितेः पृथिव्याः शीतकान्तिश्चन्द्र एतावता राजा श्रीसोमसुन्दरसूरिः स्वयमात्मना परमन्यजन्मावतारं ग्रहयांबभूव जग्राह । उत्प्रेक्ष्यते । अमुष्य कुमारस्य मूर्त्या शरीरेण पुनरपि द्वितीयवारं प्रल्हादनमिति आह्वा नाम यस्य तादृशं नगरं पवित्रयितुं पावनीकर्तुमीहमानो वाञ्छन्निव । एकवारं सोमसुन्दरसूरिवपुषा प्रल्हादनपुरं पवित्रितं द्वितीयवारं हीरविजयसूरिमूर्त्या कृत्वा पवित्रीचिकीर्षुरिव ॥

चक्रस्य चक्रिवदुदित्वरदीप्रदीप्ति-

दण्डौघचण्डिमविखण्डितचण्डभासः ।

इभ्यः स्वभृत्यजनराजिभिरुत्सुकाभिः

संवर्ध्यते स्म जननेन तनूभवस्य ॥ ४४ ॥

इभ्यः कुराङ्गव्यवहारी उत्सुकाभिरुत्कण्ठाकलिताभिः स्वस्य कुरामहेभ्यसंबन्धिनं भृत्यजनानां सेवकलोकानां राजिभिः श्रेणिभिः तनूभवस्य पुत्रस्य जननेन जन्मना संवर्ध्यते स्म वर्धाप्यते । 'अत्रान्तरे प्रियभाषिताभिधाना चेटी राजानं वर्धापयति' इति कल्पकिरणावल्याम् । वर्धित इत्यन्यत्र । वर्धापनिका दत्तेत्यर्थः । किंवत् । चक्रिवत् । यथा चक्रवर्ती चक्रस्योत्पत्त्या वर्धते स्म वर्धाप्यते स्म । किंभूतस्य सूनोश्चक्रस्य च । उदित्वरा उदयनशीलाः प्रादुर्भवन्त्यो वा । तथा दीप्रा दीपनशीला झलझलायमाना दीप्यमाना वा, दीप्तयः कान्तयः सरलतया निर्गमनाम् दृश्यमाना वा दण्डाकारा अत एव दण्डा इव दण्डाः प्रसरा वा तेषामोघो निकरः तस्य चण्डिमभिरत्युप्रताभिर्विशेषेण खण्डितोऽभिभूतश्चण्डभाः सूर्यो येन तस्य ॥

सूनोर्जनैरुपनतेरिव सेवधीना-

मुद्रत्वरान्स्वजनवक्रमुधाकरेभ्यः ।

वर्णान्स्वकर्णपुटकेन मुधायमाना-

न्पीत्वा तदा प्रसुमुदे हृदये महेभ्यः ॥ ४५ ॥

तदा तस्मिन् काले महेभ्यः कुराङ्गव्यवहारी हृदये मनसि प्रसुमुदे जहर्ष । किं कृत्वा । पीत्वा सादरं श्रुत्वा । कान् । वर्णान् अक्षराणि । किंभूतान् । मुधायमानान् अमृतवदाचरतः । केन पीत्वा । स्वस्यात्मनः कर्ण एव पुटकः पत्रभाजनं तेन । अन्यदप्यमृतं पुटकेन पीयते । पुनः किंभूतान् । उद्रत्वरान् प्रकटीभवन्शीलान् । 'उद्रत्वराभूतकारार्धपराध्यमालाम्' इति नैषधे । केभ्यः । स्वजनानां बन्धुवर्गाणां ज्ञातिजनानां वा आत्मीयभृत्यलोकानां वा वक्राणि वदनानि एव मुधाकराश्चन्द्रास्तेभ्यः । मुधानामाकरात्सुधापि निर्गच्छेदिति । वर्णान् कस्याः । सूनोः पुत्रस्य जनेर्जन्मनः । कस्या इव । उपनतेरिव यथा सेवधीनां नवनिधीनां स्वर्णरत्ननिधानानां वा आगमनस्य वर्णान् पीत्वा कश्चिन्मोदते ॥

सूनोर्जनिं निगदतामनुगव्रजाना-

मासीददेयमिह तस्य किरीटमेव ।

भूभर्तृभावककुदं विशदातपत्रं

धात्रीपतेरिव मुदं दधतो हृदन्तः ॥ ४६ ॥

तस्य कुरामहेभ्यस्य इह पुत्रवर्धापनिकासमये सूनोः स्वपुत्रस्य जनिं जन्म निगदतां

कथयतामनुगव्रजानां सेवकलोकप्रकराणां किरीटं मुकुटमेवादेयं दातुमनर्हमासीत् । एता-
वता मुकुटवर्जं सर्वाङ्गीणान्यप्याभरणानि प्रदत्तवानित्यर्थः । कस्येव । धात्रीपतेरिव पथा
भूमीभर्तुः राज्ञः भुवः पृथिव्या भर्तृभावस्य स्वामित्वस्य ककुदं चिह्नं सूचकं वा । 'नृप-
तिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्' इति रघौ । विशदातपत्रं श्वेतच्छत्रमदेयं भवति ।
किं कुर्वतस्तस्य । राज्ञश्च हृदन्तर्मनोमध्ये सुदं नन्दनजन्माविर्भूतां प्रीतिं प्रमोदं दधतो
धारयतः ॥

लक्ष्मीवतामधिपतेरनुजीविवृन्दैः

पुत्रप्रसूतिममितं मधु निर्दिशद्भिः ।

पाणिप्रदेशनविधौ ददृशेऽस्य पञ्च-

शाखोऽपि लेखशिखरीव सहस्रशाखः ॥ ४७ ॥

अनुजीविनां सेवकानां वृन्दैः प्रदेशनविधौ पुत्रवर्धपनिकाप्रदानप्रमोददानसमये
लक्ष्मीवतां धनधान्यादिविविधसमृद्धिभाजां व्यवहारिणामधिपतेर्नायकस्य अस्य कुंरा-
ख्यस्य पञ्चैव शाखाः शिखा अङ्गुलयो यत्र तादृशः पाणिर्हस्तः स एव लेखशिखरी कल्प-
शाखीव सहस्रसंख्याकाः शाखा लता यस्य । 'शिखाशाखालताः समाः' इति हैम्याम् ।
स सहस्रशाखो ददृशे दृष्टः । अनुजीविवृन्दैः किं कुर्वद्भिः । पुत्रस्य नाथीनन्दनस्य प्रसूतिं
जन्मैव अमितं मानरहितं मधु माध्वीकमस्य महेभ्यस्य निर्दिशद्भिः कथयद्भिः । 'अमितं
मधु तत्कथा मम' इति नैषधे ॥ इति पुत्रवर्धपनिकादानादि ॥

आसाद्य तत्प्रसववेश्म समं सगोत्रैः

सूनोरतृप्तिं स पिबन्वदनारविन्दम् ।

अद्वैतसंमदपरम्परयालिलिङ्गे

लक्ष्म्या पुमानिव पचेलिमपुण्यशाली ॥ ४८ ॥

स महेभ्यः न विद्यते द्वैतं युगलं येषाम् । 'युगं द्वैतं यमं युग्मम्' इति हैम्याम् ।
असाधारणानामित्यर्थः । तादृशानां संमदानां प्रमोदानां परम्परया आलिलिङ्गे आश्लिष्टः ।
कथेव । लक्ष्म्येव । यथा पचेलिमेन परिपाकं प्राप्तेन उदयाचलिकायामागतेन पुण्येन सुकृ-
तेन शुभकर्मणा शालते शोभते इत्येवंशीलः पुमान् श्रिया क्षीराण्वनन्दिन्या आलि-
ङ्गयते आश्लिष्यते । आश्रीयते इत्यर्थः । महेभ्यः किंविशिष्टः । न विद्यते तृप्तिः सौहित्य-
मत्यादरतया यत्र, तृप्तिरहितं यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणम् । सूनोः स्वपुत्रस्य वदना-
रविन्दं मुखकमलं पिबन् सादरमवलोकयन् । किं कृत्वा । सगोत्रैः स्वजनैः समं तस्या
नाथीदेव्याः प्रसववेश्म सूतिकासदनमासाद्य संप्राप्य समागत्य ॥

तस्याङ्गजास्यशशिदर्शनतोऽम्बुराशे-

वारीमिवोल्लसदमन्दमुदामियत्ताम् ।

हृत्सञ्ज्ञसूत्रितजगत्त्रयविस्तरापि

विज्ञावली प्रभुरभूत् तदा प्रमातुम् ॥ ४९ ॥

तदा तस्मिन् काले पुत्रप्रसवसूतिकासदनागमननन्दनावलोकनसमये तस्य कुरा-
साधोः अङ्गजः स्वनन्दनस्तस्यास्य वदनमेव शशी संपूर्णपार्वणचन्द्रः । पूर्णचन्द्र एव
शशी लक्ष्यते नान्यथा । अत एव शशी तस्य दर्शनतोऽवलोकनादम्बुराशेः समुद्रस्येव
वारां जलानामिव उल्लसन्तीनां प्रकटीभवन्तीनाममन्दानामकुण्ठानामनल्पानाममेयानां
वा मुदामानन्दानामियत्ता इत्यपरिमाणत्वमेतावन्मात्रतां प्रमातुं प्रमाणीकर्तुं विज्ञावली
प्राज्ञश्रेणी न प्रभुरभूत् न समर्थोऽभवत् । ज्ञातुं कदाचिन्न शक्नोति स्मेत्यर्थः । किंभूता
विज्ञावली । हृत्सञ्ज्ञसु स्वेषां विज्ञानां मनोमन्दिरेषु सूत्रितः सूत्रतामानीतः गोचरीकृतः ।
विज्ञात इत्यर्थः । जगत्त्रयस्य त्रिभुवनस्य विस्तरः प्रपञ्चो यथा । 'प्रक्रियां नातिविस्तराम्'
इति सारस्वतप्रथमश्लोके । त्रैलोक्यसकलस्वरूपवेदनविदुरापीत्यर्थः । 'तेजःपालश्च
विष्णोश्च कः स्वरूपं निरूपयेत् । स्थितं जगत्त्रयीसूत्रं यदीयोदरकन्दरे ॥' इत्यर्जुना-
चल्लङ्घिगवसतिमध्यस्थवस्तुपालप्रशस्तौ ॥

आस्वादयंल्लवणिमामृतमेतदास्या-

वश्यायभासि वसतिं गवि चानुतिष्ठन् ।

पश्यन्मुतं वृसदिवाजनि निनिमेष-

नेत्रारविन्दयुगलः स महेभ्यकुम्भी ॥ ५० ॥

स कुरानामा महेभ्यकुम्भी व्यवहारिकुम्भरः मुतं स्वनन्दनं पश्यन् विकचलोचना-
भ्यामवलोकयन् दिवि स्वर्गे सीदति तिष्ठतीति वृसत् देव इव निर्गतो निमेषो मीलनं
नयोन्यादृशे नेत्रे लोचने एवारविन्दे कमले तयोर्युगलं द्वन्द्वं यस्य । मेषोन्मेषरहितन-
यनयामल इत्यर्थः । तादृशोऽजनि संजातः । किं कुर्वन् । एतस्यात्मनन्दनस्य आस्ये वदने
एवावश्यायभास्तुहिनिकिरणः चन्द्रस्तस्मिन् । 'अवश्यायस्तुहिनं प्रालेयं मिहिका हिमम्'
इति हर्म्याम् । लवणिमा लवण्यमेवामृतं सुधारसमास्वादयन् पिबन् । पुनः किंभूतः ।
गवि भूमौ स्वर्गं च वसतिं वासमनुतिष्ठन् कुर्वन् । देवोऽपि चन्द्रामृतं पिबति । ['असित-
मेकसुराशितमप्यभूत् पुनरेष पुनर्विशदं विशम् । अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति
पुनर्नवमार्णवम् ॥' इति नैषधे । अस्यार्थः—'अर्णवादागतमार्णवं कृष्णं विषमेकेन सुरेण
हरेण अशितं जगत् पुनर्नाभूत् । पुनर्न जातमित्यर्थः । एष चन्द्रः पुनः श्वेतं विषं सुरैर्व-
ह्यादिभिर्देवैर्निपीड्य जनितक्षयम् । 'प्रथमां पिबते रविः' इत्यादि श्रुतेः । 'ईदृशमपि
पुनर्जायते' इति । 'इज्येव देवप्रजभोज्यऋद्धिः शुद्धा सुधादीधितिमण्डलीयम्' इत्यपि
नैषधे ।] स्वर्गं च तिष्ठति निनिमेषश्च स्यात् ॥

पूर्वाद्विपाटलशिलावलये शशीव

लीलामराल इव कोकनदच्छदे वा ।

पारीन्द्रपोत इव गैरिकशृङ्गिशृङ्गे

तत्पाणिपल्लवतले विललास बालः ॥ ५१ ॥

तस्य कुंरामहेभ्यस्य पाणिरेव शोणत्वात्पल्लवः किसलयमिव पल्लवस्तस्य तले उदरे मध्ये स बालः गुशुभे । क इव । पूर्वाद्वैरुदयाचलस्य पाटले लोहिते शिलावलये उपलोत्सङ्गे विस्तीर्णप्रस्तरमध्ये वा । मिलिता एकतथैव दृश्यमाना वलयाकाराः शिलाः शिलावलयं तस्मिन् शशी सौम्यश्चन्द्र इव । पुनः क इव । कोकनदं रक्तोत्पलं तस्य पत्रे दले लीलायुक्तः क्रीडाकारी वा मरालः राजहंस इव । पुनः क इव । गैरिके धातुमये शृङ्गाणि सन्त्यस्मिन्निति शृङ्गी तस्य शृङ्गिणः शैलस्य शृङ्गे शिखरे पारीन्द्रस्य भृगेन्द्रस्य पोतः बालः केसरिकिशोरक इव ॥

जन्मोत्सवं विदधता तनयस्य तेन

कामाधिकं प्रदिशतार्थिकृतेऽर्थजातम् ।

श्रीदस्तदावगणनां गमितो निकेतं

कैलाशमूर्ध्नि विदधे किमपत्रपिण्डः ॥ ५२ ॥

तदा तस्मिन् नन्दनजननसमये तेन कुंराव्यवहारिणा अवगणनां दानशौण्डव्येनावहेलनां गमितः प्रापितः सन् श्रीदः धनदः । किमुत्प्रेक्ष्यते । अपत्रपिण्डुर्लज्जशीलः सन् कैलाशस्य स्फटिकाचलस्य मूर्ध्नि उपरि शिखायां निकेतं स्वसदनं विदधे कृतवानिव । महेभ्येन किं कुर्वता । तनयस्य निजनन्दनस्य जन्मोत्सवं जननस्य महामहं विदधता कुर्वता । पुनः किं कुर्वता । कामान्मनोभिलषितादप्यधिकमतिशयितमर्थानां द्रविणानां जातं समूहमर्थिकृते याचकजनार्थम् । याचकायेत्यर्थः । प्रदिशता यच्छता ददता ॥

सूनोर्जनेर्महमसौ विभवानुरूपं

श्रीमन्महेभ्यमघवा घटयांवभूव ।

संजातजातविधिरप्यदसीयसूनु-

निर्धूतदर्पण इव स्फुरयांवभूव ॥ ५३ ॥

असौ कुंराख्यः श्रीमन्तो लक्ष्मीकेलिनिकेतना ये महेभ्या महाव्यावहारिणस्तेषु तेषां मध्ये वा मघवा पुरंदरः प्रथमगणनीयत्वात्सर्वोत्कृष्टत्वाच्च विभवानुरूपं स्वद्रव्यस्योचितं योग्यं सदृशं सूनोः पुत्रस्य जनेर्जन्मनः महमुत्सवं घटयांवभूव चकार । 'सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्माति निर्भिमीते च' इति क्रियाकलापे करणार्थाः क्रियाः । अपि पुनः संजातः संपन्नः निर्वातितः जातस्य जन्मसंस्कारादेः प्रथमे दिवसे स्थितिपदिक्ता तृतीये वासरे चन्द्रसूर्यदर्शनादिको विधिः प्रकारो यस्य तादृशोऽदसीयसूनुर्नाथीकुंरामहेभ्यनन्दनः निर्धूतदर्पण इव शाणाप्रोत्तेजितात्मदर्श इव । 'निर्धूतहारगुलिकाविशदं

हिमाम्भः' इति रघुवंशे । स्फुरयांबभूव दीप्यते स्म । 'स जातकर्मण्यखिले तपस्विना
तपोवनादेत्य पुरोधसाकृते' इत्यपि रघौ ॥

अर्थित्रजेन मिलितुं स्वककामुकेन

संकेतसौधमिव वारिधिनन्दनायाः ।

गीतिप्रतिध्वनितनर्तितकेलिकेकि

षष्ठीदिने रजनिजागरणं प्रणीय ॥ ५४ ॥

पातालभूतलसुरालयलोककोटी-

कोटीरहीर इव बालक एष भावी ।

उन्नीव नीतिकृतिनान्तरितीव पित्रा

सत्रा खगोत्रिभिरकारि स हीरनामा ॥ ५५ ॥

पित्रा कुराख्यव्यवहारिणा अन्तः स्वचित्ते । उत्प्रेक्ष्यते । इत्यमुना प्रकारेण उन्नीय
विचार्येव । 'वितर्कः स्यादुन्नयनम्' इति हैम्याम् । उन्नयनम् । पूर्वमुन्नीय गोत्रिभिः सत्रा
स्वस्वजनैः सार्धं स नाथीजनितः शिशुर्बालकः हीर इति नाम यस्य तादृशोऽकारि कृतः ।
हीरकुमारो नाम निर्मितः । किंभूतेन पित्रा । नीतौ न्याये योग्यताप्रापणे कृतिना कोविदेन ।
चतुरेणेत्यर्थः । योग्यत्वनयनमेव दर्शयति । इति किम् । यदेष बालकः अग्रे पातालस्य
बलिवेदमनः भूतलस्य क्षोणीमण्डलस्य सुरालयस्य देवलोकस्य लोकानां नागनागरनाकिनां
कोटीनां शतलक्षलक्षितानां कोटिशः संख्याकानां कोटिकोटीनां कोटीरेषु मुकुटेषु हीरक
इव सर्वोत्तममणिरिव । लोकप्रसिद्ध्या 'नगीनो' तद्वदसौ शिशुर्भावी भविष्यति इति वित-
र्क्येव । किं कृत्वा । प्रणीय विधाय । किम् । षष्ठ्या दिने दिवसे रजन्यां रात्रौ जागरण-
मुत्सवविशेषम् । किंभूतम् । गीतीनां सोत्कण्ठकलकण्ठकण्ठीकण्ठालपितमधुरगानानां प्रति-
ध्वनितैः प्रतिशब्दितैः कृत्वा नर्तितास्ताण्डवाडम्बरकलिता जाताः कृता वा केलिकेकिनः
क्रीडार्थस्वसन्नपालितबालमयूरा यत्र । उत्प्रेक्ष्यते । षष्ठीदिनरजनिजागरं स्वककामुकेन
निजाभिलाषुकेण अर्थित्रजेन याचकचक्रेण समं मिलितुं सङ्गं कर्तुं वारिधिनन्दनाया
लक्ष्म्याः संकेतः 'अमुकस्मिन् स्थाने त्वया समेतव्यम्, मयापि तत्र समागम्यते' इति
संकेतः । गृहो युवत्याश्च । तस्य सौधं गृहमिव । 'विशेषतीर्थेष्विव जह्नुनन्दना' इति
नैषधे ॥ इति जन्मोत्सवनामकरणादिः ॥

पूर्वापराम्बुनिधिमञ्जुलमेखलाया

भूमेः स भर्तुरुचितैः समभूषि चिह्नैः ।

दानानुकम्पनसभाजननीरसिक्ता-

प्राचीनपुण्यविटपिप्रसवैरिवैतैः ॥ ५६ ॥

स हीरकुमारः पूर्वा प्राची अपरा प्रतीची सृष्टिभ्रमणेन पूर्वस्या दक्षिणस्यां गमनादक्षिणा गृहीता पश्चिमाया उत्तरस्यां गमनादुत्तरापि गृहीतैव एतावता चतसृणां दिशां ग्रहणात् तासामम्बुनिधयश्चत्वारोऽपि समुद्राः । ‘पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्’ इति रघुवंशवचनात् । एवं मञ्जुला बन्धुरा स्वर्णमणिमौक्तिकमण्डिता मेखला काश्ची यस्या मेखला तु बलयाकारतया कटीजघनादिप्रदेशे परिधीयते ततश्चतुर्दिग्वर्तिसमुद्रोपादानम् । अथवा अपरोऽपि पाठः । यथा ‘अर्भश्चतुर्जलधिमञ्जुलमेखलायाः’ । चत्वारः प्राची प्रतीची अवाची उदीचीति चतुर्दिग्वर्तिनो जलधयः समुद्रा एव मञ्जुला मनोहरा मेखला रसना यस्यास्तादृश्या भूमेः पृथिव्याः भर्तुः स्वामिनः चतुर्दिक्पाथोनिधिपर्यन्तभूमीपालस्य चक्रिवर्तिनः उचितैर्योग्यैः चिह्नैः सामुद्रककथितैर्लक्षणैः समभूषि अलंकृतः । अर्थात् हस्तपादावङ्गोपाङ्गेषु शोभितः । उत्प्रेक्ष्यते । दानमभयसुपात्रपाणिप्रमुखविश्राणनम्, अनुकम्पनं मार्यमाणप्राणिमोचनदुःखितदीनकष्टापनयनादिदया, सभाजनं देवगुर्वादिपूजनभक्तिः, तद्रूपैर्नरैः सलिलैः सिक्तस्य प्राचीनं पूर्वजन्मावतीर्णं यत्पुण्यं स एव विटपाः शाखाविशेषाः सन्त्यस्यास्मिन् वा इति विटपी वृक्षस्तस्य प्रसवैः पुष्पैरिव । ‘पुष्पं सूनं सुमनसः प्रसवश्च मणीचक्रम्’ इति हैम्याम् ॥

सज्ञातिलोचनचकोरनिपीयमानै-

लवण्यचञ्चदमृतैरुपचीयमानैः ।

वृद्धिं दधार पृथुकोऽप्रतिमैः प्रतीकै-

द्वैतीयिकेन्दुरिव सान्द्रकलाकलापैः ॥ १७ ॥

स पृथुकः हीरकुमारः न विद्यते प्रतिमा प्रतिविम्बं सदृशं वस्तु केनापि सादृश्यं वा येषाम् । ‘न तन्मुखस्य । प्रतिमा चराचरे’ इति नैषधे । तैरसाधारणैः प्रतीकैरवयवैः । ‘एकदेशे प्रतीकोऽङ्गावयवापघना अपि’ इति हैम्याम् । कृत्वा वृद्धिं पुष्टिं दधार धत्ते स्म । किंभूतैः प्रतीकैः । सज्ञातीनां स्वजनानां लोचनान्येव चकोरा ज्योत्स्नाप्रियास्तैर्निपीयमानैः सादरमर्तुं च अवलोक्यमानैः । पुनः किंभूतैः । लवण्यानि सुन्दरतातिशया एव चञ्चन्ति पुण्यानि चेतोहराणि वा अमृतानि सुधारसास्तैः पुष्टिं प्राप्यमानैः नीयमानैः । क इव । द्वैतीयिकेन्दुरिव । यथा श्वेतपक्षे द्वितीयायां भवो द्वितीयिकः द्वितीयासंबन्धी वा चन्द्रः सान्द्राणां स्निग्धानां बहुलानां वा कलानां षोडशांशलक्षणानां भागानां कलापैः कृत्वा वृद्धिं धत्ते । ‘केनेयका’ इति कप्रत्ययः । णित्वं त्वैषां विकल्पकमिति कापि वृद्धिः । द्वितीयाया अयं द्वैतीयकः ॥

पित्रोर्मनोरथगणान्कुटजावनीजा-

न्प्रावृट्पयोद इव पल्लवयन्कुमारः ।

उत्सङ्गयोरुदलसत्कलयन्विलासं

फुल्लताफलदयोरिव केलिकीरः ॥ १८ ॥

आनन्दमेदुरितमानसपद्मचक्षु-

रङ्कान्तरं परिचरन्स महेभ्यसूनुः ।

अभ्राभ्रिकान्तरमिवार्भकभानुमाली

कस्तूरिकामृगशिशुर्विपिनान्तरं वा ॥ ५९ ॥

जननीजनकयोः उत्सङ्गयोर्विलासं बालक्रीडां कलयन् कुर्वन् उदलसत् उल्लसति स्म शुशुभे । क इव । केलिकीर इव । यथा केलिकलितः क्रीडाकरः कीरः । अर्थात् बालशुक्रः । उल्लसतोर्विकसतोर्लताफलदयोस्तसङ्गयोरुल्लसति । कुमारः किं कुर्वन् । मनोरथगणान् । अर्थात् पित्रोः । बान्छाशतानि पल्लवयन् नवीकुर्वन् फलयन् वा । क इव । प्रावृट्पयोद इव । यथा वर्षाकालसंवन्धी मेघः कुटजावनीजान् नीपद्मान् पल्लवयति किशलयकलितान् करोति । स महेभ्यसूनुः कुराव्यवहारिनन्दनः स हीरकुमारः आनन्देन हर्षेण मेदुरितं पुष्टीभूतं मानसं मनो यासां प्रमोदप्रपूरितानां पद्मचक्षुषां कमललोचनानामेकस्मादङ्गादन्योऽङ्ग उत्सङ्गः अङ्कान्तरं परिचरन् सेवमानः । 'भजते श्रयत्युपास्ते शील्युपतिष्ठते च शीलयति । उपचरति परिचरति च निषेवते च प्रसादयति ॥' इति क्रियाकलापे । आबभासे शुशुभे । क इव । अर्भकभानुमालीव । यथा अभ्रस्य मेघस्य अभ्रिकान्तरमेकस्या अभ्रिकाया अपरा अभ्रिका वार्दलिका अभ्राभ्रिकान्तरं भजन् डिम्भभास्करो भासते । 'जरी-जुम्भट्टिम्भद्युमणिरमणीयांशुलहरी' इति खण्डप्रशस्तौ । पुनः क इव । कस्तूरिकामृगशि-शुरिव । यथा कस्तूरिकाहरिणा बालकाः विपिनान्तरमेकस्माद्विपिनाद्विनादन्यद्विपिनं विपि-नान्तरं शीलन् । पुनः क इव । द्विरदेन्द्रवाल इव । यथा गजराजस्य । 'पद्मवर्षा गजो बालः' इति हैम्याम् । बालः शिशुः विन्ध्योपलान्तरमेकस्माद्विन्ध्योपलाबलबालकशैलशि-लायाः अन्यं विन्ध्योपलं शिलोत्सङ्गम् । 'विन्ध्यस्तु जलबालकः' । तथा 'ग्रावा शिलोपलो गण्डः' इति द्वयमपि हैम्याम् । पुनः क इव । अर्भककाकपुष्ट इव । यथा क्षीरकण्ठक-लकण्ठः कोकिलबालकः चूतद्रुसान्तरमेकस्माच्चूतद्रुमात्सहकारतरोरपरश्वत्तद्रुमः अन्यो माकन्दपादपः । पुनः क इव । अमर इव । यथा मधुकरः स्मेराम्बुजान्तरमेकस्मात्स्मेरा-म्बुजाद्विकचकमलादपरं स्मेराम्बुजं विकसितपद्मं शीलयत् । पुनः क इव । कलहंस इव । राजमरालबालकः तरङ्गोत्सङ्गान्तरम् एकस्मात्तरङ्गस्य कलोलस्य उत्सङ्गादपरं तरङ्गोत्सङ्गं लहरीक्रीडनुपचरन् भासते ॥

स्वर्णेऽद्रिशृङ्ग इव चन्द्रिकयानुविद्धः

कायः शिशोर्विकचगन्धफली विलासी ।

संचारिचन्द्रमलयद्रुमसान्द्रपङ्के-

लिप्तः कयाचन चकोरदृशा चकासे ॥ ६० ॥

कयाचन अनिदिष्टनाम्नया चकोरदशा बलचञ्चुचक्षुषा धान्या अन्यस्त्रिया वा क्रीडा-
कारिण्या संचरतीति सर्वत्र मध्ये प्रसरतीत्येवंशीलः संचारी तादृशश्चन्द्रः कर्पूरो यत्र । ‘च-
न्द्रोऽम्बुकाम्ययोः । स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे कम्पिले मेचकेऽपि च ॥’ इत्यनेकार्थः । एतावता ।
घनकर्पूरमिश्रितैरित्यर्थः । मलयद्रुमस्य चन्दनतरोः सान्द्रैर्निविडैः पङ्कैर्द्रवैः लिप्तः अङ्ग-
रागकलितः कृतः । शिशोर्हीरकुमारस्य कायो देहश्चकासे विराजते स्म । ‘चकास्ति च-
ञ्चति भासते भ्राजते लसत्यपि शोभते । विलसत्येवमाद्याः स्युर्भ्राजनार्थप्रकाशकाः ॥’
इति क्रियाकलापे । कायः किभूतः । विकचा विकसिता या गन्धफली चम्पकपादपकु-
सुमं तद्वद्विलसतीत्येवंशीलः । ‘इति चम्पकगौरागः कृतां विधोर्गन्धफली बलिश्रियम्’
इति नैषधे । क इव । स्वर्णाद्रिशृङ्ग इव । यथा कनकाचलस्य मेरोः शिखरं चन्द्रिकया च-
न्द्रज्योत्स्नया अनुविद्धो व्याप्तः शोभते । ‘भगयुगमथ शृङ्गोद्योगसंधा निदाघः’ इति
लिङ्गानुशासने शृङ्गशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गे ॥

नीलांशुकाकलितबालककामपाल-

मूर्तेरिवोपमितिमानयितुं कुमारे ।

काचित्कदाचन कुरङ्गमदाङ्गरागं

कौतूहलेन कुरुविन्ददती ततान ॥ ६१ ॥

कुरुविन्दाः पद्मरागमणयः तद्वद्दशना दन्ता यस्याः सा कुरुविन्ददती । ‘को दर्शयेत्स्वां
कुरुविन्दमालाम्,’ ‘चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तदन्ति’ इति च । ‘अग्रान्तशुद्धशुभ्र-
वृषवराहेभ्यश्च’ इति दन्तस्य दद्वा । स्त्रीलिङ्गत्वादीप् ।’ इति नैषधवृत्तौ पाणिनिसूत्रम् ।
पदद्वयमपि च नैषधीयम् । काचित्तादृशी धात्री कदाचन कस्मिन्नपि समये कौतूहलेन
कुरङ्गमदेन कस्तूरीद्रवेण कृत्वा अङ्गरागमर्थात्कुमाराङ्गे विलेपनं ततान कृतवती । उत्प्रे-
क्ष्यते । नीलेन अंशुकेन वसनेन कलितस्य आवृतस्य । परिहितनीलवस्त्रस्येत्यर्थः । तथा
बालकस्य कुमारावस्थालंकृतस्य कामपालस्य बलभद्रस्य मूर्तेः शरीरस्योपमितिमुपमानं
कुमारे स्वाभाविककनककेतकगौरशरीरहीरकुमारे आनयितुम् । प्रदापयितुमिवेत्यर्थः ॥

काचिच्चकोरनयना व्यवहारिसूनो-

वक्राम्बुजं विकचनेत्रपुटैर्निपीय ।

चेतस्तमीदयितनिर्मलितात्मदर्श-

मेराब्जदर्शनविधौ शिथिलीचकार ॥ ६२ ॥

काचिदज्ञाताभिधाना धात्री परा वा गता चकोरनयना कामिनी व्यवहारिसूनोः कुं-
रामहेभ्यनन्दनस्य वक्राम्बुजं मुखारविन्दं विकचैर्विकस्वरैर्नैत्रपुटैर्नयनपत्रपुटैर्निपीय
सादरसवलोक्य तमीदयितः पूर्णिमाचन्द्रः । तथा निर्मलितः शाणोत्तेजितः आत्मदर्शः
दर्पणस्तथा मेराब्जं विकचकमलं तेषां दर्शनविधौ अवलोकनप्रकारे चेतः स्वमनः
शिथिलीचकार मन्दीकरोति स्म । पार्वणेन्दुदर्पणपद्मेभ्योऽप्यधिकं यन्मुखमित्यर्थः ॥

एनं हिरण्यमणिभूषणभूषिताङ्ग-

मिम्याङ्गजं नयनयोरतिथिं प्रणीय ।

सोऽयं सरो हरहुताशहतोऽवतीर्ण

एतन्मिषेण समशायि कयाचिदेवम् ॥ ६३ ॥

हिरण्यमणिभूषणः स्वर्णरत्नालंकारैर्भूषिताङ्गमलंकृतकायमिम्याङ्गजं कुंराव्यवहारितनयमेनं हीरकुमारं नयनयोरात्मलोचनद्वन्द्वस्य अतिथिं प्राशुणकं प्रणीय कृत्वा । यतः 'नयना-
तिथिं विधत्ते नेत्रप्राशुणकमातनोत्यपि च,' तथा 'दृग्गोचरीकरोति च लोचनविषयं च निर्माति,' तथा 'दृग्गोचरतां नयति च लोचनविषयत्वं च आनयति' इत्यादिः क्रि-
याकलोपे । कयाचिद्वाच्या कामिन्या वा एवममुना प्रकारेण समशायि संशयश्चक्रे ।
'नैपथ्येन समशायि चिराय' इति नैपथ्ये । एवं किम् । हरहुताशहतः । त्रिलोचनेन स्व-
भालप्रादुर्भूततृतीयलोचनज्वलनज्वालाज्वालितः । अत एव एतन्मिषेण । हीरकुमार-
व्याजेन एतद्रूपेणेत्यर्थः । गृहीतावतारः आदत्तापरजन्मा सोऽयं प्राक्श्रवणगोचरीकृतः
सरोः काम इव मकरध्वजरूपावतारः । हीरकुमार इत्यर्थः ॥

काचिद्वशा विकचचम्पकसूनुशालि-

मालां विलम्बितवती शिशुकण्ठपीठे ।

तस्मिंश्चिकीर्षुरिव कौतुकिनाकिसुक्त-

प्रालम्बिकाङ्गिनवकल्पतरूपमानम् ॥ ६४ ॥

काचिद्वशा धात्री परा वा वनिता शिशोहीरकुमारस्य कण्ठपीठे विकचानां कुसुमि-
तानां चम्पकानां हेमपुष्पकाणां सूनुः कुसुमैः कृत्वा शालते शोभते इत्येवंशीलां मालां
विकसितचम्पककुसुमाकलितहारलतां विलम्बितवती चिक्षेप । स्थापयति स्मेत्यर्थः । उ-
त्प्रेक्ष्यते । तस्मिन् हीरकुमारे कौतुकिना कुतूहलाकलितेन नाकिना केनापि देवेन
मुक्ता अवलम्बिता स्थापिता प्रालम्बिका हेमदामदीनारमालिका सुवर्णञ्जुम्बनकमङ्के
कण्ठेऽस्यास्तीति तादृशस्य नवस्य बालकस्य कल्पतरोर्देवदुमस्य उपमानं साम्यं चिकी-
र्षुरिव कर्तुमिच्छुः किमु ॥

चूडामणिस्त्रिभुवनस्य यदेष भावी

चूडामणिं किमिति कापि दधार मूर्ध्नि ।

सूरिश्रियास्तिलकवद्भविता कुमारी

भालेऽपरास्य तिलकं किमतश्चकार ॥ ६५ ॥

यद्यस्मान्कारणात् एष हीरकुमारस्त्रिभुवनस्य त्रिलोक्यस्य चूडामणिरिव चूडामणिः शि-
रोरत्नं भावी भविष्यति । किंप्रेक्ष्यते । इति हेतोः कापि कान्ता धात्री वा अस्य शि-

शोभूँधि मस्तके चूडामणिं शिखारत्नं धधार धृतवती स्थापितवती वा । पुनरयं हीरकु-
मारः यद्यस्मात्कारणात् सूरेश्रिया आचार्यलक्ष्म्यास्तिलक इव विशेषक इव भविता भवि-
ष्यति । किमुत्प्रेक्ष्यते । अपरा धात्री अस्य कुंरानाथीनन्दनस्य अतः कारणात् भाले ललाटे
तिलके कुङ्कुमादिकस्य स्वर्णरत्नमयं भूषणं पुण्ड्रकं चकार रचयामास ॥

तत्कर्णयोर्मणिविनिर्मितकर्णपूर-

द्वन्द्वं कयाचन विलम्बितमुद्दिदीपे ।

नित्योदयः कथमभूस्त्वमिदं सुखेन्दुं

प्रष्टुं किमित्युपगतं शशिसूर्ययुग्मम् ॥ ६६ ॥

कयाचन मण्डनकारिण्या धात्र्यान्यया वा स्त्रिया तत्कर्णयोर्हीरकुमारश्रवणयोः अ-
वलम्बित न्यस्तं क्षिप्तं मणिविनिर्मितमथात्स्वर्णरजतचन्द्रिकान्तपीतरत्नमयं कर्णपूर-
द्वन्द्वं कुण्डलयुग्ममुद्दिदीपे । शुशुभे । किमुत्प्रेक्ष्यते । इदं सुखेन्दुमस्य हीरकुमारस्य व-
दनचन्द्रं प्रति इति प्रष्टुमिवोपगतं समेतं शशिसूर्ययुग्मं चन्द्रदिवाकरद्वयम् । इति किम् ।
हे हीरसुखेन्दो, त्वं नित्योदयः अहर्निशमभ्युदयोऽस्तराहित्यं यस्य तादृशः कथं केन प्र-
कारेण अभूः संजातः तत्कारणमावयोर्वेद । यथा आवामपि नित्योदयौ भवावः ॥

नेत्रामृताञ्जनमसौ जगतां यदस्या-

नञ्जाक्षिणी किमिति काचन कज्जलेन ।

सर्वाङ्गसूत्रमिह धास्यति येन तस्यो-

रःसूत्रिकां किमिति काचिदुरस्यधत्त ॥ ६७ ॥

यत्कारणादसौ हीरकुमारः जगतां त्रिभुवनजनानां नेत्राणां नयनानाममृताञ्जनं सुधा-
या अञ्जनमिवास्ति भावी वा । किमुत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः काचन मण्डनकारिणी अस्य
शिशोः अक्षिणी लोचने कज्जलेन आनञ्ज । पुनर्येन कारणेन असौ बालकः इह हृदये सर्वैः
समग्रैरङ्गैराचाराङ्गादिभिरुपलक्षितं सूत्रं सिद्धान्तम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । धास्यति
धारयिष्यति । किमुत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः कापि धात्री तस्य हीरकुमारस्य उरसि हृदये
उरःसूत्रिकां मौक्तिकजालिकाम् । 'उरःसूत्रिका तु मौक्तिकैः' । देशविशेषप्रसिद्धा
बहुसरमुक्ताहारलतां वा अवधत् क्षिपति स्म ॥

पादारविन्दयुगलोपरिलम्बिनीनां

काणै रणज्जगितराजतर्किकिणीनाम् ।

वीङ्गाविशेषललितेन मरालबाल-

स्तम्बेरमाविव विगायति यः कुमारः ॥ ६८ ॥

यः कुमारो वीङ्गायाः खगमनस्य विशेषेणातिशयस्य ललितेन चारुतया विलासेन

वा । बालशब्दो लालाघण्टान्यायेन उभयत्र संबध्यते । मरालबालस्तम्बेरमौ हंसबालं बाल-
गजं च । उपप्रेक्ष्यते । विगायति निन्दतीव । कैः । काणैः शब्दैः । कासाम् । रणक्षेत्र इति
शब्दो जात आसु इति । रणत्कारकलिता इत्यर्थः । तादृशो राजता रूप्यसंबन्धिन्धन्यः ।
'रौप्यघनघर्घटीजर्जरस्वरम्' इति हंसविशेषणं चम्पूकथायाम् । तथाविधाः किंकिण्यः
लघुघुघुरिकास्तासाम् । किभूताः । पादारविन्दयोरर्थात्कुमारचरणकमलयोर्युगलं तस्यो-
परि लम्बन्ते गुणप्रोताः कृत्वा ऊर्ध्वं लम्बायमानाः संजायन्ते । अथवा पदोपरिप्रदेश-
साधयन्ते इत्येवंशीलाः । चरणोपरिवद्धानामित्यर्थः । इति धात्रीपरिपालनशृङ्गारक-
रणादि ॥

कुंराह्वयस्य हरति स्म मनो मनोज्ञं

तन्मुन्मुनालपनमिभ्यगभस्तिभर्तुः ।

किंचिद्विजृम्भियुवभावनवोदवाला-

नातिप्रगल्भकिलकिञ्चितवस्त्रियस्य ॥ ६९ ॥

मनोज्ञं जनमनोहरं तस्य हीरकुमारस्य यन्मुन्मुनालपनमस्पृष्टभाषणं तत्कुंरा इति
आह्वयो नाम यस्य तादृशस्य इभ्येषु व्यवहारिषु मध्ये तत्पुत्रप्रतापेन कृत्वा भास्कर इव
दीप्यमानत्वात् भास्करस्य । सूर्यतुल्यस्येत्यर्थः । मनश्चित्तं हरति स्म । किंचित्किमपि स्तोक-
मात्रं विजृम्भी प्रकटीभवनशीलो युवभावस्तरुण्यं यस्यास्तथा नवोढा नवपरिणीता बाला
बधूस्तस्या नातिप्रगल्भं न अतिशयेन प्रगल्भं परिणतीभूतं नातिचातुर्यं वा किलकिञ्चितं
विलासविशेषः । 'लीला विलासो विच्छित्तिर्विक्वोकः किलकिञ्चितम् । मोहायितं कुट्टिमितं
ललितं विधृतं तथा । विभ्रमश्चेत्यलंकाराः स्त्रीणां स्वाभाविका दश ॥' इति हैम्याम् ।
तद्वस्त्रियस्य भर्तुश्चेतो यथा हरति । 'त्वयि वीर विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं
किल' इति नैषधे ॥

इक्ष्वाकुवंश इति नाभिमहीमघोना

विश्वप्रशस्यवृषभाङ्गतनूभवेन ।

उत्केश इत्युदयवांस्तनयेन तेन

मेने महेश्वरवृषभेण निजान्ववायः ॥ ७० ॥

महेश्वरवृषभेण कुंराव्यवहारिपुङ्गवेन तेन हीरनाम्ना तनयेन पुत्रेण उत्केश इति नाम्ना
निजान्वयः स्ववंशः उदयवानभ्युदयः युद्धे मानितः ज्ञातः । केनेव । नाभिमहीमघोनेव
यथा नाभिनरेन्द्रेण विश्वेषां त्रिभुवनजनानां प्रशस्येन श्लाघार्हेण वृषभोऽङ्कः उरुप्रदेशे
लाञ्छनं यस्य स वृषभाङ्गस्तेन वृषभदेवनाम्ना तनूभवेन नन्दनेन इक्ष्वाकुनामा वंश
उदयवानाम्नि ॥

निर्झराणां प्रवेशात्तरङ्गैः कल्लोलैः नदीप्रवाहो वृद्धिं धत्ते । किंभूतः सिन्धुप्रवाहः । पत्ररथै-
विहङ्गमैरभिगम्यः खगसेव्यः ॥

वाचस्पतेर्दिवि विधाय सुरान्विनेया-

नुर्व्यां नरानपि विधातुमुपेयुषः किम् ।

वप्रा व्यमोचि पठितुं सविधे द्विजस्य

कस्यापि वाङ्मयविदः समहं कुमारः ॥ ७४ ॥

हीरकुमारः समहं महोत्सवपुरःसरं कस्यापि अनिर्दिष्टनाम्नो द्विजस्य ब्राह्मणस्य स-
विधे समीपे पठितुमध्येतुं वप्रा कुंराव्यवहारिणा व्यमोचि मुक्तः । किंभूतस्य द्विजस्य ।
वाङ्मयं शिक्षाकल्पव्याकरणादिशैवशास्त्रं वेत्तीति वाङ्मयविदः तस्य । किमुत्प्रेक्ष्यते । स्वर्गे
सुरान् देवान् विनेयान् शिष्यान् विधाय अपि पुनर्नरान् मनुष्यान् अध्यापनादिभिः
शिष्यान् विधातुं कर्तुमुर्व्यामवन्त्यामुपेयुष आगतस्य वाचस्पतेर्वृहस्पतेरिव ॥

तस्यार्भशक इव चित्रशिखण्डिसूनो-

लब्धवोपकण्ठमशठः स पठन्नकुण्ठम् ।

पोतः श्रुतिं स विधिवल्लिपिसंग्रहेण

प्रेम्णा विवेश नगरीमिव गोपुरेण ॥ ७५ ॥

स पोतो हीरकुमारः प्रेम्णा हार्देन हृदयमिप्रायेण विधिवत् शास्त्रोक्तप्रकारेण लिपेर-
क्षरात्मिकायाः संग्रहेण आगमनेन । शिक्षणेनेत्यर्थः । श्रुतिं शास्त्रं विवेश प्रविष्टः । शास्त्राभ्यासं
कर्तुं प्रारब्धवानित्यर्थः । कामिव । नगरीमिव । यथा कश्चित् वालो गोपुरेण प्रतोल्या कृत्वा
पुरीं प्रविशति । पोतः किं कुर्वन् । अशठः सरलाशयः सन् । अकुण्ठं घोषाल्यभ्यस-
नादिना तीक्ष्णं सोत्साहं वा सु अतिशयेनात्मनः सर्वप्रयत्नेन पठन्नधीयमानः । किं
कृत्वा । तस्याध्यापकस्य उपकण्ठं लब्ध्वा संग्राम्य । क इव । अर्भशक इव यथा बालक
इन्द्रः । 'शैशवावधिरुर्गुरुस्य' इति नैपथे । एतेन काव्येन इन्द्रस्य बालत्वं तथा गुरु-
पार्श्वे अध्ययनमपि प्रोक्तम् । चित्रशिखण्डिसूनोर्वृहस्पतेः । 'विचित्रवाक्चित्रशिख-
ण्डिसूनोः' इत्यपि नैपथे । पार्श्वे प्राप्य पठति ॥

छायां तनोरिव न लङ्घयितापि वाचं

प्रासादि तेन विनयावनतेन सूरिः ।

सर्वैरभावि च गुरोः सफलैः प्रयत्नै-

स्तस्मिन्ननूपरमुवीव कृषीदलस्य ॥ ७६ ॥

तेन हीरकुमारेण सूरिः कलाचार्यः प्रासादि प्रसन्नकृतः । तेन किंभूतेन । विनयेन
अवनतेन नम्रेण । तेन पुनः किं कुर्वता । गुरोः स्वाध्यापकस्य वाचं वाणीम् । वचनमा-

त्रमपीत्यर्थः । नोल्लङ्घ्यता नातिक्रामता । कामिव । छायामिव । यथा कोऽपि स्वतनो-
दछायां नोल्लङ्घयति गुरोस्तस्याध्यापकस्य सर्वैः सकलैः प्रयत्नैरुद्यमैस्तस्मिन् हीरकुमारे
सफलैः फलवद्भिरभावि संजातं संपन्नैः । कस्येव । कृषीवलस्येव । यथा कृषिकस्य कर्ष-
णकारिणः अनुपरभुवि सर्वसस्योत्पत्तिस्थानक्षेत्रभूमौ प्रयत्नैः प्रयासैः सफलैर्भूयते ॥

तं साक्षिणं प्रणयवान्स्वगुरुं प्रणीय

स्वल्पैर्दिनैः स वहनैरिव धीविशेषैः ।

संप्राप पारमखिलागमसागरस्य

साधुः समाधिभिरिवानुपमैर्भवस्य ॥ ७७ ॥

प्रणयः स्नेहो गुरुजनेषु विद्यते यस्य स हीरकुमारस्तं स्वगुरुं निजकलाचार्यं साक्षिणं
प्रतिभुवम् । साक्षिमात्रमित्यर्थः । प्रणीय कृत्वा स्वल्पैरतिस्तोकैर्दिनैर्वासरैः अखिलागमसाग-
रस्य समस्तशास्त्रसमुद्रस्य पारं परतीरं प्रान्तं संप्राप लेभे । गृहमेधिवासोचितं सर्वशा-
स्त्रमधीतवानित्यर्थः । कैः । धीविशेषैः स्वप्रज्ञोत्कर्षैः । बुद्धिविशिष्टगुणातिशयैः । कैरिव ।
वहनैरिव । यथा यानपात्रैः कृत्वा सांयान्त्रिकः समुद्रस्य पारमभिलषितवेलाकूलं प्राप्नो-
ति । अथ पृथगुपमापि । क इव । साधुरिव । यथा यती अनुपमैरसाधारणैः समाधि-
भिर्ध्यानविशेषैः । 'ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः । समाधिस्तु तदेवार्थमात्रा-
भासनरूपकः ॥' इति हैम्याम् । एतावता योगैः कृत्वा भवस्य संसारस्य । 'भवः सत्तात्म-
जन्मसु । रुद्रे श्रेयसि संसारे' इत्यनेकार्थः । पारं मोक्षणं प्राप्नोति ॥

अध्याप्य तेन विधिवत्सकलाः स विद्याः

प्रत्यर्प्यते स्म गुरुणा जनकस्य तस्य ।

श्रीमान्मुरारिरिव तेन हिरण्यरत्न-

कोटीर्वितीर्य सुतसूरिरपि व्यधायि ॥ ७८ ॥

तेन गुरुणा कलाचार्येण विधिवत् शास्त्रोक्तप्रकारेण द्विसप्ततिकलानामादिमा कला
लिखितगणितादिरन्तिमा कला शकुनरुतमित्युक्तप्रकारेण । अथवा मातृकादिकचा-
णिकव्याङ्क(न्त)पाठनैकविधिना सकलाः समस्ता अपि विद्या अध्याप्य पाठयित्वा तस्य
कुमारस्य कुराण्यस्य वा जनकस्य पितुः स हीरकुमारः प्रत्यर्प्यते स्म पश्चादर्पितः । अपि
पुनः तेन तज्जनकेन कुरामहेभ्येन सुतसूरिः स्वपुत्रहीरकुमारस्य कलाचार्यः हिरण्यानां
रत्नानां मणीनां कोटीर्वहुशो लक्षशतानि वितीर्य दत्त्वा मुरारिः कृष्ण इव श्रीमान् लक्ष्मी-
पतिर्व्यधायि विहितः ॥

चित्रामिवेन्दुरनवद्यतमां स विद्यां

लब्ध्वा श्रिया तदवधि व्यरुचत्कुमारः ।

आसीदसीममहिमाप्यनयार्भकस्य

प्रोत्प्रेषितस्य निकषेण मणेस्त्विषेव ॥ ७९ ॥

स कुमारः अनवद्यतमाम् अतिशयेन श्लाघनीयां विद्यां लब्ध्वा संप्राप्य तदवधिं विद्याधिगमदिवस एवावधिर्मर्यादा यत्रेति क्रियाविशेषणम् । तद्दिनमारभ्येत्यर्थः । श्रिया शोभया लक्ष्म्या वा व्यरुचत् शुशुमे । 'सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः' इति रघुवंशे । क इव । इन्दुरिव । यथा चन्द्रः अनवद्यतमामतिनिर्मुक्तमेघोपरोधां चित्रां त्वाष्ट्रीं नक्षत्र-विशेषं प्राप्य श्रिया शारदीनकौमुदीलक्ष्म्या विरोचते । बुद्धयो लुङि द्युतादिभ्यः परस्मैपदं वा स्यात् । 'पुषादिद्युतादिलृदितः परस्मैपदेषु' इत्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु । अद्युतत् । अद्योतिष्ट । अरुचत् । अरोचिष्ट । इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । अपि पुनस्तस्यार्भकस्य हीरकुमारस्य तया विद्यया कृत्वा न विद्यते सीमा मर्यादा यस्य सः असीमः । अद्वैत इत्यर्थः । तादृशो महिमा माहात्म्यं यस्य तथा-विध आसीत् वभूव । कस्येव । मणेरिव । यथा निकषेण शाणेन उल्लेखितस्य उत्तेजितस्य निर्मलीकृतस्य मणे रत्नविशेषस्य त्विषा कान्त्या कृत्वा अनन्यं महत्त्वं मूल्यं महत्त्व्यता भवति ॥ इति वाल्मीकीया ॥

नाभीभवेन तदुदाहरणीकृतैः किं

सामुद्रशास्त्रगदितैर्नरलक्षणौघैः ।

नालम्भि तत्र कुमरे व्यभिचारिभावः

प्रामाणिकैः सदुपमानविधाविवेह ॥ ८० ॥

नाभीभवेन विधात्रा । किमुत्प्रेक्ष्यते । 'हाराप्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरा-न्धकाराम्' इति नैपथे । नाभीशब्दो दीर्घ ईकारान्तोऽस्तीति । तदुदाहरणीति । स हीर-कुमार एव उदाहरणं निदर्शनं दृष्टान्तो येषां ते तदुदाहरणाः । न तदुदाहरणास्तदुदाहरणाः कृतास्तदुदाहरणीकृतास्तैः । समुद्रेण कविना कृतं शास्त्रं ग्रन्थविशेषः । सामुद्रशास्त्रं तत्र गदिताः कथितास्तैर्नराणां मनुष्याणां लक्षणानां स्वस्तिकचक्राङ्कुशादीनामौघैः समूहैस्तत्र कुमरे हीरकुमारे व्यभिचारिभावः परस्परविरोधित्वं नालम्भि न प्राप्तम् । 'कुमारः कुमरोऽपि च' इति शब्दप्रभेदे । अन्यत्रापि चरित्रादौ च । कस्मिन्निव । सदुपमानविधाविवेह । यथा । इह जगति प्रामाणिकैस्ताकिंकैः सति सर्वप्रकारैर्योग्ये विद्यमाने उपमानविधौ अन्यपदार्थस्य सादृश्यीकरणप्रकारे व्यभिचारित्वं न लक्ष्यते ॥

तस्याभवल्लवणिमातिशयः स कोऽपि

प्रोत्तारयन्न्यदुपरि स्थविरः शिवाय ।

मुक्ताः क्षिपत्यनुदिनं पवमानमार्गे

ता एव तत्र किमु तारगणा भवन्ति ॥ ८१ ॥

कुमारस्य स कोऽपि अद्वैतवैभवः लवणिमातिशयः लावण्याधिक्यं अभवत् बभूव । स कः । यदुपरि यस्य लावण्यातिशयस्योपरि स्थविरः पितामहः । 'स्थविरः शतानन्द-पितामहौकः' इति हैम्याम् । 'प्रवयाः स्थविरो जरन्' इत्यपि हैम्याम् । शिवाय कल्याण-कारणाय नित्यं प्रतिवासरं प्रोत्तारयन् उत्तारणं सृजन् न्युञ्जनीकुर्वन्वा मुक्ता मौक्ति-कानि पवमानमार्गे आकाशे क्षिपति । किमुत्प्रेक्ष्यते । ता एव मुक्तास्तत्राम्बरे तारगणा ज्योतिर्मण्डलानि भवन्ति संजायन्ते ॥

स्पर्धोदयादिव मिथः प्रवयं सृजद्भि-

रङ्गैः सचङ्गिमवपुर्विभवेन तेन ।

ईर्ष्या तमीप्रियतमः प्रणयन्विजित्य

लक्ष्मच्छलेन मुमुचे किमु लाञ्छयित्वा ॥ ८२ ॥

तेन हीरकुमारेण ईर्ष्याम् । अर्थात् स्ववपुश्चारिण्या सममसूयाम् । प्रणयन् कुर्वन् तमीप्रियतमः रजनीजानिः चन्द्रः विजित्य । अर्थात्पराभूय । गृहीत्वा वा । किमुत्प्रेक्ष्यते—लक्ष्मच्छलेन लाञ्छनकपटेन लाञ्छयित्वा लाञ्छनं मण्या अभिज्ञानं मुखे कृत्वा मुमुचे नभसि मुक्तः । 'किं नन्दिः किं सुरारिः किमु रतिरमणः किं विधुः किं विधाता' इति धनपालोक्तोपमानादत्र विधोरुत्प्रेक्षा । तेन किम् । अङ्गैः शरीरावयवैः कृत्वा सह च-ङ्गिन्ना मनोहरत्वेन वर्तते यत्तादृशस्य वपुषः शरीरस्य विभवः शोभातिशयो यस्य । अथ वा वपुर्विभवेति साधनेन जित्वेति । किं कुर्वद्भिरङ्गैः । इवोत्प्रेक्ष्यते—मिथः परस्परं स्पर्धायाः संघर्षस्य उदयात् प्रादुर्भावादिव प्रवयं पुष्टिं सृजद्भिविदधद्भिः ॥

केशोच्चयः स्फुरति यस्य स नीलकण्ठ-

पृष्ठे प्रविष्ट इव येन जितः कलापः ।

आवाल्यतः कुटिलता मनसोपनीता

यं भेजुषी पुनरिवैत्य कचच्छटासु ॥ ८३ ॥

तस्य कुमारस्य स चामरादिप्रतिपक्षलक्षजित्वरः प्रसिद्धः केशोच्चयः केशपाशः । 'वालाः स्युस्तपराः पाशो रचना भार उच्चयः । हस्तः पक्षः कलापश्च केशभूयस्त्ववा-चकः ॥' इति हैम्याम् । स्फुरति भासते । स कः । येन केशोच्चयेन जितः अभिभूतः कलापः शिखण्डिकम् । उत्प्रेक्ष्यते—नीलकण्ठः शंभुर्मयूरश्च तस्य पृष्ठे प्रविष्टः शरणे गत इव । पुनर्येन कुमारेण आवाल्यतः शैशवं मर्यादीकृत्य मनसः स्वचित्तात् कुटिलता-वक्तृत्वं अपनीता निष्कासिता सती । उत्प्रेक्ष्यते—उपेत्यागत्य यं कुमारं कुटिलता क-चच्छटासु कुन्तलावलीषु भेजुषीव श्रितवतीव । 'तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा' इति छ-टाशब्दः समूहवाची नैषधे । तथा 'वक्रोत्तिकुशलस्य तस्य [नलस्य] केशकलापोऽपि वक्रतां भेजे' इति चम्पूकथायाम् । इति पुरुषाणां केशकलापे वक्रता वर्णितास्तीति ॥

स्वध्यानलोपभवकोपपिनाकिजाग्र-

दातङ्कशङ्कितमनः सुमनःशरस्य ।

त्यागं तनोर्विदधतः कृतवान्विधाता

छत्रेण यस्य किमु मौलिमवाङ्मुखेन ॥ ८४ ॥

विधाता ब्रह्मा यस्य कुमारस्य मौलिं मस्तकं कृतवांश्चक्रे । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्वस्येश्व-
रसंबन्धिनो ध्यानस्य एकाग्रमनस्त्वेन परमात्मस्वरूपचिन्तनरूपस्य प्रणिधानस्य लोपेन
भङ्गेन कुमारिकावस्थायां पाणिग्रहणकरणकृते सेवार्थं समागतायां गौर्या विषये रागो-
त्पादनलक्षणविभ्रविधानेन पञ्चमी वा सर्वत्रभवः समुत्पन्नः कोपः व्यापादनकारणको-
धो यस्य तादृग्विधात् पिनाकिनः शंभोजाग्रता प्रकटीभवता आतङ्केन भयेन । ‘भयं
भीर्भीतिरातङ्कः’ इति हैम्याम् । शङ्कितं स्वहननलक्षणशङ्कां प्राप्तं मनो यस्य तथावि-
धस्य । अतएव प्रतिपक्षपराभवात्प्रागेव तनोः स्वदेहस्य त्यागं विनाशं विदधतः कुर्वतः
सुमनःशरस्य पुष्पवाणस्य कामस्य अवाङ्मुखेन अधोवक्त्रेण छत्रेण किमु कृतवान् । निः-
स्वामिकतया मदनश्चेतातपत्रोपादानं युक्तमेव ॥

उत्तुङ्गभावमथ वर्तुलतां दधान-

मुष्णीषमस्य सुषमां स विभर्ति मौलौ ।

यस्मिन्समाजिगमिषोस्तरुणत्वलक्ष्म्या

माङ्गल्यकुम्भ इव केशरुहाश्रिताङ्कः ॥ ८५ ॥

अस्य कुमारस्य मौलौ मूर्धनि उष्णीषमाकारविशेषः सुषुमां सातिशायिशोभां वि-
भर्ति स दधार । ‘सोष्णीषमूर्धा ध्वजचिह्नपाणिः’ इति चम्पूकथायां नलविशेषणम् ।
अत एव तीर्थकृद्भ्य इतरेषामप्युत्तमपुरुषाणामुष्णीषं वर्ण्यते । उष्णीषं किं कुर्वाणम् ।
दधानं विभ्राणम् । कम् । उत्तुङ्गभावम् उन्नतत्वम् । अथ पुनर्वर्तुलतां वृत्ताकारत्वं च ।
इवोत्प्रेक्ष्यते—यस्मिन्हीरकुमारे समाजिगमिषोः सम्यक्प्रकारेण आगन्तुकामायास्तरुणत्व-
लक्ष्म्या यौवनश्रियः केशा एव रुहा दुर्वा । ‘दुर्वा त्वनन्ता शतपर्विका । हरिताली रुहा’
इति हैम्याम् । तामिराश्रित आकलितः अङ्गे उत्तङ्गे यस्य तादृशो माङ्गल्यः कल्याणकारी
कुम्भः कलश इव ॥

यश्चन्द्रिकाङ्कितचतुर्द्विजराजराज-

द्वालार्धशीतमहसो वहते स शश्वत् ।

शुद्धाशयोऽमृतरसायितवाग्विलासो

द्रासप्ततिः कलयतात्स कलाः कथं न ॥ ८६ ॥

यो हीरकुमारः शश्वन्निरन्तरं चन्द्रिकया ज्योत्स्नया अङ्कितान् कलितान् । ‘दशमच-

न्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघौ । इति चन्द्रिकाशब्देन दन्तयुतिश्चन्द्रिका च । चतुः-
संख्याका द्विजानां राजानो द्विजराजा राजदन्ताश्चन्द्रश्च तथा राजत् दीप्यमानं यद्भालं
ललाटमेवार्धशीतमहाः सामिसोमस्तान् । सार्धचतुश्चन्द्रानित्यर्थः । वहते स्म दधार । स
कुमारोद्वाससत्तिसंख्याकाः कलाः कथं न कलयतात् धत्ताम् । अपि तु सार्धचतुश्च-
न्द्रधारी गणनया द्वाससत्तिकलाकलित एव स्यात् । किंभूतः । शुद्धो निर्मलः निष्पापः
विशदश्च आशयश्चित्तं मध्यं च यस्य । पुनः किंभूतः । अमृतरसवत्सुधानिस्थ्यन्द इवा-
चरितो वाग्विलासो वचनवैचित्र्यी यस्य । चन्द्रा अपि श्वेता अमृतयुताश्च स्युः ॥

भालस्थलप्रसृमरांशुपयःप्रवाहो-

पान्तप्ररूढलतिकेव विभाति यद्भूः ।

शङ्खोऽप्यभूद्भदनवारिजपार्थिवस्य

चन्द्रादिवैरिविजये किमु वादनार्हः ॥ ८७ ॥

यद्भूर्जस्य कुमारस्य भूर्नयनयोरुपरि रोमपद्धतिर्भाति स्म रराज । उत्प्रेक्ष्यते—भा-
लस्थलस्य ललाटपट्टस्य प्रसृमरा विस्तरणशीला ये अंशवः किरणास्त एव पयःप्रवाहः
सलिलानामोघस्तस्योपान्ते तटप्रदेशे प्ररूढा प्रोद्धता लतिका । अथवा फलिनी वल्ली
स्वभावलतिका वा । अपि पुनर्यद्वक्त्रे शङ्खः भालश्रवणयोरन्तराले कश्चित् प्रदेशविशेषः
अभूजहे । 'शङ्खः कम्बौ निधिमेदे स्यान्नख्यामलिकास्थनि' इत्यनेकार्थः । ललाटप्रान्त-
वर्तिनि अस्थनीति तद्वच्चूणिः । 'शङ्खो भालस्रवोऽन्तरे' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—वद-
नमर्थात् कुमारमुखमेव वारिजानां कमलानां राजा पार्थिवस्तस्य । चन्द्रादीनां विधुदर्प-
णप्रमुखाणां वैरिणां शत्रूणां विजये जयप्राप्तौ पराभवनावसानसमये वा वादनस्य पूर-
णस्य अर्हो योग्यः शङ्खः कम्बुः किमु । विजयिराजानो हि रिपून्निर्जित्य स्वविजयसूचकं
शङ्खं वादयन्तीति प्राक्तननृपरीतिः । यथा—स्वाविनयकरणप्रकुपितमतङ्गतापसप्रदत्त-
मतङ्गजीभवनशापापनयनप्रादुर्भूतस्वाभाविकस्वरूपप्रसन्नीभवद्भान्धर्वदेवविधाणितप्रयुक्त-
संहारविभक्तमन्त्रप्रस्वापनशस्त्रानुभावपराभूतसमस्तप्रतिपक्षक्षितिपतिपताकिनीप्रारब्ध-
दुर्धरमहायोधनपयोनिधिमध्यसमुद्भूतविजयश्रीस्वीकरणावसरे अजकुमारः 'ततः प्रियो-
पात्तरसोऽधरोष्ठे निवेश्य धूमौ जलजं कुमारः' इत्येतत्सर्वविस्तारो रघुवंशे ॥

लावण्यनीरनयनाञ्जयदीयवक्र-

क्रासारपालिरिव कर्णयुगं विभाति ।

द्वीपेषु सूचयति किं स्वमितेषु भावि-

श्लोकं शिशोः श्रवणयोश्च नवद्वयाङ्कः ॥ ८८ ॥

कर्णयुगं कुमारश्रवणयुगं विभाति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—लावण्यं मनोज्ञता स्वरूप-
सौन्दर्यं वा एव नीरं सलिलं यत्र तथा नयने लोचने एवाञ्जे कमले यत्र तादृशस्य

यदीयवक्त्रकासारस्य कुमारसंबन्धिवदनसरसः पालिः सेतुरिव सरसो जलहन्धनस्थानं पालिः । 'सेतौ पाल्यालिसंवराः' इति हैम्याम् । च पुनः श्रवणयोः कर्णयोर्नवानां नवेति संख्यानां द्वयस्य युगलस्य अङ्कः अष्टादशसंख्यावाची अङ्को लिपिविशेषः स्वेन नवद्वय-लक्षणेनात्मना मितेषु प्रमाणीकृतेषु अष्टादशसु द्वीपेषु । 'अष्टादशद्वीपनिखातयूपः' इति रघुवंशे । 'नवद्वयद्वीपपृथग्जयध्रियाम्' इति नैषधे । इति द्वीपानामष्टादशतापि । शिशोर्ही-रकुमारस्य भाविनमग्रे भविष्यन्तं श्लोकं यशः सूचयति कथयति किमु । कर्णयोराकृ-तिरूपो नवाङ्को दृश्यते । यथा 'कर्णान्तरत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य सख्यैव न वा न-वाङ्कः' इति नैषधे । एतावता हीरकुमारयशोऽष्टादशद्वीपेषु भविष्यतीति सूचा ॥

विद्वेषिभावमपहाय परस्परेण

केशच्छटास्फटिकहाटककुण्डलाङ्गाः ।

स्वर्भाणुशुभ्रकिरणाम्बुजवन्धवोऽमी

यस्मिन्विधातुमिव साप्तपदीनमीयुः ॥ ८९ ॥

यस्मिन्कुमारे सम्यक्स्थाने केशच्छटा केशपाशः स्फटिकं श्वेतरत्नं तथा हाटकं काञ्चनं तयो रचनाविशेषेण सदृशीकृते कुण्डले कर्णभरणे ते अङ्गानि कायारूपाणि वा येषां तादृशा अमी प्रत्यक्षलक्षाः । स्वर्भाणू राहुः, शुभ्रकिरणश्चन्द्रः, अम्बुजवन्धुर्भास्करः, राहुचन्द्रार्काः । उत्प्रेक्ष्यते—सिन्धुः परस्परं साप्तपदीनं मैत्र्यं सौहार्दम् । 'सख्यं तु सौहृदं सौहार्दं साप्तपदी-नम्' इति हैम्याम् । विधातुं कर्तुम् दैयुरागता इव । किं कृत्वा । परस्परेण अन्योन्येन विद्वेषिभावं विरोधिताम् अपहाय त्यक्त्वा ॥

सक्तः श्रुतौ शिशुशशी यदसावितीव

तच्चक्षुषी श्रुतियुगं परिषस्वजाते ।

नीलोत्पले उदयतः कुमुदोर्यदाक्ष्णो-

लक्ष्मीं तदा तरलतारिकयोः श्रयेते ॥ ९० ॥

यद्यस्मात्कारणादसां अयं वर्णमानः शिशुषु कुमारेषु दृश्यमानो नयनानामाहादकत्वात् शशी चन्द्र इव शिशुशशी श्रुतौ शान्ते सक्तः प्रह्व आसक्तोऽस्ति । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्तच्चक्षुषी कुमारलोचने श्रुतियुगं श्रवणयामलं परिषस्वजाते आलिङ्गतः स्म । च पु-नर्यदा यदि नीलोत्पले कुवलये कुमुदोः केरवयोर्मध्ये उदयेते उद्गमं लभेते तदा तर-ले चपले तारिके कनीनिके ययोस्तादृशयोस्तदक्ष्णोः कुमारलोचनयोर्लक्ष्मीं श्रियं शोभां श्रयेते भजते । कुमुदे कुमारलोचनतुलामाकलयतः ॥

१. 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इति हैमाभिधानचिन्तामणिः, 'क्षुभ्रादित्वाच्च णत्वम्' इति नामालिङ्गानुशासनव्याख्यानमाशयः.

दृग्दोषखण्डनकृते भ्रमरं तदीये

चिह्नं मषेरिव मुखे कृतवान्विरञ्चिः ।

विश्वप्रदीपसदृशो यदसौ तदीया

नासापि किं भजति दीपशिखोपमानम् ॥ ९१ ॥

विरञ्चिर्ब्रह्मा तदीये हीरकुमारसंबन्धिनि मुखे वदने भ्रमरं कुरलं भ्रमरालकः अन्यो वा आकारविशेषस्तं कृतवान् चकार । उत्प्रेक्ष्यते—दृग्दोषखण्डनकृते शाकिन्यादीनामितरेषां वा दृष्टिदोषनिवारणार्थं मषेर्मलिनाम्बुनः । ‘मलिनाम्बु मषी मसी’ इति हैम्याम् । चिह्नं लाञ्छनमिव कृतवानिति । इदानीमपि बालकानां दृग्दोषच्छिदे मुखे कञ्जलचन्द्रकं मातरः कुर्वन्तीति प्रसिद्धमेतत् । पुनर्यत्कारणादसौ विश्वे जगति प्रदीपस्य पदार्थसार्थप्रकाशकत्वेन गृहमणेः सदृशस्तुल्योऽस्ति यत्तदोः संबन्धात्तेन हेतुना । उत्प्रेक्ष्यते—तदीया तस्य कुमारस्य इयं तदीया नासा गन्धज्ञापि दीपशिखोपमानं कञ्जलध्वजकलिकातुलनां भजति कलयति ॥

चापल्यकेलिकलिते असिताशये य-

न्नेत्रे मिथः सदृशवैभवभाजिनी तत् ।

मा द्रुह्यतां कजभुवेति तदन्तराले

नासानिभेन विदधे किमु सीमदण्डः ॥ ९२ ॥

यत्कारणात् यन्नेत्रे कुमारनयने चापल्यं चपलता सैव केलिः क्रीडा तथा कलिते युक्ते चञ्चलतया वा यत्क्रीडनमितस्ततः परिस्फुरणं तेन सहिते । पुनः असितः श्याम आशयो मध्यं स्वभावो वा ययोस्तादृशे स्तः वर्तते तत्तस्मात्कारणात् सदृशं तुल्यं वैभवं शोभातिरेकं भजत इत्येवंशीले भाजिनी कुमारलोचने मिथः परस्परं मा द्रुह्यतां मा द्रोहं कुर्वताम् इति हेतोः कजभुवा ब्रह्मणा तदन्तराले तयोर्नेत्रयोरन्तराले मध्यभागे नासानिभेन नक्रकपटेन । उत्प्रेक्ष्यते—सीमदण्डो विभागयष्टिः किमु विदधे कृत इव ॥

स्थाणोः शिरोनिवसनानशनान्बुपानं

संतप्य दुस्तपतपो मणिदर्पणेन ।

प्रापे परं जनुरिवेदमगण्यपुण्य-

संप्रापणीयमदसीयकपोलरूपम् ॥ ९३ ॥

मणिदर्पणेन रत्नादर्शेन अस्य कुमारस्य इमौ अदसीयौ कपोलौ गण्डौ तयो रूपं स्वरूपमिदं प्रत्यक्षम् । उत्प्रेक्ष्यते—परमन्यज्जुनुरवतारः प्रापे प्राप्तमिव । किंभूतं जनुः । अगण्येन गणयितुं प्रमाणीकर्तुमशक्येन पुण्येन भाग्येन संप्रापणीयं सम्यक्प्रकारेण लब्धुं योग्यम् । किं कृत्वा । दुःखेन कष्टेन तप्यते विधीयते इति दुस्तपं तादृक् तप

उपवासादिकष्टं संतप्य तप्त्वा यथाविधि[ता] विधाय । किम् । तपः । 'स्थाणुः स्तम्भ-
कीलकशंभुयु' इत्यनेकार्थः । तस्य शिरसि मस्तके निवसनं सदा स्थितिस्तथा न वि-
द्यते अशनं भोजनम्, अम्बुनो जलस्य पानं धीतिर्यत्र । 'धीतिः पानेऽथ शोषणम्'
इति हेम्याम् ॥

यस्य प्रशस्ययशसः श्रुतिपाशमध्य-

निष्पातिनकशुकचञ्चुपुटात्कथंचित् ।

विम्बीफलं विगलितं स्खलितं च वक्र-

पद्मोदरे किमु रदच्छदनीवभूव ॥ ९४ ॥

विम्बीफलं गोलहकं यस्य कुमारस्य उत्प्रेक्ष्यते । रदनच्छदनीवभूव किमु अधरः
संजात इव । किभूतम् । कथंचित्केनापि प्रकारेण बलात्कारेण वा स्वबन्धनभयाकुलित-
त्वेन विगलितं निष्पातितम् । कस्मात् । श्रुती कर्णोवेव पाशौ बन्धनग्रन्थी तयोर्मध्ये नि-
ष्पातितो निष्पातनशीलस्य नकशुकस्य नासिकारूपकीरस्य चञ्चुपुटात् शृपाटिकासंपुटतः ।
वक्रोदरादित्यर्थः । पुनः किभूतं विम्बीफलम् । स्खलितं पतित्वा स्थितम् । कस्मिन् ।
वक्रं वदनमेव पद्मं कमलं तस्योदरे मध्ये यस्य । किभूतस्य । प्रशस्यं विश्वश्लाघनीयं
यशः कीर्तिर्यस्य ॥

रक्ताङ्गरक्तमणिपल्लवपाटलश्री-

पाटच्चरो यदधरः श्रियमश्रुते स्म ।

आस्थानवेदिरिव वाङ्मयदेवताया

आवासवेश्मनि कुमारमुखारविन्दे ॥ ९५ ॥

यदधरो हीरकुमारस्यौष्ठः श्रियं शोभामश्रुते व्याप्नोति । विभर्तीत्यर्थः । किभूतः ।
रक्ताङ्गा विद्रुमाः रक्तमणयः पद्मरागाः पल्लवाः किशलयानि तेषां पाटलश्रियो भावप्रधा-
ननिर्देशाद्रक्तत्वलक्ष्म्याः स्वभावशोभाया वा पाटलरस्तस्करः अपहर्ता । उत्प्रेक्ष्यते—
अधरः वाङ्मयदेवतायाः श्रीसरस्वत्याः आस्थानवेदिः सभायासुपवेशनार्थं वेदिकेव ।
कस्मिन् । कुमारस्य मुखमेवारविन्दं कमलं तत्र । किभूते कुमारमुखारविन्दे । आवा-
सवेश्मनि । वाग्देवताया आवासार्थं निवसनकृते वेदमणि गृहे । कुमारवदनारविन्दरूपे
मन्दिरे निवसन्त्या इत्यर्थः ॥

अभ्युद्गतैर्मुखस्वनेरिव वज्ररत्नै-

र्दन्तैरदीप्यत कुमारपुरंदरस्य ।

वक्राब्जधाम्न इव वा श्रुतदेवतायाः

सेवासुखानुभवनागतगौरपत्रैः ॥ ९६ ॥

कुमारेषु बालकेषु रूपेण श्रिया वा पुरंदर इव पुरंदरस्तस्य दन्तैर्दशनैरदीप्यत शु-
शुभे । उत्प्रेक्ष्यते—मुखखनेर्वदनाकरादभ्युद्गतैः प्रकटीभूतैर्वज्ररत्नैर्हीरकमणिभिरिव ।
वाथवा उत्प्रेक्ष्यते । वज्राब्जधान्नः कुमारवदनकमलमेव धाम मन्दिरं यस्यास्तादृश्याः
श्रुतदेवतायाः सरस्वत्याः सेवया अर्थात् तद्वाहनत्वात्स्वस्वामिन्या उपासनया कृत्वा
यत्सुखं तस्यानुभवनार्थं तद्वा प्राप्तुमागतैः समकालं समेतैर्गौरपत्रै राजहंसैरिव ॥

विम्बाधरे निपतिताभिरभासि यस्य

निर्धौतमौक्तिकशुचिद्विजचन्द्रिकाभिः ।

कृप्तेन्दुदर्पणपयोजजये कृताभि-

र्नाभीभुवेव सुमवृष्टिभिरेतदास्ये ॥ ९७ ॥

यस्य कुमारस्य निर्धूतानि उत्तेजितानि यानि मौक्तिकानि तानीव शुचिभिरुज्ज्वला-
भिर्द्विजानां दन्तानां चन्द्रिकाभिर्ज्योत्स्नाभिरभासि निर्वभे । किंभूताभिश्चन्द्रिकाभिः ।
निपतिताभिः आगल्य स्थिताभिः । कस्मिन् । विम्बाधरे गोलहकतुल्ये ओष्ठे । उत्प्रे-
क्ष्यते—एतदास्ये कुमारवक्त्रे नाभीभुवा नारायणनाभ्यम्भोरुहजन्मना वेधसा कृताभिः
कुसुमवृष्टिभिरिव । कदा । कृप्ताभिर्निर्मितो य इन्द्रोश्चन्द्रस्य दर्पणानामादर्शानां पयो-
जानां पद्मानां जयः परस्परविरोधाबुद्धे पराभवः तत्र । तत्समय इत्यर्थः । ‘नाभीमथैष
श्लथवाससोऽनु’ इति नैषधे नाभीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति ॥

पूर्णांमृतैररुणरत्नमनोज्ञमध्या

पङ्क्तीभवद्विजविराजिसवेशदेशा ।

यस्याननान्तरनिकेतनवाक्त्रिदश्या

वापीव खेलनकृते रसना वभासे ॥ ९८ ॥

यस्य कुमारस्य रसना जिह्वा वभासे रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—आननमर्थात्कुमारवदनं तस्या-
न्तरं मध्यं तत्र निकेतनं सदनं यस्यास्तादृश्याः वाक्त्रिदश्या भारत्याः खेलनकृते जलक्री-
डार्थं वापी दीर्घिकेव । किंभूता वापी । अमृतैः पीयूषैः सलिलैश्च पूर्णांमृतमध्या ।
पुनः किंभूता वापी । अरुणरत्नैः पद्मरागमणिभिः मनोज्ञं रमणीयं वद्धं रचितं मध्यं य-
स्याः । मध्यमलोपीसमासः । पुनः किंभूता । पङ्क्त्या श्रेण्या भवद्विर्वितिष्ठमानैर्द्विजैर्द-
न्तैर्विहंगमैश्च । अर्थात् विशदतया राजहंसपक्षिभिः विराजी शोभनशीलः सवेशदेशः
समीपविभागो यस्याः । वापी अपि जलाक्रीर्णा रत्नबद्धमध्या विहंगमकलिता च स्यात् ॥

पूज्येषु रञ्जितमना यदसौ कुमार-

स्तस्य स्म रज्यत इतीव रसज्ञयापि ।

शुद्धाशयस्य दशनैरिव धार्यते स्म

श्रीमत्कुमारवृषभस्य विशुद्धिमत्ता ॥ ९९ ॥

तस्य कुमारस्य रसज्ञया जिह्वया । उत्प्रेक्ष्यते—इति रज्यते स्म रक्तीभूतमिव । इति किम् । यत्कारणादसौ कुमारः पूज्येषु गुर्वादिषु अभ्यर्चनीयेषु विषये रङ्गितं रागयुक्तं जातं मनश्चित्तं यस्य तादृग्वर्तते । 'रङ्गः स्यान्नृत्ययुद्धवो रागेऽपि' इत्यनेकार्थः । पुनः शुद्धाशयस्य शुद्धो निर्मलो निष्पाप आशयश्चित्तं मध्यं च यस्य श्रीमतो लक्ष्म्या शोभया वा शालिनः कुमारेषु बलवत्तया धर्मकर्मादिषु धुरीणतया वा वृषभ इव वृषभः प्रशस्यो वा तस्य दशनैर्दन्तैरपि विशुद्धिमत्ता अत्यौज्ज्वल्यं धार्यते स्म धृता ॥

रक्ताङ्गपल्लवमुखान्द्विपतो जिगीषु-

धत्तेऽसिकं किमधरः सविधेऽदसीयः ।

भावी शिशुर्भुवि यदेव सुवृत्तशाली

भेजे तदस्य चिबुकोऽपि सुवृत्तभावम् ॥ १०० ॥

अदसीयः कुमारसंबन्धी अधरः ओष्ठः असिकम् अधराधः प्रदेशविशेषं धत्ते धारयति । उत्प्रेक्ष्यते—रक्ताङ्गपल्लवमुखान् विदुमकिसलयादिमान् द्विपतो वैरिणो जिगीषुर्जेतुमिच्छतुः किम् । असिकं अस्तिरेव असिकः । स्वार्थे कः । स्तं खड्गं विभक्तिं । अन्योऽपि वीरो रिपून् निर्जेतुं करवालं कलयति यत्कारणाद्भुवि पृथिव्यामेष शिशुर्बालकः सुवृत्तेन शोभनाचारेण शालते शोभते इत्येवंशीलो भावी । तत्कारणादस्य कुमारस्य चिबुकोऽपि अस्ति काधः प्रदेशोऽपि सु शोभनं वृत्तमाचारो यत्र । तादृशं भावमाशयं सदाचारतां वा । वास्तवार्थे तु शोभनवर्तुलतां भेजे सिपेवे । 'तत्प्रान्तो मृक्किणी असिकं त्वधः । अस्ति-काधस्तु चिबुकम्' इति हैम्याम् ॥

द्वात्रिंशताजनि रदैरपि लक्षणानि

द्वात्रिंशदाकलयतः शिशुवासवस्य ।

पीयूषवर्षिसितरोचिरसूययान्त-

वर्गभिः सुधामिव वर्षं मुखं तदीयम् ॥ १०१ ॥

करचरणयोश्छत्रचामरादीनि द्वात्रिंशत्संख्याकानि लक्षणानि आकलयतः विभ्रतः । लक्षणानि यथा—'छत्रं तामरसं धनु रथवरो दम्भोलिकूर्माङ्गुशा वापी स्वस्तिकतोरणानि च सरः पञ्चाननः पादपः । चक्रं शङ्खगजौ समुद्रकलशौ प्रासादमध्या यवा द्रूपस्तूपकमण्डलन्यधनिभृत्सचामरो दर्पणः ॥ उक्षा पताका कमलाभिषेकः सुदामकेकी घनपुण्यभाजाम्' इति षट्पदी । अथवा 'इह भवति सप्तरक्तः षड्भुजः पञ्चसूक्ष्मदीर्घश्च । त्रिविपुलबुगम्भीरो द्वात्रिंशलक्षणः स पुमान् ॥' इति । शिशुषु महार्धकत्वेन वासवस्य शक्रतुल्यस्य दन्तैर्वदनदर्शनरपि द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत्संख्याकैरजनि संजातम् । उत्प्रेक्ष्यते—

द्वात्रिंशत्त्वे स्पर्धयेव इति गर्भितोत्प्रेक्षा । पुनस्तदीयं कुमारसंबन्धि वदनं वाग्भिर्वा-
णीभिः कृत्वा सुधां पीयूषं वर्षष वर्षति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पीयूषममृतं वर्षतीत्येवंशी-
लस्तस्य सितरोचिषश्चन्द्रस्य अन्तश्चित्तमध्ये असूयया ईर्ष्ययेव सुधामवर्षत् ॥

उद्धृत्य कण्टकगणान्किमु वारिजन्म

किं वात्सदर्शमपहृत्य विचेतनत्वम् ।

संतक्ष्य लक्ष्मशितिमानमुतामृतांशुं

राजीवभूरकृत हीरकुमारवक्रम् ॥ १०२ ॥

राजीवभूर्वेधाः किमु इति वितर्कयामि विचारं कुर्वे । 'वितर्के किमुत च' इति है-
म्याम् । वारिजन्म विकसितकमलम् । अर्थादादाय । कर्मद्वयं वा । कृधातोर्द्विकर्मकत्वे-
न हीरानाम्नः कुमारस्य वक्रं मुखमकृत विरचयांचकार । किं कृत्वा । कण्टकानां गणान्
व्रजानुद्धृत्य निष्कास्य । 'शशिनि खलु कलङ्कं कण्टकाः पद्मनाले जलधिजलसपेयं पण्डिते
निर्धनत्वम् । दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं स्वरूपे धनपतिकृपणत्वं एतदोषी कृतान्तः ॥'
इति सूक्तवचनात् पद्मे कण्टकाः । वा अथवा विचेतनत्वं चेतनाराहित्यम् अपहृत्य अ-
ज्ञानतां मुष्टित्वा आत्मदर्शं दर्पणं किमादाय, हीरमुखं चक्रे । उत अथवा लक्ष्मणो ला-
ञ्छनस्य शितिमानं कृष्णतां संतक्ष्योत्तार्य किम् अमृतांशुं सुधाकरे हीरवदनं विधिवि-
दधे ॥ इति मुखम् ॥

निःशेषभूवल्यकुण्डलिवेश्मनाकि-

लोकत्रिके प्रसृमरैर्यशसां विलासैः ।

रेखा भविष्यति महत्सु यदस्य कण्ठे

रेखात्रिकं किमिति निर्मितवान्विधाता ॥ १०३ ॥

विधाता ब्रह्मा अस्य कुमारस्य कण्ठे गलकदले । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो रेखात्रिकं
निर्मितवान् किमु कृतवानिव । इति किम् । यत् निःशेषं समग्रं भूवल्यं मेदिनीमण्ड-
लम्, तथा कुण्डलिनं नागानां वेश्म गृहं पातालम्, तथा नाकिनां देवानां लोको विश्वं
स्वर्गस्तेषां त्रिके त्रयेऽपि प्रसृमरैः प्रतिस्थानं विस्तरणशीलैर्यशसां कीर्तानां विलासैर्वैचि-
त्रीभिरस्य हीरकुमारस्य महत्सु उत्तमजनेषु रेखा भविष्यति । एतस्मात्परः कोऽप्येता-
दगुणगणकलितस्त्रिभुवनेऽपि नास्तीति प्रसिद्धिर्भाविनी ॥

भावी यदेष वृषवज्जिनधर्मधुर्यः

स्कन्धोऽप्यभूत्किमिति तत्कुदोपमेयः ।

अर्भः पुरा भवति येन युगप्रधानो

जज्ञेऽस्य बाहुरपि तेन युगप्रधानः ॥ १०४ ॥

यन्कारणादिषु कुमारः वृषवद्दृष्य इव जिनस्यार्हतो धर्मे सुकृतकर्मणि धुर्यो धौरेयो धुरंधुरो भावी भविष्यति । इति हेतोः अस्य कुमारस्य स्कन्धोऽप्यसोऽपि । उत्प्रेक्ष्यते— तस्य दृष्यस्य ककुदेनासकृदेन उपमेय उपमातुं योग्यः । किमभूद्भूव । च पुनर्थेन कारणेन अर्भो हीरकुमारो युगे कलिकाले विशिष्टातिशयमाहात्म्याभ्युदयात् प्रधानः प्रकृष्टः पुरा भवति अग्रे भविष्यति । पुरायोगे भविष्यदर्थे वर्तमाना 'यावत्पुरानि-पातयोग्यो लङ्' आभ्यां निपाताभ्यां योगे भविष्यत्काले वर्तमाना स्यादिति प्रक्रिया-कौमुद्याम् । 'पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा' इति नैपथेऽपि । तेन हेतुना । उत्प्रेक्ष्यते— अस्यार्भकस्य बाहुर्भुजोऽपि युगवद्दसरवत्प्रधानो व्यायतः आजानुबाहुत्वात् जज्ञे संजातः॥

उद्दामदुर्गतिपुरेऽर्गलतांगमी य-

तद्दोरितीव लभतेऽर्गलयोपमानम् ।

यस्येभश्छमकरान्कलयन्प्रवाल-

शाली पुनः श्रियमसूत शयः समुद्रः ॥ १०९ ॥

यन्कारणाद्विष्णुः उद्दाममनैकलोकानामातङ्कारत्वादुत्कटम् । 'अवाधोच्छृङ्खलोद्दामा-न्यवन्निमित्तमर्गलम्' इति हैम्याम् । उच्छृङ्खलं यदुर्गतिर्नरकादिकुगतिः सैव पुरं नगरं तत्रा-र्गलतां परिग्रभावम् । 'द्वारेषु परिघोऽर्गला' इति हैम्याम् । अयं गमी गमिष्यति । 'यथा दि-द्वाराद्विरद्वारतांगमी' इति नैपथे । ये जनाः असुं सं सम्यक् विधा सेविष्यन्ते तां दुर्गतिं गन्तुं न दास्यन्तीति तत इदं विशेषणम् । उत्प्रेक्ष्यते— इतीव हेतोः । तस्य कुमारस्य दो-र्बाहुदण्डोऽपि अर्गलया नगरपरिघेण उपमानं सादृश्यं लभते प्राप्नोति । 'अमुष्य दोर्भ्या-मरिदुर्गलुण्डने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता' इति नैपथे । पुनर्यस्य सह मुद्रिकया उर्मि-कया साक्षरानुकीयकेन वा वर्तते यः समुद्रः शयः पाणिः श्रियं शोभामसूताजीजनत् । किं कुर्यन् । दधत् । कान् । कृतिभाजः रेखाकारीभूतान् इमा गजाः, शङ्खाः कम्बवः, मकरा यादोविशेषाः, तान् । पुनः किंभूतः । प्रवालाः पल्लास्तद्वत् शालते रक्तत्वेन सु-कुमारत्वेन शोभते इत्येवशीलः समुद्रोऽपि जलगजवारिजमकरकलितस्तथा विद्रुमवि-भ्राजी लक्ष्मीं सूते च इत्युत्प्रेक्षा । उपमा वा ॥

तस्य स्फुरद्भृतिपयःपरिपूर्णबाहु-

मूलालवालविलसद्भुजगण्डिभाजः ।

रेजुः शयावनिरुहोऽङ्गलयोऽनुशाखाः

क्रामाङ्कुशैः किसलयैरिव शालमानाः ॥ १०६ ॥

तस्य कुमारस्याङ्गलयः करशाखा रेजुः शुभ्रिरे । सु इति अव्ययं वितर्कं वि-चारे अग्रे पृच्छायां वा । शयावनिरुहः पाणिरूपपादपस्य शाखाः शिखाः । किंभूतस्य शयावनिरुहः । स्फुरन्त्यो दीप्यमाना विस्तरन्त्यो वा गुतयः कान्तय एव पर्याप्ति स-

लिलानि तैः परिपूर्णं सामस्येन पूरितं व्याप्तं बाहुमूलं भुजकोटरः स एवालवालं स्था-
नकं तत्र विलसन्नाक्षिप्यन् । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इति धातुः । अर्थात् प्रकटीभवन्
यो भुजो बाहुः स एव गण्डः प्रकाण्डं मूलात् शाखावधिप्रदेशः तं भजतीति । किं
भूताः शाखाः । कामाङ्कुशैर्नखैः शालमानाः । उत्प्रेक्ष्यते—किसलयैः पल्लवैरिव । अत्र
गभितोत्प्रेक्षा ॥

जानुस्पृशौ शिशुभुजौ विनियन्त्रणाय

पाशाविवाग्निदुहितुस्तरलाशयायाः ।

हस्तौ समस्तकजराजतयाप्यमुष्या

धात्राक्षतैरिव यवैः समपूजिषाताम् ॥ १०७ ॥

शिशुभुजौ कुमारबाहू जानू ऊरुपर्वणि स्पृशत इति जानुप्रलम्बौ अभूताम् । उत्प्रे-
क्ष्यते—तरलश्वपलः आशयश्चित्तं स्वभावो वा यस्यास्तादृश्या अग्निदुहितुर्लक्ष्म्या विनि-
यन्त्रणाय विशेषेण बन्धनाय एकत्रावस्थितिनिर्माणाय पाशौ बन्धनग्रन्थी इव । अपि
पुनः । अमुष्य कुमारस्य करौ हस्तौ धात्रा ब्रह्मणा अक्षतैरखण्डैर्यवैः समपूजिषाताम्
अर्चिताविव । समस्तानि सकलानि यानि कजानि कमलानि तेषां राजत्वेन स्वासितया
आकृत्या तत्संव्यवदेन आधिपत्यम् ॥

वक्षःशिलाकलितमङ्गुलजातरूपो

नक्षत्रभूषिततनुश्च नभोगयुक्तः ।

स्वःशाखिरुक्महिमधीरिमराजमानः

शावः सुपर्वशिखरीव पुपोष भूषाम् ॥ १०८ ॥

शावः हीरकुमारः सुपर्वशिखरी मेरुरिव भूषां शोभां पुपोष । शुशुभे इत्यर्थः । किंभूतः
शावः मेरुश्च । वक्षो हृदयं तदेव विस्तीर्णत्वात्तदुपमेयत्वाच्च शिला पृथुलप्रस्तरः तथा
कलितः युतः, तथा मङ्गुलं मनोज्ञं जातमुत्पन्नं रूपं तनुवैभवः सुवर्णं च यस्य पश्चात्कर्म-
धारयः । पुनः किंभूतः । न निषेधे क्षत्रियत्वेन राजन्यतया । 'क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा
राजन्यो बाहुसंभवः' इति हैम्याम् । तथा—'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो
भुवनेषु रुढः' इति रघौ । वणिग्जातित्वात् । नक्षत्रैर्ज्योतिश्चक्रेभूषिता अलंकृता तनुर्व-
पुर्णस्य । पुनः किंभूतः । न नैव भोगेन वैषयिकसुखेन बालत्वाद्राज्यादिसुखेन वा व्यव-
हारित्वाद् युतः । पक्षे—नभसि आकाशे गच्छन्तीति नभोगा विद्याधराः सुराश्च तैः क-
लितः तेषां क्रीडास्पदत्वात् । च पुनः स्वःशाखिनः कल्पवृक्षास्तद्वत्तेषां वा रुक् कान्ति-
र्यस्य यत्र वा । पुनः किंभूतः । महिम्ना माहात्म्येनाग्रे भविष्यता । भाविनि भूतोपचारात् ।
धीरिम्णा स्वाभाविकेन धैर्येण अग्रेऽपि उदेष्यता धीरत्वेन देवदानवमानवप्रभुविभीषि-
कायामपि निश्चलत्वात् शोभमानः ॥

प्रामाण्यमस्य बहतो महतां सदस्य-

प्रामाण्यमाश्रयदुरस्तदिहास्ति चित्रम् ।

श्रीवत्स उल्लसति तस्य पुनः स वक्षः

स्थायी गभीरिमविलोकनकौतुकीव ॥ १०९ ॥

इह जगति । तदिति कर्तृपदम् । चित्रमाश्रयं विस्मयोऽस्ति यदस्य उरो हृदयमप्रा-
माण्यं प्रमाणातीततामतिविशालतामनुपादेयतामाश्रयत्सेवते स्म । अस्य किं कुर्वतः ।
महतां महात्मनां सदसि सभायाम् । समूहे इत्यर्थः । 'उडुपरिपदः किं नार्हत्वं निशः किमु
नौचिती' इति नैषधे । परिषदश्चन्दः समूहवाची प्रामाण्यं यथार्थवादितां मुख्यतां वा य-
दयं वक्तव्यमविरति । सन्मार्गं तदस्माकं महतां प्रमाण एवेति प्रमाणतां बहतो विभ्रतः ।
पुनस्तस्य कुमारस्य श्रीवत्सः उत्तमपुरुषाणां हृदयमध्ये कश्चिदाकारविशेषः । उल्ल-
सति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—स श्रीवत्सः गभीरिम्भः अर्थात्कुमारस्य गाम्भीर्यस्य
विलोकने विभावने कौतुकं कौतूहलमस्त्वस्येति कृत्वा वक्षसि गाम्भीर्याश्रये हृदये
तिष्ठत्येवेशीकः स्थायी बभूवेव ॥

सान्द्रीभवत्तनुविभाभरनिर्झरिण्याः

सावर्तशोण इव नाभिरमुष्य रेजे ।

वक्षःस्थलेन विपुलेन सहाभ्यसूया-

माविभ्रतीव कटिरप्यभवद्विशाला ॥ ११० ॥

अमुष्य कुमारस्य नाभिस्तुन्दकूपिका रेजे भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सान्द्रीभवन्तीरन्ध्रो
जायमानो यस्तनोर्वपुषो विभाभरः कान्तिसमूहः स एव निर्झरिणी नदी तस्याः सहाव-
र्तनं पयोविभ्रमविशेषेण युक्तः शोणः दृढ इव । अपि पुनरमुष्य कटिः श्रोणिर्विशाला
विस्तीर्णा अभूद्बभूव । उत्प्रेक्ष्यते—विपुलेन विशालेन वक्षःस्थलेन हृदयेन सह सार्धमभ्य-
सूयामीर्ष्या विभ्रती दधानेव ॥

कार्कश्यसंहतिलघूकृतहस्तिहस्ता-

चूळ कृताविव शिशोर्नलिनासनेन ।

स्थम्भोपमो जिनमतावसथे स भावी

स्थम्भोपमां किमिति तस्य विभर्ति जङ्घा ॥ १११ ॥

नलिनासनेन वैश्रवा कार्कश्यस्य कठिनतायाः संहत्या संहरणेनापनयनेन कृत्वा लघू
अल्पौ हस्तौ कृतौ यौ हस्तिनः करिणः हस्तौ शुण्डादण्डौ । उत्प्रेक्ष्यते—शिशोः कुमारस्य
करू सक्थिनी कृतौ निर्मिताविव । पुनस्तस्य कुमारस्य उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किमु जङ्घा
स्थम्भोपमां स्थूणासादृश्यं विभर्ति । इति किम् । यत्स हीरार्भः जिनमतमर्हच्छासनमेवा-

वसथः सौधं तस्मिन् तद्धारधरणेन स्थम्भोपमः स्थम्भस्य तुल्यः भावी भविष्यति । यथा स्थम्भो गृहाधारभूतो भवति, तथायमपि श्रीजिनशासनस्याधारभूतो भविता । ‘व-
ज्रस्तम्भाविदैते’ इति जिनशतके जङ्घायाः स्थम्भसादृश्यम् ॥

स्पर्धोदयान्निजविवृद्धिकृतौ यदूरू

जङ्घे पुनः सरसिजन्मभुवा विभाव्य ।

तद्वन्द्वविग्रहनिषेधविधिप्रभूष्णु-

सीमाकरं विरचितं किमु जानुयुग्मम् ॥ ११२ ॥

स्पर्धायाः परस्परं संहर्षस्य उदयादाविर्भावान्निजनिजयोरात्मात्मनोर्विशेषेण वृद्धिमु-
पचयं कुरुतः स्रजत इति निजविवृद्धिकृतौ यस्य कुमारस्य ऊरू पुनरर्थात् कुमारजङ्घे विभाव्य
दृष्ट्वा सरसिजभुवा विधिना । उत्प्रेक्ष्यते—तयोर्द्वन्द्वयोर्युगलयोर्विग्रहस्य मिथः कलहस्य
निषेधविधौ निवारणप्रकारे प्रभूष्णुः समर्थम् । अत एव सीमाया अवधेर्विभागस्य करं
विधायकं जानुयुग्मं विरचितं कृतम् ॥

शुश्रूषयासनतयानिशमाप्रसादा-

लब्ध्वा प्रसन्नमनसो वरमात्मयोनेः ।

विश्वाङ्कारविजयप्रभविष्णुलक्ष्मि

सेराम्बुजन्म किमु यत्पदतामवाप ॥ ११३ ॥

सेराम्बुजन्म विकचकमलम् । उत्प्रेक्ष्यते—यत्पदतां कुमारस्य चरणत्वम् । पादाव-
तारमित्यर्थः । किमवाप लभते सेव । किंभूताम् । विश्वेषु जगत्सु ये अङ्कारा जैत्रप्रति-
मन्नाः स्वश्रीपरिस्पर्धिनः । ‘संकीर्णशंकरशशाङ्ककलाङ्कारैः’ इति नैषधे । तेषां
विजये प्रभविष्णुः समर्था लक्ष्मीर्यस्यास्ताम् । किं कृत्वा । वरं स्वामिलषितवाचं
लब्ध्वा प्राप्य । कस्मात् । आत्मयोनेर्विधातुः । किंभूतात् । प्रसन्नं प्रसादोपेतं हृष्टं मनो
हृदयं यस्य । कया । आप्रसादात् प्रसादं मर्यादीकृत्य अनिशं निरन्तरमासनतया वि-
ष्टरभावेन शुश्रूषया । ‘सेवा भक्तिः परिचर्या प्रसादना । शुश्रूषाराधनोपास्तिः वरिव-
स्यापरिष्टयः ॥’ इति हैम्याम् । आसनीभूय प्रसादसमयं यावन्नित्यं सेवां विधाय ॥

यत्पादपङ्कजयुगाङ्गुलिभिः स्वकीय-

लक्ष्म्या पराभवपदं गमिताः प्रवालाः ।

दुःखादिव द्रुमशिखाशिखरान्तरेषु

तित्यक्षवस्तनुलतां निजमुद्वबन्धुः ॥ ११४ ॥

प्रवालाः पल्लवा द्रुमाणां वृक्षाणां शिखास्तासां शिखराणि अग्राणि तेषामन्तरेषु म-
ध्येषु । उत्प्रेक्ष्यते—निजमात्मानम् । ‘श्रुत्वा निजं भीमजया निरस्तम्’ इति नैषधे । निज-

शब्देनात्मा उत् ऊर्ध्वं बबन्धुः बध्नन्ति स्म । खं पाशपतितं कुर्वते स्मेत्यर्थः । किं कर्तुमिच्छवः । तिलक्षवः त्यक्तुमिच्छवो विहातुं कामाः । कस्मात् । दुःखात् । काम् । तनुलतां स्वशरीरयष्टिम् । किंभूताः प्रवालाः । पराभवपदमभिभूतिस्थानं गमिताः प्रापिताः । कया । स्वकीयया आत्मीयया लक्ष्म्या श्रिया शोभया वा । काभिः । यत्पादपङ्कजयुगाङ्गुलिभिः यस्य कुमारस्य पादौ चरणाविव पङ्कजे पद्मे तयोर्युगलं द्वन्द्वं तस्याङ्गुलीभिः पदशाखाभिः ॥

कामद्विपेङ्कुश इवोद्भवितायमेव

कामाङ्कुशैः किमिति सूचयति स्म वेधाः ।

रत्नं यदेष भुवि सूरिभरेषु भावी

रत्नश्रियं किमु पुनर्निदधे स तेषु ॥ ११९ ॥

वेधा ब्रह्मा एतस्य कुमारस्य कामाङ्कुशैरिति नामभिर्नखैः । ‘कामाङ्कुशो महाराज-
करजो नखरो नखः’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—इति सूचयति स्म किम् । लोकपुरः
कथयति स्मेव । इति किम् । यदयं हीरकुमारः कामद्विपे स्मरहस्तिनि विषये अङ्कुशः
सृणिरिवोद्भविता प्रादुर्भविष्यति । सर्वथापि दुर्दमं मदनं यौवनेऽप्येष दमिष्यतीत्यर्थः ।
पुनः स ब्रह्मा तेषु कामाङ्कुशेषु । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः । अत्र इतिशब्दः पूर्वपदा-
देव ग्राह्यः । एककाव्यत्वात् । रत्नश्रियं माणिक्यलक्ष्मीं निदधे स्थापितवान् । इति
किम् । यदेष कुमारो भुवि पृथिव्यां सूरिभारेष्वाचार्यव्रजेषु रत्नं माणिक्यमिव भावी
भविष्यति । ‘नगीनो’ इति प्रसिद्धः ॥

यन्मूर्तिदीधितिझरेषु किमु प्ररोहा

रोमाणि कामपि रमां कलयांबभूवुः ।

ईदृग्विधा वयमिहैव न चापरत्र

वक्तुं गुणैः किमिति यन्नकृताः स्वरेखाः ॥ ११६ ॥

रोमाणि यस्य लोमलेखाः कामप्यसाधारणीं रमां श्रियं कलयांबभूवुः धारयन्ति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—यस्य कुमारस्य मूर्तिः शरीरं तस्य दीधितयः परितः प्रसरत्कान्तयः ता
एव झरा निर्झरप्रवाहास्तेषु हस्तपहृदयादिवह्मत्वाद्बहुवचनम् । तेषु प्ररोहा नीलतृणाङ्कुराः
किमु । पुनर्यत्र कुमारे औदार्यवैर्यगाम्भीर्यादिगुणैः उत्प्रेक्ष्यते । इति वक्तुं किमु ज-
नानां पुरः कथयितुमिव स्वाः स्वाः सरूपाणामेकशेषे एक एव स्वशब्दस्तिष्ठति रेखा
लघुरूपाः कृताः किमु इति किम् । यत् ईदृशी विधा प्रकारो येषाम् अनन्यसामान्य-
माहात्म्येन सकललोकचेतश्चमत्कारिणस्तादृशा वयं सर्वेऽपि गुणा इहैव हीरकुमारे
एव स्मो वर्तमाने, च पुनर्नापरत्र अपरस्मिन् स्थाने । एवंविधा वयं सर्व-
थापि न स्मः ॥

स्कन्धोपधेः ककुददौकनकं विधाय
 यस्माच्छिशोर्गतिरशिक्षि ककुद्वतेव ।
 अभ्यस्यते गतिरिवास्य गतानुकार-
 कामेन विन्ध्यविपिनेष्वपि हास्तिकेन ॥ ११७ ॥

यस्मात् हीरनाम्नः शिशोः कुमारात् । उत्प्रेक्ष्यते—ककुद्वता वृषभेन गतिर्गमनमशिक्षि
 शिक्षितेव । किं कृत्वा । स्कन्धोपधेरसकपटात्ककुदस्य नैचिकशिरसः दौकनकं प्राश्रुनं
 विधाय कृत्वा । अपि पुनर्गजव्रजेन विन्ध्यस्य जलवालकशैलस्य विपिनेषु काननेषु
 गह्वरेषु वा । उत्प्रेक्ष्यते—गतिर्मन्थरगमनविलासः अभ्यस्यते अभ्यास इव क्रियते ।
 शिक्ष्यते वा । किंभूतेन हास्तिकेन । अस्य कुमारस्य गतस्य विलासेन मन्थरत्वेन वा
 गमनस्य अनुकरणमनुकारः सदृशीभवनं तत्र कामोऽभिलाषो यस्य तेन ॥

लिप्ता द्रवैरिव विलीनहिरण्यराशेः
 संकल्पितेव नवगन्धकलीदलैर्वा ।
 किं रोचनाभिरथ वा रचिता स्मिताब्ज-
 गर्भैरिवाथ घटितास्य तनुश्चकाशे ॥ ११८ ॥

अस्य कुमारस्य तनुः शरीरं चकाशे दिदीपे । उत्प्रेक्ष्यते—विलीनस्य खादिराङ्गारा-
 मिगालितस्य हिरण्यस्य राशेः कनकनिकरस्य द्रवै रसैः लिप्यते स्मेति लिप्ता दिग्धेव ।
 वा अथवा नवैः सद्यस्कैर्नवीनैर्गन्धकलीदलैश्चम्पककलिकापत्रैः । 'न पद्मदो गन्धकलीमजि-
 प्रत्' इति सूक्ते । संकल्पितेव विरचितेव । अथ वा पक्षान्तरे रोचनाभिर्गोरोचननामगोपित-
 विशेषद्रव्यैः किमुत्प्रेक्ष्यते—रचिता निर्मितेव । अथ पुनः स्मिताब्जानां विकचकम-
 लानां गर्भैरन्तर्वतिसारदलैर्घटिता कल्पितेव ॥ इति हीरकुमारसर्वाङ्गवर्णनम् ॥

तस्मिन्पदं प्रविदधे गुणधोरणीभिः
 सर्वाभिरर्णव इवार्णववर्णिनीभिः ।
 आलोक्यते स्म च कदाचन नैषदोषै-
 दोषातनैरिव तमोभिरभीश्रुमाली ॥ ११९ ॥

तस्मिन् हीरकुमारे सर्वाभिः समस्ताभिरौदार्यधैर्यादिगुणधोरणीभिः पदं स्थानं प्रवि-
 दधे कृतम् । कस्मिन्निव । अर्णव इव । यथा सर्वाभिरर्णववर्णिनीभिः समुद्रपत्नीभिर्नदीभि-
 रर्णवे जलनिधौ पदं स्थानं प्रविधीयते । च पुनरेष कुमारः दोषैरपगुणैः कदाचन क-
 स्मिन्नपि समये न आलोक्यते स्म न दृष्टः । क इव । अभीश्रुमालीव यथा भास्वान्
 दोषातनै रात्रिजातैस्तमोभिरन्धकारैर्नालोक्यते न प्रेक्ष्यते ॥

स्वस्पर्धिनः शरभवप्रमुखानशेषा-

न्कान्त्या विजित्य विजयीव निजप्रतीपान् ।

स व्यानशे विसृमरैः स्वयशोभिराशा-

देशान्मिलत्परिमलैरिव पुष्पकालः ॥ १२० ॥

स हीरकुमारः विसृमरैः प्रसरणशीलैः स्वस्यात्मनो यशोभिः क्रीतिभिः आशादेशान् दिग्विभागान् व्यानशे व्याप्नोति स्म । क इव । पुष्पकाल इव । यथा वसन्तर्तुः मिलद्भिः परस्परं सङ्गं कुर्वद्भिः परिमलैः विकसितविविधविशेषजातितरुलतोलसत्कुसुमसंभवै-
रामोदैदिशां प्रदेशान् व्यश्रुते । किं कृत्वा । शरभवप्रमुखान् प्रतीपान् विजित्य पराजित्य । किंभूतान् । स्वेनात्मना सह श्रिया स्पर्धनशीलान् । क इव । विजयीव यथा जैत्रः । सर्वत्रापि जयवान् राजा समस्तान् प्रतिपक्षान् परिभूय विस्तरन् स्वयशोभिः सर्वांशा व्याप्नोति ॥

भूषाशनिस्फुरितशक्रधनुः समुद्य-

द्भाराङ्कितश्च जलमुक्थितजैनपादः ।

युक्तं यदा स सघनः कमलोदयेन

चित्रं तदेव सुदिनेन यदत्र जज्ञे ॥ १२१ ॥

कमलोदयेन लक्ष्म्या अभ्युद्गमेन प्रादुर्भावेन घनो दृढ आस बभूव । अथ च कम-
लानां पानीयानामागमेन मेघो भवति । किंभूतः स मेघश्च । भूषाणामाभरणानामश-
निभ्यो वज्ररत्नेभ्यः स्फुरितानि प्रकटीभूतानि शक्रधनुषि इन्द्रचापचक्राणि यत्र ।
'वृता विभूषा मणिरत्नकामुकैः' इति नैषधे । तथा 'एतान्युल्लसन्मणिमयूखमञ्जरीर-
चित्तेन्द्रचापचक्राण्याभरणानि' इति चम्पूकथायाम् । भूषाशब्दो भूषणवाची । 'न भूष-
यैषाधिचक्रास्ति किं तु सा' इति नैषधे । भूषणैः कृत्वा एषा अधिका न चक्रास्तीति
तद्वृत्तिः । तथा समुद्यता दीप्यमानेन हारेण मुक्ताकलापेन अङ्कितः कलितः । भूषायाः
शोभायाः कारिणी अशनिर्विद्युद्यत्र । तथा प्रकटीभूतसिन्द्रधनुर्वयत्र । तथा समुद्यन्त्यो
निष्पतन्त्यो धारा जलवृष्टयस्ताभिरङ्कितः । पुनः किंभूतः । डलयोरैक्यात् जडानज्ञान्
अज्ञानभाजो वा मुञ्चन् दूरं त्यजन् । घनस्तु जलानि पानीयानि वर्षन् । पुनः किं-
भूतः । श्रित आश्रितः जिनस्यार्हतो विष्णोश्च अयं जैनः पादश्चरणः तीर्थकृत्पादौ
विष्णुपदं च येन एतद्युक्तमुक्तम् । परं तदेव चित्रमाश्चर्यमासीत् । यदत्र कुमारं सुदि-
नेन शासनदिवसेन जातं जज्ञे । घने मेघे तु दुर्दिनेन जायते ॥ इति कुमारगुणलक्षण-
भूषणादिवर्णनम् ॥

क्रीडञ्जयन्त इव यज्ञभुजां कुमारैः

पौराङ्गजैः सह वयोविभवानुरूपैः ।

कालक्रमेण परिवर्तमसौ दिनानां

श्रीमत्कुमारमघवा गमयांबभूव ॥ १२२ ॥

असौ हीरनामा श्रीमत्सु धनाढ्येषु शोभावत्सु वा कुमारेषु अपरिगृहीतकलत्रेषु म-
घवा सर्वोत्कृष्टविभूत्याधिक्यादिन्द्रः कालक्रमेण समयपरिपाच्या दिनानां दिवसानां परि-
वर्तं क्षेपम् । अतिक्रमणमित्यर्थः । गमयांबभूव अतिवाहयति स्म । वासरानतिक्रामति
स्मेत्यर्थः । किं कुर्वन् । क्रीडन् खेलन् नानाविधबाललीलां कलयन् । कथम् । सह ।
कैः सह । पौराङ्गजैर्नागरिककुमारैः । किंभूतैः । वयो यादृक्षं हीरकुमारस्य वयः वा-
ल्यशेषरूपं तथा विभवो द्रव्यं तयोरनुरूपैः कथंचित्सदृशैः । क इव । जयन्त इव । यथा
पुरंदरनन्दनो जयन्तः यज्ञभुजां देवानां कुमारैः पुत्रैः समं क्रीडति ॥

तस्यानुजो गजगतेः शतकोटिपाणेः

श्रीपाल इत्यजनि विष्णुरिवाद्विदस्योः ।

द्वे अग्रजे स्म भवतः पुनरस्य जामी

राणी परा च विमला कमलानुरूपे ॥ १२३ ॥

तस्य हीरकुमारस्य श्रीपाल इति नाम्ना अनुजो लघुभ्राता अजनि संजातः । तस्य
किंभूतस्य । गजगतेः गजवन्मत्तगजराज इव गतिर्गमनं यस्य । पुनः किंभूतस्य । शतं
शतशः कोटयः द्रव्याणां शतलक्षाः पाणौ हस्ते यस्य शतैर्मिता वा कनककोटयो हस्त-
प्राप्या यस्य तदधिपत्वात् । कस्येव । अद्विदस्योरिव । यथा गजेनार्थादैरावणेन गमनं
प्रस्थानं यस्य तथा शतकोटिर्वज्रं पाणौ यस्य तादृशस्य अद्विदस्योः पर्वतरिपोरिन्द्रस्य
विष्णुः कृष्णनामा लघुसहोदरो जज्ञे । किंभूतः । श्रियं लक्ष्मीं भर्तृत्वेन पालयतीति
श्रीपालः । कुमारोऽप्याकृत्या वज्रपाणिः । पुनः कुमारस्य द्वे उभे जामी भगिन्यौ भवतः
स्म संजाते । किंभूते । अग्रजे ज्येष्ठे वृद्धे । द्वे के । एका 'राणी', च पुनः परा अन्या
विमला इति नाम्नी द्वे । किंभूते । कमलाया रूपश्रिया लक्ष्म्या अनुरूपे सदृशे ॥

कृत्वा विलासमवनीवलये यथेच्छं

सोत्कण्ठयोर्विलसितुं सुरसद्वनीव ।

पित्रोरथ त्रिदशपद्मदृशां क्रमेण

दृग्गोचरं गतवतोर्भजतोः समाधिम् ॥ १२४ ॥

कृत्वौर्ध्वदेहिकमसौ विधिना विधिज्ञो

वंश्यैर्निजैः सह चिरस्य निरस्य शोकम् ।

उत्कः कदापि मिलितुं विमलां स्वजामि

जज्ञे महेभ्यकलभो जयवज्जयन्तीम् ॥ १२५ ॥

अथानन्तरं कदापि कस्मिन्नपि समये असौ वर्ण्यमानः महेश्वरस्य कुंराव्यवहारिणः कलभः कुमारः । इभाद्रजाद्रव इभ्यः कलभः यथा कुले भवः कुल्यस्तथायमपीति । विमलां नास्तीं निजभगिनीं मिलितुमुत्कण्ठित उत्सुको जज्ञे जातः । किंवत् । जयवत् । यथा जयो वासवसूनुः जयन्तीं स्वजामिं शक्रपुत्रीं मिलितुमुत्कण्ठावान् भवति । किं कृत्वा । चिरस्य चिरकालेन शोकं प्रेमबन्धाजातं परितापं निरस्य त्यक्त्वा । शोकहेतुमाह— किं कृत्वा । कृत्वा विधाय । किम् । और्ध्वदेहिकं परलोकगमनदिवसे दानजलाञ्जलिप्रमुखम् । कयोः । पित्रोः स्वजननीजनकयोः । कथम् । सह । कैः । वंदयैर्गोत्रिभिः । किंभूतैः । निजैरात्मीयैः । केन । विधिना यथोक्तलोकप्रकारेण । असौ किंभूतः । विधिमाचारं जानातीति विधिज्ञः । पित्रोः किं कुर्वतोः । समाधिं धर्मध्यानं भजतोः सेवमानयोः । पुनः किंभूतयोः । गतवतोः प्राप्तवतोः । कम् । दृग्गोचरं नयनविषयम् । कासाम् । त्रिदशानां देवानां पद्मदृशां स्त्रीणां देवाङ्गनानाम् । स्वर्गतयोरित्यर्थः । केन क्रमेण । आयुःपर्यन्तसमयपरिपाट्या । उत्प्रेक्ष्यते—सुरसद्मनि देवलोकं विलसितुं क्रीडितुं सोत्कण्ठयोः सह उत्कण्ठया वर्तते यौ तौ तादृशयोरिव । औत्सुक्ययुक्तयोरित्यर्थः । किं कृत्वा । अवनीचलये भूमण्डले विलासं भोगोपभोगादिक्रीडां निर्माय । कथम् । यथेच्छं स्वाभिलाषपूरणपर्यन्तम् । कुमारावस्थायामपि तस्य शौण्डीयांतिशयं दर्शयितुं कलभशब्दग्रहणम् । कलभश्चिशब्दकः ॥

गन्तुं ततः स्पृहयता प्रति पत्तनं स्व-

भृत्येन तेन सतुरङ्गयुगः शताङ्गः ।

आनाय्यते स्म नमुचेर्दमनेन जम्बू-

द्वीपं विमानमिव पालकनिर्जरेण ॥ १२६ ॥

ततो भगिनीमिलनोत्कण्ठानन्तरं तेन हीरकुमारेण कर्त्रा स्वभृत्येन निजसेवकेन कृत्वा शताङ्गो रथ आनाय्यते स्म आनायितः । किंभूतः शताङ्गः । सह तुरङ्गयोरश्वयोर्युगेन युगलेन वर्तते यः सः । तेन किं कुर्वता । पत्तनमणहिल्लनाम पुटभेदनं गन्तुं प्रस्थातुं स्पृहयता इच्छता । केनेव । नमुचेर्दमनेनेव । यथा नमुचिनामा दैत्यविशेषस्तस्य हत्वा पुरंदरेण जिनेन्द्राणां जन्मादिकल्याणकेषु महोत्सवकरणार्थं जम्बूद्वीपं प्रति गन्तुमिच्छता पालकनाम्ना निर्जरेण पालकाख्यं विमानमानाय्यते ॥

तं पारियानिकमसावधिरुह्य भूमी-

मार्गे नभस्वदतिपातिरथाश्ववाह्यम् ।

हैमं शताङ्गमथ सारथिना सनाथं

पाथोजपाणिरिव नाकिपथे प्रतस्थे ॥ १२७ ॥

अथ जामिमिलनोत्कण्ठया अनुसेवकपार्श्वे रथानयनानन्तरम् असौ कुमारः भूमी-

मार्गे पृथ्वीपथे प्रतस्थे प्रचलितः । किं कृत्वा । तं प्राक् सेवकेनानायितं पारियानिकम्-
ध्वरथमधिरुह्य अध्यास्य । किंभूतं पारियानिकम् । नभस्वन्तं वायुम् अर्थाद्वायुवेगम-
तिपतति अतिक्रामतीत्येवंशीलो वातादप्यधिको रयो वेगो ययोस्तादृशभ्यामश्वभ्यां
तुरङ्गाभ्यां वाह्यम् वहनयोग्यम् । पुनः किंभूतम् । सारथिना सूतेन सनाथं सहितम् ।
पुनः किंभूतम् । हैमं स्वर्णमयम् । क इव । पाथोजपाणिर्विव । यथा भास्वान् सुवर्णसं-
बन्धिनं स्यन्दनमाश्रित्य नाकिपथे गगने प्रतिष्ठते । सूर्यरथस्यापि विशेषणानि वायुरंहो
विजयि वेगवाजि वहनीयं काञ्चनमयमरुणसारथियुक्तं च पाथोजे कोकनदे इवारुणौ
मृदुलौ च सुकुमारौ पाणी हस्तौ यस्येति कुमारस्यापि विशेषणम् ॥

कालं कियन्तमुदयान्तरितं तपस्या-

साम्राज्यसंग्रहविधौ प्रविलम्बमानः ।

संप्राप्य पत्तनमसौ मुदितः स्वजामे-

चौलुक्यवद्ववनभूमिमलंचकार ॥ १२८ ॥

असौ हीरकुमारः पत्तनमणहिल्लपुरं संप्राप्य आसाद्य मुदितो हृष्टः सन् स्वजामेः
स्वभगिन्याः भवनभूमिं गृहभूमिमलंचकार भूषयति स्म । किंवत् । चौलुक्यवत् । यथा
कुमारपालः पत्तनमागत्य प्रमुदितः स्वभगिन्या गेहमलंकृतवान् । किं कुर्वाणः । प्रवि-
लम्बमानः प्रविलम्बं विदधानः कालक्षेपं निर्मिमाणः । कं कर्मतापन्नम् । कियत्परिमा-
णमस्येति कियान् तं कियन्तं कालं कियत्समयं यावत् किंकालम् । उदयः सूरिपदल-
क्षणो महोदयः अन्तरितः अन्तरं व्यवधानं संजातमत्रेत्यन्तरितः । कस्मिन् । तपस्या
दीक्षा सैव साम्राज्यं सकललोकैश्वर्यं तस्य संग्रहं उपादानं तस्य विधौ प्रकारे । चौलु-
क्यस्यापि गुर्जरमण्डलराज्यसंग्रहे ॥

तं जङ्गमं त्रिदशसालमिव स्वपुण्य-

प्राग्भारमङ्गिनमुतागतमात्मधाप्ति ।

दृष्ट्या निवातसरसीजसगर्भया स्वं

बन्धुं निपीय विमला मुमुदे हृदन्तः ॥ १२९ ॥

तं हीरकुमारं स्वबन्धुं निजसहोदरं दृष्ट्या नयनेन निपीय सादरमवलोक्य विमला
विजयसिंहमहेभ्यमहिला हृदन्तर्मनोमध्ये मुमुदे जहर्ष प्रीता । किंभूतया दृष्ट्या । नि-
वातं वातरहितं यत्सरसीजं पद्मं तस्य सगर्भया सदृशया सहोदरया वा । ‘निवातपद्म-
स्तिमितेन चक्षुषा’ इति रघुवंशे । तं किंभूतम् । आत्मधाप्तिं स्वगृहे विमलामन्दिरे
समागतम् । उत्प्रेक्ष्यते—जङ्गमं प्रचलन्तं त्रिदशसालं कल्पवृक्षमिव । उत अथवा अ-
ङ्गिनं मूर्तिमन्तं स्वपुण्यस्य निजसुकृतस्य प्राग्भारमतिशयमिव ॥

कादम्बिनीव सलिलैः सुरशैलशृङ्गं

हर्षाश्रुभिः स्वसहजं स्रपयत्यमन्दम् ।

संविभ्रतं कनककेतककान्तकायं

तं स्वागतादि भगिनी परिपृच्छति स्म ॥ १३० ॥

भगिनी विमला तं स्वसहजं निजभ्रातरं प्रति स्वागतादि सुखागमनकुशलप्रश्नालाप-
प्रमुखं परिपृच्छति स्म प्रश्नयामास । तं किं कुर्वन्तम् । कनककेतकवत् काञ्चनककच-
च्छद इव कान्तं मनोज्ञं कायं गाङ्गेयगौराङ्गयष्टीं संविभ्रतं धारयन्तम् । भगिनी किं कु-
र्वती । अमन्दं बहु यथा हर्षाश्रुभिः प्रमोदनिष्पतन्नयनबाष्पपानीयैः स्रपयन्तीव इति
गर्भोत्प्रेक्षा । केव । कादम्बिनीव । यथा मेघमाला सलिलैर्निजजलैः सुरशैलस्य मेरोः
शृङ्गं शिखरं स्रपयति । 'चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्' इति कल्याणमन्दिरस्तोत्रे
मेरावपि मेघसद्भावाः ॥

विज्ञातपूर्वजननीजनकप्रवृत्तेः

प्रेम्णा निगद्य कुशलादिकमात्मजामेः ।

विद्याभृतां कुमरवत्कलधौतकान्तं

वैताढ्यशृङ्गमयमासनमध्युवास ॥ १३१ ॥

अयं कुमारः आसनं विष्टरमध्युवास उपविशति स्म । किंभूतमासनम् । कलधौतेन
रजतेन काञ्चनेन वा कान्तं मनोज्ञम् । तद्वटितमित्यर्थः । 'कलधौतं स्वर्णरूपययोः' इत्यने-
कार्थः । किंवत् । विद्याभृतां विद्याधराणां कुमरवत् यथा खेचराणां कुमारो रूप्यमयं
वैताढ्यस्य भरतादिक्षेत्रोभयभागकारिमध्यवर्तिपर्वतस्य शृङ्गं शिखरमधिवसति । किं
कृत्वा । कुशलप्रमुखस्ववृत्तान्तमात्मनः स्वस्य जामेर्भगिन्याः प्रेम्णा स्नेहेन निगद्य क-
थयित्वा । किंभूताया भगिन्याः । विज्ञातपूर्वा पूर्वमेवावबुद्धा जननी माता जनकः पिता
तयोः प्रवृत्तिः परलोकगमनवार्ता यया तस्याः ॥

अनेन गोष्ठीमनुतिष्ठतात्मजामेर्मनोव्याहृतिवैदुषीभिः ।

अनन्यवृत्तिं क्रियते स्म विज्ञै रसातिरेकै रसिकस्य यद्वत् ॥ १३२ ॥

अनेन हीरकुमारेण आत्मजामेर्निजभगिन्या मनश्चित्तमनन्यवृत्तिं न विद्यते अन्या
परा वृत्तिर्व्यापारो यस्य । अथ वा न विद्यते अन्यस्मिन् स्थानके वर्तनं श्रवणक्षणादि-
लक्षणं यस्य यत्र वा तत् । एकतानमित्यर्थः । क्रियते स्म । काभिः । व्याहृतिभिर्वैदुषी-
भिर्वचनचातुरीभिः । अनेन किं कुर्वता । गोष्ठीमात्मीयामन्यां वा वार्तामनुतिष्ठता विद-
धता । कैरिव । पण्डितैः । शृङ्गारादीनां नवानां रसानामतिरेकैराधिक्यैरतिशयैश्च कृत्वा
रसिकस्य सर्वरसवेत्तुरतिचातुरीभाजः मनोऽनन्यव्यापारं विधीयते ॥

पदे पदे यत्पुरकौतुकानि निरीक्षमाणः क्षणदाकरास्यः ।

निजैर्गुणैर्हार इवैष हीरो व्यधत्त वासं हृदये मनस्विनाम् ॥१३३॥

एष कुरानाथीनन्दनो हीरो निजैरात्मीयैर्गुणैः सौन्दर्यादिभिर्मनस्विनां महतां चतु-
राणां हृदये मनसि वासं वसति व्यधत्त चकार । क इव । हार इव । यथा मुक्ताकलापो
गुणैस्तन्तुभिः सूत्रप्रोतत्वेन हारस्य मनस्विनां हृदये वक्षसि । ‘हृदयं मनो वक्षश्च’ इत्य-
नेकार्थः । ‘परस्य हृदये लभं न घूर्णयति यच्छिरः’ इति चम्पूकथायाम् । काव्यं पर-
स्यान्यप्राज्ञस्य हृदये लभं चमत्कृतं बाणं परस्य वैरिणो हृदये वक्षसि लभं मर्मप्रविष्ट-
मिति तद्विषयकम् । वासं स्थानं कुरुते । किंभूतः हीरः । क्षणदाकरश्चन्द्रस्तद्वदाननं
मुखं यस्य संपूर्णचन्द्रवदनः । किं कुर्वाणः । पदे पदे स्थाने स्थाने यत्पुरस्याणहिल-
वादकपत्तनस्य कौतुकान्याश्चर्याणि निरीक्षमाणः विलोकमानः ॥

हरिरिव गिरिकुञ्जे मानसैर्मनसौका

इव करकमले वा श्रीपतेः पाञ्चजन्यः ।

मुररिपुरिव वार्धौ स स्वसुर्धाम्नि तिष्ठ-

न्कमपि कलयति स्म श्रीभरं शार्वसिंहः ॥ १३४ ॥

स हीरनामा शिवेषु कुमारेषु शौर्यस्फूर्त्या सिंह इव सिंहः पञ्चाननः श्रीभरं शोभाति-
शयं कलयति स्म दधार । किं कुर्वन् । स्वसुर्ध्वभगिन्या विमलानाम्न्या धाम्नि मन्दिरे
तिष्ठन् वसन् स्थितिं कुर्वन् । क इव । हरिरिव । यथा केसरी गिरेः पर्वतस्य कुञ्जे गह्वरे
वने वा निवसति । पुनः क इव । मानसौका इव । यथा राजहंसो मानसनामनि सरसि
स्थितिं विधत्ते । वा पुनः क इव । पाञ्चजन्य इव । यथा देवतादत्तो हरिणैव वादन-
योग्यः पाञ्चजन्यनामा शङ्खः श्रीपतेर्नारायणस्य करकमले पाणिपद्मे तिष्ठति । अत्र इव-
शब्दो लालाघण्टावदुभयत्र योज्यः । पुनः क इव । मुररिपुरिव । यथा नारायणो वार्धौ
अर्थात् क्षीरसमुद्रे वसति विधत्ते ॥

यं प्राप्तुं शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तैवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाक्षीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गस्तृतीयोऽभवत् ॥ १३५ ॥

यं प्राप्तुं तेति । देवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये हीरविजयसू-
रीश्वरचरित्रे तृतीयः सर्गः ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्वोपज्ञहीरसौभाग्यनामकाव्यवृत्तौ गर्भधारण-
दोहदगर्भसमयलक्षणाविर्भावजन्यजन्मपत्रिकाजन्ममहोत्सवबालक्रीडापठनसर्वाङ्गलक्षण-
मावृत्पितृपरलोकगमनपत्तनस्थभगिनीगृहागमवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥

चतुर्थः सर्गः ।

अथो पुरासन्भरते वृषाङ्गमुखाश्चतुर्विंशतितीर्थनाथाः ।

बाह्यान्यबाह्यानि तमांसि हन्तुं कृतद्विरूपा इव भानुमन्तः ॥ १ ॥

अथेति चतुर्थसर्गप्रारम्भे अथवा श्रीविजयदानसूरिसमागमनप्रक्रमसमये तत्पूर्व-
पद्मावलीप्रकटनप्रस्तावे पुरा पूर्वं तृतीयारकपर्यन्तचतुर्थारकमध्ये भरते भरतनाम्नि क्षेत्रे
वृषाङ्गप्रमुखा ऋषभदेवादिकाः । यथा ऋषभ-अजित-शंभव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-
सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-विमल-अनन्त-धर्म-शान्ति-कुन्धु-अर-
मल्लि-मुनिमुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्धमान-नामानश्चतुर्विंशतिसंख्याकास्तीर्थनाथा जिनेन्द्रा
आसन्नभूवन् । उत्प्रेक्ष्यते—कृते द्वे द्वे मूर्ती रूपे यैरेतावता चतुर्विंशतिरूपा द्वादश
भानुमन्तः सूर्या इव द्वादशानां द्विवारं गणनया चतुर्विंशतिः स्यात् । किं कर्तुम् ।
बाह्यानि बहिल्लोकान्तर्वर्तीनि अबाह्यानि प्राणिनामन्तरङ्गवर्तीनि हृदयस्थानि तमांस्य-
न्धकाराणि अज्ञानानि पापानि वा हन्तुं व्यापादयितुं भानवो हि नामभिर्ध्वान्तरातयः ॥

इक्ष्वाकुवंशांस्त्वुधिशितभासां द्वाविंशतिस्तीर्थकृतां वभूव ।

यया तमःपङ्कमपास्य पन्थाः प्राकाशि सिद्धेः शरदेव विश्वे ॥ २ ॥

तेषां जिनानां मध्ये इत्यध्याहारः । ऋषभदेवस्य शक्रप्राभृतानीतेक्षुयष्टेरास्वादनाश-
येन शक्रप्रतिष्ठापितेक्ष्वाकुवंशः स एवांस्त्वुधिः समुद्रस्तत्र क्षीरभासश्चन्द्रास्तादृशानां
तीर्थकृतां जिनानां द्वाविंशतिर्द्वाभ्यामधिका विंशतिर्वभूव जाता । द्वाविंशतिजिनेन्द्रा
इक्ष्वाकुकुले समुत्पन्ना इत्यर्थः । यया जिनद्वाविंशत्या विश्वे जगति सिद्धेर्मोक्षस्य पन्था
मार्गः प्राकाशि प्रकाशितः प्रकटीकृतः । किं कृत्वा । तमोऽज्ञानं पापं वा तदेव मालि-
न्यकारित्वात्पङ्कं कर्दमम् अपास्य निराकृत्य । कयेव । शरदेव । यथा घनात्ययेन पङ्कं
विशोष्य पन्थाः प्रकटः क्रियते ॥

वभूवतुर्द्वौ भुवनप्रदीपौ जिनौ यदूनां पुनरन्ववाये ।

अरिष्टनेमिर्मुनिसुव्रतश्च स्फूर्जद्भुजाविन्द्रियवेश्मनीव ॥ ३ ॥

पुनर्द्वौ जिनौ तीर्थकरौ यदूनां यादवानामन्ववाये वंशे वभूवतुर्जातौ । किंभूतौ
जिनौ । भुवनेषु त्रिषु सप्तसु वा चतुर्दशसु वा एकविंशतौ वा । 'भुवनानि निबधीयात्
त्रीणि सप्त चतुर्दश' इति वाग्भटालंकारे । वृत्तौ एकविंशतरपि इति वचनात् । तत्प्र-
मितेषु जगत्सु प्रकाशकारकत्वेन प्रदीपाविव प्रदीपौ । द्वौ कौ । एकः अरिष्टनेमिर्द्वाविं-
शतितमस्तीर्थनाथः । च पुनरपरो मुनिसुव्रतनामा विंशतितमस्तीर्थकरः । पदयोजनया
कथंचित्पश्चानुपूर्व्या समानीतौ स्तः । काविव । स्फूर्जद्भुजाविव । यथा ऊर्जस्वलौ दो-
र्दण्डौ इन्द्रियवेश्मनि शरीरे स्याताम् । अत्र हेमाचार्योक्तस्य इन्द्रियायतनमिति परप-
र्यायस्य परावर्तनम् । 'जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम्' इति नैषधोक्तवचनादिदमपि ॥
इति जिनाः ॥

सिद्धार्थभूकान्तसुतो जिनानामपश्चिमोऽजायत पश्चिमोऽपि ।

शशी व्यभात्पङ्क्तिपङ्कजास्यकादम्बवद्यस्य यशःसुधाब्धौ ॥ ४ ॥

सिद्धार्थनामा भूकान्तः पृथ्वीपतिः तस्य सुतो नन्दनः महावीरदेवः सः अजायत जज्ञे । किंभूतः । पश्चिमोऽपि सन् जिनानां सामान्यकेवलानां मध्ये अपश्चिम आद्यः । तत्तीर्थे प्रथमं वीरस्यैव केवलज्ञानोत्पन्नत्वेन । ‘अपश्चिमो विपश्चिताम्’ इति चम्पूकथा-याम् । स कः । यस्य यशःसुधाब्धौ कीर्तिरेव सुधाब्धिः क्षीरसमुद्रस्तस्मिन् शशी चन्द्रः । पङ्क्तिं कर्दमाकलितं पङ्कजं कमलमास्ये मुखे यस्यैवविधकादम्बवत् राजहंस इव व्यभात् भाति स्म ॥

बाल्येऽपि हेमाद्रिरकम्पि येन प्रभञ्जनेनेव निकेतकेतुः ।

श्रीद्वादशाङ्गी च यतः प्रवृत्ता गुरोर्गिरीणामिव जहुकन्या ॥ ५ ॥

येन महावीरेण बाल्ये शैशवेऽपि जातमात्रावस्थायामपि जन्मभिषेकसमये हेमाद्रि-मैरुरकम्पि कम्पितः । गिगन्तोऽयं प्रयोगः । केनेव । प्रभञ्जनेनेव । यथा वायुना नि-केतकेतुः । ‘निकेतं परितो भ्रमन्’ इति पाण्डवचरित्रे । गृहोपरिध्वजः कम्प्यते । च पुनर्यतो महावीरात् द्वादशाङ्गी गणिपिटकं प्रवृत्ता प्रावर्तत । कस्मादिव । गुरोरिव यथा गिरीणां गुरोर्हिमाचलात् जहुकन्या गङ्गा प्रवर्तते स्म ॥ इति महावीरः ॥

एकादशसन्गणधारिधुर्याः श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखा अमुष्य ।

आर्योपयामे पुनराप्तमूर्तिं रुद्राः स्मरं हन्तुमिवेहमानाः ॥ ६ ॥

अमुष्य महावीरदेवस्य श्रिया शोभया लब्धिलक्ष्म्या वा युक्ता इन्द्रभूतिर्गौतमनामा प्रमुख आद्यो येषां तादृशा एकादशसंख्याकाः इन्द्रभूति-असिभूति-वायुभूति-व्यक्त-सुधर्मस्वाप्ति-मण्डित-मौर्यपुत्र-अकम्पित अचलभ्राता-मतार्य-प्रभासाभिधाना गणधारिणां गच्छं विभ्रतीति गणधारिणस्तेषां मध्ये धुर्या धुरंधराः आसन् जज्ञिरे । उत्प्रेक्ष्यते—पुनर्द्वितीयवारं स्मरं मदनं निहन्तुं जीविताद्यपरोपयितुमीहमानाः काङ्क्षन्तः । एकादशसंख्याका रुद्रा इव प्रकटीभूता इत्यर्थः । किंभूतं स्मरम् । पूर्वशरीरापेक्षया दा-हानन्तरमपरवारमार्थायाः पार्वत्या उपयामे पाणिग्रहणसमये आत्माः स्मरोपरि प्रसन्नी-भवनविज्ञप्तिकारि सुराननुगृह्य प्रसन्नीभूतभूतपतिवरात् लब्ध्वा मूर्तिः शरीरं येन तम् ॥

बभूव मुख्यो वसुभूतिसूनुस्तेषां गणीनामिह गौतमाह्वः ।

यो वक्रभावं न बभार पृथ्वीसुतोऽपि नो विष्णुपदावलम्बी ॥ ७ ॥

इह जगति महावीरशिष्येषु वा तेषामेकादशानां गणीनां गणधारिणां मध्ये वसुभू-तिनाम्नो ब्राह्मणस्य सूनुः पुत्रो मुख्यः विविधलब्धिसंपन्नत्वात्प्रकृष्टः अथ वा मुखे आदौ भवो मुख्यः प्रथमः सर्वेषां पूर्वं दीक्षितत्वात् प्रथमगणधरत्वाद्वा बभूव । किंभूतो वसु-भूतिसूनुः । गौतम इत्याह्वा नाम यस्य सः । यो गौतमः पृथ्व्या ब्राह्मण्याः क्षितेश्च सु-

तोऽपि पुत्रोऽपि सन् वक्रभावं कुटिलस्वभावं न बभार धत्ते स्म । पुनर्विष्णोर्नारायणस्य पदं चरणमालम्बते आश्रयते सेवते इत्येवंशीलोऽपि न नैव विष्णुभक्तः । महावीरगणधारित्वात् । अथ च पृथिव्याः सुतो मङ्गलनामा ग्रहः स तु वक्रभावं वक्रनामत्वम् । 'आरो वक्रो लोहिताङ्गो मङ्गलोऽङ्गारकः कुजः' इति मङ्गलनामानि हैम्याम् । अथ च विष्णुपदमाकाशमवलम्बते भजते इत्येवंशीलोऽस्ति । ज्योतिश्चक्रस्य नभःस्थत्वात् ॥

यत्पाणिपद्मः स पुनर्भवोऽपि दत्ते नतानामपुनर्भवं यत् ।

शिष्यीकृता येन भवं विहाय शिवं श्रयन्ते च तदत्र चित्रम् ॥८॥

तत्प्रसिद्धमत्र जगति चित्रं महदाश्चर्यं दृश्यते । तत्किम् । यत् यस्य गौतमस्वामिनः पाणिपद्मः करकमलः सह पुनर्द्वितीयवारं भवनमुत्पत्तिस्तेन सह वर्तते यस्तादृशोऽपि सन् न विद्यते पुनरन्यवारं भवोऽवतारो यत्र तं नतानां प्रणमजनानां दत्ते विश्राणयति । तत्त्वतस्तु कामाङ्कुशकलितो मोक्षं ददाति । 'कामाङ्कुशो महाराजः करजो नखरो नखः । करशूको भुजाकण्ठः पुनर्भवपुनर्भवौ ॥' इति हैम्याम् । तथा तत्रैव 'महानन्दोऽमृतं सिद्धिः कैवल्यमपुनर्भवः' इति च । पुनर्येन गौतमेन शिष्यीकृताः स्वविनेया विहिताः सन्तो नरा भवमीश्वरं विहाय त्यक्त्वा शिवं शंभुं श्रयन्ते भजन्ते भवः स एव शिवश्च । तत्त्वतस्तु भवं संसारं त्यक्त्वा शिवं मोक्षं यान्ति गौतमदीक्षितानां सर्वेषामपि केवलज्ञानोत्पादात् ॥

सूर्यस्य रश्मीनवलम्ब्य वज्रावलम्बरश्मीनिवयः शयाभ्याम् ।

नन्तुं जिनानार्षभिकृतमूर्तीनष्टापदोर्वीधरमारुरोह ॥ ९ ॥

यो गौतमस्वामी स्वल्ब्ध्या योऽष्टापदमारोहति सोऽवश्यं तद्भवे एव सिद्धिगामीति देववाचं निशम्य प्रश्नानन्तरं भगवतापि तथैव प्रतिपादिते भगवदाज्ञादानपूर्वकमष्टापदनामानसुर्वीधरं कैलाशशैलमारुरोहाधिरूढवान् चण्डितः । किं कृत्वा । अवलम्ब्य आश्रित्य । काभ्याम् । शयाभ्यां स्वहस्ताभ्याम् । कान् । सूर्यस्य रश्मीन् किरणान् । लता उर्णनाभः कोलिकस्तस्यास्याद्वदनाद्विनिर्गता जालतन्तवः तान् वा । 'तपःकृशाङ्गास्तं शैलमारोढुं न वयं क्षमाः । चण्डिष्यति कथं प्रौढदेहोऽयं गजराजवत् ॥' पश्यत्सु तेषु मार्तण्डकरानालम्ब्य गौतमः । गणभृन्निजलब्धैवाष्टापदोर्व्वं ययौ ध्रुवम् ॥' इति ऋषिमण्डलवृत्तौ । 'सूर्यस्यांशन् समाश्रित्य तेषामुत्पश्यतामपि । स गश्तमानिवोद्धीय ययौ मङ्गु गिरेः शिरः ॥' इति वृन्दारवृत्तौ । रविकिरणावलम्बनम् । तथा 'भयवं गोयमो जङ्घाचारणलद्वीपलतापुङ्गवसिनिस्मा ए उदुम्पयइ जाव ते पलायन्ति' इत्यावश्यकद्वारविंशतिसहस्र्याम् । मलयगिरिवृत्तावप्ययमेव पाठः । लतातन्त्रवलम्बनमिति पाठद्वयमपि शास्त्रानुसारि । अथ प्रस्तुते । उत्प्रेक्ष्यते—वज्रस्य वज्ररत्नविनिर्मितानित्यर्थः । अवलम्बार्थमालम्बनकृते रश्मीन् गुणान् रज्जुरिव । किमर्थमारुरोह—नन्तुं नमस्कर्तुम् । कान् । जिनांश्चतुर्विंशतितीर्थकृतः । किंभूतान् । ऋषभस्यापत्यमार्षभभिर्भरतचक्रवर्ती तेन

कृता निर्मिता मूर्तयः प्रतिमा येषाम् । स्वस्ववर्णप्रमाणोपेतचतुर्विंशतिजिनविम्बाग्रम-
सितुमित्यर्थः ॥

कथं लभेतास्य तुलां सुरद्रुयद्यस्य नामापि पिपतिं कामान् ।

तपस्वितोऽप्यभ्यवहारयन्त्यो द्विधामृतास्वादजुषः पुषोप ॥ १० ॥

अस्य गौतमस्वामिनः तुलां साम्यं सुरद्रुः कल्पवृक्षः कथं केन प्रकारेण लभेत । य-
त्कारणात् यस्य गौतमस्य नामापि अभिधानमपि कामान् जनानां मनोरथान् पिपतिं
पूरयति । 'यस्याभिधानं मुनयोऽपि सर्वे गृह्णन्ति भिक्षाभ्रमणस्य काले । सिष्टान्नपाना-
म्बरपूर्णक्रामाः स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥' इति पूर्वाचार्यकृतस्तुत्युक्तः । तथा
गृहमेधिनोऽपि व्यापारादिकार्यं कुर्वाणा गौतमस्वामिनी लब्धिरित्युच्यन्ति च । अथ
कल्पवृक्षाभिधानग्रहणेन कोऽप्यर्थो न सरीसृतिं तस्मात्कल्पतरुपमानं न स्यादस्येति अपि
पुनर्यस्तपस्विनस्तापसानभ्यवहारयन् पायसं भोजयन् सन् द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां कृत्वा
अमृतस्य सुधाया मोक्षस्य वा स्वादं भोगं जुषन्ते सेवन्ते तादृशान् पुषोप । चकारेत्यर्थः ।
प्रथमममृतोपमं पायसमाकण्ठं भोजयित्वा ततः सिद्धिवधूदिलासरसिकांश्च कृतवान्, ए-
तदपि सहदाश्चर्यमस्ति ॥ इति गौतमस्वामी ॥

आसीत्सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्रीवर्धमानप्रभुपट्टधुर्यः ।

विहाय विश्वे सुरभीतनूजं कः स्तात्परो धुर्यपदावलम्बी ॥ ११ ॥

तेषु गौतमादिषु गणभृत्सु गणधरेषु श्रीवर्धमानप्रभोः श्रीमहावीरस्वामिनः पट्टे पदे
धुर्यः धुरंधरः सुधर्मानामा गणधर आसीत् । युक्तोऽयमर्थः । सुरभीतनूजं सुरभीशब्दो
दीर्घईकारान्तोऽपि दृश्यते । यथा कल्पकिरणावल्याम्—'स्वप्ने मानवमृगपतितुरङ्गमात-
ङ्गवृषभसुरभीभिः' इति । तथा पाण्डवचरित्रेऽपि—'दक्षिणस्या दिशः सर्वे नीयन्ते सुर-
भीगणाः' इत्युक्तेः । विहाय त्यक्त्वा परोऽन्यः को धुर्यपदावलम्बी धुर्यस्य धौरेयस्य पदं
युगं लक्षणं स्थानं तस्यावलम्ब आश्रयोऽस्त्यस्य ईदृशः कः स्तात् । अपि तु वृषभं विना
न कोऽपि धुरीणः स्यात् ॥

यः पञ्चमोऽभूद्गणपुङ्गवानां किं पञ्चमीं स्वेन गतिं यियासुः ।

यत्रोक्तिभिस्तीर्थकृतां दिदीपे शुक्तिव्रजे वारिमुचामिवाद्भिः ॥ १२ ॥

यः सुधर्मनामा गणानां गच्छानां प्रधानानां मध्ये पञ्चानां संख्यापूरणः पञ्चमः अ-
भूत् बभूव । उपेक्ष्यते—स्वेनात्मना पञ्चमीं मुक्तिलक्षणां गतिं यियासुः किमु गन्तु-
मिच्छुरिव । पञ्चमो जज्ञे । यत्र सुधर्मस्वामिनि तीर्थकृतां पूज्यत्वख्यापनार्थं बहुत्वम् ।
महावीरस्य । अथवा 'वीरविभोः' इति पाठः । तत्र वीरो महावीरः । देशैकग्रहणेन देशिनो
ग्रहणम् । भीमो भीमसेनः, भामा सत्यभामा, इत्यादिवृत्तथा वीरपदोपादानेन महावीरग्र-
हणं स चासौ विभुः स्वामी जगदीश्वरस्तस्य उक्तिभिर्वीरैरागभैरासोक्तिवत्तेषां दि-
दीपे । कस्मिन्निव । शुक्तिव्रजे इव । यथा शुक्तिकानां निकरे वारिमुचां मेघानामद्भिः

पानीयैर्दीप्यते मौक्तिकीभूय दीप्तिमतीभिर्जायते । 'शुक्तिव्रजे वारिसुचो यथाद्रिः' इति पाठः । यथा इवायं । शेषं प्राग्वत् ॥

सरस्वतीशालिलसज्जिनश्रीरगाधमध्ये रसभासमानः ।

सिद्धान्त आस्ते यदुपज्ञमुद्यदभङ्गभङ्गः सरितामिवेशः ॥ १३ ॥

यदुपज्ञं यः सुधर्मस्वामी उपज्ञा आद्यं ज्ञानं यत्र तत्कर्तृकत्वात् । 'उपज्ञोपक्रमं तदा-
विख्यासायाम्' । उपज्ञोपक्रमयोरादेरा(चि)ख्यानेच्छायां तदन्तस्तत्पुरुषो नपुंसकः
स्यात् । पाणिनेरुपज्ञा पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः तेनादौ कृत इत्यर्थः । नन्दस्य उपक्रमं नन्दो-
पक्रमं द्रोणः तेनादौ उपक्रान्त इत्यर्थः । इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । सिद्धान्त आगमः स-
रितां नदीनामीशः पतिः समुद्र इवास्ते विद्यते । किंभूतः सिद्धान्तः समुद्रश्च । सर-
स्वत्याः श्रुतदेव्याः सरः प्रसरणं मुखे अस्य स्यात्तत्त्वेन तदधिष्ठापकत्वात् । तथा
वा शालते शोभते इत्येवंशीलस्तथा लसन्ती दीप्यमाना जिनानां तीर्थकृतां श्रीरतिश-
यादिलक्षणा शोभा वा यत्र । पक्षे—नदीभिस्तत्पतितत्वात् शालमानस्तं तथा लसन्तौ
क्रीडन्तौ श्लिष्यन्तौ वा । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इति धात्वर्थत्वात् । जिनश्रिया कृ-
ष्णलक्ष्म्यौ यत्र विष्णोर्जलविशयनत्वेन तत्र क्रीडा । अथवा स्फुरन्त्यौ जिनो विष्णुस्त-
त्साहचर्याद्वार्धिपुत्रीत्वाद्वा लक्ष्मीश्च यत्र । समासान्तविधेरनित्यत्वान्न कः । 'उडुपरिषदि
मध्यस्थायिशितांशुलेखाकुरणपटुलक्ष्मीमक्षि लक्ष्मीचकार' इति नैषधे । पश्चात्कर्मधारयः ।
पुनः किंभूतः । अगाधो महार्थतया अलब्धं मध्यमतलस्पृक् च मध्यं यस्य । पुनः किं-
भूतः । रसैः शान्तादिभिर्जलैश्च भासमानः । पुनः किंभूतः । समुद्यन्तः प्रकटीभवन्तः
अभङ्गाः संपूर्णाः भङ्गा परमाणुप्रमुखानां श्राद्धव्रतादीनामेकद्वित्रिविधादयो भङ्गजालानि
तरङ्गाश्च यत्र ॥

गणीन्दुना पाट्टरमा गणीन्दुः पट्टश्रिया च व्यतिभासते स्म ।

निशा निशेशेन निशा निशेश इवापि शंभोः परिचारिचेताः ॥ १४ ॥

अनूचानचन्द्रेण सुधर्मस्वामिना पट्टरमा महावीरदेवपट्टलक्ष्मीस्तथा गणी साङ्गप्रवच-
नाधीतिनां मध्ये दीप्यमानत्वेन परमैश्वर्यभाक्त्वेन इन्दुश्चन्द्रः पट्टश्रिया वर्धमानस्वामिप-
ट्टलक्ष्म्या कृत्वा व्यतिभासते स्म परस्परं शोभते स्म । केनेव का । कया क इव ।
निशा निशेशेनेव । निशा निशेश इव यथा रात्रिश्चन्द्रमसा शोभते । यथा । निशा
रात्र्या कृत्वा चन्द्रमा व्यतिभासते परस्परं राजते । 'पट्टोमासूहदनिश' इति प्रकि-
योक्तसूत्रेण निशाया निश आदेशः । किंभूतो गणीन्दुः चन्द्रश्च । शंभोजिनस्येश्व-
रस्य च परिचरणशीलं सेवाहेवाकिस्वभावं चेतो मनो यस्य सः ॥ इति सुधर्मस्वामी ॥

यशःश्रियाधःकृतकुन्दकम्बुर्जम्बूकुमारोऽजनि तस्य पट्टे ।

लघोरपि स्वस्य यतोऽभिभूतिं पश्यन्हियादृश्य इव स्मरोऽभूत् ॥ १५ ॥

तस्य बुधर्मस्वामिनः पट्टे जम्बूकुमारोऽजनि जज्ञे । किंभूतः । यशःश्रिया कीर्तनव-
दाततालक्ष्म्या अधःकृतास्तिरस्कृता जिताः कुन्दानि कुन्दतरुकुसुमानि कम्बवः शङ्खा-
श्च येन सः । लघोः शिशोरपि यतो जम्बूकुमारात् स्वस्यात्मनः पराभूतिं तिरस्कारं
पश्यन् विलोकमानः स्मरः । उत्प्रेक्ष्यते—हिया लज्जयेव अदृश्यः दृशोरगोचरः अनङ्ग-
त्वात् अभूत् ॥

उज्ज्ञांचकारैष महेभ्यकन्या मदेन्दिरामूर्तिमतीरिवाष्टौ ।

नवाधिकां यो नवतिं हिरण्यकोटीर्नु चेटीरिव दौपराजाम् ॥ १६ ॥

एष जम्बूकुमारः अष्टौ अष्टसंख्याका महेभ्यानां स्वस्वकन्यानां पाणिमोचनपर्वणि जम्बू-
कुमाराय नवनवकोटीप्रदानलक्षणतो महाव्यवहारिणां कन्याः कुमारिकाः उज्ज्ञांचकार
त्यजति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमतीः शरीरभाजो मदेन्दिराः कुलजातिरूपश्रुतैश्वर्य-
तपोलब्धिवलरूपाष्टमद्वलक्ष्मीरिव जहौ । च पुनर्यो जम्बूः नवभिरधिकां नवतिं नवनव-
तिमिता हिरण्यानां सुवर्णानां कोटीरुज्ज्ञांचकार तत्याज । उत्प्रेक्ष्यते—दानान्तरायला-
भान्तरायवीर्यान्तरायभोगान्तरायोपभोगान्तरायहास्यरत्यरतिजुगुप्साशोककाममिथ्या-
त्वाज्ञाननिद्राविरतिरागद्वेषरूपाणामष्टादशसंख्याकानां दोषाणामेव राजां भूयानाम् ।
राजशब्दो व्यञ्जनान्तः । 'राजा राट् पृथ्वीशक्रः' इति हैमीवचनात् । चेटीर्दीप्तीरिव
जहाति स्म । साधुः पुमान् दासीसङ्गं न कुर्यात् ॥

वशंवदीभूतजगत्रयस्य न पुस्फुरेऽस्मिन्कमनस्य शक्त्या ।

हविर्भुजो भस्मितकाननस्य विस्फूर्ज्यते किं महसाम्बुराशौ ॥ १७ ॥

अस्मिन् जम्बूकुमारे । जम्बूशब्दो दीर्घो हस्रोऽप्यस्ति । 'मत्कृते जम्बुना त्यक्ता
नवोढा नवकन्यका' इति कल्पवृत्तौ । कमनस्य कन्दर्पस्य शक्त्या स्फूर्त्या सामर्थ्येन प-
राक्रमेण न पुस्फुरे न स्फुरितं नालंबभूवे । किंभूतस्य कामस्य । वशंवदीभूतं वश्यं
स्वाज्ञाकारिसंजातं जगत्रयं त्रैलोक्यं यस्य सः । युक्तोऽयमर्थः । हविर्भुजो वदेर्महसा प्र-
तापेन किं किमिति प्रश्ने । अम्बुराशौ समुद्रे स्फूर्ज्यते समर्थोभूयते । अपि तु न । किं-
भूतस्य हविर्भुजः । भस्मितं भस्मीकृतं भस्मावशेषं विहितं ज्वालितं काननं वनम् ।
उपलक्षणत्वात्पुरादि येन तस्य ॥

पश्यन्तु वैदुष्यममुष्य जम्बूप्रभोर्वपुर्भस्मितमत्स्यकेतोः ।

विश्वं वृषस्यन्त्यपि पांशुलेव वशीकृता येन शिवस्मिताया ॥ १८ ॥

हे प्राज्ञाः अमुष्यास्य जम्बूप्रभोर्जम्बूस्वामिनः वैदुष्यं विदुषो भावश्चातुर्यं पश्यन्तु
विलोकयन्तु । किंभूतस्य जम्बूप्रभोः । वपुषा अर्थात् शरीरसौन्दर्येण भस्मितस्तिरस्कृ-
तोऽधिकृतो मत्स्यकेतुर्मकरध्वजः कामो येन । पांशुलेव स्वैरिणी व्यभिचारिणाव वि-
श्वमखिलमपि जगज्जनं वृषस्यन्ती कामयमाना । 'वृषस्यन्ती' कामुकी स्यात् इति है-
म्याम् । अत्यर्थमभिलषन्त्यपि शिवाख्या मुक्तिनाम्नी स्मिताया विकसितकमलवदना ।

वधूरद्वैतप्रागल्भ्यभाजा येन जम्बूप्रभुणा वशीकृता स्वायत्ता निर्मिता । त्वया सह सङ्गं विधाय एतस्यामवसर्पिण्यां नान्यं भारतभवं जनमभिलशामीति वाग्वन्धप्रदानपूर्वमात्मसात्कृता ॥ इति जम्बूस्वामी ॥

अलंचकार प्रभवप्रभुस्तत्पट्टश्रियं पुण्ड्र इवेन्दुवक्त्राम् ।

स्तेनापि सार्थेश इवाङ्गिनो यः श्रेयःश्रियं प्रापयदत्र चित्रम् ॥ १९ ॥

प्रभवनामा प्रभुः स्वामी तस्य जम्बूस्वामिनः पट्टश्रियं पट्टलक्ष्मीमलंचकार भूषयति स्म । क इव । पुण्ड्र इव । यथा चित्रकं तिलकम् इन्दुवक्त्रां चन्द्रमुखीं वशामलंकरोति । यः प्रभवप्रभुः स्तेनापि तस्करीभूयापि सार्थेशः सार्थपतिरिवाङ्गिनो जनान् श्रेयःश्रियं कुशलकलितां कमलां मोक्षलक्ष्मीं च प्रापयत् लम्भयति स्म । तल्लक्ष्मीप्रदानमत्र (प्र) भवप्रभौ चित्रमाश्चर्यकारकमस्ति । 'श्रेयःपुरीम्' इति पाठे मुक्तिनगरीं नयति स्म ॥

किं वर्ण्यते वर्ण्यगुणस्य चौर्यचातुर्यमस्य प्रभवस्य भर्तुः ।

अहार्यमप्येष मनोऽभिधानमपाहरद्यन्निदिवेन्दिरायाः ॥ २० ॥

अस्य जम्बूपट्टधरस्य प्रभवस्य प्रभवनाम्नो भर्तुः स्वामिनो गणधरस्य चौर्यस्य वा चातुर्यं कौशल्यं तस्करताप्रागल्भ्यं किं कया रीत्या विस्मयकृत्तया कथं वा वर्ण्यते प्रशस्यते स्तूयते वा । अस्य किंभूतस्य । वर्णा जगन्नैल्लोकोत्तरतया श्लाघनीया गुणाः शमदमसंयमरूपा यस्य । यत्कारणादेष प्रभवप्रभुः त्रिदिवेन्दिरायाः स्वर्गलक्ष्म्याः अहार्यं देवताश्रयत्वान्न केनापि हर्तुं शक्यमपि मनोभिधानं निधिमपाहरजहार । मुक्तिगमनाभावान्न खल्लोकमेवालंकृतवानित्यर्थः ॥ इति प्रभवस्वामी ॥

शय्यंभवोऽभूषयदस्य पट्टं सिंहासनं पित्र्यमिवावनीन्द्रः ।

कलिन्दिका मौक्तिकमालिकेव यत्कण्ठपीठे विलुठत्यकुण्ठा ॥ २१ ॥

शय्यंभवनामा भट्टः अस्य प्रभवस्वामिनः पट्टम् अभूषयत् पदमलंकरोति स्म । क इव । अवनीन्द्र इव । यथा नवाभिषिक्तभूपतिः पितुरिदं पित्र्यं पितुः संबन्धि सिंहासनं केसरिणोपलक्षितमासनं सिंहासनं भूषयति । यस्य शय्यंभवगणधरस्य कण्ठपीठे मुख एव कलिन्दिकाः सर्वविधाः चतुर्दशापि पूर्वाणि वा लुठति तिष्ठति । समायातीत्यर्थः । किंभूता कलिन्दिका । अकुण्ठा स्फुरद्गुणा । केव । मौक्तिकमालिकेव । यथा मुक्ताहारलता कस्यापि भाग्यवतः पुंसो गलकन्दले लुठति । किंभूता । अकुण्ठा दीप्यमाना । आमलकप्रमाणमुक्ता ॥

यूपादधस्तः प्रतिमां जिनेन्दोर्वाचा स वाचंयमपुङ्गवस्य ।

दृक्संज्ञयेव स्वगुरोः किरीटी नाराचगङ्गां प्रकटीचकार ॥ २२ ॥

यः शय्यंभवभट्टः वाचंयमपुङ्गवस्य प्रभवप्रभोर्वाचा गिरा यूपात्स्वप्रारब्धयज्ञस्तम्भात्

अधस्तः अधोभूमिभागात् सकोपप्रश्नोत्तरकालं यज्ञवृत्तवृहद्विजोक्त्या जिनेन्दोः श्रीशा-
न्तिनाथस्य प्रतिमां मूर्तिं प्रकटीचकार कर्षति स्म । 'सिर्जंभवं गणहरं जिणपडिमादं-
सणेण पडिबुद्धम्' इति दशवैकालिके । अन्यत्तु वृत्त्यादौ । क इव । किरीटीव । यथा
अर्जुनः स्वस्य गुरोः पितामहस्य वृद्धस्य वा । 'मातापिता कुलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ॥' अथ वा गुरुगाङ्गेय इति लोकोक्त्यापि गाङ्गे-
यस्य परशासनेऽपि गुरुगाङ्गेय इति प्रसिद्धत्वाद्गुरुरिति पदोपादानम् । हक्संज्ञया दृष्टिचे-
ष्टया वा नाराचस्य बाणस्य मोचनसमय एव प्रादुर्भूतस्वच्छसुरभिस्त्रादुशीतलविशदपयः-
प्रवाहस्य लोके बाणगङ्गेति प्रसिद्धिर्जाता । तां बाणगङ्गां प्रकटीकरोति स्म । अयं व्यति-
करः पाण्डवचरित्रे ॥

वगाह्य शास्त्रं मनकाहसूनोः कृते कृतश्रीदशकालिकं यः ।

हरिः सुधामुद्धृतवान्सुपूर्ववर्गस्य निर्मथ्य यथाम्बुनाथम् ॥ २१ ॥

यः शय्यंभवगणधारी मनक इत्याह्वा नाम यस्य तादृशस्य सूनोः स्वनन्दनस्य कृते
कार्याय परलोकसाधनार्थं दशाध्ययनयुक्तं विकाले दिनावसानवेलायां कृतमतो दशवै-
कालिकं नाम सूत्रमकृत चके । किं कृत्वा । वगाह्य [अव]गाहयित्वा । किम् । शास्त्रं
सर्वसिद्धान्तसाङ्गोपाङ्गचतुर्दशपूर्वेलक्षणम् । क इव । हरिरिव । यथा नारायणः सुपूर्व-
वर्गस्य देववृन्दस्य कृते सुधापीयूषमुद्धृतवान् । किं कृत्वा । अम्बुनाथं समुद्रं निर्मथ्य
विलोच्य यथा इवार्थे । 'पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य' इति कुमारसंभवे । 'वष्टि भागुरिर-
ल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । 'यादःस्रोतोवान्दीशः' इति हैम्याम् । वार्धे-
र्जलपतित्वमुभयत्र पर्यायपरिवर्तनं च ॥ इति शय्यंभवस्वामी ॥

संपूरयन्कीर्तिनभोनदीभिर्दिशो यशोभद्रगणाधिराजः ।

व्यभूषयत्पट्टममुष्य भूभृदधित्यकां दस्युरिव द्विपानाम् ॥ २४ ॥

यशोभद्रनामा गणाधिराजो गच्छपतिरमुष्य शय्यंभवगणभृतः पट्टं व्यभूषयत् । किं
कुर्वन् । कीर्तयः स्वयंशांसि ता एव नभोनद्यो गङ्गाः । अर्थात् गङ्गाप्रवाहाः । त्रैलोक्यां
त्रिश्रो(स्रो)तोभिः प्रवहमानत्वेन त्रिपथगा अतो बहुवचनम् । ताभिः कृत्वा दिशो द-
शाप्याशाः संपूरयन् । निर्झरं भरन् व्याप्नुवन् व्यभूषयत् । क इव । दस्युरिव । यथा
द्विपानां हस्तिनां शत्रुः केसरी भूभृतः शैलस्य अधित्यकामूर्ध्वभूमीं विभूषयति ॥

एतद्यशःक्षीरधिनीरपूरैः संपूरितायां परितस्त्रिलोक्याम् ।

अबुध्यमानोऽम्बुनिधिं स्वशय्यां पद्मे शयोऽभूदिव पद्मनाभः ॥ २५ ॥

पद्मं नाभौ यस्य स पद्मनाभः कृष्णः । उत्प्रेक्ष्यते—पद्मे कमले शेते खपितीति

१. 'शय्यंभवं गणधरं जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्धम्' इति संस्कृतम्. २. 'समुद्रम्'
इति मूलपाठः. ३. प्रक्षिप्तम्; ल्यबादेशापत्तेः.

पद्मेशयः । अलङ्कृतसमासोऽयम् । अभूत् बभूवेव । किं कुर्वाणः पद्मनाभः । अबुध्यमानो न जानन् । अपश्यन्नित्यर्थः । कं कर्मतापन्नम् । अम्बुनिधिमर्थात् क्षीरसमुद्रम् । किंभू-
तम् । स्वस्यात्मनः शय्यां पर्यङ्कं तत्र शायित्वात् अब्धिश्चयनत्वेन विष्णोः । कस्यां स-
त्याम् । एतस्य यशोभद्रसूरैः यशः प्रसरत्कीर्तिनिकरः स एव क्षीरधिर्दुग्धवारिधिस्तस्य
नीरपूराणि पयःप्रवाहास्तैः परितः सर्वत्रापि संपूरितायां निर्झरभृतायां धवलीकृतायां
त्रिलोक्यां सत्याम् ॥ इति यशोभद्रसूरिः ॥

संभूतिपूर्वो विजयो गुरुस्तत्पट्टं श्रिया पल्लवयांचकार ।

कदम्बजम्बूकुटजावनीजकुञ्जं नभोम्भोद इवाम्बुवृष्ट्या ॥ २६ ॥

संभूतिरिति शब्दः पूर्वं यस्य तादृशो विजय एतावता संभूतिविजयनामा गुरुः
सूरिस्तस्य यशोभद्रसूरैः पट्टं श्रिया स्वशोभया पल्लवयांचकार अलंकारयति स्म । क
इव । नभोम्भोद इव । यथा श्रावणमेघः अम्बुवृष्ट्या जलवर्षेण कृत्वा कदम्बा धारा-
कदम्बा नीपाः, जम्बूः श्यामफलाः, कुटजा गिरिमल्लिकाः 'कुडउ' इति प्रसिद्धाः, त
एवावनीजा वृक्षाः तेषां कुञ्जं काननं पल्लवयति किशलयकलितं कुरुते । पूर्वांक्षास्त्रयो-
ऽपि तरवः प्रावृष्येव पुष्यन्ति ॥

संहर्षरोषात्स्वजिघांसुमेतत्प्रतापमार्तण्डमवेक्ष्य साक्षात् ।

युयुत्सया हैहयवत्सहस्रं सहस्रभासेव करा ध्रियन्ते ॥ २७ ॥

सहस्रभासा सूर्येण सहस्रं दशशती करा हस्ताः किरणाश्च ध्रियन्ते धार्यन्ते । उत्प्रे-
क्ष्यते—युयुत्सया योद्धुमिच्छयेव । किंवत् हैहयवत् । यथा कार्तवीर्यनृपो युयुत्सया स-
हस्रसंख्यान् करान् पाणीन् धत्ते । 'संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुर्बभूव योगी किल कार्तवीर्यः'
इति रघुवंशे । तथा 'बाहुसहस्राहुनः पिशुनः' इति सूक्ते च । हैहयस्तु कार्तवीर्यः क्षीर-
हस्रभृदहुनः' इति हैम्याम् । किं कृत्वा । एतस्य संभूतिविजयस्य प्रताप एव चण्डवा-
न्मार्तण्डो भानुस्तं साक्षात्प्रत्यक्षमवेक्ष्य विलोक्य । किंभूतम् । संहर्षेण स्पर्धया
कृत्वा यो रोषः क्रोधस्तस्मात्स्वमात्मानं जिघांसुं हन्तुं काङ्क्षन्तम् ॥ इति संभूतिविजयः ॥

स तत्सतीर्थ्योऽजनि भद्रबाहुः सूरिः समग्रागमपारदृष्ट्वा ।

दशाश्रुतस्कन्धत उद्धार वज्राकराद्वज्रमिवात्र कल्पम् ॥ २८ ॥

स प्रसिद्धो बाहुभद्रनामा सूरिस्तस्य संभूतिविजयस्य सतीर्थ्य एकगुरुभ्राता । 'सती-
र्थ्यास्त्वेकगुरवः' इति हैम्याम् । किंभूतः । समग्राणां सर्वेषामङ्गोपाङ्गपूर्वादीनामाग-
मानां पारं दृष्टवान् इति पारदृष्ट्वा पारगामी चतुर्दशपूर्वधरत्वात् । स कः । यो भगवान्
अत्र पञ्चमारके कलियुगे वा दशाश्रुतस्कन्धतः प्रत्याख्यानाभिधनवमपूर्वदशाश्रुतस्क-
न्धाध्ययनतः कल्पं कल्पनाम सूत्रमुद्धार उद्धृतवान् । कसिव । वज्रमिव । यथा क-
श्चिद्भाग्यवान् वज्राणां हीरकाणामाकरात् खनेवैजं रत्नमुख्यमुद्धरति ॥

उपप्लवो मन्त्रमयोपसर्गहरस्तवेनावधि येन संधात् ।

जनुष्मतो जाङ्गुलिकेन जाग्रद्वरस्य वेगः किल जाङ्गुलीभिः ॥ २९ ॥

येन भगवता मन्त्रमयेन विषधरस्फुलिङ्गनाममन्त्रतद्विधमन्त्रयन्त्रधानेन उपसर्गहर इति नाम्ना श्रीपार्श्वनाथस्य स्तवेन स्तोत्रेण कृत्वा संधात् साधुसाध्वीश्राद्धश्राद्धीलक्षणात् उपप्लवः मिथ्यान्विव्यन्तरीभूतभ्रातृवराहमिहिरनिर्मितमान्द्यमरकाभिधोपद्रवोऽवधिहतो निवारितः । अत्र किलेति इवाथे । 'उत्प्रेक्षाद्योतकाः शङ्के मन्ये नूनमिव ध्रुवम् । जाने किलादयो ज्ञेया प्रायेणैव क्रियोद्भवाः ॥' इति काव्यकल्पलतायाम् । केनेव । जाङ्गुलिकेन किल । यथा विषभिषजा जाङ्गुलीभिः समग्रभुजगविषापहारणीभिः विद्याभिः जनुष्मतो विषवेगघूर्णितजनात् जाग्रत्प्रत्यङ्गोपाङ्गं प्रसरतो गरस्य विषधरविषस्य वेगः प्रसरो हन्यते निराक्रियते । हन्तेर्वधिरादेशः भूते सिविषये ॥

यत्कीर्तिगङ्गां प्रसृतां त्रिलोक्यामालोक्य किं षण्मुखातां दधानः ।

जगद्भ्रमीभिर्जननीं दिदृक्षुर्गङ्गासुतोऽध्यास्त मयूरपृष्ठम् ॥ ३० ॥

गङ्गासुतः स्वामिकार्तिकः । 'गङ्गोमाकृतिकासुतः' इति हैम्याम् । मयूरस्य केकिनः पृष्ठं तनोश्चरमं भागं प्रदेशम् अध्यास्त आरुरोह । किं कुर्वाणः । षट्संख्याकानि मुखानि यस्य तस्य भावस्तां दधानो विभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—जगत्सु त्रिभुवनेषु भ्रमीभिर्भ्रमणः पर्यटनैः कृत्वा जननीं मातरं मन्दाकिनीं दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुः किमु । भ्रमीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । 'अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गीम्' इति नैषधे । किं कृत्वा । व्यालोक्य दृष्ट्वा । काम् । यत्कीर्तिगङ्गाम् । यस्य भद्रबाहुस्वामिनः कीर्तिरेव मन्दाकिनीम् । किंभूताम् । त्रिलोक्यां स्वर्लोकपाताललोकभूलोकत्रिके निरन्तरतया प्रसृता अतिधवलीकृतत्रिभुवनामित्यर्थः ॥ इति श्रीभद्रबाहुस्वामी ॥

श्रीस्थूलभद्रेण निजान्ववायश्रो(स्रो)तस्विनीनायककौस्तुभेन ।

विश्वत्रयी तद्यशसेव शोभामलम्भि तत्पट्टपयोधिपुत्री ॥ ३१ ॥

श्रिया शोभया युक्तेन स्थूलभद्रेण तयोः संभूतिविजयभद्रबाहुस्वामिनोः पट्टस्य पयोधिपुत्री लक्ष्मीः शोभामलम्भि प्रापिता । केनेव । तद्यशसेव । यथा तस्य श्रीस्थूलभद्रस्य यशसा श्लोकेन विश्वत्रयी त्रिलोकी शोभां लम्बिता । किंभूतेन स्थूलभद्रेण । निजः स्वकीयो यो नागरनामा ब्राह्मणवंशः स एव स्रोतस्विनीनायकः नदीपतिः ससुद्रः तत्र कौस्तुभेन नारायणबाहुमध्यस्थास्तुर्मणिविशेषस्तत्सदृशस्तेन ॥

प्रवालमुक्तामणिमञ्जिमश्रीचित्राप्सरःस्वर्द्विरदाश्चदृश्यम् ।

कोशागृहं प्रावृषि यः सिषेवे हरिर्घनच्छायमिवाम्बुराशिम् ॥ ३२ ॥

यः श्रीस्थूलभद्रः प्रावृषि वर्षाकाले कोशानाम्न्या वेद्याया गृहं मन्दिरं सिषेवे भेजे । प्रथमं चतुर्मासमकार्षादित्यर्थः । केचित्तु कदाचिदपि चकारेत्यूचुः । क इव । हरिरिव ।

यथा कृष्णो जलदसमये समुद्रं सेवते । किंभूतं कोशागृहमम्बुराशिम् । प्रवाला विद्रुमा मुक्ता मौक्तिकानि मणयो रत्नानि तेषां मञ्जिम्नश्चावृतायाः शोभा यत्र । चित्रैश्चित्रितै-
रालेख्यीकृतैरप्सरोभिः सुराङ्गनाभिरथ वा रम्भातिलोत्तमाधृताचीमेनकाउर्वशीप्रमु-
खाभिः स्ववैद्याभिः तथा स्वः स्वर्गस्य द्विरदैरैरावणैरश्वैरुच्चैःश्रवोभिः ऐरावणस्य उच्चैः-
श्रवसश्च शतशो रूपनिर्माणादथ वा । द्विरदेन हस्तिमल्लेन अश्वेन उच्चैःश्रवसा सर्वेषामपि
समुदाये बहुवचनं तैर्दृश्यं दर्शनार्हम् । पक्षे—हेमकन्दलमुक्ताफलमाणिक्यानां मञ्जिमा
चावृता यत्र तथा श्रीलक्ष्मीस्तथा चित्रा विविधा आश्चर्यकारका वा अप्सरसः श्वेतगजोच्चैः-
श्रवसौ तैर्विलोकयितुं योग्यं तेषां तत्रोत्पन्नत्वेन पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किंभूतः । घ-
ना निविडा छाया वह्नी शोभा यत्र । तथा घना सान्द्रा घनानां मेघानां जलग्रहणागतानां
छाया प्रतिच्छादिका सूर्यातपमुक्तप्रदेशः । 'छांहडी' इति लोके प्रसिद्धा यत्र । 'विभाषा
सेनासुराख्याशाखालानिशानाम्' । एतदन्तस्तत्पुरुषो वा क्लीबं स्यात् । 'द्विजसेनं यवसुरं
कुञ्जच्छायां गोबालं श्वनिशं पक्षे द्विजसेना' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

पण्याङ्गनायाः किलकिञ्चितानि न लेभिरे यस्य हृदि प्रवेशम् ।

धनुर्भूतः सानुमतः शिलायां पृष्त्कपङ्केः ग्रहतानि यद्वत् ॥ ३३ ॥

पण्याङ्गनायाः कोशावेश्यायाः किलकिञ्चितानि प्रमोदगदिततालीवादनगीतादिव्यामि-
श्रक्रीडालीककपोलात्मपाणिनिवेशनाश्रुपातघातहर्षभियादिसंकराः । यस्य श्रीस्थूलभद्रस्य
हृदि मानसे प्रवेशं स्थानं न लेभिरे न प्राप्नुवन्ति । यद्वद्यथा धनुर्भूतो धनुर्धरस्य पृष्-
त्कानां बाणानां पङ्केः श्रेण्याः ग्रहतानि ग्रहाराः सानुमतः पर्वतस्य शिलायामुपलक्षणात्
गण्डोपले प्रवेशं न लभन्ते ॥

प्राङ्निर्जितश्रीरथनेमिमुख्यवीरावलीनामिव वैरशुद्धेः ।

विधित्सयाध्यास्य तदाश्रयं यो ध्यानासिनानङ्गनृपं जघान ॥ ३४ ॥

यः स्थूलभद्रो ध्यानं प्रणिधानं तदेव अस्तिः खङ्गस्तेन कृत्वा अनङ्गनामानं नृपं रा-
जानं जघान हतवान् । किं कृत्वा । अध्यास्य आश्रित्य । प्रविश्येत्यर्थः । कम् । तस्य
अनङ्गस्यैव कोशावेश्यामन्दिररूपमाश्रयं स्थानं गृहं वा । 'पस्त्यं संस्त्याय आश्रयः ।
ओको निवास आवासो वसतिः शरणं क्षयः ॥' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—वैरशुद्धेर्वि-
रोधशोधनस्य विधित्सयेव कर्तुमिच्छयेव । कासाम् । प्राक् पूर्वकाले निर्जिताः पराभूता ये ।
श्रीमान् महावीरत्वलक्ष्मीकलितः श्रीनेमिनाथसहोदररथनेमिः । स एव प्रमुखो मुख्यः
आदिमो येषु । नन्दिषेणार्द्रकुमाराषाढभूतिमुखाः । परेऽपि वीराः पश्चात् पराक्रमकार-
कत्वात् सुभटास्तेषामावलयः श्रेण्यस्तासाम् ॥

चक्रीव रत्नानि चतुर्दशापि पूर्वाणि धत्ते स्म पतिर्यतीनाम् ।

यश्च कचिद्देवकुले स्वजामी चित्रीयितुं सत्य इवास सिंहः ॥ ३५ ॥

यः स्थूलभद्रः चतुर्दशापि पूर्वाणि कचित्सूत्रतः कचित्सूत्रार्थतः । इति प्रघोषः ।

धत्ते स्म धारयति स्म । किंभूतः । यः यतीनां साधूनां पतिः स्वामी गणधरः । क इव । चक्रीव । यथा चक्रवर्ती चतुर्दशरत्नानि धत्ते । च पुनर्यः क्वचित्कुत्रचिद्देवकुले यक्षा-
द्यायतने । क्वचित्सिंहगुहायामपीति श्रूयते । यक्षाः, यक्षदिन्नाः, भूताः, भूतदिन्नाः, सेना,
वेना, रेणा । क्वचिदेणापि नामद्वन्द्वम् । एतन्नाम्नीः स्वजामीः सत्पापिनिजभगिनीः ।
क्वचिदेकमेकैवभूतां स्वसारं चित्रीयितुमाश्चर्ययुक्ताः कर्तुमाश्चर्यमुत्पादयितुं सिंहः
केसरिरूपधारक आस बभूव । क इव । सत्य इव । यथा सत्यः अवितथः पञ्चाननो
भवति ॥

येनोपदेशच्छलतः स्वपाणिसंज्ञाज्ञया स्तम्भतलाददर्शि ।

निधिः स्वनिक्षिप्त इव प्रवासिसुहृद्गृहिण्याः सदने समेत्य ॥ ३६ ॥

येन श्रीस्थूलभद्रेण सदने अर्थान्मित्रमन्दिरे समेल्यागत्य प्रवासिनः परदेशाध्वनीनस्य ।
व्यापारार्थं याचनाकृते वा परमण्डले यातस्य । ब्राह्मणत्वाद्याचनाया न दोषः । एतादृ-
शस्य सुहृदः स्वमित्रस्य गृहिण्याः पत्न्या निधिनिधानमदर्शि दर्शितः । कस्मात् । स्त-
म्भतलात् । स्तम्भादधःप्रदेशात् । कया । संसारासारताप्रकटनसुहृत्करणानुभावस्व-
र्गपवर्गादिप्रापकक्षणस्य उपदेशस्य धर्मदेशनादानन्त्यस्य च्छलतो मिषतः स्वस्यात्मनः
पाणेर्हस्तस्य संज्ञा दर्शनादिचेष्टा सैवाज्ञा आदेशस्तया । क इव । स्वनिक्षिप्त इव । यथा
आत्मनो हस्तेन भूमौ गुप्तीकृत्य रक्षितः निधिः खेष्टस्य दर्श्यते ॥ इति स्थूलभद्रस्वामी ॥

पट्टेऽथ तस्यार्यमहागिरिश्चापरः क्रमादार्यसुहृस्तिसूरिः ।

बभूवतुर्धर्मधुरं दधानौ रथे यथा सारथिकस्य रथ्यौ ॥ ३७ ॥

अथ श्रीस्थूलभद्रे स्वर्गमलंकुर्वाणेऽनन्तरं तस्य स्थूलभद्रस्य पट्टे क्रमात् द्वौ पट्टधरौ
बभूवतुः संजातौ । द्वौ कौ । एक आर्यमहागिरिः च पुनरपर आर्यसुहृस्तिसूरिः । द्वावपि
किं कुर्वाणः । धर्मस्य श्रीमन्महावीरप्रणीतस्य मोक्षमार्गसाधकस्य सुकृतस्य धुरं दधानौ
धर्मकर्मणि कर्मठौ । यथा अत्र इवार्थे । कस्मिन् काविव । रथे रथ्याविव । यथा सार-
थिकस्य रथे स्यदने रथ्यौ रथस्य वोढारौ द्वौ वृषभौ भवतः ॥

मरुद्वृहादार्यसुहृस्तिमूर्तिर्भूमौ मरुद्वृक्ष इवोत्तार ।

कृपाणवेन द्रमकोऽपि येन त्रिखण्डभूमीप्रभुतामलम्भि ॥ ३८ ॥

आर्यसुहृस्तिनामा सूरिस्तस्य मूर्तिः शरीरं यस्य तादृशः । उत्प्रेक्ष्यते । मरुद्वृहात्
खर्गलोकात् मरुद्वृक्षः कल्पद्रुमः भूमौ पृथिव्यामुत्तार अवतीर्णवान् आगतवानिव ।
कृपाणवेन दयासमुद्रेण येनार्यसुहृस्तिमूर्तिरिति द्रमको भिक्षुकोऽपि त्रिखण्डभूमेः षो-
डशसहस्रदेशक्षणेः प्रभुतामाधिपत्यमलम्भि प्रापितः ॥

भूसुभ्रुवो भर्तृतया प्रगल्भभूषाविशेषानिव शातकौम्भान् ।

सपादलक्षानिह संप्रतिर्यो निर्मापयामास महाविहारान् ॥ ३९ ॥

यो द्रमकजीवः संप्रतिवृपतीभूय इह स्वभुजवलसाधितत्रिखण्डभूमीमण्डले महावि-
हारान् उत्तङ्गशृङ्गाङ्गोल्लिखितगगनतलान् प्रासादान्निर्मपयामास शिल्पिभिः कारयति
स्म । किंभूतान् । सह पादेन एकेनांशेन पञ्चविंशतिसहस्रमितभागेन वर्तते यत्तादृशं
लक्षं शतसहस्राणि येषु तान् । सपादलक्षप्रमितानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते । भर्तृतया स्वामि-
त्वेन भूरेव सुभ्रूः भूमीभामिनी तस्याः शातकुम्भानां स्वर्णानामिमे शातकौम्भास्तान् ।
हिरण्मयानित्यर्थः । प्रगल्भान् मनोज्ञान् भूषार्थं शोभाकृते विशेषान् तिलकानिव । अथ
वा अतिशयिनोऽलंकारानिव ॥

यः संप्रतिक्षोणिपतिः सपादकोटीर्नु पेट्टीः स्वयशोनिधीनाम् ।

स्याद्वादिनां सन्नसु शिल्पिसंवैरचीकरत्पारगतीयमूर्तीः ॥ ४० ॥

यः संप्रतिर्नाम क्षोणिपतिः राजा शिल्पिना सूत्रधाराणां संघः समूहः । 'संघसाधौ
तु देहिनां वृन्दे' इति हैम्याम् । स्याद्वादिनामर्हतां सन्नसु गृहेषु स्वकारितप्रासादेषु
अन्यत्रापि च पारगतानामिमाः पारगतीया मूर्तीः प्रतिमा जिनेन्द्रविम्बानि अचीक-
रत् निर्मापयामासिवान् । किंभूताः । सह पादेनैकेन पञ्चविंशतिलक्षरूपेण अंशेन
युक्ताः कोटीः शतलक्षी इति संख्या यासु ताः इति व्युत्पत्त्या बहुत्वम् । अन्यथा तु
एकत्वमेव स्यात् । तु इति वितर्कः । स्वस्यात्मनो यशांस्येव निधयः निधनानि सार-
द्रव्याणि तेषां पेट्टीर्मञ्जूषा इव ॥

नक्तं नलिन्यादिगुल्मनामविमानमार्गः प्रभुणा च येन ।

स्नेहप्रियेणेव महेभ्यसूनोरदर्श्यवन्तीसुकुमालनाम्नः ॥ ४१ ॥

च पुनर्येनार्यसुहस्तिनाम्ना प्रभुणा सूरिणा अवन्तीसुकुमाल इति नाम यस्य तादृशस्य
महेभ्यसूनोर्व्यवहारिपुत्रस्य नक्तं निशायाः प्रथमे यामे नलिनीतिपदमादौ यस्य तादृशस्य
गुल्मनाम्नः एतावता नलिनीगुल्माभिधानस्य विमानस्य मार्गः तपस्याग्रहणपूर्वकं कन्थेरिका-
श्मशानकायोत्सर्गघोरपरीषहसहनलक्षणः पन्थाः दर्शितः प्रकाशितः । केनेव । स्नेहप्रि-
येणेव । यथा प्रदीपेन नक्तं मार्गः प्रदर्श्यते प्रकाश्यते ॥

स्थाने स्ववसुस्त्रिदिवं गतस्य व्यधादवन्तीसुकुमालसुनुः ।

नाम्ना महाकाल इतीह पुण्यपानीयशालामिव सार्वशालाम् ॥ ४२ ॥

इहावन्तीपुरीपरिसरवर्तिकन्थेरिकावनश्मशाने अवन्तीसुकुमालस्य सूनुर्नन्दनः
त्रिदिवं स्वर्गं गतस्य प्राप्तस्य स्ववसुः निजतातस्य स्थाने नवप्रसूतबुभुक्षितसर्वापत्य-
युक्तविकरालशृङ्गाली सर्वाङ्गभक्षणसमयानशनपूर्वकपरलोकगमनभूमिप्रदेशे महाकाल
इति नाम सार्वशालां श्रीमदवन्तीपार्श्वनाथप्रसादं व्यधाच्चकार । अर्थात्सूत्रधारैरकारय-
दित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते । पुण्यमेव पानीयं तस्य शालां प्रपामिव । लोकेऽपि पुण्यार्थं पानी-
यशाला प्रपा कार्यते ॥ इति आर्यमहागिरि-आर्यसुहस्तिपुरीन्द्रौ एकपट्टधरौ ॥

श्रीमत्सुहस्तिव्रतिवासवस्य श्रीसुस्थितः सुप्रतिवद्धसूरिः ।

पदं विनेयौ नयतः स्वलक्ष्मीं क्रमं सुरारेरिव पुष्पदन्तौ ॥ ४३ ॥

श्रीमत्सुहस्तिनाम्नो व्रतिवासवस्य सुनीन्द्रस्य विनेयौ उभौ शिष्यौ पदं पठं श्रियं शोभां
नयतः स्म प्रापयतः स्म । द्वौ कौ । एकः श्रीयुक्तः शोभाकलितः सुस्थितनामा सूरिः,
अपरः सुप्रतिवद्धनामा आचार्यः । काविद्व । पुष्पदन्तौ । 'पुष्पदन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ'
इति हैम्याम् । यथा सूर्याचन्द्रमसौ सुरारेः क्रममाकाशं लक्ष्मीं लम्बयतः ॥

प्रीतिं सृजन्ती पुरुषोत्तमानां दुग्धाम्बुराशेरिव पद्मवासा ।

हृदा जिनं विभ्रत आविरासीत्तसूरियुग्मादिह कौटिकाख्या ॥ ४४ ॥

इह दक्षिणभरतार्थभूमौ तत्सूरियुग्मात् सुस्थितसुप्रतिवद्धनामाचार्यद्वन्द्वात् गणस्य
गच्छस्य कौटिका इति आख्या नामाविरासीत् प्रकटीवभूव । पूर्वं तु सुधर्मस्वामिनमा-
रभ्य सुहस्तिसूरिं यावत्साधूनां निर्ग्रन्था इत्यभिधानमासीत् । सुस्थितसुप्रतिवद्धसूरियु-
गलात् द्वितीयं कौटिकगण इति नाम बभूव । कौटिशः सूरिमन्त्रजापात् कीदृशसूरि-
मन्त्रधारित्वाद्वा कौटिकः । केव । पद्मवासेव । यथा दुग्धाम्बुराशेः क्षीरसमुद्रालक्ष्मी-
राविर्बभूव । सूरियुग्मात् दुग्धाम्बुराशेश्च किं कुर्वतः । हृदा हृदयेन मनसो मध्ये-
ऽन्तरेण जिनमर्हन्तं दिष्णुं च विभ्रतो धारयतः । कौटिकाख्या पद्मवासा च किं
कुर्वती । पुरुषेष्टमानां श्रेष्ठानां धार्मिकाणां विष्णोश्च प्रीतिमानन्दं तुष्टिं स्नेहं सृजन्ती
कुर्वती ॥ इति सुस्थितसुप्रतिवद्धौ सूरौ एकपट्टधरावेव ॥

श्रीइन्द्रदिक्षव्रतिसार्वभौमस्तत्पट्टलक्ष्मीतिलकं बभूव ।

निशुम्भ्यते दाम्भिकता स्म येन कलिन्दकन्येव हलायुधेन ॥ ४५ ॥

श्रिया त्रिशत्सूरिगुणलक्ष्म्याकलितसुप्रसिद्धिमान् इन्द्रदिक्षनामा व्रतिनां वाचंयमा-
नां मध्ये सार्वभौमश्चक्रवर्ती तयोः सुस्थितसुप्रतिवद्धाचार्ययोः पट्टलक्ष्म्यास्तिलकं विशेष-
षको बभूव संजातः । स कः । येन भगवता दाम्भिकता दम्भवारिता कापट्यं निशु-
म्भ्यते स्म निर्दलितम् । केनेव । हलायुधेनैव । यथा बलभद्रेण कलिन्दकन्या यमुना
निशुम्भिता । पराभूतेत्यर्थः । 'रुक्मिणलम्बयमुनाभिदनन्तभाल-' इति हैम्यां
रामनामसु ॥

पक्षद्वयं भिन्नतमोभरेण पित्रोः पवित्रीक्रियते स्म येन ।

कुबेरदिग्दक्षिणयोः पदव्योर्द्वन्द्वं प्रियेणेव पयोजिनीनाम् ॥ ४६ ॥

येन इन्द्रदिक्षसूरिणा पित्रोर्जननीजनकयोः पक्षद्वयं वंशद्वन्द्वम् । मातृवंशः पितृवंश-
श्चेत्यर्थः । पवित्रीक्रियते स्म पावनीचक्रे । केनेव । प्रियेणेव । यथा पयोजिनीनां कम-
लिनीनां भर्त्रा भानुना कुबेरदिग्दक्षिणयोः उत्तरायाम्योः पदव्योर्मार्गयोर्द्वन्द्वं युगलं

पवित्र्यते । येन भानुना च किंभूतेन । भिन्नो निर्दलितस्तमसामज्ञानानां पाप्मनां वा
ध्वान्तानां च भरः समूहो येन ॥ इति श्रीइन्द्रदिन्नसूरिः ॥

श्रीदिन्नसूरिर्गुणभूरिरस्मात्सप्तर्षिभूरङ्गिरसो यथासीत् ।

येनानुरागोऽवधि कालनेमिः कल्लोलिनीवल्लभशायिनेव ॥ ४७ ॥

अस्मात् श्रीइन्द्रदिन्नसूरैः श्रीदिन्नसूरिरासीत् । किंभूतः । गुणा भूरयो बहुला
यस्मिन् । कस्मात्क इव । अङ्गिरसः सप्तर्षिभूरिव । यथा । अङ्गिरा नाम तापसविशेष-
स्तस्मात् बृहस्पतिर्जातः । 'बृहस्पतिः सुराचार्यो जीवश्चित्रशिखण्डिजः । सप्तर्षयश्चि-
त्रशिखण्डिनः' इति हैम्याम् । तथा । 'गीर्वृहत्योः पतिरुतथ्यानुजाङ्गिरसौ गुरुः'
इत्यपि हैम्याम् । येन दिन्नसूरिणा अनुरागो हतः । केनेव । कल्लोलिनीवल्लभशायिनेव ।
यथा नारायणेन कालनेमिर्नामा दैव्यो निहन्यते स्म ॥

पञ्चाशुगान्यः समितीर्विधाय वभञ्ज पञ्चाशुगपञ्चबाणाम् ।

शरेण केनापि न चेत्कदाचित्कस्मान्न तं स प्रभवेद्वपुष्मान् ॥ ४८ ॥

यो दिन्नसूरिः पञ्च ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपपा-पारिष्ठापनिकाख्याः पञ्च-
संख्याकाः समितीराचारविशेषान् पञ्च प्रमाणान् आशुगान् बाणान् विधाय पञ्चाशु-
गस्य कामस्य पञ्चानां बाणानां समाहारः पञ्चबाणी तां पञ्चापि सायकान् वभञ्ज
भनक्ति स्म । 'चिच्छेद' इत्यपि पाठः । तत्र छिनत्ति स्मेत्यर्थः । एवं चेत्तर्हि स धनुष्मान्
स्मरधनुर्धरः कदाचित् कस्मिन्नपि प्रस्तावे केनापि संमोहन-उन्माद-तापन-शोषण-मार-
णाख्यानां पञ्चानां विशिखानां मध्ये केनचित् शरेण कृत्वा तं दिन्नसूरिं कस्मात्कारणात्
न प्रभवेत् प्रहरेत् । 'आद्यौ संमोहनोन्मादौ परौ तापनशोषणौ । तथा मारण इत्याहुः
पञ्च बाणा मनोभुवः ॥' इति स्मरबाणनामानि सूक्ते ॥ इति दिन्नसूरिः ॥

सूरीश्वरः सीहगिरिः क्रमेण व्यभासयत्तत्प्रभुपटलक्ष्मीम् ।

जिनस्य पादं शिरसा स्पृशन्तीं निकाय्यराजीमिव केतुवारः ॥ ४९ ॥

क्रमेण पटपरिपाख्या सीहगिरिर्नामा सूरीश्वरः स चासौ प्रभुश्च तत्प्रभुस्तस्य दिन्नसूरैः
पटलक्ष्मीं व्यभासयत् कान्तिमतीं चकार । भूषयति स्मेत्यर्थः । क इव । केतुवार इव ।
यथा ध्वजव्रजो निकाय्यराजीं सौधधोरणीं विभासयति । पटलक्ष्मीं निकाय्यराजीं च
किंभूताम् । शिरसा मस्तकेन आदिना च । 'माथासिरजं' इति लोकप्रसिद्धित्वात् ।
शृङ्गेण च जिनस्यार्हतः पादं पटपरम्पराया आदिभूतत्वाजिनस्य विष्णुपदमाकाशं च ।
स्पृशन्तीमाश्रयन्तीम् ॥

विन्ध्यं निपीतावधिरिव व्रतीन्द्रो य एधमानं निषिषेध कोपम् ।

यद्वाक्तरङ्गैश्च जिताभ्रसिन्धुखपातिरेकादिव निम्नगासीत् ॥ ५० ॥

यः सीहगिरिर्नाम व्रतीन्द्रो मुनिपुरंदर एधमानं जगज्जनाश्रयत्वेन वर्धमानं कोपं क्रोधं निषिषेधं न्यवारयत् । क इव । निपीताब्धिरिव । यथा अगस्तितापसः कथंचित् सूर्यमार्गं रुन्धनाय वर्धितुं प्रवृत्तविन्ध्याचलं निषेधते स्म । च पुनर्यस्य सीहगिरि-सूरेर्वाक्तरङ्गैर्वचनचातुर्यरसकल्लोलैः कृत्वा जिताभिभूता सती अभ्रसिन्धुर्गगनगङ्गा । उत्प्रेक्ष्यते । त्रपातिरेकात् लज्जातिशयात् निम्नं नीचैर्गच्छतीति निम्नगेवासीदधोवदना जाता ॥ इति सीहगिरिसूरिः ॥

तमोभरोर्वीधरभेदवज्रिवज्रोऽथ वज्रप्रभुरेतदीयम् ।

पट्टं परां प्रापयति स्म भूषां माणिक्यकोटीर इवोत्तमाङ्गम् ॥ ५१ ॥

अथानन्तरं वज्रप्रभुर्वज्रस्वामी एतदीयं सीहगिरिसंवन्धिनं पट्टं परां प्रकृष्टां भूषां लक्ष्मीं प्रापयति स्म । किंभूतो वज्रप्रभुः । तमसामज्ञानानां पापानां च भरः समुदायः स एवोर्वीधरः पर्वतस्तस्य भेदे व्यापादने दलने वज्रिणः शकस्य वज्र इव कुलिशः । हीरमणिशङ्खामपाकर्तुं वज्रीति पदोपादानम् । तथा च नैषधे—‘स्फुलिङ्गाः स्फुटं भालो-ज्जतभवाक्षिभानुहुतभुग्जम्भारिदम्भोलयः’ इति । क इव अलंकृतवान् । कोटीर इव । यथा माणिक्यानां मणिविशेषाणां कोटीरो मुकुटः उत्तमाङ्गं भूपालमौलिं नृपमस्तकं श्रियं नयति ॥

आशौशवादेव जहौ निजाम्बां वेलामिव क्षीरनिधेः सुधांशुः ।

अध्येष्ट यः पालनके शयानोऽप्येकादशाङ्गी स्मृतपूर्वजन्मा ॥ ५२ ॥

यो वज्रस्वामी आशौशवादेव । किञ्चिन्न्यूनषण्मास्यवस्थामारभ्य रोदनदम्भेनेत्यर्था-न्तरं निजामालीयामम्बां सुनन्दानाम्नीं मातरं जहौ त्यजति स्म । क इव । सुधांशुरिव । यथा चन्द्रो बाल्यादेव सहसुरसुरासुरकरैर्मन्दरेण मथ्यमानक्षीरनीरनायकान्तरोत्पत्तिसमये एव क्षीरनिधेर्दुग्धवारिधेर्विलां जहाति स्म । च पुनर्यः पालनके बालकानामन्दोलन-स्थानकविशेषे शयानोऽपि स्वपन्नपि एकादशानामाचाराङ्ग-सूत्रकृदङ्ग-स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-भगवत्यङ्ग-ज्ञातार्थकथाङ्ग-उपासकदशाङ्ग-अन्तकृद्दशाङ्ग-अनुत्तरोपपातिका-दशाङ्ग-प्रश्रव्याकरणाङ्ग-विपाकश्रुताङ्ग-रूपाणामङ्गाणां समाहार एकादशाङ्गी ताम-ध्येष्ट अधीतवान् कण्ठपीठीकरोति स्म । स्वसंनिधिस्थितबहुश्रुतार्थिकागण्यमानैकाद-शाङ्गसूत्रश्रवणादेव पूर्वाधीतामेकादशाङ्गीं स्मृतवानित्यर्थः । अत एव किंभूतम् । स्मृतं खहद्गोचरीकृतं पूर्वं प्राक्तनं जन्मावतारो येन । जातिस्मरणेनाविज्ञातप्राचीनजन्मा ॥

यः पुष्पदः पल्लवलीलयेव वैराग्यलक्ष्म्यालमकारि बाल्ये ।

प्राग्जन्ममित्रात्रिदशान्नभोगविद्यां पुनर्वैक्रियलब्धिमापत् ॥ ५३ ॥

यो वज्रस्वामी बाल्ये शैशवे वैराग्यलक्ष्म्या संयमग्रहणबुद्ध्या संसारासारताभाव-विद्या वा अलमकारि अलंकृतः भूष्यते स्म । क इव । पुष्पद इव । यथा पादपः प-

ल्लवानां किशलयानां लीलया विलासेनालंक्रियते । पुनर्यो वज्रस्वामी प्राग्जन्मनः पूर्वदे-
वभवसंबन्धिनो मित्रात् सहस्रावमासादितात् त्रिदशात् तिर्यक्जृम्भकनिर्जरात् नभो-
गविद्यामाकाशगामिनीं विद्यां मन्त्रविशेषं पुनरन्यां वैक्रियलब्धिं नवीनरूपादिविक्रवाणां
शक्तिं च आपह्लेभे ॥

दुर्भिक्षवर्षेषु सुभिक्षभूमीं संघं कृपानीरनिधेर्निनीषोः ।

वज्रप्रभोर्यस्य पटः पटीयान्विमानवद्योमनि दीप्यते स्म ॥ ५४ ॥

यस्य वज्रप्रभोः पटो वज्रं वपुराच्छादनवसनं कल्पः व्योमनि आकाशे विमानवत्
दिव्ययानमिव दीप्यते स्म शुशुभे । किंभूतः पटः । अतिशयेन पटुः पटीयान् पटुर्महतीं
बहुसंघजनोपवेशनोचितां शृङ्गि प्रातः । ईप्सितस्थानं प्रापयितुं समर्थो वा । किंभूतस्य
वज्रप्रभोः । कृपायाः दुर्भिक्षसीदत्संघजनोपरिदयाया नीरनिधेः समुद्रस्य । अत एव
किं कर्तुमिच्छोः । निनीषोर्नेतुमिच्छोः प्रापयितुकामस्य । कम् । संघसाधुसाध्वीश्रावक-
श्राविकारूपजैनवर्गम् । काम् । सुभिक्षभूमीं प्रभूतनिष्पन्नधान्यशतशोऽनुभावसुकालव-
सुधां बौद्धनगरीम् । केषु । दुर्भिक्षवर्षेषु कालानुभावाद्वादशवत्सरीं यावन्मेघजलविन्दु-
मात्रवृष्टेरभावेन अन्नपानदौर्लभ्याहुः कालसंवत्सरेषु ॥

सहैव देहेन समग्रसंघं नयत्यसौ सिद्धिपुरीमिवैनम् ।

जनैरिति व्योमनि तर्क्यमाणः पटः प्रभोर्बौद्धपुरीमवाप ॥ ५५ ॥

प्रभोर्वज्रस्वामिनः पटः कल्पः वज्रं वा बौद्धपुरीं सुगतनगरीमवाप गतः प्रातः ।
पटः किं क्रियमाणः । इति अमुना प्रकारेण जनैर्लोकैर्व्योमनि आकाशे अर्थाद्गच्छन् वि-
तर्क्यमाणो विचार्यमाणः । इति कथम् । यदसौ वज्रस्वामिपटो देहेन वर्तमानेन उदारि-
कशरीरेणैव सह एनं दृश्यमानं समग्रमखिलं संघं सिद्धिपुरीं भुक्तिनगरीं नयति
प्रापयतीव ॥

ध्यातुर्वरं श्रीः श्रुतदेवतेव यस्यादरात्पद्ममदत्त पद्मा ।

वनात्पितुर्मित्रहुताशनस्याग्रहाच्च यो विंशतिलक्षपुष्पान् ॥ ५६ ॥

पर्युषणदिनेषु अष्टाह्निकामहोत्सवं कर्तुमिच्छोः जैनद्विष्टतया बौद्धनृपतिवारितमा-
लितमण्डलात् पुष्पमात्रमप्यनाप्रवतः संघस्य कृते कुसुमानयनार्थं प्रस्थितस्य पद्महृदे
यातस्य यस्य वज्रस्वामिनः पद्मा लक्ष्मीः आदरात् भक्तिभरतः स्तवनवन्दनपूर्वकं पद्मं
स्वहृदा सहस्रपत्रमादाय भगवत्पूजार्थं प्रयान्ती श्रीस्तत्सहस्रदलकमलं पद्मार्थोपगतायास्मै
अदत्त दत्तवती । केव । श्रुतदेवतैव । यथा सरस्वती ध्यातुर्ध्यानकर्तुः पुंसः वरमभिम-
तार्थसिद्धिं दत्ते । च पुनर्यो वज्रस्वामी पितुर्धनगिरेर्मित्रस्य हुताशननामदेवस्य वनात्का-
ननात् तत्सुरेणैवावचिख्यानीय ढौकितान् विंशतिलक्षमितान् पुष्पान् कुसुमान्यग्रहीत्
गृहीतवान् । मित्रतिर्यक् जृम्भकदेवविनिर्मितविमाने स्थापितवानित्यर्थः । पुष्पशब्दः
पुनपुंसके ॥

मूर्तेरिव स्वस्य गुणैः प्रफुल्लत्पुष्पोत्करैः पर्युषणाक्षणेभु ।

समुन्नतिं शाम्भवशासनस्य तस्यां सुनन्दातनयस्ततान ॥ ५७ ॥

सुनन्दा नाम्नी धनगिरिपत्नी तस्यास्तनयो नन्दनो वज्रस्वामी पर्युषणाक्षणेभु वार्षिक-
पर्वाष्टाहिकादिवासरमहोत्सवेषु तस्यां बौद्धनगर्यां शाम्भवस्य जैनस्य शासनस्य उन्नतिं
प्रभावनां ततान चकार । कैः । प्रफुल्लत्पुष्पोत्करैः विकसत्कुसुमसमूहैः । उत्प्रेक्ष्यते । मू-
र्तेरङ्गयुतैः स्वस्य वज्रस्वाम्यात्मनः प्रशमादिभिर्गुणैरिव ॥

प्राबोधयद्बौद्धपुरीप्रभुं यः समं समग्रैरपि पौरलोकैः ।

साकं शकुन्तैरिव पङ्कजानां कुञ्जं समुद्यद्गगनाध्वनीनः ५८ ॥

यो वज्रस्वामी बौद्धपुरीप्रभुं सुगतनगरीस्वामिनं प्राबोधयत् प्रतिबोधयति स्म । जैनं
चकारेत्यर्थः । कथम् । सार्धम् । कैः । समग्रैः समस्तैरपि पौरलोकैर्नगरिकजनैः स-
मम् । क इव । समुद्यद्गगनाध्वनीन इव यथा अभ्युदयं प्राप्नुवन् भास्करः शकुन्तैर्विहं-
गमैः साकं सह पङ्कजानां पद्मानां कुञ्जं वनं कमलपटलं प्रबोधयति । जागरयति वि-
काशयति च ॥

अपास्यति स्माढ्यसुतां सरागां यो रुक्मिणीं काञ्चनकोटिभिश्च ।

क्रीडन्मृगेन्द्रां स्मितसल्लकीभिर्निकुञ्जराजीमिव कुञ्जरेन्द्रः ॥ ५९ ॥

यो वज्रस्वामी काञ्चनानां सुवर्णकानां कोटिभिः । 'कोडीसए धणसंचियस्स गुणस्स
भरियारा कन्नाए' इत्युपदेशमालावचनात् । कोटीनां शतैः सममाढ्यस्य महाव्यवहारिणः
सुतां पुत्रीं रुक्मिणीति नाम्नीं कन्याम् अपास्यति स्म त्यक्तवान् । किंभूताम् । सरागां
स्वसौधसंनिधिस्थितसाध्वीगीयमानयद्गुणग्रामा कर्णनोद्धूतानुरागवशंवदतया 'अस्मिन्
भवे मम प्राणनाथो वज्रस्वाम्येव नान्यः' इति कृतनिश्चयतया सन्नेहां जहौ । क इव ।
कुञ्जरेन्द्र इव । यथा गजराजः स्मितसल्लकीभिर्विकसितगजप्रियातरुपङ्क्तिभिः सार्धं 'स-
ल्लकी तु गजप्रिया' इति हैम्याम् । निकुञ्जराजीं वनमालामपास्यति । किंभूतां निकुञ्ज-
राजीम् । क्रीडन्मृगेन्द्रां स्वेच्छया रममाणपञ्चाननाम् ॥ इति वज्रस्वामी ॥

श्रीवज्रसेनोऽथ तदीयपट्टं व्यभासयत्प्रीणितजन्तुजातः ।

स्फुरन्मदोद्भेद इव द्विपेन्द्रकपोलमानन्दितचञ्चरीकः ॥ ६० ॥

अथानन्तरं वज्रसेननामा सूरिस्तदीयपट्टं वज्रस्वामिसंबन्धिपट्टं व्यभासयत् भूषयति
स्म । किंभूतो वज्रसेनः । प्रीणितानि प्रतिबोधप्रदानेन तृप्तियुक्तानि कृतानि जन्तूनां
प्राणिनां जातानि समूहा येन । क इव । स्फुरन्मदोद्भेद इव । यथा प्रकटीभवन् दानो-
दकोदयः दीप्यमानः शोभाकारी दानजलाविर्भावो वा द्विपेन्द्रस्य गजराजस्य कपोलं
गण्डस्थलमलंकुरुते । किंभूतः । आनन्दिता यथाकामं कुसुमामोदाभिभावुकमदाम्भः-
पातेन प्रमोदिताश्चञ्चरीका मधुकरनिकरा येन ॥

दुर्भिक्षके पायसमेक्ष्य लक्षपक्वं महेभ्यस्य गृहे प्रभुर्यः ।

दिने द्वितीये कुलदेवतेव न्यवेदयद्भाविषुकालमस्य ॥ ६१ ॥

यः वज्रसेनः प्रभुर्गणस्वामी दुर्भिक्षके द्वितीयवारं द्वादशहायनजलवाहावृष्टेरुद्धूत-
दुःकालसमये श्रीवज्रस्वामिना दक्षिणस्यां दिशि प्रेषितः सन् अस्य महेभ्यस्य द्वितीये
आगामिनि दिने वासरे भावि भविष्यत्सुभिक्षं सुकालं न्यवेदयत् कथयामास । केव ।
कुलदेवतेव । यथा सम्यगाराधिता गोत्रदेवी सुभिक्षं निवेदयति । किं कृत्वा । एक्ष्य
आलोक्य । किम् । पायसं परमान्नम् । किंभूतं पायसम् । लक्षेण सुवर्णटङ्कानां शत-
सहस्र्या पक्वं शालिदुग्धादि मेलयित्वा राद्धं निष्पन्नम् । कस्मिन् । यस्य कस्यचिन्महे-
भ्यस्य व्यवहारिणः गृहे मन्दिरे । तस्यैव चतुर्नन्दनस्येभ्यस्य दीक्षाग्रहणवाग्बन्धपूर्वकं
स्वस्तनदिने याममध्ये पञ्चशतीयुगंधरीधान्यभृतवहनागमनैर्भाविषुकालमावेदितवानि-
त्यर्थः ॥

चत्वार एतत्तनया विनेयाः शाखाभृतस्तस्य विभोर्वभूवुः ।

इवामरद्वेषिचमूजयश्रीजुषः सुरेन्द्रद्विरदस्य दन्ताः ॥ ६२ ॥

चत्वारः चतुःसंख्याका एतस्य महेभ्यस्य तनया नन्दनास्तस्य वज्रसेनस्य विभोः
स्वामिनः विनेयाः शिष्या बभूवुः । नागेन्द्र-चन्द्र-निर्वृति-विद्याराख्याः शाखा
बिभ्रति धारयन्तीति तादृशाः । कस्य के इव । सुरेन्द्रद्विरदस्य दन्ता इव । यथा शक्र-
गजस्य ऐरावणस्य दन्तकोशाश्चत्वारो भवन्ति । किंभूता दन्ताः । अमरद्वेषिणां दानवानां
चमूनां सेनानां जयस्य विजयस्य श्रियं लक्ष्मीं जुषन्ते सेवन्ते ॥ इति वज्रसेनसूरिः ॥

भर्त्रा सुराणामिव लोकपालेष्वेतेषु सौदर्ययतीश्वरेषु ।

श्रीचन्द्रनाम्ना मुनिपुङ्गवेन तत्पट्टपूर्वा प्रमदेन भेजे ॥ ६३ ॥

एतेषु नागेन्द्र-चन्द्र-निर्वृति-विद्याराभिधेषु चतुर्षु सौदर्येषु भ्रातृषु यतीश्वरेषु स्-
रिषु मध्ये चन्द्रनाम्ना मुनिपुङ्गवेन सुरीन्द्रेण तस्य वज्रसेनसूरैः पट्ट एव पूर्वा प्राचीदिक्
भेजे सिधेवे । केन । प्रमोदेनानन्देन । केनेव । भर्त्रेव । यथा इन्द्र-यम-वरुण-कुबेराख्येषु
लोकपालेषु मध्ये सुराणां देवानां भर्त्राधिपतिना शक्रेण पूर्वाशा सेव्यते ॥

राजा स्वयं राजनतं सदोषो निर्दोषमङ्कोपगतो निरङ्कुम् ।

सास्तो निरस्तं च निजाधिकं यं समीक्ष्य चिक्षाय शशी किमर्त्या ॥ ६४ ॥

यं चन्द्रसूरिं निजादात्मनः सकाशात् अधिकं समीक्ष्य दृष्ट्वा शशी चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते ।
अर्त्या दुःखेन किमु चिक्षाय क्षीणो जात इव । आधिक्यमेव दर्शयति । किंभूतः
शशी । स्वयमात्मना एको राजा । यं किंभूतम् । राजभिर्भूमीन्द्रैर्नतं नमस्कृतम् ।
'राजा तु नृपचन्द्रयक्षेषु' इति अनेकार्थः । पुनः किंभूतः शशी । सह दोषैः कलङ्का-
दिर्दोषेभ्यो रात्र्या च तत्पतित्वाद्भर्तते यः । यं किंभूतम् । निर्गता दोषा अपगुणा

यस्मात्सः । पुनः किंभूतः शशी । अङ्केन मध्यवर्तिश्यामतालक्षणेन लाञ्छनेन गुरुदारा-
धिगमनात्कलङ्केनापवादेनोपगतो युक्तः । यं किंभूतम् । निर्गतोऽङ्कः संयममालिन्यादिक-
लङ्को मन्तुर्वा यस्मात् । 'अङ्को भूषारूपकलक्ष्मसु । चित्राजौ नाटकाद्यंशे स्थाने क्रोडे-
ऽन्तिकागसोः ॥' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतः शशी । सहास्तेन वर्तते यः । यं किंभू-
तम् । निर्गतोऽस्तः क्षयो यस्मात्सदाभ्युदयत्वात् ॥

श्रीचन्द्रसूरैरथ चन्द्रगच्छ इति प्रथा प्रादुरभूद्गणस्य ।

भागीरथीनाम भगीरथाख्यमहीमहेन्द्रादिव देवनद्याः ॥ ६५ ॥

अथ चन्द्रसूरिपट्टभवनानन्तरं श्रीयुक्ताचन्द्रनामसूरेर्गणस्य कौटिकगच्छस्य चन्द्र-
गच्छ इति प्रथा ख्यातिः प्रादुरभूत् प्रकटीभूता । कस्मात्कस्या इव । भगीरथाख्यम-
हीमहेन्द्रादेवनद्या इव । यथा सगरचक्रिज्येष्ठनन्दनजहुकुमारसूनुर्भगीरथ इत्याख्या नाम
यस्य तादृशान्महीमहेन्द्राद्वसुधावासवात् एतावता भगीरथभूपात् देवनद्या गङ्गाया भागीर-
थीति नाम प्रकटीभूतम् ॥ इति चन्द्रसूरिः ॥ इति गच्छस्य चन्द्रगच्छ इति तृतीयं नाम ॥

कल्लोलिकारुण्यरसान्वितस्य सामन्तभद्रप्रभुरस्य पट्टम् ।

व्यराजयद्वारिरुहाकरस्य मध्यं यथोन्निद्रितपुण्डरीकम् ॥ ६६ ॥

अस्य चन्द्रसूरेः पट्टं सामन्तभद्रप्रभुर्व्यराजयत् विभूषयामास । अस्य किंभूतस्य ।
कल्लोलस्तरङ्गा बाहुव्येन वृद्धिः संजातास्मिस्तादृशेन कारुण्याख्येन कृपानाश्रु रसेना-
न्वितो युक्तः । तस्य । अत्रापि यथा इवार्थः । किमिव । मध्यमिव । यथा वारिरुहाकरस्य
तटाकस्य मध्यमन्तरालमुन्निद्रितं विकस्वरीभूतं पुण्डरीकं श्वेतकमलविशेषं विराजयति ॥

वैमुख्यभाग्यो विषयात्कुरङ्गद्वेषीव जज्ञे विपिने निवासी ।

तस्मान्मुनीन्दोर्वनवासिसंज्ञा परा पुनः प्रादुरभून्मुनीनाम् ॥ ६७ ॥

यः सामन्तभद्रप्रभुः विपिने वन एव निवसति तिष्ठतीति एवंशीलो जज्ञे जातः ।
प्रायो वनवास्येवासीदित्यर्थः । किंभूतः । विषयात् शब्दरूपगन्धरसस्पर्शसंज्ञात् गो-
चरात् वैमुख्यं पराङ्मुखतां भजते सेवते । सर्वथापि तेषु मनोमात्रमकुर्वन् । क इव ।
कुरङ्गद्वेषीव । यथा मृगेन्द्रो विपिने निवासी स्यात् । किंभूतः । विषयादेशात् अथ वा
वसद्भूमेर्विमुखतामाश्रयेत् । तस्मात्सामन्तभद्रात्सूरेर्मुनीन्दोः सूरेर्मुनीनां साधूनां पुनश्च-
तुर्थवारं परा अन्या वनवासीति चतुर्थी संज्ञा नाम प्रादुरभूत् प्रकटीवभूवुषी ॥ इति
सामन्तभद्रसूरिः ॥ इति गच्छस्य वनवासीति चतुर्थं नाम ॥

क्रोरण्टके वीरजिनेन्द्रमूर्तिं दृक्पान्थवृत्तिं कृतपुण्यपाकाम् ।

यः प्रत्यतिष्ठत्किमु सन्नशालं स वृद्धदेवोऽजनि तस्य पट्टे ॥ ६८ ॥

स प्रसिद्धो वृद्धदेवनामा सूरिः सामन्तसूरेः पट्टेऽजनि जज्ञे । ज्ञातोर्नित्याभिसंब-
न्धात्स कः । यो वृद्धदेवसूरिः क्रोरण्टके क्रोरण्टकनाम्नि नगरे वीरजिनेन्द्रस्य महावीर-

देवस्य मूर्तिं प्रतिमां प्रत्यतिष्ठत्प्रतिष्ठितवान् । किंभूतां मूर्तिम् । दशोऽर्थाद्भव्यनेत्राण्येव पान्था इतस्ततः भ्रमणशीलत्वात्पथिकाः तेषां वृत्तिर्वर्तनमाजीविका यत्रातिप्रह्लाददातृत्वात् विधामस्थानम् । पुनः किंभूताम् । कृतो निर्मितः पुण्यस्य सुकृतस्य पाकः फलप्रदानाभि-
मुखता यया । उत्प्रेक्ष्यते—सत्रशालां किमु दानशालामिव । कीदृशी । हग्वन् पर्यटन-
कारिणः पान्था मार्गचारिणः तेषां वृत्तिराजीविका यस्याम् । पुनः किंभूताम् । कृतः
कल्पितः पुण्यः पवित्रः सम्यक् पाकः अन्नादिसंस्कारो यस्याम् ॥ इति वृद्धदेवसूरिः ॥

प्रद्योतनाहप्रभुणाप्यमुष्य पट्टं परं वैभवमावभार ।

त्रैलोक्यलक्ष्मीतिलकायितेन पितुः स्वपुत्रेण यथान्ववायः ॥ ६९ ॥

अपि पुनरमुष्य श्रीवृद्धदेवसूरिशक्यस्य पट्टः प्रद्योतन इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन प्रभुणा सूरिन्द्रेण कृत्वा परं प्रकृष्टं वैभवं शोभाभावभार धत्ते स्म । यथा पितुस्तातस्या-
न्ववायो वंशः स्वपुत्रेण निजनन्दनेन स्वस्य पितुरेव पुत्रेणेति । औरसेनेत्यसूचि । प-
रमां श्रियं विभर्ति । प्रद्योतनसूरिणा पुत्रेण च किंभूतेन । त्रैलोक्यस्य भुवनत्रयस्य
लक्ष्म्याः श्रियस्तिलकवद्विशेषक इवाचरितेन । 'तैस्तैरात्मगुणैर्येन त्रिलोक्यास्तिलका-
यितम्' इति चम्पूकथायाम् ॥

प्रबोधयन्भयसरोजराजी संशोषयन्दुर्नयकर्दमांश्च ।

दोषोदयं निर्दलयन्महस्वी प्रद्योतनोऽन्यः किमभूद्बोऽयम् ॥ ७० ॥

अयं प्रद्योतनसूरिः भुवः पृथिव्या अन्यो व्योमापेक्षया अपरः प्रद्योतनः सूर्यः अ-
भूत् संजातः । किंभूतः । भव्याः प्राणिन एव सरोजराज्यः कमलमालास्ताः प्रबोधयन्
सम्यक्त्वशालिनः सृजन् । पुनः किंभूतः । दुर्नया मिथ्यादृश एव पङ्कस्तान् शोषयन्
विरलयन् मूलादुच्छिन्दन् वा । पुनः किंभूतः । दोषाणामपगुणानामुदयमाविर्भावं निर्दल-
यन् विध्वंसयन् मूलतोऽपि निवारयन् । पुनः किंभूतः । महस्वी । 'पङ्करो तेअस्सी'
इत्युपदेशमालावचनात् । तेजस्वी परवादिभिरसह्यः । सूर्योऽपि भव्याः स्वाभिमता
मैत्र्यात्पद्मपङ्कीर्विकाशयति, तथा दुष्टो नयो जनादियातनासंचारलक्षणो येषां तादृक्
जम्बालान् शोषं नयति, तथा दोषाणां रात्रीणामुदयं निर्दलयति । तथा महस्वी प्रताप-
वांश्च भवति । 'स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः' इति नैषधे । महसां भूयसः प्रतापानां
राशिरिव राशिरिति तद्वृत्तिः ॥ इति प्रद्योतनसूरिः ॥

धिया जयंश्चित्रशिखण्डिसूनुं गङ्गातरङ्गायितवाग्विलासः ।

श्रीमानदेवः पदमेतदीयं सम्यः सभास्थानमिवाधुवास ॥ ७१ ॥

धिया विशिष्टशोभया युक्तो मानदेवनामा सूरिः एतदीयं प्रद्योतनसूरिसंबन्धि पदं
पद्मधुवासश्रितवान् । किं कुर्वन् । धिया प्रतिभाप्राग्भारेण चित्रशिखण्डिनां सप्तर्षीणां
सूनुं पुत्रं वृहस्पतिम् । 'सप्तर्षयश्चित्रशिखण्डिनः' तथा 'जीवश्चित्रशिखण्डिजः' इति है-
भ्याम् । तथा 'विचित्रवाक् चित्रशिखण्डिनन्दनः' इति नैषधे । जयन् पराभवन् ।

पुनः किंभूतः । गङ्गायास्तरङ्गाः कल्लोलास्तद्वदाचरिता वाचां वाणीनां विलासा वैचित्र्यो यस्य । 'असकृदमृतविन्दुस्यन्दिनो वाग्विलासाः' इति चम्पूकथायाम् । 'निरन्तरसुधार-साविष्करिण्या वचनवैचित्र्या' इति चम्पूटिप्पनके । क इव । सभ्य इव । यथा पार्षवः साधुर्वा सभारूपं स्थानं गृहं पदं वा आश्रयति । सभ्योऽपि किंभूतः । प्रज्ञया मुराचार्यं जयन्, मन्दाकिनी वीचीयमानवचनचातुर्यः, सभायां साधुः सभ्यः ॥

पदप्रदानावसरे समीक्ष्य साक्षात्तदंसोपरिवाणिपद्मे ।

राज्यादिव क्षोणिपुरंदरस्य भ्रंशोऽस्य भावी नियमस्थितेर्हा ॥ ७२ ॥

इत्थं गुरुं स्वं विमनायमानमालोक्य लोकेश्वरगीतकीर्तिः ।

तत्याज यः षड्विकृतीर्व्रतीन्द्रः षडान्तरारीनिव जेतुकामः ॥ ७३ ॥

ये लोकानां पातालभूमिस्वर्गलक्षणानामीश्वरैरिन्द्रैर्नागेन्द्रनरेन्द्रसुरेन्द्रैर्गीता गानविषयिकृता कीर्तिता वा कीर्तिर्यस्य तादृशो व्रतिनां साधूनामिन्द्रः स्वामी धीमान्देवसूरिः षट्संख्याका घृतपकान्नतैलगुडदधिदुग्धाभिधा विकृतीस्तत्याज जहाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते— षट्संख्याकान् कामक्रोधमदमत्सरमायालोभादिकान् आन्तरान् अन्तरङ्गान् रिपून् विजेतुकामः पराभवितुमिच्छुरिव । किं कृत्वा । इत्थममुना प्रकारेण विमनायमानं विरुद्धं मनो यस्य स विमनाः, न विमना विमनाः स्यादिति विमनायते, विमनायते इति विमनायमानस्तम् । 'भृशादिभ्यो भुव्यर्थे च्वेलोपश्च हलः । भृशादिभ्यश्चव्यर्थे भवत्यर्थे क्यङ् स्यात् न तु च्व्यन्तेभ्यः अन्तहल्लोपश्च । अभृशो भृशो भवतीति भृशायते उन्मनायते' इति प्रक्रिया कौमुद्याम् । स्वमात्मीयं गुरुं प्रद्योतनसूरिमालोक्य दृष्ट्वा इत्थं कथं पदस्य सूरिपदस्य प्रदानावसरे विश्राणनव्यतिकरे तदंसोपरि मानदेवसूरिस्कन्धोपरिष्ठात् साक्षात्प्रत्यक्षलक्ष्ये वाणिपद्मे सरस्वतीलक्ष्म्यौ । वाणिशब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । 'अन्तर्वाणिस्तु शास्त्रवित्' इति हैम्याम् । अन्यत्रापि—'व.....' । हा इति खेदे । सरस्वतीलक्ष्मीसंश्रितत्वेन राजादिसत्कारजनितप्रमादाचरणवशादित्यध्याहार्यम् । नियमस्थितेश्चरित्रादस्य मम पट्टधरस्य भ्रंशो भावी व्रताङ्गश्चो भविष्यतीति । कस्येव । क्षोणिपुरंदरस्येव । यथा कस्यचिद्राज्ञः अन्यायासेवनरूपप्रमादाद्राज्याङ्गशो भवति । युग्मम् ॥

चमूभिर्बुर्वीन्द्रमिवामरीभिरुपास्यमानं यमवेक्ष्य कश्चित् ।

किं स्त्रीयुतोऽसाविति संशयानो नडूलकेऽशिष्यत ताभिरेव ॥ ७४ ॥

चमूभिर्गजवाजिरथपत्तिलक्षणाभिश्चतुरङ्गिणीभिः सेनाभिः उर्वीन्द्रं क्षोणीशकमिव । पद्मा-जया-विजया-अपराजिताभिधाभिश्चतस्रभिर्देवीभिः प्रत्यक्षमुपास्यमानं सेव्यमानं नडूलनगरोपाश्रयापवरके यं मानदेवसूरिमवेक्ष्य दृष्ट्वा असौ आचार्यः किं स्त्रीयुतो वनिताकलितोऽस्तीति संशयानः संदेहं कुर्वाणः । कश्चित् स्वयं संतिष्ठामुतया दुष्टयवनप्रकरैः प्रणुन्नतन्निष्ठनिर्जरनिर्मितजनमार्युपप्लवोपद्वतेन तिक्षशिलानगरीसंघेन कृतकायोत्सर्गप्र-

भावादागत(या)नङ्गुलपुरस्थितश्रीमानदेवसूरयो यद्यत्रायान्ति तदा शान्तिर्भवेत्, परमत्र म्लेच्छा आगत्य स्थास्यन्ति, ततः संघेन त्रिवर्षामध्येऽन्यत्र कुत्रापि गत्वा स्थातव्यमिति जिनशासनदेव्या गिरा श्रीमानदेवसूरीन्द्राकारणार्थं तत्समय एव स्वजनमरकोपद्रवप्रशमनोत्सुकीभूततत्संघे प्रेषितः । अज्ञातसूरिस्वरूपः कोऽपि श्राद्धः । ताभिर्विजयाप्रमुखसूरीभिरेवाशिक्षि । शिक्षां ताडयित्वा कुट्टयित्वा दृढबन्धनबद्धः पूकुर्वीणः कृपापारावारश्रीगुरुवाचैव मुक्तः । यत्रैवंविधाः शङ्काभाजः श्राद्धास्तत्र सर्वथापि श्रीपूज्यपार्देर्न गन्तव्यमिति विजयादेवतया निषिद्धाः सन्तः श्रीगुरवस्तत्संघे शान्त्यर्थं शान्तिं 'शान्तिनिशान्तम्' इति विजयादेवीमन्त्रमयलघुशान्तिं विधाय तच्छ्राद्धेन सार्धं प्रेषयित्वा तत्र मरकोपद्रवं निवारितवानिति शेषः ॥ इति श्रीमानदेवसूरिः ॥

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली श्रीमानतुङ्गश्रमणेन्दुरासीत् ।

य औजिदत्साधुजनान्निजाज्ञां नाथान्पृथिव्या इव सार्वभौमः ॥ ७५ ॥

श्रीमानतुङ्गनामा श्रमणानां मुनीनां मध्ये इन्दुरिवाह्लादकत्वादिन्दुः सूरिरासीत् बभूव । किंभूतः । तदीयो मानदेवसूरिसंबन्धी यः पट्टः स एवाम्बरमाकाशं तत्र प्रकाशकत्वाद्दुद्ध्योतकारित्वाद्रानुमाली भास्वान् यो मानतुङ्गसूरिः साधुजनान् वाचंयमवजान् अन्यदर्शनकदाप्रहाप्रस्तत्वेन समीचीनान् लोकान् निजाज्ञां भगवत्प्रणीतसाधवाचारलक्षणं निजस्यात्मन आज्ञामादेशमौजिदत्ताह्वयामास धारयांचकार । क इव । सार्वभौम इव । यथा चक्रवर्ती पृथिव्या नाथान् भूपतीन् स्वाज्ञां प्राहयति ॥

भक्तामराहस्तवनेन सूरिर्बभञ्ज योऽङ्गाग्निगडानशेषान् ।

प्रवर्तितामन्दमदोदयेन गम्भीरवेदीव करी धरेन्दोः ॥ ७६ ॥

यो मानतुङ्गसूरिः भक्तामर इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन स्तवेन स्तोत्रेण कृत्वा अङ्गात् स्वशरीरादशेषान् अष्टचत्वारिंशदपि निगडान् शृङ्खलान् बभञ्ज भनक्ति स्म । क इव । करीव । यथा धरेन्दो राज्ञः गम्भीरवेदी अवमताङ्कुशः अवगणिततीक्ष्णाङ्कुशप्रहारो हस्ती प्रवर्तितोऽतिप्रबहमानो यो मदोदयो दानवारिप्रादुर्भावस्तेन कृत्वा पादादिनियमनशृङ्खलान् भनक्ति त्रोटयति । 'त्वग्भेदाद्गुहिरस्त्रावादासांसव्यथनादपि । संज्ञां न लभते यस्तमाहुर्गम्भीरवेदिनम्' ॥

श्रीमानतुङ्गः करणेन भक्तामरस्तुतेस्तं क्षितिशीतकान्तिम् ।

चकार नम्रं फलपुष्पपत्रभारेण यद्वत्फलदं वसन्तः ॥ ७७ ॥

येन नृपतिना मार्तण्डचण्डीस्तुतिशतककरणपापगतकुष्ठबाणकविकृतचतुरङ्गनवीनाङ्गीभूतमयूरकविमहिमालोकनोद्भूतचमत्कारेण पुनर्जनदर्शनमाहात्म्यदर्शनोत्कण्ठितचेतसा अष्टचत्वारिंशता शृङ्खलैरपादकण्ठमङ्गं निगडनिबद्धं कृत्वा प्रदत्तमहत्तालकापवरके निक्षिप्तः श्रीमानतुङ्गसूरिः 'भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्' इति नामादिदेवस्तुतेः स्तोत्रस्य करणेन निर्माणेन तं पूर्वोक्तं स्वपरीक्षाकारिणं क्षितिशीतकान्तिं राजानं नम्रं स्वचरण-

प्रणमनप्रवर्णं चकार कृतवान् । यः क इव । वसन्तो यद्वत् अत्र यद्वद्वितीवार्थं । यथा वसन्तो मधुसमयः फलानि सस्यानि पुष्पाणि कुसुमानि पत्राणि पर्णानि तेषां भारेण वीवधेन कृत्वा फलदं वृक्षं नम्रं भूमीमण्डलोपगतं कुरुते ॥

भयादिभेनाथ हरस्त्वेन यो दुष्टदेवादिकृतोपसर्गान् ।

श्रीभद्रबाहुः स्वकृतोपसर्गहरस्त्वेनेव जहार संघात् ॥ ७८ ॥

अथ पुनर्यो मानतुङ्गसूरिर्भयमिति पदमादिमं प्रथमं यत्र तादृशेन हरस्त्वेन एतावता 'नमिऊण पणयसुरगण' इति नाम्ना भयहरस्त्वेन कृत्वा संघाच्चातुर्वर्ण्यश्रीसंघमध्यादृष्टाः कूरा ये देवा व्यन्तरभवनपतिज्यौतिष्का आदिशब्दादेव्यादीनां संग्रहस्तत्कृतोपसर्गान् तन्निर्मितविविधोपप्लवान् जहार हतवान् । क इव । श्रीभद्रबाहुरिव । यथा श्रीभद्रबाहु-स्वामी स्वेनात्मना कृतं रचितं यत् 'उवसग्गहरं पासं' इति नाम्ना स्तवनं श्रीपार्श्वनाथ-स्तोत्रं तेन कृत्वा चारित्र्यश्लांसासंघापमानितार्तध्यानाद्यन्तरीभूतवराहमिहिरविहितोपसर्ग हरति स्म ॥ इति मानतुङ्गसूरिः ॥

सद्भयाननागेश्वररश्मिसाम्यमन्थाद्रिणालोड्य मदाम्बुराशिम् ।

तत्पट्टलक्ष्मीरथ वीरनाम्नाचार्येण वने वनमालिनेव ॥ ७९ ॥

अथ मानसूरैरनन्तरं वीर इति नाम यस्य तादृशेनाचार्येण सूरिणा । वीराचार्येणैत्यर्थः । तस्य मानतुङ्गसूरैः पट्टलक्ष्मीः वने वृता । केनेव । वनमालिनेव । यथा कृष्णेन श्रीः समुद्रपुत्री वृता । किं कृत्वा । मद उन्मोहसंभेदः स एवाथ वा अष्टौ कुल-जाति-बल-श्रुत-ऐश्वर्य-रूप-तप-लव्धिरूपा मदास्त एव समुद्रस्तं सत् शोभनं ध्यानं धर्मशुक्लहं प्रणिधानं तदेवोज्ज्वलत्वान्नागेश्वरः शेषनागः स एव रश्मिर्मथनरज्जुः तद्युक्तो यः साम्यं समता तदेव मन्थाद्रिमन्दराचलः तेनालोड्य निर्मथ्य कृष्णेनापि क्षीरसमुद्रं मथित्वा तदुद्भूता श्रीः परिणीता ॥ इति वीराचार्यः ॥

ततोऽजनि श्रीजयदेवसूरिर्दूरीकृताशेषकुवादिवृन्दः ।

यद्वाग्विलासैरवहेलितश्रीः सुधा किमु क्षीरनिधौ ममज्ज ॥ ८० ॥

ततो वीराचार्यादनन्तरं स श्रीजयदेवनामा सूरिरजनि संजज्ञे । किंभूतः । दूरीकृता वादे निर्जित्य निर्वासिता अशेषाः समग्रा अपि कुतिसितं जिनशासनविरुद्धं वदन्तीत्येवं-शीलाः कुवादिनः सौगतादयः निहवादयो वा तेषां वृन्दः समुदायो येन । स कः । यस्य श्रीजयदेवस्य सूरैर्वीग्विलासैर्वचनविलसितैरवहेलिता अवगणनां गमिता श्रीर्मा-धुर्यशोभा यस्यास्तादृशी सुधा पीयूषम् । उत्प्रेक्ष्यते—क्षीरनिधौ दुग्धसमुद्रे इव ममज्ज ब्रूयितेव ॥ इति श्रीजयदेवसूरिः ॥

स्वःकामिनीकीर्तितकीर्तिदेवानन्दश्चिदानन्दमना मुनीन्द्रः ।

तारुण्यमेणाङ्गमुखीमिवैतत्पट्टश्रियं वैभवमानिनाय ॥ ८१ ॥

स्वःकामिनीभिः सुराङ्गनाभिर्नृत्यादिकारित्वादप्सरोभिः स्ववैश्याभिर्वा कीर्तिता पदे पदे गीता अथवा गीतिभिर्विस्तारिता कीर्तिर्यस्य । 'कीर्तिर्यशसि विस्तारे' इत्यनेकार्थः । तादृशो देवानन्दो नाम मुनीन्द्रस्तस्य जयदेवसूरेः पट्टश्रियं पट्टवैभवं शोभामानिनाय प्रापयति स्म । किं कृत्वा । चिदानन्दे मोक्षे मनो यस्य । कः कामिव । तारुण्यमेणाङ्गमुखीमिव । यथा यौवनं चन्द्रवदनां श्रियं लम्भयति ॥ इति देवानन्दसूरिः ॥

श्रीविक्रमः सूरिपुरंदरोऽभूत्तत्पट्टदुग्धाब्धिसुधामरीचिः ।

तमश्चमूं हन्तुमनाः समग्रां किं विक्रमोऽङ्गीकृतकाययष्टिः ॥ ८२ ॥

ततो देवानन्दसूरेरनन्तरं श्रीविक्रमनामा सूरिषु पुरंदरः इन्द्रो बभूव । किंभूतः । तस्य देवानन्दसूरेः पट्ट एव दुग्धाब्धिः क्षीरसमुद्रस्तत्र तस्य वा वृद्धिकारित्वात्सुधामरीचिश्चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते—समग्रां समस्तामपि तमसामज्ञानानां पापानां चमूं सेनां समूहं वा हन्तुं व्यापादयितुमङ्गीकृता गृहीता काययष्टिः शरीरं येन तादृशो विक्रमः किमु । मूर्तिमान् पराक्रम इवेत्यर्थः ॥ इति विक्रमसूरिः ॥

आसीत्ततः श्रीनरसिंहसूरिः स वाङ्मयाम्भोनिधिपारदृश्वा ।

अत्याजि यक्षः किल येन मांसं स्वापं जगद्वारिजबन्धुनेव ॥ ८३ ॥

ततो विक्रमसूरेः पट्टे श्रीनरसिंहनामा सूरिरासीत्संजातः । किंभूतः । वाङ्मयं सिद्धान्तः स एवाम्भोनिधिः समुद्रस्तस्य पारं दृष्टवानिति पारदृश्वा पारगामी । 'कनिष्कनिष्पवा' इति सारस्वतसूत्रेण वनिष्प्रत्ययः । किलेति श्रूयते । येन नरसिंहसूरिणा कश्चिदनिर्दिष्टनामा यक्षो वटवासी मांसमत्याजि त्याजितः । प्रतिबोध्य मासाशनिताममोचयदित्यर्थः । केनेव । वारिजबन्धुनेव । यथा सूर्येण जगद्विश्वं स्वापं निद्रावस्थां त्याज्यते ॥ इति नरसिंहसूरिः ॥

महर्घ्यमाणिक्यमिवाङ्गुलीयं घोमाणभूपालकुलप्रदीपः ।

पट्टश्रियं श्रीनरसिंहसूरेरलंकरोति स्म समूद्रसूरिः ॥ ८४ ॥

श्रीनरसिंहसूरेः पट्टश्रियं समुद्रनामा सूरिरलंकरोति स्म । किंभूतः । खोमाणनामानो ये भूपाला राजानस्तेषां कुले वंशे गृहे वा उद्योतकारित्वात्प्रदीप इव प्रदीपः । किमिव । महर्घ्यमाणिक्यमिव । यथा बहुमूल्यं रत्नमङ्गुलीयं मुद्रिकामलंकुरुते ॥

दिग्वाससो येन विजित्य वादे नागहृदे नागानमस्यतीर्थम् ।

स्ववश्यमानीयत भूमिभर्त्रा दुर्गः प्रतीपानिव संपराये ॥ ८५ ॥

येन समुद्रसूरिणा नागहृदाख्ये नगरे वादे शास्त्रचर्चासमये दिग्वाससोऽनेकान्दिगम्बरान्विजित्य निरुत्तरीकृत्य नागेन धरणोरगेन्द्रेण नमस्यं नमस्करणीयं तीर्थं पार्श्वनाथविम्बं स्ववश्यं जैनश्वेताम्बरसंघायत्तमानीयत । केनेव । भूमिभर्त्रेव । यथा संपराये संप्राप्ते प्रतीपान्वैरिणो निर्जित्य दुर्गः कोटः स्ववश्यः क्रियते ॥ इति श्रीसमुद्रसूरिः ॥

स मानदेवोऽजनि तस्य पट्टे वाग्देवता यन्मुखपद्मसद्व ।

तृप्तामृतैश्चारुवचोविलासच्छलादिवोद्गारमिवातनोति ॥ ८६ ॥

तस्य समुद्रसूरेः पट्टे स भुवि विख्यातो यशोभिः प्रथितः श्रीमानदेवसूरिरजनि । स कः । यस्य मानदेवसूरेर्मुखपद्मं वदनकमलमेव सद्य वसतिर्यस्यास्तादृशी वाग्देवता सं-
रखती सुधाशनत्वादमृतैः सुधारसैः तृप्ता आकण्ठपानादतिवृत्तिं प्राप्ता सती चारवो
मनोज्ञा ये वाग्विलासा वचोवैचित्र्यः तेषां छलात्कपटात्तदुद्गारममृतोद्गारमिवातनोति
कुरुते ॥ इति द्वितीयश्रीमानदेवसूरिः ॥

पदे तदीये विबुधप्रभेण स्म भूयते सूरिपुरंदरेण ।

येनाभिभूतः किल पुष्पधन्वा पुनर्युयुत्सुर्विषमायुधोऽभूत् ॥ ८७ ॥

तदीये मानदेवसूरिसंबन्धिनि पदे पदे विबुधप्रभेण सूरिपुरंदरेण आचार्यशक्रेण
भूयते स्म संजातम् । येन श्रीविबुधप्रभसूरिणा अभिभूतः पराजितः पुष्पधन्वा कामः ।
किलेयुत्येक्षायाम् । काव्यकल्पलतायामुक्तत्वात् । पुनर्युयुत्सुर्द्वितीयवारं प्रभुणा समं यो-
द्धुमिच्छुः सन् विषमानि तीक्ष्णानि दुर्जयान्यायुधानि शस्त्राणि यस्य तादृशोऽभूदिव ।
मृदुलाल्लोऽभिभूयते न विषमास्त्रः ॥ इति विबुधप्रभसूरिः ॥

तत्पट्टपङ्केरुहमानसौकाः श्रीमाञ्जयानन्दविभुर्बभूव ।

यस्याशयेऽमात्समयोऽप्यशेषः कुम्भोद्भवस्य प्रसृताविवाब्धिः ॥ ८८ ॥

श्रीलक्ष्मीः शोभा वा विद्यते यस्मिन् स श्रीमान् जयानन्दनामा विभुर्गच्छाधिपः
तस्य विबुधप्रभसूरेः पट्टः स एव पङ्केरुहं कमलं तत्र मानसौका हंसो बभूव । स कः ।
यस्याशये हृदये अशेषः समग्रोऽपि समयः सिद्धान्तोऽमान्ममौ । आशयशब्देन हृदय-
मपि यथा । 'दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथी चकार कारुण्यरसापगा गिरः' इति नैषधे ।
आशयो मन इति तद्वृत्तिः । कस्यामिव । प्रसृताविव । यथा कुम्भोद्भवस्यागस्तिमुनेः
प्रसृतौ प्रसारिताहुलौ पाणौ अब्धिः समुद्रो भाति स्म ॥ इति जयानन्दसूरिः ॥

यदाननं चन्द्रति दन्तकान्तिज्योत्स्नायते भ्रूयुगमङ्कतीह ।

वाचां विलासोऽपि सुधायते तत्पदे मुनीन्द्रः स रविप्रभोऽभूत् ॥ ८९ ॥

तस्य जयानन्दसूरेः पदे स रविप्रभनामा मुनीन्द्रोऽभूत् । स कः । यस्य रविप्रभ-
सूरैराननं मुखं चन्द्रति चन्द्र इवाचरति । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिप् वा आचारे इ-
त्येके' इति क्तिप्प्रत्यये तदुदाहरणानि कृष्ण इवाचरतीति कृष्णति स्वति कृष्णामास
स्वामासेति प्रक्रियाकौमुद्याम्, तथात्रापीति । यस्य दन्तानां कान्तिज्योत्स्नायते
चन्द्रिकेवाचरति । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' । उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ्
स्यात्सलोपश्च । 'अकृत्सार्वधातुके इति दीर्घः' इति प्रक्रियायाम् । इह मुखचन्द्रे
भ्रूयुगमङ्कति लाल्छनवदाचरति । अत्राप्याचरणार्थं क्तिप् । अपि पुनरिह वक्त्रविधौ वाचां

वचनानां विलासो वैचित्र्यं वैदुषी वा सुधायते पीयूषवदाचरति ॥ इति रविप्रभसूरिः ॥

वर्धिष्णुयत्कीर्तिसुधारणवेन व्यलुम्पि नामाप्यसितादिभावैः ।

अर्हन्महिम्नेव जगत्यजन्यैः सोऽभूद्यशोदेवविभुः पदेऽस्य ॥ ९० ॥

अस्य रविप्रभसूरिः पदे स यशोदेवनामा विभुर्गणाधिपोऽभूजज्ञे । स कः । वर्धिष्णुर्वर्धनशीलः । 'दूरवर्धिष्णुपापधिः' इति पाण्डवचरित्रे । यशोदेवसूरिः कीर्तिरेव सुधारणः क्षीरसमुद्रस्तेन कृत्वा करणपदम् । असितादिभावैः कृष्णनीलपदार्थैः स्वनामापि व्यलुम्पि लुप्तम् । तद्यशोभिर्वल्लकृते सर्वविश्वे नीलादिपदार्थाः कापि नावसीयन्ते इति लोपः । केनेव । अर्हन्महिम्नेव यथा तीर्थकृन्माहात्म्येन करणपदेन कृत्वा जगति भूलोके अजन्यैः इतिभिः स्वनामापि लुप्यते । 'अजन्यमीतिरुत्पातः' इति हैम्याम् ॥ इति यशोदेवसूरिः ॥

प्रद्युम्नदेवोऽथ पदे तदीये प्रद्युम्नदेवोऽभिनवो बभूव ।

भिन्दन्भवं सुक्तरतिर्दवीयो भवन्मधुर्विश्वविभाव्यमूर्तिः ॥ ९१ ॥

अथानन्तरं तदीये यशोदेवसंबन्धिनि पदे प्रद्युम्नदेवनामा सूरिर्बभूव । किंभूतः । अभिनवो नवीनः प्राचीनो द्विसदृशलक्षणः प्रद्युम्नदेवः कन्दर्पदेवः । अभिनवत्वमेव दर्शयति । किं कुर्वन् । भवं संसारं भिन्दन् उच्छेदयन् । स्मरस्तु भवेन शंभुना भिन्नः, अयं स्वयं भवं भिनत्ति । पुनः किंभूतः । मुक्ता त्यक्ता रतिः विश्वे ह्यादिपदार्थेषु प्रीतिरासक्तिर्वा येन । स्मरस्तु रतिप्रियः । पुनः किंभूतः । दवीयः अतिशयेन दूरे भवत्संपद्यमानं मधु मद्यं वा यस्मात् । स्मरस्तु मधुर्वसन्तः सहायो यस्य । पुनः किंभूतः । विश्वेन जगज्जनेन विभाव्या लोचनकचोलकैर्निपीयमानलावण्यामृता सादरमवलोक्यमाना वा मूर्तिः शरीरं यस्य । स्मरस्त्वनङ्गः ॥ इति प्रद्युम्नदेवसूरिः ॥

श्रीमानदेवेन पुनः स्वकीर्तिज्योत्स्नावदातीकृतविष्टपेन ।

एतत्पदश्रीरगमि प्रतिष्ठां शक्तित्रयेणेव नरेन्द्रलक्ष्मीः ॥ ९२ ॥

पुनर्नाम्ना तृतीयवारं श्रीमानदेवेन सूरिणा एतस्य प्रद्युम्नदेवस्य पदश्रीः पट्टलक्ष्मीः प्रतिष्ठां सातिशायिशोभां विख्यातिं वा अगमि प्रापिता । 'न्यादयो प्यन्तनिष्कर्षग-त्यर्था मुख्यकर्मणि । प्रत्ययं यान्ति दुह्यादिगौणेऽन्ये तु यथारुचि ॥ अस्योदाहरणानि यथा—निन्ये विजनमजागरि रजनिमगमि मदमयाचि संभोगम् । गोपी हावमकार्यत भावश्चैनामनन्तेन ॥' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । अयं प्यन्तः गम्-धातुप्रयोगः । किंभूतेन मानदेवेन । स्वस्यात्मनः कीर्तिरेव ज्योत्स्ना कौमुदी तथा अव-दातीकृतं धवलितं विष्टपं त्रिभुवनं येन प्रतिष्ठां प्रापिता । केनेव । शक्तित्रयेणेव । यथा प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणेन शक्तित्रिकेण नरेन्द्रस्य राज्ञः श्रीः राज्यलक्ष्मीः प्रतिष्ठां प्राप्यते ॥ इति तृतीयमानदेवसूरिः ॥

वाचंयमेन्द्राद्विमलादिचन्द्रात्पदाब्जभृङ्गीभवदिन्द्रचन्द्रात् ।

अमुष्य पट्टः श्रियमश्नुते स्म परंतपाद्भूप इव प्रतापात् ॥ ९३ ॥

विमलमिति पदमादौ यस्य तादृशाचन्द्रात् एतावता विमलचन्द्रात् सुरीश्वरात् अ-
मुष्य श्रीमानदेवसूरेः पट्टः श्रियं शोभामश्नुते स्म । किंभूतो विमलचन्द्रः । पदाब्जयो-
श्चरणकमलयोर्भृङ्गीभवन्तो भ्रमराः संपद्यमाना इन्द्राः शक्राश्चन्द्राः शशाङ्का यस्य । क-
स्मादिव । प्रतापादिव । यथा—भूपो राजा परं वैरिणं तापयतीति सत्यार्थात्परंतपा-
त्प्रतापात् सकाशाच्छर्मा शोभामश्नुते ॥ इति विमलचन्द्रसूरिः ॥

रेजेऽस्य पट्टे स्मररूपधेयः सूरीन्दुरुद्द्योतननामधेयः ।

दिग्गवारणेन्द्रा इव सूरिचन्द्राः संजज्ञिरे यत्पदधारिणोऽष्टौ ॥ ९४ ॥

अस्य विमलचन्द्रसूरेः पदे पदे उद्द्योतननामा सूरीन्दुः रेजे वभासे । किंभूतः ।
स्मरः कामः तद्रूपधेयं प्रशस्तं रूपं यस्य । 'यं वभार दहनः खलु तार्यं रूपधेयमर-
मस्य विमृश्य' इति नैषधे । यस्य उद्द्योतनसूरेः पदधारिणः पट्टधराः अष्टौ अष्ट-
ख्याकाः संजज्ञिरे संजाताः । के इव । दिग्गवारणा इव । यथा—ऐरावत-पुण्डरीक-वामन-
कुमुद-अञ्जन-पुष्पदन्त-सार्वभौम-सुप्रतीक-इति नामानः अष्टौ दिग्गजेन्द्राः भवन्ति ॥

मुहूर्तमद्वैतमवेत्य टेलीग्रामस्य यः सीमि बृहद्वटस्थः ।

अस्थापयच्चैत्यतरोस्तलेऽष्टौ पार्श्वे गणेन्द्रानिव काशिकुञ्जे ॥ ९५ ॥

य उद्द्योतनसूरिः अद्वैतं समग्रग्रहगोचरोच्चग्रहनवांशादिविबुद्धमुहूर्तमसाधारण-
वेलावेत्य ज्ञात्वा टेलीग्रामो ग्रामस्य सीमि सीमायां बृहद्वटस्थो महतो न्यग्रोधद्रुमस्य
तले अधस्ताद्भूमौ अष्टौ गणेन्द्रानाचार्यान्स्थापयत् स्थापयति स्म । क इव । पार्श्वे इव ।
यथा श्रीपार्श्वनाथः काशिकुञ्जे वाराणसीपुरीपरिसरवने समवसरणमध्यस्थितसर्वजन-
च्छायाकारिकेवलज्ञानोत्पत्तिकपादपश्चैत्यतरुस्तस्य तले अष्टौ गणधरान् स्थापितवान् ॥

शाखा प्रशाखाभिरमुष्य वृद्धिर्बृहद्वटस्यैव यतो भवित्री ।

ततो बृहद्वच्छ इतीह नामापरं गणस्य प्रकटीवभूव ॥ ९६ ॥

यतो यस्मात्कारणात् शाखा वयरीमुख्याः प्रशाखास्तदुद्भवा अपरापरनामधेयरूपा-
स्ताभिः कृत्वा अमुष्य गणस्य वृद्धिर्भवित्री विस्तारो भावी । कस्येव । बृहद्वटस्येव ।
यथा बृहतो महतो वृद्धस्य वा वटस्य न्यग्रोधस्य लक्षवृक्षस्य शाखाप्रशाखाभिर्वृद्धिर्महान्
विस्तारो भवति । ततः कारणात् इह जगति भूमीमण्डले चन्द्रगच्छस्य बृहद्वच्छः लो-
कोक्त्या 'वडगच्छ' इत्यपरं पञ्चमं नाम प्रकटीवभूव । विख्यातं जातम् ॥ इति श्रीउ-
द्द्योतनसूरिः । अत्र गच्छस्य बृहद्वच्छस्यवडगच्छा इति पञ्चमं नाम जातम् ॥

माहात्म्यनग्रीकृतसर्वदेवः पदे तदीयेऽजनि सर्वदेवः ।

तारापतिस्तारकपर्षदेव गुणश्रिया यः प्रभुरन्वयायि ॥ ९७ ॥

तदीये उद्द्योतनसूरिसंबन्धिनि पदे सर्वदेवो नाम्ना सूरिरजनि । किंभूतः । माहा-
त्म्येन स्वप्रभावेन कृत्वा नम्रीकृता नमनशीला विहिताः सर्वे समस्ता अपि देवा इन्द्र-
चन्द्रादयः सुरा येन । स कः । यः प्रभुः सर्वदेवसूरिगुणश्रिया शमदमसंयमधैर्यगा-
म्भीर्याद्यनेकगुणलक्ष्म्या अन्वयायि अनुगतः । आश्रित इत्यर्थः । क इव । तारापति-
रिव । यथा चन्द्रस्तारकर्षदा ताराश्रेण्या अनुगम्यते आश्रीयते । अत्र पर्षदशब्दः
श्रेणीवाची । 'उड्डुपरिषदः किं नार्हन्ती निशा किमनौचिती' इति नैषधे । अर्हतो भावः
आर्हन्ती । 'अर्हतो नुम्वा' इति विभाषया नुम्विधानात् आर्हन्ती आर्हती रूपद्वयसि-
द्धिरिति प्रसङ्गादर्शिता ॥

यो रामसेनाहपुरे व्रतीन्दुर्लब्धिश्रियं गौतमवद्धानः ।

नाभेयचैत्ये महसेनसूनोर्जिनस्य मूर्तेर्विदधे प्रतिष्ठाम् ॥ ९८ ॥

यो व्रतीन्दुः सर्वदेवसूरिः रामसेना इत्याह्वा नाम यस्य तादृक् पुरे रामसेनिनगरे
नाभेयदेवस्य श्रीकृष्णनाथस्य चैत्ये प्रासादे महसेननाम्नो नृपस्य सूनोर्नन्दनस्य श्रीच-
न्द्रप्रभस्वामिनः मूर्तेः प्रतिमायाः प्रतिष्ठां विदधे कृतवान् । सूरिः किं कुर्वाणः । गौ-
तमवद्गौतमस्वामीव लब्धीनां तपःशक्तिविशेषाणां क्षीरास्रवादिकानां श्रियं शोभां
दधानो धारयन् ॥

चन्द्रावतीशस्य नृपस्य नेत्र इवास योऽशेषविशेषदर्शी ।

तं क्लृप्तचैत्यं प्रतिबोध्य वाचा प्रात्राजयत्कुङ्कुणमन्त्रिणं यः ॥ ९९ ॥

यः सर्वदेवसूरिः कुङ्कुणनामानं मन्त्रिणं प्रधानं वाचा स्ववाणीविलासेन प्रतिबोध्य
संसारविरक्तं कृत्वा प्रात्राजयद्दीक्षयामास । किंभूतं कुङ्कुणम् । क्लृप्तं निर्मापितं चैत्यं
जिनप्रासादो येन । यः कुङ्कुणो मन्त्री चन्द्रावत्याः पुर्या ईशस्य स्वामिनः चण्डालिनग-
रनाथस्य नृपस्य राज्ञः नेत्र इवास नयनमिव बभूव । तद्वारैव सर्वकार्यार्थानां विलोकन-
त्वेन । किंभूतो यः । अशेषाः समस्ता ये विशेषाः षड्गुणशक्तित्रिकसामादिचतुष्कोपा-
यादिकार्योपनिषदस्तान् पश्यति सम्यक्तया जानाति वक्तृत्वेवंशीलः समग्रराजकार्य-
कुशल इत्यर्थः ॥ इति श्रीसर्वदेवसूरिः ॥

कुर्वन्निवासं गवि गौरवश्रीगिरामधीशो विबुधैरुपास्यः ।

श्रीदेवसूरिः किमु देवसूरिः पदे तदीयेऽप्यजनि क्रमेण ॥ १०० ॥

अपि पुनः तदीये सर्वदेवसंबन्धिनि पदे क्रमेण महावीरपट्टपरिपाठ्या श्रीदेवसूरि-
जनि जातः । उत्प्रेक्ष्यते—देवसूरिः देवसूरिर्वृहस्पतिः किमु देवानां सुराणामाचार्यो-
ऽध्यापकः । द्वयोरपि साधर्म्यं दर्शयति—किं कुर्वन् । गवि पृथिव्यां स्वर्गे च निवासं
वसतिं कुर्वन् । पुनः किंभूतः । गौरवेण माहात्म्येन गुरुत्वेन शक्रादीनामध्यापकत्वेन ।
अथ वा गुरुर्वृहस्पतिर्जीवो देवाचार्यस्तत्त्वेन श्रीः शोभा यस्य । पुनः किंभूतः । गिरां

वाचामधीशः । 'वागीशो वाक्पतौ वाग्मी' इति हैम्याम् । 'गीर्वृहल्योः पतिः' इत्यपि च । वाचस्पतित्वात् । पुनः किंभूतः । विबुधैः पण्डितैः सुरैश्च उपास्यः सेव्यः । 'विबुधः पण्डिते सुरे' इत्यनेकार्थः ॥ इति श्रीदेवसूरिः ॥

दोषोदयोदीततमःप्रपञ्चव्यापादनव्यापृतिदीक्षितेन ।

श्रीसर्वदेवेन पदं तदीयमदीपि दीपेन यथा निकेतम् ॥ १०१ ॥

श्रीसर्वदेवेन तदीयं देवसूरिसंबन्धिपदमदीपि उद्द्योतितम् । केनेव । दीपेनेव । अत्र यथा इयार्थे । यथा कजलध्वजेन निकेतं मन्दिरं दीप्यते । किंभूतेन सर्वदेवेन दीपेन च । दोषाणामपगुणानां निशानां च उदयेनाविर्भावेन उदीतानि समेख स्थितानि अथवा दोषाणां संभवेन प्रकटीभूतानि यानि तमांसि पापानि अन्धकाराणि च तेषां प्रपञ्चो विस्तारः तस्य व्यापादनं तदेव व्यापृतिर्यापारस्तत्र दीक्षितेन गृहीतव्रतेन । सजेनेत्यर्थः । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कत' इति नैषधे । 'संकेतनिकेतमाप्ता' इत्यपि तत्रैव । इद्गल्यर्थधातुः ॥ इति द्वितीयश्रीसर्वदेवसूरिः ॥

श्रीमद्यशोभद्रगणावनीन्द्रः श्रीनेमिचन्द्रव्रतिपुङ्गवश्च ।

तत्पट्टमाकन्दमुभौ भजेते शुकोऽन्यपुष्टश्च यथा विहंगौ ॥ १०२ ॥

उभौ सूरिन्दौ तस्य सर्वदेवसूरेः पट्ट एव माकन्दः सहकारस्तं भजेते संश्रयेते । उभौ कौ । एको यशोभद्रनामा गणावनीन्द्रः गच्छाधिराजः । च पुनः परः श्रीनेमिचन्द्रनामा व्रतिनां साधूनां मध्ये पुङ्गवः प्रधानो धुरंधरत्वादृषभो वा । यथेत्युपमाने । काविव । विहंगविव । यथा उभौ विहंगौ माकन्दं भजेते । उभौ कौ । एकः शुकोः, अपरोऽन्यपुष्टः कोकिलः ॥ इति यशोभद्रनेमीचन्द्रसूरिन्दौ ॥

तयोः पदे श्रीमुनिचन्द्रसूरिरभूत्ततो निर्मितनैकशास्त्रः ।

शास्त्रे न कुत्रापि तदीयबुद्धिश्चस्खल वीङ्क्षेव समीरणस्य ॥ १०३ ॥

ततोऽनन्तरं तयोर्यशोभद्रनेमिचन्द्रमुनीन्द्रयोः पदे पट्टे श्रीमुनिचन्द्रसूरिन्दुरभूत् । किंभूतः । निर्मितानि नवीनानि कृतानि स्वयं नैकानि बहूनि शास्त्राणि ग्रन्था येन । नवीनग्रन्थनिष्पादनमसाधारणमेधां विना न स्यादत एवोच्यते । तदीया श्रीमुनिचन्द्रसूरिसंबन्धिनी बुद्धिर्मतिः कुत्रापि कस्मिन्नपि शास्त्रे न चस्खल न स्खलितानि कुण्ठीभूता । अस्खलितानुस्यूतशास्त्रव्याख्याने प्रागल्भ्यवतीत्यर्थः । केव । वीङ्क्षेव । यथा समीरणस्य पवनस्य वीङ्क्षा गतिः कुत्रापि वनगहनादौ न स्खलति ॥

भूपीडखण्डानिव चक्रवर्ती यतीभवञ्षड्विकृतीर्जहौ यः ।

कदापि काये न दधन्ममत्वं पपौ पुनर्यः सकृदारनालम् ॥ १०४ ॥

यः श्रीमुनीन्द्रचन्द्रसूरिः षट्संख्याका घृत-तैल-दुग्ध-दधि-पक्वान्न-गुड-नाम्रीर्विकृतीर्भेदादिविकारकारिणीर्जहौ तत्याज । कदाचिदपि न भुनक्ति (भुङ्क्ते) स्मेत्यर्थः ।

क इव । चक्रवर्तीव । यथा द्वात्रिंशत्सहस्रदेशाधिपतिश्चक्रवर्तीत्युच्यते । स सार्वभौमः
वैताव्यसैलद्विभागीकृतोत्तरार्धदक्षिणार्धभरतक्षेत्रस्य द्वयोरप्यर्धयोः गङ्गासिन्धुनदीभ्यां
त्रिभिर्भागैर्विभक्तत्वात् । एको गङ्गातः प्राच्यां दिशि, द्वितीयो गङ्गासिन्धुमध्यवर्ती,
तृतीयः सिन्धुनदीतः पश्चिमायाम् । एवं भूपीठस्य भारतक्षेत्रक्षोणीमण्डलस्य पट् ख-
ण्डान् जहाति । किं कुर्वन् । यतीभवन् । संसारोद्विग्नः साध्वाचरामङ्गीकुर्वन् । दीक्षां
गृह्णन्नित्यर्थः । च पुनर्यः सूरिः सकृदेकवारमेवारनालं काञ्चिकं पपी पिबति स्म । किं कु-
र्वन् । कदापि कस्मिन्नपि ऐश्वर्यमहत्त्वानुभवसमयेऽपि काये स्वशरीरे मम इत्यस्य भावो
ममत्वं नैव दधत् ॥ इति श्रीमुनिचन्द्रसूरिः ।

निर्जीयते स्म कचनापि नायं कृतोपसर्गैरपि देववर्गैः ।

इतीव नाम्ना भुवि विश्रुतेन जज्ञेऽस्य पट्टेऽजितदेवसूरिः ॥ १०५ ॥

अस्य मुनिचन्द्रसूरेः पट्टे अजितदेव इति नाम्ना सूरिर्जज्ञे । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव हे-
तोर्भुवि पृथिव्यां नाम्नाभिधानेन विख्यातेन । इति किम् । यदयं सूरिः कृता विहिता
उपसर्गा विविधमनोवचनकायक्षोभनप्रकारा उपद्रवा यैस्तादृशैरपि देववर्गैः सुरसाधैः
कचनापि कुत्रापि काले देशे वा न निर्जीयते स्म नाभिभूत इति हेतोरजितदेव इति
नाम्ना आसीत् ॥ इति श्रीअजितदेवसूरिः ॥

जगत्पुनानः सुमनःस्रवन्तीरयो जटाजूटमिवेन्दुमौलेः ।

अमुष्य पट्टं विजयादिसिंहो ध्यासांबभूवाथ तपस्त्रिसिंहः ॥ १०६ ॥

अथानन्तरममुष्याजितदेवसूरेः पट्टं विजय इति पदमादौ यत्र तादृशः सिंहः एतावता
विजयसिंहसूरिः अध्यासांबभूव आश्रयति स्म । किंभूतः । तपस्त्रिषु तपःकारकेषु
साधुषु वा सिंहः पञ्चाननः । क इव । सुमनःस्रवन्तीरय इव । यथा सुमनसां देवानां
स्रवन्ती नदी गङ्गा तस्या रयः प्रवाहः इन्दुमौलेरीश्वरस्य जटाजूटं कर्पदम् । ‘शंभोः क-
र्पदस्तु जटाजूटः’ इति हैम्याम् । श्रयते । विजयसिंहो गङ्गाप्रवाहश्च किं कुर्वीणः । जग-
द्विश्वं पुनानः पवित्रीकुर्वीणः ॥

सोमप्रभः श्रीमणिरत्नसूरी अमुष्य पट्टं नयतः स्म लक्ष्मीम् ।

इक्ष्वाकुवंशं भरतश्च बाहुबलिस्तनूजाविव नाभिसूनोः ॥ १०७ ॥

अमुष्य विजयसिंहसूरेः पट्टमेकः सोमप्रभनामा अपरो मणिरत्ननामा सूरी आचार्यौ
लक्ष्मीं शोभां नयतः प्रापयताम् । काविव । तनूजाविव । यथा नाभिनाम्नः सप्तमकुल-
करस्य सूनोर्नन्दनस्य श्रीऋषभदेवस्य पुत्रौ । एको भरतचक्रौ च पुनर्द्वितीयो बाहुबलित्वौ
तनयौ श्रीऋषभदेवस्य बाल्यावस्थायां वंशस्थापनार्थं समेतस्य पुरंदरस्य पाणिस्थितेक्षु-
यष्टेरवलोकनात्प्रभोस्तद्वल्लभाभिलाषादिन्द्रेण स्थापितमिक्ष्वाकुवंशं भूषां नयतः ॥ इति
सोमप्रभमणिरत्नसूरीन्द्रौ ॥

श्रीमज्जगच्चन्द्र इदंपदश्रीललामलीलायितमाततान ।

येनोज्झि शैथिल्यपथस्तटाको घनाविलो मानसवासिनेव ॥ १०८ ॥

श्रीमानतिशायिशोभाभाजनं जगच्चन्द्र इति नाम्ना सूरिरिदं पदस्य इदमदः एतदित्यादिशब्दाः समासान्ता अपि दृश्यन्ते । यथा नैषधे—‘इदं यशांसि द्विषतः सुधारुचः’ इति । अनयोः सोमप्रभमणिरत्नसूरीन्द्रयोः पटस्य श्रियो लक्ष्म्या ललाम्नस्तिलकस्य ललामस्य वा । ललामशब्दो नान्तोऽदन्तश्च । लीलायितं लीलावदाचरितं लीलायाचरितं वा आततान कुरुते स्म । गुरुपटलक्ष्मीतिलकमासीदित्यर्थः । येन श्रीजगच्चन्द्रसूरिणा शैथिल्यपथः स्वगच्छवासिसाधुजनानां कलिकालानुभावात्संयमपालने हीनतमाध्यवसाय-भाजां शिथिलताकलितो मार्ग औज्झि त्यक्तः । प्राचीनमुनीनां मार्ग आहत इत्यर्थः । त्यक्तः केनेव । मानसवासिनेव । यथा हंसेन घनेन मेघदृष्ट्या आविलः कलुषीभूत-जलस्तटाक उज्झ्यते । वर्षाकाले हि हंसा जलदजलागमनजम्बालबहुलीभूतपयांसि सरांसि संत्यज्य मानसमेवाद्विद्यन्ते । ‘कुद्वोल्लूकनखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषस्ते केचिदन्ये द्विजाः । ये तु स्वर्गतरङ्गिणीविसलतालेशेन संवर्धि-ता गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम् ॥’ इति सूक्ते ॥

द्वात्रिंशदाशवसनैरभेद्यो वादं सृजन्हीरकवद्यदासीत् ।

आघाटभूपेन स हीरलाद्यो नाम्ना जगच्चन्द्र इति न्यगादि ॥ १०९ ॥

यद्यस्मात्कारणायः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः द्वात्रिंशत्संख्याकैराशवसर्नर्दिगम्बराचार्यैर्वादिभिः सार्धं वादं सृजन् कुर्वन् हीरकवद्वज्रमणिरिव अभेद्यो भेत्तुमशक्यः अजेय आसीत् तत्कारणादाघाटनामनगरस्य भूपेन राज्ञा संप्रति लोके आह्वननगरमिति प्रसिद्धपुरस्य स्वामिना स सूरिः इदमेतन्न्यगादि प्रोक्तः । इदं किम् । यदयं सूरीन्द्रो नाम्ना हीरला इति पदमाद्यं यत्र तादृशो जगच्चन्द्र एतावता हीरलाजगच्चन्द्रसूरिरिति कथितः ॥

आचाम्लकैर्द्वादशहायनान्ते तपेत्यवापद्विरुदं मुनीन्दुः ।

महाहवैर्वैरिविनिर्नयान्ते भर्तेव भूमेर्जितकाशिसंज्ञाम् ॥ ११० ॥

यो मुनीन्दुः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः निरन्तरनिर्मितैराचाम्लकैः केवलजलान्तर्भक्तभक्षण-लक्षणतपोविशेषैः कृत्वा द्वादशसंख्याकानां हायनानां वर्षाणामन्तेऽवसाने तपा इति विरुदमवाप्तुं प्राप । द्वादशवत्सरीं यावन्निरन्तरमाचाम्लान् कुर्वाणं यं प्रेक्ष्य तृपेण प्रोक्तं यदमी महातपा दृश्यन्ते तदा तपा इति विरुदवान् प्रभुरभूदित्यर्थः । क इव । भूमिभर्तेव । यथा पृथ्वीपतिर्महद्भिर्गुरुभिराहवैः संग्रामैः कृत्वा वैरिणां शत्रूणां वि-निर्जयस्य पराभवनस्य प्रान्ते पर्यन्ते जितकाशी जिताहव इति संज्ञां प्राप्नोति ॥

असात्ततः प्रादुरभूत्पाख्या नेत्रादिवात्रेद्विजराजलेखा ।

अदीपि यस्माच्च मुमुक्षुलक्ष्म्या वसन्तमासादिव भानुभासा ॥ १११ ॥

ततस्तथा इति नामकथनानन्तरं तद्दिनमारभ्य च अस्माजगच्चन्द्रसूरेर्वृहद्गच्छस्य त-
पागच्छ इत्याख्या नाम प्रादुरासीत्प्रकटीवभूव । कस्मादिव । नेत्रादिव । यथा अत्रे-
स्तापसविशेषस्य नयनाद्विजराजस्य चन्द्रस्य लेखा मण्डली प्रादुर्भूता । च पुनर्यस्मात्प्र-
भोर्मुमुक्षुलक्ष्म्या यतिश्रिया अदीपि अधिकं दीप्यते स्म । कस्मादिव । वसन्तमासा-
दिव । यथा मधुसमयाद्धानोर्भास्करस्य भासा प्रभया दीप्यते ॥ इति श्रीजगच्चन्द्रसूरिः ॥
इति बृहद्गच्छस्य तपागच्छ इति षष्ठं नाम संजातम् ॥

देवेन्द्रकर्णभरणीभवद्विर्यशोभिरुद्भासितविष्टपेन ।

देवेन्द्रदेवेन बभेऽस्य पट्टे विष्णोर्यथा वक्षसि कौस्तुभेन ॥ ११२ ॥

अस्य श्रीजगच्चन्द्रसूरिः पट्टे देवेन्द्र इति नाम यस्य तादृशेन देवेन भट्टारकेण । ‘पादा
भट्टारको देवः प्रयोज्याः पूज्यनामतः’ इति हैमीवचनात् । बभे शुशुभे । किंभूतेन ।
देवेन्द्राणां सुरसार्वभौमानां कर्णयोः श्रवणयोरभरणीभवद्विर्भूषणैः संपद्यमानैः क-
र्णपूरायमाणैः गीतगोष्ठीषु तुम्बुरुप्रमुखसुरगन्धर्वगणजेगीयमानयद्गुणश्रवणैकतानाः सु-
रेन्द्राः संजायन्ते इत्यर्थः । यशोभिः कृत्वा उद्भासिनं शोभां नीतं विष्टपं विश्वं येन ।
केनेव । कौस्तुभेनेव । यथेत्युपमाने । इवार्थे वा । यथा विष्णोर्नारायणस्य वक्षसि हृदये
कौस्तुभेन समुद्रोत्पन्नरत्नविशेषेण उद्भास्यते ॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिः ॥

निजाङ्गनोद्गीतयदीयकीर्तिं शुश्रूषुरक्षिस्व(श्र)वसामृभुक्षाः ।

चक्षुःसहस्रे रसिकः किमाधात्पट्टे स तस्याजनि धर्मघोषः ॥ ११३ ॥

तस्य देवेन्द्रसूरिः पट्टे स मन्त्रादिशक्तिमान् मुनीनां विघ्नहर्ता प्रसिद्धः धर्मघोषसूरि-
रजनि जातः । यस्य निजस्य शेषनागात्मनः अङ्गनाभिः कामिनीभिः धर्मगीतगोष्ठ्यामु-
त्प्राबल्येन हर्षोत्कृष्टतया वा गीतां गानविषयं नीतां यदीयां श्रीधर्मघोषसंबन्धिनीं
कीर्तिं शुश्रूषुः श्रोतुमिच्छुः रसिकः जगदद्वैतगुणगणप्रगुणयद्गीतगानाकर्णनोऽलः सन्
अक्षिणी नेत्रे एव स्र(श्र)वसी कर्णौ येषां तेषामक्षिश्रवसां नागानामृभुक्षा इन्द्रः । नागानां
हि चक्षुष्येव कर्णाः, न तु पृथक् श्रवणेन्द्रियभाजः । यतः ‘अश्रोत्राः फणिनस्तदेव रु-
चिरं नो चेदहिंस्वामिना’ इति खण्डप्रशस्ती । उपप्रेक्ष्यते—नागेन्द्रः चक्षुःसहस्रे नयन-
विंशतिशती(?) आधाचकार दधार वा । ‘शेषो नागाधिपोऽनन्तो द्विसहस्राक्ष आलुक्’
इति हैम्याम् । भोगिनो हि नयनैः पश्यन्ति शृण्वन्ति च यतः । ‘अदस्तदाकर्णि फ-
लाढ्यजीवितं दशोद्द्वयं नस्तद्वीक्षि चाफलम्’ इति नैषधे ॥

मिथ्यामतोत्सर्पणबद्धकक्षं प्रेक्ष्य क्षितौ जीर्णकपर्दिनं यः ।

प्रबोध्य वाचा जितराजबिम्बाधिष्ठायकं पूर्वमिव व्यधत् ॥ ११४ ॥

यः श्रीधर्मघोषसूरिः जावडिनिर्मितं श्रीशत्रुंजयोद्धारसमये वज्रस्वामिमाहात्म्यान्नवी-
नकपर्दियक्षेण त्याजितशत्रुंजयं जीर्णकपर्दिंराजं गोमुखापरपर्यायं वाचा स्वमधुरया गिरा

प्रतिबोध्य सम्यक्त्वधारिणं विधाय जिनराजस्य तीर्थकृतो विम्बस्य प्रतिमाया अधिष्ठायकं व्यधत्त चकार । कमिव । पूर्वमिव । यथा पूर्वं विमलाचले ऋषभमूर्तेरधिष्ठायकोऽभूत्तथैव तत्राप्यकृत । किं कृत्वा । प्रक्षय इष्ट्वा । अर्थात्तं कपर्दिनम् । किंभूतम् । मिथ्यामतस्य विमलाद्रेर्निष्कासनान्यकपर्दिस्थापनेर्ष्वारोपेण मिथ्यालस्योत्सर्पणे वृद्धिविधाने बद्धा कक्षाङ्गीकारो येन । कस्याम् । क्षितौ देवकपत्तनादिभूमौ ॥

शिष्यार्थनानिर्मितसंस्तवस्यानुभावतो देवकपत्तनेऽब्धिः ।

भूपस्य शुश्रूषुरिवास्य रत्नं तरङ्गहस्तैरुपदीचकार ॥ ११५ ॥

कौतुकान्मणिदर्शनोत्कण्ठया वा निजशिष्याणामर्थनया याच्यया आग्रहेण वा निर्मितो रचितोऽर्थान्मन्त्रमयः संस्तवः स्तोत्रं तस्यानुभावतः प्रभावात् देवकपत्तनसमीपसमुद्रः अस्य श्रीधर्मघोषसूरेस्तरङ्गाः कल्लोला एव हस्तास्तै रत्नं मणिमुपदीचकार ङौक्यामास । तेषां च स निर्ग्रन्थत्वेनाग्रहणाभावादम्बुधिः स्वतरङ्गहस्तोपरि रत्नं दर्शयामासेत्यर्थः । कस्येव । भूपस्येव । यथा शुश्रूषुः सेवां कर्तुमिच्छुः पुमान् राज्ञो रत्नमुपदीकुरुते ॥

विद्यापुरे योऽखिलशाकिनीनामुपद्रवं द्रावयति स्म सूरिः ।

श्रीहेमचन्द्रो भृगुकच्छसंज्ञे पुरे यथा दुर्धरयोगिनीनाम् ॥ ११६ ॥

यः श्रीधर्मघोषसूरिः प्राक् साधुजनसंतापकारिकाणां स्वागमने पट्टकादिमण्डनं मांस-लोहकटकीभूतपायसवटकविहारणं च गुरुशयनपट्टिकोत्पाटनचचरानयनमित्याद्युपद्रवविधायिकानां श्रीविकानामधारिकाणामखिलानां सर्वासां शाकिनीनां सिद्धसीकोत्तरिकाणां मुपसर्गमुपद्रवं द्रावयति स्म । चच्च(त्व)रे गमनानन्तरं गुरुभिरुच्छायाभिमन्त्रितचतुःसूचीनां पट्टिकाचतुःपादोपरिक्षेपणेन स्तम्भितानां विभातप्रायविभावयौ विवसनानां तासां बहुविलपनाननाङ्गुलीक्षेपणनृपतिमृतिभीतिनिवेदनब्रह्मादिसप्तवाग्बन्धप्रदाननगरजनविज्ञस्य-वधारणालयान्तःपट्टिकानयनपूर्वकं निवारितान् साधुजनान् निरुपद्रवांश्चक्रे । क इव । श्रीहेमचन्द्र इव । यथा श्रीहेमाचार्यः भृगुकच्छ इति संज्ञा नाम यस्य तादृशे पुरे स्वनिर्मापित-श्रीमुनिसुव्रतस्वामिप्रासादे प्रह्लादाद्भगवत्पूजां प्रणीय सायं चैत्याकाशभूमौ नृत्यं कुर्वतस्तदवसरे कुत्रचित् प्रयान्तीनां दुर्धराणामुत्कटानां दुष्टानां चतुःषष्टिमितानां योगिनीनामव्यन्तरीविशेषाणां दोषे संजाते सति निश्चेष्टकाष्ठीभूताम्रमन्त्रिणो ज्ञानवृत्तान्तःपवनसाधनया गगनमार्गेण क्षणेनागतः श्रीहेमचन्द्रसूरिः समेत्य सार्धं समेतयशोभद्रगणितसिन्धुदेवीप्रासादे गत्वा हक्कादानात्सिन्धुदेवतया भाषणकृते जिह्वाकर्षणादतिरोषजुषा गणिनो दूष(ख)लमध्ये कर्करोपरिमुशलप्रहारप्रदानाद्वाहि त्राहीति सिन्धुदेवीशरणीभूताभिस्ताभिः समं सिन्धुदेवी सयशोभद्रश्रीहेमचन्द्रसूरिं सानुनयं पदयोः प्रणनाम । तद्वाग्बन्धकपूर्वकं सर्वदेवानामुपद्रवं विद्रावितवान् आग्रमटं च सजीकृतवान् ॥

यो योगिनं पुष्पकरण्डिनीस्थं दुश्चेष्टितैर्भापनबद्धकक्षम् ।

पादावनम्रं विदधेऽन्तिमोऽर्हन्निवास्थिकग्राभिकशूलपाणिम् ॥ ११७ ॥

यः श्रीधर्मघोषसूरिः पुष्पकरण्डिन्यामुजयिन्याम् । ‘उजयिनी स्याद्विशालावन्ती पुष्पकरण्डिनी’ इति हैम्याम् । तिष्ठतीति पुष्पकरण्डिनीस्थस्तं कमपि सिद्धचेटकपेट-
कमत एव दुष्टचेष्टितैर्भयंकरप्रकारैः साधूनां भापने भयोत्पादने बद्धकक्षं सजीभूतं कोऽपि साधुस्तं प्रतिकर्तुं न शक्नोति अतएव तद्भयकरणप्रकारमाह—प्राक् साधुविहारनिषेधकं गुर्वागमने च गोचरीगतसाधूनां प्रक्षेपे स्थास्यथ । गुरुशिक्षितैस्तैरुक्तम् । स्थिताः स्म । ततो महत्कुहालतुल्यदन्तानदर्शययोगी । साधवः कपोनिकां दर्शयित्वा गुरुपाश्वर्यं गताः । तत उपाश्रयेऽपि अतिभयंकरप्रचुरोन्दरविडालकुङ्कुशृगालश्वापदवृश्चिकभुजगादिदर्शनादिना गुरुमपि भापनोद्यतं प्रभुणा च जैनमन्त्रस्मरणानुभावेन पुरजन्मनृपतच्छिष्यसमक्षं मन्त्राधिष्ठायकेन बद्धा पुरप्रासादशिखरसंघटनास्फालनपूर्वकं घनघृष्यमाणप्रवहच्छो-
णितशरीरं शिष्या अहं म्रिये म्रिये कोऽपि मामवस्तिवति पुनः पुनर्दानभाषिणं वेदनया पूतुर्वापणं गगनेनोपाश्रये नीतं योगिनं पदावनम्रं स्वचरणयोर्नमनशीलं विदधे कृतवान् । कः इव । अर्हन्निव । यथा अन्तिमश्चरमश्चतुर्विंशतितमोऽहं जिनः श्रीमन्महावीर-
देवः अस्थिकग्रामस्थायुकश्चूतपाणिनामानं यक्षं स्वचरणसेवापरायणं चक्रे । सोऽपि किंभूतः । दुष्टैर्जीवप्रणाशनकरैश्चेष्टितैरुपसर्गैर्भगवतो भापनोद्यतम् (?) ॥

यस्योपदेशान्नृपमन्त्रिपृथ्वीधरश्चतुर्भिः सहितामशीतिम् ।

ज्ञातीरिवोद्धर्तुमिदंमिताः स्था व्यधापयत्तीर्थकृतां विहारान् ॥ ११८ ॥

यस्य श्रीधर्मघोषसूरैरुपदेशाद्वाचा नृपस्य मालवमण्डलपतिमण्डलं पाचलस्थपातिसा-
हैमन्त्री प्रधानः पृथ्वीधरः लोकोकल्या च पेधडदे इति नामा चतुर्भिः सहितां युतामशी-
तिमेतावता चतुरशीतिं तीर्थकृतां श्रीजिनानां विहारान् प्रासादान् व्यधापयत्कारितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—इदंमिताः प्रासादसंख्याश्चतुर्विंशतिप्रमाणाः स्थाः स्वकीयाः वणिकसंबन्धिनी-
श्चतुरशीतिज्ञातीरुद्धर्तुं संसारान्निस्तारयितुमिव । तथा तस्योपदेशाच्च श्रीशत्रुंजयगिरि-
नारिसंघपतीभवन् रैवतगिरौ च इदमस्माकं तीर्थमिदमस्माकं तीर्थमिति मिथो दिग्मन्वरैः सह विवादे ‘य इन्द्रमालां परिधत्ते तस्येदं तीर्थम्’ इति संघवृद्धैः प्रोक्ते सुवर्णसिद्धधा-
त्रायेन स्वकृतसुवर्णषट्पञ्चाशद्वटीभिः इन्द्रमालां परिहितवान्, तथा शत्रुंजयोजयन्तमूल-
प्रासादशिखरदण्डयोरेकसौवर्णध्वजाधिरोपणादिना चाष्टौ घटीर्व्ययितवांश्चेति शेषः ॥

दंशादहेर्ग्राहितकाष्ठभारविषौषधीसज्जतनुर्निशान्ते ।

महात्मवद्यो विकृतीर्विहाय वृत्ति व्यधादेव युगंधरीभिः ॥ ११९ ॥

यो धर्मघोषसूरिः युगंधरीभिरेव वृत्तिमाहारं व्यधात् । अन्यधान्यप्रत्याख्यानं चकारे-
त्यर्थः । किं कृत्वा । घृतादिकाः षड्विकृतीर्विहाय त्यक्त्वा विमुच्य । किंवत् । महात्म-
वत् । यथा महात्मा सुजनोविकृतीः परद्रोहादिप्रकारान् पिशुनता वा विजहाति । किं-
भूतः । अहेर्भुजङ्गमस्य दंशाद्भक्षणान् निशान्ते राज्यवसाने प्रभाते ग्राहिता श्राद्धपार्थं
समानायिता या काष्ठभाराद्विषसौषधी वल्ली विषापहारिणी लता तथा सजा निविषा तनुः

शरीरं यस्य । अत्रायं संप्रदायः—कदाचिन्नक्तं दुष्टसर्पस्य दंशाद्विषवेगोद्भवन्मूर्छया घूर्णितं गुरुमालोक्य कमपि तदुपायमजानन्तं किंकर्तव्यतामूढं संघं विज्ञाय प्रभुः संघं प्रत्याचख्यौ—‘प्रातर्या प्रथमं काष्ठभारिका समेति तन्मध्यादमुकाभिज्ञानेन विषापहारिणीमौषधीं गृहीत्वा धृष्टा च मृदुंको(महंशे) देया सज्जो भविष्यामि’ इति गुरुगिरमाकर्ण्य हृष्टेन संघेन तथाकृते सजीभूतः प्रभुस्तदादिषड्विकृतीः प्रत्याख्याय युगंधर्यैव केवलमाहारमकरोदिति ॥ इति धर्मघोषसूरिः ॥

यस्मादिदीपे चरणस्य लक्ष्मीज्योत्स्नेव चान्द्री शरदोऽनुषङ्गात् ।

सोमप्रभाख्यो जनदृक्चकोरीसोमप्रभः सूरिरभूत्पदेऽस्य ॥ १२० ॥

अस्य धर्मघोषसूरिः पदे सोमप्रभ इत्याख्या नाम यस्य तादृशः सूरिरभूत् । किंभूतः । जनानां लोकानां दृशो दृष्टयः ता एव चकोर्यो ज्योत्स्नाप्रियप्रियास्तासां प्रह्लादकत्वेन सोमस्य चन्द्रस्य प्रभेव चन्द्रिकेव यः । यस्मात्सूरेश्वरणस्य चारित्रस्य लक्ष्मीर्दिदीपे अतीव शोभितवती । केव । ज्योत्स्नेव । यथा शरदो मेघाख्यस्यानुषङ्गादाश्लेषात्संगमाच्चन्द्रस्येयं चान्द्री कौमुदी दीप्यते ॥ इति श्रीसोमप्रभसूरिः ॥

तेनापि सोमतिलकाभिधसूरिरात्म-

पट्टे न्यवेशि वशिलक्षिमलसल्ललामम् ।

वादिषु येन परवादिकदम्बकस्या-

नध्यायता प्रतिपदेव मुखे न्यवासि ॥ १२१ ॥

अपि पुनस्तेन श्रीसोमप्रभसूरिणा आत्मपट्टे स्वपदे सोमतिलक इत्यभिधा नाम यस्य तादृशः सूरिराचार्यः न्यवेशि स्थापितः । ‘न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः’ इति नैषधे । किंभूतः । वशिनां जितात्मनां श्रमणानां या लक्ष्मीस्तस्या लसद्दीप्यमानं ललामं तिलकम् । ललामशब्दो नकारान्तोऽकारान्तोऽप्यस्ति । येन सोमतिलकसूरिणा वादिषु पारे नैयायिकादयः पारे जैनाभासाः परपक्षीयास्त एव वादिनो वादं कर्तुमुद्यतास्ताकिंका वा तेषां कदम्बकस्य वृन्दस्य मुखेऽनध्यायता तूष्णीकता मौनमेव न्यवासि वासिता । कथेव । प्रतिपदेव । यथा प्रतिपत्तिथिना छात्राणां मुखेऽनध्यायता अध्ययनाभावो मुखे वास्यते । ‘प्रतिपत्पठनाशिनी’ इत्युक्तेः ॥ इति सोमतिलकसूरिः ॥

संस्थापितो निजपदे गुरुणाथ तेन

श्रीदेवसुन्दरगुरुः सुरसुन्दरश्रीः ।

अहोमुखेन तिभिरेण तमस्विनीव

येन व्यपास्यत समं मदनेन माया ॥ १२२ ॥

अथानन्तरं तेन प्रभुणा श्रीसोमतिलकसूरीन्द्रेण निजस्यात्मनः पदे पट्टे श्रीदेवसुन्दरगुरुः संस्थापितः । किंभूतः । देववत्सुर इव सुन्दरा जनमनोहरा श्रीः शरीरशोभा

यस्य । येन श्रीदेवसुन्दरगुरुणा मदेन(दनेन) मुन्मोहसंभेदेन गर्वेण वा । अथ वा जाता-
वेकवचनम् । अष्टभिर्मदैः समं माया शठता दम्भचारिता वा व्यपास्यत विरस्ता । केनेव ।
अहोमुखेनेव यथा प्रभातेन तिमिरेणान्वकारेण सार्धं तमखिनी रात्रिर्व्यपास्यते । अहो-
मुखेनेखत्रालुक्समासः, पृथक् पदद्वयी वा ॥ इति श्रीदेवसुन्दरसूरिः ॥

घूकैरर्कमिव द्विषद्भिरुदये हन्तुं परैः प्रेषितं

कंचिच्चन्द्ररुचा प्रमादविमुखं स्वापेऽपि दृष्ट्वा प्रभुम् ।

क्षाम्यन्तं गदिताखिलव्यतिकरं संबोध्य योऽदीक्ष्य-

त्स श्रीमानथ सोमसुन्दरगुरुर्भेजे तदीयं पदम् ॥ १२३ ॥

अथानन्तरं स प्रसिद्धमहिमा श्रीमान् जगति संयमसंवेगादिगुणैः कृत्वा शोभावान्
सोमसुन्दरनामा गुरुस्तदीयं देवसुन्दरसूरिसंबन्धि पदं भेजे श्रितवान् । स कः । यः
श्रीसोमसुन्दरसूरिः कंचिदनिर्दिष्टनामानं घातुकं घातकारिणं पुमांसं संबोध्य प्रतिबो-
धयित्वादीक्ष्यत् संघस्यादेशपूर्वकं तत्समक्षं च प्राप्ताजयत् । कंचित् किंभूतम् । उ-
दये उद्गमनसमये अर्कं सूर्यं घूकैः कौशिकैरिव उदये सूरिमाहात्म्यदर्शनचमत्कृतचेतो-
भिर्जगज्जनैः प्रतिपदं प्रणीतातिश्लाघाकर्णनव्यतिकरे द्विषद्भिः वैरायमाणैः परैः परप-
क्षीयैर्दुर्वादिभिर्वा हन्तुं गुरुं व्यापादयितुं प्रेषितं प्रहितम् । पुनः किं कुर्वन्तम् । च-
न्द्रोदये चन्द्रे गगनमण्डलमवगाहमाने सति जालान्तरागतसान्द्रचन्द्रिकया स्वापे निद्रा-
वस्थायामपि प्रमादादनवधानताया विमुखम् । प्रमादरहितमित्यर्थः । रजोहरणेन संस्त-
ारकं स्वस्य पार्श्वं च पृष्ठं च प्रमार्ज्य पार्श्वं परावर्तयन्तं दृष्ट्वा दृग्गोचरीकृत्य 'अहो अमी
निद्रायामपि क्षुद्रजन्तुजातरक्षाकारिणो दृश्यन्ते, तत्कथमेते कृपापीयूषपारावाराः प-
रेभ्यो दृढ्यन्तो भविष्यन्ति । ततो महापातकिभिरेतदुष्कर्मकारणार्थं प्रेषितेन मया
परलोके शुभोदककाङ्क्षिणा सर्वथाप्येते महाबुद्धिमान् न घात्याः, प्रत्युत रक्षणीयाः, आ-
त्मनोऽप्यैहिकलौकिकपारलौकिकशिवाय शरणमाश्रयणीयाश्च' इति वितर्कपूर्वकं गुरुं
जागरयित्वा मनोजनितमपि स्वापराधं पादयोर्लगित्वा क्षाम्यन्तं गर्हन्तं च । अत एव
किंभूतम् । गदितः कथितः स्वस्यात्मनोऽखिलः समस्तोऽपि व्यतिकरः परप्रेषणादिकः
व्यापारः समयो वा येन ॥ इति श्रीसोमसुन्दरसूरिः ॥

पटुश्रियास्य मुनिसुन्दरसूरिशके

संप्राप्तया कुवलयप्रतिबोधदक्षे ।

कान्तेव पद्मसुहृदः शरदिन्दुबिम्बे

प्रीतिः परा व्यरचि लोचनयोर्जनानाम् ॥ १२४ ॥

श्रीमुनिसुन्दरनाम्नि सूरिशके संप्राप्तया समागतया अस्य श्रीसोमसुन्दरसूरेः पटु-
श्रिया जनानां भविकलोकानां लोचनयोर्नेत्रयोः परा प्रकृष्टा प्रीतिः प्रमोदो व्यरचि ।

कस्मिन्निव । शरदिन्दुबिम्ब इव । यथा शरदः शरत्कालसंवन्धिनि चन्द्रमण्डले समे-
तया पद्मसुहृदः सूर्यस्य कान्त्या दीप्त्या जनदृशां परा प्रीतिर्विरचय्यते । 'पुपोष वृद्धि
हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः' इति रघुवंशे । हरिदश्वो भास्वांस्तस्य दी-
धितेः कान्तेरनुप्रवेशात्संक्रमणाच्छुचन्द्रो द्वितीयां पारभ्य वर्धते—इति तद्वृत्तिः ।
किंभूते मुनिमुन्दरसूरीन्द्रे चन्द्रबिम्बे च । कुवलयं भूमण्डलमुत्पलं च तस्य प्रतिबोधे
बोधिबीजदेशविरतिसर्वविरतिप्रमुखप्रदाने विकाशने च दक्षे चतुरे ॥

योगिनीजनितमार्युपप्लवं येन शान्तिकरसंस्तवादिह ।

वर्षणादिव तपर्तुतस्यो नीरवाहनिवहेन जग्निरे ॥ १२५ ॥

येन श्रीमुनिमुन्दरसूरीणा इह शिवपुर्या भूमीमण्डले दुष्टयोगिनीभिर्दुराशयव्यन्तरी-
देवीविशेषाभिर्जनिता उत्पादिता मारेर्जनमरकस्योपप्लवा उपद्रवाः 'सन्तिकरं सन्ति-
जिणम्' इत्यादि शान्तिकरनाम्नः संस्तवात्स्तोत्रात्स्तुतिप्रभावाज्जग्निरे निहता निवारिताः ।
केनेव । नीरवाहेनेव । यथा मेघेन वर्षणाजलवृष्टिविधानात्तपर्तोर्ध्वांश्चसमयस्य तप्तय-
स्तापा निहन्यन्ते ॥

बाल्येऽपि रश्मीन्सरसीजबन्धुरिवावधानानि वहन्सहस्रम् ।

अष्टोत्तरं वर्तुलिकानिनादशतं स्म वेवेक्ति धियां निधिर्यः ॥ १२६ ॥

यो मुनिमुन्दरसूरीर्बाल्येऽपि शैशवे क्षुल्लकत्वेऽपि अष्टाभिरधिकं वर्तुलिकानां कच्चो-
लिकानां 'वाटका कच्चोली' इति प्रसिद्धानां निनादानां शब्दानां शतं कचित्सहस्र-
मपि वेवेक्ति पृथक् पृथक् कृत्वा कथयति स्म । पत्तनसमागतैरभुक्तदेशोपेतपण्डितद्विजं
पत्रावलम्बनं विधाय प्रतिपत्तनपण्डितस्थानं जलभृतकुण्डलकं तृणपूलकं च स्वशिष्यै-
र्मोचयन्तं तच्छिष्यनिद्वटिनपूर्वकं मुनिमुन्दरशिषुना राजसभायां स्वेन सार्धं समाग-
तचतुरशीतिपौ(?) प्रथमशालासत्काचार्यैर्वादे जायमाने षण्मास्यन्ते राजकथनपूर्वं स्वाह-
ष्टाष्टोत्तरशतवर्तुलिकानां पृथक् पृथक् शब्दान् कथयित्वा तं विजिग्ये । पदप्रणम्रीचक्रे
चेति भावः । किंभूतः । धियां विशिष्टबुद्धीनां निधिर्निधानम् । किं कुर्वन् । सहस्रं
दशशतीभवधानानि बहुप्रकारधारणाविशेषान् वहन् विभ्रत् । क इव । सरसीरुहबन्धु-
रिव । यथा भास्वान् बाल्येऽपि रश्मीन् सहस्रं रश्मीन् वहते धारयति ॥

अलम्भि याम्यां दिशि येन काली सरस्वतीदं विरुदं बुधेभ्यः ।

रवेरुदीच्यामिव तत्र तेजोऽतिरिच्यते यत्पुनरत्र चित्रम् ॥ १२७ ॥

येन श्रीमुन्दरसूरीणा याम्यां दक्षिणस्यां दिशि अयं काली सरस्वती इदमेतद्विरुदं नाम
विशेषोऽलम्भि प्राप्तम् । केभ्यः । बुधेभ्यः दक्षिणात्यपण्डितेभ्यः । पुनर्यदु[दी]च्यामु-
त्तरस्यां दिशि रवेर्भानोरिव तत्र दक्षिणस्यां दिश्यपि अस्य सूर्यस्तेजः प्रतापः । 'एत-
स्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैरपि पङ्कुराङ्गिभिरभिव्यक्तीभवन्भानु-
मान्' इति नैषधे । तेजसां प्रतापानां लङ्घनेऽतिक्रमणे—इति तद्वृत्तिः । अतिरिच्यते

अतिशायी भवति । तदत्र जगति महच्चित्रमस्माकं जायते । सूर्यस्य दक्षिणस्यां तु तेजो-
हानिरुत्तरस्यां तु तेजोवृद्धिः । एतद्गुरोस्तु दक्षिणस्यामपि प्रतापः केनापि सोढुं न श-
क्यत इत्याश्चर्यम् ॥ इति श्रीसुनिन्दरसूरिः ॥

सूरेस्ततोऽजायत रत्नशेखरः श्रीपुण्डरीको वृषभध्वजादिव ।

बाम्बीति नाम्ना द्विजपुङ्गवेन न्यगादि यो बालसरस्वतीति ॥ १२८ ॥

ततस्तस्मात् श्रीसुनिन्दरसूरीन्द्रात् रत्नशेखर इति नामा सूरिरजायत । क इव ।
यथा भरतचक्रवर्तिप्रथमसुतः श्रिया गणभृलक्ष्म्या कलितः पुण्डरीकनामा श्रीवृषभध्व-
जात् वृषभलाञ्छनात् । 'ध्वजश्चिह्ने पताकायां शिश्रे पूर्वदिशो गृहे । खट्वाङ्गे शोण्डिके
माने' इत्यनेकार्थतिलके । आदिदेवाञ्जले । यः श्रीरत्नशेखरसूरिः स्थम्भतीर्थे बाम्बी-
नाम्ना द्विजपुङ्गवेन ब्राह्मणश्रेष्ठेन अयं बालसरस्वती इति न्यगादि कथितः । तदादि
बालसरस्वतीति विरुदं दधार ॥ इति रत्नशेखरसूरिः ॥

लक्ष्मीसागरसूरिशीतमहसा लक्ष्मीरवापे ततो

दीपेनेव गुणोदयं कलयता ज्योतिर्बृहद्भानुतः ।

गायन्तीः सुरसुन्दरीगुणगणान्यस्याष्टदिवसङ्गिनी-

विज्ञायाष्ट विनिर्ममे किमु विधिः श्रोतुं श्रुतीरात्मनः ॥ १२९ ॥

ततः श्रीरत्नशेखरसूरिः सकाशात् लक्ष्मीसागर इति नाम्ना सूरिशीतमहसा आचार्येषु
भविकाह्लादकत्वेन चन्द्रेण लक्ष्मीः पट्टश्रीरवापे प्राप्ता । केनेव । दीपेनेव । यथा गृह-
मणिना बृहद्भानोर्वहेः सकाशात् ज्योतिर्दीप्तिरवाप्यते । किं कुर्वता सूरिणा दीपेन च ।
गुणानां शमदममार्दवार्जवगाम्भीर्यधैर्यादीनां वृत्तेः सूत्रमध्याश्वोदयमाविर्भावं च कल-
यता विभ्रता । यस्य गुरोर्गुणानां गणान् समूहान् अष्टसु पूर्वोभियामीनैर्ऋतप्रतीची-
चायूदीचीशानीदिक्षु विदिक्षु च सङ्गोऽस्त्यासामिल्यष्टदिवसङ्गिनीरष्टदिक्षु संतिष्ठमानाः
सुरसुन्दरीर्देवाङ्गना गायन्तीः कलकण्ठीकण्ठानुकरणप्रवणकुण्ठकण्ठकुहरप्रेङ्खोलनापूर्व-
कमपूर्वगीतिमातन्वतीर्विज्ञाय ज्ञात्वा विधिर्ब्रह्मा तान् गुणान् श्रोतुं स्वश्रवणगोचरीक-
र्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनः स्वस्याष्टसंख्याकाः श्रुतीः कर्णान्किसु निर्ममे कृतवानिव सृ-
ष्टिकर्तृकत्वात् । 'द्रुहिणो विरञ्चिर्द्रुघणो विरञ्चः परमेष्ठयजोऽष्टश्रवणः स्वयंभूः' इति
हैम्याम् ॥ इति श्रीलक्ष्मीसागरसूरिः ॥

सुमतिसाधुरभूदथ तत्पदे त्रिजगतीजननेत्रसुधाञ्जनम् ।

समकुचत्रपया हृदि यद्गिरां मधुरिमाधरिता किमु गोस्तनी ॥ १३० ॥

अथानन्तरं तस्य श्रीलक्ष्मीसागरसूरिः पदे सुमतिसाधुरिति नामा सूरिरभूद्भव ।
किंभूतः । त्रिजगत्याल्लोकत्रयस्य 'त्रिजगती पुनन्ती कविसेविता' इति सप्तशतीस्तो-
त्रकर्तृजिनप्रभसूरिकृत ऋषभनाम्नः स्तोत्रे तथा जगतीशब्देन विश्वमप्युच्यते । यथा—

‘स्याल्लोको विष्टपं विश्वं भुवनं जगती जगत्’ इति हैम्याम् । तेन त्रित्वसंख्योपलक्षिता जगती भुवनं त्रिजगतीति संभाव्यते । जना लोका अर्थात् सुरासुरोरगनरास्तेषां नेत्राणां सुधाञ्जनं नयनासेचनकत्वेनामृतमयश्रोताञ्जनं यद्विरां यस्य वचनविलासानां मधुरिन्ना माधुर्यातिशयेनाधरिता हीनीकृता तिरस्कृता सती गोस्तनी द्राक्षा हृदि मनसि त्रपया लज्जोदयेन । उत्प्रेक्ष्यते—समकुचत्किमु संकोचं प्राप्तवतीव ॥ इति श्री-सुमतिसाधुसूरिः ॥

शीलेन जम्बुगणनाथ इवात्र वज्र-

स्वामी परः किमथ वा महिमोदयेन ।

जज्ञे नवद्वयशतव्रतिसेव्यमाना

नाम्नाथ हेमविमलः प्रभुरस्य पट्टे ॥ १३१ ॥

अथानन्तरमस्य सुमतिसाधुसूरिः पट्टे नाम्ना अभिधानेन हेमविमलः गच्छाधिराजो जज्ञे जातः । किंभूतः । नवानां नवसंख्यानां द्वयं नवद्वयमेतावताष्टादश तन्मितानि शतानि नवद्वयशतानि । तानीव ते व्रतिनश्च साधवस्तैः सेव्यमानो नित्यमुपास्यमानः । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । अष्टादशशतधर्मणपरिवार इत्यर्थः । यः श्री-हेमविमलसूरिः शीलेन दृढब्रह्मचर्येण कृत्वा अत्र जगति । उत्प्रेक्ष्यते—अपरोऽन्यः किमु वज्रस्वामी जज्ञे ॥ इति हेमविमलसूरिः ॥

विभूषामद्वैतामकलयदधानन्दविमले

व्रतीन्द्रे विद्राणाखिलकुट्टशि तत्पट्टकमला ।

वसन्ते वासन्तीततिरिव पुनर्धर्मजयिनि

क्षितीन्द्रे राज्यश्रीरिव विजितविश्वप्रतिभटे ॥ १३२ ॥

अथानन्तरं तस्य श्रीहेमविमलसूरिः पट्टकमला पदलक्ष्मीः आनन्दविमलनाम्नि व्रतिनां साधूनामिन्द्रे पुरंदरे सूरिशक्ते न विद्यते द्वैतं युगलमर्थादपरं वस्तुतुल्यं यस्याः सा द्वैता ताम् । असाधारणीमित्यर्थः । विभूषां शोभामकलयत् दधार । किंभूता । विद्राणाः पलायिताः । ‘विद्राणे रणचंचलरात्’ इति नैषधे । अखिलाः समग्रा अपि कुट्टशः परपाक्षिकाः कुमतभाजः परवादिनो वा यस्मात् । पुनः केव । वासन्तीततिरिव । यथा मधुसमये माधवी अतिसुक्तकी नाम लतापङ्क्तिरनन्यां श्रियं विभर्ति । पुनः केव । राज्यश्रीरिव । धर्मेणोपलक्षितः । अथ वा । धर्मेण कृत्वा जयोऽस्यास्तीति धर्मजयि तादृशे क्षितीन्द्रे पृथ्वीपुरंदरे राज्यश्रीभूषत्वलक्ष्मीः शोभां धत्ते । किंभूते नृपे । विजिताः पराभूताः विश्वे सर्वे प्रतिभटा वैरिणो येन ॥

त्यक्त्वाशेषकुपक्षिकांश्च कुट्टशः किंपाकभूमिरुहा-

न्रोलम्बैरिव पारिजातशिखरी यो जन्मिभिः शिश्रिये ।

येनात्मा शिथिलीभवन्मुनिपथादप्युद्धतः सूरिणा

संसारान्मुनिधेरिवोद्धतकुटुम्ब्यादोत्रजव्याकुलात् ॥ १३३ ॥

यः श्रीआनन्दविमलसूरिः जन्मभिर्भविक्कैः शिश्रिये श्रितः । किं कृत्वा । कुटुम्बः सौगतादीन् च पुनरशेषान् समस्तान् कुपक्षिकान् कुम्पाकप्रमुखान् त्यक्त्वा विमुच्य श्रितः । कैरिव । रोलम्बैरिव । यथा भ्रमरैः किंपाकनामानो महीरुहा महाकालपादपाः विषवृक्षास्तान्विहाय दूरेणापास्य पारिजातशिखरी मन्दारनामा द्रुमो वृक्षविशेषः कश्चित्सेव्यते । अथ वा कल्पवृक्षविशेषः । कल्पः, पारिजातः, मन्दारः, हरिचन्दनः, संतानः, एते पञ्चापि देवद्रुमाः । कल्पद्रुमेष्वपि विशेषः पारिजातः । यथा रघौ—‘कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः’ इति । अपि पुनर्येन भगवता शिथिलीभवन् प्रमादपदवीं परिगच्छन् यो मुनीनां साधूनां पन्था मार्गस्तस्मादात्मा स्वजीव उद्धतः । उत्प्रेक्ष्यते—उद्धता उत्कटा ये कुटुम्बो दुर्वादिनः नैयायिकादयः परपक्षिकाः कुमतमतोद्बोधका वा त एव यादोत्रजा दुष्टजलचरनिकराः मकरादयस्तैर्व्याकुलात्संकीर्णपरिपूर्णाभूताद्भयंकराद्वा संसारोऽनन्तधाभवपरम्पराभ्रमणरूपः स एवापारत्वादम्बुधिः समुद्रस्तस्मादिवोद्धतः पारं प्रापितः ॥

शुद्धां क्रियामुद्धरतोऽस्य भाविनीमद्वत्प्रवृद्धिस्तमितीव शंसितुम् ।

स्वप्नेऽनुयुक्तेरनु कस्यचिज्जिन्ध्यातुर्द्वितीयेन्दुरदर्शयन्निजम् ॥ १३४ ॥

जिनस्य श्रीपार्श्वनाथस्य ध्यातुर्ध्यानकर्तुः । पार्श्वनाथमन्त्राराधकस्येत्यर्थः । कुमरगिरिसत्कस्य कस्यचित् श्राद्धस्यानुयुक्तेः प्रश्नादनु पश्चात्स्वप्ने स्वापजागरावस्थायामुपविष्टस्यैव प्रभोः पुरः किञ्चिन्निद्रानिमिलितनयनस्य द्वितीयेन्दुः उदयद्वितीयादिनचन्द्रः निजमात्मानमदर्शयत् दर्शयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण शंसितुं कथयितुमिव । इति किम् । मद्ब्रह्मया विविधातोद्यवादनजननमस्करणमहोत्सवविधानपूर्वकमहमुदितो दिने दिने चन्द्रिकाकलादिभिर्मम वृद्धिर्भाविनी । तथा—शुद्धां निर्दोषां क्रियां यथावत्साधुमार्गानुष्ठानमुद्धरतोऽनुतिष्ठतः । विशुद्धक्रियोद्धारं विदधत इत्यर्थः । अस्य श्रीआनन्दविमलसूरिः प्रकट्येण शिष्यप्रशिष्यमाहात्म्यादिभिर्वृद्धिर्भवित्री भविष्यतीति । तथा—क्रियोद्धारविधित्सुना सूरिन्द्रेण कश्चित्सिद्धश्रीपार्श्वनाथमन्त्रः श्राद्धः प्रथमं पृष्ठस्तेन च ध्यानं विदधता किञ्चिन्निद्रामुद्रितनेत्रेणाभ्युदयमानं द्वितीयाचन्द्रं दृष्ट्वा समेत्य प्रभुपुरः प्रोचे । यद्ययं द्वितीयाचन्द्र इव दिने दिने वर्धमानाभ्युदयभाजो भविष्यत्, तच्चरितमेव क्रियोद्धारं कुरुत, विलम्बो नैव विधेयः । ततः श्रीआनन्दविमलसूरिणा श्रीहेमविमलसूरिशासनपूर्वं शुद्धक्रिया उद्धृता इति वादः ॥

जैनार्चाश्रमणाद्यभावभणनाम्भःप्लाव्यमानात्मनां

जज्ञे द्वीप इव व्रतीशितुरिहोद्धारः क्रियाया नृणाम् ।

विद्यासागरनामवाचकवरो यस्याथ दुर्दृग्गणा-

न्सेनानीरिव चक्रिणो रिपुनृपान्प्राक्स्वस्य वश्यान्व्यधात् ॥ १३५ ॥

इह भरतक्षेत्रदक्षिणार्धमध्यखण्डे त्रतीशितुः श्रीआनन्दविमलसूरेः क्रियायाः शुद्धानु-
ष्ठानस्योद्धारो विधानं नृणां भव्यजनानां द्वीप इवान्तर्जले तटमिव जज्ञे जातः । किंभूतानां
नृणाम् । जैनार्चानां तीर्थकृतसंवन्धिनीनां प्रतिमानां, तथा श्रमणानां साधूनामभावमसत्तां
सिद्धान्ते कापि प्रतिमा प्रोक्ता नास्ति, गुर्जरादिदेशेषु साधवः सर्वथा न सन्तीति भग्नं
लुम्पाककटुकमतीनां कथनम् । इत्याद्यपरापरकुपक्षिपक्षस्वकपोलकल्पितकुमतवा-
दरूपैरम्भोभिः प्रवर्धमाननीरपूरैः प्लाव्यमान उपद्रवमाणो विविधोद्धतकुसमितमत-
तसलिलप्लवे । ब्रुडन्नित्यर्थः । आत्मा येषाम् । अथ कियोद्धारानन्तरं कियति समये व्य-
तिक्रान्ते सति अथ पुनर्यस्य सूरैर्विद्यासागर इति नाम यस्य तादृशो वाचकवरः उपा-
ध्यायश्रेष्ठः दुर्दृग्गणान् कुमतिसमूहान् स्ववश्यानात्मायत्तान् सूरिशसनविधायिनो व्य-
धात् कृतवान् । क इव । सेनानीरिव । यथा चक्रिणश्चमूपतिः रिपुनृपान् प्राक् प्रत्यक्
खण्डादिम्लेच्छभूपालान् स्ववश्यान् चक्रवर्तिनिर्देशकारिणः कुरुते ॥

प्रातः साधुवृतस्त्वदापणपुरो यो याति सूरीशिता

सम्यक्संयमवान्स पूर्वगणिवत्सेव्यस्त्वयाहर्निशम् ।

स्वप्नेऽस्वप्नगिरेति यं निजगृहे नीत्वातिभक्त्या प्रभुं

श्राद्धः कश्चन मण्डपाद्रिवसतिर्भेजे सगोत्रैः समम् ॥ १३६ ॥

कश्चन कोऽपि मण्डपाद्रौ मण्डपाचले वसतिर्गृहं यस्य तादृक् श्राद्धः कटुकमतिरा-
स्तिकः स्वप्ने स्वापावस्थायामित्यमुना प्रकारेणास्वप्नगिरा पूर्वजसुरवचनेन अतिभक्त्या
कृत्वा निजगृहे स्वसौधे नीत्वा समानीय यं प्रभुं स्वगोत्रैः स्वस्वजनैः समं भेजे श्राद्धीभू-
याराधयति स्म । इति किम् । हे वत्स, त्वं तु दुर्वादिप्रातर्विविधविरुद्धालपनाकर्णनाक-
लितानेककल्पनाजनितसंशीतिव्याकुलीकृतनैकलोककलियुगानुभावात्कटुकमतिरसि । तथा-
पि प्रातः प्रभाते यामानन्तरमष्टभिः साधुभिः श्रमणैः परिवृतः परिकलितः यः
सूरीशिता सूरीन्द्रः त्वदापणस्य तव हृदस्य पुरोऽग्रे याति गच्छति, स सूरिरस्मिन्
कलियुगे सम्यक् संयमवान् । विशुद्धचारित्रकलितः त्वया भवताहर्निशं निरन्तरं
पूर्वगणिवत् प्राचीनाचार्य इव सेव्य उपासनीयः । 'साङ्गे प्रवचनेऽधीती गणिरनूच्या-
नश्च' इति हैम्याम् । तस्याभिज्ञानं तव हस्ते कुसुमान्यर्पयामीति जागरणेऽपि पाणौ
पुष्पाणि दृष्टवान् स्वजनानां च स्वप्ननिवेदनपूर्वं दर्शितवांश्चेति काव्येऽनुक्तमपि जात-
त्वाद्भूतौ प्रोक्तम् ॥

तमःस्तोमप्राये कुनयनगणैर्दारुणतमे

कलौ श्रीसूरीन्दुः शरणमभवद्यो जनिमताम् ।

मृगारातिव्यालद्विरदशवरव्यूहबहुले

गिरिर्दुःसंचारे गहन इव सार्थः पथिजुषाम् ॥ १३७ ॥

यः श्रीसूरीन्दुरानन्दविमलसूरिसुधांशुः कलौ पञ्चमारककाले जनिमतां प्राणिनामा-
थयोऽभवद्भव । कलौ किंभूते । तमसामज्ञानानां पापानां च स्तोमः समूहस्तेन प्रायो
बहुलः । पुनः किंभूते । कुनयनानां दुर्वादिनां कुपक्षिकाणां च गणैः परिवारैः दारुणतमे
अतिशयेन सुदृशां भयकारिणि । ते हि संगताः सन्तोऽनन्तभवपरम्परा वर्धयन्तीति
भीतिहेतवः । क इव । सार्थ इव । यथा सार्थः जनसमुदायः गिरिः पर्वतस्य दुःखेन
संचरणं यत्र स दुःखेनोल्लङ्घयितुं शक्ये तादृशे गहने कान्तारे रविकिरणाप्रवेशे शा-
खाप्रशाखाभिरेकीभूतविविधवृक्षलक्षप्रदेशे पन्थानं लुपन्ते सेवन्ते इति कृत्वा पथिजुषः
पान्थास्तेषामाश्रयो विश्रामस्थानं शरणं भवति । किंभूते गहने । मृगारातयः सिंहाः,
व्याला भुजगा दुष्टा गजा वा, द्विरदाः पारे हस्तिनः, शवरा भिल्लाः, तेषां व्यूहैः समूहै-
र्बहुले निर्भरभृते । पुनः किंभूते । तमः स्तोमप्राये अन्धकारभृते । पुनः किंभूते । कुन-
यनानां दृष्टिविषसर्पाणां गणैर्दारुणतमे अतिभीषणे ॥

गभीरिम्णा पाथोनिधिरिव महिम्नापरमरु-

द्विरिश्चेतोजन्मप्रतिभटतया वा गगनजित् ।

प्रसारै रश्मीनां सरसिरुहिणीनामिव पतिः

पवित्रीचक्रे यो विहृतिभिरशेषा अपि दिशः ॥ १३८ ॥

यो भगवान् गभीरिम्णा गम्भीर्येण कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—पाथोनिधिः समुद्र इव वर्तते ।
पुनर्महिम्ना माहात्म्येन कृत्वा महतो भावो महिमा । ‘लोहितादेर्दित् इमन्’ इति सार-
स्वतसूत्रेण इमन्प्रत्ययः । उत्प्रेक्ष्यते—अपरोऽन्यो मरुतां देवानां गिरिः पर्वतः ।
अन्यो मेरुरिव । वा पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चेतसि जन्मोत्पत्तिर्व्यस्य स स्मरस्तस्य प्रतिभटतया
शत्रुत्वेन गगनजिद्बुद्ध इव । ‘बुद्धस्तु सुगतो धर्ममारलोकखजिद्धर्मराजो विज्ञानमा-
तृकः’ इति हैम्याम् । समुद्र इव गम्भीरः मेरुरिव महिमावासः । बुद्ध इव कामजेते-
त्यर्थः । तथा यो गुरुर्विहृतिभिः स्वविहारैः कृत्वा अशेषाः समस्ता अपि चतस्रः पूर्वा-
पश्चिमादक्षिणोत्तरालक्षणा दिशः पवित्रीचक्रे पावनीकृतवान् । क इव । पतिरिव ।
यथा सरसिरुहिणीनां पद्मिनीनां पतिर्भर्ता सूर्यः रश्मीनां स्वकिरणानां प्रसारैर्विस्तारणैः
कृत्वा सर्वांशः पुनाति पवित्रयति ॥

यो दक्षिणावर्त इव स्रवन्तीपतिप्लवे कम्बुकदम्बकेन ।

वाचंयमानां निवहेन पृथ्वीपीठे परीतो विजहार सूरौ ॥ १३९ ॥

यः श्रीआनन्दविमलसूरिः वाचंयमानां मुनीनां निवहेन वृन्देन परीतः परिवृतः
सन् पृथ्वीपीठे भूमण्डले विजहार विहारं कृतवान् । क इव । दक्षिणावर्त इव दक्षिणे

पार्श्वे आवर्तः कुण्डलनालक्षणो यस्य तादृशः शङ्खः कम्बूनां वामावर्तवतां शङ्खानां कदम्बेन गणेन परिवृतः स्रवन्तीनां नदीनां पत्युर्भर्तुः समुद्रस्य पयःप्रवे नीरपूरे विहरति विचरति ॥

भागीरथीव यद्वाह्नी पुनीते भुवनत्रयम् ।

परं विशेषः कोऽप्यस्या निम्नगा न कदाचन ॥ १४० ॥

यद्वाह्नी यस्य वाणी भुवनत्रयं त्रैलोक्यं पुनीते त्रिजगजनान् पवित्रीकुरुते । केव । भागीरथीव । यथा गङ्गा त्रिभिर्निजैः प्रवाहैः त्रिस्रोतस्त्वेन त्रिभुवनं स्वर्गपातालभूमीत्रयं पवित्रयति । यथा—‘विबुधानन्दमन्दिरं वन्दे रसान्तरप्रौढम्’ इति चम्पूकथायाम् । विबुधानां देवानामानन्दमन्दिरं प्रमोदनमित्यर्थात्स्वर्गमार्गप्रवृत्तम् । ‘नदस्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्गमदिग्गजैः’ इत्यपि रघौ । तथा रसायां पृथिव्याम्, तथा अन्तरे स्वप्ने अर्थात्पाताले प्रकर्षेण ऊढम्—इति चम्पूवृत्तिः । एतद्विशेषणेन त्रैलोक्येऽपि त्रिभिः प्रवाहैर्गङ्गा प्रवहतीति कविसमयः । परमस्य ब्राह्म्या कोऽप्यद्भुतवैभवः अस्या विशेषोऽस्ति यत्कदाचन कस्मिन्नपि काले निम्नगा निम्नं नीचैरवयं गच्छतीति तादृशी न, गङ्गा तु निम्नगा । अथ च यस्य ब्राह्मी सरस्वती सरित् गङ्गेव त्रिभुवनं पुनीते । परं केवलमस्याः कोऽप्याश्चर्यकारी विशेषः । यद्गङ्गा त्रिभिः स्रोतोभिः त्रिभुवनम् । इयं तु एकेन स्रोतसा वचोनैरन्तर्येऽपि स्रोतःशब्दः—इति टिप्पणके । पवित्रयति निम्नगापि नेत्यर्थध्वनिः ॥

ये कर्णाभरणीवभूवुरनिशं विश्वत्रयीजन्मिनां

सान्द्रोन्निद्रितचन्द्रिका इव शुचीचक्रुस्त्रिलोकीमपि ।

यान्संस्तोतुमिवाभवद्भुजगराट्जिह्वासहस्रद्वय-

स्तेषां सूरिपुरंदरः स समभूदेको गुणानां निधिः ॥ १४१ ॥

स विशुद्धक्रियोद्धारकारकत्वेन जगद्विख्यातः सूरिपुरंदरः श्रीआनन्दविमलसूरीन्द्रः तेषां विश्वाह्लादविधायिनां पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानां वा गुणानामेकोऽद्वितीयत्वेन निधिर्निधानं समभूत् सम्यक् जातः । ते के । ये गुणा अनिशं निरन्तरं विश्वत्रयीजन्मिनां त्रैलोक्योत्पत्तिभाजां सुरासुरनराणां कर्णाभरणीवभूवुः कर्णपूरतां प्रापुः । त्रैलोक्यलोकाः सोत्कण्ठमहर्निशमाकर्णयन्ति स्मेत्यर्थः । पुनर्थे गुणास्त्रिलोकीं जगत्रयीमपि शुचीचक्रुः धवलयन्ति स्म । का इव । सान्द्रा नीरन्ध्रा बहला उन्निद्रिताः दिवस्पृथिव्योर्विस्तृताः चन्द्रिकाश्चन्द्रज्योत्स्ना इव । यथा चन्द्रिका भुवनं श्वेतयति । पुनर्यान् गुणान्संस्तोतुं स्तुतिगोचरीकर्तुं भुजगराट् शेषनागेन्द्रः जिह्वानां रसज्ञानां सहस्रयोदशशत्योर्द्वयं युगलं विंशतिशती यस्य तादृश आसीत् ॥

अश्रोत्रैः श्रोतुकामैर्भुजगपरिवृद्धैर्यज्जगद्गीतकीर्तिं

शब्दाधिष्ठानसृष्ट्यै शतदलनिलयो याचितस्तां चिकीर्षुः ।

न्याय्या नासौ मयातिक्रमितुमिह जगत्सर्गभङ्गीव्यवस्था

शक्तिं शब्दं ग्रहीतुं किमिति स कृतवानेव तदृष्टिसर्गे ॥ १४२ ॥

स जगत्सृष्टिनिर्माणकर्मकर्मठत्वेन प्रसिद्धः शतानि शतसंख्याकानि दलानि पत्राणि यत्र तादृशं 'परं शतसहस्राभ्यां पत्रं राजीवपुष्करे' इति हैमीवचनात् कमलं निलयं गृहं यस्य । 'ताम्यस्तामरसान्तरालवसतिर्देवः स्वयंभूरभूत्' इति खण्डप्रशस्तौ । ब्रह्मा तदृष्टिसर्गे तेषां नागेन्द्राणां दृष्टीनां लोचनानां सर्गे सृष्टौ निर्माण एव । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किमु शब्दं ग्रहीतुं श्रोतुमित्यर्थः । शक्तिं सामर्थ्यं कृतवानिव । दृक्कर्णाः कृता इत्यर्थः । इति किम् । यदिह जगति असौ मत्कृता जगतो विश्वस्य सर्गस्य सृष्टेर्भङ्गी रचना तस्या व्यवस्था स्थापना परिपाटी वा मयैव ब्रह्मणा कर्त्रा अतिक्रमितुमुल्लङ्घयितुं न न्याय्या न युक्तिमती उचिता । योग्येति यावत् । ब्रह्मा किं चिकीर्षुः । तां कर्णसृष्टिं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः । अश्रोत्रैः श्रवणरहितैर्भुजगपरिवृढैर्नागनायकैः शब्दाधिष्ठानानां कर्णानाम् । 'श्रुतौ श्रवः शब्दाधिष्ठाना पञ्चममहानादध्वनिग्रहाः । श्रोत्रं श्रवणं च' इति हैम्याम् । सृष्ट्यै नवीननिर्माणाय याचितोऽभ्यर्थितः सन् । किंभूतैर्नागेन्द्रैः किं कर्तुकामैः । यस्य श्रीआनन्दविमलसूरेर्जगद्भिस्तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायाजगतां जनैः सुरासुरनागनागरकिंनरविद्याधरसिद्धसमाजमिथुनैः सानन्दं गीतां मधुरध्वनिभिर्गानगोचरीकृतां कीर्तिं श्रोतुकामैराकर्णयितुमभिलषद्भिः ॥

भूरेषा किमु चन्द्रचन्दनरसैरालिप्यते सर्वतो

दुग्धाब्धिप्रसरत्तरङ्गितपयःपूरैरिवाप्लाव्यते ।

क्षोदैर्मौक्तिकजैर्विलीनतुहिनैः कुन्दैरुतापूर्यते

यत्कीर्तिं प्रसृतां विभाव्य विबुधैरित्यन्तरारेक्यते ॥ १४३ ॥

यस्यानन्दविमलसूरेः प्रसृतां भूमण्डले विस्तृतां कीर्तिं विभाव्यालोक्य विबुधैः पण्डितैरित्यमुना प्रकारेण अन्तश्चित्तमध्ये आरेक्यते विचार्यते । 'रेकड् शकुड् शङ्कायाम्' इत्यस्य धातोः प्रयोगः । इति किम् । एषा भूर्भूमी । उत्प्रेक्ष्यते—चन्द्रचन्दनरसैः कर्पूराकलितश्रीखण्डद्रुमद्रवैः सर्वतः सर्वेष्वपि प्रदेशेषु आलिप्यते किमु धवलीक्रियत इव । अथवा—दुग्धाब्धेः क्षीरसमुद्रस्य प्रसरद्भिर्विस्तारं गच्छद्भिस्तरङ्गितैः कलोलमालाकलितैर्भवद्भिस्तरङ्गाः संजाता एष्विति वा तादृशैः पयःपूरैर्जलप्लवैः उत्प्रेक्ष्यते । आप्लाव्यत इव । स्वमध्यगतेव क्रियते । सर्वापि सर्वललमयी विधीयते । उताथवा मौक्तिकेभ्यो मुक्ताफलेभ्यो जायन्ते स्मेति मौक्तिकजैः क्षोदैर्धूर्णैरिव । चूर्णीकृतमुक्ताभिः पूरितेव । उताथ वा विलीनैर्दवीभूतैस्तुहिनैर्हिमैर्वा आपूर्यते । अथ वा कुन्दैर्विनिद्रमुचकुन्दकुसुमैर्वा आपूर्यते निर्भरं म्रियते इत्यारेकास्वान्ते क्रियते । 'संदेहद्वापरारेका' इति हैम्याम् । यत्र संदेहस्तत्रैव विचारः ॥ इति श्रीआनन्दविमलसूरिः ॥

विजयदानमुसुक्षुपुरंदरः पद्ममुष्य ततः समभूषयत् ।

उदयभूमिभृतः शिखरं शरद्विशददीप्तिरिवाम्बरकेतनः ॥ १४४ ॥

ततोऽनन्तरं विजयदाननामा मुसुक्ष्णां श्रमणानां मध्ये पुरंदर इन्द्रः अमुष्य श्री-
आनन्दविमलसूरेः पदं पटं समभूषयत्सम्यक् प्रकारेणालं करोति स्म । क इव । अम्ब-
रकेतन इव । यथा भास्वानुदयाचलस्य शृङ्गं शिखरं भूषयति । 'गगनाध्वजाध्वगा'
इति हैम्याम् । पर्यायपरिवर्तनात् । अम्बरकेतनः किंभूतः । शरदा मेघापगमेन वि-
शदा निर्मला जलधररोधाभावादतिदीप्ता दीप्तिः कान्तिर्यस्य ॥

आज्ञां यस्य विधाय मूर्धनि मुदा शीर्षाभिवाप्तप्रभोः

सौराष्ट्रेषु जगर्षिणामविवुधाधीशा विहारैर्निजैः ।

लुम्पाकान्परिवर्तमारुत इव प्रोन्मूल्य मूलाद्भुमा-

न्सम्यक्त्वाख्यकृषिं सुखं कुलवतीं चक्रे नभोऽम्भोदवत् ॥ १४५ ॥

जगर्षिणामानः जग उक्त्विरिति नामाभिधानं येषां तादृशा विवुधाधीशाः पण्डितम-
ण्डलाखण्डलाः सौराष्ट्रेषु सम्यक्त्वमित्याख्या नाम यस्यास्तादृशीं कृषिं कर्षणं सुखं निरु-
पद्रवं यथा स्यात्तथा फलवतीं सफलां चक्रे । करोति स्म । क इव । नभोऽम्भोद इव ।
यथा श्रावणमेघः कृषिं कर्षणं विशेषात्पृष्टिक्यत्रीहिजातिसफलां कुरुते । किं कृत्वा ।
लुम्पाकान् 'लुंका' इत्यभिधानान् कुपाक्षिकान् मूलात्पादादारभ्य प्रोन्मूल्य मूलाद्भुमूल-
यित्वा । कानिव । दुमानिव । यथा परिवर्तस्य कल्पान्तकालस्य मारुतः पवनः तरुन्
मूलाद्भुमाद्भुमूलयति । स्थानकात् कृष्ण बहिः क्षिपति । कैः । निजैरात्मीयैर्विहारैर्विचरणैः ।
पवनोऽपि स्वप्रचाररंहोभिः दुमाणां क्षुद्रतरुणां तृणानामुन्मूलनेन ससार । अथ वा
'नीदण' इति लोकप्रसिद्धेन कृत्वा कृषिः सफला स्यात् । विहाराः । किं कृत्वा । यस्य श्री-
विजयदानसूरेः आज्ञामादेशं मुदा हर्षेण मूर्धनि स्वमस्तके विधाय कृत्वा । कामिव ।
शीर्षाभिव । यथा आप्तप्रभोरर्हद्वाष्टारकस्य आप्तस्तीर्थकरः स चासौ प्रभुश्च स्वामी भु-
वनाधीशस्तस्य शीर्षां 'शेषा' इति प्रसिद्धां कश्चिद्भाग्यवान् लब्ध्वा मौलौ धत्ते ॥

प्राबोधयद्दुःशकनैकतीव्रतपोमिहासोक्तिकृतोक्तियुक्तिभिः ।

स तत्र लुम्पाकजनं यतीन्द्रो भास्वानिवाम्भोजवनं मरीचिभिः ॥ १४६ ॥

स यतीन्द्रो जगर्षिप्रज्ञासंस्तत्र सौराष्ट्रमण्डले लुम्पाकजनं लुंकामतभावितलोकं प्राबो-
धयत् बोधयति स्म । कामिभिः । आप्तोक्तिः सिद्धान्तस्तेन कृता निर्मिता या उक्तीनां
युक्तयस्ताभिः । किंभूतः । सतीव्राण्यतिदुष्कराणि चतुर्विधारप्रत्याख्यानरूपपञ्चषष्ठसप्ताष्ट-
नवदशाद्युपवसनरूपाणि तपांसि तान्येव प्रतापस्तेषां वा प्रतापस्तमाविभ्रत्कलयन् ।
क इव । भास्वानिव । यथा भावुमान् मरीचिभिः कान्तिभिः कृत्वा अम्भोजवनं कमल-
काननं प्राबोधयति विकासयति ॥

यद्वाचा गलराजमन्त्रिमुकुटो निर्माप्य षाण्मासिकीं
मुक्तिं सिद्धगिरौ व्यधाद्भरतवद्यात्रां समं यात्रिकैः ।

पञ्चाक्षीं दमितुं च पञ्चविकृतीस्तत्याज यः सर्वदा

प्राणश्यंस्तरणेग्रहा इव पुनर्यस्योदये दुर्दृशः ॥ १४७ ॥

यस्य श्रीविजयदानसूरेर्वाचा अर्थादुपदेशेन कृत्वा गलराज इति नामा मन्त्रिषु प्रधानेषु मुकुटः कोटीरः गलराजः । अथ वा 'गलो महतो' इति लोके प्रसिद्धः । स षट्सु मासेषु भवा षाण्मासिकी । षण्मासान् यावदित्यर्थः । मुक्तिं 'मुगतउ' इति प्रसिद्धां केनापि कस्यापि पार्श्वे शुक्लद्रविणं न मार्गणीयम् अहमेव श्रीमदुक्तं यथेप्सितं द्रव्यं दास्यामीत्यधिपस्य प्रोक्त्वा या यात्रिकाणां यात्रा कार्यते सा मुक्तिरिति तां निर्माप्य कारयित्वा सिद्धगिरौ श्रीशत्रुजये भरतवत् ऋषभदेवनन्दनप्रथमचक्रवर्तिसंघपतेरार्षभिरिव यात्रिकैर्यात्रां कर्तुमागतैः संघजनैः समं सार्धं यात्रां व्यधाच्चकार । च पुनर्यः सूरिः सर्वदा यावज्जीवं पञ्चविकृतीस्तत्याज । अहासीजहौ । उत्प्रेक्ष्यते—पञ्चानामक्षाणां समाहारः पञ्चाक्षी पञ्चेन्द्रियाणि तां दमितुं यन्नायितुम् अथवा स्ववशीकर्तुं किमु । इति गर्भितोत्प्रेक्षा । पुनर्यस्य सूरेरुदये माहात्म्यप्रादुर्भावे समागमनसमये वा दुर्दृशः कुपाक्षिकाः प्राणश्यन् पलायिताः । क इव । ग्रहा इव । यथा तरणेर्मानोरुदये ग्रहा उपलक्षणान्नक्षत्रताराः प्रणश्यन्ति ॥

रत्नानामिव रोहणोऽम्बुरुहिणी प्रेयानिव ज्योतिषां

विन्ध्याद्रिः करिणामिवामरगिरिः स्वर्भूरुहाणामिव ।

लब्धीनां वसुभूतिनन्दन इवाम्भोधिः सुधानामिव

श्रीमत्सूरिशतक्रतुर्भुवि चिरं जीयाद्गुणानां गृहम् ॥ १४८ ॥

श्रीमन्तो गणलक्ष्मीशालिनः शोभाभाजो वा ये सूरय आचार्यास्तेषु तेषां मध्ये वा अद्वैतैश्वर्यकलितत्वेन शतक्रतुरिन्द्र इव । इन्द्रः श्रीविजयदानसूरिर्भुवि पृथिव्यां चिरं गलितावधिकालं जीयाद्विजयताम् । किंभूतः । गुणानां शमदमादीनां गृहं वासः वेदम् । क इव । रोहण इव । यथा रोहणो रत्नाचलो रत्नानां मणीनां गृहम् । 'ये रत्नाचलवासिनो हि पुरुषास्तेषां न रत्नोद्यमः' इत्युक्तेः । पुनः क इव । अम्बुरुहिणीनां प्रेयानिव यथा कमलिनीनां भर्ता भानुज्योतिषां किरणानां गृहम् । पुनः क इव । विन्ध्याद्रिरिव । यथा विन्ध्याचलः करिणां गजानां गृहं स्थानम् । पुनः क इव । अमरगिरिरिव । यथा देवानां पर्वतो मेरुः स्वर्भूरुहाणां कल्पवृक्षाणां स्थानम् । पुनः क इव । वसुभूतिनन्दन इव । यथा वसुभूतिनाम्नो ब्राह्मणस्य पुत्रः श्रीगौतमस्वामी लब्धीनामक्षीणमहानसीप्रसुखाणां तपःसिद्धिविशेषाणां स्थानम् । पुनः क इव । अम्भोधिरिव । यथा समुद्रः सुधानां समुद्रमध्योत्पन्नत्वेन पीयूषाणां स्थानम् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाह्मी क्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गश्चतुर्थोऽभवत् ॥ १४९ ॥

इति श्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि
महाकाव्ये श्रीमन्महावीरदेवपट्टपरम्परावर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

तेन ब्राह्म्या वागवादिन्याः क्रमौ सेवते आराधयतीत्येवंशीलेन विशेषेण आशाम-
स्त्येन जन्मादिप्रारम्भं मर्यादीकृत्य वर्णनागोचरीकृते विरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि
महाकाव्ये श्रीमन्महावीरपट्टपरम्परावर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः अभवद्भूव ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तां

श्रीमन्महावीरदेवसारभ्य विजयदानसूरीन्द्रं यावत्पट्टपरम्परा-

प्रादुर्भवन्नो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

पञ्चमः सर्गः ।

आजगाम विहरन्स धरित्र्यां पत्तने विजयदानमुनीन्द्रः ।

राजहंस इव जह्नुसुतायाः प्रोल्लसत्कमलशालिनि नीरे ॥ १ ॥

अथ चतुर्थसर्गानन्तरं पञ्चमसर्गप्रारम्भे स पूर्वं व्यावर्णितस्वरूपो विजयदाननामा
मुनीन्द्रः साधुशक्रो धरित्र्यां गुर्जरदेशविशेषोऽभिधानं तत्र विहरन् प्रामातुग्रामं विच-
रन् सुखं सुखेन विहारं कुर्वन् पत्तने अणहिल्लपाटकाभिधाने पुटभेदने आजगाम आगत्य
समवसतः । किंभूते पत्तने । प्रोल्लसन्ती वृद्धिं प्राप्नुवन्ती कमला लक्ष्मीस्तथा शालिनि
शोभनशीले । तत्पुरुषे ह्रस्वत्वम् । अथ वा प्रकर्षेण निरन्तरतया वासस्थानत्वादुल्लसन्ती
हृष्यमाणा कमला श्रियत्र तथा शोभनशीले । क इव । राजहंस इव । यथा राजमरालो
जह्नुसुताया गङ्गाया नीरे आगच्छति समायाति । किंभूते नीरे । प्रोल्लसन्ति विजृम्भ-
माणानि यानि कमलानि तैः शालते इत्येवंशीले शोभाकलिते । 'महानन्दसारा राजम-
रालायाहते नमः' इति सकलार्हत्प्रतिष्ठाने ॥

सांप्रतीनयुगजन्तुपवित्रीकर्तुरर्हत इव व्रतिभर्तुः ।

आगमं श्रवणगोचरयित्वा नागरा हृदि ननन्दुरमन्दम् ॥ २ ॥

नागराः पत्तनश्राद्धजना हृदि हृदये अमन्दं बहु ननन्दुर्जह्नुः । 'परिचरणामन्दनन्द-
नखेन्दुः' इति नैषधे । किं कृत्वा । आगममागमनं श्रवणयोः कर्णयोगोचरयित्वा गोचरं
विधाय । श्रुत्वेत्यर्थः । कस्य । व्रतिभर्तुर्विजयदानसूरेः । उत्प्रेक्ष्यते — सांप्रतीन आधुनिको

युगः कलिकालः तस्य तस्मिन् वा ये जन्तवः प्राणिनस्तान् पवित्रीकर्तुः पावनीकरण-
शीलस्य । शीले तृष् । अर्हतस्तीर्थकरस्येव ॥

व्याहृता मितमधु स्पृहयद्भिर्नागरैरुपगतैर्गणधारी ।

दानवारि मधुकृन्निकुरम्बैर्गन्धसिन्धुर इवैष नि(सि)षेवे ॥ ३ ॥

आगतैः समायातैर्नागरैः पत्तनसक्तजनैरेष विजयदानसूरिर्निषेवे(?)भेजे । किं कुर्वद्भिः ।
व्याहृतं सूरिवचस्तदेवामितं प्रमाणरहितं मधु क्षौद्रं स्पृहयद्भिः । 'अमितं मधु तत्कथा
मम श्रवणप्राप्तुणकीकृता जनैः' इति नैषधे । कैरिव । मधुकृन्निकुरम्बकैरिव । यथा भृङ्ग-
गणैः गन्धेनोपलक्षितः सिन्धुरो वारणो गन्धहस्ती निषेव्यते । किं कुर्वद्भिः । दानवारि
मदाम्भः काङ्क्षद्भिः ॥

सूरिशक्रपरिषत्कृतभूषैस्तद्रवेषणरसादनिमेषैः ।

वाक्सुधारसपिवैः पुरलोकैर्भूगतैरिव बभे सुरलोकैः ॥ ४ ॥

पुरलोकैर्नागरजनैर्बभे शुशुभे । किंभूतैः पुरलोकैः । सूरिशक्रस्याचार्यपुरंदरस्य परि-
षत्सभा । 'पषैत्परिषदा सह' इति शब्दप्रभेदे । तत्र कृता निर्मिता भूषा शोभा यैस्तैः ।
पुनः किंभूतैः । तस्य सूरीन्द्रस्य अर्थाद्गुरुमुखस्य यद्रवेषणं दर्शनं तस्य रसादनुरागाच्च
विद्यते निमेषो नेत्रनिमीलनं येषाम् । पुनः किंभूतैः । वाक् गुरोर्वाणी सैव सुधारसोऽमृ-
तनिःस्यन्दः तं पिबन्तीति । उत्प्रेक्ष्यते—भूगतैः पृथ्वीप्राप्तिर्भूमौ समेतैर्वा पुरा देवी एवं
जनास्तैरिव । तेऽपि शक्रसभाविहितशोभा निमेषरहिताः पीयूषपायिनश्च भवन्ति ॥

आत्मनामिव वतंसविधित्सात्युत्सुकैर्विकचकोकनदेन ।

पौरमौलिभिरचुम्ब्यत सूरेः संमदात्पदयुगं युगबाहोः ॥ ५ ॥

पौरमौलिभिर्नागरोत्तमाङ्गैः संमदादानन्दात्सूरेर्विजयदानगुरोः पदयुगं चरणद्वन्द्वम-
चुम्ब्यत । पदयोर्नम्रीभूतः इत्यर्थः । किंभूतस्य गुरोः । युगबद्धसर इव दीर्घौ बाहू
यस्य । आजानुबाहुत्वादिदं विशेषणम् । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनां खेषां विकचैन स्मितेन
कोकनदेन रक्तोत्पलेन वतंसस्य शेखरस्य या विधित्सा कर्तुमिच्छा तत्रातिशयेन उत्सु-
कैरुत्कण्ठितैरिव । 'वष्टि भागुरिः—' इति सूत्रेण अवोपसर्गस्याकारस्य लोपः ॥ इति गुरोः
पौरागमनवन्दने ॥

आगमं गणधरस्य कुमारो ज्ञातवानथ मिथो जनवाग्भिः ।

कोकपोत इव नक्तविरामे ताम्रचूडवचनैस्तपनस्य ॥ ६ ॥

अथ गुरोरागमनानन्तरं पूर्वव्यावर्णितस्वरूपो हीरकुमारो मिथः परस्परं जनानां ना-
गरिकलोकानां वाग्भिर्बचनरचनाभिर्गणधरस्य विजयदानसूरेर्गच्छनायकस्यागमं पत्तनो-
पाश्र्वयसंसरणं ज्ञातवान् बुबुधे । क इव । कोकपोत इव । यथा चक्रवाकबालकः नक्त-
विरामे निशास्थये ताम्रचूडानां कुक्कुटानां वचनैर्भाषितैस्तपनस्यागममुदयं जानाति ॥

बालसाल इव कोरकभूषामुद्रहन्वपुषि कण्टकलेखाम् ।

तं मुदा नमसितुं स्पृहयन्सोऽध्यास सारथिसनाथरथाङ्गम् ॥ ७ ॥

स हीरकुमारः सारथिना सूतेन सनाथः संयुक्तो यो रथः स्यन्दनस्तस्याङ्गमुत्सङ्गम् । मध्यमित्यर्थः । अध्यास अधिरोहति स्म । किं कुर्वन् । स्पृहयन् काङ्क्षन् । किं कर्तुम् । तं गुरुं नमसितुं नमस्कर्तुम् । 'नमसितुमना यन्नाम स्यान्ननाम न पूषणम्' इति नैषधे । कथा । मुदा हर्षेण । किं कुर्वन् । वपुषि शरीरे कण्टकलेखां रोमाञ्चराजीम् । 'रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हैम्याम् । उद्रहन् धारयन् । क इव । बालसाल इव । यथा नवतरुः कोरकाणां कलिकानां मञ्जरीणां भूषां शोभामुद्रहते ॥

रंहसास्य मनसो विभुवीक्षोत्कण्ठितस्य दधता किमु मूर्तिम् ।

संचरन्पथि रथेन स तेन प्राप्तवानुपमुनीन्द्रनिकेतम् ॥ ८ ॥

स हीरकुमारस्तेन पत्तनागमनसमये व्यावर्णितेन रथेन शताङ्गेन पथि पत्तनमध्य-
मार्गे संचरन् प्रचलन्नुपमुनीन्द्रनिकेतं गुरोरुपाश्रयसमीपं प्राप्तवान् समायातः । उत्प्रे-
क्ष्यते—मूर्ति शरीरं दधता बिभ्रता विभोः सूरैर्वीक्षा दर्शनं तत्रोत्कण्ठितस्यात्युत्सुकित-
स्यास्य कुमारस्य मनसश्चित्तस्य रंहसा वेगेनेव रथेनेत्यसावुत्प्रेक्षा ॥

स्यन्दनान्मणिहिरण्यवरेण्यश्रीजुषः प्रमदमेदुरिताङ्गः ।

स्वर्गिवर्ग इव नाकिविमानादुत्तार भुवि हीरकुमारः ॥ ९ ॥

हीरकुमारः स्यन्दनाद्रथाङ्गुवि पृथिव्यामुत्तार उत्तरति स्म । गुरुं वन्दितुमिति शेषः ।
किंभूतः कुमारः । प्रमदेन हर्षेण मेदुरितं पुष्टिप्राप्तं पुष्टं जातं वा अङ्गं शरीरं यस्य ।
स्यन्दनात्कस्मात्क इव । नाकिविमानात् स्वर्गिवर्ग इव । यथा देवयानाद्देवव्रजो भूमौ
उत्तरसामवसरणस्थं जिनं नन्तुमिति शेषः । किंभूताद्रथाद्रिमानाच्च । मणिभी रत्नैर्हिरण्यैः
सुवर्णैर्वरेण्यां प्रकृष्टां श्रियं जुषन्ते सेवते इति ॥

सूरिवक्त्रविधुवीक्षणजन्मानन्ददुग्धनिधिफेन इवोद्यन् ।

चन्द्रिकाच्छुरितरुग्दशनानामानने स्मितमनेन वितेने ॥ १० ॥

अनेन हीरकुमारेण आनने स्वमुखे स्मितमीषद्वसितं वितेने विदधे चक्रे । किंभूतं
स्मितम् । दशनानां दन्तानां चन्द्रिकया दीप्त्या छुरिता व्याप्ता । 'दशनचन्द्रिकया व्य-
भासितम्' इति । तथा 'चन्द्रच्छुरितं वपुः' इति पाण्डवचरित्रे । रुक्कान्तित्यस्य तत् ।
उत्प्रेक्ष्यते—उद्यन् प्रकटीभवन् सूरैर्विजयदानगुरोर्वक्त्रं मुखमेव विधुश्चन्द्रस्तस्य वीक्ष-
णाद्दर्शनाजन्मोत्पत्तिर्यस्य तादृशो य आनन्दो हर्षः स एव दुग्धनिधिः क्षीरसमुद्रस्तस्य
फेनो छिण्डीर इव ॥

सूरिराजचरणाम्बुजयुग्मे नेमुषो मुखममुष्य बभासे ।

आगतो मिलितुमत्र वसन्तीं जामिमात्मन इव श्रियमिन्दुः ॥ ११ ॥

अमुष्य हीरकुमारस्य मुखं वदनं वभासे राजते स्म । अमुष्य किं चक्रुः । नैमुपः
प्रणतस्य । क । सूरिराजस्य विजयदानमुनीन्द्रस्य चरणौ पादावेवाम्बुजे कमले तयो-
र्गुग्मे द्वन्द्वे । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र गुरुपादाम्बुजे वसन्ती नित्यस्थायुकां वासिनीमात्मनः स्वस्य
जामिं भगिनीं श्रियं लक्ष्मीं मिलितुमिन्दुश्चन्द्र इवागतः समायातः । हीरकुमारवदनस्य
पार्वणरोहिणीरमणस्य समानत्वादियमुपमा । चन्द्रलक्ष्म्योर्द्वयोरपि समुद्रोत्पन्नत्वेन भ्रातृ-
भगिन्योर्व्यवहारः । 'रत्नाकरस्तव पिता कमले निवासो भ्राता सुधामयतनुः पतिरादि-
देवः । किं देवि केन कमले वद शिक्षितासि सारङ्गशृङ्गकुटिलानि विचेष्टितानि ॥' इति सूक्ते ॥

भाति तत्पदरजोऽस्य ललाटे पूर्वमेव तिलकं कृतमेतत् ।

त्वय्यथ त्वरितमेव समेष्ट्ये भाषितुं किमिति तत्पदलक्ष्म्या ॥ १२ ॥

तस्य गुरोः पदस्य चरणस्य रजो रेणुः अस्य हीरकुमारस्य भाले ललाटपट्टे राजते ।
उत्प्रेक्ष्यते—तत्पदलक्ष्म्या विजयदानसूरिपट्टश्रिया इत्यमुना प्रकारेण भाषितुं वक्तुं
पूर्वं प्रथममेव एतत्प्रत्यक्षलक्ष्यं किमु तिलकं विशेषकं कृतं रचितमिव । इति किं यत्
अथ एतस्मात्सूरैः सकाशादहं त्वयि विषये त्वरितं शीघ्रमेव समेष्ट्ये समागमिष्यामि स-
मेष्ट्ये । अयम् 'ईडच्' गतौ दिवादिको धातुरात्मनेपदी च ॥

तस्य लोचनपथे पृथुकेन्द्रस्तस्थिवानथ यथासनमेषः ।

सत्क्रियेव विधिना परिषत्सा तेन कांचिदपुषच्च विभूषाम् ॥ १३ ॥

अथ वन्दनविधेरनन्तरम् एष हीरकुमारलक्षणः पृथुकेन्द्रः कुमारपुरंदरस्तस्य सूरैः
लोचनयोरन्यथयोः पथे मार्गे । पथशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'यथा कः पथः स्मृतः'
इति । 'तथापथः पथि स्मृतः' इति शब्दप्रभेदे । नकारान्तो वायम् । तत्र टाडका
इति उपप्रत्ययः । गुरोरग्रे इत्यर्थः । तस्थिवानुपविष्टः । कथम् । यथासनं यथास्थानम्
आस्यते उपविश्यते अस्मिन् प्रदेशे इत्यासनम् । पुनः—सा परिषत् सभा तेन हीरकुमारेण
कांचिदपूर्वां विभूषां शोभामपुषत् पुष्पाति स्म । केव । सत्क्रियेव । यथा शोभनमनुष्ठानं
विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण कृत्वा शोभते ॥ इति हीरकुमारागमनगुरुवन्दने ॥

देशानां शमवतां शतमन्युः स प्रबोधयितुमङ्गिसमाजम् ।

प्रादिशद्वरयिता वसतीनां कौमुदीमिव वनं कुमुदानाम् ॥ १४ ॥

स महावीरपट्टपरम्परायातो विजयदानसूरिः नामा शमवतामुपशमिनां सांभूत मध्ये
शतमन्युः शतक्रतुः शक्रः देशानां धर्मोपदेशं प्रादिशद्दौ । व्याख्यानं करोति स्मेत्यर्थः ।
किं कर्तुम् । अङ्गिनां भव्यप्रगणिनां समाजं सभां प्रबोधयितुं धर्मं स्थापयितुम् । क इव ।
वरयितेव । यथा वसतीनां रात्रीणां कान्तश्चन्द्रः कुमुदानां कैरवाणां वनं काननमाकरं वा
प्रतिबोधयितुं विकाशयितुं कौमुदीं चन्द्रिकां प्रादिशति । विस्तारयतीत्यर्थः ॥

इन्द्रवारणमिवेयमसारा संसृतिः कृतदुरन्तविकारा ।

पङ्किलावट इवात्र निमग्ना निर्गमेन भविनः प्रभवन्ति ॥ १९ ॥

भो भव्याः, इयं संसृतिः संसार इन्द्रवारणनाम कटुकं फलं तद्वदसारा । इन्द्रवारणफलं हि बहिर्दृश्यमानं रम्यं परं मध्ये निःसारम् अतिकटुकतया केनापि खादितुमशक्यत्वाद्विष-फलवत् तथा संसृतिरपि । किंभूता संसृतिः । कृतो निष्पादितो दुर्दुष्टोऽनन्तदुःखदा-यकत्वेन अन्तोऽवसानं यस्य तादृशो विकारो विकृतिर्यया । फलमपि दुष्टविकृतिकृतम् । तथा अत्र संसारे निमग्ना ब्रूहिताः । पतिता इत्यर्थः । भविनो जीवा निर्गमे निःसरणे विषये न प्रभवन्ति नैव समर्था भवन्ति । निगोदादिष्वनन्तपुद्गलपरावर्तकर्तृत्वेन । क-स्मिन्निव । पङ्किलावट इव । यथा जम्बालजालाकलितकूपे निमग्ना निमज्य स्थिता जन्तवो निर्गन्तुं न प्रभवन्ति ॥

नारकादिगतयोऽत्र चतस्रः संस्फुरन्त्यसुमतामिव पुर्यः ।

सन्ति भूपतिपथा इव लक्षा योनयश्चतुरशीतिरमूष ॥ १६ ॥

भो भव्याः, अत्र संसृती असुमतां जन्तूनां चतस्रश्चतुःसंख्याका नारकादिगतयः । 'नरकस्तु नारकः स्यान्निरयो दुर्गतिश्च सः' इति हैम्याम् । आदिशब्दातिर्यङ्नरसुर-लक्षणा गतयो गमनस्थानानि संस्फुरन्ति प्रकाशीभावं भजन्ति । का इव । पुर्य इव । यथा जन्तूनां वासस्थानां नगरीणां दृश्यन्ते । पुनरमूषु चतुर्गतिषु चतुरशीतिलक्षा योनयो जीवानामुत्पादस्थानकानि सन्ति वर्तन्ते । क इव । भूपतिपथा इव । यथा नगरीषु चतुरशीतिप्रमाणा राजमार्गा भवन्ति । 'चतुराशी चहुदा' इति लोकप्रसिद्धिः ॥

मर्त्यजन्मनगरीमधिगत्य प्राणिनो भ्रमिवशेन कथंचित् ।

दर्शनादिवरवस्त्वनवाप्तेरायुरेव धनवत्क्षपयन्ति ॥ १७ ॥

प्राणिनो जीवा दर्शनं सम्यक्त्वमादौ येषां देशविरतिसर्वविरतिप्रमुखाणां वरव-स्तूनां प्रधानपदार्थानामनवाप्तेरलाभात् धनवदर्थान्नीवीद्रव्यमिवायुर्जीवितकालमेव क्षप-यन्ति निष्ठापयन्ति । किं कृत्वा । भ्रमिवशेन भवपरम्परारण्यपरिभ्रमणप्रकारेण कथंचि-दृशदृष्टान्तैर्महता कष्टेन कृत्वा मर्त्यजन्म मनुष्योत्पत्तिर्नाम नगरीमधिगत्य प्राप्य । 'अ-धिगत्य जगत्प्राधीश्वरात्' इति नैषधे । अधिगत्य । लब्ध्वा इत्यर्थः ॥

निर्गतायुरखिलद्रविणास्ते रङ्गवन्नरकवर्त्म भजन्तः ।

हा दुरागतदशा अशरण्या नित्यदुःखमनुभूय म्रियन्ते ॥ १८ ॥

हा इति खेदे । ते पूर्वोक्ताः प्राणिनः न विद्यते शरणागतसाधुः रक्षिता पालयिता वा येषां ते अशरण्या । शरणरहिता इत्यर्थः । तथा दुर्दुष्टा शोचनार्हा आगता दशा अवस्था येषां तादृशाः सन्तो नित्यमनिशं दुःखं क्लेशपरम्परामनुभूय विषह्य प्राप्य वा म्रियन्ते । किं कुर्वन्तः । निर्गतं निष्ठितं क्षयं प्राप्तमायुर्जीवितकालस्तदेवाखिलं

समस्तं द्रविणं धनं येभ्यो येषां वा तथाविधाः सन्तो नरकस्य दुर्गतवर्त्ममार्गं भजन्ते आश्रयन्ते । किं वत् । रङ्गवत् । यथा द्रमकानिष्ठापितसमस्तस्वधनाः सन्तो मार्गं नगरध्वानं भजन्तः केनचिदप्यकृतरक्षा दुष्टावस्थापतिता नित्यमनुभूय म्रियन्ते ॥

धर्ममार्हतमतो जनिमन्तो यानपात्रमिव संग्रह्यध्वम् ।

तत्स्थुषीं भवपयोनिधिपारे मुक्तिनामनगरीं च जिहीध्वम् ॥ १९ ॥

हे जनिमन्तो भव्याः, अतोऽस्मात्कारणाद्यानपात्रं वहनमिवार्हतं जिनप्रणीतं धर्मं संग्रह्यध्वम् । धर्मसंग्रहं कुरुतेत्यर्थः । 'ग्रह्णाति ग्रहयते लाति' इति क्रियाकलापे ग्रहणार्थाः क्रियाः । पुनर्युयं भवन्तः भवः संसारः स एव पयोनिधिरगाधत्वात्समुद्रः तस्य पारे परस्मिन्तटे तत्स्थुषीं स्थितिमतीं मुक्तिः सिद्धिरेव नाम यस्यास्तादृशीं नगरीं जिहीध्वं गच्छत । यानपात्रसंग्राहिणो जना हि पाथोधिपरपारपुरीमासादयन्तीति स्थितिः ॥

द्वे महोदरपुरस्य पदव्यौ प्रध्वरा च विषमा च जिनोक्ते ।

आदिमा ननु महाव्रतनामा पश्चिमा पुनरणुव्रतरूपा ॥ २० ॥

भो भव्याः, महोदयपुरस्य मुक्तिनामनगरस्य द्वे उभे पदव्यौ मार्गौ स्तः भगवता कथितौ वर्तते । द्वे के । एका प्रध्वरा सरला च, पुनरपरा विषमा कुटिला । तत्र द्वयोर्मध्ये आदिमा पदवी प्रथमो मार्गः ननु निश्चितं महान्ति सर्वसावद्यव्यापारनिषधरूपाणि । सर्वप्राणातिपातविरमण-सर्वमृषावादविरमण-सर्वादत्तादानविरमण-सर्वमैथुनविरमण-सर्वपरिग्रहविरमण-इति पञ्च महाव्रतानीति नाम यस्याः सा । 'साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभवान्' इति नैषधे । तेन महाव्रतनामा इति प्रयोगः । पुनः पश्चिमा तयोरन्तिमा अणुव्रतानि देशविरतिभाजाम् । स्थूलप्राणातिपातविरमण-स्थूलमृषावादविरमण-स्थूलादत्तादानविरमण-स्वदारसंतोषपरस्त्रीविधवावेश्याकन्याविरमण-स्थूलपरिग्रहपरिमाण-दिगिविरमण-भोगोपभोगविरमण-अनर्घदण्डविरमण-सामाधिक्यव्रत-देशावगासिक-पौषधोपवासव्रत-अतिथिसंविभागव्रतरूपाणि द्वादशसंख्याकानि रूपं यस्याः सा ॥

तूर्णमस्ति यदि तत्र यियासा प्रध्वरे पथि ततः प्रयतध्वम् ।

सौगतोदितपदार्थ इवास्ते यद्भवः स्फुरदशाश्वतभावः ॥ २१ ॥

भो भव्याः, यदि भवतां तत्र महोदयपुरे तूर्णं शीघ्रं यियासा गन्तुमिच्छास्ति वर्तते, ततस्तर्हि प्रध्वरे साधुमार्गरूपे सरले पथि पदव्यां प्रयतध्वं प्रयत्नं कुरुध्वम् । यद्यस्मात्कारणात् भवः संसारः स्फुरन् प्रकटीभवन् अशाश्वतभावः विनश्वरता यत्र एतादृश आस्ते । क इव । सौगतादिपदार्थ इव । यथा वौद्धकथितवस्तुत्रजे 'सर्वं क्षणिकम्' इति वाक्यात् यावत्पदार्थसार्थे अनित्यता वर्तते ॥

अनित्यतामेव दर्शयति—

सांध्यराग इव जीवितमास्ते यौवनं च सरितामिव वेगः ।

यत्क्षणेव कमला क्षणिकेयं तत्त्वरध्वमनिशं जिनधर्मे ॥ २२ ॥

यत्कारणात् सांध्यरागः संध्यासमयसंबन्धी रागः उपलक्षणान्नीलपीतकृष्णश्चेतरक्ता-
भ्रिकाप्रकरस्तद्वर्जितम् । यथा संध्यारागः क्षणात् प्रध्वंसं भजते तथा जीवितव्यम-
पीति । च पुनर्यौवनं तारुण्यं सरितां प्रावृषेण्यनदीनां वेग इवास्ति । यथा नदीनां पूरं
त्वरितं प्रयाति । यतः 'यौवन जाइ वेगिनदी युंजलवहइ इन्दचन्दनागेन्द कहो कुण थिट
रहइ' इति सूक्तोक्तेः । तथा यौवनमपि । पुतर्यत्कारणात् इयं कमला लक्ष्मीः क्षणेव
विशुदिव क्षणशब्दो वेदमरत्नशान्तिचरित्रेऽस्ति । क्षणिका क्षणमात्रस्थायुका । 'करिकर्ण-
चला कमला' इति वचनात् । तत्कारणादनिशं जिनधर्मे त्वरध्वं त्वरां कुरुध्वम् । शीघ्रं
जिनधर्ममेव कुरुतेत्यर्थः ॥ इति गुरुदेशना ॥

भारतीमिति निशम्य शमीन्दोः कल्पिताप्लव इवामृतकुण्डे ।

उल्लसत्पुलकपल्लविताङ्गश्चेतसीति वितर्क कुमारः ॥ २३ ॥

कुमारो हीरनामा चेतसि स्वमनसि इति वक्ष्यमाणं वितर्कं चिन्तयामास । किंभूतः
कुमारः । उल्लसन् प्रकटीभवन् यः पुलको रोमाञ्चस्तेन पल्लवितमङ्गं वपुर्यस्य । उत्प्रेक्ष्यते—
अमृतस्य सुधायाः कुण्डे कल्पितः कृतः आप्लवः त्वानं येन तादृश इव । किं कृत्वा । श-
मीन्दोर्मुनिचन्दस्त्वेष्वेवायुक्तप्रकारेण भारतीं वाणीम् । देशनामित्यर्थः । निशम्य श्रुत्वा ॥

अस्ति कश्चन न कस्यचनापि भ्रातृपुत्रपितृमित्रजनादि ।

संस्तृतौ क्षणिकतां कलयन्त्यां नानुयाति परलोकजुषं यत् ॥ २४ ॥

कस्यचनापि पुंसो भ्राता बन्धुः, पुत्रः सुतः, पिता जनकः, मित्रं सुहृत्, जनः कुटुम्ब-
वर्गः, स आदौ पूर्वं यस्य तादृक्श्चिन्तास्ति यत्कारणात् क्षणिकतां क्षणमात्रस्थायित्वं 'जे
पुव्वहे दिग्ग ते अवरहे न दीसन्ति' इति वचनात् क्षणविध्वंसिभावं कलयन्त्यां दधत्यां
संस्तृतौ संसारे परलोकजुषं भवान्तरभाजं स्वजनं कोऽपि नानुयाति न पश्चात्पृष्ठे वा
व्रजति । अन्यस्मिन् भवेन कोऽपि सार्थं याति । एक एव जीवो यातीत्यर्थः । यतः
'परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्' इति रघौ ॥

वल्लभीभवति यद्भवभाजां स्वार्थ एव न तथात्र परार्थः ।

पर्वणीन्दुरपि पङ्कजपाणिं यात्यसौ वसुकृतेऽपरथा नो ॥ २५ ॥

यत्कारणादत्र जगति भवभाजां जन्तूनां यथा येन प्रकारेण स्वार्थ एव केवलं
निजकार्यमेव वल्लभीभवति इष्टो जायते, तथा तेन प्रकारेण प्राणिनां परेषामर्थः अन्य-
कृत्यं न वल्लभः स्यात् । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—असौ प्रत्यक्षो महत्सु विख्यातिमान्
इन्दुश्चन्द्रोऽपि पर्वणि अमावास्यायां वसुकृते रत्नकृते । वसु कान्तिधनयोः । तदर्थं

पङ्कजपाणिं सूर्यं प्रतिभानुपार्श्वे याति । क्षीणश्चन्द्रः पर्वणि भास्करपार्श्वे गत्वा कान्ति-
मादायाभ्युदयते इति कविसमयः । अपरथा अन्यसमये अर्थे सृते स्वाभ्युदये संजाते
न कदाचिद्गच्छति । एवमन्योऽपि कमलाङ्कितकरं धनिनं प्रति द्रव्यार्थं प्रयाति । कार्ये
सृते तत्पार्श्वमपि नोपैति । तस्मात्कोऽपि कस्यापि नास्ति । ‘प्रकारवचने थाल्’ ।
‘सामान्यस्य भेदको विशेषं प्रकारस्तद्वृत्तेः किमादेस्थाल् स्यात् सर्वप्रकारेण इति सर्वथा
इतरथा अपरथा’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

कार्यकाल इतरोऽपि नरेणादीयते तदनु मुच्यत एव ।

विभ्रमाय विधृतो हृदि हारो हीयते रहसि सोममुखीभिः ॥ २६ ॥

नरेण मनुष्येण कार्यकाले स्वकृत्यसमये इतरोऽप्यन्योऽपि स्वकार्यकृते आदीयते
स्वीक्रियते । तदनु कार्यकरणानन्तरं सृते कृते मुच्यते त्यज्यत एव । उक्तमर्थमर्थान्त-
रेण दृढीकरोति—सोममुखीभिः स्त्रीभिः विभ्रमाय विलासार्थं शोभाकृते वा हृदि वक्षसि
हृदये धृतः परिहितो हारो मुक्ताकलापो रहसि सुरतक्रीडाकरणसमये । ‘संभोगश्च रहो
रतिः’ इति हैम्याम् । हीयते उत्तार्यते हृदयात् पृथक्क्रियते । ततः सर्वेषां स्वार्थं
एवाभीष्टः ॥

जन्मिनामयमकृत्रिममिन्नं श्रेयसे तदुदयेज्जिनधर्मः ।

वैभवाय परिशीलनभावं लम्बितः क्षितिशशीव कृतज्ञः ॥ २७ ॥

तत्कारणात् असारे संसारे अयं स्वर्गापवर्गसाधकत्वेन प्रसिद्धः अकृत्रिममिन्नं स्वा-
भाविकसुहृत् जिनोक्तो भगवत्प्रणीतो धर्मः परिशीलनभावमुपासनागोचरतां लम्बितः
प्रापितः सन् श्रेयसे ऐहलौकिकमुक्तिकृते च उदयेत् प्रकटीभवेत् । किंभूतः । कृतं
निर्मितं जानातीति कृतज्ञः । क इव । क्षितिशशीव । यथा कृतज्ञो नृपः सेवितः सन्
वैभवाय विभूतिकृते भवेत् ॥

स्वानुजन्मभगिनीकुलवृद्धानाददे तदनुयुज्य तपस्याम् ।

पारलम्भनविभुर्मववार्धैर्यत्तरीव नियमस्थितिरेषा ॥ २८ ॥

यत्कारणादेषा मुक्तिनगरप्रध्वरप्रद्वतिः प्रसिद्धा नियमे पञ्चमहाव्रतादिमूलगुणोत्तर-
गुणसम्यक्पालनरूपे यावज्जीवावस्थानं नियमस्थितिर्दीक्षा तरीव नौरिव संसारसमुद्रस्य
पारलम्भने परतटप्रापणे विभुः समर्था आस्ते । ‘तां तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भन-
तरीमरीरमत्’ इति नैषधे । तत्कारणात् खो ज्ञातिवर्गः । अनुजन्मा कनीयान् श्रीपा-
लाख्यभ्राता राणीविमलासख्ये द्वे भगिन्यौ जामी कुलवृद्धान् गोत्रमहत्तराननुयुज्य पृष्ट्वा
अहं तपस्यां संयममाददे गृह्णामि ॥ इति हीरकुमारस्य संसारासारताविचारः ॥

सूरिसिन्धुरपुरः स कुमारो व्याजहार मनसीति विमृश्य ।

दन्तकान्तिमुचुकुन्दसुमैस्तत्पादयोरिव सृजन्नुपहारम् ॥ २९ ॥

स हीरकुमारः मनसि खचित्ते इति पूर्वोक्तं विमृश्य विचार्य सूरिषु सिन्धुरः शौ-
ण्डीरत्वेन गजस्तस्य पुरोऽग्रे व्याजहार वदति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दन्तानां कान्तय एव
मुचकुन्दा द्रुमविशेषास्तेषां सुमैः पुष्पस्तस्य सूरैः पादयोश्चरणयोरुपहारं पूजाम् । 'पूजा-
हणासपर्याची उपहारवली समौ' इति हैम्याम् । सृजन् कुर्वन्निव ॥

प्राप्य तावककरादिह दीक्षामाहितायतिहितामिव शिक्षाम् ।

सेवितुं चरणतामरसं ते मानसं मुनिप कामयते मे ॥ ३० ॥

हे मुनिप सूरिन्द्र, ते तव चरणतामरसं पादपद्मं सेवितुं मे मम मनः कामयते वा-
ञ्छति । किं कृत्वा । इहास्मिन्नेव समये तावकात् त्वदीयात्करात् पाणेर्दीक्षां प्राप्य स-
मासाद्य । उत्प्रेक्ष्यते—आहितं स्थापितमायतौ उत्तरकाले हितं पथ्यं यया तादृशीं
शिक्षामिव ॥

एवमुक्तवति हीरकुमारे सूरिशीतकिरणः स्म गृणाति ।

मथ्यमानमकराकररावं ह्रेपयन्निव गभीरविरावैः ॥ ३१ ॥

सूरिषु मध्ये शीतकिरणः सौम्यगुणेन चन्द्रो गृणाति स्म वभाषे । कस्मिन् सति ।
एवमुक्ता प्रकारेण उक्तवति कथितवति हीरकुमारे सति । उत्प्रेक्ष्यते—सूरिर्गभीरवि-
रावैर्मन्द्रध्वनिभिर्मथ्यमानो नारायणेन मन्दरगिरिणा विलोच्चमानो यो मकराकरः समु-
द्रस्तस्य रावं गम्भीरनिर्घोषं लज्जयन् लज्जायुक्तं कुर्वन्निव ॥

मा कृथाः कचन तत्प्रतिबन्धं बान्धवस्वजनमित्रजनेषु ।

गन्धवाह इव भूधरसिन्धुग्रामसीमपुरभूमिधुनीषु ॥ ३२ ॥

हे कुमार, यद्येवं तवाशयस्तत्तदा तर्हि कचन केष्वपि बान्धवा भ्रातरः, स्वजनाः
सगोत्राः ज्ञातयः, मित्राणि सुहृदः, तत्प्रमुखेषु जनेषु लोकेषु प्रतिबन्धं ममत्वेन स्नेहेन
कृत्वा संसारे स्थायिभावं मा कृथा मा कुर्याः । क इव । गन्धवाह इव । यथा वायुर्भू-
धराः पर्वताः, सिन्धवः समुद्राः, ग्रामाः संनिवेशाः, सीमा ग्रामनगरसमीपबहिःप्रदेशाः,
पुराणि नगराणि, भूमयोऽखिलवसुंधरा, धुन्यो नद्यः, तासु प्रतिबन्धं न विदधाति ॥

यैरवर्धि जिनधर्मसुरद्रुः पूर्वजन्मनि जनैरिह तेषाम् ।

तद्दलानि कमलाकमलाक्षी सार्वभौमपदवीप्रमुखानि ॥ ३३ ॥

तत्सुमानि सुरवैभवलम्भः कीर्तयः परिमलोऽप्यदसीयः ।

सिद्धिमुग्धमृगादृक्परिरम्भारम्भणानि पुनरस्य फलानि ॥ ३४ ॥

(युग्मम्)

हे हीरकुमार, यैर्जनैः पूर्वजन्मनि प्राचीने भवे जिनधर्मरूपः सुरद्रुः कल्पवृक्षो-
ऽवर्धि वृद्धि प्रापितः, तेषां जनानामिह जन्मनि कमला लक्ष्मीः । अथ च कमला श्री-
स्तुत्या कमलाक्षी अरविन्दलोचना स्त्री, यया परिणीतमात्रया गृहे चागतया सत्या

सर्वतः सौधधनधान्यद्विपदचतुष्पदादिभिः परिपूर्यते सा लक्ष्मीसदृशा पद्माक्षी तथा सार्वभौमः सर्वस्या भूमेरीश्वरश्चक्रवर्ती तस्य पदवी एताः प्रमुखाः आदिमाः प्रकृष्टा वा येषु तादृशानि तस्य सुरद्रोर्दलानि पत्राणि सन्ति । तथा सुराणामुपलक्षणादिन्द्रादीनां वैभवानां संपदां लम्भः प्राप्तिः सा तस्य सुमानि पुष्पाणि । ‘प्रसूनं कुसुमं सुमम्’ इति हैम्याम् । तथा कीर्तयः सुरासुरनरखेचरकिंनरस्मिथुनगीयमानयशांसि अपि पुनरस्यायमदसीयः परिमलः आमोदः सौरभम् । तथा सिद्धयो लघिमा, वशिता, ईशत्वम्, प्राकाम्यम्, अणिमा, महिमा, यत्र कामावसायित्वम्, प्राप्तिः, इत्यष्टौ अन्या अपि मन्त्रतन्त्रविद्यातपःशक्तिप्रमुखाः सिद्धय एव मुग्धमृगदृशो रम्याह्वना । अथ वा सिद्धिर्मुक्तिरेव प्रधानवधूस्तामिस्तया वा सार्धमालिङ्गनानि परिरम्भणानि आसादनानि तेषामारम्भाः प्रक्रमास्तानि पुनरस्य कल्पद्रोः फलानि वर्तन्ते ॥

धर्म एव मनुजैरिह मन्त्रः सार्वकामिक इवैष निषेव्यः ।

येन वाङ्मनसपारगतं यत्तत्करोति करसात्तरसासौ ॥ ३५ ॥

इह जन्मनि मनुजैर्मानवैरेष पूर्वव्यावर्णितस्वरूपः धर्म एव निषेव्यः सेवनीयः आराध्यः । क इव । मन्त्र इव । यथा कैश्चित्पुंभिर्विनयादिना प्रसन्नीभवद्गुरुप्रदत्तः सर्वान् समस्तान् कामान्मनोभिलषितान् करोति पूरयतीति सार्वकामिको मन्त्रो निषेव्यते सम्यगुपासनागोचरीक्रियते । येन कारणेनासौ धर्मो यद्वस्तु वाङ्मनसयोः पारगतं वचनमनसोर्गोचरातीतं यत्र पदार्थे वाचो मनसश्च गोचरो न भवति तदपि वस्तु तरसा शीघ्रं करसात्करप्राप्तं करोति । ‘का नाम तत्र चिन्ता प्रभवति पुरुषस्य पौरुषं यत्र । वाङ्मनसयोरविषये विधौ च चिन्तान्तरं किमिह ॥’ इति चम्पूकथायाम् ॥ इति कुमारमुद्दिश्य गुरुवाक्यम् ॥

तां निपीय मुनिवासववाचं स्मेरदृक्प्रबुबुधे स कुमारः ।

कैरवोत्कर इव सितकोशश्चन्द्रिकां कुमुदिनीरमणस्य ॥ ३६ ॥

स कुमारः प्रबुबुधे प्रतिबुद्धः । किंभूतः । स्मेरदृक् हृषेण हसितनयनः । तां पूर्वोक्तां मुनिवासवस्य सूरिन्द्रस्य वाचं वाणीं निपीय सादरं श्रुत्वा पीत्वा । क इव । कैरवोत्कर इव । यथा कुमुदिनीरमणस्य विधोश्चन्द्रिकां ज्योत्स्नां निपीय कुमुदप्रकरः प्रबुध्यते विकाशं लभते । किंभूतः । स्मिता विकसिताः कोशाः कुङ्कुला यस्य ॥

निश्चिकाय विनयानतकायस्तत्पुरः शिशुशशी स्वतपस्याम् ।

शंसुसुभ्रुव इवाम्बुजनाभः प्रत्यगाच्च भवन् निजजामेः ॥ ३७ ॥

शिशुशशी कुमारचन्द्रः तस्य सुरेः पुरोऽग्रे स्वस्यात्मनस्तपस्यां दीक्षाग्रहणं निश्चिकाय अहमवश्यं श्रीमत्पार्श्वे परिव्रजां गृहीष्यामिति निश्चयं कृतवान् । किंभूतः । विनयेन आ सामस्त्येन नतो नम्रीभूतः कायः शरीरं यस्य । च पूनर्निजजामेविमलाया भवन् गृहे प्रत्युज्जगाम । क इव । अम्बुजनाभ इव । यथा कृष्णः शंसुसुभ्रुवः पार्वत्या

भवनं प्रति गच्छति । भवानी हि कृष्णभगिनीति कविसमयः । 'भवानी कृष्णमेनाक-
स्वसा' इति हैम्याम् । अम्भोजनाभः अम्बुजनाभः इत्यादयः प्रयोगाः पाण्डवचरित्रे
सन्तीति ॥ इति विजयदानसूरिपुरो हीरकुमारस्य दीक्षाग्रहणनिश्चयकरणम् ॥

इच्छता हृदि महोदयलक्ष्मीसङ्गदूतिमिव जैनतपस्याम् ।

भाष्यते स्म भवनं प्रविभूष्यानेन भावयतिना निजजामिः ॥ ३८ ॥

अनेन निजजामिः स्वभगिनी भाष्यते स्म भाषिता वादिता । अनेन किंभूतेन । भा-
वेन परिणामेन यतिना साधुना । अथ वा भावे आशये मनसि यतित्वं चारित्र्यमस्येति
तेन भावयतिना । किं कृत्वा भाषिता । भवनमर्थाद्भगिनीभवनं प्रकर्षेण विभूष्य शोभां
नीत्वा गृहे आगत्येत्यर्थः । अनेन किं कुर्वता । जिनानां तीर्थकृतमियं जैनों तपस्यां दीक्षा-
मर्थाद्ब्रहीतुमिच्छता हृदये वाञ्छता । उत्प्रेक्ष्यते—महोदयलक्ष्म्या मुक्तिश्रिया महाम्यु-
दयसंपदो वा सङ्गे संगमे मिलने दूतिमिव संदेशहारिकामिव । 'तस्याः स्वयंवरपरिग्रहदू-
तिरेषा मुक्तावली हृदिपदं भवतः करोतु' इति चम्पूकथायाम् । 'दूत्यां दूतिरपि
स्मृता' इति शब्दप्रभेदे ॥

धारिणीसुत इवाद्य सुधर्मस्वामिनं विजयदानमुनीन्द्रम् ।

वन्दितुं विजयसिंहमहेभ्याम्भोजदृग्गत इतोऽहमभूवम् ॥ ३९ ॥

विजयसिंहनामा यो महेभ्यो व्यवहारी तस्याम्भोजदृक् प्रियतमे हे जामे अद्याह-
मितो भवत्या गृहाद्विजयदाननामानं मुनीन्द्रं सूरिं वन्दितुं नमस्कर्तुं गतोऽभूवम् । क
इव । धारिणीसुत इव धारिणीनामा ऋषभव्यवहारिपत्नी तस्याः सुतो जम्बुकुमारः सु-
धर्मस्वामिनं श्रीमहावीरपञ्चमगणधरं नन्तुं गतोऽभूत् ॥

कीलनैकललितं कलयन्ती या कशेव तुरगस्य भवस्य ।

देशनाश्रवणगोचरभावं लम्बिता श्रमणशीतमरीचेः ॥ ४० ॥

हे जामे, श्रमणशीतमरीचेर्विजयसूरीन्द्रस्य सा परमशान्तरसमयी धर्मकथा नया
खट्वात्रा श्रवणयोः कर्णयोः गोचरभावं विषयतां लम्बिता नीता । श्रुतेत्यर्थः । 'नूनं न
मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि' इति कल्याणमन्दिरस्तोत्रे । सा का । या धर्मदेशना भ-
वस्य संसारस्य कीलने ताडने अथ वा कीलनायां पराभवविधानविषये । 'व्रजते हेलि-
ह्यालिकीलनाम्' इति नैषधे । एकमद्वितीयं ललितं विलासं व्यवसायं कलयन्ती वि-
भ्रती वर्तते । केव । कशेव । यथा कशा चर्मदण्डः 'चाबखो' इति लोके प्रसिद्धा
तुरगस्याश्वस्य ताडने अद्वैतं व्यापारं विभर्ति ॥

उन्नमज्जलधरादिव जामे सूरिराजवदनादुदयद्भिः ।

दाणिवैभवरसैर्द्वयमेतत्पूर्यते स्म मम कर्णकलशयोः ॥ ४१ ॥

हे जामे हे विमले, सूरिराजस्य वदनान्मुखादुदयद्भिः प्रकटीभवद्भिः दाणीनां दाचां

विलासा वैचित्र्यास्त एव रसा जलानि तैर्ममेदं मदीयमेतत्प्रत्यक्षशब्दविषयगोचरं कणौ श्रवणावेव कलशयौ कुम्भयौ तयोर्द्वयं युगलं पूर्यते स्म पूर्णाभूतम् । श्रवणशब्दः पुनर्पुन-
सके । ‘आलोचनान्तात् श्रवणौ वितत्य’ इति लिङ्गानुशासनावचूर्णौ । तथा ‘अवलम्बि-
तकर्णशङ्कुलीकलशीकं रचयन्नवोचत’ इति नैषधे । कस्मादिव । उन्नमजलधरा-
दिव । यथा उन्नमतो जलभरैर्नम्रीभवन्तो जलधरान्मेघादुदितैः प्रादुर्भूतैर्नारैः सलिलैः
कलशीद्वन्द्वं परिपूर्णं भवति । वाणिशब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । यथा ‘अन्तर्वाणिस्तु शास्त्र-
वित्’ इति हैम्याम् । तथा भर्तृहरशतके प्रोक्तं च—‘केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं
हारा न चन्द्रोज्ज्वला न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः । एका वाणि-
रलंकरोति पुरुषं या संस्कृता पठ्यते क्षीयन्ते किल भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूष-
णम् ॥’ इत्यत्रापि वाणिशब्दो ह्रस्वः ॥

सूरिभर्तुरमृतादपि वाचो दृश्यते जगति कोऽपि विशेषः ।

त्यक्तमन्यव इदंरसिका यन्मन्युबद्धमनसस्त्वमृताशाः ॥ ४२ ॥

हे जामे, जगति विश्वे अमृतात्पीयूषात्सूरिभर्तुर्वाचो वाण्याः कोऽप्यद्भुतवैभवो वि-
शेषः अतिशायिलमनिर्वचनीयमहिमा दृश्यते अवलोक्यते ज्ञायते वा । यद्यस्मात्का-
रणात् इदंरसिका मुखवचनसुधापानरसवन्तो जनास्त्यक्तमन्यव उज्जितकोपा जायन्ते ।
अस्यां वाण्यां रसिकाः इदंरसिकाः । ‘इदं यशांसि द्विषतः सुधारुचः’ इति नैषधे ।
तु पुनः । अमृताशाः सुधापायिनो देवा मन्युबद्धमनसः कोपकलितान्तःकरणाः तत्त्व-
तस्तु यज्ञोत्कण्ठहृदयाः तदशनत्वात् । ‘स्वाहा स्वधा क्रतुसुधामुज आदितेयाः’ इति
हैम्याम् ॥

सांप्रतं भगिनि तेन मुनीन्दोः संनिधौ ग्रहयितुं व्रतलक्ष्मीम् ।

उत्सुकोऽहमभवं भवमग्नौ धारिणेय इव वीरजिनेन्दोः ॥ ४३ ॥

हे भगिनि, तेन एतादृग्मुखवचनामृतपाननैत्सुक्येन कारणेन सांप्रतमधुना मुनीन्दो-
विजयदानसूरैः पार्श्वे व्रतलक्ष्मीं चारित्रश्रियं ग्रहयितुमादातुमहमुत्सुक उत्कण्ठितो-
ऽभवं संजातः । ‘गृह्णाति ग्रहयते लाली’ इति क्रियाकलापे । ग्रहयते इत्यस्य प्यन्तस्य
तुमप्रत्ययप्रयोगः । अहं किंभूतः । भवात्संसारत्पुनः पुनः पर्यटने भग्न उद्विग्नः । क
इव । धारिणेय इव । यथा श्रेणिकवृत्पत्नी धारिणी तस्या नन्दनो मेघकुमारः श्रीमहा-
वीरजिनवरस्य पार्श्वे व्रतं ग्रहीतुमुत्सुको जज्ञे ॥

सेतुबन्धमिव संसृतिसिन्धोस्तद्भ्राताय मम देहि निदेशम् ।

विघ्नयेन्न हि महोदयलक्ष्मीसंमुखं निजजनं हितकाङ्क्षी ॥ ४४ ॥

हे जामे, तत्कारणात्त्वं मम भ्राताय चारित्रग्रहणार्थं निदेशमाज्ञां देहि । कसिव ।
सेतुबन्धमिव पद्माविरचनमिव । लोके ‘पाज’ इति प्रसिद्धा । कस्य । संसृतिः संसारः स
एवागाधत्वात्सिन्धुः समुद्रस्तस्य । हि यस्मात्कारणान्महाशुदयोऽलैश्वर्यं मोक्षश्च तस्य

लक्ष्मीस्तत्राभिमुखं संमुखीभूतं निजजनं स्वकीयबन्धुवर्गं हितकाङ्क्षी स्वजनहिताभिला-
पुको जनः को विनयेद्विघ्नं कुर्यात्, अपि तु न कोऽपि नान्तरायी भवेत् ॥ इति विम-
लाभिनीं प्रति हीरकुमारस्य दीक्षादेशमार्गवचनम् ॥

तद्वचो विचरितं सहजेन प्राप्तमात्रमपि कर्णपुटान्तः ।

क्षिततप्तगुरुपत्रमिवास्या दुःखमप्रतिममातनुते स्म ॥ ४५ ॥

सहजेन भ्रात्रा । [‘भ्राता तु स्यात्सहोदरः । समानोदर्यः सोदर्यः सगर्भसहजा
अपि ॥’ इति हैम्याम् ।] विरचितं कथितं तद्वचो दीक्षादेशमार्गवरूपं तत्पूर्वोक्तं वाक्यं
कर्णपुटान्तः श्रोत्रपात्रमध्ये प्राप्तमात्रमपि केवलमेकवारं गतमपि अस्या विमलाया
हीरकुमारस्य वृहद्भगिन्या अप्रतिमसाधारणं दुःखमातनुते स्म चक्रे । किमिव । क्षिप्त-
तप्तगुरुपत्रमिव । यथा—क्षिप्तं स्थापितं तप्तमुष्णीकृतं गुरुपत्रं कर्णयोरतिदुःखदं स्यात् ॥

डिम्भलम्भितविडम्बनभाजा दुःखतः परभूतेव भगिन्या ।

स न्यगादि मृदुगद्गदवाचा साधिमाधरितपुष्पधनुःश्रीः ॥ ४६ ॥

स हीरकुमारो भगिन्या विमलास्त्रा न्यगादि भाषितः । किंभूतया । मृद्वी को-
मला तथा वाष्पैरुपपृष्टा तादृशी वाग्वाणी यस्याः । अथवा साधनभूतया वाचा कृत्वा ।
कुतः । कुतस्तादृग्भ्रातृप्रव्रज्या परिणामोद्भूतदुःखतः । स किंभूतः । साधिना शरीर-
सौन्दर्येण । ‘साधुरभ्यमनोज्ञानि’ इति हैम्याम् । अधरिता हीनीकृता तिरस्कृता वा
पुष्पधनुषः कामस्य श्रीवपुः शोभा येन । ‘त्वयादृतः किं नरसाधिमभ्रमः’ इति नैपथे ॥
उत्प्रेक्ष्यते—परभूतेव । यथा कोकिलया भाष्यते विस्वरमुच्यते । किंभूतया । डि-
म्भेन अव्यक्तवालकेन लम्भितं प्रापितं यद्विडम्बनं संतापनं तद्भजतीतिपरान् काकवाल-
कान् पुष्पन्तीति परभृतः । ‘कोकिलैः पालितः काकस्तथा चाग्नैस्तु पोषितः’ इति
वचनात् । तथा परभृत् व्यञ्जनान्तः । ‘परभृतां मदनालसचेतसाम्—’ इत्यादि रघुकु-
मारयोरपि ॥

सांप्रतं व्यतिकरस्तव कोऽयं वार्धकोचितविधेश्वरणस्य ।

लीढि वत्स विषयस्य रसालस्येव पक्त्रिमफलस्य रसांस्त्वम् ॥ ४७ ॥

हे वत्स, सांप्रतमिदानीं वाललीलायां तव भवतश्चरणस्य चारित्र्यस्य कोऽयं व्यतिकरः
क एष प्रस्तावसमयः । किंभूतस्य चरणस्य । वार्धके वृद्धावस्थायासुचितो योग्यो विधिरा-
चरणं यस्य । किं च हे बन्धो, अधुना त्वं विषयस्य शब्दादिगोचरस्य रसानास्वादान्
लीढि आस्वादय । रागाननुभव । कस्येव । पक्त्रिमफलस्येव । यथा कोऽपि रसालस्य
सहकारतरोः परिपक्वफलस्य रसान्निवन्दानास्वादयति जनः ॥

१. वस्तुतस्तु परभृता काक्येव । कोकिलडिम्भो रूपसादृश्यविडम्बनात् काकाभ्यां
पाल्यते इत्येव संप्रदायः ।

भाग्यभाजि जलजन्मगृहैवागन्तुका तरुणता त्वयि वत्स ।

कामकेलिवसतौ रतिसख्यां त्वं रमस्व युवतीभिरमुष्याम् ॥ ४८ ॥

हे वत्स, त्वयि विषये तरुणता यौवनावस्था आगन्तुका आगमनोत्सुकशीला वर्तते । केव । जलजन्मगृहैव । यथा भाग्यभाजि पुण्यवति पुरुषे जलजन्ममन्दिरा लक्ष्मीरागमनशीला भवेत् । पुनर्हे बन्धो, त्वममुष्यां तारुण्यावस्थायां युवतीभिर्यौवनवतीभिः स्त्रीभिः सार्धं रमस्व विलासं कुरु । 'युवतीकरनिर्मलनिर्मथितम्' इति दीर्घोऽपि युवतीशब्दः । किंभूतायाममुष्याम् । कामस्य कन्दर्पस्य केलिवसतौ कीडार्थगृहे । पुनः किंभूतायाम् । रते रागस्य सख्यां वयस्याम् । 'रतिः स्मरस्त्रियां रागे रते' इत्यनेकार्थः ॥

यौवनेऽर्जय यशोगुणलक्ष्मीः क्षोणिमानिव महःक्षितिकोशान् ।

आर्हतं तदनु धर्ममयि त्वं स्थाविरे स्थिरतया विदधीथाः ॥ ४९ ॥

हे वत्स, यौवने तारुण्ये यशांसि कीर्तीगुणान् महत्त्वौदार्यादिलक्षणान् लक्ष्मीरस्मिताः ध्रियश्च अर्जय स्वायत्तीकुरु । क इव । क्षोणिमानिव । तथा भूपतिस्सारुण्ये महः प्रतापं क्षितिं परदेशमण्डलं कोशान् बहून् भाण्डागारोत्करानुपार्जयति । 'स्वात्पालधनमुक्नेतृपतिमत्वर्थकादयः' इति हैम्यामुक्तत्वेन क्षोणिमानित्वत्र मत्वर्थीयप्रत्ययः । अयि पुनर्हे वत्स, अनु तारुण्यावस्थायां पश्चात्स्थाविरे वार्धके वृद्धवयसि स्थिरतया स्थैर्येण अचपलचित्तत्वेन आर्हतमर्हदुक्तं तं चारित्रलक्षणं धर्मे विदधीथाः कुर्वीथाः ॥

मौक्तिकेन किल सोदर सर्वैः श्लाघ्यतेऽत्र भवता पितृवंशः ।

भ्रातृवत्यहमपि त्वयकास्मि श्रीरिवामृतकरेण वरेण ॥ ५० ॥

हे सोदर, अत्र लोके भवता त्वया कृत्वा । अथ वा अत्रभवता पूज्येन । भाविनि भूतोपचाराजनानां माननीयेन वा भवता । अत्रभवत्तत्रभवच्छब्दौ पूज्यार्थे निपात्येते इति वचनात् । पितृवंशस्तातान्वयः कुरासाहकुलम् । सर्वैर्जनैः श्लाघ्यते प्रशस्यते स्तूयते । केनेव । मौक्तिकेनेव । अत्र किलेति इवार्थः । यथा मौक्तिकेन मुक्ताफलेन कृत्वा मुक्ताफलानां पिता तस्मादुत्पन्नत्वात्तेषां तादृशो वंशो वेणुः शतपर्वा जनैः श्लाघ्यते । 'उत्प्रेक्षाद्योतकाः शङ्के मन्ये नूनमिव ध्रुवम् । जाने किलादयो ज्ञेयाः प्रायेणेयं क्रियोद्भवाः ॥' इति कविशिक्षायाम् । अपि पुनर्हे बन्धो, अहं त्वयका कृत्वा भ्रातृमती सोदरवती अस्मि वर्ते । केव । श्रीरिव । यथा लक्ष्मीरमृतकरेण चन्द्रेण बन्धुमत्यस्ति । द्वयोरपि समुद्रोत्पन्नत्वेन । किंभूतेन त्वया चन्द्रेण च । वरेण जनेषु ज्ञातिषु श्रेष्ठेन ॥

त्वद्गन्धूमुखसुधांशुसुधायाः पानमुत्सुकतया प्रविधित्सू ।

मद्विलोचनचकोरशकुन्तौ चापलं रचयतश्चिरमेतौ ॥ ५१ ॥

हे बन्धो, एतौ दृश्यमानौ मद्विलोचने मम नेत्रे एव चकोरशकुन्तौ ज्योत्स्नाप्रियपक्षिणौ चिरं बहुकालं यावच्चापलं चञ्चलताम् । उत्कण्ठतामित्यर्थः । रचयतः कुर्वते । किं-

कर्तुमिच्छ । उत्सुकतया उत्कण्ठितत्वेन त्वद्दृष्टव्यं जायतायाः । 'दाराः क्षेत्रं वधूभार्या
जनी जाया परिग्रहः' इति हैम्याम् । मुखं वदनमेव सुधांशुस्तस्य सुधां दर्शनाभृतं तस्याः
पानं पीतिं प्रविधित्सू कर्तुमिच्छ । 'कणे हल्यचकोरीणां गणः पीत्वा सुधासवम् । अ-
जायत मदेनेव गुन्नापुन्नारुणेक्षणा ॥' इति वस्तुपालकीर्तिकौमुद्यां चकोराणां ज्योत्स्ना-
पाने प्रसिद्धेऽपि इत्यमृतपानमपि ॥ इति विमलायाः प्रथमोक्तिः ॥

वाङ्मयैर्विरचितैरिदमाद्यैः श्रोत्रपत्रपथिकैः स्वभगिन्याः ।

प्रेरितो निगदति स्म कुमारो गर्जितैरिव शिखी घनपङ्केः ॥ ५२ ॥

कुमारो हीरनामा बालको निगदति स्म वभाषे । किलक्षणः । प्रेरितः प्रणोदितः ।
कैः । इदं पूर्वोक्तमाद्यं प्रथमं येषु तादृशैर्वाङ्मयैर्वाचां प्रपङ्क्तैः । 'इतीदृशस्तं विरचय्य
वाङ्मयैः' इति नैषधे । किंभूतैर्वाङ्मयैः । विरचितैः प्रणीतैः । उक्तैरित्यर्थः । कथा । भगिन्या
स्ववृहत्स्वल्पा । पुनः किंभूतैः । श्रोत्रयोरर्थात् कुमारस्य कर्णयोः पथिकैः प्रादुष्णीभूतैः ।
श्रुतैरित्यर्थः । वभाषे । क इव । शिखीव । यथा मयूरो घनपङ्केः मेघमालाया गर्जितै-
र्गर्जरवैः प्रेरितो वक्ति केकारवं कुरुते ॥

जीवितं कुशशिखास्थमिवाम्भः पांशुलेव तरला कमलापि ।

ऐक्ष्वाग्रमिव यौवतमेतत्प्रेक्षणक्षण इव स्वजनोऽपि ॥ ५३ ॥

हे जामे, जीवितमायुर्जीवितव्यं कुशशिखास्थं दर्भाग्रस्थायुकमम्भो नीरसि च वर्तते ।
दर्भाग्रस्थमम्भः कियत्कालमवतिष्ठते तथा जीवितमपि । अपि पुनः—कमला पांशुलेव
व्यभिचारिणीव तरला चपला । अस्थिरा आस्ते । पुनरेतत्संसारिजनैराद्रियमाणं यौवतं
युवतीनां समूहः स्त्रीगुणः ऐक्ष्वाग्रमिव इक्षूणाभिर्दमैक्षवं तादृशमग्रं प्रान्तं तद्वत् । यथा
इक्षूणाग्रमे नीरसता तथा विचार्यमाणमनुभूयमानं च स्त्रैणं प्रान्ते नीरसमेव जायते ।
अपि पुनः स्वजनो ज्ञातिवर्गः परिजनो वा प्रेक्षणक्षण इव रामलक्ष्मणादिरूपदर्शननाट-
कप्रस्ताव इव क्षणदृष्टनष्टः स्यात् ॥

यद्वमिष्यति ममार्भकभावोऽलंकरिष्यति तनुं च युवश्रीः ।

वार्धकं पुनरमात्यमिव स्वं भूषयिष्यति क इत्यवगच्छेत् ॥ ५४ ॥

हे जामे, यन्मम मदीयोऽर्भकभावः शैशवं गलिष्यति यास्यति । च पुनर्युवश्रीः
भावप्रधाननिर्देशात्तारुण्यलक्ष्मीः । अथ वा युवत्त्वेन श्रीलक्ष्मीः शोभा मम तनुः शरीर-
मलंकरिष्यति । पुनर्वार्धकं वृद्धावस्था स्वमर्थादात्मीयात्मानं भूषयिष्यति । कमिव ।
अमात्यमिव । यथा प्रधानं वार्धकं भूषयति । 'वार्धकं भूषयत्यत्र राजामात्यमिपद्युनीन्'
इति वचनात् कः पुमानित्यवस्थात्रयं भावीदमवगच्छेत् अवबुध्येत । अपि तु न
कोऽपीत्यर्थः ॥

जन्तुरेष इह जामिकलत्रभ्रातृमातृपितृपुत्रविशेषैः ।

वम्भ्रमीति परमाणुरिवैको नीलिमारुणिमपीतिमुरगैः ॥ ५५ ॥

हे भगिनि, एष जन्तुः प्राणी इह जगति एक एव जामिर्भगिनी, कलत्रं पत्नी, भ्राता बन्धुः, माता जननी, पिता जनकः, पुत्रः सुतः, एतेषां विशेषैः प्रकारैः वम्भ्रमीति संसारचक्रे अतिशयेन पर्यटति । क इव । परमाणुरिव । यथा एक एव परमाणुनाल-त्वपीतत्वरक्तलादिरागैरङ्गैर्भुवने भ्राम्यति ॥

सौरभेण मलयद्गुरिवात्मा यस्य धर्मविधिना स्म विभाति ।

तेन विष्टपमशेषमभूषि प्रोच्यते स्म किमुताभिजनादि ॥ ९६ ॥

हे जामे, यस्यात्मा धर्मविधिना जैनधर्माचरणप्रकारेण विभाति स्म शोभितः । क इव । मलयद्गुरिव । यथा चन्दनतरुः सौरभेण परिमलेन विभाति तेन पुंसा अशेषं समस्तमपि विश्वमभूषि भूषितम् । तर्हि अभिजनादि किमुत प्रोच्यते । निखिलेऽपि भुवने स्ववंशादि तु सुतरामेव भूषितमिति बोध्यम् ॥

निम्नगेव परिसर्पति निम्नं या दधाति पितृसूरिव रागम् ।

भोगिनीव कुटिला कमलाक्षी सा सतामनुचिताभ्युपगन्तुम् ॥ ९७ ॥

हे जामे, या स्त्री निम्नगेव नदीव निम्नं नीचैः परिसर्पति गच्छति । नीचगामिनी । 'कामिन्यो नीचगामिन्यः' इति वचनात् । तथा—या स्त्री पितृसूः संध्येव क्षणं रागं दधाति । यथा संध्या क्षणं पञ्चाप्यतिशायिवर्णविशेषान् दर्शयित्वा नीरागा स्वयमपि क्वापि याति तथैव स्त्री । तथा या कान्ता भोगिनीव भुजङ्गीव कुटिला । वक्रगामिनी वक्ति अन्यदन्यच्च कुरुते सा कमलाक्षी वनिता सतामुत्तमानामभ्युपगन्तुमङ्गीकर्तुमनुचिता सर्वथापि नैव योग्या ॥

या जहाति न कदाप्यनुषङ्गं या विरागवति चाधिकरागा ।

तां जगज्जनमनःकमनीयां लिप्सते शिवकनीं मम चेतः ॥ ९८ ॥

हे जामे, या बधूः कदापि कस्मिन्नपि समये भर्तुरनुषङ्गं न दहम् । पार्श्वमित्यर्थः । न जहाति न मुञ्चति । च पुनर्या विरागवति वैराग्यभाजिनि नीरागेऽपि पुंस्ति अधिकरागा उत्कृष्टरङ्गा भवति । तां शिवकन्यां जगद्विख्यातां मुक्तिकन्यां मम चेतश्चित्तं लिप्सते वाञ्छति । किंभूतानां जगताम् । भूर्भुवःस्वस्वयीजन्मिनां सुरासुरनराणां मनोभिरन्तःकरणैः कमनीयामभिलषणीयाम् ॥ इति प्रव्रज्यादृढतायां भगिनीं प्रति कुमारवचः ॥

निश्चिकाय वचनैरथ तैस्तैस्तस्य सा व्रतविधौ द्रढिमानम् ।

मौक्तिकसजमिवाश्रुकणौघैस्तन्वती हृदि पुनस्तदवोचत् ॥ ९९ ॥

अथ भ्रातृवचनश्रवणानन्तरं सा विमला तैस्तैः पूर्वोक्तवचनैस्तस्य ह्रीरकुमारस्य व्रत-विधौ दीक्षाग्रहणविषये द्रढिमानं दृढतां निश्चिकाय निर्धारयामास । निर्धारं कृतवती । पुनः सा जामिः तं भ्रातृमवोचद्वक्ति स्म । किं कुर्वती । अश्रुकणौघैः बाष्पविन्दुवृन्दैः ।

उत्प्रेक्ष्यते—हृदि हृदये वक्षसि मौक्तिकस्रजं मुक्ताफलमालिकामिव तन्वती कुर्वती
विस्तारयन्तीव ॥

वत्स वत्सलतया तव किञ्चिद्वच्मि कर्णपथिकीकुरु तत्त्वम् ।

यद्रसायनमिव स्वजनानामस्ति वाग्विरचना हितगर्भा ॥ ६० ॥

हे वत्स लघुभ्रातः, तव भवतः वत्सलतया हितकृत्वेन यत्किञ्चिद्विनामायतिहित-
विधायकं विचार्याहं वच्मि कथयामि, तत्त्वं तवाप्यायतिसुखदं मदुक्तं कर्णपथिकीकुरु
श्रवणप्राधुनं प्रणय । शृण्वित्यर्थः । यद्यस्मात्कारणात्स्वजनानां बन्धुवर्गाणां हितं पथ्य-
मायतौ सुखकारकोपायो गर्भे मध्ये यस्यास्तादृशी वाग्विरचना वचनक्रमः । हितशिक्ष-
त्यर्थः । रसायनं सिद्धौषधमिवास्ति । प्राणिनां तुष्टिपुष्टिकृद्भवति ॥

अङ्गनाङ्गपरिरम्भहसन्तीगर्भगेहनिवहान्प्रविहाय ।

मर्षयिष्यसि कथं वद सैष्यं भूमिमानिव भटानरिसैन्यम् ॥ ६१ ॥

हे भ्रातः, त्वं वद कथय अङ्गनानां स्वपाणिगृहीतगृहिणीनामङ्गस्य कायस्य परिरम्भ
आश्लेषः स्वकामिनीकायेन सममालिङ्गनम् । शीतकाले तस्योष्णस्पर्शत्वात् । तथा—हसन्त्यः
कृशानुशकटिकाः, तथा—गर्भगेहा अपवारकाः । ‘उरडा’ इति लोके प्रसिद्धा । एतेषां नि-
वहान् समूहान् प्रविहाय त्यक्त्वा त्वं सैष्यं शिशिरर्तुम् । उपलक्षणाद्वेमन्तमपि । एता-
वता शीतकालं कथं केन प्रकारेण मर्षयिष्यसि सहिष्यते । ‘सहते मृष्यति मर्षति मृप-
यति मर्षयति मर्षते चैव । क्षमते तितिक्षते च क्षाम्यति चेति क्षमाविपथाः ॥’ इति
क्रियाकलापे सहनार्थाः क्रियाः । क इव । भूमिमानिव । यथा राजा भटान्वीरान् विहा-
य मुक्त्वा अरिसैन्यं शत्रुसेनां कथं सहते ॥ इति शीतकालकाव्यम् ॥

चन्द्रचन्दनशिरोगृहशय्यावारवामनयनावनकेलीः ।

अन्तरेण तरणीरिव सिन्धुग्रीष्म एष किमु निस्तरणीयः ॥ ६२ ॥

चन्द्रः शीतरुचिः, चन्दनं श्रीखण्डविलेपनं शिरोगृहम्, चन्द्रशाला । उष्णकाले हि यु-
वानो गृहोपरितनाकाशभूमौ शेरते शीतलत्वात् । तथा—शय्या हंसार्कतूल्यः पल्यङ्गा वा ।
तथा—वारवामनयनाः एकैकस्य राजादेरन्यस्यापि पुण्यवतः पुंसो बह्वीषु गृहिणीषु वा
स्वकीयवारके स्वस्यावसरे समेत्य पत्या समं विलसति सा अथ वा चक्रवर्त्यादीनामिव
वारविलासिन्यः एकैकस्याः स्त्रियोऽनु द्वे द्वे वाराङ्गने । ‘सहेलिका’ इति प्रसिद्धा । तास्तु
चक्रवर्त्यादिभिरेव भुज्यन्ते । नान्यैः पाणिगृहीतिवत् । इति ता वारवर्गिन्यः । तथा—
वनकेलयः उद्याननिखेलनानि तमालधारा जलयन्त्रमन्दिरादिषु क्रीडा । एता अन्तरेण
विना हे भ्रातः, त्वया भवता एष लूकाझलादिभिः सकलजगत्संतापहारको ग्रीष्म उष्ण-
कालः । वसन्तग्रीष्मौ द्वावप्युष्णसमयः । स किमु कथं निस्तरणीयः अतिक्रमणीयः ।
क इव । सिन्धुरिव । यथा तरणीर्वेडा विना समुद्रः कथं निस्तीर्यते उत्तीर्यते ॥ इति
ग्रीष्मसमयकाव्यम् ॥

क्रीडितुं रतिपतेरिव गेहाः प्रावृषेण्यदिवसाः कथमेते ।

गीतनृत्ययुवतीजनलीलामुख्यसौख्यविमुखेन विषह्याः ॥ ६३ ॥

हे भ्रातः, एते व्रजनप्रसिद्धा जगज्जीविका हेतवः प्रायेण हि विजयदशमीं यावज्जनाः घनं समीहन्ते तेन शरदपि वर्षान्तरे वौच्यते । प्रावृषेण्या वर्षासमयसंबन्धिनो दिवसा दिनानि कथं कया रीत्या त्वया विषह्याः सहनीयाः । किंभूतेन त्वया । गीतं गानम्, नृत्यं नाटकम्, युवतीजनैस्तृणीभिः सार्धं लीला विलासः दोलान्दोलनप्रमुखाः क्रीडाः, ता मुख्याः प्रकृष्टा मुखे आदौ भवा मुख्या आद्या यत्र तादृक् यत्सौख्यं सांसारिकसुखं तस्माद्विमुखेन पराङ्मुखेन । तत्त्यक्तकामत्वात् । प्रावृषेण्यदिवसा उत्प्रेक्ष्यन्ते—रतिपतेः कामस्य क्रीडितुं विलसितुं गेहा मन्दिराणीव ॥ इति वर्षाऋतुकाव्यम् ॥

जृम्भमाणजलजद्वितयीवाङ्घ्रिद्वयी प्रदधती भ्रदिमानम् ।

क्षोणिचङ्क्रमणदुःखमियं ते मर्षयिष्यति कथं कथयैतत् ॥ ६४ ॥

हे सहोदर, त्वमेतन्मया प्रोच्यमानं कथय निवेदय । इयं शङ्खचक्राङ्कुशातपवारणा-दिलक्ष्णैर्लक्षिता अङ्घ्रिद्वयी चरणयुगली क्षोणिचङ्क्रमणस्य कठिनभूमीपीठे पर्यटनस्य पर्यटनेन वा दुःखमसातं कथं मर्षयिष्यति सहिष्यते । किं कुर्वती । भ्रदिमानं सौकु-मार्यं प्रदधती प्रकर्षणातिशयेन विभ्राणा । केव । जृम्भमाणजलजद्वितयीव । यथा स्मेरत्कमलयामलं भ्रदिमानं धत्ते ॥

वक्रवारिजधिया समुपेतां षट्पदावलिमिवालकमालाम् ।

लुब्धयिष्यसि कथं मुखलक्ष्मीन्युञ्जितामृतमयूख सगर्भ ॥ ६५ ॥

हे मुखलक्ष्म्या वदनशोभाया उपरि न्युञ्जितो न्युञ्जनीकृत्य क्षिप्तोऽमृतमयूख-श्चन्द्रो यस्य [अर्थाद्विधिना] स तस्य संबोधनं हे मुखलक्ष्मीन्युञ्जितामृतमयूख, समानो गर्भो यस्य । 'सहादेः' इति समानस्य स आदेशः । हे सगर्भ एकमातृगर्भात्पन्नभ्रातः, त्वमलकमालां चिकुरच्छटां केशपाशं कथं लुब्धयिष्यसि उत्पादयिष्यसि । उत्प्रेक्ष्यते—वक्त्रे वदने वारिजस्य पद्मस्य धिया बुद्ध्या भ्रमेण समुपेतां समागतां षट्पदावलीं शृङ्गमालिकामिव ॥

राशिना सुमनसामिव सर्पिस्तर्पितोद्धतधनंजयक्रीलाः ।

तत्परीषहततिः किमसह्या विग्रहेण मृदुना तव सह्या ॥ ६६ ॥

हे भ्रातः, तव भवतो मृदुना सुकुमारेण विग्रहेण शरीरेण असह्या कातरचित्तेन सोढुमशक्या । तादृशी चासौ कातरीकृतानेकजना द्वाविंशतिमाना प्रसिद्धा जिनशासने विख्याता परीषहानाम् [क्षुधा-पिपासा-शीत-उष्ण-दैश-मशक-अचेल-अरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वध-याचना-अलाभ-रोग-नृण-स्पर्शन-सत्कार-मेल-प्रज्ञा-अज्ञान-स-म्यक्त्वनाम्ना] ततिः श्रेणी कथं केन प्रकारेण सह्या मर्षणीया सोढव्या । केनेव । राशि-

नेव । यथा सुमनसां कुसुमानां निकरेण सर्पिषा धृतेन तर्पितो य उत्कट उच्छिख्रो वा धनंजयो वह्निस्तस्य कीला ज्वाला कथं क्षम्यते ॥ इति विमलाया द्वितीयवारं वाक्यानि ॥

कुन्दकुञ्जलजयं सृजतेवाभीशुभिः प्रसृमरैर्दशनानाम् ।

प्रत्यवादि वदतां विदुरेणानेन जामिरिति नीतिमता सा ॥ ६७ ॥

अनेन कुमारेण जामिर्विमलाभगिनी इति वक्ष्यमाणं प्रत्यवादि प्रत्युत्तरीकृता । प्रत्युत्तरो दत्त इत्यर्थः । अनेन किंभूतेन । वदतां वक्तृणां मध्ये विदुरेण विदग्धेन अतिचतुरेण । पुनः किंभूतेन । नीतिमता न्यायशालिना नययुक्तेन । उत्प्रेक्ष्यते—दशनानां खदन्तानां प्रसृमरैर्विस्तरणशीलैरभीशुभिः किरणैः कृत्वा कुन्दकुञ्जलानां मुचकुन्दकलिकानां पराभवं सृजता कुर्वतेव ॥

वर्णिनीव विरतिः कृतसङ्गा ध्यानसंततिरसौ हसनीव ।

शान्ततापवरकः किमु जामे शर्मणे शमवतां तुहिनतौ ॥ ६८ ॥

हे जामे, तुहिनतौ हिमसमये शीतकाले शमवतामुपशमिनां मुनीनामसी शर्मणे सुखाय भवन्ति । अमी के तान् प्रतिपादयति—कृतो विहितः सङ्गः सर्वाङ्गानुषङ्गो यथा तादृशी विरतिः सर्वसङ्गपरित्यागलक्षणा सदापार्श्ववर्तिनी वरवर्णिनीव कान्तेवास्ते । तथा असी संसारं सुसुखभिरहर्निशं ध्यायमाना ध्यानसंततिः प्रणिधानानामेकादंशः किय-यमाणत्वात् परम्परा हसनी अङ्गारशकटीव ध्यानलीलानां न शीतं न तापश्च लगति । तथा शान्तता शमपरिणामः अपवरक इव वर्तते । किमु इवार्थे । गर्भागारः किमु । ‘गर्भागारेऽपवारकः’ इति हैम्याम् ॥ इति कुमारोक्तं यतिसातकृच्छीतकालकाव्यम् ॥

अङ्गरागमिव सद्गुरुशिक्षा श्रीजिनस्य च विधोरिव सेवा ।

केलिरञ्जसरसीव च योगे प्रीणयन्ति शमिनोऽपि निदाघे ॥ ६९ ॥

हे जामे, एते पदार्था निदाघे ग्रीष्मसमयेऽपि शमिनः शान्तमानसान् मुनीन् प्रीणयन्ति तोषयन्ति । तानेव प्रदर्शयति—एकः सन् शोभनो गुरुर्हिताहितोपदेशकः तस्य शिक्षा स्वर्गपवर्गमार्गैकसाधनविधायिकानुशास्तिः अङ्गरागो विलेपनमिवास्ते । च पुनः श्रीभिश्चतुर्विंशदतिशयलक्ष्मीभिः कलितो जिनो वीतरागस्तस्य विधोश्चन्द्रमस इव सेवा परिचर्या । च पुनर्योगे यम-नियम-करण-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरुपाष्टाङ्गलक्षणे अञ्जसरसि कमलकलिततटाके इव केलिर्जलक्रीडा प्रीणातीति शेषः ॥ इति कुमारोक्तं मुनिभनः सुखकृतं ग्रीष्मसमयकाव्यम् ॥

यत्र गीतय इवागमघोषास्ताण्डवा इव पुनर्भवभावाः ।

वारिवाहदिवसाः शमभाजां नित्यमुत्सवमया इव सन्ति ॥ ७० ॥

हे भगिनि, वारिवाहदिवसा वर्षाकालवासराः शमभाजां शान्तरसशालिनां श्रमणानां

नित्यं सदोत्सवमयाः महामहप्रचुराः सन्ति । तदेव दर्शयति—यत्र प्रादृषि वर्षाकाले आगमानां सिद्धान्तानां घोषाः पठनध्वनयः गीतयोगानामिव श्रूयन्ते । पुनर्यत्र भवभावाः सर्वे संसारपदार्थाः संसारस्वरूपाणि वा ताण्डवा नृत्यानीव नाटकानीव विलोक्यन्ते । ताण्डवशब्दः पुनर्पुंसके । ‘पूर्वत्रिदिवताण्डवाः’ इति लिङ्गानुशासने ॥ इति कुमारोक्तं श्रमणस्नानविश्रामकारि वर्षर्तुकाव्यम् ॥

यो विजेतुमिव वारिजरार्जी पश्यतस्तत इतः क्रमणेन ।

पल्लवांश्च विभवैरतिदृप्तौ तौ क्रमौ कलयतः किमसातम् ॥ ७१ ॥

हे भगिनि, तौ क्रमौ चरणौ असातं दुःखं कथं कलयतः धत्तः । यौ क्रमौ विभवैर्लक्ष्मीभिः कृत्वा अतिदृप्तौ अधिकमदाध्मान्तौ सन्तौ वारिजरार्जी कमलमालां च पुनः पल्लवान् प्रवालान् जेतुं पराभवितुं तत इतः इतस्ततः क्रमणेन पर्यटनेन पश्यतः विलोकयतः । यौ परान् विजिगीषतस्तौ सातासातं न गणयतः ॥

द्वेषिणामिव गणाः शितिमानं वक्रभावमपि ये कलयन्ति ।

को महाभट इवात्महितैषी नोच्छिनत्ति ननु तानिह केशात् ॥ ७२ ॥

ननु इति प्रश्ने । हे स्वसः, तान् केशान् कुन्तलान् कः प्राज्ञः पुमानोच्छिन्नत्ति नोच्छेदयति । कः किभूतः । आत्मनः स्वस्य हितमायतिकालं सुखमिच्छतीत्येवंशील आत्महितैषी स्वसुखामिलायुक्तः । क इव । महाभट इव । यथा सर्वाङ्गीणवलवान् सुभटः राजादिकः स्वाभ्युदयकाङ्क्षी सन् कुत्सितान् ईशानधिपतीन् केशान् कुग्रामवासिनः पल्लीपतिप्रमुखानथ वा सीमालाभूपालान् स्वस्पर्धित्वेन शत्रून्च्छेदयति । तान् कान् । ये द्वेषिणां वैरिणां गणा व्रजा इव शितिमानमर्थान्मनसि श्यामतां कालुष्यम् द्रोहमित्यर्थः । अपि पुनर्वक्रभावं कुटिलतां कपटिभावं कलयन्ति विभ्रति । प्रायः सत्पुरुषाणां स्त्रीणां च केशेषु वक्रत्वं वर्ण्यते । यथा चम्पूकथायाम् ‘वक्रोक्तिकुशलस्य नलस्य केशकलापोऽपि वक्रतां भेजे’ । तथा ‘अरालकेशी वशा’ ॥

जैमिनीयमनुजा इव दैवे विग्रहे न शमिनः कृतयत्नाः ।

क्षेत्रमत्र हि तपोविधिरीक्षेडितं दिशति निर्वृत्तिसस्यम् ॥ ७३ ॥

हे सहोदरे, शमिनश्चारित्रिणो विग्रहे शरीरे मेघकुमार इव न कृतयत्ना नैव विनिर्मितपालनाः समत्वपरिणामरहिता भवन्ति । के इव । जैमिनीयमनुजा इव । यथा जैमिनीयमतानुयायिनो मनुजा जना दैवे देवतासंवन्धिनि शरीरे न कृतोद्यमा नैव निर्मितप्रयत्नाः ते हि देवानां शरीरं न मन्यन्ते । ‘विग्रहं मखभुजामसहिष्णुस्तस्य जैमिनिमुनिवमुदीये’ इति नैषधे । हि यस्मात्कारणात्तपस्यां विधिभिः एकावल्यादिवहुविधप्रकारैरेव सीरैर्हलैः क्षेडितं गृहीतसारं त्रिसतीकृतं च सत् क्षेत्रं वपुः कृषिभूमिश्च ।

‘क्षेत्रं भरतादौ भगाङ्गयोः । केदारे सिद्धभूपत्न्योः’ इत्यनेकार्थः । अत्र जगति निर्वृतिरास्यं
मोक्षफलं सुखेन सुखकृद्वा धान्यं दिशति ददाति । सस्यं धान्यफलयोरिति ॥

इन्द्रियाण्यनिशमुत्पथगानि शूकलानिव बह्वृक्षमरश्मीन् ।

यो नियन्त्रयति जन्तुरविघ्नां प्राप्य निर्वृतिपुरीं स सुखी स्यात् ॥ ७४ ॥

हे भगिनि, स जन्तुः प्राणी अविघ्नां निरन्तरायां निर्वृतिपुरीं मुक्तिनगरीं प्राप्यासाद्य
सुखी स्यात् । स कः । यः पुमान् अनिशं नित्यमुत्पथगानि उन्मार्गप्रवृत्तानि इन्द्रियाणि ।
श्रोत्रेक्षणनासारसनास्पर्शनरूपाणि पञ्चापि हृषीकानि नियन्त्रयति निरुध्य स्वायत्तानि
कुसते स्ववशीकरोति । किं कुर्वन् । शमरश्मीन् शमतापरिणामरूपकशा बहन् धार-
यन् । कानिव । शूकलानिव । उपमाने लिङ्गविपर्ययः । ‘लिङ्गभेदं तु मेनिरे’ इति वा-
ग्भटालंकारे । यथा उत्पथगान् दुर्विनीतानश्चान् कशा दधत्कशा प्रहारैः सादी अश्ववारो
नियन्त्रयति दमयति ॥

मानवान्स्वयमसौ छलदर्शी छायास्त्यनुसरन्निव कालः ।

आयतौ हितमतः करणीयं तज्जिनक्रमयुगं शरणीयम् ॥ ७५ ॥

हे सोदरे, असौ प्रत्यक्षः चर्मचक्षुभिरपि लक्ष्यमाणः स्वयमात्मना छलदर्शी छिद्राव-
लोककः रन्ध्रान्वेषी कालो यमः छायाया वपुःप्रतिच्छायािकया । छायाछलेनेत्यर्थः ।
मानवान्प्रति मनुष्यान् प्रति मनुष्याननुसरन्नुगच्छन्निवास्ति । यदुक्तम्—‘छायामिसेण
कालो सव्वजियाणं छलं गवेसन्तो । पासं कहवि न मुञ्चइ ता धम्मो उज्जमं कुणह ॥’ इति
वचनात् । अतोऽस्मात्कारणान्मानवैरायतौ उत्तरकाले हितम् । येन कृत्वा जन्तुः इह-
लोकपरलोकयोः सुखी स्यात् तद्व्रितं पथ्यं करणीयं विधातव्यम् । तत्कारणात्तद्व्रितकर्तृ-
जिनक्रमयुगं श्रीवीतरागचरणयुगलं शरणीयं शरणीकरणीयमाश्रयितव्यम् ॥ इति हीर-
कुमारस्य भगिनीं प्रति द्वितीयवारं प्रत्युत्तरवचांसि ॥

वाङ्मयैर्जितसुधामधुदुग्धैर्निर्जयं विदधतीव शुकीनाम् ।

इत्थमुक्तवति हीरकुमारे सा विभेद वदनाम्बुजमुद्राम् ॥ ७६ ॥

हीरकुमारे इत्थममुना प्रकारेण उक्तवति भाषितवति सति सा विमला वदनाम्बुज-
मुद्रां मुखकमलमुद्रणं मौनलक्षणां विभेदं ल्यक्तवती । बभापे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जि-
तानि पराभूतानि सुधा पीयूषं मधु क्षौद्रं दुग्धं पयो यैस्तादृशैर्वाङ्मयैर्वचनविलासैः कृत्वा
शुकीनां कीरकान्तानां निर्जयं विदधतीव कुर्वतीव ॥

नार्हती व्रतविधौ तव तेनाद्यापि यत्स्फुरति शैशवमङ्गे ।

योद्धुराहव इवापदुतायां तेन तिष्ठ कियतीः शरदस्त्वम् ॥ ७७ ॥

हे सहोदर, तेन कारणेन तव भवतो व्रतविधौ संयमग्रहणप्रकारे नार्हती न योग्यता
अर्हतो भावः आर्हती । ‘अर्हतो नुम्वा’ इति विभाषया नुम्विधानादार्हन्ती आर्हतीति

रूपद्वयं स्यात् । 'उडुपरिषदः किं नार्हन्ती निशः किमनौचिती' इति नैषधे । यद्यस्मात्कारणात्तवाङ्गे भवतः शरीरे शैशवं बालभावः स्फुरति दीप्यते । बाल्यावस्थायां हि संयम-ग्रहणमनुचितं शिशुत्वेनायोग्यत्वात् । कस्येव । योदुरिव । यथा भट्टस्यापटुतायां सत्या-मसामर्थ्ये सति आहवे संग्रामे अनौचिती । 'योद्धारस्तु भटा योधाः' इति हैम्याम् । तेन हेतुना हे वत्स, त्वं कियतीः कियत्प्रमाणाः शरदो वर्षाणि तिष्ठ गृहे स्थितिं कुरु प्रतीक्षस्व । स्वसौध एव वैराग्यवान् वासं विधेहि ॥ इति विमलायास्तृतीयवारं वाक्यम् ॥

शैशवेऽपि मदमोहमहेभान्सिंहशाव इव हिंसितुमीशः ।

तत्समादिश ममास्य निदेशं तामिदं तदनु सोऽपि जगाद ॥ ७८ ॥

तदनु भगिनीभाषितस्य पश्चात् सोऽपि हीरकुमारोऽपि तां विमलां प्रति इदमस्मिन्नेव काव्ये प्रोच्यमानं जगाद वभाषे । हे जामे, शैशवे बाल्येऽप्यहं मदाः जाति-कुल-रूप-बल-श्रुत-लाभ-तप-ऐश्वर्य-नामानोऽष्टौ, तथा मोहो मौढ्यं रागो वा, त एव महेभा मत्तहस्तिनस्तान् हिंसितुं निहन्तुं समर्थोऽस्मि । क इव । सिंहशाव इव । यथा केसरिकिशोरकः शिशुत्वेऽपि गजेन्द्रान् दलयितुमलंभूष्णुर्भवेत् । 'विश्वव्यापि तमो हिनस्ति तरणिर्बालोऽपि कल्पाङ्कुरो दारिद्र्याणि गजावलि हरिशिशुः काष्ठानि बहेः कणः ।' इति पूर्वार्च्यप्रणीतश्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तुतौ । तथा 'सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु । न पुनर्नखमुखविलिखितभूतलकुहरस्थिते नकुले ॥' इति सूक्तेऽपि तत्कारणात्वं मम लघुभ्रातास्य संयमस्य ग्रहणस्य निदेशमाज्ञां देहि ॥ इति विमलां स्वसारं प्रति कुमारस्यापि तृतीयवारं प्रतिवचः ॥

तस्य वीचिभिरिवामरसिन्धोरुक्तियुक्तिभिरितोऽप्यपराभिः ।

ओमिति प्रवदति स्म कथंचित्सापि बाष्पभरगद्गद्वाग्भिः ॥ ७९ ॥

अमरसिन्धोर्देवनद्याः गङ्गाया वीचिभिः रङ्गतरङ्गैः इव तस्य कुमारस्य इतोऽप्येतत्पू-र्वोक्तादप्यपराभिरन्याभिरुक्तियुक्तिभिर्वचनप्रपञ्चैः सा विमला जामिरपि कथंचिन्मह-ता कष्टेन बाष्पाणां दुःखाश्रूणां भरेण निरन्तरप्रवाहेण कृत्वा गद्गदाभिरस्पष्टाक्षराभिर्वा-ग्भिर्वागीभिः कृत्वा । ओमिति एवमस्त्विति प्रवदति स्म कथयति स्म । दीक्षादेशं ददावित्यर्थः ॥ इति विमलाया दीक्षादेशप्रदानम् ॥

पूर्वमेव नियमस्थितिकालात्सा गलद्बहुलदृग्जलपूरैः ।

आतरं स्वयमिव क्षपयन्तीदं पुनर्गदितुमारभते स्म ॥ ८० ॥

सा विमला पुनरिदं वक्ष्यमाणं गदितुं वक्तुमारभते स्म उपचक्रमे । किं कुर्वती । नियमस्थितिकालात्संयमग्रहणसमयात्पूर्वं प्रथममेव गलतां लोचनद्वन्द्वान्निःसरतां बहु-लानामविच्छिन्नानां प्रवाहानां दृशोश्चक्षुषोर्जलानामलुसलिलानां पूरैर्धारावर्षप्लवैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—आतरं स्ववान्धवं क्षपयन्ती स्नानं कारयन्तीव ॥

यादसां भवधुनीधवमध्ये मादशामतिदुराकलनीयः ।

संयमः सुकृतविप्रयुतानां भ्रातरल्पतरसामिव दुर्गः ॥ ८१ ॥

हे भ्रातः, सुकृतविप्रयुतानां पुण्यरहितानां मादशामस्मद्विधानां संयमश्चारित्र्यमतिदुराकलनीयः अतिशयेन दुरधिगमः दुःखेनादरणीयः । मादशां किंभूतानाम् । भवः संसारः स एव धुनीधवो नदीपतिः समुद्रस्तस्य मध्ये क्रोडे यादसां जलचराणां नक्राणाम् । क इव । दुर्ग इव । यथाल्पतरसां स्वल्पवलानाम् । 'प्राणस्थामतरः पराक्रमवलबुद्धानि शौर्यौजसी' इति हैम्याम् । स्तोकं सैन्यं भुजवलं वा येषां तेषां वृषाणां दुर्गः कोटः दुष्प्रापः ग्रहीतुमशक्यः ॥

संततोपचितकर्मगणस्यानादिधाभवपरम्परयास्ते ।

क्रीतभृत्य इव भर्तृजनस्यायत्तधीरिह सुधीरपि बन्धो ॥ ८२ ॥

हे बन्धो, इह जगति अनादिधा न विद्यते आदिर्यस्याः सा अनादिः अनादिप्रकारा इत्यनादिधा तादृशी भवपरम्परा संसारे संसारता अवतारसंततिस्तथा कृत्वा संततं निरन्तरमुपचितः प्रचुरीकृतो यः कर्मणां पुण्यपापरूपाणां गणस्य व्रजस्य सुधीरपि पण्डितोऽपि जानन्नप्यायत्तधीर्वश आस्ते । क इव । क्रीतभृत्य इव । यथा मूल्यगृहीतः सेवको भर्तृजनस्य स्वामिनोऽधीनः स्यात् । 'अनादिधा विश्वपरम्परायाम्' इति नैषधे ॥

कर्मसंततितिरोहितभावश्चेष्टतेऽत्र निरवग्रहचेष्टः ।

लोक एष निखिलोऽपि पिशाचवेशिताशय इव व्रतकाङ्क्षिन् ॥ ८३ ॥

हे व्रतकाङ्क्षिन् संयमाभिलाषुक हे भ्रातः, एष जगति दृश्यमानः निखिलः समस्तोऽपि लोको जनः पिशाचेन व्यन्तरजातिविशेषेण देवेनावेशितोऽधिष्ठित आशयश्चित्तं परिणामो वा यस्य तादृश इव निरवग्रहा स्वतन्त्रा चेष्टा हास्यविनोदक्रीडाकरणादिस्वभावो यस्य तथाविधः सन् चेष्टते विलसति । किंभूतो लोकः । कर्मणां प्राचीनजन्माचीर्णानां शुभाशुभपुद्गलपरिणामरूपाणां संतत्या प्रकृतिपरम्परया तिरोहित आवृतो भावः सम्यग्ज्ञानरूपो जीवस्वभावो यस्य ॥

संसृतेः सुखमशेषममुष्या बान्धवामृतमिवानुभवन्ति ।

हीनसंगममिवारमणीयं जानते न तु जनाः परिणामे ॥ ८४ ॥

हे बान्धव हीरकुमार, लोकाः समस्ता अपि संसारिजनाः अमुष्याः संसृतेः अस्य संसारस्याशेषं समग्रमपि सुखं शर्म अमृतमिव सुधारसखादमिवानुभवन्ति भुजन्ते । तु पुनः हीनसंगममिव नीचजात्या कर्मणा वा पिशुनत्वेन वा निकृष्टैर्मिलनं सौहार्दादिकरणमिव परिणामे प्रान्ते अवसाने विरसं महादुःखदं जना न जानते नैव विदन्ति । यदुक्तं सूक्तम्—'नीचसरीसो कीजइ संग चढइ कलङ्क हुइ जसभङ्ग । हाथि अङ्गार करइ जइ कोइ कइ दाक्षइ कइ कालो होई ॥' इति ॥

संसृतेर्मतिमतां वर तस्यास्त्वं पृथग्भवितुमिच्छसि वत्स ।

पुण्डरीकमिव पल्वलपङ्कात्तत्सगर्भं भुवि धन्यतमस्त्वम् ॥ ८५ ॥

हे मतिमतां वर सुबुद्धिभाजां श्रेष्ठ हे वत्स, लघुभ्रातः । 'वत्सा उरस्तुगवर्षतर्णकाः' इत्यनेकार्थः । तुक् अपत्यमुपलक्षणाच्छुभ्रात्रादावपि इत्यवचूर्णिः । तस्याः पूर्वव्यावर्णित-
स्वरूपायाः संसृतेः संसारात्सकाशात्त्वं पृथग्भवितुम् । त्यक्तुमित्यर्थः । इच्छसि वाञ्छसि ।
किमिव । पुण्डरीकमिव । यथा पल्वलपङ्कात्तटाककर्दमात्कमलं भिन्नं भवति । भूमी-
पीठे जम्बालः, तदुपरि जलम् । द्वे अपि सुक्त्वा द्वयोरुपरि पद्मं तिष्ठेत् । पुण्डरीकशब्देन
तस्य श्रेष्ठत्वख्यापनं तत्कारणात् । हे समान, एको गर्भो यस्य तस्य संबोधनं हे सगर्भ
बान्धव, भुवि पृथिव्यां त्वमेव धन्यतमः अतिशयेन पुण्यवान् । 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः'
इति हैम्याम् ॥ इति दीक्षानुज्ञादानानन्तरं धर्मकारकत्वेन भगिनीस्तुतिः ॥

एतदालपितमात्मभगिन्याः श्रोत्रपत्रपुटकेन निपीय ।

सातमाप मृदुतिस्तिरपिच्छस्पर्शजातमिव हीरकुमारः ॥ ८६ ॥

आत्मभगिन्या निजजामेः एतत्पूर्वोक्तं भ्रातृप्रशंसाकरणात्मकमालपितं भाषितं श्रोत्रं
कर्णस्तदेव पत्रस्य पर्णस्य पुटको भाजनविशेषः । 'हुंदडो' इति लोकप्रसिद्धः । तेन
निपीय पीत्वा । सादरं श्रुत्वेत्यर्थः । हीरकुमारः सातं सुखमाप लेभे । उत्प्रेक्ष्यते—मृदु
सुकुमारं यत्तिस्तिरः खरकोणः पक्षिविशेषः । लोके 'गणेश' इति प्रसिद्धः । तस्य पिच्छं
पत्रत्रं तनुरुहं तस्य स्पर्शः संघट्टस्तेन जातमुत्पन्नमिव सुखम् । अर्थात् कर्णयोः तिति-
रपक्षिणोऽतिमृदुलपिच्छस्य परावर्त्यमानस्य कर्णेऽतीव सातं जायते । यदुक्तं चम्पू-
कथायाम्—'कोणं किं नु निषिध्यते तव बलात्तैलं सखि श्रोत्रयोरन्तस्तिस्तिरपक्षिपत्रमथ
वा मन्दं मृदु भ्राम्यति । येनाङ्गेषु निखातमन्मथशरप्रस्फारपिच्छच्छविर्नालीमेचकितोच-
कञ्जुकृचा रोम्णां बहत्युद्गमः ॥' इति ॥

रोमहर्षणमिषात्तदनुज्ञोद्वेलहर्षजलधौ शिशुकाये ।

उत्खसन्ति किमु किंचन लोलह्वालशालिशफराः परितोऽमी ॥ ८७ ॥

शिशुकाये हीरकुमारशरीरे रोमहर्षणस्य रोमाञ्चस्य मिषाच्छलादमी प्रत्यक्षलक्षाः किं-
चन किमपि लोलन्तश्चञ्चलीभवन्तः । 'कावेरीतीरभूमिरुहभुजगवधूभुक्तमुक्तावशेषः
कर्णाटीचीनपीनस्तनवसनदशान्दोलनस्पन्दमन्दः । लोलल्लाटीललाटालकतिलकलतालास्य-
लीलाविलोलः कष्टं भो दाक्षिणात्यः प्रसरति पवनः पान्थकान्ताकृतान्तः ॥' इति भोज-
प्रबन्धे । बाला लघवः शालिनः शोभाकलिताः शफरा मीनाः । परितः सर्वतः । उत्प्रेक्ष्यते—
उत्खसन्ति उच्छलन्ति । किंभूते शिशुकाये । तस्या विमलानाम्न्या भगिन्या अनुज्ञा
संयमादानादेशस्तेनोद्वेलो वेलामतिक्रम्य प्रसरन् यो हर्षः प्रमोदः स एव जलधिः स-
मुद्रो यत्र । यादःपतित्वान्मकराकरलाच मीनानां संभवो युक्त एव जलनिधौ ॥

एतया ध्वनिनिरस्तविपञ्चया भूतलोपगतयेव घृताच्या ।

त्वं गृहाण च सगोत्रजनेभ्यः शासनं स पुनरेतदवादि ॥ ८८ ॥

एतया भगिन्या पुनरेतदित्यममुना प्रकारेण स कुमारोऽवादि भाषितः । किंभूतया एतया । ध्वनिना मधुरस्वरेण निरस्ता तिरस्कृता विपञ्ची वीणा यथा । उत्प्रेक्ष्यते—भूतले क्षोणीमण्डले उपगतया प्राप्तया । ‘उपगतोऽपि च मण्डलनामिताम्’ इति रघुवंशे । मण्डलनामितां द्वादशराजचक्रवर्तितां प्राप्त इति तद्वृत्तिः । आगतयः वा । ‘आगमने च गमनार्थाः समभ्युपाङ्भ्यः पराः कथिताः’ इति क्रियाकलापे । घृताच्या घृताचीनामा-प्सरसा इव । ‘अवतरति घृताचीस्कन्धविन्यस्तहस्तः’ इति चम्पूकथायामिन्द्रविशेषणम् । तथा—‘इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमितेन’ इति नैषधे । इदं किम् । तदाह—हे वत्स, च पुनस्त्वं सगोत्रः स्वजना एव जनास्तेभ्यः शासनं दीक्षादेशं गृहाण आदत्स्व ॥

भारतीं श्रुतियुगाञ्जलिना तां स्वस्वसुर्मधुसखीं विनिपीय ।

शैक्षवन्निजगुरोर्हितशिक्षां स स्म भूत्प्रमदमेदुरिताङ्गः ॥ ८९ ॥

स हीरकुमारः स्वस्वसुर्निजभगिन्या विमलायास्तां स्वजनादेशादानरूपां भारतीं वाणीं श्रुतियुगं कर्णयुगमेवाञ्जलिस्तेन विशेषेण सादरं निपीय पीत्वा प्रमदेन हर्षेण मेदुरितं पुष्टीभूतमङ्गं वयस्य तादृशः स्म भूत्संजातः । किंवत् । शैक्षवत् । यथा शैक्षः प्राथम-कल्पिकः निजगुरोर्हितमैहिकानुष्मिकसाधनकारिणीं शिक्षां सादरं श्रुत्वा हृष्टो भवति । किंभूतां भारतीम् । मधुनः क्षौद्रस्य सखीं वयसीं मधुमृष्टाम् ॥

स्वानुजादिनिखिलस्वजनेभ्यः शासनं व्रतविधेः पृथुकोऽपि ।

आददे पुनरसौ व्यवहारी लाभद्विविधवस्तुगणेभ्यः ॥ ९० ॥

अपि पुनः पृथुको हीरकुमारः स्वस्यात्मनोऽनुजो भ्राता श्रीपालनामा स आदौ येषां तादृशाः निखिलाः समस्ताः स्वजनाः गोत्रिवर्गमनुष्यास्तेभ्यः सकाशाद्ब्रतविधेः संयमा-चरणस्य शासनमादेशमाददे गृहीतवान् । किंवत् । लाभवत् । यथा व्यवहारी व्यापारका-रको विविधानां नानाप्रकाराणां वस्तूनां क्रियाणकाणां गणेभ्यः समुदायेभ्यो लाभमधि-कफलं गृह्णाति । ‘लाभोऽधिकं फलम्’ इति हैम्याम् ॥ इति भगिनीवचनान्तरं स्वजन-वर्गदेशग्रहणम् ॥

भूचरानिव विधेरनुवादान्सोपवीतकृतवेदनिदानान् ।

राजहंसगकमण्डलुपाणीनाजुहाव गणकान्स सुवाणीन् ॥ ९१ ॥

स हीरकुमारो गणकान् ज्योतिःशास्त्रविदः । ‘सावत्सरो ज्यौतिषिको मौहूर्तिको निमित्तवित् । दैवज्ञगणकादेशिज्ञानिकार्तान्तिका अपि ॥’ इति हैम्याम् । आजुहाव आ-

कारयामास । किंभूतान् । सहोपवीतेन यज्ञसूत्रेण वर्तन्ते ये । पुनः किंभूतान् । कृतो निर्मितो वेदानां निनाद उच्चारो यैस्ते । पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किंभूतान् । राजहंस-
वद्गच्छन्तीति । पुनः किंभूतान् । कमण्डलुः कुण्डिका पाणौ हस्ते येषाम् । 'कुण्डिका तु
कमण्डलुः' इति हैम्याम् । ततः कर्मधारयः । पुनः किंभूतान् । सुवाणीन् शोभना वाचो
येषां ते । उत्प्रेक्ष्यते—भूचरान् क्षोणीचारिणः विधेर्ब्रह्मणोऽनुवादा अनुवदन्ति सदृशी-
भवन्तीति स्वरूपाणीव । ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वेन स्रोपवीतता वेदैककर्तृत्वाद्वेदोच्चारित्वं कम-
ण्डलुकरत्वं सुवाक्त्वं च युक्तम् ॥

आत्मकामितमुखानिव भूर्तान्पुष्पपल्लवफलाक्षतपुञ्जान् ।

तत्पुरोऽयमुपहृत्य सगोत्रैः पृच्छति स्म चरणस्य मुहूर्तम् ॥ ९२ ॥

अयं हीरकुमारः सगोत्रैः स्वजनैः समं चरणस्य चारित्रस्य मुहूर्तं पृच्छति स्म । किं
कृत्वा । उपहृत्य ढौकथित्वा । कान् । पुष्पाणि कुसुमानि, पल्लवाः किशलयानि, फलानि
तद्वत्सयानि, अक्षता लाजा अक्षततण्डुला वा, तेषां पुञ्जान् व्रजान् । कथम् । तत्पुर-
स्तेषां मौहूर्तिकानामग्रे । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनः स्वस्य कामितानामभीप्सितपदार्थानां
मुखान् प्रारम्भानिव ॥

पूर्वनिर्मितपरस्परतर्कं निश्चितोच्चपदसंपदुदकैः ।

तैरथौच्यत महोदयसन्नद्वारवद्वतदिनं पृथुकेन्दोः ॥ ९३ ॥

अथ प्रश्नानन्तरं तैर्ज्यौतिषिकैर्व्रतदिनं संयमग्रहणवासरः औच्यत कथितम् । किं-
वत् । पृथुकेन्दोः कुमारचन्द्रस्य महानुदयो मोक्षो वा महोदयः स एव सन्न गृहं तस्य
द्वारवद्वारमिव । तैः किंभूतैः । पूर्वं प्रथमं निर्मितः कृतः परस्परमन्योन्यं तर्को दोषरा-
हित्यग्रहणोचरांशोच्चनीचादीनां विचारो यैः । पुनः किंभूतैः । निश्चितो निश्चयं नीतो
निर्धारितोऽर्थात्कुमारस्यैव उच्चस्यातिशयिनः पदस्य गणधरत्वलक्षणस्य संपदो लक्ष्म्याः
उदकैः उत्तरकाले फलं यैः ॥

स्वर्णरूप्यमणिमौक्तिकदानैरीश्वरानिव विधाय विधिज्ञः ।

निश्चितव्रतमुहूर्तदिनस्तान्वर्णिनः स विससर्ज कुमारः ॥ ९४ ॥

स हीरकुमारः वर्णिनो ब्राह्मणानधिकारान्मौहूर्तिकान् विससर्ज यथागतं प्रैषीत् । किं
कृत्वा । विधाय निर्माय । अर्थात् ज्यौतिषिकानेव । कानिव । ईश्वरानिव महोभ्यानिव ।
कैः । स्वर्णानि काञ्चनानि । रूप्याणि रजतानि मणयो रत्नानि मौक्तिकानि मुक्ताफ-
लानि तेषां दानैर्विधायनैः । किंभूतः कुमारः । विधिमुचितकरणादिकं जानातीति
विधिज्ञः सदाचारचतुरः । पुनः किंभूतः । निश्चितो निर्धारिकृतः व्रतस्य दीक्षामुहूर्तस्य
दिनो दिवसो येन सः ॥ इति दीक्षामुहूर्तदिवसावलोकनम् ॥

आगतेऽहिं सुहृदीव तदुक्ते शुद्धगोचरनवांशकयुक्ते ।

संमदाद्विजयसिंहमुखेभ्याः प्रारभन्त चरणक्षणमस्य ॥ ९५ ॥

विजयसिंहनामा हीरकुमारस्य भगिन्या विमलाया भर्ता स मुख आदिर्येषां तादृशाः
इभ्या व्यवहारिणः अस्य कुमारस्य चरणक्षणं चारित्रमहोत्सवं प्रारभन्त उपकामन्ति
स्म । कस्मात् । संमदात्प्रमोदात् । कस्मिन्सति । तैर्गणकैरुक्ते कथिते अद्भि दिवसे
आगते संप्राप्ते सति । कस्मिन्निव । सुहृदीव । यथा विवाहादावाकारिते मित्रे महोत्सवाः
प्रारभ्यन्ते । किंभूतेऽद्भि । शुद्धा निर्दोषा गोचरा रेखादानादयः नवांशका लग्नमध्यगत-
विशिष्टतमवेलास्तैर्गुक्ते सहिते ॥

केचिदुच्चमणिपीठनिषण्णं गन्धवन्धुरपयोभृतकुम्भैः ।

निर्जरा इव जिनावनिजानि दीक्षणस्य समयेऽस्तपयंस्तम् ॥ ९६ ॥

केचित्तुषुषा दीक्षणस्य संयमग्रहणस्य समये प्रस्तावे अर्थान्मुहूर्तवासरे तं हीरकुमार-
मन्नपयन् ज्ञानं कारयन्ति स्म । कैः । गन्धैर्वासनार्थमन्तर्गुक्तकुसुमादिपरिमलैर्वन्धुरै-
र्मनोज्ञैः पयोभिः सलिलैर्भृताः पूरिता ये कुम्भाः कलशास्तैः । किंभूतं तम् । उच्चमुन्नतं
तथा मणिमयं रत्नघटितं यत्पीठमासनम् । ज्ञानचतुष्किका इत्यर्थः । तत्र निषण्णमुपविष्टम् ।
के कस्मिन् । निर्जरा जिनावनिजानिमिव । यथा दीक्षाग्रहणावसरे देवा अर्थाच्चतुःष-
ष्टिप्रमितेन्द्रादयोऽमरा जिनानां सामान्यकेवलिनं मध्ये अवनिर्जाया भूमिरेव पत्नीर्यस्य ।
'जायाया निङ्' । जायाशब्दान्निङ्प्रत्ययो भवति । 'लोपो व्योर्वलि' । वकारयकारयो-
र्वलिप्रत्यये परे लोपो भवति । सस्वरयोरिति शेषः । यकारलोपे । अवनिजानी
राजा एतावता जिनराजं तीर्थेन्दकपूर्णकलशैः ॥

सांप्रतं कथममुष्य जडेनाश्लेषणं विबुधैरवबन्धोः ।

कोऽप्यरुक्षयद्वितीयं तदीयं वाससातिमृदुलेन शरीरम् ॥ ९७ ॥

कोऽपि पुमान् अतिमृदुलेनाधिकसुकुमारेण वाससा वस्त्रेण तदीयं हीरकुमारसंबन्धि
शरीरं कायम् । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव हेतोः अरुक्षयन्निर्निरयामास । इति किम् । यद्विबुधेषु
विचक्षणपुरुषेषु कैरववन्धुश्चन्द्रस्तस्य पण्डितपुरंदरस्यामुष्य हीरकुमारस्य जडेन मूर्खेण
डलयोरैक्याजलेन पानीयेन सममाश्लेषणं संगमनं कथं केन प्रकारेण सांप्रतं युक्तम् ।
अपि तु न कथमपीति । पण्डितो हि मूर्खसङ्गं कदापि न कुर्यादिति ख्यातिः । 'मूर्ख-
सरिरी गोठडी पणि पणि कर न बुधीज' इति सूक्तोक्तेः ॥

काञ्चनप्रतिमयेव नितान्तोत्तेजनादनुपमप्रभयास्य ।

मार्जानामृदुलगन्धदुकूलैर्निर्मलेन वपुषा पुपुषे श्रीः ॥ ९८ ॥

मृदुलानि कोमलानि गन्धेनोपलक्षितानि दुकूलानि क्षौमानि गन्धकाषाण्यः तैर्मार्ज-
नानिर्नारीकरणाद्बुक्षयान्निर्मलेन शुचिना अस्य कुमारस्य वपुषा देहेन श्रीः शोभा पुपुषे
पुष्टा कृता । उत्प्रेक्ष्यते—काञ्चनप्रतिमयेव यथा सुवर्णमूर्त्या नितान्तमतिशयेनोत्तेजना-
दुद्दीपनान्निर्मलीकरणादनुपमा असाधारणा प्रभा कान्तिर्यस्यास्तादृशी श्रीः पुष्यते ॥

तत्कलाकुशलमानववर्गस्तं प्रसाधयितुमारभते स्म ।

स्वस्तरूनिव निपातयितुं श्रीगर्वपर्वतशिखामधिरूढान् ॥ ९९ ॥

तस्य प्रसाधनस्य मण्डनस्य कलायां विज्ञाने कुशलश्चतुरः । 'तथैव तत्कालमथानुजौ-
विभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः । निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि वि-
भोर्विभूषणा ॥' 'विभूषणा प्रसाधना कृता' इति नैषधे, तद्वृत्तौ च । इति पुरुषस्यापि प्र-
साधना दृश्यते । मानवानां मनुष्याणां वर्गः समुदायः तं कुमारं प्रसाधयितुं मण्डयितु-
मंशुकाभरणादि परिधापयितुमारभते स्म उपक्रामति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीणां विशि-
ष्टशोभानां यो गर्वोऽहंकारः स एव पर्वतो गिरिस्तस्य शिखाम् । उपरितनभूमीशिखरमि-
त्यर्थः । तामधिरूढानध्याश्रितान् स्वस्तरून् कल्पवृक्षान् निपातयितुमधःक्षेप्तुं जेतुमिव ॥

सान्द्रचन्द्रनिकुरम्बकरम्बीभूतनूत(ल)घुसृणद्रवचर्चा ।

तत्तनौ विलसति स्म सुमेरौ चन्द्रिकाखचितसांध्यरुचीव ॥ १०० ॥

सान्द्राः स्निग्धा बह्वल वा ये चन्द्राः कर्पूरस्तेषां निकुरम्बः समूहस्तेन करम्बीभूतो
मिश्रो जातो यो नूतो(लो) नवीनो घुसृणानां कुङ्कुमानां द्रवो बहलपङ्कः तस्य चर्चा विले-
पनम् । 'चन्द्रो विधौ च कर्पूरे खर्णे च' इत्यनेकार्थः । तस्य कुमारस्य तनौ काये वि-
लसति स्म शुशुभे । केव । चन्द्रिकाखचितसांध्यरुचीव । यथा सुमेरौ सुराचले चन्द्र-
ज्योत्स्नया मिश्रिता संध्यासमयसंबन्धिनी कान्तिः । [सांध्यराग इत्यर्थः ।] शोभते ।
'रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनाभिः' इति नैषधे रुचीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति ॥

सौरभं सुमनसां समुदायोऽध्यापयेद्यदि महारजतस्य ।

अङ्गरागललितार्भकमूर्तेस्तल्लभेत तुलनां कलयापि ॥ १०१ ॥

सुमनसां कुसुमानां समुदायः सर्वजातिजातपुष्पप्रकरः यदि महारजतस्य सुवर्णस्य
सौरभं सुगन्धितां स्वपरिमलमध्यापयेत् पाठयेत् शिक्षयेत् । दद्यादित्यर्थः । विद्याप्रदानं
हि अध्यापननिजामोदं दत्ते । तत्तदा अङ्गरागेण श्रीखण्डविलेपनेन ललिताया मनोज्ञाया
अर्भकस्य हीरकुमारस्य मूर्तेः शरीरस्य कलया अंशेनापि तुलनां सदृशीभावं लभेत प्रा-
प्नुयात् । महारजतमित्यर्थः ॥

विश्वजैत्रमिव मोहमहीन्द्रं हन्तुमर्भधरणीरमणेन ।

खङ्गरत्नमिव केशकलापो धूपधूमपटलीभिरधूपि ॥ १०२ ॥

अर्भो हीरकुमारः स एव धरणीरमणो राजा तेन केशकलापः केशपाशः धूपस्य
कुष्माण्डकन्दरुष्कतुरुष्कप्रमुखसुगन्धवस्तुनः धूमपटलीभिर्धूमश्रेणीभिरधूपि धूपितः सु-
गन्धीकृतः । वासित इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वेषां सुरासुरोरगनराणां जैत्रं जयनशीलं
मोहनामानं महीन्द्रं राजानं हन्तुं व्यापादयितुमिव खङ्गरत्नं धूपितम् । राज्ञापि वैरिणं
व्यापादयितुं खखङ्गरत्नं धूप्यते इति रीतिः ॥

स्वं क्षणात्क्षयमवेक्ष्य सृजद्भिः पारलौकिकसुखाय तपांसि ।

धूमपानमिव धूपजधूमव्याजतस्तदलकैः क्रियते स्म ॥ १०३ ॥

तदलकैः कुमारस्य केशैः । उत्प्रेक्ष्यते—धूपात् केशधूपनाद्यो जातो धूमस्तस्य व्या-
जात्कपटेन धूमपानमिव क्रियते विधीयते । किं कुर्वद्भिः । परलोके भवत्पारलौकिकं
तच्च तत्सुखं च तस्मै तदर्थं कष्टानि तपांसि सृजद्भिः कुर्वद्भिः । किं कृत्वा । क्षणात्स्व-
ल्पकालात्स्वमात्मीयं क्षयं विनाशं लोचलक्षणमवेक्ष्य ज्ञात्वा ॥

मानिनीजनमनोनयनस्वं यैरनीयत हृतेर्विषयत्वम् ।

पारिपन्थिकभरैरिव लेभे बन्धनं किमिति तच्चिकुरैस्तैः ॥ १०४ ॥

तैस्तस्य कुमारस्य चिकुरैः केशैः । [उत्प्रेक्ष्यते—] इति पश्यतोहरत्वाद्देतोर्बन्धनं निय-
न्त्रणं लेभे प्राप्तम् । कैरिव । पारिपन्थिकभरैरिव । यथा तस्करगणैश्चौरिकाकरणाद्बन्धनं
प्राप्यते । तैः कैः । यैश्चिकुरैर्मानिनीजनानां नागरिककामिनीलोकानां मनांसि हृदयानि
तथा नयनानि विलोचनानि तान्येव स्वं विभवो हृतेरपहरणस्य विषयत्वं गोचरताम् ।
'मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽस्ति' इति कल्याणमन्दिरस्तवने । अनीयत लम्बितं
प्रापितम् । अपहतमित्यर्थः ॥

सूनसंगतशिलीमुखलेखासूनसायकधनुःशरराशेः ।

संश्रयन्निष्ठयमिवार्भकमल्लीकुञ्जलाकलितकुन्तलहस्तः ॥ १०५ ॥

अर्भकस्य हीरकुमारस्य मल्लया मल्लिकायाः कुञ्जलाः कोरकाः । 'मल्लीभिः प्रतिमल्ली-
भावं दधती विभाति भावत्की' इति राजवर्णने । तैराकलितो युक्तो यः कुन्तलहस्तः
केशपाशः सूनेषु कुक्षुमेषु संगता मकरन्दपानार्थमागता ये शिलीमुखा भ्रमरास्तेषां
लेखा श्रेणिः सैव सूनसायकस्य धनूंषि कार्मुकाणि शरा बाणास्तेषां राशेः समूहस्य श्रियं
शोभां श्रयन्निवास्तीत्युत्प्रेक्षा ॥

मूर्ध्नि तस्य मुकुटेन दिदीपेऽनर्ध्यरत्नपटलीललितैर्न ।

बर्हचामरजयं चिकुराणां विभ्रमैरिव विधाय धृतेन ॥ १०६ ॥

तस्य कुमारस्य मूर्ध्नि मस्तके मुकुटेन किरीटेन दिदीपे रेजे । किंभूतेन । अनर्ध्यानां बहुमू-
ल्यानां रत्नानां विविधमणीनां पटली श्रेणी तथा ललितेन मनोज्ञेन । उत्प्रेक्ष्यते—चि-
कुराणामर्थत्कुमारकेशानां विभ्रमैः शोभाभिः । 'आभा राढा विभूषा श्रीरभिख्याकान्ति-
विभ्रमाः' इति हैम्याम् । विलासैर्वा । बर्हाणि मयूरपिच्छानि । 'अस्य वाक्केका पिच्छबर्ह-
शिखण्डकम्' इति हैम्याम् । तथा चामराणि बालव्यजनानि तेषां जयं पराभवं विधाय
कृत्वा धृतेनेव कलितेनेव ॥

पट्टिकार्भकविभोः कनकस्यालीकमण्डलमलंकुरुते स्म ।

विभ्रमेण चिहुराम्बुधराणां हादिनीव निकटे विलुठन्ती ॥ १०७ ॥

कनकस्य हेमः पट्टिका भूषणविशेषः कोऽपि ललाटस्य । नलस्य भाले पट्टिका । तथा दमयन्त्या अपि । ‘धृतैकया हाटकपट्टिकालके’ । स्त्रीपुरुषयोरपि पट्टिकास्य आभरणविशेषः—इति नैषधे । अधुना तु स्तम्भतीर्थद्वीपादौ लोकप्रसिद्धा ‘असावउ’ इति ज्ञायते । तदपि बहुतिलकमयं ललाटाभरणमर्भकविभोः कुमाररेन्द्रस्य अलीकमण्डलं भालस्थलमलंकुरुते स्म भूषयामास । उत्प्रेक्ष्यते—चिहुराः केशाः एवाम्बुधरा मेघास्तेषां भ्रमेण भ्रान्त्या घुञ्ज्या निकटे समीपे विलुठन्ती तिष्ठन्ती मिलन्ती च द्वादिनी विद्युदिव । ‘चिकुराश्चिहुरा’ इति शब्दप्रभेदे ॥

दिद्युते मणिकरम्बितयास्ये शातकुम्भकृतपट्टिकयास्य ।

स्वैरमात्मन इवाननलक्ष्म्या निर्मितेन वरणेन निवस्तुम् ॥ १०८ ॥

अस्य कुमारस्य आस्ये मणिभिः रत्नैः करम्बितया खचितया शातकुम्भेन कनकेन कृतया निर्मितया पट्टिकया दिद्युते । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनः स्वस्य स्वैरं स्वेच्छया निवस्तुं वासार्थं स्थातुमाननलक्ष्म्या निर्मितेन रचितेन वरणेन प्राकारेणेव । प्राकारस्यार्थोऽप्रे वक्ष्यते । तस्मादन्यापतद्वयी(?) ॥ पाठान्तरे उत्प्रेक्ष्यते—मुखस्यार्थात्कुमारवक्त्रस्य इन्दुश्चन्द्रः, पद्मानि कमलानि, मुकुरा दर्पणः स्तेषामभिभावेन पराभवनेन उद्भूतं साक्षात्प्रकटीभूतं नूतं नवीनं महः प्रतापस्तेनेव वा ॥

भालमण्डलममण्ड्यत राजज्जातरूपतिलकेन तदीयम् ।

तस्थुषात्र चरणक्षणवीक्षाकाङ्क्षिणाल्पवपुषांशुमतेव ॥ १०९ ॥

भालमण्डलं ललाटपट्टः राजन् शोभमानः जातरूपस्य स्वर्णस्य तिलविशेषकस्तिलकः तेनामण्ड्यत भूषितम् । उत्प्रेक्ष्यते—चरणस्य चारित्र्यस्य क्षणो महोत्सवः तस्य वीक्षां दर्शनं काङ्क्षतीत्येवंशीलेन अभिलाषुकेण, तथा अल्पं लघु वपुः शरीरं यस्य तादृशेनात्र भाले तस्थुषा अर्थात्समेत्य स्थितवता अंशुमता भास्करेणेव ॥

यस्य भालतलचन्दनविन्दोर्दम्भतो वदनकैरवबन्धुः ।

कोपनां प्रियतमामिव तारामानुकूल्यविधये व्यथिताङ्गे ॥ ११० ॥

यस्य कुमारस्य वदनकैरवबन्धुर्वक्त्रचन्द्रमा भालतले ललाटे कृतः श्रीखण्डस्य मण्डलाकारतिलकविन्दुः तस्य दम्भतश्छलात्कोपनां चण्डामत्यमर्षणां तथा प्रियतमामतिशयेन वल्लभां तारां कामपि कान्तां तारिकाम् । तस्य तारापतित्वात् । उत्प्रेक्ष्यते—आनुकूल्यविधये खानुकूलिकरणप्रकाराय अङ्गे निजोत्सङ्गे व्यथित कृतवानिव । ‘अचुम्बि या चन्दनविन्दुमण्डली नलीयवक्त्रेण’ इति नैषधेऽपि ॥

यस्य चान्दन उपश्रु वभासे विन्दुरङ्गजभटं प्रणिहन्तुम् ।

नासिकानलिकया गुलिकेयं येन मोक्षुमनसा विधृतेव ॥ १११ ॥

१. ‘इन्दुपद्ममुकुराद्यभिभावोद्भूतनूतमहसेव मुखस्य’ इति पाठान्तरम्.

यस्य कुमारस्य उपश्रु भुवोर्मध्ये समीपे चान्दनश्चन्दनसंबन्धी विन्दुवृत्ततिलकं व-
भासे शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गजः स्मरः कमनः । ‘कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः’
इति हैम्याम् । तथा ‘अङ्गजो मन्मथे सुते । मदे केशे’ इत्यनेकार्थः । स एव भटो
वीरस्तं प्रणिहन्तुं यमातिथिं कर्तुं नासिकैव नलिकागुलिकाक्षेपणोपकरणं ‘बन्दूकहाथ-
नाली’ इति लोकप्रसिद्धा । तथा ‘नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिका-
मयोः’ इति नैषधे । नासा नलिकेव । तथा कृत्वा मोक्षमनसा क्षेपुकामेन इयं प्रत्यक्ष-
लक्ष्या गुलिकेव । धृता । ‘सीसागोली’ इति प्रसिद्धा ॥

चापलस्य नियमोऽभ्युपगम्योऽतःपरं द्युनिशमत्र युवाभ्याम् ।

एतदालपितुमञ्जनेरेखा कल्पिता नयनयोरिव तस्य ॥ ११२ ॥

तस्य हीरकुमारस्य नयनयोर्नेत्रयोरञ्जनस्य कज्जलस्य रेखा कल्पिता । लोचने अञ्जिते
इत्यर्थः । बालत्वादथ वा महोत्सवान्निर्मिता रेखा । किं च विवाहादौ तरुणानां वृद्धानां
पुरुषाणामपि चक्षुषोरञ्जनरेखा क्रियते इति लोकरूढिरपि स्थितिश्च । उत्प्रेक्ष्यते—एत-
दत्रैव कथ्यमानमालपितुं वक्तुमिव । तदेवाह—हे नयने, अतःपरम् अद्यतनदिवसादारभ्य
द्युनिशं दिवारात्रौ चापलस्य चटुलताया नियमो निषेधः युवाभ्यामभ्युपगम्यः अङ्गी-
करणीयः । कदाचिदपि चापल्यं न विधेयमिति भावः ॥

उत्पलाब्जकुमुदादिमदस्यून्यद्विलोचननृपौ परिभूय ।

सालयोः सुखमिवाञ्जनेरेखानीलरत्नकृतयोर्वसतः स्म ॥ ११३ ॥

यस्य कुमारस्य विलोचने नयने एव नाम्नी ययोस्तौ तादृशौ नृपौ राजानौ उत्पलं
नीलकमलं अब्जं पद्मं कुमुदं श्वेतकमलं तान्यादिमानि प्रथमभवानि येषां तादृक्षान् दस्यून्
विपक्षान् परिभूय जित्वा अञ्जनरेखारूपैर्नीलरत्नैर्हरिन्मणिभिः कृतयोः सालयोः सुखं यथा
स्यात्तथा क्रियाविशेषणम् । उत्प्रेक्ष्यते—वसतः स्म अतिष्ठतामिव ॥ अथ वा । यद्विलोच-
ननृपौ कुमारनयननामराजौ सालयोः प्राकारयोर्मध्ये सुखं शर्मणा यथा स्यात्तथा वसतः
तिष्ठतः स्म । किंभूतयोः सालयोः । अञ्जनरेखारूपाणि यानि नीलरत्नानि मरकतमणयः तैः
कृतयोर्निष्पादितयोः । उत्प्रेक्ष्यते—उत्पलानि कुवलयानि अब्जानि कमलानि कुमुदानि
कैरवाणि तान्यादिमानि प्रथमनि येषां तादृक्षान् दस्यून् शत्रून् परिभूय निर्जित्येव
सुखं वसतः । येन सर्वेऽप्यरयोऽभिभूय वशीकृताः स सुखं वसतीति ॥

भृङ्गसंगतवतंससरोजे तस्य कर्णयुगले शुशुभाते ।

विग्रहीतुमनसी नयनाभ्यामागते किमितरेतरवैरात् ॥ ११४ ॥

तस्य कुमारस्य कर्णयुगले श्रवणद्वन्द्वे भृङ्गाभ्यां मधुपानागतभ्रमराभ्यां संगते संयुक्ते
वतंससरोजे कर्णपूरकमले शुशुभाते रेजतुः । उत्प्रेक्ष्यते—इतरेतरेण परस्परं वैराद्विरो-
धान्नयनाभ्यां नेत्राभ्यां सार्धं विग्रहीतुमनसी योदुकामे किमागते पार्श्वे संप्राप्ते ॥

श्रौत्रपत्रयुगमाश्रितवत्या दिद्युते मणिवतंसिकयास्य ।

अर्चिषेव वदनान्तरमान्त्या पिण्डभावमितया स्थितयास्मिन् ॥ ११५ ॥

अस्य कुमारस्य श्रोत्रे कर्णावेव पत्रे तयोर्युगं द्वन्द्वमाश्रितवत्या भजन्त्या मणिवतंसिकया रत्नोत्तंसेन । ‘विदर्भपुत्रीश्रवणावतंसिका’ इति नैषधे । दिद्युते शोभितम् । उप्रेक्ष्यते—वदनान्तर्मुखमध्ये अमान्त्या बाहुल्यात्स्थातुमशक्नुवत्या अर्चिषा कान्त्येव । अर्चिः कान्तिवाची । स्त्रीक्रीबलिङ्गः । ‘रोदोर्चिषीनामगुणलयट अयद्’ इति लिङ्गानुशासने । किंभूतया अर्चिषा । पिण्डभावं पिण्डतामितया प्राप्तया । पिण्डीभूय स्थित-वैत्यर्थः । पुनः किंभूतया । अस्मिन् कुमारकर्णे स्थितया वसन्त्या ॥

मन्महे सकलशीतलभासां सार्वभौममिदमाननचन्द्रम् ।

कुण्डलच्छलतमीरमणाभ्यामन्यथा कथमुपास्यत एषः ॥ ११६ ॥

इदमाननचन्द्रमप्य मुखमेव चन्द्रं विधुं सकलाः समस्ता ये शीतलभासः चन्द्रमसः तेषां सार्वभौमव्यतिकरेण कुण्डलयोः कर्णाभरणयोः छलात्कपटात्तमीरमणाभ्यां चन्द्राभ्यामेष इदमाननचन्द्रः कथं केन प्रकारेण उपास्यते सेव्यते ॥

कुण्डले कैलयती प्रतिदिम्बे गण्डयोर्वहति हीरकुमारः ।

क्रोधमुख्यचतुरात्मविपक्षान्भेतुकाम इव चक्रचतुष्कः ॥ ११७ ॥

हीरकुमारः कुण्डले कर्णवेष्टिके वहति धारयति । कुण्डले किं कुर्वती । गण्डयोः कुमारस्यादर्शोपमगण्डयोः कपोलयोः प्रतिदिम्बे प्रतिमे कैलयती विभ्रती । उप्रेक्ष्यते—क्रोधः कोपो मुख्यः प्रकृष्टः प्रथमो वा येषु तादृशाः । क्रोधमानमायालोभाभिधाना-श्वत्वारः चतुःसंख्याकाः कषाया एवात्मनः स्वस्य विपक्षाः शत्रवस्तान् । चतुःकषाय-द्वेष्यानित्यर्थः । भेतुकामो वैरादेककालमेव हन्तुमनाः सन् चक्राणामायुधविशेषाणां चतुष्कं चतुष्टयमिव विभर्ति ॥

व्यालवल्लिदलखण्डनजन्मा शोणिमाधरदले विललास ।

एतदीयहृदयादनुरागो निःसरन्वहिरिव स्थित एषः ॥ ११८ ॥

अधरदले कुमारस्याधरोष्ठपत्रे शोणिमा रक्तता । ‘वर्णहृदादिभ्यः ष्यञ्’ । वर्णविशेषार्थेभ्यो हृदादिभ्यश्च ष्यञ् स्यात्, इमनिज्वा भावार्थे । श्लौक्यं शुक्तिमा, दाढ्यं द्रुहिमा, लावण्यं लवणिमा’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । विललास बभासे । किंभूतः शोणिमा । व्यालवल्ग्या नागरवल्ग्या । ‘ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागपर्यायवल्ग्यपि’ इति हैम्याम् । दलानां पत्राणां खण्डनाच्चर्वणाजन्मोत्पत्तिर्यस्य । उप्रेक्ष्यते—एतदीयात्कुमारसंबन्धिहृदयान्मनसः । ‘हृदयं मनो वक्षश्च स्तनान्तरं हृत् हृदयम्’ । तथा ‘हृत्तेतो हृदयं चित्तम्’ इति द्वयमपि हैम्याम् । निःसरन्निर्गच्छन्नेष प्रत्यक्षो बहिःप्रदेशे अधरोष्ठे स्थित इव ॥

१-२. कलयती इति नुम्रहितः प्रयोगः ‘शपद्भ्योर्नित्यम्’ इति सूत्रविशदः.

रागसङ्गिरदनच्छदराजत्तस्मितं दशनदीधितिमिश्रम् ।

पल्लवोदरविहारिहिमाम्भोविभ्रमं किमु जिघृक्षति लक्ष्म्या ॥११९॥

रागस्य नागवल्लीदलास्त्रादनजनितरक्ततायाः सङ्गोऽस्त्यस्य तादृक् यो रदनच्छद ओ-
ष्ठस्तत्र राजद्दीप्यमानं यत्तस्मितं प्रमोदमेदुरतया ईषन्मात्रं कुमारस्य हसितं तत्कर्तृपदं
लक्ष्म्या स्वशोभया सहर्षा वा । उत्प्रेक्ष्यते—पल्लवोदरे प्रवालमध्ये विहरति एवंशीलं
हिमाम्भस्तु हिनजलं तस्य विभ्रमं श्रियं विलासं वा किमु जिघृक्षति ग्रहीतुमिच्छतीव ।
किंभूतम् । तस्मितं दशनानां दन्तानां दीधित्या कान्त्या मिश्रं करम्बितम् ॥

रज्यते स्म दशनप्रकरेणामुष्य कुण्डलिपुरंदरबाहोः ।

रागिणीं सविधगां च रसज्ञां प्रेक्ष्य कैर्न ध्रियते ह्यनुरागः ॥१२०॥

अमुष्य कुमारस्य दशनप्रकरेण दन्तवृन्देन रज्यते स्म रक्तीभूतम् । सरागीभूयते ।
बालानां दन्ता हि यावदपुस्तिकया रज्यते स्म स्त्रीणां चेति लोकस्य व्यवस्था । किंभू-
तस्य अमुष्य । कुण्डलिनां भोगिनां पुरंदरो वासवः शेषनागेन्द्रस्तद्वद्दीर्घौ बाहू भुजौ
यस्य । यद्रक्तीभूतं तद्युक्तमेव । तदेव दर्शयति—हि यस्मात्कारणात्सविधगां पार्श्ववर्तिनीं
समीपस्थायुकां रागिणीं रागो रक्तिमा अनुरागोऽन्तरङ्गहृत्स्व तेन कलितां रागवतीं
तथा रसानास्त्रादान् । तिक्तः कटुकषायाम्ललवणमधुराख्यानं, अथ वा शृङ्गारहास्य-
करुणारौद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतशान्तनामकान्नवप्रमाणान् रसान् जानातीति रसज्ञा
तां प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । कैः । पुंभिः अनुरागो न ध्रियते, अपि तु विविधरसेषु निपुणां रागवतीं
पार्श्वस्थायिनीं कामिनीं विलोक्य सर्वैः कामुकैः रागो ध्रियत एव । तत्त्वतस्तु रसज्ञा जिह्वा ॥

संयमाध्यवसितिप्रथमानप्रावृषेण्यजलवाहघटायाः ।

विन्दुवृन्दमुदियाय किमेतत्कण्ठपीठकृतमौक्तिकहारः ॥ १२१ ॥

एतस्य कुमारस्य कण्ठपीठे गलकन्दले कृतः स्थापितः । परिहित इत्यर्थः । मौक्तिक-
हारो मुक्तालता । स उत्प्रेक्ष्यते—विन्दुवृन्दं कणनिकर इवोदियाय प्रकटीभूतम् । कस्याः ।
संयमस्य चारित्र्यस्य या अध्यवसितिर्ध्यवसायः परिणामः सैव प्रथमाना विस्तरन्ती
प्रावृषेणा वर्षाकालसंवन्धिनी जलवाहानां वर्षणोन्मुखमेघानां घटा माला तस्याः ॥

एतदीयवदनामृतभासा स्पर्धयेव सह शीतलभासा ।

नूततारकततिध्रियते स्मामुक्तमौक्तिकलताकपटेन ॥ १२२ ॥

एतदीयेन हीरकुमारसंबन्धिना वदनामृतभासा वक्त्रविधुना नूता नवीना तारक-
ततिर्ज्योतिर्मण्डला ध्रियते स्म विभरांबभूवे । केन । आमुक्ता कण्ठपीठे स्थापिता
परिहिता या मौक्तिकलता मुक्ताकलापः स्थूलमुक्ताफलहारः तस्य कपटेन छलेन ।
उत्प्रेक्ष्यते—शीतलभासा गगनाङ्गणस्थायुकस्त्राभाविकचन्द्रेण सह सार्धं स्पर्धेया संघ-
र्षेण ईर्ष्ययेव धृता इत्यर्थः ॥

भारसासहितया जितशेषः किं श्रितो वलयमस्य विभाति ।

मोहशूरमसुभिः प्रवियोज्यानेन वीरवलयं विधृतं वा ॥ १२३ ॥

अस्य हीरकुमारस्य वलयं कनककटकः विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—भारस्य क्षमादेर्भा-
चिनि भूतोपचारात्सूरिपदादेर्वा सासहितया सहनशीलत्वेन । भृशं सहते इति सासहिः ।
'अहिर्महीगौरवसासहिर्यः' इति नैषधे । सासहिश्चाचलिः पापतिर्वादिदित्यादय इका-
रान्ता निपातिताः—इति तद्वृत्तिः । जितः पराभूतः शेषो नागेन्द्रः । किं संश्रितः । अथ
वा मोहनामानं वीरं सुभटमसुभिः प्राणैः प्रवियोज्य पृथक्कृत्वा । निहत्येत्यर्थः । वीरवलयं
सुभटत्वसंसूचकः कटको विधृतं धारितमिव वा ॥

योगिनेव दधतात्मनि मुद्रामूर्मिकां च दधतान्बुधिनेव ।

फुल्लपल्लवविलासजुषा तत्पाणिनाध्रियत कापि विभूषा ॥ १२४ ॥

तत्पाणिना कुमारहस्तेन काव्यपूर्वा अनिर्वचनीया शोभा अध्रियत धृता । किंभू-
तेन तत्पाणिना । फुल्ला विनिद्रीभूता ये पल्लवाः किसलयानि तेषां विलासं लीलां जुषते
भजते । तत्पाणिना किं कुर्वता आत्मनि स्वस्मिन्विषये मुद्रां साक्षरोर्मिकां वहता ।
केनेव । योगिनेव । यथा योगभाजा मुनिना आत्मनि विषये योगमुद्रा उह्यते । 'मुद्रा-
तो लभते मूल्यं विमुद्रः कार्यनाशकः । राजा मुनिश्च लेखश्च कोशो मुष्टिश्च पञ्चमः ॥' इयं
तु स्वाभाविकी मुद्रा च पुनर्वाङ्मनसां योगो रुन्धनं नियन्त्रणं विद्यते यस्य स मुनि-
मुद्रामिज्ञिताकारविशेषम् । पुनः किंभूतेन । दधता विभ्रता । काम् । ऊर्मिकां निरक्षर-
मञ्जुलीयकम् । केनेव । अम्बुधिनेव । यथा समुद्रेण ऊर्मय एवोर्मिकास्तरङ्गा धीयन्ते ॥

पाणिना विरुरुचे पविरोचिश्चापचक्रविलसत्कटकेन ।

गन्धसिन्धुरतुरङ्गशताङ्गालंकृतेन जगतीपतिनेव ॥ १२५ ॥

पाणिना अर्थादधिकाराद्वा कुमारहस्तेन जगत्याः पृथिव्याः पत्या भर्त्रेव राज्ञेव वि-
रुरुचे क्षोभितम् । किंभूतेन पाणिना राज्ञा च । पवीनां वज्ररत्नानां रोचिषि कान्तय
एव चापचक्राणि धनुर्मण्डलानि तैर्विलसन् दीप्यमानः कटको वलयं यस्य । 'वृता वि-
भूषा मणिरश्मिकर्मुकैः' इति नैषधे । तथा विविधरत्नप्रभासंवलितं शक्रधनुरिति कवि-
समये प्रसिद्धिः—इति नरहर्ष्याम् । अथ च वज्रनामा आयुधविशेषस्तथा कान्तियुक्तैर्धनु-
श्चक्रैः प्रहरणैश्च विस्फुरद्विशेषेण प्रतिपक्षलक्षपराभवनप्रकारेण विशिष्टतया स्वस्वामिभ-
क्तिमत्त्वेन वा स्फुरदितस्ततो जिष्णुतया भूमण्डलं स्वस्वाम्यायत्तं कुर्वन् कटकं सैन्यं
यस्य । पुनः किंभूतेन । गन्धसिन्धुरतुरङ्गशताङ्गालंकृतेन अर्थादाकृतिभूतैः गन्धसिन्धुरो
गन्धहस्ती तथा तुरङ्गः सपर्याणिताश्वः तथा शताङ्गो रथस्तैरलंकृतेन विविधलक्ष्मीभूतै-
र्विभूषितेन । पक्षे गन्धगजेन्द्रा विविधजातीयवाजिनः पुष्परथ-योग्यारथ-अध्वरथ-
कर्णारथ-प्रमुखरथास्तैरलंकृतेन कलितेन ॥

रामणीयकहृतापरचित्तं तत्कलत्रमवलोक्य युवेव ।

जातरूपकलितो गुणशाली शृङ्खलः किमकरोत्परिरम्भम् ॥१२६॥

तस्य कुमारस्य कलत्रं कटीम्, अर्धध्वनिना स्त्रियं वा, अवलोक्य दृग्गोचरीकृत्य ।
उत्प्रेक्ष्यते—शृङ्खलः । ‘सा शृङ्खला पुंस्कटिस्था’ । शृङ्खलशब्दस्त्रिलिङ्गः । रत्नजटितकन-
कघटितकटिदवरकः परिरम्भमालिङ्गनमकरोत्किमु आलिङ्गति स्मेव । क इव । युवेव ।
यथा तरुणः पुमान् कस्यापि लघोः प्रौढीभूतं कलत्रं युवतीं परिरम्भते । किंभूतं कलत्रम् ।
रामणीयकेन रमणीयत्वेन स्वाभाविकसौन्दर्येण हतानि स्ववशीकृतानि अपरेषां लक्ष-
प्रेक्षकलोकानां कामिनां च चित्तानि मनांसि येन । किंभूतः शृङ्खलो युवा च । जातरू-
पेण सुवर्णेन कलितो हिरण्मयः । तथा जातमुत्पन्नं यदद्वैतं रूपं वपुःसुन्दरता तेन
युक्तश्च । पुनः किंभूतः । गुणैः सुवर्णदवरकैः हेमतन्दुभिः शालन्ते इत्येवंशीलस्तैर्घ-
थितत्वात् । तथा गुणैरौदार्यादिभिः शृङ्गारादिभिर्वा द्वासप्ततिकलागुणैर्वा शोभते
इत्येवंशीलः ॥

भूषणैः कनकरत्ननिबद्धैर्भूषितो व्यरुचदेष कुमारः ।

मञ्जरीभरकरम्बितकायः कल्पसाल इव भूतलशाली ॥ १२७ ॥

एष हीरनामा कुमारः तदानीं कनकानि काञ्चनानि रत्नानि मणयस्तैर्निबद्धै रचितैर्भू-
षणैरभरणैः कृत्वा भूषितोऽलंकृतः व्यरुचत् विराजते स्म । ‘द्युज्यो लुङि’ द्युतादिभ्यः
परस्मैपदं वा स्यात् । ‘पुष्पादिद्युतादिलुदितः परस्मैपदेषु’ । इयन्विकरणपुष्पादेर्द्युतादेर्लृ-
दितश्च परस्य च्छेरङ् स्यात्परस्मैपदेषु । अद्युतत् अद्योतिष्ट । व्यरुचत् व्यरोचिष्ट । इति
प्रक्रियाकौमुद्यां साधना । उत्प्रेक्ष्यते—मञ्जरीणां कलिकानां भरः समूहस्तेन कर-
म्बितः पूरितः कायः शाखाप्रशाखालक्षणं वपुर्यस्य तादृशो भूतले पृथ्वीपीठे शालते
शोभते इत्येवंशीलः । भूमीमण्डलोपगत इत्यर्थः । कल्पसालः सुरतरुविव ॥

दर्पणेष्विव गवेषयति स्वं भूषणेषु किरणाङ्कुरितेषु ।

दर्पणार्पणविधाभिरमुष्मिन्निष्फलाभिरजनि स्वजनानाम् ॥ १२८ ॥

अमुष्मिन् हीरकुमारे स्वजनानां बन्धुवर्गलोकानाम् अथवा स्वस्य जनानामात्मीय-
लोकानाम् । सेवकानामित्यर्थः । दर्पणानामादर्शानामर्पणानि प्रदानानि । आत्मदर्शदर्शनानी-
त्यर्थः । तेषां विधाभिः प्रकारैः निष्फलाभिर्निरर्थकाभिरजनि जाता । अमुष्मिन् किं कु-
र्वति । किरणैः कान्तिभिः कृत्वा अङ्कुरितेषु प्ररोहसहितेषु जातेषु भूषणेष्वभरणेषु
स्वमात्मानम् । [स्वरूपमित्यर्थः ।] गवेषयति विलोकयति । केचिव । दर्पणेष्विव । यथा
कश्चिन्मुकुरेषु स्वं निभालयति ॥

दीप्यते किमधिकं सुषमा नोऽमुष्य वा मुषितमन्मथकान्तेः ।

भूषणानि मृगयन्त इतीव स्फाररत्ननयनैरिदमङ्गम् ॥ १२९ ॥

भूषणानि आभरणानि । उत्प्रेक्ष्यते—स्फाराणि विकाशभाञ्जि रत्नान्येव नयनानि तैरिति हेतोरिदमङ्गं कुमारकायं मृगयन्ते पश्यन्तीव । इति किम् । नोऽस्माकं भूषणानां सुषमा अतिशयिनी शोभा किं अधिका, अथवा सुषिता अपहृता आच्छिद्य गृहीता मन्मथस्य कामस्य कान्तिः शोभा येन तादृशस्य कुमारस्य सुषमा शरीरातिशायि सौन्दर्यं किं वा अधिका दीप्यते ॥

तद्विभूषणमणीनिकुरम्बैः स्पर्धिभिः प्रतिभटैरिव भूत्या ।

प्राप्य तन्मृधधरां दधिरे स्वज्योतिरङ्कुरसुरेन्द्रधनूंषि ॥ १३० ॥

भूत्या शोभया लक्ष्म्या वा स्पर्धिभिः स्पर्धनशीलैस्तस्य कुमारस्य विभूषणानामलंकाराणां मणीनिकुरम्बै रत्नप्रकरैः तन्मृधधरां स कुमार एव संग्रामकरणोचितभूमी तां प्राप्य आसाद्य । उत्प्रेक्ष्यते—ज्योतींषि दीधितयः तेषामङ्कुराः प्ररोहास्त एव सुरेन्द्रधनूंषि इन्द्रचापचक्राणि दधिरे धृतानीव । कैरिव । प्रतिभटैरिव । यथा संपदा स्पर्धमानैः प्रतिपक्षैः शत्रुभी रणभूमौ लब्ध्वा परस्परं संग्रामकरणे कृते सुरेन्द्रचापोपमानि कार्मुकानि ध्रियन्ते ॥

भूरुहैर्विहसितैरिव कुञ्जः सौरभैरिव सरोरुहपुञ्जः ।

सान्द्रचन्द्रकिरणैरिव दोषा भूषणैरपुषदेष विभूषास् ॥ १३१ ॥

एष कुमारो भूषणैरलंकारैराभरणैः कृत्वा विभूषां शोभामपुषत्पुष्पाति स्म । क इव । कुञ्ज इव । यथा काननं वसन्तर्तुना विहसितैः कुसुमितैः भूरुहैर्वृक्षैः कृत्वा शोभते । पुनः क इव । सरोरुहपुञ्ज इव । यथा पद्मप्रकरः सौरभैः परिमलैः कृत्वा शोभां लभते । पुनः केव । दोषेव । यथा रजनी सान्द्रैर्नयनानन्ददायिभिर्नारन्ध्रैश्चन्द्रस्य विद्योः किरणैः रश्मिभिः कृत्वा श्रियं पुष्पाति ॥ इति दीक्षासमये कुमारशृङ्गारवर्णनम् ॥

निर्जितेन यशसा सितभासा प्राभृतीकृतमिवैत्य नमस्तः ।

आनयन्नथ तुरङ्गममुष्यारोहणार्थमनघस्य मनुष्याः ॥ १३२ ॥

अथ शृङ्गारविधानान्तरं मनुष्या मानवाः अमुष्य कुमारस्यारोहणार्थमध्यारोढुं तुरङ्गं जाल्यवाजिनमानयन्नानयन्ते स्म । किंभूतस्यामुष्य । अनघस्य प्रशस्यस्य निष्पापस्य वा । उत्प्रेक्ष्यते—यशसा अर्धाद्यशःशैत्यश्रिया निर्जितेन पराभृतेन सितभासा चन्द्रमसा नमस्त आकाशमण्डलादेत्यागत्य प्राभृतीकृतमर्थतुमारस्य दौकितमिव ॥

यन्नभस्वदतिपातिरयेन न्यकृतेन विनतातनयेन ।

तत्तुलां कलयितुं बलिदस्युः सेवनामगमि यानतयेव ॥ १३३ ॥

यस्य तुरगस्य नभस्वन्तं समीरणमतिपतत्यतिक्रामतीत्येवंशीलेन रयेण वेगेन । 'रयो वेगप्रवाहयोः' इत्यनेकार्थः । न्यकृतेन विजितेन विततानाम्नी अरुणगरुडयोर्जनी तस्यास्तनयेनात्रार्थाद्भरुडेन तत्तुलां कुमारारोहणार्थमानीततुरङ्गमवेगसादृश्यं कलयितुं

प्राप्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—यानतया वाहनत्वेन बलिदस्युः कृष्णः सेवनां परिचरणामगमि
प्रापित इव सेव्यते स्म । ‘न्यादयो ण्यन्तनिष्कर्म गत्यर्था मुख्यकर्मणि । प्रत्ययं यान्ति
दुह्यादिगौणेऽन्ये तु यथारुचि ॥’ अनन्तेन कृष्णेन गोपी वनमगमि नीता । इत्युदाह-
रणम्’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

यो दृशा भुवि पुनर्दिवि फालैर्नागवेष्टमनि खुरोत्खननैश्च ।

स्फूर्तिभिस्तत इतस्त्रिजगत्यां स्वाङ्कारमिव पश्यति जेतुम् ॥ १३४ ॥

यत्तुरङ्गमः स्फूर्तिभिर्विस्फूर्जनैः इतस्ततः संस्फुरणैः कृत्वा त्रिजगत्यां त्रिलोक्या-
मपि । ‘त्रिजगतीं पुनती कविसेविता’ इति जिनप्रभसूरिकृतर्षभनम्रस्तोत्रे । इत्यत्रैक-
वचनात्रिजगत्यामप्येकवचनम् । त्रित्वेन त्रित्वसंख्यया वा उपलक्षिता जगती भुवनं
त्रिजगतीति एवं संभाव्यते । तत्त्वं तु तज्ज्ञा एव विदन्ति । स्वाङ्कारं निजरंहःस्फू-
र्जितजैत्रप्रतिमलं जेतुं पराभवितुमिव इतस्ततः सर्वत्रापि पश्यति । ‘दूरं गौरगुणैरहं
कृतिभृतां जैत्राङ्कारे चरति’ इति नैषधे । कथं विलोकयति तदेव दर्शयति—भुवि
पृथिव्यां दृशा विलोचनावलोकनेन । पुनर्दिवि गगनाङ्गणे फालैरुच्चैरुल्ललनलक्षणेः । ‘सा-
न्द्रोत्फालमिषाद्विगायति पदा स्पृष्टुं तुरङ्गोऽपि गाम्’ इति नैषधे । च पुनर्नागवेष्टमनि
पाताले खुरैः शफैरुत्खननैः भूविदारणैः ॥

स्पर्धयार्कतुरगान्खजिगीषून्धूननेन शिरसः समराय ।

अङ्कारविभवाभिभवाहंपूर्विकाभिरयमाह्वयतीव ॥ १३५ ॥

अयं तुरङ्गः अङ्कारविभवानां जैत्रप्रतिमलसंपदाम् । ‘शशाङ्कलाङ्कारैः’ इति नै-
षधे । अभिभवः पराभवनं तेनाहंपूर्विका गर्वावेशास्ताभिः कृत्वा शिरसो मस्तकस्य
धूननेन कम्पनेन । स्वकन्धराया अधोर्ध्वकरणेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अर्कतुरगान् सू-
र्यरथरथ्यवाजिनः समराय संग्रामविधानाय आह्वयत्याकारयतीव । किंभूतानर्कतुरङ्ग-
मान् । स्पर्धया संहर्षेण स्वस्यात्मनः स्वमात्मानं वा जिगीषून् जेतुमिच्छन् ॥

आत्मफेनहरिचन्दनसान्द्रस्यन्दचर्चनविधाभिरिवार्चा ।

पत्रहारभवमम्बुधिनेमेः स्वापराधमधरीकुरुते यः ॥ १३६ ॥

यः अर्वा तुरगः अम्बुधिनेमेभूमेः । उत्प्रेक्ष्यते—पदां चरणानां प्रहारैर्घातिः ताड-
नैर्भवं ‘पत्कजमिति’ दर्शनात्पत्रहारैरिति । अथ च । ‘क तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे’
इति नैषधे । पदो लवः पल्लवः इति व्युत्पत्त्या तस्य नलस्य छायाया लवोऽप्यंशः क’
इति तद्वृत्तौ । स्वापराधं निजमन्तुमधरीकुरुते शामयतीव । कामिः । आत्मनः फेना मुख-
लालास्तद्रूपा हरिचन्दनस्य श्रीखण्डस्य सान्द्राः स्निग्धा ये स्यन्दा रसा द्रवा वा तैश्च-
र्चनविधाभिः पूजनप्रकारैः ॥

वृत्रशात्रवतुरङ्गममुख्यान्वैभवेन परिभूय तुरङ्गान् ।

स्कन्धकेसरसटाकपटात्तच्चिह्नचामरमिवायमधत्त ॥ १३७ ॥

स्कन्धस्यांसस्य स्कन्धेऽसे वा प्ररूढानां प्रादुर्भूतानां केसराणां केशानां सटा श्रेणी केसरनामानः सटास्तुरगस्कन्धकुन्तलाः तत्कपटादयं तुरङ्गः । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य जयस्य चिह्नं लक्षणं चामरं बालव्यजनमधत्त विभर्ति स्मेव । किं कृत्वा । वैभवेन खलक्ष्म्या वृत्रशात्रवस्य शक्रस्य तुरङ्गम उच्चैःश्रवाः स एव मुख्यः प्रकृष्टः प्रथमो वा येषु तादृशांस्तुरङ्गान् परिभूय जित्वा ॥

रोहिणीकमलिनीरमणाश्चान्धोपरिस्थितिजुषः सुषमाभिः ।

निर्जिगीषुरिव निर्जरमार्गे फालकेलिमयमातनुते स्म ॥ १३८ ॥

अयमश्वः निर्जरमार्गे आकाशे फालकेलिमुच्चैरुल्लसत्य विशेषस्य विलासमातनुते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मन उपरि ऊर्ध्वं स्थितिं स्थानं जुषन्ते भजन्ते । ऊर्ध्वगामित्वेन आकाशगमनशीलत्वेन निजोपरिस्थितानित्यर्थः । तादृशान् रोहिण्याः कमलिन्याश्च रमणयोर्मन्त्रोः चन्द्रसूर्ययोः अश्वास्तुरङ्गमास्तान् सुषमाभिः अतिशायिनीभाभिः कृत्वा निर्जिगीषुर्निर्जितुमिच्छुरिव ॥

अर्जितानि गरुडस्य च गत्या निर्जयैर्हरिहरैश्च विभूत्या ।

उद्गिरन्निव यशांसि हरिर्यः फेनपिण्डपटलीकपटेन ॥ १३९ ॥

यो हरिस्तुरङ्गः फेनानां मुखनिर्गतकफलालानां पिण्डा बुद्बुदाकारा गोलकास्तेषां पटली वृन्दं तस्य कपटेन व्याजेन यशांसि खकीर्तोरुद्गिरन्निव प्रकटीकुर्वन्निवास्ते । किंभूतानि यशांसि । गत्या पवनवेगगमनेन गरुडस्य, तथा विभूत्या खलक्ष्म्या हरिहरेरिन्द्राश्वस्य उच्चैःश्रवसो, निर्जयैः पराभवनैरर्जितानि संचिंतानि ॥

आरुरोह जितजिष्णुहयं तं श्वैत्यतः फणिपतिं च जयन्तम् ।

वाजिनं कनकवैभवरा(भा)जं कैटभारिरिव नीडजराजम् ॥ १४० ॥

स कुमारो वाजिनमश्वमारुरोह अध्यासामास । किंभूतं वाजिनम् । जितोऽर्थो-लक्ष्म्या पराभूतो जिष्णोरिन्द्रस्य हय उच्चैःश्रवा नाम तुरगो येन तम् । पुनः किं कुर्वन्तम् । श्वैत्यतः शुभ्रमविभ्रसात्फणिपतिं शेषनागं जयन्तं परिभवन्तम् । पुनः किंभूतम् । कनकानां काञ्चनानां वैभवः पर्याणखलीनप्रमुखभूया तं भजतीति । क इव । कैटभारिरिव । यथा कृष्णो नीडे कुलाये 'मालो' इति प्रसिद्धे जाता नीडजाः पक्षिणस्तेषां राजा गरुडस्तमारोहति चढति । किंभूतं नीडजराजम् । जितो जिष्णुर्वासवो येन वज्रजित्वात् । गत्या चातित्वरितगगनगमनेन हय इन्द्राश्वो येन । च पुनः किंभूतम् । फणिपतिं नागेन्द्रम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । सर्वनागनायकान् जयन्तं पराभवन्तम् ।

तदरातित्वात् । स्वर्णशोभावन्तं स्वर्णकायत्वात् । गरुडविशेषणान्यपि ॥ इति दीक्षास-
मये कुमारारोहणार्थमानीततुरगवर्णनम् ॥

तत्र भावयतिनः पुलकोद्यत्कञ्चुकानणुमहः कटकधाः ।

मुक्तिपत्तनजिघृक्षुमनस्कौत्सुक्यभाज इव राजकुमाराः ॥ १४१ ॥

भूविहारिहयवाहनशस्यानेकमूर्तय इवोत्सवपश्याः ।

वाहपृष्ठमधिरुद्ध कुमारा आगमन्नपि परे जितमाराः ॥ १४२ ॥

(युग्मम्)

तत्र तस्मिन्नवसरे तस्मिन् स्थाने वा जितमाराः स्वरूपसौन्दर्याभिभूतमदनाः अपरे
अन्येऽपि भावयतिनः अभिप्रायेण चारित्रवन्तः अमी पालादिमाः कुमाराः आगमन्
समागताः । किं कृत्वा । वाहानां जात्यतुरङ्गाणां पृष्ठमधिरुद्ध अध्यास्य । उत्प्रेक्ष्यते—
उत्सवं संयममहामहं पश्यन्त्यवलोकयन्तीति तादृश्यो भूविहारिण्यः क्षोणीचारिण्यः
हयवाहनस्य एवं तस्य शस्याः श्लाघ्याः रम्यास्तथा अनेका बह्व्यो मूर्तयः शरीराणि इव ।
किंभूताः कुमाराः । (इव यथा पृथ्वीपति) पुलको रोमाञ्चः स एवोद्यन् प्रकटीभवन् क-
ञ्चुकः संनाहो येषाम्, तथा अनणु महन्महः कान्तिः प्रतापश्च येषाम् । अथ वा अनणु-
भिर्वहुलैर्महोभिः किरणैः प्रतापैश्च युक्तानां कटकानां वलयानां सैन्यानामोधाः समूहाः
येषाम् । पुनः किंभूताः मुक्तिः सिद्धिः सैव पत्तनं महानगरं तज्जिघृक्षु ग्रहीतुमिच्छु मनो
येषाम् । समासान्तः कप् । पुनः किंभूताः । यत एव मुक्तिनगरजिघृक्षवस्तत एवोत्कण्ठां
भजन्त इति । अथ वा औत्सुक्यं संयमोत्कण्ठां भजन्ते । पश्चात्कर्मधारयः । उत्प्रेक्ष्यते—
राजकुमारा इव । यथा पृथ्वीपतिपुत्राः एवंविधा भवन्ति ॥

पद्मिनीप्रियतमो दिवसादौ पावकादिव सहस्रमयूखैः ।

पूरुषैर्निखिलमण्डलमध्यात्तत्क्षणादुपगतैः परिवत्रे ॥ १४३ ॥

हीरकुमारो निखिलः समस्तो यो मण्डलो गुर्जरदेशस्तस्य मध्यादन्तरालात्तत्क्षणात्स
एव कुमारस्य संयमग्रहणलक्षणः क्षणः प्रस्तावः उत्सवो वा तस्माद्धेतोरुपगतैरायातैः
पूरुषैर्मानुषैरुपलक्षणात्साहचर्याद्वा स्त्रीभिश्च । ‘पुरुषः पूरुषो नरः’ इति हैम्याम् । परि-
वत्रे परिवृतः । क इव । पद्मिनीपतिरिव यथा भास्वान् दिवसादौ प्रभाते पावकाद्बहेरुप-
गतैः समेतैः सहस्रसंख्याकैः किरणैः परिव्रियते । सूर्यो हि सायमस्तं गच्छन् स्वकिर-
णान् बह्वौ निक्षिपति । प्रभाते च गृह्णाति इति च कविसमयः । तथा च रघुवंशे—
‘दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशने’ इति ॥

तत्र तद्गतमहोपगतानां मेलकः स्फुरति पञ्चजनानाम् ।

कौतुकेन निजशक्तिदिदृक्षोर्नाकिनः किमिह काथनिकायः ॥ १४४ ॥

तत्र व्यतिकरे तस्य कुमारस्य व्रतस्य संयमस्य महोत्सवे उपगतानां सभागतानां पञ्चजनानां लोकानाम् । 'मर्त्यः पञ्चजनो भूस्पृक्' इति हैम्याम् । मेलकः संगमः स्फुरति । 'मेलके सङ्गसंगमाः' इति हैम्याम् । तथा 'जगत्रयीनायकमेलकेऽस्मिन्' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकेन कुतूहलेन कृत्वा निजस्यात्मनः । 'श्रुत्वा निजं भीमजया निरस्तम्' इति नैषधे । निजशब्देनात्मा । शक्तिं सामर्थ्यं दिदृक्षोर्द्रष्टुमिच्छोर्नाकिनः कस्यचिद्देवस्य इहास्मिन् प्रस्तावे स्थाने वा कायनिकायो देहव्रजः किमु । निकायस्तु सधर्मिणां समुदायः । 'तथास्याहेर्भूयः फगसमुचितः काययष्टीनिकायः' इति नैषधे ॥

निष्पतन्मदविलोककपोलास्तत्पुरः समचलन्द्विरदेन्द्राः ।

विन्ध्यभूध्र इव निर्झरशाली जङ्गमः करणवंहिममाली ॥ १४५ ॥

तत्पुरः हीरकुमारस्याग्रे द्विरदेन्द्रा गजराजाः समचलन् संचरन्ति स्म । किंभूताः । निष्पतन्निरन्तरं निःसरन् यो मदो दानाम्भस्तेन विलोलाश्चञ्चलाः कपोला गण्डस्थलानि येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यभूध्र इव विन्ध्याचल इव । किंभूतः । जङ्गमः संचरन् । पुनः किंभूतः । निर्झरैर्निःसरत्सलिलैः शालते शोभत इत्येवंशीलः । पुनः किंभूतः । करणानां शरिराणां वंहिसा बाहुल्यं मलते धारयतीत्येवंशीलः । 'मलि मल्ल धारणे' धातुः । बहुरूपवानित्यर्थः ॥

स्यन्दनैः स्यद्विगानितवातैस्तत्पुरोऽङ्कविलसज्जनजातैः ।

पुस्फुरे सुरसमूहसनाथैः क्षमागतैरिव मरुद्रथसारथैः ॥ १४६ ॥

तस्य कुमारस्य पुरोऽग्रे स्यन्दनै रथैः पुस्फुरे दिदीपे । किंभूतैः स्यन्दनैः । स्यन्देन वेगेन विगानितोऽवगणितो वातः पवनो यैः । 'स्यदक्षाङ्कारितपत्रपद्धतिः' इति नैषधे । पुनः किंभूतैः । अङ्के कोडे रथोत्सङ्गे विलसन्तः शोभमाना जना मनुष्यास्तेषां जातं समूहो येषु । उत्प्रेक्ष्यते—क्षमागतैर्भूमण्डले समेतैः सुराणां देवानां समूहेन गणेन सनाथैः सहितैर्मरुद्रथसारथैः निर्जरथवृन्दैरिव ॥

स्वर्णपल्ययनपल्लविताङ्गास्तत्पुरः प्रविचलन्ति तुरङ्गाः ।

तत्तुरङ्गविजिताः शशिभास्वद्वाजिनः किमु निषेवितुमेताः ॥ १४७ ॥

तस्य कुमारस्याग्रे तुरङ्गाः प्रविचरन्ति । किंभूताः । स्वर्णस्य हेतुः पल्ययनं पर्याणं तेन पल्लवितं मण्डितमङ्गं कायो येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—तेन हीरकुमारारोहणार्थमानीतेन तुरङ्गेणाश्वेन विजिताः स्वश्रिया पराभूताः सन्तो निषेवितुमर्थात्तमेवाश्वमुपासितुमेता आगताः । शशिनः चन्द्रस्य भास्वतः सूर्यस्य वाजिनोऽश्वा इव ॥

मागथा मधुरमङ्गलवाचः प्रोच्चकैरुदचरन्पुरतोऽस्य ।

आह्वयन्त इव दर्शयितुं किं दिङ्महेन्द्रनिवहं महमेनम् ॥ १४८ ॥

मागधा मङ्गलपाठका अस्य कुमारस्याग्रतः प्रोचकैरतिशयेनोच्चस्वरेण मधुरा मिष्टाः श्रवणसुखकारिण्यो मङ्गलवाचः कल्याणशंसिनीर्वाणीः उदचरन् उच्चरन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—एनं महं कुमारदीक्षोत्सवं दर्शयितुं दिङ्महेन्द्रनिवहं लोकपालमण्डलम् । ‘आखण्डलो दण्डधरः शिखावान् पतिः प्रतीच्याः इति दिङ्महेन्द्राः’ इति नैषधे । इह पत्तनभूमौ आह्वयन्त आकारयन्त इव । किम् इवार्थे ॥

गायनैरयमगायि समेतैः स्वर्गृहात्किमिह तुम्बुरुवर्गैः ।

अभ्यषिच्यत सुधाप्यवसीये वेणुभिः श्रवसि वैणविकौवैः ॥१४९॥

अयं हीरकुमारो गायनैर्गानकर्तृभिर्जनैः अगायि गानगोचरीकृतः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गृहाद्देवलोकरूपसद्मनः सकाशादिह भूलोके पत्तने समेतैस्तुम्बुरुवर्गैः देवगायनानां समुदायैरिव अपि पुनर्वैणविकौवैर्वैशवाटकवृन्दैर्वैणुभिर्वैशैः कृत्वा अदसीये कुमारसंवन्धिनि श्रवसि कर्णे सुधा पीयूषमभ्यषिच्यत सिक्ता ॥

घोषणास्य यशसामिव भेरीभाङ्गतिर्व्यरचि कैश्चन मार्गे ।

किंनरालिरिव वैणिकपङ्क्तिः संमदात्तमुपवीणयति स्म ॥ १५० ॥

कैश्चन भेरीवादकैर्मार्गे पथि भेरीणां वादित्रविशेषाणां दुन्दुभीनां वा भाङ्गतिर्भाङ्गारध्वनिर्व्यरचि चक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य कुमारस्य यशसां कीर्तीनां घोषणा पटहवाद-नमिव । पुनर्वैणिकानां वीणावादनानां पङ्क्तिः श्रेणिः संमदात् हर्षात् तं हीरकुमारमुपवीणयति स्म वीणया गायति स्म । ‘उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः’ इति रघौ । किमिव । किंनरालिरिव यथा किंपुष्पमालिका वीणया कृत्वा गायति गानं कुरुते ॥

साङ्गजे प्रबलमोहमहीन्द्रे प्रापिते पितृपतेरतिथित्वम् ।

यस्य चक्षुपुटचञ्चुररावा मङ्गलध्वनितमः किमुदीर्णाः ॥ १५१ ॥

चक्षुपुटास्तालाः कांस्यतालाः वाद्यविशेषास्तेषां चञ्चुराः मनोज्ञा रावाः शब्दा उदीर्णाः प्रकटीकृताः । ताला वादिता इत्यर्थः । अर्थान्मार्गे तालवादकैः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य कुमारस्य मङ्गलध्वनितमः मङ्गलशब्दा इवोदीर्णाः । कस्मिन्सति । सहाङ्गजेन स्मरेण पुत्रेण च वर्तते यस्तादृशे मोहनामति महीन्द्रे राजनि पितृपतेर्यमस्य अतिथित्वं प्राप्नुण्वं प्रापिते नीते सति । हते इत्यर्थः । ‘यमः कृतान्तः पितृदक्षिणाशाप्रेतात्पतिः’ इति हैम्याम् ॥

ताण्डवं व्यरचि वारवधूभिस्तत्पुरः किमु सुपर्ववधूभिः ।

तथ्यवत्पथिमिथः पृथु मिथ्यायुद्धमुद्धतनरैर्निरमायि ॥ १५२ ॥

तस्य कुमारस्य पुरः पुरस्ताद्धारवधूभिः पणाङ्गनारूपपात्रैस्ताण्डवं नृत्यं व्यरचि विर-

चितं कृतम् । उत्प्रेक्ष्यते—सुपर्ववधूभिः अप्सरोभिरिव । 'स्वःस्वर्गिवध्वोऽप्सरसः' इति हैम्याम् । पुनरुद्धतनरैरुत्कटपुरुषैः पथि मार्गे स्थितः परस्परं पृथु बहु यथा स्यात्तथा मिथ्यायुद्धं मृथासंप्रामो निरमायि निर्मितम् । विवाहादिमहोत्सवेषु दाक्षिणात्या नरः पुरस्तात्प्रतिचतुष्पथं खड्गपाणयः परस्परं मिथ्यायुद्धं कुर्वन्तीति सौराष्ट्रमण्डलादौ दृश्यते । 'ततः प्रतीच्छ प्रसरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशाल्यपल्लवे । मृषामुधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥' इति नैषधे । किंवत् । तथ्यवत् । यथा उद्धताः खड्गपाणयः पुरुषाः सत्यं युद्धं विदधते ॥

दुन्दुभिध्वनितिभिर्जयशब्दं तस्य वन्दिदुदीरयतीव ।

तद्गुणानिव मुदा निगदन्ती दध्वनीति मधुरापि न(नु)मेरी ॥१९३॥

दुन्दुभिर्मदनमेरी निष्ठातो वा ध्वनितिभिर्भाङ्गाररावैस्त्वस्य कुमारस्य जयशब्दः जयजयरावमुदीरयति प्रकटीकरोति इव वदतीव । किंवत् । वन्दिदवत् । यथा मङ्गलपाठकः जयजयेति शब्दमुदीरयति । अपि पुनर्मेरी वाद्यविशेषो दध्वनीति अतिशयेन शब्दायते । किंभूता । मधुरा श्रवणसुखकारिरावा । उत्प्रेक्ष्यते—मुदा हर्षेण तस्य कुमारस्य गुणान् धैर्यौदार्यगाम्भीर्यवैराग्यशमदमादिकाभिगदन्ती कथयन्तीव दध्वनीति ॥ इति दीक्षाग्रहणप्रस्थानसमये कुमारपुरो गीतनृत्यवादित्रादिकथनम् ॥

क्षात्रियैरिव सुतैर्युवराजोऽलंकृतैः परिवृतोऽन्यकुमारैः ।

प्रस्थितिं पथि चकार कुमारोऽनल्पकल्पितमहेषु सगोत्रैः ॥१९४॥

हीरकुमारः सगोत्रैः स्वजनैरनल्पा अतिशयिनो बहवो वा कल्पिता विरचिता ये महा उत्सवास्तेषु सत्सु पथि मार्गे प्रस्थितिं प्रस्थानं चकार । प्रचंचालेत्यर्थः । किंभूतः । परिवृतः सहितः । कैः । अन्यैः दीक्षाग्रहणोत्सुकीभूतैरपरैः कुमारैः । किंभूतैः । अलंकृतैर्मणिस्वर्णादिभरणगणभूषितैः । क इव । युवराज इव । यथा क्षात्रियैः क्षत्रियसंबन्धिभिः सुतैर्नन्दनैः परिवृतो युवराजः पथि प्रतिष्ठते । किंभूतो युवराजः । स स्वपितुः समग्रराज्यभारधुरंधरः । क्षात्रियैः सुतैः किंभूतैः । गां पृथ्वीं क्षत्रियत्वेन त्रायन्ते सम्यक्त्वा रक्षन्तीति गोत्रास्तैः । केषु सत्सु । प्रस्थानमङ्गलादिकादभ्रनिर्मितोत्सवेषु ॥

हेषितैर्हयगणस्य गजानां गर्जितैश्च रथचीत्कृतिभिश्च ।

रोदसी जनरवैरपि शब्दाद्वैतवादकलिते इव जाते ॥१९५॥

रोदसी द्यावापृथिव्यौ शब्दाद्वैतवादकलिते न विद्यते द्वैतो द्वितीयो वादो वदनं कथनं यत्र स शब्दानामद्वैतवादः शब्दाद्वैतवादस्तेन युक्ते इव जाते इव केवलम् । शब्दमये इव संपन्ने । कैः । हयगणस्य वाजित्रजस्य हेषितैर्हयारवैः । 'हेषा हेषा तुरङ्गाणाम्' इति हैम्याम् । च पुनः कैः । गजानां हस्तिनां गर्जितैः गर्जारवैः । च पुनः रथानां शताङ्गानां चीत्कृतिभिः चीत्काररवैः अपि पुनर्जनरवैर्लोकलोहल्लैः ॥

रेणुभिः समुदडीयत रङ्गद्वाजिवारणरथाभ्युदिताभिः ।

दिक्पतीन्निगदितुं महमन्त्राभूतभाविनमिवोत्सुकिताभिः ॥ १५६ ॥

रङ्गन्तस्त्वरितत्वरितमुपर्युपरि चलन्तो वाजिनो बहुविधाश्वा वारणाः शृङ्गारितगजा रथाः पुरुषस्त्रीभृतस्यन्दनाः तेभ्योऽभ्युदिताभिरुच्छिताभिः रेणुभिर्व्यूलीभिः समुदडीयत उड्डीतम् । ‘उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः’ इति नैषधे । ‘कटाहौ षष्ठिरेण्वेषु’ इति लिङ्गानुशासने रेणुशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु प्रोक्तस्तेनात्र स्त्रीलिङ्गो विवक्षितः । उत्प्रेक्ष्यते—दिक्पतीनिन्द्रादिलोकपालान् अत्र जगति अभूतं न कदाचिदपि पूर्वं संजातम्, तथा न भाविनमागामिकाले कदाचिदपि न भविष्यन्तम्, भूतश्चासौ भावी च भूतभावी, न भूतभावी अभूतभावी, तं महमन्त्रात्तत्कुमारदीक्षामहोत्सवं निगदितुमुत्सुकिताभिरिवोत्कण्ठिताभिरिव ॥

तद्गजादिभरभारमसह्यं स्वेन वीक्ष्य निरपेक्षमहीन्द्रः ।

याचितेन जलजन्मभुवैवाचीकरत्कुलगिरीन्स्वसहायान् ॥ १५७ ॥

अहीन्द्रो नागराजः याचितेन भूमीभारधारणसंभागिनमथितेन जलजन्मभुवा विधात्रा कर्त्रा कुलगिरीन् भूभरधारिणोऽष्टौ मन्दरकैलाशहिमाचलादिकान् कुलाचलानचीकरत्कारयासास । ‘यद्यपि कूर्मकुलाचलफणिपतिविधृतापि चलति वसुधेयम् । प्रतिपन्नमचलमनसां न चलति पुंसां युगान्तेऽपि ॥’ इति सूक्ते । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो भूभारोद्धरणसहायानिव कारयति स्म । किं कृत्वा । तद्गजादीति । तस्मिन् कुमारसंयममहोत्सवसमये समानीतगजवाजिरथजनव्रजभवमुत्पन्नं भारं विविधं स्वेनात्मना निर्गता अपेक्षा परसहायता यत्र एवं यथा स्यात्तथा एकेनात्मना बोद्धुमुत्पाठयितुमसह्यमशक्यं वीक्ष्य दृष्ट्वा ज्ञात्वा ॥ इति तत्समयानीतगजाश्वरथलोकभारबाहुल्यम् ॥

तद्विलोकनरसस्तिमितानां चित्रविभ्रममिवोपगतानाम् ।

तत्पुरालयविलासवतीनां चेष्टितैरिति तदाविरभावि ॥ १५८ ॥

तदा तस्मिन् समये तत्पुरमणहिलपत्तनं नगरं तत्रालयो यासां तासां पतननिवासिनीनां विलासवतीनां युवतीनामित्यमुना प्रकारेण चेष्टितैर्विलसितैराविरभावि प्रकटीभूतम् । किंभूतानां विलासवतीनाम् । तस्य महामहपुरःसरं संयमं ग्रहीतुं प्रस्थितस्य कुमारस्य यद्विलोकनं निरीक्षणं तस्य रसेन रागेण स्तिमितानां निश्चलीभूतानाम् । उत्प्रेक्ष्यते—चित्रविभ्रममालम्ब्यविलासमुपगतानां प्राप्तानामिव । चित्रलिखितानामिव जातानाम् ॥

काचिदीक्षणरसेन वबन्धोद्वेष्टितं न निजकुन्तलहस्ताम् ।

कौतुकादिव कलापिकलापश्रीकलापमनुमातुमनेन ॥ १५९ ॥

काचिद्विलासवती ईक्षणस्यार्थात्तद्विलोकनस्य रसेन उद्वेष्टितं छोटितमपि निजस्या-
त्मनः कुन्तलहस्तं केशपाशं न बध्नन् । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकात्कौतुहलादनेन निजकुन्त-
लहन्तेन कलापिनां मयूराणां कलापस्य वर्हस्य शिखण्डकस्य श्रीकलापं शोभासमुदयम-
नुमातुं सदृशीकर्तुमिव ॥

कापि वीक्षणरसत्वरमाणा स्रस्तमप्यधृत मूर्ध्नि न माल्यम् ।

यज्जितेन मदनेन निजौकः स्थायिनोज्झितमिवास्त्रमवेत्य ॥१६०॥

कापि कामिनी स्रस्तमर्थान्मस्तकात्पतितमपि माल्यं पुष्पदाम मूर्ध्नि खशिरसि नाधृत
न धृतवती नारोपयति स्म । किंभूता । वीक्षणस्यार्थात्कुमारालोकनस्य रसेन रागेण
त्वरमाणा शीघ्रं व्रजन्ती भवन्ती वा । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मीयस्यात्मनो वा यदोको
वशारूपं मन्दिरं तत्र स्थायिना वसनशीलेन । तथा येन कुमारेण जितेन मदनेन का-
मेन उज्झितं त्यक्तमस्त्रं प्रहरणमिव अवैत्य ज्ञात्वा ॥

हंसपादभरितार्धमहासीत्केशवर्त्म तमवेक्षितुमन्या ।

पूर्णरागिणमिह प्रविधातुं श्यामलाशयमलंभवतात्कः ॥१६१॥

अन्या कापि खञ्जननयना तं कुमारमवेक्षितुमर्थादुत्सुका सती हंसपादेन सिन्दूरेण
भरितं पूरितमर्थं सामिभागे यस्य तादृशं केशवर्त्म सीमन्तमहासीतत्याज मुक्तवती ।
युक्तोऽयमर्थः । इह जगति श्यामलाशयं मलिनमानसं पिशुनम् । 'दयासमुद्रे स तदाशये-
ऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः' इति नैषधे । आशये मनसीति तद्वृत्तिः । पूर्णो रा-
गोऽस्त्यस्मिन्वा तादृशमतिशायि रागरङ्गतरङ्गितं कर्तुम् । कः पुमानलंभवतात् समर्थो
भवतु । अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥

भाति मुक्तमलिके रभसेनाप्यन्ययार्धकृतचन्दनचित्रम् ।

स्पर्धजित्त्वरकलां शिशुसोमोऽध्येतुमागत इवैव मुख्वाब्जात् ॥१६२॥

अपि पुनरन्यया अपरया कयापि कामिन्या अलिके खललाटपदे अर्धकृतं सामिर-
चितं चन्दनस्य श्रीखण्डस्य तिलकं रभसेनौत्सुक्येन मुक्तं त्यक्तं ललाटे अर्धकृतमेव तिलक-
ममोचि इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एषोऽर्धतिलकरूपः शिशुसोमो बालचन्द्रः मुख्वाब्जाद्युव-
तीवदनकमलात्स्पर्धिनां खशोभाविद्वेषिणां जित्त्वरिं जयनशीलां कलां चातुरीमध्येतुं
पठितुमभ्यसितुमागतः समेत इव ॥

पातुमप्रभु कुमारविभूषां स्वं दृशोर्द्वयमवेत्य कयाचित् ।

लोचने इव धृते इतरे स्वश्रोत्रयोः स्मितवतंससरोजे ॥१६३॥

कयाचित्कान्तया खश्रोत्रयोरात्मकर्णयोः स्मिते विकसिते वतंससरोजे उत्तंसकमले
धृते धारिते । क्षिप्ते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इतरे अन्ये लोचने नयने इव कलिते । किं
कृत्वा । अवैत्य ज्ञात्वा । किं कर्मतापन्नम् । दृशोर्द्वयं चक्षुषोर्द्वितयम् । किंभूतम् । स्वमा-

त्मीयम् । पुनः किंभूतम् । अप्रभु असमर्थम् । किं कर्तुम् । पातुम् । सादरावलोकनं पानमुच्यते । सम्यक्तया निरीक्षितुम् । काम् । कुमारविभूषां हीरशिखोः शरीर-शोभाम् ॥

राजतः श्रुतिपुटे धृतमेकं कुण्डलं च मुखमुत्सुकितायाः ।

भास्करामृतकराविव पर्वाप्यन्तरेण मिलितौ स्फुटमेतौ ॥ १६४ ॥

उत्सुकितायाः कुमारं प्रेक्षितुमुत्कण्ठितायाः कस्याश्चित् श्रुतिपुटे कर्णपालौ धृतं स्था-पितमेकमल्यौत्सुक्यादेकस्मिन्नेव कर्णे एकं कुण्डलं क्षिप्तं राभस्यान्नान्यदित्यर्थः । तच्च पुनर्वदनं तस्या एव मुखं द्वे राजतः शुशुभाते । उत्प्रेक्ष्यते—पर्वामावास्यामन्तरेणापि । ‘पञ्चदशौ यज्ञकालौ पक्षान्तौ पर्वणी अपि’ इति हैमीवचनात् । पूर्णिमामावस्योः पर्वेति संज्ञा । अमावास्यां विनापि स्फुटं प्रकटं यथा स्यात्तथा मिलितौ संगतौ एकत्र भूतौ एतौ कुण्डलमुखौ भास्करामृतकरौ सूर्याचन्द्रमसाविव । अमावास्यायां हि सूर्यचन्द्रौ एकत्र मिलतः । ‘दर्शः सूर्येन्दुसंगमः’ इति हैम्याम् ॥

तद्विदधुरपराञ्जनयध्यानञ्ज सव्यनयनं न तदन्यत् ।

वामतां भजति यः शितिमैव स्यात्तदाननमितीव विचिन्त्य ॥ १६५ ॥

तं कुमारं विदधुर्द्रष्टुमिच्छुस्तद्विदधुः । ‘तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदधुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम’ इति नैषधे । अपरा पूर्वोक्ताभ्यः अन्या काचित्कामिनी अञ्जनयष्ट्या कजलश-लाकया कृत्वा सव्यं वामं नयनम् । ‘वामं शरीरेऽङ्गं सव्यमपसव्यं तु दक्षिणम्’ इति है-म्याम् । चक्षुः आनञ्ज । तदन्यत्तस्मात्सव्यादन्यदपरमपसव्यं नयनं दक्षिणं नेति निषेधे । राभस्यान्नानक्तं स्म । ‘अञ्जं व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु’ रुधादिर्धातुः । तेनानक्तीति रूपम् । परोक्षायामानञ्जेति । उत्प्रेक्ष्यते—इति विचिन्त्य वितर्क्य । इति किम् । ‘यः वामतां सव्यत्वमथ च प्रतिकूलभावं भजति आश्रयति तदानने तस्य वदने एव नि-श्चितं शितिमा श्यामतैव स्यात्’ इति ॥

काचनातिरभसान्मृगनाभीवारिणाव्यलिखदेककपोलम् ।

मन्मुखं जितशशी श्रयतेऽसौ गण्डमूर्तिरिति किं व विवक्षुः ॥ १६६ ॥

काचन मृगाक्षी मृगस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी । ‘वैयधिकरण्ये बहु-व्रीहौ मध्यमपदलोपश्च’ इति सूत्रेण एकाक्षिशब्दलोपः । सूत्रोदाहरणं यथा—कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्याः सा कुमुदगन्धिः । अत्रैकगन्धशब्दलोपः इति सारस्वते । हरिण-नयना अतिरभसात्कुमारविलोकनस्यौत्सुक्यान्मृगनाभीवारिणा कस्तूरिकाद्रवेण कृत्वा एकं कपोलं निजगण्डस्थलं व्यलिखत् । पत्रवल्लीकलितं कृतवती । चित्रयति स्मेत्यर्थः । गौरै हि कपोलमण्डले मृगनाभिमण्डनमतीव शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—इति किं विवक्षुर्लोक-कानां पुरस्तादमुना प्रकारेण वक्तुमिच्छुरिव । इति किम् । यदसौ गण्डमूर्तिः कपोलकायः जितः स्वशोभातिशयेनाभिभूतः शशी चन्द्रः मन्मुखं मम वदनं श्रयते सेवत इति ॥

तद्विभावनरसव्यवसाया नागवल्लिदलविभ्रमतोऽन्या ।

कापि केलिकमलं निजवक्त्रस्पर्धयेव कवलीकुरुते स्म ॥ १६७ ॥

अन्या कापि कान्ता नागवल्लयास्ताम्बूलिताया दलानां पत्राणां विभ्रमतो भ्रान्तेः । बुद्धेरित्यर्थः । 'कर्णान्तविभ्रमभ्रान्तकृष्णार्जुनविलोचना' इति चम्पूकथायाम् । विभ्रमेण भ्रान्तेति तद्विपनके । केलिकमलं क्रीडापद्मं कवलीकुरुते स्म । खादति स्मेत्यर्थः । किं-भूता कापि । तस्य कुमारस्य यद्विभावनं विलोकनं तस्य रसो रागः स एव व्यवसायो व्यापारोऽस्याः । उत्प्रेक्ष्यते—निजेनात्मीयेन वक्त्रेण वदनेन सार्धं स्पर्धया संहर्षणेव । विभूषाभिरिर्ष्येत्यर्थः ॥

काचन व्यधित काञ्चनकाञ्चीं कण्ठपीठलुठितां रभसेन ।

इन्दुजां मिलितुमञ्जपिशङ्गां यन्मुखाङ्गपितृसोममिवैताम् ॥ १६८ ॥

काचन नितम्बिनी रभसेन कुमारदर्शनौत्सुक्येन काञ्चनकाञ्चीं कलधौतमेखलां क-ण्ठपीठे गलकन्दले लुठितां विलम्बिताम् । क्षिप्तामित्यर्थः । व्यधित चकार । राभस्यान्मुक्ता-हारभ्रान्त्या मेखलां कण्ठे चिक्षेपेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्याः सीमन्तिन्याः मुखं वद-नमेवाङ्गं कायो यस्य यत्स्त्री(मुख)वपुषं पितरं तातं सोमं चन्द्रं मिलितुं तातस्नेहादे-तामागतामञ्जैरर्थात्सुवर्णकमलपरागैः पिशङ्गां पीतां भूतामिन्दुजां रेवानदीमिव ॥

कापि मौक्तिकलतां स्वकटीरे विभ्रमादधृत सारसनस्य ।

वेश्मनीव रचितां रतिभर्तुः कुन्दकुञ्जलितवन्दनमाला ॥ १६९ ॥

कापि वरवर्णिनी सारसनस्य मणिमेखलाया विभ्रमाद्भ्रान्तेः कुमारदर्शनौत्सुक्या-त्स्वकटीरे निजकटीतटे । 'कलापो रसना सारसनं काञ्ची च सप्तकी,' तथा—'श्रोणिः कलत्रकटीरं काञ्चीपदं ककुब्जतान्ति' इत्यमपि हैम्याम् । मौक्तिकलतां मुक्ताहारम् । अधृत परिधौ । उत्प्रेक्ष्यते—रतिभर्तुः स्मरस्य वेश्मनि । गृहद्वारे इत्यर्थः ॥

हारचारिमकुचौ परया नो वाससातिरभसात्पिदधाते ।

माल्यशालिकलशद्वितयीव श्रेयसे पथि धृता व्रजतोऽस्य ॥ १७० ॥

परया अन्यया कयाचिन्महिलया हारस्य मुक्तालतायाश्चारिमा रमणीयता ययोर्हा-रेण रम्यत्वं वा ययोस्तादृशौ कुचौ स्तनौ अतिरभसात्कुमारप्रेक्षणात्सौत्सुक्याच्चो इति निषेधे । 'अमानो नाः प्रतिषेधे' इति व्याकरणवचनात् वाससा वस्त्रेण कृत्वा पि-दधाते पिहितौ परोक्षाद्विवचनम् । उत्प्रेक्ष्यते—व्रजतो दीक्षाग्रहणार्थं गच्छतोऽस्य हीरकुमारस्य पथि मार्गे माल्येन पुष्पमालया शालते शोभते इत्येवंशीला कलशयोः कुम्भयोः द्वितयी द्वयीव श्रेयसे कल्याणकृते धृता पुरस्कृता ॥

नूपुरं निजभुजे रभसेनाजीघटत्कटकविभ्रमतोऽन्या ।

वैभवैर्भुजभवैरभिभूतं शालितुं किमु मृणालमुपेतम् ॥ १७१ ॥

अन्या परा कापि चकौरलोचना रभसेन कुमारविभावरसैनोत्सुकत्वेन कटकस्य व-
लयस्य विभ्रमतो भ्रान्तेर्नूपुरं मञ्जीरं निजस्यात्मनो निजे आत्मीये वा भुजे बाहौ अ-
जीघटत् घटयामास परिधृतवती । उत्प्रेक्ष्यते—भुजभवैर्विभवैः स्वबाहुसमुत्पन्नशो-
भातिशयैः अभिभूतं पराजितं सन्मृणालं कमलनालं शीलितुमर्थान्निजजित्वरभुजमेव
सेवितुमुपेतमागतमिव ॥

तद्गवेषणरसोत्सुकचेताः काचनाध्वनि धृतश्लथबन्धम् ।

अम्बरं हरिणदृक्स्वकरेणालम्ब्य संचरति चन्द्रकलेव ॥ १७२ ॥

काचन हरिणक्षणा तस्य हीरकुमारस्य यद्गवेषणं निर्वर्णनं तस्य रसो रागस्तेनोत्सुक-
मुत्कण्ठितं चेतश्चित्तं यस्यास्तादृशी सती अध्वनि पत्तनमार्गे धृतः कलितः श्लथः शिथिलः
बन्धो बन्धनग्रन्थिर्येन तादृग्विधमम्बरं परिधानवस्त्रं स्वकरेण निजहस्तेन आलम्ब्य
आश्रित्य । गृहीत्वैत्यर्थः । संचरति व्रजति । केव । चन्द्रकलेव । यथा शशिशेखा
अम्बरमाकाशं स्वकरेण आत्मकिरणेन । जातिवाचित्वादेकवचनम् । आश्रित्य संचरति ॥

अन्यथाधरचितात्मकलापापातिमौक्तिकभरै रभसेन ।

सृज्यते स विधये किमु लाजोत्क्षेपणा वरयितुर्व्रतलक्ष्म्याः ॥ १७३ ॥

अन्यथा अपरया कयाचित्तरललोचनया रभसेन कुमारेक्षणोत्सुकभावेन अधरचितः
सामिप्रोतो य आत्मकलापः स्वस्य मणिमौक्तिककाञ्चनमयमेखला तत्सकाशादासामस्त्येन
पतन्तीत्येवंशीलानि निपातुकानि यानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषां भरैः समूहैः
कृत्वा व्रतलक्ष्म्याश्चारित्रश्रियाः वरयितुः परिणेतुः कुमारस्य विधये आचारार्थं लाजो-
त्क्षेपणा अक्षतैः संवर्धनं मौक्तिकैर्वर्धापनमित्यर्थः । किमु सृज्यते । क्रियते परिणेतुः हि
मङ्गलार्थं सधववधूभिर्लाजैरक्षतैर्मौक्तिकैर्वी वर्धाप्यते इति विधिः ॥

काचिदर्भकमपास्य धयन्तं यात्यवेक्षितुममुं स्वगवाक्षम् ।

वेश्मनि स्तननिपातिपयोभिर्जाह्वीं जनयतीव नवीनाम् ॥ १७४ ॥

काचिदन्या युवती वेश्मनि निजमन्दिरे पयोधरकुम्भयोर्निष्पतनशीलैरविरलनिर्ग-
लद्भिः पयोभिर्दुग्धधाराभिः । उत्प्रेक्ष्यते—नवीनां नूतनां जाह्वीं गङ्गां जनयति उत्पा-
दयतीव । करोतीवेति यावत् । किं कुर्वन्ती । अमुं हीरकुमारमवेक्षितुं विलोकयितुं स्व-
गवाक्षं निजनिकेतनसंवन्धिजालकं प्रति यान्ती गच्छन्ती । किं कृत्वा । धयन्तं स्व-
पयोधरपयः पिबन्तमर्भकं निजनन्दनमपास्य त्यक्त्वा रुदन्तमेव विहायेत्यर्थः ॥

प्राप्तरूपविभवं वहते यः स्यात्किमत्र स जडैरनुषङ्गी ।

अर्धधौतमितरा स्वमितीवोत्कण्ठिता तरलदृक्ममौज्झात् ॥ १७५ ॥

उत्कण्ठिता कुमारदर्शनोत्सुकितचेता इतरा अपरा तरलदृक् चपललोचना । उत्प्रे-

क्षयते—इति हेतोः स्वमात्मीयं क्रमं चरणमर्धधौतं सामप्रक्षालितमौज्ज्वलहाति स्म
त्यक्तवती । इति किम् । हेतुमाह—यः पुमान् प्राप्तरूपविभवमधिगतसम्यग्रूपत्वेन
शोभां पण्डितत्वेन वा संपदम् । ‘विद्वान्सुधीकविचक्षणलब्धवर्णा ज्ञाप्राप्तरूपकृतिकृ-
ष्टयभिरूपधीराः’ इति हैम्याम् । बहवै धारयति । अत्र जगति स जनः जडैः । डल-
योरेक्यात् । जलैः पानीयैः मूर्खैश्च सार्धमनुषङ्गी संगमवान् कृतसङ्गः कथं भवति ।
अपि तु कदाचिदपि स्यादेवेति विचारः ॥

स्फाटिकावनिषु वेश्मनि यान्त्या वीक्ष्य यावकपदानि परस्याः ।

मुग्धभृङ्गविहगैर्जलरोहद्रक्तपङ्कजधियेव दधावे ॥ १७६ ॥

वेश्मनि खगृहे स्फाटिकावनिषु स्फाटिकरत्ननिबद्धभूमीषु यान्त्या अर्थात्कुमारं द्र-
ष्टुमुत्सुकतया व्रजन्त्या अपरस्या अन्यस्यास्तरण्याः यावकपदानि नवीनालक्तकरसा-
द्राणि पदानि क्रमस्थापनानि वीक्ष्य विलोक्य मुग्धैरचतुरैर्भङ्गा भ्रमरा एव विहङ्गाः
पक्षिणस्तैर्दधावे धावितम् । उड्डीय गत्वा तदुपरिष्टादुपविष्टमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—ज-
लेषु सरःप्रभृतिपानीयेषु रोहन्त्युद्गच्छन्ति प्रादुर्भवन्ति इति जलरोहन्ति तादृशानि
यानि रक्तपङ्कजानि शोणकमलानि कोकनदानि तेषां धिया बुद्ध्या भ्रमेणेव ॥

काप्यलक्तकधियोत्सुकिता पत्पद्मयोरकृत चन्दनचर्चाम् ।

रक्तयोर्न सविधे प्रहितां स्वां चन्द्रिकां शशभृता सखितायै ॥ १७७ ॥

उत्सुकिता कुमारावलोकनरसेनोत्कण्ठिता कापि काचिदपरा लीलावती अलक्तधिया
यावकरसभ्रान्त्या पत्पद्मयोः स्वचरणतामरसयोः चन्दनस्य श्रीखण्डद्रवस्य चर्चा विलेप-
नम् । ‘अङ्गरागो विलेपनं चार्चिक्यं समालम्भनं चर्चा स्यात्’ इति हैम्याम् । अकृत
कृतवती । उत्प्रेक्ष्यते—रक्तयोः खानुरागिणोः । ‘रक्तं नील्यादिरञ्जिते । कुङ्कुमेऽसृज्य-
नुरक्ते प्राचीनामलकेऽरुणे’ इत्यनेकार्थः । स्वाभाविकारुणयोरिति तत्त्वम् । अर्थान्निजो-
परि रागं दधानयोः अनयोः पदपद्मयोः सविधे पार्श्वं सखितायै मैत्रीकरणार्थं शशभृता
चन्द्रेण प्रहितां प्रेषितां स्वामात्मीयां चन्द्रिकां कौमुदीं न अपि तु ज्योत्स्नेव नकारो
मौल्यर्थमेव वक्षति । यथा नैषधे—‘अनुभवति शचीत्वं सा धृताचीमुखाभिर्न सह-
सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः’ इति । चन्द्रिका तु दन्तकान्तिरप्सुच्यते । ‘दशनचन्द्रि-
कया व्यवभासितं हसितमासवगन्धि मयोरिव’ इति रघुवचनात् । ततः स्वचन्द्रिका-
मित्युक्तम् ॥

दर्शयन्त्यपरपद्ममुखी तं कापि पाणिमकरोन्निजमुच्चैः ।

व्योमपल्वलमिव स्मयमानोच्चालताम्रनलिनं प्रणयन्ती ॥ १७८ ॥

काचिदपरा अन्या पद्ममुखी अरविन्दवदना तं कुमारं दर्शयन्ती लोचनगोचरं का-
रयन्ती सती निजमात्मीयं पाणिं हस्तमुच्चैः ऊर्ध्वमकरोच्चकार । उत्प्रेक्ष्यते—स्मयमानं

विजृम्भमाणं विकसत्तथा उन्नालमुच्चैर्नालं यस्य तादृक् ताम्रं रक्तं कमलं यत्र तादृशं
व्योमपल्वलं गगनतटाकं प्रणयन्ती कुर्वन्तीव ॥

सुभ्रुवामिह महे जगृहे किं चक्षुषैव सकलेन्द्रियवृत्तिः ।

ज्योतिरर्चिरिव भानुमता यत्कापि सा प्रभवति स्म न किञ्चित् १७९

इहास्मिन् महे कुमारदीक्षाया उत्सवे सुभ्रुवाम् अणहिलपाटकपतनवनितानां नि-
खिलानां चतुर्णां श्रवणनासिकारसनास्पर्शननाम्नामिन्द्रियाणां वृत्तिर्व्यापारः । उत्प्रे-
क्ष्यते—चक्षुषा लोचनेनैव जगृहे गृहीता किम् । केनेव । भानुमतेव । यथा भास्करेण
ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रतारकाणामर्चिः कान्तिर्गृह्यते । यद्यस्मात्कारणात् सा चतुरिन्द्रिय-
वृत्तिः कापि कचिदपि स्वस्वव्यापारे किञ्चित्किमपि श्रोतुमाप्राप्तुमास्वादयितुं स्पष्टमपि
न प्रभवति स्म न समर्थोऽबभूव । ज्योतीष्यपि कापि ज्योतिरर्चिरपि कापि किञ्चिन्नालं
भवति ॥ इति पौराणनाविविधचेष्टितवर्णनम् ॥

रामणीयकतिरस्कृतकामं तं निपीय नयनैः पथि कामम् ।

वल्लकीकुलसखीमिव वाणीमित्यथो युवतिराजिरभाणीत् ॥ १८० ॥

अथो विविधचेष्टितानन्तरं खगृहगवाक्षस्थितानां युवतीनां पत्तननागरीणां राज्ञिः
श्रेणिः इत्यग्रे वक्ष्यमाणां वाणीं वाचं मिथः परस्परमभाणीत् बभाषे । किं कृत्वा । तं कु-
मारं काममत्यर्थं नयनैः खलोचनैः पथि मार्गे अर्थादीक्षाग्रहणार्थं गच्छन्तं निपीय सा-
दरमवलोक्य । किंभूतं कुमारम् । रामणीयकेन शरीरसौन्दर्येण तिरस्कृतो निर्भर्त्सितः
कामः कन्दर्पो येन तम् । वाणीमुत्प्रेक्ष्यते—वल्लकीकुलस्य वीणाव्रजस्य वीणावंशस्य वा ।
'गोत्रं तु संतानोऽन्ववायोऽभिजनः कुलम्' इति हैम्याम् । 'कुलं तेषां सजातीनाम्' इ-
त्यपि हैम्याम् । वीणावंशस्य सखीमिव वयसीमिव विपश्चीवच्चावीं वाचमित्यर्थः ॥

सांप्रतं तदिह शैशवशेषः सांप्रतं व्रतजिघृक्षुरयं यत् ।

अन्यथा कथमसावनुकुर्यादात्मना जगति जम्बुकुमारम् ॥ १८१ ॥

शैशवं बाल्यावस्था शेषमवशिष्टं यस्य किञ्चिद्विद्यमानशिशुत्वदशः । त्रयोदशचतुर्दश-
वर्षीयत्वात् । 'प्रणीतवाञ्छशैशवशेषवानयम्' इति नैषधे । तादृशोऽयं हीरकुमारः
यत्सांप्रतमधुना व्रतजिघृक्षुः संयममादातुमिच्छुरस्ति इहास्मिन् शैशवसमये तत्संयमग्र-
हणं सांप्रतं युक्तम् । अन्यथा व्रतग्रहणमन्तरेण जगती विश्वे असौ हीरकुमारः आ-
त्मना खेन कृत्वा जम्बुकुमारं चरमकेवलिनं जम्बूखामिनं कथं केन प्रकारेण अनुकु-
र्यात् सदृशं कुर्वीत । जम्बुशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । सारस्वतव्याकरणे बधूजम्बू-
शब्दौ नदीवदिति । तथा 'मत्कृते जम्बुना त्यक्ता नवोढा नवकन्यकाः' इति
कल्पवृत्तौ ॥

अङ्गजाभिलषणोद्भवकोपवान्तचित्तचतुराननशापात् ।

रुद्रनेत्रशिखिनीव निपत्यादत्त जन्म कमनः परमेतत् ॥ १८२ ॥

कमनः कन्दर्पः । उत्प्रेक्ष्यते—एतत्प्रत्यक्षं दृश्यमानं हीरकुमाररूपं परमन्यजन्माव-
तारमादत्तं गृहीतवान् । किं कृत्वा । रुद्रस्य शंभोर्नेत्रं तृतीयं भाले लोचनं तस्य शिखि-
नि तस्य बहिमयत्वेन अभेर्विद्यमानत्वात् वद्भौ निपत्य झम्पां दत्त्वा भस्मीभूय वा । कस्मा-
त् । अङ्गजायास्तिलोत्तमानाम्भ्याः स्वनन्दनाया यदभिलषणं वाञ्छनं कामक्रीडाचिकीर्षा
तस्मादुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशो यः कोपः क्रोधः तेन वान्तं पूरितं चित्तं मनो यस्य
तादृग्विधो यश्चतुराननो ब्रह्मा तस्य शापात् । यदुक्तं कुमारसंभवे—‘अभिलाषसुदीरिते-
न्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः । अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशाप्तः फलमेतद-
न्वभूत् ॥’ इति । तथा नैषधेऽपि—‘पद्मनन्दनसुतारिरंसुता’ ॥

अद्रिजार्धघटनाङ्कितमूर्त्या व्रीडमाकलयता गिरिशेन ।

प्रेयरूपकवती तनुरेतत्कैतवात्किमुररीक्रियते स्म ॥ १८३ ॥

गिरिशेन ईश्वरेण एतस्य हीरकुमारस्य कैतवात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—प्रेयरूपक-
वती रमणीयत्वकलिता तनुः शरीरयष्टिः उररीक्रियते स्म अङ्गीकृता गृहीता प्रियरू-
पस्य भावः प्रैयरूपकम् । मनोज्ञादित्वाद्गुणः । ‘प्रेयरूपकविशेषनिदेशः’ इति नैषधे ।
गिरिशेन किं कुर्वता । व्रीडं लज्जाम् । व्रीडशब्दः शब्दप्रभेदे अकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—
‘व्रीडायां भवे व्रीडः’ इति । ‘त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययानया’ इति नैषधेऽपि । आकल-
यता दधता । कया । अद्रिजाया हिमाचलपुत्र्याः पार्वत्याः अर्धस्य शरीरार्धभागस्य वा
घटना योजना तयाङ्किता कलिता या मूर्तिः स्वशरीरं तया कृत्वा । ‘सापीश्वरे शृ-
ण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशंभुः । अभूदपणीडुल्लिखद्वक्त्राणां’ इति नैषधे ।
अर्धं शंभोरित्यर्धशंभुरिति तद्भृतिः । तेन कारणेन तां स्वतनुं संत्यज्य ईश्वरेण जननयन-
निरीक्षणीया अपरा मूर्तिरङ्गीकृतेत्यर्थः ॥

त्यक्तपूर्ववपुषा निजयोषाविप्रयोगजनितान्तरदुःखात् ।

उर्वशीप्रियतमेन किमेतत्कैतवेन जगृहे तनुरन्या ॥ १८४ ॥

उर्वशीनामाप्सरस्तस्याः प्रियतमेन भर्त्रा पुरुरवसा । ‘पुरुरवा बोध ऐल उर्वशीरम-
णश्च सः’ इति हैमवीचनात् । एतत्कैतवेन हीरकुमारमिषेण । उत्प्रेक्ष्यते—अपरा कुमा-
रलक्षणा तन्मूर्तिर्जगृहे गृहीतेव । किंभूतेन उर्वशीप्रियतमेन । त्यक्तमुज्झितं पूर्वं प्रा-
चीनं पुरुरवोलक्षणं वपुः शरीरं येन । कस्मात् । निजस्यात्मनो निजा आत्मीया वा
या योषा प्रियतमा उर्वशी अप्सराः । ‘अप्सरः स्वप्सराः प्रोक्ता’ इति शब्दप्रभेदे । ‘वा
तु जलौकोऽप्सरसः सिकतासुमनः समाः’ एते शब्दा बहुवे वा । ‘इमा जलौकसः ।
इयं जलौकाः । इमा अप्सरसः । इयमप्सराः’ इत्यादि लिङ्गानुशासने च । तस्य । विप्र-
योगेण विरहेण जनितमुत्पादितं यदन्तरमन्तर्मनसि भवमन्तरङ्गमतिशायि इत्यर्थः ।
दुःखं तस्मात् । ‘प्रियावियोगज्वलतादिवैलाम्’ इति नैषधे । पुरुरवस उर्वशीवियोगः ।
तथा नलवर्णने—‘करोषि लजा गुरुर्मालिर्मलदसौ हृदश्रीहरणाबुदस्तौ’ इत्यपि नैषधे ॥

दस्योः किमयमन्यतमोऽस्मिन्नागतस्त्रिदिवतः क्षितिपीठे ।

निष्कलङ्क इव विष्णुपदस्योपास्तिभिः कुमुदिनीदयितो वा ॥१८९॥

दस्योरश्विनीपुत्रयोर्मध्ये । उपप्रेक्ष्यते—अयं हीरकुमाररूपः अन्यतमः एकः कश्चि-
त्रिदिवतो देवलोकादस्मिन् क्षितिपीठे पत्तनलक्षणे भूमण्डले आगतः किं समायात
इव । अथ वा विष्णुपदस्य पुरुषोत्तमपादस्य उपास्तिभिः सेवाभिः कृत्वा निर्गतः कलङ्को
लाञ्छनमपवादो वा यस्मात्तादृशः । उपप्रेक्ष्यते—कुमुदिनीदयितः कैरविणीप्राणप्रियश्चन्द्रो
वा क्षितौ पत्तनपृथिव्यां समागतः ॥ इति कुमाररूपदर्शनादिविचारः ॥

माद्यसि स्मर जगज्जयिनीभिर्हेतिभिः किमु हताश वशाभिः ।

संश्रिते हि चरितश्रियमस्मिन्स्वन्मदोऽयमवकेशिवदासीत् ॥१८९॥

हे हताश, मूलदेव विगता उच्छिन्ना आशा वाञ्छा यस्य ईदृशः हे स्मर कन्दर्प
जगतां त्रयाणां भुवनानाम् । ‘तात्स्थ्यात्तद्यपदेशः’ इति न्यायान्नाकिनागनागराणां त्रिज-
गजनानां जयिनीभिर्जयनशीलाभिर्वशीकारिकाभिः वशाभिस्तरुणीभिरेव हेतिभिः स्वा-
मोघप्रहरणभूताभिः कृत्वा किं कथं माद्यसि मदमाकलयसि मत्तो भवसि । हि य-
स्मात्कारणात् अस्मिन् सांसारिकविषयविमुखे हीरकुमारे चरितश्रियं चारित्र्यलक्ष्मीं सं-
श्रिते सति अयं सर्वजगज्जनविदितः प्रत्यक्षलक्ष्यस्वन्मदः यदहं युवतीरूपामोघशक्तिभिः
कृत्वा हरिहरेन्द्रचतुराननादिकान् सर्वान् स्ववशीकरोमि इति तवाभिमानः अवकेशि-
वनिष्फलतरुविव आसीत् फलवन्ध्यो बभूव ॥

दैत्यमर्त्यमरुतां विजये त्वं साहसिक्यमथ मोह जहीहि ।

भूधरं हरिरिवाशनिनासौ संयमेन निहनिष्यति यत्त्वाम् ॥१८७॥

हे मोह, अथाद्यतनदिनात्प्रारभ्य त्वं दैत्या दानवा मर्त्या मानवा मरुतो देवास्तेषां
विजये पराभवने साहसिक्यं साहसकर्मसत्त्वं बलवत्तां वा जहीहि त्यज मुख । सहसा
वर्तते इति साहसिकः । ‘ओजः सहोम्भसा वर्तते’ इतीकण् । साहसिकस्य भावः साह-
सिक्यम् । ‘अहो मदीयस्त्व साहसिक्यम्’ इति नैषधे । यत्कारणादसौ हीरकुमारः संय-
मेन शुद्धचारित्र्येण कृत्वा त्वां भवन्तं निहनिष्यति व्यापादयिष्यति मूलादुन्मूलयिष्यति ।
क इव । हरिरिव । यथा पुरंदरः अशनिना वज्रेण कृत्वा भूधरं पर्वतं हन्ति चूर्णी-
करोति ॥

संसृते व्रतरमानिरतोऽसौ दुष्प्रवृत्तिमिव यत्त्यजति त्वाम् ।

निष्फला तदबलेव परस्यां सक्तमानसपतेरपमानात् ॥१८८॥

हे संसृते संसार, यद्यस्मात्कारणात् व्रतरमायां संयमलक्ष्म्यां निरत आसक्तमना
रक्तीभूतचेता असौ हीरकुमारस्त्वं भवतीं जहाति । कामिव । दुष्प्रवृत्तिमिव । यथा म-
हात्मा दुष्टां प्रवृत्तिं वार्तां दुष्टं निन्द्यमाचरणं वा मुञ्चति तत्तस्मात्कारणात् त्वं भवती

संसृतिर्निष्फला अभूजता । स्वरूपेण तरुणीगणानिलषणीयेन विविधविषयसुखासक्तैन
भाग्यवता पुंसां संसारः सफलो भवेत्तु अनेन नादृतं तस्मात्वं निष्फलैव । केव । अ-
बलेव । यथा युवती परस्यामन्यवनिताग्रामासक्तीभूतमादरवजातं सानुरागीभूतं मानसं
मनो यस्य तादृशस्य पत्युः प्रियस्यापमानादवगणनान्निष्फला भवति । संसारसुखानुभ-
वनरूपफलानवाप्तेर्निष्फलत्वमिति ॥

राग सागर इवासि निपीतोऽनेन पीततटिनीपतिनेव ।

दर्प खर्परकरीभव सर्पन्रङ्गवद्युधि जितो यदनेन ॥ १८९ ॥

हे राग हे अनुराग, सागरः समुद्र इव त्वमनेन कुमारेण निपीत आचान्तो निष्ठा-
पितोऽसि । केनेव । पीततटिनीपतिनेव । यथा अगस्तिना तापसेन समुद्रो निपीतश्चुलु-
कीकृतः । ‘अगस्त्योऽगस्तः पीताब्धिः’ इति हैम्याम् । पीताब्धिरित्यत्राब्धिपर्यायपरिव-
र्तनं कृतम् । पुनर्हे दर्प अभिमान, यत्कारणात्त्वमनेन हीरकुमारेण युधि परस्परं सं-
ग्रामे जितः पराभूतः निःसारीकृतः तत्कारणात्सर्पन्निस्ततः पर्यटन् भ्रमणीं कुर्वस्त्वं
रङ्गवत् द्रमक इव भिक्षुकवत् खर्परकरीभव खर्परं घटादिकपालठिकरं तदेव करे पाणौ
यस्य तादृशो भव संपद्यस्व । ठिकरं करे कृत्वा भिक्षां मार्गयेत्यर्थः ॥

मानमाननसरोरुहनत्या मानिनीजन जहीहि जहीहि ।

मोहनाहमणिनेव मनस्वी न व्यमोह्यत यतो भवतायम् ॥ १९० ॥

हे मानिनीजन हे रूपचातुर्यादिभिः साभिमानकामिनीलोक, त्वं लज्जावशेनाननस-
रोरुहाणां वदनकमलानां नत्या नम्रीकरणेन मुखं नीचैः कृत्वा मानं दर्पं गर्वं जहीहि
जहीहि । कोपनात्युक्तौ वीप्सा पुनः पुनर्भाषणं वीप्सा । त्यज त्यज । संभ्रमवशाद्वा द्वि-
रुक्तिः । ‘त्यज त्यजाकरणरोषणे रुषम्’ इति नैषधे । यतः कारणात् मनस्वी विशिष्ट-
मनोवा(नखा)न् देवतादिभिरप्यक्षोभ्यमना वा अयं कुमारो भवता त्वया न व्यमोह्यत
न मोहितः नाभ्यवशीकृतः । केनेव । मोहनाहमणिनेव यथा मोहनकृन्नामरत्नेन जनो
मोह्यते मोहं प्राप्यते ॥

स्वर्णजालकविमानगतानां सुभ्रुवां भ्रुव इवाप्सरसां सः ।

आननामृतरुचीभ्य उदीतास्ताः सुधा इव कथाः पिबति स्म १९१

स कुमारः सुभ्रुवां पत्तनपुरंप्रीणामाननानि वदनानि तान्येवामृतरुच्यः चन्द्राः ।
रुचीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । ‘रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनाभिः’ इति नैषधे । तेभ्य उदीता
उद्गता । ‘उदीतमातङ्कितवानशङ्कितः’ इत्यपि नैषधे । ईङ् गतौ दीर्घईकारो धातुः । ताः
पूर्वोक्ताः कथा वार्ताः । ‘त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति’ इति भक्तामरस्तवे । ‘सं-
कथा वार्ता’ इति तद्भूतिः । पिबति स्म सादरं शृणोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सुधा इव ।
यथा कश्चिदेवचन्द्रादुदितं सुधां पिबति । ‘विरहिर्वर्गवध्वयसनाकुलं कलय पापमशेष-
फलं विशुम् । सुरनिपीतसुधाकमपापकम्’ इति नैषधे । किंभूतानां सुभ्रुवाम् । स्वर्ण-

जालकानि काञ्चनरचितगवाक्षा एव विमानानि देवतानां स्वर्गे स्थितिस्थानानि तेषु ग-
तानां संप्राप्तानाम् । सुखं निषेदुषीनामित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—भुवः पृथ्व्या अप्सरसां
सुराङ्गनानामिव । अप्सरसोऽपि विमानस्थायिन्यः स्युः ॥ इति पौराङ्गनानां हीरकुमा-
रदर्शनोद्भूतमिथः कथाप्रथा ॥

नीरदोऽवनिभृतामिव तापं वृष्टिभी रजतहेममयीभिः ।

सोऽर्थिनां प्रमथयन्पथि दौःस्थ्यं संचचार पुटभेदनमध्ये ॥१९२॥

स हीरकुमारः पुटभेदनमध्ये पत्तनविचाले संचचार संचरति स्म । ‘पत्तनं पुटभेदनम्’
इति हैम्याम् । तथा ‘द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत्क्षणादवापे सुरभूमिभूपैः’ इति नैषधे ।
किं कुर्वन् । रजतानि रूप्याणि हेमानि काञ्चनानि तन्मयीभिस्तैः प्रचुराभिः धानाभिर्वा
वृष्टिभिः दानैः रूपकस्वर्णकादिविश्रान्तैः कृत्वा पथि मार्गे अर्थिनां याचकानां दौःस्थ्यं
दारिद्र्यं प्रमथयन्निर्दलयन् । क इव । नीरद इव । यथा वारिदो मेघः अवनिभृतां
भूधराणां पर्वतानां तापं निदाघदाघं प्रमथयति प्रशमयति । यदुक्तम्—‘धाराधरा एव
धराधराणां निदाघदाघौघविघातदक्षाः’ इति सूक्तम् । काभिः । वृष्टिभिर्जलवर्षणैः ॥

तद्यशोधरणिभर्तुरितोऽन्यद्वीपनिर्जयकृते प्रयियासोः ।

अध्वरोधिजलधीनिव रोद्धुं तत्क्षणे क्षितिरजोभिरुदीये ॥ १९३ ॥

तस्मिन् कुमारस्य दीक्षाग्रहणार्थं समहं गमनसमये क्षितेः पृथिव्याः सकाशात् रजो-
भिर्धूलिभिरुदीये प्रकटीभूतम् । प्रसृतमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इतोऽस्माज्म्वद्वीपा-
दन्येषां षण्णाम् पुष्करशाकक्रौञ्चकुशशालमल्लक्ष्मणानां द्वीपानाम् । ‘सप्तद्वीपा वसुमती’
इति शिवराजर्षिवचनात् । षड्द्वीपाभिधानानि नैषधे । जैनमते तु जम्बूद्वीपं धातुकी-
खण्डम्, पुष्करवरद्वीपम्, वारुणीवरद्वीपम्, घृतवरद्वीपम्, क्षीरवरद्वीपम्, इक्षुवरद्वीपम्,
इति । अथवा अष्टादशसंख्याकानां द्वीपानाम् । ‘अष्टादशद्वीपनिखातयूपः’ इति रघुवंशे ।
तथा । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । निर्जयकृते विजयार्थं प्रयियासोः
प्रयातुमिच्छोः तद्यशोधरणिभर्तुः कुमारश्लोकराजस्य । धरणिशब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । यथा—
‘धरणिविरहिणि कान्तमुद्रे समुद्रे’ इति नाटककाव्ये । अध्वानं मार्गं रुन्धतीत्येवंशीलान्
जलधीन् । लवणस्वादूदकक्षीरोददधिमण्डघृतोदसुरोदकेक्षुरसनाम्नः जिनशासने सप्त
समुद्राः । लवणसमुद्रकालोदधिपुष्करोदधिवारुणीसमुद्रघृतोदक्षीरोदधिइक्षुरससमुद्रनामा-
नोऽर्णवाः सप्तसंख्याकान् गमनमार्गरोधकान् समुद्रान् रोद्धुमावरीतुं स्थलीकर्तुमिव
रेणुभिः प्रसक्ते ॥

संयमाय समियाय कुमारः पत्तनोपविपिने दितदोषः ।

पूर्वपर्वतशिरःशिखराङ्गे पद्मिनीपतिरिवाभ्युदयाय ॥ १९४ ॥

हीरकुमारः संयमाय चारित्रग्रहणार्थं पत्तनस्योपविपिने समीपोद्याने समियाय समा-

जगाम । क इव । पद्मिनीपतिरिव । यथा कमलिनीकान्तो भास्करः अभ्युदयाय उद्गमनार्थं पूर्वपर्वत उदयाचलः । ‘पूर्वपर्वततिरोहितात्मनः’ इति वस्तुपालकीर्तिकौमुदी-
भ्रातृसुरथोत्सवकाव्ये । तस्य शिरसि मस्तके । उपरितनभागे इत्यर्थः । यच्छिखरं शृङ्गं
तस्याङ्गे उत्सङ्गे समेति । किंभूतः कुमारः पद्मिनीपतिश्च । दिताः । ‘दो अवखण्डने’ ।
खण्डिताश्छिन्ना दोषा अपगुणा रात्रयश्च येन सः ॥

कौतुकाद्भुवमुपेत्य वसन्तीं स्वःपुरीमिव पुरीमवगत्य ।

आगतं किमनु नन्दनमत्रोद्यानमेष निपपौ नयनाभ्याम् ॥ १९५ ॥

एष हीरकुमार उद्यानं विपिनं नयनाभ्यां निजनेत्राभ्यां कृत्वा पपौ सादरमवलोक-
यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र पत्तनसमीपे अनु पश्चादागतं किं नन्दनं देवराजवनमिव । किं
कृत्वा । पृष्ठे समेतं कौतुकात्तागरिकनिकरविशिष्टरूपविधिविचित्रितवीक्षणोद्भूतकौतूहला-
द्भुवं भूमीमण्डलमुपेत्य अभ्यागल्य । ‘भुवि समेत्य’ इति वा पाठे भुवि पृथिव्यां समेत्यागल्य
वसन्तीं वासं सृजन्तीं तत्स्थुषीं स्वःपुरीं स्वर्नगरीममरावतीमिव पुरीम् अणहिल्लपत्तन-
रूपां नगरीमवगत्य ज्ञात्वा । ‘ज्ञातं सितगते अवात्’ इति हैम्याम् । तथा—‘अवगच्छति
मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् । स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समु-
द्रतम् ॥’ इति रघुवंशे ॥

शारिकाशुकशिखण्डिकपोतीपोतकेलिकलनाकमनीयम् ।

मत्तवारणविचित्रितसालं प्राविशद्गृहमिवोपवनं सः ॥ १९६ ॥

स हीरकुमारो गृहं मन्दिरमिव उपवनं तत्पत्तनसमीपोद्यानं प्राविशत् प्रविशति स्म ।
किंभूतं गृहमुपवनं च । मह्येभ्यानां गृहे क्रीडाविनोदविधानार्थं विविधाः पक्षिणः स्तुः । तदेव
दर्शयति—शारिकाः पीतपादाः, शुकाः कीराः, शिखण्डिनो मयूराः, कपोतीनां पारा-
वताङ्गनानाम् । ‘परिणतरविगर्भव्याकुला पौरहूती दिगपि घनकपोती हुंकृतैः क्रन्थतीव’ इति
कालिदासकृतप्रभातवर्णनकाव्ये । पोताः शिशवः । अथवा कपोलः अत्यन्तविषयित्वात्कदा-
चिदपि कपोताः प्रियाणां पार्श्वे न मुञ्चन्त्यतः कपोताः कपोल्यः । तथा पोताः दशवर्षीया
गजबालाः । ‘पञ्चवर्षो गजो बालः स्यात्पोतो दशवर्षिकः’ इति हैम्याम् । पोतसाहचर्योत्त-
न्मातरः पितरोऽप्यागता एवेति । मह्येभ्यानां गृहेऽपि गजा भवन्ति । ‘गजान्तलक्ष्मीः
ध्वजान्तः प्रासादः’ इति वचनात् । तेषां याः केलिकलनाः क्रीडाकरणानि तैः कमनीयं
मनोज्ञम् । पुनः किंभूतम् । मत्तवारणः मदोदुरसिन्धुराः । पूर्वोक्तास्तु सामान्यगजाः,
एते तु गन्धसिन्धुराः, अयं विशेषः । तथा विशिष्टाश्चित्रा आखुपर्णां समुद्राभिधानां वा
औषधयस्ताभिर्युक्ता जाता । अथवा चित्रिता उरगविशेषाः । ‘चित्रङ्घ्रि’ इति प्रसिद्धाः ।
तैः सहिता जाता वा । वृक्षाणां कोटरेषु प्रायो भुजङ्गा भवन्ति । साला वृक्षा यत्र गृहे तु
मत्तालम्बाः । ‘मत्तालम्बोपाश्रयः स्यात्प्रसीवो मत्तवारणः’ इति हैम्याम् । ‘घोडला’ इति
प्रसिद्धाः । तथा विविधैश्चित्रैरालेख्यैः सहिता जाताः । श्लेषे शस्योरैक्यात् । साला

चित्रशाला यत्र । 'चित्रा त्वाखुपर्णीसुभद्रयोः । गोदुम्बाप्सरसोर्दन्यां नक्षत्रौपधिभेदयोः' इत्यनेकार्थः । राजगृहे तु सुतरां स भवेदेव । यथा पाण्डवचरित्रे दमयन्तीप्रवासे— 'लीलाकुरङ्गककीडासारिके केलिवर्हिणः । गृहपारावताः सद्य कीरवापीसितच्छदाः । प्रेयांसमनुगच्छन्तीमनुजानीत मां मनाक् ॥' तथा द्रौपदीप्रवासे— 'हंहो बर्हिन्नहो हंस हले हरिणि हे शुक्र । कुशलं वस्त्वसौ देवाद्याति वः परिचालिका । इत्यापृच्छद्य पत-
द्वाष्पा केलिपात्राणि सर्वतः ॥' इति ॥

पुष्पपल्लवफलानि दधानाः शाखिनः स्मितशिखाग्रशयेषु ।

स्वागतं द्विजरवैः किमुदीर्यास्यातिथेयमतिथेरिह चक्रुः ॥ १९७ ॥

इह वने शाखिनो वृक्षाः अतिथेर्नेजप्राबुणकस्य अस्य कुमारस्य आतिथेयमतिथिस-
त्क्रियां किमु चक्रुः कुर्वन्ति स्म । किं कृत्वा । द्विजानां स्वाङ्गस्थायुकानां पक्षिणां रवैः
शब्दैः स्वागतं सुखेनागतं कुशलप्रश्नादिकं वा उदीर्य कथयित्वा । पृष्ट्वा वा इत्यर्थः । किं
कुर्वाणाः शाखिनः । स्मिता विकसिता याः शिखाः स्वशाखास्ता एवाग्रहस्ता हस्ताग्राणि
अथ वा तासां शिखानामग्राणि तान्येव शयाः पाणयस्तेषु पुष्पाणि कुसुमानि पल्लवाः प्र-
वालाः फलानि सस्यानि दधानाः धारयन्तः ॥

तत्र सस्यभरगौरवभागिभः कोकिलाकणितसंस्तववाग्भिः ।

पादपैरयमनम्यत वन्यैर्भाविसूरिपुरहृतधियेव ॥ १९८ ॥

तत्रोद्याने अयं कुमारः वन्यैः काननभवैः पादपैर्वृक्षैः अनम्यत नमस्कृतः । किंभूतैः
पादपैः । सस्यानां फलानाम् । 'फलं तु सस्यम्' इति हैम्याम् । भराः समूहास्तेषां गौरवं
भारं भजन्तीति । पुनः किंभूतैः । कोकिलानां कलकण्ठानां कणितानि कूजितानि पञ्चमा-
ल्यपास्तान्येव संस्तवः स्तुतिस्त्युक्ता तद्रूपा वा वाग्येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—भाविनो भवि-
ष्यतः आचार्यपुरंदरस्य धिया बुद्धयेव ॥ इत्युपवनम् ॥

कामनीयकमशेषममुष्यान्वेषयन्वटतरुं स ददर्श ।

श्रीतिरस्कृतसमग्रवनस्य छत्रमेतदिव मूर्ध्नि वनस्य ॥ १९९ ॥

स कुमारो वटतरुं प्लक्षवृक्षं ददर्श पश्यति स्म । किं कुर्वन्कुमारः । अन्वेषयन् विलो-
कयन् । किम् । अमुष्योद्यानस्याशेषं समस्तमपि कामनीयकं मनोज्ञताम् । कामनीयस्य
भावः कामनीयकम् । मनोज्ञादित्वाहुः । 'कामनीयकमधःकृतकामम्' इति नैषधे ।
उत्प्रेक्ष्यते—श्रीभिः स्वशोभाभिः तिरस्कृतानि पराजितानि समग्राणि सर्वाण्यपि वनानि
नन्दनचैत्ररथादीनि काननानि येन तादृशस्यास्य वनस्य पत्तनोपविपिनस्य मूर्ध्नि मस्तके
एतन्महावटरूपेण दृश्यमानं छत्रमातपवारणमिव ॥

न्यक्षरुक्षनिकरेषु गुरुत्वं यद्विभर्ति मनुजेष्विव भूमान् ।

गौरवात्किमिति लोलविहङ्गैर्वीज्यते स्म चमरैरिव पक्षैः ॥ २०० ॥

यो वटतरुलोलैरुडुयनादितस्ततः पर्यटनाद्वा चपलैर्विहङ्गैः पक्षिभिः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्गौरवान्माहात्म्यात्किमु चमरैर्वालयजनैरिव । ‘चमरश्चामरः’ इति शब्दप्रभेदे । तथा ‘चमरश्चामरे दैत्ये’ इत्यनेकार्थः । पक्षैस्तनूरुहैर्वीज्यते स्म । इति किम् । यद्यस्मात्कारणात् न्यक्षाः समस्ता ये रक्षाः पादपास्तेषां निकरेषु गणेषु गुरुत्वं महत्वं विभर्ति धत्ते । क इव । भूमानिव । यथा मनुजेषु अशेषमनुष्येषु राजा गौरवं कलयति । पाठान्तरे—अथवा सर्ववृक्षेषु मखमुक्शिशिखरी सुरतरुः कल्पवृक्षो गुरुतां धत्ते ॥

रागिणः प्रणयतोऽखिललोकाञ्छैशवावधिजगज्जनगेयान् ।

तद्गुणानिव निशम्य सरागः पल्लवैरयमशालत शालः ॥ २०१ ॥

अयं शालो वटतरुः पल्लवैः किसलयैः अशालत शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तद्गुणान् हीरकुमारस्य धैर्यौदार्यगाम्भीर्यशमदमादिमान् गुणान् निशम्याकर्ण्य सरागो रक्तो जात इव । गुणान् किं कुर्वते । अखिलान् समस्तान् लोकान् नाकिनागररूपजनान् रागिणो निजानुरक्तान् प्रणयतः । पुनः किंभूतान् । शैशवावधि बाल्यावस्थां मर्यादीकृत्य जगतां पातालस्वर्गभूमीलक्षणानां भुवनानां जनैः सुरासुरनरैर्गेयान् गातुं योग्यान् ॥

वल्कलैः कलयतात्मनि भूषां विभ्रता कपिशशालिजटालीम् ।

काननस्थितिमताजनि तेनातन्वता किमु तपो व्रतिनेव ॥ २०२ ॥

तेन वटद्रुमेण । उत्प्रेक्ष्यते—व्रतिनेव तापसेनेव तपः अनाहारलक्षणं कष्टं किमु कुर्वता अजनि जातम् । केनेव । व्रतिनेव । यथा तापसेन तपःकुर्वता जायते । किंभूतेन तेन व्रतिना च वल्कलैः वल्लीभिर्वृक्षविशेषत्वग्भिश्च । ‘त्वचि वल्ली चोक्तं वल्कलम्’ इति हैम्याम् । कृत्वा आत्मनि स्वस्मिन् विषये भूषां शोभां कलयता दधता । पुनः किंभूतेन । कपिशं पीतरक्ताम्, तथा शालिनीं शोभनशीलाम्, जटानां शिफानां वृक्षमूलानां सटानां सार्द्रभस्मभरैरेकीकृतकेशानां च । ‘प्रकाण्डौघजटाः शिफाः’, ‘जटाः सटा’ इति द्वयमपि हैम्याम् । ‘जटा केशविकारे मांसिमूलयोः’ इत्यनेकार्थः । आर्लीं श्रेणीं विभ्रता धारयता । पुनः किंभूतेन । कानने वने स्थितिर्वासो विद्यते यस्य ॥

निष्कुहान्तरितविष्किरवारस्फारतारनिनदैर्वटशाखी ।

यो मरुत्तरलपल्लवहस्तैराह्वयन्निव निजान्तिक एतम् ॥ २०३ ॥

यो वटतरुः एतं कुमारम् । उत्प्रेक्ष्यते—निजान्तिके स्वसमीपे आह्वयन्नाकारयन्निवास्ते । कैः । निष्कुहान्तरितानां स्वकोटरव्यवहितानां तरुस्कन्धरन्ध्रमध्यगतानां विष्किराणां विहङ्गानां वारस्य समूहस्य स्फारैः स्पष्टैः पटुभिस्तारैरत्युच्चैः कृतैर्निनादैः कूजितैः । पुनः कैः । मरुता पवनेन तरलाश्चञ्चला ये पल्लवाः प्रवालास्त एव हस्ताः पाणयस्तैः कृत्वा चेल्ध्याहार्यम् ॥ इति दीक्षाग्रहणयोग्यवटद्रुमवर्णनम् ॥

शिश्निये विजयदानयतीन्द्रः पूर्वमेव तदुपागमनाद्यम् ।

छाययाखिलजनं सुखयन्तं कः श्रयेन्न धनदाश्रयमत्र ॥ २०४ ॥

विजयदाननामा यतीन्द्रः सूरिः तदुपागमनात्कुमारस्यागमनात्पूर्वमेव प्रथममेव यं वटतरुं शिश्रिये श्रितवान् । प्रागेव तत्रागत्य निषण्ण इत्यर्थः । युक्तोऽयमर्थः । अत्र जगति छायाया आश्रयेण । 'वयं श्रीमच्छायाया जीवामः' इति लोकरुढिः । प्रतिच्छायािकया चाखिलजनं समस्तलोकं सुखयन्तं सुखीकुर्वन्तम्, तथा धनदानां वदान्यानां वैश्रवणस्य वा आश्रयं स्थानम् । 'वटो वैश्रवणाश्रयः' इति हैम्याम् । कः सुखार्थी पुमान्नाश्रयेन सेवेत । अपि तु सर्वोऽपि जनस्तं भजेदित्यर्थः ॥

तीर्थनाथमिव चैत्यतरोस्तत्पादपस्य सविधे स्थितिमन्तम् ।

संमदेन स कुमारमहेन्द्रस्त्रिः प्रदक्षिणयति स्म सुनीन्द्रम् ॥ २०९ ॥

स कुमारमहेन्द्रः हीरनामा । शिशुच(श)कः संमदेन हर्षेण कृत्वा सुनीन्द्रं श्रीविजय-दानसूरिं त्रिः वारत्रयं प्रदक्षिणयति स्म प्रदक्षिणीकृतवान् । किंभूतं सुनीन्द्रम् । तस्य पूर्वव्यावर्णितस्य पादपस्य वटशाखिनः सविधे समीपे स्थितिरुपवेशनं विद्यते यस्य । कमिव । तीर्थनाथमिव । यथा महेन्द्रः पुरंदरश्चैत्यतरोरशोकद्रुमस्य केवलज्ञानोत्प-त्तिस्थानकवृक्षस्य वा पार्श्वे तिष्ठन्तं जिनेन्द्रं त्रिःकृतवः त्रिवारं प्रदक्षिणीकरोति । प्रभोः प्रदक्षिणात्रयं ददाति स्मेत्यर्थः ॥

उत्ततार तुरगात्स कुमारो बर्हिणादिव सुतः सुरसिन्धोः ।

श्रीगुरुं प्रमुदितश्च ललाटन्यस्तहस्तनलिनस्तमनंसीत् ॥ २०६ ॥

स हीरनामा कुमारस्तुरगादुत्ततार उत्तीर्णवान् । क इव । सुरसिन्धोः सुत इव । यथा सुरसिन्धोर्देवनद्याः गङ्गाया नन्दनः स्वामिकार्तिकः बर्हिणान्मयूरादुत्तरति । 'आवा-सवृक्षोन्मुखबर्हिणानि' इति रघुवंशे । उत्तीर्य च पुनस्तं महावीरदेवपट्टपरम्परायातं दीक्षादानगुरुं वा श्रीगुरुं शोभाकलितविजयदानसूरिम् अनंसीत् प्रणमति स्म । किंभूतः । प्रमुदितो हृष्टवदनः । पुनः किंभूतः । ललाटे स्वभालस्थले न्यस्तौ स्थापितौ हस्तौ पाणी एव नलिने कमले यत्र ॥

रामणीयकविधेरवधेर्मे भूषया वपुषि कृत्रिमया किम् ।

तत्यजे निजतनोरिति सर्वाङ्गीणभूषणभरः किमनेन ॥ २०७ ॥

अनेन हीरकुमारेण निजतनोः स्वाहात् । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः सर्वाण्यङ्गानि व्याप्नो-ति । 'पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' इति सूत्रेण ख ईनादेशश्च । सर्वाङ्गीण इति सर्वाङ्गोपाङ्ग-संबन्धी । भूषणानामाभरणानां भरः समूहस्तत्यजे त्यक्तः । सर्वानलंकारान्निजाङ्गादुत्ता-रयति स्मेत्यर्थः । इति किम् । तत्कारणमाह—रामणीयकस्य रमणीयताया मनोज्ञत्वस्य विधेः प्रकारस्य अवधेः सीमाया मे मम वपुषि शरीरे कृत्रिमया औपाधिकया भूषया शोभया भूषणैर्वा । भूषाशब्देन भूषणान्यप्युच्यते । उक्तं तु प्राक्प्रतिपादितमास्ते । किमस्तु । न किमपीत्यर्थः । रमणीयस्य भावो रामणीयकम् । योषधादुह् ॥

षडग्रहेषुशशिसंख्यमितेऽब्दे कार्तिकस्य च तिथौ द्विकसंख्ये ।

यन्निरस्तभवनिःश्वसितार्चिर्धूमवर्ततिभिरिवाविशदास्ये ॥ २०८ ॥

संयमं विजयदानमुनीन्दोराददे सह परैः स कुमारः ।

पद्मिनीप्रियतमात्प्रविकाशं पुण्डरीकमिव पङ्कजपुञ्जैः ॥ २०९ ॥

स हीरकुमारः परैरन्यैरमीपालकुमारप्रमुखैरपरकुमारैः सार्धं श्रीविजयदाननाम्नो मुनीन्दोः साधुसुधांशोः सूरिन्द्रात्सकाशात् संयमं चारित्रमाददे जगृहे । किमिव । पुण्डरीकमिव । यथा सिताम्भोजं पङ्कजपुञ्जैरन्यकमलकलापैः समं पद्मिनीप्रियतमात्सूर्यात् सकाशात्प्रविकाशं विकखरतामादत्ते । पुण्डरीकशब्दः प्राशान्वरव्यापकः । 'पुंरिसवर-पुण्डरीआणम्' इति शक्तवचनान् । कस्मिन् सति । पङ्कजसमितः संख्या, ग्रहा आदित्याद्या इदानींतनलोकप्रसिद्धा नव, इषवः स्मरस्य वाणाः पङ्क, शशी चन्द्र एकः, एषां संख्यया प्रमाणेन मिते मानीकृते अब्दे वर्षे सति । च पुनः कस्मिन् सति । कार्तिकस्य बाहुल्य । कार्तिकमासस्येत्यर्थः । द्विकसंख्ये द्विकसंख्या प्रमाणं यस्य तादृशे एतावता द्वितीयानाम्नि तिथौ । तिथिशब्दः पुंस्त्रियोः । 'प्रश्निस्त्रियशनीमणिशृणिः' इति लिङ्गानुशासने । तिथौ किंभूते । अविशदास्ये न विद्यते विशदमुज्ज्वलमासं मुखं प्रारम्भो वा यस्य । कृष्णद्वितीयायां प्रथमाश्चतस्रो घटिका निशा अन्धकारेण द्यामाः स्युः । उत्प्रेक्ष्यते—येन हीरकुमारेण निरस्तो ध्वस्तोऽभिभूतो यो भवः संसारस्तस्य निःश्वसितानि दुःखप्राग्भारोद्भूतनिःश्वासास्तान्मेवाचार्चयि अत्युष्णत्वाद्वह्नयस्तेषां धूमवर्तयो धूमलेखास्तामिः । 'उष्णीकृतमुखे इव निःश्वासानलधूमवर्तय इवोद्गीर्णास्तमोराजयः' इति चम्पूकथायाम् । एतावता विकमार्कात् षण्णवत्यधिके पञ्चदशशते वर्षाणामतिक्रान्ते १५९६ कार्तिकवहुलद्वितीयायां हीरकुमारो दीक्षां जग्राहेति तात्पर्यार्थः । संवत् १५९६ वर्षे गुर्जरमण्डलानुसारेण कार्तिकवदि देवमासानुसारेण तु मार्गशीर्षासितद्वितीयायां तिथौ हीरकुमारदीक्षा इत्युक्तम् ॥

संयमश्रियमत्राप्य कुमारः साधिकं शरदमिन्दुरिवाभात् ।

सोऽप्यनेन सुषमां श्रयते स्मार्थेन वागिव पुरीव नृपेण ॥ २१० ॥

स कुमारः संयमश्रियं चारित्रलक्ष्मीमवाप्यासाव । सहाधिकतया वर्तते यत्तत्साधिकमिति क्रियाविशेषणम् । आभात् वभासे । अथ वा स कुमारः अधिकं यथा स्यात्तथा वमौ । क इव । इन्दुरिव । यथा चन्द्रः शरदं घनाल्यं संप्राप्याधिकं शोभते । पाठान्तरार्थे यथा—स कुमारः संयमश्रियमुपेयागत्य । प्राप्येत्यर्थः । अधिक आभाद्भाति स्म । क इव । अत्रिनेत्रज इव । यथा अत्रिर्नामा मुनिविशेषस्तस्य नेत्रं नयनं तस्माज्जायत इत्यत्रिनेत्रजश्चन्द्रो यथा । यथा रघुवंशे—'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रैरिव द्यौः' इति ।

१. 'संयमश्रियमुपेत्य स चित्रामत्रिनेत्रज इवाधिकमाभात्' इति पाठान्तरम्.

चित्रां त्वाष्ट्रीं प्राप्याधिकं दीप्यते । अपि पुनः सा संयमश्रीरपि हीरकुमारेण कृत्वा सुषमामतिशाचिशोभां श्रयते स्म । केव । वागिव । यथा काव्यादिरूपा सत्कविवाणी चतुरचेतश्चमत्कारकारकेणार्थेन सुषमां श्रयते । पुनः केव । पुरीव । यथा नगरी नीति मता नृपेण सुषमां भजते ॥

हीरहर्ष इति नाम तदीयं निर्ममे विजयदानयतीन्द्रः ।

स्पर्धयेव यशसास्य जनानां कर्णपूरपदवीं तदवापत् ॥ २११ ॥

श्रीविजयदाननामा यतीन्द्रः सूरिः तदीयं हीरकुमारसंवन्धिनामाभिधानं हीरहर्ष इति निर्ममे कृतवान् । तन्नाम अस्य हीरहर्षमुनेः श्लोकेन साकं स्पर्धया संहर्षणेव ईर्ष्या वा कृत्वा जनानां सकलभूलोकलोकानां कर्णौ श्रवणौ पूर्यते अनेनेति कर्णपूरौ कर्णाभरणौ कुण्डलौ तयोः पदवीं मार्गमेश्वर्यादिमयं स्थानं श्रूयमाणतापदं वा अवापत् प्राप ॥

नभोज्ज्वालिर्जरहस्तमुक्तामरन्दलुभ्यन्मधुपानुषङ्गे ।

पपात तस्योपरि पुष्पवृष्टिः कटाक्षलक्षा इव मोक्षलक्ष्म्याः ॥ २१२ ॥

नभोज्ज्वालाकाशात्तस्योपरि पुष्पवृष्टिः कुसुमवर्षं पपात जाता । किंभूता । निजराणां देवानां हस्तैः करैः मुक्ता । पुनः किंभूता । मरन्देषु अविरलानर्गलगलन्मधुषु लुभ्यतां लुब्धीभवतां लोलुपीभावभाजां मधुपानां भ्रमराणामनुषङ्गो यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—मोक्षलक्ष्म्याः मुक्तिश्रियाः कटाक्षाणामक्षिविकूणितानां लक्षाः शतसहस्राणि इव । लक्षशब्दः स्त्रीङ्गीवयोः । 'माने लक्षम्' इति लिङ्गानुशासने ॥

महाव्रती कालमनोभवारिमहोक्षलीलागतिगौरकान्तिः ।

शिवाश्रितः शंभुरिव क्रमेणैशानीं दिशं पूर्वमसौ वभाज ॥ २१३ ॥

अयं हीरहर्षमुनिः क्रमेण दीक्षाग्रहणानन्तरं पूर्वं प्रथममैशानीं दिशमीशानविदिशं वभाज श्रितवान् । तस्यां विहारं कृतवानित्यर्थः । दीक्षितो हि तपस्याग्रहणानन्तरं प्रथममैशानीं दिशं प्रति विहरतीति विधिः । क इव । शंभुरिव । यथा ईश्वर ऐशानीं दिशं तदधिपत्वात् । कथंभूतोऽयं शंभुश्च । महाव्रती पञ्चमहाव्रतवान् शंभुनामा च । 'महाव्रती वह्निहिरण्यरेताः' इति हैम्याम् । महाव्रतं कापालिलिङ्गमस्यास्तीति व्युत्पत्तिः । कालः कलिकालः मनोभवः स्मरस्तयो रिपुः । 'कालो यमे दैत्ये च' । मृत्युंजयः कालारिः स्मरदाही च शिवः । पुनः किंभूतः । महानुक्षो मत्तवृषभस्तद्व्रतिर्गमनं यस्य । 'मत्तोक्षगमनः पुमान्' इति काव्यकल्पलतायाम् । मत्तो(हो)क्षेण गमनं यस्य वृषभवाहनत्वात् । पुनः किंभूतः । गौरा स्वर्णवर्णा कान्तिर्यस्य । पक्षे—श्वेता वर्णनं भस्मना वा रुचिर्यस्य । 'गौरः श्वेतेऽहणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि' इत्यनेकार्थः । पश्चात्कर्माधारयः । पुनः किंभूतः । शिवैर्मङ्गलैः शिवया पार्वत्या च आश्रितः अर्धशंभुत्वात् ॥

कलभो यूथनाथेन यद्वदम्यः ककुद्भता ।

हीरहर्षः समं सूरिशक्रेण विजहार सः २१४ ॥

स हीरहर्षमुनिः सूरिशक्रेण श्रीविजयदानसूरीन्द्रेण समं सार्धं विजहार विहारं कृतवान् । किं वत् । यद्वत् । यथा कलभो बालगजः यूथनाथेन पष्ठिवर्षीयगजराजेन समं विहरति । पुनर्यद्वदम्यथा दम्यो वत्सतरः पुष्टो वत्सः प्रौढवृषभेण सह विहरति । ‘दम्यो वत्सतरः समौ’ इति हैम्याम् । यद्वच्छब्द इवार्थे । डमरुकमणिवल्लाघण्टान्यायेनोभयत्रापि संबध्यते ॥

प्रीतिर्जिनेषु वृजिनेषु न तस्य जज्ञे

योगं व्यगाहत मनो न कदापि भोगम् ।

अङ्गीचकार विरतिं न रतिं कदाचि-

न्नव्योऽप्यनव्य इव सोऽजनि साधुधुर्यः ॥ २१५ ॥

स हीरहर्षनामा साधुषु यतिषु धुर्यो धुरीणः नव्योऽपि नवदीक्षितोऽपि अनव्यः पुरातन इव बहुकालीनमुनिरिवाजनि संजातः । तदेव दर्शयति—तस्य हीरहर्षमुनेः जिनेषु तीर्थकरेषु प्रीतिः स्नेहस्तत्परता, परं वृजिनेषु हार्दं न जज्ञे । ‘ज्ञेहः प्रीतिः प्रेम हार्दम्’ इति हैम्याम् । तस्य मनः योगं यमनियमाद्यष्टाङ्गलक्षणां सर्वविरतिमङ्गीचकार । पुनः कदापि कस्मिन्नपि क्षणे रतिं चिन्तासक्तिम् । ‘वृद्धास्त्रिव गतप्रायासु वर्षासु रतिमकुर्वाणः’ इति चम्पूकथायाम् । रतिं चिन्तासक्तिमिति तद्विपनके । अथ वा रतिमनुरागं मैथुनादिकं वा ॥

सूरीन्दोः संनिधौ श्रीमान्कुमारश्रमणोऽनिशम् ।

संतानस्य नवोन्निद्रत्पारिजात इवावभौ ॥ २१६ ॥

श्रीमानतिशायिशोभावान् कुमारश्रमणः हीरहर्षसाधुः अनिशं निरन्तरं सूरीन्दोर्विजयदानसूरिचन्द्रस्य संनिधौ पार्श्वे बभौ । क इव । नवोन्निद्रत्पारिजात इव । यथा नवीनो बाल उन्निद्रद्विकस्वरीभवन्कुसुमादिकलितो जायमानः पारिजातो विशिष्टकल्पवृक्षः संतानस्य नात्रो देवहुमस्य समीपे भाति । ‘कल्पः पारिजातो मन्दारो हरिचन्दनः । संतानश्च’ इति पञ्चसु कल्पतरुषु मध्ये कविसमये पारिजातस्यैव प्राधान्यं दृश्यते प्रायः । यथा रघुवंशे—‘तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये । रराज धान्ना रघुसूनुरेव कल्पहुमाणासिन्व पारिजातः ॥’ इति ॥

श्रमणधरणीभर्तुः पादारविन्दनिषेवना-

त्प्रमुदितमना नार्थीदेवीतनूजयतीश्वरः ।

अनुपमशमक्षीराम्भोधौ विलासरसं सृज-

निसतगरुदिवामन्दानन्दं दिनानि निनाय सः ॥ २१७ ॥

स नाथीदेव्यास्तनूजो नन्दनः स एव यतिनां मध्ये । 'यतिश्च यतिनि प्रोक्तः' इति शब्दप्रभेदे । ईश्वरो मुख्यः हीरहर्षमुनीन्द्रो दिनानि शुद्धसंयमविधिना वासरात्रिनाय अतिवाहयामास । अतिक्रामति स्मेत्यर्थः । किंभूतः । श्रमणानां साधूनां भर्तुः स्वामिनो विजयदानसूरैः पादारविन्दनिषेवनया चरणकमलपरिचर्यया कृत्वा प्रमुदितमाह्लादयुक्तं जातं मनो यस्य । किं कुर्वन् । अनुपमो न विद्यते उपमा साम्यं यस्य । साधारण इत्यर्थः । तादृशो यः शमः शान्तरसाकलितपरिणामः स एव क्षीराम्भोधिर्दुग्धजलनिधिस्तन्नामन्दो बहुलआनन्दो यत्रैवं यथा स्यात्तथा विलासरसं क्रीडास्वादम् । आस्वादोऽनुभवने । अथ वा विलासे क्रीडायां रसमनुरागं सृजन् कुर्वन् । 'रसः स्वादे जले वीर्यं शृङ्गारादौ द्रवे विधे । बोले रागे देहधातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । क इव । सितगरु-दिव । यथा सितच्छदो हंसः परमानन्दः सन् क्षीरसमुद्रे विलासरसं जलक्रीडारसं सृजति हंसानां सद्भावः क्षीरसमुद्रेऽपि दृश्यते । यथा स्नातस्यास्तुतौ—'हंसासाहृतपद्म-रेणुकपिशक्षीराणवाम्भोभृतैः' इति ॥

यं प्राप्तुं शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाह्मी क्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽभवत्पञ्चमः ॥ २१८ ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिना व्यावर्णिते वर्णनागोचरीकृते हीरसौभाग्यनाम्नि महा-काव्ये पञ्चमः सर्गः अभवज्जातः ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ श्रीविजयदान-सूरिवन्दनदेशनाश्रवणवैराग्यभवनविमलभगिन्यादिकादेशमार्गणविविधयुक्तिनिषेधनदा-र्ढ्याधिमननपूर्वकादेशप्रदानशृङ्गारभूपादिपरिधानवर्ण्याश्वारोहणतौर्यत्रिकादिमहोत्सवपु-रःसरपुरमध्यप्रस्थानपौराङ्गनाविविधचेष्टनतन्त्रानाप्रकारवार्ताश्रवणोपवनवटहुमवर्णनदी-क्षाग्रहणनामस्थापनविहारादिवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

षष्ठः सर्गः ।

अथ सूरिपुरंदरान्तिके निखिलं वाङ्मयमामनन्नयम् ।

गणधारिसुधर्मसंनिधाविव जम्बूः सुषमामपूपुषत् ॥ १ ॥

अथ दीक्षाग्रहणानन्तरं सूरिपुरंदरस्य विजयदानसूरीन्द्रस्यान्तिके समीपे निखिलं समग्रं वाङ्मयं शास्त्रमामनन् पठन् अभ्यसन् वा । 'आ अभ्यासे' इत्यस्य धातोर्मादेशः

‘पठत्यामनति’ इति क्रियाकलापे । अयं हीरहर्षनामा मुनिः सुषमां सातिशयशो-
भामपूपुषत् पुष्पाति स्म । अधिकं शुशुभे इत्यर्थः । क इव । जम्बूरिव । यथा श्रीमहा-
वीरदेवेनानुज्ञातं गणं साधुगच्छं धरतीत्येवंशीलो यः सुधर्मस्वामी सुधर्मनामा पञ्चमग-
णधरः तस्य संनिधौ पार्श्वे शास्त्रमधीयानो जम्बूस्वामी सुषमां पुषोष ॥

श्रुतमत्र गणीन्दुनामुना निहितं स्फूर्तिमनुत्तरां दधौ ।

इव शुक्तिकसंपुटान्तरे सलिलं स्वातिमिलत्पयोमुचा ॥ २ ॥

अमुना विजयदाननाम्ना गणीन्दुना सूरिचन्द्रेण अत्र हीरहर्षमुनौ निहितं स्थापितम-
र्थोद्ध्यापितं सत् श्रुतं शास्त्रमनुत्तरामसाधारणीं स्फूर्तिं चमत्कारकारितां दधौ धत्ते
स्म । किमिव । सलिलमिव । यथा स्वातिनक्षत्रेण मिलता संगच्छमानेन पयोमुचा मेघेन ।
शुक्तिकयोः संपुटस्यान्तर्मध्ये निहितं जलमद्भुतामद्वैतमुक्ताकारतया स्फूर्तिं विभर्ति ॥

अधिगत्य ततः श्रुतं व्रतिक्षितिभर्तुर्दधिरेऽमुना श्रियः ।

सुरभेः समिरेण सौरभं मलयोर्वीरुहकाननादिव ॥ ३ ॥

अमुना हीरहर्षमुनिना ततस्तस्माद्विजयदानाभिधानाद्व्रतिक्षितिभर्तुः सूरैः सकाशात्
श्रुतं शास्त्रमधिगत्य प्राप्य । ‘अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः’ इति
नैषधे । श्रियः शोभा दधिरे वृताः । केनेव । समिरेणैव । यथा सुरभेर्वसन्तस्य समि-
रेण मलयानिलेन मलयोर्वीरुहाणां चन्दनानां काननाद्वनात्सौरभं सुगन्धितां परिसलं
प्राप्य शोभा प्रियते ॥

स्खलति स्म न कुत्रचिद्वचोरचनास्यागमपारदृश्वनः ।

हृदिनीहृदयेशितुश्चलज्जलकल्लोलपरम्परा किमु ॥ ४ ॥

आगमानां जैनसिद्धान्तानां पारं प्रान्तं दृष्टवानित्यागमपारदृशा तस्य । आगमपारगामिन
इत्यर्थः । अस्य हीरहर्षमुनेर्वचोरचना वाक्चातुरी वचनविलासो वा कुत्रचित्कापि
स्थाने न स्खलति स्म न कुण्ठीभूता । सर्वत्राप्यस्खलितप्रचारैवासीदित्यर्थः । केव । चल-
ज्जलकल्लोलपरम्परेव यथा हृदिनीनां नदीनां हृदयेशितुर्हृदयनायकस्य । ‘हृदयेशा
प्राणसमा’ इत्यादिनामानि स्त्रीभर्त्रोर्भवन्ति । तथा—‘हृदयनायकचक्रिजिनश्रियोः’ इति
ऋषभनम्रस्तवे । प्राणवल्लभस्य समुद्रस्य चलन्ती दिशि दिशि प्रसरन्ती जलानां कल्लो-
लानां तरङ्गानां परम्परा श्रेणी कापि न स्खलति । किमु अत्रेवार्थे ॥

असमानमहा दिनेशवन्मतिमांश्चित्रशिखण्डिपुत्रवत् ।

भटवच्चरणोल्लसन्मना विनयी यो रघुसूनुवद्व्यभात् ॥ ५ ॥

यो हीरहर्षमुनिर्व्यभात् बभौ । किंभूतः । असमानमसाधारणं महः प्रतापो यस्य परैः
परवादिभिः परपार्श्वैः स्वपार्श्वैर्वा असहनीयप्रतापः । किंवत् । दिनेशवत् दिवस-

नायक इव । यथा भास्करः अन्यासद्यप्रतापो भवेत् । पुनः किंभूतः । मतिमान् कुशा-
ग्रतीक्ष्णवुद्धिर्विद्यते यस्य । किंवत् । चित्रशिखण्डिपुत्रवयथा बृहस्पतिरद्वैतप्रज्ञावान्
वर्तते । 'जीवश्चित्रशिखण्डिजः' इति हैम्याम् । तथा 'विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः'
इति नैषधे । विचित्रवाग्विषये चित्रशिखण्डिनन्दनो बृहस्पतिरेवेति तद्वृत्तिः । पुनः
किंभूतः । चरणे चारित्र्ये उल्लसत्प्रोलासेन प्रह्लादेन कलितं मनश्चित्तं यस्य । किंवत् ।
भटवत् । यथा—शूरो रणे संग्रामे उल्लसत्सोत्सुकीभवत्सामिलापं वा जायमानम् । 'विप्र-
हमिच्छन्ति भटा वैद्याश्च व्याधिपीडितं लोकम् । मृतकवहुलं च विप्राः क्षेमसुभिक्षं च
निर्ग्रन्थाः ॥' इति वचनात् । मनो यस्य । च पुनरर्थः । पुनः किंभूतः । विनयी विनयक-
लितः । किंवत् । रघुसूनुवल्लक्ष्मणवत् । 'विनये लक्ष्मणः' इति काव्यकल्पलतायाम् । अथ
वा विशिष्टः शास्त्रागमप्रोक्तो नयो न्यायोऽस्त्यस्मिन्निति । किंवत् । रघुसूनुवद्रामचन्द्र
इव । 'न्याये रामः' इत्यपि काव्यकल्पलतायाम् ॥

गिरिराज इव क्षमाधरो बुधलक्ष्मीं दधद्भ्रमार्गवत् ।

जलजासनवद्भवान्तकृद्भ्रतधुर्यः स महोक्षवद्भूमौ ॥ ६ ॥

स हीरहर्षमुनिर्बभौ भाति स्म । किंभूतः । क्षमां क्षान्तिं निष्क्रोपतां धरतीति । क
इव । गिरिराज इव । यथा हिमाचलः क्षमाधरः पृथ्वीधारकः कुलचलत्वात् । यद्यपि
'कूर्मकुलाचलफणिपतिविश्रुतापि चलति वसुधेयम्' इति सूक्तोक्तः 'हिमालयो नाम
नगाधिराजः' इति कुमारसंभवे मेरुर्वी । मेरोरपि गिरिपतित्वं यथा—'पातालमा-
विशतु यातु सुरेन्द्रलोकमारोहतु क्षितिधराधिपतिं सुमेरुम् । मन्त्रौषधैः प्रहरणैश्च करोतु
रक्षां यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतुः ॥' इति सूक्तावल्याम् । क्षमाधरत्वं तु शैल-
त्वात्कुलगिरित्वाद्वा । पुनः किं कुर्वन् । दधत् धारयन् । काम् । बुधत्वेन चिद्वत्तया
लक्ष्मीं शोभाम् । किंवत् । मार्गवत् । यथा अभ्राणां मेघाणां मार्ग आकाशः । 'सुरा-
भ्रोडुमस्तपथोऽम्बरम्' इति हैम्याम् । बुधस्य चन्द्रपुत्रस्य ग्रहविशेषस्य लक्ष्मीं श्रियं
विभर्ति । 'बुधः सौम्ये कवौ' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतः । भवान्तकृत्संसारोच्छेदकः ।
किंवत् । जलजासनवत् । यथा कमलासनो ब्रह्मा भवान्तकृन्नामास्ते । पुनः किंभूतः ।
व्रते चारित्र्ये धुर्यः पञ्चमहाव्रतभारोद्धारैकधुरीणः । किंवत् । महोक्षवयथा वृषभो धुरं-
धरः स्यात् ॥ इति हीरहर्षगणे पठनसमयगुणवत्त्वम् ॥

तरुणी तपनात्मजन्मनो हरिदास्ते भुवि नाम दक्षिणा ।

किमु कस्यचनापि कोपिनो व्रतिनः स्वर्निपपात शापतः ॥ ७ ॥

भुवि पृथिव्यां तपनात्मजन्मनो भातुनन्दनस्य यमस्य तरुणी गृहिणी हरिद्दिगास्ते ।
किं नाम । दक्षिणा अपाचीनात्रेत्यर्थः । यद्यपि तरुणीशब्देन युवती कथ्यते सामान्येन
गृहिण्या अप्यभिधानं दृश्यते । यथा चम्पूकथायां नलं प्रति प्रहितकिंनरेण सायं किं-
नरीं प्रत्युक्तम्—'अजनि रजनिः किमेतत्तरणिस्तरतीव पश्चिमपयोधौ । घनतरुणि

तरुणि विपिने क्वचिदस्मिन्नेव निवसामः ॥’ इति दिशोऽपि स्त्रीत्वम् । ‘निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्मेहिषी हरित् ।’ तथा ‘वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रुची’ इति पदद्वयमपि नैषधे । तेन इदमपि तद्वत् । उत्प्रेक्ष्यते—कस्यचनाप्यनिर्दिष्टान्नः को-
पिनो रोषवतः प्रतिनस्तापसस्य शापतः शापवशात्स्वः स्वर्गः निषपात उच्चैः स्थाना-
दधोभूमौ झुटित्वा निपतितः इति परशासनकविसमयवर्णनमात्रमेव । यथा कादम्बरीक-
थायां केनापि तापसेन तापसः कश्चित्त्वरितं गच्छन् शप्तः । ‘यतस्त्वं मामवन्दित्वैव तुर-
गवद्गच्छसि ततस्त्वं तुरगो भव ।’ स तथैव जातः । तथा ‘मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्त-
वानस्मि मतङ्गत्वम्’ इति रघौ । परं न जैनं वच इति ॥

वसति स्म घटोद्भवो मुनिर्दिशि यस्यां चिरमुज्झितान्यदिक् ।

किमु शम्बरवैरिविभ्रमैर्युवतीभिर्युववद्विमोहितः ॥ ८ ॥

घटात्कुम्भादुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशो मुनिरगस्तितापसः यस्यां दक्षिणस्यां दिशि
चिरं गलितावधिकालं वसति स्म स्थितिमानजनि किम् । उज्झिता त्यक्ता अन्याः पूर्वा-
दिकास्तिष्ठो दिशो येन । उत्प्रेक्ष्यते—युवतीभिर्दक्षिणाल्यतरुणीभिः शम्बरनाम्नो दैत्यस्य
वैरिणो हन्तुः स्मरस्य । ‘अरी शम्बरशूर्पकौ’ इति हैम्याम् । विभ्रमैर्विलासैर्युववत्तरुण
इव विशेषेण मोहितः । मोहमत्यनुरागं स्नेहातिशयं वा । मोहं मूर्च्छामविद्याम् । यथा
अनेकार्थनाममालायाम्—‘मोहो मूर्च्छाविषयौ’ । ‘मूर्च्छाविद्या । न मुञ्चामः कामानहह
विषमो मोहमहिमा’ इति तदवचूरः । अविद्या अहंमत्यज्ञाने प्रापितः किमु नीत इव ॥

स्मरविष्टपजैत्रश्रितस्त्रितरोदीर्णविनोदविभ्रमात् ।

व्रजतीव कुतूहलीक्षितुं किमु मन्दीभवदङ्घ्रिरंशुमान् ॥ ९ ॥

अंशुमान् सूर्यः इह दक्षिणस्यां दिशि व्रजति । किंभूतः । मन्दीभवन्तः वीक्षणरसा-
द्रमने अत्वरिता जायमानास्तेजोभिः प्रतापैः रहिता वा भवन्तो जायमानाः । ‘दिशि
मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि’ इति रघुवचनात् । अङ्घ्रयश्चरणाः किरणा वा ।
अङ्घ्रिशब्देन किरणा अप्युच्यन्ते । यथा नैषधे—‘साहस्रैरपि पङ्कुरङ्घ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्
भानुमान्’ इति । किंभूतः । कुतूहलं कौतुकमस्यास्तीति । अत एवोत्प्रेक्ष्यते—स्मरस्य
कन्दर्पस्य विष्टपानां त्रयाणां भुवनानां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशान्नाकिनागनागराणां जैत्रश-
स्त्रिताभिर्जयनशीलप्रहरणवदाचरिताभिस्त्रितराभिः प्रधानस्त्रीभिः । ‘रहः सहचरी रा-
जन्नेतामपि स्त्रितरा क्षणम्’ इति नैषधे । स्त्रितरां श्रेष्ठामिति तद्वृत्तिः । ‘ह्रस्वो वा,
स्त्रियां कापि तरादौ च परे ह्रस्वो वा भवति । वेणीका श्रेयसीतरा प्रेयसितरा’ इति
सारस्वते । तथा स्त्रितरा स्त्रीतरा इति । उदीर्णाः स्वभावेन प्रकटीकृता विनोदा हास्य-
क्रीडानृत्यगीतादिका विभ्रमा हावभावविलासाः । अथवा विनोदेन परस्परानन्दक्री-
डाहास्येन विलासास्तानीक्षितुं मोचयितुं किमु व्रजति । दक्षिणदेशविचक्षणनारीमिति
लोकप्रसिद्धिः ॥

शमनस्य मृगीदृशो दिशो मणिमुक्ताफलशालमानया ।

सरितां दयितस्य वेलया विलसन्मेखलयेव दिद्युते ॥ १० ॥

सरितां नदीनां दयितस्य भर्तुः समुद्रस्यार्थादक्षिणोदधेर्वेलया । 'वेल' स्याद्द्विरम्भ-
साम्' इति हैम्याम् । दक्षिणदिशि वेलया दियुते शमनस्य धर्मराजस्य मृगीदृशः
पत्न्याः स्त्रिया दिशो दक्षिणाशया दक्षिणदिङ्मृगीदृशः मणिभिर्विविधरत्नैस्तथा मुक्ता-
फलैर्मौक्तिकैः शालमानया शोभमानया विलसन्त्या आश्लिषन्त्या । 'लस श्लेषणक्रीड-
नयोः' । अयं धातुः । मेखलया काव्येव । 'खगकालकलत्रदिग्भवः' इति नैप्रथे ॥

तिलकं हरितामसावमूं जिनमाणिक्यविभुर्यतः श्रितः ।

किमपाच्यपयोनिधिः स्वनैरिदमावेदयते तरङ्गजैः ॥ ११ ॥

अपाच्यो दाक्षिणात्यपयोनिधिः समुद्रः दक्षिणार्णवस्तरङ्गजैः निजलोलकलोलकला-
पजन्मभिः स्वनैर्गम्भीरनिर्घोषैः इदमस्मिन्नेव काव्ये कथ्यमानमावेदयते । अर्थाल्लोकानां
कथयतीव । [णि]जन्तानां धातूनामुभयपदं स्यात् । तेनात्रात्मनेपदम् । तथा च प्रक्रि-
याकौमुद्याम्—'णिचश्च' । 'णिजन्ताद्वातोरात्मनेपदमपि स्यादात्मगामिति कर्तृकले ।
चोरयति चुरादेर्णिच् । अनेन सूत्रेण णिजन्तत्वे आत्मनेपदे चोरयते तथात्रापीति
बोध्यम् । इदं किम् । यदसौ हरिदक्षिणा दिक् हरितां पूर्वापरोत्तराणां दिशां तिलकं
विशेषकम् । यतः कारणादमूं दक्षिणां दिशं जिनप्रथमस्तीर्थकरः माणिक्यनामा विभुः
स्वामी भरतेन खमुद्रामाणिक्यनिर्मापितस्तन्नामैव माणिक्यस्वामी श्रितः । वैताड्य-
शैलादागत्यात्रैव स्थितिमतानीत् । यत्कारणादगस्तिर्मुनिरप्यमूं दिशं श्रितः । तिस्रो
हरितस्यक्त्वा अत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । इयं तु परसमयानुसारिण्यनुमानमात्रेणैवोक्तिः ।
इति केवलदक्षिणदिक् ॥

अथ तत्र केषांचित्पदार्थानां वर्णनावसरः—

मलयो मलयद्रुमेदुरः शुशुभे यत्र सुमेरुसोदरः ।

शमनस्य विलाससानुमानिव रन्तुं निजदिङ्मृगीदृशा ॥ १२ ॥

यत्र दक्षिणस्यां दिशि मलयो नाम पर्वतः दक्षिणाचलः शुशुभे भाति स्म । किंभूतः ।
उच्चैस्तरत्वेन सुमेरोः काञ्चनाचलस्य सोदरो बन्धुः । सदृश इत्यर्थः । पुनः किंभूतः । मल-
यद्रुमैश्चन्दनतरुभिः मेदुरः पुष्टः । भृत इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—शमनस्य यमस्य निजत्या-
त्मनो या दिग्दक्षिणा हरित्सैव मृगीदृक् हरिणेषणा पत्नी तथा सार्धं रन्तुं विविधं वि-
नोदं विधातुं विलाससानुमान् क्रीडापर्वत इव ॥

मलयो बलिवेश्मवद्भूमौ कलयन्कुण्डलिमण्डलीरिह ।

विशदामृतकुण्डमण्डितो धृतपुंनागबलाहकोत्सवः ॥ १३ ॥

इह दक्षिणस्यां दिशि मलयो गिरिराशाचलो बलिवेश्मवन्नागलोक इव बभौ । किं

कुर्वन् । कुण्डलिनं गन्धशैललोभाच्चन्दनद्रुमान् परिरभ्य स्थितानां नागानां मण्डलीः कलयन् । 'चन्द्रे लाञ्छनता हिमं हिमगिरौ क्षारं जलं सागरे रुद्धाश्चन्दनपादपा विषधरैरम्भोरुहं कण्टकैः' । तथा—'दोजीहा वंकरगया जइ विसहरा न हुंति । ता चंदण तुह छांहडी बहुसजण निवसंति ॥' इति सूक्ते । तथा—'विषमो मलयो हिममण्डलीविष-प्लूत्कारमयो मयोहितः' इति नैषधेऽपि । नागलोकोऽपि नागश्रेणीभिर्भूतः । पुनः किंभूतः । विशदानि निर्मलान्यच्छानि श्वेतानि च यान्यमृतानां नीराणां सुधानाम् । 'अमृतं गगने हृये स्वर्णतोये रसायने । कैवल्ये गोरसे यज्ञशेषे माक्षीकवर्णयोः ॥ सुधायाचितयो रत्ने चन्द्रे च' इत्यनेकार्थतिलकः । कुण्डानि दृषद्वनिप्रजलस्थानानि तैर्मण्डितो भूषितः । पाताले तु नवसंख्याकानि सुधाकुण्डानि सन्तीति कविसमयः । पुनः किंभूतः । धृताः पुंनागाः सुरपर्णिका वृक्षविशेषा येन । पक्षे—पुमानागो वासुकिः सर्पराजो येन । 'धूर्जटिजटाजूट इव पुंनागवेष्टितो वापीपरिसरः' इति चम्पूकथायाम् । पुंनागो वासुकिरिति तद्विषयके । तथा बलाहकानां वकानामुत्सवः सुरतक्रीडागर्भ-प्रसवादियत्र वर्षाकाले हि वकाः क्वापि नीडान् विधाय प्रावृट् उपविशन्ति । 'पावस बक बइठा' इति लोकप्रसिद्धम् । अथ वा बलाहकानां मेधानामुत्सव उन्नमनमत्र । मेघा हि प्रायो गिरिषु सर्वदैव भवन्ति । 'शरत्प्रवासिताः सन्तः पुनस्तत्कमलासये । शैलादौ क्वापि तिष्ठन्ति तपस्यन्त इवाम्बुदाः ॥' इति वचनात् । पक्षे बलाहको नागविशेषः । 'अथ कम्बलाश्वतरधृतराष्ट्रबलाहकाः । इत्यादयः परे नागाः' इति हैम्याम् । तस्योत्सवो महो हर्षोल्लासः । 'बलाहकोऽम्बुदे शैले दैत्ये नागे हयान्तरे । वके च' इत्यनेकार्थतिलकः ॥

मलयो मलयदुसौरभैः प्रतिदिक्षु प्रहितैर्नरैरिव ।

रसिकायितदिग्विलासिनीर्निजभूमौ हयतीव खेलितुम् ॥ १४ ॥

मलयः पर्वतः कर्ता प्रतिदिक्षु समन्तात्सर्वदिशासु । 'आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा' इति सारस्वतव्याकरणे प्रक्रियायां च । प्रहितैः प्रेषितैर्नरैः स्वसेवकपुरुषैरिव । उत्प्रेक्ष्यते—मलयद्रुमाणां श्रीखण्डपादपानां सौरभैः परिमलैः कृत्वा रसिका इवाचरिता इति रसिकायितास्तादृशीर्दिग्विलासिनीर्दिगङ्गनाः । कर्मपदम् । खेलितुं क्रीडां विधातुं निजभूमौ आत्मीयविनोदस्थाने हयत्याकारयतीव ॥

यदुदीतसमीरणः समं प्रसरच्चन्दनसारसौरभैः ।

कटकैर्विजयीव भूपतिर्निखिलाशा अपि पर्यपूरयत् ॥ १५ ॥

यस्मान्मलयाचलादुदीतः प्रकटीभूतः समीरणः पवनः । मलयानिल इति प्रसिद्धः । समं समकालमतिवेगवत्तया चतुर्दिक्प्रसृतत्वाच्चैकसमयमेव निखिलाशाः समग्रा अपि दिशः पर्यपूरयद्याप्नोति स्म । भरति स्मेत्यर्थः । कैः । प्रसरद्भिरवरिलं निःसरद्भिश्चन्दनानां गन्धसारतरुणां सारैः प्रकटैः सौरभैः सुगन्धताभिः परिमलैः । क इव । भूपति-

रिव । जयनशीलो विजयी राजा कटकैः स्वसैन्यैः कृत्वा सकला अप्याशाः पूरयति ॥
इति मलयाचलः ॥

इह शंकरभूमिभृत्सुखंकरमाणिक्यविभुर्विभासते ।

महिषाङ्गदिगङ्गनामुखे किमु माणिक्यमयो विशेषकः ॥ १६ ॥

इह दक्षिणदिशि शंकरनामा यो भूमिशृङ्गा राजा तस्य रोगोपशामकत्वेन सुखंकरः श-
र्मकर्ता माणिक्यनामा विभुः स्वामी विभासते भाति । उद्भेक्ष्यते—महिषः कासरः स
एवाङ्गश्चिह्नं यस्यैतावता महिषवाहनो यमः । ‘दृश्यते खलु बाह्यत्वे वृषस्य वृषवाहनः ।
तथा धार्यत्वे वृषलाञ्छनः । ‘तथा वृषाङ्गोऽपि’ इति हेम्याम् । तथा महिषाङ्गो महिष-
वाहनो यमः तस्य दिग्दक्षिणाशा सैवाङ्गना गृहिणी तस्या मुखे माणिक्यमयो नीलरत्न-
घटितो विशेषकस्तिलक इव ॥

विविधाभरणप्रभाङ्कुरच्छुरिता या जिनमूर्तिरावभौ ।

किमशेषयशःप्रशस्तिका प्रथमार्हत्तनुजन्मचक्रिणः ॥ १७ ॥

या माणिक्यस्वामिनो मूर्तिः प्रतिमा आवभौ । किंभूता । विविधान्यनेकप्रकाराणि या-
न्याभरणान्यलंकारास्तेषां प्रभाणां कान्तीनामङ्कुराः प्ररोहास्तैश्छुरिता व्याप्ताः । ‘चन्द-
नच्छुरितं वपुः’ इति पाण्डवचरित्रे । उद्भेक्ष्यते—प्रथम आद्योऽहंस्तीर्थकरो वृषभदेव-
स्तस्य तनुजन्मा नन्दनः स एव चक्री । एतावता भरतचक्रवर्ती तस्याशेषाणां समग्राणां
यशसां दिग्विजयसंघपतिभवनप्रमुखधर्मकर्मकरणोद्भूताद्भुतकीर्तीनां प्रशस्तिका किमु
लिखिताक्षरमालिकेव ॥ इति माणिक्यस्वामी ॥

अपि पार्श्वजिनान्तरिक्षकाभिध उच्चैः स्थितिकैतवादिह ।

किमु लम्भयितुं महोदयं भविनां भूवलयात्प्रचेलिवान् ॥ १८ ॥

अपि पुनरर्थे । इह दक्षिणस्यामाशायामन्तरिक्ष इत्यभिधा नाम यस्य सोऽन्तरिक्षका-
भिधः पार्श्वनामा जिनस्तीर्थकरः । एतावता श्रीअन्तरिक्षपार्श्वनाथः उच्चैरन्तरिक्षे गगने
या स्थितिः वसनस्थानं तस्याः कैतवान्मिषाद्भूवलयात्क्षोणीमण्डलात्प्रचेलिवान् प्रस्थितः ।
उद्भेक्ष्यते—भविनां स्वभक्तभव्यजन्तूनां महोदयं लोकाप्रस्थानं मोक्षं लम्भयितुं किमु
प्रापयितुमिव प्रचलितः ॥

फणभृद्भगवन्निभालनादनुभूताहिविभुत्ववैभवः ।

स्पृहयन्सुवनद्वयीशतां फणदम्भाद्भजतीव यं पुनः ॥ १९ ॥

फणभृन्नागेन्द्रः फणदम्भात्स्फटाकपटात्पुनर्द्वितीयवारं [यमन्तरिक्षपार्श्वनाथम्] । उद्भे-
क्ष्यते—भजतीव श्रितवानिव । किंभूतः । भगवतः कमवतापसपञ्चाग्निसाधनाध्यवसा-
यसमानीतार्थनिर्दग्धविदारितदारुमध्यविनिर्गतसामिप्रज्वलितशरीरसर्पस्य श्रीमत्पार्श्वना-
थस्य प्रत्यक्षतो निभालनादर्शनानुभावादनुभूतः प्राप्तः अहीनां नागदेवानां विभुत्वं

स्वामिता धरणेन्द्रभावस्तस्य वैभवः संपद्येन सः । एकस्य नागलोकस्यैश्वर्यं प्राप्तोऽपि पुनर्मुवनद्वय्याः क्षोणीमण्डलखर्गलोकद्वयस्येशतां स्वामित्वं स्पृहयन् । एतावता समं त्रैलोक्येशतां काङ्क्षन्निवेत्यर्थः ॥ इत्यन्तरिक्षपार्श्वनाथः ॥

करहेटकपार्श्वनायको दिशि यत्रास्ति पुनः प्रभाववान् ।

न जहाति कदापि यत्पदं किमु तस्यैव समीहया फणी ॥ २० ॥

पुनरन्यतीर्थविर्भावने । यत्र दक्षिणस्यां दिशि स जगद्विख्यातः करहेटकनामनि पुरे करहेटक इति नाम यस्य तादृशः पार्श्वनायकः । एतावता 'करहेडो' पार्श्वनाथः इत्यर्थः । अस्ति जागर्ति । किभूतः । प्रभाववान् अतिमाहात्म्यकलितः । यत्पदं यस्य करहेटकपार्श्व-नाथस्य चरणं कदापि कस्मिन्नपि समये फणी नागेन्द्रो न जहाति न मुञ्चति । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यैव तस्य प्रभोः पदं स्थितिस्थानं मोक्षलक्षणं तीर्थं करपदवीं वा तस्यैव समीहया किमु स्पृहयेव ॥

विभवैः सह माधवादयः प्रतिवर्षं यमुपेत्य भेजिरे ।

किमिदं गदितुं तनूमातां मरुतामप्ययमेव देवता ॥ २१ ॥

माधवादयः कृष्णप्रमुखाः सर्वे देवाः प्रतिवर्षं संवत्सरं संवत्सरं प्रति दीपालिकादिवसे इत्यर्थादवसेयम् । विभवैः सह खल्वभक्तलोकपात्रवाद्यादिभिः ऋद्धिभिः सार्धं उपेत्य समीपे समेत्य श्रीकरहेटकाख्यपार्श्वनाथं भेजिरे । आत्मीयात्मीयसेवककृतनृत्यगीतवाद्यमान-वादित्रादिभक्तिभिः सिषेविरे । अद्याप्येवमेव दृश्यमानमस्तीति । उत्प्रेक्ष्यते—तनूमातां कलिकालजातसर्वजगज्जन्तूनामिदमत्रैव वक्ष्यमाणं गदितुं किमु कथयितुमिव । इदं किम् । तदेवाह—यदयं श्रीपार्श्वनाथो मरुतामस्मत्प्रमुखाणां समग्रगीर्वाणानां देवता अस्माकमप्ययमेवाराध्यस्ततो देवाधिदेवः स्वयमेव नास्मत्प्रमुखाः सुरा इति ॥ इति श्रीकरहेटकपार्श्वनाथः ॥

इह जीवत आदिमप्रभोरपि सोपारकनामपत्तने ।

प्रतिमा प्रतिभासते सतां वृषकोशः प्रकटः किमार्षभे ॥ २२ ॥

अपि पुनरिह दक्षिणस्यां जीवतः प्राणान् धारयतः । विद्यमानस्येत्यर्थः । आदिमप्रभोः प्रथमतीर्थकरस्य ऋषभदेवस्य । जीवत्स्वामिन इत्यर्थः । प्रतिमा मूर्तिरार्षभेर्भरतचक्रिणः प्रकटः स्पष्टो जगज्जननयननीयमानो वृषकोशः पुण्यभाण्डागारः किमु सतां सज्जनानां प्रतिभासते हृदये स्फुरति । कस्मिन् । सोपारक इति नाम यस्य तादृशे पत्तने पुट-भेदने ॥ इति जीवत्स्वामी ॥

दिशि विभ्रति यत्र भूभृतः श्रियमभ्रंकषशृङ्गसङ्गिनः ।

किमु शक्रभयद्रुताः श्रिताः कुलशैला जिनमन्तरिक्षकम् ॥ २३ ॥

यत्र दक्षिणस्यां दिशि भूभृतोऽनेके शैलाः श्रियं शोभां विभ्रति धारयन्ति । किं-

भूताः । अत्रमाकाशं कषन्त्युल्लिखन्ति घर्षयन्तीत्यभ्रं कषाणि । गगनालिङ्गीनीत्यर्थः । शृ-
ङ्गाणि शिखराणि तेषां सहो विद्यते येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनो विद्वेषी शत्रुः
इन्द्रस्य भयेन विद्वृताः पलायिता नद्याः सन्तः अन्तरिक्षकं श्रीअन्तरिक्षनामानम् ।
स्वार्थे कः । जिनं जगन्नाथं श्रिताः सेवमानाः कुलाचलाः किमु मन्दरहरगिरिप्रमुखाः
पर्वता इव ॥

विपिनानि पदे पदे मुदं ददते यत्र विलासशालिनाम् ।

स्फटिकाचलमूर्धनीव यद्विजितं चैत्ररथं हिया ययौ ॥ २४ ॥

यत्रापाच्यां दिशि विपिनानि विस्मेरद्विविधवृक्षलक्षकमनीयानि वनानि पदे पदे
स्थाने स्थाने मुदं हर्षं ददते विश्राणयन्ति यच्छन्ते । केवाम् । विलासेन लयादिभिः
समं पुष्पावचयासवपानगीतवृत्त्यनिधुवनादिविनोदेन विविधक्रीडया शालन्ते शोभन्ते
इत्येवंशीलाः । तरुणीसखतरुणा इत्यर्थः । तेषाम् । यैर्वनैर्विजितं स्वशोभया पराभूतं
सचैत्ररथं धनदवनम् । उत्प्रेक्ष्यते—हिया लजया कृत्वा स्फटिकाचलमूर्धनि कैलासशि-
खरशिरसि । 'रजताद्रिस्तु कैलासोऽष्टापदः स्फटिकाचलः' इति हैम्याम् । ययौ
गतमिव ॥

सरितो दिशि यत्र निम्नगोत्यपवादं व्यपनेतुमात्मनः ।

स्थितवत्य उपेत्य सेवितुं किमपाचीगृहनाभिसंभवम् ॥ २५ ॥

यत्र याम्यां दिशि हरिति सरितोऽनेका नद्यः उपेत्यागत्य स्थितवत्यः न्यवसन् । स्थिता
इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अपाच्यां दक्षिणस्यां दिशि गृहं स्थानं वसतिर्यस्य तादृशं नाभेनृ-
पात्संभव उत्पत्तिर्यस्य ऋषभदेवं माणिक्यस्वामिनमथवा सोपाकरकपतनाधीशजीवत्स्वा-
मिनम् । आदिदेवमित्यर्थः । सेवितुं स्थितवत्य इव । किं कर्तुम् । आत्मनः स्वस्य निम्नं
गच्छन्तीति निम्नगा नीचगामिनीत्यपवादं निन्दामपयशो वा व्यपनेतुमपाकर्तुम् ॥

पिबतान्मुनिरेष नोऽपि मा पतिवत्पर्वतजा भयादिति ।

दिशि यत्र समेत्य संश्रिता इह जीवद्वृषभाङ्गपारगम् ॥ २६ ॥

(इति पाठान्तरम्)

यत्र दक्षिणस्यां दिशि पर्वतजा नद्यः । उत्प्रेक्ष्यते—इति भयादिव समेत्यागत्य जी-
वद्वृषभाङ्गपारगं विद्यमानवृषभाङ्गपारगं जिनम् । जीवत्स्वामिनमित्यर्थः । इति किम् । एष
मुनिरगस्तिः पतिवत्समुद्रमिव नोऽस्मानपि मा पिबतात् । अगस्तिर्मुनिर्भगवांस्तु मुनी-
श्वरोऽस्ति । अतः श्रयणं भयापहम् । इति पाठान्तरे ॥ इति गिरिवननद्यः ॥

मणिकाञ्चनकल्पनन्दनैर्विबुधैः श्रीहरिभिः सजिष्णुभिः ।

इह देवगिरेरिव श्रियं कलयन्देवगिरिर्विरोचते ॥ २७ ॥

इह दक्षिणस्यां दिशि देवगिरिर्नाम नगरं विरोचते भाति । उत्प्रेक्ष्यते—देवगिरे-

मेरोः श्रियं शोभां कलयन् दधत् । 'मेरुमस्तके हि स्वर्गोऽस्ति' इति कविसमयः ।
 'वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्गादमराद्रिरागताम् । धनरत्नकपाटपक्षतिः परिरभ्यानुन-
 यन्नुवास याम् ॥' इति नैषधे । तेन मेरौ स्वर्गधर्मारोपणे न दोषः । कैः कृत्वा । मणिभी
 रत्नैः काञ्चनैः सुवर्णैः कल्पैः सदाचारैः कल्पवृक्षैश्च । नन्दनैः पुत्रैः नन्दनवनेन च । एते
 धर्मास्तु मेरौ । अथ स्वर्गधर्माः । विबुधैर्विविधैर्विशिष्टैर्वा बुधैः विशारदैः देवैश्च श्री-
 युक्ताः शोभाकलिता हरयः तुरगा गजा वा यत्र । पक्षे लक्ष्म्या संयुतो हरिर्विष्णुर्यत्र
 सहजिष्णुभिर्जयनशीलैर्महैर्वर्तते । पक्षे सहजिष्णुना पुरंदरेण विद्यन्ते ये ते ॥

क्वचिदिन्दुमणीमिथोमिलद्बहलोद्द्योतनिकेतकैतवात् ।

ध्रुववासविधानकाङ्क्षिणी वसति स्वैरमिवात्र पूर्णिमा ॥ २८ ॥

अत्र देवगिरिनगरे ध्रुवः शाश्वतो यो वासः स्थितिर्वसनं तस्य यद्विधानं निर्माणं त-
 त्काङ्क्षति अभिलषतीत्येवंशीला । उत्प्रेक्ष्यते—खैरं त्वेच्छया पूर्णिमा पूर्णचन्द्रा राका-
 तिथी रात्रिरूपा वसति तिष्ठतीव । कस्मात् । क्वचित्कुत्रापि स्थाने इन्दुमणीनां चन्द्र-
 कान्तरत्नानां मिथः परस्परं मिलन्नेकीभवन् यो बहलो निविड उद्द्योतः प्रकाशो येषां
 तादृशानां निकेतानां गृहाणां कैतवाच्छलात् । 'शङ्के स्वसंकेतनिकेतमाप्ता' इति नैषधे ॥

अपि नीलमणीनिकेतनच्छलभूलायमुदित्वरैः करैः ।

द्विषतेव विवस्वता पुरीं शरणीकृत्य युयुत्सु लक्ष्यते ॥ २९ ॥

अपि पुनः कुत्र चन्दनप्रदेशे नीलमणीनिबद्धानां निकेतनानां मन्दिराणां छलं कपटं
 यस्य । [नीलमणीनां मन्दिराणि क्वापि दृश्यन्ते । यथा नैषधे—'नृपनीलमणीगृहत्विषामुप-
 धेयैश्च भयेन भास्वतः । शरणार्थमुवास वासरेऽप्यसदादृत्तुदयत्तमं तमः ॥' इति ।] तादृशं
 भूच्छायमन्धकारमुदित्वरैरुच्चैरुद्यद्भिर्निर्गच्छद्भिः करैः किरणैर्हस्तैश्च । उत्प्रेक्ष्यते—द्विषता
 स्ववैरिणा विवस्वता सूर्येण सार्धम् । 'मित्रो ध्वान्तारातिरब्जांशुहस्तः' इति हैम्याम् । यथा
 हि । 'ध्वान्ते रविचन्द्रदीपका वैरिणो वर्ण्यन्ते' इति कविकल्पलतायाम् । युयुत्सु यो-
 दुस्मिच्छु इव लक्ष्यते । अर्थान्नैर्ज्ञायते । दृश्यते संग्रामं चिकीर्षुः तावदुच्चैःकरः स्यात् ।
 महतः कस्यापि पार्श्वे गृहीत्वा महस्विना समं संग्रामो विधीयते । अयं शास्त्रविधिः ।
 अत एव किं कृत्वा पुरीं देवगिरिनगरीं शरणीकृत्य स्वाश्रयां(यं) विधाय ॥ इति देव-
 गिरिनगरम् ॥

नगरे नगरन्ध्रकृद्युतो नितरां दिद्युतिरेऽत्र नागराः ।

मरुतां तनुगर्वस्वर्वाकृतये विश्वकृता कृता इव ॥ ३० ॥

अत्र देवगिरौ नगरे पुरे नागराः पौरयुवानो नितरामतिशयेन दिद्युतिरे विभान्ति
 स्म । किंभूताः । नगस्य क्रौञ्चाचलस्य रन्ध्रं छिद्रं करोतीति नगरन्ध्रकृत्स्वामिकार्तिकस्व-
 द्बद्धशुत्कान्तियेषाम् । 'पाशदीधितिकरद्युतिद्युतः' इति हैम्याम् । 'सनगरं नगरन्ध्रकरोजसः'
 इति रघौ । 'स्कन्देन बाणैः कृत्वा क्रौञ्चाचलः सच्छिद्रो विहितोऽस्तीति' पट्टिकायाम् ।

तथा । 'स्कन्देषुवृन्दनिवरैर्विवरीतुकामः कौञ्चाचलः' इति नैषधे । स्वामिकार्तिकशरराशि-
कृतविवरैरिष्टद्वैरिति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—मरुतां देवानां तनूनां गर्वः शरीरसौन्दर्या-
तिशयाभिमानः तस्य खर्वता कुब्जीकरणत्वं नीचैः कारिता तिरस्कारकत्वं तस्य कृतये
कार्यार्थं विश्वकृता जगत्सृष्टिविधायिना ब्रह्मणा कृताः स्वयं निष्पादिता इव ॥

रतिक्रान्तकलावहेलि यत्तरुणानां तनुरामणीयकम् ।

स्पृहयन्त इवात्मजन्मनो निकटेऽहर्निशमासते सुराः ॥ ३१ ॥

सुरा देवा आत्मजन्मनो ब्रह्मणः । 'नाभिपद्मात्मभूरपि' इति हैम्याम् । निकटे स-
मीपे अहर्निशं नित्यमासते तिष्ठन्ति । 'आसते शतमधिकिति भूपास्तोयराशिरस्ति ते
खलु कूपाः' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—यत्तरुणानां देवगिरिनगरवयस्थानागराणां रतिक्रान्त-
स्तस्य स्मरस्य कलां रूपशोभालक्षणां । अथ वा भावप्रधाननिर्देशात्कलत्वं मनोज्ञतामव-
हेलयत्येवंशीलं तनूनां शरीराणां रामणीयकं सौन्दर्यं स्पृहयन्तः इव अर्धादभ्यर्थयन्त
इव ॥ इति देवगिरिनागराः ॥

प्रतिपञ्चमुखं द्विषं व्ययीकृतसर्वास्त्रतया निरायुधः ।

अकरोदिदमङ्गनामिषादिव हेतीः शतशः स्मरः पुनः ॥ ३२ ॥

स्मरः कामः इदमङ्गनानां देवगिरिनागरीणां मिषात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—शतशः
बहूनि शतानि हेतीः प्रहरणान्यकरोदिव चकार । किंभूतः स्मरः । द्विषं स्ववैरिणं प-
ञ्चमुखमीश्वरं प्रति । 'पञ्चमुखोऽष्टमूर्तिः' इति हैम्याम् । व्ययीकृतानि संप्राप्ते क्षिप्तानि
सर्वाणि समस्तान्यन्नाण्यायुधानि येन तत्त्वेन । मुखं मुखं प्रत्येकैकं बाणं क्षिप्तम् । एवं
पञ्चानामपि शराणां क्षेपान्निरायुधीभूतः शस्त्ररहितो जातः ॥

स्वपदाभिकुम्भसंभवं तपसः पातयितुं मरुद्व(त्त्व)ता ।

इदमिन्दुमुखीमिषादिह प्रहिताः स्वर्गिमृगीदृशः किमु ॥ ३३ ॥

मरुद्व(त्त्व)ता इन्द्रेण इदमिन्दुमुखीनामस्य देवगिरिनगरस्य चन्द्राननानां नागराणां
मिषाद्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—इह दक्षिणस्यां दिशि स्वर्गिमृगीदृशः अप्सरसः किमु प्र-
हिताः प्रेषिता इव । किं कर्तुम् । स्वपदमिन्द्रपदवी देवलोकैश्वर्यं तस्याभिकं तपसा का-
मयितारं कुम्भसंभवमगस्तिं तापसं तपस उपवासादिकष्टकरणात्पातयितुं भ्रंशयितुम् ।
इदं तु शैवशासनानुयायि वचो न जैनपरम् । कविसमयानुगामित्वादुक्तमित्यभ्यूह्यम् ॥

जलकेलिगलद्विलेपनीकृतगोशीर्षविलोचनाञ्जनैः ।

पुरि पद्मदृशः प्रकुर्वते गृहवापीर्विधुमण्डलीरिव ॥ ३४ ॥

पुरि देवगिरिनगरे पद्मदृशः कमललोचनाः स्त्रियः गृहवापीर्जलभवनविलासदीर्घिका
विधुमण्डलीः शशिविम्बानीव प्रकुर्वते । मण्डलशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु । 'कुवलयमृणालम-
ण्डलाः' इति लिङ्गानुशासने । मण्डलः, मण्डलम्, मण्डली । तथा च नैषधे—'शुद्धा सु-

धादीधितिमण्डलीयम्' इति । कैः । जलकैलिषु सलिलक्रीडासु गलद्भिर्जलसंगमात् इ-
वीभूय निष्पतद्भिः । विलेपनीकृतैरङ्गरागतां प्रापितैर्गोशीर्षैश्चन्दनद्रवैस्तथा विलोचनानां
नेत्राणामञ्जनैः कज्जलैः । कृत्वा चन्दनद्रवानुषङ्गात्सलिलानामौज्ज्वल्यं तथा कुत्रचिच्छा-
ञ्छनस्थाने कज्जलकालिमा जायते इति शशाङ्कसादृश्यम् ॥ इति देवगिरिनगराङ्गनाः ॥

पुरि तत्र निजामसाहिनाजनि राज्ञा रघुसूनुनीतिना ।

तदुपात्तदिशा महस्विना विदधे येन यमोऽपि दण्डभृत् ॥ ३५ ॥

तत्र तस्यां पुरि देवगिरिनगर्यां निजामसाहिरिति नाम यस्य तादृशेन राज्ञा नृपेण
अजनि जज्ञे । किंभूतः । रघुसूनुः रामचन्द्रस्तद्वन्नीतिन्यायो यस्य । येन महस्विना प्रबल-
प्रतापवता निजामसाहिना यमः सूरसूतोऽपि दण्डं राजदेयांशं वेत्रयाष्टिं वा विभर्ताति
दण्डभृत् विदधे । दण्डदाता प्रतीहारो वा कृत इत्यर्थः । किंभूतेन येन । तस्य यमस्य
उपात्ता गृहीता स्वायत्तीकृता दिग्दक्षिणा हरिधेन । 'यमः कृतान्तः पितृदक्षिणाशाप्रे-
तात्पतिर्दण्डधरोऽर्कसूनुः' इति हैम्याम् ॥

समरे निहतारिनिष्पतद्दुधिराहासवपानकाङ्क्षया ।

यदसिच्छलतः स्फुटीकृता रसनेवाम्बुजबन्धुसूनुना ॥ ३६ ॥

यस्य निजामसाहेरसिः खङ्गलता तस्य छलतः कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—अम्बुजानां प-
द्मानां बन्धुर्मित्रं सूर्यस्तस्य सूनुना पुत्रेण यमेन रसना जिह्वेव प्रकटीकृता । कया । समरे
अर्धान्निजामसाहेवैरिभिः समं संग्रामे निहता व्यापादिता येऽरयो वैरिवीरास्तेषां निष्प-
तन्ति शरीरान्निःसरन्ति यानि रुधिराणि तान्येवाह्वा नाम यस्य तादृश आसवः सीधुदे-
शविशेषजा मदिरा राजादीनां पानयोग्या न विकलताकृत् । सोऽधुना द्वीपबन्दिरादौ
'सरसक' इत्युच्यते । तस्य पानं तस्य काङ्क्षया वाञ्छयेव ॥

महसां निवहे महीशितुर्विपिनेऽपि स्फुरितेऽतिदुःसहे ।

दवधीविधुरास्तदाश्रयाः प्रतिपक्षाः सरसीर्जगाहिरे ॥ ३७ ॥

महीशितुर्निजामसाहेर्महसां प्रतापानां निवहे समूहे । 'स राशिरासीन्महसाम्' इति
नैषधे । महसां भूयसः प्रतापानामिति तद्वृत्तिः । विपिने अरण्येऽपि स्फुरिते प्रकटीभूते
सति तदेव विपिनमाश्रयः स्थानं येषामरण्यस्थायिनः प्रतिपक्षास्तद्वैरिणः दवधीविधुरा
वने दावानलोऽयं लग्न इति बुद्ध्या व्याकुलीभवन्तः सन्तः । 'देव त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गी-
र्णप्रतापानलज्वालापक्किमकीर्तिपारदघटीविस्फोटिता बिन्दवः' इति खण्डप्रशस्तौ । प्रता-
पस्य वह्निरूपत्वम् । सरसीर्महातटाकान् महत्सरः सरसीर्जगाहिरे अवगाहितवन्तः ।
स्वप्रज्वलनभयेन सरसीषु प्रविष्टा इत्यर्थः । किंभूते निवहे । अतिशयेन दुःखेन सद्यते
इत्यतिदुःसहे सोढुमशक्ये । इयमत्र गर्भितोत्प्रेक्षा ॥

अहिता अमुना पराहता वनवासाः शबरा इवाभवन् ।

अबला इव वातवेपितादपि पत्राद्विपिनेऽपि बिभ्यरे ॥ ३८ ॥

अमुना निजामसाहिना पराहताः संग्रामे परिभूता अहिता वैरिभूपालाः शबरा भि-
ल्ला इव । 'इति शबरवधूभिस्तत्कर्ममाणान्यवापुः सपदि विपुलविन्ध्यस्कन्धमध्ये बलानि'
इति चम्पूकथायाम् । शबरवधूभिर्भिल्लीभिरिति तद्विष्पनके । वने वासो वसनं स्थिति-
येषां तादृशा अभूवन् जाताः । अपि पुनर्भीतिविद्रुताः सन्तः भयाकुलिता वा विधिने
वनेऽपि वातवेपितान्मारुतान्दोलितात्पत्रात्पर्णादपि आगतोऽस्मत्पृष्ठे शत्रुरिति धिया अ-
बला निःसत्त्वा इव स्त्रिय इव वा विभियरे महाभयमलभन्त । भीताः पलायन्ते स्मेत्यर्थः ॥
इति देवगिरिखामिनिजामसाहिः ॥

अथ तत्पुरि देवसीत्यभूदभिधानेन वणिक्पुरंदरः ।

विधिनास्य यशःप्रशस्तयोऽम्बरपट्टे लिखिता इवोडवः ॥ ३९ ॥

अथेति दिगादिनृपवर्णनानन्तरम् । अथ वा या श्राद्धीहीरगणिस्तत्र द्विजपार्श्वे पठतो
ब्रह्मादिदायिनी भाविनी तद्वम्पत्योर्वर्णनारम्भः । 'अथ अथो समुच्चये मङ्गले संशयार-
म्भाधिकारान्तरेषु च' इत्यनेकार्थः । तस्यां पुरि सा चासौ पूश्च तत्पूस्तस्यां तत्पुरि देव-
गिरिनगरे । देवसीत्यभिधानेन नाम्ना वणिजां नैगमानां मध्ये पुरंदरः श्रेष्ठः अभूत्संजातः ।
उत्प्रेक्ष्यते—विधिना ब्रह्मणा अस्य देवसीव्यवहारिणो यशःप्रशस्तयः कीर्तिवर्णनमयाक्ष-
रमालिका अम्बरमाकाशरूपः पट्टस्तस्मिन् लिखिता उत्कीर्णा इव । प्रशस्तयः काः । उडव-
स्तारका एव । तारकस्वरूपेण वा प्रशस्तिवर्णाः । 'ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत
तत्सखीजनः' इति नैषधे । 'जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः' सत्यः श-
तशोऽप्सरसः सुराङ्गना अवतीर्य आकाशादागत्य यां नगरीं कुण्डिनपुरमध्यासताश्रयन्ति
स्य । अप्सरसः कस्तत्सखीजनो दमयन्त्या वयसीजनरूप इत्यर्थः । इति तद्वदिदमपीति ॥

सुरयौवतजैत्रकान्तियद्युवतीसंगमरङ्गिमानसः ।

वपुरस्य दधत्सुधाशनः किमु कोऽप्यत्र पुरेऽवतीर्णवान् ॥ ४० ॥

अत्र देवगिरौ कोऽप्यनिर्दिष्टनामा सुधाशनो देवः । उत्प्रेक्ष्यते—अवतीर्णवान्किमु ।
अवतारं गृहीतवानिव । किं कुर्वन् । अस्य देवसीव्यवहारिणः वपुः शरीरं दधत् वि-
भ्राणः । किंभूतः । सुधाशनः सुराणां देवानां यौवतस्य युवतीसमूहस्य जैत्रा जयनशीला
कान्तिः शोभा यासां तादृशीभिर्भ्यस्य नगरस्य युवतीभिस्तहणीभिः समं संगमे रङ्गो रा-
गोऽस्यास्मिन्वा । 'रङ्गो नृत्ययुद्धयोः । रागे च' इत्यनेकार्थः । तादृज्ज्ञानसं मनो यस्य ॥

कमनः कमनात्प्रसेदुषः सह सारङ्गदशोपशीलितात् ।

भव साङ्ग इतीव तन्निभाद्वरमाप्याजनि मूर्तिमानिह ॥ ४१ ॥

कमनः कामस्तन्निभादेवसीच्छलात् । उत्प्रेक्ष्यते—इह देवगिरौ मूर्तिमान् शरीरयुक्त
इवाजनि संजातः । किं कृत्वा । सारङ्गदशा सह स्वप्रियया रत्या सार्धम् । उपशीलितात्स-

१. अयं नैषधीयसंवाद उत्तरश्लोकयोग्यः, अत्र श्लोकेऽवतारबोधकपदाभावात्.

मीपं समेत्यातिशयेन सेवितादत एव प्रसेदुषः प्रसन्नीभूतात्कमनाद्विधातुः । 'कमनः क-
लाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः' इति कन्दर्पनामानि । तथा । 'कमनः सार्विक वेदगर्भाः' इति
विधातुर्नामानि । इदं द्वयमपि हैम्याम् । सकाशादित्यमुना प्रकारेण वरमिष्टामिलाषसि-
द्धिमाप्न्य लब्ध्वा । इति किम् । यत् हे स्मर, त्वं साहो भव अस्मत्प्रभावात्सशरीरः संप-
द्यसेति ॥ इति देवसीव्यवहारी ॥

अदसीयविलासवत्यभूजसमादेव्यभिधानधारिणी ।

विधिना प्रहितेव वर्णिका त्रिदिवस्त्रैणदिदक्षुभूस्पृशाम् ॥ ४२ ॥

अदसीया देवसीव्यवहारिसंवन्धिनी । 'मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः' इति
नैषधे । विलासवती गृहिणी जसमादेवीत्यभिधानं नाम धरत्येवंशीला धारिणी अभूत्सं-
जाता । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिदिवस्य स्वर्गलोकस्य स्त्रैणं देवाङ्गनावर्गं द्रष्टुमिच्छवो दिदक्षव-
स्तादृशा भूस्पृशो मानवास्तेषां कृते विधिना ब्रह्मणा वर्णिकेव प्रहिता भूसौ प्रेषिता ॥

कमलान्मधुपानुषङ्गिनः सितकान्तेरुदयास्तदूषितात् ।

कमलाव्धिशयालुकेशवादतिखिन्नेव तमेत्य भेजुषी ॥ ४३ ॥

कमला लक्ष्मीरेत्यागत्य तं देवसीव्यवहारिणं भेजुषी सेवते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अति-
खिन्नेव अतिशयेन खेदं प्राप्तवतीव । कस्मात् । कमलाद्वासपद्यात् । किंभूतः । मधु-
पैर्मध्वपैः पट्पदैर्वा अनुषङ्गो मिलनं यस्य । पुनः कस्मात् । सितकान्तेश्चन्द्रात् । किंभूतात् ।
उदयेन स्तोकस्तोकद्रुमेन अस्तेन नाशेन दिने दिने मरणेन क्षीयमाणशरीरतया च दू-
षितादुष्टीकृतात् । संतापितादित्यर्थः । अर्थौ समुद्रे पञ्चविषयभोगसुखानुभवनसमयप-
योधरकाले शयालोर्निद्राशीलात् केशवात्स्वभर्तुर्नारायणात् । उद्विभेत्यर्थः ॥

वृषभध्वजगोधिलोचनानलक्रीलाशलभं स्ववलभम् ।

अवगत्य रतिः परं जनुर्निभतोऽस्याः प्रतिपेदुषी किमु ॥ ४४ ॥

रतिः स्मरकान्ता अस्या जसमादेव्या निभतो व्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—परमन्यजन्मा-
वतारं प्रतिपेदुषी किमु प्रतिपन्नेव । किं कृत्वा । वृषभध्वजः शंकरः । 'धार्या ध्वजास्त्रपा-
ण्यङ्गशौलिभूषणभृन्निभाः' इति हैमीवचनात् । वृषभस्य धार्यत्वेन शंभोर्वृषभध्वजत्वम् ।
तस्य गोधिर्भालम् । 'भाले गोध्यलिकालीकाः' इति हैम्याम् । तस्य तत्र वा यल्लोचनं
तृतीयं नयनं तस्यानलो वह्निस्तस्य कीलासु ज्वालासु शलभं पतङ्गम् । भस्मीभूतमित्यर्थः ।
वल्लभं निजजीवितेशं काममवगत्य ज्ञात्वा ॥

अनया निजरूपसंपदाभिभवं लम्बितया श्रिया किमु ।

जलधौ विमनायमानया दयितोपास्तिनिभादगम्यत ॥ ४५ ॥

अनया जसमादेव्या निजस्यात्मनो निजया आत्मीयया वा रूपसंपदा शरीररामणी-
यकवैभवेन अभिभवं पराजयं लम्बितया प्रापितया श्रिया हरिप्रियया । उत्प्रेक्ष्यते—

विमनायमानया विरुद्धमनस्कीभवन्त्या लज्जाखेदचिन्तादुःखोदयमनुभवन्त्या । 'चिराय तस्थे विमनायमानया' इति नैषधे । 'भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हलः' । 'भृशादिभ्यो भुव्यर्थे भवत्यर्थे क्यङ् स्यात् । न तु च्व्यन्तेभ्यः अन्तहल् लोपश्च । अभृशो भृशो भवतीति भृशायते । नोन्मना उन्मना भवतीत्युन्मनायते' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा न विमना विमना भवतीति विमनायते इति विमनायमाना तथा विमनायमानया सत्या दयितोपास्तिभिर्भासमुद्रशायिनः कान्तकृष्णस्य सेवाकपटाञ्जलधौ समुद्रे अगम्यत गता । बूढितेत्यर्थः ॥ इति जसमादेवी ॥

युवसंमदकन्दलीघनैः कमलानन्दनकेलिशीलनैः ।

त्रिदशाविव दम्पती सुखं वसतस्तौ त्रिदिवोपमे पुरे ॥ ४६ ॥

तौ दम्पती जसमादेवीदेवसीव्यवहारिणौ पुरे देवगिरिनगरे सुखं यथा स्यात्तथा वसतस्तिष्ठतः । किंभूते पुरे । त्रिदिवस्य देवलोकस्य उपमा सादृश्यं यस्य । तौ काविव । त्रिदशाविव । यथा देवीदेवौ त्रिदिवे स्वर्गे सुखं वसतः । देवी च देवश्च देवौ, त्रिदशी च त्रिदशश्च त्रिदशौ । 'पुमान् स्त्रिया' । 'स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते, न स्त्री । ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च ब्राह्मणौ' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा 'आदेश्व द्वन्द्वे' । 'द्वन्द्वे आदिपदस्य लोपो भवति । माता च पिता च पितरौ पुत्रौ श्वशुरौ' इत्यादि सारस्वतव्याकरणेऽपि । सुखं वसतः तिष्ठतः । कमलाया लक्ष्म्या नन्दनः पुत्रः कामस्तस्य केलिक्रीडा तस्याः शीलनैः सेवनैः पञ्चविषयभोगानुभवनैः । किंभूतैः । यूनां तरुणानां संमदा आनन्दास्ते एव कन्दल्यः कन्दास्तेषु घनैर्मधैः । तदुल्लासकारकत्वात् । 'कन्दलं तु नवाङ्कुरे कलध्वनावुपरान्ते मृगमदे कलापे पञ्चस्वपि त्रिलिङ्गः । कदलीद्रुमे रम्भाख्ये' इत्यनेकार्थस्तदवचुरिश्च । अथ वा तरुणानां हर्षा एव कन्दल्यः रम्भास्तेषु घनैः जलधरैः ॥

परशासनशास्त्रमालिकामयमध्येतुमथो गुरोर्गिरा ।

व्रजति स्म कदापि दक्षिणां हरितं हीरमुनिर्दिनेशवत् ॥ ४७ ॥

अथो हीरहर्षगणेरधिकारप्रारम्भे अयं पूर्वव्यावर्णितो ग्रन्थनायको वा हीरमुनिर्हीरहर्षनामा मुनिर्गणिराचार्योपाध्यादीनां सर्वेषां साधुसंज्ञा तु जागत्येवेति दक्षिणां हरितं प्रति व्रजति स्म । कदा । कदापि कस्मिन्नपि समये । कया । गुरोर्विजयदानसूरेर्गिरा वाचा । किं कर्तुम् । परेषां शैवादीनां शासनानि दर्शनानि तेषां तत्संबन्धिनानां शास्त्राणां प्रमाणग्रन्थानां मालिकां श्रेणीमध्येतुं पठितुम् । परशासनोपनिषदं ज्ञातुमित्यर्थः । किंवत् । दिनेशवत् । यथा भास्वान्दक्षिणां दिशं प्रति याति ॥

अथ देवगिरावगम्यताखिलतर्काधिजिगांसयामुना ।

पटलेन पयोमुचां यथा सलिलादानसमीहयाम्बुधौ ॥ ४८ ॥

अथेति दक्षिणदिग्गमनानन्तरममुना हीरहर्षगणिना देवगिरौ नगरे अगम्यत गतम् ।

कया । अखिलं समस्तं यत्कर्तृशास्त्रं तस्याधिजिगांसया पिपठिषया । 'इडश्च' । 'इड् अध्ययने' इत्यस्य धातोर्गभिरादेशः स्यात्सन्नि परे । 'अधिजिगांसते' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । केनेव । पटलेनेव । यथा पयोमुचां मेधानां पटलेन वृन्देन सलिलानां जलानामादानं ग्रहणं तस्य समीहया वाञ्छया अम्बुधौ समुद्रे गम्यते । 'अब्दैर्वारिजिघृक्षयार्णवगतैः साकं व्रजन्ती मुहुः' इति खण्डप्रशस्तौ । अत्र यथा इवार्थे ॥

पठता सह धर्मसागरव्रतिना देवगिरौ गुरुर्व्यभात् ।

सहकार इव प्रफुल्लता नवराजादनशाखिना वने ॥ ४९ ॥

सह पठता सार्धमधीयानेन धर्मसागरनाम्ना व्रतिना मुनिना गुरुर्भाविनिभूतोपचारात् हीरहर्षगुरुर्व्यभात् वभासे । क इव । सहकार इव । यथा प्रफुल्लता विकसता नवः प्रत्यग्रः राजादनः प्रियाल एव शाखी द्रुमः तेन वने सहकारो माकन्दो भाति ॥

पुरसंघजनैः प्रणोदितैरमुनाधीतिकृते कृतीन्दुना ।

प्रतिबिम्बमिव द्युसद्गुरोर्द्विज आनायि ततः कुतश्चन ॥ ५० ॥

ततस्तदनन्तरं कृतीन्दुना कोविदचन्द्रेण अमुना हीरहर्षगणिना अधीतिकृते स्वाध्ययनकार्याय प्रणोदितैः प्रेरितैः पुरस्य देवगिरिनगरस्य संघजनैः श्राद्धवर्गैः । यद्यपि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपचतुर्विधः संघः प्रोच्यते तथाप्यत्राधिकारात्संप्रदायाद्वा श्राद्धवर्ग एव संघः कुतश्चन कस्मादपि स्थानात् द्विजो ब्राह्मण आनायि आकारितः । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसद्गुरोर्वृहस्पतेः प्रतिबिम्बमिवापररूपमिव ॥

तदुपान्तभुवं व्यभूषयत्स ततो गौरगरुद्वतिर्द्विजः ।

अवतीर्ण इवारविन्दभूः स्वकसर्गस्य दिदृक्षया क्षितौ ॥ ५१ ॥

तत आकारितानन्तरं स द्विजः पण्डितब्राह्मणः तस्य हीरहर्षगणेरुपान्तभुवं समीप-क्षोणीं व्यभूषयदलंचकार प्रभोः पार्श्वे समायातः । किंभूतो द्विजः । गौरगरुत्सितच्छदो हंसस्तद्वन्मन्थरा गतिर्यस्य । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकस्यात्मना कृतस्य सर्गस्य भूलोकस्यैः दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया क्षितौ पृथिव्यामवतीर्णवानायातः अरविन्दभूर्ब्रह्मेव ॥

द्विजं विशिनिष्टि—

मृडमूर्धनिवाससौहृदान्मिलितुं जह्युसुतामिवागताम् ।

अलिकार्धविधुं ललाटिकां वहमानो हरिचन्दनोद्भवाम् ॥ ५२ ॥

किं कुर्वाणो द्विजः । हरिचन्दनोद्भवां श्रीखण्डनिर्मितां ललाटिकां ललाटालंकारम् । तिलकमित्यर्थः । 'ललाटिकासीमनि चूर्णकुन्तला' इति नैषधे । लोके 'आडि' इति प्रसिद्धा । वहमानो विभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—मृडस्येश्वरस्य मूर्धनि मस्तके निवास एकत्र स्थितिर्निवसनं तेन यत्सौहृदं मैत्री तस्मादलिकार्धविधुं भालरूपार्धचन्द्रम् । 'लब्धार्धचन्द्र ईशः' इति चम्पूकथायाम् । मिलितुमागतां जह्युसुतां गङ्गामिव ॥

उपवीतमुरःस्थलान्तरे कलयंश्चन्दनचन्द्रचर्चितः ।

दमनो मदनस्य भूतिमानिव वैकक्षितकुण्डलीश्वरः ॥ ९३ ॥

पुनः किं कुर्वन् । उरःस्थले वक्षोमध्ये उपवीतं यज्ञसूत्रं कलयन् दधत् । किंभूतः । चन्दनं मलयतरुद्रवस्तथा चन्द्रः कर्पूरस्ताभ्यां कृत्वा चर्चितः कृताङ्गरागः । उत्प्रेक्ष्यते— वैकक्षः उत्तरासङ्गः संजातोऽस्य प्रावारीकृतो वा कुण्डलीश्वरः शेषनागाधिपो यस्य येन वा । 'शेषो नागाधिपोऽनन्तो द्विसहस्राक्ष आलोकः । स च श्यामोऽथ वा शुक्लः सित-पङ्कजलाञ्छनः ॥' इति हैम्याम् । तथा भूतिमान् भस्मोद्भूतः । मदनस्य कामस्य दमनो वैरी शंभुरिव ॥

शिववाङ्मयवार्धिपारगोऽनिशषट्कर्मरतो व्रतान्वितः ।

वपुर्भ्युपगत्य वर्णिनामिव धर्मः प्रकटीभवन्नयम् ॥ ९४ ॥

अथ वा वपुः शरीरमभ्युपगताङ्गीकृत्य प्रकटीभवन्नक्षिलक्ष्यः संपद्यमानः वर्णिनां ब्राह्मणानामयं प्रत्यक्षो धर्म इव । किंभूतो द्विजः । शिववाङ्मयं नैयायिकशास्त्रं तदेव वार्धिः समुद्रः तस्य पारगः पारगामी । पुनः किंभूतः । अनिशं षट्सु अध्ययनाध्यापन-यजनयाजनदानप्रतिग्रहलक्षणेषु कर्मसु ब्राह्मणोचितेषु कार्येषु रत आसक्तः । पुनः किंभूतः । व्रतैर्ब्राह्मणानां शैवशासनस्य वा उचितैर्योग्यैर्नियमैरन्वितः कलितः । अत एव तद्वर्मेत्प्रेक्षा ॥ इत्यादिचतुर्भिः कलापकेन पण्डितद्विजवर्णनम् ॥

स पपाठ सधर्मसागरोऽखिलनैयायिकवाङ्मयं ततः ।

समयं सुगतस्य सौगतादिव हंसः परमादिहंसयुक् ॥ ९५ ॥

स हीरहर्षगणिस्ततो ब्राह्मणादखिलं समग्रं नैयायिकानां वाङ्मयं शास्त्रं पपाठ पठति स्म । स किंभूतः । सह धर्मसागरेण वर्तते यः । क इव । हंस इव । यथा हरिभद्रसूरिभागिनेयको हंसः सुगतस्य बौद्धस्य समयं शास्त्रम् । 'आतोक्तिः समययोगमौ' इति हैम्याम् । 'समयः शपथे भाषासंपदोः कालसंविदौ । सिद्धान्ताच्चारसंकेतनियमावसरेषु च ॥ क्रियाकारे निर्देशे च' इत्यनेकार्थः । सौगतादौद्वाचार्यात्पठति स्म । किंभूतो हंसः । परम इति पदमादौ यस्य तादृशेन हंसेन युनक्ति सङ्गं प्राप्नोति एतावता परमहंसकलितः ॥

कलयन्प्रतिभामनुत्तरामतितीक्ष्णां स कुशः शिखामिव ।

प्रथमं प्रविधाय तर्कयुक्परिभाषामुखशास्त्रसंग्रहम् ॥ ९६ ॥

द्रविणार्पणहृष्टमानसादथ चिन्तामणिमग्रहीद्विजान् ।

परिशीलनकर्मतोषितादिव चिन्तामणिमादितेयतः ॥ ९७ ॥

अथ पठनप्रारम्भानन्तरं स हीरहर्षगणिर्द्रविणानां द्रव्याणामर्पणादानात्प्रीतं हृष्टं मानसं मनो यस्य तादृशाद्विजात्पण्डितब्राह्मणाच्चिन्तामणिनामशैवशास्त्रमग्रहीत् । कुत इव । आदि-तेयत इव यथा कश्चिद्भाग्यवान् पुरुषः परिशीलनकर्मणा सेवाविधिना तोषितात्प्रसन्नोऽकृ-

तादादितेयतो देवाच्चिन्तामणिनाम रत्नं गृह्णाति । किं कृत्वा । प्रथमं पूर्वं तर्कशब्देन युनक्ति तादृशी परिभाषा नामप्रमाणादिमशास्त्रं तन्मुखे आदौ येषां तेषां तर्कपरिभाषा-
मितभाषिणी-शशधर-मणिकण्ठ-वरदराजी-प्रशस्तपदभाष्य-वर्धमान-वर्धमानेन्दु-किरणाव-
ली-प्रमुखशास्त्राणां संग्रहमध्ययनं कृत्वा इत्यर्थः । स किं कुर्वन् । अतितीक्ष्णामतिशयेन
निशितामनुत्तरामसाधारणीं च प्रतिभां बुद्धिं कलयन् । क इव । कुश इव । यथा दर्भः
अतितीक्ष्णं शिखामग्रभागं कलयति । शिखां किंभूताम् । अनुत्तराम् । तस्मादुत्तरोऽग्ने-
तनवर्ती कोऽपि पदार्थो न तीक्ष्णः स्यादिति ॥

प्रतिभाविभवैः पठन्क्रमात्समयस्यास्य स पारमाप्तवान् ।

प्रचरन्पवमानवर्त्मनोऽध्वरथैर्भानुमतामिव व्रजः ॥ ९८ ॥

स हीरहर्षगणिः क्रमादनुक्रमेण पठनपरिपाठ्या पठनध्ययनं कुर्वाणः प्रतिभाविभवैः
बुद्धिविशेषैः कृत्वा अस्या पाठकद्विजस्य समयस्य शास्त्रस्य पारमन्तं प्राप्तवान् लभते स्म ।
क इव । व्रज इव । यथा प्रचरन् प्रचारं कुर्वन् भानुमतां सूर्याणां समूहः द्वादशत्वा-
द्भानूनाम् । 'सूरस्त्वष्टा द्वादशात्मा च हेलिः' इति हैम्याम् । 'गुहनेत्र-राशि-भासा-संक्रा-
न्त्यादित्यचक्रिराजानः । चक्रवृहस्पतिहस्ताः सभासदो द्वादश भवन्ति ॥' इति संख्या
नाममालायाम् । काव्यकल्पलतायां चेति वचनात् च व्रजपदोपादानम् । जैनमताच्च
संख्याः । सूर्याः अध्वरथैः पारियाजिकैः पदमानवर्त्मनो वायुमार्गस्य गगनस्य पारमाप्नोति ॥

अमुनाध्ययने समापिते द्विजराजद्रविणार्पणाविधौ ।

सुमनोलतिकेव केवलं जसमादेव्यजनिष्ट सा तदा ॥ ९९ ॥

अमुना हीरहर्षगणिना अध्ययने पठने समापिते संपूर्णांकृते सति तदा तस्मिन्नवसरे
द्विजराजस्य पाठकब्राह्मणश्रेष्ठस्य द्रविणानां धनानामर्पणा प्रदानम् । 'चकारसेवाचणद-
र्पणार्पणा' इति नैषधे । तस्या विधिः प्रकारस्तत्र केवलमेकेव सा पूर्वव्यावर्णितस्वरूपा
देवसीदयिता जसमादेव्येव सुमनोलतिकेव कल्पवल्लीवाजनि । जसमादेव्येव सर्वमपि
पाठनद्रविणं वितीर्णमित्यर्थः ॥

शिरसीव शिवस्य जाह्नवी शरदश्चन्द्रमसीव जाह्नवी ।

अलिनीव मृणालिनीवने हृदि रेमेऽस्य गणेः कलन्दिका ॥ १० ॥

अस्यामुष्य हीरहर्षनाम्नो गणेर्हृदि हृदयविषये कलन्दिका सर्वविद्या रेमे वसति स्फुर-
द्रूपा वा जाता । केव । जाह्नवीव । यथा शिवस्येश्वरस्य शिरसि मस्तके जाह्नवी गङ्गा
रमते । 'धूर्जटिजटाजुट इव गङ्गाया पुण्यसलिलैः प्लावितः' इति चम्पूकथायाम् । पुनः
केव । चन्द्रिकेव । यथा शरदो घनाल्यसंबन्धिनि चन्द्रमसि विधौ कौमुदी रमते ।
पुनः केव । अलिनीव । यथा मृणालिनीनां कमलिनीनां वने भ्रमरी रमते ॥

विधिना वचसामधीश्वरी किमुताकारि बृहस्पतिः क्षितेः ।

निखिलागमपारगाहिनं तमुदीक्ष्येदमतर्कि तार्किकैः ॥ ६१ ॥

निखिलानां समस्तानां जैनशैवादीनामागमानां शास्त्राणां पारमन्तं गच्छतीत्येवंशीलं तं हीरहर्षगणिमुदीक्ष्य दृष्ट्वा तर्कं विचारे प्रमाणशास्त्रे वा चतुरास्तार्किकास्तैरिदमत्रैव वक्ष्यमाणमतर्कि विचारितम् । इदं किम् । स्वर्गे वाग्वादिनी बृहस्पती वर्तते विधिना ब्रह्मणा क्षितेः पृथिव्या इयं वचसामधीश्वरी सरस्वती अकारि कृता, उताथवा भूमेरयं बृहस्पतिः सुरगुरुरकारि निर्मित इव ॥ इति हीरहर्षगणेर्द्विजपण्डितपार्श्वं पठनवर्णनम् ॥

भवति स्म विचक्षणः क्षणादथ सामुद्रिकवत्स लक्षणे ।

अपि काव्यविशेषवित्तया विजितः काव्य इवामवचरारभः ॥ ६२ ॥

तत्पठितसर्वशास्त्रकथारम्भाधिकारे स हीरहर्षगणिलक्षणे शब्दशास्त्रे । जातिवाचित्वादेकवचनम् । अष्टसु व्याकरणेषु ऐन्द्र-चान्द्र-काशि(श)-कृष्ण(त्न)-आपिशल-शाकटायन-पाणिनीय-अमर-चान्द्र-जैनेन्द्ररूपेषु । अथवा 'ब्राह्ममीशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्पतिम् । त्वाष्ट्रमापिशलं चैव पाणिनीयमथाष्टमम् ॥' इत्यष्टसु महाव्याकरणेषु । अथ वा अष्टादशसु महाव्याकरणेषु । 'ऐन्द्रपाणिनिजैनेन्द्रं शाकटायनवासने । चान्द्रं सरस्वतीकण्ठाभरणं बुद्धिसागरः ॥ विश्रान्तविद्याभरणं भीमसेनकलापकम् । मुष्टिव्याकरणं शैव-गौडं नन्दिजयोत्पलम् ॥ सारस्वतं सिद्धहैमं जयहैमं तथापरम् । इति व्याकरणं सर्वशब्दप्राभृत्तिसंभवम् ॥' इत्येवंरूपेषु । इति नामसु लक्षणग्रन्थेष्वित्यर्थः । विचक्षणश्चतुरो भवति स्म । कथम् । क्षणात्स्वल्पकालात् । किंवत् । सामुद्रिकवद्यथा समुद्रेण पण्डितेन प्रोक्तं सामुद्रं तद्वेत्तीति तत्र चतुरो वा सामुद्रिकः लक्षणे नरनारीणां करचरणरेखाद्याकारशरीरस्थमधीतिलकादिविशेषे निपुणः । अपि पुनः काव्यानां रघु-कुमारसंभव-मेघदूत-चम्पू-कादम्बरी-माघ-पद्मानन्द-नैषधादीनां विशेषवित्तया रहस्यानां ज्ञातृत्वेनेत्यपि व्याख्येयम् ॥

पदमस्य हृदि व्यतन्तनीदनिशं ज्योतिरिवाभ्रवर्त्मनि ।

नरि नृत्यति नर्तकीव धीरपि तर्कागमरङ्गवेश्मनि ॥ ६३ ॥

ज्योतिःशास्त्रमस्य हीरहर्षगणेर्हृदि हृदये पदं स्थानं व्यतन्तनीद्वितिनोति स्म । चकारे-त्यर्थः । कथम् । अनिशं निरन्तरम् । कस्मिन्किमिव । अभ्रवर्त्मनि ज्योतिरिव । यथा मेघमार्गे गगने ज्योतिर्ग्रहनक्षत्रतारकादि सदा पदं कुरुते । 'नक्षत्रं तारका ताराज्योतिषी भमुडु ग्रहः' इति हैम्याम् । अपि पुनरस्य धीर्बुद्धिस्तर्कागमः प्रमाणशास्त्रम् । 'आगमस्तवागतौ शास्त्रे' इत्यनेकार्थः । स एव रङ्गवेश्म नाटकस्थानकमन्दिरं तत्र नरी नृत्यति अतिशयेन नृत्यं कुरुते । केव । नर्तकीव । यथा ताण्डवकारिका रङ्गवेश्मनि नृत्यं नृत्यति ॥

गणितं ह्यनुरागिरागवन्न विसस्मार स मानसाब्जिजात् ।

प्रसृतास्य मतिर्जिनागमेऽम्बुधिकाञ्ज्यामिव चक्रिणश्चमूः ॥ ६४ ॥

स हीरहर्षगणिर्गणितं संख्यानं शास्त्रं त्रिशतीलीलावतीप्रमुखं हि निश्चितं निजादा-
त्मीयान्मानसाच्चित्तात् न विसस्मार न विस्मारयति स्म । किंवत् । अनुरागिरागवत् ।
यथा कोऽपि रागवान् पुमान् स्वानुरक्तीभूतजनस्नेहम् । तज्जनमेवेत्यर्थः । मनसः कदाचिन्न
विसस्मारयति । पुनरस्य मतिर्जिनागमे । आचाराङ्गसूत्रकृदङ्ग-स्थानाङ्ग-समयाङ्ग-विवाह-
विज्ञश्यङ्ग-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग उपासकदशाङ्ग-अनुत्तरोपपातिकादशाङ्ग-प्रश्नव्याकरणाङ्ग-विपा-
कश्रुताङ्ग इत्येकादशाङ्गानि । अपातिका-राजप्रश्नीय-जीवाभिगम-प्रज्ञापना-चन्द्रप्रज्ञप्ती-
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ती-द्वीपसागरप्रज्ञप्ती-निरयावलिका-दशाश्रुतस्कम्-निशीथव्यवहार इति द्वा-
दशोपाङ्गानि । क्वचिदन्यान्यपि । सूर्यप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ती-चन्द्रप्रज्ञप्ती-कल्पिका-क-
ल्पावतंसिका-पुष्पिता-पुष्पचूलिका-वृष्णिदशा इति । निशीथ-महानिशीथ-पञ्चकल्प-जात-
कल्प-पर्युषणकल्प-व्यवहार इति षट् छेदाः । उत्तराध्ययन-पिण्डनिर्युक्ति-आवश्यक-
दशवैकालिक इति चत्वारो मूलग्रन्थाः । चतुःशरण-आतुरप्रत्याख्यान-महाप्रत्याख्यान-
भक्तप्रकीर्णक-तण्डुलवैकालिक-चन्द्राविस्मय-गणिविद्या-मरणविभक्तिक-देवेन्द्रस्तव सं-
स्तारकप्रकीर्णक इति दशप्रकीर्णकानि । नन्दीसूत्र-अनुयोगधार इति पञ्चचत्वारिंशदा-
गमाः । ते च वृत्तिभाष्यचूर्ण्यवचूरिनिर्युक्तिटिप्पणिकर्मग्रन्थक्षेत्रविचारसंग्रहणीचरित्र-
प्रमुखजैनशास्त्रे प्रसृता विस्तारं प्राप्ता । केव । चमूरिव । यथा चक्रिणः षट्खण्डा-
धिपतेः सेना अम्बुधिकाङ्ग्यां समुद्रमेखलायामासमुद्रान्तक्षोणीमण्डले प्रसरति ॥

बहुना किमु तन्मनस्विनोऽखिलषड्दर्शनशास्त्रमालिका ।

गलकन्दलमालिलिङ्ग यद्युवत्खञ्जनमञ्जुलेक्षणा ॥ ६५ ॥

बहुना किमु अर्थाद्बहुक्तेन किमस्तु । यद्यस्मात्कारणात् अखिलानि भाष्यटीकावचूरि-
मुख्याङ्गयुक्तानि जैननैयायिकबौद्धसांख्यवैशेषिकनास्तिकाख्यानां षण्णां दर्शनानां शा-
स्त्राणां तन्मतप्रसिद्धानामागमानां प्रकरणानां च संततिः श्रेणिः स चासौ मनस्वी च अथ
वा तस्य मनस्विनो विशुद्धमानसस्य निष्पापस्य हीरहर्षगणेरगलकन्दलं कण्ठपीठमालिलिङ्ग
आलिङ्गति स्म । किंवत् । युववत् । यथा यूनस्तरुणस्य पुंसः कण्ठपीठं खञ्जनः खञ्जरीटः
पक्षिविशेषः लोके 'गङ्गेटिउ' इति क्वचित्प्रसिद्धः अतिचपलस्वभावः तद्वन्मञ्जुले म-
नोर्जे ईक्षणे नेत्रे यस्यास्तादृशी स्त्री आलिङ्गति । 'भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षी' इति पञ्चाशि-
कायाम् । 'अपि खञ्जनमञ्जनाञ्जिते' इति नैषधे ॥ इति हीरहर्षगणेः स्वपरशास्त्रपरिज्ञानम् ॥

सविधे स्वगुरोः सगौरवं गमनायोत्सुकमाशयं ततः ।

अयमर्जितशास्त्रवैभवोऽधित सार्थेश इव व्रतीशिता ॥ ६६ ॥

ततः पठितानन्तरम् । अयं हीरहर्षनामा व्रतीशिता मुनिनायकः सगौरवं सवहुमानं

यथा स्यात्तथा स्वगुरोः श्रीविजयदानसुरेः सविधे समीपे गमनायोपगन्तुमुत्सुकमुत्कण्ठित-
माशयं परिणामं मनो वा अधित दधार । किंभूतः । अर्जितः स्वायत्तीकृतः शास्त्राण्येव
वैभवः संपत्तिर्येन । क इव । सार्थेश इव । यथा उपाजित बहुविभवः सार्थनाथः स्व-
गुरोः पितुः पार्श्वे गन्तुमुत्कण्ठमना भवेत् ॥

अथ दक्षिणदेशतो महाव्रतभृन्मूर्छितमत्स्यलाञ्छनः ।

मलयानिलवत्प्रचेलिवान्यशसा सौरभयन्भुवस्तलम् ॥ ६७ ॥

अथ स्वगुरुसमीपगमनोत्सुकाशयानन्तरं पठितानन्तरं वा दक्षिणनामा देशो जन-
पदस्ततः हीरहर्षगणिः प्रचेलिवान् प्रतिष्ठते स्म । किंभूतः । महाव्रतानि पञ्च प्राणाति-
पातविरमणादीनि व्रतानि विभर्ताति । अत एव पुनः किंभूतः । मूर्छितो मूर्छां चेतन्य-
रोधं निधनावस्थां च नीतो मत्स्यलाञ्छनः स्मरो येन । महाव्रतीश्वरोऽपि एवंविधः स्मरन्नः ।
पुनः किंभूतः । यशसा स्वकीर्त्या कृत्वा भुवस्तलं मेदिनीमण्डलं सौरभयन् सुगन्धीकुर्वन्
धवलयन् । किंवत् प्रचेलिवान् । मलयानिलवद् यथा दक्षिणदेशो मलयाचलप्रदेशः ।
'मलय आषाढो दक्षिणाचलः' इति हैम्याम् । तस्मान्मलयानिलो दक्षिणपवनः प्रच-
लति । 'कष्टं भो दाक्षिणात्यः प्रसरति पवनः पान्थकान्ताकृतान्तः' इति भोजप्रवन्धे ।
सोऽपि किंभूतः । मूर्छितो वृद्धिं नीतो मन्मथो येन । 'मूर्छन् वृद्धिमूर्छनयोः' अयं धातुः ।
भुवो मध्यमपि सुगन्धयति च ॥

मरुतामिव पद्धतीः पुरीवृषकन्यामिथुनाजराजिनी ।

मकरान्वितमीनशालिनीः सरितः साब्जबलाहकाः पुनः ॥ ६८ ॥

वसतीरिव वल्गुविष्टराः सकुरङ्गाः शशिमण्डलीरिव ।

स्फुरदप्सरसो यथा दिवः पदवीर्लङ्घितवान्मुनीश्वरः ॥ ६९ ॥

(युग्मम्)

मुनीश्वरो हीरहर्षगणिः पुरीनैगरीर्लङ्घितवान् अतिचक्राम । किंभूताः पुरीः । वृषा
वृषभा तथा कन्याः कुमारिकाः मिथुनानि क्रीडासक्तानां यूनां पशूनां पक्षिणां वा यु-
गलानि स्त्रीपुंसलक्षणानि अजाश्लागा हरिहरविरञ्चिप्रतिमा वा । 'अजश्लागे हरे विष्णौ
रघुजे वेधसि स्मरे' इत्यनेकार्थः । तै राजन्ते इत्येवंशीलाः । का इव । मरुतां देवानां
पवनानां वा पद्धतीर्मार्गानिव । देववीथीः किंभूताः । वृषकन्यामिथुनमेषनामानो राशयः
तैः शोभन्ते इत्येवंशीलाः । पुनर्यः सरितो नदीरुलङ्घितवान् । किंभूताः । मकरा
जलयादांसि तैरन्विता युक्ताः, तथा मीना मत्स्यास्तैः शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीला
अपि । पुनः किंभूताः । सहाब्जैः कमलैः, तथा बलाहकैर्बकैर्वर्तन्ते यास्ताः । अपि वा-
युवीथीरिव । किंभूताः । मकरराशिकलिताः मीनराशिना शालन्ते । सहाब्जेन चन्द्रमसा
तथा बलाहकैर्मैर्धैर्वर्तन्ते याः । 'गगनवीथीमिव सिंहराशिराजितां उत्पतद्गामुक्षितवृश्चि-

कामाविर्भूतसार्द्रोहिणी मूला च' इति चम्पूकथायाम् । पुनः पदवीर्मागोत्तुल्लङ्घे । किं-
भूताः । वल्गवः मनोज्ञाः पल्लवपत्रप्रसूनफलकालितत्वेन रम्याः विष्टरा वृक्षा यासु ।
का इव । वसतीरिव यथा गृहाः प्रकृष्टासनाः स्युः । 'विष्टरः पीठवृक्षयोः' इत्यनेकार्थः ।
पुनः किंभूताः । सह कुरङ्गैर्मृगैर्वर्तन्ते ये (याः) । का इव । शशिमण्डलीरिव । यथा च-
न्द्रबिम्बा लाञ्छनमृगयुक्ताः स्युः । पुनः किंभूताः । स्फुरन्ति पदेपदे दृश्यमानानि अप्र-
धानानि सरांसि यासु । यथा इवार्थः । का इव । दिवो यथा । देववसतीः स्फुरन्त्य
इतस्ततो भ्रमन्त्यः क्रीडन्त्यो वा अप्सरसः उर्वशीप्रमुखाः सुराङ्गना यासु ॥ इति वि-
हारमार्गः ॥

मरुदेशमभूषयत्क्रमादथ कुराङ्गजसाधुसिन्धुरः ।

अतुलैरिव धन्वजन्मिनां सुकृतैः स्वःशिखरी समीयिवान् ॥ ७० ॥

अथ मार्गोल्लङ्घनानन्तरं कुराङ्गजो हीरहर्षः स एव साधूनां मध्ये सिन्धुरः क्रमादनुक-
मेण भरुनामानं देशं मण्डलं अभूषयत् शोभां नयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—धन्वनो मरुदे-
शसंवन्धिनो ये जन्मिनो जनास्तेषां न विद्यते तुला साम्यं येषां तैरसाधारणैः सुकृतैः
पुण्यैः स्वःशिखरी कल्पद्रुमः इव समीयिवान् समाजगाम ॥

कविना च बुधेन संनिधिस्थितिभाजा क्षितिजन्मना पुनः ।

सविधे स गुरोरुपेयिवान्विधुवद्वागमृतं ततः किरन् ॥ ७१ ॥

ततो मरुदेशागमनानन्तरं स हीरहर्षगणिगुरोर्विजयदानसूरेः सविधे पार्श्वे उपेयि-
वान् आगतः । किंवत् । विधुवत् । यथा चन्द्रो गुरोर्वाचस्पतेः पार्श्वे उपैति । किं-
भूतः स विधुः । कविना काव्यकर्त्रा शुक्ले च । पुनः केन । बुधेन । तत्सार्धं पठनात्
पण्डितेन चार्थाद्भर्मसागरगणिना, सोमपुत्रेण च । किंभूतेन । क्षितौ भूमण्डले जन्मो-
त्पत्तिर्यस्य मनुष्यत्वात्, यथा महलेन च । पुनः किंभूतेन । संनिधौ समीपे, एकराशौ
च स्थितिं निवासं भजतीति भाक् तेनान्वितो युक्तः । किं कुर्वन् । वाग्वाण्येवामृतं
सुधां किरन् विस्तारयन् ॥

स चुचुम्ब पदाम्बुजं गुरोरभिनोनूय नवैः स्तवैस्ततः ।

मतिदर्पणिकानुबिम्बितश्रुतिभावः शकटालसूनुवत् ॥ ७२ ॥

ततो गुरुसमीपागमनानन्तरं स हीरहर्षगणिगुरोर्विजयदानसूरेः पदाम्बुजं चरणकमलं
चुचुम्ब वन्दितवान् । किं कृत्वा । नवैर्नवीनैः स्तवैः स्तोत्रैः कृत्वा अभिनोनूयातिश-
येन स्तुत्वा । किंभूतः । मतिर्बुद्धिरेव दर्पणिका आदर्शिका । 'मन्मतौ विमलदर्पणिका-
याम्' इति नैषधे । मेवातदेशादौ हस्तकं विना दर्पणस्यादर्शिकेत्यभिधानम् । तस्यामनु-
बिम्बिताः संक्रान्ताः श्रुतीनां समस्तशास्त्राणां भावा रहस्यानि यस्य । अथवा श्रुतयः
पङ्कदर्शनशास्त्राणि भावा जगत्पदार्था यस्य । किंवत् । शकटालनामा नन्दनृपप्रधानः तस्य

सूतः पुत्रः स्थूलभद्रस्तद्वत् । यथा श्रीस्थूलभद्रो मुनिः पठित्वागत्य संभूतिविजयगुरोः
पादारविन्दं ववन्दे ॥ इति हीरहर्षगणेः गुरुपार्श्वगमनम् ॥

अथ नारदनाम्नि पत्तने तुरगव्योमरसेन्दुवत्सरे ।

वृषभाङ्गजिनालये गिरेरिव शंभोर्विभवैः सहोदरे ॥ ७३ ॥

पदमाप्यत पण्डिताह्वयं गणिना तेन यतिक्षितीशितुः ।

अभिभूय बुधं बुधश्रिया पदमस्यैव किमात्तमात्मना ॥ ७४ ॥

(युग्मम्)

अथ गुरुवन्दनानन्तरं हीरहर्षगणिना यतिनां मध्ये क्षितीशितुः नृपाद्विजयदानसूरी-
न्द्रात् पण्डित इति आह्वयं नाम एतादृशपदं प्रज्ञाम् । संपदमित्यर्थः । आप्यत प्राप्तम् । उ-
त्प्रेक्षते—बुधश्रिया भावप्रधाननिर्देशाद्बुधत्वस्य पण्डितस्य लक्ष्म्या बुधं रोहिणीनन्दनम-
भिभूय पराजित्य । त(अ)स्यैव बुधस्यैव पदमात्मना स्वेनात्तं किं गृहीतमिव । कुत्र
वत्सरे । तुरगाः सूर्याश्वाः सप्त (७), व्योमाकाशं शून्यम् (०), रसाः तित्ति-कटु-कषाय-
आम्ल-लवण-मधुराख्याः षट् (६), इन्दुश्चन्द्रः एक (१) एव, एतावता विक्रमार्कात्
सप्तोत्तरे षोडशशतवर्षे (१६०७) । कुत्र पुरे । नारद इति नाम यस्य तादृशे पत्तने । प-
त्तनशब्दः सामान्यतो नगरवाची । ‘नगरी पुः पुरी ब्रह्मं पत्तनं पुटभेदनम्’ इति हैमीवच-
नात्, न तु सुखवृत्त्येति । अथवा रत्नोत्पत्तिस्थानम् । ‘पत्तनं रत्नयोनिः’ इति वचनात् ।
रत्नोपमविजयसेनसूरेरुत्पत्तिस्थानकत्वाद्वा पत्तनम् । ‘नडुलाई’ नगरे इत्यर्थः । कुत्र
स्थाने । वृषभाङ्गस्य सौरभेयध्वजस्यादिनाथस्यालये चैत्ये । उत्प्रेक्षते—विभवैस्तुङ्गिमध्व-
लिमादिशोभाभिः कृत्वा शंभोरिश्वरस्य गिरेः शैलस्य कैलासस्य सहोदरे बान्धवे इव ॥
संवत् १६०७ वर्षे हीरहर्षगणेः पण्डितपदस्थापना ॥

अपि नारदपुर्यनुत्तरैरिव संख्यां विभवैर्हरेः पुरः ।

तपसः सितपञ्चमीदिने कुलशैलाभ्ररसात्मवत्सरे ॥ ७५ ॥

सुहृदेव समेत्य शोभिते वरकाणाख्यफणीन्दुकेतुना ।

जलजध्वजसार्वमन्दिरे पदमस्याजनि वाचकाह्वयम् ॥ ७६ ॥

(युग्मम्)

अपि पुनर्जलजः शङ्खो ध्वजश्चिह्नं यस्य स चासौ सार्वेश्वरः । एतावता नेमिनाथतीर्थकृत् ।
जलजशब्देन शङ्खोऽप्युच्यते । यथा रघुवंशे—‘ततः प्रियोपात्तरसाधरोष्ठे निवेद्य दध्मौ
जलजं कुमारः’ इति । ‘जलजं कमले शङ्खे’ इत्यनेकार्थेऽपि । तस्य मन्दिरे प्रासादे
अस्य श्रीहर्षप्रज्ञांशस्य वाचकाह्वयं उपाध्यायनामपदमजनि संजातम् । किंभूते मन्दिरे ।
वरकाणा इत्याख्या नाम यस्य तादृशेन फणीन्दुर्नागराजः केतुश्चिह्नं यस्यैतावता श्रीव-

र्षकाणापार्श्वनाथेन समेत्य वरकाणापुरादागल्य शोभितेऽलंकृते । केनेव । सुहृदेव । यथा मित्रेणागल्य मित्रमन्दिनं भूष्यते । कस्यां पुर्याम् । नारदपुरि पूर्वोक्तायां नारदपुर्याम् । उत्प्रेक्षते—अनुत्तरैरसाधारणैर्विभवैः संपद्भिः कृत्वा हरेरिन्द्रस्य नारायणस्य वा पुरः अमरावल्या द्वारिकाया वा सख्यां वयस्यामिव । कदाजनि । कुलशैला अष्टौ (८), अभ्र-माकाशम् (९), रसास्तिकादयः षट् (६), आत्मा एकः (१), एतन्मते वत्सरे हायने विक्रमार्कावनीन्द्रादष्टाधिकषोडशशते (१६०८) । कस्मिन्वासरे । तपसो माघमासस्य । ‘माघस्तपा’ इति हैम्याम् । सिताया उज्ज्वलायाः पञ्चम्या दिने ॥ संवत् १६०८ वर्षे पण्डितहीरहर्षगणेशचक्रपदस्थापना ॥

विबुधावथ राजपूर्वको विमलो धर्मयुतश्च सागरः ।

सचिवाविव वाचकेश्वरौ कृतवान्सूरिमहीपुरंदरः ॥ ७७ ॥

अथ पुनः सूरिमहीपुरंदरो विजयदानसूरिराजः विबुधौ पण्डितपदधारिणौ । प्रज्ञा-शावित्यर्थः । एको राज इदं पदं पूर्वं यस्य स राजपूर्वकः तादृशो विमलः च पुनः धर्म इति नात्रा युतः सहितः सागरः एतावता राजविमलधर्मसागरनामानौ विबुधौ वाचके-श्वरौ उपाध्यायमुख्यौ कृतवान् । काविव । सचिवाविव । यथा महीमहेन्द्रः कौचिद्यो-ग्यौ प्रधानौ विदधाति ॥

श्रियमाश्रयते स्म वाचकत्रितयी सा श्रमणावनीशितुः ।

प्रतिबोधयितुं जगन्नयीमिव मूर्तित्रितयी समुद्यता ॥ ७८ ॥

श्रमणावनीशितुः विजयदानसूरिभूमीपतेः सा पूर्वोक्ता वाचकानामुपाध्यायानां त्रि-तयी श्रियं शोभामाश्रयते स्म शुशुभे । उत्प्रेक्षते—जगन्नितयीं त्रैलोक्यं प्रतिबोधयितुं धर्मे स्थापयितुं सूरेश्वरीन्द्रस्य मूर्तित्रितयीव समुद्यता । तिस्रो मूर्तय इव प्रकटीभूताः ॥

विहरन्सह वाचकेन्दुना शिवपुर्यां समवासरद्गुरुः ।

वसुभूतिसुतेन संगतौ भगवान्राजगृहे यथान्तिमः ॥ ७९ ॥

वाचकेन्दुना प्रक्रमात् हीरहर्षउपाध्यायविधुना सह विहरन् महीमण्डले ग्रामानुग्रामं सुखं सुखेन विहारं कुर्वन् गुरुविजयदानसूरिः शिवपुर्यां श्रीरोहिण्यां सीरोहानामनगरे समवासरत् समवसृतः । समागत इत्यर्थः । क इव । भगवानिव यथान्तिमश्चरमो भग-वांस्तीर्थकृत् श्रीमन् महावीरदेवः वसुभूतिनाम्नो द्विजस्य सूतेन पुत्रेण गौतमस्वामिना संगतः सहितो राजगृहे समवसरति स्म ॥

त्रिविवोज्जयिनीं पुरीं तदाजनि दूदाह्नृपो विभूषयन् ।

सुखयज्जनतां वदान्यतां कलयन्विक्रमभानुमानिव ॥ ८० ॥

तदा तस्मिन्नवसरे श्रीविजयदानहीरहर्षकाचककलितश्रीविजयदानसूरिपादावधा-रणसमये द्वा इति आह्वा अभिधानं यस्य तादृशो नृपो राजा अजनि संजातः । दवस-

रापेक्षया वर्तते इत्यर्थः । किं कुर्वन् । विभूषयन् शोभां लम्भयन् । काम् । त्रिदिवं स्वर्गं अमरावतीं तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशात् स्वर्गनगरीं स्वसमुज्ज्या उत्प्राबल्येन जयति पराभवतीत्येवंशीलां पुरीं श्रीरोहिणीम् । पुनः किं कुर्वन् । जनतां पुरजनपदवासिनं सर्वं लोकसमूहं सुखयन् सुखीकुर्वन् । पुनः किं कुर्वन् । वदान्यतां दानशीलत्वं कलयन्न-
तिशायिनमुदारभावं विभ्रत् । क इव । विक्रमभानुमानिव । यथा विक्रमादित्यभूपालो जातः । सोऽपि लक्ष्म्या त्रिदिवतुल्यां उज्जयिनीमवन्तीम् । मध्यमपदलोपी समासः । भू-
षयन्नलंकुर्वन् परदुःखकातरविरुदत्वेनाखिललोकं सुखयन् निर्विघ्नं विदधत् कोटिशः
सुवर्णटंककानां दातृत्वेन । ‘अवलोअणे सहस्सं आलावे दस सहस्साइं । हसिऊण देइ
लक्खं परिउसे विक्रमो कोडी ॥’ इति स्वाभाविकदानम् । काव्यगाथादीनां कोटिशः
सुवर्णानि इति दानिभावं च विभ्राण इति ॥

सचिवः पुनरस्य भूभुजोऽजनि चाङ्गाभिधसंघनायकः ।

जिनधर्मरतो निधिर्धियामभयः श्रेणिकभूपतेरिव ॥ ८१ ॥

पुनरन्यदस्य दूदाभिधस्य भूभुजो भूमीपालस्य चाङ्गा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशः
संघनायकः संघपतिरेतावता ‘चाङ्गोसंघवी’ नामा सचिवः मन्त्री अजनि संजातः ।
किंभूतः । जिनस्यार्हतो धर्मे रतः आसक्तः श्राद्धधर्मपालकः । पुनः किंभूतः । धियां
बुद्धीनां निधिर्निधानम् । क इव । अभय इव । यथा श्रेणिकनाम्नो भूपतेः पृथिवीनायक-
स्याभयकुमारनामा प्रधानः समभवत् । सोऽपि जिनप्रणीतधर्मरतस्तथौत्पातिक्यादीनां
चतसृणां बुद्धीनां शेवधिः ॥

निरमापयदस्य पूर्वजो धरणो राणपुरे चतुर्मुखम् ।

वृषभध्वजतीर्थकृद्गृहं नलिनीगुल्ममिवागतं क्षितौ ॥ ८२ ॥

अस्य चाङ्गासंघभूपतेः पूर्वजः कुले पूर्वं जायते स्म तादृशो धरणो धरणकः इति
नामा संघपतिः राणपुरे राणपुरनाम्नि नगरे चत्वारि चतुःसंख्याकानि मुखानि द्वाराणि
यस्य तादृशं वृषभो ध्वजश्चिह्नं लाञ्छनं यस्य स एव तीर्थकृज्जिनेन्द्रः एतावता ऋष-
भदेवस्तस्य गृहं प्रासादं निरमापयत् शिल्पिभिः कारयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितौ
पृथिव्यामर्थात् स्वर्गादागतं नलिनीगुल्मं नलिनीगुल्मनामविमानमिव ॥

गणपुंगवमन्त्रमन्वहं विधिनाराद्धुमना मुनीश्वरः ।

अथ सुस्थितसूरिशकवत्प्रणिधानं विदधे स तत्पुरे ॥ ८३ ॥

अथ शिवपुर्यागमनानन्तरं मुनीश्वरः श्रीविजयदानसूरिः प्रणिधानं ध्यानं विदधे
कृतवान् । क । तत्पुरे श्रीरोहिणीनगरे । किंवत् । सुस्थितसूरिशकवत् यथा सुस्थित-
नामा सूरिषु शक्रः पुरंदरः अर्थात् काकन्यां नगर्यां ध्यानं करोति स्म । किं कर्तु-
कामः(मनाः) । गणपुंगवस्य सूरेर्मन्त्रं आचार्याणां परम्परया आगतं (गौतमगणभृत् किं)

मन्त्रं अन्वहं निरन्तरम् । त्रिमार्सीं यावदित्यर्थः । केन । विधिना षष्ठाष्टमचतुर्थी-
वामाह्लादितपोविधानजिनसौभाग्यादिमुद्राप्रमुखशास्त्रोक्तगुरुपरम्पराप्राप्तप्रकारेण । आ-
राद्धं साधयितुं मनो यस्य ॥

विषयेऽप्यखिले तदा पुरीपतिना मारिरवारि जन्मिनाम् ।

परमार्हतभूमिभास्करं किमु संस्मारयितुं स्वयं नृणाम् ॥ ८४ ॥

तदा विजयवानसूरेर्ध्यानविधानावसरे पुरीपतिना शिवपुरीस्वामिना द्वादशविधानभू-
षेन अखिले समस्तेऽपि विषये स्वसण्डले जन्मिनां द्विपद्चतुःपदपक्षिमतस्यादीनां
प्राणिनां मारिर्हिंस्र अवारि निषिद्धा, अमारि प्रवर्तिता । उत्प्रेक्ष्यते—परमार्हतः कु-
मारपालः । ‘कुमारपालश्चौलुक्यो राजर्षिः परमार्हतः ।’ इति हैम्याम् । स एव भूमेः
पृथिव्याः भास्करः सूर्यः । ‘माध्यंदिनावधि विधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे । एतावता
कुमारपालभूपालं स्वयमात्मना नृणां मनुष्याणां संस्मारयितुं स्मृतिगोचरं कारयितुं किमु ॥

अनिशं वरिवस्यितस्य तत्तपसः सिद्धिरिवाङ्गसङ्गिनी ।

स्वककान्ततयातिहार्दतो व्रतलक्ष्मीरिव वा वपुष्मती ॥ ८५ ॥

सुरसिन्धुरवत्कदाचन प्रणिधानाम्बुधिमध्यगाहिनः ।

जिनशासनदेवताप्रभोः प्रकटीभावमवीभजत्पुरः ॥ ८६ ॥

(युग्मम्)

कदाचन कस्मिन्नपि समये ध्यानपरिसमाप्तिव्यतिकरे जिनशासनदेवता शासनाधिष्ठा-
यिका सुरी (१) वाणी (२) त्रिभुवनस्वामिकी (३) श्रीदेवी (४) यक्षराज (५) गणिपीवका
एते शासनाधिष्ठातारः । तत्र तिष्ठणां देवीनां मध्ये अन्यतमा अमरी देवता प्रभोर्विजय-
दानसूरेः पुरोऽग्रे प्रकटीभावं प्रत्यक्षतामवीभजत् भजते स्म । प्रादुर्भूतेत्यर्थः । प्रणिधानं
सूरिमन्त्रध्यानं तदेवाम्बुधिरर्थात् क्षीरसमुद्रस्तस्य मध्यं गाहते इत्येवंशीलस्य । किं-
वत् । सुरसिन्धुरवत् । यथा ऐरावणः प्रणिधानं शुक्लध्यानं तद्वद्वबलम् । एतावता दु-
ग्धाम्बुधिस्तस्य मध्यमवगाहते तदुत्पन्नत्वात्तस्य । उत्प्रेक्ष्यते—जिनशासनदेवता अ-
निशं अहोरात्रं वरिवस्यितस्य सेवितस्याचीर्णस्य तस्य विजयदानसूरेस्तपसः अङ्गस-
ङ्गिनी अङ्गस्य शरीरस्य सङ्गः अस्त्यस्या इति मूर्तिमती सिद्धिरिव वा । अथवा स्वकका-
न्ततया निजमर्तृत्वेन अतिहार्दत् बहुहृहात् । ‘स्नेहः प्रीतिः प्रेम हार्दम्’ इति हैम्याम् ।
वपुष्मती अङ्गीकृताङ्गलता शरीरिणी व्रतलक्ष्मीश्चारित्र्यश्रीरिव प्रादुर्भूता ॥ इति विजय-
दानसूरेर्ध्यानम् ॥

सफलीकुरु किंकरीमिव कचिदादिश्य विधौ व्रतीन्द्र माम् ।

प्रणिपत्य पदाम्बुजं प्रभोरिति सा शासननिर्जरी जगौ ॥ ८७ ॥

सा ध्यानप्रत्यक्षीकृता शासननिर्जरी जिनशासनदेवता इति वक्ष्यमाणं जगौ व-

भाषे । किं कृत्वा । प्रभोर्विजयदानसूरेः पदाम्बुजं चरणारविन्दं प्रणिपत्य नमस्कृत्य । इति किम् । हे त्रतीन्द्र सूरे, क्वचित् कुत्रचन विधौ कार्ये आदिश्य आज्ञां दत्त्वा । 'विधिर्ब्रह्मविधानयोः । विधिवाक्ये च दैवे च प्रकारे कालकल्पयोः ॥' इत्यनेकार्थः । किं करीं खदासीमिव मां सफलीकुरु कृतार्थ्य ॥

निजगाद गुरुर्गभीरिमाधरितद्वीपवतीपतिस्ततः ।

भविताभ्युदयः पदस्य मे वद कस्माच्छरदो मुनेरिव ॥ ८८ ॥

ततो देवतावचनानन्तरं गुरुर्विजयदानसूरिर्निजगाद गदति स्म वभाषे । गुरुः किल गभीरिन्ना गम्भीर्यतिशयेनाधरितो हीनीकृतो निर्जितो वा द्वीपवतीनां नदीनाम् । 'द्वीपसन्तर्जले तटम्' तानि द्वीपानि विद्यन्ते यासु तासाम् । 'कर्षुर्द्वीपवती समुद्रदयिता धुन्यौ स्रवन्ती' इति हैम्याम् । पतिर्भर्ता समुद्रो येन । किं निजगाद तदाह—हे देवि, त्वं वद कथय । मे पदस्य पदस्य कस्मान्मुनेर्महिनेयादभ्युदयो भविता भविष्यति । कस्याः कस्येव । शरदो मुनेरिव यथा शरत्समयादगस्तेरुदयो भवति । यथा रघौ शरद्वर्णने—'प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महोजसः' इति । 'मुनिद्रुमः कोरकितः शिति-युतिः' इति नैषधे । 'मुनिद्रुमः अगस्तिवृक्षः' इति तद्वृत्तौ ॥

अवधेरनुभावतो गुणैरसमानं जिनमेदिनीन्द्रवत् ।

अतिथिं प्रविधाय भृङ्गवद्धृदयाम्भोरुहि हीरवाचकम् ॥ ८९ ॥

अनयेत्थमभण्यत प्रभुर्भगवन्नभ्रमणेर्दिनादिव ।

भविता भवतः पदोदयो भुवि नाथीसुतसाधुसिन्धुरात् ॥ ९० ॥

(युगम्)

अनया शासनदेवतया प्रभुर्विजयदानसूरिरित्यममुना प्रकारेणाभण्यत प्रोच्यते स्म । किं कृत्वा । अवधेरवधिज्ञानस्यानुभावतः प्रभावात् । 'अवधिः स्यादवधाने कालसीमा-बलेषु' इत्यनेकार्थः । हृदयाम्भोरुहि हृदयारविन्दे भृङ्गवत् भ्रमरमिव हीरवाचकं हीरह-र्षोपाध्यायं अतिथिं प्रायुणकं प्रविधाय । हृदि ज्ञात्वेत्यर्थः । किंभूतं हीरवाचकम् । गुणैः संयमशमदमज्ञानादिभिरसमानजसाधारणम् । किं च जिनमेदिनीन्द्रवजिनराजमिव । किमभाणि । हे भगवन्, भुवि पृथिव्यां नाथीसुतो हीरहर्षः स एव साधुषु भ्रमणेषु सिन्धुरो हस्ती तस्मादेतावता हीरहर्षोपाध्यायात् ते तव पदस्याभ्युदयो भविता भविष्यति । कस्मात् कस्येव । दिनादभ्रमणेरिव यथा दिवसात् सूर्यस्य अभ्युदयो भवेत् ॥

पदपद्मविलासलालसभ्रमरीभूतवसुंधराधवः ।

भगवन्स युगप्रधानवन्महिमश्रीभवनं भविष्यति ॥ ९१ ॥

हे भगवन्, स हीरहर्षोपाध्यायो युगप्रधानवद्भ्रजस्वामिप्रमुखयुगप्रधानाचार्य इव महि-मश्रीया माहात्म्यलक्ष्म्या भवनं गृहं भविष्यति । किंभूतः । पदपद्मयोश्चरणकमलयोर्वि-

लासेषु क्रीडासु लालसाः साभिलाषास्तादृशा भ्रमरोभूता मधुकरा इवाचरिता वसुंधरा-
धवाः राजानो यस्य राजसेव्यो भावीत्यर्थः ॥

अयमेव हि हीरवाचकोऽस्त्युचितः सूरिपदस्य नापरः ।

धरणीधवसूनुरेव यद्वसुधाधीशपदस्य नेतरः ॥ ९२ ॥

हे प्रभो, हि निश्चितं अयमेव एष हीरहर्षवाचकेन्द्र एव सूरिपदस्याचार्यपदस्थाप-
नाया उचितो योग्योऽस्ति । परं नापरः नान्यः शिष्यः । यद्यस्मात्कारणाद्वसुधाधीशप-
दस्य राज्यस्योचितो धरणीधवस्य भूमीविभवस्य राज्ञः सूनुः राजपुत्रः एव परं नेतर-
जातीयः हीनकुलीनः ॥

प्रणिगद्य पुरो गुरोरिदं प्रमदेनापि विनम्य तत्पदम् ।

त्रिदशी क्षणतस्तिरोदधे स्तनयित्वा स्तनयितुपङ्क्तिवत् ॥ ९३ ॥

त्रिदशी शासनदेवता । 'निपीय तं यद्विदशीभिरर्जितः' इति नैषधे । क्षणतः
क्षणमात्रात् तत्कालमेव तिरोदधे अदृश्या बभूव । किं कृत्वा । गुरोः सूरैः पुरोऽग्रे
इदं प्रागुक्तं प्रणिगद्य कथयित्वा । अपि पुनः प्रमदेन हर्षेण तत्पदं गुरुचरणं विनम्य
विशेषेण पञ्चाङ्गभूषणार्चनादिना नत्वा अदृशीभूता । किंवत् । स्तनयितुपङ्क्तिवद्यथा
मेघमाला स्तनयित्वा गर्जित्वा विनम्योन्नतीभूयार्थाद्वर्षयित्वा तिरोधत्ते ॥ इति
विजयदानसूरिपुरोध्यानप्रत्यक्षीकृतशासनदेवताप्रोक्ताचार्यपदोचितकथनम् ॥

स तदीयगिरं निपीय तां शितिवल्लीमिव हेमकन्दलः ।

मुदमन्तरनुत्तरां दधद्गमयामास दिनानि कानिचित् ॥ ९४ ॥

स सूरिः अर्थाद्व्यानस्थः एव कानिचिद्दिनानि कियत्प्रमाणान् वासरान् गमया-
मासातिक्रामति स्म । किं कुर्वन् । अन्तश्चित्तमध्ये अनुत्तरामनन्यसामान्यां मुदं हर्षं
दधद् धारयन् । क इव । हेमकन्दल इव । यथा विद्रुमः अन्तरा स्वमध्ये शितिवल्लीं
कृष्णलतां 'कालीवेली' इति प्रसिद्धां धत्ते । किं कृत्वा । तदीयां शासनदेवतासंवन्धिनीं
गिरं वाणीं निपीय पीत्वात्यादरेण निशम्य ॥

अथ साधुसुधाशनाधिपः प्रणिधानं परिपूर्य सूर्यरूक् ।

शशभृच्छरदभ्रकादिव प्रणिधानास्पदतो विनिर्ययौ ॥ ९५ ॥

अथ शासनदेवताप्रत्यक्षागमनध्यानसंपूर्णाभवनानन्तरं साधूनां मुनीनां मध्ये सुधा-
ममृतं अश्नन्तीति अशनं भोजनं येषां वा ते सुधाशनाः देवाः तेषामधिपः स्वामी
इन्द्रः एतावता विजयदानसूरिपुरंदरः प्रणिधानस्य ध्यानस्यास्पदं स्थानं ततो वि-
निर्ययौ वहिराजगाम । क इव । शशभृदिव । यथा चन्द्रः शरदभ्रकात् शरत्कालसं-
वन्धिनाऽभ्रकान्मेघान्मेघवर्धकाद्वा निर्गच्छति । किं कृत्वा । प्रणिधानं सूरिमन्त्रस्य

जापं स्मरणं परिपूर्णं समाप्य परिपूर्णकृत्य । किंभूतः । सूर्यस्येव देदीप्यमाना रुक्क
कान्तित्यस्य । विधुरपि सूर्यस्य रुचो दीधितयो यस्मिन् । 'पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदी-
धितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः' इति रघौ ॥

स वभाज समाजमात्मना श्रमणानां श्रमणावनीमणिः ।

क्षितिमानिव बाहुजन्मनां विलसन्मङ्गलतूर्यनिखनैः ॥ ९६ ॥

स प्रसिद्धः सूरिपरम्परायातः प्रणिधानविधाता वा श्रमणावनीमणिः यतिराजः
आत्मना स्वेन श्रमणानां साधूनां समाजं पर्षदं वभाज शिश्राय । क इव । क्षितिमा-
निव । यथा भूपतिर्बाहुर्ब्रह्मणो भुजोत्पत्तिर्येषां ते बाहुजन्मानः क्षत्रियास्तेषाम् । 'क्षत्रं तु
क्षत्रियो राजा राजन्यो बाहुसंभवः' इति हैम्याम् । 'तत्तस्मिन्विनिमज्ज्य बाहुज-
भट्टैरारम्भि रम्भा-' इति नैषधेऽपि । सभां भजते । कैः । विलसतां हर्षोत्कर्षात्प्रति-
दिशं मधुरं वाद्यमानानां मङ्गलकारिणां तूर्याणां वाद्यानां निखनैर्निर्घोषैः । समम् ॥

जहिरे मिहिरौजसा महीपतिना वारचरास्तदा नराः ।

भ्रमरा इव कोशशायिनो दिववक्त्रे स्मितपद्मराशिना ॥ ९७ ॥

तदा गुरोः सभायामागमनावसरे महीपतिना शिवपुरीस्वामिदूताभिधभूपतिना
वारचराः कारागारनिवासिनो बन्दीजना जहिरे मुमुचिरे । किंभूतेन महीपतिना ।
मिहिरस्य भानोरिव । 'दिवादिनाहर्दिवसप्रभाविभाभासः करः स्यान्मिहिरो विरोचनः'
इति हैम्याम् । ओजः प्रतापो यस्य । 'तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ' इति नैषधे ।
ओजःशब्देनात्र प्रताप उच्यते । केनेव । स्मितपद्मराशिनेव । यथा दिनवक्त्रे प्रभाते
विकचकमलकलापेन कोशेषु निजमुकुलेषु शेरते सूर्यास्तेन मुकुलीभूतेषु कुङ्गलेषु
निर्गमनानलंभूष्णतया तत्रैव वद्धा इव तिष्ठन्तीत्येवंशीला भ्रमरा भृङ्गा हीयन्ते सु-
च्यन्ते । 'तदप्यवेहि स्वशये शयालु' इति नैषधे । करस्थितमित्यर्थः ॥ इति विजय-
दानसूरिध्यानविधानानन्तरं बहिरागमनम् ॥

व्रतिनामिव तथ्यभाषिणां जनिभाजां विपिनाभ्रचारिणाम् ।

श्रमणेन्दुरवैक्ष्यत्पुनः स निमित्तानि निमित्तवेदिभिः ॥ ९८ ॥

स श्रमणेन्दुर्विजयदानसूरिचन्द्रः शकुनानि विन्दति जानन्तीति निमित्तवेदिनस्तै-
र्निर्मितानि शकुनानि शुभानि तु । तथा नैषधे 'हाहा प्रतीपपव-
नाशकुनान्न जग्मुः' इति पुनर्पुंसकत्वमुभयत्रात्र । केषाम् । विपिनेषु वनेषु अत्रे
आकाशे चरन्तीत्येवंशीला विपिनाभ्रचारिणस्तेषां मृगशृङ्गालादयो वनचारिणः, चाष-
खज्जनशिखितित्तिरदेवीभारद्वाजादयो गगनचरास्तेषां रजनिभाजां प्राणिनाम् । किं-
लक्षणानाम् । व्रतिनां साधूनामिव । तथ्यं सत्यं भाषते इत्येवंशीलास्तथ्यभा-
षिणः तेषाम् ॥

न्यगदक्षिति ते पुरो गुरोः सितपक्षादिव शीतदीधितेः ।

उदयो भविता पदस्य ते भुवि कुराङ्गजवाचकेन्द्रतः ॥ ९९ ॥

ते शकुनावलोकका निमित्तवेदिनः गुरोर्विजयदानसूरेः पुरोऽग्रे इत्यमुना प्रकारेण न्यगदन् कथयन्ति स्म । हे गुरो, भुवि पृथिव्यां कुराङ्गजवाचकेन्द्रतः हीरहर्षोपाध्याय-पुरंदरात् ते तव पदस्य पदस्योदयो भविता उन्नतिर्भाविनी । 'उदयः पर्वतोन्नत्योः' इत्यनेकार्थः । कस्यादिव । सितपक्षादिव । यथा शुद्धपक्षात् शीतदीधितेः शिशिरकिरणस्य चन्द्रमस उदयो भवति ॥ इति शकुनावलोकनम् ॥

विधुवद्गणपुंगवं नवोदयमालोकयितुं हृदीच्छता ।

अथ सूरिपदार्पणाविधौ प्रभुरागृह्यत धीसखेन सः ॥ १०० ॥

अथ ध्यानसमाप्तिवहिरागमनशकुनावलोकनानन्तरं धीसखेन अर्थात् शिवपुरीसंघपुरःसरीकृतं चाङ्गासंघपतिमन्त्रिणा स प्रभुर्विजयदानसूरिः सूरैराचार्यस्य पदस्यार्पणा प्रदानं तस्य विधिः प्रकारस्तत्र विषये । 'विभूषणानां मणिमण्डले नलः । स्वरूपलेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणाः ॥' इति नैषधे । आगृह्यत गुरोरत्याग्रहः कृतः । धीसखेन किं कुर्वता । नवोदयं नवीना उन्नतिर्यस्य तादृशं गणपुंगवं गच्छनायकं आलोकयितुं द्रष्टुं हृदि खहृदये इच्छता काङ्क्षता । किन्तु विधुवत् यथा धीसखेन विद्वज्जनेन शुभकार्यकरणार्थं नवोदयं चन्द्रं स्पृहयता भूयते ॥

अवधार्य तदाग्रहं हितामिव वाणीं भणितो हितैषिणा ।

तत ओमिति वक्त्रवारिजं वचसा योजितवान्स तत्पुरः ॥ १०१ ॥

ततस्तदाग्रहकरणानन्तरं स गुरुर्विजयदानसूरिस्तत्पुरश्चाङ्गासंघपतेरग्रे इत्यमुना प्रकारेण वचसा वचनेन कृत्वा वक्त्रवारिजं वदनकमलं योजितवान् योजयामास । इति किम् । वाक्ये एवमस्तु । ओमिति स्त्रीकारे । 'ओमिति प्रतिपद्यस्व' इति हेमाचार्य-कृतवीतरागस्तवे । किं कृत्वा । तदाग्रहं ससंघचाङ्गासंघपतिविज्ञप्तिकामवधार्य हृदये धृत्वा । कामिव । वाणीमिव । यथा हितैषिणा स्वस्यायतौ सुखकाङ्क्षिणा पुरुषेण स्वजनेन मित्रेण वा भणितां कथितां हितां पथ्यां वाचं विद्वान् हृद्यवधारयति । 'हितं पथ्ये गते धृते' इत्यनेकार्थः ॥

निरधारि मुहूर्तमात्मना गणकैः श्रीश्रमणावनीन्दुना ।

महनीयमहो विवाहवत्पुनरारभ्यत मन्त्रिणा पुरे ॥ १०२ ॥

श्रीश्रमणावनीन्दुना श्रिया गणलक्ष्म्या शोभया वा युक्तः श्रमणानां सुनीनां मध्ये अवनीन्दुर्वसुधासुधाकरो राजा एतावता श्रीविजयदानसूरिणा आत्मना स्वयमुपविश्य गणकैर्ज्योतिषिकैः समं मुहूर्तं सूरिपदस्थापनोचितोदयास्तशुद्धिग्रहगोचरोच्चस्थग्रहादिशुभदिनत्रेला निरधारि निश्चयीकृतम् । पुनर्मन्त्रिणा चाङ्गाध्यधीसखेन महनीयः सर्व-

जनैरतिश्लाघनीयो मह उत्सवः पुरे शिवपुर्यां आरभ्यत प्रारब्धः । किंवत् । विवाह-
वत् । यथा केनाप्यभिमानवता धनिना पाणिग्रहणावसरे संसारिजनातिप्रशस्यो
महामहः प्रारभ्यते ॥

अथ शिल्पिचणैरचीकरन्ननुवादैरिव विश्वकर्मणः ।

मणिमण्डपमंशुडम्बराधरितादित्यममात्यमानवाः ॥ १०३ ॥

अथ मुहूर्तनिर्धारणमहोत्सवप्रारम्भणानन्तरं अमात्यमानवाः चाङ्गासंघपतिप्रधानसे-
वकजनाः शिल्पिचणैः प्रशस्यविज्ञानिभिर्मणीनां उपलक्षणात् काञ्चनरत्नानां गणैः
खचितं मण्डपं जनाश्रयमचीकरत् कारयन्ति स्म । किंभूतं मणिमण्डपम् । अंशुनां
किरणानामाडम्बरेण प्रतिदिशं अविरलातिप्रसरणेनाधरितो हीनीकृतस्तिरस्कृतो वा
आदित्यो भास्करो येन । शिल्पिचणैरुत्प्रेक्षते—विश्वकर्मणो देवानां वर्द्धकेः सूत्रधारस्या-
नुवादैः प्रतिरूपैरिव । प्रशस्यार्थं चञ्चुचणौ शब्दौ योज्याविति प्रक्रियायाम् ॥

मणिकल्पितशिल्पिकौतुकप्रकरालोकनलालसाशयाः ।

त्रिदशालिदशीसखा दिवः किमिहालेख्यमिषादुपागमन् ॥ १०४ ॥

इह मण्डपे आलेख्यानां चित्राणां मिषात् कपटादिवो देवलोकात् त्रिदशीसखाः
स्वस्वदेवीसंयुक्ताः त्रिदशा निर्जरा उपागमन् किम् आगता इव । किंभूतात्रिदशाः ।
मणिभिः पञ्चविधरत्नैः कल्पितानां रचितानां शिल्पानां चित्ररूपादिविज्ञानानां प्र-
करस्य समूहस्य आलोकने दर्शने लालसा लोलुपा आशया अभिप्राया मान-
सानि वा येषां ते ॥

स मुहूर्तदिने गुरुः समं मुनिभिर्मण्डपमध्यमीयिवान् ।

सदसः सदनं द्युसन्नभिः प्रतिपन्थी पृथिवीभृतामिव ॥ १०५ ॥

स गुरुर्विजयदानसूरिः मुनिभिः समं गणिपण्डितोपाध्यायादिसाधुभिः सार्द्धं मुहूर्त-
स्य दिने वासरे मण्डपस्य मध्यमीयिवान् गतः । क इव । प्रतिपन्थीव । यथा पृथि-
वीभृतां पर्वतानां प्रतिपन्थी वैरी इन्द्रः द्युसन्नभिः स्वर्गगृहैः सुरैः सह सदसः सभायाः
सदनं मन्दिरमेत्यागच्छति । ‘नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहम्’ इति रघुवंशे ॥

इदमीयमहामहेक्षणोपनतैः पौरनरैः परःशतैः ।

निभृतं भ्रियते स्म मण्डपो नवकासार इवाम्बुदाम्बुभिः ॥ १०६ ॥

परःशतैः शतात्परे परः शताः तैः सहस्रसंख्यैः पौरनरैर्नागरिकलोकैः मण्डपः सूरि-
पदप्रदानास्पदं निभृतं घनं भ्रियते स्म भृतः । किंभूतैः पौरनरैः । इदमीयस्य हीरहर्षो-
पाध्यायसंबन्धिनो महामहस्याचार्यपदस्थापनातिशयितोत्सवस्य ईक्षणार्थमुपनतैः स-
मागतैः । क इव । नवकासार इव । यथा नवीनस्तडागः अम्बुदाम्बुभिः प्रावृट्पयो-
धरपानीयैः निर्भरं पूर्यते ॥

त्रिशलातनुजन्मशासनाभ्युदयं मूर्तमिव व्रतीश्वरम् ।

यतिभिस्तमजूहवद्रुस्त्रिदशीशंसितभाग्यवैभवम् ॥ १०७ ॥

गुरुर्विजयदानसूरिः साधुभिः उपाध्यायपण्डितादिमुनिभिः कृत्वा तं हीरहर्षोपाध्यायमजूहवत् आकारयामास । किंभूतं तम् । त्रिदश्या शासनदेवतया शंसितः श्लाघितो भाग्यस्य सुकृतस्य पुण्योदयस्य वैभवः संपदस्य । इवोत्प्रेक्ष्यते—मूर्तं मूर्तिमन्तमङ्गीकृताङ्गं त्रिशलायाः सिद्धार्थपृथिवीपतिपत्न्यास्तनुजन्मनो नन्दनस्य श्रीमन्महावीरदेवस्य शासनस्य अभ्युदयमुन्नतिमिव ॥

गगनात्परसेन्दुहायने विशदे पौषजपञ्चमीदिने ।

धृतशीतरुचीरुचिच्छलोज्ज्वलवस्त्रे किमु तत्पदोत्सवे ॥ १०८ ॥

व्रतिवारिधिनेमिवासवः स्वपदे स्थापितवान्स वाचकम् ।

इव पञ्चमकं गणाधिपं मृगराजध्वजतीर्थनायकः ॥ १०९ ॥

(युग्मम्)

स विजयदाननामा व्रतिनां श्रमणानां वारिधिनेमेर्वसुंधरायाः नायकः स्वामी । राजा इत्यर्थः । सूरिः तं हीरहर्षनामानं वाचकमुपाध्यायं स्वपदे निजपदे स्थापितवान् संस्थापयामास । क इव । मृगराजध्वजतीर्थनायक इव यथा मृगराजः सिंहो ध्वजश्चिह्नं लाञ्छनं यस्य तादृशस्तीर्थनायकस्तीर्थेश्वर एतावता श्रीमहावीरजिनः पद्मानां संख्या-पूरणः पञ्चमः, पञ्चम एव पञ्चमकः, तं गणस्य साधुसमुदायरुपगच्छस्य नायकं स्वामिनं पञ्चशतच्छात्रैः समं प्रव्रजितत्वात् । तद्यतिकरे पञ्चशतसाधूनां गणस्य नाथं गणधरं सुधर्मस्वामिनं स्वपदे स्थापयति स्म । कस्मिन्हायने । गगनमाकाशं शून्यम् (०), आत्मा क्षेत्रज्ञ एकः (१), रसास्तिक्तादयः षट् (६), इन्दुश्चन्द्रोऽप्येकः (१), तन्मिहायने वत्सरे विक्रमादित्यादृशाधिकषोडशशत (१६१०) वर्षातिक्रमे । कुत्र दिवसे । पौषजपञ्चमीदिने पौषमासे जाता या पञ्चमी नास्तीति तिथिस्तद्विवसे । किंभूते । विशदे शुक्ले । उत्प्रेक्ष्यते—तत्पदोत्सवे तस्य हीरहर्षोपाध्यायस्य पदस्याचार्यपदप्रदानस्य उत्सवे महामहे धृतं परिहितं शीतरुचीरुचिः चन्द्रचन्द्रिका तस्याश्छलेन कपटेन उज्ज्वलं धवलं वस्त्रं वसनं येन एवंविधे इव वासरे । शुक्लपञ्चमीदिने इत्यर्थः ॥ संवत् १६१० वर्षे पौषमासे शुक्लपञ्चमीवासरे श्रीहर्षवाचकस्य सूरिपदस्थापना ॥ इति श्रीहीरविजयसूरेराचार्यपदस्थापना ॥

हृदि हीर इवैष विष्टपे विजयोऽस्यैव पुनर्भविष्यति ।

अत एव कृतास्य सूरिणा विजयाद्वा किमु हीरपूर्विका ॥ ११० ॥

यत्कारणादेव सूरिः हृदि अर्थाजगतां हृदये हीर इव वज्रमणिरिव । जनभाषया 'हीरो' । रहस्यं च भविष्यति । पुनरपरार्थे न्यासे विष्टपे विश्वे अस्यैव सूरेरेव जयो कुवादिवादिषु विजयो भविष्यति नान्यस्य । उत्प्रेक्ष्यते—अतः कारणात् सूरिणा वि-

जयदानगुरुणा अस्य हीरहर्षस्य हीर इति नाम पूर्वं यस्याः सा हीरपूर्विका विजयाह्वा
विजय इत्याख्या कृता किमु । एतावता हीरविजयसूरिरित्यभिधानं निमित्तम् ॥

इदमेव दिनं जगत्पतेरभिषेकार्हमितीव संमदात् ।

उदयादिमसिंहभूमिमानभिषिक्तात्र तदैव बाहुजैः ॥ १११ ॥

अत्र शिवपुर्यां संमदादानन्दात् बाहुजैः राजन्यैः । 'तत्तस्मिन्विनिमज्ज्य बाहु-
जभटैरारम्भ रम्भा-' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्तदैव तस्मिन्नवसरे उदय
इति पदमादिमं पत्रं तादृशः सिंह एव भूमिमानृपः एतावता उदयसिंहराजा अभिषिक्त
इव श्रीरोहिणीमण्डलराज्ये संस्थापितः । इति किम् । इदमेव दिनं यस्मिन् दिने श्रीहीर-
हर्षविजयसूरेराचार्यपदं प्रदत्तं तदैव दिनं जगतां भूलोकस्य पत्युर्भर्तुश्चक्रवर्त्यादेरभिषे-
कस्य राज्यस्थापनाया अर्हमुचितं योग्यम् ॥

भुवि मङ्गलतूर्यनिखनो दिवि दिव्योऽजनि दुन्दुभिध्वनिः ।

इति तौ किमु शंसतो गुरुर्न ऋतेऽस्मादपरोऽस्ति रोदसोः ॥ ११२ ॥

भुवि पृथिव्यां मङ्गलानां भूयसां श्रेयसां सूचकानां तूर्याणां वादित्राणां निखनो
निर्घोषः, तथा दिवि आकाशे दिव्यो देवतासंबन्धी दुन्दुभीनां मदनभेरीणां निखलानां
वा ध्वनिः शब्दः अजनि संजातः । उत्प्रेक्ष्यते—तौ द्वावपि शब्दौ इत्यमुना प्रकारेण
शंसतोऽर्थाल्लोकानां पुरः कथयत इव । इति किम् । यत् रोदस्योर्वावापृथिव्योरस्मात्
हीरविजयसूरेरपरोऽस्यो द्वितीयो कोऽपि असाधारणगुणगणो गुरुर्नास्ति ॥

पिकपञ्चमकूजितक्वणास्तमगायन्ध्वणुकोदरीगणाः ।

अदसीययशोजिगासयोपगताः किंपुरुषाङ्गना इव ॥ ११३ ॥

ध्वणुकोदरीगणा कृशोदरीनारीनिवहाः । 'शृङ्गारसर्गध्वणुकोदरीयम्' इति नैषधे ।
तदा तस्मिन् सूरिपदप्रदानसमये तमगायन् तद्गुणग्रामं गायन्ति स्म । किंभूताः । पि-
कानां कोकिलानां पञ्चमकूजितं वसन्तसमयोन्निद्रसान्द्रमाकन्दकलिकास्वादनोद्धटित-
कण्ठकुहरप्रोङ्खोलितपञ्चममधुरध्वनिस्तद्वत् क्वणो निनादो यासाम् । उत्प्रेक्ष्यते—अ-
दसीयानां हीरविजयसंबन्धिनानां यशसां कीर्तिनां जिगासया गातुमिच्छया उपगताः ।
खल्लोकाद्भूलोके स्वस्थानाद्वा शिवपुर्यां समागताः किंपुरुषाङ्गनाः किंनर्य इव ॥ इत्याचा-
र्यपदमहोत्सवः ॥

त्रिजगन्नयनामृताञ्जनं शुशुभाते यतिपुंगवावुभौ ।

सुरभीकृतभूतलौ यशःसुमनोभिर्मधुमाधवाविव ॥ ११४ ॥

उभौ द्वौ यतिपुंगवौ विजयदानहीरविजयसूरीन्द्रौ शुशुभाते शोभां लभेते स्म । किं-
भूतौ । त्रिजगतां तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशत्वात् त्रिभुवनजनानां नयनेषु लोचनेषु आ-
ह्लादकत्वेन अमृताञ्जनं सुधाया अञ्जनतुल्यौ । पुनः किंभूतौ । यशोभिरेव सुमनोभिर्वि-

कसितकुसमैः कृत्वा सुरभीकृतं वासितं सुगन्धं बिहितं भूतलं महीमण्डलं याभ्याम् ।
उत्प्रेक्ष्यते—मधुमाधवौ चैत्रवैशाखमासाविव ॥

द्युसदामिव मेदिनीरुहौ जगतीजंगमतानुसङ्गिनौ ।

स विभूषयतः क्रमेण तौ विहरन्तावणहिलपत्तनम् ॥ ११९ ॥

क्रमेण विहारपरिपाठ्या तौ विजयदानहीरविजयसूरीन्द्रौ अणहिलनाम पत्तनं विभू-
षयतः स अलंचक्रतुः । किं कुर्वन्तौ । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसदां देवानां मेदिनीरुहौ पादपौ
कल्पवृक्षाविव । किंभूतौ । जगत्यां भूमिपीठे जंगमतायाः संचरणशीलत्वस्य अनुसङ्गः
सङ्गोऽस्त्यनयोस्तौ ॥

श्रवणद्युमणी मणीव तौ मुनिमुक्तावलमध्यशालिनौ ।

पुरि तत्र तमोनिशुम्भनौ गणलक्ष्मीं मदयांबभूवतुः ॥ ११६ ॥

तत्र पुरि पत्तननगरे तौ विजयदानहीरविजयनामानौ श्रमणद्युमणी मुनिमार्तण्डौ ।
सूरीन्द्रावित्यर्थः । गणलक्ष्मीं तपागच्छश्रियं मदयांबभूवतुः । शृङ्गारकलितां कुर्वीते स्मेत्यर्थः ।
काविव । मणीव । नायकरत्ने इव । मणीवादिवर्जमिति द्विवचनेऽपि संधिः स्यात् । यथा
मणीव दंपतीव रोदसीव । ‘मणीव नीलोत्तरलौ विरेजतुः’ इति नैषधेऽपि । किंभूतौ ।
मुनयः साधव एव मुक्तावलमौक्तिकहारस्तस्य मध्ये शालेते इत्येवंशीलौ । पुनः किं-
भूतौ । तमसामज्ञानान्धकाराणां निशुम्भनौ व्यापादकौ । नायकमणी अपि स्त्रियं समदां
सृजतः मुक्तावलमध्यस्थायिनौ तमोनिहन्तृकौ च ॥ इति द्वयोरपि सूरीन्द्रयोः पत्तने
पादावधारणम् ॥

अथ तत्र समर्थनामभृद्गणशाली भवति स भूतिमान् ।

सचिवो यवनस्य भूभुजो मतिवार्धिश्चणकाङ्गजन्मवत् ॥ ११७ ॥

अथ पत्तनागमनानन्तरं तत्राणहिलपत्तने समर्थ इति नाम विभर्ताति समर्थनामभृत्
भणशाली वक्षस्कारव्यापारकरिणां कश्चित् संज्ञाविशेषः भवति स्माभवत् । एतावता
समर्थभणशालीतिनामा । किंभूतः । सचिवः प्रधानः । कस्य । भूभुजः पत्तनाधीशस्य
सेरखानस्य । किंभूतस्य । यवनस्य ‘पठाण’ इति नाम म्लेच्छजातीयस्य । पुनः किंभूतः । भू-
तिमान् हस्तितुरगादिलक्ष्मीकलितः । पुनः किंभूतः । मतिवार्धिः बुद्धिसमुद्रः । किंवत् ।
चणकाङ्गजन्मवत् । यथा चणकनामा द्विजविशेषस्तस्याङ्गजन्मा पुत्रश्चाणक्यो धीनि-
धिरभूत् ॥

उपचक्रमिरे महामहा अमुनाचार्यपदस्य नन्दये ।

शिवशैवलिनीवरोद्वहोपयमार्थं प्रथमोत्सवा इव ॥ ११८ ॥

अमुना समर्थभणशालीसचिवेन आचार्यपदस्य नन्दये नन्दिकारापरणार्थं महामहा
अतिशयिन उत्सवा उपचक्रमिरे प्रारब्धाः । उत्प्रेक्ष्यन्ते—शिवमे(ए)व मुक्तिरूपो यः

शैवलिनीनां नदीनां वरो भर्ता समुद्रस्तस्योद्वहा पुत्री लक्ष्मीस्तस्या उपयमः पाणिग्रहणं तस्मिन् । सिद्धिलक्ष्मीविवाहे इत्यर्थः । प्रथमोत्सवा इव आदिमाः क्षणा इव ॥

पुरि जानपदीयमानवव्रज आकार्यत तेन सेवकैः ।

पिकभृङ्गभरः स्वसौरभैरिव कुञ्जे स्मितचूतशाखिना ॥ ११९ ॥

तेन समर्थमणशालिमन्त्रिणा सेवकैः स्वभृत्यवर्गैर्जानपदीयो गुर्जरमण्डलसंबन्धी मानवव्रजो जनसमूहः पुरि पत्तननगरे आकार्यत आहूयते स्म । आमन्त्रित इत्यर्थः । केनेव । स्मितचूतशाखिनेव । यथा वसन्तसमयविकसितसहकारतरुणा स्वस्यात्मीयस्य सौरभैरामोदेः परिमलैः कृत्वा पिकभृङ्गभरः कोकिलमधुकरनिकरः कुञ्जे कानने आकार्यते ॥

सुकृतं प्रविधाय सत्क्रियाममुना संघजनस्य संमदात् ।

समचीयत शम्बलं महोदयपुर्यां प्रथियासुना किमु ॥ १२० ॥

अमुना पत्तनाधीशधीसखेन सुकृतं पुण्यं समचीयत सम्यक्प्रकारेण पुष्टं क्रियते स्म । किं कृत्वा । संमदादतिहर्षात् संघजनस्य चातुर्वर्ण्यस्य संघलोकस्य सत्क्रियामशन-पानखादिमवस्त्राभरणश्रीफलादिदानेन सत्कारं प्रविधाय कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—महोदयपुर्यां निवृत्तिनामनगर्यां प्रथियासुना प्रकर्षेण गन्तुमिच्छुना सता अमुना मन्त्रिणा शम्बलं मार्गनिर्वाहकृत्पाथेयं किमु संचितम् ॥

गुरुनन्दिमहेऽङ्गनासखैर्वसतेर्मध्यमभूषि मानुषैः ।

जिनजन्ममहे मरुद्गिरेरिव गीर्वाणगणैरधित्यका ॥ १२१ ॥

गुरोर्हीरविजयसूरीशितुः नन्दिमहे गच्छानुज्ञामहोत्सवे अङ्गनासखैः स्वस्वकलत्रकलितैरथवा निजापरवनितावर्गसहितैर्मानुषैः पुरुषैर्वसतेरुपाश्रयस्य मध्यमभूषि अलंक्रियते स्म । कैरिव । गीर्वाणगणैरिव । यथा जिनस्य अर्हद्भट्टारकस्य जन्ममहे जन्माभिषेकोत्सवे सुराङ्गनानुगतैर्भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिसुरसमूहैर्मरुद्गिरैर्निर्जरोर्वीधरस्य मेरोरधित्यका ऊर्ध्वभूमिश्रूलिका भूष्यते ॥

गणिनन्दिमहेऽप्सरोगणैरिव मुक्ताभिरुपेत्य यौवतैः ।

करपीडनमण्डपो यथाक्षतपुञ्जैः समवर्ध्यतालयः ॥ १२२ ॥

साङ्गे प्रवचने अधीती गणिरनूचानश्च तस्य गणेर्नन्दिमहे निर्वाणमहोत्सवे यौवतैर्विविधकुलजन्मपुरनिवासियुवतीसमूहैरुपेत्यागत्याक्षतपुञ्जैर्लज्जैरालयः उपाश्रयः श्रीशुद्धं अतिबहुलसंमर्दतः प्राप्तुमशक्नुवद्भिस्तदाश्रयत्वादसतिरेव समवर्ध्यत वर्धापितः । क इव । करपीडनमण्डप इव । यथा विवाहमण्डपः सधववधूभिरक्षतैर्वर्धाप्यते । कैरिव । अप्सरोगणैरिव । यथा गौतमादिगणभरः नन्दिमहोत्सवे सुरसुन्दरीवृन्दैर्मुक्ताभिर्मुक्ताफलैः संवर्ध्यते । 'आसैर्वर्धापयान्चे शुभे योगः शुभस्य हि' इति प्रतिक्रमणमृचवृत्तौ ॥

जिनवद्गणधारिणः पदं समनुज्ञाप्य स सूरिचक्रिणः ।

गुरुरस्य सहस्रदीधितिप्रमितावर्तनवन्दनान्यदात् ॥ १२३ ॥

स गुरुर्विजयदानसूरीः अस्य सूरिचक्रिणः हीरविजयसूरिसार्वभौमस्य सहस्रदीधितयो द्वादशाक्षरः तैरिव प्रमीयन्ते प्रमाणविषयीक्रियन्ते इति सहस्रदीधितिप्रमितानि तादृशान्यावर्तनानि हस्तावर्तकरणानि येषु तादृशानि । एतावता द्वादशावर्तवन्दनकानि अदात् ददाति स्म । किं कृत्वा । गणधारिणः गच्छधरस्य पदं समनुज्ञाप्य सम्यक्प्रकारेणानुज्ञां दत्वा । किंवत् । जिनवत् । यथा जिनोऽर्थान्महावीरतीर्थकरः सुधर्मस्वामिनो गणधारिणः पदं समनुज्ञापयति ॥

वशिनोऽस्य ततो वशंवदां गणभृद्भूमिमणिर्गणश्रियम् ।

स्वसुतस्य पितेव संपदं प्रणयेन प्रणिनाय नीतिमान् ॥ १२४ ॥

ततो द्वादशावर्तवन्दनकप्रदानानन्तरं गणभृत्सु गच्छधरेषु भूमिमणिः क्षोणीरत्नं राजा विजयदानसूरीन्द्रः प्रणयेन स्नेहेन वशिनो जितेन्द्रियस्य अस्य हीरविजयसूरेर्गणश्रियं तपागच्छलक्ष्मीं वशंवदामायत्तां प्रणिनाय चकार । 'सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्माति निर्मिमीते च' इति करणार्थः क्रियाकलापे । क इव । पितेव । यथा जनकः स्वसुतस्य विजयपुत्रस्य संपदं गृह्यसंपत्तिं अनुक्रममागतात्मगृहलक्ष्मीं वशंवदां प्रणयति । किंभूतः । नीतिमान् युक्तयुक्तविचारोपेतः । गुरुः पिता च ॥ इति समर्थम् । गणशालीकृतमहोत्सवपूर्वकश्रीहीरविजयसूरिपुरंदराचार्यपदनन्दिनवन्दनकप्रदानवर्णनम् ॥

मुदमादधिरे मुमुक्षवस्तमवाप्याभिनवोदयं प्रभुम् ।

ननृते नरकद्विपं पुनर्गणलक्ष्म्या पुरुषोत्तमं पतिम् ॥ १२५ ॥

मुमुक्षवः संसारासारकारागारं मोक्तुमिच्छवः तपागच्छसाधवः अभि सामस्त्येन नवः 'णु स्तुतौ' नवनं नवः स्तुतिस्तद्युक्तः प्रशंसास्पदं नवीनो वा उदयोऽभ्युदयनं प्रादुर्भावो यस्य तादृशं प्रभुं स्वामिनं हीरविजयसूरिं अवाप्य लब्ध्वा मुदमानन्दम् । अर्थान् मानसे आदधिरे धारयन्ति स्म । पुनर्थान्तरन्यासे गणलक्ष्म्या तपागच्छश्रिया नवीनाभ्युदयं तं पतिं नायकं प्राप्य ननृते नर्तितम् । किंभूतम् । नरकस्य दुर्गतेर्द्विपं वैरिणम् । पुनः किंभूतम् । पुरुषेषु सकलप्रयुष्येषु उत्तमं आचार्यत्वात् श्रेष्ठम् । तथा श्रिया क्षीरनीरतिधैर्येन्द्विन्यापि नरकासुरसंहारकारिणं पुरुषोत्तमं नारायणं पतिं भर्तारं संप्राप्य ननृते ॥

गणपूर्वगिरौ महोदयश्रमणव्योममणीसमीक्षणात् ।

कुनयैरिह कौशिकायितं भविकैः पङ्कजकाननायितम् ॥ १२६ ॥

इह जगति भूमिपीठे वा गणस्तपागच्छः स एव पूर्वगिरिरुदयाचलः । 'पूर्वपर्वततिरोहितात्मनः' इति सुरथोत्सवकाव्ये पूर्वशब्दः । तथा 'अथोदयः पूर्वोद्विः' इति हैम्या-

मपि । तस्मिन् महान् सर्वातिशायी उदयः पदस्थापनासमय एव सर्वोत्कृष्टं माहात्म्यं यस्य तादृशो यः श्रमणव्योसमणी सर्वसाधुषु तेजस्वित्वेन भास्करः तस्य समीक्षणादर्शनात् कुतिसतो विरुद्धो नयो मतं येषां ते कुनयाः कृपाक्षिकास्तैः कौशिकाः घूकास्तैरिवाचरितं प्रण(न)ष्टमित्यर्थः । पुनर्भव्यैर्मोक्षगमनयोग्यैर्जनैः सम्यग्दृष्टिभिः पङ्कजानां कमलानां काननैर्वनैरिवाचरितम् । विकसितमित्यर्थः ॥

स्वयमेव शिवं गमी पुरानपि संप्रापयितुं प्रभुः प्रभुः ।

इति वक्तुमिवेश्वरान्दिशा यशसा व्यानशिरेऽखिला दिशः ॥ १२७ ॥

यशसा अर्थात् सूरिन्द्रश्लोकेनाखिलाः समस्ता दशापि दिशः व्यानशिरे व्याप्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—दिशां हरिताम् ईश्वरान्नायकान् । दिक्पालानित्यर्थः । इत्यग्रे वक्ष्यमाणं वक्तुं कथयितुमिव । इति किम् । यदेष प्रभुर्हीरविजयसूरिः स्वयमात्मना शिवं मोक्षं गमी गमिष्यति कालसामाध्यभावाद्भवान्तरेऽपि पुनः परानन्यानपि जन्तून् मोक्षं संप्रापयितुं प्रभुः समर्थोऽस्ति । ‘यथा’ विदूराद्विरदूरतां गमी’ इति नैषधे ॥

कजपाणितमोद्विषजगन्नयनस्यास्य महोभरैर्भरात् ।

किमु चण्डरुचेरसूयया भ्रियते भूमिभस्तलद्वयी ॥ १२८ ॥

अस्य सूरिः मेहोभारेः प्रतापपटलैर्भरादतिशयाद्भूमिभस्तलद्वयी मेदिनीगगनमण्डलयामलं भ्रियते अभिव्याप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—चण्डरुचेः सूर्यस्यार्थात् प्रतापैः सार्द्धमसूयया ईर्ष्ययेव । अस्य किंभूतस्य । कजं कमलं अरुणत्वेन मृदुत्वेन वा तत्तुल्यः पाणिर्यस्य । अथवा आकृत्या कजं पद्मं पाणौ हस्ते यस्य । तथा तमसामज्ञानानां पापानां वा द्विषन् वैरी । तथा जगतां विश्वेषां धर्ममार्गदर्शकत्वेन नयनरूपः । पक्षे कमलाङ्गितकरस्यान्धकारद्विषतः जगच्छुषः । विशेषणत्रयेऽपि कर्मधारयः ॥

स पतिव्रतयेव वल्लभो गणलक्ष्म्या समुपास्यत प्रभुः ।

अमुनागमि सा पुनर्मुदं नगरी नीतिमतेव भूभृता ॥ १२९ ॥

स हीरविजयसूरिर्गणलक्ष्म्या तपागच्छश्रिया समुपास्यते सम्यक् सेव्यते स्म । कथयेव । पतिव्रतयेव पतिः । स्वभर्तृवत् व्रतं नियमो यस्याः स्वकीयं भर्तारं विना स्वप्नेऽपि नान्यं कामुकं कामयते । सा पतिव्रता तथा सत्या युवत्या वल्लभः स्वकान्तः सम्यक् त्रिकरणशुद्ध्या सेव्यते । पुनरन्यदर्थं अमुना सूरिणा सा गणलक्ष्मीर्मुदं परमानन्दमगमि प्रापिता । केनेव । भूभृतेव । यथा नीतिमता न्यायनिष्ठेन पार्थिवेन नगरी उपलक्षणात् स्वजनपदकलिता आत्मदासराजधानी प्रमोदं प्राप्यते । अथवा ‘तरुणीवत्तरुणेन सूरिणा’ इति पाठस्तदा किंवा । तरुणीवत् । यथा तरुणेन यूना पुंसा तरुणी युवती मुदं प्रीतिं गम्यते प्राप्यते । प्यन्तः प्रयोगः । किंभूतेन तरुणेन । सूरिणा पण्डितेन विविधविलासरसचतुरशीतिकामासनक्रीडानर्भवचनचातुरीचतुरेण । ‘मेधाविकोविद-

विशारदसूरिदोषदृक्' इति हैम्यां विद्वन्नाम । तथा । 'वाचो वाच्यविवेकविक्रवधिया-
भीहग्विधा मादृशां लप्स्यन्ते क किलावकाशमथवा सर्वसहाः सूरयः' इति चम्पू-
कथायामपि । अथवेति स्मरणगर्भे पक्षान्तरे वा सूरयो विद्वांसः सर्वसहाः । मादृशा-
मनतिप्रकृष्टा अपि वाचः सहिष्यन्ते ह्यवधारयिष्यति ज्ञातृत्वादिति तद्विप्पनके ॥

अभजन्त यतिव्रजा विभुं विहगाः स्मेरमिवावनीरुहम् ।

पृणति स्म स तान्पुनर्महोदयसस्यं स प्रदिशंस्तानिव ॥ १३० ॥

यतिव्रजास्तपागणश्रमणसमूहा विभुं हीरविजयसूरिमभजन्त सेवन्ते स्म । के इव ।
विहंगा इव । यथा पक्षिणः स्मेरं विकसितमवनीरुहं वृक्षं सेवन्ते । पुनः स सूरिस्तान्
मुनिमण्डलान् पृणति स्म प्रीणाति स्म । किं कुर्वन् सः । महोदयो मोक्षो महानुदयो
वा स एव सस्यं फलं प्रदिशन् प्रयच्छन् ददानः । क इव । स इव । यथा स स्मेरावनी-
रुहः फलं स्वसस्यं विश्राणयन् विहगान् प्रीणाति । 'प्रीणाति प्रीणयति च पृणतीति
प्रीणनार्थाः स्युः' इति क्रियाकलापे ॥ इति हीरविजयसूरैस्तपागच्छसाम्राज्यप्राप्तिः ॥

कुनयान्नयता विनम्रतां जयिनेव प्रतिगर्जतोऽमुना ।

दधताधरितः क्षमां ह्रिया किमु पातालमहीश्वरोऽविशत् ॥ १३१ ॥

क्षमामतिशायिनीं क्षान्ति उपशान्तवामित्यर्थः दधता धारयता अमुना सूरिणा अ-
धरितः हीनीकृतो धिक्कृतः सन् अहीश्वरः क्षमां पृथिवीं धरतीति तादृशः शेषनागः ।
उत्प्रेक्ष्यते—ह्रिया लज्जया किमु पातालं रसातलमविशत् प्रविष्ट इव । 'क्षमा क्षिति-
क्षान्त्योः' इत्यनेकार्थः । अमुना किं कुर्वता । [प्रतिगर्जतो वैतण्डिकान्] कुनयान् कु-
पाक्षिकान् शाक्यादीन् विनम्रतां प्रणमनशीलतां नयता प्रापयता । केनेव । जयि-
नेव । यथा विजयकारिणा नृपतिना प्रतिगर्जन्तः स्पष्ट्विनः पार्थिवा विनम्रतां नीयन्ते ।
'सुहृदयो हृदयः प्रतिगर्जताम्' इति रघुवंशे ॥

परिशीलितशीललीलया तुल्यञ्श्रीसकडालनन्दनम् ।

स गभीरतयेव सागरं गुणमाणिक्यनिधिः पराभवत् ॥ १३२ ॥

गुणाः शमदमार्जवमार्दवादयस्त एव माणिक्यानि रत्नानि तेषां निधिर्विधानं स सूरि-
रुत्प्रेक्ष्यते—गभीरतया त्रिजगज्जातिशायिस्वगाम्भीर्येण सागरं पराभवत्पराजैषीदिव ।
किं कुर्वन् । परिशीलितमावालकालात्परिपालितं यत् शीलं ब्रह्मचर्यं तस्य लीला विला-
सस्तया सकडालनाम्नो नागरजातिद्विजस्य नन्दनं पुत्रं श्रीस्थूलभद्रं तुल्यन् सदृशी-
कुर्वन् ॥

निजधैर्यवदान्यताश्रिया विजिता येन सुराचलद्रुमाः ।

किमु तद्विजयाय मन्त्रणं सहवासच्छलतो वितन्वते ॥ १३३ ॥

येन सूरिणा निजस्यात्मनो धैर्यस्य धैर्यताया घोरोपसर्गपरिषहनिष्कम्पतायाः, तथा

वदान्यताया दानशीलतायाः श्रिया शोभया आधिक्येन वा सुराणां देवानां अचलाः पर्वताः पञ्च मेरवः तथा द्रुमा वृक्षाः पञ्च कल्पतरवः विजिताः पराभूताः सन्तः सह-वासच्छलतः एकत्र निवसनकपटतः । उत्प्रेक्ष्यते—तद्विजयाय सूरिपराभवनार्थं मन्त्रणं मिथ आलोचं किमु वितन्वते कुर्वन्तीव ॥ इति हीरविजयसूरिगुणाः ॥

अधिपौ निखिलक्षमाभृतां सुरसेव्यौ कलधौतदीधिति ।

हिमहेमगिरी नु जंगमौ मुनिचन्द्रौ भुवि तौ विजह्रतुः ॥ १३४ ॥

तौ मुनिचन्द्रौ विजयदानसूरि-हीरविजयसूरीन्द्रौ भुवि पृथ्वीपीठे विजह्रतुः विहारं चक्रतुः । किंभूतौ । निखिलाः समस्ताः क्षान्तिधराः शान्तिरसशालिनः साधवः तेषाम-धिपौ स्वामिनां । पुनः किंभूतौ । सुरैर्देवैः सेव्यौ उपासनीयौ । पुनः किंभूतौ । कल-धौतं काञ्चनं तद्वद्दीधितिं शरीरकान्ती ययोस्तौ । नु इति वितर्के । जंगमौ संचरन्तौ हिमहेमगिरी हिमाचलसुराचलाविव । किंभूतौ । क्षमाधराणां पर्वतानां नाथौ । ‘हि-मालयो नाम नगाधिराजः’ इति कुमारसंभवनामकाव्ये । तथा ‘आरोहतु क्षितिधरा-धिपतिं सुमेरुम्’ इति सूचावल्याम् । तथा देवैर्निषेवनीयौ । ‘कलधौतं रूप्यसुवर्णयोः’ इत्यनेकार्थः । कलधौते इव रूप्यसुवर्णे इव कान्ती शोभा रूची शोभा वा ययोस्तौ ॥

अथ भावडसूनुसूरिराण्मुदिरैर्मेदुरिते नभस्तले ।

इव मानस इष्टमानसः कृतवान्सूरतिवन्दिरे स्थितिम् ॥ १३५ ॥

अथ हीरविजयसूरेर्नन्दिभवनानन्तरं कदाचित् कस्मिन्नपि संवत्सरे मुदिरैः प्रावृषे-ष्यपयोदैर्मेदुरिते पुष्टे कृते निभृते नभस्तले गगनमण्डले सति । वर्षाकाले इत्यर्थः । भावड इति नाम्नो व्यवहारिणः सूनुर्नन्दनः स एव सूरिराट् एतावता विजयदानसूरि-भूमिमधवा सूरतिनाम्नि वन्दिरे स्थलजलमार्गागमनस्थाननगरे स्थितिं चतुर्मासिका-स्थानलक्षणां चक्रे कृतवान् । क इव । इष्टमानस इव । यथा राजहंसो वर्षासमये मा-नसनाम्नि सरसि वसतिं कुरुते । ‘नृपमानसमिष्टमानसः’ इति नैषधे । इष्टमानसो हंस इति तद्वृत्तौ ॥

विलसत्यथ मेदपाटकामिधदेशो वसुधाविशेषकः ।

निखिलेष्वपि मण्डलेषु यः प्रमुखोऽङ्गावयवेषु वक्रवत् ॥ १३६ ॥

अथ विजयसेनसूरेर्जन्मदीक्षावसरः अथापरवर्णनप्रारम्भे मेदपाट इत्यभिधा नाम यस्य तादृशो देशो विलसति शोभते । किंभूतः । वसुधायाः पृथिव्याः विशेषकः अर्था-त्क्षोणीलक्ष्म्यास्तिलकः यो जनपदः निखिलेषु मण्डलेषु देशेषु प्रमुखः प्रकृष्टः सर्वधातु-खनीस्थानत्वेन प्रशस्यः । किंवत् । वक्रवत् । यथा समप्रेष्वङ्गावयवेषु वक्रं वदनं प्रमुखं चतुरिन्द्रियवसतित्वेन प्रवरम् । वक्रं पुनपुंसके ॥

सुरमन्दिरजित्तरश्रिया गमितं येन विमानभीयताम् ।

फणभृद्भुवनं भुवस्तलं भजति व्रीडभरोदयादिव ॥ १३७ ॥

येन मेदपाटमण्डलेन सुरमन्दिरस्य खल्लोकस्य जित्तरया जयनशीलया श्रिया लक्ष्म्या विमाननीयतामपमानपदवीं गमितं प्रापितं सत्फणाभृद्भुवनं नागलोक उत्प्रेक्ष्यते—व्रीडभ-
रस्य लज्जातिरैकस्योदयादाविर्भावाद् भुवस्तलं भूमेरधोविभागं भजति शीलतीव ।
व्रीडशब्दोऽकारान्तोऽपि नाममालावृत्तौ तथा 'व्रीडायां च भवेद्व्रीडः' इति शब्दप्रभेदे ॥

अलकायितपूःपरम्पराः परमं विभ्रति यत्र विभ्रमम् ।

नभसोऽनवलम्बनच्युतेः शतशोऽशा इव भूतले दिवः ॥ १३८ ॥

यत्र देशे अलकायिता सर्वसमृद्ध्या धनदनगरीवशचरिताः पूःपरम्परा पुरीपङ्कयः
परममुत्कृष्टं विभ्रमं शोभां विभ्रति धारयन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—नभसः आकाशादनवल-
म्बनेन आधाररहितत्वेन च्युतिः पतनं यस्यास्तादृश्या दिवो देवलोकस्य भूतले भूमि-
मण्डले शतशः शतसंख्याका अंशा भागाः खण्डा इव ॥

त्रिजगद्विजयोद्यतस्य यद्वनराज्यो रतिजानि धन्विनः ।

सुमसंगतषट्पदा धनुर्विशिखोल्लासिखल्लरिका इव ॥ १३९ ॥

यद्वनराज्यो मेदपाटमण्डलसंबन्धिन्यो विविधविपिनश्रेणयः शोभन्ते इति संबन्धः ।
किंभूताः । सुमेधु पुष्पेषु संगताः विकसत्यत्र प्रकरनिःसरदम्बन्दमकरन्दपानगमनेन सि-
लिता अथवा मकरन्दपानलोलुपतया समेत्यान्तर्नीलीयमानाः षट्पदा मधुकरा यासु ताः ।
उत्प्रेक्ष्यन्ते—त्रिजगद्विजयोद्यतस्य त्रिभुवनजनपरम्परापराभवनविनिर्मितोद्यतस्य र-
तिर्जाया यस्य स रतिजानिः । 'जायाया निङ्' इतिनिप्रत्ययः । 'लोपो व्योर्वलि' इति
यकारलोपे सिद्धं जानिरिति प्रक्रियाकौमुद्याम् । रतिपतिः स एव धन्वी धनुर्धरस्तस्य
कुसुमायुधधानुष्कस्य धनुषि कोदण्डा विशिखा बाणास्तैरुल्लसन्ति शोभन्ते इत्येवंशीलाः
खल्लरिकाः धनुर्विद्याभ्यसनभूमय इव । यत्र धनुःपरिश्रमः क्रियते ॥

श्रितनागसगन्धसारभूरुहमाला व्यलसन्निहाचलाः ।

मलयस्य विलासमूर्तयः शमनाशाङ्गमपास्य हृष्यतः ॥ १४० ॥

इह मेदपाटमण्डले अचलाश्चित्रकूटप्रसुखाः पर्वता व्यलसन् विभान्ति स्म । किंभूताः ।
श्रिता नागा हस्तिनो यैः । तथा सह गन्धैः परिमलैस्तथा सारैर्मज्जभिर्वर्तन्ते तादृश्या
भूरुहाणां विविधवृक्षाणां मालाः श्रेणयो येषु । पश्चात् कर्मधारयः । उत्प्रेक्ष्यते—मल-
यस्य दक्षिणाचलस्य विलासेनाक्रीडया अथवा विलासार्थं मूर्तय काया इव । किंभूता
मूर्तयः । श्रिता नागा भुजगा याभिः । 'रुद्धाश्चन्दनपादपा विषधरैरम्भोरुहाः [कण्ट]-
कैः' इति सूक्तोक्तेः । अथ अन्येषामपि हुमाणां कोटरेषु प्राप्यो भुजंगा भवेयुरिति
सगन्धसाराः चन्दनहुमकलिता भूरुहाणां रसालसालपुन्यागप्रियंगुलवह्नादितरूपा मा-

लाः पङ्क्तयो यासु । मलयस्य किं कुर्वतः । शमनस्य यमस्याशाया वाञ्छाया अङ्गमुत्सङ्गम् । तत्त्वतस्तु दक्षिणादिक्रोडम् । अपास्य त्यक्त्वा हृष्यतः प्रमोदं प्राप्नुवतः । प्रायो दुष्टाशयसमीपं त्यजन् जनः संतुष्यति ॥ इति मेदपादमण्डलः ॥

इह नीवृत्ति नारदाभिधा नगरी नागपुरीव राजते ।

बलिराजविराजितान्तरा रममाणानणुभोगिभाजिनी ॥ १४१ ॥

इहास्मिन् नीवृत्ति मण्डले नारदाभिधा 'नडुलाई' इति नाम्ना लोकप्रसिद्धा नारद इत्यभिधा नाम यस्यास्तादृशी नगरी नागपुरीव भोगवतीव राजते दीप्यते । किंभूता । बलिना बलवता राज्ञा विशेषेण राजितं शोभितं अन्तरं मध्यं यस्याः । पक्षे—बलिनाम्ना नृपेण दानवाधिपतिना भूषितमन्तरं मध्यं बलिवेदमत्वात् । पुनः किंभूता । रममाणः स्वैरं क्रीडां कुर्वाणाः अनणवो महान्तो भोगिनो राज्यादिसुखवन्तो विलासिनस्तान् भजतीत्येवंशीला । पक्षे—खेलनमहाकायभुजगकलिता ॥

उपमातुमिवामरावतीं भुवने तन्निभभावदुर्विधे ।

कृतवानरविन्दनन्दनः पुरमेतां विबुधैरुपासिताम् ॥ १४२ ॥

अरविन्दनन्दनो ब्रह्मा । 'पद्मनन्दनसुतारिरंसुना' इति नैषधे । यथा पद्मनन्दनस्तथैवारविन्दनन्दन इति । एतां 'नडुलाई'नगरीं कृतवान् निर्मितवान् । किंभूताम् । विबुधैर्विंशतिपण्डितैर्देवैश्च उपासितां सेविताम् । उत्प्रेक्ष्यते—तन्निभभावैस्तस्या अमरावत्या निभास्तुल्या ये भावा नगरीरूपाः पदार्थास्तैर्दुर्विधे दरिद्रे इन्द्रपुरीप्रतिमापरनगरीरहिते तादृशे भुवने विश्वे अमरावतीमिन्द्रनगरीमुपमातुमुपमायुक्तां कर्तुमिव । अमरावतीसंनिभामित्यर्थः ॥

युवतीमुवराजिराजिते नगरे सालनिभान्मनोभवः ।

स्थितवान्नवसूरिसाध्वसादिव दुर्गे प्रविधाय सानुगः ॥ १४३ ॥

मनोभवो मदनो नगरे 'नडुलाई'पुर्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—नवसूरेः हीरविजयाचार्यस्य साध्वसाद्भ्यात् स्थितवानिव । किं कृत्वा । दुर्गे कोटं प्रविधाय निष्पाद्य । कस्मात् । सालनिभात् नगरीप्राकारच्छलात् । किंभूते नगरे । युवतीयुवराजिराजिते तरुणीतरुणश्रेणीभूषिते । स्मरः किंभूतः । सानुगः सहायुगैः स्वसेवकैर्निजपरीवारैर्वर्तते यः ॥

यदनन्यहिरण्यशीतरुग्मणिहृत्सालयलक्ष्मिकाङ्गया ।

चरणं मुरवैरिणोऽनिशं शुचिचन्द्रावुपचैरतुः किमु ॥ १४४ ॥

यस्याः नारदपुर्या अनन्यानामसाधारणानां हिरण्यैः सुवर्णैः तथा शीतरुग्मणिभिः चन्द्रकान्तरत्नैः कृतानां निर्मितानाम् । सुवर्णचन्द्रकान्तमयानामित्यर्थः । आलयानाम् । अनेकमन्दिराणामित्यर्थः । लक्ष्म्याः शोभायाः । लक्ष्मीशब्दः शब्दभेदे ह्रस्वोऽप्यस्ति । तथा समासमध्ये ह्रस्वशब्दानयने न दोषः । यदुक्तं जिनप्रभसूरिकृतचतुर्विंशतिजिनस्तव-

ऋषभनग्रे—‘चरणलक्ष्मिकरग्रहणोत्सवे’ इति । उत्प्रेक्ष्यते—शुचिचन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ ।
‘हरिः शुचीनौ गमनाद्वाधाध्वगौ’ इति हैम्यां रविनामानि । मुरवैरिणो विष्णोश्चरणं पदं
अनिशं निरन्तरं किमु उपचरतुः सेवेते स्म ॥

प्रविभाव्य भवेन भस्मितं स्मरमेतन्निखिलानुजीविनः ।

किमु यत्र समेत्य चकिरे वसतिं पौरपरम्परोपधेः ॥ १४९ ॥

एतस्य स्मरस्य निखिलाः समस्ता अप्यनुजीविनः सेवकाः यत्र नारदपुर्यां समेत्या-
गल्य । उत्प्रेक्ष्यते—पुरे भवाः पौराः नागरिकजनाः तेषां परम्पराः श्रेणयः तासामुपधेः
कपट्यात् वसतिं निवासं चकिरे कृतवन्तः । किमु किं कृत्वा । भवेन शंभुना स्वधैर्य-
लोपोद्भूतकोपानलेन भस्मितं ज्वालितावशेषीकृतं भस्म करोतीति भस्मयति भस्मयते
स्मेति भस्मितस्तम् । ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इति शिः ज्यन्तत्वा(न्ता)त्तक् । स्मरं स्वस्वा-
मिनं मनोभवं प्रविभाव्य दृग्गोचरीकृत्य ॥

कुतुकाद्बहुरुपिणं स्मरं हृदि निश्चित्य रतिर्युवभ्रमात् ।

स्वयमप्यकरोदिदमिता निजमूर्तीरिव यद्वधूपधेः ॥ १४६ ॥

रतिः शृङ्गारयोनिसीमन्तिनी स्वयमात्मनापि । उत्प्रेक्ष्यते—यद्वधूपधेर्नारदनामनग-
गरीसुन्दरीदम्भात् । इदमिताः स्मररूपप्रमाणा यावन्ति स्मररूपाणि तावन्निजमूर्ती-
रात्मीयकायान् किमु अकरोत् कृतवतीव । किं कृत्वा । युवभ्रमान्नारदनगरीतरुणजन-
भ्रान्त्या कुतुकात् कौतुहलात् स्वकान्तं स्मरं बहुरुपिणं अनेकानि रूपाणि सन्त्यस्येत्येवं-
विधं हृदि मनसि निश्चित्य निधाय निश्चयेनावधार्य यावन्ति रूपाणि स्वभर्त्रा स्मरेण
कौतुकात्क्रीडार्थं कृतानि, रत्यापि तेन समं रमणार्थं तावन्त्यात्मीयानि रूपाणि निर्मि-
तानीत्यर्थः । एतावता स्मररूपा युवानः, रतिरूपाश्च युवत्यः सन्तीत्यर्थः ॥ इति
नारदपुरीवर्णनम् ॥

मुरवैरिपुरीव माधवोऽजनि तत्रोदयसिंहभूधनः ।

धरणी रमणं प्रणीय यं शुशुभे सूरमिवारविन्दिनी ॥ १४७ ॥

तत्र नारदपुर्यां उदयसिंहनामा भूधनो भूमीपतिरजनि संजातः । क इव । माधव
इव । यथा यथा मुरनाम्नो दैत्यस्य वैरी नारायणस्तस्य पूर्नगरी तस्यां द्वारिकायां
पुर्यां श्रीपतिर्नाम भूपतिः संजायते स्म । तथा धरणी मेदपाटमण्डलमेदिनी यं उदय-
सिंहराणकं रमणं भर्तारं प्रणीय कृत्वा शुशुभे शोभते स्म । केव । अरविन्दिनीव । यथा
कमलिनी सूरं सूर्यं स्वपतिं प्रणीय शोभितवती ॥

युवतीव युवानमङ्गजान्कलधौतप्रमुखान्खनीव्रजान् ।

पृथिवी पृथिवीपुरंदरं यमवाप्य प्रमदादजीजनत् ॥ १४८ ॥

पृथिवी मेदपाटदेशावनी प्रमदादानन्दायं पृथिवीपुरंदरं उदयसिंहराणकमवाप्य

भर्तृत्वेन अधिगत्य कलधौते कनकहृष्ये प्रमुखे आदी येषां तादृशान् सर्वधातुप्रधानान्
खनीत्रजान् खानिनिकरानजीजनत् प्रकटीकृतवती । केव । युवतीव । यथा तरुणी स्त्री
तरुणं युवानं तरुणं यौवनमदोन्मत्तं कान्तं प्राप्य अङ्गजान् नन्दनान् जनयति ॥

विपुलां विपुलाहवाहताहितशूरस्रवदस्रराशिना ।

हृदयेशवदूर्णनाव यो नवकौसुम्भिकवाससा वशाम् ॥ १४९ ॥

य उदयसिंहमहीमहेन्द्रो विपुलाहवेषु महासंग्रामेषु आहताः सामस्त्येन सपरिवारेण
व्यापादिता येऽहिताः स्वशत्रुभूताः शूराः स्वभटास्तेषां स्ववताहोपाङ्गेभ्यो निःसरता
अस्रराशिना रुधिरप्रकरेण विपुलां वसुधामूर्णनावाच्छादयामास । किंवत् । हृदयेशवत्
प्राणवल्लभ इव । यथा भर्ता स्वकान्तां नवेन सद्यस्केन कौसुम्भिकेन कुसुम्भेन रक्तं वल्लं
कौसुम्भिकं तेन कुसुम्भरजितेन वाससा नोर्णोति आच्छादयति परिधापयति । 'ऊर्णुकृच्छ्र
आच्छादने' ह्वादिप्रो धातुः ॥

बहुना महिमाभिनन्द्यते किममुष्योदयसिंहभूपतेः ।

न चिरादजरामरीभवेद्युधि योऽभ्येत्य हि संमुखीभवेत् ॥ १५० ॥

अमुष्योदयसिंहभूपतेर्महिमा माहात्म्यं बहुनाधिक्येन किं अभि सामस्त्येन नन्द्यते
समुद्धि प्राप्यते । अभिनन्द्यते प्रशस्यते वा । यस्मात् कारणाद्युधि संग्रामे यः कोऽपि
वीरः सुमत्तः अमुष्य भूवल्लयैकवीरस्य राज्ञः अभ्येत्य शौर्यादागत्य संमुखीभवेत् संमु-
खीभूयात् तेन सह संग्रामं कुर्यात् स विक्रान्तो न चिरादल्पकालादेव अजरामरीभवेद्-
जरामरत्वं लभते । देवभूयं भजेदित्यर्थः । यतः—'जिते च लभ्यते लक्ष्मीर्मुते चापि
सुराङ्गना । क्षणविध्वंसिनि काये का चिन्ता मरणे रणे ॥' इति वृत्तरत्नाकरवृत्तिवचनात् ॥
इत्युदयसिंहराणकः ॥

अपि तत्र कमाख्यनैगमोऽजनि तद्भूपुरुहूतसंमतः ।

व्यवहारिषु यः पुरोगतां समवर्गेषु दधार धर्मवत् ॥ १५१ ॥

अपि पुनस्तत्र नडुलाईनगर्या कमा इत्याख्या नाम यस्य तादृशो नैगमो वणिक् अजनि
जातः । किंभूतः । तस्य पूर्वव्यावर्णितस्य भूपुरुहूतस्योदयसिंहभूमीन्द्रस्य संमतो मान्यः ।
'इदमः प्रत्यक्षगते समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानी-
यात् ॥' ग्रन्थकरणावसरे तस्य राज्ञः परोक्षत्वात् एतत्कथनम् । अथवा इदं स्वाभावि-
कवचनम्, कवीनां वर्णनौत्सुक्यात् सर्वमपि प्रत्यक्षमेव स्यान्नैषधे प्रयोगनिदर्शनात् । इह
नगर्या यः कमाख्यः साधुर्व्यवहारिषु लक्ष्मीवत्सु पुरोगतां प्रकृष्टताम् । 'वर्यं वरेण्यं प्रकरं
पुरोगम्' इति हैम्याम् । मुख्यतामित्यर्थः । दधार विभक्तिं स्म । किंवत् । धर्मवत् ।
यथा समेषु सर्वेषु चतुर्षु वर्णेषु अर्थादिलक्षणेभु धर्मः प्रधानतां धत्ते । अर्थकाममोक्षाणां
धर्माधीनत्वेन धर्म एव मुख्यः ॥

किमपास्य जिनांहिसेवया शशिना येन कलङ्ककश्मलम् ।

स्थितमेत्य दिवः क्षितौ पुनर्नभसो नीलिमसङ्गशङ्कया ॥ १९२ ॥

येन यद्रूपेण कमामूर्तिना शशिना चन्द्रेण । उत्प्रेक्ष्यते—दिव आकाशादेत्य आगस्य क्षितौ पृथिव्याम् । अर्थात् नडुलाईनगर्याम् । स्थितं वासो विहितः । किं कृत्वा । जिनो वीतरागः स्वविमानप्रसादगतशाश्वतार्हत्प्रतिमा तस्यांहेः पदस्य सेवया विविधपूजास्त-
वाद्युपासनया । अथ च जिनो विष्णुस्तस्याद्देवपास्या । तत्त्वतस्तु ‘आकाशं विष्णुपदम्’ इत्यभिधानम् । कलङ्करूपं कश्मलं जलमपास्य निरस्य । तर्हि तत्रैव कथं न स्थितम्, स्थानाभावे हेतुमाह—कया । पुनर्व्याख्य नभसः आकाशस्य नीलिमा श्यामलत्वं तस्य सङ्गो मिलनं भवनं तस्य शङ्कया अनिष्टोत्प्रेक्षणेन । ‘धृतगम्भीरखनीखनीलिमा’ इति नैषधे गगनस्य श्यामत्वम् । श्यामनीलत्वयोरभेदः ॥

करवीरगृहत्वमुग्रतां प्रविहायात्मविरूपनेत्रताम् ।

पुरि यन्निभतोऽवतीर्णवानिव पीयूषमयूखशेखरः ॥ १९३ ॥

पुरि नारदपुर्यां यस्य कमासाहस्य निभतः कपटात् । उत्प्रेक्षते—पीयूषमयूखशेखर-
श्चन्द्रमौलिरीश्वरोऽवतीर्णवानिव अवतारं गृहीतवानिव । किं कृत्वा । करवीरगृहत्वं इम-
शानवेष्टमताम् । ‘इमशानं करवीरं स्यात्’ इति हैम्याम् । पुनरुग्रताम् । चण्डतां तथात्मनो
निजस्य विरूपं विरुद्धं विकृताकारं वह्निमयत्वान्नेत्रं यस्य तत्ताम् । ‘अहिर्बुध्नो विरूपाक्ष-
विषान्तकौ च’ इति हैम्याम् । तृतीयानललोचनतामित्यर्थः । प्रविहाय त्यक्त्वा ॥ इति
कमावर्णनम् ॥

कोडाईत्यस्य कान्तासीजगतीयुवतीमणिः ।

यथा सुमनसां सार्वभौमस्य जयवाहिनी ॥ १९४ ॥

अस्य कमाव्यवहारिणः कोडाई इति नाम्ना कान्ता पत्नी आसीत् । किंभूता । जग-
त्या भूमेर्युवतीनां यावद्वनितानां मध्ये मणी रत्नम् । केव । जयवाहिनीव । यथा सुमनसां
देवानां सार्वभौमस्य चक्रवर्त्तिनः शक्रस्य पौलोमी नाम पत्नी आस्ते । यथेतीवार्थे ॥

रम्भा दम्भादिवामुष्यास्त्रिदशी त्रिदशौकसः ।

विमोहिता कमारूपं निरूप्यास्यामुपागता ॥ १९५ ॥

कमाव्यवहारिणो रूपं शरीरसौन्दर्यं निरूप्य विलोक्य विमोहिता रागातिशयं प्राप्ता
सती अमुष्या कोडिमादेव्या दम्भात् कपटात् त्रिदशौकसः स्वर्लोकतः अस्यां नडुलाई-
पुर्यां उपागता समेता । उत्प्रेक्ष्यते—रम्भानाञ्च त्रिदशी अप्सरा इव देवीव । अथवा
‘प्रेक्ष्य क्षमायामुपागता’ इति पाठः ॥

दृष्ट्वा पतिं रतं रत्यां प्रीत्येव त्यक्तकायया ।

दुःखात्सपत्न्यास्तपत्न्या व्याजाज्जन्माददेऽपरम् ॥ १९६ ॥

प्रीत्या प्रीतिनाम्नया स्मराङ्गनया तस्य कमासाधोः पत्न्या व्याजात् कोडिमदेवीदम्भात् । उप्रेक्ष्यते—अपरमन्यजन्मावतार आददे गृहीतम् । किंभूतया प्रीत्या । समान एकः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । ‘सपत्न्यादिषु नित्यं युक् वाच्यः’ इति सपत्नी । तस्या दुःखादसातात् त्यक्त उज्जितः कायः शरीरं यया । किं कृत्वा । पतिं स्मरं स्वकान्तं रत्यां रतिविषये रतमत्यासक्तं दृष्ट्वा विलोक्य । ‘श्रेणीद्वयेशयोः कन्ये उपायंस्त स...क्रमात् । वैजयन्तीं जयन्तीं च रतिप्रीती इव स्मरः ॥’ इति रत्नशेखरसूरिकृतप्रतिक्रमसूत्रवृत्तौ स्मरस्य रतिप्रीतिनाम्न्यौ द्वे पत्न्यौ ॥

त्यक्त्वावतीर्णां पुरुषं पुराणं स्वमिमां रमाम् ।

विलक्ष्यः प्रेक्ष्य तद्दुःखान्ममज्जेवार्णवे जले ॥ १९७ ॥

अर्थात् श्रीपतिः तद्दुःखात्तस्याः स्वपत्न्याः लक्ष्म्याः दुःखादसातादतीवार्त्या । उप्रेक्ष्यते—आर्णवे समुद्रसंबन्धिन्यगाधे जले पानीये ममज्ज मग्नवानिव । किंभूतः । विलक्ष्यः पत्न्याः परलोकगमनावलोकनाद्विमनायमानः । किं कृत्वा । प्रेक्ष्य प्रविभाव्य । काम् । रमां लक्ष्मीम् । किलक्षणां । अवतीर्णां गृहीतावताराम् । काम् । कोडिमदेवीम् । कोडाईरूपमित्यर्थः । ‘ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः’ । ध्रुवमुत्प्रेक्ष्यते—‘शतं शतशः संख्याः अप्सरसः सुराङ्गनाः अवतीर्य यां नगरीमध्यासताश्रयन्ति स्म । परं कः । तत्सखीजनः तस्या दमयन्त्या वयसीरूपो लोकसमुदायः’ इति नैषधतद्गुत्ती । किं कृत्वा । पुराणं जीर्णं वृद्धं पुरुषं भर्तारं स्वमात्मानं त्यक्त्वा निरस्य । वृद्धपुरुषनिर्वेदान्निजं विमुच्येत्यर्थः ॥

स्पर्धयेव दिवा दम्भादस्याः स्त्रैणशिरोमणेः ।

धृतेतरा पुरा रम्भा चित्तभूभूमिभृत्सभा ॥ १९८ ॥

पुरा नारदनामनगर्यास्याः कोडिमदेव्या दम्भाद्याजात् । उप्रेक्ष्यते—इतरा अन्या रम्भा अप्सरोविशेषा धृता कलितेव । कया । दिवा दैवलोकेन समं सार्धं सार्धया संघर्षेण असूयया वा । अस्याः किलक्षणायाः । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणं तस्य शिरोमणेश्चूडामणिसंनिभायाः । किंभूता रम्भा । चित्तभूः कामः स एव भूमिभृत्पार्थिवस्तस्य सभा उपवेष्टुमास्थानशाला ॥ इति कोडिमदेवी ॥

अमन्दानन्दसंदोहमेदुरौ तौ वधूवरौ ।

गमयांचक्रतुः कालं केलतीश्रीसुताविव ॥ १९९ ॥

तौ पूर्वव्यावर्णितस्वरूपौ वधूवरौ कोडिमदेवीकमाह्वयवहारिणौ कालं सुखगृहवाससंबन्धिनं गमयांचक्रतुरतिचक्रमतुः । काविव । केलतीश्रीसुताविव । यथा केलती रतिः । ‘केलतीमदनयोरुपाश्रये’ इति नैषधे । ‘केलती रतिः’ इति तद्गुत्तौ । श्रीसुतः कामः । विविधविलासैरनेहसं गमयतः स्म । किंभूतौ । अमन्दा अकुण्ठाः प्रत्यहं वर्धमाना ये आनन्दास्तेषां संदोहो नानात्वं तेन मेदुरौ पुष्टौ ॥

कदाप्यदर्शि तत्पत्न्या स्वप्ने सुखशयानया ।

उत्सङ्गसंगतः सिंहः श्रेयोराशिरिवाङ्गवान् ॥ १६० ॥

कदापि कस्मिन्नपि निशासमये सुखेनाधिव्याधिरहितत्वेन शयानया सुवच्चा किञ्चि-
न्निद्रायमाणया तत्पत्न्या कमाकान्तया कोडिमदेव्या स्वप्ने निद्रावस्थायामुत्सङ्गे निजक्रोडे
संगतः स्थायुकः सिंहः केसरी अदर्शि दृष्टः । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गवान्मूर्तिमान् श्रेयोराशिः
पुण्यपुत्र इव ॥

मृणालधवलान्स्कन्धे बिभ्रद्वन्धुरकेसरान् ।

शिखरे शिखरी शंभोः शारदीनानिवाम्बुदान् ॥ १६१ ॥

सिंहः किं कुर्वन् । स्कन्धे भुजशिरसि मृणालं कमलनालं तद्वद्वलानुज्ज्वलान्, तथा
बन्धुरान्मनोज्ञान् केसरान् स्कन्धोद्गतरोमाणि बिभ्रत् धारयन् । क इव । शिखरी यथा
शंभोर्भूधरः कैलासः शिखरे स्वशृङ्गे शारदीनान् शरत्कालसंवन्धिनः निःशेषेण वर्षणेन
विशदीभूतान् अम्बुदान् मेघान् विभर्ति । ‘अन्ये ते जलदायिनो जलधरास्तृष्णां वि-
निघ्नन्ति ते भ्रातश्चातकं किं वृथात्र रटितैः खिन्नोऽसि विश्रम्यताम् । मेघः शारद एष
काशधवलः पानीयरिक्तोदरो गर्जत्येव हि केवलं भृशमपां नो बिन्दुमप्युज्जति ॥’
इति चातकाष्टके सूक्ते शारदमेघे धवलिमा ॥

किमभ्यर्थयमानानामुच्छेत्तुं दौस्थ्यमर्थिनाम् ।

कुम्भिकुम्भभिदालम्ना मुक्ता बिभ्रन्नखान्तरे ॥ १६२ ॥

पुनः किं कुर्वन् । नखानां कामाङ्कुशानामन्तरे मध्ये अर्थान्नखाग्रेषु कुम्भिनां भद्रजा-
तिभवानां हस्तिनां कुम्भानां शिरःपिण्डानाम् । ‘कुम्भौ तु शिरसः पिण्डौ’ इति हैम्याम् ।
मस्तकानां भिदा विदारणं द्विधाकरणं तदवसरे विलम्बानां नखाग्राणामतितीक्ष्णत्वे भिदा
समये लगित्वा स्थिता मुक्ता मौक्तिकानि बिभ्रद्बधत् । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्यर्थयमानानां
याचनां कुर्वाणानामर्थिनां याचकानां दौस्थ्यं दारिद्र्यमुच्छेत्तुं मूलान्निहन्तुं किं धनाढ्यी-
कर्तुमिव ॥

जृम्भणादाननं काशप्रतीकाशो विकासयन् ।

मत्तस्तम्बेरमीकान्तकवलीकृतये किमु ॥ १६३ ॥

पुनः किं कुर्वन् । जृम्भणात् जृम्भाकरणात् आननं निजमुखं विकासयन्विकस्वरं कु-
र्वन् । प्रसारयन्नित्यर्थः । किंभूतः । काशाः प्रतीता ईषिकास्तेषां प्रतीकाशः श्वेत्येन तत्सं-
निभः । ‘विकसत्कासचामरः’ इति रघुवंशे । उत्प्रेक्ष्यते—मत्ता मदोत्कटा ये स्तम्बे-
रमीकान्ताः करिणः तेषां कवलीकृतये गण्डोलीकरणार्थं किमु । भक्षणार्थमिवेत्यर्थः ॥
आदितश्चतुर्भिः कुलकम् ॥ इति सिंहखण्डः ॥

जहे महेलया निद्रा विनिद्रन्नेत्रपत्रया ।

संगतिर्दौर्जनीयेव सज्जनानां समज्यया ॥ १६४ ॥

विनिद्रती विकाशं प्राप्नुवती नेत्रपत्रे नयनकमलदले यस्यास्तया कमाकान्तया को-
डिमदेव्या निद्रा प्रमीला सुप्त्यवस्था जहे त्यक्ता । 'महिला स्यान्महेलया' इति शब्द-
प्रभेदे । तथा । 'यश्च परमहेलारतोऽप्यपारदारिकः' इति चम्पूकथायाम् । कयेव ।
समज्ययेव । यथा सज्जनानां साधूनां समज्यया सभया । 'ब्राह्मीव दौर्जनी संसद्वन्दनी-
या समेखला' इति चम्पूकथायाम् । श्रेण्यर्थवाची सभाशब्दः । दुर्जनानामियं दौर्जनीया
दुर्जनसंबन्धिनी सभा श्रेणी । 'उडुपरिपदः किं नार्हन्ती निशः किमनौचित्यं' इति
नैषधे परिषच्छब्दः पङ्क्त्यर्थवाची । संगतिर्मिलनम् गोष्ठी वा हीयते ॥

कंसारेरिव रुक्मिण्या स स्वप्नः स्वपतेः पुरः ।

तया मुदितयाभाषि भाषितेशोपमेयया ॥ १६५ ॥

तया कोडिमदेव्या स सिंहदर्शनलक्षणः स्वप्नः स्वपतेः कमाख्यव्यवहारिणः
निजभर्तुः पुरोऽग्रे अभाषि कथितः । कयेव । रुक्मिण्येव । यथा रुक्मिण्युपभगिन्या
स्वपतेः कंसारेः कृष्णस्याग्रे नक्तदृष्टः स्वप्नोऽभाषि प्रोक्तः । तया रुक्मिण्या च किलक्ष-
णया । मुदितया हृष्टचितया । पुनः किंभूतया । भाषितेशोपमेयया भाषितेशया
स्ववचनचातुर्या कृत्वा सरस्वत्या सार्धमुपमीयते उपमातुं योग्येत्यर्थः ॥

स विचार्य विचारज्ञोऽङ्गनामिदमजीगदत् ।

सूनुः सिंह इवाधृष्यो भविता तव भामिनि ॥ १६६ ॥

स कमानाम व्यवहारी अङ्गनां निजकामिनीं कोडिमदेवीं इदमत्रैवानुष्ठुभि वक्ष्य-
माणमजीगदत्कथयति स्म । किं कृत्वा । विचार्य स्वस्वाभाविकमतिपूर्वकबुद्धिवि-
ज्ञानेन विमृश्य । सिंहदर्शनलक्षणापूर्वस्वप्नविचारं विधायेत्यर्थः । स व्यवहारी किं
विचारज्ञः । आयतौ स्वपरहितावहोदकविमर्शने कुशलः । इदं किम् । हे भामिनि
वर्णिनि सिंह इव पञ्चाननवत् परैरधृष्योऽनाकलनीयः । 'अधृष्यश्चाभिगम्यश्च' इति
रघुवंशे । तव भवत्याः सूनुर्नन्दनो भविता भविष्यति ॥

गन्धसिन्धुरराजस्य वशेवालसगामिनी ।

अन्तर्वल्ली ततः पत्नी महेभ्यस्य बभूवुषी ॥ १६७ ॥

ततः सिंहस्वप्नदर्शनपुत्रप्राप्तिरूपतदर्थश्रवणानन्तरं महेभ्यस्य कमानामव्यवहा-
रिणः पत्नी जाया कोडिमदेवी अन्तर्वल्ली गुर्विणी गर्भवती बभूवुषी संजायते
स्म । किंभूता । अलसं मन्थरमचपलं गच्छतीत्येवंशीला गामिनी । केव । वशेव ।
यथा गन्धेनोत्कटमदवारिसौरभेणोपलक्षितः । सिन्धुरराजो गजेन्द्रस्तस्य वशा प्रिया
हस्तिनी मन्थरं व्रजति तत्रापि गर्भमन्तर्वहन्ती सा । 'वशा नार्या वन्ध्यगव्यां

हस्तिन्यां दुहितर्यपि । वेद्यायामपि' इत्यनेकार्थः । यद्यपि वशाशब्दो हस्तिन्यां प्रवर्तते तथापि बाहुल्यान्नायामेव प्रयुज्यमानत्वाद्गन्धसिन्धुरराजस्य वशा हस्तिनीत्यभिधानम् । गन्धेभपत्नीत्वात्प्राधान्यं च ॥

समयेऽथ तया रत्या ब्रह्मसूरिव नन्दनः ।

सुषुवे सुषुमास्तोमः प्रोद्भवन्मूर्तिमानिव ॥ १६८ ॥

अथ गर्भभवनानन्तरं समये सार्धसप्तवासराधिकनवमासपरिपूर्तिप्रस्तावे तया कोडिमदेव्या नन्दनः पुत्रः सुषुवे प्रसूतः । कथेव । रत्येव । यथा कन्दर्पपत्न्या ब्रह्मसूरनिरुद्धनामा तनयः प्रसूतः । 'कन्दर्पसुतोऽनिरुद्ध ऋष्याक ऊषेशो ब्रह्मसूत्रसः' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमान् शरीरसंयुतः प्रोद्भवन् प्रकटीभवन् सुषुमास्तोमः सातिशायिशोभासमुदय इव ॥

तनूजन्माननज्योत्स्नानाथे लवणिमामृतम् ।

चकोरेणेव पिवता ननृते पितृचक्षुषा ॥ १६९ ॥

पितृचक्षुषा कामाहभ्यलौचनेन ननृते नर्तितम् । किं कुर्वता । पितृचक्षुषा तनूजन्मनः स्वनन्दनस्य आननमेव वदनमेव ज्योत्स्नानाथश्चन्द्रमास्तसिन् लवणिमा लावण्यं सौन्दर्यमेवामृतं सुधां पिवता । सादरमवलोकयतेत्यर्थः । केनेव । चकोरेण यथा ज्योत्स्नाप्रियेण कुमुदबान्धवविम्बे ज्योत्स्नामृतं पिवता सता नृत्यते ॥

क्षीरकण्ठः कृतोत्कण्ठः संजाते जातकर्मणि ।

उत्तेजित इवादर्शः शिश्रिये परमां श्रियम् ॥ १७० ॥

क्षीरकण्ठः शिशुः कमादारकः जातकर्मणि जातस्य संप्राप्तजन्मनः सूनोः स्थितिपदिकाचन्द्रसूर्यदर्शनषष्ठीजागरणाशुचितादिनिवर्तनादिके कर्मणि कर्तव्ये संजाते सति परमां प्रकृष्यं श्रियं शोभां शिश्रिये श्रयति स्म वभाज । किंभूतः क्षीरकण्ठः । कृता निर्मिता स्वसौन्दर्यादिगुणैः स्वजनादीनां दर्शनाद्युत्कण्ठा औत्सुक्यं येन । क इव श्रियं श्रितवान् । उत्तेजितः शाणोल्लिखितो निर्मलीकृत आदर्श इव । यथा उत्तेजितो दर्पणः शोभां भजते ॥

अयं जयं यतः कर्ता सिंहवद्वेषिदन्तिनाम् ।

जयसिंह इतीवास्य बीजी नाम विनिर्ममे ॥ १७१ ॥

बीजी तत्पिता कमाहः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्तस्य कुमारस्य जयसिंह इति नाम विनिर्ममे कृतवानिव । इति किम् । यतः कारणादयं कुमारः सिंहवत्केसरीव द्वेषिणः स्वशात्रवा[न्] जिनशासनप्रतिकूलताभाजो वा कुवादिनस्त एव दन्तिनो गजास्तेषां जयं परामवं कर्ता विधास्यति । 'वप्ता तु जनकस्तातो बीजी जनयिता पिता' इति हैम्याम् ॥

धात्रीभिः प्रेमपात्रीभिः पाल्यमानः स बाल्यतः ।

रामो यादवरामाभिरिवासौ ववृधे क्रमात् ॥ १७२ ॥

अथ नामादिनिर्माणानन्तरं स जयसिंहकुमारः क्रमादनुक्रमेण ववृधे वर्धते स्म । किंभूतः । बाल्यतो जन्मदिनं प्रभृतीकृत्य प्रेमपात्रीभिः कुमारोपर्यतिशयितस्नेहभाजन-भूताभिर्धात्रीभिरुपमातृभिः पाल्यमानः रक्ष्यमाणः सम्यग्यत्नेन गोप्यमानः । क इव । राम इव । यथा बलभद्रो यादवानां युदुवंशोत्पन्नानां रामाभिर्वनिताभिः पाल्यमानो वर्धते स्म ॥

पुपोषावयवैर्वृद्धिं स क्रमेण स्तनंधयः ।

आलवालाम्बुपायीव शाखाभिश्चन्दनाङ्कुरः ॥ १७३ ॥

स जयसिंहः क्रमेण परिपाठ्या अवयवैरङ्गोपाङ्गैर्वृद्धिमुपचयं पुपोष पुष्पाति स्म । किंभूतः । स्तनंधयः उपमातृणां पयोधरपयःमा(पा)नविधायी । क इव । चन्दनाङ्कुर इव । यथा आलवालस्य स्थानकस्याम्बु पानीयं पिवतीत्येवंशीलः श्रीखण्डपादप्ररोहः शाखाप्रशाखाभिरुपचयं लभते ॥

स प्राक्चङ्क्रमणैः पित्रोरारोप्य प्रीतिवीरुधम् ।

आलपन्सफलीचक्रे वर्षन्निव घनाघनः ॥ १७४ ॥

स जयसिंहः आलपन् ध्रुवन् सन् पित्रोर्जननीजनकयोः प्रीतिवीरुधं स्नेहलतां सफ-लीचक्रे कलकलितां कृतवान् । किं कृत्वा । प्राक् पूर्वं चङ्क्रमणैर्हिण्डनैः कृत्वा आरोप्य स्थानक्रे निवेश्य । रोपयित्वेत्यर्थः । सफलीचक्रे क इव । घनाघन इव । यथा वर्षन् वारिवृष्टिं स्रजन् वारिवाहः प्राग्वर्ष्णीं वृक्षादिष्वारोप्य स्थापयित्वा सफलीकुरुते ॥

वर्धमानः क्रमेणासावजनिष्ठाष्टहायनः ।

प्रत्यहं प्रणयन्केलीः सिन्धुराधिपपोतवत् ॥ १७५ ॥

असौ जयसिंहः क्रमेण वर्षपरिपाठ्या वर्धमानः सन्नष्टा(ष्टौ)संख्याकानि हायनानि वत्सराणि यस्य तादृशोऽजनिष्ठ संजातवान् । किं कुर्वन् । प्रत्यहं बाल्यत्वान्निर्गलः प्रतिवासरं केलीर्बालवयोयोग्याः क्रीडाः प्रणयन् कुर्वन् । किंवत् । सिन्धुराधिपपोतवत् । यथा गजेन्द्रस्य दशवार्षिकः शिशुर्गजो बालक्रीडां कुर्वन् वर्धते । 'स्यात्पोतो दशवा-र्षिकः' इति हैम्याम् ॥

सोऽनवद्यास्ततो विद्याः साधीते गुरुसंनिधौ ।

हार्दं तासां च जग्राहाभिज्ञवन्मुग्धचेतसाम् ॥ १७६ ॥

ततोऽष्टवर्षभवनानन्तरं स जयसिंहो गुरुसंनिधौ कलाचार्यस्य समीपे अनवद्या नि-ष्पापाः प्रशस्ता वा विद्या अधीते स्म पठति स्म । च पुनस्तासां विद्यानां हार्दं रहस्यं

विशेषादिकं जग्राह । यतः—‘वेद्यानामिव विद्यानां मुखं कैः कैर्न चुम्बितम् । हृदयग्राहिणस्तासां द्वित्राः सन्ति न वा क्षितौ ॥’ इति सूक्तवचनात् । स विद्याहृदयग्राही जज्ञे । किंवत् । अभिज्ञवत् । यथा छेकः पुमान् सुगन्धं कार्याकार्यविचारानभिज्ञं हिताहितज्ञानरहितं वा परवञ्चनकपटाभिप्रायवेदनामूढं वा चेतो मनो येषां तेषां पुंसां हार्दं गृह्णाति रहस्यं पृष्ठा दत्ते । यतः—‘रक्षावइ रचइ नही परमन लिन्ति न दिन्ति । धुत्तछ-यल्ला एह गुण मन हरि मान करन्ति ॥’ इति वचनात् ॥

सिद्ध्यध्वानं प्रतिष्ठासुर्विधित्सुर्धर्ममार्हतम् ।

सखायमिव तद्वत्ता संयमं समुपाददे ॥ १७७ ॥

ततोऽनन्तरमित्यध्याहारः । तस्य जयसिंहस्य वत्ता पिता संयमं चारित्रं समुपाददे सम्यक्प्रकारेण गृह्णाति स्म । कसिव । सखायमिव । यथा कश्चित्सखायं मित्रं वा गृह्णाति । सख्युग्रहणे कारणमाह—किं चिकीर्षुः । सिद्ध्यध्वानं मोक्षमार्गं प्रतिष्ठासुः प्रस्थातुमिच्छुः । पुनः किं कर्तुमिच्छुः । मार्हतं जैनं धर्मे चारित्रलक्षणं विधित्सुः विधातुमिच्छुः कर्तुकामः । यो हि मार्गं प्रतिष्ठते तस्य सहायोऽवश्यं विलोक्यते । कार्यकरणेऽपि च सख्युरपेक्षा स्यादिति ॥

ततो नमसितुं तातं कुमारः स कदाचन ।

प्रतिष्ठते स्म सानन्दं वृषभाङ्गमिवार्षभिः ॥ १७८ ॥

ततः पितुः परिव्रज्याग्रहणानन्तरं स जयसिंहकुमारः कदाचन कस्मिन्नपि समये तातं स्वपितरं कर्माणि नमसितुं नमस्कर्तुम् । ‘नमसितुमना यन्नाम स्यान्नाम न पूषणम्’ इति नैषधे । सानन्दं सप्रमोदं प्रतिष्ठते स्म । प्रचचाल । क इव । आर्षभिरिव । यथा भरतो वृषभाङ्गं स्वतातमृषभदेवं प्रणन्तुं प्रचलति स्म ॥

प्रीतिवापीपयःपूराप्लवनैः पुलकाङ्किता ।

प्रसूतमनुयाति स्म गौरिवाङ्गजमात्मनः ॥ १७९ ॥

प्रसूर्जयसिंहजननी कोडाई तं खनन्दनमनुयाति स्म अनुजगाम । किंभूता । प्रीतिः स्वपुत्रोपरि यः स्नेहः सैव वापी दीर्घिका तस्याः पयःपूरे आप्लवनैः स्नानैः कृत्वा पुलकाङ्किता रोमाञ्चकञ्चुककलिता जाता । केव । गौरिव । आत्मनोऽङ्गजं वत्सरूपमनुगच्छति ॥

श्रीमन्मुनिनिशारत्नं जयसिंहकुमारराट् ।

प्रणतेर्गोचरीचक्रे श्रीवीरमतिमुक्तवत् ॥ १८० ॥

जयसिंहनामा कुमारराट् पृथुकपार्थिवः श्रीमन्तं गणलक्ष्मीरमणं सुनीनां मध्ये निशारत्नं चन्द्रमसं विजयदानसूरिं प्रणतेर्नमस्कारस्य गोचरीचक्रे विषयीकृतः । प्रणत इत्यर्थः । किंवत् । अतिमुक्तवत् । यथा अतिमुक्तककुमारः श्रीवीरं श्रीमन्महावीरदेवं प्रणतवान् ॥

अथ पृथुकपुरोगः संमदेन व्रतीन्दो-

रिव गजसुकुमालः स्वामिनोऽरिष्टनेमेः ।

अधिकमधरयन्तीं साधिमानं सुधानां

श्रवणविषयभावं देशनामानिनाय ॥ १८१ ॥

अथ सूरतिवन्दिरे सूरिपार्श्वगमनानन्तरं पृथुकपुरोगः कुमारश्रेष्ठः । 'वर्यं वरेण्यं प्रवरं पुरोगम्' इति हैम्याम् । संमदेन हर्षेण व्रतीन्दोः सूरदेशनां धर्मोपदेशं श्रवणविषयभावं श्रुतिगोचरतामानिनाय प्रापयति स्म । शृणोति स्मेत्यर्थः । देशनां किं कुर्वतीम् । सुधानाममृतरसानां साधिमानं चारताम् । आस्वादमित्यर्थः । अधरयन्तीं हानीं कुर्वतीम् । किमधिकं बहु यथा स्यात्तथा । मिष्टत्वेन सुधामपि धिक्कुर्वतीमित्यर्थः । क इव । गजसुकुमाल इव । यथा कृष्णलघुभ्राता देवक्या अष्टमः पुत्रो गजसुकुमालः अरिष्टनेमेः श्रीनेमिनाथस्य स्वामिनो जगन्नाथस्य तीर्थकृतो देशनां शुश्राव ॥

असारादेहिना देहात्सारोऽर्हद्धर्म एव हि ।

उद्धार्योऽनर्थकार्यार्थादानशौण्डेन दानवत् ॥ १८२ ॥

देहिना भविकप्राणिना असारादाधिव्याधिजरादिभिः साररहितीकृतादेहादात्मशरीरा-
दर्हतो जिनस्य जिनप्रणीत एव सारो निखिलार्थसाधको धर्म एवोद्धार्य उद्धरणीयः ।
किंवत् । दानवत् । यथा अनर्थं पितृभ्रातृपुत्रमित्रादिद्रोहं कारयतीत्येवंशीलादर्थान्नादानशौण्डेन वदान्येन दानमुद्ग्रियते । यदुक्तम्—'दानं वितादृतं वाचः कीर्तिधर्मौ
तथायुधः । परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥' इति ॥

प्रबुबुधे प्रभुदेशनयानया शिशुसहस्रदशा सममम्बया ।

विशदचन्द्रिकयेव कुमुद्वतीलतिकया कुमुदेन तमीमणेः ॥ १८३ ॥

शिशुसहस्रदशा कुमारपुरंदरेण प्रबुबुधे प्रतिबोधः प्राप्यते स्म संसाराच्चरज्यत ।
कथम् । समं सार्धम् । कया । अम्बया तजनन्या कोडिमदेव्या । कया । प्रभोर्विज-
यदानसुरेरनया पूर्वोक्तया देशनया धर्मकथया । केनेव । कुमुदेनेव । यथा तमीमणे-
श्चन्द्रस्य विशदचन्द्रिकया शरत्समयनिर्धूतोदुरजलधररोधनिर्मलीभवच्चन्द्रगोलिकया
कृत्वा कुमुद्वतीलतिकया कुमुदिनीवह्नया समं कैरवेण प्रबुध्यते ॥

प्रभोरुपान्ते सममम्बया महामहैर्महेभ्यीभवदर्थिमण्डलैः ।

सुनन्दया सींहगिरेः स वज्रस्वामीव जग्राह शिशुस्तपस्याम् ॥ १८४ ॥

स शिशुर्जयसिंहकुमारः अम्बया कोडाईमात्रा समं प्रभोर्विजयदानसुरेरुपान्ते
समीपे महामहैर्भविकजनविनिर्मितानेकाधिकोत्सवैस्तपस्यां दीक्षां जग्राह आदत्ते स्म ।
महामहैः किलक्षणैः । महेभ्यीभवदर्थिमण्डलैर्महेभ्यीभवन्तः कामिताधिकधनप्रदानै-

धनाढ्या जायमाना अर्थिनां याचकानां मण्डलाः समूहा येषु । क इव । वज्रस्वामीव ।
यथा धनगिरिसुतः वज्रस्वामिनो जननी सुनन्दानाग्री तया स्वजनयित्र्या सार्धं सींह-
गिरिनाम्नाचार्यस्य पार्श्वे महामहोत्सवैः प्रव्रज्यां गृह्णाति स्म ॥

जयविमल इदं तन्नामधेयं विधिज्ञो

व्यधित विजयदानः सूरिसारङ्गराजः ।

पुनरभिनवसूरेस्तं प्रदत्ते स्म सूनो-

र्विनयिन इव वप्ता स्वं क्रमेणागतं स्वम् ॥ १८९ ॥

विजयदाननामा सूरिष्वाचार्येषु सारङ्गराजो मृगेन्द्रः सिंहः जयविमल इदमेतत्तस्य
जयसिंहमुनेर्नामधेयमभिधानं व्यधित विदधाति स्म । किंभूतः । विधिं शास्त्रोक्तं लौ-
किकं च आचारं जानाति वेत्तीति विधिज्ञः । पुनरन्यमर्थमभिधत्ते—पुनस्तं जयविमल-
मुनिमभिनवसूरेर्नवीनस्थापिताचार्यस्य हीरविजयसूरेः प्रदत्ते स्म दत्तवान् । क इव ।
वप्तेव । यथा पिता तातः कुलक्रमेण स्वान्ववायपरिपाठ्या समेतं स्वमात्मीयं स्वं द्रविणं
विनयिनो विनयवतः स्वनन्दनवैनयिककर्तव्यापहतचेताः पिता सूनोर्निजनन्दनस्य
प्रददाति ॥ इति विजयसेनसूरेर्जन्मदीक्षादिवर्णनम् ॥

विजयदानविभूर्वटपल्लिकाभिधपुरेऽथ विभूषितवान्दिवम् ।

भुवि भरेण विसार्य पुनर्दिवि प्रथयितुं महिमानमिवात्मनः ॥ १८९ ॥

अथानन्तरं विजयदाननामा विभूर्गच्छाधिपतिः सूरिः वटपल्लिका ('वडली' इति लोक-
प्रसिद्धा) इत्यभिधा नाम यस्य तादृशे पुरे दिवं स्वर्लोकं विभूषितवान् अलंकरोति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनः स्वस्य महिमानं माहात्म्यं दिवि देवलोके पुनर्भूमण्डलापेक्षया
द्वितीयस्थाने प्रथयितुं विस्तारयितुमिव । किं कृत्वा । भुवि पृथिव्यां भरेणातिशयेना-
र्थान्महिमानं विसार्य विस्तारयित्वा ॥

सूरीन्द्रहीरविजयः प्रतिपद्य पट्ट-

लक्ष्मीं गुरोरनु विशिष्य पुपोष भूषाम् ।

वसुर्निजस्य युवराज इवाधिपत्यं

क्रान्तारिचक्रमखिलाम्बुधिमेखलायाः ॥ १८७ ॥

सूरीन्द्रः सूरीणां सर्वेषां मध्ये परमैश्वर्यादिन्द्रः एवंविधः श्रीहीरविजयः एतावता
श्रीहीरविजयसूरिपुरन्दरः गुरोर्विजयदानसूरेरनु पश्चात् पट्टलक्ष्मीं पट्टश्रियं प्रतिपद्याङ्गी-
कृत्य विशिष्य विशेषप्रकारेण कृत्वा भूषां शोभां पुपोष पुष्पाति स्म । क इव । युवराज
इव । यथा युवराजपदवीं प्रतिपन्नो राजकुमारो निजस्य वसुः आत्मीयस्य जनकस्या-
नन्तरं क्रान्तारिचक्रं पराभूताभिमानिभूमिपतिमण्डलं वशीकृतसमस्तप्रतिपन्थिपार्थिवसार्थं
वा अखिलाम्बुधिमेखलाया निःशेषकाश्यपीपीठस्याधिपत्यमैश्वर्यं प्राप्याधिकं शोभते ॥

मण्डयत्यमरमन्दिरं गुरौ दीप्यते स्म मुनिवासवोऽधिकम् ।

यामिनीप्रियतमे पराम्बुधेर्मध्यभागमिव पद्मिनीपतिः ॥ १८८ ॥

गुरौ विजयदानसूरीश्वरे अमरमन्दिरं सुरसदनं देवलोकं मण्डयत्यलंकुर्वति सति । 'मण्डति भूषत्यलंकरोत्यपि च मण्डयति भूषयत्यपि' इति क्रियाकलापे । मुनिवासवो हीरविजयसूरिपुरद्वृतः अधिकमतिशयेन दीप्यते स्म स्फूर्तिं बिभर्ति स्म । क इव । पद्मिनीपतिरिव । यथा यामिनीप्रियतमे निशानाथे चन्द्रे पराम्बुधेः पश्चिमसमुद्रस्य मध्यभागमन्तरालं भजति सति पद्मिनीपतिरधिकमतिशायितया दीप्यते एतावता दिवसोदयमवाप्य भास्वानधिकतेजस्वी स्यात् ॥ इति विजयदाने सूरीन्द्रे परलोकं प्राप्ते श्रीहीरविजयसूरेः पट्टधरत्ववर्णनम् ॥

यद्वेहशृङ्गाङ्गणनद्धमारुतप्रेङ्खत्पताकापटपलवच्छलात् ।

गोष्ठीमनुष्ठातुमिवामरावतीं श्रिया सखीमाह्वयतीव पाणिना ॥ १८९ ॥

यत्पुरं डीसानगरम् । उत्प्रेक्ष्यते—गोष्ठीमनुष्ठातुं परस्परं प्रीतिवार्तां विधातुं श्रिया समृद्धया शोभया सखीं वयसीममरावतीं पुरंदरपुरीं प्राणिना हस्तेन आह्वयत्याकार-यतीव भूचराणां तूर्ध्वलोकगमनं न भवेत्, खेचराणां त्वध उध्वगमनशक्तिरस्त्येव, तस्मादमरावत्याकारणं युक्तमेव । कस्मात् । गेहशृङ्गाङ्गणे डीसानगरगृहशिखराजिरे नद्धः अङ्कुटकमध्यनिवेशितदण्डप्रान्तनिबद्धः, तथा मारुतेन वातेन प्रेङ्खन्नितस्ततश्चञ्चली-भवनपताकापटपलवो ध्वजवसनाञ्चलस्तस्य छलं कपटं तस्मात् । अत्र यावद्द्वजवाचि-त्वादेकवचनमेव विवक्षितम् ॥

यदीयराजद्विभवाभिभूतया पौलस्त्यपुर्या किमभाजि लज्जया ।

यदुष्ण्यतेऽद्यापि तथा न भङ्गोऽभिज्ञानमीशानशिलोच्चयाश्रयः ॥ १९० ॥

यदीयो डीसानगरसंबन्धी राजन् जगति शोभां प्राप्नुवन् यो विभवः समृद्धयतिशय-स्तेनाभिभूतया जितया पौलस्त्यपुर्या धनदनगर्या । उत्प्रेक्ष्यते—लज्जया त्रपया कृत्वा किमभाजि नष्टा गतम् । यस्मात्कारणादद्यापि अद्यतनदिनं यावत्तथा अलकापुर्या भङ्गाभिज्ञानं पलायनचिह्नमीशानशिलोच्चयाश्रयः कैलासशैलशिखरस्थितिनौज्ज्वल्यते न त्यज्यते ॥

यदीयलक्ष्म्या विजितेव लङ्का प्रणश्य मध्येऽम्बुनिधेर्विवेश ।

कदाचन प्रावृषि सूरिराजो डीसाह्वयं तत्पुरमाससाद् ॥ १९१ ॥

यदीयया डीसानगरसंबन्धिन्या लक्ष्म्या श्रिया विजिता पराभूता सती लङ्का दश-मस्तकपुरी । उत्प्रेक्ष्यते—पराभूता त्रपातिरेकादुःखाद्वा प्रणश्य प्रपलाय्य अम्बुनिधेर्मध्ये समुद्रान्तराले विवेश प्रविष्टेव । कदाचन कस्यांचित्प्रावृषि वर्षाकाले सूरिराजो हीर-विजयसूरिर्वेमुधाविवस्वान् । तत्पूर्वव्यावर्णितं 'डीसा' इत्याह्वयं नाम यस्य तादृक्पुर-माससाद् भजति । इत्यन्ते त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति डीसानगरं च ॥

कुलाद्रिवार्धिप्रतिनादभेदुरीभविष्णुनिःस्वानिततूर्यनिःस्वनम् ।

जिनेश्वरस्येव जना वितेनिरे पुरप्रवेशेऽतिमहं मुनीशितुः ॥ १९२ ॥

जना ङीसानगरसंघलोकाः जिनेश्वरस्येव तीर्थकर्तुरिव मुनीशितुर्हीरविजयसूरेः पुरप्रवेशे ङीसानगरमध्यसमागमनावसरे अतिशयेन महमुत्सवं वितेनिरे कुर्वन्ति स्म । किंभूतं महम् । कुलाद्रिषु मन्दरहिमाचलकैलासादिकाष्टकुलपर्वतकंदरेषु, तथा वार्धौ समुद्रमध्ये प्रतिनादैः प्रतिशब्दैर्मेदुरीभविष्णुः पुष्टीभवनशीलः तादृशो निःस्वानितानां वादितानां तूर्याणां वादित्राणां निःस्वनो यत्र । अथ वा निःस्वाना राजवाद्यानि संजातानि एषु लोके ‘नीसाण’ इति प्रसिद्धास्तादृशां वाद्यानां निर्घोषो महाशब्दो यत्र ॥

सूरिवासवसमागमस्फुरत्प्रीतिपल्लवितचित्तवृत्तिभिः ।

नागरैरमितपृत्कु(रिक्थ)वर्षिभिः स्पर्धयेव धनदो निधीश्वरः ॥ १९३ ॥

अमितं मानातीतं प(रि)क्थं द्रविणं वर्षन्ति याचकानां यथाकामं ददते इत्येवंशीलैर्नागरैर्ङीसानगरजनैः सार्धम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्पर्धया संह(घ)र्षणेन निधीश्वरो वैश्रवणो धनं ददातीति धनदोऽभूदिव बभूवानिव । किंभूतैर्नागरैः । सूरिवासवस्य हीरविजयसूरिन्द्रस्य समागमेन समवसरणेन कृत्वा स्फुरन्ती प्रकटीभवन्ती या प्रीतिः प्रमोदातिशयस्तया पल्लविता मेदुरीभूता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो येषाम् ॥

नृत्यच्चन्द्रकिचक्रमुन्मदनदह्ण्पीठवालाकुलं

श्रीसूनोरिव यौवराज्यसमयं व्यालोक्य वर्षागमम् ।

क्रीडञ्जलान्तरसाहमानससरोजन्माकरे हंसव-

च्छ्रीसूरीश्वरहीरहीरविजयस्तस्मिन्सुखं तस्थिवान् ॥ १९४ ॥

श्रिया खखगणलक्ष्म्या युक्ता ये सूरीणां खल्पश्रुताध्ययनेन सामान्याचार्याणां मध्ये ईश्वरा व्यवहारिणः साङ्गप्रवचनेष्वधीतिनोऽनूचानास्तेषु हीरो मुकुटमणिवैज्ररत्नं तत्तुल्यः श्रीहीरविजयनामा सूरिपुरंदरः तस्मिन् ङीसानगरे चिन्तानाचान्तहृदयत्वेन निर्विघ्नत्वेन वा सुखसहितं यथा स्यात्तथा तस्थिवान् चतुर्मासीमासीदति स्म । स्थित इत्यर्थः । किं कृत्वा । वर्षागमं मेघागमनसमयं व्यालोक्य समीक्ष्य । किंभूतम् । नृत्यन्ति कान्तकेकारवकलितताण्डवं कुर्वाणानि चन्द्रकिणां मयूराणां चक्राणि पटलानि यत्र । चन्द्रकं पिच्छमिति विद्यते येषां ते चन्द्रकिणः । ‘मेचकश्चन्द्रकः समौ’ इति हैम्याम् । ‘सेव्याः संप्रति सान्द्रचन्द्रकिकुलैरुत्ताण्डवैर्मण्डिताः’ इति चम्पूकथायाम् । पुनः किंभूताः । उक्तृष्टो मदो येषां ते । मदोद्धता इत्यर्थः । नदन्तः शब्दायमानाः नन्दन्त्यो बप्पीहानां चातकानां बालाः स्त्रियः शिशवो वा । प्रायो विपदि स्त्रीणां शिशूनां च कातर्यं स्यात्, अतो बालाशब्दोपादानम् । ताभिस्तैर्वा आकुलं व्याप्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीसूनोः कन्दर्पस्य यौवराज्यसमयमिव । युवा चासौ राजा च युवराजस्तस्य भावो यौवराज्यं

तस्य समयः युवराजपदाभिषेचनप्रस्तावमिव । सूरिः किं कुर्वन् । क्रीडन् । केलीं निर्मिमाणः । कुत्र । शान्तरसो नवमोपशम रस इत्याह्वा नाम यस्य तादृशे मानसनाम्नि सरोजन्मनां पद्मानामाकरे । 'पद्माकरस्तडागः स्यात्' इति हैमीवचनात् । मानससरोवर इत्यर्थः । किंवत् । हंसवत् । यथा हंसो वर्षागमं विलोक्य मानससरसि क्रीडन् तिष्ठति ॥

यं प्राप्तुं शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते षष्ठोऽत्र सर्गोऽभवत् ॥ १९९ ॥

अत्र हीरविजयसूरिचरित्रे हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये षण्णां संख्यापूरणः षष्ठः सर्गोऽधिकारः अभवत्संजातः ।

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्त्रोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ हीरहर्षगणेर्दक्षिणदिग्गमनद्विजसमीपपठनमेदपाटमण्डलस्थगुरुपार्श्वगमनपण्डितवाचकपदप्रदानमरुदेशशिवपुरीसंघाग्रहवशाचार्यपदप्रस्थापनाणहिल्लपत्तननन्दिभवनविजयसेनसूरिजन्मदीक्षादिकथनडीसापुरचतुर्भासागमनवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥

सप्तमः सर्गः ।

सूरीन्दुरानन्दयति स्म तस्मिन्पुरे समग्रानपि नागरान्सः ।

पचेलिमः प्राक्तनपुण्यपुञ्जः प्रादुर्भवन्मूर्त इवैष तेषाम् ॥ १ ॥

स श्रीहीरविजयसूरिसुधाकरः तस्मिन् डीसानाम्नि पुरे समग्रान् सर्वानपि नागरान्पौरलोकान् आनन्दयति स्म प्रमोदमुत्पादयामास । उत्प्रेक्ष्यते—तेषां डीसापुरपौराणामेष चक्षुःप्रत्यक्षलक्ष्यः मूर्तस्तनुमान् पचेलिमः परिपाकं प्राप्तः प्राक्तनः प्राचीनजन्मोपाजितः पुण्यपुञ्जः सुकृतसमूह इव ॥

मिलद्वलकाम्बरमुद्वहन्ती लीलागतोद्वेजितराजहंसा ।

श्यामातिनम्रा च पयोधरोद्यद्गाराभिरामा पिहिताननेन्दुः ॥ २ ॥

सुरायुधभ्रूलतिकात्मयोनिमुज्जीवयन्तीव तडिद्विलासा ।

मुदे तदानीमजनिष्ट यूनां प्रावृण्वोढा वरवर्णिनीव ॥ ३ ॥

तदा तस्मिन् डीसानगरे हीरविजयसूरेश्चतुर्मासकस्थितिसमये यूनां तरुणजनानां मदनमदमेदुरीभूतानां नवोढा यौवनवती नवपरिणीता वरवर्णिनी सर्वकलाकुशलप्रधानस्त्रीव प्रावृद्ध वर्षा मुदे प्रमोदायाजनिष्ठ संजाता । वृद्धानां तु शीतवातकर्दमादिना दुःखदायिन्यत एव यूनामिति पदोपादानम् । किलक्षणा प्रावृद्ध वरवर्णिनी च । मिलन्त्यः क्षिप्यन्त्यः भर्त्रा समागमं कुर्वन्त्यः बलाका बलाकाङ्गना यत्र । 'गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनामावद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः' इति मेघदूतकाव्ये । प्रायो वर्षाकाले वकास्तु वृक्षादिषूपविश्य तिष्ठन्ति । वकाङ्गनास्तानाहारैः पोषयन्त्यत एवाम्बरे आभ्यन्ति । तादृशमम्बरमाकाशम् । पक्षे मिलन्त्यः श्रेणीभवन्त्यः बलाका बलाहकमहिलास्तद्वदुज्ज्वलं नवपाणिग्रहणावसरत्वाद्वलमम्बरं वसनमुद्रद्वन्ती धारयन्ती । यतः । श्वेतं परिणयवासः स्यात् । पुनः किंभूता । लीलया स्वभावेन, न तु मन्त्राकर्षणादिना, आगतेन अनादिजगन्निसर्गेण वर्षितुमागमनेन उद्वेजिता विजयकरणप्रस्थानेषु विघ्नं प्रापिता राजहंसा विजयिराजानो यया । 'विश्रान्तजिष्णुक्षमापालयुधि' इति चम्पूकथायाम् । विजयिनो हि राजानः प्रावृद्धसमये कुत्राप्यवस्थितिं कुर्वते, शरदि च विजयाय प्रतिष्ठते । अथ वा लीलया वर्षणविलासेन यदागमनं तेनोद्वेजिता जम्बालजालविलजलवलोकनेनोद्वेगं गमिता अत एव मानसं प्रति प्रस्थातुमुत्सुकीकृता राजहंसा यया । 'प्रोषितकलहंसवयसि' इति चम्पूकथायाम् । 'प्रोषिता मानसं प्रति प्रस्थापिताः कलहंसविहंगमा येन' इति तद्वृत्तौ । पक्षे मन्थरगमनविलासेनावहेलिता राजमराला यया स्त्रिया । पुनः किंभूता । श्यामा सजलदपटलकालिमाकलिता । पक्षे षोडशवार्षिकी । पुनः किंभूता । अतिनम्रा अतिशयेन सुर्वादिषु नमनशीला लघुवृद्धानां विनयपरा । यदुक्तम्—'नमणी धमणी बहुगुणी विहुपखिवंसविशुद्ध । पुण्यविना नवि पामिह करिधणुहा धरि भज ॥' इति वचनात् । पक्षे अतिशयेन नम्रा उन्नमय्यागता मेदिनीमण्डलालिगिवर्द्धलिता । पुनः किलक्षणा । पयोधरेभ्यो मेघेभ्य उद्यन्तीभिः प्रकटीभवन्तीभिर्धाराभिर्जलवृष्टिभिरभिरामा । पक्षे पयोधरयोः पीनोच्चकुचयोरुथता उपरिस्फुरता हारेण मुक्ताकलापेन हारिणी मनोज्ञा । पुनः किलक्षणा । पिहित आवृतोऽर्थात् घनाभ्रमरेणादृश्यीकृत आननस्य मुखस्य तुल्य इन्दुश्चन्द्रो यस्याम् । पक्षे नवपरिणयनलजावशाद्वसनेनाच्छादितो वदनचन्द्रो यया । पुनः किलक्षणा । सुरायुधमिन्द्रधनुरेव स्त्रीपक्षे शक्रचापचक्रवर्तका कुटिला भ्रूवल्ली यस्याः । पुनः किलक्षणा । आत्मयोनिं स्मरमुजीवयन्तीव ग्रीष्मसमये तापातिरेकान्मृतप्रायीभूतमदनं पुनर्जीवितं कुर्वतीव । पक्षे विघ्नमविलासैः काममुद्दीपयन्तीव । भर्तुरिति शेषः । वर्षाणां तरुणयोषितामवलोकनात्प्रायो यूनां स्मरः प्रादुर्भवेदिति । पुनः किंभूता । तडितां विद्युतां विलासाः स्फुरणानि झंकारा वा यस्याम् । पक्षे तडित्वद्विलासाश्चञ्चलकेलयो यस्याः शृङ्गारचेष्टितानि वा यस्याः ॥ युग्मम् ॥ इति वर्षागमः ॥

अथ व्यधत्त प्रणिधानमिच्छन्कंचित्स संस्थापयितुं स्वपट्टे ।

पुरेऽपि जीवातुरिवाखिलेऽपि प्रावर्तत प्राणभृताममारिः ॥ ४ ॥

अथ तत्र डीसानगरे चतुर्मासीमासीने सति वर्षावहलीभवनानन्तरं स हीरविजय-
सूरिः प्रणिधानं सूरिमन्त्रस्मरणं व्यधत्त विदधाति स्म । किं कुर्वन् । इच्छन्काङ्क्षन् ।
किं कर्तुम् । कमपि योग्यं शिष्यं स्वपट्टे निजपदे संस्थापयितुम् । अपि पुनस्तस्मिन्नि-
खिलेऽपि समग्रेऽपि पुरे डीसानगरे प्राणभृतां जन्तूनाममारिर्द्विपदचतुष्पदपक्षिमत्स्या-
दिप्राणिबन्धनिषेधो जीवदया प्रावर्तत प्रवृत्ता । तत्पुरस्वामिना प्रवर्तितेत्यर्थः । क इव ।
जीवातुरिव अर्थात् स्थलचरखेचरजलचराणां जीवनौषधमिव ॥

द्वारं स्वसिद्धेरिव सूरिराजो ध्यानं दधानो वसुभूतिसूनोः ।

अहान्यहर्बान्धवबन्धुरौजास्तन्निष्ठयेवागमयद्बहूनि ॥ ५ ॥

सूरिराजः श्रीहीरविजयसूरिभूमीपुरुद्वृतः तस्य ध्यानस्य निष्ठा चतुर्थषष्ठाष्टमाचा-
माम्लादिविविधतपोनेकमुद्रासनादिविधानपूर्वकसूरिगणनविधिक्रिया तथैव निश्चयेन
बहूनि घनान्यहानि दिनानि अगमयदतिक्रामति स्म । सूरिमन्त्राराधनविधेस्त्रिमासावधि-
त्वात् ऋतोस्तु द्विमासावधित्वाच्चेति । किंभूतः । अहर्बान्धवो भाखान् । ‘चक्राब्जाह-
र्बान्धवः सप्तसप्तिः’ इति हैम्याम् । तस्यैव बन्धुरमतिशायि ओजः प्रतापो यस्य ।
किं कुर्वाणः । वसुभूतिनाम्नो द्विजस्य सूनोर्नन्दनस्य श्रीगौतमस्वामिनो ध्यानं स्मरणमनु-
चिन्तनमर्थात्स्वहृदये दधानो बिभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनः सिद्धेः श्रीजिनशास-
नाधिष्ठायकदेवतागमनलक्षणफलनिष्पत्तेर्द्वारं प्रवेशनमार्ग इव ॥ इति हीरविजयसूरैः
सूरिमन्त्रस्य ध्यानविधानारम्भः ॥

संप्रिप्ती कामितमुत्सुकानां दिग्जेत्रयात्रासु धराधवानाम् ।

अथोपतस्थे शरदस्य सूरैर्विधित्सयेव प्रणिधानसिद्धेः ॥ ६ ॥

अथ ध्यानविधानावसरे शरद्धनविरामसमयः उपतस्थे समाजगाम । ‘अथैनं समु-
पस्थिता । पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥’ इति रघुवंशे । ‘उपस्थिता आगता’
इति तद्भूतिः । किं कुर्वती । दिशां पूर्वादीनां हरितां जयनशीलासु यात्रासु प्रस्थानेषु
सम्यमुत्सुकानामुत्कण्ठितानाम् । दिग्विजयं कर्तुकामानामित्यर्थः । धराधवानां पृथिवीप-
तीनां नृपाणां कामितं समीहितं संप्रिप्ती संपूरयन्ती पूर्णं प्रणयन्ती । ‘पृ पालनपूर-
णयोः’ इत्ययं धातुः । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य हीरविजयनाम्नः सूरैर्भेदारकस्य प्रणिधानसि-
द्धेर्विधित्सया कर्तुमिच्छयेवागता ॥

मलीमसीभूतमशेषमभ्रमातङ्गसङ्गेन पदं मुरारेः ।

द्विजाधिपः क्षालयतीव यस्यां निस्तन्द्रचन्द्रातपनीरपूरैः ॥ ७ ॥

यस्यां शरदि द्विजाधिपो ब्राह्मणश्रेष्ठः शशभृच्च । उत्प्रेक्ष्येते—निस्तन्द्रो मेघाभ्रहि-
मधूमप्रमुखनिर्मुक्तत्वेन निर्मलो यश्चन्द्रातपश्चन्द्रिका तत्तुल्यैर्विशदैर्नोरपूरैः । गङ्गोदकसमु-
दायरित्यर्थः । पक्षे । ज्योत्स्नैव जलप्लवैः कृत्वा सुरारेर्नारायणस्य पदं स्थानं चरणं च
नभः क्षालयति धावयतीव । किंभूतं पदम् । मलीमसीभूतं अपावनं जातम् । केन । अ-
भ्रस्याकाशस्य मातङ्गश्चाण्डालस्तस्य । अथवा गगनमातङ्गेन समं संगमेन । अथवा अभ्रे
आकाशे पर्वताद्युच्चस्थाने स्वपाचेन समं संगमेन कृत्वा अस्पृश्यभावमभ्युपगतम् ।
मातङ्गस्पृष्टं हि वस्तु जलेन शुध्यतीति जनप्रतीतिः । पक्षे । अभ्रमातङ्गैर्मैधैः । 'नभसः
कलभैरुपासितम्' इति नैषधे । 'नभसः कलभैर्मैधैः' इति तद्वृत्तिः । मलीमसीभूतं श्यामलं
संजातं घनान्धकारमयीभवनात् । 'दिवापि श्रूयमाणरजनिशङ्काकुलचक्रवाकचक्रकुशि'
इति चम्पूकथायाम् । मलिनीभूतं हि जलैः क्षालयित्वा निर्मलीक्रियते इत्यपि लोकरूढिः ।
तत्त्वतस्तु ऐरावणगजकलितं जातम् । 'प्रावृषेण्यं पथोवाहं विद्युदैरावताविष' इति रघुवंशे ।
पुनः किंभूतम् । अशेषं संपूर्णमप्याकाशं वस्तुतस्तु चन्द्रचन्द्रिकया नभो धवलीक्रियते ।
'आप्लावितमिव मुक्तमर्यादेन दुग्धवारिधिना विलिप्तदिग्भित्तिकमिव सान्द्रसुधापङ्क्तिपिण्डैः
प्रविष्टमिव स्फटिकमणिमहामन्दरोदरदरीषु भुवनसासीत्' इति चम्पूकथायाम् । चन्द्रो-
दये सर्वं श्वेतीक्रियते ॥

गाथा व्यधाद्याम्बरचुम्बिरङ्गत्तरङ्गपूरानपि सिन्धुदारान् ।

जगत्प्रसारोत्सुकयद्यशःक्षमाधरस्य किं सुप्रतराः प्रणेतुम् ॥ ८ ॥

या शरत् अम्बरमाकाशं चुम्बन्ति आलिङ्गन्ति इत्येवंशीलाः, तथा रङ्गन्त उपर्युपरि
प्रसरन्तस्तरङ्गाः कल्लोला येषु तादृशाः पूराः पयःप्लवा येषां तादृशानपि सिन्धुदारान्
समुद्रपत्नीर्नदीर्गाथाः पादोत्तरणयोग्याः । 'सरितः कुर्वती गाथाः' इति रघुवंशे । व्यधा-
चकार । उत्प्रेक्ष्यते—जगत्सु त्रिषु भुवनेषु प्रसारः प्रसरणं पर्यटनं तत्रोत्सुकस्योत्क-
ण्ठितस्य यस्य हीरविजयसुरैर्यशः श्लोकः स एव क्षमाधरो राजा तस्य सुप्रतराः सुखेन
स्वयं पादोत्तरणसातेन तीर्यन्ते उत्तीर्यन्ते प्रोलङ्घयन्ते तादृग्विधाः प्रणेतुं कर्तुं सुखेन
तरीतुं शक्या विधातुमिव वा ॥

आस्वादितस्वादुमृणालकाण्डाः कूजन्ति लीलालसराजहंसाः ।

आगन्तुकार्हन्मतदेवतायाः स्मरध्वजाः पूर्वमिव ध्वनन्तः ॥ ९ ॥

लीलया विविधजलक्रीडया अलसा मन्थरा राजहंसा अत्यरुणचञ्चुचरणा सरालाः
कूजन्ति शब्दायन्ते । 'राजहंसास्त्वमी चञ्चुचरणैरतिलोहितैः' इति हैम्याम् । किंभूताः ।
आस्वादिताः कवलीकृताः स्वाद्वो मधुरा रसनावदनहृदयाह्लादकरा मृणालानां कमल-
नालानां काण्डाः स्तम्भाः पटलानि यैः । उत्प्रेक्ष्यते—आगन्तुकाया आगमनशीलाया
हीरविजयसुरैः पुरः प्रकटीभवितुकामाया अर्हन्मतदेवतायाः शासनदेव्याः पूर्वं प्रथम-

मेव ध्वनन्तः शब्दायमाना वाद्यमाना वा स्मरध्वजा वाद्यानीव । 'वाद्यं वादित्रमातोद्यं तूर्यं तूरं स्मरध्वजः' इति हैम्यां वादित्रनामानि ॥

निर्मृष्टनिःशेषनिषद्वारायाः किं वर्ण्यतेऽस्याः शरदिन्दिरायाः ।

जडाशयानप्यसृजत्प्रसन्नाशयान्कविश्रीकलितांश्च यत्सा(द्या)॥१०॥

अस्याः हीरविजयसूरीध्यानसमयसमेतायाः शरदिन्दिराया जलधरविरामलक्ष्म्याः किम् अर्थाद्वीप्सा किं किं माहात्म्यं वर्ण्यते प्रशस्यते । किंभूतायाः । निर्मृष्टो निःशेषेण मृष्टो निवारितोऽपहतो वा निर्गतः शेषो लवलेशमात्रो निषद्वारः कर्दमो यस्याः । अथवा निर्मृष्टो निर्धूतः शोषं नीतो निःशेषः समस्तोऽपि कर्दमो यया । यद्यस्मात्कारणात् या शरलक्ष्मीर्जडाशयान् जडस्वभावान् जडहृदयान्वा । मूर्खानित्यर्थः । प्रसन्नाशयान् निर्मलीभूतमध्यान् प्रसन्नतायुक्तस्वभावान् झगित्यर्थावबोधगोचरत्वं प्रसादगुणस्तद्युक्तचित्तान् त्वरितमेव शास्त्रार्थमवबुध्यन्ते तादृशान् । पण्डितानित्यर्थः । अमृजत्कृतवती । च पुनः कवित्वेन पण्डित्येन काव्यकर्तृत्वेन वा । 'विद्वान् सुधीः कविविचक्षणलब्धवर्णाः' इति हैम्यां पण्डितनामानि । तथा 'वयसपि कवयः कवयः [कवयः] कवयश्च कालिदासाद्याः' इति कविशब्देन काव्यकर्तापि । या श्रीः शोभा लक्ष्मीर्वा तथा कलितान्युक्तान् करोति स्म । तत्त्वतस्तु डलयोरैक्यात् जलाशयांस्तडाकादिनीरस्थानानि स्वच्छमध्यान् तथा कस्य पानीयस्य वयः पक्षिणो हंसादयस्तैः सहितांश्चक्रे । वर्षासु हंसा हि मानससरसि यान्ति । शरदि पुनः कमलकलितेषु निर्मलसलिलेषु सरःसु समायान्ति इति कविसमयः ॥

स्मितेषु पद्मेषु मुखेष्विवास्या रङ्गत्सु नेत्रेष्विव खञ्जनेषु ।

बन्दिष्विव स्मेरसरोजपौष्पनिष्पातिगुञ्जन्मधुकृद्भजेषु ॥ ११ ॥

पटीष्विवोद्दामकलामकौवावदातकेदारवसुंधरासु ।

भूषास्त्रिवास्या विविधासु लीनशिलीमुखस्मेरसुमावलीषु ॥ १२ ॥

गणाधिराजे प्रणिधानदुग्धपाथोनिधौ मीन इवातिलीने ।

तदा कदाचिद्गगनाध्वनीनोऽपराचलाभ्यर्णभुवं वभाज ॥ १३ ॥

तदा तस्मिन् शरत्समये कदाचित्कस्मिन्नपि दिनावसानव्यतिकरे गगनाध्वनीनः । 'गगनाद्गजाध्वगौ' इति हैम्याम् । सूर्यनामसु । तथा 'अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिकदेशिकौ' इति हैम्याम् । अपराचलस्य अस्ताद्रेरभ्यर्णभुवं समीपभूमीप्रदेशं वभाज श्रयति स्म । कस्मिन् सति । गणाधिराजे हीरविजयसूरीन्द्रे प्रणिधानं ध्यानम् । 'सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्' इति रघुवंशे । तदेव दुग्धपाथोनिधिः क्षीरसमुद्रः तस्मिन्मीनो मत्स्य इव अतिशयेन लीने मग्नौभूते । अथ समयवर्णनम् । केषु सत्सु । स्मितेषु विकसितेषु पद्मेषु कमलेषु सत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—अस्याः शरलक्ष्म्याः

मुखेषु क्रीडाकृतानेकवदनेष्विव । पुनः केषु सत्सु । रङ्गसु लीलया अशनावर्थं वा इतस्ततो
 भ्राम्यत्सु खञ्जनेषु खञ्जरीटेषु 'गंगेय्या'ख्यपक्षिविशेषेषु सत्सु । वर्षाकाले हि खञ्जनानां
 शिरःसु शिखा समायाति तदनुभावाददृश्यीभावं भजन्ते । ततः शरदि पुनः शिखा-
 पाताच्चक्षुर्लक्षतामाकलयन्ति तेनेतस्ततो भ्रमणं कुर्वते । तदुपर्युत्प्रेक्षा । उत्प्रेक्ष्यते—
 शरलक्ष्म्या नेत्रेषु स्त्रीस्वभावाच्चञ्चललोचनेष्विव । 'भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षि' इति बिल्ह-
 णपञ्चाशिकायाम् । पुनः केषु सत्सु । स्मेराणां विनिद्राणां सरोजानामरविन्दानां पौष्पेषु
 परागेषु निष्पातिनो निपतनशीला आगत्य मकरन्दपानकृते निलीय स्थितिं कुर्वाणाः
 तथा स्वच्छन्दमाकण्ठमकरन्दास्वादोन्मदिष्णुभवदमन्दानन्दं शब्दायमाना गुञ्जन्तः
 गुञ्जारवं विदधाना मधुकृतां भ्रमराणां व्रजाः समूहास्तेषु सत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—अस्याः
 शरलक्ष्म्या बन्दिषु मङ्गलपाठकेष्विव । पुनः कासु सतीषु । उदामाः परिपाकप्राप्तत्वेन
 मनोरमा ये कलमकाः कलमशालयः । 'कलमस्तु कलमकः' इति हैन्याम् । तेषामोघाः
 समूहास्तैरवदाता उज्ज्वलाः । केदाराणां वसुंधरा भूमयस्तासु सतीषु । उत्प्रेक्ष्यते—
 शरदिन्दिरायाः पटीषु उत्तरीयनिवसनेष्विव । पुनः कासु सतीषु । विविधासु श्वेतरक्त-
 नीलपीतकृष्णाद्यनेकविधासु । तथा लीना मधुपानकृते मध्ये प्रविश्य स्थिताः शिलीमुखा
 भृङ्गा यासु तादृश्यासु(शीषु) स्मेरासु हसितासु सुमानां पुष्पाणामावलीषु श्रेणीसु सतीषु ।
 उत्प्रेक्ष्यते—अस्याः शरदिन्दिराया विविधप्रकारासु भूषासु आभरणेष्विव । 'विनापि
 भूषामवधिः श्रियामसौ' इति नैषधे । 'भूषा भूषणानि' इति तद्वृत्तिः । त्रिभिर्विशेषकम् ।
 इति शरत्समयः ॥

विधेर्नियोगेन निजास्तपश्यान्पुत्रानिवोत्सङ्गजुषः स्वरश्मीन् ।

दृष्ट्वा यियासूस्तदुदीतकोपादिवारुणीभूतमथारुणेन ॥ १४ ॥

अथास्ताचलसमीपगमनानन्तरम् अरुणेन भास्करेण अरुणीभूतं रक्तेनाभूयत । उ-
 त्प्रेक्ष्यते—तदुदीतकोपादिव । तेषु स्वरदिमेषु उदीतः प्रादुर्भूतो यः कोपः क्रोधस्तस्मा-
 दिव । किं कृत्वा । दृष्ट्वा अवलोक्य । कान् । स्वरश्मीन् आत्मीयकिरणान् । किंभूतान् ।
 उत्सङ्गं क्रोडं जुषन्ते भजन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—पुत्रानन्दनानिव । पुनः किंभूतान् । विधे-
 र्दैवस्य नियोगेन परवशतया निजस्य सूर्यात्मनः अस्तं क्षयं पश्यन्ति विलोकयन्तीति ।
 अत एव किं कर्तुमिच्छन् । यियासून् आत्मनः पार्श्वदिन्यत्र कुत्रचिदन्तुमिच्छन् ॥

जहेऽम्बरं सायमशीतभासा नीत्वास्तधात्रीधरगह्वरान्तः ।

प्रदोषनाम्ना परिमोषिणेवासहायिभावेन बलाद्गृहीतम् ॥ १५ ॥

न विद्यन्ते शीताः शिशिराः शीतला भासः कान्तयो यस्योष्णरश्मिस्तात् अशीत-
 भास्तेनाशीतभासा भानुना सायं संध्यासमये अम्बरमाकाशं वसनमपि जहे त्यक्तम् ।
 उत्प्रेक्ष्यते—प्रदोष इति नाम यस्य तेन प्रदोषनाम्ना परिमोषिणा तस्करेण । यामिनीमुख-
 चौरिणेत्यर्थः । अस्तधात्रीधरः पश्चिमाचलः तस्य गह्वरान्तः गुहामध्ये घनद्रुमगहन-

मध्ये च नीत्वा प्रापयित्वा असहायिभावेन सहायः सखा अस्यास्तीति सहायी न सा-
हायी असहायी तस्य भावस्तेन सहायराहित्येन । एकाकित्वेनेत्यर्थः । बलात् हठात्
गृहीतमादत्तमिव । कस्मिंश्चिद्वलवति तस्करादिके वसनादि गृहीतुमुद्यते एकाकिना
निर्वलेन पुंसां त्यज्यत एव ॥

कलङ्कवानिन्दुरथाम्युदेताकलङ्किनो विश्वविबोधिनो मे ।

न सांप्रतं सांप्रतमत्र वस्तुमितीव याति कचिदंशुमाली ॥ १६ ॥

अंशुमाली सूर्यः कचित् कुत्रचन स्थाने याति गच्छति । उत्प्रेक्ष्यते—इति कार-
णादिव । इति किम् । यत् । अथ दिवसावसानानन्तरं कलङ्कवान् दोषाकरत्वेन कल-
ङ्ककलितः । अथवा कामितया गुरुदारकामुकत्वात्सकलङ्क इन्दुश्चन्द्रोऽभ्युदेता उदयि-
ष्यते तत्कारणादकलङ्किनो निष्कलङ्कस्य तथा विश्वविबोधिनः जगत्प्रतिबोधप्रविधान-
शीलस्य मे ममात्र भुवने सांप्रतमधुना वस्तुं स्थातुं न सांप्रतं न युक्तं नोचितीमञ्चति ॥

स्वरागिणीमञ्जनकुम्भिकुम्भप्रगल्भपीनस्तनदिङ्मृगाक्षीम् ।

निर्वर्ण्य रागीव दिनावसाने किं पद्मिनीप्राणपतिः प्रयाति ॥ १७ ॥

पद्मिनी । यस्याः शरीरसौरभभरमाप्राय मधुरा मालतीप्रमुखकुसुमजातीविहाय
यद्रसनोपरि परिभ्राम्यन्ति सा पद्मिनीत्युच्यते । तस्याः प्राणपतिः प्राणैभ्योऽतिवल्लभः
पतिव्रतात्वेन भास्वान् दिनावसाने संध्यासमये प्रयाति गच्छति । उत्प्रेक्ष्यते—अञ्जननामा
पश्चिमदिग्गजः । यतः—‘ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः
सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥’ एते पूर्वाद्यष्टानां दिशामष्टौ दिग्दन्तिनः सन्ति । तेषु प्रतीच्या
दिग्दन्ती अञ्जननामा कुम्भी गजस्तस्य कुम्भौ शिरसः पिण्डौ तावेव प्रगल्भौ का-
मिजनमनोहारिणौ तथा पीनावतिपुष्टौ स्तनौ पयोधरौ यस्यास्तादृशी दिक् प्रतीची सैव
मृगाक्षी हरिणनयना तां स्वस्मिन्विषये रागिणीमनुरागिणीं प्रेमातिरेकभाजिनीमरुणां
च निर्वर्ण्य दृष्टेव याति । क इव । रागीव । यथा कश्चिद्रागी पुमान् पद्मिनीपतिरपि
स्वाङ्गनामवगणयन् । ‘स्वाधीनेऽपि कलत्रे नीचः परदारलम्पटो भवति । संपूर्णेऽपि
तटाके काकः कुम्भोदकं पिबति ॥’, तथा ‘चातुर्येणातिवाचं सुगणमणिखनं भाग्य-
सौभाग्यलक्ष्मीं स्वाधीनां भक्तिभाजं विमलकुलभवां शीलमाशीलयन्तीम् । प्रेमाढ्यां
पद्मिनीं स्वां परयुवतिरतो हा विहायेन्दुवक्त्रामन्यां वामां कुरूपामनुसरति जनो म-
न्मथं तद्विगस्तु ॥’, ‘सहृद्देशे विन्नाणं अणरसमवभं सिगाइयं गीयम् । नियमहिलाणयखुवं
तन्निविलोए न अगधन्ति ॥’ इति वचनात् । रागातिरेकवान् सन् स्वस्मिन्नत्यनु-
रक्तां कामिनीं प्रेक्ष्य सायं तत्संनिधौ याति ॥

उत्तुङ्गतारङ्गशिखावलम्बि किंजल्कलीलायितरश्मिराशि ।

पयोधिपूरेऽम्बुजबन्धुबिम्बं स्मेरारुणाम्भोरुहवद्विभाति ॥ १८ ॥

पयोधिपूरे पश्चिमसमुद्रसलिलप्लवे अम्बुजवन्धोः पद्मसुहृदो दिवाकरस्य बिम्बं मण्डलं स्मेरारुणाम्भोरुहवद्विकसितरक्तकमलमिव विभाति । नीरधिनीरोपरि विक्रच-
कोकनदसदृशं दृश्यते इत्यर्थः । किंभूतम् । उत्तुङ्गो गगनाङ्गणालिङ्गी यस्तारङ्गस्तरङ्गाणां
समूहस्तारङ्गः । अत्र समूहार्थेऽण् । कल्लोलकलापः । ‘वारं वारं तारतरस्वरनिर्जि-
तगङ्गातारङ्गाम्’ इति पद्मसुन्दरनिर्मितभारतीस्तवने । तस्य शिखामग्रभागमवलम्बते
आश्रयतीति एवं शीलम् । पुनः किंभूतम् । किञ्चलकानां कमलकेसराणां लीला विला-
सस्तद्वदाचरितो रश्मिराशिः करनिकरो यस्य ॥

पूरे समुद्रस्य वभस्ति बिम्बं राजीविनीजीवितनायकस्य ।

पयोधिपत्यङ्गतले शयालोरुल्लासि चक्रं किमु चक्रपाणेः ॥ १९ ॥

समुद्रस्य पश्चिमवीचिमालिनः पूरे पयःप्लवे राजीविनीनां पद्मिनीनां जीवितनाय-
कस्य प्राणवल्लभस्य बिम्बं मण्डलं वभस्ति भासते । ‘वररजनीकर कान्ते चित्राभरणे
निशानभःसदृशे । तव नृप मज्जनभवने सविता नाभाति परमश्रीः ॥’ इति चम्पूकथा-
याम् । ‘तत्र द्वितीयराजार्थे निशानैस्तेजस्विभिर्वभस्ति’ इति तद्विष्णुपत्रके । उत्प्रेक्ष्यते—
पयोधिः समुद्र एव पत्यङ्कः शय्या तस्य तले शयालोः शयनशीलस्य । ‘दासाहः पु-
रुषोत्तमोऽब्धिशयनोपेन्द्रावजेन्द्रानुजौ’ इति हैम्याम् । चक्रपाणेर्विष्णोरुल्लासि प्रोल्ल-
सन्शीलं चक्रं किमु । विस्फुरत्सुदर्शनं नाम रथाङ्गमिव ॥

खण्डेन चण्डद्युतिमण्डलेन न्यमज्जि पूरे मकराकरस्य ।

सूरेर्महःसाम्यकृतेऽब्धिझम्पासृजा शनैर्निष्पततेव भीतेः ॥ २० ॥

चण्डद्युतेर्भास्करस्य मण्डलेन खण्डेन शकलेन चतुर्थभागेन कृत्वा मकराकरस्य
समुद्रस्य पूरे न्यमज्जि वृद्धितम् । मण्डलचतुर्थांशो जलधिमध्ये निमग्न इत्यर्थः । उत्प्रे-
क्ष्यते—सूरेर्हीरविजयसूरीन्द्रस्य महसां भूयसां प्रतापानां साम्यकृते तुल्यत्वप्राप्त्यर्थ-
मब्धौ समुद्रे झम्पां पयःसंपातपाटवं सृजति करोति इत्यब्धिझम्पासृद् तेनाकेंग भीतेः
खान्ते भयवशात् शनैर्लघु निष्पततेव ॥

अम्भोधिमध्येऽर्धितबिम्बमम्भोजिनीवरस्य स्फुरति स्म सायम् ।

अतादृशीं प्रेक्ष्य दशां प्रियस्य किमब्धिमज्जद्दिनलक्ष्मिभालम् ॥ २१ ॥

सायं संध्यासमये अम्भोधेः समुद्रस्य मध्ये अम्भोजिनीवरस्य पद्मिनीपतेर्भानोर-
धितं भावप्रधाननिर्देशादर्थत्वं जातमस्मिन्नित्यर्थितं बिम्बं मण्डलम् । अर्धमब्धिमध्ये
मग्नम्, अर्धं च वहिर्दृश्यमानं चेत्यर्थः । स्फुरति दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्रियस्य स्व-
भर्तुर्भानोरतादृशीं विश्वशोच्यामस्तलक्षणां दशामवस्थां प्रेक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य । अर्था-

तदुःखातिरेकादब्धौ मज्जन्त्या ब्रूडन्त्याः पतन्त्या वा दिनलक्ष्म्या वासरश्रिया भालं
ललाटमिव ॥

भानोर्बभौ मण्डलखण्डमब्धौ गन्तुः पुरारेर्मिलितुं मुरारिम् ।

मृगाङ्गलेखेव सरोषचण्डीसालक्तपादाहतिशोणितश्रीः ॥ २२ ॥

अब्धौ समुद्रे भानोः सूर्यस्य मण्डलस्य बिम्बस्य खण्डं शकलम् । बिम्बचतुर्थीशमात्र-
मित्यर्थः । बभौ शोभते स्म । उपप्रेक्ष्यते—मुरारिं नारायणं मिलितुं गन्तुर्गच्छतीति
गन्ता तस्य पुरारेः शंभोर्मृगाङ्गलेखेव शिरःशेखरपीयूषमयूखकलेव शिरःशशिकलेव ।
किंभूता । सरोषा कुतश्चित्कारणात्कोपकलिता या चण्डी अत्यन्तकोपना कामिनी पार्वती
च । ‘चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः’ इति हैमीवचनात् । स्त्री चेच्चण्डी । ‘दुर्गा चण्डी सिंह्याना
मृडानी’ इत्यपि हैम्यां पार्वतीनामानि । तस्याः सालक्तकेन सह यावकरसेन वर्तते
यस्तादृशः पादश्चरणस्तस्याहत्या शिरसि प्रहारेण शोणत्वं संजातमस्यामिति शोणिता
रक्तीभूता श्रीवर्णपुलक्षीर्यस्याः । कथंचित्सुरतकलहे कुपितां पार्वतीमनुनेतुं पादपति-
तस्य शंभोः शिरसि कोपात्पादप्रहारः प्रदत्तः, तदवसरे चरणार्द्रालक्तकरसे लभे रक्ता
जातेत्यर्थः ॥

द्वीपे परस्मिन्नितरोऽस्ति कश्चिदस्य व्रतीन्द्रस्य वशी सदृक्षः ।

दिदक्षयान्तः कुतुकादितीव पतिस्त्विषां याति परत्र खण्डे ॥ २३ ॥

त्वेषां पतिर्भानुमान्परत्र अन्यस्मिन् खण्डे द्वीपे प्रदेशे वा याति । उपप्रेक्ष्यते—
अन्तश्चेतोमध्ये कुतुकात्कौतूहलादित्यमुना प्रकारेण दिदक्षया द्रष्टुमिच्छयेव । इति
किम् । यदन्यस्मिन्नपरस्मिन्द्वीपेऽस्य हीरविजयनाम्नो व्रतीन्द्रस्य सूरैः सदृक्षस्तुल्य इतो-
ऽन्यः कश्चिद्वशी जितेन्द्रिय आस्ते न वेति ॥

अनक्षिलक्ष्मीभवति स्म भास्वान्निजाङ्गनायामनुरागिभावात् ।

क्वचिन्निगूढं वरुणेन रोषादिवैष पाशेन नियन्त्र्य मुक्तः ॥ २४ ॥

भास्वान्मार्तण्डः अक्षोर्नयनयोर्लक्ष्यो दृश्यः अक्षिलक्ष्यः दृग्गोचरो नाक्षिलक्ष्योऽन-
क्षिलक्ष्यः स भवति स्मेति अनक्षिलक्ष्मीभवति स्म । अदृश्यो जातः । अस्तं गत इत्यर्थः ।
उत्प्रेक्ष्यते—निजाङ्गनायां पश्चिमदिङ्मृगलोचनायाम् । ‘वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तमसुं
रुची’ इति नैषधे । अनुरागः प्रेमातिरेकोऽस्त्यस्मिन्वा दृग्भावश्चित्ताभिप्रायो यस्य
अनुरक्तत्वेन वा रोषात्कोपोदयात्कचित्कुत्रापि प्रदेशे वरुणेन प्रतीचीपतिना पाशेन
बन्धनप्रन्थिना नियन्त्र्य बद्धा निगूढं गुप्तस्थाने मुक्तः स्थापितो रक्षित इव ॥ इति सूर्यो-
त्तवर्णनम् ॥

आवासविस्मेरमहीरुहाणां सायं शिखाः शिश्रियिरे शकुन्ताः ।

विश्वोपकर्ता क्व गतः सगोत्रः खगस्तदीक्षार्थमिवास्थुरुच्चैः ॥ २५ ॥

शकुन्ताः पक्षिणः सायं संध्यासमयमनुलक्ष्यीकृत्य आवासनमावासस्तदर्थम् । निशायां निवस्तुमित्यर्थः । आवासार्हा वा विकसिता ये महीरुहा पादपास्तेषाम् । ‘आवासवृक्षो-
न्मुखवर्हिणानि’ इति रघुवंशे । तथा ‘फलवर्हाम्यामिनच्’ । ‘फलिनः, वर्हिणः’ इति
प्रक्रियाकौमुद्याम् । शिखाः शाखाः शिश्रिथिरे भजन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वोपकर्ता
जगजनानां प्रबोधालोककारकत्वेनोपकारकारकः तथा सगोत्रो नोऽस्माकमाकाशचर-
त्वेन सदृशं गोत्रं नाम यस्य स सगोत्रः । ‘गोत्रसंज्ञानामधेयाख्याह्वा’ इति हैम्याम् ।
खगो भानुमाली । ‘सूर्योऽर्कः किरणो भगो ग्रहपुषः पूषा पतङ्गः खगः’ इति सूर्यो-
भिधानानि हैम्याम् । क कुत्रस्थाने गतः यातवान् । तस्य खगस्य ईक्षार्थमालो-
कनार्थमिवोच्चैः उपरितनशिखासु अस्थुः स्थिताः ॥

मरन्दनिस्पन्दितमालतालीः सायं स्म शीलन्ति कलापिमालाः ।

प्रावृट्पयोदस्य धियेव मैत्र्यादुपेयुषोऽभ्रान्मिलितुं क्षमायाम् ॥ २६ ॥

कलापिमाला मयूरमण्डली सायं संध्यासमये मरन्दानां विकसितकुसुममरन्दानां
नितरामतिशायितया स्पन्दः क्षरणमस्यासु तादृश्यस्तमालास्तापिच्छास्तालीवृक्षविशेषाः
शीलन्ति श्रयन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्रादाकाशान्मैत्र्यात्सौहार्दान्मिलितुमर्थीदात्मनो-
मिलनार्थं क्षमायां भूमण्डले उपेयुषः समागतस्य प्रावृट्पयोदस्य वार्षिकमेघस्य धिया
बुद्ध्या । भ्रमादिवेत्यर्थः ॥

विकालवेलामनु सूत्रकण्ठा अनीनदन्नीडसनीडभाजः ।

दृष्ट्वा जगच्चक्षुरनिष्टमेते पठन्ति किं शान्तिकमन्त्रपाठान् ॥ २७ ॥

विकालवेलां दिवसावसानसमयमनुलक्ष्यीकृत्य । व्यालोक्येत्यर्थः । ‘दिनावसानमुत्सूरो
विकालसवली अपि’ इति हैम्याम् । सूत्रकण्ठाः शुकाः अनीनदन् अतिशयेन शब्दायन्ते स्म ।
किंभूताः । नीडानां कुलायानां सनीडं समीपं भजन्तीति । उत्प्रेक्ष्यते—जगतां विश्वेषां
प्राणिनां सर्वमार्गाणां स्वेषां परेषां वा सर्वपदार्थानां दर्शकत्वाच्चक्षुरिव लोचनमिव तस्य
जगच्चक्षुषो भानोरनिष्टमस्तलक्षणापापदं दृष्ट्वा एते द्विजाः किं शान्तिकान् शान्तिकार-
कान्मन्त्रपाठान्मन्त्रोच्चारान्पठन्त्युचरन्तीव । ब्राह्मणा हि विपत्तौ विघ्ने वा शान्तिकं
कुर्वाणाः शान्तिकमन्त्रपाठानुचरन्तीति लोकरुढिः । ‘सूत्रकण्ठः शुके विघ्ने खञ्जरीटक-
पोतयोः’ इत्यनेकार्थतिलकः ॥

वियन्मणीवल्लभविप्रयुक्तां पाथोजिनीं मुद्रितवक्त्रकोशाम् ।

रसार्पणप्रीतहृदस्तदानीमालापयन्तीव रवैर्द्विरेफाः ॥ २८ ॥

तदानीं संध्यायां सूर्येऽस्तमिते द्विरेफाः मधुकरा रवैः स्वगुञ्जारवैः शब्दैः कृत्वा
पाथोजिनीं पद्मिनीम् । उत्प्रेक्ष्यते—आलापयन्तीव शोकापनोदं मनाक् प्रणेतुं वादन्तीव ।
किंभूता द्विरेफाः । रसानां निजोज्जुम्भमाणपाथोजनिर्यन्मकरन्दानामर्पणेन पूर्वप्रदाने-
नाकण्ठपानोपकारकरणेन प्रीतमतीव हृष्टं हृद् मनो येषाम् । किंभूतां पद्मिनीम् । विय-

न्मणी गगनरत्नं सूर्यः । 'भानुर्नभोदर्मणी' इति हैम्याम् । स एव वल्लभः प्राणप्रियो भर्ता पद्मिनीपतित्वेन तस्य । तेन विप्रयुक्तां प्राप्तवियोगाम् । विरहिणीमित्यर्थः । पुनः किंभूताम् । अत एव मुद्रितो मुकुलीकृतः संकोचितः पिहितो वा वक्रसदृशः कोशः कुञ्जलो यस्यास्ताम् । पूर्वप्रीणितखजनादिः कामपि प्रियवियोगिनीं कामिनीमागत्य सुखदुःखादिवार्तां प्रश्नेनालपयतीति रीतिः ॥

सरोजिनी कोशकुचौ निपीड्याधरच्छदे पीतरसैः स्ववातात् ।

मीलन्मुखी कम्पमिषान्निषेद्धी जहे महेलेव युवद्विरेफैः ॥ २९ ॥

युवद्विरेफैस्तरुणभृङ्गैः सरोजिनी पद्मिनी जहे । केव । महेलेव । यथा युवभिर्युवती त्यज्यते । किं कृत्वा । कोशौ मुकुलावेव कुचौ निपीड्य मर्दयित्वा । किंभूतौद्विरेफैः युव-भिश्च । अधरच्छदे अधस्तनपत्रे ओष्ठदले च । निपीतो नितरामाखादितो रसो मकरन्दो-ऽमृतारसो यैः । 'स्वमाह संध्यामधरोष्ठलेख्याम्' इति नैषधे । 'अधस्तनोऽधरः' इति तद्वृत्तिः । किंभूता । स्ववातान्निजपक्षपवनायः कम्पस्तन्मिषान्निषेद्धी निषेधनशीला स्वं निवारयन्ती । अत एव किंभूता । मीलन्मुखी संकुचद्वदना ॥

विश्वं विशन्तीं द्विषतीमुषां स्वामन्विष्य तस्याः किममङ्गलाय ।

रथाङ्गनाम्नां निवहैर्वियुक्तैर्विमुक्तकण्ठं रुरुदे दिनान्ते ॥ ३० ॥

वियुक्तैः वियोगिभिः निजाङ्गनारथाङ्गविहंगमीभ्यः पृथग्भूतैर्देववशात्स्वां प्रियां मीलितुमशक्नुवद्भिः इत एव पृथक्स्थानस्थितैः । 'रविरद्विर्विरद्विध्रुवभेदयोः' इति रघुवंश-वचनात् । रथाङ्गनाम्नां चक्रवाकानां निवहैर्निकरैर्दिनान्ते दिवसावसाने प्रदोषसमये विमुक्तकण्ठं गाढखरेण रुरुदे रोदनमकारि । किं कृत्वा । विश्वं जगन्मध्यं विशन्तीं प्रवेशं सजन्तीम् । तथा स्वामात्मीयां द्विषतीं वैरिणीमुषां निशामन्विष्य विलोक्य । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या रात्रेः किममङ्गलायापशकुनार्थम् । गमनागमने हि प्रायः प्राणिनां स्वयं रोदनं पररोदनश्रवणं च महाकष्टाय जायते ॥

मृगीदृशामञ्जनमञ्जुलाभिर्विलोचनश्रीभिरिवाभिभूताः ।

व्रीडेन नीडद्रुमकोटरान्तः प्रयान्ति संध्यामनु खञ्जरीटाः ॥ ३१ ॥

संध्यां पितृप्रसूतसमयमनुलक्ष्यीकृत्य खञ्जरीटाः खञ्जननामानः शकुनविशेषाः नी-डानां खखकुलायानां ये द्रुमा महीरुहास्तेषां कोटरान्तः निष्कुहमध्यभागे । 'निष्कुहः कोटरो मञ्जा' इति हैम्याम् । प्रयान्ति गच्छन्ति । प्रविशन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—मृगीदृशां सारङ्गनयनानां सुलोचनानां स्त्रीणामञ्जनमञ्जुलाभिः कञ्जलशलाकाञ्जनावन्मनोज्ञाभिः विलोचनश्रीभिर्विशिष्टनयनलक्ष्मीभिरभिभूताः सन्तो व्रीडेन लज्जयेव । व्रीडशब्दोऽका-रान्तोऽप्यस्ति । 'व्रीडमावहति मामकं मनः' इति नैषधे ॥

दोषामुखेन द्विषतेव वार्धौ क्षिप्तं समीक्ष्य स्वविपक्षमर्कम् ।

शत्रोरगोत्रीभवनादिवाभ्रमुवोर्मुदाभ्राम्यत धूकलोकैः ॥ ३२ ॥

धूकलोकैः कौशिकशकुन्तसंकरैरभ्रमुवोर्वावापृथिव्योर्मुदा स्वशात्रववारिजबान्धवा-
स्तविभावनाभ्युदितप्रमोदेन अभ्राम्यत इतस्ततो ब्रभ्रम्यते स्म । ‘आलोकतालोकमुल्ल-
कलोकः’ इति नैषधे । तथा ‘आकाशे तमसि सममिते क्रोकलोके सशोके’ इति
नाटकशास्त्रेऽपि पक्षिशब्दानां पुरः समूहवाची लोकशब्दो दृश्यते, तेन धूकलोकः इति
प्रयोगः । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रोरगोत्रीभवनात् स्वीयविपक्षजगज्जुषो वंशस्य नाम्नोऽपि वा
अभावो जात इतीव मुदा भ्रान्तम् । किं कृत्वा ! द्विषतेव शात्रवेनेव दोषामुखेन
प्रदोषेण स्वविपक्षं निजप्रत्यर्थिनं भास्करं वार्धौ अगाधपयोधिपयोमध्ये क्षिप्तं पातितं
समीक्ष्य दृष्ट्वा ॥

कपोतपालीतटसंनिविष्टा हुंकुर्वते कापि कपोतपोताः ।

शोच्यां दशां प्राप्तमुदीक्ष्य मित्रमुदीयमानान्मनसीव दुःखात् ॥ ३३ ॥

कापि कुत्रापि स्थाने कपोतपाल्या विटङ्कस्य । ‘कपोतपाली विटङ्कः’ इति हैम्याम् ।
तटे एकत्र प्रान्तप्रदेशे संनिविष्टाः संस्थितिं कुर्वाणाः सन्तः कपोतपोताः पारावतवा-
लका हुंकुर्वते हुंकारं कुर्वन्ति । कपोतानां कूजितं प्राय एवंविधमेव श्रूयते । यदुक्तं
कालिदासकविना विभातवर्णनाधिकारे—‘परिणतरविगर्भव्याकुला पौरहूती दिगपि घन-
कपोती हुंकुतैः कुन्थतीव’ इति । उत्प्रेक्ष्यते—शोच्यां शोचनार्हा दशामस्तलक्षणा-
वस्थां प्राप्तमासादितं मित्रं सूर्यं सुहृदं च उदीक्ष्य दृष्ट्वा मनसि स्वचेतसि उदीयमानात्
प्रकटीभवतो दुःखादि ॥

पिकाश्चुकूजुः सहकारकुञ्जे रत्या रतश्रान्ततया शयालोः ।

जगज्जयस्यावसरं जिगीषोः संसूचयन्तीव रतीशर्भुः ॥ ३४ ॥

सहकारकुञ्जे माकन्दपादपकानने पिकाः कोकिलाश्चुकूजुः शब्दायन्ते । प्रोन्निद्रसा-
न्द्रामन्दमाकन्दमञ्जरीपुञ्जास्वादनमधुरध्वनिप्रपञ्चपद्ममगीतिसुचरन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—स्व-
पत्न्या रत्या सधं रतेन संभोगाभोगविनोदेन श्रान्ततया प्राप्तश्रमत्वेन सुरतसंजातखेदेन
शयालोर्निद्राशीलस्य । तथा जिगीषोस्त्रिजगज्जेतुस्त्रिच्छोः रतीशः कामः स एव भर्ता
प्रभुस्तस्य जगतां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशाच्चाकिनागनागराणां जयस्य पराभवनप्रविधानस्या-
वसरं व्यतिकरं वेलां प्रस्तावं संसूचयन्ति कथयन्तीव । यतो नक्तं प्रायः सर्वेऽपि संसारिणो
जनाः स्मरवशा जायन्ते इति ॥ इति संध्यावर्णनाधिकारे सर्वविहगविरुतादिवर्णनम् ॥

समुल्लासाभ्रपथेऽथ संध्यारागो विरागीकृतचक्रचक्रः ।

पञ्चेषुणा विश्वजिगीषुणेयं प्रादायि शोणीव नवोपकार्या ॥ ३५ ॥

अथ संध्यासमयाविर्भावानन्तरमभ्राणां मेघानां पथे मार्गे । नभोद्वेगे इत्यर्थः ।

संध्यारागः । रवेरस्तगमनानन्तरं प्रायो व्योमाङ्गणे दिशि दिशि रक्तिमा प्रादुर्भवति । संध्यासमये जातत्वात्संध्यारागः समुल्लास सम्यग्दृश्यमानः स्फुरति स्म । किंभूतः । विरागीकृतानि वियोगव्याकुलाङ्गीभवन्त्वेन सदुःखानि कृतानि चक्राणां चक्रवाकानां चक्राणि वृन्दानि येन । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वानि त्रीणि सप्त चतुर्दश वा एकविंशतिर्वा जगन्ति भुवनानि जिगीषुणा पराभवितुमिच्छुना पञ्चेषुणा मदननृपतिना इयमेषा संध्यारागलक्षणाप्रत्यक्षा शोणी रक्ता नवोपकार्या नवीनपटकुटी प्रादायि दत्ता । ‘रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरारवैः’ इति नैषधे ॥

नभोज्जणे सान्द्रितसांध्यरागैर्वभेऽम्बुधिं शीलति हेलिबिम्बे ।

भर्तुर्विधोरागमने प्रणीतै रात्रिस्त्रिया कुङ्कुमहस्तकैः किम् ॥ ३६ ॥

नभोज्जणे गगनमण्डले सान्द्रत्वं निबिडीभावः संजातोऽस्त्येषु तादृशैः संध्यायां सूर्यास्तसमये भवैः सांध्यरागैः पदे पदे पाटलाभ्रपटलैः वभे शुशुभे । कस्मिन्सति । हेलिबिम्बे मार्तण्डमण्डले अम्बुधिं समुद्रमध्यं शीलति श्रयति सति । उत्प्रेक्ष्यते—विधोश्चन्द्रमसः भर्तुः स्वप्राणवल्ग्वभस्यागमने पादावधारणसमये रात्रिस्त्रिया यामिनीकामिन्या प्रणीतैः प्रदत्तैर्दिग्भिर्तिगगनाङ्गणेषु वितीर्णैः कुङ्कुमहस्तकैः घुसृणद्रव्यलिप्तहस्तबिम्बकैः किम् ॥

मज्जत्कुङ्कुञ्जरविन्दुवृन्दारुणीभवद्योमसरित्तरङ्गैः ।

अभ्रेऽरुणाम्भोजरजोविमिश्रैरदभ्रसंध्याभ्रनिभात्प्रसस्ये ॥ ३७ ॥

मज्जातं सकलवासरतप्तपनतापसंतापिततनुतया सायं शिशिरतानिर्मितये जलकेलिकरणसमये लीलया सलिलान्तरे ब्रूडतां कुकुभामष्टदिशामैरावताघटदिग्गजानां विन्दुवृन्दैः शोणमदोदककणगणैः । पञ्चम्यां हि दशायां करीन्द्राणां कपोलपालीभ्यः पाटला विन्दवो निगच्छन्तीति शान्ते कविसमयः । तथाहि—‘भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोणाः’ इति कुमारसंभवे । अरुणीभवद्भिः शोणिमानं प्राप्नुवद्भिः व्योमसरितो गगनगङ्गायास्तरङ्गैः कल्लोलैः अदभ्राणि अनेकानि अभ्राणि संध्यासमयाविर्भवद्बर्दका(ला)नि तेषां निभात्कपटादभ्रे व्योममार्गे प्रसस्ये प्रसृतम् । इति गर्भोत्प्रेक्षा । किंभूतैस्तरङ्गैः । अरुणाम्भोजानि कोकनदानि तेषां रजोभिः पाटलपरागैः विमिश्रैः करम्बितैः ॥

आगामुकं कामुकमक्षिलक्ष्यं प्रणीय राजानमनन्तलक्ष्म्या ।

अङ्गेऽङ्गरागो घुसृणैः प्रणीतः सांध्योल्लसल्लोहितिमा किमेषः ॥ ३८ ॥

संध्यासंबन्धी समुल्लसन् स्फुरन् लोहितिमा रक्तिमा । राग इत्यर्थः । भातीयुक्ति-लेशः । उत्प्रेक्ष्यते—एष दृश्यमानः प्रत्यक्षः सांध्यराग एव अनन्तलक्ष्म्या गगनश्रिया अङ्गे स्वतनूलतायां घुसृणैर्द्रवीभवत्कुङ्कुमैरङ्गरागो विलेपनं किं प्रणीतो निर्मित इव । किं कृत्वा । कामुकं स्वकामयितारं स्वस्यां विषये भोगाभिलाषिणमत एव आगामुकमात्मसमीपे समागमनशीलं राजानं चन्द्रं नृपं च अक्षिलक्ष्यं दृग्गोचरं प्रणीय कृत्वा । दृष्ट्वेत्यर्थः ॥

निशानने श्रीसुतमत्तकान्तैरत्युत्सवायोत्सुकभावभाग्भिः ।

दिग्दारसारङ्गविलोचनाभिः संध्यारुणश्रीरुदगारि रागः ॥ ३९ ॥

दिश एव वारसारङ्गविलोचना वारविलासिन्यः ताभिः संध्यायाः अरुणश्री रक्तिसमश्रीः, स एव तद्रूप एव वा । उत्प्रेक्ष्यते—रागः स्वपतिं प्रत्यतिशाध्यनुरागः उदगारि उद्गीर्णः । प्रकटीकृत इत्यर्थः । किंभूताभिः । दिग्दारसारङ्गविलोचनाभिः निशानने यामिनीमुखे एव संध्यात एवारभ्य श्रीसुतेन कन्दर्पेण कृत्वा मत्तैरुन्मदिष्णभूतैरुन्मादिभिर्मदोद्गुरैः कान्तैः स्वभर्तुभिः दिङ्नायकैः सार्धं रतेः सुरतस्योत्सवाय विविधप्रकारकामक्रीडाविलासार्थमुत्सुक उत्कण्ठितो यो भावश्चित्ताभिप्रायस्तमाशयं भजन्तीति तादृशीभिः ॥

स्वयैवताङ्घ्रिप्रतिकर्मसज्जप्रसाधिका पाणिपयोरुहेभ्यः ।

निपातुकालक्तकपङ्कपङ्क्तिः संध्याभ्रिका व्योम्नि बभूवुषीव ॥ ४० ॥

स्वयैवतानां स्वर्गाङ्गनानामप्सरसां 'स्वःस्वर्गिवध्वप्सरसः' इति हैम्याम् । अङ्गीणां चरणानां प्रतिकर्म प्रसाधनं मण्डनादिकरणम् । 'मण्डनं पुनः प्रसाधनं प्रतिकर्म' इत्यपि हैम्याम् । तत्र प्रसाधने सज्जानां प्रवणानां पङ्क्तिः श्रेणी सैव । उत्प्रेक्ष्यते—व्योम्नि आकाशे संध्याभ्रिका संध्यासमयप्रादुर्भवदभ्रपटली बभूवुषी जातेव ॥

अनीदृशीं व्योममणेर्दिनश्रीचूडामणेः प्रेक्ष्य दशां स्वभर्तुः ।

दुःखेन ताम्बूलमहायि वक्रात्संध्याभ्रदम्भादिव दिग्बधूभिः ॥ ४१ ॥

दिग्बधूभिर्दिग्ङ्गनाभिः दुःखेन चित्तोद्भूतातिखेदोदयेन संध्याकालीनाभ्राणां दम्भाद्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—वक्रान्निजवदनात्ताम्बूलं दशनचर्वितनागवल्लीदलचूर्णमहायि क्षिप्तमिव । किं कृत्वा । दिनश्रिया वासरलक्ष्म्याश्चूडामणेः शिरोमणेर्व्योममणेः सहस्रकिरणस्य अनीदृशीं दुष्टामस्तलक्षणां । 'इदृशीं च कथमाकलयित्री' इति नैषधे । दशामवस्थां प्रेक्ष्य चक्षुर्लक्ष्यीकृत्य । किंभूतस्य भानोः । स्वभर्तुर्निजेश्वरस्य । 'दिशो हरिर्दिर्हरितामिवेश्वरः' इति रघुवंशे । 'हरितामीश्वरः पतिः सूर्यः' इति तद्वृत्तिः ॥

पत्यौ गवां कापि गतेऽस्य बन्धून्पद्मान्स्थान्निरपुवत्प्रदोषः ।

क्लिश्नाति कोपात्किमतो दिगीशैः संध्याभ्रदम्भादरुणीबभूवे ॥ ४२ ॥

दिगीशैर्दिक्पालैः । उत्प्रेक्ष्यते—अत एतत्कारणात् उत्पन्नात् प्रकटीभूतात्कोपात्कोधात्संध्याभ्राणां दम्भाद्याजात्किमरुणीबभूवे रक्तैर्जातम् । कारणं प्रतिपादयति—गवां भूमीनां किरणानां च पत्यौ स्वामिनि भास्करो राजनि च कापि कुत्रापि स्थाने गते प्रयाते सति अस्य बन्धून्मित्राणि पद्मान् कमलान् । द्वावपि पुनपुंसकलिङ्गौ । रथाङ्गांश्चक्रवाकान् संकोचवियोगादिप्रकारैरिपुवद्वैरिवत्प्रदोषो यामिनीमुखं क्लिश्नाति पीडयति । यथा कश्चित्प्रत्यर्थं पृथ्वीनाथे कार्यवैयर्थ्यात्कचन गते सति तत्स्वजनजनान् संतापयति ॥ इति संध्यारागः ॥

अभ्रे मनाक्संतमसैः प्रदोषरागान्तरेऽथ प्रकटीबभूवे ।

प्रवालपुञ्जे स्मयमानकृष्णवल्लीप्ररोहैरिव वार्धिमध्ये ॥ ४३ ॥

अथ संध्यारागभवनानन्तरमग्रे आकाशे प्रदोषो यामिनीमुखं संध्या तस्य यो रागौ रक्तिमा तस्यान्तरे मध्ये मनाक् किञ्चन संतमसैरन्धकारैः प्रकटीबभूवे प्रादुर्भूतम् । कैरिव । स्मयमानकृष्णवल्लीप्ररोहैरिव । यथा वार्धिमध्ये परीवारान्तरालभूमौ प्रवालपुञ्जे विद्रुमकन्दलवृन्दे विस्मेरकृष्णलतानां 'कालीवेल' इति लोकमध्ये प्रसिद्धानामङ्कुरैः प्रकटीभूयते ॥

विभ्राजिसंध्याभ्रपरम्पराभिरलम्भि भूच्छायभरैर्विभूतिः ।

स्मेरारुणाम्भोरुहमण्डलीभिर्भृङ्गैरिवान्तर्मधुपानलीनैः ॥ ४४ ॥

विभ्राजन्त इत्येवंशीलाभिर्विभ्राजिनीभिः शोभनशीलाभिः संध्यारागरक्तीभूतानामभ्राणां वर्दलिकानां परम्पराभिः श्रेणीभिः कर्त्राभिर्भूच्छायभरैरन्धकारानिकरैः करणैर्विभूतिः शोभा अलम्भि संप्राप्ता । काभिरिव । स्मेरारुणाम्भोरुहमण्डलीभिरिव यथा विकचानां कोकनदानां मालिकाभिः अन्तर्विकसितकोशमध्ये मधूनां मकरन्दानां पानार्थमास्वादनकृते लीनैरातृप्तिपानरसान्निध्वलीभूतैर्भृङ्गैर्भ्रमरैः कृत्वा लक्ष्मीः शोभा प्राप्यते ॥

तमोगणालिङ्गिनभोज्जणश्रीः संध्याभ्ररागच्छुरिता चक्रासे ।

वृन्दारकैः कुङ्कुमगन्धधूलीद्रवैरिवासिच्यत शक्रमार्गः ॥ ४५ ॥

संध्यासमयोद्भूतानामभ्राणां रागै रक्तिमभिश्छुरिता व्याप्ता । 'चन्दनच्छुरितं वपुः' इति पाण्डवचरित्रे । तमसां तिमिराणां गणेन समुदायेन आलिङ्गिता चुम्बिता कलिता नभोज्जणश्रीर्गगनतललक्ष्मीश्चक्रासे शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वृन्दारकैर्द्रवैः कुङ्कुमैर्धुसृण-रसकलितैर्गन्धधूलीनां जाल्यमृगनाभीनां द्रवैः पङ्क्तैः कृत्वा शक्रमार्गः पुरंदरपदवी गगनमसिच्यत सिक्त इव । 'येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्व-' इति नैषधे । 'सुरेश्वराध्वा गगनम्' इति तद्रुतिः ॥

सुधान्धसामध्वनि सांध्यरागोल्लासं विलुप्य प्रसृतं तमोभिः ।

मलीमसाः स्वावसरं प्रपद्य परोदयं हन्त कुतः सहन्ते ॥ ४६ ॥

सांध्यरागस्य जगत्स्वभावात्प्रादुर्भवतः संध्यायां दिनादौ दिनान्ते च द्वे सांध्ये भवतः । अत्र चाधिकारादिनान्तसंध्याया एवेति वाच्यम् । यतोऽप्रेतननिशायां शासनदेवता समेष्यती विवक्ष्यते रागो रक्तिमा तस्योल्लासमाविर्भावं प्रसारं वा विलुप्य निराकृत्य निविध्य सुधामृतमेवान्धो भोजनं येषां ते सुधान्धसो देवाः । 'स्वाहास्वाधाक्रतुसुधाभुज आदितेयाः' इति हैमीवचनात् । सुधाशना देवास्तेषामध्वनि मार्गे पथि गगने तमोभिर्भू-च्छायभरैः प्रसृतं विस्तृतम् । जगद्भासमित्यर्थः । युक्तोऽयमर्थः । मलीमसा मलिनाः

पापा वा स्वस्यात्मनोऽवसरं प्रस्तावं वेलामभ्युदयसमयं वा प्रपद्य प्राप्य । हन्त इति खेदे । परेषामन्येषामात्मव्यतिरिक्तानामुदयमुन्नतिं कुतः सहन्ते । अपि तु नीचस्वभावान्न सहन्ते एव ॥ इति संधारागतमिहवर्णनम् ॥

पुरारिकंसारिपदप्रसत्तेरज्यवीर्यं शशिनं निशम्य ।

ध्वान्तोपधेस्तानि निघृक्षयेव तमोभिरश्रे बहुभिर्बभूवे ॥ ४७ ॥

ध्वान्तानामन्धकाराणामुपधेर्व्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—तमोभिः स्वर्मानुभिरश्रे आकाशे बहुभिर्धनैर्बभूवे संजातमिव । अनेके विधुंतुदा बभूवुरित्यर्थः । कथा । तस्य स्वकवलायमानस्य शशिनो निजिघृक्षया निग्रहीतुमिच्छया निग्रहं कर्तुं काङ्क्षया । किं कृत्वा । पुरनान्नो दैत्यस्य अरिः शत्रुरीश्वरस्तस्य तथा कंसनामासुरस्य अरिर्द्विषी तस्य च पदस्य कमस्य विष्णुपदस्य प्रसत्तेः प्रसादात्सेवानुभवाज्जन्तुमशक्यमजय्यं वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशं शशिनं चन्द्रं निशम्य आकर्ण्य ॥

कचिज्जगत्साक्षिणमेक्ष्य यातं जगज्जगज्जीवपिबो जिघत्सुः ।

स्वीयं विभाव्यावसरं स्मरारिर्भूच्छायकायां सृजतीव मायाम् ॥ ४८ ॥

जगज्जीवपिबः विश्वप्राणहरः । ईश्वररूपेण संहारकारकत्वात् । ‘जीवेऽस्तुजीवितप्राणाः’ इति हैम्याम् । तथा ‘क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन्’ इति नैषधे । स्मरारिरीश्वरः स्वीयमात्मीयं तमसोऽभ्युदयत्वात् शिवस्तु तमः प्रगुणः अत एव अवसरं प्रस्तावं समयं विभाव्य विलोक्य ज्ञात्वा वा । उत्प्रेक्ष्यते—जगद्विश्वं जिघत्सुः खादितुमिच्छुः भूच्छायं निविडतमतमिहमेव कायः शरीरं यस्यास्तादृशीं मायाम् । शाम्वरीकपटविद्यामित्यर्थः । सृजतीव करोतीव । किं कृत्वा । जगत्साक्षिणं शुभाशुभकर्मकर्तृणां जगजनानां प्रतिभुवं भास्करं कचिच्छुत्रापि दृग्गोचरप्रदेशे यातम् एक्ष्य विभाव्य ॥

पशोरिवोर्वीदिवगोचरस्य ध्वान्तस्य भोः पश्यत मन्दिमानम् ।

निहन्यमानोऽपि मुहुः करेण चण्डद्युता धावति रोदसोर्यत् ॥ ४९ ॥

भो लोकाः पण्डिताः, यूयं पशोस्तिरश्च इव छागस्येव वा ध्वान्तस्य निशान्धकारस्य मन्दिमानं मूढतां मूर्खतामज्ञानतां पश्यत विलोकयत । ‘अथोदयति निर्दोषे सचिवेन्दौ नचे रवेः । कोकक्रोकनदानन्दिमन्दिमानमगान्महः ॥’ इति वस्तुपालकीर्तिकौमुद्यां सूर्यास्तमनवर्णने । किंभूतस्य । उर्वीदिवगोचरस्य द्वावाभूमीविषयस्य पशोरपि भूमीपवैताद्युर्ध्वस्थाने चरणगोचरो यस्य । यद्यस्मात्कारणात् चण्डद्युता अत्यन्तकोपना कान्तिर्यस्य । कोपारुणीभूतेनेत्यर्थः । तादृशेन पुंसां करेण किरणेन खरेण करेण हस्तेन चपेटादिप्रदायिपाणिना मुहुर्वारंवारं निहन्यमानः ताड्यमानं हस्तपादप्रभृतिप्रहृतिभिः व्यापाद्यमानं वधादिभिः सत् रोदसोर्दिवस्पृथिव्योर्धावति पुनः पुनः समायाति । ध्वान्तशब्दः पुनपुनस्कलिङ्गयोः ॥

अङ्गाच्युताया रभसेन बाल्याल्लीलां सृजन्त्याः स्वपितुर्गभस्तेः ।

जामेयमस्येव पयःप्रवाहैर्भृते नभोभूमितले तमोभिः ॥ ५० ॥

तमोभिस्तिमिरैर्नभोभूमितले नभस्तलं भूमीतलं च भृते व्याप्ते बाल्याद्वालस्वभावा-
ल्लीलां क्रीडाम् । ‘क्रीडा लीला च नर्म च’ इति हैम्याम् । सृजन्त्याः कुर्वन्त्याः स्वस्य
जनकस्य पितुर्गभस्तेर्भास्करस्य अङ्गादुत्सङ्गात् रभसेनौत्सुक्येन च्युतायाः पतितायाः
यमस्य शमनस्य जामेर्भगिन्या अलभत । शमनस्वप्नुः शिशुत्वम् ‘दिवसकराङ्कतले चला
लुण्ठन्ती’ इति नैषधे । यमुनायाः पयःप्रवाहैः सलिलौघैरिव व्योममहीमण्डलं निर्भरं
भृते । कालिन्याः कृष्णजलत्वेनेयमुत्प्रेक्षा ॥

रथाङ्गनाम्नां दिवसावसाने वियोगभाजां सममङ्गनाभिः ।

स्फुरद्विषादानलधूमलेखा मन्ये तमिस्रा बहुलीवभूवुः ॥ ५१ ॥

तमिस्रा अन्धकाराणि । तमिस्रशब्दः स्त्रीलीवलिङ्गयोः । बहुलीवभूवुः निबिडा
नीरन्ध्राः संजायन्ते स्म । तत्राहमेवं मन्ये विचारयामि । दिवसावसाने दिनपर्यन्ते
संध्याया एवारभ्य अङ्गनाभिः स्त्रीयवल्लभाभिः रथाङ्गविहंगमीभिः समं सार्धं वियोग-
भाजां परस्परविश्लेषकुलितानां रथाङ्गनाम्नां चक्रवाकानां स्फुरन्त्यः प्रकटीभवन्त्यः
विषादः खेदः स एवानलो हुताशनः तस्य धूमानां लेखाः श्रेणय इव ॥

गते गवां स्वामिनि नाभ्युदीते राजन्यथाराजकवद्विभाव्य ।

स्वैरप्रचारेण जगत्समग्रमुपाद्रवदस्युरिवान्धकारः ॥ ५२ ॥

अन्धकारः स्वैरं स्वेच्छया प्रचारेण द्यावाभूमयोः संचरणेन दस्युरिव प्रत्यर्थीव चौर
इव वा समग्रं जगत्सर्वमपि भुवनमुपाद्रवदुपद्रवति स्म । किं कृत्वा । गवां किरणानां
पृथिवीनां च स्वामिनि नायके भानौ भूधने च । ‘गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे’
इति कल्याणमन्दिरस्तवने । कापि कुत्रापि गते अस्तमिते परजनपदे प्रयाते मृते वा
सति अथ पश्चात् राजनि चन्द्रे पट्टधरवृषे च नाभ्युदीते नोदयं प्राप्ते पट्टे स्थापिते
च । अत एवाराजकवन्निःस्वामिकमिव जगद्विभाव्य निरीक्ष्य । ‘हा हा महाकष्टमराजकं
जगत्’ इति मृगयावर्णने धनपालोक्तिः ॥

क्रियद्विहायः क्रियती क्षितिर्वा प्रमातुकामस्तमसां समूहः ।

कुतूहलाक्रान्तमना इतीव द्यावापृथिव्योः प्रसरीसरीति ॥ ५३ ॥

तमसामन्धकाराणां समूहो द्यावापृथिव्योर्नभोभूमण्डलयोः प्रसरीसरीति अतिशयेन
प्रसरति । उत्प्रेक्ष्यते—विहायो गगनं किंप्रमाणमस्येति कियत् । तथा वा पुनः क्षितिः
पृथिवी क्रियती कियत्प्रमाणा । ‘क्रियती पञ्चसहस्री क्रियती लक्षा च कोटिरपि क्रियती ।
औदार्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती क्रियती ॥’ इति सूक्तोक्तिः । इत्यमुना प्रकारेण

कुतूहलेन कौतुकेनाक्रान्तमाकुलितं व्याप्तं वा मनो यस्य तादृक् सन् प्रमातुकामः प्रमाणी-
कर्तुमना इव ॥

तेषु तपो भूधरगह्वरान्तस्त्यक्ताशनाम्भः प्रतिवासरं यत् ।

व्योमावनीव्यापकसिद्धिरस्मादलम्भि भूच्छायभरैरिवैषा ॥ ५४ ॥

भूच्छायभरैः संतमसमूहैर्भूधराणां पर्वतानां गह्वराणां गुहानां महाकन्दराणामन्त-
र्मध्ये अर्थात्स्थित्वा प्रतिवासरं दिवसं दिवसं प्रति त्यक्ते अशनाम्भसी आहारपाने यत्र
तादृशं क्रियाविशेषणं वा मुक्तान्नपानं यथा स्यात्तथा तपस्तेषु । नियमविशेषकं
तप्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—अतोऽस्मादुत्तमपसः एषा प्रत्यक्षलक्ष्या व्योमावन्त्योर्नभोभूम्योर्व्या-
पनरूपा सिद्धिः फलनिष्पत्तिर्लब्धिविशेषा अलम्भि लब्धा संप्राप्ता ॥ इत्यन्धकारा-
विर्भवनम् ॥

अथोददीप्यन्त नभःपदव्यां झगज्झगित्युन्नविमिश्रताराः ।

स्वक्रान्तमायान्तमवेत्य रात्र्या पुष्पोपचारो व्यरचीव मार्गे ॥ ५५ ॥

अथ तमःप्रसारानन्तरं झगज्झगिति कृद्धिर्देदीप्यमानैरुन्नैः किरणैर्विमिश्राः करम्बि-
तास्तादृशास्तारास्तारका ज्योतिर्मण्डला नभःपदव्यां गगनमार्गे उददीप्यन्त प्रस्फुरन्ति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वक्रान्तं निजवल्लभं रात्रिपतित्वाचन्द्रम् । 'रोहिणीद्विजनिशौषधीपतिः'
इति हैमीवचनात् । आयान्तमागच्छन्तम् । स्वपार्श्वे इत्यध्याहारः । अवेत्य विज्ञाय
रात्र्या चन्द्रपत्न्या । 'उषादोषेन्दुकान्ता' इति हैम्याम् । मार्गे भर्तुरागमनस्याध्वनि
पुष्पोपचारः कुसुमप्रकरो व्यरचि विरचित इव ॥

कुक्षिभरि क्षोणिनभःपदव्यो दृष्टाहितं संतमसं जिघांसोः ।

ताराः स्वयं राज्ञ इहायियासोः पताकिनीव प्रसृता पुरस्तात् ॥ ५६ ॥

इह जगति गगनाङ्गणे वा स्वयमात्मनायियासोरागन्तुकामस्य राज्ञः रजनीजीवि-
तवल्लभस्य पार्थिवपुंगवस्य च पुरस्तादग्रे तारास्तारकारूपा पताकिनी सेनेव प्रसृता प्रस-
रति स्म । यत्र राज्ञोऽभिषेणनाभिलाषस्तत्र पुरस्त्वरितमनीकं प्रसरतीति रीतिर्नातिश्च ।
राज्ञः किं कर्तुमिच्छोः । क्षोणिनभःपदव्योश्चतुर्दिगन्तुसागरान्तगगनाम्बरमण्डलयोः
कुक्षिभरि भृतमध्यम् । तथा दृष्टं जगदाक्रम[ण]कारकम् । तथा अहितं प्रतिपक्षम् ।
'ध्वान्तस्य रविचन्द्ररत्नदीपकाविपक्षाः' इति काव्यकल्पलतायाम् । संतमसमन्धकारं
जिघांसोर्हन्तुमिच्छोः । अन्योऽपि बलवान् भूपतिर्दृष्टं भुवमाक्रामन्तं बलिष्ठं प्रतिपन्थिनं
हन्तुमिच्छति ॥

चिरंविनोदैर्दिननायकेनाभिकेन साकं सुरवर्त्मलक्ष्म्या ।

नक्षत्रलक्षात्मकमशेषवक्षः श्रमाम्बुभिर्विन्दुकिंतं बभूव ॥ ५७ ॥

अभिकेन निजकामुकेन दिननायकेन साकं भानुमता समं चिरं बहुकालं सकलं वासरं यावद्विनोदैर्विविधमानसामिलयितक्रीडारसैः कृत्वा सुरवर्त्मलक्ष्म्या गगनश्रिया अशेषमखिलं वक्षो हृदयस्थलम् । उत्प्रेक्ष्यते—नक्षत्राणामुद्भूतानाम् इति सामान्योक्तिः । यतो हैम्यामपि सर्वेषां नामानि सामान्येनैवोक्तानि न विशेषात्, यथा—‘नक्षत्रं तारका ताराज्योतिषी भमुद्बुग्रहाः । धिष्यन्मृक्षम्’ इति, तथापि उपलक्षणाद्ब्रह्मक्षत्रतारकाणां लक्षात्कपटात् श्रमाम्बुभिः बहुविनोदविधानोद्भूतप्रस्वेदसलिलैर्बिन्दवः संजाता अस्मिन्नि-
ति । स्वार्थे कः । विन्दुकितं जलकणकलितं जातम् । ‘स्वेदविन्दुकितनासिकाशिखं तन्मुखं सुखयति स्म नैषधम्’ इति नैषधे । किं दभूव संजातमिव ॥

आगन्तुकस्योदयशृङ्गिशृङ्गास्थानीं तमोद्विड्दमनस्य राज्ञः ।

नभोवितानं किमकारि तारामुक्ताङ्कितं सृष्टिकृतोपरिष्ठात् ॥ ९८ ॥

सृष्टिकृता जगत्सर्गविधायकेन विधात्रा राज्ञश्चन्द्रस्य पृथिवीपुरंदरस्य उपरिष्ठात् मस्तकोपरितनभागे । उत्प्रेक्ष्यते—तारास्तारका उपलक्षणात्क्षत्रताराग्रहा एव मुक्ता-
फलानि तैरङ्कितं विचित्ररचनाचारिमाङ्कितं नभो गगनतलमेव वितानं चन्द्रोदयः किमकारि निर्मितम् । रचितमिव । राज्ञः किंभूतस्य । शृङ्गिणः पर्वतस्य । पूर्वपर्वतस्येत्यर्थः । शृङ्गं शिखरं तदेवास्थानीमुपवेशनसभाभागान्तुकस्य आगमनशीलस्य । पुनः किंभूतस्य । तमांस्येव द्विपन्तः सन्नवस्तेषां दमनस्यान्तकारकस्य । ‘अप्यन्तकारिदमनदर्पच्छिन्मथ-
नादयः’ इति हैम्याम् ॥

नभोगसारङ्गदृशां रतीशराभस्यवश्यप्रियखेलिनीनाम् ।

वक्षःस्थहारच्युतमुक्तिकाभिर्नभःस्थली तारकिता किमासीत् ॥ ९९ ॥

रतीशराभस्येन तारुण्यवयस्त्वेन यन्मदनौत्सुक्यं र्यौवनोन्मादेन मदनात्युत्क-
ण्ठाभाक्त्वेन वक्ष्या स्वायत्तीभूता ये प्रिया वल्लभास्तैः समं स्मरमते वात्स्यायनोक्तवि-
विधविनोदैः खेलन्ति क्रीडन्तीत्येवंशीलास्तादृशीनाम् । ‘भीमं कृत्वाङ्गखेलनम्’ इति पा-
ण्डवचरित्रे । नभसि आकाशे गच्छन्तीति नभोगा देवास्तेषां सारङ्गदृशो मृगलोचनाः
त्रियो देव्यस्तासां वक्षःसु हृदयस्थलेषु तिष्ठन्तीति वक्षःस्थास्तादृशा हारा मुक्ताफलपा-
स्तेभ्यश्च्युताहृदिया पतिता मुक्तिका मुक्ता एव मुक्तिका मुक्ताफलानि ताभिः कृत्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—नभःस्थली गगनमण्डली तारकिता तारकाः संजाता अस्यामिति तादृशी
तारककलिता किमासीत् बभूवुषीव । ‘नक्षत्रभूः क्षत्रकुलप्रसूतेर्युक्तो न भोगैः खलु भोग-
भाजः’ इति चम्पूकथायां नलस्य मेरोरण्याधिक्यवर्णनम् । ‘न भोगैः राज्यादिसुखैर्न
युक्तः । पक्षे नभोगैर्देवैः सहितः’ इति तट्टिपनके ॥

स्वर्दण्डदण्डं दधता तमिस्रवासो वसानेन सितैतराश्रि ।

कपालमालेव धृता विहायः कपालिना वक्षसि तारतारा ॥ १० ॥

विहायः कपालिना नभोनाम्ना योगिना वक्षसि स्वहृदयस्थले तारा उज्ज्वला केश-
चर्मरहितत्वेन केवलं तुम्बिकात्वेन च धवला तारा ज्योतिश्चक्रं च तद्रूपा । उत्प्रेक्ष्यते—
कपालमाला निर्नाथद्रमकमनुजमुण्डली च 'तुम्बिली' इति लोकप्रसिद्धा धृतेव कलितेव ।
कपालिना कपालधारणं युक्तिमदेव । यतः कपालानि विकचत्वङ्मृमुण्डानि मालात्वेन
सन्त्यस्येति कपाली । किं कुर्वता । स्वर्दण्डो लोके 'स्वर्दण्डउ' अथ वा पितृपथः इति
प्रसिद्धः । गगनान्तराले भ्रमन् किञ्चित् श्वेतवर्णो दण्डाकारेण हृदयमानो मार्गाकारेण वा
स दण्डो यष्टिस्तं दधता विभ्रता । पुनः किं कुर्वाणेन । सितादुज्ज्वलवर्णादितरा कृष्ण-
वर्णा श्रीः शोभा यस्य तादृक् तस्मिन् ध्वान्तं तदेव वासो वसनं वसानेन परिधानेन ।
'गुणिप्रायाणि वज्राणि भूषणानि तव प्रभो । वसानश्च ध्यानश्च सत्कविर्द्वारि तिष्ठति ॥'
इति भोजप्रबन्धे ॥

तथा तवाप्यस्तु यथा त्रियामे निष्कास्यतेऽहं गलहस्तयित्वा ।

शपन्नितीवाक्षिपदक्षलक्षक्षतानह्योग्यभिमन्त्र्य गच्छन् ॥ ६१ ॥

गच्छन् परद्वीपं प्रति व्रजन्नहर्दिनमेव योगी त्रियामां प्रत्यक्षिपत्क्षिपति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण सिद्धविद्यामन्त्रतन्त्रोपयोगवान् अभिमन्त्र्य मन्त्रेण स्थानभ्रं-
शादिकारकया विद्यया मन्त्रयित्वा जापं दत्त्वा ऋक्षाणां तारकादिज्योतिषां लक्षात्कपटात्
लज्जानक्षततण्डुलान्वा त्रियामां प्रत्यक्षिपत्क्षिपति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण
त्रियामात्सप्रवासदायिनीं वैरिणीं चन्द्ररमणीं शपन् शपं ददान इव । इति किम् । हे
त्रियामे इति संबोधनम् । शात्रवत्त्वेन चतुर्यामाया अपि त्रियामेति कथनं क्षयकृतसूचकम् ।
यथाहं त्वया गलहस्तयित्वा गलेहस्तं 'गलोघो' इति प्रसिद्धः, चपेटां वा दत्त्वा निष्का-
स्यते लोकमध्यात् रोदःकन्दरमन्दिराद्वा कर्ष्यते तथा तेनैव प्रकारेण गलहस्तचपेटा-
दिप्रदानादिना तवापि भवत्या अपि निष्कासनमस्तु स्तोत्रवेत्येव भवतात् ॥

प्रस्थातुकामेन तमो जिघांसोर्जयाय पूर्वावनिभृद्गतेन ।

अक्षेपि राज्ञा दशदिक्षु मन्ये शान्त्यै बलिस्तारकतन्दुलालीः ॥ ६२ ॥

पूर्वावनिभृद्गतेन उदयाचलरुपराजधानीस्थायुकेन पूर्वाद्रौ स्थितेन वा । राज्ञा चन्द्रेण
जिष्णुजगतीभुजा च । उत्प्रेक्ष्यते—शान्त्यै निर्विघ्नतानिर्माणकृते दिक्षु सर्वदिशां
प्रदेशेषु तारकाणामेव ज्योतिषामेव तन्दुलानां निस्तुषीकृताक्षतकलमानां साला श्रेणी ।
तद्रूप इत्यर्थः । बलिः देवदानवादीनां गगनादिदिक्षु क्षेपणीयसिद्धान्नादिवस्तुजातमक्षेपि
क्षिप्त इव । राज्ञा किं कर्तुकामेन । तमसां तमसो वा अन्धकारस्य विधुंतुदस्य वा जिघां-
सोर्निजप्रत्यनीकस्य जयाय वशीकरणार्थं भूयः पराभवनाथं वा प्रस्थातुकामेन प्रचलि-
तुमनसा ॥

१. 'निष्कास्यते' इति प्रथमपुरुषप्रयोगश्चिन्त्यः, 'अहम्' इति कर्मणा समानाधिकर-
ण्यात्. 'अहंयुः' इत्यत्रेवाहमो विभक्तिप्रतिरूपकत्वेन वा समाधेयम्.

कान्ते निमग्नेऽम्बुनिधौ प्रणश्य दिनश्रियोऽत्राणतया प्रयान्त्याः ।

आच्छिद्य मुक्ताभरणानि तारा द्विषत्तयेवाददिरे रजन्या ॥ ६३ ॥

अत्राणतया अरक्षकत्वेन अशरणभावेन वा प्रणश्य जीवनाशं नष्टा प्रयान्त्याः क्वचिद्भुतस्थाने गच्छन्त्या दिनश्रियो दिवसलक्ष्म्यास्तारा एव ज्योतीरूपाणि वा मुक्ताभरणानि मुक्ताफलमयानि भूषणानि द्विषत्तया वैरिभावेन रजन्या रात्र्या आच्छिद्य हठाद्वलं कृत्वा आददिरे उहात्य गृहीतानीव । कस्मिन्सति । कान्ते अर्थाद्दिनश्रिया भर्तारि भास्करे अम्बुनिधौ समुद्रपथःप्लवे निमग्ने ब्रूडिते सति ॥

स्वःकूलिनीकूलविलासिनीनां प्रदोषविश्लेषिविहंगमीनाम् ।

विलोचनोद्भूतपयःपृष्ठद्विः किमम्बरं तारकितं पतद्विः ॥ ६४ ॥

स्वःकूलिन्या गगनगङ्गायाः कूले तटे विलसन्ति । ‘लस श्लेषणक्रीडनयोः’ इति धात्वर्थत्वेन आश्लिष्याश्रित्य तिष्ठन्ति स्वैरं भर्त्रा वा क्रीडन्तीति वा । इत्येवंशीलास्तादृशीनाम् । तथा प्रदोषे दोषासुखे विश्लेषो निजप्रियेण समं वियोगोऽस्त्यासां तासां विहंगमीनां पक्षिणीनाम् । अर्थाच्चक्रवाकीनाम् । ‘विहंगयोः कृपयेव शनैर्ययौ रविरहर्विरहध्रुवभेदयोः’ इति रघुवंशे । ‘दिवसावसाने निश्चयेन वियोगयोः विहंगयोश्चक्रवाकीचक्रवाकयोः कृपयेव’ इति तद्वृत्तिः । ‘पुमान् स्त्रिया,’ ‘स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते न तु स्त्री’ इति केवलविहंगशब्दः । तथा ‘निजपरिवृढं गाढप्रेमा रथाङ्गविहंगमी’ इति नैषधे विहंगमीशब्दः । ‘स्वर्गिगङ्गाख्याङ्गः’ इति काव्यकल्पलतायाम् । विलोचनेभ्यः नेत्रेभ्य उद्भूतानां वियोगातिदुःखोदयादाविर्भूतानाम् । नेत्रनिःसृतानामित्यर्थः । पयसामश्रुजलानां पृष्ठद्विविन्दुभिः । ‘विन्दौ पृष्ठपृषतविप्लुषः’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—पतद्विः क्षरद्विः अर्थात् गगनाङ्गणमागल्य तिष्ठद्विः सद्विः अम्बरमाकाशं तारकितं तारकाः संजाता अस्मिन्निति तादृशं तारककलापकलितं किं जातं बभूवेव ॥

स्वां निष्ठितां प्रेक्ष्य सुधां सुधांशैः पुनः कृतेऽस्या इव मथ्यमानात् ।

सुधाम्बुधेर्व्योम्नि समुच्छलद्भिरम्भःकणैस्तारभरैर्वभूवे ॥ ६५ ॥

सुधाम्बुधेः क्षीरसमुद्रात्सुधाया उत्पत्तिस्थानत्वात्कविसमये प्रसिद्धत्वाच्च सुधाम्बुधिः । तथा ‘सुधाम्भोनिधिडिण्डीरपिण्डपाण्डुयशःकुशेशयखण्डमण्डितसकलसंसारसराः’ इति चम्पूकथायाम् । व्योम्नि पवमानपदव्यामुच्छलद्भिरुर्ध्वं गच्छद्भिरम्भःकणैर्जलविन्दुभिः । उत्प्रेक्ष्यते—तारभरैर्ज्योतिर्वीर्यैर्वभूवे संजातम् । सुधाम्भोधेः किं क्रियमाणात् । स्वां स्वकीयां नारायणमथनसमयसमुद्भूतां प्राचीनां सुधां पीयूषं निष्ठितां व्यथितां भुक्त्वा पीत्वा सर्वामपि क्षयं नीतां प्रेक्ष्य दृष्ट्वा पुनर्व्याधुष्य अस्याः सुधायाः कृते अर्थाय । तर्हि तेऽन्यमप्याहारं कथं न कुर्वन्तीत्यत आह—यतस्ते केवलं सुधाममृतमेवाश्रन्तीति सुधाशा देवास्तैर्मथ्यमानात् विलोड्यमानात् ॥ इति तारकाणामुदयः ॥

अथो दधे चण्डकरे प्रयाते प्राच्या मुखे किंचन पाण्डिमश्रीः ।

स्मितं प्रमोदादिव सौम्यराजोदयं प्रकृत्येव दिशां समीक्ष्य ॥ ६६ ॥

अथो संध्यारागान्धकारतारकाभ्युदयानन्तरं चण्डकरे उग्रदण्डे नृपे सूर्ये प्रयाते अस्तमिते सति प्राच्या पूर्वदिशा किंचन किमपि मुखे खवदने पाण्डिमश्रीसञ्ज्वलतायाः शोभा दधे धृता । प्राच्यां दिशि धवलिमा प्रादुर्भवति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सौम्यराजोदयं सोमतासंयुक्तस्य राजश्वदस्य भूवल्लभस्य च उदयसुद्गमनं पैतृकपदप्राप्तिलक्षणाभ्युदयं समीक्ष्य विलोक्य प्रकृत्येव प्रजयेव नगरलोकेनेव । ‘राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च’ इति हैम्याम् । दिशा पूर्वहरिता प्रमोदात्स्वाभिमतराजप्राप्तिजनितहर्षाविर्भावात्स्मितं हसितमिव ॥

संसृज्य रज्यद्वयितेन पत्नी हरेर्हरितारविभूषणश्रीः ।

गर्भं वहन्ती मिहिकामयूखं मुखेऽपुषत्पाण्डुरिमाणमूहे ॥ ६७ ॥

हरेरिन्द्रस्य पत्नी कान्ता हरित् दिक् एतावता पूर्वदिक् मुखे निजास्ते पाण्डुरिमाणं धवलतामपुषत् पुषोष अतीव पाण्डुरवदना संजातवती । ‘निजसुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित्’ इति नैषधे । तत्राहमेवमूहे तर्कयामि । ‘ऊह वितर्के’ इत्ययं धातुः । मिहिकामयूखं हिमकरं चन्द्रं तमेव गर्भं भ्रूणं दोहदलक्षणं वहन्ती सती दधानेव । किं कृत्वा । रज्यता अनुरक्तीभवता । ‘रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य’ इति नैषधे । द्वयितेन प्राणप्रियेण पुरंदरेण साकं समं संसृज्य सङ्गं कृत्वा । ‘निर्वापयिष्यन्निव संसिद्धोः’ इति नैषधे । ‘सङ्गं कर्तुमिच्छोः’ इति तद्वृत्तिः । किंभूता हरित् । ताराणां निर्मलमौक्तिकानाम् । ‘तारो निर्मलमौक्तिके’ इत्यनेकार्थः । ताराणां राजतीयानां वा ताराणां शुभ्राणां वा तारकरूपाणां वा विभूषणानामाभरणानां श्रीः शोभा यस्याः । ‘प्रथममुपहृत्यार्थं तारैरखण्डिततन्दुलैः’ इति नैषधे । तारकवाची तारशब्दः । अपरस्तद्वत् । अपरापि युवती राज्यं निजवल्लभेन समं संगमनाद्भुविणी सती खवदने विशदिमानं दधातीति रीतिः स्थितिश्च ॥

आकण्ठमम्भःसु निमज्ज्य काममन्त्रोऽलिशब्दैः कुमुदैरसाधि ।

विकाशलक्ष्मीं ददती किमेषा तत्सिद्धिरिन्दुद्युतिराविरासीत् ॥ ६८ ॥

कुमुदैः कैरवैश्चन्द्रविकाशिकम्भैः आकण्ठं गलकन्दलं मर्यादीकृत्य अम्भःसु पानीयेषु निमज्ज्य ब्रूडित्वा अलिशब्दैर्मधुकरमधुरगुञ्जारवैः कृत्वा काममन्त्रो मानसमनीषितप्रदायिका विद्या असाधि साधित आराद्धः । उत्प्रेक्ष्यते—एषा प्रत्यक्षलक्ष्या इन्दुद्युतिश्चन्द्रचन्द्रिकारूपा तत्साधकस्याभीष्टविधायकमन्त्रस्य सिद्धिः फलनिष्पत्तिराविरासीत्किमु प्रकटीभूतेव । तत्सिद्धिः किं कुर्वती । एषां कुमुदानां विकाशलक्ष्मीं स्मेरताश्रियं विश्राणयन्ती ॥

सान्द्रद्रुमोल्लासिनि पूर्वशैलशृङ्गाङ्गणे चञ्चति चन्द्रलेखा ।

किञ्चिचिरीक्ष्या हरिदिङ्मृगाक्ष्याश्चूडामणिः किं चिकुरान्तरस्था ॥ ६९ ॥

सान्द्रविनिद्रदल(निविडदल)मण्डलकलितान्तरालसच्छायपादपटलोन्नसनशीले पूर्व-
शैलस्य उदयाचलस्य शृङ्गाङ्गणे शिखराजिरे उपरितनभूविभागे किञ्चिचिरीक्ष्या स्वल्प-
तरचक्षुर्लक्ष्या चन्द्रलेखा शशिकला चञ्चति संशोभते । ‘चञ्चति चकास्ति लसत्यपि शोभते’
इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—हरेः पुरंदरस्य दिक् पूर्वाशा सैव मृगाक्षी हरिणेक्षणा
वधूस्तस्याः चिकुराः केशपाशास्तेषामन्तरे मध्ये तिष्ठतीति चिकुरान्तरस्था निविडघन-
केशकलापत्वेन किञ्चिन्मनाक् निरीक्ष्या दृग्गोचरा चूडामणिः किमु शिरोरत्नमिव । मणि-
नाम्नः पुञ्जीलिङ्गयोरपि । यथा ‘प्रश्निस्तिथ्यशानीमणिः मणिः’ इति लिङ्गानुशासने । तथा
ह्रस्वो दीर्घोऽपि । अथ वा चूडामणिर्मस्तकाभरणविशेषः । सौराष्ट्रगुर्जरेषु तु ‘वाक्’
इति लोकोक्त्या तत्र पुंलिङ्ग एवावधार्यते ॥

दत्त्वाधिपत्यं निखिलाचलानां स्वदिग्गिरेः स्वर्गिरिचक्रिणेव ।

मौलिस्थले राजतपट्टबन्धो विनिर्मितः स्फूर्जति सामिसोमः ॥ ७० ॥

सामिसोमः अर्धविधुः स्फूर्जति स्फूर्तिमियति । दीप्यते इत्यर्थः । ‘पूर्वं गाधिसुतेन
सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्विवि’ इति
नैषधे । ‘सामिघटिता अर्धनिष्पादिता’ इति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते — स्वर्गिरिचक्रिणा काञ्च-
नाचलचक्रवर्तिना शक्रेण । ‘जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम’ इति नैषधे इन्द्राभिधानम् ।
स्वदिग्गिरेरात्मीयाशैलस्य उदयाभिधानस्य भूधरस्य निखिलाचलानां सकलभूमण्डल-
वर्तिपर्वतानामाधिपत्यमैश्वर्यं राज्यं दत्त्वा मौलिस्थले शिरोमण्डले राजतो राजतस्यायं
रुप्यसंवन्धी पट्टबन्धो विनिर्मितः कृत इव वद्ध इव ॥

सुरेन्द्रदिग्भूधरमूर्ध्नि बिम्बमपूर्णमाभासत शीतभासः ।

खण्डं शिखायामिव सैहिकेयदंष्ट्रान्तरायन्त्रणतोऽजनिष्ट ॥ ७१ ॥

सुरेन्द्रस्य निर्जरनायकस्य दिक् पूर्वाशा तस्या भूधर उदयपर्वतः तस्य मूर्ध्नि मस्तके
शिखरे शीतभासश्चन्द्रस्य अपूर्णं किञ्चिद्व्यूनं किमपूर्णनिर्गमनात्खण्डं बिम्बमण्डलमाभा-
सत राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सैहिकेयस्य सिंहिकासुतस्य स्वर्भानोर्द्वैष्ट्राणां दाढानाम-
न्तरा मध्ये यन्त्रणतः पीडनतः निर्गमनतः शिखायामग्रभागे खण्डं शकलमिवाजनिष्ट
संजातमिव ॥

संपूर्णपीयूषमयूखबिम्बं बभौ ततः स्वीयदिगङ्गनायै ।

मरन्दलीनालिपुरंदरेण समर्प्यते स्म स्मितपुण्डरीकम् ॥ ७२ ॥

ततोऽनन्तरं संपूर्णमखण्डं पीयूषमयूखस्य चन्द्रस्य बिम्बं मण्डलं बभौ भासते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—पुरंदरेण इन्द्रेण स्वीयायै आत्मीयायै दिगङ्गनायै हरित्कान्तायै निजपूर्व-

दिक्पद्मनयनायै मरन्दार्थं मकरन्दपानकृते लीना अन्तर्निश्चलीभूता अलयो भ्रमरा यत्र तादृक् स्मितपुण्डरीकं विस्मेरश्चेतकमलं किं समर्प्यते स्म विश्राणितं दत्तमिव ॥

पितामहस्य त्रतिराद्चरित्रैश्चित्रीयमाणस्य विधूतमौलेः ।

कमण्डलुश्चान्द्र इवोत्पलाङ्कः सस्तः शयादुल्लसति स्म सोमः ॥ ७३ ॥

सोमश्चन्द्र उल्लसति स्म उल्लासं दशदिक्षु ज्योतिःप्रसारमातनुते स्म शोभते स्म वा । कवेरपरवर्णनराभस्येन मा ग्रन्थनायको विस्मृतोऽभूदिति । तमेव स्मारयति इति सर्वत्रापि योजनीयम् । उत्प्रेक्ष्यते—त्रतिराजः श्रीहीरविजयसूरिपुरंदरस्य चरित्रैः सर्वातिशायिभिरवदातैश्चित्रीयमाणस्य अनन्यसामान्यविस्मयरसं दधानस्य अत एव विस्मयातिरेकाद्विधूतः कम्पितो मौलिर्मस्तकं येन तादृशस्य पितामहस्य वृद्धस्य विधातुः शयात्पाणिपद्मात्सस्तः कथंचित्पतितः अत्याश्चर्यरसवशाच्चित्तवैयर्थ्येण पाणिपङ्कजाद्गलितः । तथा उत्पलाङ्कः कुवलयकलितं तथा चान्द्रश्चन्द्रकान्तमणिमयः कमण्डलुरिव कुण्डिकाख्यं जलपानपात्रमिव । ‘कुण्डिका तु कमण्डलुः’ इति हैम्याम् ॥

पीयूषपूर्णः कलधौतकृतोऽभिषेककुम्भः किमु कौमुदीशः ।

शृङ्गारयोनिं जगदाधिपत्येऽभिषिञ्चता विश्वकृता व्यधायि ॥ ७४ ॥

शृङ्गारयोनिं श्रीनन्दनम् । ‘मनःशृङ्गारसंकल्पात्मनो योनिः’ इति हैम्यां स्मरनामसु । जगदाधिपत्ये सर्वेषां भुवनानां राज्ये नक्तं स्मरस्यैश्वर्यादभिषिञ्चता अभिषेकं कुर्वाणेन विश्वकृता जगत्सृष्टिकारकेण विधिना । उत्प्रेक्ष्यते—कौमुदीशः चन्द्रिकापतिः शीतकान्तिरूपः पीयूषेणामृतसरसेन पूर्णो भरितः । तथा कलधौतै रजतैः कृतो विनिर्मितो घटितः अभिषेककुम्भः अभिषेककरणकृते कलशः किमु व्यधायि विनिर्मित इव ॥

क्षयात्सुधायाश्चिरकालपानात्तां याचमानाननुगृह्य देवान् ।

सुधारुचिर्विश्वसृजा सुधाया अक्षीणकुम्भः किमु कल्प्यते स ॥ ७५ ॥

विश्वसृजा त्रिभुवनसर्वसृष्टिविधायिना वेधसा सुधारुचिश्चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते—सुधाया अमृतसरसस्य न कदाचिदपि क्षीयत इत्यक्षीणः अक्षयकुम्भश्चन्द्रकान्तमणिमयः कलशः किमु कल्प्यते स्म विनिर्मितो घटित इव । किं कृत्वा । चिरकालं बहुसमयं यावत्पानाद्वीतेः सुधायाः पूर्वपीयूषस्य क्षयान्नाशात्तां पुनः सुधां याचमानानभ्यर्थयमानान्मार्गयतो देवाननुगृह्य सर्वेषां सुराणामुपरि पीयूषपायित्वेन अनुग्रहं कृत्वा ॥

प्राग्दिङ्मृगाक्ष्या प्रणयेन पत्यौ समीयुषि स्वावसथं सुरेन्द्रे ।

उद्धोधितो भेतुमिवान्धकारं निशीथिनीनायकदीप्रदीपः ॥ ७६ ॥

प्राग्दिङ्मृगाक्ष्या पूर्वहरिन्नामहरिणनयनया रात्रित्वान्धकारं भेतुं निराकर्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—निशीथिनीनायकः शर्वरीवरयिता चन्द्र एव दीप्रो दीपनशीलः प्रसरज्ज्योतिर्जालजटिलो दीपो मन्दिरमणिरुद्धोधितः प्रकटीकृत इव । कस्मिन्सति । प्रणयेन

प्रेम्णा याचनया वा । 'प्रणयः प्रेमयाच्छयोः । विलम्बे प्रसरे चापि' इत्यनेकार्थः । स्वा-
वस्थं निजनिकेतनं समीयुषि सम्यग्भोगागकलिते संप्राप्ते पत्नौ भर्तारि सुरेन्द्रे निर्जर-
नायके सति । अथ वा शके स्नेहेन स्वगृहे समागते सति ॥ इति चन्द्रोदयः ॥

पूर्वाद्रिमौलैरथ मन्दमन्दं प्रचक्रमे गन्तुमचण्डरोचिः ।

निजोदयश्रीनवनृतसूत्रधारापराद्रिं मिलितुं किमुत्कः ॥ ७७ ॥

अथाभ्युदयानन्तरं न विद्यन्ते चण्डानि तीक्ष्णानि रोचिषि यस्य सः अचण्डरोचिः
शीतकान्तिश्चन्द्रः पूर्वाद्रिमौलेरुदयाचलचूलातः मन्दमन्दं शनैःशनैः । 'गगनमवजगाहे
मन्दमन्दं मृगाङ्कः' इति चम्पूकथायाम् । तथा—'मन्दं मन्दं जुदति पवनश्चातकस्तोय-
गृध्रः' इति मेघदूतेऽपि दृश्यते । गन्तुं प्रचलितुं प्रचक्रमे प्रारब्धवान् । 'प्रचक्रमे
वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाचयमिदं सुनन्दा' इति रघुवंशे । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनः
उदयश्रिया अभ्युद्गमनलक्ष्म्या नवं नवीनं यन्त्रं ताण्डवं नाटकं तत्र तस्य वा सूत्रधारं
नृत्यकलाचार्यम् । नाटकप्रारम्भकमित्यर्थः । तादृशमपराद्रिं पश्चिमाचलम् । अस्ताद्रिमित्यर्थः ।
मिलितुमुत्कः किमु उत्कण्ठित इव । चन्द्रस्य हि प्रतिपद्धितीययोः पश्चिमाचलादेवाभ्यु-
दयः । तस्मादस्ताचल एव चन्द्रस्योदयाचलः । 'उदयगिरिकुरङ्गीशृङ्गकण्डूयनेन स्वपिति
सुखमिदानीमन्तरोदोःकुरङ्गः' । पुनः 'परिणतरविगर्भव्याकुला पौरद्वृती दिगपि घनक-
पोतीहुंकृते कन्धतीव' इत्युदयनाचार्यकालिदासकवीन्द्रयोः प्रातर्वर्णने पृथक्पृथक्
पदद्वये ॥

स्वर्भाणुभीतेः शरणीकृतेन प्राचीधवेनायमुपेक्षितः सन् ।

त्रस्यञ्छशाङ्कः किमु पश्चिमाशापतेः शरण्यस्य समेत्युपान्ते ॥ ७८ ॥

अस्यन् रिपोः सकाशात्त्रसमाकस्मिकं भयं संप्राप्नुवन् अयं गगनावगाही शशाङ्क-
श्चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते—शरण्यस्य शरणागतवत्सलस्य पश्चिमाशापतेः पश्चिमदिक्पालकस्य
वरुणस्योपान्ते समीपे किमु समेति समागच्छतीव । किंभूतः सन् । स्वर्भाणुभीतेः निज-
स्यात्यन्तप्रत्यर्थितया गिलनशीलस्य विधुन्दस्य भीतेर्भयात् शरणीकृतेन आगत्याश्रितेन
प्राचीधवेन पूर्वदिक्पतिना वज्रपाणिनाप्युपेक्षितः अकृतममत्वः सन् न स्वशरणे रक्षित
इत्यर्थः ॥

प्राचीपयोराशिपयःप्लवान्तर्विलासमाधाय मरालवालः ।

क्रीडां चिकीर्षुः किमु पश्चिमाब्धौ नभोध्वनासौ प्रचचाल चन्द्रः ७९

असौ प्रत्यक्षलक्ष्यः वर्णनगोचरीकर्तुमारब्धो वा चन्द्रः श्वेतकान्तिर्नभोध्वना गगन-
मार्गेण प्रचचाल चलति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पश्चिमाब्धौ प्रतीचीसमुद्रनिरपूरे क्रीडां
जलकेलिविलासं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुर्मरालवालः किञ्चुकलहंसः किमु प्रचलति । किं
कृत्वा । प्राचीपयोराशेः पूर्वसमुद्रस्य पयःप्लवान्तः पानीयपूरमध्ये विलासं मजनोन्मजन-

तरणतामरसविसाखादनादिकां क्रीडामाधाय कृत्वा । समुद्रे हंसानां सद्भावो दृश्यते ।
यदुक्तम्—‘हंसान्सहेत(?) पद्मरेणुकपिशक्षीराणवाम्भोभृतैः’ इति स्नातस्य स्तुतौ ॥

संचारि निर्दण्डमिवातपत्रं विहस्तको वा चलदात्मदर्शः ।

क्रीडातडागः किमु जङ्गमो वा स्मरावनीन्दोः शशभृद्भासे ॥ ८० ॥

शशभृच्चन्द्रो वभासे राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरावनीन्दोः मेदिनीकुमुदसुहृदः
कामराजस्य संचारि दिव्यानुभावेन स्वयं संचरणशीलं तथा निर्गतो दण्डो यस्मात्तन्नि-
र्दण्डमवष्टम्भयष्टया रहितमातपत्रं सितातपवारणमिव बाध वा । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—स्मर-
नरपतेर्विहस्तको हस्तग्रहणोचितस्थाणुनिर्मुक्तः चलन् स्वयमेव प्रतिष्ठमान आत्मदर्शः
दर्पण इव वा । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—कन्दर्पपार्थिवस्य जङ्गमः कथंचन देवतानुभावाङ्गमणरसि-
कक्रीडातडागो लीलासरोवरमिव ॥ इति चन्द्रमण्डलसंचारः ॥

भीतेः स्विकाया दिवसस्य लक्ष्मीं विज्ञाय नष्टामिह जीवनाशम् ।

विद्यो वसत्या हसितं हसन्त्या ज्योत्स्ना जजृम्भे गगने सुधांशोः ॥ ८१ ॥

सुधांशोश्चन्द्रस्य मनागित्यध्याहार्यं ततः किंचित् ज्योत्स्ना चन्द्रिका जजृम्भे प्रकटीभूता
विस्तृता वा । इहात्र ज्योत्स्नाविजृम्भणे वयमेवं विद्यो जानीमः । विचारयाम इत्यर्थः ।
इह जीवलोके स्विकायाः स्वस्या रात्र्याः सकाशात् । ‘हंसं तनौ संनिहितं वरन्तं
मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्’ इति नैषधे । भीतेर्भयाजीवनाशं नष्टां जीवं गृहीत्वा
प्रपलाय्य गतां दिवसस्य वासरस्य लक्ष्मीं श्रियं विज्ञाय ज्ञात्वा अवधार्य हसन्त्याः
स्वोत्कर्षेण हास्यं सृजन्त्यावसत्या निशाया हसितं स्मितं हास्यमिव ॥

अम्बरे विरुचे सुधारुचेश्चन्द्रचञ्चुरमरीचिसंचयः ।

दुग्धवारिनिधिरात्मजं विधुं किं चिराय मिलितुं समीयिवान् ॥ ८२ ॥

अम्बरे आकाशमण्डले सुधारुचेरमृतकिरणस्य चन्द्रस्य चन्द्रवत्कर्पूर इव चञ्चुरो म-
नोज्ञः । धवल इत्यर्थः । ‘चन्द्रोऽम्बुकाम्ययोः । स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे कम्पिले मेचकेऽपि च ॥’
इत्यनेकार्थः । मरीचीनां कान्तीनां संचयो निकरो विरुचे विरोचते स्म शुशुभे । ‘विरुचे-
...ष्ठितभूमिषु’ इति रघुवंशे । उत्प्रेक्ष्यते—दुग्धवारिनिधिः क्षीरसमुद्रः आत्मजं नन्दनं
दुग्धाम्भोनिधादुत्पन्नत्वेन विधुं सुधादीधितिं चिराय बहोः कालात् । ‘चिराय चिरा-
त्राय चिरस्य च चिराच्चिरम्’ इति हैम्यमव्ययाधिकारे । मिलितुं पुत्रत्वेहेन मिलनार्थं
समीयिवान्किं समागत इव ॥ गगने चन्द्रगोलिकाङ्गः ॥

स्वर्गं गता क्रतुभुजां प्रभवामि तृप्त्यै

तद्वन्नृणामपि धरामधिगत्य नित्यम् ।

पीयूषसंततिरितीव विचिन्तयन्ती

ज्योत्स्नातनूरवततार तलेऽचलायाः ॥ ८३ ॥

ज्योत्स्नातनूश्चन्द्रिकाकाया पीयूषसंततिरमृतराजी । उत्प्रेक्ष्यते—इति विचिन्तयन्ती सती अचलायास्तले मण्डले अवततार उत्तीर्णैव । इति किम् । यथेत्यध्याहारः । यथाहं स्वर्गं देवलोकं गता संप्राप्ता सती क्रतुभुजां यज्ञांशभोजिनां देवानां तृप्त्यै सौहित्राय वृषकोपशमाय प्रभवामि समर्थी स्यां तद्वत्तथा धरामधिगत्य पृथिवीं संप्राप्य मनुष्याणामप्यन्नाशनानां नित्यं सदा तृप्तिं कृते समर्थीभवामि ॥

प्रससार महीविहायसोर्मिहिकादीधितिदीधितिव्रजः ।

युवतेरिव शीतदीधितेरुपसंव्यानसमेचकद्युति ॥ ८४ ॥

निहिकादीधितेर्हिमकिरणस्य विधोः । 'प्रालेयं निहिका हिमम् । स्यान्नीहारस्तुषारश्च' इति हैम्याम् । दीधितीनां कान्तीनां व्रजो निकरः महीविहायसोर्भूमीनभसोः प्रससार विस्तरति स्म । द्यावापृथिव्योः समकालं विस्तारं प्राप्त इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—शीतदीधितेश्चन्द्रस्य युवतेस्तर्पणा यामिन्या अमेचकाः श्वेता न मेचका अमेचका उज्ज्वला द्युतिः कान्तिर्यस्य । 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या श्वेतपद्मासना या वीणावरदण्डमण्डितकरा या शुभ्रवल्गावृता' इति विशेषणाद्वाग्देवतावसनवद्विशदमुपसंव्यानं परिधानवन्नमिव । 'गुणशब्दो विरोधयर्थे नञादिरितोत्तरः । अग्निधत्ते यथा कृष्णः स्यादसितः सितेतरः ॥' इति हैम्याम् ॥

वारिराशिरशनाविहायसोः कौमुदीभिरुदरं स्म पूर्यते ।

अन्धकाररिपुनिर्जयोद्भवत्कीर्तिभिः किमु कुमुद्वतीपतेः ॥ ८५ ॥

कौमुदीभिश्चन्द्रिकाभिर्वारिराशिः समुद्रः स एव रशना मेखला यस्या एतावता स- [स]मुद्रा मेदिनी । मेखला तु शरीरान्तरेऽवस्थायिनी न पृथग्भवतीति । अतः समुद्रसहिता महीति समेतम् (?) । तथा विहाय आकाशं तयोदरं मध्यं पूर्यते स्म पूर्णीक्रियते स्म । व्याप्तमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—कुमुद्वतीपतेः कैरविणीकान्तस्य विधोः अन्धकार एव रिपुर्ध्वान्तशत्रुः । अथ वा लिपुः सूर्यः । 'सित्रो ध्वान्तारातिरवजांशुः' इति हैमीवचनात् । चन्द्रोदये भानुरस्तमीयते । सूर्यः खोदये च चान्द्रमसीं सर्वामपि विभूतिमादत्ते इति परस्परशत्रुतापि । तस्य ध्वान्तस्य सूर्यस्य वा निर्जयात्पराभवादुद्भवन्तीभिः प्रकटाभिर्जीयमानाभिः कीर्तिभिः किमु समाज्ञाभिरिव दिवस्पृथिव्यौ व्याप्ते ॥

भूमीनभोमण्डलमेदुरश्रीज्योत्स्नावपुर्विष्णुपदीप्रवाहैः ।

नक्तंदिनं जहुपदप्रसत्तेः प्राकाम्यरूपा किमवापि सिद्धिः ॥ ८६ ॥

भूमी पृथिवीपीठं नभोमण्डलं गगनस्थलं तयोर्विषये मेदुरा उपचयप्राचुर्यं प्राप्ता श्रीलक्ष्मीः शोभा वा यस्यास्तादृशी ज्योत्स्ना कौमुदी सैव वपुर्गान्त्रयष्टिर्यस्यास्तादृश्या विष्णुपद्या गङ्गायाः प्रवाहैः प्रसरत्पथः पूरैर्नक्तंदिनं रात्रौ दिवा च जहोर्नारायणस्य पदमाकाशं चरणश्च तस्य प्रसत्तेः प्रसादनतः । 'प्रसादनं प्रसत्तिः' इति व्युत्पत्त्या सेव-

नमित्यर्थः । भक्तेः सकाशात् । उत्प्रेक्ष्यते—प्राकाम्यरूपा रोदःकन्दरविस्तरणशीला बहुरूपकारिणी सिद्धिः फलनिष्पत्तिरवापि किं लब्धा संप्राप्तेव ॥

चूर्णैः प्रपूर्णा किमु मौक्तिकानां पीयूषपङ्कैः किमु वा [विलिप्ता ।

श्रीखण्डनीरैरथवा]भिषिक्ता ज्योत्स्नाभिर्वा धवलीकृताभात् ॥ ८७ ॥

ज्योत्स्नाभिः [धवलीकृता] प्रतिदिशं प्रसरच्चन्द्रसान्द्रचन्द्रिकाभिर्निरन्तरमतिश्वेततां प्रापिता उर्वी समस्तापि वसुमती आ[भात् आ]बभासे । उत्प्रेक्ष्यते—मौक्तिकानां स्थूलमुक्ताफलानां चूर्णैः क्षोदैर्निष्पिष्य सूक्ष्मीकृतरजोभिः प्रपूर्णा प्रकर्षेण (धवलीकृता) पूरिता किमु भरितेव । वा अथवा पीयूषपङ्कैरमृतकर्मैः स्नानीभूतसुधारसैर्विलिप्ता किमु विशेषेण कृतविलेपने च अङ्गरागकलिता कृता । अथ वा श्रीखण्डनीरैः स्थूलघृष्टचन्दनवारिद्रवैरभिषिक्ता किं कृताभिषेकेव ॥

आप्लाविते किं सुरसिन्धुसुभ्रुवः स्रोतःसहस्रैः परितः प्रसृत्वैरैः ।

कर्पूरपारीविलसद्यशोभरैः सूर्यशितुर्वा विशदीकृते इव ॥ ८८ ॥

विलीयमानैस्तुहिनावनीभृवीहारचारैर्निभृतं भृते वा ।

प्रपूरिते सान्द्रितचन्द्रचन्द्रातपैर्विभातः स दिवस्पृथिव्यौ ॥ ८९ ॥

सान्द्रं नीरन्ध्रत्वं संजातमेषामेषु वा इति सान्द्रिता बहलिताश्चन्द्रस्य निशानाय-
कस्य चन्द्रातपाश्चन्द्रगोलिकास्तैः प्रपूरिते प्रकर्षेण पूर्णाकृते । सर्वतोऽपि निर्भरं भरिते
व्याप्ते इत्यर्थः । दिवस्पृथिव्यौ द्वावाभूयौ विभातः सः । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—परितः सर्व-
तोऽपि दशदिक्प्रदेशेष्वपि प्रसृत्वैरैः प्रसरणशीलैः सुराणां देवानां सिन्धोः समुद्रस्य
सुभ्रुवः पठ्याः । ‘कर्षुद्वीपवतीसमुद्रदयिताधुन्यौ स्रवन्तीसरस्वत्यौ’ इति हैम्याम् । देव-
नद्या गङ्गायाः स्रोतसां पयःप्रवाहाणां सहस्रैर्दशशतीभिः आप्लाविते किम् । खकुक्षिगतीकृते
इव निर्भरं भृते इत्यर्थः । वा पुनरुत्प्रेक्ष्यते—सूर्यशितुर्ह्यरविजयसूर्योन्द्रस्य । पुनः सूरि-
नामग्रहणं बहुबहुमानसूचकम् । कर्पूराणां घनसाराणां पार्थः । ‘फडसि’ इति लोके
प्रसिद्धाः । ‘पारी पूरपरागयोः । पान्यां कर्करिकायां च पादवन्धे च हस्तिनः ॥’ इत्यने-
कार्थः । ‘कर्पूरपारीपरिधूसराङ्गम्’ इति तद्वृत्तिः । तथा ‘कर्पूरपूरकमनीयशोभिरामम्’ इति
स्तुत्यादौ । तत्र पूरशब्देन समूह एव । तद्वद्विलसद्भिः शुभ्रमिविभ्रमैः शोभमानैः य-
शसां भरैः श्लोकानां प्रकारैः । ‘श्लोकः कीर्तिर्यशोऽभिख्या समाज्ञा’ इति हैम्यां यशोना-
मानि । विशदीकृते इव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—विलीयमानैर्गलद्रिद्रवीभवद्भिः तुहिनावनीभृतो
हिमाचलस्य नीहारचारैर्हिमनिवहैर्निभृतं निचितं भृते वा भरिते वा । युगमम् ॥ इति
चन्द्रचन्द्रिकायाः प्रचारः ॥

१. ‘ज्योत्स्नाभिः’ इत्युत्तरमुचितोऽपि ‘धवलीकृता’ इति पाठः कैश्चिदत्र प्रक्षिप्तः.

गङ्गावज्जलजन्मबन्धुतनया स्वःकुम्भिवत्कुञ्जरो

नीरं क्षीरवदुत्पलं कुमुदवत्कादम्बवद्वायसः ।

वल्ली मौक्तिकहारवन्मरकतश्रेणीशशाङ्काश्मव-

लक्ष्मीं कांचिदमी दधुः सितरुचौ चन्द्रातपं चिन्वति ॥९०॥

सितरुचौ शारदीने चन्द्रे चन्द्रातपं चन्द्रगोलिकां चिन्वति पुष्पति उपचयं प्रापयति सति । विस्तारयतीत्यर्थः । अमी अत्रैव वृत्ते प्रकाशयमाना यमुनादयः पदार्थाः कांचिदनन्यां लक्ष्मीं शोभां दधुर्विभ्रति स्म । तानेव दर्शयति कविः—जलजन्मनां कमलानां बन्धुः सूर्यः तस्य तनया पुत्री यमुना । ‘यमुना यमभगिनी कालिन्दी सूर्यजा यमी’ इति हैम्याम् । गङ्गावल्लक्ष्मीं धत्ते । चन्द्रिकया शुचीभवत्पयःप्रवाहत्वेन गङ्गासाम्यमापेत्यर्थः । तथा कुञ्जरो गजः । जातावेकवचनं सर्वत्रापि योज्यम् । समस्ता अपि हस्तिनः स्वःकुम्भिवत् ऐरावणगजवद्वैभवं विभ्रति स्म । नीरं समग्रमपि जलं क्षीरवदुग्धमिव । तथा उत्पलं कुवलयनीलकमलमण्डलं कुमुदवत्कैरवमिव श्वेतारविन्दमिव । तथा वायसः कोलः सर्वेऽपि बलिभुजः कादम्बवत्कलहंसा इव । तथा मरकतानां गारुत्मतानां नीलमणीनां श्रेणी माला शशाङ्काश्मवच्चन्द्रकान्तरत्नपङ्क्तिरिव । तथा वल्ली समग्रलतावितानं मौक्तिकहारवन्मुक्ताफलकलाप इव शोभां वभार ॥

स्मेरकैरवशङ्कया कुवलयान्युत्तंसयत्यङ्गना

भृङ्गान्मालिकवालिकाः सुमधिया गृह्णन्ति केलीवने ।

मुक्ताभ्रान्तिभृतः किरातवनिताश्चिन्वन्ति गुञ्जाव्रजां-

श्चञ्चच्चन्द्रमसो भ्रमं वितनुते नो कस्य चन्द्रातपः ॥ ९१ ॥

चञ्चतो गगनमण्डले निखिलकलाकलापकलनदीप्यमानस्य चन्द्रमसः सुधादीधितेः चन्द्रातपःप्रतिहरिप्रसृत्तरसान्द्रचन्द्रिका कस्य पुंसः स्त्रीगणस्य वा भ्रमं भ्रान्तिं नो वितनुते चिनुते । अपि तु सर्वस्यापि करोतीत्यर्थः । तमेव प्रदर्शयति—अङ्गना सुरधकामिन्यः स्मेरतां विकसताम् । ‘स्मेरदम्भोरुहारामपवमानमिवानिलः’ इति पाण्डवचरित्रे स्मेरद्विकाशनार्थे दृश्यते । कैरवाणां श्वेतकमलानां शङ्कया भ्रमेण कुवलयानि नीलोत्पलानि उत्तंसयन्ति अवतंसानि कुर्वन्ति । शिरसि श्रवणयोर्वा अवतंसनिर्माणस्थानद्वन्द्वमिदं दृश्यते शास्त्रादौ यथा । ‘आपीडशेखरोत्तंसावतंसाः शिरसः स्रजि’ इति हैम्याम् । तथा ‘विलोचनाभ्यामतिमात्रपीडितेऽवतंसनीलाम्बुरुहद्वयीं खलु । तयोः प्रतिद्वन्द्वितयाधिः रोपयांभवतुर्भूमसुताभ्रुती ततः ॥’ इति नैषधे । पुनर्मालिकानां मालाकारकाणां बालिकाकुमार्यः । अथ वा बाला एव बालिकाः स्त्रियः । केलीवने क्रीडाकानने खेपां परेषां राजादीनां वा । ‘नित्योद्द्योतपदं समस्तकमला केलीगृहे राजते’ इति श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्रे केलीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । सुमधिया पुष्पबुद्ध्या भृङ्गान् भ्रमरान् गृह्णन्ति । पुनर्भुक्तानां

मुक्ताफलानां भ्रान्तिं भ्रमं बिभ्रतीति मुक्ताभ्रान्तिभृतः मौक्तिकभ्रमधारिण्यः किरातव-
निताः पुलिन्दपुरंध्रः गुञ्जात्रजांश्चिन्वन्ति आददते ॥

ज्ञायन्ते वसुधासुधाकरगृहा गर्जारवैः कुम्भिनां

दुग्धाब्धिः प्रतिनादमेदुरमित्कल्लोलकोलाहलैः ।

शैलाः कन्दरमन्दिराङ्गविलुठत्कण्ठीरवक्ष्वेडितै-

र्जाते श्वेतकरोदयेऽम्बरसरिङ्गिण्डीरपिण्डोपमे ॥ ९२ ॥

अम्बरसरितो गगनापगायाः सिद्धसिन्धोः । भूपीठस्थगङ्गायास्तु प्रावृट्प्रसरणीरवाह-
वर्षणप्रकर्षप्रवहत्प्रबलजम्बालजालाविलीभ्वजलजम्बालिनीप्लवमिलनात्कदाचित्कालुष्य-
मपि भवत्येव । यदुक्तम्—‘गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम्’ इति ।
परं नभोनद्यां तु कदाचिदप्याविलीभावो न स्यादेव । तस्मादाकाशगङ्गायाः डिण्डीराणां
फेनानां पिण्डाः समूहाः । ‘पिण्डो वृन्दे जपापुष्पे गोले चोलेऽङ्गसिंहयोः । कवले च’
इत्यनेकार्थः । तेषामुपमा सादृश्यं यस्य तादृशे श्वेतकरस्य चन्द्रस्य उदये जाते सति ।
वसुधा पृथिवी तस्या आह्लादकारकत्वात्सुधाकराश्चन्द्रा अतिन्यायिवत्तया सुधासदृशा
उचितातिस्तोक्तत्वेन अमृतोपमानाः करा राजदेयांशा येषाम् । ‘इदं तसुर्वीतलशीतलबु-
त्तिम्’ इति नैषधे । तेषां राज्ञां गृहा आवासाः ते कुम्भिनां बज्रोदुरसिन्धुराणां गर्जारवैः
कृत्वा ज्ञायन्ते नक्तं राजकार्यायागतराजसेवकैरवसीयन्ते उपलक्ष्यन्ते वा । तथा प्रति-
नादैः प्रतिशब्दैः कृत्वा मेदुरैः पुष्टैश्चिद्भिः प्राप्तैर्वहलीभूतैर्वा मिलतामन्योन्यं संगच्छतां
संनिहितीभवताम् । वा अथ वा स्वयमेव प्रादुर्भवतां कल्लोलानां तरङ्गाणां कोलाहलैरद्वैत-
नादैस्तुमुलैर्वा कृत्वा दुग्धाब्धिः क्षीरसमुद्रो ज्ञायते । तथा कन्दरा गुहा एव मन्दिराणि
निवाससदनानि तेषामङ्गे उत्सङ्गे । कन्दरशब्दस्त्रिषु लिङ्गाशुशब्दे । यथा ‘पिठरप्रतिसरपा-
त्रकन्दरा’ इति । विलुठतामितस्ततः पार्श्वं परिवर्तयतां कण्ठीरवाणां मृगेन्द्राणां क्ष्वेडितैः
क्ष्वेडाशब्दैः सिंहनादैः । ‘क्ष्वेडा तु सिंहनादोऽथ’ इति हैम्याम् । कृत्वा शैलाः पर्वता
ज्ञायन्ते अवबुध्यन्ते । अवलोककैरित्यध्याहारः । शारदीयसान्द्रचान्द्रचन्द्रिकया क्षोणी-
मण्डले धवलीकृते एतैरभिज्ञानैः कृत्वा प्रायुक्ताः पदार्थाः कथमप्यवबुध्यन्ते बुधैरित्यर्थः ॥

दुग्धाम्भोनिधिनिर्जरा इव नराः सर्वेऽपि संजज्ञिरे

स्वःसिन्धोरधिदेवता इव वसुस्तस्यत्कुरङ्गीदृशः ।

स्फारस्फाटिकरत्नकोटिवटितेवासीत्पुनर्भेदिनी

क्षुभ्यत्क्षीरसमुद्रसान्द्रविभवे जाते शशाङ्कोदये ॥ ९३ ॥

क्षुभ्यतः हरिणा मन्दरमन्थाचलनिर्मथनावसरे क्षोभं प्राप्नुवतः इतस्ततः सडिण्डीर-
पिण्डपाण्डुरसलिलोच्छलनेनातीव शुभ्रिमभाजः क्षीरसमुद्रस्येव सान्द्रोऽतिनेहलो बहली-
भूतो वा विभवो धवलिमश्रीयस्य तादृशे शशाङ्कोदये चन्द्राभ्युद्गमे जाते सति सर्वे

समस्ता अपि नरा भूचराः पुरुषाः दुग्धाम्भोनिधेः क्षीरनीरधेर्निर्जरा अधिष्ठातृसुरा इव संजज्ञिरे । ते हि अतीव शुश्रूवपुर्वसनविभवाः स्युः । अत एव तदुपमानम् । पुनस्त्र-
स्यन्यस्त्रासं प्राप्नुवत्यो याः कुरङ्गयो मृगाङ्गनास्तद्वत्तरलाश्चञ्चला दृशो यासाम् । एतावता
वनिताः सर्वा अपि स्वःसिन्धोर्गङ्गाया अधिदेवता इव अधिष्ठायिका देवता गङ्गादेव्य
इव बभुः शोभन्ते स्म । पुनर्मेदिनी पृथ्वी । उत्प्रेक्ष्यते—स्फारा अनर्घ्या ये स्फा-
टिकाः स्फटिकमणिममूहास्तेषु रत्नान्यतीव सारमणयः मुख्यानि वा । यदुक्तम्—‘येषां
मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेकः कृतः’ इति स्नातस्य स्तुतौ । मन्दराणां धातुकीखण्ड-
पुष्करार्धद्वीपसत्कानां चतुर्णां मेरूणां मध्ये रत्नं सर्वेभ्य उच्चैस्तरत्वेन लक्ष्यो जनप्रमाणत्वेन
मुख्य इत्येकव्याख्या । तेषां स्फाटिकमणीनां कोव्यस्ताभिः कृत्वा घटितेव निष्पादिते-
वासीद्वभूव भूमी ॥ इति चन्द्रिकाभ्युदये विविधा भावाः ॥

विजयिन इव राज्ञः श्वेतभासो विभाव्या-

भ्युदयमखिलकाष्ठामध्यराजत्करस्य ।

विहितसकलसंध्यावश्यको ध्यानलीला-

कमलकलमरालः स स्म भूत्सूरिराज्ञः ॥ ९४ ॥

स श्रीहीरविजयनामा सूरीणामाचार्याणां मध्ये दीप्यमानत्वात्प्रतापवत्त्वाद्वा राजा ।
अथ वा राजा मुख्यः । स ध्यानं सूरीमन्त्रजापरूपप्रणिधानं तदेव लीलाकमलं क्रीडाकर-
णोचितमरविन्दं तत्र कलमरालः कलहंसः । ‘कलमरालविहंगमवाहना’ इति वाग्देवता-
स्तोत्रे । प्रकृष्टो राजहंसो वा । स्म भूदजायत । ‘स्मयोगेऽप्यटो लोपमिच्छन्ति । स्म भूत्’
इति सारस्वतव्याकरणे । स किलक्षणः । विहितं कृतं सकलं समस्तं संध्यायां दिनावसाने
आवश्यकं प्रतिक्रमणादिविधिर्येन । अथ वा निर्मितसंध्यासंवन्धिक्रमावश्यकमवश्यकर्तव्यं
येन । किं कृत्वा । श्वेतभासः सितकान्तेश्चन्द्रस्याभ्युदयं विभाव्य । ‘पश्यति विभावय-
त्यपि विलोकते वीक्षते गवेपयति’ इत्यादि क्रियाकलापे विलोकनार्थः क्रियाः । क-
स्येव । विजयिनः सर्वत्राप्यप्रतिहतपराक्रमत्वेनानेकराजचक्रजयनशीलस्य राज्ञः इव
वृपस्य । किंभूतस्य चन्द्रस्य राज्ञश्च । अखिलानां समग्राणां काष्ठानां दिशां मध्ये राजन्तो
दीप्यमानाः कराः किरणा राजदेयांशा यस्य ॥

यं प्राप्तुं शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाहीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिरचिते सर्गोऽभवत्सप्तमः ॥ ९५ ॥

अत्र श्रीहीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये सप्तानां संह्यापूरणः सप्तमः सर्गः अकार-
नामविशेषोऽभवत्संजातः ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्वोपज्ञहीर-
सौभाग्यमहाकाव्यवृत्तौ वर्षाशरत्समयसूर्यास्तसंध्यारागतिमिरतारकचन्द्रो-
दयचन्द्रिकाप्रचारादिवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥

अष्टमः सर्गः ।

अथो निशीथे द्विजराजराजज्ज्योतिःप्रथाभिर्मथितान्धकारे ।

निवातनालीक इव व्रतीन्दुध्यानं दधानः स्तिमितीवभूव ॥ १ ॥

अथो चन्द्रोदयचन्द्रिकाप्रसारानन्तरं ध्यानं मनो निश्चलीकरणानन्तरं वा निशीथेऽर्ध-
रात्रे ध्यानं सूरिमन्त्रप्रणिधानं दधानः । कुर्वाण इत्यर्थः । सन्व्रतीन्दुः सूरिशीतकान्तिः ।
निवातनालीक इव वातवेगाभावेन निष्प्रकम्पपद्मवत्स्तिमितीवभूव निश्चलो जातः ।
'निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा' इति रघौ । किंभूते निशीथे । द्विजानां राजा चन्द्रस्तस्य
राजतां दीप्यमानानां ज्योतिषां किरणानामर्थाच्चन्द्रिकाणां प्रथाभिर्वित्तारैः कृत्वा मथितं
निर्दलितमन्धकारं ध्वान्तं यत्र । नालीकशब्दः पुंस्त्रीबलिङ्गयोः ॥

पर्यङ्कबन्धः स विभोर्व्रतश्रीविलासपर्यङ्क इवावभासे ।

कथं भरोऽमुष्य मया विषह्यो हृदेति यस्मिन्समशेत शेषः ॥ २ ॥

विभोः सूरिन्द्रस्य स यो ध्यानसमये विहितः पर्यङ्कबन्धः पद्मासनरचनाविशेषः
आवभासे सामस्त्येन शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—व्रतश्रिया संयमलक्ष्म्या विलासार्थं
क्रीडाकृते पर्यङ्कः पत्यङ्क इव । स कः । यस्मिन् पर्यङ्कबन्धे शेषः शेषनामा नागाधि-
राजो हृदा स्वमनसा इत्यमुना प्रकारेण समशेत संशयं कृतवान् । इति किम् । यद्-
मुष्य पर्यङ्कबन्धस्य भरो भारोऽसहायेन एकेनैव मया कथं केन प्रकारेण विषह्यो वि-
शेषेण सहनीयः । धार्य इत्यर्थः । ध्यानभाजां हि योगीन्द्राणां ध्यानसमये पर्यङ्कबन्ध-
स्यातिशायी भारो भवतीति कविसमयः । यदुक्तं कुमारसंभवे—'ततो भुजंगाधिपतेः
फणाग्रैरधः कथंचिद्द्रुतभूमिभागे । शनैःकृतप्राणविमुक्तिराशेः पर्यङ्कबन्धं निविडं वि-
भेद ॥' इति ॥

सुजान्तरासन्नशयारविन्दे विभोश्चकासे विशदाक्षमाला ।

हृद्यानदुग्धाम्बुनिधिप्रतीरं प्रपेदुषी किं क्रलहंसपङ्क्तिः ॥ ३ ॥

सुजान्तरस्य वक्षःस्थलस्य आसन्ने समीपवर्तिनि शयारविन्दे करकमले धवलवर्णा
अक्षमाला जपमालिका चकासे भासते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—हृदि हीरविजयसूरिहृदयवि-
षये यो ध्यानं शुक्लप्रणिधानं तदेव दुग्धाम्बुनिधिः क्षीरसमुद्रस्तस्य प्रतीरं तदं प्रपेदुषी

प्राप्तवती मानसादिजलाशयेभ्यः खैरं विलासरसिकायितमानसा समागतवती कलहं-
सानां राजमरालानां मालाधोरणी पङ्क्तिरिव ॥

श्रीसूरिमन्त्रं विजने व्रतीन्द्रो जपन्स गोत्रत्रिदशीमिव स्वाम् ।

दध्यौ हृदा श्रीजिनशासनस्याधिष्ठायिकां निर्जरनीरजाक्षीम् ॥ ४ ॥

विजने एकान्ते अपरजनरहितस्थाने श्रिया सर्वशक्तिलक्ष्म्या युक्तः सूरीणामाचा-
र्याणां मन्त्रं जपन् ध्यायन् सन् व्रतीन्द्रो हीरविजयसूरिः हृदा मनसा कृत्वा षड्दर्श-
नेष्वपि सर्वातिशायिन्या श्रिया लक्ष्म्या शोभया वा कलितस्य जिनशासनस्य अधिष्ठा-
यिकां प्रत्यक्षसांनिध्यविधायिनीं निर्जरनीरजाक्षीं नाकिकमललोचनां देवतां दध्यौ
ध्यायति स्म । कामिव । स्वां स्वकीयां गोत्रत्रिदशीमिव । यथा कश्चित्पुमान्निजां कुल-
देवतां ध्यानगोचरां कुरुते । ‘निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः’ इति नैषधे । ‘गोत्रं तु
संतानोऽन्ववायोऽभिजनः कुलम्’ इति हैम्याम् ॥ इति सूरैर्ध्यानविधानम् ॥

ध्यानानुभावेन ततो निशीथे सूरिशितुः शासनदेवतायाः ।

केतुर्निकेतस्य रयेण वायोरिव क्षणादासनमाचकम्पे ॥ ५ ॥

ततो ध्याने जिनशासनाधिष्ठायिकास्मृतिगोचरीकरणानन्तरं सूरिशितुर्हीरविजयसू-
रीश्वरस्य ध्यानानुभावेन प्रणिधानमाहात्म्येन शासनदेवताया निशीथेऽर्धरात्रे आसन-
मुपवेशनस्य विष्टरम् । ‘विष्टरः पीठमासनम्’ इति हैम्याम् । आचकम्पे आ साम-
स्त्येन दोलायमानमासीत्प्रचलति स्म । क इव । केतुरिव । यथा निकेतस्य गृहस्य केतुः
वैजयन्ती वायोः पवमानस्य रयेण वेगेन कृत्वा कम्पते चञ्चलीभवति ॥

स्वविष्टरं कम्प्रमवेक्ष्य विम्बमिवोत्तरङ्गाम्बुधिविम्बितेन्द्रोः ।

शोणारविन्दायितमीक्षणेन रोषारुणेन त्रिदशाङ्गनायाः ॥ ६ ॥

त्रिदशाङ्गनाया जिनशासनदेवताया रोषेण कोपेन कृत्वा अरुणेन रक्तीभूतेन ईक्ष-
णेन लोचनेन । नयनद्वन्द्वेनेत्यर्थः । शोणारविन्दायितं कोकनदमिवाचरितम् । अत्र ग-
र्भितोमपास्ते । किं कृत्वा । स्वस्यात्मनः स्वमात्मीयं विष्टरं सिंहासनमवेक्ष्य विलोक्य ।
किंभूतं विष्टरम् । कम्प्रं कम्पनशीलं चञ्चलीभूतम् । किमिव । विम्बमिव । यथा उद्धूर्ध्वं
गगनचुम्बिनस्तरङ्गाः कल्लोला यस्य एतावता समयस्वभावेन प्रबलपवनवेगप्रवृद्धो यो-
ऽम्बुधिः समुद्रस्तत्र बिम्बितः रात्रौ जलस्यातिस्वच्छभावेन संक्रान्तः । ‘यद्यपि स्व-
च्छभावेन दर्शयत्यम्बुधिर्मणीन् । तथापि जानुदघ्नोऽयमिति चेतसि मा कृथाः ॥’ इति
वचनात् । प्रतिविम्बितो य इन्दुश्चन्द्रस्तस्य विम्बि प्रतिमाभावं प्राप्तं मण्डलं कम्पते
अतिशयेन कम्पनशीलं स्यात् ॥

ध्यानस्थितं शासनदेवता सा निपीय तं ज्ञानदृशा वशीन्द्रम् ।

मुदं दधारामृतकुण्डमध्यप्रणीतलीलाप्लवनेव चित्ते ॥ ७ ॥

सा ध्यानगोचरीकृता शासनदेवता श्रीजिनमताधिष्ठायिका निर्जरी ज्ञानदशा निजा-
वधिज्ञानलोचनेन ध्यानस्थितं प्रणिधानोपविष्टं हीरविजयनामानं वशीन्द्रं जितेन्द्रिया-
णामधिराजं सूरिं निपीय सादरमवलोक्य चित्ते स्वमानसे सुदमानन्दं दधार धत्ते स्म ।
प्रमोदं प्रापेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अमृतस्य सुधायाः कुण्डे परितो निबद्धानेकसोपानपट-
लप्रवणे जलाशये अर्थादमृतकुण्डमध्ये प्रणीतं कृतं लीलया स्वैरक्रीडया । ननु तापम-
लापनोदाय देवानां तापाद्यभावात् । आप्लवनं स्नानं यया तादृशीव । ‘स्नानं सवनमाप्लवः’
इति हैम्याम् । आप्लवनमाप्लवः इति वाक्यमेवानीतमस्तीति ॥

अथाविरासीद्विशिशीतकान्तेः पुरः स्फुरज्जैनमताधिदेवी ।

प्रसादितोपासनया शमश्रीरिवेयमङ्गीकृतकाययष्टिः ॥ ८ ॥

अथ ध्यानस्थिरस्थायुकसूरीन्द्रदर्शनानन्तरं स्फुरन्ती वपुराभरणमणिदीप्तिभिर्दीप्य-
माना जिनानां तीर्थकृताम् । अथ वा जिनस्य महावीरस्येदं जैनम् । तादृशं मतं शासनं
तस्याधिदेवी अधिष्ठात्री देवता वशी जितेन्द्रियग्रामो मुनिजनस्तन्मध्ये शीतकान्तेश्च-
न्द्रस्यैतावता सूरीन्द्रस्य पुरोऽग्रे आविरासीत्प्रकटीभूता । उत्प्रेक्ष्यते—उपासनया निर-
न्तरसेवनया कृत्वा प्रसादिता प्रसादयुक्ता विहिता । प्रसन्नीकृत्येत्यर्थः । अतएवाङ्गीकृता
उपात्ता गृहीता काययष्टिस्तनूलता यया तादृशी शमश्रीर्भूतिमती उपलक्ष्मीरिव प्रभोः
पुरः प्रादुर्भूता ॥

कलामिवेन्दोर्जगते द्वितीयां प्राप्तां सुरीं दर्शयितुं स्वमस्मै ।

निद्रां दृशा किञ्चन चुम्बतापि प्रेक्ष्यामुनाजायत जाग्रतेव ॥ ९ ॥

अमुना सूरीन्द्रेण जाग्रतेव जागरणावस्थितेनेव निन्दारहितेनेव अजायत संजातम् ।
अमुना किं कुर्वता । किञ्चन किमपि उदरिकामञ्चं दृशा नेत्रेण निद्रां प्रमीलां चुम्बता
आश्रयतापि । किं कृत्वा । प्रेक्ष्य व्यालोक्य । काम् । सुरीं शासनदेवताम् । किंलक्ष-
णाम् । अस्मै सूरीन्द्राय स्वमात्मानं दर्शयितुं दृग्गोचरीकारयितुं प्राप्तां पुरःसमागताम् ।
कामिव । द्वितीयां तिथिमिव । यथा इन्द्रोः सुधादीधितेः कलां वोढशंशम् । अत्रार्थाजग-
त्स्थितिवशाच्च कलात्रयमयीं खेलां जगते सकललोकाय दर्शयितुं प्राप्तां जनो जानाति ॥

प्रवाललक्ष्मीमिव कामितद्रोस्तच्छ्यानसिद्धेः किमुताग्रदूती ।

प्रत्यक्षवत्प्रादुरभूत्पुरोऽस्य स्वप्नेऽपि सा सार्वमताधिदेवी ॥ १० ॥

सा हीरविजयसूरिसूरिमन्त्रध्यानानुभावभ्यागता सार्वस्य श्रीमच्चरमङ्गन्महावीरभग-
वतो मतं शासनं तस्याधिदेवी अधिष्ठायिका निर्जरी । श्रीवीरशासनदेवता इत्यर्थः ।
स्वप्ने किञ्चिन्निद्रावस्थायामपि प्रत्यक्षवत्प्रादवस्थास्थायुकचक्षुर्लक्ष्यवत् । अस्य सूरैः पु-
रोऽग्रतः प्रादुरभूत्प्रकटीभवति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कामितद्रोस्तर्थात् हीरसूरैरभिलषित-
वृत्तिनः प्रवाललक्ष्मीः पल्लवश्रीरिव । द्रुमाणां हि प्रथमं पल्लवाः प्रादुर्भवन्ति । तदुप-

मानम् । उताथ वा तस्य सूरैर्ध्यानस्य सूरिमन्त्रजापस्य सिद्धेः फलनिष्पत्तेः । अथ च सिद्धिनाम्नया देवताया विघ्नराजपार्श्वे सिद्धिबुद्धिनाम्नयौ देवते अनुचर्यौ वर्तन्ते इति लोकप्रसिद्धिः । तस्या अग्रदूती । किं प्रथमशासनहारिकेव ॥ इति सूरिपुरो निशीथे शासनदेवतागमनम् ॥

अथ शासनदेवतावर्णनारम्भः—

सृष्टिं सिसृक्षोः सुदृशां पुरा यः स्वयंभुवः शिल्पगुरुर्बभूव ।

विधाय तां बिम्बमिवादसीयशिक्षाकृतेशोऽर्पयति स्म तस्मै ॥ ११ ॥

स शिल्पगुरुः अमूषां सुलोचनानामियमदसीया । ‘नासादसीया तिलगुणतूणम्’ इति नैषधे । सृष्टिः सर्गः । स्त्रीरूपघटनमित्यर्थः । सृष्टिरिति मध्यमपदलोपी समासः । तस्याः सृष्टेः शिक्षणं न पुनर्निर्माणक्रिया तत्कृते तदर्थं बिम्बं मूलरूपं निरूप्य अन्यानि तद्रूपाणि निर्माप्यन्ते । एतावता शासनदेवतारूपबिम्बे विधाय तस्मै धात्रे अर्पयति स्म दत्तवान् । यत्तदोर्निह्याभिसंबन्धात् । स कः । सुदृशां चारुचक्षुषां स्त्रीणां हि कटाक्षादिहेतुतया दृष्टिरेव प्रधाना तस्यां च शोभनत्वेन सर्वाङ्गीणशोभनत्वं सुतरामागतमिवेति । तथोक्तम्—‘सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानम्’ इति । तथा—‘तदनु पुनरपाङ्गोत्सङ्गसंचारितानां जयति तरुणयोषिल्लोचनानां विलासः’ इति चम्पूकथाद्वितीयश्लोकान्खद्विपदी । इति सृष्टिरचनां सिसृक्षोः कर्तुमिच्छोः स्वयंभुवो ब्रह्मणः पुरा पूर्वं विज्ञानज्ञानाभ्यासनसमये शैशवे यः कश्चिदज्ञाताश्रुतनामा शिल्पगुरुर्विज्ञानाचार्यः कलाचार्यो वा बभूवासीत् । प्रायो हि कलाकौशल्यगृहगुरुमन्त्ररेण जगच्चेतश्चमत्कारि शिल्पं न संगच्छते ॥

महीवियद्वीक्षणकेलिलोलीभवन्मनाः स्वैरविहारिणीयम् ।

जम्बूहृदिन्या अधिदेवतेव समीयुषी काञ्चनचारिमश्रीः ॥ १२ ॥

इयं शासनसुरीरूपा । उत्प्रेक्ष्यते—जम्बूहृदिन्या जम्बूनामनद्याः । जम्बूद्वीपसत्कजम्बूवृक्षाः । तेषां जम्बूफलरसैर्जम्बूसरित्प्रवहति । तन्मृत्त्वा च जाम्बूनदं भवति । जम्बूनद्यां भवं जाम्बूनदमिति व्युत्पत्त्या इति कविसमयः । तदेव दर्शयते—‘जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्त्वा कृत्वापि सा तव रुचा विजितश्रि यस्याः । तजाम्बवद्रवभवास्य सुधाविधाम्बुजम्बूसरिद्रहति सीमनि कम्बुकण्ठि ॥’ इति नैषधे । अधिदेवता अधिष्ठायिका देवी समीयुषीव समागतवतीव । किंभूता । मक्षा भूमेर्वियत आकाशस्य च द्वयोर्भूतमसोर्वाङ्क्षणमवलोकनं तदेव केलिः क्रीडा तत्र लोलीभवच्चञ्चलं जायमानं मनश्चेतो यस्याः । अत एव पुनः किंभूता । स्वैरं स्वेच्छया विहरति संचरतीत्येवंशीला । देवा देव्यो हि स्वैरविहारा भवेयुः । अतोऽपि स्वेच्छया संचारिणी । पुनः किंभूता । काञ्चनत्वेन काञ्चनवद्वा चारिमणो वपुर्मनोज्ञत्वस्य श्रीः शोभा यस्याः सा ॥

निर्यत्सुरास्त्राशनिभूषणानि विरेजुरङ्गानि सुराङ्गनायाः ।

स्वस्पर्धिनः श्रीभिरिवेन्द्रचापवज्राण्यमीभिर्विधृतानि जेतुम् ॥ १३ ॥

सुराङ्गनाया जिनशासनत्रिदश्या अङ्गान्यवयवाः । 'एकदेशे प्रतीकोऽङ्गावयवापचना अपि' इति हैम्याम् । तथा 'अङ्गमन्तिकमात्रयोः । उपसर्जनभूते स्यादभ्युपायप्रतीकयोः ॥' इत्यनेकार्थः । विरेजुर्विभान्ति स्म । किंभूतान्यङ्गानि । निर्यन्ति निर्गच्छन्ति प्रादुर्भवन्ति सुरास्त्राणि इन्द्रधनुषि । 'धनुर्देवायुधम्' इति हैम्याम् । इन्द्रधन्वाप्युच्यते । तथा 'तस्मै स्वभूषा दृषदंशु शिल्पं बलिद्विषः कार्मुकमर्पयन्ती' इति नैषधे । मणिज्योतिरिन्द्रधनुराकृत्या निर्याति । यथा नैषधे—'वृता विभूषा मणिरश्मिकामुकैः' इति । येभ्यस्तादृशान्यशनिभूषणानि वज्ररत्नखचितभरणानि येषु तानि । अशनिशब्देनात्र वज्ररत्नमुच्यते । 'शुचीमुखं तु हीरकः । वराटकं रत्नमुख्यं वज्रपर्यायनाम च ॥' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—अमीभिरङ्गैः श्रीभिः शोभाभिः कृत्वा स्वस्पर्धिनः निजप्रतिमस्त्रीभूतशत्रून् जेतुं पराभवितुमिन्द्रचापवज्राणि शस्त्राणीव विधृतानि ॥

राजीवराजी विजिता यदङ्गैर्मृदुश्रिया रङ्गदनङ्गरङ्गैः ।

तत्तुल्यभावाय तपः सृजन्ती वने वसन्तीव कुशेशयासीत् ॥ १४ ॥

यदङ्गैर्यस्या देव्या अङ्गैरवयवैर्मृदुश्रिया भावप्रधाननिर्देशात्सौकुमार्यलक्ष्म्या विजिता पराभूता सती राजीवराजी कमलमालिका । उत्प्रेक्ष्यन्ते—वने निकुञ्जे वसन्ती सती वासं विदधती । तिष्ठन्तीत्यर्थः । कुशेशयासीत् दर्भशायिनी बभूवैव । 'वनं कानननीरयोः' इत्यनेकार्थः । तथा कुशेशयं पद्मनामापि । यथा 'कमलं नलिनं पद्ममराविन्दं कुशेशयम्' इति हैम्याम् । तत्रोत्प्रेक्षापि । 'कुशो दर्भे जले द्वीपे' इत्यनेकार्थः । किं कुर्वन्ती । तेषामङ्गानां तुल्यभावाय सादृश्याय तपः सृजन्ती अनुतिष्ठन्ती । अन्यापि किञ्चित्फलं मनसि स्पृहयन्ती सती वनमध्यस्थायिनी तपः कुर्वाणा कुशप्रस्तरे शेते । किंभूतः । यदङ्गैः रङ्गनृत्यं कुर्वन् । 'नृत्यविधाने नृत्यति नटति च रङ्गति च विलसति च' इति क्रियाकलापे । योऽनङ्गः स्मरस्तस्य रङ्गैर्नर्तनस्थानै रङ्गन्ती जहन्मा अनङ्गनर्तकस्य रङ्गा नर्तनशाला वा ॥

अगण्यनैपुण्यमुखान्निधय्य संरक्षितान्प्रेक्ष्य गुणांस्त्रिदश्याः ।

स्वयन्नगोद्भूतभयातिरेकात्तस्याः प्रणेशे किमशेषदोषैः ॥ १५ ॥

तस्याः शासनदेव्याः सकाशात् अशेषदोषैः समप्रापगुणैः प्रणेशे प्रणष्टं प्रपलाप्य गतम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्वेषां स्वकीयात्मनां यद्यन्त्रणं बन्धनं तस्मादुद्भूताजाताद्भयातिरेकात्साध्वसातिशयादिव । किं कृत्वा । अगण्यान् गणयितुमशक्यान् गणनातिगानतिशायिनो वा नैपुण्यं दाक्षिण्यम् । चातुर्यमित्यर्थः । तदेव मुखमादौ मुखे वा धुरि येषां तान् । 'मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे निःसरणास्योः' इत्यनेकार्थः । गुणान्निधय्य नितरां यन्त्रयित्वा बद्धा त्रि-

दद्यात् शासनदेव्या रक्षितान् स्वप्नेऽप्यन्यस्थानगमनाप्रदानतया गोपितान् प्रेक्ष्य हृगो-
चरीकृत्य ॥ इति शासनदेवतासाधारणसर्वाङ्गवर्णनम् ॥

अथ पृथगाङ्गवर्णनारम्भणम् । तत्र 'मानवा मौलितो वर्ण्यो देवाश्चरणतः पुनः' इति
वचनात्कविसमयानुसारेण देवतापादादारभ्य वर्णयितुं प्रारभ्यते—

जिनेशितुः शासनदेवतायाः पादारविन्देऽरुणिमा दिदीपे ।

प्रणेमुषीणां दिविषद्वधूनां सीमन्तसिन्दूरमिवात्र लग्नम् ॥ १६ ॥

जिनानां सामान्यकेवलनामीशतुरधिराजस्य श्रीतीर्थकृतः शासनदेवताया जिनभ-
क्तचातुर्वर्ण्यसंघस्य सम्पत्तिसांनिध्यविधायिन्या देव्याः पादारविन्दे चरणतामरसे अरुणि-
मा पादतले स्वाभाविकी रक्तता दिदीपे दीप्यते स्म शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रणेमुषीणां
सेव्यत्वेन प्रणीतप्रणामानां दिविषद्वधूनां देवाङ्गनानां सीमन्तस्य केशेषु वर्त्मनः सिन्दूरं
शृङ्गारभूषणम् अत्र पादारविन्दतले लग्नमिव ॥

यत्पादपद्मेन पराजितेन विजृम्भमाणारुणवारिजेन ।

शुश्रूषणायारुणिमा तदङ्गे शङ्के ङुढौत्केऽरुणलक्ष्मिलक्षात् ॥ १७ ॥

विजृम्भमाणेन विकाशं प्राप्नुवता अरुणवारिजेन रक्तकमलेन । कोकनदेने-
त्यर्थः । कर्त्रा । शुश्रूषणाय सेवाकारणाय अरुणिमा आत्मीयरक्तिमा तदङ्गे पाद-
पद्मेतसङ्गे अहमेवं शङ्के संशयं कुर्वे मन्ये । विचारयामीत्यर्थः । अरुणा या लक्ष्मीः शोभा
विभूतिर्यौ तस्या लक्षात्कपटात् । 'व्यपदेशो मिषं लक्षं निभव्याजः' इति हैम्याम् । ल-
क्ष्मिशब्दो ह्रस्वः शब्दप्रभेदे । अरुणिमा रक्तता स्वरगो ङुढौके किमु प्राभृतीक इव ।
किंभूतेन कोकनदेन । यत्पादपद्मेन यस्याः शासनदेवतायाः पादपद्मेनैव चरणारविन्दद्व-
न्द्वेन पराजितेन पराभवपदवीं प्रापितेन अर्थादात्मीयविभवेन ॥ इति पादतलरक्तिमा ॥

यस्याः स्फुरत्कान्तिविकाशिताशाः कामाङ्कुशा दिद्युतिरे पदाब्जे ।

इदं मुखाम्भोजविनिर्जितेन राज्ञेव रत्नान्युपदीकृतानि ॥ १८ ॥

यस्याः शासनदेव्याः पदाब्जे चरणारविन्दद्वन्द्वे कामाङ्कुशा नखा दिद्युतिरे द्यो-
तन्ते स्म शुशुभिरे । किंभूताः । स्फुरन्तीभिरितस्ततः प्रसरन्तीभिः सूर्यज्योतिः-
स्पर्धया वा स्फूर्जन्तीभिः कान्तिभिर्दीप्तिभिः विकाशिता प्रकटीभावं प्रापिता उद्यो-
तिता आशा दशदिशो यैस्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इदं मुखाम्भोजेन अस्या वदनवारि-
जन्मना । 'इदं नृपप्राथिभिरुज्जितोऽर्थिभिः,' तथा 'इदं यशांसि द्विषतः सुधारुचः' इति
पदद्वयमपि नैषधे । विनिर्जितेन पराजयगोचरीकृतेन राज्ञा ज्वन्द्वेन नृपेण च रत्नाक-
रोद्भवत्वेन कोशसौधाधिपतित्वेन च द्वयोरपि मणीनां सद्भावात् रत्नानि जात्यपन्नरा-
गमणयः उपदीकृतानि ढौकितानीव ॥

यदाश्रयीभूय किमर्भसूराः राहुं निहन्तुं नखराङ्गभाजः ।

प्रणम्रगीर्वाणवधूप्रवेणीछायाच्छलाङ्गीकृतचन्द्रहासाः ॥ १९ ॥

दानवारिपरिग्रहपदमेव । अथ वा यो दानवारिपरिग्रहः स एवाश्रयः शरणं येषां तादृशा भूत्वा यत् यो वा आश्रयो येषां ते यदाश्रयाः । न यदाश्रया अयदाश्रया भूत्वा इति यदाश्रयीभूय अर्भसूराः बालारुणाः प्रभातप्रोद्यन्मार्तण्डाः शासनत्रिदशीक्रमका-
माङ्कुशाः एवाङ्गं वपुर्लतां भजन्ते सेवन्ते तादृशाः सन्तो भवन्तः राहुं स्वर्भाणुदानवं निहन्तुं शमनसदनातिथीकर्तुं प्रणम्राणां देवीचलननमनशीलानां गीर्वाणवधूनां सुराङ्ग-
नानां प्रवेणीनां कवरीणां छायाः प्रतिबिम्बानि तासां छायाणां छलेन कपटेन अङ्गीकृता गृहीताश्चन्द्रहासा महाखङ्गा इव सन्ति । नखानां रक्तत्वेनोद्गच्छदादिलोपमानम् ॥

इदंपदीभूय भवान्तरेऽपि लौहित्यलक्षात्कलितानुरागाम् ।

पद्मद्वयीं प्रेक्ष्य नखाङ्गबालारुणा इवैतन्मिलनार्थमीयुः ॥ २० ॥

पद्मद्वयीं स्वबन्धुभूतामम्भोजन्मद्वितयीं प्रेक्ष्यालोक्य चक्षुर्लक्ष्यीकृत्य एतस्याः पद्मद्वय्या अर्थाद्वन्धुत्वेन मित्रत्वेन वा मिलनार्थमीयुरागता नखा अर्थाद्देवीचरण-
जन्मकामाङ्कुशा एवाङ्गानि शरीराणि येषां तादृशा बाला नवमुदयं लभमाना अरुणा भास्करा इव । किंभूतां पद्मद्वयीम् । इदंपदीभूय । ‘जगत्कर्तुं जगत्सर्गप्रणयनप-
रवशास्ते विधेर्विश्वव्यापारपारवश्यादवतीर्णस्य संसारचक्रे’ इति चम्पूकथायाम् । अस्या जिनशासनदेवतायाश्चरणौ भूत्वा पदभावं प्रपद्य भवान्तरेऽप्यस्मिन्नपि भवे जन्मनि अपरावतारे संप्राप्तेऽपि लौहित्यस्य स्वाभाविकस्फुरद्रक्तताया लक्षात्कपटात्कलितः पूर्व-
वद्भूतोऽनुरागः स्नेहातिरेकता पाटलिमा च यथा ताम् ॥

प्रपेदुषीं यत्पदतां पयोजद्वयीं विभाव्यार्भकशीतभासः ।

निजानुरज्यन्मनसं प्रणेतुं नखीवभूवुः किमु तन्निदश्याः ॥ २१ ॥

अर्भकशीतभासो बालचन्द्राः । तेषां चारुणत्वं कविसमये दृश्यते । यथा—‘अ-
यमुदयति घुसृणारुणतरुणीवदनोपमश्चन्द्रः’ इति विदग्धमुखमण्डने, तथा—‘स्फुरद-
म्भःसरोदम्भासैर्हि केयभयादिव । राकामृगाङ्गाः संभूय विभान्ति शरणागताः ॥’ इति पाण्डवचरित्रे च चन्द्रबाहुल्यं प्रोक्तमस्तीति । तथात्रापिदं द्वयमपि उद्यतां चन्द्रसूर्याणां बालत्वमेव प्रतिपद्यते । तन्निदश्याः सा सूरिध्यानाकृष्टागता वासौ त्रि-
दशी च त्रिदशवशा तस्या नखीवभूवुः तत्पदपुनर्भवभावं भजन्ते स्म । देवतानखा जाता इत्यर्थः । किं कृत्वा । यत्पदतां तन्निदशचरणभावं प्रपेदुषीं प्राप्तवतीं पयोजयोः कमल-
योर्द्वयीं युगलीं विभाव्य चक्षुषा समीक्ष्य । उपप्रेक्ष्यते—तां पद्मद्वितयीं निजे स्वात्मनि विषये अनुरज्यत् सरागीभवत् । ‘चकास्ति रज्यच्छविरज्जिह्वानः’ इति नैषधे । मनः स्वान्तं यस्यास्तादृशीं प्रणेतुं किमु कर्तुमिव । ‘सृजति करोति प्रणयति’ इत्यादिकर-
णार्थाः क्रियाः क्रियाकलापे ॥

सौन्दर्यपाथःप्लवपादपद्माकरेऽङ्गुलीनालजुषोऽनिमिध्याः ।

कामाङ्कुशाः शोणसरोजराज्यो ज्योतिर्मरन्दोपचिता इवावभुः ॥ २२ ॥

अनिमिध्या देवतायाः नखा अनुरागा भान्ति स्म । अयं प्रयोगः क्रिया-
रत्नसमुच्चयेऽप्यस्ति । उत्प्रेक्ष्यते—शोणसरोजराज्यः कोकनदपङ्क्तय इव । कस्मिन् ।
सौन्दर्य मनोहरत्वं तदेव पाथसां पानीयानां प्लवः पूरो यस्मिस्तादृशे पादे चरणरूपे
पद्माकरे सरसि । चरणे त्वाकृतिकमलानां सद्भावात्कमलाकरत्वम् । किं शोणसरोजराज्याः ।
अङ्गुल्यः पादशाखास्ता एव नाला मृणानि जुषन्ते भजन्ते । पुनः किंभूताः । ज्योतीषि
नखकान्तयः एव मरन्दो मधूनि तैरुपचिताः पुष्टाः । भृता इत्यर्थः ॥ इति पदनखाः ॥

नखोल्लसत्पल्लवशालमानैर्नम्रामरीनेत्रमिलद्विरेफैः ।

शाखाविशेषैः पदशाखिनः किं तदङ्गुलीभिर्भ्रियते स्म शोभा ॥ २३ ॥

तदङ्गुलीभिर्देवीपदशाखाभिः शोभा भ्रियते भ्रियते स्म । ‘डुभृञ् धारणपोषणयोः’
इत्यस्य रूपम् । उत्प्रेक्ष्यते—पदशाखिनः पादपादपस्य किं शाखाविशेषैर्विशिष्टशाखा-
भिरिव । किंभूतैः । नखाः एवोल्लसन्तः स्फुरन्तः विकसन्तो वा पल्लवाः प्रवालास्तैः
कृत्वा शालमानैः शोभाभासुरैः । पुनः किंभूतैः । नम्राणां नमनशीलानाममरीणां त्रिद-
शीनां नेत्राणां नवानां प्रतिविम्बितान्येव । मध्यमपदलोपी समासः । मिलन्तः समीपे
समागच्छन्तो द्विरेफा भृङ्गा येषु ॥

पदं मयेदं प्रददे शिरःसु दिशां दशानामपि सुन्दरीणाम् ।

इतीव रेखाः क्रमयोरमर्त्याङ्गुलीमिषात्तत्प्रमिता विभर्ति ॥ २४ ॥

अमर्त्या देवसुन्दरी । ‘अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने’ इति नैषधे । यथा
मर्त्या तथा अमर्त्या । तथा अमर्त्यापि अङ्गुलीनाम् । अत्राङ्गुष्ठोऽप्यङ्गुलीमध्य एव गण्यते
न पृथक् क्रियते । यदुक्तं नैषधेऽपि—‘रज्यन्नखस्याङ्गुलिपद्मकस्य मिषादसौ हिङ्गुलप-
द्मतूणे । हेमैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥’ इति । दशानां मिषा-
च्छलात्क्रमयोर्द्वयोश्चरणयोस्तत्प्रमिता दशदिक्प्रमाणा रेखा विभर्ति धत्ते । उत्प्रेक्ष्यते—
इति हेतोरेव । इति किम् । यन्मया स्वीयाद्वैतरूपश्रिया कृत्वा दशानां पूर्वा, अग्निः,
दक्षिणा, नैर्ऋती, प्रतीची, वायवी, उत्तरा, ऐशानी, ऊर्ध्वदिक्, अधोदिक् । एकस्मिन्
पक्षे । अष्टदिक्षु मानुष्यः ऊर्ध्वलोके देवाङ्गनाः अधोलोके च नागाङ्गना असुराङ्गनाश्च ।
अपरस्मिन् पक्षे । तिर्यग्लोके दशदिक्षु सर्वत्रापि देव्यो वर्तन्ते इति । दशदिग्वातिनीनां
सुन्दरीणां स्त्रीणां शिरःसु मस्तकेषु रूपसौन्दर्योतिरेकात् इदं पदम् । अयं चरणः प्रददे
प्रदत्तम् । पदशब्दः पुंलिङ्गनपुंसकलिङ्गयोः । ‘चरणः क्रमणः पादः पदोऽङ्घ्रिश्चलनः क्रमः’
इति हेम्याम् । तथा—‘पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया’ इति नैषधे ॥ इति पादाङ्गुल्यः ॥

विलासिबालव्यजनाधृतोद्यच्छत्रा स्फुरद्वारिजराजमाना ।

अधीश्वरीवाखिलवारिजानां यदीयपादद्वितयी दिदीपे ॥ २९ ॥

यस्या देव्या इयं यदीया शासनदेवतासंवन्धिनी पादद्वितयी चरणयुगली दिदीपे शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—अखिलानां समप्राणां वारिजानां जलजन्मनाम-त्रार्थात्कमलानामेव पदयोः पद्मानामुपमानत्वात् । वारिजशब्देन शङ्खोऽप्युच्यते । ‘कम्बुस्तु वारिजस्त्रिरेखः षोडशावर्तः शङ्खः’ इति हैमीवचनात् परं तन्निरासः । अथ वारिजशब्देन मुख्यतया पद्ममेवोच्यते तस्मात्कमलानामेवाधीश्वरी स्वामिनीव राज्ञीव । किं राजचिह्नं दर्श्यते विलसत इत्येवं शोभमाने बालव्यजने आकृतिरूपे । ‘छत्तचामरपडागजूअलचमंडिया’ इत्यजितशान्तिस्तवनात् । चामरे यस्यां यस्या वा । पुनः किंभूता । धृतमाकलितमाकारकायमातपत्रं छत्रं यया । स्फुरद्भिः प्रकटीभवद्भिः रेखाकारधारिभिर्वारिजैः पद्मैर्विराजमाना शालिनी ॥

कथंचनाभ्यर्थनया सृदुत्वं रागश्रियं चाप्य पदारविन्दात् ।

प्रवालमाला धरणीरुहाणामिवाधमर्णीभवति स्म तस्याः ॥ २६ ॥

धरणीरुहाणां पादपानां प्रवालमाला पल्लवपङ्क्तिः । तरुणां प्रवालकथनेन विदुषाणां निरासः कृतः । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या देव्या अधमर्णीभवति स्म ग्राहका जाताः । किं कृत्वा । कथंचन महता कष्टेन केनापि प्रकारेण वा अभ्यर्थनया देवीपुरस्ताद्याचनया कृत्वा पदारविन्दादार्थात् शासनदेवीचरणकमलान्मृदुत्वं सौकुमार्यं च पुनः रागश्रियं लौहित्यलक्ष्मीं चाप्य लब्ध्वा ॥

प्रसादकान्ती दधती सुवर्णालंकारिणी रम्यतमक्रमा च ।

संश्लेषदक्षाप्रतिमोपमानश्रीः श्लोकमालेव सुरी चकासे ॥ २७ ॥

सुरी(शान)त्रिदशी श्लोकमालेव अनुष्टुभां पङ्क्तिरिव चकासे दीप्यते स्म । किंभूता सुरी श्लोकमाला च । प्रसादं प्रसन्नभावं कान्तिं शोभां वपुर्दीप्तिं वा तथा झगित्यर्थावबोधगोचरत्वं प्रसादगुणः । तथा दीप्तरसत्वं कान्तिरस्ते दधती दधाना । पुनः किंभूता । सुवर्णैः काञ्चनैर्विरचिता अलंकारा अङ्गप्रत्यङ्गाभरणानि विद्यन्ते सन्ति वास्याः । तथा शोभना वर्णा अक्षराणि । तथा उपमोत्प्रेक्षारूपकाद्या अलंकारास्ते सन्ति अस्यामिति । अस्त्यर्थीय इन् । पुनः किंभूता । रम्यतमौ अतिशयेन मनोज्ञौ सामुद्रोक्तलक्षणलक्षितावत एवातिरुचिरौ क्रमौ चरणौ यस्याः अतिरमणीयचतुश्चरणा अनुक्रमो वा यस्याः । पुनः किंभूता संश्लेषे स्वकामुकेन बलभेन समं सस्नेहसरोमाञ्चाञ्चितं लतावेष्टितकायालिङ्गनविशेषे निपुणा चातुर्यवती । तथा । शब्दगुणार्थगुणशब्दालंकारार्थालंकारादिरूपः सम्यक् समीचीनश्चेतश्चमत्कारकारी श्लेषस्तत्र दक्षा पट्वी । पुनः किंभूता । अप्रतिमोपमानश्रीः न विद्यते प्रतिमा सादृश्यं यस्याः । ‘न तन्मुखस्य प्रतिमा

चराचरे' इति नैषधे । तादृशी उपमानश्रीः शोभा लक्ष्मीर्वा यस्याः । तथा अप्रतिमा
असाधारणा उपमानैरुपलक्षणादुत्प्रेक्षायैः श्रीलक्ष्मीः शोभा यस्याः ॥ इति पादाः ॥

यत्पादराजौ परिशुद्धपाष्णीं निर्जित्य गत्याखिलराजहंसान् ।

उच्चै रुचिस्फूर्तिमिषाजिगीषू प्रस्थातुकामाविव नाकिनागम् ॥ २८ ॥

यस्या देवतायाः पादौ चरणावेव राजौ राजानौ पार्थिवौ अपरावपि बलवद्भू-
पती नाकिनां नागं गीर्वाणानां वारणमैरावणं निर्जरश्रेष्ठं शक्रं वा । यदुक्तं है-
म्याम्—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः । सिंहशादूलनागाद्यास्तलजश्च मतल्लिकाः ।
मर्चर्चिकाप्रकाण्डोद्धयः प्रशस्त्यार्थप्रकाशकाः ॥' इति । जिगीषू जेतुमिच्छन्तौ सन्तौ ।
रुचीनां निःसरद्वहलप्रबलकान्तीनां स्फूर्तेः स्फुरणस्य मिषात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—
उच्चैर्ध्वं स्वर्गलोके प्रति प्रस्थातुकामौ गन्तुमीहमानाविव प्रचलितुमनसाविव । ऐराव-
णवासवयोः स्वर्गस्थायुकत्वेन उच्चैर्गमनम् । राज्ञामपि इन्द्रनिर्जयनं दृश्यते । यथा रघु-
वंशे इन्दुमतीस्वयंवरे कर्तवीर्यवर्णनाधिकारे—'कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषि-
तमा प्रसादात्' । तथा सूक्ते—'दृषद्भिः सागरो बद्धः इन्द्रजिन्मानवैजितः । वानरैर्वे-
ष्टिता लङ्का जीवद्भिः किं न दृश्यते ॥' इति । किं कृत्वा । गत्या गमने विलासेन प्रयागे-
नाभिलाषेण तेन वाखिलान् समस्तान् राजहंसान् सितच्छदान् पार्थिवपुङ्गवांश्च । प्रब-
लपृथिवीपुरंदरानित्यर्थः । निर्जित्य पराभूय स्ववशीकृत्य च । किंभूतौ पादराजौ । परि
सामस्त्येन सर्वप्रकारेण समन्तात्समप्रतया वा शुद्धो लाञ्छनाभावेन निर्मलः पाष्णिः
घुटयोरधः प्रदेशो ययोः । तथा परि समन्तात् समग्रस्पदेशापेक्षया निर्दोषो विरोधा-
दिरहितः पाष्णिः पाश्चात्यो विजयिनो राज्ञः स्वदेशपृष्ठवर्ती राजा ययौस्तौ । 'शुद्धपाष्णि-
रयान्वितः' इति रघुवंशे । यो विजयी नृपोऽपरदेशसाधनार्थं प्रतिष्ठते सोऽवश्यं
स्वदेशपाश्चात्यं पार्थिवं पुरग्रामाश्च हस्त्यादिप्रदानेन मैत्रीविधानेन च शुद्धं स्वानुकूली-
करोतीति स्थितिः । नो चेदशुद्धः स तद्देशे विद्वरं कुरुते तस्मान्निर्दोषीकरणं तदभिधानं
च पाष्णिरित्युच्यते ॥ इति पाष्णिः ॥

जम्भद्विषत्कुम्भिपराभविन्या ययातिभूतिं गमितः स्वगत्या ।

किं हंसकस्तां चरणारविन्दे तस्थौ प्रसत्तेर्विषयीचिकीर्षुः ॥ २९ ॥

हंस एव हंसकः । स्वार्थे कः । राजहंसः नूपुरम् । 'पिण्याकङ्कश्वरहंसक-
राङ्गपुङ्खाः' इति लिङ्गानुशासने पुंनपुंसकलिङ्गः । चरणारविन्दे अर्थाद्देवीपादपद्मे तस्थौ
स्थितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—तां शासनदेवतां प्रसत्तेः प्रसादस्य विषयीचिकीर्षुः किं गो-
चरीकर्तुमिच्छुरिव । हंसकः कथंभूतः सन् । यया त्रिदश्या स्वगत्या निजगमनातिवि-
लासेन अतिभूतिं पराभवं गमितः प्रापितः सन् । किंभूतया गत्या । जम्भनामा दैत्य-
स्तस्य द्विषन् वैरी हन्ता वासवस्तस्य कुम्भी हस्ती ऐरावणस्तं पराभवति निर्जयति
इत्येवंशीला तथा ॥

स्वजिह्वयानेन विगानितः सन्नाखण्डलः कुण्डलिनामिवैताम् ।

सिञ्जानमञ्जीरविनिर्मिताङ्गः प्रसाहयत्यङ्घ्रिपयोजलग्नः ॥ ३० ॥

कुण्डलिनां भुजंगमानामाखण्डलः पुरंदरः स्वामी शेषनामनागाधिराजः पादप-
योजेः क्रमकमले लग्न आश्रित्य स्थितः सन् । उत्प्रेक्ष्यते—एतां शासनदेवतां
प्रसन्नां करोतीव । प्रसादकलितां निर्मिमीत इव । यो हि बलवन्तं निजजेतारं
प्रसादयितुमिच्छति स तत्पदयोर्लगति । चाटुवाक्यानि ब्रूते । इति रीतिः । किंभूतः ।
सिञ्जानं शब्दायमानं रणक्षणितिरावं कुर्वाणं यन्मञ्जीरं नूपुरं तदेव विहितं निर्मितमङ्गं
वपुर्येन । पुनः किलक्षणः सन् । स्वस्यात्मनो जिह्वेन वक्त्रेण यानेन गमनेन । यौवनो-
न्मादेन प्रायः स्त्रीणां गतिर्वक्री भवति । अपरोऽपि पाठः । यथा—‘स्वश्लोकशौक्ल्येन’
स्वस्यात्मनः श्लोकस्य यशसः शौक्ल्येन शुक्लतया वा विगानितोऽधरीकृतः ॥ इति
चरणनूपुरम् ॥

यया जगज्जैत्रतमश्रियाङ्घ्रिगुल्फः परां कोटिमवापितः सन् ।

पराक्षिलक्ष्यत्वमयांबभूव न चक्रवर्ती तु कदाचनापि ॥ ३१ ॥

यया शासनदेवतया जगतां भुवनानां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्रैलोक्यकामिनीनां
जैत्रतमया अतिशयेन जैत्रया जयनशीलया श्रिया आत्मलक्ष्म्या परां प्रकृष्टां
कोटिमुत्कर्षं काष्ठाभवापितो नीतः सन् । पराक्षिलक्ष्यत्वम् अङ्घ्रिगुल्फश्चरणग्रन्थिषु-
ण्टकः कदाचनापि कस्मिन्नपि समये पराक्षिलक्ष्यत्वं परेषामन्येषां चक्षुष्मतामक्षणोल्लो-
चनयोल्लक्ष्यत्वं दृश्यतां गोचरत्वं न अयांबभूव गच्छति स्म । ‘अय गतौ’ इत्यस्य
धातोराम्प्रत्यये प्रयोगा यथा—अयांचक्रे, अयांबभूव, अयामासेति । क इव । चक्रेण
नरखेचरेन्द्राद्यप्रतिहृतेनामोघरथाङ्गायुधेन वर्तते । षट्खण्डक्षोणीमण्डलान्तरे प्रवर्तते
दिग्विजयं विदधातीत्येवंशीलचक्रवर्ती सार्वभौम इति । यथा चक्री परेषां प्रत्यर्थिनां
कदाचिदपि कस्मिन्नपि प्रस्तावे आजीवितान्तमक्षिलक्ष्यत्वं लोचनगोचरत्वं तां नायते
न प्राप्नोति । प्रतिभट्टैर्भूपैर्दृष्ट्यापि द्रष्टुं न शक्यते इत्यर्थः । एतावता देवीगुल्फौ न दृ-
श्येते । स्त्रीणां गुल्फजानू अदृश्यावेव श्लाघ्येते इति सामुद्रशास्त्रे । तथा ‘गुल्फद्वयाप्ता
यददृश्यसिद्धिः’ इति नैषधे ॥

यज्जङ्घयाधःकरणादुदीतव्रीडातिरेकादिदमीयगुल्फः ।

मन्ये न्यमज्जन्वनिर्यदचिर्रणःप्रपूर्णाभवदङ्घ्रिशोणे ॥ ३२ ॥

यस्याः शासनसुराङ्गनायाः जङ्घया अधःकरणात्रीचैर्विधानातिरस्करणाद्वा उदीता
प्रकटीभूता । ‘उदीतमातङ्कितवानशङ्कत’ इति नैषधे । या व्रीडा लज्जा तस्या
अतिरेकादिशयात् अस्या अयमिदमीयः । ‘मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयम्’ इति नैषधे ।
देवीचरणसंबन्धी गुल्फो घुण्टकः । अहमेवं मन्ये वितर्कयामि । नवानि नवीनानि नि-
र्यन्ति प्रादुर्भवन्ति यान्यर्चाणि अर्धात्तत्क्रमकान्तयः तान्येवार्णोसि पानीयानि तैः प्रपू-

णींभवन्नाकण्ठं व्याप्तः संपद्यमानः अजिद्वीपादः स एव शोणो हृदस्तस्मिन्मज्जन्किमु
ब्रूति स्मेव ॥

श्रीमज्जिनाधीशमताधिदेव्या जङ्घे विभूषामनघे दधाते ।

किमु प्रगल्भकमनामधेयवृन्दारकोर्वीरुहयोः प्रकाण्डे ॥ ३३ ॥

श्रीमांशुत्रिंशदतिशयादिका लक्ष्मी त्रैलोक्याधिपत्यलक्ष्मीर्वा विद्यते यस्य स श्री-
मान् यो जिनानां जयन्ति सर्वथापि रागद्वेषादिकानन्तरङ्गान् शात्रवानिति जिनास्तेषां
सामान्यकेवलीनामधीशः स्वामी तीर्थकरोऽर्थान्महावीरभगवान् तस्य दत्तं द्यासनं तस्या-
धिदेव्या अधिष्ठायिकाया देवतायाः अनघे निष्पापे प्रशस्ये जङ्घे नलकिन्द्यौ विभूषां शोभां
दधाते कलयतः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रगल्भौ प्रकटौ यौ क्रमौ देवीपादौ तावेव नामधेयम-
भिधानं ययोस्तादृशयोर्वृन्दारकोर्वीरुहयोः कल्पवृक्षयोः । प्रकाण्डे किमु वृक्षस्कन्धाविव ।
‘मूलच्छाखावधिर्गण्डः प्रकाण्डौघः’ इति हैम्यां प्रकाण्डः पुंस्त्रीवल्लिङ्गयोः ॥

यस्याः प्रकाण्डस्फुरदुग्रजङ्घा सदृक्षलक्ष्मीस्पृहयालवः किम् ।

विषह्य भारं भवनव्रजानां स्तम्भा मनुष्यानुपकुर्वते स्म ॥ ३४ ॥

स्तम्भाः स्थूणाः भवनव्रजानां गृहगणानां भारं विषह्य क्लान्ता मनुष्यानुप-
लक्षणात्सुरान् त्रिभुवनेऽपि गृहभाराधारभूतस्तम्भानां विद्यमानत्वेन एतावता त्रिज-
गजानुपकुर्वते स्म उपकारं कुर्वन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यस्यास्त्रिदश्याः प्रकाण्डे
वृक्षस्कन्धाविव स्फुरन्त्योः शोभमानयोः जङ्घयोः सदृक्षलक्ष्म्याः समानविभूषायाः
स्पृहयालवः किम् अभिलाषुका इव कामयितार इव ॥

सारङ्गनाभीसुरभेरमुष्या जङ्घाविभूषाभिरधःकृताभिः ।

मृगाङ्गनाभिर्गिरिगह्वरोर्वी मन्दाक्षलक्ष्याभिरिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

मन्दाक्षस्य लजाया लक्ष्याभिवैध्याभिल्लापातिरेककलिताभिर्दृगाङ्गनाभिर्हिरण्यमणी-
भिः । उत्प्रेक्ष्यते—गिरिगह्वरोर्वी गिरीणां शैलानां गह्वराणां गुह्यानाम्, अथ वा निकुञ्जाना-
मुर्वी भूमिः । ‘गह्वरो विलम्बेदयोः । कुञ्जे’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘गौरीपुरोत्तङ्गरथाविवेश’ इति
रघुवंशे । ‘परस्परविलच्छाखापटलपादपङ्क्तिनिविडवनमित्यर्थः’ इति तद्वृत्तिः । प्रपेदे
प्रपन्नेव । किंभूता । मृगनाभिः सारङ्गनाभिः कस्तूरिका । ‘गौरीचनानन्दनकुङ्कुमैर्गङ्गाभी-
विलेपा पुनरुक्तयन्ती’ इति नैषधे । तथा कस्तूरिकानामपि । ‘मृगनाभिर्दृगजवः
कस्तूरीगन्धधूल्यपि’ इति हैम्याम् । तद्वत्सुरभेः सुगन्धाद्याः । श्वासवपुःपरिणलक-
लिताया इत्यर्थः । असुष्या वर्ण्यमानशासननिर्जरनितम्बिन्याः जङ्घयोर्विलकिन्द्यो-
र्विभूषाभिः शोभाभिरधःकृताभिरितरस्कृताभिः । जिताभिरित्यर्थः ॥

जङ्घे यदीये प्रणयन्प्रयत्नात्प्रकाण्डसारं पृथिवीरुहाणाम् ।

जग्राह धाता किमभावि तेषु ततः स्फुरत्कोटरकूटरन्ध्रैः ॥ ३६ ॥

यस्या इमे यदीये देवतासंघन्धिन्यौ जङ्घे प्रयत्नात्सादरादेकतानतया वा एकाग्रम-
नसा प्रणयन्कुर्वन् सन् धाता जगत्कर्ता पृथिवीरुहाणां रमणीयसान्द्रद्रुमाणां प्रकाण्डानां
सारं सारदलिकपटलं जग्राहाददे गृहीतवान् । उत्प्रेक्ष्यते—ततः सारवस्तुग्रहणानन्तरं
तेषु प्रकाण्डेषु तरस्कन्धेषु स्फुरन्तः प्रकटीभवन्तो ये कोटराः निष्कुहाः । ‘पोलाडि’
इति लोके प्रसिद्धाः । त एव कूटं कपटं येषां तादृशै रन्ध्रैश्छिद्रैरभावि भूतम् । संजात-
मित्यर्थः ॥ इति जङ्घे ॥

कपोलयुग्मेन मरुद्युवत्या तिरस्कृते दर्पणिके विभूत्या ।

गुप्तं स्थिते जानुनिभादुपेत्य जेतुं द्विषं छिद्रदिदृक्षयेव ॥ ३७ ॥

दर्पणिके आदर्शिके । ‘यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम्’ इति नैषधे । उपेत्य । कुत-
श्चिदागच्छ गुप्तं छत्रं स्थिते तिष्ठतः स्म । कस्मात् । जान्वोर्जानुनो रूपवर्णोर्निभाहम्भात् ।
अर्थात् तद्देवी वपुष्येवोषिते । उत्प्रेक्ष्यते—द्विषं स्वशात्रवं जेतुं पराभवितुं छिद्राणां
वैरिणोरपगुणानां दोषाणां यैर्गवेषितैर्दोषैः स्वद्वेषी सुखं निमेषमात्राग्निहन्त्यते निर्जी-
यते वा । तद्रन्ध्राणां दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेव । तथा दोषे ज्ञाते सति शत्रुः सुखेन
पराभूयते इति लोकेऽपि प्रसिद्धिः । तस्मात् किलक्षणे दर्पणिके । मरुद्युवत्याः गीर्वाणगु-
हिण्याः । शासनदेव्या इत्यर्थः । कपोलयुग्मेन गल्लयामलेन विभूत्या स्वीयवैभवेन कृत्वा
तिरस्कृते तिरस्कारं न्यक्कारं प्रापिते । पराभूते इत्यर्थः । गुप्तमिति विशेषणात् दृश्यते ।
‘निगूढजाणु-’ इति कल्पसूत्रेऽपि लक्ष्मीवर्णने ॥

आदर्शिकाघानि मिथो मृधेषु यज्जानुना स्पर्धितया स्वकान्त्या ।

ततः किमु प्रापदतुच्छमूर्त्ती न वेद चैतन्यवती किमेषा ॥ ३८ ॥

यज्जानुना यस्या देवताया नलकीलेन स्वस्यात्मनः कान्त्या विभूषया । ‘कान्तिः
शोभायामिच्छायां प्रभायामपि’ इत्यनेकार्थः । समं सार्धं स्पर्धितया स्पर्धोद्भाबुकभा-
वेन संहर्षित्वेन मिथो मृधेषु परस्परक्रोधोद्धततया विधीयमानयुद्धेषु आदर्शिका
मुकुरिका लोके मेवातमण्डलादौ यस्या अधो हस्तको न स्यात् पृष्ठे च ग्रहणार्हं
किमप्यङ्गुटादि भवेत्तस्या अभिधानम् ‘आरक्षी’ इत्युच्यते । अघानि दृढप्रहा-
रादिभिर्निहता । उत्प्रेक्ष्यते—ततः प्रहारादिहेतोरतुच्छामतिघनां बालयितुमशक्यां
मूर्त्ती मोहचैतन्याभावं किमु प्रापलब्धवतीव । एवं चेन्न तर्हि एषा आदर्शिका अचैतन्य-
वती चेतनाया भावश्चैतन्यं तद्विद्यते यस्याः सा चैतन्यवती न चैतन्यवती अचैतन्य-
वती चेतनाविरहिता किं कथं लक्ष्यते ॥ इति जानू ॥

रम्भास्फुरद्वैभवयत्सुपर्वसारङ्गदृक्कैलिनिकेतनस्य ।

अन्तर्वसत्सालसदृक्स्मरस्य स्तम्भौ प्रगल्भौ स्फुरतः किमूरु ॥ ३९ ॥

गुरु अर्थाद्यस्याः स स्फुरतः शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—रम्भा नामापसरास्तद्वत्स्फुरन्
प्रकटीभवन् दीप्यमानो वा वैभवो वपुःशोभातिशयः तादृशी या सूरिपुरस्तात्स्थायुका

चासौ सुपर्वसारङ्गद्वक् च सुरहरिणीनयना शासनदेवी सैव केलये क्रीडाकृते अर्था-
न्मनोभवस्यैव यन्त्रिकेतनं मन्दिरं तस्य स्तम्भौ स्थूणे इव । अन्यदपि रम्भागृहं कद-
लीगृहं 'केलिहंस' इति वा प्रसिद्धम् । तत्राप्याधारस्तम्भौ भवतः । किंलक्षणस्य गृहस्य ।
अन्तः सौधमध्ये वसन् वासं विदधानः तिष्ठन् । सह अलसदशा, मन्थरनयनया, स्वगु-
णेनोपमानेन मनोज्ञादिपदेन च विशेषिताङ्गकर्मा स्त्री यथा तरललोचना । 'अलसेक्षणा
मृगाक्षी' इति हैम्याम् । त्रिया रत्या वर्तते यः स स्मरः कामो यत्र तस्य ॥

यदूरुसृष्ट्यै करिणां करेभ्यो मन्ये मृदुत्वं गृह्यांबभूव ।

स्वयं स्वयंभूरिति तेषु नो चेदेकान्तकार्कश्यमिदं कुतस्त्यम् ॥ ४० ॥

यदूरुसृष्ट्यै यस्या देवताया उर्वोः सङ्गोः सृष्ट्यै निर्माणाय स्वयंभूर्विधाता स्वयमात्मना
नान्यैरत्राहमेवं मन्ये जानामि वितर्कयामि करिणां गजेन्द्राणां करेभ्यो हस्तेभ्यः । शुण्डा-
दण्डेभ्य इत्यर्थः । मृदुत्वं सकुमारभावम् । सौकुमार्यकलितदलिकसारमित्यर्थः । गृह्यां-
वभूव गृहीतवान् । 'गृह्णाति गृह्यते लाति' इति ग्रहणार्थाः क्रियाः क्रियाकलापे । 'ज-
न्तादाम्' इति गृह्यांबभूवेति । एवं चेन्न तर्हि तेषु हस्तिहस्तेषु इदं प्रत्यक्षलक्ष्यं सर्व-
जनप्रतीतं वा एकान्तेन अतिमात्रं केवलं वा कार्कश्यं त्वचि काठिन्यं कुतस्त्यं कुतो-
भवम् । ततो ज्ञायते सौकुमार्यं गृहीते केवलं कर्कशतैव स्थितवती । 'नागेन्द्रहस्तास्त्वचि
कर्कशात्वात्' इति कुमारसंभवेऽपि ॥

हृतां यदूरुद्वितयीं प्रतीपामन्विष्य संहर्षकरीं करेण ।

प्रणश्य भीत्याभ्रमुकामुकः किं दम्भोलिपाणिं शरणीचकार ॥ ४१ ॥

अभ्रमुकामुक ऐरावणगजः । 'पयोनिनीनाभ्रमुकामुकावलीरदान्' इति नैषधे ।
'ऐरावतो हस्तिमलः श्वेतगजोऽभ्रमुग्रियः' इति हैम्यामपि । भीत्या भयेन कृत्वा प्रणश्य
प्रपलाय्य दम्भोलिपाणिं वज्रिणं पुरंदरं शरणीचकार आश्रितवान्, वज्रपाणित्वेन देव-
दानवमानवैरजेय इति तं वभाज । भीतेः कारणमाह—किं कृत्वा । करेण स्वकीयशुण्डा-
दण्डेन समं संहर्षकरीं स्पर्धाकारकाम् अत एव प्रतीपां प्रतिपक्षां तथा पुनर्हृतां बलिष्ठां
यदूरुद्वितयीं देवीसक्थियुगलीमन्विष्य व्यालोक्य ॥

तत्केव वार्ता मम राजहंसान्सर्वानसौ यज्जयति स्वगत्या ।

इत्युक्त्वायं किमु तावदस्याः करं करीन्द्रो व्यतरन्निदृश्याः ॥ ४२ ॥

असौ देवी स्वगत्या निजगमनेन आत्मीयाभिषेणयेन कृत्वा सर्वान् समस्तानपि रा-
जहंसान् प्रकृष्टबलिष्ठभूपालान् तत्त्वतस्तु स्वमन्थरगमनविलासेन कृत्वा राजमरालान्
यत्कारणाजयति खवशीकरोति पराभवति च, तत्तस्मात्कारणात् मम पशुमात्रस्य पर-
वशीभूतस्य च केव वार्ता मज्जयेऽस्या न कश्चिदपि प्रयासः । यतोऽहं करो राजदेयां-
शोऽस्यास्तीति करदाता चतुष्पदमात्रं तस्मान्मज्जयमवश्यमेवा कर्त्तव्येति । उत्प्रेक्ष्यते—
इति हेतोः करीन्द्रो गजराजः तावत्प्रथममेवास्यास्त्रिदश्या जघनेन कथ्या अग्रभागेन

वभासे शुशुभे, मन्ये इत्युत्प्रेक्षायाम् । उत्प्रेक्षयते—अथवा जघनस्थलशोभाविषये अहमेवं मन्ये विचारयासि यत्स्वस्यात्मनो विलासवत्या रत्या पत्न्या सह रिरंसया रन्तुसिच्छया सुरतादिविविधक्रीडाविलासकरणार्थं सुमनःशरेण कुसुमवाणेन मनोभवेन कृतेन देवशक्त्या स्वयं विनिर्मितेन विनोदविधायिना क्रीडानिर्माणसमीहोत्पादकेन जाम्बूनदस्य जात्यकाञ्चनस्य मन्दिरेण सद्नेनेव ॥

भस्मीकृतं धूर्जटिनाक्षिलक्ष्यीकृत्य प्रसूनध्वजजीवितेशम् ।

मा हन्तुमामेष इतीव रत्या गुप्तं गृहं यज्जघनं व्यधायि ॥ ४३ ॥

रत्या स्मरपत्न्या यज्जघनं देव्याः कटेरग्रभागः 'पेङ्क' इति प्रसिद्धं गुप्तं छन्नं परलोचनागोचरं गृहं व्यधायि स्थानं चक्रे । किं कृत्वा । धूर्जटिना शंभुना भस्मीकृतं निजातिकोपप्रज्वलल्ललाटलोचनानलज्वालावलीभिर्ज्वालितं भस्मावशेषीकृतं प्रसूनध्वजो भदनः । 'प्रद्युम्नः श्रीनन्दनश्च कन्दर्पः पुष्पकेतनः' इति हैम्याम् । 'केतुः पताका केतनं ध्वजः' इति ध्वजनामानि हैम्याम्, यथा पुष्पकेतनस्तथा प्रसूनध्वज इति, स एव जीवितेशः स्वप्राणनाथो भर्ता स्मरस्तमक्ष्णोः खनेत्रयोर्लक्ष्यं दृश्यम् । स्वदृग्गोचरमित्यर्थः । कृत्वा । व्यालोकयेत्यर्थः । तत्रोत्प्रेक्षयते—इति हेतोरिव । इति किम् । यदेष धूर्जटिः स्मरशत्रुत्वान्मां स्मरपत्नीं या हन्तुं मा व्यापादयतात् ॥ इति जघनम् ॥

तीर्थाधिभर्तुर्मतदेवतायाश्चकास्ति लक्ष्म्याप्रतिमो नितम्बः ।

मोघीकृतेषूभयजिह्विषन्तं जेतुं धृतं चक्रमिव स्मरेण ॥ ४४ ॥

तीर्थस्य चातुर्वर्ण्यस्य संघस्याधिभर्ता स्वामी नायकः जिनो महावीरस्तस्य यन्मतं शासनं तस्य देवता अधिष्ठायिका देवी तस्या लक्ष्म्या शोभया कृत्वा अप्रतिमः न विद्यते प्रतिमा प्रतिरूपं सदृशं वस्तु यस्य स नितम्ब आरोहः कटीपृष्ठप्रदेशः । 'नितम्बारोहो ह्रीकट्याः पश्चाजघनमग्रतः' इति हैम्याम् । चकास्ति शोभते । उत्प्रेक्षयते—मोघीकृता निष्फला विहिता इषवो बाणा येन तादृशो यो मखजित् मखनामा कश्चिद्दानवविशेषस्तस्य जित् जेता एतावता ईश्वरः स एव द्विषन् प्रत्यर्थां तं जेतुं स्मरेण कामेन धृतं धारितमङ्गीकृतं चक्रमायुधविशेष इव । नितम्बस्य चक्रोपमानम् । यथा—'रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे' इति नैषधे । तथा—'प्रथुवर्तुलतन्त्रितम्बकृन्महिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया । विधिरैककचक्रचारिणं किमु निर्मितसति मान्मथं रथम् ॥' इत्यपि नैषधे ॥

यदङ्गरङ्गवराजधानीनिवासिनः श्रीसुतभूविबोहुः ।

स्फुटीभवत्पुष्परथस्य शङ्के रथाङ्गमेतन्निदशीनितम्बः ॥ ४५ ॥

त्रिदश्याः शासनदेव्या नितम्बो विभातीति संबन्धः । उत्प्रेक्षयते—यस्या देवताया अङ्गं शरीरं तदेव रङ्गन्ती जङ्गमा नवा राजधानी स्कन्धावारो मूर्धोभिषिक्तनिवासनगरी तत्र निवसतीत्येवंशीलो यः श्रीसुतो लक्ष्मीनन्दनो भदनः स एव भूविबोहा धरणीरमणस्तस्य पुष्परथस्य क्रीडाकरणोचितशताङ्गस्य । 'सक्रीडार्थः पुष्परथः' इति हैम्याम् ।

स्फुटीभवत्प्रकटं जायमानमेतत्प्रत्यक्षं रथाङ्गं देवीनितम्बतनुचक्रमिव शङ्के इवार्थे । अथ वा अहमेव शङ्के वितर्कं कुर्वे । स कः । एतन्निदशीनितम्बः एतस्या देव्या आरोहः ॥ इति नितम्बः ॥

एतत्कलत्रस्य हरेः कलत्रजैत्रस्य सौभाग्यमुदीर्यते किम् ।

गाङ्गेयमप्यातनुते स्म काञ्चीनिभान्निजालिङ्गनलालसं यत् ॥ ४६ ॥

हरेः केसरिणः कलत्रं कटीकटः । 'कटिः श्रोणिः कलत्रं कुटीरं काञ्चीपदं ककुच्चती' इति हैम्याम् । तस्य जैत्रस्य जयनशीलस्य तथा हरेः विष्णोः कलत्रस्य पत्न्या लक्ष्म्याः । जैत्रस्येत्यप्यर्थध्वनिः । एतस्या देव्याः कलत्रस्य कट्याः । एतस्य कस्यापि कलत्रस्य पत्न्या इत्यप्यर्थध्वनिः । 'कलत्रं श्रोणौ भार्यायां दुर्गस्थाने च भूभुजाम्' इत्यने-
कार्थः । 'द्वितीयोद्योत कलत्रं च' इति हैम्याम् । सौभाग्यं सुभगतां सौन्दर्यं चातुर्यं वा किमुदीर्यते । किमित्यनिर्वचनीयमाहात्म्यं वर्ण्यते इत्यर्थः । यद्यस्मात्कारणाद्गाङ्गेयं ग-
ङ्गातनयं भीष्मम् । अपिशब्देन ब्रह्मव्रतधारित्वेन सर्वथापि ह्यविषयविमुखमपीति लक्ष्यते । अथ च तत्त्वतो गाङ्गेयं सुवर्णं काञ्चीनिभान्मेखलाच्छलान्निजस्यात्मन आलि-
ङ्गने परीरम्भणे लालसं लोलमौत्सुक्यं वा यस्य जातदोहदं वा तृष्णातिरेको वा यस्य तादृशमातनुते स्म चकार । 'लालसो लोलयात्रयोः । तृष्णातिरेक औत्सुक्ये' इत्यने-
कार्थः । अमरस्तु—'इच्छातिरेकस्तु लालसा' ॥

अस्याः कलत्रं हरिजित्वरं यन्मा मां हरिं तज्जयताद्वियेति ।

अदौकि काञ्ची कनकस्य तेन शय्याव्धिसुक्तामणिमण्डितेव ॥ ४७ ॥

यद्यस्मात्कारणात् अस्या देव्या हरेः पञ्चाननस्य जित्वरं जयनशीलम् । अथ च कलत्रं पत्नीत्यर्थः । विद्यते तत्तस्मात्कारणात् सां नाम्ना एकाभिधानेन हरिं कृष्णस्य मा ज-
यतान्मा पराभवतात् । इति हेतोर्भिया भयेन हरिणा अर्थात्प्रसक्तये शय्याभूतः पर्यङ्क-
भावप्राप्तस्याव्येः समुद्रस्य मुक्तामणिभिर्मुक्ताफलै रत्नेश्च मण्डिता भूषिता कनकस्य स्वर्णस्य काञ्ची मेखलेवादौकि प्राभृतीकृतेव ॥ इति कटिः ॥

उमोपयामे पुनराप्तजन्म शिशुस्मरस्येन्द्रगुरोरुपान्ते ।

अध्येतुकामस्य कलास्त्रिदश्याः पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकेव ॥ ४८ ॥

त्रिदश्याः शासनदेवतायाः पृष्ठस्थली तनोश्चरमप्रदेशः । 'पृष्ठं तु चरमं तनोः' इति हैमीवचनात् । उमायाः पार्वत्याः उपयामे पाणिग्रहणकरणानन्तरं समये हरिविरञ्चि-
शक्राद्यशेषवृन्दारकवृन्दातिर्याचनया प्रसन्नीभूतभूतपतिनिर्मितानुग्रहा पुनर्द्वितीयवारमाप्तं लब्धं जन्मोत्पत्तिर्येन अत एवाभिनवोत्पादहेतोः शिशोर्बालकस्य स्मरस्य मन्मथस्य हाट-
कस्य जाल्यजाम्वूनदस्य पट्टिकेव हस्तलेखविधानपट्टिकेव । स्मरस्य किं कर्तुकामस्य । इन्द्रस्य पुरंदरस्य गुरोराचार्यस्य बृहस्पतेः । 'इदृशीं गिरमुदीर्य विडौजा जोषभास न विशिष्य वभाषे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधिगुरुर्गुरुरस्य ॥' इति नैषधे । 'अभिधाकु-

शलत्वेन वचनचातुर्ये' इति तद्वृत्तिः । उपान्ते समीपे कलामातृकाधारम्भतो लिखितगणितादिमाः शकुनरुतपर्यन्ताद्वा सप्ततिकला मानवप्रसिद्धाः । देवानां कलास्तु त एव विदन्ति नास्माकं वाङ्मनोगोचरा अध्येतुकामस्य पठितुमनसः ॥

संकान्तवेणीग्रथितप्रसूनपङ्क्तिर्वभौ पृष्ठतटे तदीये ।

संवेशनश्रान्तशयालुकामकृतेऽर्कतूली किमु निम्नमध्या ॥ ४९ ॥

तस्या देव्या इदं तदीयं तस्मिन्देवीसंवन्धिनि पृष्ठतटे 'वासड' इति लोकप्रसिद्धं नाम वपुःप्रान्तप्रदेशे संकान्ता प्रतिबिम्बिता वेण्यां कवर्था या ग्रथिता गुम्फिता वेणी-ग्रथनावसरे मध्ये संदृष्ट्वा प्रसूनानां कुसुमानां पङ्क्तिः श्रेणी वभौ विराजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—संवेशनेन रतिप्रीतिपत्नीभ्यां समं चिरसंभोगेन श्रान्तस्य श्रमं प्राप्तस्यात एव प्रायोभोगिनां शय्या कुसुमान्यास्तीर्यन्ते इति रीतिस्थिती । अर्कतूली शयालोर्निद्रा-शीलस्य कामस्य मदनस्य कृते कार्याय निम्नं गम्भीरं मध्यमन्तरालं शय्यामध्यवर्ती प्रदेशो यस्यास्तादृशी अर्कतूली अर्कतूलपटलोपचिता प्रसूनशयो वा प्रायो भोगिनां शय्या कुसुमान्यास्तीर्यन्ते इति रीतिस्थिती । अर्कतूलीनामा काचित् शय्याविशेषो वा ॥ इति पृष्ठदेशः ॥

आवर्तविभ्राजितरङ्गितान्तज्योतिःपयःपूरितनाभिरस्याः ।

समं वशाभ्यां स्मरसिन्धुरस्य स्वैरं रिरंसोः स्फुरतीव शोणः ॥ ५० ॥

अस्याः शासननाकिनायकाया आवर्तेन भ्रमरकाकृतिविशेषेण, पयसां भ्रमेण वा । 'आवर्तः पयसां भ्रमः' इति हैमीवचनात् । विभ्राजते शोभते इत्येवंशीलं तथा तरङ्गाः कल्लोलाः संजाता अस्मिन्निति तरङ्गितं तादृशमन्तर्मध्यं येषां तादृग्विधानि ज्योतींषि स्वाभाविकरत्नस्फुरत्कान्तयस्तान्येव पयांसि सलिलानि तैः पूरिता व्याप्ता नाभिस्तुन्द-कूपिका स्फुरति परमां स्फूर्तिमतिलभते । उत्प्रेक्ष्यते—वशाभ्यां रतिप्रीतिनामभार्याभ्यां हस्तिनीभ्यां च । 'वशा नार्या वन्ध्यगव्यां हस्तिन्यां दुहितर्यपि । वेश्यायां च' इत्यने-कार्थः । स्वैरं स्वेच्छया रिरंसोः रन्तुमिच्छोः जलक्रीडां कर्तुकामस्य वा स्मरसिन्धुरस्य मदोन्मत्तोद्धतत्वान्मदनदन्तिनः कामरूपमहामृगेन्द्रस्य शोणो हृद इव । हृदेषु करिणः क्रीडन्त्येव ॥

प्रसारिशोचिर्मकरन्दसान्द्रा परिस्फुरत्कामुकदृग्द्विरेफा ।

अनन्यलावण्यजले यदीयनाभिर्वभौ जृम्भितपद्मिनीव ॥ ५१ ॥

अनन्यमसाधारणं यल्लावण्यं शरीरसौन्दर्यं तदेव जलं सलिलं तत्र यस्यान्निद्रशय्या इयं यदीया नाभिस्तुन्दकूपिका जृम्भिता विकसिता या पद्मिनी कमलं तद्वद्भवौ भाति स्म । 'पद्मिनी योषिदन्तरे । अव्यजेऽब्जिन्यां सरस्यां च' इत्यनेकार्थः । किंभूता । प्रसारि प्रसरणशीलं यत् शोचिज्योतिस्तदेव मकरन्दो मधुरसस्तेन सान्द्रा स्निग्धा । पुनः किंभूता । परि समन्तात्स्फुरन्तो ये कामुकास्तदभिलाषुकास्तेषां दृशस्तदुपरि निक्षिप्तने-

त्राणि । यदुक्तम्—‘सा पिच्छइ पिअवयणं जोई पुणनाहि मण्डलं तीसे । पुव्वभवन्तर-
नेहो कागाइ चुणन्ति तक्कूम् ॥’ इति । ता एव द्विरेफा भ्रमरा यत्र ॥

यदङ्गगेहे निवसन्प्रसूनायुधः सुधाभुक्स्पृहयन्स्ववल्गुम् ।

अचीकरत्कूपमिवामृतस्य विरञ्चिना पूर्तकृतेव नाभिम् ॥ ५२ ॥

प्रसूनं कुसुममेवायुधं प्रहरणं यस्य । ‘पुष्पाण्यस्येपुचापान्त्राणि’ इति हेम्याम् । स
स्मरः सुधाभुक् सुधां पीयूषं भुनक्ति आहारयति इति सुधाशनो देवः स्वस्यात्मनो व-
ल्गुममशनमाहारं स्पृहयन् काङ्क्षन् सन् । उत्प्रेक्ष्यते—नाभिमर्थादेवतातुन्दकूपिकां पूर्तकृ-
तेव खनकेनेव विरञ्चिना ब्रह्मणा अमृतस्य पीयूषस्य कूपमचीकरत्कारयति स्म । किं
कुर्वन् । स्मरः यदङ्गं यस्याः शरीरं तदेव गेहं सुवर्णसौधं तत्र निवसन्निवासं कुर्वन् ॥
इति नाभिः ॥

यस्यावलम्बेन विगानितेन पञ्चाननेनानुचिकीर्षयास्य ।

वैमुख्यभाजा विषयाद्विशेषार्त्तिकं तप्यते भूधरगह्वरान्तः ॥ ५३ ॥

पञ्चाननेन मृगेन्द्रेण भूधरस्य पर्वतस्य गह्वरान्तर्गुहामध्ये । उत्प्रेक्ष्यते—अस्यावलम्बस्य
मध्यस्य अनुचिकीर्षया अनुकर्तुमिच्छया तप्यते तप इव क्रियते । किंभूतेन पञ्चाननेन ।
यस्या देवताया बलम्बेन मध्यप्रदेशेन विजितेन । पुनः किंभूतेन । विशेषाद्विशेषप्रकारेण
विषयात् शब्दादिगोचरात् । ‘संवत्सरेण रतमेति किलैकवारं सिंहावली द्विरदशकुरमां-
समोजी’ इति हेमचन्द्रवचनात् । अथ च विषयाजनपदाच्च विमुखः विरक्तेन पराङ्मुखेन
च । प्रायः सिंहादयो हि श्वापदा विजनघनगहनसानुमत्कन्दरनिवासिन एव भवन्ति ॥

तपस्यतः शंभुदिधक्षयाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृष्टभुवः स्मरस्य ।

मध्यं पुरो निर्मितनभिहोमकुण्डा तपोवेदिरिव कशिष्टा ॥ ५४ ॥

अर्थसंगत्या शासनदेव्या मध्यं विभातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—शंभुदिधक्षया
स्ववत् शंभोरीश्वरस्यापि दिधक्षया दग्धुमिच्छया भस्मसात्कर्तुं काङ्क्षया तपस्यतः तीव्रं
तपः कुर्वतः । यतो घोरतपःसाधनमन्तरेण निजाभिलषितसिद्धिर्न स्यात् । तपसि
स्थितस्य कशिष्टा अतिशयेन कृशा वेदिरिव तपःकरणव्यतिकरोपवेशनवेदिकेव ।
किंभूता वेदिः । पुरोऽप्रभागे निर्मितं निष्ठादितं नाभिमर्थादेवतायास्तुन्दकूपिकैव हो-
मार्थं कुण्डं यस्याः । तापसा हि तपः साधयन्तः सन्तः मध्वज्यादि जुह्वति ।
किंभूतस्य स्मरस्य । अङ्गेवामचरणस्य कनिष्ठया प्रान्ताङ्गुल्या कृत्वा स्पृष्टा आङ्घ्रिष्टा
भूर्भूमिर्भूतः । ‘भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्’ इति
नैषधे । ‘एतदेव तपस्विनां महत्तपः । यद्वामचरणकनिष्ठाङ्गुल्यग्रमात्रेण भुवं स्पृशंस्तप-
स्यति’ इति तट्टतिः । यादृक् शरीरावस्थितिक्षेत्रं तादृगेव स्थानं विलोक्यते तत एव
कशिष्टेति ॥

सर्वाङ्गमृष्टिं सृजतस्तदीयां धातुर्विलम्बस्य विधानकाले ।

प्राप्तः क्षयं सारदलस्य कोशोऽल्पीयस्ततोऽभूदिव मध्यमस्याः ॥ १९ ॥

तस्या इयं तदीया सर्वेषां समप्राणामङ्गानामवयवानां सृष्टि रचनां निर्माणं सृजतः कुर्वतो धातुर्जगत्कर्तुर्विलम्बस्यार्थाद्देवीमध्यस्य विधानकाले प्रणयनसमये सारदलस्य प्रकृ-
ष्टनिर्माणयोग्यपरमाणुपिण्डस्य कोशो भाण्डागारः क्षयं क्षीणतां स्तोकभावं प्राप्तः ।
उत्प्रेक्ष्यते—ततस्तस्मात्कारणादस्यास्त्रिदश्या मध्यमल्पीयः अतिशयेनाल्पं कृशतमम-
भूदिव जातम् ॥ इति मध्यम् ॥

यदङ्गयष्टीवहलीभविष्णुरोचिष्णुरोचिश्चयनिर्झरिण्याः ।

प्रादुर्भवन्ती त्रिवलीविलासिकलोलमालेव विभाति मध्ये ॥ १६ ॥

मध्ये अर्थाद्देव्या उदरे विलम्बे त्रिवली स्वयंस्कोचलक्षणा त्रित्वसंख्यायुक्ता वली त्रिव-
ली । यथा शिवप्रभसूरिद्वयकृष्णनम्रस्तवे—‘त्रिजगतीं पुनती कविसेविता’ इति । वि-
भाति शोभते । ‘मध्येन सा वेदिविलम्बमध्या वलित्रयं चारु वभारं बाला’ इति कुमार-
संभवे । ‘मध्येनोदरेण’ इति तट्टित्तिः । तथा ‘त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा,’ पुनः ‘उदरं परि-
भाति सुष्ठिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु । धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहे-
जकाश्रिभिः ॥’ इति नैषधे । उदरे वलित्रिकं भवेद्भाग्यवद्योपिताम् । उत्प्रेक्ष्यते—
यदङ्गयष्ट्या यस्या देव्या अङ्गयष्ट्यास्तमूलतायाः । ‘अध्याहारः स्वरहरदिरश्चन्द्र-
शेपस्य शेषस्याहर्भूयः फगससुदितः काययष्टीनिकायः’ इति नैषधे । तत्र वहलीभवि-
ष्णुर्नरन्ध्रभवनशीलः तथा रोचिष्णुः शोभनशीलो यो रोचिश्चयः कान्तिनिकरः स
एव निर्झरिणी नदी तस्यां प्रादुर्भवन्ती प्रकटीसंज्ञायनाना विलसति परस्परमाह्लि-
ष्यतीत्येवशीला कलोलमाला तरङ्गमण्डलीव । अथवा प्रकटीभवन्ती लोचनगोचरत्व-
सागच्छन्ती तिस्रश्च ता वल्यश्च त्रिवल्यस्त्रिदल्य एव विलसन्शीला विराजमानस्वभावा
लहरी राजीव ॥

चण्डी सप्तली प्रवला ममास्ते ज्यायानजो वेदजडः पतिर्मे ।

भर्त्रा वियोगो हरिणा समापि दुःखं जहीदं तिसृणामपीति ॥ १७ ॥

वक्तुं जगत्कल्पितकल्पवल्लि जहोर्विधेश्चांशुमतः सुताभिः ।

मध्ये समेत्य त्रिवलीच्छलेन प्रसादपात्रीक्रियते किमेषा ॥ १८ ॥

सुताशब्दः त्रिषु स्थानेषु प्रत्येकं योजनीयः । जहोर्नारायणस्य सुता गङ्गा । ‘तीर्थे
तोयव्यतिकरभवे जहुकन्यासरघ्वोः’ इति रघौ । पुनर्विधेर्वैष्णवः सुता सरस्वती ।
‘ब्रह्मपुत्री सरस्वती’ इति हैम्याम् । तथा ‘दशमनामब्रह्मणः सुता’ इति भारवीस्तोत्रे ।
च पुनरंशुमतः सूर्यस्य । ‘स्यत्वंशुपतिरंशुमान्’ इति हैम्याम् । सुता पुत्री यमुना ।
‘कृतान्तजनकः प्रद्योतनस्तापनः’ इति हेमचन्द्रोक्तिः । तथा ‘अलभत शमनस्वसुः

शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती' इति नैषधे । एतावता गङ्गासरस्वतीययुनानामन-
दीभिः मध्ये उदरे तिसृणां वलीनां त्वक्संकोचलक्षणानां छलेन कपटेन समेत्य देवी-
पार्श्वे आगत्य । उत्प्रेक्ष्यते—इति वक्तुं कथयितुम् । किम् । एषा देवीप्रसक्तेः प्रसादस्य
पात्रं स्थानं क्रियते । याचना सफला तु प्रसादपात्रीकृतादेव प्रभोः स्यादतो देवी प्रसा-
द्यत इत्यर्थः । इति किम् । मम गङ्गायाः प्रबला सिंहयानत्वेन बलवती चण्डी अत्यन्त-
कोपना पार्वती सपत्नी वर्तते । द्वयोरपीश्वरपत्नीत्वेन सापत्न्यम् । तथा मम सरस्वत्याः
पतिर्ज्यायानतिवृद्धः, तथाजः पशुवैद्या, तथा वेदजडोऽज्ञानः । 'स्थविरशतानन्दपि-
तामहौ कस्तथा परमेष्टाजोऽष्टप्रवणः स्वयंभूः' इति हैम्याम् । किमपि न वेति वैदिकः ।
यतः 'न वेदतां वेदजडः सवत्काम्' इति नैषधे सरस्वत्या ब्राह्मणस्त्रीत्वम् । तथा
एकादशं नाम ब्रह्माणी । इति हेतोर्मम पतिर्भर्तास्ते । तथा भर्त्रा प्रियेण हरिणा
कृष्णेन सार्धं मम ययुनाया वियोगो विरहः । 'जम्भन्तरेण विहृडइ उत्तममहिलाणजं
क्रियं पिम्मम् । कालिन्दा कन्हविरहे अजवि कालं जलं वहइ ॥' इति वृत्तरत्नाकरवृ-
त्तिबोधकवचनात् । विद्यते इदमेतत्पूर्वोक्तलक्षणम् । तिसृणामप्यस्माकमुषितानां पूरणे
प्रदाने कल्पवल्ली सुरलते जहिः निवारय मूलाच्छिन्धि । इति विज्ञपयितुमिव । दुःखम-
सातम् ॥

अध्यारुलक्षोर्हृदधित्यकायां वपुर्गृहस्य स्मरमेदिनीन्दोः ।

सौवर्णसोपानपरम्परेव मध्ये विरेजे त्रिवली त्रिदश्याः ॥ ५९ ॥

त्रिदश्याः शासनदेवताया मध्ये उदरे त्रिवली विरेजे । हत हृदयमेव अधित्यकाया-
सुपरितनभूमिकां चन्द्रशालिकामध्यारुलक्षोरध्यारोढुमिच्छोः । यद्रुपुः यस्या देव्या वपु-
रेव गृहं मन्दिरं यस्य तादृशः स्मरः कामः स एव मेदिन्या भूमेरिन्दुरालहादकत्वा-
च्चन्द्रः । 'कामथेम हि महीमिहिकांशो' इति नैषधे । सौवर्णा सुवर्णसंवन्धिनी काञ्चनर-
चिता सोपानानामारोहणानां परम्परा श्रेणीव ॥

जगत्रयीस्त्रैणजयार्जितायाः श्वेत्येन कीर्तेरनया विजित्य ।

बन्दीकृता निर्झरिणी सुराणामिव त्रिवेणी त्रिवली चकास्ति ॥ ६० ॥

देव्या इति संबन्धात् । त्रिवली मांससंकोचलक्षणा त्रित्वसंख्याकलिता वली चकास्ति
दीप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—अनया शासनदेवताया कीर्तेः स्वकीयशसः श्वेत्येन शुभ्रिमश्रिया
विजित्य पराभूय बन्दीकृता निगृह्य रक्षिता सुराणां निर्झरिणी नदीव गङ्गेव किं निर्झ-
रिणी त्रिवेणी तिस्रो वेण्यः प्रवाहा यस्याः । 'प्रवाहः पुनरोघः स्याद्वेणीधारा रयश्च सः'
इति हैम्याम् । तथा गङ्गायास्त्रिस्रोतस्त्वात् । 'त्रिस्रोता जाह्नवी मन्दाकिनी' इति है-
म्याम् । कीर्तेः किंभूतायाः । जगतां स्वर्गपातालभूमण्डलानां त्रयी त्रिकं तस्याः स्त्रैणस्य
स्त्रीसमूहस्य सुरासुरनरनागाङ्गनागणस्य जयेन निजवैभवभरेण पराभवेनार्जितायाः
स्वीकृतायाः ॥ इति त्रिवली ॥

स्तनान्तरीपाङ्कवपुःप्रसर्पज्योतिःस्रवन्तीसलिलप्रवृद्धा ।

लोमावली शैवलवलरीव रराज राजीवविलोचनायाः ॥ ६१ ॥

राजीवे कमले तत्तुल्ये विलोचने यस्याः कमलचक्षुषो देव्याः लोमावली रोमराजी रराज राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—शैवलवलरीव शैवालवल्लीव । 'मुखेन्दुभातस्तनचक्र-वाकचक्षुच्युता शैवलवलरीव' इति कुमारसंभवे । किंभूता । स्तनौ कुचावेवान्तरीपे अन्तर्जले तटे द्वीपौ अङ्गे उत्सङ्गे मध्ये यस्यास्तादृशे वपुषि काये वपुषो देहस्य वा प्रस-र्पति कल्लोलविलासैरितस्ततः प्रसरति ज्योतिः कान्तिरेव स्रवन्ती नदी तस्याः सलिले पानीये जलमध्ये प्रवृद्धा समुद्रता । प्रादुर्भूतेत्यर्थः ॥

विनिद्रनीलोत्पलकेसरश्रीः स्वःसुश्रुवो राजति रोमराजी ।

किं तुङ्गवक्षोजकलिन्दशृङ्गिशृङ्गान्तरोदीतकलिन्दकन्या ॥ ६२ ॥

स्वःसुश्रुवः सुराङ्गनायाः । 'स्वः स्वर्गिवधोऽप्सरसः' इति हंम्याम् । रोमराजी रो-मलेखा राजति । किंभूता । विनिद्राणि विकसितानि यानि नीलोत्पलानि इन्दीवराणि तेषामिव श्रीः शोभा सौन्दर्यं यस्याः । उत्प्रेक्ष्यते—तुङ्गावत्युच्चं यौ वक्षोजौ कुचौ ता-वेव कलिन्दनान्नः शृङ्गाणि शिखराणि सन्ति अस्यास्तिन्वा स शृङ्गी शैलस्तस्य शृङ्गान्तरे शिखरमध्ये उदीता प्रादुर्भूता कलिन्दकन्या कालिन्दी किं यमुनेव ॥

स्मरद्विपस्यैणमदाभिरामवक्षोजविन्ध्याचलसंनिधाने ।

नाभीहृदाभ्यर्णविभासिनी यल्लोमावली कैलिकृते वनीव ॥ ६३ ॥

यल्लोमावली यस्या रोमराजी स्मरद्विपस्य काम एवात्मिभदोन्मत्तत्वाद्भजः तस्य के-लिकृते क्रीडाकरणार्थं वनी उद्यानमिव । 'स्ववनी संप्रवदत्पिकापि का' इति नैषधे । क स्थाने । एणमदैः एणानां मृगाणां मदैः क्रीडाविनोदरसरभिरामः । 'मदो रसो मये इभदानयोर्गर्वे । वीर्ये कस्तूरिकामुदोः' इत्यनेकार्थतिलकः । तत्त्वतस्तु कस्तूरिकाविले-पनाभिरामो यो वक्षोजः स्तनः । एवं जलवालकशैलस्तस्य संनिधाने समीपे । निकटवर्ति-प्रदेशे इत्यर्थः । किंभूता वनी । नाभीरूपो हृदो हृदस्तस्याभ्यर्णे पार्श्वे विभासते शोभते इत्येवंशीला ॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसितैणशावकश्रेण्या व्यभालोमलता त्रिदश्याः ।

मध्यं कृशं वर्धयितुं किमस्या वयःश्रिया नीलमदायि सूत्रम् ॥ ६४ ॥

निजस्यात्मनोऽक्षिलक्ष्म्या नेत्रवैभवेन हसिता अवहेलिता एणानां सारङ्गाणां शावकानां वालकानां श्रेणी धोरणी यथा तादृश्याः त्रिदश्याः शासनदेवतायाः लोमान्येव रोमाण्येव सरललताकारत्वात्तेव व्यभाद्भासे । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या देव्याः कृशं क्षामं परमाणु-परिमाणत्वात् । 'अध्यापयामः परमाणुमध्याः' इति नैषधे । मध्यमुदरं वर्धयितुं किञ्चि-दुपचयगोचरीकर्तुं वयःश्रिया यौवनलक्ष्म्या । वयःशब्देनात्र तादृश्यमेव लक्ष्यते ।

यथा नैषधे—‘उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयः कृतेन किम्’ । ‘यौदनेन कृतेन नवीनोपयानेन स्तनकलशद्वन्द्वेन’ इति तद्वृत्तिः । नीलं नीलवर्णं सूत्रमदायि । दवरिकेव दत्ता ‘दोरी’ इति प्रसिद्धा । यः पदार्थो वर्धयितुं काङ्क्षते तत्र प्रथमं दवरिकासूत्रं दीयते इति सूत्रकृच्छिल्पे प्रसिद्धम् ॥ इति रोमराजी ॥

यस्याः स्तनौ संस्फुरतः सच्चित्तनिवासिमीनाङ्गमहीधनस्य ।

विलासवत्योरिव शातकुम्भासंदृढवलीलालयतुङ्गशृङ्गौ ॥ ६५ ॥

यस्या अमर्त्यायाः स्तनौ पयोधरौ संस्फुरतः विलसतः । उपप्रेक्ष्यते—चित्ते अर्था-
देवीहृदये निवसनशीलस्य मीनो मत्स्योऽङ्गश्चिदं यस्य स मकरध्वजः स्मरः । ‘निपधव-
सुधामाजाङ्गस्य प्रियाङ्गमुपेयुषः’ इति नैषधे । स एव मही भूमिरेव धनं यस्य एतावता
राजा तस्य मदननृपस्य विलासवत्यो रतिप्रीतिनामयोर्भित्तद्विन्योः शातकुम्भेन सुवर्णेन
संदृढौ निर्मितौ घटितौ वा । हिरण्यविलस्यर्थः । लीलालययोः क्रीडामन्दिरयोस्तुङ्गाव-
त्युन्नतौ शृङ्गौ शिखरे इव । ‘नखयुगमधिकाङ्गः संयुगः पद्मरागो भगयुगमघटंगोद्योग-
शृङ्गा निदाघः’ इति लिङ्गानुशासने पुनपुंसकलिङ्गे ॥

तन्निवृत्तेः स्थानसुरोजयुगमं जागर्ति गीर्वाणमृगीदृशोऽस्याः ।

प्रोद्यन्महानन्दरसा यदस्मिन्मुक्ता दृशो नोपनमन्ति भूयः ॥ ६६ ॥

तत्तस्मात्कारणादस्या गीर्वाणमृगीदृशः शासनदेवतायाः उरोजयुगमं वक्षोजन्मद्वन्द्वं
स्तनद्वयं निवृत्तेर्मोक्षस्य सुखस्य च स्थानं पदं जागर्ति विद्यते । ‘सत्तायामस्यास्ते जा-
गर्ति च विद्यते’ इति क्रियाकलापे सत्तार्थाः क्रियाः । प्रकटीभवति वा । यद्यस्मात्कार-
णात् अस्मिन् देव्याः उरोजयुगमं पयोधरद्वन्द्वं मुक्ता मोक्षं प्राप्ताः संसारकारागारादिति ।
सकलकर्मक्षयान्मुक्तात्मतां गताः । कामुकै रागातिशयान्मुक्ताः प्रेषिता निःक्षिप्ता वा ।
दृशो दृष्टयः प्रोद्यन्प्रकटीभवन्महानतिशयि आनन्त्याश्रयत्वादानन्दः प्रमोदः संजाय-
मानोत्कृष्टानन्दस्तस्य तत्र वा यो रसः आस्वादो रागो वा यासां तादृश्यः सत्यः भूयः
‘पश्चान्न उपनमन्त्यागच्छन्ति । तत्रैव स्थितास्तिष्ठन्ति । मुक्तात्मानः कामुकदृष्टयश्च
सर्वथापि पश्चान्नायान्त्येवेत्यर्थः ॥

मित्रे गतेऽस्तं वियुनक्ति राजन्रात्रिः कलत्रं तव नः कुलानि ।

इतीव दुःखं गदितुं प्रपन्नौ यद्वक्त्रचन्द्रं किमु चक्रवाकौ ॥ ६७ ॥

कुचावेव चक्रवाकौ स्तनरूपौ वा रथाङ्गविहंगमौ यद्वक्त्रं यस्यास्त्रिदश्या वक्त्रं वदनमेव
आननरूपं वा चन्द्रं द्विजपतिं प्रपन्नौ समाश्रितौ । ‘त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः’ इति कल्याणमन्दिरस्तवने । उपप्रेक्ष्यते—इत्यमुना
प्रकारेण दुःखं स्वकीयातीवासातं गदितुं कथयितुमिव । इति किम् । यत् हे राजन् हे
कुचवलयवान्धव हे मध्यमभुवनजनालादक, मित्रे अर्थादस्माकं सुहृदि बान्धवे च भा-
स्करे अस्तं क्षयं द्वीपान्तरं वा तेजोवसाने । ‘व्रजति द्वीपान्तरमहर्षिणः’ इति सूक्तमु-

क्ताकलापे । तव भवतः कलत्रं कामिनी यामिनी नः अस्माकं कुलानि गोत्राणि वंशान्
वियुनक्ति वियोजयति । परस्परं वियोगं प्रापयति । यदुक्तम्—‘उत्कूजति श्वसिति सु-
ह्यति याति तीरं तीरात्तरं तरुतलात्पुनरेति वापीम् । वाप्यां न तिष्ठति न वाति
मृणालखण्डं चक्रः क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्याः ॥ कवलितमिह नालं कन्दलं
त्वेह दृष्टमिह हि कमलकोशे पीतसम्भः सुशीतम् । इति विरटति रात्रौ पर्यटन्ती तटान्ते
सहचरपरिमुक्ता चक्रवाकी वराकी ॥’ इति परस्परचक्रवाकदम्पत्योर्विरहः ॥

प्रोत्तुङ्गपीनस्तनवैभवेन ययाभिभूतौ सुरकुम्भिकुम्भौ ।

ऊहे सहेते श्रियमाप्नुमेतत्साधारणीमङ्कुशकीलनानि ॥ ६८ ॥

सुराणां देवानां कुम्भी हस्ती ऐरावणस्तस्य कुम्भौ शिरसः पिण्डौ अङ्कुशस्य निशिताङ्कु-
शस्य कीलनानि ताडनानि प्रहारान् सहेते क्षाम्यतः । तत्राहमूहे तर्कयामि । किं कुम्भौ
प्रोत्तुङ्गौ अत्युन्नतौ तथा पीनौ पुष्टौ उपचयं प्राप्तौ यौ स्तनौ स्वस्याः कुचौ तयोर्वैभवेन
शोभया कृत्वा यया देव्या अभिभूतौ पराभवं प्रापितौ । उत्प्रेक्ष्यते—एतत्साधारणीम्
एतयोर्देवीस्तनयोः एताभ्यां वा साधारणीं सदृशीम् । ‘तुल्यः समानः सदृशः सरूपः
सदृशः समः । साधारणसधर्माणौ सवर्णः संनिभः सदृक्’ इति हैम्यां तुल्यनामानि ।
तथा ‘साधारणीं गिरसुषुर्दुधनैषधाभ्याम्’ इति नैषधे । श्रियं लक्ष्मीं प्राप्नुमधिगन्तुमिव ॥

प्रसूनमालाभिरलंकृताभ्यां स्वःसुभ्रुवोऽभासि पयोधराभ्याम् ।

प्रस्थातुकामस्य जगज्जयाय श्रेयो निपाभ्यामिव मीनकेतोः ॥ ६९ ॥

स्वःसुभ्रुवः शासनदेवतायाः पयोधराभ्यां स्तनाभ्यामभासि शुशुभे । भावोक्तिरि-
यम् । भावस्यैकत्वादेकवचनमेव । किंभूताभ्यां पयोधराभ्याम् । प्रसूनानां विकचपद्म-
वर्णकुसुमानां मालाभिर्विचित्ररचनाप्रथितभाल्यैर्हारैरलंकृताभ्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—जगज्ज-
याय जगतां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशाजगजनानां सुरासुरनागनागराणां जयाय स्ववशीकर-
णार्थं स्वाज्ञैकवशंवदविधानाय प्रस्थातुकामस्य प्रस्थानं कर्तुं कामयमानस्य अधलिन्मनो-
राजधानीतः प्रतिष्ठासमानस्य मीनकेतोर्मकरध्वजस्य धात्रीपतेः श्रेयर्थं महलकुते नि-
पाभ्यां कुम्भाभ्यामिव । ‘युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव’ इति कल्याणमन्दिरस्तवे ।
तथा ‘घटः कुम्भः करीरश्च कलशः कलसो निपः’ इति हैम्याम् ॥

कुम्भीन्द्रकुम्भौ कुचभूयमूहेऽनुभूय यस्याः सुखिनावभूताम् ।

सुव्यक्तमुक्ताफलमालिकानां सौभाग्यमाभ्यामिह लभ्यते यत् ॥ ७० ॥

कुम्भीन्द्रस्य गजराजस्य कुम्भौ शिरःपिण्डौ यस्या देव्याः कुचभूयं विश्वसृजो विश्व-
विधानव्यापारपारवद्यात्स्तनभावमनुभूय संप्राप्य । ‘स्वदेवभूयं चरितार्थमस्तु’ इति नै-
षधे । तथा ‘भुवो भावे’ इति क्यप् । ‘ब्रह्मभूयं गतः ब्रह्मभावं प्राप्तः’ इति सारस्वत-
व्याकरणे । सुखिनः सातवन्तः । यद्यस्मात्कारणात् । सु अतिशयेन व्यक्तानां प्रकटानां

जगन्नयननिपेयानां मुक्ताफलानामामलकमानमौक्तिकानां श्रेणीनां खजां हाराणां च आभ्यां कुम्भिकुम्भाभ्यां सौभाग्यं सुषमा सौन्दर्यं लभ्यते प्राप्यते । स्वभावेन तु तयोर्मध्ये मुक्ता गुप्ताः, न लोचनगोचराः सन्ति । यतो भद्रजातिस्त्वेन तयोस्तेषामुत्पादात् ॥

प्रसूनतारावलिशालितायां वेणीतमायामुदिते मुखेन्दौ ।

यन्माद्यतस्तत्कुचचक्रवाकौ श्रीसूनुसौराज्यविजृम्भितं तत् ॥ ७१ ॥

प्रसूनानि मालतीकुन्दादिकुसुमानि एव श्वेत्यात्तारास्तारकास्तेषामावलिः परम्परा तथा शालितायां शोभितायां देव्याः शासनदेवतायाः वेणी कवरी सैव तमा रात्रिः । ‘त्रियासा यामिनी भौती तमी तमा विभावरी’ इति हैम्याम् । तस्यां निशायां मुखेन्दौ देवीवदनचन्द्रे उदिते उदयं प्राप्ते सति यत्तस्याः कुचौ स्तनावेव चक्रवाकौ रथाङ्गविहंगमौ माद्यतः मदं लभेते । यतस्तयोस्तमायां वियोग एव स्यान्न संयोगः । तं विरहमपास्य नक्तं दिनं संयुक्तौ सन्तौ परस्परं प्रमुदितमनसौ यन्माद्यतस्तत्राहमेवमभुना प्रकारेण मन्ये जाने विचारयामि । तत् श्रीसूनुर्लक्ष्मीनन्दनस्य भद्रनराजस्य सुशोभनराजतायाः सौराज्यस्य विजृम्भितं विलसितम् । यदा सुराज्यं स्यात्तदा केषामपि दुःखातङ्को न स्यादेवेति ॥

पत्रावलीव्याजवती यदीयवक्षोजदम्भर्षभनामकूपे ।

विजित्य विश्वं विजयप्रशस्तिर्लिपीकृता श्रीसुतचक्रिणेव ॥ ७२ ॥

विश्वं सचराचरं जगद्विजित्य निजाज्ञापालनपरं प्रणीय श्रीसुतः कामनामा चक्री-सर्वभौमः तेन । उत्प्रेक्ष्यते—यदीयो यस्या देव्या अयं देवीसंबन्धी यो वक्षोजः स्तनः स एव दम्भः कपटं यस्य तादृशे कृष्णभनामकूटे क्षुल्लहिमवद्विरिणिकटवर्तिनि षट्खण्डविजयविधायिनश्चक्रवर्तिनः खनामलिखनस्थाने जिनशासनप्रसिद्धे । कृष्णभकूटनामशैलशिलायामित्यर्थः । पत्रावली पत्रवल्ली स्तनतटे चान्दनद्रवो विविधरचनाविशेषः । यथा हेमाचार्यकृतकर्णराजवर्णने—‘मुखे हारावाप्तिर्नयनयुगले कङ्कणभरो नितम्बे पत्राली सतिलकमभूपाणियुगलम्’ इति । यथा पत्राली अपि सैव व्याजः कपटं विद्यते यस्यास्तादृशी विजयप्रशस्तिरिव लिपीकृता लिखिता । यन्मया सचराचरमपि त्रैलोक्यं स्वभुजवीर्यैवभवेन विजित्य मच्छासनवशंवदं व्यधापि । इत्यहंकारसूचकाक्षरमालिका लिखितेव स्वयम् । ‘अविरलमिदमम्भः स्वेच्छयोच्छालयन्त्या विकचकमलकान्तोत्तोनहस्तद्वयेन । परिकलित इवार्थः कामबाणातिथिभ्यः सलिलमिव वितीर्णं वात्यलीलासुखाय ॥’ इति चम्पूकथायाम् । एवमेका केवलैवोत्प्रेक्षा दृश्यते तस्मात्केवलोत्प्रेक्षा युक्तिमती चम्पूत्केरानयनेनेति न कश्चिद्दोषः ॥ इति स्तनौ ॥

यया स्ववक्षोरुहयोजितेन तुङ्गश्रिया रोहणभूधरेण ।

दत्तानि दण्डे किमुदात्तलक्ष्मीपुष्पाणि पाण्योर्नखरच्छलेन ॥ ७३ ॥

यथा देव्या स्वयोर्रात्मीययोर्वैक्षोरुहयोहरोजन्मनोः स्तनयोस्तुह्रिया उच्चत्वल-
क्ष्म्या जितेनाभिभूतेन रोहणभूधरेण रत्नाचलेन पाण्डोर्हस्तयोर्नखराणां कामाङ्कुशानां
ललेन कपटेन । उत्प्रेक्ष्यते—उदात्तानि महार्थाणि । ‘उदात्तनायकोपेता’ इति चम्पूक-
थायाम् । तथा ‘उदात्तो महात्मा महार्थश्च नायको वृत्तस्वामी मध्यमणिश्च तेनोपेता
युक्ता’ इति तट्टिप्पणके । लक्ष्मीपुष्पाणि पद्मरागमणयः दण्डे विजयावसाने दण्डकर-
णसमये दत्तानि किं विश्राणितानीव । तथा—‘अष्टौ हाटकक्रोटयन्निनवतिर्मुक्ताफलानां
तुलाः पञ्चाशन्मदगन्धलुब्धमधुपकोधोद्गुराः सिन्धुराः । अश्वानामयुतं मरुयुवतिजिह्वा-
राङ्गनानां शतं दण्डे पाण्ड्यमृगेण ढौकितमिदं वैतालिकस्यापितम् ॥’ इति विक्रमार्कदान-
पत्रे । अत्रापि ढौकितमग्रे दत्तमुक्तम् ॥

स्वयं विनिर्मापयितुं जयं स्वशोभापराभावुकयनखानाम् ।

राजानमभ्यर्थयते स्वकान्तसुपान्तयाता किमु तारकाली ॥ ७४ ॥

उपान्तयाता समीपे समेता तारकाली ताराश्रेणी । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकान्तं निजभ-
र्तारं राजानं चन्द्रं भूपतिं च किमु अभ्यर्थयते याचतीव । किं कर्तुम् । स्वस्याः शो-
भायाः वैभवस्य परा भावुकानां पराभवनशीलानां यस्या देव्या नखानां कामाङ्कुशानां
निजेनात्मनैव पराभवं निर्मापयितुं कारयितुं हे राजन् त्वं तथास्माकं साहाय्यं कुरु
यथा वयं स्वयं वैरिणो जयामः । ‘नखानासुपमानानि रत्नताराप्रसूनानि’ इत्यादि का-
व्यकल्पलतायाम् ॥ इति पाणिनखाः ॥

प्रसूनधन्वा निजदेहदाहे निधाय दग्धान्विशिखानशेषान् ।

कामाङ्कुशाली कुरुविन्दपुङ्खान्यदङ्गुलीस्तानथ किं चकार ॥ ७५ ॥

प्रसूनधन्वा कुसुमकोदण्डः अथ पश्चात्पुनर्वा यदङ्गुलीर्यस्याः करशाखा एव तान्विशि-
खान् । किम् । उत्प्रेक्ष्यते—चकार कृतवानिव । ‘प्रसूनधन्वा शरसात्करोति माम्’ इति
नैपथे । किंभूतान् तान् । कामाङ्कुशानां नखानामाली श्रेणी एव कुरुविन्दस्य हिङ्गुलस्य
पुङ्खाः । अथ वा कुरुविन्दमणिमयाः पुङ्खाः बाणपश्चात्प्रदेशा येषाम् । चित्ते कुरुष्व कुरु-
विन्दसकान्तदन्ति’ इति नैपथे । ‘पद्मरागमणिसमानकान्तिकादन्ति’ इति तद्वृत्तिः ।
किं कृत्वा । निजस्यात्मनो देहस्य दाहे स्वशरीरस्य भस्मीभवनसमये अशेषान् समस्ता-
न्पञ्चापि विशिखान्वाणान् दग्धान् ज्वलितान् निधाय दृष्ट्वा पश्यति विभावयत्यपि ।
‘विलोकते वीक्षते गवेषयति निधायत्यन्विषति’ इति क्रियाकलापे ॥

वने स्वमुद्दध्य शिखासु भूमिरुहां तपोऽतप्यत यच्चिरन्नम् ।

यदङ्गुलीभूयमिव प्रवालैः पचेलिमैस्तैः सुकृतैरवापे ॥ ७६ ॥

वने कानने निकुञ्जमध्ये भूमिरुहां तरूणां शिखासु शाखासु स्वमात्मानमुद्दध्य ऊर्ध्वं
बद्धा प्रवालैः पल्लवैः यन्निरन्नं निराहारं तपः कष्टमतप्यत तप्तमाचरितम् । उत्प्रेक्ष्यते—
पचेलिमैः परिपाकं प्राप्तैरुदयावलिकायामागतैस्तपोजनितैः सुकृतैः पुण्यैः कृत्वा य-

दङ्गुलीभूयं देवीकरशाखाभाव इवापि प्राप्तः । द्रुमप्रवालीस्तीव्रं तपस्तप्त्वा यदङ्गुलीभवूव
इत्यर्थः ॥

सुपर्वपारिप्लवलोचनायाः श्रियं दधौ धौरणिरङ्गुलीनाम् ।

विजृम्भमाणारुणपाणिपङ्केरुहे प्ररूढा दलमालिकेव ॥ ७७ ॥

सुधादानस्य पारिप्लवलोचना चञ्चलाक्षी । 'चञ्चलं चपलं लोलं चलं पारिप्लवास्थिरे'
इति हैम्याम् । तस्या अङ्गुलीनां करशाखानां धौरणिः श्रेणी श्रियं शोभां दधौ श्रयते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विजृम्भमाणं दिवाकरकरनिकरसंपर्काद्विकाशमाश्रयमाणं निर्निद्रीभ-
वत्तथा अरुणं रक्तं यत्पाणिरेव पङ्केरुहं करकोकनदं तत्र प्ररूढोद्भूता दलमालिकेव पा-
टलिमशालिनी पत्रपङ्क्तिरेव ॥ इति कराङ्गुल्यः ॥

अजय्ययत्पाणिपयोरुहाभ्यां सहाहवे संस्रवदस्रपूरैः ।

शोणीभवद्भिः कमलैरवापेऽरुणाम्बुजख्यातिरिव क्षमायाम् ॥ ७८ ॥

अजय्ये केनापि प्रतिपक्षेन पक्षलक्षवैभवाभ्यां जेतुमशक्ये यस्या देव्याः पाणिपयो-
रुहे करकमले ताभ्यां सह सार्धमाहवे महासंभ्रामे क्रियमाणे सति लवन्तः प्रत्यर्थिप्रण-
ल्भप्रहरणप्रहारैः शरीरेभ्यो निःसरन्तो येऽस्त्राणां रुधिराणां पूराः प्रवाहान्ते कृत्वा शो-
णीभवद्भिः सर्वाङ्गेष्वपि शोणमथैरिव जायमानै रक्ततां प्राप्नुवद्भिश्च कमलैः । उत्प्रेक्ष्यते—
एतानि सर्वाणि अरुणाम्बुजानीति ख्यातिः कोकनदानीति प्रसिद्धिरवापे प्राप्तेव ॥

आवालमुद्यद्वलयः शिखाश्चाङ्गुल्यः पुनर्यत्र नखाः सुमानि ।

ज्योतिर्मरन्दानि करद्रुमोऽस्या यूनां मनोभृङ्गगणं धिनोति ॥ ७९ ॥

अस्या देव्याः । यत्तदोर्निख्यसंबन्धादसतोरपि यत्तदोर्मध्ये एको गृह्यते । स प्रसिद्धो
जिनभक्तानां सिद्धिविधायी करः पाणिः स एव द्रुमस्तदः कर्ता । यूनां तरुणजनानां
मनांसि चित्तानि एव भृङ्गा भ्रमरास्तेषां गणं धिनोति ग्रीणयति । 'यिवि ग्रीणन्ते'
इदित्वानुम् । 'यिन्विकृण्वोरश्च' आभ्यामुप्रत्ययः स्यादकारान्तादेशश्च स्यात्कर्तेरि सार्ध-
धातुके । उपत्ययस्याशित्वादलोपः । अलोपस्य स्थानिवत्वाच्चोपधागुणः । धिनोतीति
सिद्धम् । यत्र करद्रुमे उद्यन्नकटीभवन्दीप्यमानो वा वलयः कटकः । 'पूजाजन्यप्रमय-
समया राजसूयो हिरण्यारण्ये संख्यं मलयवलयौ वाजपेयः कषायः' इति लिङ्गानुशा-
सने पुंस्त्रीबलिङ्गे । आवालः स्थानकम् । च पुनर्यत्र पाणिपादेषु अङ्गुल्यः करशाखाः
एव शिखाः शाखाः । पुनर्यत्र ज्योतीष्येव निःसरत्कान्तय एव सरन्दा मधूनि येषु
तादृशानि नखाः कामाङ्गुशा एव सुमानि पुष्पाणि वर्तन्ते ॥ इति पाणिः ॥

मृणालिकाभिर्जलदुर्गभाग्भिरपि स्वजैर्त्रीं प्रविभाव्य बाहाम् ।

स्वसूनुपद्मः प्रहितः किमेतदुपास्तये पाणिरराजदस्याः ॥ ८० ॥

अस्या देवतायाः पाणिः करः अराजत् दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—जलं पानीयमेव

दुःखेन गम्यते तीर्यते प्रहीतुं शक्यते इति वा दुर्गः अगाधि नीरं कोटो वा, तं भज-
न्याश्रयन्तीत्येवंविधाभिरपि जलदुर्गस्थिताभिरेभिः मृणालिकाभिः कमलनालैः खासा-
मात्मनां जैत्रां जयनशीलाम् अस्माः शासनदेव्या बाहां भुजां प्रविभाव्य समीक्ष्य
स्वसूनुर्निजाङ्गजन्मा पद्मः कमलमेतस्यास्त्रिदश्या जैत्र्या उपास्तये सेवाकरणार्थं प्रहितः
किमु प्रेषित इव । यो येन जीयते स स्वयं सूनुना वा तमुपास्ते इति रीतिः ॥

इयं मृणाली जडसङ्गमौञ्ज्य निजाङ्गजेनानुगताम्बुजेन ।

एत्याश्रिता किं विबुधाम्बुजाक्षीं यद्दोर्लताशालिशया व्यलासीत् ॥ ८१ ॥

यस्या देव्या दोर्लता बाहुवल्ली व्यलासीद्विलसति स्म । किंभूता । शालिशया शालन-
शीलः शोभाकलितः शयः पाणिर्यस्याः । उत्प्रेक्ष्यते—जडानां मूर्खाणां उलयोरैक्या-
जलानां पानीयानां सङ्गं सहवासं चिरकालावस्थितिम् औञ्ज्य संयज्य निजेनात्मीयेना-
ङ्गजेन नन्दनेन स्वस्मिन्नुत्पन्नत्वादम्बुजेन जलजन्मना पद्मेन अनुगता सहिता इयमेष्टा
प्रत्यक्षा बाहुदेहा मृणाली कमलनालम् । मृणालशब्दत्रिलिङ्गः । 'कुवलयमृणालमण्डला'
इति लिङ्गाश्रयाने स्वतत्रिलिङ्गे । एत्यागच्छ विबुधां सर्वचानुर्यकलाकलितां विदुषीम-
म्बुजाक्षीं कमललोचनां स्त्रियं सुराङ्गनां चाश्रिता किं निषेदितवतीव ॥

वभौ भुजाभ्यां मखमुद्भृमृगाक्षी दग्धायुधस्येव कृते स्मरस्य ।

रसालवल्लीमयकार्मुकाभ्यामभ्यर्थनादात्मभुवा कृताभ्याम् ॥ ८२ ॥

मखं यज्ञं भुनक्तीति मखमुद्भृ देवः । 'स्वाहास्वधाऋतुसुधाभुज आदितेवाः' इति
हैम्याम् । 'मखांशभाजां प्रथमो निगद्यसे' इति रथैः । 'सुखं मखास्वादविदाम्' इति नै-
पथे । तस्य मृगाक्षी हरिणिक्षणा प्रिया शासनदेवी भुजाभ्यां बाहुभ्यां कृत्वा वभौ भाति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दग्धानि ज्वलितानि आयुधानि समग्रशस्त्राणि यस्य तादृशस्य स्म-
रस्य कामस्य कृतेऽर्थमभ्यर्थनादर्थान्मदनातिथिविहितवहुयाचनात् आत्मभुवा विधात्रा
कृताभ्यां निर्मिताभ्यां रसालवल्लीमयाभ्यामिच्छुलतारुपाभ्यां कार्मुकाभ्यां कोदण्डाभ्या-
मिव । 'पुष्पाः पद्मशरः क्षरासनमपि ज्याशून्यमिक्षोर्लता जेतव्यं जनतां त्रयं प्रतिदिनं
जेताप्यनङ्गः किल' इति चम्पूकथायाम् । तथा 'इक्षुः स्याद्रसालोऽतिपन्नकः' इति
हैम्याम् । तथा 'रसाल इक्षौ चूते च' इत्यनेकार्थः । अथ वा रसालवल्लीमयाभ्यामात्र-
लताप्रधानाभ्यां चापाभ्यामिव ॥

समुच्चरच्चन्द्ररुचीचयाम्भा पार्श्वद्वयोद्भूतभुजा मृणाली ।

जम्बूनदीवोच्चकुचान्तरीपा या भाति दृग्भृङ्गमुखारविन्दा ॥ ८३ ॥

या शासनसुरी जम्बूनदीव भाति । किंभूता । समुच्चरन्तीनां प्रादुर्भवन्तीनां चन्द्रसा-
न्द्राणां सुवर्णसदृशीनां हेमरूपाणां वा रुचीनां कान्तीनाम् । 'वरुणगृहिणीमाशासासाद-
यन्तमसु रुचीं निचयसि च यांशांशप्रंशक्रमेण निरंशुकम्' इति नैपथे । चयः समूहः
स एवाम्भो नीरं यस्यां वपुषः काञ्चनवर्णत्वात्तद्वच्चोऽपि तादृग्वर्णाः स्तुः । पुनः किं-

भूता । पार्श्वद्वयमुभयतटयुगलं समीपद्वन्द्वं वा । 'कक्षाधःप्रदेशद्वितयं पार्श्वमन्तिके । कक्षाधोऽवयवे वक्रोपायपशुसमूहयोः ॥' इत्यनेकार्थः । तत्रोद्धृतौ उद्धृतौ भुजारूपौ बाहु-
मूल्यां मृणाल्यौ कमलनाले यस्याम् । 'शुद्धोऽथलिङ्गभुजशाटसटाः सपाटः' इति लिङ्गानु-
शासने । भुजः । भुजाशब्दः पुंस्त्रीलिङ्गयोः । पुनः किंभूता । उच्चावुन्नतौ कुचावेवान्तरीपे
अन्तर्जले तटे यस्याम् । पुनः किंभूता । दशावेव भृङ्गौ पटचरणौ यत्र तादृशं सुखं
वदनमेवारविन्दं कमलं यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—जम्बूनदीव ॥ इति भुजा ॥

भुजान्तरानुत्तरराजधान्या अभ्यर्णभूमौ रतिजानिभर्तुः ।

किमु स्फुरच्चन्दनचारिमश्रीक्रीडाद्रिकूटौ लसतस्तदंसौ ॥ ८४ ॥

तस्या देव्या अंसौ स्कन्धौ लसतः शोभां लभेते । उत्प्रेक्ष्यते—रतिरेव जाया यस्य
स रतिजानिः कंदर्पदेवः स एव भर्ता त्रिभुवनं विभर्तीति सुरासुरोरगनराणां तदाज्ञाव-
शंवदीभूतत्वेन । अथ वा हास्यविविधविनोदविलाससंयोगभोगादिभिर्जगज्जनान्विभर्ति
पुष्पातीति । 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' अर्थं धातुः । ततः.....स्वामी श्रीनन्दनरा-
जाधिराजस्तस्य स्फुरन्ती परमोत्कर्षमुद्वहन्ती चन्दनस्य सलयद्रुमद्रवस्य गोशीर्षशा-
खिनो वा पत्रवल्लीविचित्रचित्ररचनाविलेपनादेः सुरभिपर्णप्रेणिपरिमलादेर्वा चन्दनतरौ
पुष्पफलानामसंभवः । यदुक्तम्—'यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलपुष्पवर्जितो वि-
हितः । निजवपुषैव परेषां तथापि संतापमपनयति ॥' इति वचनात्पत्राणां संभवो
दृश्यते । तथा चम्पूकथायाम्—'नागरुचिताश्चन्दनपत्रभङ्गा भवद्वैरिवधूवदनेवनेव' ।
'किलक्षणे नागरुणा काकतुण्डेन चिता व्याप्ता सहिताश्चन्दनद्रवस्य पत्रवल्लयो भान्ति । तथा
नागानां भुजंगमानां रुचिता ईप्सिता चन्दनद्रुमाणां पत्राणां पर्णानां भङ्गाः शकलानि भान्ति'
इति चम्पूटिप्पणकम् । चारिमायाः सुगन्धितायाः श्रीः शोभा ययोः तादृशौ क्रीडाद्रेः केलि-
शैलस्य कूटौ शिखरे इव कूटे इव । कुत्र । भुजान्तरं देवीहृदयं तदेवानुत्तरा न विद्येते
वैशिष्ट्येण लक्ष्म्या वा उत्तरः अत्रेतनवतीं पदार्थो यस्याः सासाधारणा राजधानी स्मर-
राजनिवसनस्थाननगरं तस्या अभ्यर्णभूमौ समीपप्रदेशे । राजधान्याः संनिधौ क्रीडा-
वननदीवापीपर्वतादयो भवन्ति । तत्र प्रियासखा नृपादयः स्त्रैरं क्रीडन्तीति रीतिः ॥

स्वःसुभ्रुवः प्रेक्ष्य पयोधरौ स्वसंस्पर्धिनौ तुङ्गिमविभ्रमेण ।

जयाय तद्युद्धविधित्सयेव कुम्भौ समेतौ स्फुरतस्तदंसौ ॥ ८५ ॥

स्वःसुभ्रुवः सुराङ्गनायास्तस्याः अंसौ स्कन्धौ स्फुरतः । उत्प्रेक्ष्यते—जयाय प्रतिप-
क्षपराभवकृते स्वयं तद्युद्धविधित्सया ताभ्यां स्तनाभ्यां सार्धं युद्धस्य संप्रामस्य विधि-
त्सया चिकीर्षया विधातुमिच्छया समेतावागतौ कुम्भौ कलशाविव । किं कृत्वा । तुङ्गि
उच्चताया विभ्रमेण लक्ष्म्या कृत्वा स्वाभ्यां घटात्मभ्यां सार्धं स्पर्धेते इत्येवंशीली ।
स्वःसुभ्रुवः पयोधरौ कुचौ प्रेक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य ॥ इति स्कन्धौ ॥

अस्याः सदृक्षां श्रियमाश्रयन्ती नास्ति त्रिलोक्यामपि कापि कान्ता ।

इतीव रेखात्रितयं ततान तत्कण्ठपीठे सरसीजजन्मा ॥ ८६ ॥

सरसीजातकमलाजन्म उत्पत्तिर्यस्य स सरसीजजन्मा विधाता तस्या देव्याः कण्ठपीठे गलकन्दले । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव हेतो रेखानां त्रितयं त्रिकं ततान विस्तारयामास । च-
कारेत्यर्थः । इति किम् । यदस्याः शासनत्रिदश्याः सदृक्षां साधारणीम् । तुल्यामित्यर्थः ।
श्रियं शरीरसौन्दर्यलक्ष्मीमाश्रयन्ती भजन्ती कापि ज्ञाताज्ञाता काचन कान्ता सुलोचना
त्रिलोक्यां स्वर्गबलिगृहमहीबलयत्रयेऽपि नाकिनागनागराङ्गनासु नास्त्येवेति जगत्रये-
ऽपि न विद्यते ॥

कण्ठश्रिया स्वःकुरविन्ददत्या निर्जीयमानैर्निखिलैस्त्रिरेखैः ।

रथाङ्गपाणिं प्रति पाञ्चजन्यः पूकर्तुकामैः प्रहितः किमेकः ॥ ८७ ॥

निखिलैस्त्रिरेखैः समस्तैः शङ्खैः पूकर्तुकामैः एवं कर्तुमिच्छद्भिः सद्भिः अर्थात्सर्वैः
संभूय रथाङ्गं वैरिवारिभिरप्रतिहतं चक्रं पाणौ हस्ते यस्य स रथाङ्गपाणिर्विष्णुस्तं प्रति
एकः पाञ्चजन्यनामा शङ्खः । उत्प्रेक्ष्यते—किं प्रहितः प्रेषित इव । किं क्रियमाणैः ।
निखिलत्रिरेखैर्निर्जीयमानैः पराभवनपदवीं नीयमानैः हठात्प्राप्यमानैः । कया । स्वःकुर-
विन्ददत्या स्वर्गस्य कुरविन्दाः पद्मरागमणयः । 'स्वे हि दर्शयति कः परेणथानर्घ्वद-
न्तकुरविन्दमालिके' इति नैषधे । तद्वदन्ता दशना यस्याः सा । कया कृत्वा । कण्ठश्रिया
निजगललक्ष्म्या साधनभूतया ॥

कण्ठीकृतो यज्जलजल्लिदश्यास्तद्वेधसा साधु विधीयते स्म ।

नैसर्गिकानार्जवमात्मनिष्ठं जह्यादवाह्यं कथमन्यथायम् ॥ ८८ ॥

वेधसा ब्रह्मणा यज्जलजल्लिरेखः त्रिदश्या देव्याः कण्ठीकृतः कण्ठपीठतां प्रापितः ।
'ततः प्रियोपात्तरसाधरौष्ट्रे निवेश्य दक्ष्मो जलजं कुमारः' इति रघौ । अहमेवं मन्ये ।
जगत्सृष्टिकृता तत्साधु सम्यग्विधीयते स्म समीचीनमनुष्ठितम् । अन्यथा अपरप्र-
कारेण यत्कण्ठपीठीकरणमन्तरेण अयं शङ्खः आत्मनि स्वस्मिन्विषये निष्ठा स्थितिर्यस्य
तादृशं नैसर्गिकं स्वाभाविकं स्वोत्पत्तिसमयादेव जातमपर्यवसानस्यायुक्तमनार्जवं कथं केन
प्रकारेण जह्यात्सृजेत् । यदुक्तम्—'विमलता वचनस्य न गोचरे जनयिता तव शङ्ख
महोदधिः । मुदमलं तनुते च तव ध्वनिः किमु ततो निहिता हृदि वक्ता ॥' इति ।
अपि तु न कयापि विधया नैव मुञ्चेत् ॥

यत्कण्ठपीठेन हठादुपात्तां दृष्ट्वात्मभूषामखिलास्त्रिरेखाः ।

पूकुर्वते किं विकलीभवन्तः प्रत्यालयं भैक्षभुजो भुजन्तः ॥ ८९ ॥

अखिलाः समस्तास्त्रिरेखाः शङ्खाः विकलीभवन्तो गृथिला जायमानाः प्रत्यालयं गृहं
गृहं प्रति पूकुर्वते । लोकानां पुरः पूकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । विकलतामेव दर्शयति—किं-

भूताः । भिक्षाणां समूहो भैक्षं भुजन्त्यश्नन्तीति भैक्षभुजो भिक्षुकाः सांन्यासिकयोगिप्र-
सुखास्तान् भजन्तः सेवमाना इति विकल्पेन विचारानभिज्ञता । वैकल्पकारणमाह—किं
कृत्वा । यस्या देव्याः कण्ठपीठेन गलकन्दलेन हठाद्वलादुपात्तां गृहीतामात्मनः स्वस्य
भूषामाभरणादिलक्ष्मीम् । ‘विनापि भूषामवधिः श्रियामसौ’ इति नैषधे । आभरणगणम-
न्तरेणापि दमयन्ती श्रियां सुवमाणावधिः सीमास्तीति’ इति तद्वृत्तिः । दृष्ट्वा वि-
लोक्य ॥ इति कण्ठपीठः ॥

यूनो मनोजन्मनृपस्य तस्या वपुर्लतायाः स निकेतभाजः ।

शृङ्गारभूषासुषमादिदृक्षोरिवात्मदर्शः शुशुभे तदास्यम् ॥ ९० ॥

तस्यास्त्रिदश्या आस्यं शुशुभे रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—यूनस्तरुणस्य मनोजन्मनृपस्य स्म-
रराजस्य आत्मदर्शो दर्पण इव । किंभूतस्य मनोजन्मनृपस्य । यस्या देव्या वपुर्लता शरी-
रयष्टी सैवावासार्थं वासकृते निकेतं भवनं भजतीति तस्य । पुनः किं कर्तुमिच्छोः ।
शृङ्गारार्थं शोभाकृते या भूषा भूषणानि । ‘तस्मै स्वभूषादृषदंशुशिल्पबलिद्विपः कार्मुक-
मर्पयन्ती’ इति नैषधे । ‘निजभूषणमणिकिरणगणव्यतिरेकेण’ इति तद्वृत्तिः । तेषामाभ-
रणानां सुषमां सातिशायिनीं शोभाम् । ‘सुषमा सातिशायिनी’ इति ह्रैम्याम् । ‘सा
अतिशायिनी शोभा सुषमा प्रोच्यते’ इति तद्वृत्तिः । तां दिदृक्षोः द्रष्टुमिच्छोः । ‘ताव-
देव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुः’ इति नैषधे । ‘नारदं ऋषिरिन्द्रद्रष्टुमिच्छुः’ इति तद्वृत्तिः ॥

कृष्णच्छविं भ्रूयुगलीं दधानं ज्योत्स्नासुधापायि चकोरचक्षुः ।

उत्सङ्गसङ्गीकृततारदन्तमास्यं त्रिदश्याः शशिविम्बति स्म ॥ ९१ ॥

त्रिदश्याः शासनामर्त्याया आस्यं वदनं शशिविम्बति चन्द्रमण्डलमिवाचरति ।
‘सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वाचारे इत्येके’ इति क्विप्प्रत्यये शशिविम्बतीति सिद्धम् । किं
कुर्वाणम् । लक्ष्म लाञ्छनं तद्वत्कृष्णा मेचका छविः कान्तितर्यस्यास्तादृशीं भ्रूयुगलीमूर्ध्व-
नयनयोरुपरिप्रदेशे रोमपद्धतिद्वितयीम् । ‘उच्चै राज्यादिदानात्कलिकलुपमलक्षालनात्ता-
मसानामुच्छिन्नाद्विभ्रमेदात्रिदशपतिकरस्पर्शनादर्शनस्य । हेतुत्वात्सस्यसूर्याशुदयफल-
पदस्वर्जनज्ञानभूत्वाद्वास्ते नाभेयदेवप्रभुपदयुगली.....गौरिवेह ॥’ इति श्रीसोमसुन्द-
रसूरिकृतस्तोत्रे युगलीशब्दः । दधानं विभ्राणम् । पुनः किंभूतम् । ज्योत्स्ना चन्द्रिका
ज्योत्स्नाप्रियत्वात् तथा सुधाममृतं पिबत इत्येवंशीलौ । ‘कणे हृत् चकोरीणां गणः पीत्वा
सुधासवम् । अजायत मदेनेव गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणाः ॥’ इति वस्तुपालकीर्तिकौमुद्यां चन्द्रोदय-
वर्णने यथा चकोराणां ज्योत्स्नापानं तथा सुधापानमपि दृश्यते इति । चकोरी ज्योत्स्नाश्रि-
यावेव चक्षुषी यत्र । अथ वा ज्योत्स्नारूपां सुधां सुधारुचित्वात्पिबत इत्येवंशीलौ तादृशौ
चलचञ्चू एवंचुल्ये वा चक्षुषी नेत्रे यत्र । पुनः किंभूतम् । उत्सङ्गो क्रोडे सङ्गोऽस्त्यासां
तादृशाः कृतास्तारास्तारकाः । ‘तारकाभकनीनिकयोस्तारौ’ इति लिङ्गानुशासने नक्ष-
त्रकनीनिकयोरर्थयोस्तारशब्दः पुंस्त्रीलिङ्गे । यथा ‘तारस्तारा च’ इत्यवचूर्णौ । एव
श्वेत्यात्तद्रूपा वा तत्तुल्या वा दन्ता यत्र तत् ॥

चिकीर्षता यन्मुखमात्तसारमात्मानमन्विष्य चतुर्मुखेन ।

गलन्मरन्दाश्रुकणाञ्जराजीद्विरेफरावैरिव रारटीति ॥ ९२ ॥

गलन्तः पतन्तो ये मरन्दाः मधूनि मकरन्दविन्दवस्त एवाश्रुकणा रोदने नयननि-
र्गतनीरविप्लवो यस्याम् । तादृशी अवजराजी कमलमाला । उप्रेक्ष्यते—द्विरेफरावैर्मधुकर-
गुञ्जारवै रारटीति अतिशयेन रोदिति पूकृतिं वा कुरुते । किं कृत्वा । यन्मुखं यस्याः
शासनदेवताया वदनं चिकीर्षता कर्तुमिच्छता चतुर्मुखेन ब्रह्मणा आतं गृहीतं सारम् ।
'सम्यग्मजा सारो मज्जि' इति हैम्याम् । सारदलं वा स्वकीयसद्वस्तु यस्मात्तादृशमा-
त्मानमन्विष्य विलोक्य ॥

यदीयचेतोवसतौ वसन्तं स्वमित्रपुष्पास्त्रनृपं निरीक्ष्य ।

किमागतस्तं मिलितुं मृगाङ्को वक्त्रं चकासे सुरकम्बुकण्ठ्याः ॥ ९३ ॥

सुरस्य कम्बुः त्रिरेखः एतावता दक्षिणावर्तशङ्खं तद्वत् रेखात्रिकाङ्कितः कण्ठो यस्या-
स्तस्याः । सुरकम्बुकण्ठ्याः सुरस्य कम्बुकण्ठ्या वध्वा इति वा । सुधाशनवध्वा वक्त्रं
वदनं चकासे दिदीपे । उप्रेक्ष्यते—यस्या इदं यदीयं चेतश्चित्तं तदेव वसतिर्वासवेष्टम्
तत्र वसन्तं वासं कुर्वाणम् । देवीसंबन्धिनि हृदयसदने तिष्ठन्तमित्यर्थः । तथा स्वस्या-
त्मनो मित्रं सखायं पुष्पास्त्रनामानं मदनाभिधानं नृपं राजानं निरीक्ष्य व्यालोच्य । तं
प्रति मिलितुमागतो गगनात्समागतः । किंभूतः । मृगाङ्कः शशधरश्चन्द्र इव ॥

यस्या मुखं स्वर्वनिताचिन्तायाः संवर्धय ताराततिमुक्तिकाभिः ।

स्वःसिन्धुतीरे किमु दिङ्मृगाक्ष्यो निर्मिच्य रात्रीमणिमुत्सृजन्ति ॥ ९४ ॥

स्वःस्वर्गस्य वनिताः सीमन्तिन्यः ताभिरचिन्तायाः पूजितायाः यस्याः शासनदेव-
ताया मुखं वदनं निर्मिच्य नीराजयित्वा मुखस्य न्युञ्छनं कृत्वा । उप्रेक्ष्यते—दिङ्मृ-
गाक्ष्यः दिगङ्गताः स्वःसिन्धुतीरे स्वर्गगङ्गातटे रात्रीमणिं निशारत्नं चन्द्रम् । 'कथयति
परिश्रान्तिं रात्रीतमः सह युध्वना' इति नैषधे रात्रीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । चन्द्रकान्त-
रत्नमपि किमु उत्सृजन्ति त्यजन्ति । किं कृत्वा । ताराणामर्थार्द्रहृदक्षत्रतारकाणां ततयः
श्रेणयः एव मुक्तिकाः लघुमुक्ताफलानि ताभिः । 'सिता वमन्यः खलु कीर्तिमुक्तिकाः'
इति नैषधे । अथवा मुक्ता एव मुक्तिकास्ताभिः कृत्वा संवर्धय वर्धयित्वा इदानींतन्या
अपि सधववध्वः खगुरुमुक्ताफलैर्वर्धयित्वा मणिप्रमुखं न्युञ्छनीकृत्य कचिन्मुखन्तीति
सीतिः ॥ इति मुखम् ॥

अगण्यलावण्यपयस्त्रिदश्या आस्यात्प्रसर्पद्विलसत्तरङ्गैः ।

मा स्ताद्वाहिस्तादिति निम्नभागं चक्रे विरञ्चिश्चिबुकं किमन्ते ॥ ९५ ॥

विरञ्चिर्ब्रह्मा अन्ते वक्रप्रान्तप्रदेशे । उप्रेक्ष्यते—इतीव हेतोर्निम्नो गम्भीरो नीची
भागः प्रदेशो यस्य तादृशं चिबुकमसिकाधःप्रदेशं चक्रे निमित्तवान् । इति किम् ।

यदस्यास्त्रिदश्या देव्या आस्याद्वक्त्रकुण्डाद्विलसत्तरङ्गैः प्रस्फुरत्कलोलैः स्वरङ्गाकारीभवत्कान्तिप्रतानैः । 'विमलं वर्तुलं कान्तितरङ्गि वदनं विभो' इत्युक्तेः । कृत्वा प्रसर्पन्निःसरत् 'गच्छति विसर्पत्ययत्यते' इति क्रियाकलापे । यथा विसर्पति तथा प्रसर्पत्यपि । अगण्यममेयं यल्लावण्यं लवणिमा तदेव पयः पानीयं बहिस्तान्मुखाद्वहिर्भागे मां स्तान्मा भवतु वक्त्राद्वहिर्मा निर्यातु । 'वृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव' इति नैषधे ॥

यदाननाम्भोरुहवाससौधे सातं वसन्त्या जलराशिपुत्र्याः ।

विलासवापीव पयोविहारं स्वैरं विधातुं चिबुकस्त्रिदश्याः ॥ ९६ ॥

त्रिदश्याः शासनदेव्याश्चिबुकः । उत्प्रेक्ष्यते—जलराशिपुत्र्या लक्ष्म्या विलासवापीव क्रीडादीर्षिकेव । किं कर्तुम् । स्वैरं स्वेच्छया पयसि वारिणि विहारं जलकेलिम् । 'यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले' इति रघुवंशे । विधातुं कर्तुम् । किं कुर्वत्या जलराशिपुत्र्याः । यदाननाम्भोरुहवाससौधे यस्या देव्या आननं वदनमेवाम्भोरुहं कमलं तदेव वाससौधं वसनसदनं तत्र सातं सुखं यथा स्यात्तथा वसन्त्याः स्थितिं कुर्वत्याः ॥ इति देवीचिबुकाः ॥

रेजेऽधरोऽस्या हरिमन्थकालात्प्रवासिनं यन्मुखचन्द्रपुत्रम् ।

हृल्लेखभाजा मिलितुं प्रवालः पयोधिनाहातुमिव प्रयुक्तः ॥ ९७ ॥

अस्या देव्या अधरः ओष्ठो रेजे राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पयोधिना समुद्रेण यस्या मुखमेव चन्द्रं खपुत्रमाहातुमाकारयितुमिव प्रवालः समुद्रोत्पन्नत्वाद्विद्रुमः । अथ वा प्रकृष्ट उक्तसंदेशवाक्यकथको बालकः प्रयुक्तः प्रेषितः । किलक्षणेन समुद्रेण । हृल्लेखमुत्कण्ठामौत्सुक्यं भजतीति तादृशेन । किं कर्तुम् । मिलितुं पुत्रप्रेम्णा सङ्गं कर्तुम् । चन्द्रस्य समुद्रोत्पन्नत्वेन नन्दनत्वम् । किंभूतं चन्द्रम् । हरिणा विष्णुना मन्दराद्रिणा यो मन्थो मन्थनं तस्य कालः समयः तस्मादारभ्य प्रवासिनं परदेशे गतं पुनरागतम् अत एव मिलनोत्कण्ठा ॥

यदाननाङ्गीकृतविग्रहेण रदच्छदाङ्गः क्षणदाकरेण ।

प्रियौषधेरङ्गभवः किमेष प्रपाल्यते वसृतया प्रवालः ॥ ९८ ॥

यस्या देव्या आननं मुखं तदेव अङ्गीकृतः अभ्युपगतः गृहीतो विग्रहः शरीरं येन तादृशेन क्षणदाकरेण विधुना प्रियायाः स्वकान्ताया औषधेः फलपाकावसानिकायाः अङ्गभवस्तनुजः । चन्द्रस्यौषधीपतित्वात् पतिपत्नीसंबन्धः । प्रवालस्य चौषधीजातत्वादौषध्याः पुत्रत्वमेवोपपन्नम् । तथा रदच्छदोऽधरः स एवाङ्गं यस्य तादृशः प्रवालः पल्लवः प्रकृष्टो बालः प्रवालः । अथवा प्रकर्षेण बालकश्च वसृतया पितृत्वेन प्रपाल्यते सम्यक्तया पाल्यते । अन्यो वप्ता आत्मपत्नीसंजातमतीव बालकं निजनन्दनं प्रेम्णा प्रपालयति ॥

इदंमुखीभूतमवेत्य चन्द्रं बालं तदीयं करचक्रवालम् ।

अन्वागतं प्राक्प्रणयादिवैतदन्तच्छन्दः स्फूर्तिमियति तस्याः ॥ ९९ ॥

तस्या देव्या दशनच्छदो दशनपत्रमधरः स्फूर्तिं शोभामियति । उत्प्रेक्ष्यते—इदं-मुखीभूतम् अस्या वदनभावं प्राप्तं चन्द्रं स्वजनकुमुदसुहृदमवेत्य ज्ञात्वा सम्यगवबुध्य प्राक्प्रणयात्पूर्वस्नेहाच्चन्द्रावस्थायां नित्यमुत्सङ्गसङ्गीकरणप्रीतेः एतद्दशनच्छददेहं देवीदन्तवस्त्रगात्रं तदीयं यद्वदनीभूतचन्द्रसंवन्धि तथा बालं लघुकुमारं कराणां किरणानां चक्रवालं मण्डलमन्वागतं पृष्ठे समेतमिव । यो बालः स पितुर्मातुर्वा पृष्ठे समेतीति रीतिरपि बालत्वात्किरणानामरुणत्वमपि युक्तमेवेति ॥

यदन्तपत्रेण रणेऽभिभूता नष्टा प्रविष्टापि पयोधिमध्ये ।

रक्ताङ्गराजी हृदि कृष्णवल्लीं शल्यं किमद्यापि न पर्यहर्षात् ॥ १०० ॥

यस्या देवताया दन्तपत्रेण दशनदलेनाधरेण रणे परस्पर्धितया मिथो युद्धे अभिभूता पराजिता सती रक्ताङ्गराजी विद्रुममालिका हृदि मनसि विषये हृदये वक्षसि वा कृष्णवल्लीम् । 'कालिवेल' इति लोकप्रसिद्धा । तद्रूपं तामेव वा शल्यं शूककण्टकादीनां शालाकां हृदये मर्मप्रविष्टशस्त्रं वा । 'शल्यं शस्त्रशालाक्रयोः' इत्यनेकार्थः । तथा 'शल्यं शरीरान्तर्गतं शस्त्रादिसीमाच्छिद्रं वंशादीनां शालाकाविशेषश्च' इति लिङ्गानुशासने । अद्यापि अद्यतनं दिनं यावन्न पर्यहर्षात् परिहरति स्म हृदये एवावतिष्ठमानमास्ते किम् । नष्टा यदधरोद्भुरविरोधिविरुद्धविधानातिसाध्वसात्प्रणश्य पयोधिः समुद्रस्तस्य मध्ये अल्यगाधजलान्तः प्रविष्टा प्रविश्य स्थितापि ॥ इत्यधरः ॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदीयदन्तच्छदे दन्तरुचिश्चकासे ।

निपेतुषी कोकनदच्छदाङ्गे शरत्सुधादीधितिकौमुदीव ॥ १०१ ॥

बन्धूको बन्धुजीवः । 'विपोहरिया' इति लोकप्रसिद्धिः । स रक्तकुसुमः स्यात् । तथा 'बन्धुजीवविघातं ग्रीष्मदिवसावसानजनाः' इति चम्पूकथायाम् । ग्रीष्मे हि बन्धूकानि शुष्यन्ति । तथा 'बन्धूकप्रसवारुणाम्बरधराम्' इति लघुस्तवेऽपि । तस्य बन्धूककुसुमस्य बन्धूभवन् सहोदरो मित्रं वा जायमानो य एतदीयो देवतासंबन्धी दन्तच्छदोऽधरस्तत्र निपेतुषी पतनशीला पतिता वा दन्तानामर्थोद्देवीदशनानां रुचिः कान्तिश्चकासे दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कोकनदस्य विकसितरक्तोत्पलस्य यच्छदं पत्रं तस्याङ्गे उत्सङ्गे निपेतुषी समीयुषी प्राप्ता शरदो घनाल्ययस्य सुधादीधितिरमृतवत् शरत्कालेन जलधररोधोपरोधावधीरणेन निर्मलीकृतत्वादुज्ज्वला अतिविशदीभूता दीधितयः कान्तयो यस्येत्यन्वर्थनामा चन्द्रस्तस्य कौमुदी चन्द्रिकेव । अथ वोपमा । यथा रक्तकमलपलाशे शारदीननिशानायककौमुदी शोभते ॥

पीयूषपूर्णस्मरकेलिशोणमणीनिबद्धाधरदीर्घिकायाम् ।

यस्या विनिद्रद्विजचन्द्रिकाभिराश्रीयते कैरविणीवनश्रीः ॥ १०२ ॥

यस्याः शासनसुर्याः विनिद्रन्तीभिर्विजृम्भमाणाभिर्द्विजानां दन्तानां चन्द्रिकाभिर्ज्यो-
त्स्नाभिः । कान्तिभिरित्यर्थः । 'दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघौ । कैरविणीनां
कुसुदिनीनां चन्द्रविकाशिविशदविकसितारविन्दिनीनां वनं काननम् । वृन्दमित्यर्थः । तस्य
श्रीः लक्ष्मीः शोभा आश्रीयते आलम्ब्यते । कस्याम् । पीयूषैः सुधारसैः पूर्णयां निर्भरभरि-
तायां स्मरस्य रतिपतेः केलये क्रीडाकरणार्थं शोणे रक्तैर्मणीभिः रत्नैः । पद्मरागगणैरित्यर्थः ।
निबद्धायां रचितायां घटितायामधरोऽर्थादेव्या ओष्ठः स एव दीधिका वापी तस्यां
राजीव । 'वनराजिनि दीधिकावारिणि स्नानम्' इति पाण्डवचरित्रेऽर्जुनस्याष्टापदयात्रा-
धिकारे । यत्र राजीवानि तत्र राजीविनीलताया अपि सद्भाव इति । तथा 'केचिद्व-
दन्त्यमृतमस्ति पुरे सुराणां केचिद्वदन्ति वनिताधरपल्लवेषु । वृमो वयं त्वदरिवर्गकरा-
ङ्गुलीषु यत्पानतो मरणमागतमप्यपास्तम् ॥' इति भोजप्रबन्धे वनिताधरेषु सुधारसः ॥

स्वर्भाणुभीरो रजनीचरिणोः कलङ्कभाजः क्षयिनः सितांशोः ।

ज्योत्स्ना किमुद्वेगवती यदास्यं भेजेऽपविघ्नं दशनांशुदम्भात् ॥ १०३ ॥

सितांशोश्चन्द्रादुद्वेगवती खेदं प्राप्ता सती ज्योत्स्ना । उत्प्रेक्ष्यते—दशनानां राजद-
न्तानामंशवः किरणास्तेषां दम्भात्कपटात् अपगता विघ्ना वसतौ स्वानिष्टकारिणः प्र-
त्यूहा यस्मात्तादृक् यदास्यं देवीवदनं भेजे श्रितवतीव । उद्वेगकारणान्याह—किंभूतस्य
सितांशोः । स्वर्भाणो राहोः सकाशाद्भीरोभीरुकस्य । स्वाभ्यवहारकारिसिंहिकेयभयवि-
ह्वलीभूतस्येत्यर्थः । एतावता स्वैरत्वमुक्तम् । पुनः किंभूतस्य । रजन्यां निशायामेव
पारदारिकपाटच्चरादिवचरिणोः संचरणशीलस्य । एतावता चौरविटादिचेष्टावत्त्वं च ।
अत एव पुनः किंभूतस्य । कलङ्कं गुरुदाराभिगमनादपवादं लाञ्छनं च भजतीति कलङ्क-
भाजः । एतावता सापवादत्वं सुशीलताराहित्यं च । पुनः किंभूतस्य । क्षयिनः क्षयरोग-
वतः । स्वपरदारेष्वत्यासक्तस्य व्यसनिनो राजयक्ष्मादयो रोगा भवेयुरवश्यम् । यतः
'कम्पः स्वेदश्रमो मूर्च्छा भ्रमिगर्लानिर्वलक्षयः । राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मथुनोत्थिताः ॥'
इति योगशास्त्रे । पक्षे कृष्णपक्षानुभावात् कलाभिर्हीयमानतया क्षीणताभाजः । सितांशो-
रिति पदेनापि पाण्डुरत्वं सूचितम् । तच्च रोगादिना दुःखाद्यतिरेकेण वा पाण्डिमा
जायते । ततः पाण्डुकुष्ठरोगवतः भूतादिवद्वलदेहस्य वा । ततोऽपि विरूपवतः । ए-
तेभ्यः कारणेभ्यः एतैः कारणैर्वा मनस्युद्वेगं प्राप्ता ॥

यस्याः पृष्ठान्निर्जरदृक्चक्रोरान्दन्तप्रभाभिर्वदनं दिदीपे ।

शरद्विनिर्द्रीकृतचन्द्रिकाभिर्विभावरीणामिव सार्वभौमः ॥ १०४ ॥

यस्या देवताया दन्तप्रभाभिर्दशनदीप्तिभिः कृत्वा वदनं सुखं दिदीपे । वदनं किं
कुर्वत् । पृष्ठत् प्रीणयत् । 'पृष्ठ प्रीणने' तुदादिधातोरयं प्रयोगः । कान् । निर्जरा देवा-
स्तेषां दशो लोचनान्येव चक्रोरा ज्योत्स्नाप्रियास्तान् । क इव । सार्वभौम इव । यथा
विभावरीणां शर्वरीणां सार्वभौमश्चक्रवर्ती प्राणनाथश्चन्द्रः । 'कन्दर्पेऽनल्पदर्पे विकिरति

किरणाञ्छार्चरीसार्वभौमः' इति नाटकग्रन्थे । शरदा घनाख्येन विनिर्द्रीकृता जलध-
रधारवधोरणेन निर्मलीकृत्य विस्तारिता याश्चन्द्रिकाश्चन्द्रगोलिकास्ताभिः कृत्वा दीप्यते ॥

स्मितश्रियामिश्रितदन्तकान्तिश्चकास्ति गीर्वाणमृगेक्षणायाः ।

वन्दीकृता चन्द्रमसं विजित्य ज्योत्स्नास्य दारा वदनेन विद्वः ॥ १०९ ॥

गीर्वाणस्य अमोघसदसद्वचनप्रपञ्चनाराचस्य देवस्य मृगेक्षणाया हरिणलोचनायाः
स्त्रियः शासनदेवतायाः स्मितस्य कथंचिद्विनोदावसररसविनिर्मितहसितस्य श्रिया श्वे-
तिमलक्ष्म्या मिश्रिता करम्बिता व्याप्ता दन्तानां दशनानां कान्तिर्दांस्त्रिश्चकास्ति दी-
प्यते । तत्र वयमेवं विज्ञो जानीमो वितर्कं वा कुर्मः उत्प्रेक्षामहे वा । वदनेन देवता-
मुखेन अर्थान्विजजगजित्वरवैभवेन चन्द्रमसं कुमुदबान्धवं विजित्य पराभूयास्य चन्द्र-
मसः दारा जाया ज्योत्स्ना कौमुदी वन्दीकृता निगृह्य रक्षितेव । 'विद्व इत्युत्प्रेक्षाविष-
येऽपि भवेत्' इति काव्यकल्पलतायाम् ॥ इति सस्मितदन्तकान्तिः ॥

मरुन्मृगाक्षीवदनाञ्जदन्तैस्तारेशतारैर्विजितैर्विभूत्या ।

आलोच्यते तद्विजिगीषयेव संभूय तीरेऽम्बरनिर्झरिण्याः ॥ १०६ ॥

तारा ज्योतींषि तेषामीशस्तारेशश्चन्द्रः । तथा तारा उपलक्षणात्सर्वेऽपि ग्रहनक्षत्र-
तारकास्तैः संभूय एकत्र मिलित्वा अम्बरनिर्झरिण्या गगनतरङ्गिण्याः । आकाशगङ्गाया
इत्यर्थः । तीरे रोधस्ति तटप्रदेशे । उत्प्रेक्ष्यते—आलोच्यते मन्त्र्यते विचार इव विधीयते ।
कया । तद्विजिगीषया । तेषां खट्वेष्ट्याणां वक्त्रदन्तानां विजिगीषा पराबुभूया अभिभवि-
तुमिच्छा तथा । अन्यापि निजप्रतिपन्थिपराजयचिकीर्षया एकान्तप्रदेशे मिलित्वा
मिथो मन्त्रयन्ति । किम् । तारेशतारैर्मरुन्मृगाक्ष्या सुरहरिणचक्षुषा देवतया वदनाञ्जेन
स्वमुखकमलेन तथा दन्तैर्दशनैश्च विभूत्या तेषामद्वैतलक्ष्म्या कृत्वा विजितैः पराभूतैः ॥

अजय्यवीर्यं मुखपद्ममस्याः श्रिया जयन्तं स्वमवेत्य राज्ञा ।

संधिं विधातुं प्रहिताः प्रधाना द्विजाः समं तेन किमुलसन्ति ॥ १०७ ॥

द्विजा देवीदशना उल्लसन्ति दीप्यन्ते । किंभूताः । प्रधानाः प्रकृष्टलक्षणोपेताः ।
उत्प्रेक्ष्यते—राज्ञा चन्द्रेण नृपेण च तेन खजेत्रेण मुखपद्मेन समं संधिं परस्परं मेलं
प्रीतिं वा विधातुं प्रधानाः सचिवा द्विजाः स्वपारिपार्श्वका ब्राह्मणाः पुरोहितादयः प्र-
हिताः प्रेषिता इव । किं कृत्वा । अजय्यं जेतुमशक्यं केनापि स्पर्धिना विरोधिना क-
दापि कथमपि षड्गुणैस्त्रिभिः शक्तिभिश्चतुर्भिरुपायैश्चतस्रिर्बुद्धिभिरपि न जीयते
पराभूयते इत्यजय्यं तादृशं वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशमस्या देव्या मुखपद्मं वादनार-
विन्दं स्वमात्मानं श्रिया लक्ष्म्या कृत्वा जयन्तं पराभवन्तमवेत्य ज्ञात्वा योऽधिकबलो
निजनिजिगीषुश्च तेन सार्धं संधिरेवोचित इति ॥

पाण्डुः क्षयी शून्यनभश्चरिणुर्निरङ्गराहोद्विषतोऽपि बिभ्यत् ।

दोषाकरः श्याममुखो वराकोऽस्माकं पुरस्ताज्जड कस्त्वमेकः ॥ १०८ ॥

हंसद्युतोऽक्षीणसुखा मुखस्था जिताहिताः स्फीतगुणा विशुद्धाः ।

नैकेऽभिभूताः किमितीन्दुमुद्यद्द्युता त्रिदश्याः प्रहसन्ति दन्ताः ॥ १०९ ॥

त्रिदश्याः शासनामर्त्यायाः दन्ता दशना उद्यन्ती प्रकटीभवन्ती उच्चैर्निर्यान्ती वा
द्युत्कान्तिस्तया कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो इन्दुं विधुं प्रकर्षेण हसन्तीव शशिनो
हास्यं स्रजन्तीव । इति किम् । यत् हे इन्दो हे जड मूर्ख जडस्वरूप जडाशय । ‘किमु
दधौ जड वा वडवानलात्’ इति नैषधे चन्द्रसंबोधनं जड इति । अस्माकं पुरस्तादन्ता-
नामग्रे वराकः तपस्वी द्रुमको वा त्वं कः । न कश्चिदपीत्यर्थः । वराकतामेवादृशयति—
किंभूतस्त्वम् । पाण्डुः पाण्डुरोगवान् श्वेतकुष्ठविनष्टवपुः । भूतादिबद्धबलविग्रहो वा ।
पुनः किंभूतः । क्षयी राजयक्ष्मा रोगोऽस्यास्तीति । क्षयात्प्रतिदिनं कलानामपगमात् । बहुल-
पक्षे वपुषः क्षीणता अस्त्वस्मिन्निति वा क्षयी । पुनः किंभूतः । शून्यं निर्मानुषं तथानेनैव
सम्यक्तया बभूवतीति भातीति नभः कुत्सितस्थानम् । ‘निशानभःसदृशे’ इति चम्पू-
कथायाम् । निशानैस्तेजस्विभिर्वैरैर्बभूवति शोभते इति निशानिभास्तथा सदृशः इः
कामो यस्य तस्य संबोधनम् । पक्षे रात्रिगगनतुल्ये इति तद्विप्पन(ण)के । तत्र नगर-
ग्रामाराममानवादिरिक्तके स्थानके चरिणुः संचरणशीलः रमशानादिषु भक्षणशीलो
वा । ‘चर गतिभक्षणयोः’ अस्य धातोः प्रयोगत्वेन जग्धिः स्थितिश्चेति व्यर्थता । पुनः
किंभूतः । निर्गतमङ्गं शरीरं यस्य । विष्णुना सुदर्शनचक्रे शिरोवशेषीकृतत्वादङ्गराहियम् ।
तादृशाद्राहोः विधुंतुदाद्विषतो वैरिणः सकाशाद्विभ्यद्रयमाकलयत् । पुनः किंभूतः । दो-
षाणामपगुणानामाकरः खनिः निशाकरश्च । पुनः किंभूतः । श्यामं कलङ्गेन कृत्वा कृष्णं
मुखं वर्कं यस्य । प्रायः कलङ्ककलिताः श्यामानना एव स्युः । पुनः किंभूतः । एको
नास्ति द्वितीयः सदृशः कोऽपि एवंविधस्त्वं क । वयं पुनः कीदृशाः । हंसवत् उभयपक्ष-
विशुद्धत्वेन द्योतन्ते इति । पुनः किंभूताः । अक्षीणं न क्षीयते स्मेत्यक्षीणम् अनिष्टीय-
मानं संपूर्णं वा सर्वाङ्गीणं वा सुखं सातं येषाम् । एतावता रोगराहियसातवन्तः । पुनः
किंभूताः । मुखे सर्वेषामप्येव वक्त्रे च तिष्ठन्ति इति मुखस्थाः । एतावता सुस्थानभाजः ।
पुनः किंभूताः । जिताः स्वकीयपरमवैभवैरभिभूताः वज्ररत्नकुन्दतारकादयोऽहिताः
प्रतिस्पर्धिनो यैस्ते जिताहिताः । एतावता निर्वैरिताः । पुनः किंभूताः । स्फीता विश्ववि-
ख्याता वृद्धिं प्राप्ता वा गुणा येषां ते स्फीतगुणाः । एतावता गुणवत्त्वम् । पुनः किंभूताः ।
विशेषेण शुद्धा निष्कलङ्काः सर्वत्रावदाताः । एतावता सर्वदाप्युच्चैःशिरसः । पुनः
किंभूताः । नैके अनेके द्वात्रिंशप्रमाणत्वेन । एतावता वृद्धिभाजः सगोत्रत्वात् । पुनः किं-
भूताः । अभिलक्षणयुक्तं रूपं येषाम् । ‘अभिर्विप्सालक्षणयोः’ इत्यनेकार्थः । अभिरूपाः
पण्डिताः । ‘विद्वान्पुधीः कविर्विचक्षणलब्धवर्णाः ज्ञाप्राप्तरूपकृतिः कृष्यभिरुपधीराः’
इति हैम्याम् ॥ युगमम् ॥

आशानुरागातिशयं सृजन्ती प्रचेतसः स्फारमरीचितारा ।

समुज्जिहानद्विजराजराजिवक्त्रा स्म संध्येव विभाति देवी ॥ ११० ॥

सा श्रीवीरशासनाधिष्ठायिका देवी संध्येव दिनावसानपितृसूरिव विभाति स्म । प्रातःकालीनापि संध्या प्रोच्यते । अतोऽर्थेन दिनावसानस्येत्युक्तम् । ‘संध्या तु पितृसूः’ इति संध्यानामद्वयं हैम्याम् । देवी संध्या च किं कुर्वती । प्रचेतसः प्रकृष्टमुन्नतेच्छं चेतो मनो यस्य तादृशस्य महतोऽपि आशाया वाञ्छाया अनुरागस्य मोहस्य स्नेहस्य वा अतिशयमाधिक्यमुत्कर्षं वा सृजन्ती कुर्वन्ती । महान्तोऽपि यामालोक्य मुह्यन्ति स्निह्यन्ति च । यां स्पृहयन्तीत्यर्थः । पक्षे प्रचेतसो वरुणस्य । ‘वरुणस्त्वर्णतमन्दिरं प्रचेताः’ इति हैम्याम् । आशाया दिशः पश्चिमाया अनुगतं क्रमागतं रागस्य रक्तताया अतिशयं प्राचल्यं संध्यारागं सृजन्ती विदधाना । पुनः किंभूताः । स्फारा उदारा बहुप्रदेशदर्शिन्यो लक्ष्ययोजनविषयत्वान्मरीचयो दीप्तयस्तादृशे तारे कनीनिके यस्याः । पक्षे दीप्यमाना झगज्झगिति कुर्वन्त्यः कान्तयो रोचिषो येषां तादृशास्तारा ज्योतीषि यस्यां सा । पुनः किंभूताः । समुज्जिहान उदयमानः । ‘मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाने’ इति नैषधे । ‘चन्द्रेण समुदयन्ती’ इति तद्वृत्तिः । द्विजराजश्चन्द्रः द्विजानां रदनानां राजानो द्विजराजदन्तश्रेष्ठाः । ‘क्वचिदमाद्यन्तस्य परत्वम्’ इति दन्तानां राजा राजदन्ता इति दन्तशब्दस्य परत्वम् । तै राजन्ते इत्येवंशीलः प्रारम्भः । पूर्णिमायां संध्याप्रारम्भ एव चन्द्रोऽभ्युदेति । अतः प्रारम्भो वदनं च यस्याः सा । राजदन्तशोभितवदना देवी । उदितचन्द्रप्रारम्भा च संध्या ॥ इति दन्ताः ॥

शशी सुधां प्रेक्ष्य निपीयमानां सुरैः सृजंस्तत्र ममत्वमन्तः ।

ररक्ष निक्षिप्य रहो रसज्ञा पात्र्यामिवैतां कृतयन्मुखाङ्गः ॥ १११ ॥

शशी शशधरो विधुः एतां स्वसुधां रह एकान्तस्थानस्थितायां रसज्ञा देवीरसना सैव पात्री भाजनविशेषस्तस्यां निक्षिप्य स्थापयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—ररक्षेव गोपायति स्मेव रक्षितवानिव । किंभूतः शशी । कृतं स्वेनैव निष्पादितं स्वात्मनैव विरचितं यस्या देव्या मुखं वदनमेव अङ्गं शरीरं येन । शशी किं कुर्वन् । अन्तश्चित्तमध्ये तत्र स्वसुधाविषये ममत्वम् इयं सुधा मया यथाकथंचिद्रक्षणीयैवेति । मम इत्यस्य भावो ममता तां मोहमूच्छीं सृजन् कुर्वन् । किं कृत्वा । सुरैः सुधाशनैः निपीयमानां पीत्वापीत्वा निष्ठाप्यमानाम् । यदुक्तम्—‘विरहिर्वर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् । सुरनिपीतसुधाकमपापकम्’ इति नैषधे । सुराश्चन्द्रमसः सुधां पिवन्ति इति सुधां निजाङ्गस्थायुकपीयूषं प्रेक्ष्य विलोक्य ॥

यस्या रसज्ञां जयिनीं निभात्य शोणच्छदं तत्तुलनाविलासम् ।

पितामहं प्रार्थयते स्वतातारविन्दगेहे निवसन्तमूहे ॥ ११२ ॥

शोणच्छदं रक्तोत्पलपत्रं पितामहं जनकजनकं धातारं च प्रति अहमेवमूहे वितर्क-

यामि । तत्तुलनाविलासं तस्या देवीरसज्ञायास्तुलनां सादृश्यं तस्य विलासं वैचित्र्यं लीलां वा । 'असकृदमृतविन्दुस्यन्दिनो वाग्विलासाः' इति चम्पूकथायाम् । 'निरन्तरसु-
धारसाविष्कारिणो वाग्विलासा वचनवैचित्र्ये' इति तद्विष्पन(ण)कम् । प्रार्थयते याच-
तीव । ष्यन्तत्वाद्विकर्मत्वम् । पितामहं किं कुर्वन्तम् । स्वस्यात्मनः स्वजन्मकर्तृत्वेन तातो
जनकोऽरविन्दः पद्मः स एव तत्र वा गेहं मन्दिरं तत्र निवसन्तं निवासं कुर्वन्तम् ।
एतावता संबन्धो जातः संबन्धे च प्रार्थना फलेग्रहिः स्यादिति किं कृत्वा प्रार्थयते ।
यस्या देवताया जिह्वां रसज्ञां जयिनीं निजजयनशीलां निभाल्य निरीक्ष्य ॥

स्वं निष्ठितं नित्यसुपर्वपानात्पीयूषमन्विष्य सितत्विवेष ।

प्रैषीदमानापयितुं रसज्ञासुधाह्रदोऽस्या द्विजराजिराभात् ॥ ११३ ॥

अस्या देवताया द्विजराजिर्दन्तपङ्क्तिराभाद्भौ । उत्प्रेक्ष्यते—सितत्विवेषा चन्द्रमसा
इदं पीयूषमानापयितुमात्माथे आनयनार्थमस्या देव्या रसज्ञा जिह्वा सैव सुधाया अमृत-
रसस्य ह्रदो द्रवस्तत्र द्विजराजिस्तदधिपतित्वात्स्वभृत्यवर्गीभूता द्विजपङ्क्तिर्दशनावलीरूपा
ब्राह्मणमण्डली प्रैषि प्रहितेव । किं कृत्वा । नित्यमहोरात्रं सुपर्वणां देवानां सुधाशन-
त्वात्पानात्पानवशतः निष्ठितं क्षीणं स्वल्पावशिष्टं वा पीयूषं सुधारसमन्विष्य समीक्ष्य ॥

जाने यदास्यं सरसीरुहाया विजृम्भिजिहारुणपद्मपत्रा ।

श्रेणीभवन्तः पुलिनावतंसा हंसद्विजाः स्युः कथमन्यथास्याम् ॥ ११४ ॥

यदास्यं देवीवदनम् अहमेवं जाने वेद्मि । सुधाया अमृतरसस्य सरसी महत्सरोवर-
मिव । किंभूतम् । विजृम्भि विकसनशीलं जिह्वा देवीरसना सैवारुणपद्मस्य रक्तकमलस्य
पत्रं दलं यस्यां सा । एवं चेन्न तर्हि अन्यथा सुधासरसीमन्तरेण अस्यां सरस्यां पुलि-
नस्य जलोज्झितप्रदेशस्य तटस्थेत्यर्थः । 'पुलिनं तज्जलोज्झितम्' इति हैम्याम् । अव-
तंसाः शेखरीभूतास्तथा श्रेणीभवन्तः पङ्क्त्या जायमानाः सन्तस्तिष्ठन्तः हंसद्विजाः सि-
तच्छदविहंगमाः हंसवदुज्ज्वला द्विजा दशनाः कथं केन प्रकारेण स्युर्भवेयुः ॥

वर्धिष्णुदेवीहृदयानुरागवारांनिधेर्विद्रुमकन्दलीव ।

कण्ठत्रिरेखेन मुखे गृहीता पुपोष भूषां रसनादसीया ॥ ११५ ॥

अदसीया अमुष्या इयमदसीया शासनदेवतासंबन्धिनी रसना जिह्वा भूषां शोभां
पुपोष पुष्पाति स्म । शुशुभे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—कण्ठ एव त्रिरेखः तिस्रो रेखा यत्रेति
कम्बुनोपमेयत्वात्कम्बुरेव तेन मुखे स्ववदने गृहीता उपात्ता वर्धिष्णुवर्धनशीलो यो
देव्या हृदये मनसि । हृदयं मनो वक्षश्च । अनुरागः स्वप्रियाद्युपरि अत्यन्तानुरक्तता
वर्धमानो रागः स एव वारांनिधिः समुद्रः तस्य । तदुत्पन्नस्येत्यर्थः । विद्रुमस्य प्रवालस्य
कन्दली नवाङ्कुर इव । 'कन्दली रूपरागेऽपि कलापे च नवाङ्कुरे । मृगजातिप्रभेदे च'
इति लिङ्गानुशासनावचूणौ विद्रुमाणां शङ्खानां च समुद्रे सद्भावात्तद्गृहणमुचितमेवेति ॥
इति रसज्ञा ॥

जडीभवन्ती रिपुनिर्जये यद्वाचा जिता ह्रीविधुरा विपञ्ची ।

यियासया शैवलिनीशपारे तुम्बद्वयं किं विभरांभवू ॥ ११६ ॥

यद्वाचा देवीधुधारसोद्गारायमान(ण)वाण्या जिताभिभूता अत एव हिया परात्प-
राभवोद्भूतभूरिलजया विधुरा विह्वला व्याकुला विपञ्ची वीणा । शैवलिनीशस्य सरिद्धर्तुः
समुद्रस्य पारे अपरपार्श्ववर्तिनि तटे यियासया मन्दाक्षलक्षीकृतत्वेनापरस्य कस्यापि
स्वास्यं दर्शयितुमशक्नुवन्ती गन्तुमिच्छया । उत्प्रेक्ष्यते—तुम्बद्वयं किम् । अलावुयुगलमिव
विभरांभवू धृतवतीव । यो नद्यादिजलमुत्तितीर्षुः स तुम्बकानि धरति इति रीतिः ।
किं कुर्वती । रिपुनिर्जये प्रतिपन्थिपराभवने प्रतिपक्षस्य प्रतीकारकरणे जडीभवन्ती
किं कर्तव्यतायाम् अतः परं मयाथ किं करणीयमिति कार्यकरणविषये मन्दिमानं
मूढतां दधाना । स्वशात्रवं प्रतिकर्तुमशक्नुवन्तीत्यर्थः ॥

श्रवःसुधायै जगतां यदीयवाचे पिकेन स्पृहयालुनेव ।

अभ्यस्यते भैक्षभुजा तरुभ्योऽनिशं वने पञ्चमगीतिरुच्चैः ॥ ११७ ॥

पिकेन कोकिलेन अनिशं निरन्तरं वने सहकारकानने । प्रायः पिकानां मनो माक-
न्दनिकुञ्जे एव रमते नान्यस्मिन् शाखिखण्डे । यतः—‘यद्यपि दिशि दिशि तरवः
परिमलमत्तालिपटलवाचालाः । तदपि स एकरसालः कोकिलहृदि हन्त जागर्ति ॥’ इति ।
उच्चैरतिशयेन बादखरेण वा पञ्चमस्य पञ्चमनाम्नो रागस्य गीतिर्गानं कण्ठकुहुरान्तराने-
कतानलयमूर्च्छनाघोलनापूर्वको ध्वनिर्वा अभ्यस्यते अभ्याससाध्यो विधीयते । यः पठन्
शान्नाभ्यासं कुरुते स बादखरेणैव उद्धोषं कुरुते । किंभूतेन पिकेन । तरुभ्योऽर्थांन्मा-
कन्दपादपेभ्यो भैक्षं मञ्जरीकलिकारूपं भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । अत्र समूहार्थेऽण्-
प्रत्ययः । भुनक्ति अश्नातीति तेन भैक्षभुजा । उत्प्रेक्ष्यते—स्पृहयालुनेवाभिलाषुके-
नेव । कस्यै । जगतां त्रिजगजनानां श्रवसां कर्णानामुपोषितानामिव पारणायै सुधायै
अमृतरसभूतायै ॥

स्वरैकसारं परवादिनीभ्यः संगृह्य जाने जलजासनेन ।

विधीयते स्म ध्वनितं त्रिदश्यास्ताभ्योऽतिरिच्येत न चेत्कुतस्तत् ॥ ११८ ॥

परवादिनीभ्यः सप्ततन्त्रीविपञ्चीभ्यः । ‘साथ तन्त्रीभिः सप्तभिः परवादिनी’ इति
हैम्याम् । सर्ववीणासकाशात् स्वराणाम् ‘षड्ज-कृषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-
निषध’ इति सप्तानां तन्त्रीभवानां ध्वनीनाम् ‘षड्जकृषभगान्धारा मध्यमपञ्चमस्तथा ।
धैवतो निषधः सप्ततन्त्रीकण्ठोद्भवाः स्वराः ॥’ इति हैम्याम् । अत्र तु बलकीकणानामे-
वोपादानं मध्यादेकमद्वितीयं सारं श्रेष्ठदलम् । ‘सारो मजास्थिरांशयोः । बले श्रेष्ठे च’
इत्यनेकार्थः । संगृह्य संग्रहं कृत्वा गृहीत्वा वा जाने वेद्मि । उत्प्रेक्ष्यते वा—अहमेवं
चिह्नोचरीकरोमि । जलजासनेन कमलविष्टरेण ब्रह्मणा त्रिदश्यां वीरशासनदेवतायां

ध्वनितं सारस्वरो विधीयते स्म कृतम् । एवं चेन्न तर्हि तद्ध्वनितं देवीनिखनस्ताभ्यः
परवादिनीभ्यः कुतोऽतिरिच्यते कस्मात्कारणादधिकीभवति ॥

यद्वाक्पुरस्तादिव पाण्डुराभिर्विलीयते स्म त्रपया सुधाभिः ।

सितोपलाभिश्च तपस्विनीभिस्तृणं किमादाय मुखेन तस्थे ॥ ११९ ॥

यस्या देवताया वाचां माधुर्याद्वैततया निजनिर्जित्वरीणां वाणीनां पुरस्तादग्रे त्रपया
लज्जया कृत्वा पाण्डुराभिर्ध्वलीभूताभिर्दुःखातिरेकात्पाण्डूभूय सुधाभिरमृतरसैः । उत्प्रे-
क्ष्यते—विलीयते स्म विलीनमिव गलित्वा गतमिव द्रवीभावः प्रापेव । च पुनर्यस्या वाचां
पुरः तपस्विनीभिर्वराकीभिः दुर्बलाभिः पाण्डुराभिरपि सितोपलाभिः शर्कराभिः तप-
स्वितया । उत्प्रेक्ष्यते—मुखेन वक्त्रेण कृत्वा तृणमादाय गृहीत्वा किं तस्थे स्थितमिव ।
यद्वाचा जिता पाण्डुरीभूय अमृतं विलीय गतं सिता मुखे तृणं गृहीत्वा स्थितेति
भावः ॥ इति वाणी ॥

स्वप्रीतिरत्योरिदमोष्ठधाम्नोः सापह्नयतः संस्थितिवासभाजोः ।

स्मरस्तदर्धे विवभाज सीमां रेखामिषार्तिकं विनिनीषुराजिम् ॥ १२० ॥

स्मरः कन्दर्पस्तदर्धे तयोर्निजनिजितम्बिन्योर्निवासस्थानकीभूताधारस्यार्धे तुल्योभय-
पार्श्वयोर्मध्ये । उत्प्रेक्ष्यते—रेखाया अधरमध्यगतरेखाकारस्य मिषात्कपटात्सीमामवधि-
भूतभूर्मीं विवभाज विभागीकृतवानिव विभागीकृत्य द्वयोर्दत्तवानिव वा । स्मरः किं कर्तुमि-
च्छुः । विनिनीषुः व्यपनेतुमिच्छुर्निवारयितुं काङ्क्षन् । काम् । आजि परस्परकलहम् । कयोः ।
स्वस्यात्मनः प्रीतिरतिनाम्रयोः पत्नयोः । किंभूतयोः । इदमस्या देव्या ओष्ठो दशनच्छद
एव धाम मन्दिरं ययोः । अत एव पुनः किंभूतयोः । समान एव पतिर्भर्ता ययोस्ते
सपत्न्यौ सपत्न्योर्भावः सापह्नयं सापह्नयतः सपत्नीभावतः कृतसपत्नीकत्वादित्यर्थः । सं-
स्थितौ परस्परं सम्यक्स्थितौ वसतिविषये विशेषेण वादं कलिम् इदं स्थानकं मदीय-
मिदं स्थानकं मदीयमिति क्लेशं भजतस्तयोः । स्वस्थानाधिकस्थानलिप्सया मिथो वि-
वादकारिण्योरित्यर्थः ॥ इत्यधरोष्ठमध्यरेखा ॥

तत्साधु मन्ये मलयानिलेन यदेतदीयस्वसितीवभूवे ।

सर्वर्तुपुष्पोद्भवसौरभस्य सौभाग्यमामोति किमन्यथासौ ॥ १२१ ॥

तत्साधु मन्ये अहं कविस्तत्साधु समीचीनं मन्ये हृदि मानयामि वेद्मि यन्मलयानि-
लेन मलयद्रुमपरिमलसुरभीकृतमलयशैलप्रसरत्पवनेन दाक्षिण्यव्यायुना एतस्या इदमे-
तदीयं देवतासंबन्धि यत्स्वसितं श्वासः तद्भूवे जातम् । 'श्वासस्तु श्वसितम्' इति हैम्याम् ।
देवीश्वासरूपेण संजज्ञे अन्यथा तद्भवनव्यतिरेकेण असौ मलयानिलः सर्वे वा ते ऋत-
वश्च सर्वतैवः हिम-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरलक्षणाः षडपि ऋतवः समय-
विशेषास्तेषां पुष्पाणि कुसुमानि तेभ्यः उद्भवेभ्य उद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं यत्सौरभं
सुरभिता आमोदो वा तस्य सौभाग्यं सुभगतां माहात्म्यं वा किं कथं केन प्रकारेण-

प्रोति लभते । अपि तु न केनापीति । यतो मलयानिलो वसन्तर्तावेव नान्यर्तुषु ततो वसन्तर्ता एव कुसुमसौरभं लभते । एतद्वदनश्चात्तानिलस्य तु सर्वैर्तुक्पुष्पपरिमललम्भः तस्मात्साधिमैव प्रलयवायोः संजातः ॥

निमीलनोन्मीलनदूषितेभ्यो नित्यं दधञ्चो मधुपानुषङ्गम् ।

निर्वेदवान्पद्मकुमुद्वनेभ्यः स्थितः किमामोद इदंमुखाञ्छे ॥ १२२ ॥

पद्मकुमुद्वनेभ्यः कमलकैरवकाननेभ्यः सकाशान्निर्वेदवान् खेदमेदस्त्रिमनः कलितः प्राप्तोद्वेगः । उत्प्रेक्ष्यते—आमोदः परिमलः इदंमुखाञ्छे शासनसुरीवक्त्रारविन्दे किं स्थितः समेत्य स्वयं वसतीव । किंभूतेभ्यः पद्मकुमुद्वनेभ्यः । निमीलनं संकोचः, उन्मीलनं विकाशः । निशायां पद्मं निमीलति कैरवमुन्मीलति दिने पद्ममुन्मीलति कुमुदं निमीलति । आभ्यां क्रमात्संपद्विपद्भ्यां दूषितेभ्यः विकारं प्रापितेभ्यः । पीडितेभ्य इत्यर्थः । पुनः किंभूतेभ्यः । नित्यं निरन्तरं मधुपैर्मधुपायिभिर्भ्रमरैर्वा अनुषङ्गो मिलनं संगमं दधञ्चो धारयञ्चः । कुर्वञ्चः इत्यर्थः ॥

विश्राणयित्वेव पुरा स्वसारसौरभ्यमेतद्वदनाम्बुजाय ।

शोभासहस्रांश इतः पयोजपरम्पराभिर्गृह्यांवभूवे ॥ १२३ ॥

पयोजपरम्पराभिः पद्मानामनेकाभिः पङ्क्तिभिः इतोऽस्मादेव तद्वदनाम्बुजादेवतावदनारविन्दात् शोभानां श्रीमत्ता-सुकुमारता-सुरमिता-संपूर्णता-वृत्तता-मनोज्ञता-प्रभृ-तिलक्ष्मीणां सहस्रः दशशतसंख्यः अंशो भागः । 'यदि प्रसादीकुरुते सुधांशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य' इति नैषधे । गृह्यांवभूवे गृहीतः । उत्प्रेक्ष्यते—पुरा पूर्वं पूर्वस्मिन्काले एतस्याः शासनदेव्या वदनं मुखमेवाज्जं कमलं तस्मै स्वस्यात्मनः सारं श्रेष्ठभूतं सौरभ्यं सुरमितां विश्राणयित्वेव प्रदायेव ॥ इति देवीवक्त्रपरिमलः ॥

व्यर्थीकृतां शक्तिमवेत्य पूषद्विषा विरक्तेर्निजहेतिहातुः ।

तूणीरमादाय मनोभवस्य विरञ्चिनास्या व्यरचीव नासा ॥ १२४ ॥

विरञ्चिना अस्यास्त्रिदश्या नासा व्यरचि चक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—मनोभवस्य स्मरस्य तूणीरं निषङ्गं रिक्तं शराश्रयमादाय गृहीत्वेव । किंभूतस्य मनोभवस्य । विरक्तेर्विरागान्मानसीयनिर्वेदात् हेतोर्हेतीनां निजप्रहरणानां हातुस्यजनशीलस्य । 'ओहाक् त्यागे' वृत् । हानं शीलो हाता तस्य हातुः जहातीत्येवंशीलस्य । किं कृत्वा । पूषद्विषा पूष-नाम्नः शत्रोः व्यापादकेन शंभुना । 'गजपूषपुरानङ्गकालान्धकमखासुहृत्' इति हैम्याम् । शक्तिं स्वस्य वीर्यं बलं सर्वायुधसामर्थ्यं वा व्यर्थीकृतां निष्फलां बन्ध्यां विनिमितामवेत्य ज्ञात्वा ॥

यन्नासिकां वीक्ष्य जगन्निरीक्ष्यामेतत्पुरः श्रीर्मम का ह्रियेति ।

शङ्केऽनिशं न्यकृतिकैतवेन स्वं गोप्यते कीरस्तुपाटिकाभिः ॥ १२५ ॥

कीरसुपाटिकाभिः शुक्लचक्षुभिः अहमेवं शङ्के विचारयामि । उत्प्रेक्ष्यते वा—इति हेतोर्हि या लज्जया अनिशं निरन्तरं दिवा रात्रावपि न्यकृतेर्नाचैःकरणस्य कैतवेन कपटेन कृत्वा स्वमात्मानं गोप्यते गुप्तीक्रियते छन्नो रक्ष्यते इव । इति किम् । एतत्पुनः एतस्या नासिकाया पुरस्तान्मम श्रीः का । न कापीत्यर्थः । किं कृत्वा । सम्यगलक्षणोपेततया जगन्निरीक्ष्यां त्रिजगज्जनैर्विलोकनीयां यस्या देव्या नासिकां वीक्ष्य ॥

मुक्त्वा द्विषः पञ्चमुखीं प्रति स्वान्पञ्चापि रोपान्स्मरधन्विनाजौ ।

यदङ्गवासौकसि किं निपङ्गो रिक्तो विमुक्तोऽजनि नासिकास्याः ॥ १२६ ॥

स्मरधन्विना विषमायुधधनुर्धरेण यस्या देवताया अङ्गं शरीरं तदेव वासार्थं निवसनकृते ओको गृहं तत्र रिक्तो निखिलविशिखव्यपगमनतोच्चारणरहितः अत एव विमुक्तः सदनान्तःस्थापितः निषङ्गः तूणीरः । उत्प्रेक्ष्यते—अस्याः शासनदेवताया नासा गन्धज्ञा किमजनि संजात इव । किं कृत्वा । द्विषः स्वशात्रवस्य ईश्वरस्य पञ्चानां मुखानां समाहारः पञ्चमुखी तां प्रति । शंभोः पञ्च वदनानि सन्ति कविसमये । ‘मृत्युंजयः पञ्चमुखोऽष्टमूर्तिः’ इति हैम्याम् । पञ्चसंख्याकानि मुखानि प्रति आजौ संप्रामे पञ्चापि पञ्चप्रमाणानपि । स्मरस्य पञ्चैव बाणास्तूणीरे नाधिकाः । यतः—‘बाणाः पञ्च रतिप्रियाः’ इति हैम्याम् । रोपान् बाणान् मुक्त्वा क्षिप्त्वा ॥

स्वमन्दिरे यद्गदनारविन्दे लावण्यलक्ष्म्या प्रकटीकृतेव ।

भ्रुकैतवात्कज्जलमुद्गिरन्ती प्रदीपलेखा विललास नासा ॥ १२७ ॥

नासा अर्थाजिनशासनदेवताया नासिका विललास शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मीयस्य मन्दिरे निवाससदने यस्या देव्या वदनारविन्दे मुखकमले लावण्यं लवणिमा विभ्रमविलासशोभातिशयः तस्य लक्ष्म्या श्रिया प्रकटीकृता उद्गोहिता प्रदीपलेखा स्नेहप्रिया कलिकेव । किं कुर्वन्ती । भ्रुवोलोचनयोरुर्ध्वयो रोमपद्मयोः कैतवाद्याजात्कजलमञ्जनमुद्गिरन्ती स्वशिखायाः सकाशात् भ्रूरयामिकाञ्जनं प्रादुःकुर्वन्ती ॥ इति नासिका ॥

निजप्रतिद्वन्द्विविधुंतुदस्य निरीय भाग्याभ्युदयेन वक्रात् ।

पुनस्तदातङ्कितचेतसेव यद्गण्डभूयं विधुनानुसस्त्रे ॥ १२८ ॥

विधुना चन्द्रेण यस्या देव्या गण्डभूयं गल्लभावः कपोलरूपता अनुसस्त्रे आश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते—पुनर्व्याघ्रव्य द्वितीयवारमपि तस्माद्विधुंतुदाद्वैरिणः सकाशादातङ्को भयं संजातोऽस्मिन्निस्त्रातङ्कितं भीतियुक्तं जातं चेतो मनो यस्यैवंविधेनेव । किं कृत्वा । निजस्यात्मनः निज आत्मीयो वा प्रतिद्वन्द्वी प्रत्यर्थी यो विधुंतुदो राहुस्तस्य वक्रान्मुखाद्भाग्यस्य प्राचीनाचीर्णमुकृतस्याभ्युदयेनविर्भावेन कथंचित्पूर्वपुण्यप्रकरपरिपाकवशेन कृत्वा निरीय निर्गल्य केनापि भाग्यसंभारोदयेन वैरिवदनाद्विनिर्गल्य पुनस्तदानननिष्पतनाशङ्कया विधुना यत्कपोलकायीबभूवे इत्यर्थः ॥

यदास्यतोऽभ्यर्थयितुं विभूषाभरं त्रियामादयितात्मदर्शौ ।

तन्नित्यसेवाविधये कपोलपालीद्वयीभावमिवाभजेताम् ॥ १२९ ॥

त्रियामादयितो निशापतिः चन्द्रस्तथा आत्मदर्शौ दर्पण एतौ द्वावपि तस्य देवीव-
दनस्य नित्यमहोरात्रमविरहितं सेवायाः पर्युपास्तेविधये प्रकाराय । करणार्थमित्यर्थः ।
कपोलपाल्योर्गण्डस्थल्योः । 'कपोलपालीजनितानुविम्बयोः' इति नैपथे । द्वयी द्वितयी
यामलं तस्या भावं तत्स्वरूपताम् । उत्प्रेक्ष्यते—अभजेताम् भेजतुरिव । किं कर्तुम् ।
यदास्यतो देवीवदनात् विभूषाभरं शोभासमुदयातिशयमभ्यर्थयितुं याचितुम् ॥

कपोलभित्तौ मृगनाभिपङ्क्तैश्चित्रीकृतोऽस्या मकरश्चक्रासे ।

यद्वेद्मनोऽदृश्यतनोरनङ्गतयात्मयोनेरिव लक्ष्म लक्ष्यम् ॥ १३० ॥

यस्याः शासनदेवतायाः कपोलो गण्डस्तद्रूपायां भित्तौ कुब्जे मृगनाभेः कस्तूरिकायाः
पङ्क्तैः कृत्वा चित्रीकृत आलेख्यतां प्रापिको मकरो मत्स्यविशेषः लोके 'मगर' इति
प्रसिद्धः । चक्रासे शोभते स्म । 'कपोलपत्रान्मकरात्सकेतुः' । 'कपोले पत्रवल्लीरुपान्मक-
रात्' इति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मयोनेर्मकरध्वजस्य लक्ष्यं जनदृग्गोचरं लक्ष्म
केतनं चिह्नमिव । किंभूतस्य आत्मयोनेः । यद्वेद्मनो यैव शासनदेवतैव वेद्म वासभ-
वनं यस्य । पुनः किंभूतस्य । अनङ्गतया अशरीरत्वेन शंभुना भस्मीकृत्य नामशेषीकृत-
त्वात् अदृश्या न नयनगोचरीभूता तनुः शरीरं यस्य ॥ इति कपोलः ॥

हिरण्यगर्भः प्रणयन्सुरीं तां विद्मोऽरविन्दं वदनीचकार ।

मरन्दलुभ्यन्नयनद्विरेफौ न चेद्भवेतां कथमन्यथास्मिन् ॥ १३१ ॥

वयमेवं विद्मः जानीमः उत्प्रेक्षामहे वा । हिरण्यगर्भः विधाता । 'हिरण्यगर्भो लो-
केशो नाभिपद्मात्मभूरपि' इति हैम्याम् । तां जिनशासनाधिष्ठात्रीं सुरीं प्रणयन् घट-
यन् सन्नरविन्दं प्रफुल्लपद्मं वदनीचकार तस्या मुखं कृतवान् । एवं चेन्न तर्हि अन्यथा
अपरप्रकारेण अरविन्दव्यतिरेकेण अस्मिन्नानननलिने मरन्दार्थं मकरन्दपानकृते लु-
भ्यन्तौ लोलुपीभवन्तौ नयने लोचने एव द्विरेफौ अमरौ कथं केन प्रकारेण भवेताम् ॥

स्फुरन्महोगोचरिताखिलाशौ भूपाविवास्या भवतः स्म नेत्रौ ।

अधारिषातां कथमातपत्रे पक्ष्मोपधे मूर्धनि चेन्न ताभ्याम् ॥ १३२ ॥

अस्याः सुधाशनसारङ्गलोचनाया नेत्रौ नयने भूपाविव राजानाविव भवतः स्म संजातौ ।
स्फुरता सर्वत्र प्रसरता महसा तेजसा गोचरिता स्वदर्शनविषयीकृता । दृष्टेयर्थः । अ-
खिलाः समस्ता अपि आशा दिशो याभ्यां तौ । स्फुरद्भिः प्रत्यर्थिपार्थिवसार्थासह्यभावं
प्रदधद्भिः महोभिः प्रतापैः । 'स राशिरासीन्महसाम्' इति नैपथे । 'महसां प्रतापानाम्'
इति तद्वृत्तिः । गोचरीकृता व्याप्ताः समग्रा अपि हरितो याभ्यां भूपाभ्याम् । एवं चेन्न
तर्हि राजभावमन्तरेण ताभ्यां नेत्राभ्यां मूर्धनि निजोपरिमस्तके पक्ष्मोपधेनेत्ररोमच्छ-
लादातपत्रे द्वे छत्रे कथं केन प्रकारेणाधारिषातां विधृते ॥

असूयया स्वीयपराभविष्णुं दृशं यदीयां प्रविभाव्य भृङ्गाः ।

स्पर्धा न दध्मोऽथ वयं कदाचिदितीव चक्रुः कजकोशपानम् ॥ १३३ ॥

भृङ्गा भ्रमराः इति हेतोः कजानां कमलानां कोशानां कुञ्जलानां सुकुलानां पानमर्थान्मकरन्दधीतिम् । 'धीतिः पाने' इति हैम्याम् । 'धेद पाने' अस्य धातोः रूपम् । धानं धयनं धीतिः । पानं कुर्वन्ति स्म कोशपानं शापथमिव चक्रुः कृतवन्तः । इति किम् । पूर्वं तु यदभूत्तु जातमेव । अद्यतनाहिनादारभ्य वयं त्वया समं स्पर्धां सहर्षं कदाचित्कस्मिन्नपि समये न दध्मो धारयामो न वहामो वा । स्पर्धा न कुर्म इत्यर्थः । किं कृत्वा चक्रुः । यदीयां देवीसंवन्धिनीं दृशं दृष्टिमसूयया भृङ्गाणां मानसे संस्पर्धितामवधार्य तदुद्भूतभूरितमेर्ष्यया कृत्वा स्वीयामात्मीयां पराभविष्णुं पराभवशीलां प्रविभाव्य समीक्ष्य ॥

सारैर्दलैः शासनदेवतायाः प्रणीय नेत्रे इव पद्मयोनिः ।

शेषैरशेषैर्दलैर्कार्षीत्पुनश्चकाराम्बुजखञ्जरीटान् ॥ १३४ ॥

पद्मयोनिर्ब्रह्मा । 'जनकाद्योनिजरुहजन्मभूसूत्राणादयः' इति हैम्याम् । पुनर्द्वितीयवारं शेषैरुद्भूतैरशेषैः सकलैः सारैरदलैर्कैर्वस्तुद्रवैः कृत्वा चकोरान् ज्योत्स्नाप्रियान् अम्बुजानि कमलकुवलयकुमुदादीनि सलिलजन्मानि तथा खञ्जरीटान् खञ्जनान् लोके 'गङ्गेटिवा' इति प्रसिद्धानकार्षात्करोति स्म । किं कृत्वा । प्रणीय निर्माय । कैः । कर्मतापन्नैः । उपप्रेक्ष्यते—सारैः सर्वविशिष्टभूतैः अशेषद्वेषिसंताननिर्मित्वैर्दलैरद्वैतद्रव्यैः शासनदेवताया जिनमताधिष्ठायिकायास्त्रिदश्याः किमु नेत्रे कर्णान्तायतलोचने इव कृत्वा ॥

जेया त्रिलोक्येव शरैस्त्रिभिस्तच्छेषा द्विकाण्डी किमिति स्मरेण ।

त्यक्ताथ सा पद्मभुवा कृतार्थीकृतेव देव्या नयने प्रणीय ॥ १३५ ॥

अथ पश्चान्मदनधनुर्धरेण त्यजनानन्तरं सा कृत्यवन्धत्वेन क्षिता त्यक्ता द्विवाणी द्वयोर्वाणयोः समाहार इति पद्मभुवा पङ्कजजन्मना विधिना देव्याः शासनदेवताया नयने त्रिलोचने प्रणीय विधाय कृतार्थीकृता सफला विहितेव । सा का । या द्वयोः काण्डयोः समाहारो द्विकाण्डी द्विशरी । 'वाणे पृषक्तविशिखौ खगगर्धपक्षाकाण्डाशुगप्रदरसायकपत्रवाहाः' इति हैम्याम् । वाणद्वयमित्यर्थः । इति हेतोः स्मरेण विषमायुधधानुष्केण त्यक्ता उज्जिता । इति किम् । त्रयाणां स्वर्गपातालभूमण्डललक्षणानां लोकानां समाहारत्रिलोकी एव त्रिभुवनमेव जेया पराभवनविषयीकरणीया । नापरा मम जेतुं योग्या त्रिलोकी । सा तु त्रिलोकी त्रिभिरेव पत्रिभिर्मया जेष्यते तर्हि शेषा पद्मसु शरेष्ववशिष्टा द्विवाणी किमिति किं कार्यार्थं केवलं भारभूतेव । न किञ्चित्कृत्यकृते तेनोज्जिता ॥

श्रिया सुधाभाक्परमाणुमध्या चक्षुर्विभूषामनुकर्तुकामैः ।

गुप्तं क्वचित्प्रावृषि खञ्जरीटैराराध्यते मन्त्र इवासदत्तः ॥ १३६ ॥

खञ्जरीटैः खञ्जनपक्षिभिः प्रावृषि वर्षाकाले क्वचित्कुत्रापि जनदृग्गोचरे स्थाने गुप्त-
मत एव यथा कश्चिन्न वेत्ति तथा छन्नं यथा स्यात्तथा । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तेन विश्वास-
प्राप्तेन केनचित् हितकृता सिद्धेन वा केनचन दत्तोऽतिप्रसन्नीभूत्वा विश्राणितो मन्त्रो-
ऽतिप्रभावयुक्तवर्णपाठमयः आराध्यते साध्यते इव । किं कर्तुकामैः खञ्जनैः । श्रिया
स्वशोभया वैभवेन सुधाभुजो देवस्य परमाणुवदतिसूक्ष्मत्वान्मध्यमुदरं यस्याः सा पर-
माणुमध्या । तस्याश्चक्षुषो लोचनस्य विभूषां लक्ष्मीं विलासमनुकर्तुं स्वेन सदृशीं विधातुं
कामोऽभिलाषो येषां तैः ॥

चन्द्राच्चकोरोऽमृतपानदम्भाद्यानस्थितो गन्धवहात्कुरङ्गाः ।

पितामहात्पङ्कजमासनस्थं यदक्षिलक्ष्मीमिव मार्गयन्ति ॥ १३७ ॥

चकोरजातिवाचित्वादेकवचनम् । ज्योत्स्नाप्रियप्रकरः चन्द्रात्सुधाकरादमृतपानस्य
दम्भात्कैतवात् यस्याः शासनदेवतायाः अक्षणोर्दृशोर्लक्ष्मीं सुषमां मार्गयतीव । उत्प्रे-
क्ष्यते—याचतीव यथा याने वाहने स्थितः सन् कुरङ्गो मृगो गन्धवहात्पवनात्सका-
शात् । ‘मातरिश्वा जगत्प्राणः पृषदश्चो महाबलः’ इति हैम्याम् । पृषत्कुरङ्गजातिविशेषः ।
तथा ‘कर्तुं शशाङ्काभिमुखं न भैम्या मृगं दृग्मभोरुहनिर्जितं यत् । अस्या विवाहाय
ययौ विदर्भीस्तद्वाहनस्तेन न गन्धवाहः ॥’ इति नैषधे । पवनात्सकाशात् । उत्प्रेक्ष्यते—
यदक्षिलक्ष्मीं मार्गयतीव । आसने विष्टरे तिष्ठतीत्यासनस्थं ब्रह्मणः सरोरुहासनत्वात् ।
‘भवान्तकृजगत्कर्तृसरोरुहासनाः’ इति हैम्याम् । पङ्कजं कमलं पितामहाजनकजनका-
द्विधातुः सकाशाद्देवीविलोचनविभ्रमं याचतीव ॥

स्मितं दिने निश्यपि नित्यरङ्गद्भृङ्गाङ्कितं स्याद्यदि पुण्डरीकम् ।

प्रस्पन्दमानान्तरतारिकां तत्तनोतु कुर्याद्दृशमेतदीयाम् ॥ १३८ ॥

यदि कदाचिद्देवतानुभावात् दिने वासरे निश्यपि रात्रावपि स्मितं विकाशं प्राप्तं
तथा नित्यं रात्रौ दिवा वा विरहितं रङ्गन्तौ मकरन्दं पातुमितस्ततो भ्रमणतश्चपलाय-
मानौ भृङ्गौ द्विरेफौ ताभ्यामङ्कितं कलितमेवंविधं पुण्डरीकं श्वेतकमलं स्यात्तत्तर्हि य-
थाकथञ्चित्तत्पुण्डरीकं प्रस्पन्दमाना प्रचलन्ती अन्तरे मध्ये तारिका कनीनिका यस्यां
तादृशीम् । एतदीयामेतस्या इमां त्रिदश्या देव्या इमां दृष्टिमनुकुर्यात् सदृशीभवेत् ।
अनुकारं विदध्यादित्यर्थः ॥ इति लोचनम् ॥

प्रीत्या च रत्या सह मीनकेतोरन्दोलनादोहदपूरणाय ।

विनिर्मिते नाभिभुवेव लीलादोले तदीये श्रवसी विभातः ॥ १३९ ॥

तदीये देवीसंबन्धिनी श्रवसी कर्णौ विभातः शोभेते । उत्प्रेक्ष्यते—नाभिभुवा पद्म-

जन्मना लीलादोले केलिप्रेङ्खोले विनिर्मिते स्वयंकृते इव । कस्मै । प्रीत्या च पुनः रत्या प्रीतिरतिनाम्न्यौ द्वे स्मरपत्न्यौ ताभ्यां स्त्रीभ्यां समं सह मीनकेतोर्मकरध्वजस्य दो-
लाभ्यां प्रेङ्खोलनाभ्यां यान्दोलना तस्या यो दोहदो वाञ्छा अभिलाषस्तस्य पूरणाय
संपादनाय परिपूर्तये । 'दोलान्दोलनदोहदोऽपि च चलद्वीचीचयैः पूर्यते' इति हंसाष्टके ॥

मोघीकृताशेषशरं गिरीशं प्रत्यर्थिनं पाशयितुं कथंचित् ।

अधारि पाशो विषमायुधेन यद्वेश्मनेव श्रवणच्छलेन ॥ १४० ॥

यद्वेश्मना या शासनदेव्येव वेदम वासमन्दिरं यस्य तादृशेन विषमायुधेन विषमा-
प्येकीभावभाजि । एकत्रिपञ्चसप्तसंख्यावन्ति विषमाण्युच्यन्ते । 'लक्ष्मैतत्सप्त गणा गो-
पेता भवति नेह विषमे जः ।' आर्याया एतल्लक्षणम् । अष्टमस्थाने गुर्वक्षरयुताश्चतुर्मा-
त्रिकाः । सप्त गणा भवन्ति । 'इहार्थायां विषमे एकत्रिपञ्चसप्तस्थाने जगणो न भवति'
इति वृत्तरत्नाकरे । तथा समानि तु द्विचतुःषडष्टादीनि तेनात्रार्थाद्विषमाणि पञ्चसंख्या-
कानि आयुधानि अर्थाद्वाणा यस्य । विषमाणि दुर्धराण्यसद्धानि वा शास्त्राणि यस्य ।
'विषमायुधो दर्पकः कामहृच्छया' इति हैम्याम् । स तेन स्मरेण श्रवणच्छलेन कर्णक-
पटेन । उत्प्रेक्ष्यते—पाश इवाधारि बन्धनग्रन्थिरिव धृतः । किं कर्तुम् । मोघीकृता
व्यर्था विहितास्तृणप्रायाः प्रणीता अशेषाः समस्ताः शरा अर्थान्मन्मथमार्गणा येन ता-
दृशं गिरीशं शंकरं प्रत्यर्थिनं स्वशत्रुं कथंचित्केनापि प्रकारेण कृत्वा पाशयितुं पाशसा-
त्कर्तुं पाशेन बद्धुं पाशे पातितं वा कर्तुम् ॥

धृतैकपाशेन पयोधिधाम्ना स्वाङ्कप्रभुत्वेन किमात्मयोनिः ।

स्पर्धी दधानः श्रवसी त्रिदश्याः पाशद्वयीमाकलयांचकार ॥ १४१ ॥

आत्मयोनिर्मेदनः त्रिदश्या जिनशासननिर्जनितम्बिन्याः श्रवसी कर्णावेव पाशद्वयीं
बन्धनग्रन्थियुगलीमाकलयांचकार विभर्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—धृत उपात्त एक एव पाशो
येन तादृशेन पयोधिधाम्ना जलनिधिनिकेतनेन वरुणेन । 'वरुणस्त्वर्णवमन्दिरः प्रचेताः'
इति हैम्याम् । समं सार्धं स्वस्यात्मनः अङ्कश्चिह्नं मकरः यादोऽपरनामा । 'अन्येऽपि
यादोभेदाः स्युर्वेद्वो मकरादयः' इति हैम्याम् । तस्य मकरस्य प्रभुत्वेन स्वामितया ।
'जलयादःपतिपाशिमेषनादाः' इति हेमचन्द्रवचनात् । स्वस्य तस्य च मकरप्रभुत्वेन
हेतुना स्पर्धी संघर्षमीर्थ्या वा दधानः बिभ्रदिव ॥ इति कर्णौ ॥

श्रियाभ्यभूयन्त मया समग्रा नवद्वयद्वीपमहीमहेलाः ।

इतीव वक्तुं जगतां स्म धत्ते सुरीश्रवःसङ्गि नवाङ्कयुग्मम् ॥ १४२ ॥

सुरी शासनसुधाशनवधूः श्रवसोः कर्णयोः सङ्गो मिलनं स्थितिर्वा यस्य तादृशं नवा-
ङ्कयोर्नवसंख्याकयोरङ्कयोर्मनविशेषयोः नवाङ्काकारयोर्युग्मं द्वन्द्वं धत्ते धारयति । उत्प्रे-
क्ष्यते—जगतां त्रिजगजनानां सुरासुरनराणामित्यमुना प्रकारेण वक्तुं कथंचित्तुमिव ।

इति किम् । यन्मया श्रिया खवपुर्लतारामणीयकलक्ष्म्या कृत्वा नवानां नवसंख्याकानां द्वयं युगलं ते च ते द्वीपाश्च । अष्टादशद्वीपे इत्यर्थः । ‘अष्टादशद्वीपनिखातयूपः’ इति रघुवंशे । तथा ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैपथे । तेषां मही पृथिवी तस्यास्त-
त्रोत्पन्ना वा महेलाः प्रमदाः अभ्यभूयन्त पराभवगोचरीचकिरे इतिकारणात्कर्णयाम-
लसंगतनवाङ्गद्वन्द्वं खवधूर्धते । ‘कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव नवा
नवाङ्गः’ इति नैपथे ॥ इति कर्णान्तर्गतनवसंख्याङ्कः ॥

स्वपृष्ठलभागतकेशकायस्वर्भाणुमालोक्य जिनाधिदेव्याः ।

त्रायस्व नौ वक्तुमितीन्दुभानू श्रुत्योर्विलम्बाविव कुण्डलाङ्गौ ॥ १४३ ॥

खयोः सूर्याचन्द्रमसात्मनोः पृष्ठे पश्चात्प्रदेशे लम् एवागतः पृष्ठस्थि एव समुपेतः
तादृक् । तथा केशा देवीचिकुरा एव कुन्तलरूप एव कायः शरीरं यस्य श्यामवर्णत्वा-
त्स्वर्भाणुविधुंतुदस्तं आलोक्य वैरित्वात्समर्थं विभाव्य । कुण्डले कर्णवेष्टिके एव अङ्गं
देहो ययोस्तादृशौ इन्दुभानू चन्द्रसूर्यौ । जयति पराभवति बाह्याबाह्यशत्रूनि जिनः
त्रिभुवनाधिनाथस्तस्याधिदेवी अधिष्ठात्री देवता तादृक्स्वामिसेवकतया तस्या अप्यचि-
न्त्यसामर्थ्यात् । श्रुत्योः श्रवणयोः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्येतद्वक्ष्यमाणं वक्तुं कथयितुमिव वि-
लम्बौ लगित्वा स्थितौ । अन्यावपि किञ्चित्स्वकृत्यं कथयितुकामौ स्वामिश्रवणयोर्विलगतः ।
इति किम् । हे त्रैलोक्याधीशाधिदेवते प्रबलपराक्रमे, त्वं नौ आवयोः प्रचण्डविधुंतुद-
दैत्यादस्मजिघांसोः सकाशात्रायस्व रक्षाजीवितप्रदानेन पालय ॥ इति कर्णकुण्डले ॥

नीलोत्पले कर्णयुगे चकासांबभूवतुः स्त्रैणमणेः सुराणाम् ।

युयुत्सुनी तन्नयनोत्पलाभ्यामिव प्रतिस्पर्धितयाभ्युपेते ॥ १४४ ॥

सुराणां निर्जराणां स्त्रीणां समूहः स्त्रैणं स्त्रीसमूहापेक्षया सुराणामित्यत्र बहुवचनं तस्य
तस्मिन्वा मणे रत्नभूतायाः शासनदेवतायाः कर्णयुगे कर्णयुगले नीलोत्पले इन्दीवरे। नीले
तु स्यादिन्दीवरम्’ इति हैम्याम् । चकासांबभूवतुः भातः स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यास्त्रिदश्या
नयने विलोचने एवोत्पले कुवलये ताभ्यां समं सार्धं प्रतिस्पर्धितया परस्पराद्वैतवैभवाति-
रेकोद्भूताभ्यसूयया कृत्वा युयुत्सुनी योद्धुकामे इवाभ्युपेते संमुखं समेते । अपरोऽपि
संस्पर्धोदयान्निसपत्नोपरि योद्धुमायाति ॥

अभ्यस्यतास्याः श्रवसी मनोभूर्धनुर्धरेणेव धृते शरव्ये ।

न चेद्भवेतां कथमन्तरालेऽनयोर्विनीले कमले कलम्बौ ॥ १४५ ॥

अभ्यस्यता त्रिजगज्जयकृते शराभ्यासं कुर्वता मनोभूर्धनुर्धरेणेव धृते शरव्ये
ष्कस्तेन अस्यास्त्रिदश्याः श्रवसी श्रवणावेव । उत्प्रेक्ष्यते—शरव्ये वेध्ये धृते मण्डिते
इव । एवं चेत् तर्हि अनयोः श्रवःशरव्ययोः अन्तराले मध्ये विनीले नीलवर्णे कमले
एतावता नीलोत्पले एव कलम्बौ बाणौ । ‘रोपाः कलम्बशरमार्गणचित्रपुङ्गाः’ इति

हैम्याम् । कथं केन कारणेन भवेताम् । किं च कुण्डले नीलोत्पले च नैषधे दमयन्ती-
परिणयनशृङ्गाराधिकारे दृश्येते । यथा—‘अवादि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्य या-
भ्यामभितः समन्वयः’ । तथा—‘धृतं च तं सोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशा-
विव’ । इत्यपि तत्रैव इदं द्वितयमप्यानीतमस्ति । किं चैवं ज्ञायते यत्कर्णकुण्डलमध्ये
एव नीलोत्पले भविष्यतः ॥ कर्णयोरुत्पले ॥

कटाक्षवाणान्प्रगुणान्प्रणीय स्वःसुभ्रुवो भूः कुटलीभवन्ती ।

धनुर्लता श्रीसुतधन्विनेव प्रसाधिताभात्रिजगज्जयाय ॥ १४६ ॥

कुटलीभवन्ती वक्रभावं भजन्ती स्वःसुभ्रुवो देव्या भ्रूखर्ध्वे रोमपद्धतिरभाद्वभौ । उत्प्रे-
क्ष्यते—श्रीसुतधन्विना मदनधातुष्केण त्रिजगत्स्त्रिभुवनस्य जयाय पराभवनाय वशी-
करणाय वा प्रसाधिता प्रगुणीकृता धनुर्लतेव कोदण्डयष्टिरिव । किं कृत्वा । कटाक्षान-
क्षिविकूणितानि नेत्रत्रिभागावलोकितानि एव वाणाः शरास्तान् प्रगुणान् सज्जान् प्र-
णीय विधाय ॥

उज्जृम्भवक्राम्बुजमन्दिराया लीलाप्रवालोऽयमिवेन्दिरायाः ।

उप्ता तया वा फलिनीव भालाजिरे विरेजे सुरसुभ्रुवो भूः ॥ १४७ ॥

सुरसुभ्रुवः सुपर्वप्रमदायाः भ्रूर्विरेजे भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—उज्जृम्भं विकसितं
यद्वक्रं देवीवदनं तदेवाम्बुजं जलरुहं कमलं तत्र मन्दिरं सदनं यस्यास्तादृश्या इन्दि-
राया लक्ष्म्याः अयं प्रत्यक्षलक्ष्यो लीलायै विलासार्थं प्रवालः तमालसालपल्लवः इव ।
बाध वा तया श्रिया भालाजिरे ललाटप्राङ्गणे उप्ता प्ररोपिता फलिनी प्रियङ्गुलतेव ।
‘प्रियङ्गुः फलिनी श्यामा’ इति हैम्याम् ॥

मिथो मुनीन्द्रेण मृधे मनोभूभूमीपतिर्जर्जरिताङ्गयष्टिः ।

सुपर्वसुभ्रुवमाश्मगर्भयष्टीमिवालम्बकृते ततान ॥ १४८ ॥

मनोभूभूमीपतिश्चेतोभववसुधाधिनाथः मदननृपः आलम्बकृते स्वस्यैवावलम्बनार्थ-
माधारविधानोपयोगार्थम् । उत्प्रेक्ष्यते—सुपर्वसुभ्रुवः सुराङ्गनायाः भ्रुवमेवाश्मगर्भयष्टीं
मरकतमणिमयदण्डम् । ‘मरकतं त्वश्मगर्भः’ इति हैम्याम् । ततान कृतवानिव । किं-
भूतः । मिथः परस्परं मृधे संग्रामे मुनीन्द्रेण हीरविजयसूरिणा जर्जरिता प्रहारैर्जर्ज-
रीकृता अङ्गयष्टिः शरीरं यस्य । जर्जरः पुमान् स्वशरीराधारकृते हस्ते यष्टिं गृह्णाति ।
किं चापरवर्णनादिराभस्याद्रन्थकृतामावर्णनीयनायको विस्मृतः स्यादिति तदन्तर्देवीव-
र्णनान्तराले मुनीन्द्रपदोपादानम् । यथा नैषधेऽपि कुण्डिनपुरवर्णनाधिकारे—‘पयसा
नैषधशीलशीतलम्’ इति तद्वृत्तावप्येतदेवोक्तमस्ति ॥

नीलारविन्देन पुरा प्रणीय दृशं त्रिदश्याः सरसीजजन्मा ।

किंजल्कवृन्दैर्वदने तदीयैः प्रणीतवान्भ्रूलतिकामिवास्याः ॥ १४९ ॥

सरसीजजन्मा पद्मनन्दनः विधाता अस्याः शासनदेवताया वदने मुखे तदीयैर्नाला-
रविन्दसंबन्धिभिः किंजल्कवृन्दैः केसरनिकरैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—भूलतिकां लोचनो-
र्ध्वरोमपद्धतिवर्तीं प्रणीतवान् कृतवानिव । ‘प्रणीतवाञ्छैशवशेषवानयं जगजयं तेन
च कोशमक्षयम्’ इति नैषधे । किं कृत्वा । पुरा प्रथमं नीलारविन्देनाविनिद्रदिन्दीवरेण
त्रिदश्या वर्हिर्मुखयोषितः दशं विलोचनं प्रणीय स्वयं विनिर्माय ॥

संस्पर्धिभावं दधता खलक्ष्म्या खण्डेन चण्डेतरकान्तिनेव ।

जग्राह योद्धुं त्रिदशीललाटं भ्रूयुग्मकायां करवालयष्टिम् ॥ १५० ॥

त्रिदशीललाटं शासनवृन्दारकसुन्दर्या भालं भ्रूयुग्मं भ्रुवोर्धामलमेव कायः शरीरं
यस्यास्तादृशीं करवालयष्टिं निकषोल्लिखितनिशितनिक्लिशलतां जग्राह गृह्यावभूव ।
उत्प्रेक्ष्यते—खलक्ष्म्या आत्मीयश्रिया समं संस्पर्धिभावं स्वैवभवोत्प्रेक्षितया स्पर्धनशी-
लतां दधता विभ्राणेन खण्डेनार्धेन । ‘खण्डेऽर्धशकलं भित्तम्’ इति हैम्याम् । चण्डा-
त्तीक्ष्णादितरा अपरा एतावता अनुष्णा शीता कान्तिः दीप्तिर्यस्य तादृशेन चन्द्रेण
सुधादीधितिना एतावताष्टमीतमीरमणेन समं सार्धं योद्धुं संग्रामं विधातुमिव । ‘खट्वा-
यत्ताखिला पृथ्वी’ इति वचनात् ॥ इति भ्रूयुगलम् ॥

स्मरं रतिप्रीतिनितम्बिनीभ्यां सहाभिषेक्तुं भुवनाधिपत्ये ।

यद्भालदम्भाज्जलजासनेन मन्ये प्रणिन्यै कलधौतपट्टः ॥ १५१ ॥

रतिप्रीतिनाग्रीभ्यां द्वाभ्यां नितम्बिनीभ्यां गृहिणीभ्याम् । ‘रतिप्रीती इव स्मरः’
इति प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ । ततो मदनस्य एका रतिः अपरा च प्रीतिः एते द्वे पत्न्यौ
ताभ्यां सार्धं राज्ञामभिषेकसमये राज्ञीनामप्यभिषेको दृश्यते । यथा ‘कृताभिषेका महिषी’
इति हैम्याम् । स्मरं कामं भुवनाधिपत्ये त्रैलोक्यराज्ये अभिषेक्तुमभिषेकं विधातुम्
अहमेवं मन्ये जानामि । उत्प्रेक्षे वा । जलजासनेन कमलविष्टरेण ब्रह्मणा यस्या देव्या
भालस्य ललाटस्य दम्भात्कपटात्कलधौतस्य काञ्चनस्य पट्टः पट्टकः प्रणिन्यै विनिर्मित इव ॥

त्रैलोक्यमाक्रम्य पराक्रमेण सुखं निषण्णस्य झषध्वजस्य ।

व्यधत्त हेमः फलकं विधातावष्टम्भनायेव तदीयभालम् ॥ १५२ ॥

विधाता ब्रह्मा । झषो मीनो ध्वजः केतनं चिह्नं वा यस्य स मत्स्यलाञ्छनो मदनः
अर्थान्मन्मथपृथ्वीपतिस्तस्यावष्टम्भनाय पृष्ठप्रदानार्थम् । उत्प्रेक्ष्यते—तदीयं शासनसु-
रीसंबन्धि भालं ललाटं हेमः काञ्चनस्य फलकं ‘पाटिञ्ज’ इति प्रसिद्धं व्यधत्त विद-
धाति स्म चकार । किंभूतस्य झषध्वजस्य । पराक्रमेण खपुरुषाकारेण निजभुजवीर्येण
कृत्वा त्रैलोक्यं तात्स्थ्यात्तद्यपदेशात्सुरलोकपातालभूमीलोकवासिनः सुरासुरनागनागर-
निकरानाक्रम्य पराभूय स्वाज्ञैकवशंवदीकृत्य सुखं सातेन निषण्णस्योपविष्टस्य आसीनस्य ॥

अधृष्यमन्विष्य यदीयभालं निजं प्रति स्पर्धितया जिगीषत् ।

अर्धामृतांशुः प्रपलाय्य पूषद्विषो जटाजूट इव प्रविष्टः ॥ १९३ ॥

अर्धामृतांशुः सामिसोमः प्रपलाय्य भयात्प्रणश्य । उत्प्रेक्ष्यते—पूषद्विषः पूषनाम्नो दानवेन्द्रस्य व्यापादकस्य शंभोर्जटाजूटे विकटकपर्दे प्रविष्ट इव निलीय तस्थिवानिव । किं कृत्वा । स्पर्धितया स्पर्धनशीलत्वेन निजमात्मानम् । निजशब्देन क्वाप्यात्माप्युच्यते । यथा नैषधे—‘श्रुत्वा निजं भीमजया निरस्तम्’ इति । जिगीषत् जेतुमिच्छत्पराभवितुं महिमानं तादृशं तदीयभालं देवललाललाटमेवाधृष्य मनाक् कलनीयम् कथमप्यभिवितुमशक्यं द्वेष्यं वैरिणमन्विष्य निरीक्ष्य ॥

अद्वैतलक्ष्मीकमवेक्ष्य यस्या भालं तदीयश्रियमीहमानः ।

विश्वंभरस्येव पदे लगित्वा तां मार्गयत्यर्भ इवार्धचन्द्रः ॥ १९४ ॥

अर्धचन्द्रः अष्टमीतमीप्रियतमः विश्वं भुवनमभीप्सितप्रदानेन पुष्पाति पुष्टं कुरुते । ‘डुभृज् धारणपोषणयोः’ अस्य धातोः प्रयोगः । विभक्तिं रक्षति प्रत्यूहव्यूहापहरणेन वा इति विश्वंभरः कृष्णः तस्य पदे चरणे विष्णुपदे लगित्वा विलग्य समाश्लिष्य । उत्प्रेक्ष्यते—तां विबुधवधूललाटलक्ष्मीं मार्गयतीव याचतीव । ‘अर्दति मार्गति मार्गयति याचति याचतेऽर्थनार्थाः स्युः’ इति क्रियाकलापे । क इव । अर्भ इव । यथा बालकः पितुः पदं विलग्य याचते । किं कुर्वीणः । तदीयां सुधाशनवधूगोधिसंबन्धिनीं श्रियं लक्ष्मीमीहमानः काङ्क्षन् । किं कृत्वा । यस्याः शासनसुमनःसुन्दर्या अद्वैतं न विद्यते द्वैतं युगलमेतत्सदृशमपरं वस्तु यस्याः सा तादृशी लक्ष्मीः सुषमा यस्य । स्वार्थे कः । अद्वैतलक्ष्मीकमसाधारणवैभवं भालमलीकमवेक्ष्य व्यालोक्ष्य ॥

यद्भाललक्ष्म्याधरितोऽर्धचन्द्रस्तत्साम्यमिच्छन्वरुणालयस्थाम् ।

अभीष्टदां कामदुषां प्रतीचीमस्तच्छलाद्याति किमारिरात्सुः ॥ १९५ ॥

यस्या भालस्यालिकस्य लक्ष्म्या विभूषयाधरितो हीनीकृतो धिक्कारभावं लम्बितोऽर्धचन्द्रः सामिकुमुदिनीदयितः प्रतीचीं पश्चिमां दिशमाशामस्तच्छलात्कपटात् याति गच्छति । उत्प्रेक्ष्यते—तत्साम्यं तस्य अप्सरोललाटस्य लक्ष्म्याः शोभायाः साम्यं सादृश्यमिच्छन् मनसि वाञ्छन् सन् वरुणस्य पश्चिमदिक्पतेरालये गृहे तिष्ठतीति तां वरुणवेश्मनिवासिनीमित्यर्थः । तथा अभीष्टमभिलषितं जनमनःकामितं ददातीति तादृशं कामं मनोरथं दोग्धि प्रपूरयतीति कामदुषा । ‘दुह प्रपूरणे’ अयं धातुः । तां कामधेनुमारिरात्सुः आराधयितुमिच्छुरिव । ‘हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः । भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥’ इति रघुवंशे । तथा ‘कतोः कृते जाग्रति वेत्ति कः कति प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः’ इति नैषधेऽपि ॥ इति देवीललाटस्थलम् ॥

यदाननश्रीजितमञ्जबन्धोः पद्मं करक्रोड इवैत्य बन्धोः ।

निर्वेदमावेदयते स्वमेतत्पुरो भ्रमद्भृङ्गगणकणेन ॥ १९६ ॥

पद्मं कमलं भ्रमन्तो मधुपानकृते समेख लोलुभतचेतस्ततो भ्राम्यन्तो ये भृङ्गा भ्र-
मरास्तेषां गणस्य समुदायस्य कणेन गुञ्जारवेण कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्य स्वबन्धोः
सूर्यस्य पुरोऽग्रे स्वमात्मीयं निर्वेदं पराभवोद्भूतभूयस्तरखेदं निजावमाननादुःखं वा
आवेदयते कथयतीव । किं कृत्वा । बन्धोः स्वमित्रस्य । अवजबन्धोररविन्दसुहृदो भानोः
करकोडे हस्तोत्सङ्गे एत्यागस्य । ‘चक्राब्जाहर्बान्धवः सप्तसप्तिः’, तथा ‘मित्रो ध्वान्ता-
रातिरब्जांशुहस्तः’ इतीदं द्वयमपि हैम्याम् । तथा ‘स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्’ इति
नैषधे । किंभूतं पद्मम् । यस्या देव्या आननस्य स्वपरिस्पर्धिपराभावुकवैभववदनस्य
श्रिया शोभया जितं पराभूतम् ॥

वक्त्रं त्रिदश्या विजितात्मदर्शनिशामणिं प्रेक्ष्य हिरण्यगर्भः ।

सृष्टिं सिसृक्षुः किमदोनुरूपां विनिर्मिमीतेऽम्बुजहस्तलेखम् ॥ १५७ ॥

हिरण्यगर्भो ब्रह्मा अम्बुजैः सकलकमलकलापैः कृत्वा हस्तलेखम् ‘हस्तोलक’ इति
प्रसिद्धम् । विनिर्मिमीते कुरुते । उत्प्रेक्ष्यते — अदोनुरूपाम् अस्या गीर्वाणगृहिणीवदनार-
विन्दसदृशीम् । ‘अदःसमित्संमुखवैरियौवतशुटद्भुजा कम्बुमृणालहारिणी’ इति नैषधे
समासान्तोऽदृशब्दः । सृष्टिं रचनां सिसृक्षुः स्रष्टुमिच्छुः कर्तुं काङ्क्षन्निव । किं कृत्वा ।
विजिताः स्ववैभवाभिभूता आत्मदर्शा दर्पणा निशामणयश्चन्द्रमसो येन तादृशं त्रिदश्याः
शासनसुररमण्या वक्त्रं वदनं प्रेक्ष्य हृष्टा । वक्त्रशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गयोः । ‘नेत्रं वक्त्रप-
वित्रपत्रसमरोशीरान्धकारावरः’ इति लिङ्गानुशासने ॥

मन्ये कुमुद्वन्धुरिदं मृगाङ्गमुखीमुखीभूय सुखी बभूव ।

नियत्र्य यत्नेन तमः खदस्युः प्राक्षेपि पृष्ठे स्फुटकेशकायः ॥ १५८ ॥

अहं ग्रन्थकृदेवममुना प्रकारेण मन्ये विचारयामि । यत्कुमुद्वन्धुः कैरवसुहृच्चन्द्रमाः
इदंमृगाङ्गमुखीमुखीभूय इयं चासौ मृगाङ्गमुखी च कौमुदीदयितवदना च तस्या सुखी-
भूय वदनभावं प्रतिपद्य । ‘इदं नृपप्रार्थिभिरुज्जितोऽर्थिभिः’ इति नैषधे । अत्रेदंशब्दः
समासान्तः । सुखी बभूव सातवान् निश्चिन्तो वा संजातः । यद्यस्मात्कारणात् स्फुटः
प्रकटो दृश्यमानत्वात्केशा एव देवीशिरश्चिकुरा एव कायो देहो यस्य तादृशः । खद-
स्युर्निजप्रत्यनीकस्तमोविधुतुदः नियत्र्य बद्धा पृष्ठे स्वपृष्ठप्रदेशे प्राक्षेपि प्रक्षिप्तः । धम्मि-
लस्य विधुतुदोपमानत्वं काव्यकल्पलतायाम् । ‘धम्मिल्लः संयताः केशाः’ इति हैम्याम् ।
एतदेव महत्सुखम् । यत्स्वद्विषन्नभिभूय नियत्र्य रक्ष्यते ॥ इति देवीवदनम् ॥

अहो महीयान्महिमा सुपर्वसारङ्गचक्षुश्चिकुरच्छटायाः ।

निर्जित्य यस्मात्पशुनापि पश्चादचीकरद्या चमरान्प्रतीपान् ॥ १५९ ॥

अहो इत्याश्चर्यं । यथा नैषधे — ‘अहो अहोभिर्महिमा हिमामगेऽप्यभिप्रपेदे प्रथितां
स्मरार्दिताम्’ । सुपर्वसारङ्गचक्षुषः सुरहरिणक्षणायाः शासनदेव्याः चिकुरच्छटायाः कु-

न्तलकलापस्य । 'जहास तस्याः कुटिलाः कचच्छटाः' इति नैषधे । छटाशब्देन श्रोणी । 'भटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटाः' इत्यपि नैषधे । 'अश्वश्रोणी' इति तद्वृत्तिः । महीयान-
तिशयेन महानतिशायी महिमा माहात्म्यं दृश्यते । यस्मात्कारणात् या चिकुरच्छटा
प्रतीपान् स्वश्रीप्रतिस्पर्धितया प्रतिकूलीभूतान् चमरान् बालव्यजनानि निजित्य निजौ-
जसा पराभूय पशुना तिरश्चापि चमरधेन्वापि कथ्यी । न किञ्चिदर्थं पशुशब्दातिर्यङ्मात्रे
अज्ञानेऽपि । तथा 'पशुस्तिर्यक्' इति हैम्याम् । तथा नैषधे—'पशुनाप्यपुरस्कृतेन
तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः' इति । पार्श्वं पश्चाद्भागे । उपहास्यवाक्यमेतत् । अचीकरत्
कारयति स्म ॥

स्पर्धां विधत्ते सुमनःसुकेशीकेशच्छटाभिर्यदसौ कलापः ।

अनौचितीयं तमितीव केकी जहाति कोपादपि पक्षभूतम् ॥ १६० ॥

केकीमयूरः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः पक्षभूतमपि सहायभूतमपि । 'पक्षः सहायः पिच्छं
च,' तथा 'पक्षो मासार्धे पिच्छे च सहाये विरोधे । देहाङ्गे राजकुञ्जरे' इत्यनेकार्थः । कलातं
शिखण्डकं कोपात्क्रोधातिरेकाज्जहाति त्यजतीव । इति किम् । यदसौ मम शोभाकारी प-
क्षभूतोऽपि मात्सर्यासूयादिदोषनिर्मुक्तं मनो मानसं यस्यास्तादृश्याः सुकेश्याः । केशल-
क्षणेन कृत्वा सर्वाण्यप्यङ्गलक्षणानि सूचितानि स्त्रियाः । तत्त्वतस्तु शासननायिकायाः
केशच्छटाभिः कुन्तलमालिकाभिः सार्धं स्पर्धां संघर्षं विधत्ते करोति इयमनौचिती न
योग्यता । 'सानौचिती चेत्तसि नश्चकास्तु' इति नैषधे । एतन्नौचित्यमिति कारणात्त्यागः ॥

श्रीस्पर्धया यच्चिकुरान्विजेतुं व्यवस्यमानान्स्वमवेत्य बर्हः ।

त्रासात्प्रणश्यन्निव नीलकण्ठः पृष्ठे प्रविष्टः शरणाभिलाषी ॥ १६१ ॥

बर्हः कलापः त्रासात् रात्रौ आकस्मिकातङ्कात् । 'त्रासस्त्वाकस्मिकं भयम्' इति है-
म्याम् । प्रणश्यन् प्रपलायमानः सन् शरणमात्मत्राणमभिलषतीत्येवंशीलः नीलकण्ठो
महादेवो मयूरश्च । तस्य पृष्ठे प्रविष्ट इव । नीलकण्ठं शरणीचकारेत्यर्थः । किं कृत्वा ।
श्रिया शोभया लक्ष्म्या वा या परस्पर्धा संघर्षः तेन कृत्वा स्वमात्मानं विजेतुं पराभ-
वितुं व्यवस्यमानानुद्यमं कुर्वाणान्प्रगल्भमानान्देवीकेशान्कुन्तलानवेत्य ज्ञात्वा ॥ इति
केशपाशः ॥

सीमन्तदण्डः सुरपद्मदृष्टेरुन्मादयामास मनांसि यूनाम् ।

सहावरोधैश्चरतः सरस्य व्यक्तीभवन्ती पदवी किमेषा ॥ १६२ ॥

सुरपद्मदृष्टेर्वृन्दारकारविन्दलोचनायाः सीमन्तः केशवर्त्मा स एव दण्डाकृतित्वादण्डः ।
द्वाभ्यां कृत्वा यदावध्यन्ते तदा मध्ये केशरहिता दण्डाकृतिर्लक्ष्यते । सैव सीमन्तः
'सर्दधो' इति लोकप्रसिद्धः । परं स्त्रीणामेव न पुंसाम् । सौराष्ट्रसर्जरादिषु । परं ला-
टदेशादिषु श्रूयते । यथा लाटदेशवासिना श्रीहर्षकविना नैषधे समानीतोऽस्ति 'द्विफालव-
द्वाश्विकुराः शिरःस्थितम्' इति । द्वाभ्यां फालभ्यां च संयम्यमाने केशपाशे मध्ये

पद्मं कमलं भ्रमन्तो मधुपानकृते समेले लोलुभतयेतस्ततो भ्राम्यन्तो ये भृङ्गा भ्र-
मरास्तेषां गणस्य समुदायस्य कणेन गुञ्जारवेण कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्य स्वबन्धोः
सूर्यस्य पुरोऽग्रे स्वमात्मीयं निर्वेदं पराभवोद्भूतभूयस्तरखेदं निजावमाननादुःखं वा
आवेदयते कथयतीव । किं कृत्वा । बन्धोः स्वमित्रस्य । अवजबन्धोरविन्दसुहृदो भानोः
करकोडे हस्तोत्सङ्गे एत्यागस्य । ‘चक्राब्जाहर्बान्धवः सप्तसप्तिः’, तथा ‘मित्रो ध्वान्ता-
रातिरब्जांशुहस्तः’ इतीदं द्वयमपि हैम्याम् । तथा ‘स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्’ इति
नैषधे । किंभूतं पद्मम् । यस्या देव्या आननस्य स्वपरिस्पर्धिपराभावुकवैभववदनस्य
श्रिया शोभया जितं पराभूतम् ॥

वक्रं त्रिदश्या विजितात्मदर्शनिशामर्णिं प्रेक्ष्य हिरण्यगर्भः ।

सृष्टिं सिसृक्षुः किमदोनुरूपां विनिर्मिमीतेऽम्बुजहस्तलेखम् ॥ १९७ ॥

हिरण्यगर्भो ब्रह्मा अम्बुजैः सकलकमलकलापैः कृत्वा हस्तलेखम् ‘हस्तोलक’ इति
प्रसिद्धम् । विनिर्मिमीते कुरुते । उत्प्रेक्ष्यते—अदोनुरूपाम् अस्या गीर्वाणगृहिणीवदनार-
विन्दसदृशीम् । ‘अदःसमित्संमुखवैरियौवतमृटद्भुजा कम्बुमृणालहारिणी’ इति नैषधे
समासान्तोऽदृशशब्दः । सृष्टिं रचनां सिसृक्षुः स्मृष्टुमिच्छुः कर्तुं काङ्क्षन्निव । किं कृत्वा ।
विजिताः स्ववैभवाभिभूता आत्मदर्शा दर्पणा निशामणयश्चन्द्रमसो येन तादृशं त्रिदश्याः
शासनसुररमण्या वक्रं वदनं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । वक्रशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गयोः । ‘नेत्रं वक्रप-
वित्रपत्रसमरोशीरान्वधकारावरः’ इति लिङ्गानुशासने ॥

मन्ये कुमुद्वन्धुरिदंमृगाङ्गमुखीमुखीभूय सुखी बभूव ।

नियन्त्रय यत्नेन तमः स्वदस्युः प्राक्षेपि पृष्ठे स्फुटकेशकायः ॥ १९८ ॥

अहं ग्रन्थकृदेवममुना प्रकारेण मन्ये विचारयामि । यत्कुमुद्वन्धुः कैरवसुहृच्चन्द्रमाः
इदंमृगाङ्गमुखीमुखीभूय इयं चासौ मृगाङ्गमुखी च कौमुदीदयितवदना च तस्या मुखी-
भूय वदनभावं प्रतिपद्य । ‘इदं नृपप्रार्थिभिरुज्जितोऽर्थिभिः’ इति नैषधे । अत्रेदंशब्दः
समासान्तः । सुखी बभूव सातवान् निश्चिन्तो वा संजातः । यद्यस्मात्कारणात् स्फुटः
प्रकटो दृश्यमानत्वाकेशा एव देवीशिरश्चिकुरा एव कायो देहो यस्य तादृशः । स्वद-
स्युनिजप्रत्यनीकस्तमोविधुंतुदः नियन्त्रय बद्धा पृष्ठे स्वपृष्ठप्रदेशे प्राक्षेपि प्रक्षिप्तः । धम्मि-
ल्लस्य विधुंतुदोपमानत्वं काव्यकल्पलतायाम् । ‘धम्मिल्लः संयताः केशाः’ इति हैम्याम् ।
एतदेव महत्सुखम् । यत्स्वद्विषन्नभिभूय नियन्त्रय रक्ष्यते ॥ इति देवीवदनम् ॥

अहो महीयान्महिमा सुपर्वसारङ्गचक्षुश्चिकुरच्छटायाः ।

निर्जित्य यस्मात्पशुनापि पश्चादचीकरद्या चमरान्प्रतीपान् ॥ १९९ ॥

अहो इत्याश्चर्ये । यथा नैषधे—‘अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रथितां
स्मरार्दिताम्’ । सुपर्वसारङ्गचक्षुषः सुरहरिणेषणायाः शासनदेव्याः चिकुरच्छटायाः कु-

न्तलकलापस्य । 'जहास तस्याः कुटिलाः कचच्छटाः' इति नैषधे । छटाशब्देन श्रोणी । 'भटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटाः' इत्यपि नैषधे । 'अश्वश्रोणी' इति तद्वृत्तिः । महीधाम-
तिशयेन महानतिशायी महिमा माहात्म्यं दृश्यते । यस्मात्कारणात् या चिकुरच्छटा
प्रतीपान् स्वश्रीप्रतिसर्पितया प्रतिकूलीभूतान् चमरान् बालव्यजनानि निजिल निजौ-
जसा पराभूय पशुना तिरश्चापि चमरधेन्वापि कर्ष्या । न किञ्चिदर्थं पशुशब्दातिरिक्तात्रे
अज्ञानेऽपि । तथा 'पशुस्तिर्यक्' इति हैम्याम् । तथा नैषधे—'पशुनाप्यपुरस्कृतेन
तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः' इति । पार्श्वं पश्चाद्भागे । उपहास्यवाक्यमेतत् । अचीकरन्
कारयति स्म ॥

स्पर्धां विधत्ते सुमनःसुकेशीकेशच्छटाभिर्यदसौ कलापः ।

अनौचितीयं तमितीव केकी जहाति कोपादपि पक्षभूतम् ॥ १६० ॥

केकी मयूरः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः पक्षभूतमपि सहायभूतमपि । 'पक्षः सहायः पिच्छं
च,' तथा 'पक्षो मासार्धं पिच्छे च सहाये विरोधे । देहाङ्गे राजकुञ्जरे' इत्यनेकार्थः । कलातं
शिखण्डकं कोपात्क्रोधातिरेकाज्जहाति त्यजतीव । इति किम् । यदसौ मम शोभाकारी प-
क्षभूतोऽपि मात्सर्यासूयादिदोषनिर्मुक्तं मनो मानसं यस्यास्तादृश्याः सुकेश्याः । केशल-
क्षणेन कृत्वा सर्वाण्यप्यङ्गलक्षणानि सूचितानि स्त्रियाः । तत्त्वतस्तु शासननायिकायाः
केशच्छटाभिः कुन्तलमालिकाभिः सार्धं स्पर्धां संघर्षं विधत्ते करोति इयमनौचिती न
योग्यता । 'सानौचिती चेत्तसि नश्वकास्तु' इति नैषधे । एतन्नौचित्यमिति कारणान्त्यागः ॥

श्रीस्पर्धया यच्चिकुरान्विजेतुं व्यवस्यमानान्स्वमवेत्य बर्हः ।

त्रासात्प्रणश्यन्निव नीलकण्ठः पृष्ठे प्रविष्टः शरणाभिलाषी ॥ १६१ ॥

बर्हः कलापः त्रासात् रात्रौ आकस्मिकातङ्गात् । 'त्रासस्तवाकस्मिकं भयम्' इति है-
म्याम् । प्रणश्यन् प्रपलायमानः सन् शरणमात्मन्नाणसभिलषतीत्येवंशीलः नीलकण्ठो
महादेवो मयूरश्च । तस्य पृष्ठे प्रविष्ट इव । नीलकण्ठं शरणीचकारेत्यर्थः । किं कृत्वा ।
श्रिया शोभया लक्ष्म्या वा या परस्पर्धा संघर्षः तेन कृत्वा स्वमात्मानं विजेतुं पराभ-
वितुं व्यवस्यमानानुद्यमं कुर्वाणान्प्रगल्भमानान्देवीकेशान्कुन्तलानवेत्य ज्ञात्वा ॥ इति
केशपाशः ॥

सीमन्तदण्डः सुरपद्मदृष्टेरुन्मादयामास मनांसि यूनाम् ।

सहावरोधैश्चरतः सरस्य व्यक्तीभवन्ती पदवी किमेषा ॥ १६२ ॥

सुरपद्मदृष्टेर्वन्दारकारविन्दलोचनायाः सीमन्तः केशवर्त्मा स एव दण्डाकृतित्वादण्डः ।
द्वाभ्यां कृत्वा यदावध्यन्ते तदा मध्ये केशहिता दण्डाकृतिर्लक्ष्यते । सैव सीमन्तः
'सईधो' इति लोकप्रसिद्धः । परं स्त्रीणामेव न पुंसाम् । सौराष्ट्रसर्जरादिषु । परं ला-
टदेशादिषु श्रूयते । यथा लाटदेशवासिना श्रीहर्षकविना नैषधे समानीतोऽस्ति 'द्विफालव-
द्वाश्चिकुराः शिरःस्थितम्' इति । द्वाभ्यां फालाभ्यां च संयम्यमाने केशपाशे मध्ये

सीमन्तः स्यादेवेति । स देवीसीमन्तो यूनां वयःस्थानां तरुणानां मनांसि सस्मरवि-
कारचेतांसि उन्मादयामास । ‘उन्मादश्चित्तविप्लवः’ । तद्युक्तानि कृतवानित्यर्थः । उत्प्रे-
क्ष्यते—अवरोधैरन्तःपुरपुरंध्रीभिः रतिप्रीतिनान्यौ द्वे पत्न्यौ प्रसिद्धे स्तः, परमन्या
अपि भाविन्यः एवमवसीयते कविसमयानुसारेण । यदुक्तं नैपथे—‘सखीशतानां सर-
सैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्ती । विलोकयामास सभां स भैम्याः’ इति । चरतः
अत्र देवीशिरसि संचरतः सतः अनङ्गरङ्गाभिधाने शास्त्रे प्रोक्तमस्ति यत्पञ्चदशसु ति-
थिषु स्त्रीणां पञ्चदशसु शिरःप्रभृतिषु स्थानकेषु स्मरः संचरति इति । स्मरस्य कामस्य
व्यक्तीभवन्ती प्रकटा जायमाना एषा केशवर्त्मलक्षणा पदवी मार्ग इव । यतो घनजल-
संचारेण अमार्गो मार्गः स्यादिति प्रत्यक्षं लक्ष्यते ॥

प्रेक्ष्य स्वदाहे ज्वलितास्त्रमालां जेयं कथं विश्वमिदं मयेति ।

पितामहोऽदाम्नमदनस्य तस्याः सीमन्तदण्डं विमनायितस्य ॥ १६३ ॥

पितामहो ब्रह्मा पितुः पिता च इत्यमुना प्रकारेण विमनायितस्य विरुद्धमना इवाच-
रितस्य विमनस्कीभूतस्य मदनस्य । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या मन्युभुङ्गानिन्याः सीमन्तमेव
दण्डं प्रतिभटकोटिकटकाप्रतिहृतिप्रचण्डदण्डरत्नमदादिव पौत्रं प्रेम्णा प्रदत्तवानिव । इति
किम् । स्वदेहदाहे शंभुना कोपानलेनात्मशरीरभस्मीकरणसमये ज्वलितां दग्धां भ-
सितीभूतामस्त्रमालां प्रहरणपटलीं प्रेक्ष्य निर्णाय । अथो भस्मीभूताशेषास्त्रसंघातेन
मया विजयिना मदनेन विश्वं त्रिभुवनं कथं केन प्रकारेण जेयं जेतव्यं पराभवनीयं
वशीकर्तव्यं वा इति ॥

सिन्दूरपूरप्रचितेन तस्याः सीमन्तदण्डेन शिरोरुहाली ।

विद्युद्विलासेन पयःप्रपूर्णा पयोसुचां पङ्क्तिरिव व्यराजत् ॥ १६४ ॥

पूरशब्दोऽत्र लक्षणया समूहवाची । सिन्दूरपूरेण शृङ्गारभूषणगणेन प्रचितेन व्यासेन ।
सिन्दूरपूरितेनेत्यर्थः । सीमन्तदण्डेन कृत्वा तस्या देवतायाः शिरोरुहाली कचच्छटा
व्यराजद्भाति स्म । का केनेव । पङ्क्तिर्विद्युद्विलासेन । यद्वा पयोभिः पानीयैः प्रपूर्णानां
निर्भरं श्रुतानां पयोसुचां वर्षन्मेघानां मालिका तडिद्विलसितेन कृत्वा विद्युद्विजृम्भितेन
कृत्वा विराजते ॥ इति सीमन्तः ॥

प्रफुल्लमल्लीकुसुमावनद्धयत्केशपाशः स्फुरयांवभूव ।

अपूजि पुष्पैरिव चामरादिद्विषज्यस्यावसरे दिगीशैः ॥ १६५ ॥

प्रफुल्लैर्विकसितैर्मल्लया मल्लिकाया विचकिलस्य । ‘मल्लीभिः प्रतिमल्लीभावं दधती वि-
भाति भावत्की’ इति राजवर्णने । कुसुमैः पुष्पैरवनद्धो ग्रथितो यस्यां मरुत्सीमन्तिन्यां के-
शपाशः स्फुरयांवभूव विभ्राजते स्म । अत्र स्वार्थे जिः केवलार्थकथयित्री । उत्प्रेक्ष्यते—
चामरादीनाम् । आदिशब्दात्कलापिकलापविधुतदक्षपाणानां ग्रहः । द्विषतां परस्परस्पर्धा-

विर्भावाद्द्वैरिणामेव विजयस्य पराभवनस्यावसरे प्रस्तावे दिगीशैस्तद्वैरिविजयव्यालोकनोद्भू-
ताद्वैताश्चर्यैरशेषाशापालकैः पुष्पैः कुसुमैः कृत्वा अपूजि पूजितोऽभ्यर्चित इव ॥

संदर्भितान्तर्मुचकुन्दमल्लीकचच्छटायाः कपटादमुष्याः ।

वक्त्रेन्दुना मैत्र्यविधितस्येव ताराङ्कितेयं कुहुराजगाम ॥ १६६ ॥

संदर्भो रचनाविशेषः संजातो यासां ताः संदर्भिता प्रथिता अन्तर्मध्ये मुचकुन्दाः
कुन्ददुमास्तथा मल्लयो नवमल्लिका । ‘मल्लिका स्याद्विचकिलः सप्तला नवमालिका’ इति है-
म्याम् । अर्थात् तद्विकसितविकचकुसुमानि यस्यां तादृश्याः कचच्छटायाः कुन्तल-
मालिकायाः कपटाद्व्याजादियं दृश्यमाना कुहुरमावास्या आजगाम समागता । किंभूता ।
ताराङ्किता ग्रहनक्षत्रतारककलिता । उत्प्रेक्ष्यते—अमुष्या अनिमिष्या वक्त्रेन्दुना वदन-
कुमुदिनीदयितेन समं सार्धं मैत्र्यं सौहार्दं तस्य विधितसया विधातुमिच्छया एव कर्तुं
काङ्क्षयेव ॥ इति केशपाशे कुसुमरचना ॥

वेणीकृपाणा भुजकर्णपाशा नासानिषङ्गा नयनाशुगा च ।

भ्रूकामुका कान्तनितम्बचक्रा स्मरालशालेव सुरी चक्रासे ॥ १६७ ॥

सुरी शासनदैवतमत्तेभगमना चक्रासे दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरस्य मधुसारथे-
रस्त्राणामायुधानां शाला सदनमिव । आयुधान्येव दर्शयति—किं वेणी कबरी सैव कृ-
पाणश्चन्द्रहासास्तिर्यस्याम् । पुनः किंभूता । भुजौ बाहू तथा कर्णौ श्रवणावेव पाशा बन्धन-
ग्रन्थयो यस्याम् । पुनः किंभूता । नासा गन्धज्ञा सैव निषङ्गतूणीरो यस्याम् । पुनः
किंभूता । नयने लोचने एवाशुगौ वाणौ यस्याम् । पुनः किंभूता । भ्रूरेव कामुर्कं श-
रासनं धनुर्यस्याम् । पुनः किंभूता । कान्तो मनोज्ञो वैरिणां कस्य सुखस्यान्तोऽवसानं
यस्मात्तादृशो वा नितम्ब आरोहः एव चक्रं रथाङ्गं यस्याम् । ‘रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे
गुणं च लावण्यजलं च बाला । तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुः विभर्ति मन्ये सहकारि चक्रम् ॥’
इति नैषधे नितम्बस्य चक्रोपमानम् । ‘स्तनकलशकारकस्य तारुण्यकुलालस्य यौवनकु-
म्भकारस्य बाला दमयन्ती सहकारिकारणानां चक्रं समूहं विभर्ति इत्येवमहं शङ्के । का-
रणान्याह—रोमावलेव चक्रभ्रामको दण्डः नितम्ब एव चक्रं गुणं सूत्रं स्वाभाविकस्त्री-
गुणव्रजश्च लावण्यमेव जलम्’ इति तद्वृत्तिः ॥

विभूषणैः स्वर्णमणिप्रणीतैर्वसन्तलक्ष्मीरिव नैकपुष्पैः ।

विदिद्युते सा मलयानलैरिवामोदैर्दिशः सौरभयन्त्यहर्निशम् ॥ १६८ ॥

सा आदितेयवासतेया वरवदना विदिद्युते विशेषेण द्योतते स्म । कैः । स्वर्णं जाल्य-
जाम्बूनदं मणयो नैकविधरत्नानि तैः प्रणीतैर्वटितैर्विभूषणैराभूषणैः । केव । वसन्तलक्ष्मी-
रिव यथा सुरभिसमयश्रीः । ‘वसन्त इष्यः सुरभिः पुष्पकालो बलाङ्गकः’ इति वसन्तना-
मानि हैम्याम् । नैकैरनेकप्रकारैर्विविधजातीयैः पुष्पैः कुसुमैः कृत्वा दीप्यते । किं कु-

र्वन्ती । आमोदैः स्वाभाविकशरीरसुरभिताभिर्वदनारविन्दामोदैर्वा दिशः सर्वा अपि ककुभः
अहर्निशं नित्यं सौरभयन्ती सौरभकलिताः कुर्वन्ती । सुरभेर्भावः सौरभम्, सौरभयुक्तां
करोतीति सौरभयति । सुगन्धयन्ती । कैरिव । मलयानिलैरिव । यथा मधुश्रीर्दाक्षिणा-
त्यमारुतैः कृत्वा दिशः सुगन्धीकरोति ॥

दिव्यैर्दुकूलभरणैर्विभूषिता संपूरयन्ती जगतामपीहितम् ।

आकृष्य भाग्येन विभोर्मरुलता नीता पुरस्तादिव देवता बभौ ॥ १६९ ॥

देवता शासनदेवी बभौ शुशुभे । किंभूता । दिव्यैर्देवतासंबन्धिभिर्दुकूलैः क्षौभैः तथा
आभरणैः कनकमणिविभूषणैः कृत्वा विभूषिता अलंकृता । किं कुर्वन्ती । जगतां
जगजनानां विशेषतो जिनशासनैकतानलीनमनसां भव्यलोकानामीहितमैहिकयावन्म-
नःकामितं संपूरयन्ती पूर्णकुर्वन्ती । इच्छापूर्णपर्यन्तं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
विभोर्गुरोर्भाग्येन सुकृतेन आकृष्य पुरस्ताद्वीता मरुलता सुरवीरुत्कल्पवल्लीव ॥

निखिलदिविषद्योषालेखाकुमुद्वनकौमुदी

श्रिततनुलता तद्भाग्यश्रीरिवामरसुन्दरी ।

नखरशिखरादारभ्येति क्रमाच्चिकुरावधि

प्रथितसुषममाश्लिष्यन्ती पुरः शुशुभे प्रभोः ॥ १७० ॥

अमरसुन्दरी श्रीजिनशासनाधिदेवता प्रभोर्ह्यारविजयसूरीश्वरस्य पुरोऽग्रे शुशुभे वि-
भाति स्म । किंभूता । निखिलाः समस्ता ये दिविषदो देवास्तेषां भवनपति-वानव्यन्तर-
ज्योतिष्क-वैमानिकनाकिनां योषा विलासवत्यः तासां लेखाः श्रेणयस्ता एव कुमुदां
कैरवाणां वनानि तेषामाह्लाददायकत्वेन कौमुदी चन्द्रचन्द्रिका । प्रायो ज्योत्स्ना हि
गाननर्तनविविधविलसनप्रकारैः स्वकामुककलितयामिनीनामेव विशेषत आनन्ददायिनी
स्यादिति तद्विशेषणम् । यदुक्तं च—‘कुरु चन्द्र तथा ज्योत्स्ना विभाति न निशा यथा ।
ताम्बूलीदलवत्प्रेथान्यतो मोक्तुं न शक्यते ॥’ अत्रार्थं दोषकोऽपि—‘चन्द्राकरितिम
चादंणी जिम रयणविहाय । नागरवेलीपान जिम कंतन मेल्यो जाय ॥’ इति चन्द्रिकावाह-
भ्यमपि स्त्रीणाम् । किं कुर्वन्ती । नखरशिखरात् चरणनखशिखाया आरभ्य क्रमादनु-
क्रमेण चिकुराः केशा अवधिः सीमा यत्र तादृशीं प्रथितां सुरासुरनरनिकरविख्यातां
सुषमां सातिशायिनीं श्रियमाश्लिष्यन्ती । आलिङ्गन्ती आश्रयन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
श्रिता अङ्गीकृता गृहीता वा तनुलता शरीरयष्टिर्यथा तादृशी तस्य हीरसुरैर्भाग्यश्रीमूर्तिः
पुण्यलक्ष्मीरिव ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाङ्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽजनिष्टाष्टमः ॥ १७१ ॥

पण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ अष्टानां संख्यापूरणोऽष्टमः सर्गो बभूव जातः ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्ये ध्यानविधानशासनदेवीसमागमतत्सर्वाङ्गवर्णनो नामाष्टमः सर्गः ॥

नवमः सर्गः ।

अथ सा त्रिदशी सूरिपुरहृतपुरो व्यभात् ।

मुक्तिसीमन्तिनीमुक्तदूतीव विवरीषया ॥ १ ॥

अथ ध्यानविधानसमये पुरः प्रत्यक्षागमनानन्तरं सा पूर्वव्यावर्णितस्वरूपा त्रिदशी शासनदेवता सूरिषु पुरहृतः पुरंदरो हीरविजयसूरीन्द्रस्तस्य पुरोऽभ्यासे व्यभाद्विभाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मुक्तिः सिद्धिरेव सीमन्तिनी अत्रार्थात्स्वयंवरवनिता अथ वा कामुकी अन्या सामान्या वशा तथा मुक्ता प्रेषिता दूती शासनहारिकेव । 'शासनहारिणा हरेः' इति रघौ । किं चिकीर्षया । विशेषेण महामहपुरःसरं वरीतुं पाणिं गृहीतुमिच्छया परिणयनाभिलाषेण ॥

वाग्विलासैः सृजन्तीव हारहूरावहेलनाम् ।

तृणतां च नयन्तीव निक्कणं वेणुवीणयोः ॥ २ ॥

पिकीव पञ्चमोद्गारमृतोः सख्युर्मनोभुवः ।

गीर्वाणगृहिणी वार्णीं श्रमणेन्दोः पुरोऽग्रहीत् ॥ ३ ॥

सा गीर्वाणगृहिणी शासनसुरी श्रमणेन्दोर्मुमुक्षुक्षणदारमणस्य पुरः पुरस्ताद्वार्णीं वाचमग्रहीजग्राह । वचनमुवाचेत्यर्थः । केव । पिकीव । यथा कोकिला मनोभुवः स्मरस्य सख्युर्भिन्नस्य ऋतोर्वसन्तस्य । 'सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनम्' इति नैषधे । तथा 'जयति मधुसहायः सर्वसंसारवल्ली' इति चम्पूकथायाम् । पुरः अग्रे पञ्चमोद्गारं पञ्चमनाम्ना श्रीराग-वसन्तराग-पञ्चमराग-भैरवराग-मेघमल्हारराग-नट्टनारायणराग-एतेषु षट्स्वपि रागेषु प्रायो विलासिनां पुंसां पञ्चमरागो वल्लभः स्यात् । अतः पञ्चमनाम्नो रागस्योद्गारं ध्वनितं गृह्णाति । पञ्चमालापं कुरुते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—देवी वाग्विलासैः स्ववचनरचनावैचित्र्यभिः कृत्वा हारहूराणां गोस्तनीनां द्राक्षाणामवहेलनामवगणनां सृजन्तीव विदधतीव । च पुनर्वेणुवीणयोः वंशविपङ्कयोर्निक्कणं मधुरध्वनिं तृणतां न किञ्चित्करतां नयन्ती प्रापयन्तीव ॥ युग्मम् ॥

स्वयं श्रमणशक्रेण ध्यानेनेवानुगामिना ।

यदाहूतानुगृह्णाहं कारणं तत्प्रसाद्यताम् ॥ ४ ॥

अनुगामिना सेवकेनेव ध्यानेन सूरिमन्त्रस्य प्रणिधानेन स्मरणेन जापेन वा कृत्वा श्रमणशक्रेण वाच्यमवास्तोष्पतिना स्वयमात्मना यत्कारणमुद्दिश्य अनुगृह्य ममोपर्यनुग्रहं प्रणीय प्रसादं प्रविधाय अहमाहूता आकारिता तदाकारणं यत्कारणं सहेतुः प्रसाद्यतां निगद्यताम् । ममेति शेषः ॥

व्यापार्य कार्यं कचन किंकरिं मां कृतार्थय ।

वज्रस्वामीव पद्मस्यार्थने पाथोधि नन्दनाम् ॥ ५ ॥

हे प्रभो सूर, कचन कस्मिन्कार्यं कर्तव्ये व्यापार्य आज्ञामनुज्ञां वा प्रदाय दत्वा किंकरिं श्रीमच्चरणसरोरुहसेविकां मां त्वं कृतार्थय सफलीकुरु । क इव । वज्रस्वामीव । यथा द्वादशाब्दिके दुर्भिक्षे स्वकप्रावरणकल्पाध्यासनपूर्वकं वैद्विदेशसमानीते तद्वैद्वन्नुपादेशानवाप्तकुसुममात्रविमनायितेन संघेन पर्युषणापवेणि जिनपूजाकृते कुसुमानयनार्थमभ्यर्थितः स्वपितुर्भिन्नादेशागृहीतविंशतिलक्षकुसुमः श्रीवज्रस्वामी पद्महृदे गत्वा लक्ष्म्या प्रेक्ष्य नमस्कृत्य चागमनकारणप्रश्नानन्तरं सहस्रपत्रपद्ममार्गणेन ग्रहणेन पाथोधि नन्दनां समुद्रपुत्रीं श्रियं कृतार्थयामास ॥

निगद्येति जिनाधीशशासनामरसुन्दरी ।

भेजे जोषं मुखे शारदीनेव शिखिमण्डली ॥ ६ ॥

जिनानां सामान्यकेवलानामधीशस्य तीर्थकरत्वात्स्वामिनः श्रीमहावीरस्य शासनस्यामरसुन्दरी देवाङ्गना इत्यमुना प्रकारेण निगद्य कथयित्वा मुखे वदने जोषं मौनं भेजे सेवते स्म । 'जोषमासनविशिष्य वभाषे' इति नैषधे । तथा 'तूष्णीं तूष्णीकां जोषं च मौने' इति हैम्यम् । मौनं कृत्वा स्थितवतीत्यर्थः । केव । शिखिमण्डलीव । यथा शारदीना शरत्कालसंबन्धिनी । घनाल्ययसमये इत्यर्थः । शिखिमण्डली मयूरमाला मुखे जोषं भजते न ब्रवीतीत्यर्थः । यदुक्तं माघकाव्ये—'समय एव करोति बलावलं प्रणिगदन्त इतीव मनीषिणः । शरदि हंसरवापरुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥' इति ॥

यदास्यंकौमुदीकान्तवाक्पीयूषाभिलाषिणी ।

चलचञ्चुचलचक्षुरिव सा रभसादभूत् ॥ ७ ॥

सा देवी रभसादौत्सुक्यात् चलचञ्चोश्चकोरस्य चलचक्षुश्चललोचना वनिता चकोरी तद्वदभूत्संजाता । किंभूता । यस्य सूरिन्द्रस्य आस्यमाननं तदेव कौमुदीकान्तश्चन्द्रस्तस्य वाग् वाणी एव वचोरूपं वा पीयूषं सुधारसस्तदभिलषति वाञ्छतीत्येवंशीला । 'कणे ह्य चकोरीणां गणः पीत्वा सुधारसम् । अजायत मदेनेव गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणाः ॥' इति ज्योत्स्नापाने सत्यपि चकोरीणां सुधापानं कीर्तिकौमुद्याम् ॥ इति गुर्वभिप्रायजिज्ञासया देवीप्रश्नः ॥

वाचं वाचंयमश्रेणीरोहिणीरमणस्ततः ।

तत्पुरो ग्राहयामास सुधाया औरसीमिव ॥ ८ ॥

ततो देवीवचनानन्तरं वाचंयमानां श्रमणानां श्रेणीषु धोरणीषु रोहिणीरमणः विभावरीवल्लभः सूरिन्द्रः तत्पुरो जिनशासनदेवतापुरस्तादग्रे वाचं वाणीं ग्राहयामास जग्राह । उवाचेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—सुधाया अमृतस्य औरसीं सुजातां केवलपितृभात्रोरुत्पन्नामिव नन्दिनीमिव । ‘सुजातस्त्वौरसौरस्यौ’ । पुत्री त्वौरसी । ‘उदश्रुष व्यस्रजन्निजौरसीम्’ इति नैषधे ॥

अट्ठगोचरपारस्य वाङ्मयस्याम्बुधेरिव ।

यन्मनीषा सुखं देवि तरीव पारदृश्वरी ॥ ९ ॥

विनेया विनयावासाः कतिचित्ते ममासते ।

शौण्डीरिमधरा गन्धसिन्धुरा इव बन्धुराः ॥ १० ॥

हे देवि, मम ते स्वगुणैर्विख्यातिभाजः कतिचित्क्रियत्संख्याका विनेयाः शिष्या आसते सन्ति । ‘आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः’ इति नैषधे । तथा ‘सत्तायामस्त्यास्ते’ इति क्रियाकलापे । किंभूताः । विनयावासाः विनयकुलमन्दिराणि । पुनः किंभूताः । बन्धुराः कौलीन्यादिगुणोपेताः । पुनः किंभूताः । शौण्डीरिमाणं कर्मसंपन्नसेनां प्रतिशौर्यं धरन्तीति । के इव । गन्धसिन्धुरा इव । यथा गन्धहस्तिनः प्रत्यर्थिपृतनापराभवनपटवो भवन्ति । ते के । येषां विनेयानां मनीषा प्रतिभा सुखं यथा स्यात्तथा अट्ठगोचरो नयनविषयो न चक्षुर्ग्राह्यः पारं परतीरं यस्य । पारशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गयोः । तादृशस्याम्बुधेरिव समुद्रस्येव वाङ्मयस्य सिद्धान्तस्य सर्वशास्त्रस्य वा तरीव नौरिव पारदृश्वरी पारं दृष्टवतीति पारगामिनी । ‘वनोरचू’ । ‘वनन्तास्त्रियामीप्रत्ययो भवति रश्चान्तादेशः’ इति प्रक्रियासूत्रेण ईप्रत्ययः, नकारस्य रकारः । पारदृश्वरी ॥ युग्मम् ॥

मध्येऽमीषां विनेयानां कतमः कमलानने ।

भास्वान्विष्णोरिव पदे ममास्त्यभ्युदयंगमी ॥ ११ ॥

हे कमलानने पद्मवदने शासनदेवि, अमीषां विनेयानां शिष्याणां मध्ये कतमः शिष्यः मम पदे पठे अभ्युदयं पट्टधारितां गमिष्यत्यभ्युदयंगमी अस्ति । अभ्युदयं जगद्विख्याततां गमिष्यतीत्येवंशीलो गमी । ‘भविष्यति गम्यादयः’ । ‘गम्यादीनामुपसंख्यानणिनि वा वृद्धिर्यति’ । यदुक्तं नैषधे—‘साधोरपि स्वः खलु गामिनाधोगमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे’ इति । साधनिका तु प्रागुक्ता विकल्पेन वृद्धिर्गामी गमी । के इव । भास्वानिव । यथा भास्करो विष्णोः पदे गगने अभ्युदयं गच्छति ॥ इति गुरोर्देवीप्रश्नः ॥

एवमालपिता तेन तं सुरी पुनरुचुषी ।

प्रावृषेण्यमिवाम्भोदं नभोम्बुपनितम्बिनी ॥ १२ ॥

तेन हीरविजयसूरिणा एवममुना प्रकारेण आलपिता भापिता भाविपट्वराभिधानं पृष्टा सती सुरी निर्जरी पुनर्द्वितीयवारमूचुषी भाषितवती । जगादेत्यर्थः । केव । नभो-
म्बुपनितम्बिनीव नदीहृदनिपानादिनीरमनीह्रमानः केवलं नभस आकाशाद्गनाघननिर्मु-
क्तमम्बु पिवतीति नभोम्बुपो वप्पीहस्तस्य नितम्बिनी प्रमदा चातकी तेन जीवनदाना-
दिना जगत्प्रसिद्धेनार्थान्मेघेन गर्जितेन गभीरगर्जारवेणालपिता वादिता सती प्रावृषेण्यं
वर्षाकालसंबन्धिनम् । 'प्रावृषेण्यं पयोवाहं विशुद्धैरावताविव' इति रघुवंशे । तथा प्रावृष-
एण्यप्रत्ययः । इति प्रावृषेण्यनिष्पत्तिः । अम्भोदं जलधरं प्रति ब्रवीति ॥

आस्ते श्रीजयविमलो यस्तेऽन्तेवासिवासवः ।

स ते दम्यो रथस्येव धुरं पट्टस्य धास्यति ॥ १३ ॥

हे प्रभो, यस्ते तवान्तेवासिनां शिष्याणां मध्ये वासव इव वासवो मघोनः सहशः
अखिलशिष्यशिखारत्नं श्रिया शोभया युक्तो जयविमल इति नामा वर्तते स जयविम-
लप्रज्ञांशः ते तव पट्टस्य धुरं धास्यति धारयिष्यति । क इव । दम्य इव । यथा प्रथम-
वया गौरथवा प्रौढीभूतो वत्सो वत्सतरः । लोके 'गोधो' इति प्रसिद्धः । दम्यो रथस्य
धुरं दधाति । 'गुर्वी धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सहशं विभर्ति' इति रघौ ॥

त्वया विश्राणिता देव विधिना स्वपदेन्दिरा ।

वार्धिना विष्णुनेव श्रीश्चिरमेतेन रंस्यते ॥ १४ ॥

हे देव हे भट्टारक, त्वया प्रभुणा स्वपदेन्दिरा निजपट्टलक्ष्मीर्विधिना पूर्वाचार्यैरुक्त-
कृतप्रकारेण विश्राणिता प्रदत्ता सती एतेन जयविमलप्रज्ञांशेन समं चिरं बहुकालं
यावत् रंस्यते क्रीडिष्यति । केव । श्रीरिव । यथा वार्धिना क्षीरनीरनिधिना विधिना वे-
दोक्तप्रकारेण विश्राणिता वित्तीर्णा पाणां ग्राहिता श्रीर्निजनन्दना लक्ष्मीर्विष्णुना स्व-
भ्रयसा साकं चिरं रमते ॥

तं गुणैरप्रतीकाशं त्वद्गुणश्रीः श्रयिष्यति ।

वल्ली विवर्धमानेव स्मयमानमहीरुहम् ॥ १५ ॥

हे सूरिपुरंदर, त्वद्गुणश्रीः तव गुरुपरम्परायाता तपागच्छलक्ष्मीर्गुणैः शमदमार्जवमा-
द्वैतज्ञानादिभिरप्रतीकाशमनन्यसामान्यं तं जयविमलं श्रयिष्यति सेविष्यते । केव । वल्लीव ।
यथा विवर्धमाना प्रावृषेण्यप्रवर्षत्योधराभिषेकप्रसभप्रवृद्धिं प्राप्नुवती लता स्मयमानं
विकसितं पल्लवपत्रपुष्पफलकलापकलितं महीरुहं पादपं श्रयते भजते ॥

पट्टधुर्येऽङ्गजे राज्ञा युवराज इवोर्जिते ।

त्वयास्मिन्निर्मिते कापि भाविनी शासनोन्नतिः ॥ १६ ॥

हे हीरविजयसूरे, त्वयास्मिन् जयविमलप्रज्ञाने पट्टधुर्ये गणभारधुरीणे निर्मिते कृते काप्यद्भुतवैभवा जगदाश्चर्यकारिणी शासनस्य श्रीजिनमतस्योन्नतिर्भाविनी भवित्री । केनेव । राज्ञेव । यथा भूमीपतिना ऊजिते प्रबलबले युवराजे पट्टधुर्ये निजराज्यधुराधुरंधरे विहिते सति शासनानामुपलक्षणात् पुरनगरग्रामजनपदानां न्यायविधिं विदधति सति समुन्नतिर्भवति । 'दीयतां दशलक्षानि शासनानि चतुर्दश' इति विक्रमार्कदानपत्रे श्लोकः । अथवा शासनस्याज्ञायाः काप्यद्वैता उन्नतिर्जायते । कोऽप्याज्ञां नोलङ्घयतीत्यर्थः ॥

विक्रमार्क इव श्रीमत्सिद्धसेनदिवाकरात् ।

त्वत्तत्तदनु कोऽप्युर्वीव्रध्नो बोधिमवाप्स्यति ॥ १७ ॥

हे देव, तस्य जयविमलस्य पट्टस्थापनानन्तरं त्वत्तः श्रीमत्सकाशात् कोऽप्यद्भुतवैभवः । उर्वी पृथिवी तस्यां प्रबलप्रतापैः व्रध्न इव व्रध्नः सहस्रकिरणसदृशो महामण्डलीकमहीपतिर्बोधिं समत्वमवाप्स्यति लप्स्यते । क इव । विक्रमार्क इव । यथा श्रीमतः पूर्वादिज्ञानातिशायिगुणैः कलिकालसर्वज्ञ इति विरुद्धधारणासाधारणलक्ष्मीवतः सिद्धसेनदिवाकराद्विक्रमादित्यनुवृत्तौ बोधिबीजमवाप्तवान् ॥ इति देवतया पट्टधुरंधरकथनम् ॥

समाकर्ण्य सुरीवर्ण्यमानं तं पिप्रिये प्रभुः ।

रथाङ्गवन्निशावेदिगदिताभ्युदयं रविम् ॥ १८ ॥

प्रभुः सूरीन्द्रः सुर्या शासनदेवतया वर्ण्यमानं श्लाघ्यमानं तं जयविमलनामानं प्रज्ञांशं समाकर्ण्य श्रवणगोचरीकृत्य पिप्रिये निजपट्टाभ्युदयविभावनाभिप्रायेण हृदये परमां प्रीतिं प्राप्तवान् । 'प्रीङ् प्रीतौ' । जहर्षेत्यर्थः । किंवत् । रथाङ्गवत् । यथा चक्रवाकः निशावेदिभिस्तान्त्रचूडैर्गदितो निवेदितोऽभ्युदय उद्गमनसमयो यस्य तादृशं रविं दिवाकरं प्रीयते प्रियाभिः परस्परवियोगापगमाशया हृष्यति ॥

इत्यतर्क्यत तेनान्तर्भाग्यसौभाग्यभूरसौ ।

प्रणुन्नयेव पुण्यैर्यन्त्रिदश्यापि प्रशस्यते ॥ १९ ॥

तेन सूरीणा अन्तर्मनोमध्ये इत्यमुना वक्ष्यमाणप्रकारेण अतर्क्यत विचार्यते स्म । इति किम् । यदसौ मन्त्रिनेयो जयविमलाभिधानविबुधः भाग्यं भाग्येयं पुण्यं तथा सौभाग्यं सुभगतां लोके विख्यातिर्वा तयोर्भूः स्थानं वर्तते यद्यस्मात्कारणात् त्रिदश्या जिनशासनचुन्दारिकयापि प्रशस्यते । उत्प्रेक्ष्यते—पुण्यैरर्थात्तत्सुकृतैः प्रणुन्नया प्रेरितयेव ॥

मेरुभूरिव भात्येषा जिनपट्टपरम्परा ।

समुद्भवन्ति येनास्यां सूरीन्द्राः स्वर्तुमा इव ॥ २० ॥

एषा निःशेषगणधरधोरणी तरुणीचूडामणीभूता अभ्युदिता अभ्युदीयमाना अभ्यु-

दयप्रापयित्रीव जिनस्य श्रीमन्महावीरभगवतः पद्मनां परम्परा श्रेणी मेरुभूरिव स्वर्णा-
चलमेदिनीव भाति विभाति । येन कारणेन अस्यां जिनपट्टपरम्परायां मेरुमेदिनीध-
रवनभूमौ च स्वर्द्धमाः कल्पवृक्षा इव सूरीन्द्राः समुद्भवन्ति प्रकटीभवन्ति ॥

अर्हन्मतैकमलयोद्भूतसूरीन्द्रचन्दनैः ।

यशःप्रसृमरामोदैः सुरभीक्रियते जगत् ॥ २१ ॥

अर्हन्मतं श्रीमजिनशासनं तदेकमलयो दक्षिणाचलस्तत्रोद्भूताः प्रादुर्भावं प्राप्ताः
पट्टसूरीणभावं लम्बिता ये सूरीन्द्रा आचार्यास्त एव चन्दनाः श्रीखण्डशाखिनस्तैः क-
र्तुर्भिर्यशांसि कीर्तय एव प्रसृमरा दशदिक्षु विस्तरणशीला ये आमोदाः परिमलास्तैः
कृत्वा जगदखिलमपि भुवनं सुरभीक्रियते । सुगन्धं विधीयते इत्यर्थः ॥

इत्यन्तरुदयत्प्रीतिमेकलाद्रिकनीप्लवे ।

निचिखेल चिरं गन्धसिन्धुरेन्द्र इव प्रभुः ॥ २२ ॥

प्रभुः सूरिः इत्यमुना प्रकारेण अन्तश्चेतसि उदयन्ती प्रकटीभवन्ती या प्रीतिः प्र-
मोदः । ‘प्रीतिः स्मरस्त्रियां प्रेम्णि योगमुदोः’ इत्यनेकार्थः । सैव मेकलनामा अद्रिः प-
र्वतविशेषस्तस्य कनी कन्या पुत्री । नर्मदा नदीत्यर्थः । तस्याः प्लवे पानीयपूरे । ‘नर्मदा
मेकलाद्रिजा’ इति हैम्याम् । तथा ‘समुत्तीर्य भगवतीं मेकलकन्याम्’ इति चम्पूकथा-
याम् । चिरं वहीं वेलां यावन्निचिखेल कीडति स्म । क इव । गन्धसिन्धुरेन्द्र इव । यथा
कपोलपालीप्रमुखसप्तस्रोतोनि.सरन्मदाम्भःप्रवाहाघ्राणमात्रपलायितापरसिन्धुरधोरणीव-
न्धुरगन्धोपलक्षितसिन्धुरेन्द्रो मेकलशैलनन्दिन्या नर्मदायाः पथःप्रवाहे चिरं स्वेच्छा-
पूरणपर्यन्तं खेलति ॥ इति गुरोर्हृदये विमर्शः ॥

लोकान्क्रोकानिवाह्लादं लम्भयन्भानुमानिव ।

दानलीलायितैर्हेलां कल्पयन्कल्पभूरुहाम् ॥ २३ ॥

प्रबोधं विदधत्प्रातरिवाशेषजनुष्मताम् ।

पुष्पकाल इवोलासं प्रणयन्सुमनःश्रियाम् ॥ २४ ॥

त्वं चिरं नन्द सूरीन्द्रेत्यभिनोनूय निर्जरी ।

ततस्तच्चरणाम्भोजं भ्रमरीव चुचुस्व सा ॥ २५ ॥

ततोऽनन्तरं सा निर्जरी शासनदानवद्विषत्रस्यत्पृषती विलोचना भ्रमरी भृङ्गाङ्गनेव
तच्चरणाम्भोजं प्रभुपादारविन्दं चुचुस्व चुम्बति स्म । नमस्करोति स्मेत्यर्थः । किं कृत्वा ।
इत्यमुना प्रकारेण पुरोऽत्रैवानुष्ठुभां त्रिके वक्ष्यमाणप्रकारेण अभिनोनूयातिशयेन स्तुतिं
निर्माय । इति किम् । हे सूरीन्द्र हे आचार्यपर्जन्य, त्वं चिरं गलितावधिसमर्थं नन्द
जयवान् प्रवर्तस्व पर्वतायुष्कवान् भवतात् । ‘दुनदि समृद्धौ’ अस्य धातोः प्रयोगत्वात् ।
ज्ञानदर्शनचारित्रादिकां समृद्धिं लभस्व वा जीया वा । त्वं किं कुर्वन् । लोकान् जग-

जनान् भाविनि भूतोपचारात् अमारिजीजिगकादिकरवन्दिमोचनप्रकारेणाह्लादं प्रमोदं धर्मोपदेशप्रदानादिना भाविकलोकान् आनन्दं लभयन् प्रापयन् । क इव । भानुमानिव । यथा सहस्ररश्मिः कोकांश्चक्रवाकानाह्लादं लभयति । पुनः किंभूतः । दानलीलाधितैः स्व-
विश्राणनविलसितैः कृत्वा कल्पभूरुहां सुरतरुणां हेलामवगणनां कल्पयन् कुर्वन् । अत्र गर्भितोपमा । पुनः किंभूत । अशेषजनुष्मतां समस्तजन्तुजातानां प्रबोधं विदधत् । कि-
सिव । प्रातरिव । यथा प्रभातं दिवसमुखं सर्वजनानां जागरणं विनिदतां विधत्ते । जाग-
रयतीत्यर्थः । पुनः किंभूतः । सुषनःश्रियां सुशोभनं निष्पापापद्रोहनिर्दम्भसर्वसत्त्वहि-
तावहं मनो येषां तेषामुत्तमानां श्रियां लक्ष्मीणां उल्लासं स्फारीभावं प्रणयन् सृजन् ।
क इव । पुष्पकाल इव । यथा वसन्तसमयः कुसुमश्रीणां विकासं प्रणयति कुरुते । अथ
वा पूर्वश्लोकद्वयप्रतिपादितानि शत्रन्तानि संबोधनान्येव ज्ञेयानि । 'गतिस्तयोरेष जन-
स्तमस्यत्र हा विधे त्वां करुणा रणद्वि नः' इति नैपथ्ये । 'हे अर्दयन् हे विधे' इति तद्वृत्तिः ।
तथा संबोधने च । 'संबोधनेऽपि शत्रानशौ भवतः । हे पचन् हे पचमान जयमान'
इति प्रक्रियायाम् । एवं संबोधनैर्वाभिदुत्य देवता प्रणमति स्म ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

ततोऽस्या धर्मलाभाशीर्ष्वश्राणि श्रमणेन्दुना ।

श्रेयःसिद्धेरुपादानं तस्याः संप्रस्थितादिव ॥ २६ ॥

ततो देवीप्रणमनानन्तरं श्रमणेन्दुना सूरिचन्द्रेण अस्या देव्या धर्मलाभाभिधा आ-
शीर्मङ्गलशंसनवाक् व्यश्राणि विश्राणिता प्रदत्ता । उत्प्रेक्ष्यते—तस्याः संप्रस्थितौ सम्य-
कशुभावहप्रयाणे स्वगृहगमनावसरे श्रेयसः कल्याणस्य सिद्धेर्निष्पत्तेरथ वा सर्वमङ्गलकु-
लगृहसिद्धेरुक्तैरुपादानं परमं कारणदिव ॥

पुनः स्वल्पेऽपि कार्येऽहं धुर्येण गणधारिणाम् ।

प्रसादपात्रीकर्तव्या किंकरीवासरी त्वया ॥ २७ ॥

हे देव, गणधारिणां गच्छभारसासहीनां सूरिणां मध्ये धुर्येण धीरेयेण । गणधरधुरं-
धरेणेत्यर्थः । त्वया भगवता पुनर्द्वितीयवारं स्वल्पे स्तोकेऽपि कार्ये कर्तव्ये किंकरी
चेटी दासीव अहं श्रीमच्चरणसेविका अमरी शासनदेवता प्रसादस्य प्रसक्तेः पात्रीक-
र्तव्या स्थानकं कार्या । स्मर्तव्येत्यर्थः ॥

इत्युदित्वा प्रभुं नत्वा मोदमेदस्विनी ततः ।

क्षणिकेव क्षणादासीददृश्या द्योतिताम्बरा ॥ २८ ॥

देवी शासनसुरी क्षणात्क्षणमात्रान्मिषमात्रात् क्षणिकेव विद्युदिवादृश्या दृशोरगोचरा
आसीत् । गतेत्यर्थः । किंभूता । द्योतितं स्वकान्त्या प्रकाशितमुद्द्योतयुक्तं कृतमम्बर-
माकाशं यथा । पुनः किंभूता । मोदेन सूरिदर्शनोद्भूताद्वैतानन्देन कृत्वा मेदस्विनी
रोमाञ्चकञ्चुकितकाययष्टित्वात्पुष्टा । हर्षप्रकर्षवतीत्यर्थः । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण

उदित्वा कथयित्वा । प्रभोः पुर इत्यध्याहारः । पुनरित्यस्याप्यध्याहारः । प्रभुं सूरिन्द्रं
नन्वा प्रणम्य ॥ इति शासनदेवतागमनम् ॥

कलधौतावदातश्रीर्द्विजज्योत्स्नाविराजितः ।

कुर्वन्कुवलयोल्लासं विभुर्विधुरिवाभवत् ॥ २९ ॥

विभुः श्रीहीरविजयसूरिः विधुः सुधादीधितिरिवाभवत् जातः । किंभूतः । कलधौतं
काञ्चनं तद्वदवदाता निर्मला पीता श्रीवपुःशोभा यस्य । 'विभ्राजते तव वपुः कनकाव-
दातम्' इति भक्तामरस्तोत्रे । चन्द्रः किंभूतः । कलधौतं रजतं तद्वदुज्ज्वला मण्डललक्ष्मी-
र्यस्य । 'कलधौतं रूप्यहेम्नोः' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतः । द्विजानां दशनानां ज्यो-
त्स्नया कान्त्या विराजितः । पक्षे द्विजैश्चन्द्रपारिपार्श्वकैः सेवकविशेषैः । द्विजपतित्वाच्च-
न्द्रस्य । तथा ज्योत्स्नया चन्द्रिकया विराजितः शोभितः । पुनः किं कुर्वन् । कुवलयस्य
भूमण्डलस्य प्रतिबोधदानादिना यशसा वा उल्लासमानन्दातिशयम् । पक्षे । कुवलयानां
चन्द्रविकाशिकमलानामुत्पलानां विकाशं कुर्वन् सृजन् ॥

अश्रान्तानन्तपदवीलङ्घनैः श्रान्तवानिव ।

शशी शनैः शनैस्ताचलचूलमथाश्रयत् ॥ ३० ॥

अथ देवतागमनानन्तरं शशी शीतकान्तिः शनैः शनैर्मन्दं मन्दमस्ताचलस्य चर-
माद्रेः प्रतीचीपर्वतस्य चूलां शिखामाश्रयद्भजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अश्रान्तं विगतवि-
श्रामं यथा स्यात्तथा निरन्तरं विद्यते अन्तोऽवसानं यस्याः सा अनन्ता अपरिमिता प्र-
माणातीता या पदवी मार्गः गगनाङ्गणं तस्या लङ्घनैरतिक्रमणैः श्रान्तवान् श्रमं प्राप्त-
वानिव । यः परिश्रमं प्राप्तः स कुत्रचन विश्रामार्थमवतिष्ठते ॥

गर्भाश्मगर्भचन्द्राश्मकल्पितोत्तंसिकेव सा ।

अस्ताचलश्रीर्भाति स्म मौलिलीलायितेन्दुना ॥ ३१ ॥

मौली अर्थात् पश्चिमाचलस्य शिरःशिखरं लीलया स्वविचरणविलासेन न तु परस्य
कस्यापि वलेन आकर्षणादिवलात्कारेणाचरितमाचरणं यस्य स लीलाचरितस्तादृशेने-
न्दुना चन्द्रेण कृत्वा सा प्रसिद्धा चन्द्रस्योदयदायिनी द्वितीयायां प्रथममस्ताचलदेवो-
दयत्वात् । अथ वा सूर्याचन्द्रमसयोरस्तकारकत्वेन ख्यातिमती अस्ताचलस्य पश्चिमपृ-
थिवीधरस्य श्रीलक्ष्मीर्भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—गर्भे मध्यप्रदेशे अश्मगर्भा मरकतमणयो
यस्याः । 'मरकतं त्वदश्मगर्भम्' इति हैम्याम् । तादृशी । चन्द्राश्मभिश्चन्द्रकान्तरत्नैः ।
'चन्द्रकान्तश्चन्द्रमणिश्चान्द्रचन्द्रोपलश्च सः' इति हैम्याम् । यथा चन्द्रोपलस्तथा च-
न्द्राश्मा । कल्पिता रचिता उत्तंसिका शेखरो यस्यास्तादृग्विधेव । 'विदर्भसुभ्रूवणावत-
सिका' इति नैषधे । अवतंसिका तथैवोत्तंसिकापि ॥

चन्द्रश्चङ्क्रमणक्लान्तं स्वाशनायितरोहितम् ।

वनाय मोक्तुमस्ताद्रेरध्यास्त किमधित्यकाम् ॥ ३२ ॥

चन्द्रो मृगाङ्कः अस्ताद्रेश्चरमाचलस्याधित्यकामूर्ध्वभूमीं सर्वशिरःशिखरकाश्यपीम-
ध्यास्त आश्रयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—चङ्क्रमणे चतुर्यामीं यावदविश्रमेण निखिलनभोभ्रम-
णेन क्लान्तं परिश्रान्तं विभातप्रायायां विभावयीं स्वस्यात्मनः क्रोडानिशलात्यमानपाल्य-
मानम् । अथ वाशना या बुभुक्षा संजाता अस्येयशनायितं बुभुक्षाक्षामकुक्षिं रोहितम-
ङ्कमृगभेदगतकुरङ्गम् । यतो 'मृगभेदारुरन्यंकुरङ्गुगोर्कर्णशंवराः । चमूरुचीनचमराः समरा-
णस्य रोहिषौ । कदलीकन्दलीकृष्णसारः पृषतरोहिताः ॥' इति हैम्याम्, तथा 'त्रस्यच्च-
मूरुचलचक्षुषमाचक्षे,' तथा 'नदयत्पृषतीविलोचने,' तथा 'पृषत्किशोरी कुरुतामसंगतं
कथं यनोवृत्तिमपि द्विपाधिपे,' तथा 'सुखं वसत्येष कलङ्करङ्कुः' इत्यादि नैषधे । मृ-
गभेदा मृगा एवोक्ताः सन्तीति । तथैवात्र रोहितनामा मृगभेदविशेषस्तं वनाय
चरणार्थं मोक्तुमिव । 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्भुमोच' इति रघौ ।
मोचनार्थमिव ॥

विभुना वाक्सुधास्पन्दिवदनेन विधुर्जितः ।

तत्तुलास्त्यै तपःकाङ्क्षीवागादस्ताद्रिगह्वरे ॥ ३३ ॥

विधुः मृगाङ्कः अस्ताद्रेः प्रतीचीपर्वतस्य गह्वरे विविधविटपिकोटिसंकटनिकुञ्जे गुहा-
यां वा आगादाजगाम । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य भगवद्वक्त्रस्य तुला सादृश्यमुपमा तस्या आस्त्यै
प्राप्तये आसादनार्थं तपःकाङ्क्षी तीव्रं तपः कर्तुं काङ्क्षन्वाञ्छन् इव । किंभूतो विधुः ।
वाचं वाणीमेव सुधाममृततरसं स्पन्दते क्षरत्युद्गिरतीत्येवंशीलेन वदनेन स्वीयाननेन
कृत्वा विभुना सूरिणा जितः पराभूतः ॥

दृष्ट्वा यान्तं जघन्यायामन्तर्भूताभ्यसूयया ।

चन्द्रश्चन्द्रिकया रुच्य इव चण्डिकया जहे ॥ ३४ ॥

चन्द्रः कैरविणीरमणः चन्द्रिकया ज्योत्स्नया जहे त्यक्तः । उत्प्रेक्ष्यते—अन्तर्मनो-
मये भूता प्रकटा जाता अभ्यसूया ईर्ष्या तयेव । किं कृत्वा । जघन्यायां निकृष्टायां
जातेर्वा रूपाद्वा श्वपचरूपायामतिकृत्सितायां च । स्वभावतः स्त्रीजातावसूयाबाहुल्यं
स्यात्सपत्नीमपि द्रष्टुं न शक्नोति ततोऽन्यस्याः का किंवदन्ती । तत्रापि तां विशुद्धां वि-
श्वाम्हाददायिनीमेकपत्नीं सतीं विहाय सकलङ्कां जगद्विषादविधायिनीं कुरुपां मातङ्गाङ्ग-
नामेषोऽभिसरत्येषा महीयस्यसूया तयेव कृत्वोज्झितः । अथ च जघन्या पश्चिमा ।
'अजघन्यः प्रचेताः । नलः किंभूतः । अजघन्यः सर्वोत्कृष्टः । तथा प्रकृष्टमुत्तमत्वो-
चितं चेतो मनो यस्य । तथा प्रचेता वरुणस्तु सजघन्यः सह जघन्यया प्रतीच्या दिशा
वर्तते यः स तदधिपतित्वात्' इति चम्पूकथायाम् । यान्तं गच्छन्तं गमनं कुर्वन्तम्

दृष्ट्वा खलोचनगोचरीकृत्य । क इव । सच्य इव । यथा चण्डस्तवत्यन्तकोपनः स्त्री चेन्न-
ण्डिका कृतं कोपं कथमप्यनुज्जनत्या स्त्रिया कान्तः शस्त्रीमभिसरन् हीयते त्यज्यते ॥

प्रेक्ष्य क्षपाक्षये चन्द्रं विद्राणं चन्द्रगोलिका ।

त्यक्त्वा कान्तं ययौ कापि पुंश्चलीव यदृच्छया ॥ ३९ ॥

चन्द्रगोलिका विशदचन्द्रिका कान्तं स्वभर्तारमर्थतो विभावरीवल्लभं त्यक्त्वा मुक्त्वा
संत्यज्य कापि कुत्रापि स्वरचिते स्थाने यदृच्छया स्वेच्छया ययौ प्रयातवती । किं
कृत्वा । क्षपाया निशायाः क्षये क्षीणतायां विनाशे विद्राणं निःश्रीकं मृतप्रायं चन्द्रं
नक्षत्रनायकं प्रेक्ष्य विभाव्य । केव । पुंश्चलीव । यथा व्यभिचारिणी स्त्री स्वकान्तं त्यक्त्वा
काप्यभिमतं पुंसि प्रयाति ॥

रथाङ्गव्यथनोद्धृतैः पक्तिमैरिव पाप्मभिः ।

त्रियामापगमे राजा तस्यजे वसुभिः क्षणान् ॥ ४० ॥

त्रियामाया निशाया अपगमे विराभे विनाशे । क्षये इत्यर्थः । राजा चन्द्रो नृपतिश्च
क्षणान् निमेषमात्राद्वसुभिः किरणैर्द्रव्यैश्च तस्यजे परित्यक्तः । 'वसुस्त्वमौ देवभेदे रुचि-
योक्ते शुष्के च सुखादे रत्ने वृद्धोपधे घने' इत्यनेकार्थाः । उत्प्रेक्ष्यते—रथाङ्गानां चक्र-
वाकविहंगमानां व्यथनैः परस्परवियोगोत्पादनैरुद्धृतैः संजातैस्तथा पक्तिमैः परिपाकं
प्राप्तैः उदयाचलिकायामुपागतैः परमपाप्मभिरुद्धटुःकृतैरिव । नृपतिरप्यकराकरकरण-
दण्डनपरदारगमनग्रहणसप्तव्यसनरोचनादिजनितदुरन्तदुरितैः कृत्वा । द्रव्यादिभिरा-
दिशब्दात् अश्वगजरथपदातिभटजनपदपुरप्रासादिरूपलक्ष्नीधनैस्त्यज्यते । क्षीणे पुण्ये
विधीयमाने च दुर्नये श्रीर्याति । यतः—'पुण्ये सत्यपि लक्ष्मीं दुर्नातिरिहान्तरे क्षयं
नयति । तैलेऽनुपभुक्तेऽपि हि दीपशिखां हन्ति वाताली ॥' इति वचनात् ॥ इति चन्द्र-
स्यास्ताचलगमनम् ॥

नियज्य हन्तुं स्वर्भाणुपाशकाङ्क्षीव पाशिना ।

विधुः पाथोधिसौधेनाधातुं सौहार्दमीयिवान् ॥ ४१ ॥

विधुर्वासतेयिविबोढा निशापतिः । पाथोधिरम्भोनिधिः समुद्रः स एव सौधं वास-
वेश्म यस्य तेन । 'वरुणस्तवर्णयमन्दिदं प्रचेताः' इति हैम्याम् । पाशः स्वशात्रवनिधन्त्र-
णदवरकप्रन्थिरस्यास्तीति पाशी वरुणः । 'जलयादःपतिपाशिमेघनादाः' इति हैम्याम् ।
वरुणाद्वाङ्गं तेन प्रचेतसा सार्धं सौहार्दं मित्रमित्रतामाधातुं कर्तुमीयिवान् । तद्वान्नि
जलनिधौ जगाम । उत्प्रेक्ष्यते—पाशकाङ्क्षीव । मित्रीभूताद्वरुणात्पाशं गृहीतुं काङ्क्षति
स्पृहयतीत्येवंशील इव । यतः मित्रस्य यद्विलोच्यते तन्निजमित्रात्तद्वस्तु गृह्यते इति
रीतिः । किं कर्तुम् । स्ववैरिणं स्वर्भाणुं विधुंतुदं नियज्य कथंचित्पाशेन कृत्वा निबध्य
हन्तुं कृतान्तनिकेतनातिथीकर्तुम् ॥

तमीप्रियतमो मध्ये प्रत्यगद्वीपवतीपतेः ।

जनिकर्तुर्निजस्येव मिलनाय समीयिवान् ॥ ३८ ॥

विभावरीप्राणवल्लभः विधुः प्रत्यगद्वीपवतीपतेः पश्चिमदिक्संबन्धिनो निश्चरिणीनाय-
कस्य समुद्रस्य प्रतीचीपाथोधेर्मध्ये समीयिवान् सप्तागच्छति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निज-
स्यात्मन आत्मीयस्य वा जनिकर्तुः जनकस्य । यतः—‘सागरान्मुनिविलोचनोदराद्यद्वा-
यादजनि तेन किं द्विजः’ इति नैपथे । मिलनाय पितृभेदातिरेकान्मिलनार्थमिव ॥

इतोऽभ्युदयते भानुरितश्चन्द्रोऽस्तमीयते ।

इदं किमप्यनीदृक्षमहो विलसितं विधेः ॥ ३९ ॥

इतोऽस्मिन् पार्श्वे पूर्वस्या दिशि भातुः सहस्ररश्मिः अभ्युदयते अभ्युदयं प्राप्नोति ।
‘अयं गतौ’ भ्वादिः आत्मनेपदी च । तथा ‘गच्छति विसर्पल्यल्ययते’ इत्यादिक्रियाः
क्रियाकलापे । इतः प्रतीचीननीरनिधेर्मध्ये । पश्चिमायां दिशीत्यर्थः । चन्द्रो रजनीजीवि-
तेश्वरः अस्तं क्षयं नाशमीयते लभते । ‘इद् च गतौ’ दिवादिरात्मनेपदी च । अहो
इत्याश्चर्यं खेदे वा । किमप्यपूर्वमनीदृक्षं विद्वद्भिरपि वक्तुमशक्यं वचनगोचरातीतं वि-
धेर्देवस्य विलसितं विजृम्भितं दृश्यते ॥ इति चन्द्रमसोऽस्तमयनम् ॥

दत्त्वोदयं त्वमेवास्तं कथं दत्से प्रियस्य नः ।

तारका इत्युपालब्धुं भेजुरस्ताचलं किमु ॥ ४० ॥

तारका अर्थादश्विन्यादिनक्षत्राणि दाक्षायिण्यः सर्वाः शशिप्रियाः । हेमाचार्येण नामसु
कश्चिद्विशेषः प्रोक्तो नास्ति । किं च ‘भकनीनिकयोस्तारा, तारा शब्दो भे नक्षत्रे कनीनि-
कायां च । तारा एव तारका नक्षत्राणि’ इति लिङ्गानुयासने । चन्द्रकरा अस्ताचलं प्र-
तीचीपृथ्वीधरं भेजुराश्रिताः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण उपालब्धुमुपालम्भं प्र-
दातुमिव । इति किम् । हे चरमाद्रे, नोऽस्माकं तारकाणां प्रियस्य प्राणनाथस्य निशी-
थीनीनायकस्य त्वमेव भवानेव उदयमुद्रसमैश्वर्यं वा दत्त्वा वित्तीयं प्रतिपद्धितीययोस्ति-
थ्योरस्ताचले चन्द्रोदयदर्शनात् । तस्माद्विधोरस्ताद्विरेबोदयाचलः । तथा प्रातर्वर्णने-
ऽप्युदयनाचार्येणापि प्रोक्तं यथा—‘उदयगिरिकुरङ्गीशृङ्गकण्डूयनेन स्वपिति सुखमि-
दानीमन्तरेन्दोः कुरङ्गः’ इति । प्रतिपच्चन्द्रोदयदर्शनं प्रायः सुरभिणामेव । यदुक्तम्—
‘प्रतिपच्चन्द्रं सुरभी नकुलो नकुली पयश्च कलहंसः । चित्रकवल्ली चापः सूक्ष्मं धर्मं
सुधीर्वेति ॥’ इति । पुनस्त्वमेवास्तमस्तमयनं क्षयं च कथं दत्से ददासि ॥

नक्षत्रपद्धतेः प्रातर्भ्रश्यन्तोऽम्बुधरादिव ।

क्षणाद्विलयमासेदुस्तारकाः करका इव ॥ ४१ ॥

तारका ग्रहनक्षत्रताराः प्रातः प्रभातसमये करका घनोपला इव क्षणान्निमेषमात्रा-
द्विलयं क्षयमासेदुः प्राप्नुवन्ति स्म । किं कुर्वन्तः । नक्षत्रपद्धतेराकाशात् । ‘अग्रं सु-

राभ्रोडुमरूपथोऽम्बरम्' इति हेम्याम् । अश्यन्तो अंशं प्राप्नुवन्तः । 'अश्वः अश्वः पतने' दिवादिर्को हेमधातुपाठे । कस्मादिव । अम्बुधरादिव । यथा जलधरान्मेघात्करका अश्यन्त्यधः पतन्ति ॥

अर्त्याब्धिमग्नं प्रत्यूषद्विपता मुपितश्रियम् ।

तारास्तारापतिं प्रेक्ष्यान्वमज्जस्तमिवार्णवे ॥ ४२ ॥

ताराः प्रातर्दृश्यमानाः गुरुशुकादिमहत्तारका अर्णवे समुद्रे । उत्प्रेक्ष्यते—तं चन्द्र-
मन्वमज्जन् विधुपृष्ठे बुबुडुरिव कृत्वा । तारापतिं स्वस्वामिनं शशिनं प्रेक्ष्य समीक्ष्य ।
अयं गुरोस्तारकः, अयं शुक्रतारकः, इति लोकोक्त्यापि तारकास्तेषां तारकाणां स्वामित्वं
तु चन्द्रमस एव । यतः—'तारकराद् किरीटः' इति नैषधे । 'अथ वा गह अदासीत-
डवी संतारकोटिकोडीणं । छासटिसहस्वनवसयपणहत्तरीपगससिभिन्नं' ॥ इति वच-
नात् ग्रहपतित्वमपि । किं च । यावान्परिवारः सूर्यस्य तावान्परिवारश्चन्द्रस्येति जीवा-
भिगमे । किंभूतः । प्रत्यूषं प्रभात एव द्विपन् द्वेपी शत्रुस्तेन मुपिता गृहीता छलदर्शिना
स्वावसरं छलं च प्राप्य हठात्सर्वाप्यादत्ता श्रीर्यस्य अत एवास्यां चिन्तया पीडया वा
दुःखातिरेकत्रपया अब्धौ समुद्रे मग्नं वृद्धितम् ॥

निशाशनायितेनाभ्रपथे तारकतन्दुलाः ।

दिनाननशकुन्तेन शङ्के कुक्षिगतीकृता ॥ ४३ ॥

निशाया रात्र्या कृत्वा निशायां वा चरणाभावाददर्शना जातास्त्यस्येत्यशनायितो
बुभुक्षितः तेन दिनाननं प्रभातं तदेव शकुन्तः पक्षी तेन शकुन्तेन अहमेवं शङ्के वित-
क्यामि उत्प्रेक्षे वा । अभ्रपथे मेघमार्गं गगनवर्त्मनि वा तारकतन्दुलास्तारका एवास्यां-
उज्ज्वल्यात्तन्दुलास्तुपनिर्मुक्तकलमाः । 'प्रथममुपहृत्यार्थं तारैरखण्डिततन्दुलैः' इति नैषधे
तारकास्तन्दुलीकृताः । कुक्षौ उदरे गताः । 'कृता' इति च्विप्रत्यये कुक्षिगतीकृताः ।
'इव बहुरूपकशालभञ्जिका मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्गवः । यदनेकपसौधकन्धरा हरिभिः कु-
क्षिगतीकृता इव ॥' इति नैषधे ॥

दिग्गजेन्द्रावगाहेनोत्पन्नाः स्वःसिन्धुबुद्बुदाः ।

क्षणादिव व्यलीयन्त तारकास्तारकापथे ॥ ४४ ॥

तारकास्तारास्तारकापथे नक्षत्रवर्त्मनि आकाशे क्षणादृश्यमाना एव स्वल्पकालादेव
व्यलीयन्त विलयं क्षयं लभन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दिग्गजानामाशामातङ्गानामैरावतादि-
हरिकुञ्जराणां जलावगाहेन सलिलक्रीडाकरणमज्जनादिविधिना उत्पन्ना उद्भूताः स्वःसि-
न्धोराकाशतरङ्गिण्याः । गगनगङ्गाया इत्यर्थः । बुद्बुदाः पानीयस्थासका इव । 'जलप-
पाटो' इति प्रसिद्धाः । बुद्बुदा हि स्वल्पकालावस्थायिनः स्युः । यदुक्तम्—'सम्भरा-
गजलबुद्बुदउवमे जीवि एष जलविन्दुचक्षले । जुच्चणेन्यनद्देगसंनिहे यावजीव किमयं
न बुज्जसि ॥' इति वैराग्यशतके ॥ इति शुकादिमहत्तारास्तः ॥

आगामिनो गवां पत्युः प्रातः सेनापतेः पुरः ।

कांदिशीका इवानश्यन्नन्धकारविरोधिनः ॥ ४९ ॥

आगमिष्यतीत्येवंशीलस्य आगामिनो गगनमण्डले समागन्तुकस्य गवां किरणानां भूमीनां च पत्युः स्वामिनः सूर्यस्य पार्थिवस्य प्रातः प्रभाताभिधानस्य दिनाननरूपस्य वा सेनापतेरनीकिनीनायकस्य पुरः पुरस्तादग्रे । उत्प्रेक्ष्यते—कांदिशीका भयद्रुता इव । अन्धकारविरोधिनः संतमससंपन्नसंदोहा अनश्यन्पलायांचकिरे । 'मित्रो ध्वान्तारातिर-
ब्जंशुहस्तः' इति हैम्याम् । एकस्य शत्रुत्वे द्वावपि परस्परं शात्रवौ भवतः इति ॥

गह्वरे भूभृतां गुप्तं तामसास्तापसा इव ।

कृशाः किमु तपस्यन्ति पुनरभ्युदयाशया ॥ ४६ ॥

तमसां समूहास्तामसाः । अत्र समूहार्थेऽण् । तिमिरप्रकराः कोशिका वा । 'ताम-
सास्तिग्मरोचिषः' इति वीतरागस्त्वे । कृशाः परिपन्थिपाथोजिनीपतिनिपतदृढतरकर-
निकरप्रसभप्रहारजर्जरीभवद्भूषणोद्भवद्भूरिचिन्तातिशयवशतो दुर्वलीभूताः सन्तः । उ-
त्प्रेक्ष्यते—भूभृतां धरणीधराणां गह्वरे महत्कन्दरे कोटरे किमु तपस्यन्ति तीव्रतमं
मुक्तान्नपानं तपःकष्टं कुर्वन्तीव । कथम् । गुप्तं छन्नं यथा स्यात्तथा केनाप्यज्ञातम् । कथा ।
पुनर्द्वितीयवारमभ्युदयस्य चन्द्रचण्डरुचिप्रदीपप्रमुखद्विषत्पराभाडकविषयाद्वैतस्फूर्तिभ-
त्तया आशया स्पृहया वाञ्छया । के इव । तापसा इव । यथा परित्राजकाः समग्रशात्र-
वक्षत्रगोत्रचित्रासनैकालम्भविष्णुनृपादिपदवीकामनया तपस्तन्वते ॥ इत्यन्धकारगमनम् ॥

अथ विभातप्राया शर्वरी उच्यते—

विद्राणोत्पलहृक्क्षीणशुका भ्रश्यत्पयोधरा ।

म्लानास्येन्दुस्यक्ततारमुक्ता वृद्धेव शर्वरी ॥ ४७ ॥

शर्वरी रात्रिर्द्धेव जरती स्त्रीवासीत् । किंभूता निशा वृद्धा च । विद्राणे संकुचिते
निमीलिते गते वा उत्पलानि कुवलयानि एव तत्तुल्ये च दृशौ नयने यस्याः । पुनः किं-
भूता । क्षीणोऽस्तमितप्रायः । विभातेऽपि कदाचित् शुको निरीक्ष्यते । ततोऽस्तमितप्रायः
अस्तमितो वाद्यगोचरीभूतः शुक्रः ग्रहविशेषो यस्याः । पक्षे । गर्भाधानाभावात्क्षीणं
विनष्टं शुक्रं पुंवीर्यं यस्याम् । पुनः किंभूता । भ्रश्यन्तोऽविरलीभवन्तः । पाश्चात्यरात्रौ
प्रायो वर्दलानि भवन्ति सूर्योदये च यान्ति । अत एव चम्पूकथायां प्रातर्वर्णने प्रोक्तं
सूर्यविशेषणम्—'करपरामृष्टपयोधरे' इति । पयोधरा मेघा अभ्ररूपा यस्याम् । पक्षे ।
भ्रश्यन्तावधःपतन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः । पुनः किंभूता । म्लानो विच्छाद्यीभूतो
गतचन्द्रिकत्वाद्वृद्धत्वाच्च आस्येन्दुर्वदनसदृशः वक्रमेव चन्द्रो यस्याः । पुनः किंभूता ।
त्यक्ता उज्जितास्तारा एव उज्ज्वला वा मुक्ता मुक्ताफलानि यया । प्रायो वृद्धानां भूष-
णपरिधानं शोभावन्न दृश्यते । यदुक्तम्—'मा ज्ञातुरिय पल्हाणिइ परकषपडइपडप्प ।
एतन्नेअसुहामणां बुढीकानिधडुक्क ॥' इति प्राकृतवाक्यात् ॥

रजनीवियुजां जाने द्विजानामपशापतः ।

कैरवाक्षी क्षणाद्राज्ञः क्षीणतां प्रतिपेदुषी ॥ ४८ ॥

राज्ञः सुधाधाम्नः नृपतेश्च कैरवाक्षी कुमुदनयना निशीथिनी जाया राज्ञी क्षणात्स्वल्पसमयादेव क्षीणतां क्षयभावमतिकृशीभावम् । अस्थिचर्मावशेषतामित्यर्थः । 'छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः । इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न ते विपदा ॥' अत्र क्षीणता तु कलावशेषमात्रेणैव । 'मूलादुच्छिन्नस्योपचय एव नास्ति क्षीणस्य स्वल्पावशेषस्यैवोपचयः' इति सूक्तोक्तिः । प्रतिपेदुषी प्रपन्ना संप्राप्तवती । उत्प्रेक्ष्यते—रजन्यां निशासमये वियुजन्ति परस्परं वियोगं प्राप्नुवन्तीति तादृशा द्विजाः पक्षिणो रथाङ्गनामानो ब्राह्मणाश्च । 'विहगयोः कृपयैव शनैर्यथौ रविरहर्विरहभुवभेदयोः।' इति रघुवंशे । तथा वस्तुपालकीर्तिकौमुदीसहोदरे सुरथोत्सवकाव्येऽपि—'रजनीवियुजां पतत्रिणाम्' इति । चक्रवाकानामिति । अपशापतः विरुद्धशपनादिव स्वाचारनिरतानां ब्राह्मणानां शापो लगति न तु ब्राह्मणब्रुवाणाम् । यतः—'वृत्तस्था ब्राह्मणा ज्ञेयाः क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः । कृषिकर्मकरा वैद्याः शूद्राः प्रेक्षणकास्तथा ॥' इति क्रियया ब्राह्मणत्वं न तु जात्या उत्तराध्ययने 'बम्बचेरेण बंभणे' इति ॥

त्यक्ततारपरीवारा छिन्नध्वान्तकचच्छटा ।

तमी तपस्विनीवासीद्वयितेऽस्तमिते विधौ ॥ ४९ ॥

विधौ चन्द्रमसि दयिते भर्तरि अस्तमिते परलोकं प्राप्ते सति तमी त्रियामा । उत्प्रेक्ष्यते—तपस्विनी तापसी आसीदिव परिव्राजकेव बभूव । किंभूता । त्यक्तो मुक्तस्तारास्तारका उपलक्षणाद्ब्रह्मक्षत्राणि एव परीवारः परिच्छेदो यथा । पुनः किंभूता । छिन्ना लूना भद्रकारिता ध्वान्तान्यन्धकाराण्येव कचच्छटा केशपाशो यथा । योषितो हि भर्तरि मृते शिरःकेशान्मुण्डयन्ति ॥

संसिद्धुः शशी कान्तां कामगादनुरागवान् ।

इत्यालोकयितुं शङ्के तमी तमनुजग्मुषी ॥ ५० ॥

तमी इन्दुकान्ता शशिनं स्ववल्गुं विधुमनुजग्मुषी पृष्ठे प्रस्थिता पश्चाद्वच्छति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यालोकयितुमित्यमुना प्रकारेण प्रेक्षितुमिव । इति किम् । अनुरागवाननुरतिकलितः । 'रागोऽनुरागोऽनुरतिः' इति ह्येयम् । अनुगतो रागो रक्तिमा तेन संयुक्तः । अस्ताद्रिसंगमान्मनागरुणीभूतत्वादिदं विशेषणम् । शशी कां चतुर्षु वर्णेषु अन्यतरां खेचरीमप्सरसं वा नागाङ्गनां वा । किंनारीं कान्तां स्त्रियं संसिद्धुः कस्याः सङ्गं कर्तुमिच्छुः । अगात्कुत्रापि मां विमुच्य गतः । 'निर्वापयिष्यन्निव संसिद्धक्षोः' इति नैषधे ॥

किं पाथेयमिवादाय क्षपा नक्षत्रमुक्तिकाः ।

प्रत्यूषे प्रोषितं कान्तं मृगाङ्गमनुगच्छति ॥ ५१ ॥

प्रत्यूषे प्रभातसमये प्रोषितं द्वीपान्तरं प्रति प्रस्थितं मृगाङ्गं हरिणलाञ्छनं निजहृद-
यनायकं कान्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—क्षपा निशा किमनुगच्छति पृष्ठे प्रयातीव । किं कृत्वा ।
नक्षत्राणि उडवः उपलक्षणत्वात्तारका एव तद्रूपा वा मुक्तिका मुक्ताफलानि अल्पभार-
बहुमूल्यानि मौक्तिकानि आदाय गृहीत्वा । किमिव । पाथेयमिव । यथा काचित्रिपुटिका
'त्रैवडीनीकरणहार' इति जने प्रसिद्धा दीर्घदर्शिनी नैपुण्यवती स्त्री कथमप्यकस्मात्का-
रणाद्विशंबलं खवल्लभं कुत्रचिज्जनपदे प्रस्थितं विज्ञाय स्वयं सम्यग्गमिमुक्तादिपाथेय-
मादाय तमनुयाति ॥

वितत्य मायिकीवाग्रे मायां तारामयीं तमी ।

क्षणाददृश्यतां निन्ये मन्ये तां दिवसानने ॥ ९२ ॥

तमी यामिनी दिवसानने प्रभातसमये मन्ये उत्प्रेक्षे अहमेवं मन्ये मानयामि विमर्शं
विदधामि वा । क्षणात्क्षणमात्रतां स्वयं प्रपञ्चितां मायां प्रेक्षणरूपकादिरचनाकपटपाटव-
मदृश्यतां दशोरगोचरतां निन्ये लम्भयामास । किं कृत्वा । अग्रे दशदिक्सीमव्योमम-
ण्डले मायिकीव इन्द्रजालिकविद्याविधुरा वनितेव । तारामयीमुपलक्षणाद्ब्रह्मक्षत्रप्रचुरां
मायां शाम्बरीम् । इन्द्रजालमित्यर्थः । वितत्य विस्तार्य ॥

तमस्विन्या विधोः पत्युर्विरहासहमानया ।

प्रातःसंध्याबृहद्भानौ स्वतनूः किमहूयत ॥ ९३ ॥

तमस्विन्या पीयूषमयूखप्राणवल्लभया विधोश्चन्द्रमसः पत्युः स्वमर्तुर्विरहं वियोगं न
सहते इत्यसहमाना तादृश्या सत्या प्रोहामविरहाकुलया विधुवल्लभवियोगं सोढुमसमर्थया
भवन्त्या । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातःसंध्या दिवसाननरक्तिमा सैव बृहद्भानुः कृशानुस्तस्मिन्
स्वतनूनिजगात्रलता किमहूयत हुतेव भस्मीकृतेव ॥

तूर्याणां यामिनीयामविरामे ध्वनिरुद्ययौ ।

प्रयाणं सूचयन्प्रातरिव राज्ञो मृगीदृशः ॥ ९४ ॥

यामिन्या निशाया यामानां चतुर्णां प्रहराणां विरामे अपगमे तूर्याणां वादित्राणां
'नगरा' इति लोकप्रसिद्धानां ध्वनिः शब्दः उद्ययौ प्रादुर्भूतः । उत्प्रेक्ष्यते—राज्ञश्चन्द्र-
मसो महीपतेर्वा मृगीदृशो निशाया महिष्या वा प्रयाणं प्रस्थानं सूचयन्कथयन्निव ॥
इति रात्रिगमनम् ॥

चक्रे श्रमणशक्रेण विधिर्वैभातिकस्ततः ।

जैत्रं तन्ममिवाधृष्यभावद्वेष्यजिगीषया ॥ ९५ ॥

ततो रात्रिगमनानन्तरं श्रमणशक्रेण वाचंयमपुरंदरेण हीरविजयसूरिणा । विभाते
विधीयते, विभातस्यायं वा वैभातिकः प्रातःकालसंबन्धी विधिराचारः प्रातरावश्यक-
दिक् चक्रे कृतः । उत्प्रेक्ष्यते—अधृष्याणामनाकलनीयानां दुर्धराणां भावानामन्तरङ्गा-

पामष्टकर्मणामष्टादशदोषाणां वा द्वेष्ट्याणां प्रतिभटानां जिगीषया जेतुमिच्छया । जैत्रं शात्रवगोत्रमात्रजयनशीलं तन्त्रसुपायमर्थसाधकमिव । 'तन्त्रं सिद्धान्ते राष्ट्रे च परिच्छन्दप्रधानयोः । अगदे कुटुम्बकुल्ये तन्तुवाने परिच्छदे ॥ श्रुतिशाखान्तरे शास्त्रे करणे अर्थसाधके । कर्तव्या तन्त्रोक्तिः' इत्यनेकार्थः ॥

उपभुज्य प्रियां प्रार्ची वज्रिणा व्रजता दिवम् ।

व्युत्सृष्टमिव ताम्बूलं शोणिमा प्रातरुद्ययौ ॥ ९६ ॥

प्रातः प्रभातकाले शोणिमा प्रभातसंध्याराग उद्ययौ प्रकटीवभूव । उत्प्रेक्ष्यते—प्रार्ची पूर्वदिशं प्रियां स्वजायाम् । 'कौशिकः पूर्वदिग्देवाप्सरःस्वर्गशचीपतिः' इति हैम्याम् । पूर्वदिक्पतित्वेन उपभुज्य नक्तं भुक्त्वा । 'निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित्' इति नैषधे । दिवं स्ववाससदनं त्रिदिवं व्रजता गच्छता वज्रिणा शक्रेण व्युत्सृष्टं नीरसत्वेनात्मसुखात्यक्तं ताम्बूलं सचूर्णखदिरपूगनागवल्लीदलचर्वणपिण्डमिव ॥

प्रातःसंध्या व्यभाद्रहिहेतिमुक्ता विवस्वता ।

हन्तुं महाहवोन्मादिमन्देहानिव कोपतः ॥ ९७ ॥

प्रातः प्रत्यृषसंबन्धिनी संध्या प्रभातसमयप्रादुर्भूतशोणिमा व्यभातसंध्यारागो भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—महति प्रौढे प्रवले आहवे संग्रामे उन्माद्यन्ति उन्मत्ता भवन्ति इत्येवंशीला ये मन्देहा नाम मार्तण्डे इति यक्षभूतराक्षसविशेषाः कोपतः क्रोधातिरेकात्तान् स्वप्रत्यनीकान् हन्तुं व्यापादयितुं भस्मसात्कर्तुं विवस्वता भास्वता मुक्ता तान्प्रति प्रहिता क्षिप्ता वह्निहेतिः कार्शानवं शस्त्रमिव । 'इह हि समये मन्देहेषु व्रजन्युदवज्रताम्' इति नैषधे । तथा 'तिस्रः कोव्योऽर्धकोटी च मन्देहा नाम राक्षसाः । उद्यन्तं सहस्रांशुमभियुध्यन्ति ते सदा ॥' इति नैषधवृत्तौ ॥

संध्यारागारुणं जैनं पदं प्रातर्व्यराजत ।

अपूजि निर्जरैर्भक्तिप्रह्वैः किं कुङ्कुमद्रवैः ॥ ९८ ॥

जिनोऽर्हन् विष्णुश्च तस्येदं जैनं तादृक्पदं विष्णुपदमाकाशं प्रातः प्रभाते संध्यारुणं संध्यारागेण कृत्वा रक्तीभूतं व्यराजत विराजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—भक्त्या सेवाशक्त्या कृत्वा प्रह्वैर्नम्रैर्नमनशीलैर्भूतैर्निजरैः सुपर्वभिः कुङ्कुमैर्भुष्टणपङ्कैर्द्रवैरपूजि किं पूजितमभ्यर्चितमिव विलिप्तमिव वा ॥

प्रातर्दिग्दन्तिनां गङ्गां व्रजतां जलकेलये ।

जज्ञे गण्डगलह्निन्दुवृन्दैर्व्योमारुणं किमु ॥ ९९ ॥

व्योमाकाशमरुणं संध्योल्लसद्गणेन कृत्वा रक्तं जज्ञे जातम् । शोणीवभूवेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातर्दिनमुखे जलकेलये सलिले क्रीडाकरणार्थं गङ्गामम्बरजम्बालिनीं प्रति व्रजतां गच्छतां दिग्दन्तिनां हरित्कुञ्जराणां गण्डेभ्यः कपोलपालिभ्यो गलद्भिर्निःसरद्भिः

विन्दुवृन्दैः पद्मनामभिः शोणच्छविमदवारिकणगणैः । 'विन्दुजालं पुनः पद्मम्' इति हैम्याम् । पद्मम्यादिदशायां करिणां कपोलेभ्यो रक्तविन्दवो निःसरन्तीति कविसमयः । 'भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोणाः' इति कुमारसंभवे ॥

प्रत्यूषे मखभुग्लेखातल्पेभ्यः पतयालुभिः ।

किमास्तीर्णारुणाम्भोजपर्णैः शोणीकृतं नभः ॥ ६० ॥

नभो गगनं शोणीकृतम् अधिकारार्थात्प्रभातसंध्यारागेण पाटलं प्रणीतम् । उत्प्रेक्ष्यते—प्रत्यूषे दिनवदने मखभुजां यज्ञांशभोजिनां लेखा श्रेणी तस्यास्तरूपेभ्यः पत्व-
ङ्केभ्यः पतयालुभिः पतनशीलैरास्तीर्णैः प्रस्तृते अरुणाम्भोजानां कोकनदानां पर्णैर्दलेर्म-
ण्डलैरिव ॥ इति प्रातःसंध्या ॥

अथो पाथोजिनीनाथोऽभ्युदियाय नभोङ्गणे ।

कपोलकुङ्कुमक्लिन्नं प्राच्याः किं कर्णकुण्डलम् ॥ ६१ ॥

अथो संध्यारागानन्तरं नभोङ्गणे आकाशाजिरे पाथोजिनीनां जलजन्मिनीनां नाथः प्राणपतिः सूर्यः अभ्युदियाय उदयाचलचूलायासुदृढं लभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कपो-
लस्य गण्डस्थलस्य पत्रवल्लीं प्रापितेन कुङ्कुमेन घुस्येन क्लिन्नं व्याप्तम् । 'अयमुदयति
घुस्यणारुणतरुणीवदनेपमश्चन्द्रः' इति विदग्धमुखमण्डनवचनात् प्राच्या आखण्डलम-
हिष्याः पूर्वदिशः कर्णस्यैकं कुण्डलं स्फुटं प्रकटं ताटङ्ग इव ॥

पूषद्विषं प्रसाद्याम्भोमूर्तिं नित्यानुशीलनैः ।

पद्मिनीभिरभीर्भर्ता पूषाहृतः किमुद्ययौ ॥ ६२ ॥

पूषा भानुमान् उद्ययौ उदयमालिङ्गति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पद्मिनीभिः कमलिनीभिः प्रेयसीभिर्भर्ता स्वप्राणनाथः । अथ वा पद्मिनीभिररविन्दैर्बान्धवैः सुहृद्भिर्वा निजसुहृद्-
न्धुराहृतः । सप्रणयं तादृशस्य पूषद्विषः शंकरस्य नित्यमहर्निशमनुशीलनैः सर्वावसरसा-
वधानताविधानाद्वैतसेवाभिः । जलमूर्तिरीश्वरस्य । यदुक्तम्—'क्षितिजलपवनहुताशनय-
जमानाकाशसोमसूर्याख्याः । यस्य खलु मूर्तयोऽष्टौ स भवतु भवतां शिवः सिद्धैः ॥'
इति कविसमयोक्तिः । प्रसाद्य पूर्वं प्रसन्नीकृत्याभयदानमार्गणसन्मानप्रदानादि सम्यगव-
रोपादानपूर्वं संतोष्य ॥

अभ्रमूवलभेनेवोत्खातः प्रातर्निखेलता ।

प्राग्गिरेर्गैरिको गण्डोपलो बालारुणो व्यभात् ॥ ६३ ॥

बालारुणोऽर्भकभानुमाली व्यभाद्विभासते स्म । 'जरीजृम्भङ्गिम्भयुमणिविलस-' इति खण्डप्रशस्तौ । तथा 'विश्वव्यापि तमो हिनस्ति तरणिर्बालोऽपि कल्पाङ्कुरो दारिद्र्याणि गजावलीं हरिशिशुः' इति श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तुतौ । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातः प्रभातसमये निखेलता स्वतन्त्रं तटाघातादिक्रीडां कुर्वता अभ्रमूवलभेन अभ्रमूनामा हस्तिनी तस्या

भर्त्रा । अभ्रमूषाब्दो दीर्घोऽपि दृश्यते—यथा ‘गजानामभ्रमूपतिः’ इति काव्यकल्पलता-
याम् । तथा ‘अभ्रमूषलभाखण्डं निशाशेषे कदाचन । खग्रे महेन्द्रमद्राक्षीत्पृथा पृथुमनो-
रथा ॥’ इति पाण्डवचरित्रेऽपि । ऐरावणवारणेन प्राग्गिरेः पूर्वपर्वतस्य गैरिको धातुसयो
गण्डोपलः स्थूलपाषाण इवोत्खातः उत्पाद्य क्षिप्तः इव । ऐरावतदन्तावलस्य पूर्वस्या
दिशो दिग्गजत्वात्प्राग्गिरेरिति कथनं युक्तिमत् ॥

द्यावाभूमी पराभूणुं भूच्छायामरवैरिणम् ।

भेतुं व्यमोचि चण्डांशु चक्रं किं चक्रपाणिना ॥ ६४ ॥

चक्रपाणिना नारायणेन । उत्प्रेक्ष्यते—चण्डास्तीक्ष्णा रुद्रा वा अंशवः किरणा यस्य
सूर्यरूपं वा । अथ वा चण्डं भयकारि अंशु शीघ्रगामि । ‘अंशुः सूत्रादिसूक्ष्मांशे किरणे
चण्डदीधितौ’ इत्यनेकार्थः । शीघ्रगामिनि वाच्यलिङ्गः । शब्देऽपि तत्र क्लीबम् । चक्रं
सुदर्शनं नाम स्वरथाङ्गं व्यमोचि मुक्तमिव । किं कर्तुम् । द्यावाभूम्योर्दिवस्पृथिव्योर्न-
भोभुवोः पराभूणुमभिवनशीलं भूच्छायमन्धकारमेवामरवैरिणं दानवं भेतुं विदारयितुं
हन्तुम् ॥

कण्ठपीठीलुठत्प्राणरथाङ्गाहविहायसाम् ।

जीवातुर्यमुनावीजी व्यरचीव विरञ्चिना ॥ ६५ ॥

विरञ्चिना ब्रह्मणा यमुनायाः कालिन्द्या बीजी जनकः । ‘वत्सा तु जनकस्तातो बीजी
जनयिता पिता’ इति हैम्याम् । ‘सहस्ररश्मिर्यमुनाकृतान्तजनकः प्रद्योतनस्तापनः’
तथा ‘यमुना यमभगिनी कालिन्दी सूर्यजा यमी’ इति द्वितयमपि हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—
जीवातुर्जीवन्निषधमिव व्यरचि विहितम् । केषां कण्ठपीठ्यां गलकन्दले । ‘जयत्युदरनिः-
सरद्वरसराजपीठीपठच्चतुर्मुखमुखावलीरचितसामनामस्तुतिः’ इति चम्पूकथायाम् ।
‘वंशिकवक्रोष्ठिकान्यकुब्जपीठानि’ इति लिङ्गानुशासने स्त्रीक्रीवल्लिङ्गयोः । पीठं पीठी
च । लुठन्तः वियोगातिव्यथाव्याकुलतया निर्गमनायागच्छन्तः प्राणा असवो येषाम् ।
कण्ठगतजीवितानामित्यर्थः । तादृशानां रथाङ्गा इति आङ्गा नाम येषाम् । ‘चक्रवाको रथा-
ङ्गाङ्गः कोको द्वन्द्वचरोऽपि च’ इति हैम्यां रथाङ्गशब्देन चक्रमुच्यते तन्नाम्नां विहायसां
पक्षिणां चक्रवाकविहङ्गमानां जीवनस्य भेषजमिव । ‘विहायो व्योमपक्षिणोः’ इत्यनेकार्थः ॥
इति सूर्योदयः ॥

शोणी दीप्तिर्दिनेशस्याधात्कुमारितरा श्रियम् ।

कोकैर्दुःखानलज्वाला किमुद्रीर्णाः सुहृत्पुरः ॥ ६६ ॥

दिनेशस्य दिवसनायकस्य भानोः दीप्तिः कान्तिः श्रियं शोभामधाद्वरते स्म । किं-
भूता । कुमारितरा बाला । प्रथमोत्पन्ना । अतिशयेन कुमारी कुमारितरा । ‘हम्नो वा’
इति सारस्वतसूत्रेण तरतमयोः परयोः सतोर्वा द्वस्वः । अत एव किंभूता । शोणी
अत्यन्तारुणा । ‘रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरा रवेः’ इति नैपथे । उत्प्रेक्ष्यते—

कौकैश्चक्रवार्कैर्विहंगमैः सुहृदः स्वमित्रस्य भास्करस्य पुरोऽग्रे दुःखरूपानलस्य सकलशर्व-
रीपरस्परवियोगसंजातासाततीव्रज्वलनज्वाला इवोद्गीर्णाः हृदयवदनाद्वहिरुद्गन्ता इव ॥

निजानुरागिणीर्वीक्ष्य दारान्स्मेरसरोजिनीः ।

किमुद्गीर्णोऽरुणज्योतीरागो राजीवबन्धुना ॥ ६७ ॥

राजीवबन्धुना अरविन्दसुहृदा सूर्येण अरुणमतिरक्तं यज्ज्योतिः कान्तिः एव रागो
हृदयोदयदनुरागोऽनुरतिरुद्गीर्णः प्रकटीभूतः । किं कृत्वा । स्मेरा विकसिताननसरोजाः
सरोजिनीः पद्मिनीदरान् निजप्रेयसीः । निजे आत्मनि विषयेऽनुरागोऽस्त्यासामित्यनु-
रागिण्यस्ताः सानुरागा वीक्ष्य व्यालोक्य ॥

हरिव्यापादितध्वान्तकुम्भिकुम्भसमुद्भवैः ।

रक्तै रक्तीकृता शङ्के प्रभा भाति स्म भानवी ॥ ६८ ॥

भानोरियं भानवी सूर्यसंबन्धिनी प्रभा अर्थात्कुमारीकान्तिर्भाति स्म शुशुभे । तत्रा-
हमेवं शङ्के वितर्कयामि । हरिणा भानुना केसरिणा च व्यापादिता कराप्रनिशितनिखि-
शोद्गुरधाराविदारिता ध्वान्ता अन्धकारा एव कुम्भिनः श्यामवर्णत्वादन्धकारसाधारणा
वारणाः । यत उक्तम्—‘दूरतया स्थूलतया श्यामतया गन्धलोलुपैर्मेधुपैः । धावितमिभ-
राजधिया तत्त्वधिया चाप्रतो महिषः ॥’ इति । प्रायोऽधुना कृष्णवर्ण एव दन्तिनो दृ-
श्यन्ते । तेषां कुम्भेभ्यः शिरःपिण्डेभ्य उद्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशै रक्तै रुचिरै रक्तीकृता
शोणा निर्मितेव ॥

कान्तागमे धृताताम्राम्बरा इव दिगङ्गनाः ।

बन्धूकबन्धुरैर्व्रघ्नभवैर्भान्ति प्रभाभरैः ॥ ६९ ॥

बन्धूकबन्धूककुसुमानीव ‘विपोहरिया’ इति लोकप्रसिद्धानि । बन्धुरैः शोणिन्ना
सुन्दरैः व्रध्नाद्भानोर्भवैरुत्पन्नैः प्रभाभरैः कान्तिकलपैर्दिगङ्गना आशावशा भान्ति वि-
राजन्ते । उत्प्रेक्ष्यन्ते—कान्तस्य स्वभर्तुः सूर्यस्यागमे समागमनसमये । ‘दिशो हरिर्द्विहं-
रितासिवेश्वरः’ इति रघुवंशे । धृतानि परिहितान्याताम्राणि सामस्त्येन शोणान्यम्बराणि
वासांसि याभिः एतादृश्य इव ॥ इत्यरुणतरुणप्रभा ॥

द्रुमद्रोणिषु संचिन्वन्नलसन्पल्लवानिव ।

तन्वन्निव तटाकेषु निन्दन्कोकनदश्रियम् ॥ ७० ॥

कुर्वन्निव गिरेः शृङ्गे गैरिकावनिविभ्रमम् ।

ताम्बूलश्रियमास्येषु दिग्वधूनां दिशन्निव ॥ ७१ ॥

सीमन्तेषु मृगाक्षीणां सिन्दूरं पूरयन्निव ।

प्रातः प्रस्तारयन्भाति भानुमान्भानुविभ्रमम् ॥ ७२ ॥

भानुमान् किरणमाली सूर्यः प्रातः वासरवदने भानूनां निजार्भकप्रभाणां विभ्रमं शोभां विलासं वा प्रस्तारयन् विस्तारयन् भाति विभ्राजते । द्रुमाणां तरुणां द्रोणिषु । 'द्रोणी द्रोणिरिदन्तः श्रेण्यामपि' इत्यनेकार्थावचूर्णिः । भानुविभ्रमं विस्तारयन्निति सर्वत्र योज्यते । उत्प्रेक्ष्यते—उल्लसतः स्फुरतः विकसतो वा पल्लवान्प्रवालान्संविन्वन्नुपचयं बाहुल्यं प्रापयन्निव । तथा तटाकेषु पद्माकरेषु । उत्प्रेक्ष्यते—कोकनदानां रक्तोत्पलानां श्रियं लक्ष्मीं तन्वन्विस्तारयन्निव बहूनि कोकनदानि कुर्वन्निव । तथा । गिरेः पर्वतस्य शृङ्गे शिखरे । उत्प्रेक्ष्यते—गैरिकवने रक्तधातुभूमेर्विभ्रमं भ्रान्तिं कुर्वन्निव विरचयन्निव । पुनर्दिग्बधूनां दशदिगङ्गानानां आस्येषु वदनेषु । उत्प्रेक्ष्यते—ताम्बूलश्रियं दिशन्ददान इव । ताम्बूले चर्विते वाधरादौ रक्तिमा भवेत् । पुनर्मृगाक्षीणां त्रस्तसारङ्गीदृशां सीमन्तेषु केशपाशवर्त्मसु । उत्प्रेक्ष्यते—सिन्दूरं शृङ्गारभूषणं पूरयन् सिन्दूरेण भरन्निव इति लोहितलक्ष्मीविलसितं सिद्धान्ते । 'कुङ्कुमखवियच्च जीवलोपे' इति सूर्यस्याभ्युदयसमये कान्तिरप्यतीव रक्ता स्यादिति । त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति सूर्यप्रभाप्रस्तारः ॥

प्रारम्भे भानुना व्योम्नि क्रमाच्चङ्क्रमणक्रमः ।

विश्वविश्वंभराभोगं प्रेक्षितुं किमु काङ्क्षता ॥ ७३ ॥

भानुना मार्तण्डेन व्योम्नि गगनाङ्गणे क्रमादनुक्रमेण चङ्क्रमणक्रमः गमनस्यानुक्रमः परिपाटी चङ्क्रमणकलितः क्रमः प्रारम्भे पादाः प्रारम्भे । अथ वा चङ्क्रमस्य क्रम आनन्तर्यनिरन्तरत्वं विश्रामरहितत्वेन गन्तुं प्रारभतेत्यर्थः । 'क्रमः कल्पाङ्घ्रिशक्तिषु परिपाट्याम्' इत्यनेकार्थः । 'परम्परायां पादक्षेपे आनन्तर्ये पदसंभावपि क्रमः' इत्यनेकार्थावचूर्णिः । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वस्य जगतः अथ वा विश्वस्याः समप्राया विश्वंभरायाः वसुंधरायाः आभोगं विस्तारं प्रेक्षितुं द्रष्टुं काङ्क्षता किमु वाञ्छतेव ॥ इति दिनोदयः ॥

आसाद्य दर्शनं तस्याः शासनस्वर्गिसुभ्रुवः ।

व्यरंसीच्छानतः सूरिर्यागीव परमात्मनः ॥ ७४ ॥

सूरिर्ह्रीरविजयसूरीन्द्रो ध्यानतः सूरिमन्त्रजापतः प्रणिधानाढ्यरंसीद्विरमते स्म । किं कृत्वा । तस्याः पूर्वोक्तसर्वाङ्गवर्णनागमनादिव्यतिकरायाः शासनदेवतायाः दर्शनं प्रत्यक्षावलोकनमासाद्य अधिगत्य । साक्षात्समीक्ष्येत्यर्थः । क इव । योगीव । यथा योगसाधको जितेन्द्रियो ध्यानविधानैकतानः परमात्मनः परमात्मस्वरूपस्य दर्शनं प्राप्य विरमति । ध्यानं कुर्वाणा योगीन्द्रा हृदि परमात्मानमालोक्य ध्यानाद्विरमन्ते । यथा 'योगं स चान्तः परमात्मसंज्ञं हृष्टा परं ज्योतिरुपारराम' इति कुमारसंभवे ॥

सूरीन्दुर्वसतेर्मध्ये ध्यानस्थानादथागमत् ।

प्राग्गिरेः कन्दरकोडाद्वास्वानिव नभोज्झणम् ॥ ७५ ॥

अथ शासनदेवतागमनप्रश्नकथनध्यानविरमणानन्तरं सूरीन्दुर्ह्रीरविजयसूरिचन्द्रो ध्यानस्थानात्प्रणिधानविधानास्पदाद्वसतेरुपाश्रयस्य मध्ये उत्सङ्गे आगमदागतः । क इव ।

भास्वानिव । भानुमाली यथा प्रागिगरेः प्राचीनपर्वतस्य कन्दरस्य । कन्दरशब्दत्रिलिङ्गे ।
‘पिठरप्रतिसरपात्रकन्दराः’ इति लिङ्गानुशासने । कोडात् हृदयात् । मध्यादित्यर्थः ।
अथ वा कोडादुत्सङ्गात्रभोङ्गणं गगनाजिरे समागच्छति ॥

प्रीतिप्रहैः प्रभुस्तत्र परिवत्रे त्रितित्रजैः ।

सुनासीर इवास्थानीमासीनः स्वर्गिणां गणैः ॥ ७६ ॥

तत्र मौलोपाश्रये प्रभुः सूर्येश्वरः प्रीत्या प्रमोदेन गुरुशिष्यस्नेहेन धर्मस्य हार्देन
प्रह्वैर्नम्रीभूतैः पदाम्भोजे भ्रमरीभावं प्राप्तैर्व्रतित्रजैः श्रमणपुङ्गवगणैः परिवत्रे परिवृतः ।
क इव । सुनासीर इव । यथा आस्थानीं सुधर्माभिधानां सभामासीन आश्रित्य तिष्ठन् ।
उपविष्ट इत्यर्थः । सहस्रलोचनः स्वर्गिणां गीर्वाणानां गणैर्वृन्दैः परिव्रियते ॥

तत्रागमन्पत्तनादिसंघास्तं वन्दितुं तदा ।

स्वर्गादिदेवाः समवसरणस्थं यथा जिनम् ॥ ७७ ॥

तत्र डीसाभिधे नगरे पत्तनमणहिल्लपुटभेदनमादिर्येषां तेषां नगराणां संघाः श्राद्धग-
णास्तं ध्यानोत्थितं सूरिं वन्दितुं नमस्कर्तुमागमन्नागच्छन्ति स्म । यथा इवार्थः । के इव ।
देवा इव । यथा स्वर्गो देवलोक आदिः प्रथमं येषां तेषां भवननगरज्योतिर्विमानानां
देवा भवनपतिवानमन्तरज्योतिष्कद्वादशकल्पवासिनः सुराः समवसरणे तिष्ठतीति समव-
सरस्थस्तं जिनं तीर्थकरं नमसितुमायान्ति ॥

प्रबोधयन्सुहृत्पद्मान्कुहृत्पङ्काश्च शोषयन् ।

स्पर्धयेव रवेः सूरैः प्रतापो व्यानशे दिशः ॥ ७८ ॥

सूरैर्ह्यरविजयवाच्यमेन्दोः प्रतापो दिशो दशापि हरितः प्रति व्यानशे व्याप्नोति
स्म । उत्प्रेक्षयते—रवेः सूर्यस्थार्थान्मार्तण्डचण्डप्रतापस्य स्पर्धया संघर्षेण मनस्यसूयया
वा । किं कुर्वन् । सुदृशः सम्यक् दृष्टय एव पद्माः कमलानि प्रबोधयन् प्रतिबोधवन्धु-
रान् विदधत् । सुदर्शनिनः कुर्वन् । सूर्योऽपि पद्मानि प्रबोधयति विकशयति । च
पुनः किं कुर्वन् । कुत्सिताः शाक्यादिमतोपादानपटलसंवल्लिता दृशः दृष्टयो येषां
सिद्धान्तविरुद्धवादित्वाद्दुष्टा दृष्टयो येषां ते कुदृशः कुवादिनः कुमतान्येव पङ्काः कर्द-
मास्तान् शोषयन् निष्ठापयन् । सूर्योऽपि पङ्कं शोषयति ॥

प्रतिक्रम्य चतुर्मासी स क्रमाद्व्यहरत्ततः ।

हर्षाद्वर्षा इवोलङ्घ्य मानसादिष्टमानसः ॥ ७९ ॥

स सूरिः क्रमादनुक्रमेण विजयदशमीदीपालिकादिनगमनपरिपाठ्या चतुर्णां मासानां
समाहारश्चतुर्मासी वार्षिकचतुर्मासिकम् । अथ वा वर्षां शरलक्षणयोर्द्वौर्भायां मासाभ्यां
कृत्वा चतुर्मासी, तां प्रतिक्रम्य । एतावता कार्तिकचतुर्मासिकप्रतिक्रमणं प्रणीय चतु-
र्मासी पूर्णाकृत्य वा ततस्तस्माद्दीसानगराव्यहरत् विहारं कृतवान् । इत्यर्थः । क इव ।

इष्टमानस इव । यथा इष्टमानसो राजहंसः वर्षां वर्षासमयमुल्लङ्घ्य मानसात् स्वावास-
कासारतः हर्षादानन्दाद्विहरति पृथिवीपीठपानीयप्रपूर्णानेकपङ्कजनिकुञ्जमञ्जुलजलाशयेषु
स्वैरं विहरति । 'नृपमानसमिष्टमानसः' इति नैषधे ॥

क्रमेणाहम्मदावादपुरे सूरिः समीयिवान् ।

नभोनीरधिर्वर्णिन्याः प्रतीरे सुप्रतीकवत् ॥ ८० ॥

सूरिर्हीरगुरुः क्रमेण ग्रामानुग्रामादिविहारपरिपाट्या अहम्मदावाद इति नाम यस्य
तादृशे पुरे नगरे समीयिवान् समाजगाम । किंवत् । सुप्रतीकवत् । यथा ईशानविदि-
क्संवन्धी अष्टमः सुप्रतीकनामा ककुप्कुञ्जरः नभस आकाशस्य नीरधेर्जलराशेर्वरवर्णिनी
पत्नी । 'वशा सीमन्तिनी वामा वर्णिनी महिलावला' तथा 'कर्पुर्द्रोपवती समुद्रदयिता
धुन्यौ खवन्ती सरः' इति द्वितयमपि हैम्याम् । एतावता आकाशगङ्गा । 'नदत्याकाशग-
ङ्गायाः स्रोतस्सुदामदिग्गजे' इति रघुवंशे । तस्याः प्रतीरे तटे । 'तटं तीरं प्रतीरं च'
इति हैम्याम् ॥

देवीनिगदितागण्यभाग्यसौभाग्यशालिनः ।

स्वस्यान्तेवासिनस्तस्य कम्माङ्गजयतीशितुः ॥ ८१ ॥

सूरीन्दुः कामयांचके दातुं सूरिपदं ततः ।

तनूजस्येव राज्यस्य धुरं धाली पुरंदरः ॥ ८२ ॥ (युग्मम्)

ततोऽहम्मदावादगमनान्तरं सूरिर्हीरविजयरजनिजानिः स्वस्यात्मनः आत्मीयस्य
वान्तेवासिनः समीपे वसनशीलस्य शिष्यस्य कम्मानाप्तो व्यवहारिणः गृहीतव्रतत्वात्सा-
धोर्वा अङ्गजः पुत्रः तथा यतीनां मध्ये ईशिता मुखयो गीतार्थत्वात् । अथ वा भा-
विनि भूतोपचारात् निर्ग्रन्थानां नायकः तस्य विमलप्रज्ञांशस्य सूरिपदमाचार्यपदं
प्रदातुं कामयांचके अभिलषति स्म । किंभूतस्य । देव्या शासनतरुण्या निगदिते सूचिते
कथिते अनप्ये अप्रमेये वाङ्मानसगोचरीकर्तुप्रशक्ये भाग्यं पुण्यं तथा सौभाग्यं सुभ-
गता विश्वबालभ्यं ताभ्यां शालते शोभते इत्येवंशीलस्य । क इव । धात्रीपुरंदर इव ।
यथा पृथिवीपुरहृतो राजा तनूजस्य निजनन्दनस्य राज्यस्य स्वसकलनण्डलाधिपत्यधुरं
प्रदातुं कामयते ॥

प्रक्रमे तत्र तत्रत्यसंधेनागृह्यत प्रभुः ।

तमिवाभिनवं सूरिशक्रमन्यं दिदृक्षता ॥ ८३ ॥

तत्र प्रक्रमे तस्मिन्प्रस्तावे तत्रत्येन कमीपुरीयेण संधेन धाद्वर्गेण भगवानगृह्यत ।
अर्थात्सूरिपदप्रदानार्थं प्रभोराग्रहः कृतः । संधेन किं कर्तुमिच्छता । तमिव हीरविजय-
गणधरमिव अन्यमपरं अभिनवं नवीनं सूरिशक्रं गणभारधुरंधरं दिदृक्षता द्रष्टुमिच्छता ॥

ततः स्वाशयसंवादि प्रपेदे तद्वचः प्रभुः ।

व्रतव्यतिकरे लौकान्तिकदेवोक्तमाप्तवत् ॥ ८४ ॥

ततः संघाप्रहानन्तरं प्रभुर्हीरविजयसूरिः स्वस्यात्मन आशयमभिप्रायं संवदत्यनुक-
रोल्येवंशीलं यादृशं गुरुचित्ते तादृश एव संघाप्रह इत्यर्थः । तद्वचः संघवचनं प्रपेदे
प्रतिपन्नवान् । किंवत् । आस्रवत् । यथा जिनेन्द्रः व्रतव्यतिकरे दीक्षाग्रहणावसरे लोकस्य
पञ्चमकल्पस्य अन्तः प्रान्तोऽवसानं तत्र तमिश्रराजिकान्तरालशालिविमानेषु । अचि-
अचिमालि-वैरोचन-प्रभंकर-चन्द्राभ-सूर्याभ-शुकाभ-सुप्रतिष्ठाभ-अरिष्ठाभिधानेषु
भवा लौकान्तिकाः । ते च नवविधाः । यथा—सारस्वत-आदित्य-वह्नि-वरुण-गर्दतो-
तुषित-अव्यावाध-आग्नेय-अरिष्टनाभानो देवास्तेषामुक्तं कथितमिवाहीकृतवान् ॥

सूरीन्द्रेणाथ दैवज्ञैर्मुहूर्तं निरधार्यत ।

एतन्महोदयस्येव प्रारम्भप्रथमक्षणः ॥ ८५ ॥

अथ संघाप्रहानीकारानन्तरं सूरीन्द्रेण दैवज्ञैर्मुहूर्तकैः सार्धं मुहूर्तं दोषादिनिर्मुक्तशु-
भवासरेवलक्षणं निरधार्यत निश्चीयते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्य जयविमलप्रज्ञांशस्य
यो महोदयो महानभ्युदयः तस्य प्रारम्भस्य प्रथम आद्यः क्षणः अवसरः कालविशेषः
पञ्चदशलवक्षणः ॥

शिल्पिभिः कारितः संघैर्मण्डपो यन्मुनीशितुः ।

पट्टश्रियं वरीतुं किं स्वयंवरणमण्डपः ॥ ८६ ॥

संघैः कमीपुरश्राद्धसमुदायैः कर्तृभिः शिल्पिभिर्वैज्ञानिकैस्तद्वचनचातुर्यैः कृत्वा साध-
नभूतैर्मण्डपो बहुजनाश्रयः कारितो निर्मापितः । उत्प्रेक्ष्यते—जयविमलनाम्नो मुनीशि-
तुर्निग्रन्थनाथस्य पट्टश्रियं वरीतुं सूरिपदलक्ष्मीमुद्रोढुं स्वीकर्तुं किं स्वयंवरणमण्डपः ॥

एतद्व्यतिकरेऽनेककौतुकालोकलालसा ।

त्रिलोकी चित्रदम्भेन मण्डपे किमुपेयुषी ॥ ८७ ॥

एष चासौ व्यतिकरश्च एतद्व्यतिकर आचार्यपदप्रदानावसरस्तस्मिन्ननेकानि कौतुकानि
आश्चर्याणि तेषामालोकने लालसा उत्तुका त्रिलोकी भुवनत्रयी चित्राणामालेख्यभावं
लम्भितानामर्थात्सुरासुरनागराणां दम्भेन कपटेन कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तत्र मण्डपे
किमुपेयुषी आगतेव ॥

विस्तीर्णोऽपि स संकीर्णो बभूवानेकनागरैः ।

भाविमद्वारकागण्यपुण्याकृष्टैरिवागतैः ॥ ८८ ॥

स संघजननिर्मापितो विस्तीर्णोऽप्यतिविपुलोऽपि सन् मण्डपो जनाश्रयः अनेकैर्गण-
नातीतैर्नागरैर्जनपदप्राप्तं निवेशपुरनगरजननिवहैः संकीर्णः अतिलघीयः स्थानमिव
बभूव संजातः । किंभूतैर्नागरैः । आगतैः समेतैः दशदिगन्तादपि तत्रोपनतैः । उत्प्रे-
क्ष्यते—भाविनो भाविष्यतो भद्वारकस्य जयविमलसूरैरगण्यैः सुरनरादिभिरपि
जेतुमशक्यैः पुण्यैर्भागधैरैराकृष्टैर्वारिकावद्वानीतैरिव उपायातैः ॥

निशि तारैरिवाकाशो भ्रियमाणः स निर्भरम् ।

तन्महोमिलितै रेजे पौरैर्जानपदैर्जनैः ॥ ८९ ॥

तस्य जयविमलप्रज्ञांशस्य पट्टप्रदानस्य महसि उत्सवे मिलितैरितस्तत आगल्यैकी-
भूतैः । उत्सववाची महःशब्दः सकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—‘एनं महस्विनमुपैहि
सदारुणोच्चैः’ इति नैषधे । नलानलयोर्वर्णने । ‘महस्विनं तेजस्विनमनलमुत्सववन्तं च’
इति तट्टतिः । तथा ‘महस्तेजस्युत्सवे च’ इत्यनेकार्थः । पौरैर्नागरैर्जानपदैर्गूर्जरपाद्माल-
लाटसौराष्ट्राद्यनेकनीवृजन्मभिर्जनैर्लोकैर्निर्भरं निश्चितं नीरन्त्रं भ्रियमाणः पूर्यमाणः स
मण्डपो भाति स्म । कैरिव । यथा निशि तस्मिन्नायां रात्रौ तारकैरुपलक्षणाग्निस्विल-
ज्योतिःसंतानैर्भ्रियमाण आकाशो गगनं भाति । चन्द्रोद्योते च केचिद्दृश्यन्ते, केचिन्न ।
तस्मिन्नायां दर्शयामिन्यां तु सर्वेऽपि स्फुटा एव लक्ष्यन्ते, तस्मादत्र तस्मिन्ना रात्रिरेवो-
पादीयते नापरा ॥

तीर्थेशितेव समवसरणं श्रमणाग्रणीः ।

श्रमणश्रेणिभिः सार्धमध्यासामास मण्डपम् ॥ ९० ॥

श्रमणानां तत्समयवर्तिनां संविभ्रमपक्षिणां शुद्धाचारवतां च श्रमणानां साधूनामग्रणी-
मुख्यो हीरविजयसूरिः श्रमणश्रेणिभिः मुनिमण्डलीभिः सार्धं मण्डपमाचार्यपदप्रदान-
स्थानमध्यासामास । क इव । तीर्थेशितेव । यथा तीर्थेनाथः साधुभिः सार्धं समवसरणं
धर्मदेशनमन्दिरमध्यास्ते । केनापि महर्धिकेन देवेन दानवेन वा रचितमिति शेषः ॥

पण्डिताखण्डलं श्रीमज्जयाद्यविमलाभिधम् ।

आह्वातुं प्रेषयामास मुनिमुख्यान्मुनीश्वरः ॥ ९१ ॥

मुनीश्वरो हीरभट्टारकः । जयेति पदमाद्यं यस्यास्तादृशी विमलेत्यभिधा नाम यस्य
स जयविमलस्तमेव पण्डितेषु कोविदेषु आखण्डल इवाखण्डल इन्द्रस्तमाह्वातुमाकार-
यितुं मुनिमुख्यान्वाचकादिवाचंयमपुंगवान् प्रेषयामास प्रहिणोति स्म ॥

अयमानीयतामीभिर्मण्डपं पण्डिताग्रणीः ।

उत्तराहैर्गन्धवाहैरम्बुवाहोऽम्बराङ्गवत् ॥ ९२ ॥

अमीभिर्मुनिमुख्यैरयं जयविमलनामा पण्डिताग्रणीः कोविदकुञ्जरः मण्डपं जनाश्रय-
मानीयत आनीतः । कैरिव । गन्धवाहैरिव । यथा उत्तरस्यां भवैरुत्तराहैः समीरणैः ।
लोके ‘सूरवायं’ इति प्रसिद्धैः । अम्बुवाहो जलभरतिर्भरभृतमध्यो धाराधरः अम्बर-
स्याकाशस्याङ्गमुत्सङ्गमानीयत ॥

प्रभुं बभाज तैः सार्धं साधुभिः साधुसिन्धुरः ।

युवराज इवानल्पैः सामन्तैः पितरं निजम् ॥ ९३ ॥

स साधुसिन्धुरः जयविमलमुनीन्द्रः तैः सूरिप्रहितैर्मुनिपञ्चाननैः सार्धं प्रभुं हीरविज-
यसूरीश्वरं बभाज आगत्य प्रणम्य सेवते स्म । क इव । युवराज इव । यथा सकलज-
नपदप्रजाचिन्ताकारकतया स्थापितो नृपकुमारः अनल्पैर्बहुभिः सामन्तैः सीमालभूपालै-
रनेकमण्डलीकमहीपालैर्वा समं निजं पितरं जनकं सेवते ॥

भाविस्त्रेरभूत्सोपाध्यायपदमादितः ।

परमावधिवत्साधोरुदेष्ट्यत्केवलश्रियः ॥ ९४ ॥

भविष्यतीत्येवंशीलो भावी स चासौ सूरिश्च तस्य भविष्यदाचार्यस्य आदितः
प्रथमं तस्य जयविमलविदुषः उपाध्यायनाम पदमभूद्भूतम् । एतावता आचार्यपदादा-
बुपाध्यायपदं प्रदत्तमित्यर्थः । किंभूतम् । परमावधिवत् । यथा उद्देष्ट्यन्ती प्रकटीभवि-
ष्यन्ती केवलश्रीः केवलज्ञानलक्ष्मीर्यस्य तादृशस्य साधोः श्रमणस्य परममुत्कृष्टं पृथक्प-
रमाणुज्ञानकृल्लोकमानमलोकेष्वपि लोकप्रसितासंख्येयखण्डावबोधविधायकमवधिज्ञानं भ-
वति । अथ वा प्रादुर्भविष्यत्केवलमेकाकारं निखिललोकालोकाकाशप्रकाशकं ज्ञानं यस्य
तादृग्विधस्य जिनेशितुः तीर्थंकरस्य आदितः संयमग्रहणप्रथमसमय एव तूर्यं चतुर्थं
मनःपर्यायसंज्ञं ज्ञानं भवति इति द्वितीयपाठः ॥

महामहैस्ततस्तस्य सूरिः सूरिपदं ददौ ।

जातवेदाः स्फुरज्ज्योतिर्निकेतनमणेरिव ॥ ९५ ॥

तत उपाध्यायपदप्रदानानन्तरं सूरिर्हीरविजयप्रभुः महामहैरधिकजायमानोत्सवै-
स्तस्य जयविमलोपाध्यायस्य सूरिपदमाचार्यपदं ददौ । क इव । जातवेदा इव । यथा
जातवेदाः कृशानुर्निकेतनमणेर्दीपस्य स्फुरद्देदीप्यमानं ज्योतिस्तेजो दत्ते । अथ
वा । क इव । यथा स्नेहप्रियो दीपस्य दशेन्धनस्य तमोपहं भूच्छायभिदुरं निजमात्मीयं
ज्योतिर्महो विश्राणयति ॥

उज्जित्वा शमिनोऽशेषान्पुरानिव रमा हरिम् ।

तं सूरिमुपगच्छन्ती रेजे सूरिपदेन्दिरा ॥ ९६ ॥

तं नवं प्रत्यग्रं जयविमलनामानं सूरिमुपगच्छन्ती समायान्ती सूरिपदेन्दिरा आ-
चार्यपदलक्ष्मी रेजे विराजते स्म । किं कृत्वा । उपगच्छन्ती अशेषान् समस्तान्
तदभिलाषुकान् परान् शमिनो वाचकप्रज्ञांशप्रमुखान् मुनीनुज्जित्वा संल्यज्य । केव ।
रमेव । यथा समग्रान् सुरासुरानौज्ज्य हरिं नारायणमुपयान्ती मन्दरमन्थानकमथनस-
मये क्षीरपाथोधिपाथोवेलासमुत्थितसर्वाङ्गीणलक्ष्मीसमुल्लसलक्ष्मी राजते । किंच 'देवेन
श्रुतममृतमथनावसरे सुरासुरकरपरिवर्त्यमानमन्दरमन्थानकनिर्घोषवधिरितसमस्तरोदः-
कन्दरादिवापि दूरोच्छलितदुग्धतुषारासारतारकितनभसः समुत्पन्नानेककौस्तुभादिवस्तु-

१. 'उद्देष्ट्यत्केवलस्येव तूर्यं ज्ञानं जिनेशितुः' इति पाठान्तरम्. २. 'प्रदीप इव
दीपस्य निजज्योतिस्तमोपहम्' इति पाठान्तरम्.

विस्तारादुद्गच्छदप्सरसां मुखमण्डलैः क्षणमिव विहितविकचनलिनशोभादनेकाश्चर्यकुक्षेः
क्षीरसागरात् अजनि जनितजगद्विस्मया स्मरजननी हस्तस्थिततरुणारविन्दा देवी
देदीप्यमाना पुण्यलक्ष्मीर्यस्याः सर्वाङ्गलावण्यमधुं विकचलोचनकर्पूरापीय पीयूषभुजो
मदनमदपरवशाः परस्परमवेर्ष्यन्तश्चकुश्रकपाणिना समं संगरम् । अथ सर्वानप्यन्तरा-
न्तरापततस्तानुलङ्घ्य मन्दरगिरिशिखरशातकुम्भनिकषोपलायमानवाहोर्भगवतश्चिक्षेप ।
क्षेपीयः कण्ठे वैकुण्ठस्य स्वयंवरकुसुममालिकाम्' इति चम्पूकथायाम् ॥

तस्य पूरयतो विश्वकामांश्चिन्तामणेरिव ।

श्रीमद्विजयसेनेति सूरिराजोऽभिधां व्यधात् ॥ ९७ ॥

सूरिराजो हीरविजयसूरीन्द्रस्तस्य जयविमलसूरेः श्रीमान् विजयसेन इत्यभिधां
नाम व्यधाच्चकार । तस्य किं कुर्वतः । विश्वेषां जगज्जनानां कामान्मनोभिलपितान्
पूरयतः पूर्णान् सृजतः । कस्येव । चिन्तामणेरिव । यथा देवमणिः सर्वान्कामान्
संपूरयति ॥

किंनर्य इव नागर्यो जगुर्गीतिं पिकीकणाः ।

संगीतं तेनिरे नाकिकुमारा इव नर्तकाः ॥ ९८ ॥

नागर्यो नागराङ्गनाः किंनर्यः किंपुरुषयोषित इव गीतिं गानं जगुर्गायन्ति स्म ।
किंभूताः । पिकीनां कोकिलानामिव कणः पञ्चमसूचकालापनमधुरध्वनिर्यासां तथा
नर्तका नटा नाकिनां देवानां कुमारा इव संगीतं प्रेक्षणकनिमित्तप्रयुक्तगीतनृत्यवाद्यत्र-
यम् । अथ वा प्रेक्षणकं नाटकमेव तत्तेनिरे चक्रिरे ॥

त्रिलोकीमपि कुर्वाणं तत्र चित्रीकृतामिव ।

नेत्रश्रोत्रसुधास्पन्दि तौर्यत्रिकमजायत ॥ ९९ ॥

तत्र व्यतिकरे नेत्राणां लोचनानां श्रोत्राणां श्रवणानां च मध्ये सुधाममृतरसं स्पन्दते
क्षरति सिञ्चतीत्येवंशीलं तादृशं तौर्यत्रिकं गीतनृत्यवाद्यत्रयमजायत जातम् । किं
कुर्वाणम् । त्रिलोकीं विश्वत्रयीमपि चित्रीकृतामालेख्यलिखितामिव कुर्वाणं विदधानम् ॥

तत्रास्ति श्राद्धमूर्धन्यः श्राद्धो मूलाभिधः सुधीः ।

सौन्दर्यधर्मदाढ्याभ्यां कामदेव इवापरः ॥ १०० ॥

तत्राहम्मदादादनाग्नि राजनगरे श्राद्धेषु श्रीमत्तया पक्षश्रावकवर्गेषु मूर्धन्यः शेखरः
श्राद्ध आस्तिकः मूल इत्यभिधा नाम यस्य मूलकश्रेष्ठिनामा सोऽस्ति विद्यते । किं-
भूतः । सु शोभना जिनधर्मानुगामिनी दानादिधर्मेषु धीर्बुद्धिर्यस्य सः । उत्प्रेक्ष्यते—
सौन्दर्येण वपुःप्रेयरूपकेण तथा धर्मेण पुण्यकृत्येषु दृढाशयतया च अपरोऽन्यः काम-
देव इव । शरीररमणीयतया अपरः कन्दर्पदेव एकः सुसरो विद्यते । अपरस्त्वयं
तत्तुल्यत्वेन तथा धर्मकर्तव्यदाढ्येन महावीरभगवतः द्वितीयश्रावकः कामदेवनामा
यादृक्षोऽभूतादगेवायमप्यास्ते ॥

जृम्भकव्रजवज्जन्मोत्सवे शंभोर्वणिग्वरः ।

ववर्ष वसुधाराभिस्तस्य सूरिपदक्षणे ॥ १०१ ॥

वणिग्वरः समयनैगमगणेष्वप्रणीः मूलाख्यप्रेष्टी तस्य विजयसेनसूरेराचार्यस्य यत्पदं तस्य क्षणे प्रदानस्य महोत्सवे वसुधाराभिः सुवर्णरूप्यमाणकप्रेणिभिर्ववर्ष वर्षति स्म । सुवर्णरूप्यकमहसुन्दिनाणकैः प्रभावनां कृतवानित्यर्थः । किंवत् । जृम्भकव्रजवत् । यथा शंभोस्तीर्थकरस्य जिनेन्द्रस्य जन्मोत्सवे जननमहामहे सौधमेन्द्रादिष्टधनदलोकपालानुज्ञया वैश्रवणसेवकस्तिथिकृजृम्भकगीर्वाणगणो हिरण्यस्वर्णरजतरत्नवल्लवासचूर्णपुष्पफलादिवृष्टिं कुर्वन्ति ॥

तस्मिन्निनिहितं सूरिपदं सूरिसितांशुना ।

दिदीपे भास्वता ज्योतिरिव सायं धनंजये ॥ १०२ ॥

तस्मिन्विजयसेनाभिधाने व्रतीन्द्रे सूरिसितांशुना हीरविजयसूरिसुधामरीचिना सूरे-राचार्यस्य पदं विनिहितं स्थापितं सद्दिदीपे दीप्यते स्म । किमिव । ज्योतिरिव । यथा भास्वता दिवाकरेण सायं संध्यासमये धनंजये वैश्वानरे विनिहितं ज्योतिर्नक्तमतीव दीप्यते । वासरे तादृशी दीप्तिर्न भवति यादृशी निशायां दीप्रा दीप्तिर्भवति । प्रसिद्धं चैतत् । किं चास्तं व्रजन्नम्भोजिनीवल्लभो धूमध्वजे स्वतेजोऽवस्थाप्य गच्छति प्रातरागतश्च पृष्ठातीति कविसमयः । तथा रघुवंशे—‘दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनेः’ इति ॥

शोभाभुमौ लभेते स्म श्रीमत्सूरिपुरंदरौ ।

प्रणिघ्नन्तौ तमःस्तोमं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ १०३ ॥

श्रीमन्तौ गणनायकैश्चर्यलक्ष्मीकलितौ यशःशोभाभास्वरौ सूरिपुरंदरौ हीरविजयसेनाभिधाचार्यविडौजसौ उभौ द्वावपि शोभां कीर्तिं ह्वयति लभेते स्म आसादयामासतुः । किंभूतौ । तमसामज्ञानानां दुरितानां वा स्तोमं समूहं प्रणिघ्नन्तौ व्यापादयन्तौ । काविव । सूर्याचन्द्रमसाविव । यथा दिवाकरनिशाकरौ तमःस्तोममन्धकारनिकरं मूलादुच्छिन्दतौ शोभां भुवने प्रसिद्धिं लभेते ॥

वनीमिवावनीं सूरिशक्रौ चङ्क्रमणैः क्रमात् ।

मधुराधाविव मासौ शोभां लम्भयतः स्म तौ ॥ १०४ ॥

तौ हीरविजयविजयसेननामानौ सूरिशक्रौ आचार्यपर्जन्यौ क्रमादनुक्रमेण चङ्क्रमणैर्विहरणैः विहारक्रमेण अवनीं मेदिनीमण्डलं शोभां श्रियं लम्भयतः स्म प्रापयामासतुः । काविव । मधुराधाविव । यथा मधुश्चैत्रः, तथा राधो वैशाखः । ‘चैत्रे मधुश्चैत्रकश्च वैशाखे राधमाधवौ’ इति हैम्याम् । एतावता वसन्तर्तुसंबन्धिनौ चैत्रवैशाखमासौ क्रमादनुक्रमतः प्रथमं चैत्रः पत्रपुष्पमञ्जरीकलिकाफलोदयोन्मुखान्कुरुते । ततो वैशाखमासः

परिणतफलमण्डलकलितान् सालमण्डलान् विदधाति इत्यनुक्रमः । चङ्क्रमणैर्निजागमनैः कृत्वा वनीमुद्यानवीथीं वनमालां लम्भयतः । 'स्ववनीसंप्रवदत्पिकापि का' ॥ इति ध्यानोत्थानाकस्मिपुरागमनाचार्यपदस्थापनम् ॥

कोऽपि मेघाविमूर्धन्यो लुम्पाकानां मते तदा ।

मेघजी ऋषिरित्यास्ते नाम्नामध्ये मणिर्यथा ॥ १०९ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे लुम्पाकानां 'लउका' इति नाम्ना प्रसिद्धानां मते पक्षे मेघजी इति नाम्ना कोऽपि कश्चिदृषिः तन्मतवेषधारकः आस्ते विद्यते । किंभूतः । मेघाविनां बुद्धिमतां पण्डितानां वा मध्ये मूर्धन्यो मुकुटायमानः प्रज्ञालचूडामणिः । क इव । मणिरिव । यथा इवार्थे । यथा अमेध्ये अशुचिस्थाने रत्नं मणिर्भवति ॥

ऋषिः कुअरजीनामा तं लुम्पाकमतप्रभुः ।

पल्लीपतिर्यथा वङ्कचूलं निजपदे व्यधात् ॥ १०९ ॥

लुम्पाकानां मतस्य प्रभुः स्वामी भारवाही कुअरजीनामा ऋषिः लुम्पाकवेषभूतं मेघजीऋषिं निजपदे स्वस्थाने व्यधात्स्थापयति स्म । यथा इवार्थे । क इव । पल्लीपतिरिव । यथा पल्लीपतिः पित्रातीवान्यायकारित्वात्कुपितेन स्वदेशात्प्रवासितं स्वपल्लीप्राप्तं नितरां क्रूरानीतिकारकत्वेन स्वस्थानोचितं पुत्राभावादङ्कचूलं नाम राजपुत्रं निजपदे निधत्ते स्म । अथ वा रतिकलहकुपितपराङ्मुखभवनापरस्थानस्थचौरिकार्थगततदङ्गरङ्ग-स्पर्शनातिस्मरपरवशीभूतस्ववशाप्रार्थनाप्रक्रमनिर्व्यूढनिष्कलङ्कशीलव्रतदर्शनाह्लादितकेश-ववसुधावासवः स्वपदे युवराजपदे स्थापितवान्वङ्कचूलं नृपनन्दनम् ॥

सिद्धान्तानेष निध्यायन्कदाचित्तत्त्वचक्षुषा ।

प्रतिमामार्हतीं चित्रवल्लीं चाप इवैक्षत ॥ १०७ ॥

एष मेघजीऋषिः कदाचित्कस्मिन्नपि प्रस्तावे । सिद्धान्तानां चाराङ्गाद्यङ्गोपपातिशु-पाङ्गप्रमुखानागमन्निध्यायन् विलोकमानः सन् तत्त्वचक्षुषा शुद्धमनोनयनेन कृत्वा अर्हतां तीर्थकृतामियमार्हतीं तां भगवत्प्रतिमां ऐक्षत विलोकते स्म । क इव । चाप इव । यथा नीलचापः चित्रवल्लीमीक्षते । किं कुर्वन् । ध्यायन् पश्यन् । कान् । आ सामस्येन गमो गमनमुपलक्षणादागमं गमनागमौ येषु त आगमाः भूमीप्रदेशाः तान् । 'चित्रकवल्लीं चापः' इति सूत्रोक्तेः ॥

लुम्पाकानां मतात्तस्मादिव कारानिकेतनात् ।

निर्गन्तुं कामयामास स ततो मेघजीमुनिः ॥ १०८ ॥

ततो जिनप्रतिमाक्षरदर्शनानन्तरं स मेघजीमुनिस्तस्माल्लुम्पाकमतानिर्गन्तुं निःसर्तुं कामयामास काङ्क्षति स्म । कस्मादिव । कारानिकेतनादिव । यथा कश्चिज्जनः न्यायेन वा अन्यायेन न्यायेऽप्यन्यायीकृत्य वैरिबाहुल्यादिति न्यायात् । चारके नृपा-

दिना क्षिप्तः स तस्माद्वन्दिमन्दिरात् प्रपञ्चचातुर्येण कृत्वा निर्गन्तुं कामयते । इति मेघ-
जीमुनेः प्रतिमाक्षरदर्शनात्प्रतिबोधः ॥

तन्मताधिकृतान्वेषधरान्वागुरिकानिव ।

पाशे पातयतो मुग्धान्मृगानिव विवेद सः ॥ १०९ ॥

स मेघजीमुनिस्तस्य लुम्पाकस्य यन्मतं पक्षस्तत्राधिकृतोऽङ्गीकृतो यो वेषो विरुद्ध-
साधुलिङ्गं धरतीति तन्मतस्याधिकारिणो वेषधरा वा केवललिङ्गधारकास्तान् लुम्पाकान्
वागुरिकान् वागुरा मृगजातिलकामृगादिजन्तुग्रहणपाशोऽस्त्येषामिति वागुरिकाः ।
अस्यार्थे इकः । 'अइके मत्वर्थे' इति सारस्वतेन । तान् जालिकानिव विवेद हृदि
जानाति स्म । किं कुर्वतः । मृगान् हरिणानिव मुग्धानभिज्ञान् तत्त्वातत्त्वविचारणाचतु-
रेतरान् जनाञ्जन्तून् पाशे पाशसदृशे कुमते पातयतः क्षेपयतः । तथात्रापि कोऽपि
मुग्धः प्रतिभाप्रागल्भ्यनिर्मुक्तो न किमपि कपटचर्यादिकं वेत्तीति तादृगज्ञः केनापि
धूर्तेन वाग्वन्धादिप्रदानेन विमोह्य स्वीकृतो लोकैः पाशे पातितेऽसौ विमुच्यते ॥

अमी वीङ्गान् प्रकुर्वन्ति वका इव शनैः शनैः ।

सतां सम्यग्दृशो हन्तुं काङ्क्षन्तः शफरीरिव ॥ ११० ॥

अमी लुम्पाकवेषधारका वका वकोटा इव शनैः शनैर्मन्दं मन्दमालोक्यालोक्य मुग्ध-
विप्रतारणबुद्ध्या वीङ्गान् गमनं प्रकुर्वन्ति पादौ विमुञ्चन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सताम् अस्मासु
श्रावकत्वं नाम्ना विद्यते परं तत्त्वं सम्यक्तया न विद्यः तेषां श्राद्धानां सतां परं
मुग्धानां सम्यग्दृशः सत्यज्ञानदृष्टी । सम्यक्तानीत्यर्थः । हन्तुं व्यापादयितुं भ्रंशयितुमिव
काङ्क्षन्तः इच्छन्तः । का इव । शफरीरिव । यथा वकाः शफरीर्मत्स्यीर्हन्तुं स्पृहयन्तः
शनैर्हिण्डन्ते ॥

विगोपनमिवैतेषां वेषं वेषभृतामवैत् ।

तन्मतस्थं पुनर्मेने सौधं कूपगतं निजम् ॥ १११ ॥

स मेघजीकृषिरेतेषाममीषां कलिकालविलसितेन महावीरदेवशासनेऽपि कण्टकप्राचु-
र्याद्बहुभूतानां लुम्पाकानां वेषभृतां जैनाभासलिङ्गधारिणां वेषं लिङ्गं विगोपनमिव विडम्ब-
नाप्रायमवैत् मनसि ब्रुवुषे । पुनः स मेघजीमुनिः तेषां लुम्पाकानां मते पक्षे तिष्ठतीति
तन्मतस्थं निजमात्मानं सौधं कूपगतमिवेत्यध्याहारः । बह्वन्धकारकलितपातालावटमध्य-
निष्पतितमिव मेनेऽज्ञासीत् । इति गर्भितोपमा ॥

आप्तोक्तिरत्नगर्भायाममीषां प्रतिमार्हताम् ।

निधिकुम्भीव दुःस्थानां पथिकी नाभवद्दृशोः ॥ ११२ ॥

आप्तोक्तिरागमः सैव रत्नगर्भा वसुंधरा तस्यां दुःस्थानां दरिद्राणां निधिकुम्भीव
रत्ननिधानकलशीव । अमीषां लुम्पाकमतपक्षीभूतभूयोवेषधारिणामर्हतां तीर्थकृतां

प्रतिमा विम्बमर्चा दशोलोचनयोः पथिकी विद्यमानापि पान्थी गोचरा नाभवत् । तत्र
निमित्तं तु महांह एव ॥

ऐहिकासुष्मिके सौख्ये दूरेऽत्र स्थायिनो मम ।

नीरतीरे सरःपङ्के निमग्नस्येव दन्तिनः ॥ ११३ ॥

अत्र भवपरम्परापारावारप्रतिहरित्प्रसरत्पथः पूरान्तरनिपतनप्रस्फुरन्महावर्तभूते लु-
म्पाकमते तिष्ठति चिरं स्थितिं विरचयतीत्येवंशीलस्य स्थायिनो मम मेघजीनामात्मनः
ऽहलोकपरलोकसंबन्धिनौ सौख्ये शर्मणी दूरे विप्रकृष्टे वर्तते । भगवदाज्ञाविरोधिनो-
द्धतभूयस्तरदुरन्तदुरितोदयप्रादुर्भूततिर्यङ्गरकाद्यनन्तदुर्भवपरम्परोपलम्भतः शर्मलेशो-
ऽपि कुत्रस्थः सत्त्वः प्रागुयादिति । कस्येव । दन्तिन इव । यथा सरःपङ्के निदाघा-
निदाघकृद्धर्मवृत्तितीव्रतरकरनिकरशुष्कालपीयःसलिलपलवलवहुलजम्बाले निमग्नस्य सर्वे-
रप्यङ्गोपाङ्गैर्भूङ्खित्वा स्थितस्य किञ्चिल्लक्ष्याङ्गस्य नीरतीरे पानीयप्रतीरे अतिदूरे भवतः ॥

चेतसीति विचिन्त्यासौ पण्डवानिव पण्डितः ।

कैश्चिच्चालोचचतुरैरालोच्य सचिवैरिव ॥ ११४ ॥

स पल्वलमिवामेध्यं हंसो लुम्पाकनायकः ।

अत्याक्षीत्पक्षमात्मीयं विनेयैस्त्रिंशता समम् ॥ ११५ ॥ (युग्मम्)

स मेघजीनामा लुम्पाकानां नायकः स्वामी त्रिंशता त्रिंशत्संख्यैर्विनेयैः शिष्यैः
सममात्मीयं लुम्पाकसंबन्धिनं पक्षं लुम्पाकमतं गच्छे वा अत्याक्षीजहाति स्म । क इव ।
हंस इव । यथा राजमरालः पुरीपानेकास्थिपञ्जरविकटकण्टकटिक्करकबहुजलं बालशेवाल-
कलितमत एवामेध्यमपावनं वायसनिवासोत्पादशयनादिशकुन्तसंतानं पल्वलं त्यजति ।
किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेणार्थात्स्वयं तथा सिद्धान्तविरुद्धवचनभाषणभीरुकस्वा-
भिलषितज्ञापरगीतार्थैश्च चेतसि स्वस्यैव चेतसि वेत्ति । विचिन्त्य चिन्तयित्वा । विचा-
र्येत्यर्थः । क इव । पण्डवानिव । यथा तत्त्वानुगतमतिमान् पण्डितो मेधावी विचि-
न्तयति । सम्यग्देवगुरुधर्मादितत्त्वं विचारयति । च पुनः सचिवैरालोच्य आलोचेषु
मन्त्रणेषु चतुरैर्निपुणैः कैश्चिदात्मीयैः सिद्धान्तवचनभाषणातिभीरुकस्वाभिमतभिप्रायज्ञा-
परगीतार्थैश्चालोच्य विचारयित्वा च ॥ युग्मम् ॥ इति मेघजीमुनेर्लुम्पाकमतत्यजनम् ॥

निर्जित्य स्वमतैश्चर्यस्मयं तौर्यत्रिकोत्सवैः ।

प्राणमत्प्रतिमां जैनीं जयीव निजमातरम् ॥ ११६ ॥

स मेघजीऋषिः स्वस्यात्मनो मतस्य लुम्पाकवर्गस्य ऐश्वर्यमाधिपत्यं तस्य स्मयमहंकारं
गर्वं निर्जित्य पराभूय । तदैश्वर्यं मुक्त्वेत्यर्थः । अथवा 'निर्मुच्य' इति पाठो वा । तत्र
निःशेषेण मुक्त्वा संबन्धमात्रमप्यरक्षयन् त्यक्त्वा । 'निर्मुक्तः पञ्चदेह्या परमसुखमयः
प्रास्तकर्मप्रपन्नः' इति पञ्चमीस्तुतौ । तौर्यत्रिकोत्सवैर्वातनृत्नवाद्यत्रिकेणोपलक्षितश्राद्ध-

जनारब्धमहामहैः सार्धं जैनीं जिनसंबन्धिनीं प्रतिमां मूर्तिं प्राणमतः प्रणमति स्म ।
क इव । जयीव । यथा निखिलदिङ्मङ्गलनिर्जयनशीलः पृथिवीपालो निजमातरं
स्वजननीं प्रणमति ॥

कलौ स्वकामिताप्राप्तेर्लोकानालोक्य सीदतः ।

पूर्णकामांश्चिकीर्षु तान्स्वः सुरद्रुमिवागतम् ॥ ११७ ॥

सोदयाय कलिं लुप्त्वा किमु कर्तुं कृतं युगम् ।

नक्तंदिनमिवादित्यं धर्मं मूर्तमिवोद्भूतम् ॥ ११८ ॥

चतुर्थारकवल्लोकान्पञ्चमेऽप्यरकेऽथ वा ।

अवतीर्णमिवोद्भूतं कृपया गौतमं पुनः ॥ ११९ ॥

तपागच्छश्रिया लीलाललाममिव जङ्गमम् ।

श्रीहीरविजयं प्रीतेरैषीदेष निषेवितुम् ॥ १२० ॥ (कलापकम्)

एष मेघजीर्णः श्रिया सूरिलक्ष्म्या कलितं हीरविजयम् । श्रीहीरविजयसूरिमित्यर्थः ।
प्रीतेरानन्दात् । विशुद्धधर्मप्ररूपकत्वेन गुरुत्वेनाद्वा निषेवितुमुपासितुमैषीद्वञ्छति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—तपागच्छश्रिया तपोगणलक्ष्म्या जङ्गमं संचरणशीलं लीलाललामं शृङ्गारकृते
विधृतं कनकतिलकमिव । ललामशब्दो नकारान्तोऽकारान्तोऽप्यस्ति । ‘ललामवल्लाम-
मश्वादन्तः पुंस्त्रीबलिङ्गे नकारान्तः स्त्रीव एव’ इत्यनेकार्थः । अथ हीरविजयसूरिं वि-
शिनष्टि । उत्प्रेक्ष्यते—स्वः स्वर्गलोकादागतं भूमीमण्डलेऽवतीर्णं सुरद्रुं कल्पवृक्षमिव ।
किं कर्तुमिच्छुम् । तान् लोकान् पूर्णकामान् इच्छापूर्णपर्यन्ताधिगतसमस्तस्वमनोभि-
लाषांश्चिकीर्षु कर्तुमिच्छुम् । किं कृत्वा । कलौ कलिनान्नि युगे पञ्चमारके स्वेषामात्मनां
कामितानामभीष्टानामप्राप्तेरनासादनात्सीदतः दुःखीभवतः सकलान् यावद्रुमुधावलयव-
र्तिनो लोकानालोक्य विज्ञायेत्यर्थः । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मूर्तं शरीरवन्तमङ्गीकृतकायं वा
उद्भूतं प्रकटीभूतं धर्मं जैनधर्ममिव । किं कर्तुम् । नक्तंदिनमहोरात्रम् । निरन्तरमित्यर्थः ।
स्वस्यात्मन उदयाय चतुर्भिर्नक्षत्रैस्तरोभवनाय चतुरङ्गतया प्रादुर्भवाय वा कलिं प्रवल्ता-
पसंतापास्पदं कलियुगं लुप्त्वा विलुप्य निखिलावनीमण्डलानिकास्य कृतं युगं प्रथमसमयं
कर्तुं विधातुम् । कृतयुगे हि धर्मश्चतुरङ्गः स्यात् । यदुक्तम् नैषधे—‘पदैश्चतुर्भिः सुकृते
स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपदिरे’ इति । कमिव । आदित्यमिव । यथा भास्करः
नक्तं निशां विलुप्य दिनं वासरं कर्तुमुद्गच्छति । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—पञ्चमे दुःसमानामन्य-
प्यरके कृपया काश्यपससमुद्रतया लोकाञ्जगजन्तून् भविकजनान्वा उद्भूतं भवविकट-
वटादुद्भूतं मोक्षे महानन्दपदे नेतुं प्रापयितुं पुनर्द्वितीयवारमवतीर्णं पृथीतावतारं गौत-
ममिव श्रीमन्महावीरप्रथमशिष्यं गणधराग्रगण्यमिव ॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥

व्रतं जिघृक्षुः सोऽकाङ्क्षीर्दीरसूरः समागमम् ।

श्रीसुव्रतजिनस्येव कार्तिकः श्रेष्ठिपुङ्गवः ॥ १२१ ॥

स मेघजीकृपिः व्रतं प्रव्रज्यां जिघृक्षुः गृहीतुमिच्छन् ह्रीरसूरेर्हीरविजयसूरीश्वरस्य समागममकमिपुरे पादावधारणं समागमनमकाङ्क्षीन् वाञ्छति स्म । क इव । कार्तिक इव । यथा श्रेष्ठिनां श्रीदेवताप्रतिमाङ्कितवद्वशिः सुवर्णपद्मानां नगराधिकारिमुख्यानां मध्ये पुङ्गवः प्रधानः कार्तिकनामा श्रेष्ठी सुव्रतजिनस्य श्रीसुनिमुव्रतस्वामिनः आगमनं काङ्क्षति स्म ॥

विज्ञाय हीरसूरीन्दुराशयं मेघजीमुनेः ।

आगादहम्मदावादे माकन्दे कीरवत्कमात् ॥ १२२ ॥

हीरसूरीन्दुः हीरविजयसूरीश्वरीसार्वभौमः कसाद्रामाहुग्रामादिविहारस्य परिपाठ्या अहम्मदावादे गुर्जरमण्डलविपुलाखण्डलनिवासस्थानत्वेन राजनगरे आगात् आगच्छति स्म । स्वयमागत्य अकमिपुरे समवसत इत्यर्थः । किं वत् । कीरवत् । यथा माकन्दे सहकारमहीरुहे शुकः समेति । किं कृत्वा आगतः । मेघजीमुनेराशयं स्वपार्श्वे संयमग्रहणाभिप्रायं विज्ञाय ज्ञात्वा स्वतः परतो वा अवसाय ॥ इति हीरविजयसूरेरकमिपुरीगमनम् ॥

प्राच्यामिव प्रतीच्यां च महोऽभ्यधिकमावहन् ।

पैरोलक्षान्दधत्ताक्ष्याङ्गृह्णन्राज्ञां श्रियं पुनः ॥ १२३ ॥

सैहिकेयाञ्जयञ्शौर्याद्योऽजैषीत्पूषणं श्रिया ।

स गुर्जरेष्वथागच्छत्साहिः श्रीमदकञ्जरः ॥ १२४ ॥ (युग्मम्)

अथास्मिन्व्यतिकरे सकलवसुधावलयप्रसिद्धः श्रीमाननेकजनपदनायकाधिपत्याद्वैतलक्ष्म्या लक्षितः साहिः पातिसाहिः गुर्जरेषु आगच्छत्समागतः । स कः । योऽकञ्जरसाहिः श्रिया वैभवेन कृत्वा पूषणं सहस्रकिरणमजैषीजयति स्म परावभूव । 'नमसितुमना यन्नाम स्यान्न संप्रति पूषणम्' इति नैषधे । किं कुर्वन् । प्राच्यां पूर्वस्यां दिशि इव प्रतीच्यां पश्चिमायामप्याशायामभ्यधिकमतिशायितमं प्रतिपक्षपक्षलक्षदुःसहं स्वमहो निजप्रतापमावहन् आकलयन् । पुनः किंभूतः । लक्षात्परे पैरोलक्षा लक्षशस्ताक्ष्यान् जाल्यतुरङ्गमान् अर्थादश्ववारान् दधद्धारयन् । कटके कति वाजिनः सन्ति लक्षं द्विलक्षं त्रिलक्षं वा इति लोकभाषैव वर्तते । परं तावन्तोऽश्ववारा एव ज्ञेया इत्युक्तेः । पुनः किं कुर्वन् । राज्ञामपरापरपृथ्वीपालानां श्रियं संपदं देशनगरग्रामादिविभूतिं गृ-

१. पाणिनीयमते तु 'नाज्जलौ' इति. सूत्रस्थ 'पारस्करादित्वात्सुद' इति, कैयटानुसारेण सुट एव संभवे तस्य परादित्वेन पदान्तत्वाभावाद्वृत्वोत्वयोरप्राप्तौ 'परस्लक्षान्' इति भवेत्.

लनाददानः । पुनः किं कुर्वन् । शौर्यात् शूरत्वासिंहिकाया अपत्यानि सैहिकेयाः के-
सरिणः जयन्पराभवन् पराक्रमन् सिंहव्याघ्रादिश्वापदानिघ्नन् । सूर्यस्तु प्रतीच्यां म-
न्दायमानमहाः सप्ताश्व एव राज्ञः श्रियं दिशन् । ‘पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनु-
प्रवेशादिव बालचन्द्रमाः’ इति रघौ । तथा सैहिकेयास्त्वर्मानोः सकाशादभिभवं लभ-
मानः । अत एवाकञ्चरसाहेः सूर्यजयो युक्त एव ॥ युग्मम् ॥ इत्यकञ्चरः ॥

साहिना सार्धमभ्येयुः प्राच्याः केऽपीह नैगमाः ।

शर्वरीसार्वभौमेन नभोमार्गे ग्रहा इव ॥ १२५ ॥

साहिना अकञ्चरपातिसाहिना सार्धं केऽपि केचन प्राच्याः पूर्वदिक्संबन्धिनः नै-
गमा वणिजो व्यवहारिणः इह गुर्जरमण्डले अभ्येयुरागताः । के इव । ग्रहा इव । यथा
शर्वरीसार्वभौमेन विधुना सार्धं नभोमार्गे गगनाङ्गणे ग्रहाः समायान्ति ॥

तेऽप्यासञ्ज्ञासने जैनै लीना मीना इवाम्बुनि ।

स्थानसिंहादिमा मान्या अमात्या इव भूपतेः ॥ १२६ ॥

ते नैगमा अपि जैनै शासने भगवत्संबन्धिनि तपागच्छाभिधाने शासने लीना नि-
लीयमानमानसाः एकतानीकृतचित्ताः सन्ति । क इव । मीना इव । यथा अम्बुनि पानी-
यविषये लीनास्तिष्ठन्ति । किंभूताः । स्थानसिंहः रामासाहसूनुः आदिमः प्रथमो मुख्यो
वा येषु ते तादृशाः । पुनः किंभूताः । महीपतेरकञ्चरपातिसाहेर्मन्या माननीयाः ।
क इव । अमात्याः सचिवा भूपतेर्मानार्हा भवन्ति ॥ इति प्राचीनश्राद्धाः ॥

अरंतुदं कुपक्षाणामिवासेचनकं सताम् ।

परिव्रज्योत्सवं कर्तुं काङ्क्षन्तो मेघजीमुनेः ॥ १२७ ॥

निशितायसशल्यानि हृदि मिथ्यादृशामिव ।

आनयन्ति स्म ते तुर्याण्यकम्बरमहीहरेः ॥ १२८ ॥ (युग्मम्)

ते प्राचीनाः श्राद्धा अकञ्चरनात्रो महीहरेः पृथ्वीपुरंदरस्य तुर्याणि वादित्राण्यानयन्ति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मिथ्यादृशां कुवादिनां हृदि हृदये वक्षसि निशितानि तीक्ष्णानि आय-
सानि लोहमयानि शल्यानि त्रिशूलानीव । ‘हृदि शल्यमिवापिंतम्’ इति रघौ । ‘अति-
पीडाकारित्वात्रिशूलम्’ इति तट्टतिः । तथा ‘परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे’ इति नैषधे ।
‘मिथ उल्लालितकुन्ता येऽग्रे’ इति तट्टतिः । ततः शल्यानि कुन्ता इव । तथा ‘शल्यं श-
स्त्रशलाकयोः’ इत्यनेकार्थं । शस्त्राणीव वा । प्राच्याः किं कुर्वन्तः । मेघजीमुनेः परिव्रज्याया
दीक्षाया उत्सवं महाहव कर्तुं निर्मातुं काङ्क्षन्तः इहमानाः । किंभूतं परिव्रज्योत्सवम् । उ-
त्प्रेक्ष्यते—कुपक्षाणां लुम्पाकादीनां कुमतभाजामरंतुदं मर्मव्यथकमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—
सतां साधूनां जैनानां सुदृशामासेचनकमाप्यायकमिव । ‘तदासेचनकं यस्य दर्शना-
द्दृङ् तृप्यति’ इति हैम्याम् । अत्र लालाघण्टान्यायेनोभयत्रापि इव संबध्यते ॥ युग्मम् ॥
इति वाद्यानयनम् ॥

स्पृहयद्भिरिवोद्गोहं मिद्धिसुग्धमृगीदृशम् ।

श्राद्धैरस्य तपस्यायाः प्रारभ्यत महामहः ॥ १२९ ॥

प्राच्यैर्गौर्जैश्च श्राद्धैः श्रावकैरस्य मेघजीमुनेस्तपस्याया दीक्षाया महामहः महोत्सवः प्रारभ्यत प्रारब्धः । उल्लेख्यते—मिद्धिभुक्तिरेव सुग्धमृगीदृक् कमनीयकामिनी ताम् । 'सुग्धो मूढे च रम्ये च' इत्यनेकार्थः । उद्गोहं परिणेतुं स्पृहयद्भिः कामयमानैरिव ॥

पूरिताशेषुदिग्ध्वानढक्का तद्यशसामिव ।

तन्महो भूपदिग्जेत्रयात्राढक्काकणा इव ॥ १३० ॥

कुलशैलपयोराशिप्रतिध्वनिविधायिनः ।

वाद्यमानघनातोद्यनादाः प्रादुरवीभवन् ॥ १३१ ॥ (युग्मम्)

वाद्यमानानि ताड्यमानानि वादित्रवादिकैर्जनैः करैर्दण्डेन वा निहन्यमानानि घनानि प्रभूतानि आतोद्यानि तूर्याणि तेषां नादाः शब्दाः प्रादुरवीभवन् प्रकटीभवन्ति स्म । किंभूताः । कुलशैलाः मेरुमन्दरकैलाशादिकाः कुलाचलाः तथा पयोराशिः समुद्रस्तेषु ये प्रतिध्वनयः प्रतिशब्दास्तान्विदधते प्रणयन्तीत्येवंशीलाः । उल्लेख्यते—तद्यशसां तस्य मेघजीकृषेः यशसां कीर्तीनां पूरिता निर्भरं भूता अशेषाः समस्ता दिशो दशाप्याशा यैस्तादृशा ध्वानाः शब्दा यासां ता ढक्का यशःपटहानि खाना इव । अथवा । तस्य मेघजीमुनेर्द्यश एव भूपो राजा तस्य दिशां समस्तहरितां जयनशीला यात्रा वैरित्रजोपरि विजयकृते प्रस्थानं तस्य तदर्थं वा ढक्काकणा निःस्वाननिःस्वना इव । राज्ञां हि प्रयाणेषु निःस्वाना वाद्यन्ते, तद्वनिभिश्च सर्वेऽपि सजीभवन्ति ॥ युग्मम् ॥

वदान्यैः श्रीदवद्धानं ददेऽगीयत गायनैः ।

अनर्ति नर्तकैरुच्चैर्वन्दिभिर्विरुदावली ॥ १३२ ॥

तत्र मेघजीकृषिदीक्षासमये श्रीदवद्धानं ददेरिव वदान्यैर्दानशौण्डैर्विधायनशीलैर्दानं ददे दत्तम् पुनर्गायनैर्गन्धर्वैर्वर्गैर्मधुरध्वनि अगीयत । पुनर्नर्तकैर्नटैस्ताण्डवाडम्बरविधायिभि-
रनर्ति नृत्यं निर्मितम् । पुनः वन्दिभिर्मङ्गलपाठकैर्विरुदानामावलिः श्रेणिः उच्चैः कथिता ॥

वैधेयवन्निरीयान्धकूपात्कूपे पतामि किम् ।

परपक्षान्गणैः स्वस्य स्वस्याहृतिकृतस्तदा ॥ १३३ ॥

अवमत्येति दीक्षां स श्रीहीरविजयान्तिके ।

सत्याकृतिमिवादत्त संगमे सुगतिश्रियाम् ॥ १३४ ॥ (युग्मम्)

स मेघजीमुनिः श्रीहीरविजयसूरैरन्तिके संनिधौ पाथ्य दीक्षां जैनतपसां जग्राह गृह्णाति स्म समादत्तवान् । कामिव । सत्याकृतिं सत्यकारमिव । लोके 'संचकार' इति प्रसिद्धः । कासाम् । सुगतीनां स्वर्गपर्वणफलदानां श्रियां लक्ष्मीणाम् । उल्लेख्यते वा—

त्रिदिवशिखराणां सत्याकृतिमिव । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेण तदा तस्मिन्दीक्षा-
ग्रहमहोत्सवसमये परपक्षान् परगच्छीयान् खरतरस्तनिकादीनवमत्यागणयित्वा । वि-
मुच्येत्यर्थः । किंभूतान् परपक्षान् । स्वस्यात्मनः गणैर्गच्छैस्तस्य मेघजीमुनेराहूतिकृतः
आकारणविधायिनः । आकारणं सूरिपदादिप्रदानादिना लोभयित्वा दृढं कुर्वन्तीति तान् ।
इति किम् । यदहं वैधेयवन्मातृशासितो मूर्ख इव ज्ञानवानप्यज्ञानवानिव अन्धकूपात्
ध्वान्तोपचितान्तरावटान्निरीय निर्गत्य पुनर्द्वितीयवारं कूपे अपरस्मिन्कूपे किं कथं प-
तामि ब्रम्पामि । अपि तु नैव पतिष्यामीत्येवं विचार्येत्यर्थः ॥ दुग्मम् ॥

उद्द्योतं शासने तेने विजयं दुर्दृशां च यत् ।

इतीवास्य व्यधात्सूरिरुद्द्योतविजयाभिधाम् ॥ १३५ ॥

सूरिर्हीरविजयप्रभुः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोरस्य मेघजीकृषेः उद्द्योतविजय इत्य-
भिधां नाम व्यधात्कार । इति किम् । यत्कारणादसौ त्यक्तलुम्पाकमताधिपत्यः शासने
उद्द्योतं प्रकाशं तेने विस्तारयामास । च पुनर्दुर्दृशां कुपक्षाणां कुमतानां विजयमवगण-
नारूपं विदधे निर्मितवान् । पराभवं विहितवानित्यर्थः ॥

पादपीठलुठन्मूर्धा बद्धाञ्जलिरसौ विभुम् ।

श्रीनाभ इव नाभेयं स्वयंभुवमवीभजत् ॥ १३६ ॥

असौ उद्द्योतविजयमुनिः विभुं हीरविजयसूरीन्द्रमवीभजत्सिद्धान्तोक्तविधिवद्विनय-
विधानादिप्रकारेणातिशयेन भजते स्म निषेवते स्म । तदेव दर्शयते—किंभूतः । पाद-
पीठे पदासने लुठन्मलन्मूर्धा मौलिर्यस्य । पुनः किंभूतः । बद्धाञ्जलिः ललाटपट्टवदित-
करकमलकुञ्जलः । क इव । श्रीनाभ इव । यथा श्रीनाभनामा गणधरः नाभेर्नाभिनामनु-
पस्यापत्यं संतानम् । नन्दन इति यावत् । नाभेयः श्रीकृष्णभदेवस्तं वृषभं स्वयंभुवं तीर्थकरं
भजते स्म । विशेषणे पूर्ववत् । पादपीठे लुठन् संघटं प्राप्नुवन् मूर्धा मस्तकं यस्य ।
तथा बद्धो रचितोऽञ्जलिः पाणिद्वययोजनं येन ॥ इति मेघजीकृषिमहः ॥

पारीन्द्र इव सूरीन्द्रः प्रणिहत्य तमोद्विपम् ।

नृणां व्यश्राणयद्बोधिं मुक्तापङ्क्तिमिवार्थिनाम् ॥ १३७ ॥

सूरीन्द्रो हीरविजयगुरुः नृणां भव्यप्राणिनां बोधिं सम्यक्त्वं व्यश्राणयद्ददाति स्म ।
कामिव । मुक्तापङ्क्तिमिव । क इव । पारीन्द्र इव । यथा केसरी अर्थिनां याचकानां
मुक्तानां स्वहारितकुम्भिकुम्भमध्यनिष्पतन्मौक्तिकानां श्रेणीं विश्राणयति प्रयच्छति ।
किं कृत्वा । प्रणिहत्य व्यापाद्य । किम् । तमः अज्ञानं पापं वा तद्रूपं दयामत्वात्तत्सदृशं
द्विपं हस्तिनम् ॥

मह्यां विहरति स्वैरं श्रीमत्सूरिपुरंदरे ।

दानवर्षितया भव्यव्रजेनानेकपायितम् ॥ १३८ ॥

श्रीमति अद्वैतवैभवंशान्तिनि हीरविजयनाम्नि सूरिषु पुरंदरे वासवे मध्यां महीमण्डले स्त्रैरे स्वेच्छया न पारतक्याद्विहरति विहारं विदधति सति दानं द्रविणादिविश्राणनं मदा-
म्भश्च वर्षतीत्येवंशीलस्तत्तथा । 'दानं विश्राणनसदाम्भसोः' इत्यनेकार्थः । दानवर्षणस्वभा-
वेन भव्यव्रजेन भविकजन्तुजातेन अनेकान्यद्गन्तुःस्थानर्थिनो वा पान्ति दारिद्र्यादुद्धरन्ति
सुखीकुर्वन्ति च तेऽनेकपाः सततज्ञाश्च तद्वदाचरितं सामयोनिसदृशीभूतं च ॥

पितेव सूनुना साकं कम्माङ्गजयतीन्दुना ।

पत्तनं पावनीचक्रे हीरमूरीश्वरः क्रमात् ॥ १३९ ॥

हीरमूरीश्वरः क्रमादनुक्रमाद्विहारपरिपाठ्या स्वतन्त्रसुखविचरणात् पत्तनमण्डि-
वाटकाभिधानपत्तनं पावनीचक्रे पथित्रीकरोति स्म । कथम् । साकं सह । केन कस्मात् ।
कम्मासाधोरङ्गजो नन्दनः स एव यतिषु वाच्यमेषु यतीनां मध्ये आह्लादकत्वाद्वा-
गभूतवर्धित्वादिन्दुरिव । इन्दुराचार्येणेत्यर्थः । क इव । पितेव । यथा जनकः सूनुना सार्धं
पत्तनादिपुरं समेति ॥

कृत्वा क्रमादनूचानपदनन्दि सुनीश्वरः ।

देशं स्वसूनो राजेव गणं तस्य वशं व्यधात् ॥ १४० ॥

सुनीश्वरो हीरविजयव्रतिवासवः गणं तपागच्छं तस्य विजयसेनसूरेर्विशमायनं
व्यधात्कार । किं कृत्वा । क्रमादनुक्रमेण । हेतौ तृतीया पञ्चमी च वाच्येति तृती-
याथः । पूर्वसूरिपरिपाटीतः अनुचानपदस्याचार्यपदस्य नन्दि द्वादशावर्तवन्दनानु-
ज्ञानादिविधिं कृत्वा विधाय । क इव । राजेव । यथा सकलमेदिनीमण्डलाखण्डलो
निजनन्दनस्य देशं स्वजनपदं वशमधीनं विधत्ते ॥

प्रभोर्नन्दिमहे हेमराजो मन्त्रीश्वरो मुदा ।

अमानि मानवैः श्रीद इवामितधनं ददत् ॥ १४१ ॥

प्रभोर्विजयसेनसूरेर्नन्दिमहे आचार्यपदाजुज्ञावन्दनकदानादिमहोत्सवे हेमराजो नाम
मन्त्रीश्वरः सचिवो मानवैर्जानपदैः पौरैर्नागरिकैश्च मनुजैः श्रीदो वैश्रवण एव अमानि
विज्ञातोऽवबुद्धः ॥ किं कुर्वन् । मुदा प्रमोदेन अमितं प्रमाणातीतमगणितं धनं द्रविणं
ददद्यच्छन् ॥ इति विजयसेनसूरिनन्दिः ॥

प्रत्यतिष्ठत्परोलक्षा आर्हतीः प्रतिमाः प्रभुः ।

कल्पितानल्पसंकल्पाः कल्पसाललता इव ॥ १४२ ॥

प्रभुर्हीरविजयसूरिः परोलक्षाः लक्षशः आर्हतीर्जैनीः प्रतिमा मूर्तीर्विम्बानि प्रत्य-
तिष्ठत् प्रतितिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कल्पिताः प्रदत्ताः पूर्णाकृता अनल्पा अनेके
भूयस्ताराः संकल्पा मनोभिलषितानि याभिस्तादृशीः कल्पसाललताः कल्पद्रुमवल्ली-
रिव । 'कल्पद्रुमलताः' इति सोमसौभाग्यकाव्ये ॥

पान्थानिव महानन्दपुटभेदनपद्धतौ ।

दीक्षयामास सूरीन्द्रोऽनेकानिभ्यतनूभवान् ॥ १४३ ॥

सूरीन्द्रोऽनेकान्परःशतानिभ्यतनूभवान्व्यवहारिपुत्रादीन्दीक्षयामास प्रव्राजयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—महानन्दो मोक्षः स एव पुटभेदनं रत्नयोनिपत्तनम् । रत्नयोनिरिति लोकरूढिः । तथा च रत्नसदृशानां पुरुषाणामुपत्तिस्थानम् । महानन्दे तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेवमहास-
ण्डलीकमहीपतिसूरिवाचकमहामुनिप्रमुखा रत्नेभ्योऽभ्यधिकानां महापुरुषाणामुत्पत्ति-
स्थानकं ततः पत्तनोपमानम् । तस्य पद्धतौ मार्गे पान्थान् पाथिकानिव ॥

शाखाप्रशाखाश्रेणीभिराकीर्णः श्रमणाग्रणीः ।

व्यभाट्ट इव छायाच्छन्नः सेव्यश्च राजभिः ॥ १४४ ॥

श्रमणानां साधूनामग्रणीः पुरोगो हीरविजयसूरिः वट इव न्यग्रोधपादप इव व्य-
भात् । किंभूतः । शाखा विमलविजयसागरसुन्दरादिका प्रशाखा आनन्ददृष्टिसौभा-
ग्यविशालकुशलादिक्तासां श्रेणीभिराकीर्णः परिवृतः । पुनः किंभूतः । छायाया शो-
भया छिन्नो निश्चितः सहितः । पुनः किंभूतः । राजभिर्भावनिभूतोपचाराद्भूपालैः
सेव्यः उपासनीयः । वटस्तु स्कन्धनिष्ठताः शाखास्ताभ्यः पुनर्निर्गताः प्रशाखास्तासां
राजिभिर्व्याप्तो भरितः । तथा छायाया प्रतिच्छायायिकाञ्चितः सिञ्चितः । तथा रा-
जभिर्यक्षैः सेवनीयः । यक्षाणां वटवासित्वात् । 'यक्षः पुण्यजनो राजा शुद्धको वट-
वास्यपि' इति हैम्याम् ॥

समस्थापयतीर्थसार्थाननेकानेकान्तवादान्बुजाम्भोजबन्धुः ।

महीमण्डले रन्तुमुत्कण्ठितायाः स्फुरत्केलिवेहा इव ब्रह्मलक्ष्म्याः ॥ १४५ ॥

एकान्तेन निश्चयेन वदनमेकान्तवादो न एकान्तवादो यत्र तदनेकान्तवादं जिन-
शासनम् । यतः—'स्याद्वादवाद्यार्हतः स्यात्' इति हेमाचार्योक्तिः । स एव तदेव वाम्बुजं
सरसीरुहं तत्र तद्विकाशने अम्भोजबन्धुः पद्मवान्धवः सदृशरश्मिः सूरीन्द्रः अनेकान्
शतशः तीर्थानां पापसंतापापनोदस्थानानां सार्थान् समूहान् । यद्यपि हैम्याम् 'संघ-
सार्थौ तु देहिनाम्' इत्युक्तम्, तथापि हेमचन्द्रेणैवानेकार्थं प्रोक्तम्—'सार्थो वृन्दे
वणिगगणे' इत्युत्पन्नभेदात्, तथा 'पदार्थसार्थ' इत्यपि दर्शनात्, अनुप्रासत्वाद्वा लक्षणयापि
समूहार्थं एव तस्मादानीतः । समस्थापयत्संस्थापयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—महीमण्डले
पृथ्वीपीठे रन्तुं क्रीडितुमुत्कण्ठिताया उत्सुकिताया ब्रह्मलक्ष्म्या मुक्तिश्रियाः । 'शिवं
निःश्रेयसं श्रेयो निर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिः' इति हैम्याम् । स्फुरन्तः निखिलसुदृग्दृग्गो-
चरीभावं भजन्तः केलिवेहा विलाससौधानीव । सूरिस्थापितानां तीर्थानां पृथिवीपीठ-
स्थायुक्त्वात् अथ च ब्रह्मलक्ष्म्याल्लोकयोपरितभूमौ स्थायित्वाच्च महीमण्डले क्रीडा-
काङ्क्षेति ॥ इति हीरविजयसूरिधर्मकृत्यानि महिमसंपदः ॥

अथो विहारप्रतिष्ठादीक्षाद्यनन्तरं कस्मिंश्चिदकव्वरसाहेराकारणसमये गन्धारनगरे चतुर्मासीं तिष्ठातोः सूरैर्गन्धारवर्णनं किञ्चित्—

अथो लाटलक्ष्मीललामायमानं पुरं वार्धितीरेऽस्ति गन्धारनाम ।

किमुद्वेज्यमाना जलैरम्बुराशेः प्रतीरं पुरी संश्रिता शार्ङ्गपाणेः ॥ १४६ ॥

लाटस्य लाडनाम्नो मण्डलस्य लक्ष्म्या ललामायमानं तिलकमिवाचरत् वार्धेः समुद्रस्य तीरे तटं तत्र गन्धार इति नाम यस्य तादृशं पुरं नगरमस्ति विद्यते । उत्प्रेक्ष्यते—
अम्बुराशेः कल्लोलमालिनः प्रसरत्तुङ्गतरङ्गरङ्गविरलजलरुद्रेज्यमाना अत्युद्वेगं प्राप्यमाना शार्ङ्गपाणेर्नारायणस्य पुरी द्वारका नगरी विष्णोः कुत्रापि गते सति समुद्रेणाप्लाव्य स्वसलिलमध्ये गृहीता, अत एव पानीयोद्वेगात्प्रतीरं तटं संश्रिता पानीयाद्बहिरागत्यात्र स्थितेव ॥

निधानेशरम्भाकुमारीगणेशान्दधानेन गाङ्गेयरजेश्वरांश्च ।

जिता येन वस्त्रोक्तसारा स्वलक्ष्म्या ह्रियेवाश्रिता शंभुशैलस्य मौलिम् १४७

गन्धारनगरेण स्वलक्ष्म्या निजवैभवेन जिता परिभूता सती वस्त्रोक्तसारा धनदपुरी ह्रियेव त्रपातिरेकादिव शंभुशैलस्य मौलिं मस्तकमुपरितनशिखरमाश्रिता भेजुषी । येन किं कुर्वाणेन । दधानेन । कान् । निधानानां निधीनामीशाः स्वामिनो निधिपतयः तास्तथा रम्भाः कदलीः कुमारीः कन्यकाः तथा गणानां जनसमुदायानामीशा गणनायकास्तान् तथा गाङ्गेयं स्वर्णं तथा राजेश्वरं देशाधिपतिं राज्यलक्ष्मीवन्तमीश्वरा गजप्रमाणद्रविणधारिणः तान् विभ्राणेन । अलकापक्षे तु सर्वेऽप्येकैकाः । निधानेशो धनदः, तथा रम्भानाम्नी धनदाङ्गजनलकूबरपत्नी । ‘अस्मान्निमश्रोत्रमुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य । तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धात्रलकूवरं सा ॥’ इति नैषधे । कुमारी पार्वती गणेशो विघ्ननायकः गङ्गाया अपत्यं गाङ्गेयः स्वामिकार्तिकः । ‘गङ्गोमाः कृत्तिकासुतः’ इति हैम्याम् । तथा ‘गाङ्गेयो गृहभीष्मयोः’ इत्यनेकार्थः । राजानो यक्षा-
ईश्वरः शंभुस्तान्बभ्रती ॥

स्फूर्त्या मणीकम्बुवराटमुक्तिका प्रवालमातङ्गतुरङ्गमश्रियाम् ।

विहेलितेनाम्बुधिना द्विवेलं वेलाच्छलाद्यन्नगरं न्यषेवि ॥ १४८ ॥

मणयः चन्द्रकान्ताद्याः सामान्येन सर्वजातिजानि रत्नानि कम्बवः शङ्खाः वराटा रत्नमुख्यानि हीरका कपर्दा वा मुक्तिका मुक्ताफलानि । ‘बहुकम्बुमणीवराटकागणनाटकरकर्कटोत्करः’ इति नैषधे । हृदेषु कम्बवोऽपि हृदयन्ते । प्रवाला विद्रुमा मातङ्गा हस्तिनः तुरङ्गमा अश्वाः श्रीर्धनधान्यादिविविधलक्ष्मीस्तासां स्फूर्त्या अत्युद्गरवैभवभरेण कृत्वा विहेलितेनावगणितेनाभिभूतेनाम्बुधिना समुद्रेण द्वे वेले वाराववसरौ यत्र । ‘वेला वाराववसरः प्रस्तावः’ इति हैम्याम् । तथा ‘वेला स्याद्बुद्धिरम्भसः’ । द्विवेलमिति क्रियाविशेषणम् । वेलाच्छलाजलवृद्धिकपटात् । वेलागममिषिणेत्यर्थः । यन्नगरं गन्धारपुरं न्यषेवि

उपास्यते स्म । अम्बुधावपि मण्यादयः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति । ऐरावणोच्चैःश्रवसो-
स्तत्रोत्पन्नत्वात् जले गजाश्वानां संभवाद्वा ॥

इन्द्रनीलमणिशालिजालकाश्चन्द्रकान्तकृतचन्द्रशालिकाः ।

भूतलाभ्युदयिनो वभासिरे शारदीनशशिमण्डला इव ॥ १४९ ॥

यत्र गन्धारनगरे इन्द्रनीलमणिभिः मरकतादिनीलरत्नैः शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीला
जालका गवाक्षा यासु तादृश्यः चन्द्रकान्तैश्चन्द्रमणिभिः कृता निर्मिता चन्द्रशालिका
अर्थात्सौधानां शिरोगृहाणि उपरितनभूमिका वभासिरे भासन्ते स्म दीप्यन्ते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—भूतले महीमण्डले अभ्यागल्योदयन्त्युद्गच्छतीत्येवंशीलास्तथा शारदीनाः
प्रसरत्पयोधरोधापगमप्रोलसत्प्रचुरचन्द्रिकाकलिताः शरत्कालसंवन्यिनीः शशिना-
मिति सार्थकं नाम कलङ्ककालिमाकलितचन्द्राणां मण्डला बिम्बा इव । मण्डलश-
ब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु । चन्द्रशालिकासु लक्ष्मसदृशेन्द्रनीलगवाक्षाः ॥ इति गन्धारवर्णनम् ॥

महैर्महीयोभिरनेकनागरैः प्रवेशितः सूरिपुरंदरः पुरम् ।

दिग्जैत्रयात्रासु निजानुगीकृतप्रतीपभूमीपतिसार्वभौमवत् ॥ १५० ॥

अतिशयेन महान्तो महीयांसस्तैर्महीयोभिरत्यभ्यधिकैर्महैरुत्सवैः कृत्वानेके गण-
नातीता नागराः पुरजनास्तैः सूरिपुरंदरो हीरविजयसूरिवात्तवः पुरं गन्धारनगरं
प्रवेशितः पुरे प्रवेशः कारितः । किंवत् । दिशां पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तराणां चतस्रणां
जैत्रासु जयनशीलासु यात्रासु सेनाभिः समं शात्रवेष्टवभिगमोऽभिषेणनं तेषु निज-
स्यात्मनोऽनुगीकृताः सेवकभावं लम्बिताः प्रतीपाः पूर्वं प्रतिकूला विजये कृते च कथं-
चिदानुकूल्यभाजः भूमीपतयो राजानो येन तादृक् सार्वभौमवत् । यथा चक्रवर्ती
महामहैः कृत्वा नागरैर्नगरं प्रवेक्ष्यते ॥

गणकैरविणीरमणः श्रमणैर्बहुभिः सह तत्पुरमध्यवसत् ।

कलभप्रकरैरिव गन्धगजो जलबालकभूधरभूवल्यम् ॥ १५१ ॥

श्रमणैः साधुभिः सार्धं गणे तपागच्छे आह्लादकत्वेन कैरविणीनां कुसुदिनीनां
रमणः प्राणनाथश्चन्द्रो गच्छनायकः तद्गन्धाराभिधानं नगरमध्यवसत् आश्रयति स्म ।
गन्धारबन्दिरे तस्थिवानिलर्थः । क इव । गन्धगज इव यथा कलभैस्त्रिंशदब्दकैः प्रौढैर्ग-
जप्रजैरुपलक्षणाद्विंशतिवर्षीयैर्विकैः दशवार्षिकैः पौतैः पञ्चवार्षिकैर्बालैः इत्यादिभिर्द्विरदैः
समम् । 'पञ्चवर्षी गजो बालः स्यात्पौतो दशवार्षिकः । वित्को विंशतिवर्षः स्यात्कलभ-
स्त्रिंशदब्दकः ॥' इति हैम्याम् । गन्धहस्ती जलबालको विन्ध्यः स एव भूधरः पर्वत-
स्तस्य भूवल्यं वनगहनपृथिवीपीठमधिवसति विन्ध्याद्रिवनखण्डे तिष्ठति । 'विन्ध्यस्तु
जलबालकः' इति हैम्याम् ॥

अमरपुरीकृतलज्जे तत्र विजेतुं बलिगृहे सज्जे ।

प्रावृषि दुग्धपयोधौ मधुपरिपन्थीव तस्थौ सः ॥ १५२ ॥

स प्रसिद्धः सूरिः तत्र गन्धारनगरे प्रावृषि वर्षाकाले वार्षिकचतुर्मास्यां तस्थौ तिष्ठति स्म । क इव । मधुपरिपन्थीव । यथा प्रावृत्तसमये दुग्धपयोर्धा क्षीरसमुद्रे मधु-
नाम्नो दैत्यस्य परिपन्थी शत्रुनारायणः तिष्ठति । किंभूते गन्धारपुरे । अमराणां
देवानां पुर्यां नगर्यां अमरावल्याः स्वातिशायिताभ्यधिकवैभवभरैः कृता विहिता लज्जा
मन्दाक्षं येन । पुनः किंभूते । बलिगृहं नागलोकं विजेतुं विशेषेण स्वविभववाधिक्येन
पराभवितुं सज्जे सज्जीभूते ॥ इति गन्धारनगरे हीरमूरेः स्थितिः ॥

जीविकामिव नभोम्बुपावलेः प्रावृषं पुनरवेत्य पत्तने ।

हीरसूरिपुरुहूतशासनात्तस्थिवान्विजयसेनसूरिराट् ॥ १९३ ॥

विजयसेन इति नाम यस्य तादृशः सूरिणां राट् राजा हीरसूरिपुरुहूतस्य हीरविज-
यसूरिशकस्य शासनादादेशात्पुनरपरार्थं पत्तने अणहिल्लवाटकनगरे तस्थिवान् स्थितः ।
किं कृत्वा । प्रावृषं वर्षासमयमुपेतमवेत्य ज्ञात्वा । प्रावृषं कामिव । नभोम्बुपानां
चातकानामावलेः पङ्केः जीविका जीवनवृत्तिमिव ॥

प्रीणन्प्राणिनभोम्बुपान्प्रविदधदुर्वादिनां दुर्दिनं

बोधाङ्कुरकरम्बितां विरजसं कुर्वेत्थ चित्तक्षितिम् ।

आनन्दं ददते स्म विस्मयकरीं व्याहारधारां किर-

न्भूमौ सूरिपुरंदरो जलधरो जम्भारिमार्गे पुनः ॥ १९४ ॥

भूमौ महिमण्डले सूरिपुरंदरो हीरविजयसूरिन्द्रः अथ च सूरिरेव पुरंदरो मेघः ।
यदुक्तम्—‘एक एव खगो मानी चिरं जीवतु चातकः । पिपासितो वा म्रियते याचते
वा पुरंदरम् ॥’ इति । पुनर्जम्भारिमार्गे शकपद्धतौ आकाशे । यथा देवमार्गस्तथा देव-
न्द्रमार्गोऽपि । तथा ‘येनामुना बहुविगाढसुरेश्वरा धू राज्याभिषेकविकसन्महसा वभूवे’
इति नैषधेऽपि । जलधरो मेघ आनन्दं जनानां प्रमोदं ददते स्म । ‘दद दाने’ भवादिरात्म-
नेपदी च । किं कुर्वन् । प्राणिनो जन्तव एव नभोम्बुपा वष्पीहास्तान् प्रीणन् तर्पयन्
तृप्तिमुत्पादयन् तेषाम् । पुनः किंभूतः । दुर्वादिनां परवादिनां मिथ्यादृशां दुर्दिनं दुष्टदिव-
सं पराजयगोचरीकृतत्वान्मेघान्धकारं च प्रविदधत् प्रकर्षेण कुर्वन् । पुनः किंभूतः ।
बोधस्तत्त्वज्ञानं सम्यक्त्वं वा तदेवाङ्कुरः प्ररोहः । अथ वा बहुवचनम् । बहुजनापेक्षया
तत्त्वज्ञानानि सम्यक्त्वानि च त एवाङ्कुरास्तैः करम्बितां व्याप्तामत एव विरजसं विग-
तरजस्कां पापधूलीभ्यां रहितां चित्तक्षितिं मनोमेदिनीं कुर्वन् सृजन् । पुनः किंभूतः ।
विशेषां जगज्जनानां विस्मयकरीमाश्चर्यात्पादिकाम् । व्याहारा एव वाग्बिलासा एव धारा-
ममृतवृष्टिं किरन्विस्तारयन् ॥

भवसलिलनिधेरिवैकतेतुं विधिमवलम्ब्य तदागमप्रणीतम् ।

घनसमयदिनान्दिनेश्वरश्रीर्गमयामास मुनीश्वरः क्रमेण ॥ १९५ ॥

तदा तस्मिन् प्रावृट्समये मुनीश्वरो हीरविजयसूरिः क्रमेण पयुषणादिपरिपाद्या
घनसमयदिनान्प्रावृषेण्यवासरान् गमयामासातिक्रामति स्म । किंभूतः । दिनेश्वरश्रीः
सूर्यवत्तेजोलक्ष्मीर्यस्य । किं कृत्वा । आगमे सिद्धान्ते उद्यनिर्युक्तियदिनचर्यादिशास्त्रे
वा प्रणीतं प्रोक्तं विधिं चातुर्मासिकसाधुसंबन्धिविविधक्रियाचुष्टानादिकमवलम्ब्याश्रित्य ।
उत्प्रेक्ष्यते—भवः संसार एवानन्तत्वाददृग्गोचरपारत्वात्सलिलनिधिः समुद्रस्तस्य तत्र
वा एकमद्वितीयं सेतुमिव । पद्यायाज इति जनप्रसिद्धाभिधानम् ॥

यं प्राप्तुं शिवाह्मसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः
पुत्रं कोविदसीहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

सर्गोऽसौ नवमोऽत्र देवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्तसौभाग्याभिधहीरसूरिरचिते संपूर्णतां प्राप्तवान् ॥ १५६ ॥

अत्र हीरसौभाग्यकाव्ये असौ अयमेव यो लिपेर्गोचरीकृतः । जवानां संख्यापूरणो
नवमः सर्गः अधिकारविशेषः संपूर्णतां प्राप्तवान् संपूर्णो बभूव ॥

इति पण्डितसीहविमलगणेशिष्यपण्डितदेवविमलविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यस-
हाकाव्यवृत्तौ शासनदेवीप्रकटीभवन-गुरुप्रश्न-तदुत्तर-स्वस्थानगमन-चन्द्रतारातमस्त-
मीविरामदिनकरोदयविजयसेनसूरिसूरिपद-मेघजीकृषिसमागमन-गन्धारनगरादिवर्ण-
नो नाम नवमः सर्गः ।

दशमः सर्गः ।

निःशेषदेशककुदं भुवि भाति दिल्ली-

देशोऽथ केलिनिलयो नलिनालयायाः ।

नाभीभुवा भुजगनिर्जरसद्मसार-

मादाय निर्मित इवैष खनिः सुखानाम् ॥ १ ॥

अथ अकम्बरपातिसाहसिलनादिप्रारम्भेण भुवि पृथिव्यां गुर्जरजनपदापेक्षया पू-
र्वस्थां दिशि दिल्लीदेशो मेवातनाममण्डलो दिल्लीमण्डल इत्यप्यभिधा भाति शोभते ।
किलक्षणः । निःशेषाणां समस्तानां देशानां जनपदानां ककुदं प्रधानः । 'ककुदं तु
प्रधानेऽस्ते वृषाङ्गे राजलक्ष्मणि' इत्यनेकार्थतिलके । पुनः किंभूतः । नलिने कमले आ-
लयः सदनं यस्यास्तस्याः श्रियः केलये कीडार्थं निलयः सौधम् । उत्प्रेक्ष्यते—नाभी-
भुवा नारायणनाभ्यम्भोजजन्मना ब्रह्मणा भुजगनिर्जरसद्मनोर्नागलोकस्वर्गयोः सारं
सम्यग्दलिकपटलीमादाय गृहीत्वा सुखानां सर्वशर्मणां खनिराकरः । एष देशो
निर्मितः कृत इव ॥

यस्मिन्विभाति भगिनी तपनाङ्गजस्य

रङ्गतरङ्गशिखरोन्मथितारविन्दा ।

देशश्रियः किमपि निर्गलितोत्तरीया

वेणी विभूषणवतीव परिस्फुरन्ती ॥ २ ॥

यस्मिन्दिक्षीमण्डले तपनस्य भानोरङ्गजो नन्दनो धर्मराजस्तस्य भगिनी जामिर्य-
मुना यमभगिनी । 'कालिन्दी सूर्यजा यमी' इति हैम्याम् । किंभूता । रत्नन्तश्चलन्तो ये
तरङ्गाः कल्लोलास्तेषां शिखराण्यग्राणि तेषून्मथितानि विकसितानि अरविन्दानि पद्मानि
यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—देशश्रियः दिक्षीमण्डलक्ष्म्याः किमपि कथमपि केनापि प्रकारेण
निर्गलितं कापि निपतितं उत्तरीयमुपरितनच्छादननिवसनं यस्याः तादृशी परिस्फुरन्ती
दृग्गोचरीभवन्ती प्रत्यक्षलक्ष्या वेणी कवरीव । किंभूता । विभूषणवती चूडामण्यादिम-
स्तकाभरणभरविभ्राजिनी ॥

उत्ताननक्र इव वक्रकजं कुशाद्या-

वर्ते विभूषयति मध्यमहीममुष्य ।

उत्पत्तिमाकलयतो ददतोऽङ्गिकामा-

न्क्षीराणवे क्रतुभुजामिव पादपस्य ॥ ३ ॥

आसेदुषीभिरवने विदुषीभिरिक्षु-

च्छायासु यन्नवकुटुम्बघनस्तनीभिः ।

कीर्तिर्जगज्जयिरतीशजयोजितेव

राजीमतीशितुरगीयत गीतिरुच्चैः ॥ ४ ॥ (युग्मम्)

यस्य दिक्षीमण्डलस्य नवामिस्तरणीभिः कुटुम्बिनां कर्पुकाणां घनस्तनीभिः पीन-
पयोधराभिः अथ वा घटस्तनीभिः जम्भवत्कुचौ यासामित्युन्नतस्तनीभिः वनिताभिर्गो-
तिर्गानमुच्चैः सातिशाथिमधुरध्वनिनागीयत जगे गीता । किंभूताभिः । इक्षूणां
रसालानां छायासु निरातपस्थानेषु आसेदुषीभिरुपविष्टाभिः । इत्थं किम् । अवने
इक्षुक्षेत्ररक्षणे विदुषीभिर्निपुणाभिः । उत्प्रेक्ष्यते—जगन्ति त्रीणि भुवनाति । सुरासुर-
नरानित्यर्थः । जयतीत्येवंशीलस्य रतीशस्य मन्मथस्य जयेन परासवेन क्षौदेनासूक्ष्मं-
जिता स्त्रीकृता राजीमतीशितुः श्रीनेमिनाथस्य कीर्तिरेवागीयत । राजीमतीशितुः किं
कुर्वतः । कुश इति पदमाद्यं यत्र तादृशे आवर्तं । कुशावर्तं देशे इत्यर्थः । उत्पत्तिं जन्म
आकलयतः दधतः प्राप्नुवतः । कस्येव । पादपस्येव । यथा क्रतुभुजां देवानां पादपः
पारिजातनामा कल्पद्रुमः क्षीराणवे दुग्धपयोधौ उत्पत्तिमाकलयति । पुनः किंभूतस्य ।
खड्गमवदङ्गिनां ग्राणिनां भविकानां कामानभिलाषान्ददतः यच्छतः । अथ वा ।
क्षीराणवे कल्पवृक्षस्येव कुशावर्तजनपदे जन्माकलयतः । कुशावर्तं किं कुर्वति । वक्र-
कजं वदनारविन्दं उत्तानमुन्नतं नक्रं नासिका तस्मिन्निव । अमुष्य दिक्षीमण्डलस्य मध्य-

महीमन्तरालभूमीं विभूषयति शोभां लम्बयति । मेवातमण्डलमध्ये श्रीनेमिनाथजन्म-
स्थानं कुशावर्तदेशोऽस्तीत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

संसेवितो द्विरसनैरसुराश्रयश्च

ख्यातो रसातलतया नरकानुषङ्गी ।

एतद्विगानमपनेतुमिदंमिषेण

वासो व्यधायि किमु भोगिगृहेण भूमौ ॥ ५ ॥

भोगिगृहेण नागलोकेन इदंमिषेण अस्य दिल्लीदेशस्य दम्भेन कपटेन भूमौ मही-
मण्डले वासः स्थितिव्यधायि विहिता । उत्प्रेक्ष्यते—एतदिहैव जनैरभिधीयमानमीदृशं
वा विगानमपवादमपनेतुं निवारितुमिव । एतत्किम् । यदसौ भोगिगृहो द्विरसनैर्भुजगैः
खलैश्च संसेवित आश्रितः । च पुनरसुराणां दैत्यानामाश्रयः स्थानम् । ‘असुरा दिति-
दनुजाः पातालैकःसुरारयः’ इति हैम्याम् । पुनः रसातलमित्यनिष्टवाक्यम् । धनपालो-
ऽप्याह—‘रसातलं यातु यदत्र पौरुषम्’ इति । तत्त्वेन ख्यातः प्रथितः पुनर्नरकस्य
नान्नोऽसुरविशेषस्य । सप्तनरकानां दुर्गतीनामनुषङ्गो मिलनं यस्य ॥

तन्निर्जयोद्यतनिजस्य भयादवेत्य

यातं प्रणश्य बलिसद्व तलेऽचलायाः ।

पृष्ठे विलग्न इव तं विजिगीषुरेष

स्वर्गः क्षितावुपजगाम मिषादमुष्य ॥ ६ ॥

तद्विजिगीषुस्तद्वलेः सद्य नागलोकं विचेतुमिच्छुः पराभवनशीलः । अत एव पृष्ठे
पश्चाद्विलग्नः अमुष्य दिल्लीदेशस्य मिषाद्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—एष प्रत्यक्षः स्वर्गो देव-
लोकः क्षितौ क्षोणीमण्डले उपजगाम समागतः । किं कृत्वा । तस्य बलिसद्वनो निर्जये
परिभवनविधाने उद्यतस्य उद्यमं विनिर्मिनाणस्य उत्सुकस्य वा । निजस्यात्मनो भया-
दर्थात्स्वर्गस्य भीतेरचलायाः पृथिव्यास्तले अधस्ताद्भागे प्रणश्य यातं प्रतिभ्रष्टं बलिसद्व
नागलोकमवेत्य विज्ञाय । पूर्वं हि बलिसद्व भूलोकस्वल्लोकयोरुपरिष्ठादासीत्—इति कवि-
समयः । यदुक्तं नैषधे—‘बलिसद्व दिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः’
इति । पश्चादद्वैतविभूतिजाताबलवत्तया क्रतुभुजां भुवनेनाभिभूतं भूतले गतमित्यर्थः ॥

यः पद्मनन्दन इवास्ति हिरण्यगर्भो

रम्याप्सरा हरिरिवाच्युतवत्सलक्ष्मीः ।

रत्नाकरोऽम्बुधिरिवारिरिवात्मयोने-

दुर्गान्वितः पविरिवासहजैरजेयः ॥ ७ ॥

यो देशः पद्मनन्दनो विरञ्चिरिव । ‘पद्मनन्दनसुतारिरंसुता’ इति नैषधे । हिरण्यं

सुवर्णं गर्भे मध्ये यस्य । आकरादौ स्वर्णानां सद्भावाद्, कनकभूतकलानां भूमिगर्भेषु स्थायित्वाद्वा, सुवर्णादीनि गर्भे मध्ये यस्य व्यवहारिणां सौधेषु परःशतपगोलक्षपरःकोटि-हिरण्यदर्शनाद्वा । ब्रह्मणस्तु केवलं नाभयः । 'हिरण्यगर्भो लोकेशो नाभिपद्मात्मभूरपि' इति हैम्याम् । अस्ति विद्यते । पुनर्थं हरिरिव द्रुम्भ इव । रम्याणि कललाकरगद्भावा-न्मनोज्ञानि अत एवात्प्रधानानि सरांसि तदाका यत्र । हरिस्तु रम्या रन्तुं योग्या कला-कैलिकलाभिर्विलसितसुचिताः । रमणार्हा इत्यर्थः । अप्सरसो रम्भा-तिलोत्तमा-धृताची-मेनकाप्रभृतयः स्ववैनिताः यस्य । पुनर्थोऽच्युतवज्रारायण इव सह लक्ष्म्या धनधान्या-दिविभवेन शोभया वा वर्तते सः । 'समासान्तविधेरनिलात्वात्कप्रत्ययाभावः' । कृ-ष्णस्तु श्रिया पत्न्या सहितः । पुनर्थोऽम्बुधिः पारावारः इय रत्नानां प्रशस्तवस्तूनां रत्नपुरुषाणां नेमिनाथकृष्णवलभद्रादीनां महापुरुषाणामाकर उत्पत्तिस्थानम् । समुद्रोऽपि रत्नाकरः । पुनर्थो देशः आत्मयोनेः स्मरस्य अरिः शंभुरिव दुर्गेरद्रिकोट्टेरन्वितः । शिवस्तु दुर्गाया पार्वत्या पत्न्या युक्तः । अर्धाङ्गभाजित्वात् । पुनर्थः पतिरिव वज्रवद-सहजैः शत्रुभिरजयो जेतुमशक्यो वैरिभिरग्राह्यः । वज्रं तु दुर्भेद्यं गिरिध्वजकुण्डत्वात्, सुरासुराणां दुर्जयत्वाद्वा ॥ इति दिल्लीदेशः ॥

दिल्लीति तत्र नगरी न गरीयसीभिः

श्रीभिः कचिद्विरहिता रहिता न नीत्या ।

रेजे गिरीशगिरिशृङ्गकृतैस्तपोभिः

प्राप्ता परां श्रियमसौ त्रिशिरःपुरीव ॥ ८ ॥

तत्र तस्मिन्मण्डले दिल्ली इति नाम्नी नगरी पुरी अस्ति । किंभूता । गरीयसीभिः अतिमहतीभिः श्रीभिर्लक्ष्मीभिः कचित्कुत्रापि स्थाने न विरहिता न विद्युक्ता । पुनः किंभूता । नीत्या न्यायेन न रहिता न विद्युक्ता । 'रीत्या' इति पाठे रीत्या मर्यादया उत्तमकुलाद्याचारेण व्यवहारेण वा । उत्प्रेक्ष्यते—गिरीशस्य शंभोः गिरेः कैलाशस्य शृङ्गे शिखरे कृतैः स्वस्थित्या विहितैर्निरशनपानादिकृततपोभिः कृत्वा परां प्रकृष्टां सर्वोत्कृष्टां वा श्रियं लक्ष्मीं शोभां वा प्राप्ता असौ दिल्ली त्रिशिरसो वैश्रवणस्य पुरी नगरी अलकेव ॥

दम्भोलिपाणिनगरीविभवामिभाव-

प्रागल्भ्यमाकलयता निजवैभवेन ।

निर्जित्य या बलिगृहं पदमस्य मौलौ

कालीव कासरसुरासहजं ससर्ज ॥ ९ ॥

या दिल्लीपुरी निजवैभवेन आत्मीयाद्वैतलक्ष्म्या । 'स्फुरन्माञ्जिष्ठवैभवः' इति काव्यक-ल्पलायाम् । बलिगृहं नागलोकं निर्जित्य पराभूय अस्त्र बलिगृहस्य मौलौ मस्तके पदं

चरणं स्थानं ससर्जं सृजति स्म । किंभूतेन वैभवेन । दम्भोलिवैज्रं पाणौ हस्तौ यस्य
स तस्य सहस्रनेत्रस्य नगर्या अमरावत्या विभवस्य अभिभवनमभिभावस्तत्र प्रागल्भ्यं
प्रतिभावत्तां चातुर्यमुद्यममुत्साहं वा आकलयता विभ्रता पदं चक्रे । केव । कालीव ।
यथा पार्वती कासरनामानं सुराणां देवानामसहजं विरोधिनं स्वस्यात्मनो विभोर्भावो
वैभवम् । अत्र भावेऽण् । तेन वैभवेन सामर्थ्येन महत्त्वेन वा । 'स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न
विभुर्विधातुम्' इति कल्याणमन्दिरस्तवे । 'विभुः समर्थः' इति तद्वृत्तिः । बालगृहं
पातालं निर्जित्य जित्वा अस्य महिषासुरस्य औली मस्तके पदं स्वचरणं चकार ।
तन्मूर्तेस्तत्प्रकारदर्शनात् ॥ इति दिल्ली ॥

तस्यां महीहिमकरेण हर्माँउनाम्ना

जज्ञे पुरंदरविजित्वरविक्रमेण ।

यस्यौजसेव विजितेन पदं सुरारे-

स्तुत्यतां स्पृहयतांशुमता न्यषेवि ॥ १० ॥

तस्यां दिल्लीनगर्यां हर्माँउ इति नाम यस्येति तेन हर्माँउनाम्ना महीहिमकरेण क्षोणी-
रोहिणीरमणेन जज्ञे संजातम् । किंभूतेन । पुरंदरस्य वासवस्य विजित्वरो विशेषेण जय-
नशीलो विक्रमो बलं यस्य तेन । यस्य हर्माँउपातिसाहेरोजसा प्रतापेन विजितेनाभिभूतेन
सता । पुनस्तस्य हर्माँउप्रतापस्य तुल्यतां सादृश्यं स्पृहयता इच्छता अंशुमता सूर्येण ।
उत्प्रेक्ष्यते—सुरारेनारायणस्य पदं चरणं विष्णुपदं न्यषेवि सेव्यते स्म इव ॥

श्रीकाबिलाधिपतिबन्धरपातिसाहि-

पुत्रः पुलोमदमनोऽखिलमुद्रलानाम् ।

सूरस्य सूनुमपि निर्मितवान्सदण्डं

कालं करालमपि यः प्रसरत्प्रतापैः ॥ ११ ॥

यो हर्माँउपातिसाहिः अभिषेणनेन विनैव प्रसरद्भिर्जगद्वापकैर्दशदिक्षु विस्तृतैः
प्रतापैः स्वतेजोभिरेव शूरस्य श्लेषचित्रयोः सकारशकारयोरभेदात् भास्करस्य सूनुं
नन्दनम् । 'प्रतापतिर्दण्डधरोऽर्कसूनुः' इति हैम्याम् । सुभटस्याङ्गजातमपि करालं
मृत्युत्वेन विविधायुधधारकत्वेन भीषणं परेषां भयोत्पादकं कालं कृतान्तं कालवर्णमपि
सदण्डं वेत्रिणम् । 'छडीदार' इति प्रसिद्धम् । राजदेयांशयुतं दण्डदायिनमित्यर्थः । निर्मि-
तवान्विधत्ते स्म । केवलं खौजसैव, न पुनरभिषेणनादिना सदण्डं विहितवानित्यर्थः ।
किंभूतः । श्रिया सेनादिविभवेन कलितो यः काबिल इति नामा मुद्रलानां मण्डलो देश-
विशेषस्तस्याधिपतिः स्वामी यो बन्धरपातिसाहिस्तस्य पुत्रो नन्दनः । पुनः किंभूतः ।
अखिलानां मुद्रलानां यवनजातिविशेषाणां म्लेच्छानां पुलोमनाम्नो दानवविशेषस्य
दमनो व्यापादकः शक्रः । मुद्रलेन्द्र इत्यर्थः ॥ इति हर्माँउपातिसाहिः ॥

तस्याङ्गजोऽभवदकव्वरभूमिभास्वा-

न्भूपालमौलिमणिचुम्बितपादपद्मः ।

शौरैरिवाम्बुधिशयो भुजपञ्जरान्त-

विश्रान्तवार्धिवसनाजयराजहंसः ॥ १२ ॥

तस्य हमाँउसाहेरकव्वर इति नामा भूमिभास्वान् परजेजस्तिरस्कारिप्रतापवत्त्वाद्वै-
तत्वाच्च क्षोणीसहस्ररश्मिरभवत् । 'मध्यदिनावधिविधेवेमुधाविवस्वान्' इति नैषधे ।
क इव । अम्बुधिशय इव । यथा शौरैर्वेमुदेवस्य कृष्णः पुत्रो बभूव । किलक्षणः । भूपा-
लानां महानृपाणां मौलिनां मुकुटानां मणीभिर्मणिकयैश्चुम्बितमश्लिष्य समालीढं पाद-
पद्मं चरणकमलं यस्य । पुनः किलक्षणः । भुजां स्वबाहू एव पञ्जरं पक्षिरक्षणस्थानं
तस्यान्तर्मध्ये विश्रान्तो विश्रान्नाय स्थितो वार्धिः समुद्रो वसनं वस्त्रं यस्याः एतावता
आचतुःसमुद्रान्तपृथिव्या जयः स्थायतीकरणं स एव राजहंसो यस्य सः ॥

साम्राज्यमप्यधिगतो निखिलस्य नाक-

लोकस्य लोलुपतया पुनरीहमानः ।

भोक्तुं समग्रमपि मध्यमलोकमेत-

द्याजादुवास मघवेव वसुंधरायाम् ॥ १३ ॥

एतद्याजादकव्वरसाहिकपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—वसुंधरायां विश्वंभरावलये मघवा शक
इवोवास वसति स्म । किंभूतः । निखिलस्य समस्तस्यापि नाकलोकस्य स्वर्गस्य साम्रा-
ज्यमाधिपत्यम् । 'सम्राट् तु शास्ति यो नृपान्' इति हैम्वाम् । अतः सर्वेषामपि विमा-
नाधिपतिनाकिनायकानामैश्वर्यमधिगतः प्राप्तोऽपि । 'अधिगतं विधिवद्यदपालयत्' इति
रघुवंशे । 'अधिगतं प्राप्तम्' इति तट्टतिः । पुनर्लोलुपतया अधिकाधिकसंपदैश्वर्यस्पृह-
यालुतया समग्रं समस्तमपि मध्यमलोकं पातालदेवलोकयोरध उपरि च वर्तमानयोर्म-
ध्येऽन्तराले वर्तिनं लोकं भुवनं मध्यमलोकं सकलसमुद्रमेखलामण्डलं भोक्तुं स्वभोगविषयं
विधातुमीहमानो बाञ्छन्निवेति गर्भितोत्प्रेक्षा ॥

अथास्य दिग्विजयविधित्सया प्रस्थाने वैरिणामुत्पाताविर्भावः—

यात्रासु यस्य चतुरङ्गचमूपचार-

प्रोद्भूतधूलिपटलैः परितः प्रसरे ।

प्रस्थानमस्य दशदिग्विजयाय जाने

यातैरितः कथयितुं हरितां महेन्द्रान् ॥ १४ ॥

यस्याकव्वरपातिसाहेर्यात्रासु परजनपदजिघृक्षया प्रस्थानेषु चत्वारि चतुःसंख्याका-
न्यङ्गानि साधकानि गजवाजिरथपदातिलक्षणाः प्रकाराः स्कन्धा यस्यास्तादृश्याश्चम्बाः

सेनायाः प्रचारेण प्रक्षेपेण चलनेन प्रोद्धतानां प्रबलतयोत्थितानां धूलीनां भूमिरजसां पटलै राशिभिः परितः सर्वदिक्षु प्रसृष्टे प्रसृतम् । तत्राहमेवं जाने वेद्मि । उत्प्रेक्ष्यते वा—
दशानां दशसंख्याकानाम् पूर्वोन्निदक्षिणानैर्ऋतपश्चिमावायूत्तरेशानाधोभुवनोर्ध्वलोकानां दिशां ककुभां विजयाय स्वायत्तीकरणार्थमस्य पातिसाहेः प्रस्थानं दिग्जैत्रयात्रां हरितां दशानामाशानां महेन्द्रान्पुरंदरान् । ‘पतिः प्रतीच्या इति दिग्महेन्द्राः’ इति नैषधे । इन्द्राभियमराक्षसवरुणपवनकुबेरेशाननागेन्द्रब्रह्माभिधान्दिक्पालान् प्रति कथयितुं निवेदयितुमितो भूमण्डलाद्यातैरुद्धीय चातैः गतैरिव ॥

यत्प्रस्थितौ रथहयद्विपपत्तिवीह्वा-

प्रोत्खातपांसुपिहिताखिलदिङ्मुखेषु ।

आक्रन्दि चक्रमिथुनैरथ पांसुलाभिः

प्राह्लादि पल्लवितमन्तरुलूकलोकैः ॥ १९ ॥

यस्याकव्वरपातिसाहेः प्रस्थितौ दिग्जैत्रयात्रायां प्रयाणावसरे रथाः स्यन्दना हया वाजिनः द्विपा हस्तिनः पत्तयः पदातयः पादचारिणस्तेषां वीह्वाभिश्चक्रमणैः बाहुल्या-
त्सर्वदिक्संचरणैः कृत्वा प्रोत्खातैरुत्थापितैः पांसुभिर्धूलीपटलीभिः पिहितान्यावृतानि आच्छादितानि । जनदृशामगोचरीकृतानीत्यर्थः । अखिलानि समग्रानि दिशां हरितां मुखानि विभागास्तेषु सत्सु सजलजलदपटलसंचलितरजनीजनिनान्धकारप्रचारभ्रान्ते-
श्चक्राणां चक्रवाकानां मिथुनैर्द्वन्द्वैराक्रन्दि परस्परवियोगाशङ्कया दुःखादाक्रन्दोऽक्रियत । मुक्तकण्ठं हरुदे इत्यर्थः । अथ पुनः पांसुलाभिर्व्यभिचारिणीभिस्तरुणीभिः प्राह्लादि प्रमुमुदे । घनान्धकारसमये हि तासां स्वेच्छाविहरणोत्साहस्पृहा पूर्णा स्यात् । पुनरु-
लूकलोकैर्धूकप्रकरैरन्तरिक्षतमध्ये पल्लवितमुच्छ्रसितम् । निशि तेषां खैरसंचारत्वात् । ‘आ-
लोकतालीकमुलूकलोकः’ इति नैषधे ॥

बलवति भूमण्डलखण्डले दिग्विजयाय प्रतिष्ठमाने सति आविपराभवाः प्रतीपपृथ्वी-
पालाः भूकम्पपरजोवृष्टिदिग्दाहरविमण्डलच्छिद्रादिकानुत्पातान्पश्यन्तीति अत एवादौ त
एव प्रोच्यन्ते—

धत्ते स्म कम्पमभिषेणयति क्षितीन्द्रे

यस्मिन्प्रतीपपृथिवीपुरुहूतपृथ्वी ।

यस्मादतः परमसौ भविता पतिर्मे

प्रीतेर्हृदन्तरिति निर्मितताण्डवेव ॥ १६ ॥

यस्मिन्नकव्वरनान्नि क्षितीन्द्रे वसुधावलयवासवे अभिषेणयति रिपुपार्थिवान्प्रति
पताकिनीभिरभिगच्छति सति प्रतीपाः प्रतिभटा ये पृथिवीपुरुहूताः वसुमतीविडौ-
जसः तेषां पृथ्वी वसुंधरा कम्पं वेपथुं चञ्चलतां धत्ते स्म दधौ । भूः कम्पते
स्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्हृदन्तः स्वमानसमध्ये प्रीतः प्रमोदादिव । सम्यङ्नि-

जचेतोभिप्रेतभर्तरि स्नेहाद्वा निर्मितं कृतं ताण्डवं मृत्यं यथा ताडशीव । इति किम् ।
यस्यात्कारणादतः परसद्यतनवासरादारभ्य अर्त्ता सकलराजचक्रचूडामणीरद्वैतगीतिमता-
मग्रणीरकञ्चरक्षोणीनभोमणीमम भर्ता भावी भविष्यति ॥

संप्रस्थिते वसुमतीविजयाय यस्मि-

न्भूपैर्विरोधिभिरदृश्यत दिक्षु दाहः ।

जाने निजव्यसनवीक्षणभूतनूता(ला)-

सातस्वदिग्युवतिनिःश्वसिताभिक्रीलः ॥ १७ ॥

यस्मिन्नकञ्चरवृपतां वसुमत्या वसुंधराया विजयाय स्वायत्तीकरणार्थं संप्रस्थिते स-
म्यग्विजयविधायिसुहृत्तदिने चतुरङ्गचमूचकेण रामं निर्मितप्रस्थाने गति । प्रचलिते
सतीत्यर्थः । विरोधो विद्यते येषां ते विरोधिनस्तैर्विपक्षैर्भूषः क्षोणीपालैर्दिक्षु सर्वाशासु
दाहो ज्वलज्वालादि ज्वालामालाकुलत्वमदृश्यत दृष्टः । सर्वा अपि हरितो ज्वलन्त्यो
दृष्टा इत्यर्थः । तत्राहमेवं जाने विदां करोमि उत्प्रेक्षे वा निजानामात्मीयानामर्थीदक-
ञ्चरपरिपन्थिपूर्वादिदिक्पतिनृपतीनां व्यसनानां भाविमरणावधिर्विपत्तीनां वीक्षणेन
दीर्घदर्शितया अवलोकनेन ज्ञानेन कृत्वा भूतसुत्पन्नं यन्मूत्रं नवीनमसातं दुःखं यासां
तासां स्वेषां तत्तद्विक्पतिनृपाणां दिशामेव युवतीनां प्रियाणां निःश्वसितामर्निःश्वसानि-
लस्य कीलो ज्वालेव । कीलशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम्'
इति नैषधे । तथा 'वल्लरशफरमयूरकीलहालाः' इति लिङ्गावुशासने पुंस्त्रीलिङ्गे कीलः
कीला ॥

भूपेऽभिषेणयति यत्र रजोभिवृष्ट्या

दृष्टा दिशः परन्तुपैर्मलिनाः समप्राः ।

स्वस्वामिसंकटसमीक्षणमूर्च्छनोर्वा-

निष्पातधूसरितगात्रलता इवैताः ॥ १८ ॥

यत्र यस्मिन्भूपे अकञ्चरवृपे अभिषेणयति सति सेनाभिः समं प्रतिनृपतीनभिग-
च्छति सति परन्तुपैः प्रतिभटभूपालकलापै रजोभिवृष्ट्या अतिबहुलानां धूलीनामभि
समन्ताद्वर्षणेन कृत्वा मलिनाः कश्मलाः मलीमसाः समप्राः समस्ता अपि दिश आशा
दृष्टाः । उत्प्रेक्ष्यते—एता दिशः स्वासामात्मीयानां स्वामिनां भर्तृणां संकटानां व्यस-
नानां समीक्षणेन सम्यङ्निश्चितत्वेनावलोकनेन कृत्वा मूर्च्छन्मर्दुःखोद्भूतातुच्छमूर्च्छाभिरुर्व्या
भूमौ निष्पातो निष्पतनं लुण्ठनं वा तेन धूसरिता ईषत्पाण्डुरिता धूलील्ललिता वा रजो-
मया वा जाता गात्रलताः शरीरयष्टयो यासां तादृश्य इव ॥

यन्मेदिनीकुमुदिनीरमणप्रयाणे

छिद्रं न्यभालि परिपन्थिभिरभ्रपान्थे ।

मद्वंशजक्षितिर्थोदयिनी हृदन्त-

दुःखप्रकर्षत इति स्फुटितोरसीव ॥ १९ ॥

कुमुदिनीनां कैरविणीनां रमणो वरयिता कुमुदिनीरमणः । मेदिन्या धरण्याः कुमुदिनीरमणः स चासौ कुमुदिनीरमणश्च । 'इदं तमुवांतलशीतलद्युति' इति नैषधे । तस्य प्रयागे स्वरिपूपरि प्रस्थाने परिपन्थिभिः प्रत्यर्थिभिरर्थात् पृथिवीनाथैरभ्रपान्थे गगनपथिके भास्करे । 'हरिः शुचीनौ गगनाद्गुजाध्वगौ' इति हैम्याम् । सूर्यमण्डले इत्यर्थः । छिद्रं विवरं न्यभालि ददृशे दृष्टम् । उत्प्रेक्ष्यते—अथाकब्बरसाहेरागमनानन्तरं मद्वंशे मदीयान्ववाये जायन्ते स्म उत्पद्यन्ते स्मेति मद्वंशजाः सूर्यवंशीयास्तेषामेतावता सूर्यवंशोत्पन्नानां भूपालानां राजन्यवीराणां च क्षितिः क्षयो विनाश उदेष्यति भविष्यतीत्येवंशीला उदयिनी भाविनी इति हेतोर्हृदन्तश्चित्तमध्ये दुःखस्य प्रकर्षतोऽतिशयतः स्फुटितं द्विधाभूतं सच्छिद्रं वा जातसुरो हृदयं यस्य तादृश इव । 'पन्था भास्वति दृश्यते विलम्बः प्रत्यर्थिभिः पार्थिवैः' इति नैषधे । म्रियमाणा रणे सूर्ये छिद्रं पश्यन्तीत्यरिष्टवेदिनः । यद्वा । 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनः । परिव्राड्योगयुक्तश्च रणो चाभिमुखो हतः ॥' इत्युक्तत्वात् । 'स सूर्ये छिद्रं निरीक्षते' इति तु तद्वृत्तिः । ततो भानौ रन्ध्रनिभालनमिति ॥ इति प्रतीपवृत्तीनामरिष्टाविर्भावना ॥

यस्य प्रसृत्वरयशःशरभूसवित्री

स्वःकूलिनीव करवाललता बभूव ।

यस्यां निमज्ज्य रिपुराजपरम्पराभि-

र्येनान्वभावि दितिजद्विषतां विभूतिः ॥ २० ॥

यस्याकब्बरसाहेः करवाललता खड्गयष्टिः स्वःकूलिनी मन्दाकिनीव बभूव जाता । किंभूता । प्रसृत्वरं विश्वविस्तरणशीलं यद्यशः कीर्तिः तदेव शरभूः स्वामिकार्तिकस्तस्य सवित्री जननी येन कारणेन । यस्यां करवाललतास्वःकूलिन्यां निमज्ज्य ब्रूडित्वा क्वात्वा तदभिमुखमागत्य प्रहृत्य च पञ्चत्वमासाद्य रिपवः शत्रवो जना एव राजानस्तेषां परम्पराभिः श्रेणीभिः दितिजानां दितेरसुरमातुर्जायन्ते स्मेति दितिजास्तेषां द्विषतां वैरिणां देवानां विभूतिः सुरश्रीरन्वभावि अनुभूयते स्म । गङ्गायां रणे च त्यक्तप्राणा देवभूयं भजन्तीति परमतम् । 'मृते चापि सुराङ्गनाः' इत्युक्तेः ॥

यस्मिन् रणाङ्गणगते प्रहताहिताश्वाः

शौर्योदयादिवि मुहुर्मुहुरुत्पतन्ति ।

भूमौ निजाभिभवतः सवितुः सगोत्रा-

स्ताक्षर्यानिवाश्रयितुमुत्सुकतां वहन्तः ॥ २१ ॥

यस्मिन्नकब्बरभूपतौ रणाङ्गणे संप्राममध्यं गते प्राप्ते सति प्रहताः शस्त्रप्रहारादिना व्या-

पादिता ये अहितानां प्रतिपक्षिणान्धासुरकमास्ते शौर्योदयान् धरतायाः प्राहुर्भावान्मु-
हुर्मुहुः वारं वारं दिवि गगने उत्पतन्ति उच्छलन्ति उच्चैः फालां ददते । उपप्रेक्ष्यते—
भूमौ पृथ्वीपीठे निजस्यात्मनोऽभिभवतः पराभवनोदयात् सविनुः सूर्यस्य पितुर्वा
सगोत्रान् स्वजनान्वन्धून् ताक्ष्यानश्चान् आश्रयितुं शरणीकृतुमुत्सुकतामुत्कण्ठां वहन्तो
धारयन्त इति । विपत्तां स्वजनाः श्रीयन्ते इति स्थितिः श्रुतिर्वा ॥

एतत्कृपाणिहताहितकुम्भिकुम्भ-

निष्पातिमौक्तिकततिः समरे विरेजे ।

दृष्ट्वा हतान्स्रपतिभूमिपतीस्तदीय-

लक्ष्मीक्ष्णप्रपतदश्रुकणावलीव ॥ २२ ॥

एते अकव्वरसाहिना कृपाणेन निजचन्द्रहासयष्टिना कृत्वा निहता व्यापादिता विदा-
रिता ये अहितानां स्वप्रतिपक्षाणां कुम्भिनां भद्रजातिजातानां कुम्भाः शिरःपिण्डा-
स्तेभ्यो निष्पतति निर्गलति निःसरतीत्येवंशीला निष्पातिनी मौक्तिकानां मुक्ताफलानां
ततिर्मालिका समरे संग्रामाङ्गणे विरेजे राजते स्म निर्वर्भा । उपप्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनः
पतीनायकान् भूमिपतीन्धरणीरमणान् हतानर्थदकव्वरेण स्वविरोधितया यमातिथीकृ-
तान्दृष्ट्वा व्यालोक्य तदीयलक्ष्मीणां प्रत्यर्थिपार्थिवसंवन्धिनीनां श्रीणाम् । राज्यलक्ष्मीणामि-
त्यर्थः । ईक्ष्णेभ्यो विलोचनेभ्यः प्रपतन्ती प्रकर्षेणाविरलवाराधराम्बुधारायमाणधारं
निःसरन्ती अश्रुकणानां वाष्पविन्दुनामावलीव धोरणिरिव ॥

रोमाङ्कुराः समिति यस्य समुच्छ्वसन्ती

संवाससंगतगुणप्रगुणीभवन्तः ।

एतद्वदुद्धतविरोधिधराधवानां

हल्लेखतामिव निशुम्भकृते वहन्तः ॥ २३ ॥

यस्य हर्माँउनन्दननृपस्य समिति संग्रामाङ्गणे रोम्णां तनूहाम् । लोभामिख्यर्थः । 'रो-
मलोमतनूहः' इति हैम्याम् । अङ्कुराः प्ररोहाः समुच्छ्वसन्ति उच्चैः संजायन्ते उद्भ-
सन्ति । उपप्रेक्ष्यते—एतद्वदकव्वरसाहिरिव उद्धता उत्कटा मदोन्मत्ता ये विरोधिधरा-
धवाः प्रत्यर्थिपार्थिवास्तेषां निशुम्भकृते दक्षिणारमणमदिराङ्गणप्राङ्गुणीकरणार्थं हल्लेखतामु-
त्कण्ठोद्रेकभावं वहन्तो विभ्राणा इव । अत एव किंलक्षणाः । संवासेनाकव्वरसाहिदेहे
सम्यग्बसनेन सहस्रानेन वा कृत्वा संगता मिलिताः समागता वा ये गुणाः शौर्योत्सा-
हसत्त्वादयस्ते प्रगुणीभवन्तः प्रगल्भा जायमानाः । 'यादृशैः सङ्घवासः संगतिस्तादृशा एवा-
यान्ति गुणाः' इति लोकप्रसिद्धिः । यदुक्तं च—'जौ जारिसेण संगं सो वि हु तारिसो
होइ । कुसुमेहिं सह वसेता तिलावि तग्गं धिया हुंति ॥' इति सूत्रोक्तिः ॥

एतद्दिनेशशशिभूदिनयामिनीभ्यां

सृष्टिं विधातुमखिलां विभुना न वैश्वीम् ।

तादृग्दिनेन्दुदयिताकृतये किमेत-

त्तेजोयशोरविविधू विधिना प्रणीतौ ॥ २४ ॥

विधिना विश्वसृजा विधात्रा तादृयोरतिमहस्योर्दिगलितावधिसमयाभ्युदयभाजो-
दिनेन्दुदयितयोर्दिवसनिशयोः कृतये निर्माणाय । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्याकब्बरसाहेस्तेजः
प्रतापः । ‘निजस्य तेजः शिखिनः परःशताः’ इति नैषधे । तथा ‘एतस्योत्तरमद्य नः सम-
जनि त्वत्तेजसां लङ्घने’ इत्यपि नैषधे । ‘त्वत्तेजसां भवत्प्रतापानाम्’ इति तद्रुत्तिः ।
तथा यशः श्लोकस्तावेव रविविधू सूर्याचन्द्रससौ प्रणीताविव निर्मापिताविव । किंभूतेन
विधिना । एताभ्यां प्रत्यक्षलक्ष्यं विद्यमानाभ्यां दिनरजन्योर्गमागमं कुर्वाणाभ्यां दिनस्य
वासरस्य ईशः पतिः । यतः—‘परविषयाक्रमणकलाकलाधरस्यैव विषयमायाति । रज-
निपतिर्भजति दिनं दिवसपतिर्भजति नो रजनीम् ॥’ इति सुभाषितोक्तेः । दिननायको
भास्करः शशी मृगाङ्गस्ताभ्यां सकाशाद्भूतपतिर्ययोस्तादृश्यौ दिनयामिन्यौ वांसरविभा-
षयौ ताभ्यां कृत्वा अखिलां समस्तामपि समग्रामपि वैश्वीं जगत्संबन्धिनीं सृष्टिं सर्गं
निर्माणं कर्तुं रचयितुं न विभुना तयोर्द्वयोः प्रत्येकं चतुर्यामत्वेनाल्पत्वान्न समर्थेन ॥

यद्वैरिराजकयशोगुणराशिरात्री-

प्राणेशतारकगणेन कदाचनापि ।

द्वीपान्तरं परिचरत्यपि यत्प्रताप-

प्रद्योतने न समवाप्युदयावकाशः ॥ २५ ॥

यस्याकब्बरपातिसाहेः प्रताप एव प्रद्योतनः सहस्रकिरणः तस्मिन् द्वीपान्तरमपरं
द्वीपं द्वीपानामष्टादशत्वात् । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । तेष्वन्यतमं
कंचिद्वीपं परिचरति भजति सति परद्वीपे गतवति अपि सति यद्वैरिराजकस्याकब्बररिपुभू-
पतिप्रकरस्य । राज्ञां समूहो राजकम् । ‘स्याद्राजपुत्रकं राजन्यकं राजकमाजकम्’ इति
हैम्याम् । यशः श्लोकस्तद्युक्ता गुणानां राशयः समूहास्त एव रात्रीप्राणेशश्चन्द्रमास्तथा
तारकाज्योतीषि तेषां गणेन मण्डलेन कदाचनापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे उदयस्योद्गमनस्य
प्रकटीभावस्यावकाशः समयो वेला नेति नैषधे समवापि संप्राप्तः । जगत्स्थाभाव्यात्सूर्ये
द्वीपान्तरं गते अस्तमिते चन्द्रे ग्रहनक्षत्रतारका उदयावकाशं लभन्ते, परमकब्बरप्रताप-
सहस्ररश्मेर्नायं प्रकारः । यतः अष्टादशस्यपि द्वीपेषु सर्वत्रैव सद्भावं, परमत्र नास्ती-
त्येवं न तस्मिन् सहस्रांशौ सति चन्द्रादिज्योतिषामुदयावकाशः कुतः स्यादिति ॥

अश्रान्तदण्डनिहताहववादनीय-

वाद्यस्वरैः प्रसुमरैः समरे धरेन्दोः ।

अस्तम्भि वैरिन्पदोर्युगदण्डदर्पः

सर्पेन्द्रदर्प इव गारुडिकस्य मन्त्रैः ॥ २६ ॥

धरेन्द्रोर्वसुमतीवासतेयीपतेः प्रसृमरः सकलदिक्चक्रविस्तरणशीलैरश्रान्तमनवरत-
वाद्यवादकमानवैर्दण्डैर्वाद्यवादनयष्टिभिर्निहतानि ताडितानि तथा आहवे संप्रामाह-
णेषु वादनीयानि वादयितुमुचितानि यानि वायानि रणतुराणि अन्यवादित्राणि वा तेषां
स्वरैर्निर्घोषैः कर्तृभिर्वैरिणोऽकम्बरसाहेरसहजा एव नृपाः पाथिवास्तेषां दोर्युगदण्डानां
भुजयामलकुटानां जान्वायतत्वेन दण्डाकारत्वाद्दण्डास्तेषाम् अथ वा बाहुद्वन्द्वानां सै-
न्यानां च चक्रगुहादिव्यूहानां वा अश्वानां प्रतिनृपतियानरत्नतुरङ्गमाणं वा उपलक्ष-
णादश्ववाराणां गजरथारोहिणां च । 'दण्डः सैन्ये दम् यमे ॥ मानव्यूहे ग्रहे भेदेष्वश्वेऽर्का-
नुचरे मथि । प्रकाण्डे लकुटे कोणे चतुर्थोपायवर्गयोः ॥' इत्यनेकार्थः । दपोऽभिमा-
नोऽस्तम्भि स्तम्भ्यते न्न निराकृतः । जडीकृताः मर्वेऽपीत्यर्थः । कैरिव । मन्त्रैरिव
गारुडं स्थावरजङ्गमविपनिवारणप्रवणमन्त्रतन्त्रादिशास्त्रमर्थ्यते वेति वेति गारुडिकः
तस्य मन्त्रैर्जीङ्गुलीप्रमुखैः सर्पेन्द्रस्य नागराजस्य दर्पो गर्वो विपद्गेगाहंकारः स्तम्भ्यते ॥

यत्कीर्तिविद्विषदकीर्तिहतप्रतीपा-

सृक्पङ्क्तिजहुतरणिद्रुहिणाङ्गजाभिः ।

जन्यावनीयदवनीशशिनस्त्रिवेणी-

सङ्गः किमाविरभवन्निदिवाभिकानाम् ॥ २७ ॥

यस्यासावकम्बराभिधानस्यावनीशशिनो वसुधासुधांशोर्जन्यावनी संप्राममेदिनी ।
उत्प्रेक्ष्यते—त्रिदिवाभिकानां सुरलोकाभिलाषुकाणाम् । 'कामुकः कमिता कम्प्रोऽनुकाम-
यिताभिकः' इति हैम्याम् । वीराणां तिष्ठणां वेणीनां तरङ्गिणीप्रवाहानां सङ्गो मिलनं
गङ्गायमुनासरस्वतीसङ्ग इव आविरभवत् प्रकटीवभूव । वनिकाभिः कृत्वा यस्य साहेः कीर्तिः
प्रसरद्यस्तथा विद्विषामकम्बरपातिसाहिपुगे रणे भग्नानां प्रत्यर्थिपार्थिवानामकीर्तिरप-
यशः । तथा च हता अकम्बरनरेन्द्रेणैव रणाङ्गणे व्यापादिता ये प्रतीपाः परिपन्थिपृ-
थिवीनाथास्तेषामसृजां रुधिराणां पङ्क्तयः श्रेणयस्ता एव जङ्घोर्विष्णोस्तथा तरणेर्मातृ-
ण्डस्य । तथा च द्रुहिणस्य ब्रह्मणः अङ्गजा नन्दिन्यः । जहुनन्दना गङ्गा तरणितनया यमु-
ना द्रुहिणोद्बहा सरस्वती । सरस्वती सरित्परसमये शोणसलिला प्रोच्यते । ततो-
ऽसृगानयनम् । ताभिः एता एकत्रमिलितास्त्रिवेणीसङ्गोऽजनि ॥

यत्संप्रहारहतहास्तिकमस्तकान्त-

निष्पातिशुक्तिजततिर्युधि पौस्फुरीति ।

दन्तावली प्रकटिता शमनेन जन्या-

पाने विरोधिरुधिरासवपायिनेव ॥ २८ ॥

येन साहिना संप्रहारे समरे सम्यक्परविल्लवकारि प्रहारेण वा हतानि निर्दलितानि हास्तिकानि मतङ्गजव्रजाः । हस्तिनां समूहो हास्तिकम् । 'हास्तिकं तु हस्तिनां स्यात्' इति हैम्याम् । समूहार्थेऽण् । तेषां मस्तकानि कुम्भस्थलानि तेषामन्तर्मध्याद्भजातिजनितत्वेन शिरःपिण्डान्तरालान्निष्पातिनां निःशेषेण निरन्तरं वा पतनशीलानां शुक्तिजानामामलकप्रमाणमुक्ताफलानां ततिर्धारणी समरे संप्रामे विरेजे विशेषेण भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—जच्यापाने रणाङ्गणरूपवारुणीपानगोष्ठीस्थाने । 'आपानं पानगोष्ठी स्यात्' इति हैम्याम् । विरोधिनामकम्बरप्रतिभटभटानां रुधिराणि प्रहरणमहाप्रहारप्रवहदप्रमाणशोणितान्येवासवो मदिराः पिबतीत्येवंशीलेन शमनेन यमेन प्रकटिता जनदृग्गोचरीकृता दन्तावली दशनश्रेणिरिव ॥

एतद्भुजारणिसमुत्थमहो हुताश-

ज्वालाज्वलद्बहलबाहुजवंशराशेः ।

उद्धृत्वरैः प्रसृमरैरिव धूमवारै-

राविर्वभूव शितिमा दिविषत्पदव्याम् ॥ २९ ॥

एतस्याकम्बरसाहेर्भुजो दोर्दण्डः स एवारणिरम्बिकाष्टं तस्मात् सम्यक् मित्राणां शारदीनमुधाकरतया अमित्राणां परिवर्तप्रचण्डकिरणतया उत्था उत्थानं यस्य तादृशं यन्महः प्रबलप्रतापः स एव हुताशो ज्वलज्ज्वालस्तस्य ज्वालाभिरभ्रं कषशिखाभिर्ज्वलन्तो दह्यमाना भस्मीभवन्तो वा ये बहला भूयिष्ठा अतिशयेन बहवः । 'बहोरिष्टेयिः बहोश्च भूवादेशः' । बाहुजा राजन्याः । 'राजन्यो बाहुसंभवः' इति हैम्याम् । साहिविपक्षपक्षलक्षास्तेषां वंशा अन्वयास्त एव वंशा वेणवो वा तेषां राशिः समूहः तस्मादुद्धृत्वरैरुद्ध्वं गमनशीलैः उच्चैर्निर्याथिभिरुत्थितैर्वा तथा प्रसृमरैर्जगद्वापनशीलैर्धूमवारैर्वायुवाहव्रजैः । 'स्याद्वायुवाहोऽग्निवाहो दहनकेतनः' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—दिविषत्पदव्यां देवमार्गे गगनाङ्गणे शितिमा श्यामता आविर्वभूव प्रकटीभूता । प्रायो वंशेषु दह्यमानेषु प्रबला धूमाः प्रादुर्भवन्ति बहुभिश्च दहनकेतनैर्गृहाद्युपरितनभागे च मेचकिमा भवेदिति प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥

यस्याशुगः प्रसरदाशुगवन्निषङ्गा-

त्कर्षागमेषु लघुहस्ततया कदाचित् ।

नालक्ष्यताक्षिभिरपि प्रतिपक्षलक्षै-

रङ्गे लग्नपुनरबुध्यत युद्धमूर्ध्नि ॥ ३० ॥

यस्य साहेराशुगो बाणः । जातावेकवचनम् । युद्धमूर्ध्नि संप्राममस्तके प्रतिपक्षलक्षैः परिपन्थिकपृथिवीवासवशतसहस्रैः लघुहस्ततया शीघ्रवेधित्वेन निषङ्गात्तूणीरात् आकर्षा आकर्षणानि तथा आगमा आगमनानि तेषु कदाचिदपि कस्मिन्नपि समये प्रस्तावे

अक्षिभिरात्मीयविलोचनैरपि नालक्ष्यत न दृश्यते स्म । क इव । प्रकर्षेण सरन् चलन्
गच्छन्नाशुगवत् वायुरिव । यथा पवमान आगच्छन्न लक्ष्यते परं पुनरङ्गे काये लगन्
ग्रहस्य मध्ये प्रविशन् सोऽबुध्यत ज्ञायते स्म ॥

यं स्वर्णकायमरिनागनिपातनिष्णं

दृष्ट्वा निपीय हरिवाहनबद्धलीलम् ।

चित्रं किमत्र यदरातिमहीन्द्रबाहु-

कुम्भीनसैः समरमूर्ध्नि जडीबभूवे ॥ ३१ ॥

स्वर्णं जाम्बूनदं तत्सदृशो गौरवर्णत्वात्कायस्तनूलता यस्य तम्, तथा अरिषु परिपन्थिषु
नागाः प्रधानाः । 'सिंहशार्दूलनागाद्याः । स्युरुत्तरपदे प्रख्याः प्रशस्तार्थप्रकाशकाः ॥'
इति हैम्याम् । महीपालास्तेषां निपाते यमधामाजिरातिथीकरणे निष्णं निपुणम्, तथा
हरिरश्च एव उपलक्षणाद्भजोऽपि बाहनं यानं तत्र बद्धा रचिता लीला क्रीडा बाह्याली-
काद्या परस्परसंप्रहारादिका येन तादृशं यं पातिसाहिमकम्बरं दृष्ट्वा विलोचनेन निपी-
यापीय । भयविह्वलतरलकातरदृशा दृष्ट्वेत्यर्थः । यदरातयः यस्य विपक्षकक्षामङ्गीकुर्वाणा
एव महीन्द्रा महामेदिनीमधवानस्तेषां बाहवो दोर्दण्डा एव कुम्भीनसा भुजंगमास्तैर्ज-
डीबभूवे प्रहरणग्रहणवाणक्षेपणादिप्रकारे निश्चेष्टैः संजातम् । किंकर्तव्यतामूढैरिव
आलेख्यलिखितैरिव वा निर्व्यापारैर्जज्ञे । अत्र प्रकारे किं चित्रं को विस्मयः । यद्ग-
डदर्शनादेव तत्कालं व्याला अपि जडीभवन्ति एव । गरुडः किलक्षणः । सुवर्णस्य
कायः पक्षप्रभृति शरीरं यस्य । तथा अरिभूताः शत्रुभावं प्राप्ता ये नागा भुजगास्तेषां
निपाते नितरां पाते निष्णो निपुणः । तथा हरेर्गोविन्दस्य बाहनत्वे यानभावे बद्धा
निर्मिता लीला विलासो येन ॥

यस्याशुगान्प्रणयतः प्रतिभूपतीनां

प्राणान्सुराध्वनि विधाय रविं शरव्यम् ।

आजिः सकार्मुककरस्य खलूरिकेव

रन्ध्रं रवौ रिपुभिरैक्षि न चेतुकुतस्त्यम् ॥ ३२ ॥

यस्याकम्बरस्य राज्ञः आजिः संप्रामभूमिः खलूरिका शस्त्राभ्यासभूतिवाभूद्भव ।
यस्य किं कुर्वतः । सुराध्वनि गगनाङ्गणे रविं मार्तण्डमण्डलं शरव्यं वेद्यं विधाय कृत्वा
प्रतिभूपतीनां प्रतिपक्षक्षोणीपालानां प्राणाञ्जीवितानि आशु त्वरिततरं गच्छन्ति परलोकं
यान्तीत्याशुगाः शीघ्रगामिनः शराश्च तान्प्रणयतः स्रजतः । यस्य किंभूतस्य । सह कार्मु-
केन कोदण्डेन वर्तते यः स तादृशः करः पाणिर्यस्य । एवं चेन्न तर्हि रिपुभिः परि-
पन्थिपृथ्वीपतिभिः रवौ सूर्यविम्बे रन्ध्रं छिद्रं कुतस्स्यं कुतोभवमैक्षि विलोकितं दृष्टम् ॥

येनाहवे प्रणिहतात्मपतिप्रवृत्तिं

कृत्वा स्वकर्णपथिकीं परिपन्थिकान्ताः ।

वक्षःशिलाः स्म विलिखन्ति नखाग्रटङ्कैः

कीर्तिप्रशस्तिमिव भूभृदकब्बरस्य ॥ ३३ ॥

परिपन्थिनां शात्रवधरित्रीभृतां कान्ताः प्रेयस्यः वक्षांसि हृदयान्येव शिलाः पृथुल-
पाषाणास्ता नखानां स्वकरजानामप्राणि शिखा एव टङ्काः पाषाणोत्कीर्णनकराप्यायसो-
पकरणानि टङ्कणकानीति प्रसिद्धास्तैर्विलिखन्ति विदारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—भूभृतो
राज्ञोऽकब्बरस्य नृपस्य कीर्तिर्यशस्तस्याः प्रशस्तिर्जगद्विजयकरणवर्णनवर्णावली तामिव ।
किं कृत्वा । येन पातिसाहिनाहवे महाविग्रहे प्रणिहता यमराजगृहाङ्गणावगाहिनो
विहिता ये आत्मनां स्वासां पतयः प्राणनाथास्तेषां प्रवृत्तिं वार्तां स्वेषामात्मीयानां
कर्णानां श्रवणानां पथिकीं पाथीप्रावुणकीं कृत्वा । श्रुत्वेत्यर्थः ॥

एतद्भवन्निजनिशुम्भभविष्णुशङ्का-

तङ्काकुलीकृतवनेचरवैरिवध्वः ।

रङ्गत्त्रपा इव पयोधरशातकौम्भ-

कुम्भाश्च्युताश्रुजलपूरितनेत्रपात्रः ॥ ३४ ॥

एतस्मादकब्बरधरणीधरात् भवन्नुत्पद्यमानो यो निजस्य स्वात्मनः निशुम्भो वधस्त-
स्माद्भविष्णुर्भवन्शीला या शङ्का अनिष्टसंभावनं तथा भ्रातङ्को भयं तेनाकुलीकृता
विह्वला जाता अत एव वने गिरिगहने निकुञ्जे वा चरन्ति संचारिणो वनेचरा ये वैरिणो
विपक्षक्षितिपालास्तेषां वध्वः स्त्रियः रङ्गन्त्यः संचरन्त्यः । जंगमा इत्यर्थः । प्रपाः पानीय-
शाला इवासन्वभूयः । किंभूताः । पयोधरा उच्चकुचाः सलिलधारिणः । जलभृता इत्यर्थः ।
शातकौम्भाः सुवर्णसंवन्धिनः कुम्भाः कलशा यासु यासां वा । पुनः किंभूताः ।
च्युतानि दुःखप्रकर्षाद्विलोचनेभ्यो निःसरन्ति यान्यश्रूणि वाष्पाणि तेषां जलै रुदननी-
रभरैः पूरितानि निर्भरभृतानि नेत्राणि नयनानि एव पात्राणि पर्णानि भाजनानि यासां
यासु वा । 'पात्रं तु कूलयोर्मध्ये पर्णे नृपतिमन्त्रिणि । योग्यभाजनयोर्यज्ञभाण्डे नाद्यानु-
कर्तरि ॥' इत्यनेकार्थः ॥

यस्याहवोऽजनि घनाघनवत्कृपाण-

विद्युत्पतत्समददन्तिमदाम्बुधारः ।

भल्लीनिवृत्तरिपुशोणितसिन्धुवेणी-

रुद्धीनपांसुपिहिताखिलदिग्विभागः ॥ ३५ ॥

शून्यं सृजन्भुवनमप्यरिकीर्तिहंसः

श्रेण्या कुले द्विषति दुर्दिनमादधानः ।

विद्रावयनपरवधूवदनाम्बुजानि

शूरद्रुमान्पुलककोरकितान्प्रकुर्वन् ॥ ३६ ॥ (युग्मम्)

यस्य जलालदीनसाहेराहवः संग्रामो घनाघनवन्मेष इवाजनि संजज्ञे समभूत् । किंभूतः । कृपाणाः शाणशिखरोल्लिखितनिशितझगझगितिकान्तिकरवाला एव विद्युतस्त-
डिद्वितानानि यत्र । पुनः किंभूतः । पतन्त्यः कपोलपालीभ्योऽविरलं निःसरन्त्यः
समदानां मदोदुराणां दन्तिनां दन्तावलेन्द्राणां मदाम्बूनां दानजलानां धारा वृष्टयो
यत्र । पुनः किंभूतः । भल्लीभिः शस्त्रविशेषैः । 'तिमिरकरिकुम्भभेदनभल्लीष्विव दीपक-
लिकासु' इति चम्पूकथायाम् । निरुक्ताश्छेदिता ये रिपवो विपक्षास्तेषां शोणितानि
रुधिराणि एव सिन्धूनां नदीनां वेणयः प्रवाहा यत्र । 'उच्छृङ्खलं चलन्तीनामसृ-
ग्जलधियोषिताम्' इति पाण्डवचरित्रे । वेणीशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । पुनः किं-
भूतः । उड्डीनैर्लव्गैर्दशदिग्विस्तृतैः पांसुभिः गजवाजिरथपत्तिप्रकराणामितस्ततस्त्व-
रितसंचरणैरुत्खातैर्भ्रमदभ्राप्रकविभ्रमायमाणै रजोव्रजैः पिहिता आच्छादिता अहङ्गो-
चरीकृता अखिलानां समस्तानां दिशां हरितां विभागाः प्रदेशा यत्र । अपि पुनः किं कुर्वन् ।
अरीणां शत्रूणां कीर्तय एव हंसास्तेषां श्रेण्या धोरण्या कृत्वा भुवनं विश्वं पानीयम् ।
'भुवनं वनं घनरसो यादोनिवासोऽमृतम्' इति हैम्याम् । शून्यं रिक्तं च सृजन् कुर्वन् ।
प्रायः प्रावृषि राजहंसा मानससरसि यान्ति । प्रावृद्वृष्ट्या बहलजम्बालागमेन जलका-
लुष्यान्नान्यज्जलाशयेषु तिष्ठन्तीति । पुनः किं कुर्वणः । द्विपति वैरिणि कुले वंशे विप-
क्षान्ववाये दौस्थ्यार्हौर्भाग्यवनवासपुत्रकलत्रमित्रप्रमुखस्वजनजनवियोगादिरूपं दुर्दिनं
कुदिवसं दुष्टं दिनं मेघान्धकारं वादधानः निर्मिमाणः । 'वधूवक्त्राभोजं भवतु न स तेषां
कुदिवसः' इति नैषधे । पुनः किंभूतः । परेषां पथिकपृथ्वीनायकानां वधूनां पुरंध्रीणां
वदनान्येवाम्बुजानि तामरसानि विद्रावयन् म्लानि प्रापयन् गतप्रायाणि सृजन् ।
'विद्राणपङ्कजरसे' इति चम्पूकथायां वर्षावर्णने । पुनः किंभूतः । शूराः सुभटा एव
द्रुमा वृक्षास्तान्पुलकेन रोमाब्धेन रोमहर्षणेन संनिभाश्च कोरकाः कुड्मालाः संजाता ए-
ष्विति कोरकितास्तथाविधान्प्रकर्षेण कुर्वन् । 'कदाचिदच्युत इव शिशिरकमलाक-
रगाहोत्पन्नपुलककोरकिततनुः' इति चम्पूकथायाम् । शूरा हि साहिसौर्ध्वं श्रुत्वा रोमा-
ञ्चकञ्चुकिता जायन्ते इत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

एतत्तुरङ्गमगणा दिवि संपराये

प्रोत्तालफालललितं कलयांबभूवुः ।

जित्वा धरां विबुधधाम पुनर्जिघृक्षोः

संलक्ष्य तत्क्षणमिवाशयमात्मभर्तुः ॥ ३७ ॥

संपराये संग्रामे एतस्याकञ्चरनृपतेस्तुरङ्गमगणा वाजिब्रजा दिवि मरुन्मार्गे प्रो-
त्तालं शीघ्रम् । 'उतावद्धं' इति प्रसिद्धिः । तथा 'चलद्बल्यमुखरकरतलोत्तालतालिका-

रम्भरमणीयरसिकरासकक्रीडानिर्भराः' इति चम्पूकथायां भिल्लीवर्णने । फालाना-
मुच्चैर्गतिविशेषाणां ललितं विलासं कलयांबभूदुः । 'सान्द्रोत्फालमिषाद्धि गायति पदास्पृष्टं
तुरङ्गोऽपि गाम्' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—धरामासमुद्रपर्यन्तवृथिवीं जित्वा आत्मसा-
द्विधाय पुनरधिकलिप्सोरत एव विबुधधाम स्वर्गं जिघृक्षोर्गृहीतुमिच्छोरात्मभर्तुः स्व-
खामिनोऽकब्बरधरित्रीवरयितुः तत्क्षणं तत्कालं त्वरिततरमेवाशयमभिप्रायं संलक्ष्य
विज्ञाय वोचैः स्वर्गदिग्विभागे यातुं प्रगल्भन्ते ॥

एतद्भवद्भयगृहीतदिशो दिगीशा

निःस्वाननिःस्वनभरः प्रतिभूरिवान्तः ।

भूत्वात्मनाह्वयनिवावनिपद्मिनीश-

मेनं पुनः प्रणतिगोचरतां प्रणेतुम् ॥ ३८ ॥

निःस्वानानां राजवाद्यानां 'नीसाण, दमांमा वा' इति लोके प्रसिद्धानां निःस्व-
नभरः प्रबलनिर्घोषः पुनर्द्वितीयवारमेनमकब्बरम् अवनिपद्मिनीशं मेदिनीमण्डलमार्तण्डं
प्रणतिगोचरतां नमस्कृतेर्विषयतां प्रणेतुं निर्मातुम् । उत्प्रेक्ष्यते—दिगीशान् हरित्पतीन्
आह्वयन्नाकारयन् इव । किं कृत्वा । अन्तः अकब्बरसाहिहरिन्महेन्द्राणां मध्ये प्र-
तिभूरिव साक्षीवात्मना स्वेन भूत्वा । यदा चान्तराले कश्चित्थाविधः प्रतिभूर्भवेत्
तदा एकस्य कस्याविरुद्धवत् स्यादिति हेतोः स्वयमेव साक्षीभूयाखिलान्दिक्पाला-
नाकारयति । किंभूतान् दिगीशान् । एतस्मादकब्बरपातिसाहेरुद्धवत् उत्पद्यमानाद्भ-
यादातङ्क्या गृहीता उपात्ता दिश आशा यैस्ते गृहीतदिशस्तान् । पलायितानित्यर्थः । 'प-
लायितस्तु नष्टः स्यात् गृहीतदिवितरोहितः' इति हैम्याम् ॥

स्वीयान्ववायभवभूधरराजिमाजौ

येनाहतामहितपक्षतया समीक्ष्य ।

माभ्येतु जेतुमथ मामपि राजभावा-

द्भेजेऽद्रिजापतिमितीव पती रजन्याः ॥ ३९ ॥

रजन्या रात्रेः पतिर्भर्ता चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोरद्रिजापतिमीश्वरमद्रौ प-
वते जाता इत्यद्रिजा विषमदुर्गभूमिस्तपतेः । पर्वते कीदृक्स्वामिनं भेजे श्रितवान् ।
तदाश्रयणाच्च दुर्जयत्वं परस्य वैरिणः अन्यस्य राजभावाद्राजत्वादयं राजा तथाह-
मपि राजा तस्मात्परराजत्वान्मयि राजभावादखिलापरनृपतिपरिभवानन्तरं मामपि
जेतुं परिभवितुं माभ्येतु मा गच्छतात् इति भीतेः कृत्वा स्वीये आत्मीयेऽन्ववाये
संताने । चन्द्रवंशे इत्यर्थः । भवा उत्पन्ना ये भूधरा भूपालाश्चन्द्रवंशीयकादयपीपतय-
स्तेषां राज्ञीं श्रेणीमहितपक्षतया स्ववैरिवर्गत्वेन येनाकब्बरेण आजौ संग्रामविषये
आहतां निपातिनां समीक्ष्य नयनयोगोचरीभावमानीय ॥

पूर्वापराम्बुनिधिसैकतसीमभूमी
संचारिचञ्चुरचमूचरभूरिभारम् ।

सोढुं न सासहिरहीश्वर एकमूर्ध्ना

शीष्णीं सहस्रमिति किं रचयांचकार ॥ ४० ॥

अहीश्वरः शेषनागनायकः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः शीष्णीं मस्तकानाम् । फणानामित्यर्थः । सहस्रं दशशतीं किं रचयांचकार रचितवानिव । इति किम् । यदहं पूर्वापरौ प्राच्यप्रतीच्यौ यावम्बुनिधी समुद्रौ तयोः सैकते नीरनिर्मुक्तपुलिने ते एव सीमनी मर्यादास्थाने यस्यास्तादृशी भूमी वसुधा तस्यां विषये संचारिणां संचरणशीलानां चञ्चुराणां शौर्यधैर्यादिगुणगणप्रधानानां स्वस्वामिकार्यकरणप्रवणानां चमूचराणां सेनासुभटानां भूरि भूयिष्ठं भारं गजाश्वस्यन्दनपदातिपरम्परावीवधं सोढुं धारयितुम् । एकेन मूर्ध्ना मस्तकेन कृत्वा न सासहिर्न समर्थः । ‘अहिर्महीगौरवसासहिर्यः’ इति नैषधे । तथा सहनशीलः भृशं सहते इति । ‘सासहिर्वावदिश्वाचलिः पापतिप्रभृतय इकारान्ता निपाताः’ इति नरहर्षो नैषधवृत्तौ ॥

पाणौ रणाङ्गणगतस्य कृपाणयष्टिः

क्षोणीमणेस्तृणयतः पृतनां रिपूणाम् ।

भाति प्रचण्डभुजदण्डवसज्जयश्रीः-

केशच्छटा प्रकटतामिव टीकमाना ॥ ४१ ॥

क्षोणीमणेर्भूमीरत्नस्याकम्बरपातिसाहेः पाणौ हस्ते कृपाणयष्टिः करवाललता भाति राजते । किंभूता । रणाङ्गणे युद्धमूर्ध्नि गतस्य प्राप्तस्य । अत एव किं कुर्वतः । रिपूणां प्रतिभटानां पृतनां सेनां पताकिनीं तृणयतः तृणप्रायां मन्यमानस्य तृणीकुर्वतः । न किंचित्करतां प्रणयतः तृणवत्खण्डयतो वा । उत्प्रेक्ष्यते—प्रकटतां प्रकाशभावं जनदग्गोचरत्वं टीकमाना गच्छन्ती । प्रचण्डौ जानुयुगव्यायतौ द्विषज्जासह्यपराक्रमौ भुजदण्डौ तयोर्वसन्या चिरं वासं सज्जन्त्याः । तिष्ठन्त्या इत्यर्थः । जयश्रियो जयलक्ष्म्या केशच्छटा कुन्तलहस्तो वेणी वेल्यर्थः ॥

खड्गाहतोद्धतमतङ्गजदन्तकुम्भ-

प्रोद्भूतपावककणोत्करमुक्तिकाभिः ।

क्षुण्णे तुरङ्गमुखुरै रणभूतले य

ओजोयशोऽवनिरुहोर्वपतीव बीजम् ॥ ४२ ॥

यः साहित्सुरङ्गमाणां शौर्यादयोत्सुकतया खुरैः शफैर्नखशिखाभिः क्षुण्णे क्षोदिते अतिवाहिते ‘खेडकं’ इति जनप्रसिद्धे रणभूतले रणाङ्गणे युद्धधरामण्डले । उत्प्रेक्ष्यते—

ओजः प्रतापः यशः कीर्तिस्त एवावतिरुहौ पादपौ तयोर्बीजं योनिनिबन्धनं तरुप्ररोहप्रा-
दुर्भावनकरं पर्वतेवपतीव निःक्षिपतीव । काभिः । खड्गैर्निशिततरवारिभिराहता गाढद-
त्तप्रहाराः सर्वाङ्गेषु आसामस्त्येन निखिंशतया निखिंशौर्निहता वा तथा उद्धताः समरशूरा
अनवरतविनिःसरत्सप्तस्थानदानपयःप्रवाहोत्कटा वा ये मतङ्गजाः कुञ्जरास्तेषां दन्तेभ्यो
दन्तकोशेभ्यः 'दंतूसल' इति प्रसिद्धेभ्यः । तथा कुम्भेभ्यः शिरःपिण्डस्थलेभ्यः प्रोद्धृताः
प्रकटा जाता ये पावककणोत्करा वह्निस्फुलिङ्गगणास्तथा मुक्तिका मुक्ताफलानि खड्ग-
प्रहतेभ्यो दन्तकोशेभ्यः कृशानुस्फुलिङ्गाः । दन्तेभ्यः खड्गाहतेः पावकोद्भवः । तथा
कृपाणविदीर्णप्रहारकुम्भस्थलेभ्यो मौक्तिकानि विनिर्जग्मुः । कुम्भान्तरे मुक्तानामुत्प-
त्तित्वात्तन्निर्गमः इति । ताभिरवापेव ॥

युद्धोद्धरे भुवनभीतिकरे नरेशे

त्रासात्स्वकीयवसतेरिव सूरराजौ ।

अष्टौ पुनस्तदनवेक्षणतोऽन्तरिक्षे

प्रेक्षाकृते तत इतो अमिमादधाते ॥ ४३ ॥

युद्धे समराङ्गणे उद्धरे उद्धते उत्कटैर्वैरिभिर्द्रष्टुमशक्यैः । तथा भुवनानां प्रबलबलवत्तया
जगतामपि सुरदानवमानवेन्द्राणामपि आकस्मिकात्यन्तिकान्तकशङ्कावर्तरे नरेशे अकब्ब-
राभिधाननरनायके त्रासादाकस्मात्सपराभवनभयभरात् सूरराजौ भटभूपती सूर्य-
चन्द्रौ । उपप्रेक्ष्यते—स्वकीयवसतेरात्मीयनिवसनस्थानकाद्भ्यौ भ्रंशं प्राप्तौ । अतिभीतेः
स्वस्थानं परित्यज्य अन्यत्र कुत्रापि प्रपलाप्य प्रयातावित्यर्थः । पुनर्व्याधुव्य तदनवेक्ष-
णतः तस्य स्वस्थानकस्य अनवेक्षणतोऽनवलोकनादर्शनात् । निजनिवासस्थाने न पश्यत
इत्यर्थः । अन्तरिक्षे आकाशे न तद्भयाद्भूमौ प्रेक्षाकृते अर्थात्स्वस्थानदर्शनार्थं तत इतः
पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरासु अग्निं भ्रान्तिमादधाते कुर्वते । स्ववासस्थानमलभमानौ नित्यं
भ्राम्यत इत्यर्थः ॥

आकस्मिकं तुमुलमेतदनन्यजन्य-

व्याहन्यमानभटकोटिभवं निशम्य ।

आतङ्कितैः किमिदमित्यमरैर्वदद्भि-

र्लेभे किमीक्षणयुगेषु निमेषनैस्व्यम् ॥ ४४ ॥

एतेनाकब्बरेणानन्ये असाधारणे अदृष्टाजातपूर्वे जन्ये संप्रामे व्याहन्यमानानां
व्यापाद्यमानानां भटानां राजन्यवीराणां कोटीभ्यः । कवीनां कुत्रचित्केचित् कोटीप्र-
मुखाः शब्दाः प्रायो बाहुल्ये दृश्यन्ते । यथा पाण्डवचरित्रे घटोत्कचस्य 'घट्टको' इति
प्रसिद्धस्य भीमहिडम्बाङ्गजातस्यैकरात्रिरणे—'रथान् पिपेष पाषाणैर्जघान तरुभिर्ग-
जान् । सवेगापातवातेन भटकोटीरपातयत् ॥' तथा तत्रैव गाङ्गेयस्य दशमदिवससं-

ग्रामेऽप्युक्तम्—‘कोटिशो भटसंभारसंहारे विहितश्रमम् । धनुर्विश्रामयांचके कृपयेव
पितामहः ॥’ इति । श्रेणीभ्यो भवमुत्पन्नम् । अकस्माद्भवमाकस्मिकं तुमुलं व्याकुलकोलाह-
लशब्दं निशम्य श्रुत्वा आतङ्कितैः संजातभीतिभिः अत एव किमिदं किं जातं चेत्-
मुना प्रकारेण वदद्भिः कथयद्भिरमरैर्देवैः । उत्प्रेक्ष्यते—ईक्षणयुगेषु नेत्रद्वन्द्वेषु नि-
मेषाणां नेत्रोन्मीलननिमीलनानां नैस्त्र्यं दारिद्र्यं किं लेभे प्राप्तमिव । भीतेरतिशायि-
तया विकाशितलोचनैरेवाभूयतेत्यर्थः ॥ इति अकब्बरसाहिसमरवीररसवर्णनम् ॥

भूमेर्जयाय चतुरम्बुधिमेखलाया

आराध्य पूर्वविधिना किमु जैत्रमन्नम् ।

गुप्तं कचिन्निजभुजप्रभवत्प्रताप-

वहौ ततोऽयमरिकीर्तिकर्नी जुहाव ॥ ४५ ॥

अयमकब्बरपातिसाहिः चत्वारश्चतुःसंख्याकाः पूर्वापरदक्षिणोत्तरलक्षणा अम्बुधयः
समुद्रा एव मेखला काञ्ची यस्यास्तादृश्या भूमेः पृथिव्या जयाय स्वीकरणाय पूर्वविधिना
जापयतः प्रमुखपूर्वसेवाप्रकारेण जैत्रं यावन्निजप्रतिपक्षपक्षाणां जयनशीलं पराभवनैक-
स्वभावं मन्त्रं सप्रभाववर्णात्मकां विद्यामाराध्य सम्यगुपासनां विधाय । ततः पूर्णपूर्वविधि-
सेवानन्तरं कचित्कुत्रचित्प्रदेशे गुप्तं छन्नम् यथा कश्चिन्नो न पश्यति न वेत्ति तादृगे-
कान्तस्थाने । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनो भुजाभ्यां बाहुभ्यां प्रकर्षेण भवन्मुत्पद्यमानो यः
प्रतापो महःसंदोहः स एव वहिः कृशानुस्तस्मिन् । अरीणां वैरिवसुधाधवानां कीर्तिरूपां
कीर्तिनाम्नीं वा कर्नीं कुमारिकां जुहाव । तन्मन्त्रसिद्धयर्थमुत्तरसेवावसाने जुहोति स्मे-
त्यर्थः । शत्रुंजयमाहात्म्ये केनचित् खेचरेण होतुमानीता निबिडनिबद्धा गुणसुन्दरी
राजकुमारी रोदनशब्दश्रवणागतेन महीपालकुमारेण रणप्रकरणप्रहरणप्रोक्तौषधीसञ्जी-
कृततद्विद्याधरपार्श्वान्मोचिता सोऽपि प्रतिबोधितश्च । नेसिचरित्रेऽपि नेमिनाथेन पञ्च-
मभवे अपराजितनाम्ना कुमारेण तथैव मोचितेत्यर्थः ॥

उत्कंधरावनिधराधिकधीरभावै-

भूमीभुजा विगणनां गमिताः समग्राः ।

एनं निभात्परिणतोद्धुरसिन्धुराणां

संसेवितुं क्षितिधराः किममी समीयुः ॥ ४६ ॥

भूमीभुजा अकब्बरराजेन उत्कंधरात्वेनोच्चैःशिरस्तया । सर्वेभ्योऽपि भूयद्भ्यो मह-
त्वेनेत्यर्थः । तथा अवनिधरत्वेन भूमीमण्डलधारकत्वेन नागेन्द्रवत् अथवाधिकेन
विश्वातिशायिना धीरभावेन धैर्येण एतैः प्रकारैः कृत्वा विगणनामवहेलनां गमिताः
प्रापिताः सन्तः अमी मेरुसन्दरगौरियुक्तैलासप्रमुखाः समग्राः समस्ता अपि क्षिति-
धराः पर्वताः परिणतानां तटेषु तिर्यक्प्रहारप्रदायिनाम् । ‘परिणतगजप्रेक्षणीयं द-

दर्श' इति मेघदूतेऽपि । यथा उद्धुराणामुत्कटानां सिन्धुराणां वारणानां निभात्कपटात् ।
उत्प्रेक्ष्यते—एनं सुद्वलमेदिनीमण्डलाखण्डलम् किं संसेवितुं सम्यग्विधिनोपासितुमिव
समीयुः समागताः ॥

कल्पावनीरुहवनानि महीमघोना
प्रोद्दामदानललितैरवहेलितानि ।

गुच्छप्रसूनफलभारनमच्छिखानि

व्रीडोदयादिव बभूवुरधोमुखानि ॥ ४७ ॥

महीमघोना अकव्वरक्षोणीसहस्रचक्षुषा प्रोद्दामानां जनमनःसमीहिताधिकतया प्र-
वलानां दानानां स्वर्णमणीगणादिविश्राणनानां ललितैः विलासैर्विजृम्भितैरवहेलितानि
अवगणनां गमितानि कल्पावनीरुहाणां सुरतरूणां वनानि काननानि । समूहा इत्यर्थः ।
उत्प्रेक्ष्यते—व्रीडोदयाल्लजायाः प्रादुर्भावादिव । स्वावज्ञासंजातातिमन्दाक्षोद्गमनेत्यर्थः ।
अधोमुखानि नीचैर्भूतानि वदनानि येषां तादृशानि बभूवुर्जातानीव । किंभूतानि ।
गुच्छाः स्तवकाः, प्रसूनानि कुसुमानि, फलानि सस्यानि, तेषां भारेण वीवधेन नमन्त्यो
भूमावेत्य लग्न्यः शिखाः शाखा येषाम् ॥

एतन्महस्त्रिभुवनभ्रमणीविलासं

जैत्राङ्गकारनिकरैरपि दुःप्रवृष्यम् ।

उल्लङ्घितुं स्पृहयतेव सहस्रपादी

निर्मीयते स्म सरसीरुहिणीवरेण ॥ ४८ ॥

सरसीरुहिणीनां कमलिनीनां वरेण भर्त्रा भानुना । सहस्रसंख्याकानां पादानां समा-
हारः सहस्रपादी दशशतचरणाः । 'पादो मूलास्तुर्याशाङ्गिषु प्रत्यन्तपर्वते' इत्यनेकार्थः ।
निर्मीयते स्म । कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्याकव्वरसाहेर्महः प्रतापमुल्लङ्घितुमतिक्रमितु-
मिव । 'लघूङ् गतौ' अयं धातुर्भर्वादिरात्मनेपदी । अतिदुःसहतया निजजैत्रतया च
एतत्पुरस्त्वरितुं पलायितुं वा स्पृहयता काङ्क्षता । किंभूतं महः । त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि
भ्रमणी पर्यटनम् । 'विधेः कदाचिद्भ्रमणीविलासे' इति नैषधे । तत्र विलासः क्रीडा यस्य ।
पुनः किंभूतम् । जैत्राणां जयनशीलानां प्रतिपक्षलक्षतिरस्कृतिदीक्षितानामङ्काराणां
प्रतिमल्लानां जिष्णूनामपि जित्वराणां निकरैः समुदायैरपि दुःप्रवृष्यं दुराकलनीयम् ।
सर्वथापि जेतुमशक्यमित्यर्थः । 'दूरं गौरगणैरहंकृतिभृतां जैत्राङ्गकारे चर-' इ-
त्यपि नैषधे ॥

आकालिकीकुलिशशैवलिनीशवहि-

वैश्वानराम्बुरुहिणीरमणप्रदीपाः ।

राजा चन्द्रो नृपश्चेति द्विराजं तस्य भावो द्वैराज्यं तद्वद्वैराज्यमिवाभूत् जातम् । किलक्षणेन नृपसूरिराजश्लोकान्वनीधनयुगेन । महानतिशायी अभ्युदयोऽनवरतपरोलक्षप्रतिपक्ष-
पयोधरविधुतुदादिभिरप्रतिहृतद्वैतवैभवो यस्य । पुनः किं कुर्वता । कुवलयं पृथ्वीमण्ड-
लमुत्पलं च संप्रीणता । प्रीतिमुत्पादयतेत्यर्थः । विकाशयता च । परं केवलमत्र द्वैराज्ये
तच्चित्रमाश्चर्यमस्ति । यत्कारणादङ्गभाजः प्राणिनः न विद्यते तद्वैतं द्वितीयं कारणं
युगलं वा यत्रेत्यद्वैतमसाधारणमानन्दपदं हर्षस्थानं दधुर्धारयन्ति स्म । द्वैराज्ये हि
जनानां विषाद एव स्यात्, अत्र तु परमप्रमोदः, एतदेव महदाश्चर्यम् ॥

स्पर्धी दधन्निजयशःप्रसरैः स्वलक्ष्म्या

क्षोणीभुजा बहिरितो विहिताः स्वदेशात् ।

स्वःसिन्धुरोधसि तदादि मृगं दधानो

राजानिशं मृगयुवत्किमु बम्भ्रमीति ॥ ५२ ॥

क्षोणीभुजा अकम्बरनृपतिना निजानामात्मीयानां यशसां कीर्तीनां प्रसरैर्विस्तारैः सह
स्वलक्ष्म्या आत्मश्चैत्यश्रिया सार्धं स्पर्धी संहर्षमभ्यसूयां दधद्विभ्राणः सन् राजा चन्द्रो
नृपश्च इतोऽस्माद्भूमण्डलवर्तिनः स्वदेशान्निजनपदादात्मप्रदेशाद्वा बहिःकृतो निष्का-
सितः देशत्यागं कारितः । उत्प्रेक्ष्यते—तदादि तस्माद्वासरादारभ्य मृगं लक्ष्म कृष्णसारं
दधानः कलयन् मृगयुवहुव्यक्त इव स्वःसिन्धोर्गगनगङ्गाया रोधसि तटे अनिशमहोरात्रं
किमु बम्भ्रमीति अतिशयेन भ्राम्यतीव । प्रायो मृगेणैव मृगा गृह्यन्ते नद्यादिनीरसं-
निधाने च पयःपानार्थं वन्यसत्त्वाश्च समायान्ति इति स्वयशःस्पर्धी चन्द्रो राज्ञा पृथ्वी-
पीठान्निष्कासितो नभसि पर्यटतीत्यर्थः ॥

यस्यौजसि स्फुरति जैत्र इव त्रिलोक्यां

त्रासादिवाम्बुनिधिमम्बुधिमन्त्रजिह्वः ।

वज्रः पुरंदरकरं सरसीजपाणिः

पादं हरेरपि दवोऽद्रिभुवं बभाज ॥ ५३ ॥

यस्य राज्ञो जैत्रे जयनशीले इव ओजसि प्रतापे त्रैलोक्यां जगत्रयेऽपि स्फुरति
परिभ्राम्यति सति त्रासादाकस्मिकभयात् । उत्प्रेक्ष्यते—अम्बुधेः समुद्रस्य मन्त्रजिह्वः
कृशानुः वडवानलः अम्बुनिधिमूर्मिमालिमध्यमिव बभाजाश्रयति स्म । अपि पुनर्वज्रो
दम्भोलिः पुरंदरस्य वासवस्य करं हस्तमिवाश्रितः । अपि पुनः सरसीजं कमलं पाणौ
हस्ते यस्यैतावता मार्तण्डो हरेर्नारायणस्य पादं चरणं विष्णुपदमाकाशं श्रितवानिव ।
अपि पुनर्दवो दावानलः अद्रिभुवं पर्वतघनगहनावनीमिव सेवते स्म ॥

अभ्रभ्रमद्यदभिमात्ययशोलुलाय-

मालोक्य भीतिविवशस्य हरेर्हयस्य ।

संत्रस्यतो वदननिर्यदमन्दफेनै-

ज्योतिष्मतीव समभूत्पुरुहूतपद्या ॥ ५४ ॥

हरेरिन्द्रस्य हयस्य तुरगस्योच्चैःश्रवसो वदनान्मुखगङ्गारान्निर्व्यङ्गिरधोभूमौ निष्पतद्भिरम-
न्दैर्बहुलैः फेनैर्मुखकफैरश्वमुखलालाभिः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—पुरुहूतपद्या शक्रमार्गो ग-
गनम् । ज्योतिष्मती ज्योतीषि ग्रहनक्षत्रतारका विद्यन्ते यस्यां तादृशी किमभवत्संपन्नेव ।
हयस्य किंभूतस्य । भीत्या भयेन विवशस्य विह्वलस्य व्याकुलस्य । अत एव किं कु-
र्वतः । संत्रस्यतः अकस्मान्निजजिघांसुदर्शनोद्भूतभूरिभीतिवशतो नश्यतः । किं कृत्वा ।
अभ्रे आकाशे भ्रमन्तं परितः पर्यटन्तं यस्याकञ्चरस्याभिमातीनां विरोधिनामयशोऽप-
कीर्तिरेव श्यामवर्णत्वाल्लुलायं महिषमालोक्य समीक्ष्य । महिषो हि तुरगद्वेषी ।
यतः—‘रजस्वलो बाहुरिपुः’ इति हैम्याम् । तथा जिनजन्माभिषेके देवागमे—‘वा-
जिस्थं कासरारूढः’ । तथा ‘हयद्विषद्वक्त्रिणीपयःसुतम्’ हयद्विषस्या महिष्या
किंभूताया बष्कयिण्याः प्रौढाङ्गजाया यत्पयः सरसदुग्धं तस्य सुतं दधि । दु-
ग्धोद्भवात्पयः सुतमिति । तथा ‘रमालिरोमावलिदिविग्राहिध्वान्तायते बाहनमन्त-
कस्य । यत्प्रेक्ष्य दूरादपि बिभ्यतः खानश्चान्गृहीत्वापल्लतो विवस्वान् ॥’ द्रव्यमपि
नैषधे ॥

पञ्चापि देवतरवोऽधरिताः स्वदान-

लीलायितैर्वसुमतीकुसुमध्वजेन ।

संभूय काञ्चनशिलोच्चयचूलिकायां

किं मन्त्रयन्त्यवनिवृत्रहणं विजेतुम् ॥ ५५ ॥

वसुमत्या वसुंधराया अतिरूपरामणीयकेन कुसुमध्वजेन श्रीनन्दनेन । ‘निषधवसुधा-
मानां कस्य प्रियाङ्गुमुपेयुषः’ इति नैषधे । ‘सर्वातिशायिशरीरसौन्दर्याद्भूमीस्मरेण’ इति
तट्टितः । स्वदानस्य निजवितरणस्य लीलायितैर्विलसितैरधरितास्तिरस्कृताः पराभूताः
सन्तः पञ्चापि पञ्चसंख्याका अपि कल्प-पारिजात-मन्दार-हरिचन्दन-संताननामानो
देवतरवः सुरद्रुमाः । उत्प्रेक्ष्यते—काञ्चनशिलोच्चयस्य स्वर्णशैलस्य मेरोश्चूलिकायां
शिरःशिखरे संभूय एकत्र मिलित्वा सर्वेऽप्येकीभूय अवनेभूमेवृत्रहणं पुरंदरमकञ्चरसाहिं
विजेतुमभिविर्तुं किं मन्त्रयन्ति रहसि आलोचनमिव कुर्वन्ति । ‘रहस्यालोचनं
मन्त्रः’ इति हैम्याम् । तथा पाठान्तरम्—तत्र कूलंकषाणां नदीनां प्रणयी पतिः स-
मुद्रः सनेभिः स्यन्दनचक्रधाराकारो यस्याः सा भूमिस्तस्यास्तमीविबोद्धः रजनीरमणस्य ।
अकञ्चरभूपतेरित्यर्थः । विजिगीषयेव स्वाभिभवविधातुर्विजेतुमिच्छयेव अनिमि-

षान्देवान् संप्रीणयन्ति तोषयन्ति । समीहितदानादिना प्रीता हि देवा अभीष्टसिद्धिं ददते इत्यर्थः ॥

सर्वानुवाद इव यन्महसां विहायः-

पान्थः किमु प्रतिनिधिर्हुतभुक्पयोधेः ।

वज्रोऽनुकार इव कायलता हुताश-

पङ्क्तिः पुनः सहचरस्तडितां विलासः ॥ ५६ ॥

यन्महसाम् अकव्वरसाहेभ्यसः प्रतापानां विहायः पान्थो गगनाध्वनीनः सहस्र-
रश्मिः सर्वं समस्तरूपमनुवदतीति सर्वानुवादः पुनरप्यभिधानमिव । पुनः पयोधेः स-
मुद्रस्य हुतभुक् ज्वालाजिह्वो वडवामुखः प्रतिनिधिः प्रतिबिम्बमिव । पुनर्वज्रो वासव-
हस्तदम्भोलिः अनुकारः सादृश्यमिव । पुनर्हुताशनानां पावकानां पङ्क्तिर्मालिका कायलता
शरीरयष्टिरिव । पुनस्तडितां विद्युतां विलासो विजृम्भितं सहचरः सखा । 'स्निग्धः
सहचरो मित्रं सखा' इति हैम्याम् ॥

ऐश्वर्यमीशत इव प्रभुतां सुरेन्द्रा-

दोजो रवेर्निधिपतेश्च वदान्यभावम् ।

भोगीश्वरादवनिगौरवसाहसित्व-

मादाय योऽम्बुजभुवा निरमायि भूमान् ॥ ५७ ॥

यो भूमान् अकव्वरसाहिः अम्बुजभुवा नारायणनाभिनीरजजन्मना ब्रह्मणा । उत्प्रे-
क्षयते—ईशत ईश्वरादेश्वर्यमीश्वरताम् । तथा सुरेन्द्रादेवनायकात्प्रभुतां स्वामितां सामर्थ्यं
वा । पुनः रवेः सहस्रकिरणादोजः प्रतापम् । 'यदोजसो यद्यशसः स्थिताविमौ' इति
नैषधे । ओजःशब्देनात्र प्रतापः । च पुनर्निधिपतेर्वैश्रवणाद्वदान्यभावं दानशीलताम् ।
पुनर्भोगीश्वरात् शेषनागनाथादवनेर्मेदिनीमण्डलस्य गौरवस्य साहसित्वं सहनशीलताम् ।
'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वाच्यौ' । 'सासहिः वावहिः चाचलिः पा-
पतिः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । आदाय गृहीत्वा निरमायि निष्पादित इव ॥ इत्यकव्वर-
साहियशःप्रतापदातृतादिगुणः ॥

क्षोणीक्षितः क्षितिरुहानिव वायुरंहः

प्राच्याननामयदकव्वरभूमिपालः ।

तस्मादिशो जगृहिरेऽपि च दाक्षिणात्य-

क्ष्माभृद्रेण शरभादिव सिन्धुरेण ॥ ५८ ॥

अकव्वरनामा भूमीपालः क्षितिरक्षिता प्राच्यान् पूर्वदिग्भवान् पूर्वदिक्संवन्धिनो
वा क्षोणीक्षितः पार्थिवान् । 'महीक्षितपार्थिवो मूर्धाभिषिक्तो भूप्रजानृपः' इति हैम्याम् ।

अनामयत् स्वपदप्रणतान् प्रणयति स्म । क इव । वायुरंह इव यथा वातवेगः क्षि-
तिरुद्धान् पादपान् नामयति नम्रीकरोति । अपि च पुनस्तस्मादकञ्चरमुद्रलपातिसाहेर्द-
क्षिणस्यां दिशि भवा दाक्षिणात्यास्ते च ते क्षमाभृतश्च राजानस्तेषां भरेण वृन्देन दिशो
जगृहिरे पलायितम् । 'पलायितस्तु नष्टः स्याद्रुहीतदिग्भिराहितः' इति हैम्याम् ।
शरभादिव । यथा अष्टापदात्कुञ्जरारातेः सकाशात् । 'शरभः कुञ्जरारातिरुत्पादकोऽष्ट-
पादपि' इति हैम्याम् । सिन्धुरेण । जातिवाचित्वादेकवचनम् । निजाहितत्वेन हननभी-
तेर्गजेन प्रपलाय्यते ॥

आज्ञा यदम्बुनिधिनेमिविधेरधारि

शीर्षेव मूर्ध्नि धरणीरमणैरुदीच्यैः ।

पाश्चात्यभूमिपतयो यतयो बभूवु-

भीतेर्विरागत इवोज्झितसङ्गरङ्गः ॥ ९९ ॥

यश्चासौ अम्बुनिधिनेमौ वसुधावलये विधुश्च तस्याकञ्चरभूपते राज्ञः आज्ञा शासन-
मुदीच्यैः उत्तरस्यां भवैर्धरणीरमणैः पृथिवीपतिभिर्मूर्ध्नि स्वमस्तके शीर्षेव 'सेस' इति
लोकप्रसिद्धा । अधारि प्रियते स्म । तथा पाश्चात्यभूमिपतयः पश्चिमदिक्संबन्धिनो
भीतेरकञ्चरसाहिसाध्वसातिरेकायतयस्तापसा बभूवुः संजाताः । 'वैखानसो वानप्रस्थो
मिक्षुः सांन्यासिको यतिः' इति हैम्याम् । किंभूताः । उज्झितस्यक्तः सङ्गस्य गृहगृ-
हिणीधनैश्चर्यादिसंगमस्यानुपङ्गस्य रङ्गश्चित्तोत्साहो यैः । उत्प्रेक्ष्यते—विरागत इव ।
यथा वैराग्यात्तापसीभवन्ति । तेऽपि च विरागिणस्यक्तसङ्गरङ्गाः स्युः ॥ इत्यकञ्चरस्य
चतुर्दिगाकमणम् ॥

सर्वे जनाः सृजति राजनि यत्र राज्यं

प्रहृत्तिपलवितचित्तपथा बभूवुः ।

दुःस्थैरिवापि न परं प्रतिपक्षलक्ष-

क्षोणीमहेन्द्रमहिलानिवहैः सुखांशः ॥ १० ॥

यत्र यस्मिन्नकञ्चरे राजनि चतुरम्बुधिमेखलाखण्डले राज्यं सकलविपुलामण्डलै-
श्वर्यं सृजति कुर्वति सति सर्वे समस्ता अपि जनाः प्रजालोकाः प्रहृत्त्या प्रमोदेन ।
'ह्लाद इति योगविगाभात् हस्रः प्रहृत्तिः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । कृत्वा पलविताः वह-
लीभूताश्चित्तपथा मनोवृत्तयो येषां तादृशा बभूवुः संजाताः । परमयं विशेषः । अथ
वा परं केवलं प्रतिपक्षा अकञ्चरसाहेश्चेतोवचनादिनिर्विपक्षीभूता मनसैव विरुद्धवि-
धित्सवो वा न तु कायेन कथंचिदपि प्रमविष्णवः तादृग्विधा विरोधिनस्ते च लक्षा
लक्षसंख्याका ये क्षोणीमहेन्द्राः पूर्वावस्थापेक्षया क्षितिऋभुक्षाणः महानृपास्तेषां महिला
अवरोधवध्वस्तासां निवहैः समूहैः दुःस्थैरिद्रैर्निर्धनैरिव सुखस्य सातस्य शर्मणो ले-

शोऽप्यंशोऽपि नावापि न प्राप्तः । महाराजा अपि यत्प्रतिपक्षतया परिभवं प्राप्य सर्वं राज्यं जनपदपुरग्रामद्विणादि निर्गम्य द्रमकीभूय वनेचरा इव कान्तारान्तरचारिणो बभूवुः । अतस्तपस्विनीभिस्तद्वनिताभिः कुतः सुखांशोऽपि प्राप्यत इत्यर्थः ॥

मेरुर्गिरिष्विव गभस्तिरिव ग्रहेषु

बर्हिमुखेष्विव वृषा प्रमुखो नृपेषु ।

आक्रम्य चक्रिवदसौ क्षितिशक्रचक्रं

शास्ति स्म साहिरखिलां चतुरब्धिकाञ्चीम् ॥ ६१ ॥

असौ साहिरकव्वरः अखिलां समग्रामपि चत्वारोऽम्बुधयः समुद्राः काञ्ची मेखला यस्यास्तादृशीं पृथ्वीम् । यद्यप्युत्तरस्यां चक्रिसाध्यस्य भरतक्षेत्रस्य पर्यन्तो हिमवद्गिरिः तथापि कविसमयानुसार्यदो वचः । तथा च रघुवंशे—‘पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वाम्’ इति । तथा च नैषधे दमयन्तीस्वयंवरसमागमे भूपतीनाम्—‘रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः । प्रियोक्तिदानादरनम्रताभिरुपाचरचारु स राजचक्रम् ॥ चतुःसमुद्रीपरिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे । दानं दयासूनुतमातिथेयी चतुष्टयीरक्षणसौविदलाः ॥’ इति । शास्ति पालयते । किं कृत्वा । चक्रिवत् चक्रवर्तिवत् क्षितिशक्राणां मूर्धाभिषिक्तानां महानृपाणां चक्रं वृन्दमाक्रम्य स्वसेवकीकृत्य । असौ किंभूतः । गिरिषु सर्वपर्वतेषु मेरुः सुवर्णाचल इव । यथा ग्रहेषु मङ्गलप्रभृतिष्वष्टाशीतिसंख्येषु गभस्तिर्भास्कर इव । ग्रहपतित्वात् । ‘ग्रहाब्धिनीगो शुपतिर्विकर्तनः’ इति हैम्याम् । यथा बर्हिमुखेषु वृन्दारकेषु वृषा पुरंदर इव । तथा नृपेषु समस्तभूपतिषु प्रमुखो मुख्यः ॥ इत्यकव्वरवर्णनम् ॥

श्रीआगरापुरमुपेत्य कियन्ति वर्षा-

ण्यम्भोधिनेमिविधुना वसतिर्वितेने ।

भूकश्यपेन मथुरामिव हेमपद्म-

निष्पातिपौष्पकपिशार्कसुताकलापाम् ॥ ६२ ॥

अम्भोधिनेमेः समुद्रकाञ्च्या विधुना सुधाकरेणाकव्वरेण पातिसाहिना दिङ्मनगरात् श्रिया विविधलक्ष्म्या कलिताम् आगरा इत्यभिधानं यस्यास्तादृशीं पुरीं नगरमुपेत्यागत्य कियन्ति कतिचिद्वर्षाणि यावत्स्थितिः वसतिर्वितेने विहिता । स्थित इत्यर्थः । केनेव । भूकश्यपेनेव । यथा वसुदेवेन शौर्यपुरान्मथुरामागत्य कियन्ति हायनानि वसतिर्वितन्यते स्म । ‘वसुदेवो भूकश्यपो दन्दुरानकदुन्दुभिः’ इति हैम्याम् । किंभूतां पुरम् । हेमपद्मानां जाम्बूनदारविन्दानां निष्पातिभिर्नितरां पतनशीलैरथ वा काञ्चननीरजेभ्यो गलद्भिः । ‘पशुपतिजटाजूट इव विकसितकनकमलकुवलयोच्छलितरजःपुञ्जपिञ्जरीतराजहंसावतंसया’ इति चम्पूकथायां हेमपद्मानां सद्भावा इति । पौष्पैः परागैः कपिशा पिङ्गीकृतपया यार्कसुता भाजुनन्दना सैव कलापः कलधौतमेखला यस्यां सा ताम् ॥

[तस्थौ समाः स कियतीः पुरमागराख्यां

भूमान्विभूष्य मथुरामिव वृष्णिःसूनुः ।

भर्तुर्वशेव सरसा सरसीरुहास्या

श्यामाङ्गमर्कतनुजा भजते स्म यस्याः ॥

स भूमण्डले मुद्गलेन्द्रतया विख्यातो भूमानकन्वरः आगरा इत्याख्या नाम यस्या-
स्तादृशीं पुरं नगरीं विभूष्यालंकृत्य कियतीः कियत्संख्याकाः समा वर्षाणि । 'हायनोऽब्जं
समाः शरत्' इति हैम्याम् । यावत्तस्थौ स्थितिमकार्षीत् । क इव । वृष्णिःसूनुरिव ।
यथा वृष्णेऽन्धकवृष्णेः सूनुर्नन्दनो वसुदेवोदसारः कंसोपरोधेन कतिचित्संख्याकान्
संवत्सरान् स्थितवान् । यस्या आगराख्यायाः पुरो मथुरापुर्याश्च अर्कतनुजा कालिन्दी
अङ्गं समीपं भजते स्म सिधेवे । 'अङ्गो भूषारूपकलक्ष्मसु । चित्राजौ नाटकाद्यंशे स्थाने
क्रोडेऽन्तिकारगसोः ॥' इत्यनेकार्थः । केव वशेव । यथा पत्नी भर्तुरन्तिकमुत्सङ्गं भजते ।
किंभूता । सह रसैः पानीयैः शृङ्गारादिभिर्वा वर्तते या सा सरसा । पुनः किंभूता ।
सरसीरुहं पद्मं तदेव तद्वद्वा आस्यं वदनं यस्याः । पुनः किंभूता । श्यामा कृष्णवर्णा ।
'जम्मन्तरे न विहडइ उत्तममहिलाण जं कियं पि कम्मं । कालिन्दी कन्हविरहे अजवि
कालं जलं वहई ॥' इति वृत्तरत्नाकरवृत्तौ । पक्षे षोडशवार्षिकी ॥ पाठान्तरम् ॥]

स श्रीकरीपुरमवासयदात्मशिल्पि-

सार्थेन डाबरसरः सविधे धरेशः ।

इन्द्रानुजात इव पुण्यजनेश्वरेण

श्रीद्वारकां जलधिगाधवसंनिधाने ॥ ६३ ॥

स धरेशः अकन्वरधरणीरमणः आत्मनः स्वाज्ञावशवर्तिना शिल्पिसार्थेन विज्ञानिनि-
वहेन डाबर इति नाम्नः सरसः प्राक् साहिनैव स्वयं खानितस्य द्वादशकोशमितस्य
तटाकस्य सविधे पार्श्वे श्रीकरी इति नाम्नीं पुरं नगरं अवासयत् वासयति स्म । क इव ।
इन्द्रानुजात इव । यथा 'शक्रावरजो विष्णुः दाशार्हः । पुरुषोत्तमोऽब्धिशयनोपेन्द्रावज्रे-
न्द्रानुजाः ॥' इति हैम्याम् । तथा 'का नुजे मम निजे दनुजारौ' इत्यपि नैषधे । पुण्यज-
नानां यक्षाणामीश्वरेण स्वामिना । 'कैलाशोकायक्षधननिधिपुण्यकिंपुरुषेश्वरः' इति
हैम्याम् । शक्रादिष्टधनदेन । जलधिगानां नदीनां धवो भर्ता समुद्रस्तस्य संनिधाने स-
मीपे श्रिया स्वर्णरत्नादिसमृद्ध्या संयुक्तां द्वारकानाम्नीं पुरीं वासयामास निवेशयति स्म ॥

प्राक्काश्यपीपतिरकन्वरपातिसाहि-

स्तस्याः पुरः प्रतिभटान्प्रचलन्विजेतुम् ।

आशा दशापि कुरुते स्म फते स यस्मा-

त्तस्मात्फतेपुरमिति प्रददे तदाह्वाम् ॥ ६४ ॥

तस्मात्कारणात् काश्यपीपतिरवनिनायकः तस्याः श्रीकर्या आह्वां नाम फतेपुरमिति प्रददे दत्तवान् । करोति स्मेत्यर्थः । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धाद्ययस्मात्कारणात् सोऽकव्व-
रपातिसाहिः प्राक् पूर्वं वासनसमये तस्याः श्रीकर्याः पुरो नगर्याः प्रतिभटान् प्रत्यर्थि-
पार्थिवान् विजेतुं प्रचलन् प्रतिष्ठमानः दशापि प्राची-आग्नेयी-दक्षिणा-नैर्ऋती-प्र-
तीची-वायवी-उत्तरा-ऐशानी-नागी-ब्राह्मीलक्षणा आशा दिशः फते स्वायत्ताः । य-
वना हि विजयस्थाभिधां 'फते' इति कथयन्ति इति । 'दशदिगन्तजिता रघुणा यथा'
इति रघुवंशे । दशदिशां जयः कुरुते स्म कृतवान् । जैनमते तु महानद्यादिषु इत-
स्ततः पयःप्रवाहागमनैर्निम्नीभवद्भूभागनिवासिशबरादिग्रामाः शैलसंधिगङ्गारमध्यगतभि-
ल्लपहयो वा अधोदिग्वर्तिनः तथा पर्वतोपरिकोद्यादय ऊर्ध्वदिग्भाज इति तत्त्वम्
इति दशदिग्जयः जिगायेत्यर्थः ॥

गौरीमहेश्वरगणा स्फटिकावनद्ध-

मध्या सशेवधिपतिः प्रचलत्कुमारा ।

कर्णातिथीभवदिभाननधीररावा

कैलासभूमिरिव या नगरी रराज ॥ ६९ ॥

या श्रीकरीनगरी कैलासभूमिः स्फटिकाचलक्षोणीव रराज राजते स्म । किंभूता ।
गौरीभिः काञ्चनचारुवर्णवर्णनीयवर्णिनीभिः कलितानां महेश्वराणां महेश्वरानामगणित-
द्रविणवतां व्यवहारिणां गणा व्रजा यत्र । पक्षे पार्वतीसंयुतशंभुः तथा गणाः पार्षदाः
प्रमथादयो यस्याम् । पुनः किंभूता । स्फटिकादुज्ज्वलमवनद्धं सुधाकल्पितं गृहविपणिग-
णमयं मध्यं यस्याम् । पक्षे स्फटिकरत्नैरवनद्धं वद्धं मध्यं यस्याः स्फटिकाद्रित्वात् । पुनः
किंभूता । सह शेवधीनां निधानानां पतिभिः स्वामिभिः अगणिताप्रमाणद्रविणत्वात्प्रतिस्था-
ननिक्षिप्तानेकनिधिनयकैरीश्वरैर्वर्तते या । पक्षे सधनदा । 'कैलासौकायक्षधननिधिर्किं-
पुरुषेश्वरः' इति हैम्याम् । पुनः किंभूता । प्रचलन्तः क्रीडाकृते स्वतन्त्रमितस्ततः परि-
भ्राम्यन्तः कुमारः राजामात्यसामन्तमहेश्वरादीनां वालका यत्र । पक्षे प्रचलन् पित्रो-
र्मिलनार्थं गमागमं कुर्वन् कुमारः स्वामिकांतिको यत्र । स्कन्दस्यान्यत्रापि स्थितिर्संभ-
वाद्रमागमौ युक्तौ । तथा—'सुगन्धिगन्धमादनाधिवासिनः स्कन्ददेवस्य दर्शनार्थमितो
गतवानस्मि' इति चम्पूकथायाम् । अथ वा गौरीनन्दनत्वात्तत्रापि मातुः पार्श्वेऽवस्थि-
तत्वाच्चेति द्वयोरपि कर्मधारयः । पुनः किंभूता । कर्णातिथीभवन्तः श्रवणप्राचुर्यां जा-
यमाना इभानां मदगन्धवन्धुरसिन्धुराणामाननेभ्यो वक्त्रेभ्योऽर्थाभिर्गता धीराः पात्नी-
यपूर्णाप्रमाणश्रावणसंबन्धिजलधरध्वनितानुकारिणो रावा गम्भीरगर्जारावा यस्याम् ।
पक्षे श्रूयमाणो गणनायकधीरध्वनिर्निर्यस्याम् । विनायकस्यापि गौरीतनूजत्वात् ॥

भूमीभृतां प्रतिभटं सुमनःसु मुख्यं

जिष्णुग्रधन्वपविपाणिसहस्रनेत्रम् ।

प्रेक्ष्य प्रभुं हरिमिव स्वमुपेतमुर्व्यां

प्रीतेरनूपगतवत्यमरावतीयम् ॥ ६६ ॥

यं नृपम् । यन्मूर्तिमित्यर्थः । उर्व्यां महीमण्डले उपेतमागतं स्वमात्मीयं प्रभुं स्वामिनं हरिमिन्द्रं प्रेक्ष्य विलोक्य । विज्ञायेत्यर्थः । प्रीतेः स्वस्वामिनि स्नेहातिरेकात् अनु पृष्ठे उपगतवती समायाता । उत्प्रेक्ष्यते—इयं श्रीकरीरूपा अमरावती इन्द्रनगरीव । किभूतं यं हरिं च । भूमीभूतां विपक्षक्षोणीक्षितां पर्वतानां च प्रतिभटं विद्वेषिणं निहन्तुकम् । पुनः किभूतम् । सुष्ठु शोभनं मनो येषां निरवद्यहृदयेषु महत्सु देवेषु च मुख्यमग्रगण्यम् । पुनः किभूतम् । जिष्णुं जयनशीलं तथा उग्रं प्रचण्डं स्वासहजपरःसहस्रसंहारकारकं धन्व कोदण्डं यस्य । तथा पविर्वज्रमाकृत्या पाणौ हस्ते यस्य । प्रायः पुण्यवतां पाणिपादेषु वज्रचक्राङ्कुशादिलक्षणानि स्युः । तथा सहस्रं दशशतसंख्याकानि नेत्राणि लोचनानि यस्य । ‘सहस्रं राजा’ इति लोकवाक्यमपि । चरप्रधानपुरोहितादीनां हग्निभूपाळाः पश्यन्तीति कविसमयोऽपि । पश्चात्कर्मधारयः । शकस्य त्वेतानि नामान्येव सन्ति ॥

स्पर्धां यया विदधतं त्रिजगज्जयिन्या

दृष्ट्वा बलेर्गृहमियं कचिदौचिती न ।

ध्यात्वेति पद्मजनुषा प्रतिधातिरेका-

क्षिप्तः क्षणात्क्षितितले बलिना किमेषः ॥ ६७ ॥

पद्मजनुषा ब्रह्मणा इत्यमुना प्रकारेण ध्यात्वा विचिन्त्य प्रतिधातिरेकादनुचितविभावनोद्भूतकोपातिशयात् । उत्प्रेक्ष्यते—बलिना बलिनात्रा दैत्येन सार्धम् । अत्र सार्धपदाध्याहारः । अथ वा बलिना बलवता विधिना । बलवन्तं विना कापि कार्यसिद्धिर्न स्यात् । अत एष बलिगृहः क्षणान्निमेषमात्रात्क्षितेः पृथिव्यास्तले अधोभागे क्षिप्तः पाताले प्रवेशितः । ‘बलिसद्म दिवं सतथ्यवागुपरि स्वाह दिवोऽपि नारदः’ इत्युपरि स्थितिर्बलिगृहस्य नैषधे । इति किम् । त्रिजगज्जयिन्या भुवनत्रितयीयावन्नगरीजयनशीलया यया श्रीकर्या नगर्या सार्धं स्पर्धासभ्यसूयां विदधतं कुर्वाणम् । बलेर्गृहं नागलोकं दृष्ट्वा स्वयमन्विष्य इयमनया श्रीकरीपुरा सह स्पर्धाकृतिः क्वचित्कुत्रापि नौचिती न युक्तिमती इति चेत्तसि विचार्य ॥

निर्वर्ण्य वर्ण्यविभवैः स्वभवैः पुरीं यां

संस्पर्धया निजजयाय समुज्जिहानाम् ।

तद्भूतभूरितरभीतिविहस्तचेताः

किं द्वारका प्रविशति स्म पयोधिमध्ये ॥ ६८ ॥

द्वारका नारायणनगरी पयोधिमध्ये समुद्रसलिलदुर्गान्तराले प्रविशति स्म प्रविष्टा ।
उत्प्रेक्ष्यते—तस्याः श्रीकरीपुर्याः सकाशाद्भूता उत्पन्ना भूरितरा अतिमहती या भीति-
भयं तथा कृत्वा विहसन् व्याकुलीभूतं चेतो मनो यस्याः । किं तादृशीव किं कृत्वा ।
स्वस्याः श्रीकर्या भवैस्तपन्नैर्वर्णैर्जगत्रयजनवर्णनीयैर्विभवैः श्रीभिः संस्पर्धया अभ्यसूयया
कृत्वा निजस्य द्वारवत्याः आत्मनो जयाय पराभवनाय समुज्जिहानामुद्यतां प्रगल्भानां
कृतोद्यमानां वा यां श्रीकरीपुरीं निर्वर्ण्य दृग्गोचरीकृत्य ॥ इति समुदायेन नगरीवर्णनम् ॥

अथ पृथग्वर्णनम्—

धात्रीधृतौ फणसहस्रभृताभ्यसूयां

विभृद्भुजंगविभुनाम्बरचुम्बिमौलिः ।

सालः स्मयेन कपिशिर्षककोटिसुचै-

र्धतुं मरुद्रुहमिव स्वयमप्यधत्त ॥ ६९ ॥

सालो यत्प्राकारः स्मयेन गर्वावेशवशंवदतया । उत्प्रेक्ष्यते—स्वयमप्यात्मनोऽपि मरु-
द्रुहं स्वर्गं धर्तुमुद्रोढं धारयितुमुच्चैरुर्ध्वमुपरिष्ठात् कपिशिर्षकाणामट्टालकानां 'कासीसां'
इति प्रसिद्धानां कोटिमधत्त धृतवानिव । सालः किं कुर्वन् । भुजंगविभुना शेषनाग-
नायकेन सममभ्यसूयामीष्यां स्पर्धां विश्रद्धानः । किंभूतेन भुजंगविभुना । धात्र्या
धरित्र्या धृतौ धारणविषये फणानां स्वशिरसां सहस्रं दशशतीं बिभर्तीति । सालः
किंभूतः । अम्बरमाकाशं चुम्बतीति शिखरेण स्पृशतीत्येवंशीलो मौलिर्मूर्धा यस्य ।
अभ्रंलिह इत्यर्थः ॥

यद्वप्रवज्ररुचिसंचितशक्रचाप-

चक्राभ्रचुम्बिकपिशिर्षकराजिराभात् ।

युद्धं विधातुमहितेन विधुंतुदेन

मित्रान्तिकं किमु समीयुरमी सगोत्राः ॥ ७० ॥

यस्या नगर्याः वज्रः प्राकारः तस्य तत्संबन्धिनं वा वज्राणां गर्भसंदर्भीकृतकुलिशर-
त्नानां रुचिभिः कान्तिभिः संचितानि पुष्टानि कृतानि प्रकटीकृतानि वा शक्रचापचक्राणि
इन्द्रधनुर्मण्डलानि । अथ च वज्रशक्रकोदण्डचक्राख्यानि आयुधानि यस्यां तादृशी । तथा
अभ्रमाकाशं चुम्बत्यालिङ्गतीत्येवंशीला अभ्रं कषा कपिशिर्षकाणां राजिः पङ्क्तिः आभा-
द्भौ । उत्प्रेक्ष्यते—अहितेन शत्रुणा विधुंतुदेन राहुणा सार्धं युद्धं संग्रामं विधातुं कर्तुं
मित्रस्य सुहृदः सूर्यस्य चान्तिकं समीपममी सगोत्राः स्वजनाः किमु समेता उपगता इव ।
सगोत्रत्वं तु वृत्ताकारत्वेन प्रकाशकत्वेन च नभःपान्थत्वेन प्रभाकरत्वेन च । तथा सगोत्रा
हि सायुधाः संग्रामसमये सगोत्रसमीपे प्रायः समायान्ति इति रीतिरियम् । तत्रापि

कश्चित्सगोत्रोऽप्यनिष्टो भावदेवं च सत्पथं परं मित्रः ततः सर्वमप्युचितमेवेति ॥
इति प्राकारः ॥

यत्रापणेष्वगुरुचन्दनगन्धधूली

चन्द्रप्रकीर्णकमणीसुरदुष्यमुख्याः ।

ज्ञानैर्जिनैस्त्रिजगतीव समस्तवस्तु-

वीथी व्यलोक्यत नरैर्निजनेत्रपद्मैः ॥ ७१ ॥

यत्र फतेपुरे आपणेषु व्यवहारिणां हृदेषु समस्तानां वस्तूनां कयाणकानां वीथी
श्रेणी नरैर्नगरग्रामजनपदजन्मभिर्जनैर्निजनेत्रपद्मैः स्वनयनारविन्दैर्व्यलोक्यत समीक्ष्यते
स्म । किंभूता । अगुरवः काकतुण्डाः, चन्दनाः श्रीखण्डाः, गन्धधूल्यः कस्तूरिकाः,
चन्द्राः कर्पूराः सुवर्णानि वा, प्रकीर्णकानि चामराणि मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः सर्वजातिर-
त्नानि वा सुरदुष्याणि देवकुलानि वासांसि मुख्यान्त्यादीनि प्रधानानि वा यस्याम् ।
कैरिव । जिनैरिव । यथा वीतरागैः केवलभिः केवलज्ञानैः कृत्वा त्रिजगति
त्रैलोक्ये समस्तवस्तुविस्तारो विलोक्यते । समस्तवस्तुविस्तारो लोके एव नालोके, तत-
स्त्रिजगद्ग्रहणम् ॥

श्रेणीभवन्त्युभयपक्षवलक्षरत्न-

हृद्वावली विलसति स्म फतेपुरस्य ।

सुखामिसंमदितयत्पुरपद्मधाम्ना

वक्षःस्थलीकलितमौक्तिकमालिकेव ॥ ७२ ॥

फतेपुरस्याकञ्चरनगरस्य श्रेणीभवन्ती द्विपङ्क्त्या जायमाना उभयपक्षयोर्द्वयोः पा-
श्वयोः । 'शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमाः' इति रघुवंशे । 'उभयाभ्यां
द्वाभ्यां पक्षाभ्यां पार्श्वभ्यां परिवर्तनेन कृत्वा विनीता अपहस्तिता निद्रा यैः' इति
तद्भूतौ । वलक्षरत्नानां स्फटिकमणीनां स्फटिकोपलकल्पितानां हृद्धानामापणानामावली
धोरणी विलसति स्म शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—सुशोभनो नीतिमान् स्वामी अकञ्चरसाह-
स्तेन संमदो हर्षः संजातोऽस्यास्तया संमदितया संजातानन्दया यत्पुरस्य फतेपुरनग-
रस्य पद्मधात्र्या अरविन्दमन्दिरया लक्ष्म्या वक्षःस्थले स्वहृदये आकलिता धृता परि-
हिता मौक्तिकमालिका मुक्ताहारलतेव ॥ इति हृद्वावली ॥

वेदमन्त्रजाः पुरि विभान्ति मणीमरीचि-

संचारचूर्णिततमीतिमिरप्रसाराः ।

स्फूर्त्या विजित्य सुमनोनगरी गृहीता

मन्ये विमाननिवहा अनयादसीयाः ॥ ७३ ॥

पुरि फतेपुरनगर्यां वेदमत्रजा गृहगणा विभान्ति । किंभूताः । मणीनां विविधरत्नानां मरीचीनां कान्तीनां संचारेण प्रसारेण चूर्णिताः खण्डशः कृताः तमीतिमिराणां निशान्धकाराणां प्रसारा विस्तारा यैः । तत्राहमेवं मन्ये मानयामि जाने उत्प्रेक्षे वा । अनया नगर्यां स्फूर्त्या स्वविभूषाविस्फूर्जितेन सुमनोनगरी अमरपुरी अमरावती विजित्य परिभूय अदसीयाः स्वःपुरीसंबन्धिनो विमाननिवहाः सुरयाननिकरा गृहीता इवादत्ता इव ॥

चित्ते विचिन्त्य भयमभ्रपथेऽभियाति-

स्वर्माणुतो निजपरिच्छदमप्यशेषम् ।

आदाय यद्विविधरत्ननिकेतकायाः

सातं क्षिताविव वसन्ति सितांशुसूर्याः ॥ ७४ ॥

यन्नगर्यां विविधानामनेकजातीयानां रत्नानां कर्कतनादीनां मणीनां ये निकेता नैकोचितचञ्चुररचनासंदर्भितभवनास्त एव कायाः शरीराणि येषां ते । सितांशवः श्वेतकान्तयश्चन्द्राः सूर्या आदित्याः । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितौ पृथिव्यां सातं सुखं यथा स्यात्तथा वसन्ति निर्विघ्नं स्थितिं कुर्वन्ति । किं कृत्वा । अभ्रपथे मेघमार्गे गगने अभियातिः प्रतिपन्थी यः स्वर्माणुविधुन्दुदः तस्मात्सकाशाच्चित्ते स्वमानसे भयं निजप्रसनसाध्वसं विचिन्त्य विमृश्य अपि पुनः अशेषं समस्तमात्मपरिच्छदं ग्रहनक्षत्रतारकादिपरीवारमादाय सार्धं गृहीत्वा ॥

उन्नालनीरजमिव श्रियमापदेक-

स्तम्भं निकेतनमकब्बरभूमिभानोः ।

वंश्या रवेरिव परेऽपि गृहा वहन्ते

शोभां मणीद्युतिविभासितदिग्विभागाः ॥ ७५ ॥

अकब्बरनामा भूमेर्विश्वंभराया भानुर्भास्वास्तस्य एतावता राज्ञः एक एवाधस्ताद्भागे स्तम्भ आधारस्थणा यस्य तादृशं निकेतनमेकस्तम्भभवनं श्रियं शोभामापलभते स्म । किमिव । उन्नालं नीरजमिव । यथा उत् ऊर्ध्वमुदुच्चैः सलिलाद्बहिर्वर्ति जनलोचनगोचरं वा नालं मृणालं यस्य तादृक् नीरजं कमलं श्रियं शोभामाप्नोति । अपि पुनरकब्बरसाहेः परेऽन्येऽपि गृहाः सप्तभूमिकादयः प्रासादाः शोभां विभूषां वहन्ते । भासन्ते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—रवेः सूर्यस्य वंश्याः सगोत्राः इव । एकस्मिन् वंशे भवाः समुत्पन्ना वंश्याः प्रोच्यन्ते एकवंशजाः प्रायः सदृशा भवेयुरिति । अत एव मणीनां भवनगर्भसंदर्भीभूतानां नानाविधरत्नानां द्युतिभिर्ज्योतिर्भिर्विभासिताः प्रकाशिता उद्द्योतिता दिशां दशानामप्याशानां विभागाः प्रदेशा यैः ॥ इति नगरनृपगृहाः ॥

छायापथे निरवलम्बतया वसन्ती
 संख्यातिपातिमखभुग्भरभारितेव ।
 पौरस्फुरत्पुरनिभादमरावतीयं
 भूमौ समं निजजनैर्यपतन्नुदित्वा ॥ ७६ ॥

पौरैर्नागरैर्नगरवासिभिर्निखिलजनैः स्फुरन्निर्भरभृतं दृश्यमानं विलसद्वा यत्पुरं फते-
 पुराभिधनगरं तस्य निभात्कपटान्निजजनैः स्वदेवीदेवलोकैः समम् । उत्प्रेक्ष्यते—इयं
 प्रत्यक्षलक्ष्या अमरावती पुरंदरपुरीव नृदित्वावस्थानाङ्गशमवाप्य न्यपतत् । अधो-
 भूपीठे निपतिता स्थिता चावाप्याधारम् । किंभूता । छायापथे छायरूपे न तु कमादि-
 मोचिते स्थाने तादृशे पथे मार्गे गगने निरवलम्बतया निराश्रयभावेन वसन्ती वासं
 विदधती । तिष्ठन्तीत्यर्थः । पुनः किंभूता । संख्यां गणनामतिपतन्ति अतिक्रामन्तीत्येवं-
 शीला ये मखभुजो देवास्तेषां भरैर्वीवधैर्भारः गौरवं संजातोऽस्या इति भारिता भार-
 युक्ता जाता नम्रीभूता । अत एव नृदित्वा पतिता इत्यर्थः ॥

स्मारावरोधनधियं विदुषां ददाना
 यस्मिन्स्मिताम्बुजदृशः श्रियमाश्रयन्ते ।
 गोष्ठीं विधित्सव इवात्र चतुर्निकाय-
 देवाङ्गनाः कुतुकिता मिलिता मिथोऽम् ॥ ७७ ॥

यस्मिन् फतेपुरे स्मिताम्बुजदृशः स्मेरारविन्दनयनाः श्रियं शोभामाश्रयन्ते विभ्रते ।
 किं कुर्वाणाः । ददानाः प्रयच्छन्त्यः । काम् । स्मेरस्य मदनस्येदं स्मेरं तादृगवरोधनमन्तःपुरं
 तस्य धियं बुद्धिम् । केषाम् । विदुषां पण्डितानाम् । ‘स्मारावरोधनमनावहन्ती’ इति
 नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—अमूः प्रत्यक्षाः चतुर्णां भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिलक्ष-
 णानां निकायानां जातिविशेषाणां देवानामङ्गनाः स्त्रियः मिथः परस्परम् अत्र नगरे
 अमूः जगजननयनविषया मिलिता इव । किंभूताः । गोष्ठीं विधित्सवः अन्योन्यं गोष्ठीं
 स्वस्ववार्तां कर्तुं काङ्क्षन्त्यः । अत एव किंभूताः । कुतुकिताः कुतुकं स्वपरस्परस्वान्तप्र-
 वृत्तिप्रविधाने कौतूहलं हृदयोलासो जातमासामिति कुतुकिताः ॥ इति नरनार्यः ॥

स्वर्गे सुरेश इव शेष इवाहिगेहे
 चन्द्रो दिवीव निधिनाथ इवालकायाम् ।
 प्रीणन्प्रजा दशदिशां विजयं विधाय

तस्यां पुरि क्षितिपतिः स्म करोति राज्यम् ॥ ७८ ॥

दशानामपि दिशां हरितामासमुद्रक्षितेर्विजयं स्वायत्तीकरणं विधाय कृत्वा प्रजाः
 प्रकृतीः समस्तलोकान् प्रीणन् संतुष्टान् कुर्वन् । स क्षितिपतिः जगत्प्रसिद्धिमानक-

व्वरपातिसाहिः तस्यां फतेपुरनाड्यां पुरि नगर्यां राज्यं करोति स्म । समग्रनगरजनपद-
गजचक्रैश्वर्यं भुनक्ति स्म । क इव । सुरेश इव । यथा स्वर्गे देवलोके देवेन्द्रो राज्यं पाल-
यति । पुनः क इव । शेष इव । यथा अहिगेहे नागलोके शेषनागाधिपो धरणेन्द्रो वा
राज्यं कुरुते । पुनः क इव । चन्द्र इव । यथा दिवि आकाशे निशापतिर्ज्योतिषामैश्वर्यं
कुरुते । पुनः क इव । निधिनाथ इव । यथा अलकायां निधीनां समस्तमहीमण्डलगतनि-
धानानां नाथः स्वामी धनदः राज्यं पालयति ॥ इत्यकव्वरवासितफतेपुरवर्णनम् ॥

गान्धर्विकाः कचन घोषवतीं वहन्तो

गायन्ति यत्र नवपञ्चमगर्भगीतिम् ।

प्रस्थापितास्तमुपवीणयितुं मघोना

स्वर्गायनाः स्वजयशङ्कितचेतसेव ॥ ७९ ॥

यत्राकव्वरसभायां कचन कुत्रापि प्रदेशे घोषवतीं वीणां वहन्तः करे धारयन्तः
गान्धर्विकाः गायनवरा इतरगायनजनगानेभ्योऽसाधारणोऽश्रुतपूर्वत्वान्नवीनः पञ्चम-
नामा रागो गर्भे मध्ये यस्यास्तादृशीं गीतिं गानं गायन्ति गेयविषयीकुर्वन्ति । उत्प्रे-
क्ष्यते—स्वस्यात्मनो जये पराभवे असौ स्वर्गे समेत्य मा मां जयतादिति शङ्कितं शङ्कायुक्तं
जातं चेतो यस्य तादृशेन मघोना शक्रेण तं साहिं वीणया कृत्वा उप सनीपे समेत्य गातुं
गानगोचरीकर्तुं प्रस्थापिताः प्रेषिताः स्वर्गायना हाहाहूहूहूप्रमुखा देवगन्धर्वा इव ॥

यस्यां महीमदनसंसदि नर्तकेषु

नृत्यं मनोनयनवृत्तिहरं सृजत्सु ।

सप्तस्वरैस्तदुदिताप्रमितप्रसत्ति-

सप्ताङ्गलक्ष्मिमुदितध्वनितैरिवासे ॥ ८० ॥

यस्यां वर्णनागोचरीकर्तुमारब्धायामतिशायिरूपत्वान्महीमदनो भूमीमनोभूरकव्वर-
पातिसाहित्यस्य संसदि सभायाम् । 'निषधवसुधामानां कस्य' इति नैषधे । नर्तकेषु नृत्य-
कारकेषु मनसां तथा नयनानामर्थाच्चतुरचित्तलोचनानां वृत्तेर्व्यापारस्य हरमपहारकम्
अनन्यवृत्तिविधायकं नृत्यं ताण्डवं सृजत्सु कुर्वत्सु सत्सु । षड्ज-ऋषभ-गान्धार-म-
ध्यम-पञ्चम-धैवत-निषधनामभिः सप्तभिः स्वरैरासे । सप्तस्वराणां तानमानमूर्छना-
भिर्वभूवे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—तस्मादकव्वरसाहेरुदिता प्रकटीभूता या अप्रमाणा
प्रमाणातीता असाधारणा प्रसत्तिः प्रसन्नता यस्यास्तादृश्याः । स्वाप्ति-अमात्य-सुहृत्-
कोश-राष्ट्र-दुर्ग-सैन्यलक्षणानि सप्तसंख्याकान्यङ्गानि अवयवा यस्यास्तद्विधायाः
लक्ष्म्या राज्यश्रियाः । समासमध्ये लक्ष्मिशब्दो ह्रस्वोऽपि दृश्यते । यथा—'चरणल-
क्ष्मिकरणग्रहणोत्सवे' इति ऋषभनम्रस्तवे । तथा—'लक्ष्मीर्लक्ष्मिहरेः स्त्रियाम्' इति
शब्दप्रभेदेऽपि । मुदितध्वनितैरिव प्रमोदमेदुरमनस्त्वेन शब्दितैरिव ॥

कुत्रापि मौरजिकमण्डलवाद्यमान-

माद्यन्मृदङ्गनिनदाननुकर्तुकामः ।

जैनं पदं परिचरन्विगतावलम्बः

श्रेयोऽनुतिष्ठति घनः किमु कामवर्षी ॥ ८१ ॥

कुत्रापि साहिसभायाः कस्मिंश्चित्प्रदेशे मुरजान्वादयन्तीति मौरजिका मृदङ्गवादका-
स्तेषां मण्डलेन संदोहेन वाद्यमानानां विविधतालैः पाणिभिस्ताड्यमानानां तथा मा-
द्यतां भोजनदानलोभेन मदवतां गम्भीरनिजाभ्यां मृदङ्गानां मर्दलानां निनदान्
शब्दानुकर्तुं सदृशीभवितुं कामोऽभिलाषो यस्य तादृक् घनो जलधरः श्रेयः सुकृतं
पुण्यमनुतिष्ठति करोतीव । किंभूतः । विगतो निर्यातोऽवलम्ब आश्रयः स्वजनादिवर्गः
स्वामिनगराद्युपष्टम्भो यस्य । एतावता एकाकी गगनेस्थितत्वात् च निराधारः । पुनः
किंभूतः । काममतिशयेन जनमनोभिलाषं वा वर्षति प्रचुरपथोदृष्टिं कुरुते प्रददातीत्येवं-
शीलः कामवर्षी । पुनः किं कुर्वन् । जैनं जिनोऽर्हन्नारायणश्च तत्संबन्धि पदं चरणं
परिचरन् सेवमानः । अर्हच्चरणं विष्णुपदं च भजमानः । आकाशे तिष्ठन्नित्यर्थः ॥

स्वर्गे न किञ्चिदपि दानमवाप्नुवद्भिः

प्राप्तैस्तदाप्नुमवनीं धनदाद्धरेन्द्रात् ।

देवैर्न तुम्बुरुमुखैः कचन प्रवीणै-

वीणा अवादिषत कर्णसुधां किरन्त्यः ॥ ८२ ॥

कचन सभायाः कुत्रचित्स्थाने प्रवीणैर्वीणावादनानिपुणैर्वैणिकैर्वीणावादकैर्वीणा
विपङ्क्तयोऽवादिषत वाद्यन्ते स्म । किं कुर्वन्त्यो वीणाः । कर्णयोः श्रोतृश्रवणयोः सुधाम-
त्यन्ताह्लादकारित्वादमृतं किरन्त्यो वर्षन्त्यः । उत्प्रेक्ष्यते—तुम्बुरुर्नामा कश्चित्सुरगाय-
नविशेषः स मुख आदिर्येषां तैः । देवगायनैरित्यर्थः । नेत्युत्प्रेक्षार्थः । किंभूतैर्देवैः । अवनीं
भूर्मीं प्राप्तैरागतैरिव । किं कर्तुम् । अवन्या भूमेर्धनदादतिवदान्यतया वैश्रवणाद्धरे-
न्द्रादकब्बरात्सकाशादानं मनःसमीहितधनं आप्तुमधिगन्तुम् । तर्हि किम् । स्वर्गे दानं
नास्ति । तदेवाह—किंभूतैर्देवैः । स्वर्गे देवलोके किञ्चिदपि स्तोकमात्रमपि दानं विश्राणनं
द्रविणादि । नेति निषेधे । नावाप्नुवद्भिः अलभमानैः । देवेन्द्रादीनां दृढमुष्टितया वसु-
धायां वदान्यबाहुल्यादुपेतमिति ॥

एषैव पूस्त्रिजगतीजयिनी निवस्तु-

मौचित्यमावहति भो हरितां महेन्द्राः ।

कुत्रापि वेणुरिति वैणविकैः प्रणुन्नो

वस्तुं किमाह्वयति तानिह सान्द्रनादैः ॥ ८३ ॥

कुत्रापि साहिसभायाः कचन प्रदेशे वैणविकैः वेणुं वादयन्तीति वंशवादकैर्गन्ध-
र्वजनैः प्रणुनः प्रेरितः । वादित इत्यर्थः । वेणुर्वंशः 'वासली' इति प्रसिद्धः । सान्द्रैः
श्लेहलैः श्रवणहृदयप्रेमोत्पादकैर्वहलैर्नारन्ध्रैर्वा नादैर्निजनिनादैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—
इति हेतोस्तान् हरितां महेन्द्रान् इह फतेपुरनाम्नि साहिनगरे वस्तुं वासं विधातुं
किमाह्वयति आकारयतीव । अन्योऽपि कश्चिज्जनः केनापि प्रेरितः कमप्यनिर्दिष्टनामा-
नमाकारयति । इति किम् । भो इति संबोधने । अहो हरितां महेन्द्राः दशानामपि
दिशामधीशाः, त्रिजगतीजयिनी त्रिभुवननिखिलनगरीनिर्जयनशीला एवैव फतेपुरलक्षण-
पूः पुरी निवस्तुं वस्तुं निवासं विधातुमौचित्यमार्हन्तीयोग्यतामावहति दधातीति ॥

कुत्रापि केलिविहगा मगधा इवोर्वा-

भानोर्मुदा जयजयेदमुदीरयन्ति ।

शास्त्राम्बुधेरिव सुधालहरीर्हृदन्त-

स्थास्रोः कथाश्च कथकाः कथयांबभूवुः ॥ ८४ ॥

कुत्रापि सभायाः कस्मिन्नपि भूमिभागे केलिविहगा राजशुकसारिकाप्रमुखपतत्रिणः मुदा
इष्टफलावलीप्राप्तिप्रमुदितमनस्त्वेन उर्वीभानोरतिशायिप्रतापवत्त्वेन वसुधाविवस्वतः
अकव्वरस्य जयजयेदं हे साहे, त्वं चिरं विगलितावधि जय जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व
सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व इदमेतदुदीरयन्ति । 'तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ता
पटवस्तमस्तुवन्' इति नैषधे । कथयन्ति । क इव । मगधा इव । यथा मागधा मङ्गलजय-
शब्दादिकथकाः जयजयशब्दं राज्ञो वदन्ति च पुनः कथकाः पुराणोदितव्याख्यानका-
रिणः पुरातनकथाकथयितारो वा ब्राह्मणादयः पुरुषाः कथा महापुरुषचरितानि कथयां-
बभूवुः । उत्प्रेक्ष्यते—हृदन्तर्हृदयमध्ये स्थास्रोः स्थायुकस्य निवसनशीलस्य शास्त्राम्बुधे-
र्वाङ्मयसमुद्रस्य सुधालहरीरमृततरङ्गानिव ॥

यस्यामवीज्यत विभुश्चमरैः सुरेन्द्रः

स्वर्वाणिनीभिरिव वारविलासिनीभिः ।

रेजे पुनर्नृपतिमूर्ध्नि सितातपत्रं

राजत्वनिर्जित इवोपचरन्मृगाङ्कः ॥ ८५ ॥

यस्यामकव्वरसभायां विभुरकव्वरपातिसाहिः वारविलासिनीभिः बालव्यजनवीज-
नातपत्रधारणादिप्रकारैः पार्थिवसेवाविधायिकाभिः पण्याङ्गनाजातिभिः वारसारङ्गशोच-
नाभिः चमरैर्वालव्यजनैः कृत्वा । 'चमरश्चामरोऽपि च' इति शब्दप्रभेदे । अवीज्यत
वीज्यते स्म । क इव । सुरेन्द्र इव । यथा वासवः स्वर्वाणिनीभिरुर्वशीप्रमुखाभिरप्सरोभिः
दिव्यप्रकीर्णकैर्वीज्यते । पुनरपरोक्तौ यस्यां संसदि नृपतिमूर्ध्नि पातिसाहिमस्तके
सितातपत्रं सितातपवारणं रेजे भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—राजत्वेन राजभावेन निर्जितः

सन्नुपचरन् सेवां कुर्वाणो मृगाङ्गः सुधादीधितिः । यो येन निर्जित्य निजसेवकीकृतः
स तस्यातपनिवारणादिना संनिधौ तिष्ठन्ननिशं सेवां विधत्ते ॥

शृङ्गारिताः कचन मत्तमतङ्गजेन्द्रा

विन्ध्याञ्जनावनिभृतोरिव तुङ्गशृङ्गाः ।

वाजित्रजाः कचन सन्ति परैरसह्य-

तेजोजितैः कजकरैरुपदीकृताः किम् ॥ ८६ ॥

यत्र सभायां कचन कुत्रचित्प्रदेशे शृङ्गारिताः सिन्दूरतैलादिभिः तथा चमरकाञ्चनर-
चितपटबन्धादिभिर्विभूषिताः मत्ता मदोद्वृताः सप्तसु स्थानकेषु द्वौ कपोलौ द्वे पार्श्वे द्वौ
शिरःपिण्डौ मेढ्रं च । अथ च कुत्राप्येवं दृश्यते यथा—‘द्वौ गण्डौ लोचने द्वे च गुदं
मेढ्रं करः पुनः । मदच्युतिर्भवेत्सप्तस्थिति स्थानेषु हस्तिनाम् ॥’ इति । पश्चात्तद्वक्षिता रावा
तच्छास्त्रविदो विदन्तीति । एतेषु स्थानकेष्वविरलमदप्रवाहक्षरन्तोऽत्युत्कटा मतङ्गजेन्द्राः
गजराजाः सन्ति सजलजलधरगलगर्जितं कुर्वन्तो विद्यन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यो जल-
बालकाद्रिः, विन्ध्याचलः अञ्जननामा च अवनिभृत, तयोस्तुङ्गा गगनाङ्गणलिङ्गिनः शृङ्गाः
शिखराणीव । शृङ्गः पुनपुंसकलिङ्गे । कचन वाजित्रजाः शृङ्गारिताः । अत्राप्येतद्विशेषणम् ।
सुवर्णखलीनपर्याणादिभिः शोभिताः तुरङ्गमगणाः सन्ति वितिष्ठन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—परैः
सर्ववैरिवारैरसह्यानि सोढुमशक्यानि यानि तेजांसि प्रबलप्रतापाः तैः कृत्वा जितैः
परिभूतैः कजकरैः पद्मपाणिभिः । ‘मित्रो ध्वान्तारातिरब्जांशुहस्तः’ इति हैम्याम् ।
भास्करीः । सूर्याणां बाहुल्याद्बहुत्वम् । ‘द्वादशात्मा च हेलिः’ इति हैम्याम् । उपदीकृता
ढौकृता इव ॥

शौर्याजिगीषुमवगत्य निजं मृगेन्द्रै

रेजेऽनुनेतुमिव यं प्रहितैर्मृगैः सैः ।

स्कन्धेन येन विजितैर्वनजैस्तुरङ्ग-

द्वेष्यैर्निषेवितुमिवोपगतैश्च यस्याम् ॥ ८७ ॥

च पुनर्यस्यां सभायां कचन मृगैः कृष्णसारैर्हरिणै रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—शौर्यात् शूर-
भावात् यं नृपं निजमात्मानं जिगीषुं जेतुमिच्छुमवगत्य ज्ञात्वा मृगेन्द्रैः सारङ्गराजैस्तम-
नुनेतुं प्रसादयितुं खानुकूलिकर्तुं खैरात्मीयसेवकैर्मृगेन्द्रत्वात्प्रहितैः सेवाकृते प्रेषितैः
सारङ्गैरिव । च पुनर्यस्यां कचिद्रेजे । तुरङ्गद्वेष्यैर्वन्यैर्वनखण्डजन्मभिः । ‘रजखलो वाहरिपुः’
इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—येनाकब्धरेण स्कन्धेन निजांसस्थलेन कृत्वा विजितैः । अत
एव तं नृपं निषेवितुमुपासनागोचरं नेतुं वनजैर्वन्यैः कासरैरिवोपगतैः ॥

द्वीपाधिपत्वमिह नो वनवासभाजो

यद्वीपिनो मम निरर्थकमेव नाम ।

तत्तत्प्रभोः प्रदिश कल्पितकल्पशाखि-

द्वीपिव्रजो भजति वक्तुमितीव भूपम् ॥ ८८ ॥

यस्यां क्वचित्स्थाने द्वीपिव्रजो व्याघ्रसमूहो भूपं भजते । उत्प्रेक्ष्यते—इति वक्तुमिव कथयितुमिव । इति किम् । मम द्वीपीति नाम निरर्थकमिव वर्तते । द्वीपानि सन्त्यस्येति द्वीपी इदमभिधानं व्यर्थमेवास्ति । यत्कारणादिह जगति भूमण्डले वा मम द्वीपाधिपत्वमेव नास्ति । मम किंभूतस्य वनवासभाजः । द्वीपाधिपत्वं तु दूरे तिष्ठतु, द्वीपनगरादिमध्ये स्थितिरपि नास्ति । इदं तु जम्बुद्वीपम् । तद्भासादिष्वपि स्थितेरभावः । गिरिगह्वरे वासभाजः स्थितिं कुर्वाणस्य । तत्तस्मात्कारणात् । हे कल्पितानां मनसोऽभिलषितानां पूरणे कल्पशाखिन् स्वस्तरो हे प्रभो हे साहे, तन्ममत्वं द्वीपाधिपत्वं प्रदिश देहि । इति विश्वमुमिव ॥

प्राचीपतिं विबुधराजबलारिवाति-

जिष्णुं सहस्रनयनं शतकोटिपाणिम् ।

दृष्ट्वा भ्रमादिव हरेः स्वपतेरुपेताः

खःसुभ्रुवो व्यभुरिहामितवारवध्वः ॥ ८९ ॥

इह सभायाममिताः प्राणातीतास्ताम्बूलजलवालव्यजनादिवाहिन्यो वारवध्वो वारवि-
लासिन्यो व्यभुः शुशुभिरे । उत्प्रेक्ष्यते—खःसुभ्रुवोऽप्सरसः उपेता आगताः । क-
स्मात् स्वस्यात्मनः पत्युर्मर्तुहरेरिन्द्रस्य भ्रमाञ्जान्त्या । किं कृत्वा । दृष्ट्वा । अर्थाद्यं नृपम् ।
किंभूतम् । प्राचीपतिं पूर्वदिक्स्वामिनम् । गुर्जरदेशापेक्षया फतेपुरस्य पूर्वदिग्बर्तित्वात् ।
पुनः किंभूतम् । विबुधानां पण्डितानां राजानमधीश्वरम् । सर्वशास्त्रकलापारगामित्वात् ।
पुनः किंभूतम् । बलेन कलिता बलिष्ठा ये अरयो वैरिणस्तेषां घातिनं हननशीलम् ।
पुनः किंभूतम् । जिष्णुं जयनशीलम् । सर्वत्राप्यप्रतिहतत्वात् । पुनः किंभूतम् । सह-
स्रनयनं सहस्राक्षम् । पुनः किंभूतम् । शतशः कोटयः खर्णादीनां शतसहस्रलक्षाः पाणौ
यस्य प्रबलकोशकलितम् । इन्द्रार्थे पूर्वापतिं देवराजं बलनामदैत्यस्य रिपोर्घातिनं
नाम्ना जिष्णुं सहस्रनयनं वज्रहस्तं च ॥

ऊर्ध्वदमा कचन मौलिविलासिहस्ताः

श्रीकण्ठमित्रमिव शीलति राजराजिः ।

शैला इवैतदभिभूतमहीपतीनां

मुक्तामणीवसुगणाद्युपदाः स्फुरन्ति ॥ ९० ॥

कचन क्वापि सभायां राज्ञां महामहीन्द्राणां राजिः श्रेणी शीलति । अर्थात्सभापतित्वात् ।
यं नृपं भजते । किंभूताः । ऊर्ध्वदमा ऊर्ध्वाभूताः । प्रायोऽकम्बरसाहिसमाजे सर्वेऽपि
जनाः सामन्तादय ऊर्ध्वाभूयैव संतिष्ठन्ते इति रीतिरासीत् । पुनः किंभूताः । मौलौ

मस्तके विलसनशीलौ स्थायुर्का हस्तौ यस्याः । कस्मिन् । श्रीकण्ठमित्रमिव । यथा वैश्रवणं यक्षेश्वरत्वात् राज्ञां यक्षाणां राजिर्धोरणी शीलति । ‘यक्षः पुण्यजनो राजा’ इति हेम्याम् । पुनः कचन एतेनाकव्वरसाहिना अभिभूतानां स्वसेवकीभूतानां महीपतीनां राज्ञां मुक्ता मौक्तिकानि, मणयो रत्नानि । अबुना ‘जवाहर’ इति प्रसिद्धाः । वसूनि स्वर्णहृत्पद्मनानि, तेषां गणा आदौ यासां तादृश्य उपदाः प्राभृतानि दौकनकानि ‘भिटणा’ इति प्रसिद्धाः स्फुरन्ति । क इव । शैला इव । यथा अत्युच्चाः शैला वीक्ष्यन्ते । यथा अतिबहव्योऽभ्रलिहाश्चोपदा दृश्यन्ते ॥

शीलन्ति यं कचन संसदि लोकपालाः

शच्या इव प्रियतमं च चतुर्दिगीशाः ।

साङ्गा इव कचन वीररसाश्च वीराः

सेनान्यमेव चतुरङ्गचमूरनूताः ॥ ९१ ॥

च पुनः संसदि सभायां कचन प्रदेशे चतसृणां प्राची-अवाची-प्रतीची-उर्दीची-लक्षणानां दिशां हरितामीशाः स्वासिनो लोकपालाः राजानो यमकव्वरं शीलन्ति । कस्मिन् । यथा शच्या इन्द्राण्याः प्रियतमं प्राणनाथं पुरंदरं सोमयमवरुणवैश्रवणाभिधानाश्चतुर्दिग्व्याका लोकपालाः शीलन्ति । च पुनः कचन क्वापि वीराः सुभटाः शीलन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—साङ्गाः सशरीरा वीरनामानः पञ्चमा रसाः इव । पुनः अनूना सुदृढतनुत्रनिशितशस्त्रादिद्विचत्वारिंशदुपगणकलिता चत्वारि गजवाजिरथपदाति-लक्षणानि अङ्गान्यवयवा यस्यास्तादृशी चमूः शीलति । कस्मिन् । सेनान्यमिव । अत्र एव इवार्थः । यथा चक्रवर्त्यादिसेनापति चतुरङ्गिणी सेना सेवते । अथवा । सेनान्यं स्वामिकार्तिकं चतुःस्कन्धा सुरसेना सेवते । देवैः स्कन्दमेव सेनानीत्वेऽभिषिच्य तारको निहतः । एतद्विस्तरः परसमये ॥

आकाशवत्कविबुधश्रियमादधाना

नीरेशितार इव जिष्णुरमाभिरामाः ।

श्रीदा इव प्रदधतोऽत्र वदान्यभावं

सभ्या विभान्ति धिषणा इव वागधीशाः ॥ ९२ ॥

अत्राकव्वरसभायां सभायां साधवः सभ्याः सभासदः राजसभोपवेष्टारः विभान्ति शोभन्ते । किंभूताः । कवितया काव्यकर्तृत्वेन । यदुक्तं स्वर्गापहारिणा केनचिद्विदुषा—‘वयमपि कवयः कवयः कवयः कवयश्च सिद्धसेनाद्याः । यद्यपि डलयोरैक्यं तर्कि कल-भीयते करमः ॥’ इति । तथा बुधतया पाण्डित्येन श्रियं शोभामा सामस्येन सर्वकला-वेत्तृत्वेन दधानाः सभाया विभूषां कुर्वाणा वा । किंवत् । आकाशवत् । यथा आकाशाः कवीनां शुक्रानां बुधानां रोहिणीनन्दनानां च श्रियं लक्ष्मीमा सामस्येन विभ्राणाः कुर्वाणा

वा सन्ति । सूर्याणां द्वादशत्वेन बाहुल्याद्वाहाणामपि बाहुल्यम् । सूर्याणां ग्रहपतित्वात् । पुनः किंभूताः । जिष्णुत्वेन सुभटतया शौर्येण जयनशीलतया रमा लक्ष्मीः तया अभिरामा गजाश्वग्रामादिबहुविभूतिभ्राजिनः । 'जिते च लभ्यते लक्ष्मीः' इति वचनात् । शत्रुं जैत्राणां सुभटानां हि प्रायः स्वामिनो ग्रामान्ददते इति रीतिः । के इव । नीरे-
शितार इव । 'वान्दीशः सरस्वान्' इति हैम्याम् । वारिपतिर्नदीपतिश्चेति संयोगाद्वा । यथा समुद्रा जिष्णुरमाभ्यां कृष्णतत्पत्नीभ्यां कृत्वा मनोज्ञाः । समुद्रशायी कृष्णः । लक्ष्म्यास्तजायात्वेन सानिध्यम् । पुनः किंभूताः । वदान्यभावं दानशौण्डतां प्रक-
र्षेण दधते विभ्रतः । के इव । श्रीदा इव । यथा धनदा दानशीलत्वं दधते । पुनः किंभूताः । वाग्धीशाः । प्रगल्भवाग्विलासाः । 'वागीशो वाक्पतौ' इति हैम्याम् । क इव । धिषणा इव । यथा सुराचार्याः । 'धिषणः फाल्गुनीभवः । गीर्वृहस्योः पतिः' इति हैम्याम् । वाचामधीशा भवन्ति ॥

स्वल्लैणजैत्रमणिकल्पितशिल्पचञ्च-

त्पाञ्चालिकापहतलोचनचित्तवृत्तिः ।

पूर्वापराम्बुनिधिमीममहीमघोनो

या संसदाप सुषमां बलभित्समेव ॥ ९३ ॥

पूर्वापराम्बुनिधी प्राच्यप्रतीच्यसमुद्रौ सीमा अवसानं मर्यादा यस्यास्तादृश्या मद्या भूमेर्मघोनो वासवस्य संसत् सभा सुषमां सातिशायिशोभां प्राप लेभे । केव बलभि-
त्समेव । यथा बलनामानं दानवेन्द्रं भिनत्ति हन्तीति बलभित्पुरंदरस्तस्य सभा पर्वत्
सुधर्मनाम्नी सुषमामाप्नोति । किंभूता । स्वः स्वर्गस्य स्त्रीणां समूहः स्त्रैण सुराङ्गनाग-
णस्तस्य जैत्रीभिर्जयनशीलाभिः मणिभिर्विविधरत्नैः कल्पितं रचितं शिल्पं विज्ञानं
तेन चञ्चन्तीभिः शोभमानाभिः । अथ वा मणिभिर्निर्मितं विज्ञानं यासां तथा चञ्च-
न्तीभिः पाञ्चालिकाभिः पुत्रिकाभिरपहता स्वायत्तीकृता स्वासु एकताना विहिता
लोचनानामर्थाद्विलोककान्तानयनानां मनसां चेतसां च वृत्तिर्व्यापारो यया सा ॥ इत्यक-
ब्बरसभावर्णनम् ॥

गोष्ठीं सृजन्क्षितिसितांशुरशेषशास्त्रा-

धीतीव तत्सदसि कोविदमेदुरायाम् ।

धर्मं विशिष्य परिचेतुमना इति स्म

सामाजिकाननुयुनक्ति कदाचिदेषः ॥ ९४ ॥

एषोऽकब्बरः क्षितिसितांशुर्धरणीरोहिणीरमणः कदाचित् कस्मिंश्चित्समये विशिष्य
विशेषप्रकारेण कृत्वा धर्मं मोक्षसाधकं मार्गं परिचेतुं परिचितिगोचरीकर्तुं मनोऽन्तः-
करणं यस्य सः । तस्यां पूर्वव्यावर्णितस्वरूपायां सदसि सभायां सामाजिकान्

संभ्यानित्यमुना प्रकारेणानुयुनक्ति स्म । पप्रच्छेत्यर्थः । किंभूतायां सदसि । को-
विदैर्निरवद्यविद्याविदुरविशारदवृन्दैर्मेदुरायां पुष्टायां भृतायाम् । मण्डितायामित्यर्थः ।
क्षितिसितांशुः किं कुर्वन् । गोष्ठीं विनोदवार्तां सृजन्निर्ममाणः । क इव । अशेषशास्त्रा-
धीतीव । यथा अशेषेषु समस्तेषु शास्त्रेषु व्याकरणसाहित्यप्रमाणच्छन्दोवेदज्योति-
रलंकारनीतिचाणक्यादिषु वाङ्मयेषु अधीतमध्ययनमस्यास्तीत्यधीती सर्वशास्त्राध्येता
गोष्ठीं सृजति ॥

किं पप्रच्छ तदेवाह—

भास्वानिव प्रकटयत्यनवद्यमार्गं

प्राणान्निजानिव पिपर्तिं समग्रसत्त्वान् ।

धत्ते स्पृहामिह न सिद्धमिव क्वचिद्यो-

ऽनुक्रोशशालिपदवीमिव योजनौघः ॥ ९९ ॥

विश्वासुमत्सु समदृक्परमेशितेव

सङ्गं कुसङ्गमिव शान्तमना जहाति ।

यः पोतवत्तरति तारयते परांश्च

संसृत्युदन्वति स कश्चिदिहास्ति साधुः ॥ १०० ॥ (युग्मम्)

इह ममाज्ञावर्तिनि महामण्डले सर्वदर्शनेषु वा स प्रसिद्धिमान् साधुर्महात्मा कश्चि-
त्कोऽपि अस्ति वर्तते । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् स कः । यो महात्मा भास्वान् मार्तण्ड
इवानवद्यं निष्पापं मार्गं पन्थानं प्रकटयति प्रकाशयति । तथा यो निजानात्मीयान्प्रा-
णान् असूनिव समग्रान् सर्वान् सत्त्वान् प्राणिनः पिपर्तिं पालयति । तथा यः सिद्धो
मुक्तात्मेव इह विश्वे पुत्रकलत्रधनादिसंसाराभिषङ्गे वा क्वचित्कुत्रापि पदार्थे स्पृहां
वाञ्छां न धत्ते दधाति सृजति वा । पुनर्योजनानां चतुःक्रोशीमानानां मार्गप्रमाण-
विशेषाणामोघः समूह इव अनुक्रोशेन दयया । 'कृपानुकम्पानुक्रोशः' इति हैम्याम् ।
अनुगतैः परस्परं संबद्धैः क्रोशैर्गव्यूतिभिः शालते शोभते इत्येवंशीलां पदवीं मार्गमा-
चारं पन्थानं च धत्ते । तथा यः परमेशितेव परमेश्वर इव विश्वेषां त्रयाणां भुवनानां
समस्तेषु वा असुमत्सु जन्तुषु समा समभावा स्वपरव्यवसायरहिता एकस्वभावैव दृक्
दृष्टिर्ह्यस्य । तथा यः शान्तमुपशमशालि सिन्धुमित्रेषु समतया समपरिणामतया प्रव-
र्तमानं वा मनः स्वान्तं यस्य तादृक् सन् कुसङ्गं कुकुत्सितं पाप्मभिर्यसनिभिः पि-
शुनैर्वा सङ्गं संगममिव । सङ्गं प्रमुदाप्रमुखसंबन्धं धनभोगविलासादिकं संगमं वा ज-
हाति स्वयं त्यजति । च पुनः संसृतिः संसारः स एवागाधोऽपरचक्षुरलक्ष्यतलः उद-
न्वानपारः समुद्रः तस्मिन् पोतवद्यानपात्र इव स्वयं तरति परपारं प्रयासं विनैव सुखेन
प्रयाति, परांश्च तारयते परं पारं लम्भयते ॥

वाचं सुधामिव निपीय ततः समुद्र-

नेमीतमीवरयितुः श्रवणाञ्जलिभ्याम् ।

सामाजिकैः स जगदे द्विजचन्द्रिकाभिः

संवर्धितस्फुरदुरःस्थलतारहारैः ॥ ९७ ॥

ततः साहिप्रश्नानन्तरं सामाजिकैः पार्श्वैः स साहिर्जगदे भाषितः प्रत्युत्तरं प्रदी-
यते स्म । किंभूतः । निजवदनपद्मविराजिद्विजानां दशनानां चन्द्रिकाभिः कान्तिभिः ।
दन्ताधिकारे चन्द्रिकाशब्देन कान्तिरेवोच्यते । यथा रघौ—‘दशनचन्द्रिकया व्यवभा-
सितम्’ इति । संवर्धिताः सम्यक्प्रकारेण वृद्धिं नीताः स्फुरन्तो दीप्यमाना उरःस्थले
वक्षःस्थाने स्थितास्तारा उज्ज्वलास्तारकसदृक्षा वा हारा मुक्ताकलापा यैः । किं कृत्वा ।
श्रवणे कर्णावेवाञ्जलो यो जिनपाणिः एकोऽञ्जलिः ताभ्यां द्वाभ्यां कृत्वा समुद्रनेभ्या
क्षोणेः तमीवरयितुः शर्वरीवरस्याकब्बरपातिसाहेः पूर्वरूपितप्रश्नलक्षणां वाणीं नि-
पीय सादरं श्रवणविषयीकृत्य । कामिव । सुधामिव । कश्चिद्भाग्यवान् पुमान् सद्गुरु-
प्रदत्तमन्त्राराधनविधिना पूर्वप्रेम्णा वा प्राचीनाचीर्णातिशायिपुण्येन वा प्रसन्नीभूत-
सुधाभुजा प्रदत्तं पीयूषमञ्जलिभ्यां पिबति ॥

अस्माभिरीशितरदृश्यत दर्शनेषु

सर्वेषु शेखर इवाखिलधार्मिकाणाम् ।

एकः स हीरविजयाभिधसूरिराजः

क्षमापालपङ्क्तिषु भवानिव भूमिपीठे ॥ ९८ ॥

हे ईष्टे सर्वत्र पृथिवीपीठे विजयविधानादौ समर्थाभवतीति ईशिता तस्य संबो-
धनम् हे ईशितः स्वामिन्, अस्माभिः श्रीमत्सदस्यैः भूमिपीठे निखिलमेदिनीमण्डले
सर्वेषु समस्तेषु जैनबौद्धशैवसांख्यवैशेषिकनास्तिकलक्षणेषु षट्सु दर्शनेषु शासनेषु । अथ
वा भाट्टप्राभाकरजैमिनीयादिषु षड्दर्शनानां शाखाप्रशाखाभूतेष्वपि । सोऽसाधारणग-
णितानणुगणनैर्जगत्रये विख्यातः एको न द्वितीयो यस्याद्वितीयः हीरविजय इत्यभिधा
नाम यस्य तादृशः सूरिष्वाचार्येषु त्रिशत्प्रतिरूपादिषु णितषट्त्रिंशद्गुणै राजते दीप्यते
इति राजा एतावता श्रीहीरविजयसूरिपुरुद्वृतोऽदृश्यत दर्शनगोचरीचक्रे नापरः । क
इव । भवानिव । यथा निखिलानां मुद्रलानां प्रतिष्ठानानां ‘पठाण’ इति प्रसिद्धानां वि-
विधजातितुरुष्काणां राजपुत्राणां क्षमापालानां पृथिवीपतीनां पङ्क्तिषु मण्डलीषु भवान्
साहीनामपि साहिर्दृश्यते । उत्प्रेक्ष्यते—अखिलानामिदानींतनयुगजन्मनां समस्तानां
धार्मिकाणां धर्मकर्तृणां शेखरोऽवतंस इव मुकुटो वा ॥

अथ हीरविजयसूरिगुणवर्णनप्रारम्भः—

अध्याप्य देवगुरुणा स्वविनेयवर्गैः

स्वख्यातये प्रतिभुवं प्रहितैरिवैतैः ।

सम्यैर्गुणान्कवयितुं कतिचित्तदीया

न्प्रारभ्यते स्म वसुधाधिपतेः पुरस्तात् ॥ ९९ ॥

सभायां साधुभिः सम्यैः सभास्तारैः वसुधाधिपतेर्भूमण्डलाखण्डलस्य पुरस्तादग्रे तदीयान् हीरविजयसूरिसंबन्धिनः कतिचित्सर्वात्मना कथयितुमशक्यतया कियत्संख्या-
कान् गुणान्कवयितुं स्तोतुम् । 'इष्टे कवयति कवते' इति क्रियाकलापे । प्रारभ्यते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—देवगुरुणा सुराचार्येण बृहस्पतिना अध्याप्य पाठयित्वा स्वयं सर्वशास्त्रक-
लापारगामिनो विधाय स्वख्यातये सर्वावनीवलये निजप्रसिद्धिप्रहितये भुवं प्रति भूमी-
मण्डले प्रहितैः प्रस्थापितैः स्वविनेयवर्गैर्निजान्तेवासिबृन्दैरिव ॥

एतस्य दृष्टिरजनिष्ट विभो सदृक्षा

भिक्षाचरेऽमृतभुजामपि सार्वभौमे ।

भक्तेऽप्यभक्तिकृति वार्षिकवारिदस्य

वृष्टिर्यथेक्षुविपिने कनकद्रुमे च ॥ १०० ॥

हे विभो स्वामिन्, एतस्य हीरविजयसूरेर्दृष्टिर्दृक् भिक्षया प्रासमात्रेण चरति वृत्तिमा-
जीविकां विदधातीति भिक्षाचरो भिक्षुकः । दरिद्र इत्यर्थः । तस्मिंस्तथा अमृतभुजां
सुधाशनानां देवानां सार्वभौमे चक्रवर्तिनि पुरंदरे च सदृशा निर्विशेषा सदृशी अजनिष्ट
संजाता । पुनर्भक्ते स्वसेवासक्ते भक्तिनिर्भरान्तःकरणतयाशनांशुकादिदायके वा
तथा अभक्तिकृति अवज्ञाकारिणि अनिष्टविधायिनि वा पुंसि तुल्यैव अस्य सूरेर्दृष्टिरज-
निष्ट । यथा वर्षासु भवो वार्षिकः वर्षाकालसंबन्धिनो वारिदस्य बहुलतलिलाखण्डधारा-
वर्षिणो मेघस्य वृष्टिर्वर्षणमिक्षूणां रसालानां 'सेलडी गूदगरी' इति प्रसिद्धानां विपिने
वने । क्षेत्रे इत्यर्थः । तथा कनकतरौ धत्तकवृक्षे च सदृशैव संजायते ॥

संध्याभ्रविभ्रममिवाध्रुवभावभाज-

मुद्गावयन्भवमभङ्गुरतां च सिद्धेः ।

आवेदयत्यसुमतः कुलयातयामो

वंश्यानिवायतिहितः स हिताहितार्थम् ॥ १०१ ॥

स हीरविजयसूरिसुमतः सकलभविकजन्तून् प्रति हितानिहपरलोकेष्टान् । तथा
अहितान् द्वयोरपि लोकयोरनिष्टविधायिनोऽर्थान् भावान्पदार्थान्वा आवेदयते कथयति ।
क इव । कुलयातयाम इव । यथा गोत्रवृद्धः पुमान् वंश्यान्निजपुत्रपौत्रादिकान् प्रति

हिताहितार्थानावेदयते शुभाशुभान् भावान् कथयति हितमहितं च वक्ति । सूरिः किं कुर्वन् । संध्याभ्राणां संध्याकालसंजातविविधनीलपीतरक्तादिरागकलिताभ्रकाणां दिवसावसानपितृ(सू)प्रभवद्विविधरागाणां विभ्रमं विलासमिव । अधुवभावभाजमशाश्वतपरिणामजुषं भवं संसारमुद्भावयन् प्रकटीकुर्वन् । च पुनः किं कुर्वन् । सिद्धेर्महानन्दनगर्या अभङ्गुरतामनश्चरत्वं शाश्वतसुखानुषङ्गितां प्रकटयन् प्रकाशयन् । अर्थजनानां पुरस्तात् । अत एव सूरिर्यातयामश्च किलक्षणः । आयतावुत्तरकाले इहपरलोकादौ सांसारिकसर्वव्यवहारादौ च हितः शुभचिन्तकः पथ्यवक्ता च ॥

यस्मिन्गतावधि वसन्ति परे निमग्ना

मीनव्रजा इव जना वृजिनावगूढाः ।

तस्माद्भवाम्बुनिधितः स पृथग्भवूव

पङ्कान्तराद्धनरसादिव पुण्डरीकम् ॥ १०२ ॥

स सूरिस्तस्मादवाङ्मनसगोचरीभूतपूर्वपारादनन्तानन्तपुद्गलपरावर्तिनिवर्तनवृत्तसूत्रधारात्संसारो देवागाधापारत्वेनाम्बुनिधिः समुद्रस्तस्मात्सकाशात् पृथक् बभूव भिन्नो जातः । संसारं निरस्य मोक्षमार्गे संयमे तस्थिवानित्यर्थः । किंभूतात्तस्मात् । पङ्कः पापमन्तरे मध्ये यस्य । केवलपापमयादित्यर्थः । 'अहं कलङ्कमघं पङ्कः' इति हैम्याम् । किमिव । पुण्डरीकमिव । यथा सिताम्भोजं पुण्डरीकं पङ्कः कर्दमोऽन्तरे मध्ये तले यस्य तादृशात् घनरसात्सलिलात्पृथक् भवति । स कः । यस्मिन् भवाम्बुनिधौ संसारसमुद्रे वृजिनैः पापकर्मभिरवगूढा आश्लिष्टा व्याप्ताः पापभरभारिताः सन्तः परे इतरे बहुलसंसारिणो जना लोका विगतो विशेषेण यातोऽवधिः सीमावसानं यत्रेति क्रियाविशेषणम् । अनन्तानन्तसमयमित्यर्थः । लीनास्तल्लीनमानसा वसन्ति संतिष्ठन्ते । क इव । मीनव्रजा इव । यथा मत्स्याः समुद्रे निमग्ना एव तिष्ठन्ति ॥

संत्रस्यदेणरमणीदृगपाङ्गरङ्गो-

त्सङ्गप्रणर्तितकटाक्षपरम्पराभिः ।

चेतस्यविश्यत मुमुक्षुमणेर्न तस्या-

लोकस्य मध्य इव चण्डरुचीरुचीभिः ॥ १०३ ॥

तस्य हीरविजयस्य मुमुक्षुमणेः श्रमणमाणिक्यस्य चेतसि चित्ते संत्रस्यन्तीनां लुब्धकादीनामाकस्मिकमयाकुलतया पलायमानानामेणरमणीनां सारङ्गाङ्गानां दृगिव चटुललोचनमिव दृक् दृष्टिर्यासां तासाम् । चपलविलोचनानां स्त्रीणामित्यर्थः । दृशां नयनानामपाङ्गयोर्नेत्रप्रान्तयोरेव रङ्गयोर्नेत्रनस्थानकयोस्तुङ्गे कोडे प्रणर्तिताभिस्ताण्डवं कारिताभिः कटाक्षानामाक्षिविकृणितानां परम्पराभिर्धौरणीभिर्नाविश्यत न प्रविष्टम् । काभिरिव । चण्डरो(रु)चीरुचीभिरिव । यथा तीव्रकिरणस्य भास्करस्य रुचिभिः कान्तिभिः ।

रुचीशब्दो दीर्घइकारान्तोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—‘वरुणप्रहिणीमाशामासादयन्तममुं रुचीनिचयमिव’ इति । ‘नो चेत्ता चण्डरोचीरुचिरुचीरुची’ इति जिनशतकेऽपि । अलोकेषु जीवाजीवादीनामनाधारक्षेत्रस्य मध्ये विचालेन प्रविश्यते । अलोकेषु सूर्यादीनां न प्रकाशः । परशासनेऽपि दृश्यते । यथा रघुवंशे—‘सोऽहसिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिर्मलितः । प्रकाशश्चान्धकारश्च लोकालोक इवाचलः ॥’ ‘चक्रवालाचलाद-
र्वाक् प्रकाशः परतश्चाप्रकाशः’ इति तट्टता । ‘लोकालोकश्चक्रवालः’ इति हैम्याम् ॥

संसृत्यसारसरणीभ्रमणीभवेन

विश्वत्रयीजनिमतां नयता विमोहम् ।

सङ्गेन यद्यतिपतेः पुरतः प्रणेशे

नागेन नागदमनीत इवोद्धतेन ॥ १०४ ॥

यस्य यतिपतेर्निर्ग्रन्थनाथस्य पुरतोऽग्रे सङ्गेन स्वजनपरिजनाभिष्वङ्गेन प्रणेशे प्रण-
ष्टम् । संसारविरक्तत्वात्तस्य कुत्रापि प्रतिबन्धो नास्तीत्यर्थः । किंभूतेन । संसृतिः
संसरणमनन्तभवाटवी पर्यटनं संसारः तद्रूपा विविधनरकतिथ्यगादिदुःखपरम्परादाधि-
त्वादसारा निकृष्टा सरणिर्मार्गस्तत्र भ्रमण्या पर्यटने भ्रमणेन कृत्वा भवेनोत्पन्नेन । सांसा-
रिककुटुम्बसंबन्धसंजातेनेत्यर्थः । अत एव किं कुर्वता । विश्वत्रय्याल्लोक्यस्य जनिमतां
सुरासुरनराणां विमोहं मौल्यं नयता प्रापयता । केनेव नेशे । नागेनेव । यथा उत्कटेन
मदेन कोपेन वोढुरेण भुजंगमेन नागानां सर्पाणां दमनी शक्तिसवनी औषधिविशेष-
स्तस्मात्प्रणश्यते ॥

संक्रान्तशक्रबलिधामधरापदार्थ-

सार्थे जिनागमकपोलिखितान्तराले ।

संक्रान्तिरापि न कदापि हृदात्मदर्शे

सूरीश्वरस्य किमनङ्गतयाङ्गजेन ॥ १०५ ॥

सूरीश्वरस्य हृत् हृदयमेवातिस्वच्छत्वादात्मदर्शो दर्पणस्तत्र अङ्गजेन कंदर्पेण कमनः
कलाकैलिः । ‘अनन्यजोऽङ्गजः’ इति हैम्याम् । कदापि कस्मिन्नपि काले स्वापजाप्रद-
वस्थातारुण्यतरुणीदर्शनादिसमयेऽपि संक्रान्तिः संक्रमणं प्रतिबिम्बं प्रवेशं च नापि न
प्रापे । यस्य मनसि कस्मिन्नपि प्रस्तावे स्मरोद्वेको नासीदित्यर्थः । उपप्रेक्ष्यते—अनङ्ग-
तया अशरीरत्वेनेव संक्रामणं तु देहस्यैव स्यात्तस्य तु स एव नास्ति तस्मात्कुतः संक्रा-
न्तिरिति । किंभूते हृदात्मदर्शे । संक्रान्ताः प्रतिबिम्बिताः शक्रस्येन्द्रस्य बलेर्बलिनाभ्रो
दानवेन्द्रविशेषस्य धाम्नोमेन्द्रियोः स्वर्गपातालयोः । तथा धराया निखिलमहीमण्डलस्य
च पदार्थानां घटपटस्तम्भकुम्भदानवदानवारिमानवाद्यनेकवस्तूनां सार्थाः समूहा यत्र ।
प्रतिबिम्बं च निर्मले वस्तुनि स्यात् । अत एव पुनः किंभूते हृदात्मदर्शे । जिनागमो

जैनसिद्धान्तः स एव कषः शाणाग्रं तेनोल्लिखितमुत्तेजितं देदीप्यमानं निर्मितमन्तरालं
मध्यं यस्य ॥

नीत्वा बहिर्निजमनःसदनान्निहन्य-

मानं विभाव्य विभुना स्वमरातिभावात् ।

नश्यन्निवान्यजनहृत्परमाणुमध्ये

रागो विवेश विवशाशयतादधानः ॥ १०६ ॥

रागोऽनुरागः सांसारिकः स्नेहः । उत्प्रेक्ष्यते—नश्यन्पलायमानः सन् अन्येषां
सूरिव्यतिरिक्तानामितरेषां जनानां हृत् हृदयमेव परम उत्कृष्टो योऽणुः सर्वलघुरति-
सूक्ष्मस्थानं तस्य मध्ये विचाले विवेश प्रविष्टवान् । नैयायिकानां मते हि मनसः
परमाणुत्वमुच्यते । यथा नैषधे—‘यत्पथावधिरणुः परमः सा योनिधीरपि न पश्यति
साक्षात् । बालया निजमनःपरमाणौ हीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥’ इति । किंभूतः । विवशं
व्याकुलमाशयमभिप्रायं मनो वा आ सामस्त्येन सर्वप्रकारेण दधानो विभ्राणः । तदेव
व्याकुलत्वमाह—किं कृत्वा । निजस्यात्मनो मनश्चित्तमेव सदनं वाससौधं तस्माद्बहिर्वा-
ह्यप्रदेशभूमौ नीत्वा निःसार्य कर्षयित्वा । निष्कास्येत्यर्थः । अरातिभावात्प्रतिभवं
दुःखदायकत्वेन वैरित्वाद्विभुना सूरिणा निहन्यमानं मार्यमाणं स्वमात्मानं विभाव्य दृष्ट्वा
विज्ञाय वा ॥

एतेन दुर्गतिरशोष्यत भूपमुख्य

ग्रीष्मोष्मणेव विगलज्जलपङ्कणङ्गिः ।

उलङ्घ्यते स्म भवपद्मतिरप्यनेन

पाथोजिनीप्रियतमेन यथाश्रवीथी ॥ १०७ ॥

हे भूपमुख्य सकलराजचक्रचक्रवर्तिन्, एतेन सूरिणा दुर्गतिः सम्यङ्क्रियमयमसंयमारा-
धनतो दुष्टा अनन्तदुःखदायका नरकतिर्यग्लक्षणा कुगतिरशोष्यत निषिद्धा निष्ठापिता
स्वतः । केनेव । ग्रीष्मोष्मणेव यथा निदाघदाघेन विगलन्ति तापातिरेकान्निर्यान्ति विशुष्य
गच्छन्ति जलानि पानीयानि यस्यास्तादृशी पङ्कानां जम्बालानां पङ्क्तिः श्रेणी शोष्यते ।
अपि पुनरनेन गुरुणा भवपद्मतिः भाविनि भूतोपचारात्संसारमार्गं उलङ्घ्यते स्म अति-
क्रान्तः । केनेव । पाथोजिनीप्रियतमेनेव । यथा पद्मिनीप्राणनाथेन सूर्येण अश्रवीथी
गगनपदवी मेघमाला वा उलङ्घ्यते ॥

वाच्यमावनिभृतः शमनामसाम-

योनिप्रतीपकलिताङ्गमनोगुहायाम् ।

खालम्भभीलुक इवोत्कटकोपकुम्भी

कर्तुं प्रवेशमपि नो प्रभविष्णुरासीत् ॥ १०८ ॥

हे सकलराजचक्रचूडामणे, वाचं वाणीं यमयन्ति सावद्यव्यवहारे प्रवर्तमानां निय-
न्त्रयन्तीति वाचंयमा वाग्गुप्तिधारका । वाक्कथनेन मनःकायगुप्ती समेते । मध्यग्रहणेन
आद्यन्तयोर्ग्रहणं कार्यम् । 'तुलादण्डस्येव' इति न्यायेन । तथा 'ढक्कायसमारम्भे' इत्यत्र स-
मारम्भ इति मध्यमपदग्रहणेन संरम्भारम्भयोराद्यन्तयोः पदयोर्ग्रहणम् । 'तुलादण्डन्या-
येन' इति श्रीरत्नशेखरसूरिपादाः श्राद्धप्रतिक्रमणमूत्रवृत्तौ प्रोचुः । तेषां संगुप्तित्रयधारिणां
साधूनां तेषु वावनिभृत्पार्थिवः पर्वतश्च तस्य शमः प्रशान्तरसः स एव नामाभि-
धानं यस्य तादृशः । सामवेदाद्योनिरूपितिर्यस्य । श्रूयते च—'नारायणनाभ्यम्भोरुहकु-
हरकुटीरमधिशायनस्य वेदविद्यानिगदतो भगवतः पितामहस्य बृहद्रथान्तरविकीर्णाभा-
सनामानि गायतः सामश्लोकरसनिष्पन्दादुदपद्यन्त ऐरावतसुप्रतीकप्रभृतयोऽष्टौ दिग्ग-
जेन्द्रास्तेभ्योऽभवन् भद्रमन्दमृगमिश्रजातयो गिरिचरनदीचरोभयचारिणः । प्रसिद्धं
चैतत् सामजा गजाः' इति चम्पूकथायाम् । तस्य तेषां वा प्रतीपः शत्रुः केसरी तेन
कलितोऽङ्ग उत्सङ्गो यस्यास्तादृशीम् । मनः चित्तमेव गुहा कंदरा तस्यामुत्कटो मदोद्धतः
कोपः क्रोध एव कुम्भी हस्ती प्रवेशमपि कर्तुं प्रभविष्णुः समर्थो नासीत् न बभूव ।
उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मन आलम्भो व्यापादनं तत्र भीलुको बिभ्यदिव ॥

विश्राणयत्यसुमतां क्षितिकान्त बोधि-

बीजं निर्धिं जनयितेव निजाङ्गजानाम् ।

सिद्धः स्वसिद्धिमिव भक्तिमतां विनीता-

न्तेवासिनामिव गुरुः परमात्मविद्याम् ॥ १०९ ॥

हे क्षितेर्भूमामिन्याः कान्त वल्लभ, असुमतां भव्यजन्तूनां बोधिवीजं सम्यक्त्वं
विश्राणयति ददाति । क इव । जनयितेव । यथा पिता निजाङ्गजानां स्वनन्दनानां
निधिं निधानं दत्ते प्रयच्छति । पुनः क इव । सिद्ध इव । यथा विद्यासिद्धिभृद्भक्तिमतां
स्वसेवासक्तानां स्वस्यात्मनः सिद्धिं मन्त्रादिसामर्थ्यं दत्ते । पुनः क इव । गुरुरिव । यथा
सम्यग्धर्मोपदेशा विनीतानां विनयकलितानां स्वादेशवशंवदानामन्तेवासिनां शिष्याणां
परमात्मविद्यामध्यात्मान्नायं वितरति ॥

मानोपमानममुना गमितः क्षितीन्दो

जेतुं पुनः प्रतिहतस्तमरातिमिच्छन् ।

साहाय्यकं किमु चिकारयिषुः स्वकीयं

नक्तंदिनं वितनुते जगतामुपास्तिम् ॥ ११० ॥

हे क्षितीन्दो वसुधासुधांशो, मानोऽभिमानो गर्वः अपमानमर्थात्तेन सूरिणैवावगणनां गमितः-प्रापितः सन् पुनर्व्याधुष्य प्रतिघात्क्रोपात्तं सूरिमेवात्मारार्तिं स्ववैरिणं जेतु-मभिभवितुमिच्छन् वाञ्छन् सन् जगतां त्रिभुवनजनानामुपास्ति सेवां धितुमेतुं विद-धाति । कथम् । नक्तंदिनं रात्रिदिवा । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकीयमात्मीयं साहाय्यकं साहाय्यं चिकारयिषुः कारयितुमिच्छुरिव ॥

विद्वेषिणीयमिति येन निहन्यमाना

शिश्राय शंबरमसौ दितिजं प्रणश्य ।

स्थातुं न तत्र विभुरेतदुदीतभीतेः

प्रत्यङ्गिनं त्रिभुवने भ्रमतीव माया ॥ १११ ॥

इयमस्माकं प्रतिभवं विद्वेषिणी वैरिणी महाहानिविधायिनी इति कृत्वा निहन्यमाना मार्यमाणा सती असौ प्रायः संसारवर्तिसर्वजनहृदयसदत्वेन जगत्प्रतीता माया शठता दम्भचर्या । कपटवर्तिरित्यर्थः । प्रणश्य कथंचित्प्राप्त्या प्रपलाय्य शंबरं शंबरनामानं दितिर्दानवमाता तस्या जायते स्मेति दितिजस्तं शिश्राय श्रिता । एतस्मात्सूरेरुदीतायाः प्रादु-र्भूताया भीतेर्भयात् तत्रापि शंबरसमीपेऽपि स्मरेण घातित्वात्स्थातुं स्थितिं कर्तुं न विभुरसमर्था सती । उत्प्रेक्ष्यते—निर्विघ्नस्थानाभावात्त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि प्रत्यङ्गिनं ज-न्तून् जन्तून् प्रति माया भ्रमति पर्यटतीव ॥

संतोषतोयनिधिमध्य इवास्य मग्नो

दग्धः किमुद्धतसितप्रणिधानवह्नौ ।

जग्धोऽथ वा चरणकेसरिणा करीव

लोभः प्रभोरिति न चेत्किमनक्षिलक्ष्यः ॥ ११२ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, सूरेर्लोभः । उत्प्रेक्ष्यते—संतोषः धृतिः निर्लोभता स एव तोय-निधिः समुद्रस्तस्य मध्ये गर्भे जलान्तराले मग्नो वृद्धित इव । अथ वा उत्प्रेक्ष्यते—उद्धतः प्रज्वलन् सितप्रणिधानमेव शुक्लध्यानमेव वह्निर्ज्वालाजिह्वः तत्र तन्मध्ये दग्धो भस्मीभूत इव । अथ वा करीव हस्तीव चरणं चारित्रं तदेव केसरी पञ्चाननस्तेन जग्धो भक्षितः कुक्षिगतीकृतः इव । इति चेन्न तर्हि किं कथमनक्षिलक्ष्यः न लोचन-गोचरः कदाचिदपि लोभो न दृश्यत इत्यर्थः ॥

तृष्णां महीतलमहेन्द्र विभुर्विरत्या

यो वागुरामिव कृपाणिकया न्यकृन्तत् ।

दुःखान्थलम्भिषत मुग्धजनैर्निपत्य

यस्यां मृगैरिव भवं विपिनं भ्रमद्भिः ॥ ११३ ॥

हे महीतलमहेन्द्र हे भूमीमण्डलाखण्डल, यो विभुर्हीरविजयसूरिः तृष्णां नानाभिलाषस्वरूपां स्पृहां विरत्या निखिलाभिलाषविरमणरूपनियमेन कृत्वा न्यकृन्तत् विच्छेद । कामिव । वागुरामिव । यथा कश्चित्सकलजन्तुजातकृपापरः पुमान् वागुरां मृगजालिकां कृपाणिकया क्षुरिकया कर्तर्या वा कृन्तति छिनत्ति । यस्यां तृष्णायां वागुरायां भवं संसारं विपिनमरणं च भ्रमद्विमृगैर्हरिणैरिव सुगन्धजनैरज्ञानिलोकेर्निपत्य तदधीनीभूय पतित्वा दुःखानि अनेकप्रकारासातपरम्परा अलम्भिष्यत प्राप्तानि ॥

विश्वत्रयीश इव निःशरणात्मभाजा-

मास्ते महीमिहिर यः शरणं शरण्यः ।

मैत्र्यं विभर्ति जगता न कदाप्यमित्र-

भावं स भानुरिव नश्यदशेषदोषः ॥ ११४ ॥

हे महीमिहिर भूमीभानो, विश्वत्रयीशः त्रैलोक्यनायकः परमेश्वर इव यः सूरिर्निर्गतं शरणमाधारो यस्य तादृशमात्मानं भजतीति तेषामशरणानां शरणं गतिरास्ते । किंभूतः । शरण्यः शरणागतवत्सलः । पुनः स भानुरिव भास्वानिव जगता विश्वलोकेन साकं मैत्र्यं मित्रतां सखिभावं विभर्ति, परं कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे अमित्रभावं वैरिताशयं न विधत्ते । किंभूतः । नश्यन्तः पलायमाना अशेषाः समस्ता दोषा अपगुणा यस्मात् । सूर्यस्तु सर्वदापि मित्र इत्यभिधानत्वं परं नामित्राख्यताम् । सोऽपि किंभूतः । नश्यन्तोऽशेषाः सर्वा अपि श्वेताः कृष्णाश्च दोषा रात्रयो यस्मात् ॥

संमोहसंतमससंततिसान्द्रितेषु

मानावनीधरतटीस्थपुटीकृतेषु ।

संसारवर्त्मसु विमोहवतां शिवस्या-

ख्याता पथः स जगतामिव वर्त्मवेदी ॥ ११५ ॥

हे स्वामिन् अखिलजलधिमेखलापीठप्रभो, संसारवर्त्मसु भवगहनमार्गेषु विमोहवतां मिथ्यात्वाज्ञानादिना मूढभावभाजां दिङ्मूढीभूतानां जगतां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायेन जगज्जनानां शिवस्य मोक्षस्य पथो मार्गस्याख्याता कथयिता ते । किंभूतः । संमोहो महाज्ञानम् । 'संमोहधूलीहरणे समीरम्' इति संसारदावस्तुतौ । स एव संतमसानि प्रसृमरान्धकाराणि तेषां संतत्या परम्परया सान्द्रितेषु नीरन्ध्रीकृतेषु । पुनः किंभूतः । मानोऽहंकारः स एवावनीधरः पर्वतस्तस्य तटीभिः प्रपातस्थानकैः स्थपुटीकृतेषु विषमेषु विहितेषु । क इव । वर्त्मवेदीव यथा सदसन्मार्गवेत्ता पुमान् पथिषु विमोहवतां मार्गामार्गदिगपदिक्शुद्धिविरहितानां पथिकलोकानां शिवस्य निरुपद्रवरूपस्य मार्गस्याख्याता वक्ता भवेत् । महापर्वतादिगह्वरैरन्धकारैर्बहलीभूतेषु विषमेषु च ॥

अर्थात्क्षमाधरपदं कचिदप्रवृत्तं

यस्यात्मनस्तु गिरिभूपतिभिर्विभक्तम् ।

ज्ञात्वा तदामुमिव शीलति शार्ङ्गपाणिं

पर्यङ्कमूर्तिधरकुण्डलिचक्रवर्ती ॥ ११६ ॥

पर्यङ्कस्य पल्यङ्कस्य मूर्तिं शरीरं धरतीति विभर्तीति तादृशः कुण्डलिनां भोगिनां चक्रवर्ती सार्वभौमः शेषनागेन्द्रः शार्ङ्गपाणिं केशवं शीलति सेवते । 'शेषशय्याशायी कृष्णः' इति श्रुतिः । उत्प्रेक्ष्यते—तत्सूरेः स चासौ हीरविजयनामा सूरिराचार्यश्च तस्य क्षमाधरपदम् आमुं लब्धुमिव । किं कृत्वा । यस्य सूरैरर्थोत्परमार्थवृत्त्या क्षमाधरपदमद्वै-
तभावेन कचिदन्यत्र पुरुषादावप्रवृत्तं कुत्रचित्कदाचित्केनापि न प्राप्तम् । तु पुनः आत्मनः स्वस्य शेषनागस्य तु क्षमाधरपदं गिरिभिः कुलशैलादिशिलोच्चैः तथा भूपतिभिर्भूपालै-
र्विभक्तं विभागीकृतम् । गिरयो भूपालाश्च क्षमाधराः शेषनागोऽपि क्षमाधरः इति न किमपि । शेषः । सूरिसदृशस्त्वन्यः कोऽपि त्रैलोक्येऽपि क्षमाधरो नास्ति । क्षमा क्षान्तिः क्षितिश्च विज्ञाय ज्ञात्वा ॥

गम्भीरभावं दधता जिनं च हृदा विगीतः प्रभुणा पयोधिः ।

पादारविन्दे किममुष्य लक्ष्मलक्षादुपास्त्यै स्थितवानुपेत्य ॥ ११७ ॥

पयोधिः समुद्रः अमुष्य सूरैरुपास्त्यै सेवायै । उत्प्रेक्ष्यते—लक्ष्मणः आकृतिरूपला-
ञ्छनस्य लक्षात्कपटादुपेत्यागम्य समीपे समेत्य पादारविन्दे सूरिचरणकमले किं स्थित-
वांस्तथाविव । किंभूतेन । प्रभुणा सूरिन्द्रेण गम्भीरभावं गाम्भीर्यं तथा च पुनर्जिनम-
र्हन्तम् । चन्द्रसूर्यादीनां राजधानीषु प्रासादसद्भावात्तत्र चत्वारः ऋषभ-चन्द्रानन-वारि-
षेण-वर्धमान-नामानः शाश्वतजिनाः सन्ति । जिनजातिवाचित्वादेकवचनम् । तथा
लोकप्रवादेन कृष्णं समुद्रशायित्वादाशार्हः । 'पुरुषोत्तमोऽब्धिशयनोपेन्द्रावज्रेन्द्रासुजः'
इति हैम्याम् । तं दधता । अथ सूरिस्तु जिनशासनाधारत्वाज्जैनत्वाच्च जिनं वीतरागं
विभ्रता । केन । हृदा हृदयेनान्तःकरणेन मध्येन च ॥

धरेश येनाधरितो महिम्ना सुजातरूपेण च धीरताभिः ।

महीधरो मन्युभुजामुदीतव्रीडाज्जडीभावमिवावभार ॥ ११८ ॥

हे धरेश पृथिवीपते, येन सूरिणा महिम्ना स्वमाहात्म्येन निजगौरवेण, तथा सुष्ठु शो-
भनं यजातं प्रकटीभूतं रूपं सौन्दर्यातिशयः शोभनेन स्वर्णेन च, तथा धीरताभिः परी-
षदादिभिर्निष्प्रकम्पताभिः अनन्यसामान्यधैर्यैर्वा अधरितः हीनीकृतस्तिरस्कृतः सन्
मन्युभुजां यज्ञांशाभ्यवहारिणां सुराणां शैलः पर्वतो मेरुद्वीतः प्रादुर्भूतो यो व्रीडो
लजा तस्मात् । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कत' इति नैषधे । तथा 'व्रीडायां च भवेद्व्रीडो

लज्जामात्रेऽप्यपत्रया' इति शब्दप्रभेदे । व्रीडशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'स्मरव्रीडसमस्य यानया' इति नैषधे । जडीवभूव मूढः । विचेत इति यावत् । जातः ॥

बाह्यं हन्ति तमो द्विधापि स नृणामस्तंगमी नास्तवा-
निवश्वस्यैव विबोधकृत्स जगतां कृत्स्नपृणन्कौशिकम् ।

गृह्णन्सर्वरसानसौ नवरसांश्चिन्वन्नान्तापय-

ज्छान्तानेष सृजन्प्रभो तदुपमां धत्ते क भास्वांस्ततः ॥ ११९ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, ततस्तस्मात्कारणात् भानुः सूर्यस्तदुपमां सूरिसाम्यं क कुत्र लभते । अपि तु न कुत्रापि । यतो हेतोः सूर्यो बाह्यं चक्षुर्गोचरं लोकगतं तमोऽन्धकारं हन्ति । पुनः सूरिर्द्विधापि बाह्यं तमोऽज्ञानं मौख्यं तथा बाह्यं पापमपि व्यापादयति । तथा भानुः अस्तं नाशं गच्छतीत्येवंशीलो गमी । सूरिस्तु न विद्यतेऽस्तः क्षयोऽभ्युदयप्रशो वा यस्येति नास्तवान् । सर्वदोदयीत्यर्थः । पुनः किंभूतः । विश्वस्यैकस्यैव भूलोकस्य विबोधकृद्जागरकारकः उद्योतकर्ता वा सूरिस्तु जगतां त्रयाणां भुवनानां प्रतिबोधविधाता । भास्वान्किं कुर्वन् । कौशिकमुल्लूकलोकं कृत्स्नं पीडयन् वासरे तस्यान्धीभवनात् । गुरुस्तु कौशिकं पुरंदरं पृणन् अतिशायिसंयमशुणैः कृत्वा प्रीतिमुत्पादयन् । पुनः किंभूतः भानुमान् । सर्वानशेषान् रसान् भूमण्डलगतपानीयानि गृह्णन्नाददानः । 'प्रीध्मे सहस्ररश्मिः भूतलगतरुर्वारसानादत्ते' इति श्रुतिः । सुनीन्द्रस्तु सरसव्याख्यानविधानावसरे नवान् नवीनान्नवसंख्याकान् शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकवीभत्साद्भुतशान्ताभिधानान् रसांश्चिन्वन् पुष्टान्कुर्वन् । प्रायश्चरितानुवादिषु सर्वेऽपि रसाः समायान्ति न तथा सिद्धान्तव्याख्यानादिषु । पुनर्मूर्तिगण्डः किं कुर्वन् । जनांल्लोकांस्तापयन् स्वकीयात्युष्णकिरणैस्तापसंतापभाजः सृजन् । भवपरम्परापरिचितीकृतदुरन्तदुरितोदीतदुःसहदुःखदावानलज्वालाप्रतप्तानेकभविकलोकान् ध्वंसितापरसिद्धान्तवैरुद्ध्यजैनराद्धान्तसंबन्धिवन्धुरस्त्वव्याख्यानप्रागल्भ्यप्रमुगानणुपयोधराभूतधाराधोरणीभिः शान्तान्निस्तापाञ्छीतलान् शान्तरसयुक्तान् वा कुर्वाणः ॥

यद्वाग्विधित्सया धात्रादत्तां वीक्ष्याम्बुधिः सुधाम् ।

खेदादिवोर्मितुमुलैः पतितो रटति क्षितौ ॥ १२० ॥

अम्बुधिः क्षीरसमुद्रोऽर्थाल्लभ्यते उर्माणां चतुर्दिगमनप्रवृत्तकल्लोलकलापानां तुमुलैर्व्याकुलशब्दकोलाहलैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितौ भूमीठे पतितः सन् रटति रोदितीव्रप्लुक्कुरुते इव । किं कृत्वा । यद्वाचां वाचंयमचन्द्रमसां वाणीनां विधित्सया विधातुमिच्छया करणस्पृहया धात्रा जगत्सृजा ब्रह्मणा आदत्तां गृहीतां सुधां स्वाभूतं वीक्ष्य । धनिकदोहनावसरे प्रेमातिरेका स्वतर्णकपानकृते गोगर्वां वा दुग्धमिव हरिणा मन्थानगमन्थानकमथनसमये तस्मात्कथंचिच्चोरित्वा रक्षितं पीयूषं प्रातं प्रेक्ष्य ॥

न कदाचन गोचरा मनाक्स्व भजन्ते प्रभविष्णुतां प्रभौ ।

दशना इव दन्तिनां महीभृति वा भानुमतीव तामसाः ॥ १२१ ॥

हे साहे, प्रभौ सूरिन्द्रे सकलसामर्थ्यवति वा यत्र कदाचन कस्मिन्नपि तारुण्यादिस-
मये गोचराः शब्दरूपगन्धरसस्पर्शाख्याः पञ्चापि विषयाः प्रभविष्णुतां सामर्थ्यं न
भजन्ते स्म । तं न प्राभवन्नित्यर्थः । क इव । दशना इव । यथा दन्तिनां गजेन्द्राणां
दन्तकोशा महीभृति पर्वते न प्रभवन्ति । वा पुनस्तामसा इव । यथा तामसास्तमसां
समूहा घृका वा भानुमति सहस्रकिरणे न प्रभवन्ति ॥

सुधाधामदुग्धाब्धिकर्पूरपारीकुमुत्कुन्दशुभ्रैर्यशोभिर्यतीन्दोः ।

कुट्टकोटिसंटीकमानायशोभिः पुनर्विश्वमीशप्रयागी(गा)यते स्म ॥ १२२ ॥

हे ईष्टे सकलभूमण्डलैश्वर्यवान् भवतीति ईशस्तस्य संबोधनं हे ईश्वर, यतीन्दोः
सूरेः सुधाधामामृतकिरणश्चन्द्रः, तथा दुग्धाब्धिः क्षीरसमुद्रः, तथा कर्पूराणां घनसा-
राणां पार्यः शकलानि 'फडसि' इति प्रसिद्धाः समूहा वा कुमुदानि कैरवाणि
कुन्दानि मुचकुन्दकुमुदानि तद्वत् शुभ्रैरुज्ज्वलैर्यशोभिः कीर्तिभिः । पुनः कुट्टशां
कुपाक्षिकाणां कोटेः संटीकमानैः प्रसरद्भिरयशोभिर्मेषीश्यामापकीर्तिभिः कृत्वा विश्व-
मिदं जगत् प्रयागी(गा)यते स्म गङ्गायमुनासंयोगवदाचरति स्म । सूरियशांत्युज्ज्व-
लानि गङ्गाप्रवाहाः, कुट्टशामपयशांसि श्यामानि कालिन्दीकलुषजलानि, तेषां सङ्गो नि-
खिलेऽपि लोकेऽतो विश्वमेव प्रयागी(गा)यति(ते) प्रयागं तु एकत्रास्ते ॥

राजन्यस्य गुणान्गलन्मिसुधास्पन्दान्निपीयादरा-

न्मद्भोज्या अपि मय्यनादरपरा भोगीश्वरा भाविनः ।

मां तातानुगृहाण तेन सुधयात्यभ्यर्थितः साग्रहं

तानश्रावयितुं किमम्बुरुहभूरेतान्विकर्णान्व्यधात् ॥ १२३ ॥

हे राजन्, अम्बुरुहभूर्ब्रह्मा तान् सूरिगुणान् अश्रावयितुं न श्रवणगोचरीकारयितुम् ।
उत्प्रेक्ष्यते — एतान् भोगीन्द्रान् विकर्णान्कर्णरहितान् व्यधात् कृतवानिव । 'अश्रोत्राः
फणिनस्तदेव रुचिरं नो चेदहिस्मामिना' इति खण्डप्रशस्तौ । किंभूतो वेधाः । तेन
कारणेन हे तात धातः, मामनुगृहाण मय्यनुग्रहं कुरु इत्यमुना प्रकारेण सुधया कक्को-
लाख्येन पीयूषेण साग्रहं सोपरोधमभ्यर्थितो याचितः । यत्तदोः संबन्धाद्येन कारणेन
गलन्ती निर्यान्ती मितिर्मानं येषु । अप्रमाणानित्यर्थः । तादृशान् सुधास्पन्दान्मृतर-
सान् यस्य गुरोर्गुणान् निपीय सादरं श्रुत्वा अहमेव भोज्यं भोजनं येषां ते मद्भोज्या
अपि भोगीश्वराः सर्वेऽपि नागेन्द्राः मयि सुधायां विषये न विद्यते आदरः आदृतिः
पुरोऽप्रे येषाम् । अथ वा आदरे तत्परता येषां ते अनादरपरा अस्वीकारपरायणा
इत्यर्थः । भाविनो भविष्यन्ति । इत्ययं हेतुः ॥

सुरशिखरिणस्तुङ्गे शृङ्गे ध्वनिग्रहपारणां

त्रिदशसुदृशां गायन्तीनां गुणाञ्श्रमणेशितुः ।

रसिकमनसौ श्यामारामावराम्बरकेतनौ

किमयत इतो गीतिं श्रोतुं तमीदिवसात्यये ॥ १२४ ॥

श्यामा शर्वरी सैव रामा वनिता तस्या वरो भर्ता । 'यामिनीकामिनीपतिः' इति काव्यकल्पलतायाम् । चन्द्रः, तथा अम्बरकेतनः सूर्यः । 'गगनध्वजाध्वगाः' इति हैम्याम् । यथा गगनध्वजस्तथा पर्यायपरिवर्तनादम्बरकेतनः । 'द्वयेऽपि भूभृदाद्येषु' इति हैमी-वचनात् । इति तौ तमी रात्रिदिवसो वासरस्तयोरस्यये विरामे क्षये वा । प्रभाते संध्यायां चेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिदशसुदृशां सुराङ्गनानां गीतिं गुणप्राप्तगानं श्रोतुं श्रवणविषयीकर्तुं किमयतः गच्छत इव । त्रिदशसुदृशां किं कुर्वन्तीनाम् । सुरशिखरिणः सुपूर्वपर्वतस्य तुङ्गे गगनालिङ्गिनि शृङ्गे शिखरे गायन्तीनां गानगोचरीकुर्वन्तीनाम् । कान् । श्रमणेशितुः सूरिराजस्य गुणान् । किंभूतां गीतिम् । ध्वनिग्रहपारणां रसिका-यितमानसमनुजानां श्रवणानाम् । 'श्रुतौ श्रवः । राब्धाधिष्ठानपैज्ज्वमहानादध्वनिग्रहाः ॥ कर्णः श्रोत्रं श्रवणं च' इति हैम्याम् । पारणाम् । यथा उपोषितानां षड्ससरसीकृतसव-तीवल्लने पारणा तदाखादे चातिवृष्टिः स्यात् तथा सूरिगुणगीतिश्रवणेन कर्णानां वृष्टिः स्यात् । अत एव श्रुतिपारणां गीतिं श्रोतुं प्रयातः कुत इतोऽस्मात्स्थानान्मेरोः समीपे शिखरसंनिधाने । किंभूतौ । स्वादरसिकमनसौ सरसगानाकर्णने रसकलिते उत्सुकतायुक्ते चेतसौ ययोस्तौ ॥

धन्यास्ते नृपते फलेग्रहि पुनस्तेषामभूज्जीवितं

तैः प्रापे स्वजनुःफलं प्रथमतो गण्याश्च पुण्यात्मनाम् ।

यैर्लावण्यसुधां न्यपीयततमामाकण्ठमुत्कण्ठितैः

सूरैः स्मेरमुखाम्बुजन्मनि शरच्चन्द्रे चकोरैरिव ॥ १२५ ॥

हे नृपते हे नरनाथ, जगति ते पुरुषा धन्याः कृतपुण्याः पुण्यवन्तः । पुनस्तेषां पुरुषाणां जीवितं प्राणितव्यं फलेग्रहि सफलमभूत्संजातम् । पुनस्तैरेव मानवैः स्वज-नुषः निजावरस्य फलं सार्थकभावः प्रापे लब्धम् । च पुनस्ते मानुषाः पुण्यात्मनां पवित्रात्मनाम् । सुकृतवतामित्यर्थः । मध्ये प्रथमत आदितो गण्याः पुण्यवन्तो जनास्ता-नादौ संस्थाप्य गणनीयाः संख्यागोचरीकर्तव्याः । ते के । यैरुत्कण्ठा औत्सुक्यं जाता येषां ते उत्कण्ठितास्तैरुत्कण्ठितैः सद्भिः सूरैर्हीरविजययतिराजस्य स्मेरं विकसितं यन्मु-खाम्बुजं तस्मिन्विषये लावण्यं सौन्दर्यमेव सुधाम् आकण्ठं कण्ठं मर्यादीकृत्य नितरान-तिशयेनापीयततमामापीता आखादिता । कैरिव । चकोरैरिव । यथा शरच्चन्द्रे जलधर-विरामसमयोदयमानसुधाकिरणे ज्योत्स्नाप्रियैः पीयूषं पीयते ॥

ताडङ्का इव कर्णपूरपदवीमालम्बमाना पुन-

विभ्राणा हृदये श्रियं त्रिजगतां मुक्ताकलापा इव ।

हर्षादुद्धृषिता वयं स्मृतिवशाद्येषां प्रियाणामिव

क्षोणीभूषण भूषणैरिव गुणैस्तैर्भूष्यते स प्रभुः ॥ १२६ ॥

हे क्षोणीभूषण मेदिनीकुण्डलमण्डन, भूषणैर्मणीखर्णाभरणैरिव तैर्जगज्जनविख्यातै-
र्गुणैः कृत्वा स प्रभुः भूष्यते अलंकियते । ते के । ये गुणास्ताडङ्काः कुण्डला इव ।
कुण्डलशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गे । 'कमलं मलं तु शलशालकुण्डलाः' इति लिङ्गानुशासने ।
कर्णौ श्रवणौ पूरयन्तीति, कर्णौ श्रवसी पूर्णं पूर्यते यैर्वा, तेषां पदवीं पदमालम्बमानाः
आश्रयन्तः सन्तीत्यध्याहारः । पुनर्ये गुणाः मुक्ताकलापा इव मौक्तिकहारा इव त्रि-
जगतां त्रिभुवनजनानां हृदये मनसि वक्षसि च श्रियं शोभां विभ्राणाः सन्ति । पुन-
र्येषां प्रियाणामिष्टानामिव स्मृतिवशात्स्मरणयोगाद्वयं श्रीमत्सभ्या अपि हर्षाच्चेतःप्रस-
न्नताया वशात्प्रमोदाद्वा उद्धृषिता रोमाञ्चिताः स्मः ॥

पण्डा चित्रशिखण्डिनां तनुजवच्चेत्स्यादसाधारणी

यस्यास्ये भुजगप्रभोरिव भवेज्जिह्वासहस्रं पुनः ।

यस्याप्यस्खलिता सुरेश्वरसरिद्वीचीव वाक्चातुरी

संस्तोतुं प्रभवेन्न सोऽपि सुगुरोर्यावद्गुणान्भूमणे ॥ १२७ ॥

हे भूमणे क्षोणीमाणिक्य, सोऽपि पुमान् सुगुरोर्हीरसूरैर्यावतः समस्तान् । 'याव-
जनरजनवती' इति नैषधे । 'समस्तलोकरागोत्पादने व्रतमस्यास्ति' इति तद्वृत्तौ । गुणान्
संस्तोतुं सम्यक्तया सर्वप्रकारेण वर्णयितुं न प्रभवेन्न समर्थाभवेत् । स कः । यस्य पुंसः
चित्रशिखण्डिनां सप्तर्षीणाम् । 'सप्तर्षयश्चित्रशिखण्डिनः' इति हैम्याम् । तनुजवचनस्येव
वृहस्पतेरिव । 'विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः' इति नैषधे । पण्डा तच्चानुगामिनी
मतिश्चेद्यदि असाधारणी विश्वे कस्यापि सदृशी न सर्वेभ्यो वाग्देवतावाचस्पतिप्रमुखम-
खभुग्दानवमानवेभ्योऽभ्यधिका । 'साधारणी गिरमुषर्तुधनैषधाभ्याम्' इति नैषधे ।
'साधारणात्स्वार्थे भो विकल्पो ङीपोऽपि विकल्पोक्तिः । साधारणी साधारणा' इति
प्रक्रियाकौमुद्याम् । अपि पुनर्भुजगप्रभोर्नागराजस्येव यस्यास्ये यदीयवदने जिह्वानां
रसनानां सहस्रे द्विसहस्री वा इत्यर्थाल्लभ्यते । भवेत् । अपि पुनः सुरेश्वरसरितो
गगनगङ्गायाः । 'सिद्धस्वःस्वर्गिरवापगाः' इति हैम्याम् । यथा सुरापगा तथा सुरेश्व-
रापगापि । तथा 'सुरेश्वरतटिनीतीरस्थसिद्धाङ्गनाः' इति भोजप्रबन्धेऽपि । वीचीव
जातावेकवचनम् । कल्लोलमालिकेवेत्यर्थः । यस्य वाक्चातुरी वचनविलासः कुत्रापि
वर्णनादौ अस्खलिता अकुण्ठा कापि न स्खलति ॥

दृशो गोचरो न श्रुतेः प्राघुणश्च प्रणीतः परः कश्चिदस्माभिरीदृक् ।

विधात्रा विधायैनमारोपि विद्वो ध्वजोऽधीश सत्सर्गसौधाग्रशृङ्गे ॥ १२८ ॥

हे अधीश हे नायक, अस्माभिः स्वपरानेकदेशे दृश्वभिः श्रीमत्सभास्तरैरीदृगद्वै-
तगुणमणीगणरोहणधरणीधरः परोऽन्यः कश्चित्कोऽपि दृशो लोचनस्य गोचरो विषयः
चक्षुर्लक्ष्यः तथा श्रुतेः प्राघुणः कर्णस्याप्यतिथिर्न प्रणीतः । न दृष्टो नापि श्रुत इत्यर्थः ।
अत्र वयमेवं विद्वः—विधात्रा वेधसा सतामुत्तमानां सर्गः सृष्टिनिर्माणं स एव सौधं
मन्दिरं तस्याग्रशृङ्गमुपरितनशिखरं तत्र ध्वजः केतुरारोपितः । किं कृत्वा । एनं सूरिं
विधाय निर्माय ॥ इति हीरविजयसूरिगुणवर्णनम् ॥

अवनिरजनिजानिः प्रेमरोमाञ्चिताङ्गो

निगदितमिति तेषां कर्णपेयं प्रणीय ।

रणरणकितचेता जायते स्म व्रतीन्दोः

ऋतुभुज इव सिद्धेर्दायिनो दर्शनाय ॥ १२९ ॥

अवनिः क्षोणी तस्याः । रजनी रात्रिर्जाया यस्य । 'जायाया निङ् यलो-
पश्च' इति । रजनिजानिश्चन्द्रः अकम्बरपातिसाहिः व्रतीन्दोः सूरेश्वरस्य दर्शनाय अव-
लोकनार्थं रणरणक औत्सुक्यं जातं यस्मिन्स्तद्रणरणकितं चेतो मनो यस्य तादृशो
जायते स्म बभूव । किंभूतः । प्रेम्णा स्नेहेन रोमाञ्चैन पुलकेन च युक्तमङ्गं यस्य ।
कस्येव । ऋतुभुज इव । यथा कश्चित्सिद्धेरभिलषितस्य दायिनो दानशीलस्य दर्शनार्थ-
मुत्कण्ठमना भवेत् । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां सभ्यानां निगदितं भाषितं
सूरीस्तुतिरूपं वचःकर्णयोः पेयं पातुं योग्यं श्रवणार्हं प्रणीय कृत्वा ॥

अवनिवलयवासवो वशीन्दोर्जगदतिशायिगुणैकतानचेताः ।

वसुपुरुषमिवात्मदिष्टदिष्टं स्वसविधमेनमुपानिनीषुरासीत् ॥ १३० ॥

अवनिवलयवासवो भूमण्डलाखण्डलः एनं सूरिं स्वसविधं निजसमीपमुपानिनीषुरा-
नेतुमिच्छुः आसीत् । किंभूतः । जगन्ति त्रीणि भुवनान्वतिशेरेते अतिक्रामन्ति
इत्येवंशीला ये गुणास्तेषु एकतानं लयानुगमैकाग्रं चेतो यस्य मानसं यस्य सः ।
कस्मिन् । वसुपुरुषमिव । यथा आत्मनो निजस्य दिष्टेन भाग्येन दिष्टं दत्तं स्वर्णनरं स्वस-
मीपमानयति ॥

यं प्रासूत शिवाह्मसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

संजातो दशमोऽत्र देवविमलव्यावर्णिता हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गो रसैरुज्ज्वलः ॥ १३१ ॥

अत्रास्मिन् हीरसौभाग्यमिति नाम यस्य तादृशे हीरसूरेर्हीरविजयगणधरस्य चरिते दशमः सर्गः संजातः समभवत् । किंभूतः । रसैः वीरकरुणाबीभत्सशान्तादिभिर्नामभिः कृत्वा उज्ज्वलो दीप्यमानः ॥

इति पण्डितसीद्विमलशिष्यपण्डितदेवविमलविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ दिल्लीमण्डलनगरनागरहमांउतन्नन्दनाकब्बरसाहिरिपुदिग्विजयफतेपुरस्थापनासाहिसभासाहितप्रश्नसभ्यप्रोक्तश्रीहीरविजयसूरिगुणवर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥

एकादशः सर्गः ।

अथाह्वातुमीहांबभूवाब्धिनेमीतमीशो मुनीनां सुनासीरमेनम् ।

प्रबोधाय धर्मात्मनः किं निजस्यावतीर्णं पुनर्हेमचन्द्रं व्रतीन्द्रम् ॥ १ ॥

अथ सभ्यजनवर्णितश्रमणेन्द्रगुणश्रवणानन्तरमब्धिनेमेः समुद्रमेखलाया भूमेस्तमीशो रात्रिपतिश्चन्द्रः । भूपतिरित्यर्थः । सः अकब्बरसाहिः एनं श्रीहीरविजयनामानं मुनीनां सुनासीरं वाचंयमपुरंदरमाह्वातुं स्वसमीपे समाकारयितुमीहांबभूव वाञ्छति स्म । धर्म एव आत्मा स्वरूपं यस्य भाविनिभूतोपचारात् तादृशस्य निजस्याकब्बरात्मनः प्रबोधाय धर्मावबोधार्थम् । अथ च धर्मात्मनः कुमारपालस्य । ‘कुमारपालश्चौलुक्यो राजर्षिः परमार्हतः । मृतस्वमोक्ता धर्मात्मा मारिव्यसनवारकः ॥’ इति हैम्याम् । प्रबोधाय प्रतिबोधकृते पुनर्द्वितीयवारमवतीर्णं गृहीतावतारं हेमचन्द्रं व्रतीन्द्रं हेमाचार्यमिव ॥

ततोऽजूहवदूतयुग्मं वियुग्मीकृतारातिपक्षः क्षमाकर्मसाक्षी ।

पयोराशिपर्यन्तराष्ट्रप्रतिष्ठा मनीषीव यद्वेद निःशेषभाषाः ॥ २ ॥

ततः सूरेराकारणाकाङ्क्षानन्तरं क्षमायाः क्षोणेः कर्मसाक्षी भास्वानकब्बरसाहिः स्वसभायां भूमौ च प्रसिद्धं ख्यातिमत् दूतयुग्मं संदेशहारकद्वन्द्वमजूहवदाकारयामास । किंभूतः क्षमाकर्मसाक्षी । वियुग्मीकृताः वियोगं स्त्रीभिः समं विच्छेपं प्रापिताः अरातीनां वैरिणां पक्षा वंशा रिपुवर्गा येन । किंभूतं दूतयुग्मम् । यत् निःशेषाः समस्ता भाषा विविधदेशोक्तीर्वेद जानातीति । क इव । मनीषीव । यथा विद्वान्निःशेषाः षडपि संस्कृत-प्राकृत-मागधी-शौरसेनी-पैशाची-अपभ्रंशी-लक्षणा भाषा वेति । किलक्षणा भाषाः । पयोराशयश्चत्वारः समुद्राः पर्यन्तः प्रान्तो येषां तादृशा ये राष्ट्रा देशाः । राष्ट्रशब्दः पुनपुंसके । ‘अष्ट्रापह्वराष्ट्रातकजठराः’ इति लिङ्गानुशासने । तेषु प्रतिष्ठा माहात्म्यप्रसिद्धिर्यासां ताः ॥

विपक्षान्क्षितौ क्षमाभूतो हन्तुमेतो द्युलोकादिवाखण्डलः स्वर्गिवर्गैः ।

द्विषत्कालरात्रीयितानेकवीरं द्विषां पर्षदीति स्तवीति प्रभुं यत् ॥ ३ ॥

यदूतयुग्मं द्विषां शत्रूणां पर्षदि सभामध्ये प्रभुं स्वस्वामिनमित्यमुना प्रकारेण स्तवीति वर्णयति । किंभूतं प्रभुम् । द्विषतां प्रतिपक्षलक्षणां कालरात्रिः प्रलयनिशा । यस्यां

यामिन्यां कालिका सर्वान् सत्त्वान्कुक्षिगतान्करिष्यति तद्वाचरितानामशेषीकृताशेष-
द्विषः संख्यातिगा वीराः सुभटा यस्य तम् । इति किम् । यदस्माकं स्वामी वृत्तिकादेव-
भवनात्स्वर्गात्स्वर्गिवर्गैर्देववृन्दैः समं विपक्षान्वैरिण एव तद्गृह्णाव्वा क्षमाभृताः क्षोणी-
पालान्पर्वताश्च हन्तुं व्यापादयितुमुच्छेतुं क्षितौ पृथिव्यामेत आगतः आखण्डलः
शक इवास्ते ॥

हतारातिसारङ्गदृक्कज्जलाङ्कसवद्वाष्पभानूद्वाहारिपुरे ।

अभिष्टौति लीलामरालायमानं यशो यत्प्रभोवैरैर्भाजां समाजे ॥ ४ ॥

यदूतयुग्मं वैरभाजां विद्वेषिणां समाजे सभायां हताः स्वस्वामिना संग्रामाङ्गणे
व्यापादिता ये अरातयः विपक्षक्षोणीन्हाः तेषां सारङ्गदृशो मृगलोचनाः प्रियतमास्तासां
दृग्भ्यो नयनेभ्यः कज्जलमञ्जनमङ्गे क्रोडे अर्थान्मध्ये मिश्रीभूतत्वाद्येषां तादृशाः खवन्तो
गलन्तो निरन्तरनिष्पतन्तो वाष्पा अम्बु(ध्रु)धारास्त एव भानूद्वा सूर्यसुता यमुना
तस्या वारिपुरे पयःप्रवाहे लीलामरालायमानं क्रीडालसराजहंस इवाचरत् प्रभोः स्वामिनो
यशः श्लोकमभिष्टौति वर्णयति ॥

वचोवैदुषीमेतदीयामधृष्यां निरूप्य प्रतीपैः क्षितीशैः प्रणेशे ।

यदुर्वीविभोरागमात्प्राग्गमस्तेरिवानूरुरोचिस्तमिश्रप्रसारैः ॥ ५ ॥

एतदीयां दूतयुग्मसंबन्धिनीमधृष्यामनाकलनीयां प्रतिपक्षपक्षलक्षस्वान्तक्षोभकारिकां
वचोवैदुषीं वचनचातुरीं निरूप्य प्रेक्षयार्थद्वयार्थं यदुर्वीविभोः यस्याकञ्चसाहेरा-
गमादभिषेगनैरागमात्प्राक् पूर्वमेव प्रतीपैर्विरोधिभिः क्षितीशैर्भूपालैः प्रणेशे प्रपलायि-
तम् । कैरिव । तमिश्रप्रसारैरिव । यथा गमस्तेर्भानोः आगमादुदयात्पूर्वमूरुरोचिः
अरुणप्रभां विभाव्य । ध्वान्तविस्तरैः प्रणश्यते ॥ आदितश्चतुर्भिः कुलकम् ॥ इति
दूतस्वभावः ॥

चिरं जीव नन्देति दूतौ निगद्याधिपं नेमतुर्मूर्ध्नि पाणी प्रणीय ।

पुनस्तौ सुधासाधिमानं दधत्या संभावयामास वाचेव दृष्ट्या ॥ ६ ॥

हे प्रभो, त्वं चिरं बहुकालं गलितावधिसमयं जीव मेरुमहीधरसमानमायुःपरीपालय ।
तथा नन्द पुरंदरवत्परमसमृद्धिमान् भव । इत्यमुना प्रकारेण निगद्य आशीर्वाचनं
कथयित्वा । तथा मूर्ध्नि मस्तके पाणी स्वहस्तौ प्रणीय संयोज्य । शिरस्यङ्गलिं विध्यापेत्यर्थः ।
तौ दूतौ संदेशहारकौ अधिपं स्वामिनं नेमतुः प्रणमतः स्म । पुनः सोऽकटवरसाहिः तौ
दूतौ प्रति सुधयेव पीयूषेनेव साधिमानं मधुरिमाणं शुभ्रिमाणं च दधत्या धारयन्त्या ।
'त्वयादतः किं भरसाधिमभ्रमः' इति नैषधे । वाचेव वाण्येव दृष्ट्या दृशा विलोकनेन
कृत्वा संभावयामास । प्रसन्नदृशा व्यलोकयदित्यर्थः ॥

ततः क्षोणिशक्राशयं तौ बुभुत्सू स्म युङ्क्तः स्ववक्राम्बुजे वाग्विलासैः ।

सरित्प्रेयसश्चेतसस्तादृशानां पुनः केन येन प्रतीयेत पारः ॥ ७ ॥

ततः साहिना दृष्टिसंभावनानन्तरं तौ दूतौ वाग्विलासैर्वचनवैचित्र्यभिः स्ववक्राम्बुजे निजवदनकमले युङ्क्तः योजयतः स्मेत्यर्थः । किं कर्तुमिच्छ । बुभुत्सू बोद्धुमिच्छ ज्ञातुं काङ्क्षन्तौ । कम् । क्षोणिशक्रस्य साहेराशयं मनोभिप्रायम् । येन कारणेन सरित्प्रेयसः समुद्रस्य पुनस्तादृशानां गम्भीराशयानां महात्मनां चेतसो हृदयस्य च पारः परतीरं पूर्णाशयभावः केन पुंसां प्रतीयेत ज्ञायते । अपि तु न केनाप्यवबुध्यते ॥

हरिर्वा कृतान्तः प्रचेताः कुबेरः किमु त्वद्दिगम्भोजदृग्रक्षकेषु ।

यदेतेषु केनापि कृत्यं भवेत्तत्प्रगल्भीभवावस्तदाह्वाविधासु ॥ ८ ॥

हे ईश, हरिरिन्द्रः, तथा कृतान्तो यमः, तथा प्रचेता वरुणः, तथा कुबेरो वैश्रवणः, एतेषु चतुर्षु मध्ये चेद्यदि ते तव एकेनाप्यन्यतमेन कृत्यं कार्यं भवेत्स्यात् । उत्प्रेक्ष्यते— त्वद्दिगम्भोजदृशं तव पूर्वादक्षिणापश्चिमोत्तरालक्षणानां नाम्नां दिङ्मृगाक्षीणां रक्षकेषु किमु रक्षाकारकेष्विव सौविहलेष्विव । यतो हरिर्वानरः, कृतान्तः कालः अथवा कृतस्योपकारस्यान्तोऽवसानं यस्मिन् स कृतं किमपि न वेत्ति कृतघ्नः, तथा प्रचेताः सुमना राजपत्नीं जननीं मनुते । तथा कुत्सितशरीरः, एवंविधानामवरोधरक्षणं युक्तमेवेति । त्वदन्तःपुररक्षकेषु तर्हि तदाह्वाविधासु तेषामिन्द्रादीनां चतुर्णां लोकपालानां प्राकारणप्रकारेषु प्रगल्भीभवाव उद्यमं कुर्वः । तस्माकारयाव इत्यर्थः ॥

त्रिलोक्या इवाधीशितुर्भूमिर्भर्तृर्भवत्तो भवेत्कोऽपि वैमुख्यभाग्यः ।

पुरस्तादुद्देध्यन्त्यजानन्वनङ्केष्वनन्तानि दुःखानि खानिः स्मयानाम् ॥ ९ ॥

हे भूमिर्भर्तः हे धरणीरमणीरमण, यः कोऽपि विपक्षादिको भवत्तत्स्वतः सकाशात् वैमुख्यभाक् पराङ्मुखताभाजी भवेत् । कस्यादिव । त्रिलोक्यास्त्रिभुवनस्य अधीशितुः स्वामिनः परमेश्वरादिव । यथा कोऽपि पापात्मा परमेष्ठिनः पराङ्मुखो भवति । किं कुर्वन् । अजानन् अविदन् । कानि । वनाङ्केषु काननानां क्रोडेषु मध्येषु पुरस्तादग्रे उद्देध्यन्ति प्रकटीभवित्यन्ति उत्पत्त्यमानानि अनन्तान्यपाराणि न विद्यतेऽन्तोऽवसानं येषां तादृशानि दुःखानि । यः किंभूतः । स्मयानामहंकाराणां खानिराकरः स्थानम् । अथ च भगवतः पराङ्मुखोऽपि पाप्मा अनादिकालानामात्माकीनं शैवशासनमिति गर्वावेशवशंवदो दुर्बुद्धिर्वनाङ्केषु सूक्ष्मवदरसाधारणप्रत्येकवनस्पतिकायादिमध्येषु पुरस्ताद्भाविसंसारपरम्परासु प्रादुर्भवन्त्यन्ति संपत्त्यमानानि अनन्तानि अनन्तकालवेद्यानि दुःखानि छेदनभेदनाद्यनेकवेदना न जानीते । मिथ्यामतमूढीभूतत्वान्न वेत्तीत्यर्थः ॥

असंख्येषु संख्येषु विद्वेषिलक्षाविलक्ष्यीकृतेर्विभ्रदुत्सेकभावम् ।

विधित्सुर्भूधं भूधवौद्धत्यभाग्यस्त्वया पूर्वदेवेशवत्केशवेन ॥ १० ॥

हे भूधव पृथिवीप्रियतम, औद्धत्यवान् उद्धततया उन्मत्तत्वेन वा युक्तः कोऽपि नृपः त्वया भवता साहिना समं मृधं युद्धं विधित्सुः कर्तुमिच्छुर्भवेत् । किंवत् । पूर्वदेवेशवत् । यथा दानवेन्द्रः केशवेन नारायणेन सार्वं संग्रामं विधातुमिच्छति । 'असुरा दितिदनुजाः पातालैकः सुरारयः । पूर्वदेवाः शुक्रशिष्याः' इति हैम्याम् । यः किंभूतः । असंख्येषु संख्यातीतेषु अनेकेषु संख्येषु संग्रामेषु विद्वेषिणां वैरिणां लक्षाणां शत-सहस्राणां विलक्ष्यीकृतेरभिभवनादुत्सेकभावं गर्वावेशवशंवदताम् । 'उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्' इति रघौ । विभ्रह्मधान ॥

भवच्छिद्रदर्शी भवेद्वा यदन्यः पुरोभागिवद्भागधेयैर्विमुक्तः ।

प्रणीयानुकूलीभवन्मानसं तं पदाब्जे प्रभोर्भृङ्गभूयं नयावः ॥ ११ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, च पुनर्यद्यदि अन्यः परः कोऽपि वैभववान् पुरोभागिवद्भुवनज-नदोषदर्शनैकतानदृष्टिरिव भवतस्तव छिद्राणि स्वेन पराभवितुमिच्छया सासूयत्वेन देशादिजिघृक्षया वा अपगुणान्दोषान्पश्यतीत्येवंशीलो भवच्छिद्रदर्शी भवेज्जातः स्यात् किं भागधेयैः सुकृतैर्विमुक्तो भाविराज्यादिभ्रंशात्पुण्यैस्त्यक्तः । तं पूर्वोक्तं सकलमप्यनुकूलीभवत्तव सेवाहेवाकिंभावं भवन्मानसं मनो यस्य तादृशं प्रणीय कृत्वा प्रभोः स्वामिनः पदाब्जे चरणकमलाङ्गे भृङ्गभूयं भ्रमरीभावं नयावः प्रापयावः ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

तपस्वी सभस्मा श्मशानाश्रयो वा त्रिदण्डी जटी वा मठी रुण्डमाली ।

व्रती वाडवो धूमपः सोमपो वा भवेद्येन ते कृत्यमादिश्यतां सः ॥ १२ ॥

हे साहे, तपस्वी तापसः, सह भस्मना भसितोद्भूलितेन वर्तते यः स सभस्मा । योगी-त्यर्थः । श्मशाने प्रेतवने आश्रयो यस्य स श्मशानवासी चेटकादिकुमन्त्रसाधकः । तथा त्रिदण्डी त्रयो दण्डा यस्य स कापिलः त्रिशूली वा । तथा जटा भस्मावगुण्ठितके-शकलापः अस्यास्तीति जटी वृहज्जटाधारकः । तथा मठो निवसनस्थानं छात्रपठन-शाला वा अस्यास्तीति मठी मठवासी । तथा रुण्डानां विकचनरकपालानां माला हृदये हारोऽस्यास्तीति कपाली । तथा व्रती मौननम्रत्वादित्यनियमवान् सान्यासिको वा यती वा । तथा वाडवो ब्राह्मणः । धूमं पिबति मन्त्रादिसाधनकृते कष्टक्रियार्थं वा ऊर्ध्वपा-दाधःशिरा द्रुमशिखासु स्वशरीरलम्बनपूर्वं धूमपानकर्ता । सोमपः अमृतवल्लीरसपायी वा, एतेषु मध्ये येन केनापि ते तव कृत्यं कार्यं स्यात्स आदिश्यतां प्रसाद्यतां कथ्य-ताम् ॥ इति दूतवचनानि ॥

निगद्येति विश्रान्तयोरेतयोस्तां गिरं श्रोत्रवर्माध्वनीनां प्रणीय ।

अगृह्यन्त वाचः पयोराशिकाञ्चीशचीशेन शङ्के सुधाया वयस्यः ॥ १३ ॥

पयोराशिः समुद्रः काञ्ची मेखला यस्यास्तस्या भूमेः शचीशेन पुरंदरेण वाचो वाण्यः अगृह्यन्त गृहीताः । बभाषे इत्यर्थः । तत्र वाञ्छु अहमेवं शङ्के वितर्कयामि

उत्प्रेक्षे वा—वाचः सुधाया अमृतस्य वयस्यः सख्य इव । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रका-
रेण निगद्य साहेः पुरः कथयित्वा विश्रान्तयोर्मौनमाधाय स्थितयोः एतयोर्दूतयोस्तां
पूर्वप्रतिपादितां गिरं वाणीं श्रोत्रयोः स्वश्रवणयोरेव वर्त्मनोर्मार्गयोरध्वनीनां पान्थीं
प्रणीय ॥

घनैरायुरापूर्तिभिश्च प्रजानां प्रचेतस्तया कोशसंपूरणैश्च ।

भजन्तेऽनुकूलां प्रवृत्तिं दिगीशाः प्रवाहा इवावारपारप्रियाणाम् ॥ १४ ॥

हे दूतौ, दिगीशाश्चत्वारोऽपि हरिन्महेन्द्राः मम मनोरुचितां समाभिलषितां वा
प्रकर्षेण वृत्तिं वर्तनम् । व्यापारमिति यावत् । भजन्ते श्रयन्ति । ममानुकूलीकरणार्थं प्रच-
तन्ते । कैः कृत्वा । घनैरिन्द्रो मेघवर्षणैः । 'जानामि त्वां प्रवर(कृति)पुरुषं कामरूपं
मघोनः' इति मेघदूतकाव्ये । 'इन्द्रादिष्टो मेघो वर्षति' इति श्रुतिश्च । च पुनरायुरापूर्तिभिः
यमः प्रजानां ममापत्यानां सकललोकानामायुषो जीवितकालस्य आ सामस्येन पूर्तिभिः
संपूरणैर्यावदायुर्जीवितप्रदानैः । अर्धायुष्कं कमपि न यमो गृह्णातीत्यर्थः । च पुनः प्रजानां
प्रकृतीनां प्रचेतस्तया प्रकृष्टचित्तत्वेन साधुवृत्तितया वरुणः । प्रजानास्त्वियुभयत्रापि
लालाघटान्यायेन संबध्यते । च पुनर्मे मम कोशानां भाण्डागाराणां रत्नखर्णरजता-
दीनां संपूरणैः पूरणीकरणैर्भरणैर्धनदः । के इव । प्रवाहा इव । यथा अवारपारप्रियाणां
पयोरशिपत्नीनामोघाः कूलं तटमनु लक्ष्मीकृत्य प्रवृत्तिं प्रवर्तनं प्रसरणं गमनं
भजन्ते गच्छन्ति ॥

नृपैर्मूर्ध्नि मालेव दध्रे ममाज्ञा पुरोगैरिवाभावि भूपैः प्रतीपैः ।

अहं देववत्संस्तुतस्तापसाद्यैस्ततस्तैर्ममास्ते न किञ्चिद्विधेयम् ॥ १५ ॥

हे दूतौ, यस्माद्धेतोः नृपैरन्यराजभिर्मालेव पुष्पदामवन्मूर्ध्नि स्वमस्तके सदाज्ञा सम
शासनं दध्रे धृता । पुनः प्रतीपैः भूपैः प्रतिपक्षक्षोणीन्द्रैर्मम पुरोगैः पदातिभिरिवाभावि
भूतं बभूवे । पुनस्तापसाद्यैः परिव्राजकप्रमुखैरहं देववन्निजाभीष्टदेवतेव संस्तुतः । ततः
कारणात्तैर्युष्मत्प्रोक्तप्रतीपनृपतितापसादिभिर्मम किञ्चित्किमपि विधेयं कार्यं नास्ते न
विद्यते ॥ इति दूतप्रोक्तलोकपालादिषु कृत्याभावकथनम् ॥

पुनः प्रस्तुतं वक्ति—

पुरे लाटलक्ष्मीललामायमाने प्रतीरेऽम्बुधेः किं तु गन्धारनाम्नि ।

प्रभावैर्भुवं भासयन्हीरसूरीश्वरः साधुधर्मस्तनूमानिवास्ते ॥ १६ ॥

हे दूतौ, किं तु एतत्कृत्यमास्ते । अम्बुधेः समुद्रस्य प्रतीरे तटे गन्धार इति ना-
माभिधा यस्य तादृशे पुरे नगरे हीरसूरीश्वरः श्रीहीरविजयसूरिपुरंदर आस्ते विद्यते ।
किंभूते पुरे । लाट इति नाम मण्डलस्य 'लाडदेश' इति प्रसिद्धस्य लक्ष्म्याः श्रिया
अर्थाल्ललाटपट्टे ललामायमाने तिलकवदाचरिते । हीरसूरिः किं कुर्वन् । प्रभावैर्वाहात्म्यैः
प्रतापैर्वा । 'सप्रभावः प्रभाववत्' इति हैम्याम् । भुवं भूमीमण्डलं भासयन् शोभां

नयन् दीपयन्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तद्वृत्तं शरीरयष्टिं विभ्राणः साधुधर्म इव यत्याचारः किमु । ‘धर्मो ययोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसु । सत्सङ्गे हन्यहिंसादौ न्यायोपनिषदोरपि॥’ इति । ‘धर्म दानादिके’ इत्यनेकार्थः ॥

असातस्य लेशोऽपि तेनैकपद्यां यथावाप्यते नात्मना ब्रह्मणीव ।

शिवानामिवावासमन्त्रानयेतां भवन्तौ ततः सूरिसारङ्गराजम् ॥ १७ ॥

हे दूतौ, भवन्तौ तथा तेन प्रकारेण ततो गन्धारनगरतस्तं हीरविजयनामानं सूरिष्वाचार्येषु सारङ्गराजं कण्ठीरवमत्र मत्पार्श्वे आनयेताम् । उत्प्रेक्ष्यते—शिवानां सर्वकल्याणानामावासं वासस्थानकमिव । तथा कथं येन प्रकारेण तेन सूरिणा एकपद्यां गन्धारफलेपुरयोरन्तरालमार्गे । ‘पदव्येकपदी पद्या पद्वतिर्वर्ततेवर्तनी’ इति हैम्याम् । असातस्य दुःखस्य लेशोऽप्यंशोऽपि नावाप्यते न लभ्यते । केनेव । आत्मनेव । यथा मुक्तात्मना ब्रह्मणि मोक्षे दुःखांशो न प्राप्यते । ‘क्षेत्रज आत्मा पुरुषः’ इति हैम्याम् ॥

मदीयानुगः साहिबः खान आस्ते हितैषी पितेवाङ्गिनां गुर्जरेषु ।

ददातां युवां तस्य निःशेषवाच्यं दधानं स्फुरन्मानमेतन्मदीयम् ॥ १८ ॥

हे दूतौ, गुर्जरेषु धरित्रीजनपदेषु मध्ये मदीयानुगो मम सेवकः साहिबः साहिबनामा खानः । ‘खान’ इति नाम यवनजातौ प्रसिद्धम् । सामन्त इत्यर्थः । आस्ते विद्यते । किंभूतः । अङ्गिनां प्राणिनां पितेव जनक इव हितमायतावभीष्टमिच्छत्यभिलषतीत्येवंशीलो हितैषी इष्टाभिलाषुकः । हे दूतौ, एतन्मया भवतोर्हस्ते समर्प्यमाणं मदीयं मम संबन्धि स्फुरन्मानम् । राजल्लेखमित्यर्थः । ‘फरमान’ इति यवनभाषया लेखाख्या । तस्य साहिबखानस्य ददातामर्पयताम् । स्फुरन्मानं किं कुर्वाणम् । निःशेषं समस्तमपि वाच्यमुदितं(दन्तं) मम हृदयहार्दं दधानं धारयत् ॥

यदास्तेऽन्य आत्मैव मे देहभेदात्स कर्ता ततः सर्वमस्मद्विधेयम् ।

निवृत्ते निगद्येति भूसार्वभौमे परां प्रीतिरन्तर्दधाते स्म दूतौ ॥ १९ ॥

हे दूतौ, तौ अन्तश्चित्ते परां प्रीतिं दधाते स्म दधतुः । कस्मिन्सति । भूसार्वभौमे अकब्बरे इति निगद्य भाषित्वा निवृत्ते विरामे सति । इति किम् । यत्कारणात् स साहिबखानः मम देहस्य शरीरस्य भेदात्पार्थक्यादन्यः अपरः आत्मा जीव इवास्ते विद्यते ततः कारणात्स साहिबखानः सर्वं समस्तमप्यस्मद्विधेयमस्माकीनं कार्यं कर्तुं करिष्यति ॥ इति दूतयोः साहेः सूरिसमाकारणादेशः ॥

ततो दूतयुग्मं क्षमापूषलेखं प्रतस्थे समादाय तत्संनिधानात् ।

अनूनां तनुमुद्रहन्नेतदीयाभिलाषः प्रसर्पन्प्रसीव व्रतीन्द्रम् ॥ २० ॥

ततो भूपालादेशानन्तरं दूतयुग्मं संदेशहारकद्वन्द्वं तस्य साहेः संनिधानात्समीपात्प्रतस्थे प्रचञ्चल । किं कृत्वा । क्षमायाः पृथिव्याः पूषा भाखान् तस्य लेखं स्फुरन्मानं

सम्यक् शिरस्यारोपणपूर्वमादाय गृहीत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—अनूनां संपूर्णां तन् शरीर-
मुद्रहन् विभ्राणः । तथा व्रतीन्द्रं सूरिराजं प्रति प्रसर्पन् गच्छन् । एतदीयोऽकव्वरसा-
हिसंबन्धी अभिलाषः कामः मनोरथ इव ॥

प्रबुद्धैरबोधीति नोत्तालफालं चलद्वीक्ष्य जङ्गलदूतद्वयं तत् ।

स्पदस्फूर्तिरस्थैर्यभाजां मनोभिस्ततस्तेन तेभ्योऽथ वाधीयते स्म ॥२१॥

उत्ताला अतित्वरिता फाला गगनगामीनि उल्ललनरूपा गतिविशेषा यस्य तादृशं
तत्साहिसंबन्धि साहिप्रेषितं वा जङ्गलमतिवेगवद्गतिकं दूतद्वयं संदेशहारकयामलं
चलत्पथि प्रसर्पत् वीक्ष्य विलोक्य प्रबुद्धैर्विद्वद्भिरेतन्नावोधि न ज्ञातम् न मनस्यवधा-
रितम् । इति किम् । न स्थैर्यं स्थिरतां भजन्ते इत्यस्थैर्यभाजः चपलाशयास्तेषां मनो-
भिश्चितैस्तस्मादूतयुग्मात्किमिति उत्प्रेक्षायां विचारणायां वा । स्पदानां गतिवेगानाम् ।
'रथो रहस्त्वरः स्पदः' इति हैम्याम् । तथा 'स्पदस्त्राङ्कारितपत्रपद्धतिः' इति नैषधे ।
स्फूर्तिरतित्वरितता अधीयते स्म पठिता । अथ वा तेन दूतद्वन्द्वेन तेभ्यो मनो-
भ्योऽधीयते स्म शिक्षयते स्म किम् । इति संशयोत्प्रेक्षा ॥

क्रमाभ्यामतिक्रम्य संदेशहारिद्विकं ग्रामकुल्याचलारामसीमाः ।

मुदाहम्मदाबादमागात्क्रमात्तत्सहाध्यायि किं रंहसां मारुतानाम् ॥ २२ ॥

क्रमादनुक्रमतः स्वादेशपरदेशप्रचलनपरिपाठ्या तत्साहिसंबन्धि संदेशहारिद्विकं
दूतद्वयं मुदा हर्षोत्कर्षेण अहम्मदाबादमागादकमिपुरमाजगाम । 'मा गास्त्वं खेदमन्दि-
रम्', तथा 'अरे त्वं साध्वसं मागाः' इति सारस्वतव्याकरणादौ । ग्रामाः संवयथा-
स्तोकचातुर्यादिगुणा ग्रामा लघुपुराणि वा उपलक्षणान्नगरपुरपत्तनादीन्यपि, तथा कुल्या
लघुमहद्वादिन्यः, अचलाः पर्वताः, आरामाः उद्यानानि उपलक्षणाद्वनगहनारण्यादीन्यपि,
सीमा ग्रामनगरादीनां क्षेत्रभूमयो देशावसानभुवो वा, ताः क्रमाभ्यां स्वपदाभ्यां न तु
यानैरतिक्रम्योलङ्घ्य । उत्प्रेक्ष्यते—दूतद्वन्द्वं मारुतानां पवनानां रंहसां वेगानां सह
सार्धमप्येतीत्येवंशीलं सहाध्यायि एकगुरुसमीपेऽधीतिकृत्किम् । वेगेन तुल्यत्वादियमु-
त्प्रेक्षा ॥ इत्यकमिपुरे दूतगमनम् ॥

रणे वैरिणां पार्थिवा येन देहा हताः पेतुरुर्वीमिवाम्बां मिलन्ति ।

ययौ तत्पुराधीशितुः संनिधाने द्वयं दूतयोर्मुद्रलक्षोणिभर्तुः ॥ २३ ॥

दूतयोः शासनहारिणोर्द्वयं युगलं तस्याहम्मदाबादनाम्नः पुरस्य नगरस्याधीशितुः
खामिनः मुद्रलानां काविलमण्डलजन्मनां यवनजातिविशेषाणां क्षोणिभर्तुर्भूपस्य संनि-
धाने समीपे ययौ । तस्य कस्य । येन साहिवखानेन रणे संप्रामाङ्गणे वैरिणां शत्रूणां
पृथिवीपरमाणुभिरारब्धाः पृथिवीविभागाः पृथिवीसंबन्धिनः । 'पार्थिवं हि निजमा-
जिषु वीरा गौरवाद्गुरुरास्य भजन्ते' इति नैषधे । देहाः शरीराणि हताः क-

रवालैव्यापादिताः सन्तः पेतुः । क्षितौ पतन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—उर्वामन्वां क्षोणीं मातरं मिलन्तीव पृथिव्युत्पन्नत्वेन स्नेहात् ॥

सुवर्णश्रियाद्वैतयालंकृतायाः सुधास्पन्दिवाचैतुवीभूषितायाः ।

कुमार्या इव क्षमापतेः पत्रिकाया असौ तेन पाणिग्रहः कार्यते स्म ॥ २४ ॥

तेन दूतद्वन्द्वेन असौ साहिबखानः क्षमापतेर्भूमीभर्तुः कुमार्याः कन्याया इव क्षमापते-
रकम्बरसाहेः पत्रिकायाः स्फुरन्मानस्य पाणिना हस्तेन ग्रहणमादानं स्वीकरणं वा
पाणिग्रहण परिणयनं च कार्यते स्म निर्माप्यते स्म । पाणौ ग्राहितेत्यर्थः । किंभूतायाः
पत्रिकायाः कुमार्याश्च । अद्वैतया अनन्यसामान्यया सुशोभनानां वर्णानामक्षराणां
हेम्नश्च श्रिया लक्ष्म्या सुवर्णतुल्यया वा श्रिया अलंकृताया भूषितायाः । पुनः किंभू-
तायाः । सुधाममृतं रूपदन्ते क्षरतीति प्रस्रवतीत्येवञ्चोला या वाग्वैतुषी वचनचातुरी
तया भूषितायाः ॥

ततः कोशवद्भूमहेन्द्रस्य सुद्रां प्रमोदादुपादाय लेखं दधानम् ।

विमुद्याक्षराण्यक्षिलक्षाणि कुर्वन्निवेदाशयं तस्य निःशेषमेषः ॥ २५ ॥

ततो लेखादानानन्तरमेषः साहिबखानः तस्य स्फुरन्मानस्य निःशेषं समग्रमप्याश-
यमभिप्रायं रहस्यं विवेद जानाति स्म । किं कुर्वन् । विमुद्य सुद्रचित्वा अक्षराणि
वर्णानक्षिलक्षाणि लोचनगोचरान् कुर्वन् । किं कृत्वा । प्रमोदादानन्दालेखं साहिस्फुर-
न्मानसुपादाय 'तसलीम' इति यवनप्रसिद्धेन नाम्ना प्रणामपूर्वं तदुपरि खशिरोमो-
चनपूर्वं वा गृहीत्वा । किं कुर्वाणं लेखम् । भूमहेन्द्रस्य राज्ञः कोशं भाण्डागारमिव
सुद्रां सुद्रणं निमीलनं दधानम् ॥ इति साहिस्फुरन्मानस्यार्पणं वाचनं च ॥

पुरस्तात्तयोः प्रीतिमान्मुद्रलेशो गिरं वासयामास वक्त्रारविन्दे ।

विनिर्यद्विजश्रेणिशोचिर्विमिश्रस्मितेनेव तन्वन्मरालैकलीलाम् ॥ २६ ॥

प्रीतिमान् स्नेहार्द्रहृदयो मुद्रलेशः साहिबखानः तयोर्दूतयोः पुरस्तादग्रे वक्त्रारविन्दे
वदनकमले गिरं वाणीं वासयामास स्थापयति स्म । वक्त्राग्रे इत्यर्थः । अथ च गिरं
सरस्वतीं देवीं मुखपद्मे वासितवान् । सरस्वत्याः संनिधाने त्ववश्यं वाहेन हंसेन
भाव्यं तदेव दर्शयति । उत्प्रेक्ष्यते—विनिर्यद्वदनाद्विहिर्निरसराद्रिजानां दन्तानां श्रेण्योर्मा-
लिकयोः शोचिः कान्तिस्तेन विमिश्रेण करम्बितेन स्मितेन कृत्वा मरालस्य राजहंसस्य
एकामद्वितीयां लीलां विलासं शोभां वा तन्वद्विस्तारयन्निव ॥

प्रभुर्भद्रवान्कच्चिदास्ते हमाञ्जसुतोऽकम्बरो बम्बरोर्वीशवंश्यः ।

जिताश्चण्डदोर्दण्डवीर्येण येन न्यवात्सुर्दिगन्तेषु शङ्के दिगीशाः ॥ २७ ॥

कच्चिदष्टपरिश्रे अय्यम् । द्विवचनस्याप्यव्ययाद्विभक्त्येर्लुक् । हे दूतौ, अकम्बरः
प्रभुर्नः स्वामी भद्रवान् कुशली आस्ते । किंभूतः । हमाञ्जनाप्रो राज्ञः सुतः । पुनः

किंभूतः । बळवरनामा उर्वीशो मुद्रलेन्द्रस्तस्य वंशे गोत्रे भवः वंश्यः । अहमेदं शङ्के
उत्प्रेक्षे । येनाकळ्वरसाहिना चण्डेन प्रबलेन प्रतिभटोद्भटभूमीमहेन्द्रासह्येन दोर्दण्डयो-
र्भुजपरिघयोर्वीर्येण पराक्रमेण जिताः परिभूताः सन्तः दिगीशाश्चत्वारोऽष्टौ दश वा
दिगीशा दिक्पाला दिशां हरितामन्तेष्ववसानेषु न्यवात्सुरिव निवसन्ति स्म किमु
शङ्के इवार्थे ॥

चतुर्वार्धिसंवर्तकीभूततेजस्ततेः सन्ति जैवात्रिकास्तस्य पुत्राः ।

महीचारिणः पूषद्विद्वेषिगोत्रद्विषद्यक्षराजाङ्गजाता इवैते ॥ २८ ॥

हे दूतौ, चतुर्षु प्राच्यप्रतीच्यापाच्योदीच्यलक्षणेषु वार्धिषु समुद्रेषु संवर्तकीभूता
वडवानलभावं प्राप्ता तेजसां प्रतापानां ततिर्मण्डली यस्य तस्य साहेः पुत्राः
शेखजी-पाहडी-दानिया-इत्यभिधानास्त्रयोऽपि नन्दना जैवात्रिका दीर्घायुषः सन्ति ।
उत्प्रेक्ष्यते—महीचारिणः क्षोण्यां कौतूहलेन संचरणशीला पूषद्विद्वेषी ईश्वरो गोत्रद्विष-
न्पर्वतरिपुरिन्द्रो यक्षराजो धनदस्तेषां क्रमेणाङ्गजाताः । स्वामिकार्तिक-जयन्त-नल-
कूबर-नामानस्तनुजा इव ॥

अये स्वस्तिमन्त्यो नृपाम्भोजनेत्रा उपेता इव क्षमां हरेरिन्दुवक्त्राः ।

परीवार आस्ते शिवः सोऽपि येनावनीन्दोर्मनो ज्ञानिनेवान्वगामि ॥ २९ ॥

अये दूतौ, नृपाम्भोजनेत्रा अकळ्वरसाहेः कमललोचनाः क्षियः स्वस्तिमन्त्यः
कुशालिन्यः वर्तन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—क्षमां महीमुपेताः समागताः हरेः शचीकान्तस्य जयवा-
हिनीवल्लभस्य वासवस्य इन्दुवक्त्राः कान्ताः प्रिया इव । अपि पुनरवनीन्दोर्भूमीतमीरमणस्य
राज्ञः स परपक्षविजयित्वेन ख्यातः परिवारः स्वजनादिपरिजनः शिवो निरुपद्रवो व-
र्तते । स कः । येन परीवारेण ज्ञानिना ज्ञानवतेव ज्ञानाभिप्रायेणेवावनीन्दोः पातिसा-
हेर्मनो मानसमन्वगामि । इङ्किताकारज्ञातृत्वेन मनसोऽभिलषितमेव विधीयते इत्यनु-
गम्यते । ‘अये कियद्यावदुपैषि दूरम्’ इति नैषधे ॥

अनीकं शुभं भूभुजो येन जज्ञे युगान्तान्धकद्वेषिणेवारिचक्रे ।

प्रजा आसते प्रीतिभाजः प्रजावन्मुदा प्रश्रयामास तावित्यधीशः ॥ ३० ॥

हे दूतौ, भूभुजः अकळ्वरसाहेः तद्विजित्वरतया सर्वत्र प्रसिद्धमनीकं वाजिवारण-
रथपदातिरूपं चतुरङ्गकटकं शुभं कल्याणकलितं वर्तते । तत्किम् । येनानीकेन अरीणां
वैरिणां चक्रे वृन्दे सेनायां वा । ‘वरूथिनीचमूचकम्’ इति हैम्याम् । युगान्तस्य कल्पा-
न्तकालस्यान्धकनाम्नो दानवस्य द्वेषिणा शत्रुणेव एतावता शंभुनेव जज्ञे संजातम् ।
संहारकत्वेन बभूवे इत्यर्थः । ‘क्षये जगज्जीवपिवं शिवं वदन्’ इति नैषधे । पुनर्भूभुजः
प्रजाः प्रकृतयो लोकाः प्रजावत्संततय इव प्रीतिं प्रमोदं लोहं वा भजन्ते इति प्रीति-
भाजः सन्ति । अधीशः अकमिपुरप्रभुः इत्यमुना प्रकारेण तौ दूतौ प्रश्रयामास
पृच्छति स्म ॥ इति साहिबखानकृतसाहिपरिवारादीनां कुशलप्रश्नः ॥

स्थितोऽद्रिः सुराणामिवाक्रम्य सर्वा दिशः साहिरास्ते प्रभो पर्वतायुः ।
 सुताः शक्तिभेदा इव स्फूर्तिमन्तः सुखिन्यः सुमुख्योऽपि किं राजलक्ष्म्यः ३१
 कुले धैर्यभाजामिवाधीश साहेः परीवारतन्त्रे अनातङ्किनी स्तः ।
 महानन्दयुक्ताश्च मुक्तात्मवत्तत्प्रजा इत्यमुं तद्वयं प्रत्यवोचत् ॥ ३२ ॥

तद्वयं दूतयुग्मम् अमुं साहिबखानं प्रति इत्यमुना प्रकारेण प्रत्यवोचत् प्रतिभाषते स्म । प्रत्युत्तरं प्रददावित्यर्थः । हे प्रभो हे साहिबखान, साहिरकब्जरः पर्वतवद्गिरिरिव दीर्घमायुर्धेस्य तादृगास्ते । किलक्षणः । सुराणामद्रिर्भेरुविव सर्वाः समस्ता अपि दिशः आक्रम्य स्त्रीकृत्य स्थितः । पुनः सुताः साहिपुत्राः प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणानां तिसृणां शक्तीनां भेदा इव स्फूर्तिमन्तः प्रोर्जस्वलाः सन्ति । अपि पुनः सुमुख्यः साहिगृहिण्यः सुखिन्यः शर्मशालिन्यः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सुमुख्यो राजलक्ष्म्य इव । प्रबलप्रतिभटाभावात् राजलक्ष्म्यः सुखिन्यो भवेयुः । हे अधीश हे स्वामिन्, साहेः परीवारतन्त्रे परिच्छदसैन्ये । ‘कटकं ध्वजिनी तन्त्रम्’ इति हैम्याम् । अनातङ्किनी नीरोगे समाधिशालिनी । के इव । कुले इव । यथा धैर्यभाजां धीरताधारिणां सत्ववताम् । महावीराणामित्यर्थः । गोत्रे वंशौ अनातङ्किनी निर्भये भवतः । ‘रोगो रुजामृगान्तकः,’ तथा ‘भयं भीर्भीतिरातङ्कः’ इति द्वयमपि हैम्याम् । च पुनस्तस्य साहेः प्रजाः पौरजानपदाश्च लोका महानन्देन परमाह्लादेन युक्ताः सहिता वर्तन्ते । किंवत् । मुक्तात्मवत् । यथा संसारनिर्मुक्तात्मानः सिद्धाः महानन्देन मोक्षेण सहिता भवन्ति ॥ इति दूतप्रोक्तसाहिप्रमुखकुशलोक्तिः ॥ युग्मम् ॥

निपीयेति तद्वाग्विलासामृतं स हृदं दन्तिवत्प्रीतिमन्तर्जगाहे ।

अवेत्य प्रसप्ति पुनः पातिसाहेरवैति स्म संप्राप्तसर्वस्ववत्स्वम् ॥ ३३ ॥

स साहिबखानः इति पूर्वोक्तप्रकारेण तयोर्दूतयोर्वाग्विलासो वचनचातुरी स एवामृतं सुधां निपीय सादरं श्रवणगोचरीकृत्य अन्तश्चित्ते प्रीतिं सोढं जगाहे प्राप्नोति स्म । किंवत् । दन्तिवत् । यथा हस्ती अमृतं पानीयं नितरां पीत्वा हृदं द्रवमवगाहते । पुनरपरार्थकथने । खानः पातिसाहेरकब्जरधराधिराजस्य प्रसप्तिं स्वस्मिन्निषये प्रसादं संतुष्टिपुष्टिमवेत्य हृद्रोचरीकृत्य स्वमात्मानं संप्राप्तं हस्ते अधिगतं सर्वस्वं निःशेषक्षामण्डलमध्यवर्तिद्रव्यम् उपलक्षणात् राज्यादिग्रहः सर्वपदार्थसार्थो वा येन । तद्वद्वैति स्म जानाति स्म बुबुधे ॥

अथाकारिताः श्रावकास्तेन भृत्यैश्चकोरा इव श्वेतभासा मयूखैः ।

क्रमात्तेऽपि तेषां गताः संनिकर्षं निदेशं प्रभोर्निर्दिशन्ति स्म सर्वम् ॥ ३४ ॥

अथ दूतवचनानन्तरं तेन साहिबखानेन भृत्यैः स्वसेवकैः श्रावका अकमिपुरवृद्ध-
 श्राद्धा आकारिता आहूताः । केनेव । श्वेतभासेव । यथा चन्द्रमसा मयूखैः स्वकिरणैश्च-

कोरा ज्योत्स्नाप्रियाः आकार्यन्ते स्म । अपि पुनः ते भृत्याः कमात् स्वस्वामिनिदेशश्रवणप्रणामकरणपरिपाठ्या तेषामकमिपुरतपापक्षश्राद्धानां संनिकर्षं समीपं गताः प्राप्ताः सन्तः प्रभोः स्वस्वामिनः सर्वं निदेशमाज्ञां निर्दिशन्ति स्म निवेदयन्ति स्म कथयन्ति स्म ॥

समानीयमाना अमीभिर्जनास्तेऽप्यराजन्त मध्येपुरं दानशौण्डाः ।

महामात्रवृन्दैर्द्विपेन्द्रा इवोर्वीपतेर्मन्दिरं दानधारां किरन्तः ॥ ३५ ॥

अमीभिः साहिबखानभृत्यैर्मध्येपुरमकमिपुरस्य मध्ये । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा समस्यते' । समासश्चाव्ययीभावः । 'गङ्गायाः पारे पारेगङ्गम् । गङ्गायामध्ये मध्येगङ्गम्' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तद्वन्मध्येपुरं सम्यक् संमाननादिप्रकारेणास्ते श्राद्धा अपि व्यराजन्त शुशुभिरे । किंभूताः । दानशौण्डाः बहुद्रव्यप्रदायिनः विभ्राणनेन विख्याता वा । 'शौण्डा विख्यातमत्तयोः' इत्यनेकार्थः । के इव । द्विपेन्द्रा इव । यथा महामात्राणां हस्तिपकानां 'माहत' इति प्रसिद्धानां वृन्दैराधोरणगणैः उर्वीपते राज्ञो मन्दिरे नीयमाना गजराजा विराजन्ते । किं कुर्वन्तः । दानधारां मदवारिद्वष्टिं कुर्वन्तः सृजन्तः क्षरन्तः ॥

जना जैनपक्षैकदक्षाः क्षितिक्षित्समाजं विशन्ति स्म संभूय सर्वे ।

ततस्तेऽप्यनर्घ्योपदारूपपाणीन्स्वबन्धूनिवास्थापयत्तानुपान्ते ॥ ३६ ॥

सर्वे समस्ता जनाः जिनानां वीतरागाणामयं जैनः स चासौ पक्षश्च । जिनशासनमित्यर्थः । तत्रैकतया अद्वितीयत्वेन दक्षा अतिनिपुणा जनाः श्राद्धाः संभूय एकत्र मिलित्वा क्षितिक्षितः खानस्य समाजं सभां विशन्ति स्म । सभामध्ये ययुरित्यर्थः । ततो जनागमनानन्तरं सोऽपि खानः अनर्घ्याभिः प्रशस्याभिरुपदाभिः प्राभृतैः पूर्णाः भृताः पाणयो हस्ता येषां तान् जनान् स्वबन्धूनात्मस्वजनानिव उपान्ते स्वसमीपे अस्थापयदुपवेशयति स्म ॥

अमी मूलकर्मैव तच्चित्तवृत्तेः पुरः प्राभृतं भूमिभर्तुर्विमुच्य ।

अलीकातिथीभूतहस्तैऽरविन्दाः प्रमोदप्रगल्भाः स भाषन्त इत्थम् ॥ ३७ ॥

अलीके ललाटे अतिथीभूतानि प्राशुणानि जातानि हस्ता एवारविन्दानि पद्मानि येषां कृताञ्जलय इत्यर्थः । अमी श्राद्धाः प्रमोदेन हर्षेण प्रगल्भाः सोत्साहा इत्थमग्रे वक्ष्यमाणमभाषन्त प्रोक्षुः । किं कृत्वा । भूमिभर्तुर्नृपस्य पुरोऽग्रे प्राभृतं दौकितिकं विमुच्य दौकयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य साहिबखानस्य चित्तवृत्तेर्मनोव्यापारस्य मूलकर्म कार्मेणमिव ॥

नृणां शासिता त्वं वयं शासनीयाः वयं सेवकास्त्वं पुनः सेवनीयः ।

नियोज्या वयं त्वं नियोक्तसि यस्मात्तदादिश्यतां कृत्यमस्माकमीश ३८

हे ईश, त्वं यस्मात्कारणात् त्वं नृणां नराणां शासिता पालयिता अस्ति, पुनर्वयं

स्थितोऽद्रिः सुराणामिवाक्रम्य सर्वा दिशः साहिरास्ते प्रभो पर्वतायुः ।
 सुताः शक्तिभेदा इव स्फूर्तिमन्तः सुखिन्यः सुमुख्योऽपि किं राजलक्ष्म्यः ३१
 कुले धैर्यभाजामिवाधीश साहेः परीवारतन्त्रे अनातङ्किनी स्तः ।
 महानन्दयुक्ताश्च सुक्तात्मवत्तत्प्रजा इत्यमुं तद्वयं प्रत्यवोचत् ॥ ३२ ॥

तद्वयं दूतयुग्मम् अमुं साहिबखानं प्रति इत्यमुना प्रकारेण प्रत्यवोचत् प्रतिभाषते स्म । प्रत्युत्तरं प्रददावित्यर्थः । हे प्रभो हे साहिबखान, साहिरकब्बरः पर्वतवद्विरिरिव दीर्घमायुर्यस्य तादृगास्ते । किलक्षणः । सुराणामद्रिर्मेरुरिव सर्वाः समस्ता अपि दिशः आक्रम्य स्वीकृत्य स्थितः । पुनः सुताः साहिपुत्राः प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणानां तिसृणां शक्तीनां भेदा इव स्फूर्तिमन्तः प्रोर्जस्वलाः सन्ति । अपि पुनः सुमुख्यः साहिगृहिण्यः सुखिन्यः शर्मशालिन्यः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सुमुख्यो राजलक्ष्म्य इव । प्रबलप्रतिभटाभावात् राजलक्ष्म्यः सुखिन्यो भवेयुः । हे अधीश हे स्वामिन्, साहेः परीवारतन्त्रे परिच्छदसैन्ये । ‘कटकं ध्वजिनी तन्त्रम्’ इति हैम्याम् । अनातङ्किनी नीरोगे समाधिशालिनी । के इव । कुले इव । यथा धैर्यभाजां धीरताधारिणां सत्त्ववताम् । महावीराणामित्यर्थः । गोत्रे वंशौ अनातङ्किनी निर्भये भवतः । ‘रोगो रुजामृगान्तकः,’ तथा ‘भयं भीर्भीतिरातङ्कः’ इति द्वयमपि हैम्याम् । च पुनस्तस्य साहेः प्रजाः पौरजानपदाश्च लोका महानन्देन परमाह्लादेन युक्ताः सहिता वर्तन्ते । किंवत् । सुक्तात्मवत् । यथा संसारनिर्मुक्तात्मानः सिद्धाः महानन्देन मोक्षेण सहिता भवन्ति ॥ इति दूतप्रोक्तसाहिप्रमुखकुशलोक्तिः ॥ युग्मम् ॥

निपीयेति तद्वाग्विलासामृतं स हृदं दन्तिवत्प्रीतिमन्तर्जगाहे ।

अवेत्य प्रसक्तिं पुनः पातिसाहेरवैति स्म संप्राप्तसर्वस्ववत्स्वम् ॥ ३३ ॥

स साहिबखानः इति पूर्वोक्तप्रकारेण तयोर्दूतयोर्वाग्विलासो वचनचातुरी स एवामृतं सुधां निपीय सादरं श्रवणगोचरीकृत्य अन्तश्चित्ते प्रीतिं मोदं जगाहे प्राप्नोति स्म । किंवत् । दन्तिवत् । यथा हस्ती अमृतं पानीयं नितरां पीत्वा हृदं द्रुहमवगाहते । पुनरपरार्थकथने । खानः पातिसाहेरकब्बरधराधिराजस्य प्रसक्तिं स्वस्मिन्निषये प्रसादं संतुष्टिपुष्टिमवेत्य हृदोचरीकृत्य स्वमात्मानं संप्राप्तं हस्ते अधिगतं सर्वस्वं निःशेषश्चामण्डलमध्यवर्तिद्रव्यम् उपलक्षणात् राज्यादिग्रहः सर्वपदार्थसार्थो वा येन । तद्वदवैति स्म जानाति स्म वुबुधे ॥

अथाकारिताः श्रावकास्तेन भृत्यैश्चकोरा इव श्वेतभासा मयूखैः ।

क्रमात्तेऽपि तेषां गताः संनिकर्षं निदेशं प्रभोर्निर्दिशन्ति स्म सर्वम् ॥ ३४ ॥

अथ दूतवचनानन्तरं तेन साहिबखानेन भृत्यैः स्वसेवकैः श्रावका अकस्मिपुरवृद्धाद्वा आकारिता आहूताः । केनेव । श्वेतभासेव । यथा चन्द्रमसा मयूखैः स्वकिरणैश्च-

कोरा ज्योत्स्नाप्रियाः आकार्यन्ते स्म । अपि पुनः ते भृत्याः क्रमात् स्वस्वामिनिदेशा-
वगणप्रणामकरणपरिपाद्या तेषामकमिपुरतपापक्षश्राद्धानां संनिकर्षं समीपं गताः प्राप्ताः
सन्तः प्रभोः स्वस्वामिनः सर्वं निदेशमाज्ञां निर्दिशन्ति स्म निवेदयन्ति स्म कथयन्ति स्म ॥

समानीयमाना अमीभिर्जनास्तेऽप्यराजन्त मध्येपुरं दानशौण्डाः ।

महामात्रवृन्दैर्द्विपेन्द्रा इवोर्वीपतेर्मन्दिरं दानधारां किरन्तः ॥ ३९ ॥

अमीभिः साहिबखानभृत्यैर्मध्येपुरमकमिपुरस्य मध्ये । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा समस्यते' ।
समासश्चाव्ययीभावः । 'गङ्गायाः पारे पारेगङ्गम् । गङ्गायामध्ये मध्येगङ्गम्' इति प्रकि-
याकौमुद्याम् । तद्वन्मध्येपुरं सम्यक् संमाननादिप्रकारेणास्ते श्राद्धा अपि व्यराजन्त
शुशुभिरे । किंभूताः । दानशौण्डाः बहुद्रव्यप्रदायिनः विश्राणनेन विख्याता वा ।
'शौण्डा विख्यातमत्तयोः' इत्यनेकार्थः । के इव । द्विपेन्द्रा इव । यथा महामात्राणां
हस्तिपकानां 'माहत' इति प्रसिद्धानां वृन्दैराधोरणगणैः उर्वीपते राज्ञो मन्दिरे नीय-
माना गजराजा विराजन्ते । किं कुर्वन्तः । दानधारां मदवारिवृष्टिं कुर्वन्तः सृजन्तः
क्षरन्तः ॥

जना जैनपक्षैकदक्षाः क्षितिक्षित्समाजं विशन्ति स्म संभूय सर्वे ।

ततस्तेऽप्यनर्घ्योपदापूर्णपाणीन्स्वबन्धूनिवास्थापयत्तानुपान्ते ॥ ३६ ॥

सर्वे समस्ता जनाः जिनानां वीतरागाणामयं जैनः स चासौ पक्षश्च । जिनशासनमि-
त्यर्थः । तत्रैकतया अद्वितीयत्वेन दक्षा अतिनिपुणा जनाः श्राद्धाः संभूय एकत्र
मिलित्वा क्षितिक्षितः खानस्य समाजं सभां विशन्ति स्म । सभामध्ये ययुरित्यर्थः ।
ततो जनागमनानन्तरं सोऽपि खानः अनर्घ्याभिः प्रशस्याभिरुपदाभिः प्राभृतैः पूर्णाः
भृताः पाणयो हस्ता येषां तान् जनान् स्वबन्धूनात्मस्वजनानिब उपान्ते स्वसमीपे
अस्थापयदुपवेशयति स्म ॥

अमी मूलकर्मैव तच्चित्तवृत्तेः पुरः प्राभृतं भूमिभर्तुर्विमुच्य ।

अलीकातिथीभूतहस्तेऽरविन्दाः प्रमोदप्रगल्भाः स्म भाषन्त इत्थम् ॥ ३७ ॥

अलीके ललाटे अतिथीभूतानि प्राधुणानि जातानि हस्ता एवारविन्दानि पद्मानि
येषां कृताञ्जलय इत्यर्थः । अमी श्राद्धाः प्रमोदेन हर्षेण प्रगल्भाः सोत्साहा इत्यमग्रे
वक्ष्यमाणमभाषन्त प्रोचुः । किं कृत्वा । भूमिभर्तुर्वृत्तस्य पुरोऽग्रे प्राभृतं दौकितकं
विमुच्य दौकित्यत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य साहिबखानस्य चित्तवृत्तेर्मनोव्यापारस्य मूलकर्म
कार्मणसिब ॥

नृणां शासिता त्वं वयं शासनीयाः वयं सेवकास्त्वं पुनः सेवनीयः ।

नियोज्या वयं त्वं नियोक्तासि यस्मात्तदादिश्यतां कृत्यमस्माकमीश ३८

हे ईश, त्वं यस्मात्कारणात् त्वं नृणां नराणां शासिता पालयिता असि, पुनर्वयं

शासनीयाः पालयितव्याः स्मः । पुनस्त्वं सेवनीयः सेवितव्यः सेवितुं योग्योऽसि,
पुनर्वयं सेवकाः सेवाकारकाः स्म । पुनस्त्वं नियोक्ता कार्ये प्रयोजकोऽसि, पुनर्वयं
नियोज्याः कर्तव्ये निर्देश्याः स्म । तत्तस्मात्कारणादस्माकं कृत्यं कार्यमादिश्यातां प्रसा-
द्यताम् ॥ इति धाद्वानामाकरणं तत्प्रश्नश्च ॥

स ऊचेऽथ वाचेति पीयूषवर्षे किरन्कैतवाहन्तनिर्यदच्युतीनाम् ।

चतुर्दिक्षु चण्डांशुवद्यप्रतापो भ्रमत्यद्विधेनेमीचरोऽकव्वरोऽस्ति ॥ ३९ ॥

अथ धाद्वजनप्रश्नानन्तरं स साहिबखानो वाचा वाण्या कृत्वा इत्यग्रे वक्ष्यमाणमूचे
वभाषे । किं कुर्वन् । दन्तेभ्यो दशनेभ्यो निर्यान्तीनां निःसरन्तीनां लुतीनां कान्तीनां
कैतवात्कपटात्पीयूषवर्षममृतवृष्टिं किरन्निस्तारयन्निवेतीयं गर्भितोत्प्रेक्षा । किमूचे तदे-
वाह—हे जनाः, अकव्वरनामा अद्विधेनेमीचरः आपाथो नायकपर्यन्तपृथ्वीनाथोऽस्ति ।
यत्प्रतापश्चतुर्दिक्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तरालक्षणासु हरिस्तु भ्रमति पर्यटति । किंवत् ।
चण्डांशुवत् । यथा भास्वांश्चतुरासामुपरि भ्रमति ॥

यया ज्योत्स्नयेवावदातीक्रियन्ते दिशः सस्मिता वा स्वकान्तैः क्रियन्ते ।

सखीभिर्विशिष्येव गोशीर्षचन्द्रद्रवैः पत्रभङ्गैकतालंक्रियन्ते ॥ ४० ॥

कदाचिज्जगत्कर्णपूरायमाणां गुणश्रेणिमाकर्ण्य तां हीरसूरेः ।

तमाह्वातुकामेन तेनात्मदूताविह प्रेषितौ दर्शनोत्कण्ठितेन ॥ ४१ ॥

हे जनाः, तेनाकव्वरपातिसाहिना इहाहम्मदावादे मत्पार्श्वे वा आत्मदूतौ स्वसंदेश-
हारकौ प्रेषितौ प्रहितौ स्तः । तेन किं कर्तुकामेन । तं जगत्प्रसिद्धगुणग्रामं हीरविजयसू-
रिमाह्वातुमाकारयितुं कामोऽभिलाषो यस्य तादृशेन । अत एव पुनः किंभूतेन । दर्श-
नोत्कण्ठितेन गुरोरालोकनौत्सुक्यभाजा । किं कृत्वा । कदाचित्कस्मिन्नपि समये जगतां
भुवनानां कर्णौ श्रवणौ पूर्येते अनयेति कर्णपूरा । अथवा कर्णपूरौ कर्णाभरणे तद्वदाच-
रितां यावज्जगज्जनाह्लादिनीं हीरसूरेगुणानां श्रेणीं धोरणीमाकर्ण्य श्रुत्वा । तां काम् ।
यथा गुरुगुणश्रेण्या ज्योत्स्नया चन्द्रचन्द्रिकयेव दिशः सर्वा अप्याशा अवदातीक्रियन्ते
श्वेता विधीयन्ते । अथ वा स्वकान्तैरात्मात्मभर्तृभिर्दिशो निजनिजदिगङ्गना नर्मलीला-
वशात्सस्मिताः सहासाः क्रियन्ते सृज्यन्ते । वा अथ वा । सखीभिर्विषयीभिर्मण्डनकारि-
काभिर्वा गोशीर्षकाणां चन्दनानां चन्द्राणां कर्पूराणां च द्रवैः पङ्क्तैः कृत्वा यत्र वल्लीभिः ।
'देव भवद्वैरिवधूवदने वने च नागरुचिताश्चन्दनपत्रभङ्गाः' इति चम्पूकथायाम् । उत्प्रे-
क्ष्यते—विशिष्य विशेषप्रकारेणालंक्रियन्ते भूष्यन्ते इव ॥ सुगमम् ॥

समुद्रोऽपि भीर्तिं दधद्वारिपूराद्विशुद्धोऽपि कार्ण्यं पुनर्विभ्रदन्तः ।

भुवो वासवेनैष लेखो विशेषप्रवृत्तिं वहंल्लेखवत्प्रेषितश्च ॥ ४२ ॥

हे जनाः, च पुनर्भुवो वासवेनाकव्वरेण पृथ्वीपुरंदरेण विशेषप्रवृत्तिं स्खहृदयाभि-

प्रायनिवेदकवार्तां वहन् दधत् एष मत्करकिसलयवर्ती लेखवत् देव इव लेखः स्फुरन्मानं
प्रेषितः प्रहितोऽस्ति । किं कुर्वन् । सह मुद्रया मुद्रणेन जनुषामधुरणेन वर्तते यः ।
सुद्रायुक्त इत्यर्थः । समुद्रः पयोधिरपि वारिपूराजलप्लवाद्भीतिं भयं दधत् धारयन् ।
पुनः किं कुर्वन् । विशुद्धो धवलोऽपि काष्ण्यं मषिवर्णइयामिकां अन्तः बिभ्रत्कलयन् ॥

अनुचीतसंप्राप्तमद्भृत्यवर्गैर्निजालोकनाविष्कृतातङ्कसर्गैः ।

भविष्यत्यमुष्य व्ययो यत्समाधेः सरस्या इवाकालमेधैः कजानाम् ॥४३॥

त्रियामाविरामा इवाम्भोजवन्धुं व्रतीन्द्रं ततो यूयमेवानयध्वम् ।

निगद्येति खानेन संमान्य ते खान्विसृष्टा निवासान्ययुः प्रीतिमन्तः ॥४४॥

साहिबखानेन नाम्ना इति पूर्वोक्तं निगद्य कथयित्वा संमान्य संमानं च प्रदाय
विसृष्टाः पश्चात्प्रेषिताः श्राद्धाः प्रीतिमन्तो हृष्टमानसाः सन्तः खान्निवासान् ययुर्जम्बुः ।
निजनिकेतनस्थानेषु गता इत्यर्थः । इति किम् । हे हीरसूरिभक्तजनाः, ततः कारणात्
यूयमेव भवन्त एव व्रतीन्द्रं सूरिमानयध्वम् । अत्र गन्धारनगरादकसिपुरे आकारयत ।
के इव । त्रियामाविरामा इव । यथा विभावरीणां विरामा दिवसावसानसमया अम्भो-
जवन्धुं भास्करमत्र जीवलोके रोदःकन्दरे वा आनयन्ति । ततः कुतः । यतः कारणा-
न्निजानामात्मनामालोकनान्मुद्गलजातित्वेन भीमाशयत्वाद्दर्शनादेवाविष्कृतः प्रगटभावं
प्रापितः आतङ्को भयं तस्य सर्गः सृष्टिर्येस्तादृशैरनुचीतैरवितर्कितैरज्ञातपूर्वैः संप्राप्तैरर्थात्
हीरसूरिसमीपे समागतैर्मद्भृत्यवर्गैर्मम सेवकगणैरमुष्य हीरविजयसूरेः समाधेर्धानस्य
चित्तस्वास्थ्यस्य वा व्ययो व्यपगमः क्षयो भविष्यति । केषामिव । कजानामिव । यथा
सरस्या महत्सरसः कजस्य कमलस्य । जातिवाचित्वादेकवचनम् । सर्वजातीयाम्भोजव-
नस्य अकालमेधैरसमयसंप्राप्तपयोधरैर्व्ययो भवति । 'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुसदं
न सः । बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥' इति रघुवंशे ॥ इति राजनगरश्राद्धानां
खानदत्तहीरविजयसूरीश्वराकारणादेशः ॥

विचिन्त्यात्मचित्ते तदादेशमर्हन्मतस्योदयस्वर्द्धमस्येव बीजम् ।

तपापक्षमुख्याखिलश्राद्धलोका मिलित्वा मिथः प्रोचुरानन्दसान्द्राः ॥४५॥

तपा इति नाम यस्य तादृग्गणस्य गच्छस्य पक्षः स्त्रीकारो येषां ते तपापक्षाः ।
'अपक्षपातेन परीक्ष्यमाणः पक्षः' इत्यनेकार्थवृत्तौ । तेषु मुख्याः श्रेष्ठाः अखिलाः समग्राः
श्राद्धलोकाः श्रावकजना मिलित्वा एकत्र संभूय मिथः परस्परमानन्देन सान्द्रा व्याप्ताः
प्रोचुः कथयन्ति स्म । किं कृत्वा । आत्मचित्ते निजमनसि तदादेशं साहिबखानाज्ञा-
मर्हन्मतस्य जिनशासनस्य य उदयः स एव स्वर्द्धमः कल्पवृक्षः तस्य बीजं निदानमुत्प-
त्तिकारणमिति विचिन्त्यालोच्य ॥

इतः शासनं शासितुर्नः प्रजानामितो वन्दनीया विभोर्वन्द्यपादाः ।

इदं सौरभारोपणं जातरूपे त्रिरेखे पयःपूर्तिरप्याविरासीत् ॥ ४६ ॥

इतोऽस्मिन्पार्श्वे एकपक्षे प्रजानां शासितुरकमिपुराधिपतिसाहिबखानस्य शास-
नमादेशः । तथा इतोऽपरस्मिन्पार्श्वे विभोः सूरिन्दोर्वन्द्यास्त्रिभुवनजननमस्करणीयाः
पादाश्वरणा वन्दनीयाः प्रणतिगोचरीकार्याः । तर्हि इदमेतज्जातरूपे सुवर्णे सौरभस्य
सुगन्धताया आरोपणं कर्तव्यमस्ति । पुनस्त्रिरेखे शङ्खे पयसां दुग्धानां पूतिः पूरणमा-
दिरासीत्प्रकटीभूतम् ॥

हृदन्तर्मुनीन्दोर्निनंसा पुरास्ते नियुक्ता पुनः स्वामिनेदं तदासीत् ।

प्रतिस्थानमालोकमानान्मनुष्यान्समेत्य स्वयं पद्मवासा वृणीते ॥ ४७ ॥

पुरा पूर्वं हृदन्तरस्मिंश्चित्तमध्ये मुनीन्दोः सूरिन्द्रस्य निनंसा नन्तुमिच्छा आस्ते
विद्यते । पुनस्तदुपरि स्वामिना खानेन नियुक्ता आदिष्टाः । तर्हि इदमासीदेतज्जातम् ।
किं प्रतिस्थानं प्रति आलोकमानान्पश्यतो मनुष्यान् जनान् स्वयमात्मनैव समेत्यागत्य
पद्मवासाः कमलालया लक्ष्मीवृणीते वरयति ॥

अलं मन्दवद्वो विलम्बैः सगर्भास्त्वरध्वं व्रजामः प्रभोः संनिधाने ।

विमृश्येति सर्वेऽभिनिर्माणयोग्यं मुहूर्तं मिथो निर्णयन्ति स्म पौराः ॥ ४८ ॥

सर्वे पौरा नागरिकाः राजनगरश्रावकाः इत्यमुना प्रकारेण विमृश्य विचारयित्वा
अभिनिर्वाणस्य स्वप्रस्थानस्य योग्यमुचितं मुहूर्तं शुभवासरवेलां निर्णयन्ति स्म । द्वि-
जज्योतिषिकैर्निर्धारयन्ति स्म । इति किम् । हे सगर्भा आतरः, वो युष्माकं मन्दवक्ति-
यासु कुण्ठाः सालसा वा तुन्दपरिमृजा वा सूखा वा तद्वत्तेषामिव विलम्बैः प्रतीक्षणैरलं
पूर्यतां त्वरध्वं शीघ्रीभवत । प्रभोर्गुरोः संनिधाने समीपे गन्धारवन्दिरे व्रजामो यामः ॥
इत्यकमिपुरश्राद्धानां गुरुवन्दनालोचः ॥

अथारुह्य वाह्यानि ते श्राद्धलोकाः पुरे भूमिशृङ्गारगन्धारसंज्ञे ।

प्रभुं वन्दितुं प्रीतिमन्तः प्रचेलुर्जिनं स्वर्गिवर्गा इव क्षोणिपीठे ॥ ४९ ॥

अथ मुहूर्तवासरागमनानन्तरं भूमेः क्षोणीलक्ष्म्याः शृङ्गारे मण्डनायमाने भूषाभूते
गन्धार इति संज्ञा नाम यस्य तादृशे पुरे प्रभुं हीरविजयसूरिं वन्दितुं नमस्कर्तुं ते पूर्व-
प्रोक्ताः श्राद्धलोकाः श्रावकजनाः प्रचेलुः प्रतिष्ठन्ते स्म । किं कृत्वा । वाह्यानि रथादीनि
वाहनान्यारुह्याध्यास्य । किंभूताः । प्रीतिमन्तः प्रमोदमेदुराः । क इव । स्वर्गिवर्गा इव ।
यथा क्षोणिपीठे भूमीमण्डले जिनं तीर्थनायकं नेतुं नमस्यितुं सिंहगजाश्वफणिगुरुडादीनि
स्वस्वायनान्यधिरुह्य देवाः प्रचलन्ति व्रजन्ति ॥

शिवश्रीविवाहोत्सुकीभूतचित्तैर्यथा यात्रिकैः सिद्धधात्रीधरस्य ।

प्रयाणैरभ्यःप्रमाणैरमीभिः समीपे शमीन्दोः समागम्यते स्म ॥ ५० ॥

अमीभिः श्राद्धैर्न विद्यते भूयो बहु प्रमाणं येषां तादृशैः प्रयाणैर्निशावासादिलक्षणैः
प्रतिदिनप्रचलनैः शमीन्दोः सूरैः समीपे पार्श्वे गम्यते स्म समागतम् । यथा यात्रि-

कैर्विविधतीर्थयात्राविधाचक्रेजनेः स्तोकमानैरल्पप्रमाणैः सिद्धधात्रीधरस्य श्रीशत्रु-
जयशैलस्य संनिधाने गम्यते । किंभूतैः श्राद्धैः यात्रिकैश्च । शिवश्रिया मुक्तिलक्ष्म्या
विवाहे पाणिग्रहणकरणे उत्सुकभूतमुत्कण्ठितं चित्तं मनो येषां तैः ॥ इति गन्धारे
श्राद्धानां गमनम् ॥

स्फुरद्वाहुशाखः सपाणिप्रवालः प्रबर्हश्रियं बिभ्रदभ्रान्तशोभा ।

नखानूनसूनार्चिरुद्यन्मरन्दो नमन्नागरीनेत्रविभ्राजिभृङ्गः ॥ ५१ ॥

द्विजोद्भासितः सिद्धिसस्यैकधारी भवग्रीष्मतिग्मांशुतापापहारी ।

शिवाध्वन्यसंसेव्यमानो न्यभालि व्रतीन्द्रोऽध्वशाखी स तैः पौरपान्थैः ॥ ५२ ॥

तैरकमिपुरसत्त्वैः तत्रागतैर्वा पौरैर्नागरैरेव पान्थैरर्थान्मुक्तिपुरपथिकैः स सर्वजगद्वि-
ख्यातो हीरविजयनामा व्रतीन्द्रः सूरिरेवाध्वशाखी मार्गच्छायातरुः न्यभालि निरीक्षितः ।
किंभूतः । स्फुरद्वाहुर्भुजैव शाखा यस्य । पुनः किंभूतः । सह पाणिप्रवालेन हस्तपल्लवेन वर्तते
यः । पुनः किं कुर्वन् । प्रबर्हं प्रकृष्टामथ च प्रकृष्टानां वर्हणां पत्राणाम् । 'बर्हः पर्णे
परीवारे कलापे' इत्यनेकार्थः । श्रियं शोभां बिभ्रद्वत् । पुनः किंभूतः । न भ्रान्तत्वेन स्थित्या-
भ्रमज्ञानत्वेन सत्यज्ञानतयैव शोभते इत्येवंशीलः । तथा द्रुमाथं अत्युच्चैस्तरत्वादाकाशे
भवसानत्वेन शालते इत्येवंशीलः । पुनः किंभूतः । नखा एवानूनाणि सर्वावयवसंपू-
र्णानि सूनानि कुसुमानि यस्मिन् स तथा । अर्चिरर्थान्नखानामेव कान्तितरेषोद्यन्प्रकटी-
भवन्मरन्दो मधु यत्र । पुनः किंभूतः । नमन्तीनां भक्तिप्रहृतया चरणारविन्दे लग-
न्तीनां नागरीणां गन्धारनागरिकनारीणां नेत्राणि लोचनान्येव विभ्राजिनः शोभनशीला
भृङ्गा भ्रमरा यत्र । पुनः किंभूतः । द्विजैर्दशनैः शङ्कुनैश्च उद्भासितः शोभितः । पुनः
किंभूतः । सिद्धिर्मुक्तिरेव, अथ वा सिद्धयोऽष्टावणिमाद्याः, अथ वा तथा तपःशक्तयो विवि-
धलब्धयस्ता एव सस्यानि फलानि तेषामेकोऽद्वितीयोऽन्येषु तादृक्सादृश्याभावाद्द-
रतीत्येवंशीलो धारी धारकः । पुनः किंभूतः । भवः संसारः स एव ग्रीष्म उष्णकालः
तस्य तिग्मांशुः सार्थकं नाम चण्डकिरणस्तस्य ज्येष्ठयाससंबन्धी तापस्तदुपरि च तप-
नतापो महानिदाघस्तस्य हन्ता अपहन्तीत्येवंशीलः । अत्र शीले तुज्ज् । हन्ता हननशीलः ।
वृक्षच्छायायां तापोपशान्तिः स्यादिति । पुनः किंभूतः । अध्वन्यैर्मोक्षमार्गप्रस्थितपान्थैः
सम्यग्ज्ञानचारित्रादिपल्लवपुष्पफलादानपूर्वकं सेव्यमान उपास्यमानः । वृक्षधर्माः
सर्वेऽप्यत्रैव दर्शिताः सन्तीति ॥ युगमम् ॥

नभोऽम्भोदगर्जोर्जितस्तोत्रावप्रतिध्वानितोपान्तपाथोधिमध्याः ।

मुदा हीरसूरीन्द्रपादारविन्दं व्यधुर्मूर्ध्नि लोहोत्तमोत्तंसवत्ते ॥ ५३ ॥

ते श्राद्धा मुदा प्रमोदेन हीरसूरीन्द्रस्य हीरविजयसूरिपुरंदरस्य पादारविन्दं चरण-
कमलं लोहोत्तमानां सुवर्णानामुत्तंसवद्वत्तंसशेखरमिव मूर्ध्नि निजमस्तके व्यधुः कुर्वन्ति
स्म । किंभूताः । नभसः श्रावणमासस्य योऽम्भोदो वारिवर्षा मेघस्तस्य गर्जा गजितध्व-

निस्तद्वर्जिताः प्रबलाः तत्तदृशा वा स्तोत्राणां गोयमसोहमेत्यादिकानां सूरीन्दोः स्तु-
तिपाठानां रावाः शब्दास्तैः प्रतिध्वानितं प्रतिशब्दयुक्तं कृतमुपान्ते समीपे गन्धारसं-
निधौ यः पाथोधिः समुद्रस्तस्य मध्यं जलान्तरालं यैः । समीपे दूरे वा जलधौ प्रतिध्व-
निर्दृश्यते । यथा नैपथे नलस्य दमयन्तीपरिणयजगमनावसरे—‘विचित्रवादित्रनिनाद-
मूछितः सुदूरचारी जनतामुखारवः । समौ न कर्णेण दिगन्तदन्तिनां पयोधिमध्येप्र-
तिनादमेदुरः ॥’ इति ॥

पयःपूरितप्रावृषेण्याम्बुदानामिव स्तोककैरनुस्वत्वं दधानैः ।

स्फुरद्वाग्विलासामृतं पातुकामैः पुरस्तात्प्रभोस्तैरगृह्यन्त वाचः ॥ ५४ ॥

तैः श्राद्धैः प्रभोगुरोः पुरस्तादग्रे वाचो वचनान्यगृह्यन्त आदत्ताः । किं कर्तुकामैः ।
स्फुरन्ती चित्ताह्लादकत्वेनोल्लसन्ती या वाग्वाणी तस्या विलासो वैचित्र्यं स एवामृतं
सुधारसः तत्पातुमाखादयितुं कामोऽभिलाषो येषां तैः । पुनः किं कुर्वाणैः । अनुस्वत्वं
गुरुवदानवलोकनार्थं किञ्चिदुच्चैः संमुखभावं दधानैर्धारयद्भिः । कैरिव । स्तोककैरिव ।
यथा अमृतं पयोदपयः पातुकामैः अत एवोन्मुखत्वमुच्चैर्वदनतां चञ्चुपुटत्वं विभ्राणैश्चातकैः
पयोभिः सलिलैः पूरितानां भृतमध्यानां तथा प्रावृषेण्यानां वर्षाकालसंबन्धनाम् ।
प्रावृषेरेण्यप्रत्ययः । अम्बुदानां मेघानां पुरस्ताद्वाचो गृह्यन्ते । यदुक्तम्—‘विल-
पति तृषा सारङ्गोऽयं त्वमुन्नतिमानहो जलमपि च ते संयोगोऽयं कथंचिदुपस्थितः ।
उपकृतिकृते प्रह्वं तेऽतः कुरुष्व यदग्रतो भ्रमति पवनः कस्त्वं कोऽयं क्व ते जल-
विन्दवः ॥’ तथा ‘एक एव खगो मानी चिरं जीवतु चातकः । पिपासितो वा म्रियते
याचते वा पुरंदरम् ॥’ इति ॥

सखीभृतदिकुञ्जवः सौविदलीकृतौदार्यधैर्यादिभास्वद्रुणौघान् ।

चतुर्वीचिमत्खातिकं रत्नगर्भावरोधोऽनिशं वासयन्कीर्तिदारान् ॥ ५५ ॥

विपक्षान्विपक्षक्षमाभृतसहजान्सृजन्मुद्गलात्खण्डलः पूर्वदेशे ।

विभो वर्ततेऽकव्वरो द्रष्टुकामः किमाशां निजामुग्रधन्वावतीर्णः ॥ ५६ ॥

हे विभो हे गुरो, पूर्वदेशे दत्तः पूर्वस्यां दिशि नेत्रातमण्डले अकव्वरनामा मुद्गलानां
गवनजतिविशेषाणां काबिलजनपदजन्मनामाखण्डलो वासवो वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—
निजामात्मीयमाशां दिशं प्राचीं द्रष्टुं स्वचक्षुषा निरीक्षितुं कामोऽभिलाषो यस्य तादृशः ।
उग्रं प्रबलं द्वैर्धरधृष्यं धन्वं देवानुघ शक्रधनुर्वा स्वाभाविकक्रोदण्डो वा यस्य स उग्र-
धन्वा शक्र इवावतीर्णः क्षोणीखण्डल इवाजगाम । किं कुर्वत् । विपक्षा वैरिणः अथ वा
विशिष्टाः पुत्रपौत्रमित्रप्रातृस्वजनानिकादिकाः पक्षा येषां तादृग्विधा ये क्षमाभृतो
भृतयः । अथ च विशेषा वैशिष्ट्यभाजः सर्वत्रोदयसामर्थ्यवन्तः पक्षा गृह्यतो येषां
तादृशे ये क्षमाभृतः पर्यताथ तेषां राहजान् सहस्रसंख्याकान् विपक्षान् विगताः

पक्षाः परीवाराः सहाया वा मित्राणि वा पक्षतयद्वन्द्वश्च येषां तादृशान् सृजन् कुर्वन् । पक्षतिशब्देन पक्षा अप्युच्यन्ते । यथा नैषधे — 'दिवमङ्गादभराद्रिरागतां घनर-
त्नकपाटपक्षतिः' इति । किं कुर्वन् । अनिशं निरन्तरं रत्नगर्भा भूमिरेवावरोधोऽन्तःपुरं
तत्र कीर्तय एव दाराः पत्न्यस्तान् वासयन् स्थापयन् निवासं कारयन् । किंभूतान्
कीर्तिदारान् । सखीभूता वयस्यो जाताः दिक्सुभ्रुवः आशावशा दिगङ्गना येषां तान् ।
पुनः किंभूतान् । सौविदल्लीकृता अन्तःपुररक्षकाः कृताः कञ्चुकिभावं प्रापिताः । कञ्चु-
किनो हि पुरुषा नृपाणामवरोधरक्षाविधायिनः स्युरिति स्थितिः । औदार्यं दानशौ-
ण्डता । अतिदातृत्वमित्यर्थः । धैर्यं देवदानवमानवादिभिरचालनीयसत्त्वं धीरता आदौ
येषां तादृशा भास्वन्तो भुवनेषु स्फूर्तिसन्तः जगच्चेतश्चमत्कारकारिणो वा गुणानामोघाः
समूहा येषु येषां वा । किंभूता रत्नगर्भा । चत्वारः प्राच्यप्रतीच्यापाच्योदीच्यलक्षणाश्च-
तुःसंख्याका ये वीचिमन्तः कलोलमालिनः समुद्रा एव स्वातिका परिखा यत्र । अत्र
गर्भितोत्प्रेक्षा ॥ युग्मम् ॥

जगन्मानसानामिवाकृष्टिरम्भीन्सुधाधामवद्विश्रतः शुभ्रिमाणम् ।

कदाचित्समाकर्ण्य युष्मद्गुणौघान्प्रभून्प्रेक्षितुं काङ्क्षता तेन साक्षात् ॥ १७ ॥

तनूस्त्रिदेशं नृपस्येव लेखं करे विश्रतः प्रेषितादृतयुग्मात् ।

प्रभोः सूक्ष्मदर्शीव शास्त्रस्य हार्दं विदित्वा मुदा साहिबः खानमुख्यः ॥ १८ ॥

इवानूरुर्चिष्यतीन्पूर्वशैलं तदीयान्तिकं पूज्यपादानिनीषुः ।

सहायानिवाह्य नः श्रीमुनीन्दो सुखं प्रेषयामास वः संनिधाने ॥ १९ ॥

हे श्रीमुनीन्दो, साहिब इति नामा खानेषु यवनसामन्तेषु मुख्यः श्रेष्ठः स मुदा
हर्षेण सहायान् सखीनथ वा अनुजीविन इव नः अस्मान् आहूयाकार्यं सुखं यथा स्वा-
त्तथा बहुमानपुरःसरं न तु वलेन वो युष्मार्कं संनिधाने समीपे प्रेषयामास प्रहिणोति
स्य । साहिबखानः किं कर्तुमिच्छुः । पूज्यपादान् श्रीमद्भगवच्चरणांस्तदीयान्तिकमक-
व्वरसाहिपार्श्वे निनीषुः नेतुमिच्छुः । क इव । अनूरुरिव । यथा सूर्यसारथिररुणः अर्चि-
ष्यतीन् भास्करान् पूर्वशैलमुदयाचलं नयति । एतावता अनेनोपमानेन कृत्वा द्वयोर-
प्यभ्युदयः सूचितः । किं कृत्वा । दृतयुग्मात्संदेशहारिद्वन्द्वात्प्रभोरकव्वरसाहेः स्वस्वा-
मिनः हार्दं हृदयमभिप्रायं विदित्वा ज्ञात्वा । क इव । सूक्ष्मदर्शीव । यथा कुशाग्र्यमतिः
शास्त्रस्य हार्दमुपनिषदं रहस्यं वेत्ति । दृतयुग्मात्किं कुर्वतः । करे स्वहस्ते लेखं साहि-
स्फुरन्मानं विश्रतो धारयतः । उत्प्रेक्षयते — नृपस्याकव्वरपातिसाहेर्मूर्तिमन्तं देहभाजं
मूर्तं वा निदेशमाज्ञामिव । पुनः किलक्षणात् । तेन साहिनैव प्रेषितात्स्वयं गुर्जरेषु
प्रस्थापितात् । किं कुर्वता । प्रभून् श्रीमद्भगवत्पादान् साक्षात्प्रत्यक्षेण स्वपुरः पादाव-
धारितान्निजनयननलिनाभ्यां प्रेक्षितुं विलोकयितुं काङ्क्षता समीहमानेन । किं कृत्वा ।
कदाचित्कस्मिंश्चिदपि व्यतिकरे विविधविद्गोप्त्रीसमये युष्मद्गुणौघान् श्रीमतां गुणगणान्

समाकर्ष्य सम्यक्प्रकारेण श्रवणगोचरीकृत्य । श्रुत्वेत्यर्थः । गुणान् किं कुर्वतः । सुधा-
धामवत्पीयूषकान्तींश्चन्द्रानिव शुभ्रिमाणं श्वेतभावं बिभ्रतो धारयतः । उत्प्रेक्ष्यते—
जगतां त्रिभुवनजनानां सुरासुरनराणामन्तःकरणानामाकर्षणे स्वसमीपानयने रश्मीन्
रज्जूरिव ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

सुवर्णोऽप्यवर्णः सुरावासवासी न लेखोऽपि मूकोऽप्युदन्तं ब्रुवाणः ।

प्रभो गृह्यतां नागरैरित्युदित्वा स लेखः पुरोऽमोचि वाचंयमेन्दोः ॥६०॥

नागरैरकमिपुरश्रावकैरित्यमुना प्रकारेणोदित्वा कथयित्वा वाचंयमेन्दोः साधुसुधा-
रुचेः सूरैः पुरोऽग्रे अकव्वरसाहिप्रहितो लेखः स्फुरन्मानापरनामा अमोचि मुक्तः ।
सूरीणां पाणिपद्मे समर्पित इत्यर्थः । इति किम् । हे प्रभो, अयं लेखो गृह्यताम् ।
किंभूतः । सुशोभनो वर्णो ब्राह्मणादिर्विद्यते यस्य । पुनः किंभूतः । अवर्णः न विद्यते
वर्णो यस्य । इति विरोधः । विरोधशान्तौ तु विशिष्टः शुक्लादिरथ वा शोभनं स्वर्णम्
अथ वा चित्रमालेख्यं वा यस्मिन् सः । अथ कृष्ण इव श्यामा वर्णा अक्षराणि यत्र ।
'वर्णः स्वर्णं मखे स्तुतौ ॥ रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायाभक्षरे गुणे । भेदे गीतक्रमे
चित्रे यशस्तालविशेषयोः ॥ अङ्गरागे च वर्णं तु कुङ्कुमे' इत्यनेकार्थः । पुनः किंलक्षणः ।
लेखो देवोऽपि सन् सुराणां निर्जराणामावासे वसतीत्येवंशीलः । अयमपि विरोधः ।
लिख्यते लिपीक्रियते स्वहृदयगतोदन्तादिरत्रेति लेखः । पुनः किंभूतः । मूकः अवागपि
वचनरहितोऽपि उदन्तं वाचिकं सर्वसमाचारं ब्रुवाणो वदन् । अयमपि विरोधः ।
शान्तौ तु प्रेषकेणान्तर्लिपिविषयीकृतं सविस्तरं वाचिकः कथयन् ॥ इति श्राद्धानाम-
कव्वरसाहिसाहिवखानयोरुदन्तकथनपूर्वं गृहणां तत्स्फुरन्मानार्पणम् ॥

प्रदेशीव केशित्रतिक्षोणिशक्रैरसौ बोधनीयो नृपः पूज्यपादैः ।

महान्तो हि विश्वोपकृत्यै यतन्ते घनाः किं न सर्वं जगज्जीवयन्ति ॥६१॥

पूज्यपादैः श्रीपूज्यैरसौ नृपोऽकव्वरपातिसाहिः बोधनीयः प्रतिबोधयितव्यः धर्मे
स्थापनीयः । क इव । प्रदेशीव यथा केशित्रतिक्षोणिशक्रैः केशिनामगणधरैः प्रदेशी
नाम नृपो बोधितः श्रीमन्निधर्मे स्थापितः । हि यस्मात्कारणात् महान्तः सन्तो विश्वस्य
जगज्जनस्य उपकृत्यै उपकारकृते यतन्ते उद्यमं कुर्वन्ति । तदेव दृष्टान्तयति—घना
मेवाः सर्वं समस्तं सचराचरं जगद्विश्वजनं किं न जीवयन्ति । अपि तु स्ववारिवृष्टिभि-
र्जीवयन्त्येव । यदुक्तम्—'संप्रति न कल्पतरवो न सिद्धयो नापि देवता वरदाः ।
जलदं त्वयि विश्राम्यति जगतोऽपि हि जीवितारम्भः ॥' इति जीवनदायित्वाच्च ॥

अपेक्षां च न क्वापि कुर्वन्ति सन्तः स्वभावेन किं तूपकुर्वन्ति सर्वान् ।

किमभ्यर्थितानि प्रसूनानि कैश्चिज्जनान्सौरभैः स्वैर्यदामोदयन्ति ॥ ६२ ॥

च पुनः क्वापि कुत्रापि स्थाने यः कश्चिदभ्येत्यात्यर्थं मामभ्यर्थयते तस्याहं कृत्यं
करोमीत्यपेक्षा । तां न कुर्वन्ति किं तु सन्तः स्वभावेनैव सर्वानुपकुर्वन्ते । परेषामा-

स्मव्यतिरिक्तानामुपकारपरायणाः स्युः । तदेव दर्शयति—कैश्चिद्भोगाङ्गरङ्गिभिः पुरुषै-
रागत्य प्रसूनानि कुसुमानि किमिति प्रश्ने अभ्यर्थितानि यद्ययमभ्येत्य अस्मान्स्वसौरभैः
सुगन्धीकुरुतेति किं प्रार्थितानि । यत्कारणात् स्वैरात्मीयैः सौरभैः परिमलैः कृत्वा
जनान् लोकानामोदयन्ति सुरभीकुर्वन्ति । ‘आमोदो गन्धहर्षयोः’ इत्यनेकार्थः ॥

कदाचिद्वसन्तस्य संदेशवाचोऽपि च प्रेषिता कापि किं कुञ्जलक्ष्म्या ।

मृगाक्षीमिवोत्कण्टकां मञ्जरीभिः प्रसूनैरयं हासयामास यत्ताम् ॥ ६३ ॥

अपि पुनरर्थे । अपि चाप्यर्थे च । कदाचित्कस्मिन्नपि समये कापि कुत्रापि स्थाने कुञ्जल-
क्ष्म्या वनश्रिया वसन्तस्य वसन्तसमयस्य किं संदेशवाचः उदन्ताः प्रेषिताः प्रहिताः सन्ति ।
यत्कारणादयं वसन्तस्तामुद्यानेनिदरां मृगाक्षीं स्वसारङ्गलोचनां प्रेयसीमिव प्रसूनैः स्मेरकु-
सुमैः कृत्वा हासयामास । कान्तोऽपि स्वकान्तां प्रसूनादिकीडाभिः हासयति । हास्यकलि-
तामिव चकारेत्यर्थः । किंभूतां श्रियं कान्तां च । कलितानि सुरभिसमयस्मयमानामा-
नपादेषु नवप्रकटीभवत्कुसुमकोरकैरुत्कण्टकां सरोमाच्चक्रुकामुच्चै रोमाञ्चां च ॥

किमभ्यर्थ्यते केनचिच्चण्डरोचिर्यदुर्वीदिवौ भासयत्येष यद्वा ।

विपक्षानिवोद्भासयत्यन्धकारान्पुनर्योजयत्यङ्गनाभी रथाङ्गान् ॥ ६४ ॥

यद्वा अथ वा केनचिच्चक्रवाकादिना चण्डरोचिः सूर्यः किमभ्यर्थ्यते । यत्कारणादेव
चण्डरोचिः उर्वीदिवौ भूमीनभसी भासयति प्रकाशयति । पुनर्विपक्षान् शत्रून् इव
अन्धकारान्स्तमांसि । अन्धकारशब्दः पुंस्त्रीबलिङ्गयोः । ‘नेत्रं वक्त्रपवित्रपत्रसमरासी-
रान्धकारा—’ इति लिङ्गावशात् । उद्भासयति लोकमध्यान्निष्कासयति । पुनर्वि-
योगव्याकुलान् रथाङ्गान् चक्रवाकानङ्गनाभिः स्वरथाङ्गीभिः स्त्रीभिः सनं योजयति । संगमं
कारयतीत्यर्थः ॥

अयाच्यन्त किं वाम्बुदाः केनचित्किं यदुर्वीधराणां व्यपोहन्ति तापम् ।

जलैर्जीवयन्तीह वप्पीहवालान्स्वनादैश्च वैदूर्यमुद्भाषयन्ति ॥ ६५ ॥

किं च पुनरर्थे । केनचित्पर्वतचातकादिना किमम्बुदा मेघा अयाच्यन्त प्रार्थिताः ।
यत्कारणादुर्वीधराणां पर्वतानां यद्वा उर्व्या धराणां शैलानां च । ‘प्रादापर्वतभूधरधराः’
इति हैम्याम् । तथा ‘धरः कूर्माधिपे गिरौ । कर्पासकूले’ इत्यनेकार्थः । तापं निदाघ-
दाघं व्यपोहन्ति निग्नन्ति शमयन्ति । यदुक्तम्—‘धाराधरा एव धराधराणां निदाघ-
दाघौषविघातदक्षाः’ इति । पुनरिह जगति वप्पीहवालान्श्चातकपोतान् जलैः स्ववृष्टि-
सलिलपानैः कृत्वा जीवयन्ति । पुनः स्वनादैर्निजगर्जारवैर्वैदूर्यं विदूरपर्वते बालवायु-
जापरनामवैदूर्यरत्नशङ्काम् । जातावेकवचनम् । उद्भाषयन्ति प्रकटयन्ति । मेघगजितैर्हि
विदूरशैले वैदूर्यशलाकाः प्रादुर्भवन्तीति कविसमयः ॥

उपाकारि किं कैरवैर्वा चकोरैर्यदेतान्सितांशुः पृणत्येष किं वा ।

सगोत्राः पुनश्चन्द्रिकाः किं धरित्र्याः शुचीकुर्वते तां यदेताः सुधावत् ॥ ६६ ॥

किं वा अथ वा कैरवैः कुसुदैर्वा अथ वा चकोरैर्ज्योत्स्नाप्रियैः किं सितांशोश्चन्द्रस्य
उपाकारि उपकृतम् । यद्यस्मात्कारणादेषः प्रत्यक्षः सितांशुरेतान्कैरवचकोरान् पृणति
प्रीणयति । विकाशामृतज्योत्स्नापानैरिति शेषः । ‘पृणत् प्रीणने’ तुदादिर्धातुः । पुनश्चन्द्र-
काश्चन्द्रज्योत्स्नाः किं धरित्र्या भूमेः सगोत्राः सज्ञातयः सन्ति । यत्कारणादेताः कौमुद्यः
तां वसुंधरां सुधावदमृताप्लावा इव । ‘छोह’ इति लोकप्रसिद्धाः सुधा इव शुचीकुर्वते
धवलयन्ति । ‘सुधावन्तो दृश्यन्ते अतः प्रचुराः प्रासादाः वहिश्च वारणेन्द्राः’ इति च-
स्पृकथायाम् ॥ इत्युपकारकरणकथनम् ॥

न चैवं हृदा चिन्तनीयं शमीन्दो दधानोऽसिबत्स्वेन निखिंशभावम् ।

तमः श्वेतकान्तेरिव म्लेच्छमौलिः कदाचित्स मे मा विदध्याद्विरुद्धम् ॥६७॥

शमः क्षान्तिः शत्रौ मित्रे च समभावो विद्यते येषां ते शमिनस्तेषां मध्ये इन्दुरति-
शायिशान्तिरसभृङ्गार तत्संबोधनम् । त्वया हृदा मनसाप्येवममुना प्रकारेण न नैव
चिन्तनीयं विचारणीयम् । एकवचनं तु भक्तिवशात् वीतरागस्तवजयतिहुअणप्रमु-
खादौ दृश्यते—‘तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति नेत्राणि सुरयोषिताम्’ इत्यादि । तथा ‘तुं साम-
यितुं मायवप्पतुंमित्तपियं कुरु’ इत्यादि । यदेष अस्तिवत्कराल इव स्वेनात्मना निखिंश-
भावं क्रूरस्वभावम् । ‘क्रूरे नृशंसनिखिंशौ’ इति हैम्याम् । पक्षे निखिंशतां चन्द्रहासताम् ।
‘करवालनिखिंशकृपाणखङ्गाः’ इत्यपि हैम्याम् । दधानो विभ्राणः । म्लेच्छानां मुद्गलानां
मध्ये मौलिः मुकुटः अकम्बरपातिसाहिः कदाचित्कस्मिन्नपि प्रश्नोत्तरीप्रतिवचनादिस-
मये भवत्समीपं गतस्य मम विरुद्धं दुष्टमनार्थत्वं मा विदध्यान्मा कुर्यात् । क इव ।
तम इव । यथा सैहीक्येयः श्वेतकान्तेश्चन्द्रस्य कदाचित्पूर्णिमाप्रान्ते एव नान्यदिनेषु,
इति विरुद्धगिलनलक्षणं विरुद्धं विदधाति ॥

अपि स्वापकर्तुर्जनस्योपकारं प्रकुर्वन्त्यसावौचिती सत्तमानाम् ।

कुठारं स्वशाखाविशेषांलुनानं यतो गन्धसारः सुगन्धीकरोति ॥६८॥

हे प्रभो, स्वस्यात्मनोऽपकर्तुर्विरोधं विधातुरपि जनस्य उपकारं शिष्टाचारतां दान-
मानभोजनादिकं प्रकर्षेण कुर्वन्ति । असावेषा पूर्वोक्तलक्षणा सत्तमानां महतामौचिती
उचितकारिता योग्यता स्वभाव एव वर्तते रीतिरेवास्ति । यतः कारणात् गन्ध एव
सारं यस्य फलपुष्पवर्जितत्वात् । ‘यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलपुष्पवर्जितो वि-
हितः’ इत्युक्तत्वात् चन्दनद्रुमः स्वशाखाविशेषान्निजशिखाग्राणि लुनानं छिन्दानमपि
कुठारं परशुं सुगन्धीकरोति सुरभयति ॥

महात्माथ वा येन नीयेत तापं प्रयत्येत तेनैव तस्योपकर्तुम् ।

दहेद्यो निजं चूर्णयित्वा कृशानौ तमेव स्वयं धूपयेत्काकतुण्डः ॥६९॥

अथ वा इति स्मरणगर्भे पक्षान्तरे वा महात्मा सत्तमः येनानार्येण पुंसा तापं सं-
तापं नीयेत प्राप्येत तेनैव महात्मना तस्यैव स्तोपतापकर्तुः पुरुषस्यैव उपकर्तुं

सम्यग्विधातुं प्रयत्येत प्रयत्नः क्रियेत । तदेव दर्शयति—यः पुमान् निजमात्मानमगुरुमेव चूर्णयित्वा शकलीकृत्य कृशानौ ज्वलज्ज्वलने दहेद्भस्मीकुर्यात् ज्वालयेद्वा स काकतुण्डः कृष्णागुरुः तमेव खदाहकारिणं पुमांसं धूपयेत्सुगन्धी कुर्यात् । तस्य सर्वाङ्गाप्यपि वासयेदेव ॥

सतां स्वोपकर्तापकर्ता च चित्तेऽथ वैकां तुलां प्राप्तुतो निर्विशेषम् ।

विषेन्दू इवानङ्गदस्योः सुधोर्वाविवाब्धेः पुनश्चन्द्रिकाङ्गाविवेन्दोः ॥७०॥

अथ वेति पुनः पक्षान्तरे । स्वस्यात्मनः उपकर्ता उपकारकः, च पुनरर्थे स्वस्यापकर्ता विरुद्धकृत्, एतौ द्वावपि सतामुत्तमानां चित्ते अन्तःकरणे एकां साधारणीं तुलां सादृश्यं प्राप्नुतः । सदृशीभावं लभेते इत्यर्थः । कथम् । निर्गतो विशेषो मानापमानलक्षणो यत्र तन्निर्विशेषम् । क्रियाविशेषणम् । कस्येव । अनङ्गदस्योरिव । यथा शंभोर्विषं कण्ठदाहकृत्कालकूटं तथा इन्दुः चूडामणिशोभाकृच्चन्द्रः । पुनः कस्येव । अब्धेरिव । यथा समुद्रस्य जगज्जीवनौषधं सुधा पीयूषं तथा उर्वो निजाखिलसलिलशोषकृद्ब्रह्मवानलश्च । पुनः कस्येव । इन्दोरिव । यथा चन्द्रिका जगदुद्द्योतविधायिका चन्द्रगोलिका तथा अङ्कः स्वकलङ्कदायकं लाञ्छनं च तुल्यां तुलां लभेते निर्विशेषभावं भजतः ॥ इति सतामपकारकारिण्युपकारकरणविज्ञप्तिः ॥

समुत्कण्ठुलं मानसं मेदिनीन्द्रः प्रभौ यद्विभर्त्येष सैष्ये करीव ।

जलस्येव दुग्धेन सङ्गं सिस्त्रक्षोस्त्वया किं पुनर्वाच्यमस्योपकृत्यै ॥७१॥

यत्कारणादेषोऽकब्बरनामा मेदिनीन्द्रः पृथिवीपुरंदरः पातिसाहिः प्रभौ श्रीमद्विषये समुत्कण्ठुलम् । 'सोत्सुकमुत्कण्ठुलम्' इत्याचारप्रदीपे प्रतिक्रमसूत्रवृत्तौ च । श्रीमद्रत्नशेखरसूरिकृतौ । उत्कण्ठाकलितं मानसं मनो विभर्ति धत्ते । क इव । करीव । यथा गजेन्द्रः स्वमदशोभाविधायिनि सैष्ये शिशिरकृतौ उत्कण्ठितां मनोवृत्तिं दधाति । 'करिणां हि शिशिरतो मदोद्भावो भवेत्' इति वाग्भटकाव्यानुशासने । तत्कारणात् पुनरस्य पातिसाहेरुपकृत्यै उपकृतिकरणाय किं वाच्यं श्रीमतां वक्तव्यं किमस्ति । अस्य किं कर्तुमिच्छोः । त्वया भगवता समं सङ्गं संयोगं मिलनं सिस्त्रक्षोः स्रष्टुमिच्छोः कर्तुमास्य । केनेव कस्य । दुग्धेनेव जलस्य सलिलस्य । यथा जलं पयसा साकं सङ्गं सिस्त्रक्षति विधातुमिच्छति ॥

प्रणिघ्नन्वेन व्याधवन्नैकसत्त्वानसत्त्वीकृताशेषविद्वेषिवर्गः ।

ततो हेमचन्द्रेण चौलुक्यभूमानिवासौ त्वयाकब्बरो बोधनीयः ॥७२॥

ततः कारणात् सत्तमत्वहेतोः त्वया श्रीमता असौ अकब्बरो नाम सुद्रलपातिसाहिर्बोधनीयः प्रतिबोधं प्रापयितव्यः । केनेव । हेमचन्द्रेणेव । यथा हेमाचार्येण चौलुक्यभूमान् कुमारपालभूपालः प्रतिबोधं लम्बितः । असौ किं कुर्वन् । वने कानने उपलक्ष-

णाद्विरिगह्वारण्यादौ व्याधवल्लुब्धक इव नैकान्मानातीतान् सत्त्वान् मृगादिप्राणिनः
प्राणिघ्नन् व्यापादयन् । पुनः किंभूतः । असत्त्वीकृताः बलरहिताः कृता धैर्यापगमात्
कातरा विहिता वा । ‘सत्त्वं द्रव्ये गुणे विते व्यवसायस्वभावयोः । पिशादावात्मभावे च
बले प्राणेषु जन्तुषु ॥’ इत्यनेकार्थः । व्यवसायरहिता वा निर्मिताः अशेषाः समस्ता
विद्वेषिणां वर्गाः पक्षा येन सः ॥

हिमोर्वीधरोर्वीव सिन्धोः सुराणां कृपाया उपादानमुक्तिस्त्वदीया ।

महत्त्वं विमोर्लप्स्यते चित्तवृत्तौ पयो मौक्तिकत्वं घनस्येव शुक्तौ ॥७३॥

हे प्रभो, त्वदीया श्रीमत्संबन्धिनी उक्तिर्वचनचातुरी संचितधर्मदेशना वाग्विलासो
वा विभोः स्वामिनोऽकम्बरस्य चित्तवृत्तौ मनोविषये महत्त्वं प्रौढिमानं प्रतिष्ठां लप्स्यते
प्राप्स्यति । किमिव । पय इव । यथा घनस्य स्वातिनक्षत्रसंबन्धिजलधरस्य वृष्टिसुक्तं
वारि शुक्तौ शुक्तिकायां विषये मौक्तिकत्वं मुक्ताफलभावं लभते । किंभूतम् ।
कृपाया जगज्जीवदयाया उपादानं मूलकारणम् । केव । हिमोर्वीधरोर्वीव । यथा हिमा-
चलवसुधा सुराणां देवानां सिन्धोर्नद्याः गङ्गायाः उपादानं मौलं कारणम् । ‘बुल्लहि-
मवत्पद्मद्रवादिर्विभवति भागीरथी’ इति जिनमते । शैवे तु ‘हिमवतो गङ्गा प्रभवति’
इति भवेत् ॥

पयोदा इव प्रावृषेण्या नमन्तः प्रभोश्चक्रपाणेः पदं संस्पृशन्तः ।

निगद्येति वाचंयमेन्दोः पुरस्तान्यपेवन्त जोषं मुखे श्राद्धमुख्याः ॥७४॥

ते श्राद्धमुख्या अकमिपुरसक्तश्रावकपुङ्गवाः वाचंयमेन्दोः साधुसुधारचेः सूरैः पुर-
स्तादित्यमुना प्रकारेण निगद्य कथयित्वा । विज्ञप्येत्यर्थः । मुखे निजानने जोषं तूष्णीभावं
न्यपेवन्त सेवन्ते स्म । मौनं कृत्वा स्थिताः । किं कुर्वन्तः । नमन्तः प्रणमनप्रह्वीभ-
वन्तः । पुनः किं कुर्वन्तः । संस्पृशन्तः अर्थान्मस्तकेन संघट्टयन्तः वन्दमानाः । किम् ।
पदं चरणम् । कस्य । प्रभोः सूरैः । किंभूतम् । चक्रं चक्रिण आयुधविशेषं रथाङ्गं पाणी
आकृत्या महापुरुषत्वेन हस्ते यस्य । के इव । पयोदा इव । यथा प्रावृषेण्या वर्षा-
कालसंबन्धिनो वारिवृष्टिविचित्रमेघा नमन्ति समुन्नम्यायान्ति । जलभरपूर्णात्वाद्भूमा-
बुपेत्य लगन्ति । तथा चक्रपाणेर्विष्णोः पदं गगनमण्डलं च स्पृशन्ति ॥ इति प्रभोः
साहिसमीपे गमनार्थं श्राद्धानां विज्ञप्तिः ॥

तदीयां गिरं कर्णिकावत्सुवर्णाङ्कितां सूक्तिमुक्तावलीशालमानाम् ।

विमुक्ताङ्गरागोऽपि भोगीव योगीश्वरः कर्णपूरीचकारेति चित्रम् ॥७५॥

विमुक्तास्त्यक्ताः अङ्गस्य स्वशरीरस्य रागाः क्षानोद्धर्तनविलेपनभूषणधारणादयो
येन तादृशोऽपि सन् । योगिनां यमनियमकरणप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधि-
नामधेयानामष्टाङ्गयोगसाधकानां मनोवाक्काययोगवतां वा साधूनामीश्वरो नायको राजा
सूरिः भोगीव सांसारिकभोगभागिव तदीयां श्राद्धसंबन्धिनीं गिरं विज्ञप्तिवार्णीं कर्णि-

कावत्कर्णभूषणमिव कर्णो पूर्यते अनयेति कर्णपूरा तामकर्णपूरां करोति स्मेति कर्ण-
पूरीचकार इति चित्रं महदाश्चर्यमास्ते । यतः कर्णभूषणं तु भोगीन्द्रस्यैव युज्यते न तु
योगीन्द्रस्य । अयं तु योगीन्द्रोऽपि सन् कर्णिकां दधारेत्याश्चर्यम् । किंभूतां कर्णिकाम् ।
सुवर्णेन काञ्चनेनाङ्कितं घटिताम्, सुशोभना वर्णा अक्षराणि तैः कलिताम् । पुनः
किंभूताम् । सुष्ठु हृदयाह्लादविधायिन्य उक्तयो वचनचातुर्य एव मुक्तावली मौक्तिक-
पङ्क्तिः तथा शालमाना शोभमाना । पक्षे श्लेघे शस्योरैक्यात् शुक्तीनां शुक्तिसं-
न्धिनीनां मुक्तानां मुक्ताकलानाम् । एतावता भद्रगजवंशानां निषेधः । आवली माला
प्रान्तनिवद्धा धोरणी तथा शालमाना दीप्यमाना ॥

सहीमण्डलान्तः किमाविर्भवन्तं पुनः शासनस्योदयं श्रीजिनेन्दोः ।

अशेषावनीशासितुः शासनं तन्निश्चयेत्यसौ चिन्तयामास चित्ते ॥७६॥

असौ हीरविजयसूरिः अशेषावनीशासितुः समस्तक्षितिपालपालयितुरकव्वरस्य
तत्स्वस्याकारणलक्षणं शासनमादेशं निश्चयमाकर्ण्य इत्यमुना प्रकारेणाग्रे वक्ष्यमाणं चित्ते
स्वमनसि चिन्तयामास विचारयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तच्छासनं पुनरस्मिन्वर्तमाने
कलिकालेऽपि सहीमण्डलान्तः पृथिवीपीठमध्ये आविर्भवन्तं प्रकटं जायमानं श्रीजिने-
न्दोर्महावीरस्य भगवतः शासनस्योदयमभ्युद्गममिव ॥

अयं हन्ति दावामिवद्वन्द्वजन्तून्प्रचण्डाशयो दण्डभृद्वद्यदास्ते ।

क्षितौ स्वं निधानं धनीवावनीन्दोस्तदेतस्य चित्ते कृपां निक्षिपामि ॥७७॥

यत्कारणाद्यमकव्वरो मुद्रलपातिसाहिः दवामिवदावानल इव वने भवान् वन्यान्
काननोत्पन्नान् जन्तून् शशशंवरवराहहरिणादिसत्त्वान् हन्ति निपातयति स्वतन्त्राखे-
टक्रीडावशंवदतया व्यापादयति । पुनर्यत्कारणादयं हमाज्जनन्दनः दण्डभृद्वद्यम इव ।
प्रचण्डो रौद्रो निर्दय आशयश्चित्तमभिप्रायः परिणामो वा यस्य तादृश आस्ते ।
तत्कारणादेतस्यावनीन्दोरकव्वरसाहेचित्तेऽन्तःकरणे कृपां दयां विश्वसत्त्वोपरि कृपां
निक्षिपामि स्थापयामि । क इव । धनीव । यथा धनवान् पुमान् स्वमात्मीयं निधानं
सुवर्णरूपकमणिमौक्तिकपूर्णकुम्भमञ्जूषाकटाहादिकं तिथि क्षितौ वसुधाविषये निक्षिपति
न्यासीकरोति ॥

दधानेन धर्म्या धुरं किं क्षितीन्द्रः कृतः संमुखीनः स केनापि धर्मे ।

फलाभ्युद्गमे विश्वलोकं पृणेन प्रसूनव्रजेनेव विस्मेरशाखी ॥ ७८ ॥

धर्म्या धर्मसंबन्धिनां धुरं धुर्वी दधानेन विभ्रता । धर्मधुरंधरेणेत्यर्थः । केनापि सत्त-
मेन स क्षितीन्द्रः पातिसाहिः धर्मे जैनधर्मविषये संमुखीनोऽभिमुखः कृतः विहितः ।
केनेव । प्रसूनव्रजेनेव । यथा विश्वलोकं पृणेन समस्तजगज्जनानन्ददायिना कुसुमप्रकरेण
विस्मेरशाखी विनिद्रद्रुमः कलानां खजातियोग्यानां सखानामभ्युद्गमे प्रादुर्भावे संमुखः

क्रियते । यतः प्रायः कुसुमेभ्य एव फलान्याविर्भवन्ति । यदुक्तम्—‘अहो अमेघजा
वृष्टिरहो अकुसुमजं फलम् । अहो पुराकृतं पुण्यं यदृष्टो नाथलोचनैः ॥’ इति जिनस्तुतौ ॥

किमाविर्बभूवे स्वभावेन धर्मे धिया शांभवे काश्यपीशासितुर्वा ।

यदन्तर्मदीयागमं लिप्सतेऽसौ विलासीव पुंस्कोकिलः पुष्पकालम् ७९

अथ वा काश्यपीशासितुर्भूपालस्य धिया बुद्ध्या स्वभावेन सहजेनैव शांभवे जैने ।
‘शंभुः स्वयंभूर्भगवान् जगत्प्रभुस्तीर्थकरः’ इति हैम्याम् । धर्मे किमिति वितर्के प्रश्ने वा ।
आविर्बभूवे प्रकटीभूतम् । यद्यस्मात्कारणादसौ नृपः अन्तश्चित्तमध्ये मदीयागमं ममाग-
मनं लिप्सते कामयते वाञ्छति । क इव । पुंस्कोकिल इव । यथा पुमान्कोकिलः
पुष्पकालं वसन्तसमयं समीहते । किभूतः । विलासी क्रीडालालसः । वसन्ते हि कोकि-
लानां मदोदयस्ततस्तत्रैव क्रीडासक्तिः ॥

अथो जल्पतस्तान्प्रति श्रीव्रतीन्दोः क्षितीन्दोर्दधानस्य निर्देशमन्तः ।

ध्वनिनिर्वभौ दौकितो वाहिनीनां धवेनेव गम्भीरिमश्रीजितेन ॥८०॥

अथो तच्छ्राद्धकथनानन्तरं तदुक्तिश्रवणादनु मनसि विमर्शानन्तरं वा तान् श्राद्धान्प्रति
जल्पतः प्रतिवदतो मुनीन्दोर्हीरगुरोर्ध्वनिः शब्दो निर्वभौ निःशेषतया भाति स्म ।
‘अक्षवीजबल्येन निर्वभौ’ इति रघुवंशे । किं कुर्वाणस्य । व्रतीन्दोः क्षितीन्दोर्मेदिनीच-
न्द्रस्य पातिसाहेर्निर्देशभादेशमन्तः स्वचित्तविषये । ‘आज्ञा शिष्टिनिराङ्गिभ्यो दशो
नियोगशासने’ इति हैम्याम् । दधानस्य विभ्राणस्य । उत्प्रेक्ष्यते—गम्भीरिमश्रिया
गम्भीर्यलक्ष्म्या । ‘गम्भीरिमगुरुगुरुम्’ इति पाण्डवचरित्रे । जितेनाभिभूतेन वाहिनीनां
नदीनाम् । सेनानामित्यर्थः । धवेन भर्त्रा स्वामिना वा सेनान्या समुद्रेणैव दौकित
उपदाकृत इव ॥

निनसोर्जिनाधीशकल्याणकोर्वामभूत्पूर्वमेवाशयः पूर्वदेशे ।

विहर्तुं ममार्हन्मताम्भोजभृङ्गा यियासोरिवाशा विजेतुं नृपस्य ॥८१॥

हे अर्हन्मतं श्रीमजिनशासनं तदेवाम्भोजं विजृम्भमाणकमलं तत्र भृङ्गा भ्रमरा
जिनशासनैकतानमानसाः हे श्राद्धाः, पूर्वदेशे प्राचीमण्डले विहर्तुं विहारं विधातुं पूर्वं
नृपाकारणश्रीमत्कथनेभ्यः प्रागेव समाशयः परिणामः अभूद्भव । मम किं कर्तुमिच्छोः ।
जिनानां सामान्यकेवलिनामधीशास्तीर्थनायकत्वादहन्तश्चतुर्विंशतितीर्थकृतस्तेषां जन्म-
दीक्षाकेवलज्ञानमोक्षगमनप्रमुखकल्याणकानामुर्वा भूमिं निनसोर्नन्तुमिच्छोः । कस्येव ।
नृपस्येव । यथा आशाश्चतस्रोऽपि दिशो विजेतुं स्वायत्तीकर्तुं यियासोर्गन्तुमिच्छोः
नृपस्य चक्रिणो विजयिनो मण्डलीकभूपालस्य वा पूर्वं पूर्वदेशे विहर्तुं गन्तुमभिप्रायो
भवति । विजयी राजा हि पूर्वं पूर्वदिशि यातीति स्थितिः ॥

समागान्ममाह्वाननं भूमिभानोः पुनर्बप्पभट्टेरिवामस्य राज्ञः ।

दिनारम्भवन्मोहनद्राशयालुं ततस्तत्र गत्वा तमुद्धोधयामि ॥ ८२ ॥

हे श्राद्धाः, पुनर्नमश्चिकीर्षोरूपरि भूमिभानोरकव्वरसाहेर्ममाह्वाननमाकारणं समागात् सम्यग्रीत्या अनुकूलवृत्त्या न बलहठप्रकृत्या । आह्वाननशब्दोऽपि दृश्यते । यथा चम्पूक-
थायाम्—‘तत्तातस्य कृतादरस्य रमसादाह्वाननं दूरतस्तच्छाङ्गे विनिवेश्य बाहुयुगलेना-
श्लिष्य संभाषणम् । ताम्बूलं च तदर्धचर्वितमतिप्रेम्णा मुखेनार्पितं पाषाणोपम हा कृ-
तम् हृदय स्मृत्वा न किं दीर्घसे ॥’ इति । ‘समागान्ममाह्वाननमुर्विमघोनः’ इति पाठान्तरं
वा । उर्वीमघोनः पृथ्वीपुरंदरस्याकव्वरस्य मम सम्यग्ज्ञानपूर्वकमाह्वाननमाकारणमागात् ।
कस्येव । वप्पभट्टेरिव । यथा वप्पभट्टिसूरेरामस्य गोपालगिरिराजनगरराजितकान्यकुब्ज-
जनपदनायकस्य राज्ञो भूपालस्याकारणं समागात् । ‘पितृदत्तराज्योपविष्टामराजेन स्वप्र-
धानपुरुषान्प्रेष्यातिमैत्र्यादुरुपाश्चाद्वप्पभट्टिराकारितः’ इति तत्प्रबन्धात् ज्ञेयम् । ततः
कारणात् तत्र पूर्वदेशे गत्वा तमकव्वरपातिसाहिमहसुद्धोधयामि उत्प्रावल्यानेन सम्य-
ग्ज्ञानशालिनं करोमि । प्रतिबोधयामीत्यर्थः । किंभूतम् । मोहोऽज्ञानमेव निद्रा तन्द्रा
तथा कृत्वा शयालुं शयनशीलम् । सदसद्विवेकाभावविकलीभूतमित्यर्थः । किंवत् ।
दिनारम्भवत् । यथा प्रभातं मौल्येन निद्रया शयानं जगज्जागरयति ॥

ततः पूर्वसूरीन्द्रवत्प्राच्यदेशे प्रणम्या मया श्रीजिनाधीशितारः ।

मयीतः प्रयाते यतस्तत्र धर्मोऽधिगन्ता विवृद्धि मृगाङ्गे कलावत् ८३

ततः कारणात् पूर्वसूरीन्द्रवत्प्राचीनाचार्यवत् मया प्राच्यदेशे पूर्वदिक्काण्डले श्रीजि-
नाधीशितारः श्रीमजिननायकाः प्रणम्या नमस्करणीयाः । यतः कारणात् मयि
इतोऽस्मात्स्थानाद्गुर्जरेभ्यो वा तत्र मेवातमण्डले साहिपार्श्वे वा प्रयाते सति धर्मो वि-
वृद्धि विशेषेण वृद्धि पुष्टि दीप्ति वा अधिगन्ता प्राप्स्यति । ‘अधिगतं विधिवद्यदपाल-
यत्’ इति रश्मि । अधिगतं प्राप्तम् । ‘अधिगत्य जगलधीश्वरादथ सुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः’
इति नैषधे । अधिगत्य प्राप्येति स्वस्तनीप्रयोगस्तातारौतारम् । किंवत् । कलावत् ।
यथा मृगाङ्गे चन्द्रे पूर्वदेशं गते सति कला वृद्धिमधिगच्छति ॥

प्रतिष्ठासमानस्य मे वाङ्मिषेधी हितं काङ्क्षता केनचिन्नो निगद्या ।

यदन्तरायाभीभवन्नम्बुदानामिवावग्रहः कस्य न स्यादनिष्टः ॥ ८४ ॥

हे श्राद्धाः, प्रतिष्ठासमानस्य पूर्वदेशान् प्रति प्रस्थातुकामस्य प्रचलितुमिच्छतो मे
मम हितमायतौ इष्टं समीहितार्थं काङ्क्षता वाञ्छता केनचिच्छाद्वेन साधुना वा चतुर्वि-
धसंघमध्ये केनापि निषेधी निषेधिका निषेधं प्रतिपादयित्री वाक् वाणी नो निगद्या न
वाच्या न कथनीया । यत्कारणादत्र कार्ये समान्तरायांभवन् विघ्नकर्तृत्वेन जायमानः
कस्य हितैषिणो धर्मवृद्धिविधातुः पुंसोऽनिष्टो द्वेषकारी असूयाकारणं न स्यात् । अपि तु
सर्वस्यापि धार्मिकस्यानिष्ट एवेति । क इव । अवग्रह इव । यथाम्बुदानां जलदायकानां
मेघानामवग्रहो वृष्टिरोधविधायी जगतोऽप्यनिष्टः स्यात् ॥

अनध्यायिकास्ये तिथिर्वास्यते स्माश्रये प्राप्नुणीवेत्युदित्वाथ तैन ।

निजास्यामृतांशोस्तिथीनां प्रणीत्वं तदा सार्थकं स्वेन निर्मितस्तेव ८५

अथेति पूर्वोक्तकथनानन्तरं तेन हीरसूरिणा इति पूर्ववाक्यमुदित्वा कथयित्वा श्राद्ध-
पुरस्तान्निवेद्य आस्ये स्ववदने अनध्यायिका यस्यां तिथौ किमपि नाधीयते सानध्या-
यिका तिथिः । ‘प्रतिपत्पाठनाशिनी’ इति वचनात् । वास्यते स्म वासिता । मौनं कृत्वा
स्थितमित्यर्थः । केव । प्राप्नुवीव । यथा आश्रये स्वगृहे कापि पूर्वपरिचिताप्यपराप्य-
भ्यागतिका सौजन्यात्स्थाप्यते आदरपूर्वं रक्ष्यते । उत्प्रेक्ष्यते—तदा तस्मिन्नवसरे नि-
जास्यामृतांशोरात्मीयवदनचन्द्रस्य तिथीनां प्रतिपदादिदिनानां प्रणयति करोति इति
प्रणीस्तत्त्वं तिथिकारकत्वम् । ‘तिथिप्रणी व्यभिधानत्वात् श्वेतवाज्यमृतसूस्तिथिप्रणी’
इति हैम्याम् । सार्थकं सत्यार्थं निर्मितसता निर्मातुं कर्तुमिच्छता वाञ्छतेव ॥ इति
हीरसूरिप्रतिवचनम् ॥

प्रमोर्वाक्सुधासारमाकण्ठमेते सकर्णा निपीय स्वकर्णाञ्जलिभ्याम् ।

सृजन्तो निमेषानपि क्ष्मां स्पृशन्तो दधुः सौमनस्यं तदाश्चर्यमेतत् ८६

एते सकर्णाः प्राज्ञाः श्राद्धाः निमेषान्नयननिमीलनोन्मीलनानि सृजन्तः कुर्वन्तोऽपि
पुनः क्ष्मां क्षोणीं स्पृशन्तोऽपि पादाभ्यां भुवं संघट्टयन्तोऽपि यत्सुमनसां भावः सौम-
नस्यं देवत्वं दधुः धारयन्ति स्म । देवा हि निमेषान्न कुर्वन्ते भूमीमपि न स्पृशन्ति
च । एते तु तथा नेति एतन्महदाश्चर्यमतिशायि चरित्रम् । वस्तुतस्तु शोभनप्रसन्नम-
नस्त्वमिति । किं कृत्वा । प्रमोर्हीरसूरेर्वाक् वाणी सैव सुधा पीयूषं तस्या आसारो वे-
गवती वृष्टिः । अथ वा सुधाया अमृतादपि सारं वस्तु श्रेष्ठः पदार्थः । तं पीत्वा । कथ-
माकण्ठं कण्ठपीठं यावत् आस्वाद्य सादरं श्रुत्वा वा ॥

किरन्त्यामृतं प्रीणितानेकजन्तोर्गिरा तस्य धाराकदम्बा इवामी ।

समुल्लासिलोमावलीकोरकाङ्गा इदं व्याहरन्ति स्म पौराः प्रमोदात् ८७

अमी अकमिपुरीयाः पौराः श्राद्धाः इदं वक्ष्यमाणं व्याहरन्ति स्म वभाषिरे ।
किम् । समुल्लासिनी प्रोळसनशीला लोमावली रोमराजी एव कोरकाः कलिका अङ्गे
वपुर्लतायां येषां ते । कया कृत्वा । प्रीणिताः प्रीतिं प्रापिताः अनेके यावजातीया ज-
न्तवः प्राणिनो येन तादृशस्य गुरोरमृतं सुधां किरन्त्या विस्तारयन्त्या भव्यानाममृत-
पानं कारयन्त्या गिरा वाण्या । उत्प्रेक्ष्यते—धाराकदम्बा इव । यथा धाराभिर्ज-
लवाहवृष्टिभिराहिताः संसिक्ताः कदम्बा धाराकदम्बाः कोरकिताङ्गाः कुञ्जलकलित-
शाखा भवन्ति ॥

“किरन्त्यामृतं तस्य लोकंपृणस्याम्बुवाहस्य वृष्ट्येव धाराकदम्बाः ।

गिरोल्लासिलोमावलीकुञ्जलाङ्गा इदं व्याहरन्ति स्म पौराः प्रमोदात् ८७

पौरा नागरिकाः प्रमोदादानन्दादिदं वक्ष्यमाणं व्याहरन्ति स्म भाषन्ते स्म ।
किम् । उल्लसतीत्येवंशीला उल्लासिनी या लोमावली रोमराजी सैव कुञ्जलाः कोरकाः

कलिका येषु तादृशान्यङ्गानि काया येषाम् । कया । तस्य सूरैर्गिरा वाण्या । तस्य किं-
लक्षणस्य । लोकपृथगस्य त्रैलोक्यलोकस्याह्लादोत्पादकस्य । गिरा किं कुर्वन्त्या । अमृतं
सुधारसं मोक्षं वा किरन्त्या विस्तारयन्त्या पायन्त्या ददत्या च । अमृतपानमिव प्रीति-
मुत्पादयन्त्या मुक्तिदायिन्या च । कोरकिताङ्गाः क इव । धाराकदम्बा इव । यथा
विश्वसौहित्यविधायिनोऽम्बुवाहस्य मेघस्यामृतं घनसलिलं वितन्वन्त्या वृष्ट्या वर्षणेन
कृत्वा धाराकदम्बाः प्रोलसल्लोममालिकातुल्यैः कोरकैः कुसुमकलिकाभिः कान्ताः कायाः
शाखाप्रतिशाखारूपा देहा भवन्ति । धाराभिर्जलदजलवृष्टिभिराहताः कदम्बद्रुमाः
धाराकदम्बाः । धाराहताः किल कदम्बाः पुष्पन्तीत्यशास्त्रे सिद्धान्तेऽपि च द-
श्यते—‘धाराहयकयम्बसमुच्छसिरोमकूवा’ इति । तथा ‘स्तोकेनेव वहन्ति पुष्पपुलकं
धाराकदम्बद्रुमाः’ इति चम्पूकथायाम् । ‘वर्षाकालमधिगलोज्जृम्भिता नीपाः धाराक-
दम्बाः । रजसि ये पुष्पन्ति ते धूलीकदम्बाः । वर्षासु ये पुष्पन्ति ते धाराकदम्बाः’
इति चम्पूकथाटिप्पनके ॥” इति पाठान्तरम् ॥

जडिम्ना निजां दूषितामङ्गयष्टिं तपोमिस्त्यजन्नूर्ध्वसंस्थानमुखैः ।

सुमेरुः किमादत्त सूरिन्द्रदेहं न चेह प्रतीकाशधैर्यैः स कस्मात् ॥८८॥

सुमेरुः सुवर्णाचलः । उत्प्रेक्ष्यते—सूरिन्द्रस्य देहं कायं किमादत्त गृहीतवानिव ।
सूरिशरीरी बभूवैत्यर्थः । किं कुर्वन् । ऊर्ध्वमूर्ध्वोभूय यत्संस्थानं सम्यक् समीचीनास-
मीचीनतया वा स्थितिर्निष्ठा वा तत्प्रमुखैस्तपोभिर्निर्गन्तवानादिकष्टैर्यमनियमविशेषैर्वा
कृत्वा जडिम्ना दृष्टतया जाड्येन दूषितां कलङ्कितां निजामात्मीयामङ्गयष्टिं वपुर्लतां त्य-
जन्नुज्जन् । एवं चेन्न तर्हि स सूरिः कस्मात्कारणात् अप्रतीकाशमसाधारणं धैर्यं धारिमा
यस्य सः । अद्वैतधीरताकलितः कथं भवेत् ॥

यदुद्यत्सते भूधवस्योपकर्तुं स्वयं सूरिकण्ठीरवस्तद्धि साधु ।

विनैतं कथं सोऽवबुध्येत धीमान्यथा कार्तिकैकादशीमब्धिशायी ॥८९॥

सूरिकण्ठीरवः हीरविजयसूरिसिंहः स्वयमात्मना यद्भूधवस्याकव्वरस्योपकर्तुमुपकारं
कर्तुमुद्यत्सते प्रागल्भ्ये उद्यमं प्रयत्नं कुरुते । हि निश्चितम् । तत्साधु सम्यक् । यत्कार-
णादेतं सूरिं विना स धीमान् महाप्राज्ञः कथं केन प्रकारेणावबुध्येत सम्यग्ज्ञानमवा-
प्नुयात् । क इव । अब्धिशायीव । यथा कार्तिकमासस्यैकादशीं शुक्लैकादशीं हरिप्रबो-
धतिथिं देवउठणीएकादशीं तामन्तरेण कृष्णः कथं जागर्ति । वर्षासमयमनुलक्ष्य-
कृत्वाब्धौ समुद्रे शेते इत्येवंशीलोऽब्धिशायी ॥

अहो पश्यतास्य प्रभोः साहसिक्यं परं येन नापेक्षते कंचनापि ।

द्विजेशद्विपद्वेषिपूषप्रदीपैः प्रतीक्ष्येत किं कापि साहायकाय ॥ ९० ॥

अहो इति परस्परसंबोधने । आतरः, अस्य प्रभोः श्रीगुरोः साहसिक्यं साहसतां
साहसकर्मतां सहसा वर्तते इति साहसिकः । ‘ओजः सहाम्भसा वर्तते’ इति इक् ।

तस्य भावः कर्म वा साहसिक्यम् । ‘अहो महीयस्तव साहसिक्यम्’ इति नैषधे । पश्यत विलोकयत । येन कारणेनायं परमन्यं कंचनापि कमपि नोपेक्षते न काङ्क्षति । युक्तोऽयमर्थः । द्विजेशश्चन्द्रः, द्विपद्वेषी केसरी, पूषा सूर्यः, प्रदीपः कजलध्वजः, एतैश्चन्द्रादिभिः कापि कुत्रापि विषये । किमिति प्रश्ने । साहायकाय साहाय्यकृते । ‘योपधाद्गुरुपोत्तमाद्गुञ् । रमणीयसहायाद्वा । साहायकं साहाय्यम्’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । प्रतीक्ष्येत परापेक्षा क्रियेत । अपि तु सर्वत्र स्वयमेव प्रागल्भ्यते । यदुक्तं सत्त्वे—‘रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि । रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधिर्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः । तथाप्याजौ रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥’ इत्यादि ॥ इति हीरगुरोः श्राद्धकृतस्तुतिः ॥

ततोऽन्यैः समं साधुभिः सूरिसिंहः समुद्दिश्य पूर्वां दिशं स प्रतस्थे ।

जिगीषुः समग्रान्दिगन्ताननेकैरिवाखण्डलोऽम्भोधिनेमेरनीकैः ॥९१॥

श्राद्धप्रशंसानन्तरं स हीरविजयनामा सूरिषु निर्भयत्वात्साहसिकत्वाच्च सिंह इव सिंहः पञ्चाननः अन्यैः स्वपारिपार्श्वकभूतैरपरैः साधुभिः श्रमणैः समं सार्धं पूर्वां प्राचीं दिशमुद्दिश्य मनसि कृत्वा प्रतस्थे प्रस्थानं कृतवान् । क इव । आखण्डल इव । यथा समग्रान्दिगन्तान्दिग्विभागान् । दिशामवसानभूमीर्यावदित्यर्थः । जिगीषुः स्वीचिकीर्षुः अम्भोधिनेमेः पृथिव्या आखण्डलः पुरहृतो भूमान् अनेकैर्गजाश्वरथपत्तिप्रकरपरिकलितानीकैः कटकैः साकं प्राचीं हरितमुद्दिश्य प्रतिष्ठते ॥

अलंकारमालां दधाना वसाना दुकूलानि पुष्पाणि पाणौ प्रणीय ।

कनी प्रागभूत्संमुखीना मुनीन्दोः पुरः प्रादुरासेव मूर्ता जयश्रीः ॥९२॥

मुनीन्दोः सूरैः प्रस्थानावसरे प्राक् पूर्वं कनी कन्या कुमारिका संमुखीना अभिमुखा अभवत् । संमुखमाजगामेत्यर्थः । किं कृत्वा । पुष्पाणि विकसितकुसुमानि पाणौ खड्गस्ते प्रणीय कृत्वा । आदायेत्यर्थः । किं कुर्वाणा । अलंकारमालामाभरणश्रेणीमलंकारान् मणिसुवर्णभूषणानि कुसुममालिकां च वा दधाना विभ्राणा परिधरन्ती वा । पुनः किं कुर्वाणा । दुकूलानि क्षौमाणि पटकूलप्रमुखदिव्यवसनानि वसाना वस्ते स्मेति परिदधाना । उत्प्रेक्ष्यते—मुनीन्दोः सूरैः पुरोऽग्रे मूर्तिमती सशरीरा जयश्रीर्जयलक्ष्मीः प्रादुरासेव प्रकटीभूतेव ॥

विधास्यामि सांनिध्यमभ्यासमेवानिशं तस्थुषी ते किमेतद्विवक्षुः ।

असौ शासनस्वर्गमाक्षी समेता पुरः सौरभेयी बभूव व्रतीन्दोः ॥९३॥

व्रतीन्दोर्हार्सूरैः पुरोऽग्रे सौरभेयी सवत्सा गौर्बभूव संमुखं समेता । उत्प्रेक्ष्यते—

असौ प्रत्यक्षा शासनस्वर्मुगाक्षी सिद्धायिकानाम्नी श्रीमन्महावीरजिनशासनदेवतेव समेता समागता किमु । किं कर्तुमिच्छुः । एतदत्रैव काव्ये प्रोच्यमानं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुः कथयितुकामा । किं तदेवाह—हे सूर, अहं शासनसुरी अभ्यासे श्रीमत्समीपे एव तस्थुषी स्थितवती सती अनिशं निरन्तरमहोरात्रमेव ते तव महावीरपट्टधारिणः सूरैः सांनिध्यं सत्यवसरे श्रीमत्समीहितकार्यं विधास्यामि करिष्यामि । दुष्करमपि भवदीप्सितार्थं साधयिष्यामीति ॥

प्रशान्तै रसैः पूरितः पूर्णकामो भवांस्तूर्णमेवास्तु मद्भुवनान्दी ।

सकान्तोत्तमाङ्गे स्थितः पूर्णकुम्भः पुरोऽभूद्वितीव प्रभोर्वक्तुकामः ॥९४॥

सह कान्तेन भर्त्रा विद्यते या सा तस्याः सकान्तायाः सधवायाः स्त्रिय उत्तमाङ्गे मस्तके स्थितः पूर्णकुम्भो जलभरप्लुतकलशः प्रभोः सूरैः पुरोऽग्रे अभूत्संजातः । अभिमुखः समाजग्निमानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोहीरविजयसूरैरित्यमुना प्रकारेण वक्तुकामः कथयितुमना इव । इति किम् । हे मुनीन्दो, अवान्मद्वदहमिव प्रशान्तैः प्रकर्षेण शान्तनामभिरुपशमलक्षणे रसैः सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः प्रशस्यत्वान्सहानन्ददायित्वाच्च बहुत्वम् । पूरितः परिपूर्णाभूतः भूतः सन् तूर्णं शीघ्रमेव पूर्णः सिद्धा निष्पन्नाः कामा अभिलाषा यस्य तादृशोऽस्तु भवतात् । यथाहं रसैः उल्लिखैः पूरित आकण्ठपीठं पूर्णः भूतमध्यः संजातोऽत एव पूर्णो जलादानलक्षणः कामो मनोरथो यस्य ॥

प्रणीयाभिभूतिं सुधास्रःस्रवन्तीतमीकान्तमुख्याखिलद्वेषभाजाञ् ।

किमु श्लोक एतस्य मूर्तः समेतो दधि व्यालुलोके पुरस्तादनेन ॥९५॥

अनेन हीरगुरुणा पुरस्तादग्रे दधि पयः सुतो व्यालुलोके वीक्ष्यते स्म । संमुखं दधि दृष्टमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तस्तनूमानेतस्य सूरैः श्लोको यथाः किमु समेत आगत इव । किं कृत्वा । सुधा पीयूषम्, स्रवन्ती गङ्गा, तमीकान्तश्चन्द्रः, मुख्याः प्रकृष्टा येषामादौ वा तादृशा अखिलाः समस्ताः श्वेत्यश्रिया द्वेषभाजो वैरिणः प्रतिपक्षाः तेषामभिभूतिं पराभवं प्रणीय विधाय कृत्वा ॥

यदोजोजितः किं प्रसत्त्यै समेतः पुरो हव्यवाहो गलद्वायुवाहः ।

यतीन्द्रेण गर्जन्गजोऽप्यालुलोके प्रयाणे प्रभोर्दुन्दुभिं दन्ध्वनन्किम् ९६

यतीन्द्रेण सूरिणा पुरोऽग्रे हव्यवाहो वहिरालुलोके निरीक्षितः । किंभूतः । गलन्निरञ्छन् वायुवाहो धूमो यस्मात् । निर्धूम इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—येन सूरिणा ओजसा स्वबलप्रतापेन कृत्वा जितो भूतः सन् प्रसत्त्यै अर्थात्सूरैः प्रसन्नीकरणार्थं किं समेतः सखागत इव । अपि पुनः सूरिणा गर्जन् वृंहितं विदधत् गर्जारवं गलगजितं कुर्वाणः गजो वारणो हस्ती । पुर आगच्छन्नित्यध्याहार्यम् । आलुलोके ददृशे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोः प्रयाणे पूर्वदिक्प्रस्थाने दन्ध्वनन्नतिशब्दायमानो दुन्दुभिरेव निःस्वान इव भेरीव वा पटहो वा । 'भेरीदुन्दुभिरानकः' इति त्रयोऽप्येकार्था हैम्याम् । शास्त्रान्तरे पृथगर्थो अपि

त्रयो दृश्यन्ते । भेरी प्रसिद्धा मदनभेर्यपि । दुन्दुभिर्निःस्वानो राजवाद्यमानकः पटहः
'ढोल' इति प्रसिद्धः ॥

त्वयारोपि केतुः कुले योगभाजाभितीवालपन्तं क्रणैः किंकिणीनाम् ।

स्वमूर्ध्ना विहायः स्पृशन्तं स केतुं मुमुक्षुक्षितीशोऽक्षिलक्षीचकार ९७

स मुमुक्षुक्षितीशः । निजाग्रे इति ज्ञेयम् । केतुं ध्वजमक्षिलक्षीचकार लोचनगोचरी-
कुरुते स्म पश्यति स्म । किं कुर्वन्तं केतुम् । स्वमूर्ध्ना निजमस्तकेन कृत्वा विहायो
व्योमाङ्गणं स्पृशन्तं संघट्टयन्तम् । अम्बरचुम्बितमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—किंकिणीनां
क्षुद्रघण्टिकानां क्रणैः रणज्झणितिशब्दैः इत्यालपन्तं गुरुं प्रति कथयन्तमिव । इति
किम् । हे प्रभो, त्वया योगभाजां योगीन्द्राणां कुले वंशे केतुः पताका ध्वज आरोपितः ॥

सशब्दानिवाब्दान्पतद्धारिधारान्ध्वनद्भृङ्गनिर्यद्रसान्द्रसालान् ।

निरिक्ष्य क्षणं नृत्यतः क्लृप्तकेकारवान्केकिनो दक्षिणानैक्षतासौ ॥ ९८ ॥

असौ सूरिर्दक्षिणान्दक्षिणदिग्विभागवर्तिनः अनुकूलान्वा केकिनो मयूरानैक्षत आलो-
कते स्म । कतिचन शकुना दक्षिणविभागस्थिता सिद्धिविधातारो भवन्ति । यदु-
क्तम्—'जम्बूवासमयूरो भारद्वाहेतहेवनउलेअम् । दंसणमेव पसत्थं पयाहिणे सव्वसं-
पत्ती ॥' इति । किंभूतान्केकिनः । क्लृप्तो विरचितः कृतः केकारवो यैस्ते । केकिनां वा
केका शुक्लापाङ्गोऽस्य वा केका । अत एव केका विद्यते येषां ते केकिनः तान् । पुनः
किं कुर्वतः । नृत्यतः ताण्डवमाडम्बरयन्तः । किं कृत्वा । क्षणं निमेषमात्रं सान्द्रान्
सच्छायायान् सल्लेहान्वा सालान्द्रमान्द्रक्षान्निरीक्ष्य दृष्ट्वा । किंभूतान् सालान् । ध्वनन्तो
मङ्कुगुञ्जारवं कुर्वन्तः शब्दायमाना भृङ्गा असरा येषु । पुनः किंभूतान् । निर्यन्तोऽविरलं
निर्गलन्तो निःसरन्तो रसा मकरन्दा येभ्यस्तान् । कानिव । अवदानिव । यथा सह-
शब्दैर्गर्जरवैर्वर्तन्ते ये ते तथा । पतन्त्यो निरन्तरं निर्यान्त्यो वारिणां जलानां धारा
रेखाकारा दृश्यो येभ्यस्तादृशान् । मेघानालोक्य मयूरा नृत्यन्ति ॥

अवामेव वामाप्यमुष्यानुकूलं चुकूज द्रुमे भक्ष्यमादाय देवी ।

त्रिलोकीमिवाकारयन्मेवनायै विभोर्दक्षिणीभूय चाषोऽप्युवाच ॥ ९९ ॥

देवी कृष्णवटिकापोतक्री नामा । यदुक्तं सुरथोत्सवकाव्ये—'पोतकीदयितपिच्छस-
च्छविः' इति । लोके तु देवीति प्रसिद्धा । निष्कण्टकहरिततरौ स्थिता उपविष्टा सती
वामापि सव्यभागवर्तिन्यपि अथ च वामाप्रतिकूलप्युच्यते । परं नात्र परमार्थतः ।
अवामेव दक्षिणेव अनुकूलेव वेत्यर्थः । अमुष्य सूरैरनुकूलमायतौ हितसूचकं चुकूज
बभाषे । वर्धमानस्वरान् कृतवती । किं कृत्वा । भक्ष्यसमूहं 'चूणि' इति प्रसिद्धमा-
दाय गृहीत्वा भक्षयित्वा । अपि पुनः चाषः किंकीदिविः नीलपक्षिविशेषः । लोके 'नी-
लवास' इति प्रसिद्धः । दक्षिणीभूयापसव्यभागवर्ती भूत्वा तोरणं बद्धा प्रदक्षिणीकृत्य

वा उवाच ब्रूते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विभोः सूरेश्वरस्य सेवनायै सेवाकरणार्थं त्रिलोकीं विश्वत्रयीमाकारयन्निव ॥

ममाग्रे द्विजिह्वा यथा यान्ति दूरे तवापीति बभ्रुर्वदन्दक्षिणोऽभूत् ।

तवाधीश वामोऽप्यवामोऽस्तु मद्वत्स्वरस्य स्वरः किं ब्रवीतीव वामः १००

बभ्रुर्नकुलः प्रभोर्दक्षिणोऽनुकूलो दक्षिणदिग्भागभागभूत् । वामादक्षिणदेशे जगामे-
त्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति वदन्कथयन्निव । इति इयं गर्भितोत्प्रेक्षा । इति किम् । हे
अधीश, यथा ममाग्रे द्विजिह्वा भुजगा दूरे यान्ति तथा तेनैव प्रकारेण तवाप्यग्रे द्वि-
जिह्वा द्विरसना मत्सरिणः खलाः पिशुना दूरे यान्तु । पुनः स्वरस्य गर्दभस्य स्वरः ।
उत्प्रेक्ष्यते—इति ब्रवीतीव भाषते इव । किंभूतः । वामः सव्यभागवर्ती । इति किम् ।
हे अधीश, तव वामोऽपि प्रतिकूलोऽपि मद्वदहमिवावामोऽस्तु अनुकूलो भवतात् ॥

यतो जन्मिनामीप्सितं शर्म दत्से प्रभो भिन्धि नस्तेन तिर्यक्त्वदुःखम् ।

इतीव स्म विज्ञप्यते तित्तिरैणैः स सव्यापसव्योद्भवद्भानयानैः ॥ १०१ ॥

तित्तिराः स्वरकोणाः । लोके 'गणेश' इति प्रसिद्धाः । तथा एणा मृगाः हरिणास्तैः
सव्यापसव्ययोर्वामदक्षिणयोरुद्भवन्ति प्रकटानि जायमानानि यानि ध्वानाः शब्दाः तथा
यानानि गमनानि तैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—स सूरिरिति विज्ञप्यते स्म । तस्य प्रभो-
रिति विज्ञप्तिर्विधीयते स्म । इति किम् । हे प्रभो, यतः कारणात्त्वं जन्मिनां प्राणिना-
मीप्सितं मनोवाञ्छितं शर्म सुखं दत्से ददासि तेन कारणेन त्वं नोऽस्माकं तिर्यक्त्वस्य
तिर्यक्त्वेन वा यदुःखं कष्टमसुखं वा भिन्धि भेदय नाशयेति ॥

व्यपोहैकदृक्त्वं त्वमस्मद्विगानं रसन्तीति किं वायसास्तस्य वामाः ।

शुभायामरी भैरवा वाभ्युपेताप्यवामाभवद्भैरवी निःस्वनन्ती ॥ १०२ ॥

वामाः सव्ये भागे वर्तमाना वायसाः काकाः । उत्प्रेक्ष्यते—इति रसन्ति किम् इत्थं
वदन्तीव । इति किम् । हे प्रभो, त्वमस्मद्विगानमस्माकमपवादं लोके निन्दाकारि
एकदृक्त्वं काणक्षत्वं धूर्ततामित्यपि ध्वनिः । व्यपोह निराकुर । अपि पुनः निःस्वनन्ती
शब्दायमाना भैरवी पक्षिविशेषः । लोके 'भैरव' इति प्रसिद्धा अवामा दक्षिणा अ-
नुकूला अभवत्संजाता । उत्प्रेक्ष्यते—शुभाय कल्याणकरणार्थं भैरवी भवानीनामा
भवानीत्यभिधाना अमरी देवी वाभ्युपेता समागता ॥

अमुष्य मुख्याः शकुनाः परःशताः परेऽप्यभूवञ्शुभशंसिनः पथि ।

तदर्थसिद्धेरुपगन्तुकायाश्चिह्नानि किं प्राक्प्रकटीभवन्ति ॥ १०३ ॥

अमुष्य श्रीहीरसूरैः पथि मार्गे शुभशंसिनः शुभोदरकथयितारः परेऽन्येऽपि पुर-
वनसंबन्धिनः परःशताः शतशः मुख्याः प्रशस्या अभूवन्संजज्ञिरे । उत्प्रेक्ष्यते—
उपगन्तुकाया आगमनशीलायाः । भविष्यन्त्या इत्यर्थः । 'आगमने गमनार्थाः समभ्यु-

पाङ्गुः पराः कथिताः' इति क्रियाकलापे । तदर्थसिद्धेस्तस्य सूरैरर्थसिद्धेः कामितकार्थनिष्पत्तेः प्राक् पूर्वं प्रकटीभवन्ति प्रकाशानि जायमानानि चिह्नानि किलक्षणानीव । शकुनशब्दः पुनपुंसके दृश्यते ॥

वाचोऽनुविम्बाभिरिवाङ्गनाभिराशीर्भिरध्वन्यभिनन्द्यमानः ।

महोदयोदर्कविधायिनो धिया विमृश्य सूरिः शकुनान्पुरोऽचलत् १०४

सूरिस्तपागच्छनायकः महानतिशायी उदयो मोक्षश्च स एवोदर्क उत्तरकालजं फलं तं विदधति कुर्वन्तीत्येवंशीलान् शकुनान् धिया खबुद्ध्या विमृश्य विचार्य पुरोऽग्रे अचलच्चाल प्रतिष्ठते स्म । किं क्रियमाणः । अध्वनि प्रस्थानमार्गे अङ्गनाभिः श्राद्धवधूभिराशीर्भिर्मङ्गलशंसनवाणीभिरभिनन्द्यमानः स्तूयमानः । उप्रेक्ष्यते—अङ्गनाभिर्वाचो वाग्देवताया अनुविम्बाभिः प्रतिकृतिभिरिव । सरस्वतीदेवीप्रतिविम्बाभिरिव ॥ इति हीरविजयसूरेः प्रार्ची दिशं प्रति प्रस्थितौ शुभशकुनानि ॥

द्विवेललीलाप्रविसारिवेलापयोभुजाभ्यां परिरभ्य भूम्ना ।

मत्तेभयानामिव वल्लभेनाम्भोराशिना स्वाङ्गमवाप्यमानाम् ॥ १०५ ॥

महीयसीं नाम महीं खवन्तीं विजृम्भिहैमाञ्जरजःपिशङ्गाम् ।

वेणीमिव स्वर्णमयीं नदीशनेमीन्दिरायाः प्रभुरुल्लङ्घे ॥ १०६ ॥

प्रभुर्हीरसूरिः वहीं नाम खवन्तीं नदीमुल्लङ्घे उत्तरति स्म । किलक्षणाम् । महीयसीमतिशयेन महतीम् । महत्प्रमाणामित्यर्थः । पुनः किलक्षणाम् । विजृम्भनां विकसनशीलानां हेमानां काञ्चनसंवन्धिनामञ्जानां कमलानां रजोभिः पीतपरागैः कृत्वा पिशङ्गां पीतवर्णीं संजाताम् । उप्रेक्ष्यते—नदीशनेमीन्दिरायाः । सरित्पतिमेखलालक्ष्यभूमीश्रिया इत्यर्थः । स्वर्णमयीं काञ्चनरचितां वेणीं स्त्रीशिरोरुहाभरणं संयतानां केशानामुपरि धीयते । केशाः संयतास्तन्मध्ये क्षिप्यते वा सा स्वर्णमयी प्रलम्बा गजशुण्डाकारा वेणीत्युच्यते । स्वर्णवेणीति शिरोरुहभूषणमधुना दक्षिणस्यां श्रूयते दृश्यते च । महीं किं क्रियमाणाम् । अम्भोराशिना समुद्रेण स्वाङ्गं निजोत्सङ्गमवाप्यमानाम् । केन कामिव । वल्लभेन मत्तेभयानामिव । यथा स्वकान्तेन मदोदुरसिन्धुरगमना स्वप्राणप्रिया स्वक्रीयक्रोडं प्राप्यते । किं कृत्वा । द्वे वेले वारौ यत्र तद्विवेलं लीलया स्वभावेन नोपहितः विश्वस्वामावृतः प्रकर्षेण विसरणशीलयोर्विस्तारिण्योर्वेलयोरम्भोवृद्धयोः पयसी सलिले एव भुजे बाहू ताभ्यां कृत्वा भूम्ना बाहुल्येन परिरभ्य वपुषोरेकीकरणेन गाढमालिङ्ग्य ॥

कापि स्थपुटितां कापि द्रुमद्रोणीसमाकुलाम् ।

कचिद्बहद्वाहिनीकां किराताकलितां कचित् ॥ १०७ ॥

द्विपद्वीपिद्विपद्वेष्ट्यमुख्यजन्तूचितां क्वचित् ।

पदवीं क्षोणिभृतक्षोणीमिव सूरिरलङ्घयत् ॥ १०८ ॥

सूरिः क्षोणिभृतः पर्वतस्य तल्लटदेशाधिपस्य च क्षोणीं गह्वरोर्वीं भूमीमिव पदवीं सारगमलङ्घयत् अतिक्रामति स्म । किंभूताम् । कापि कुत्रापि प्रदेशे स्थपुटत्वं विषमो-
न्नतत्वं संजातमस्यामिति स्थपुटिता तथा कापि स्थाने द्रुमाणां द्रोणीभिर्विविधतरुश्रे-
णीभिः समाकुलां निर्भरभृत्याम् । द्रोणिशब्दः श्रेणीवाची । यथा चम्पूकथायाम्—‘भिल्लीप-
ल्लवशङ्कया विचिनुते सान्द्रद्रुमद्रोणिषु’ इति । ‘द्रोणी तु नीवृतिभेदे शैलसंधौ च’ इत्यने-
कार्थः । तथा ‘द्रोणिरिदन्तोऽपि समूहार्थवाची च’ इति तदवचूर्णिः । तथा क्वचित्कुत्र-
चिद्देशे बहन्त्यो महीधरकुण्डादिभ्यो निःसरन्त्यो वाहिन्यो नद्यो यत्र । पुनः क्वचिद्ब्रह्म-
रादिषु नीरागमननिम्नप्रदेशादिषु वा कोतरा इति प्रसिद्धेषु किरातैर्भिन्नैराकलितां संयु-
क्ताम् । पुनः क्वचिदरण्यादौ द्विपा मत्तमतङ्गजा द्वीपिनो व्याघ्रचित्रकाया द्विपद्वेष्ट्याः
केसरिणस्त एव मुख्याः प्रकृष्टाः प्रमुखा वा ये जन्तवो वनसत्त्वास्तेषामुचितां निवास-
योग्याम् ॥ युग्मम् ॥

क्रमाद्वटदले फुल्लाम्भोजे भृङ्ग इवागमत् ।

स्तम्भतीर्थस्य सङ्घेन तस्मिन्प्रभुरवन्द्यत ॥ १०९ ॥

क्रमाद्विहारपरिपाद्या प्रभुर्हीरसूरिवटदले ‘बडदल्लु’ इति नाम्ना प्रसिद्धे पुरे आगम-
दाजगाम । क इव । भृङ्ग इव । यथा फुल्ले विकसिते अम्भोजे कमले मधुकर आग-
च्छति । पुनस्तस्मिन्वटदलाग्रामे प्रभुः स्तम्भतीर्थसंघेन साधुसाध्वीश्राद्धश्राद्धीरूपजनस-
मुदायेन अवन्द्यत समेत्य नमस्कृतः ॥

भक्तिप्रह्वमना जिनाधिपमताधिष्ठायिनी निर्जरी

तस्मिन्नक्तमवाकिरद्व्रतिपतिं नीरन्ध्रमुक्ताफलैः ।

श्रुत्वा तीर्थकरानुकारिभगवन्माहात्म्यमुत्कण्ठिता ।

विद्मो वन्दितुमागताः प्रियतमा राज्ञः स्वतारोत्करैः ॥ ११० ॥

तस्मिन्वटदलाग्रामे भक्त्या सेवाभक्त्या ग्रहं नम्रं प्रवणं निर्भरं वा मनोमानसं य-
स्यास्तादृशी जिनमतस्य श्रीजिनशासनस्य अधिष्ठायिनी अधिष्ठापिका निर्जरी सिद्धा-
यिका नाम्नी देवता नक्तं रात्रौ । कलौ प्रायो देवतानां नक्तमेवागमस्य दृश्यमानत्वात्
श्रूयमाणत्वाच्च निशि । नीरन्ध्रैर्निच्छिद्रैर्वधरहितैः । रक्षितैरित्यर्थः । मुक्ताफलैर्मौक्तिकैर्नैति-
पतिं श्रीहीरविजयसूरिमवाकिरद्वर्षयामास । ‘अवाकिरन्वयोद्वृद्धास्तं लाजैः पौरयो-
धितः’ इति रघुवंशे । तत्र वयमेवं विद्मो जानीमः । उत्कण्ठिता उत्कण्ठाकलिता
उत्सुकीभूता सती स्वताराणां स्वशरणीभूतानामात्मपरिवारीभूतानां तारकारणां तारका-
भिधत्तेवकानां ज्योतिषां चोत्करैः समूहैः सार्धं राज्ञः कस्यचिन्नृपस्य चन्द्रस्य वा प्रिय-

तस्मा राज्ञी रात्रिर्वा वन्दितुं नमस्कर्तुमागता समेतेव । किं कृत्वा । तीर्थंकरं श्रीमज्जिन-
राजमनुकरोति युगप्रधानादिमहिम्ना सदृशीभवति इत्येवंशीलं भगवतः सूरिन्द्रस्य
माहात्म्यं महिमानं श्रुत्वा समाकर्ण्य ॥

तत्रानन्ध जनान्दिनानि कतिचिद्वाच्यमाधीशिता

वर्त्मातिक्रमितुं क्रमात्प्रवृत्ते भूमेः समं साधुभिः ।

वाचा चन्द्रिकया तमः प्रशमयन्नेत्रांश्चकोरान्पृणं-

स्ताराणां निवहैर्विहायस इव श्यामाङ्गनानायकः ॥ १११ ॥

वाच्यमाधीशिता मुनिनायकः क्रमादनुक्रमेण साधुभिः स्वकपारिपार्श्वकश्रमणैः समं
सार्धं भूमेर्धरित्र्या वर्त्म पन्थानमतिक्रमितुमुल्लङ्घयितुं प्रवृत्ते प्रचक्रमे प्रवृत्तः । किं
कृत्वा । तत्र वटदलाग्रामे कतिचित्क्रियन्ति दिनानि वासरान् यावज्जनान् भविकलो-
कानानन्ध प्रह्लाथ प्रमोदमेदुरान्विधाय । सूरिः किं कुर्वन् । वाचा स्ववचनविलासेन
कृत्वा तमोऽज्ञानं पापं वा प्रशमयन्निष्ठापयन् शान्तिं नयन् वा । च पुनर्नेत्रान्नयनानि ।
नेत्रशब्दः पुंस्त्रीबलङ्गयोः । पृणन् संप्रीतिमुत्पादयन् । क इव । श्यामाङ्गनानायक इव ।
यथा चन्द्रस्ताराणां ज्योतिषां निवहैर्व्रजैः सह विहायस आकाशस्य वर्त्माध्वानमति-
क्रमितुं प्रवर्तते सोऽपि शशी चन्द्रिकया कौमुद्या जनानानन्दयति । तथा तमो निशान्ध-
कारं प्रशमयति तथा चकोरांश्च प्रीणाति । श्यामा रात्रिः सैवाङ्गना स्त्री तस्या नायकः
एतावता विधुः । ‘यामिनीकामिनीपतिः’ इत्यादिपदानि काव्यकल्पलतावृत्तौ । अथ च
श्यामा षोडशवार्षिकी तरुणी सैवाङ्गना पाणिगृहीत्री तस्या नायकः पतिः । सर्वेषां स्मर-
शास्त्राणां रहस्यानां वेत्ता अनुभविता च नायकः प्रोच्यते । सोऽपि कचित्कार्यवशा-
द्गतो निवृत्तो वा सज्जनैः समं भूमेर्मार्गमुल्लङ्घते स्वतादृग्विधचातुर्यचर्यनायिकामयीभूतम-
नस्त्वाद्वा वाचान्यानप्यानन्दयति यो हार्दिकं वेत्ति तामेव वादयामि इति विरह-
रूपं तमः पापमपि प्रशमयति भाविस्वभामिनीसंयोगत्वात् स्निग्धत्वाच्च परनेत्राण्यपि
प्रीणयति ॥

कचित्पवनवर्त्मवन्मृगपतङ्गचित्रान्वितं

कचिन्मदनमेदुरं कुलमिवैणकान्तादृशाम् ।

कचित्कुलनिकेतवत्सहदेवमीमारुजं

विराटनृपगेहवत्कचन कीचकैरञ्चितम् ॥ ११२ ॥

कचिन्नृपसमीपवद्विविधवाहिनीमण्डितं

कचित्कलितमभिविद्धवनवच्छिखिस्फूर्जितैः ।

करीन्द्रकुलसंकुलं कचिद्विन्ध्यभूमीध्रव-

द्यलङ्घत यतिक्षितिद्विजपतिः स वर्त्म क्रमात् ॥ ११३ ॥

स यतिनां श्रमणानां मध्ये क्षितेः क्षोण्या द्विजपतिश्चन्द्रः । राजेत्यर्थः । क्रमाद्विहारपरि-
पाद्या वर्त्म मार्गं व्यलङ्घ्य अतिक्रान्तवान् उलङ्घयामास । किंभूतं वर्त्म । क्वचित्प्रदेशे
मृगाः कुरङ्गाः उपलक्षणादन्येऽपि वन्यश्वापदाः तथा चित्राः सर्पजातिविशेषाः लोके
'चित्रडि' इति प्रसिद्धा उपलक्षणात्तत्तज्जातयश्च । अथवा चित्रा आखुकपर्णी इन्द्रवा-
रुणी वा उपलक्षणात्सर्वोषधयस्ताभिरन्वितम् । किंवत् । पवनवर्त्मवद्यथा आकाशं मृगो
मृगशीर्षं पतङ्गः सूर्यः तथा चित्रा नक्षत्रं तैर्युतम् । 'चित्रादन्त्यां सुभद्रायां नक्षत्रौष-
धिभेदयोः । दिव्यस्त्रीसर्पयोराखुकपर्णी च' इत्यनेकार्थतिलके । पुनः किंभूतम् । मदन्तैर्म-
ण्डल इति नाम प्रसिद्धैः पादपैर्मन्दुरं भृतम् । किमिव । कुलमिव । यथा एणकान्ता
मृगाङ्गना हरिण्यस्तासां दश इव दशोऽतिचपलानि लोचनानि यासां तासां स्त्रीणां वृन्दं
मदनेन कंदर्पेणोपचितम् । पुनः किंभूतम् । सह सहदेवैरौषधिविशेषैस्तथा भीमैराम्बवे-
तसैः तथा अर्जुनैरर्जुननामवृक्षविशेषैर्वर्तते यत्तत् । किं च कुरुनिकेतवत् यथा कु-
रुणां कौरववंशीयनृपाणां पाण्डूनां राज्ञाम् । महत्वाद्बहुवचनम् । कुरोः पाण्डोर्नृपस्य वा
गृहं सह सहदेवो माद्रीनन्दनः भीमार्जुनौ कुन्तीसुतौ वृकोदरकिरीटिनौ तैर्युक्तम् ।
'सहदेवैरैकेन स्पर्धमाना अनेकैः सहदेवैः संगताः' इति चम्पूकथायाम् । पुनः किंभू-
तम् । क्वचित्कुत्रचिस्थाने कीचकैः सच्छिद्रवंशैः वेणुभिः अञ्चितं कलितम् । किंवत् ।
विराटनृपगेहवत् । यथा विराटराजस्य गेहं कीचकैर्विराटनृपपत्न्याः सुदेष्णायाः शतस-
होदरैः कलितं सहितम् । पुनः किंभूतम् । क्वचित्प्रदेशे विविधा लघुवृद्धादयो बाहिन्यो
नक्षस्ताभिर्मण्डितम् । किंवत् । नृपसमीपवत् । यथा राज्ञः पार्श्वे विविधाभिर्गजहयस्थ-
पदातिप्रमुखाभिः सेनाभिर्भूषितं भवति । 'बाहिनी सिन्धुसैन्ययोः' इत्यनेकार्थः । पुनः
किंभूतम् । शिखिनां मयूराणां विविधैः स्फूर्जितैः केकारवताण्डवक्रीडादिविलासैः
कलितम् । किंवत् । अग्निविद्भवनवत् यथा अग्निहोत्रीयाणां गृहं शिखिनां दक्षिणाग्निह-
वनीयगार्हपत्याभिधानां त्रयाणां हुताशनानां विस्फूर्जितैः स्फूर्तिभिः कलितं भवेत् ।
पुनः किंभूतम् । करीन्द्राणां यूथनाथानां कुलैर्वंशैः संकुलं व्याप्तम् । किंवत् । विन्ध्यभू-
मीध्रवत् । यथा विन्ध्याचलो गजेन्द्रकुलैः संकुलो भवति ॥ इति गन्धाराकमिपुरमध्य-
मार्गवर्णनम् ॥

विवुधपतिपुरं श्रीबन्धुरारब्धलीलं

जिनपदकृतशोभं संचरच्छेतदन्ति ।

तटमिव वरटाया वल्लभः स्वर्वहाया

अकमिपुरसमीपं भूषयामास सूरिः ॥ ११४ ॥

सूरिकमिपुरसमीपमहम्मदावादनगरपार्श्वे भूषयामासालं करोति स्म । किंभूतः । वि-
बुधपतीनां कोविदपुरंदराणां पुरंध्रीभिः शुक्रकामिनीभिः बन्धुराः तरुणकामिजनमनो-
हराः आरब्धाः प्रक्रान्ता लीला वनवसन्ततरुकुसुमावचयहल्लीसकगाननृत्यान्दोलनादि-

विलासा यत्र । पुनः किंभूतम् । जिनानां तीर्थकृतां पदैः स्थानैः । प्रासादैरित्यर्थः । कृता विहिता शोभा यत्र । पुनः किंभूतम् । संचरन्तः सम्यक् समीचीनं स्वरोचमान-सल्लक्ष्मप्रसुखं चरन्तो भक्षयन्तः । अथ वा सम्यक् स्वहस्तिनीभिश्चरमस्वर्णपट्टबन्धपञ्च-शब्दवादित्रिविविधविरुदावलीप्रकटनपूर्वकं प्रचलन्तः श्वेता भद्रजातिजातत्वेनोज्ज्वला दन्तिनो गजेन्द्रा यत्र । क इव । यथा वरटाया राजहंसाः । 'वारला वरला हंसी वारटा वरटा च सा' इति हैम्याम् । तथा 'नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी' इति नैषधे । वल्लभो भर्ता राजहंसः । स्वर्वहाया गगननिम्नगाया गङ्गायास्तटं तीरं भूषयति । किलक्षणं तटम् । विबुधपतिः सुरेन्द्रस्तस्य पुरंध्रीभिः पत्नीभिः कमनीयप्रक्रान्तजलजन्मोपचयम-ज्जन्मज्जनादिजलविला यत्र । पुरंध्रीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा 'अखिलपुरपुरंध्रीने-त्रनी-' इति नैषधे । तथा जिनस्य विष्णोस्त्रिभिस्ताराहृषैः पदैः कृता निमिता शोभा यत्र । अथ वा जिनपदे आकाशे विरचिता श्रीर्थेन । एतावता गगनगङ्गेत्युपपन्नम् । तत्रैव च शक्रकान्तानामुपलक्षणात्सुराङ्गनानां च जलक्रीडाया औचित्यं । तथा संचरन् जलपानाद्यर्थमागच्छन्नैरावणो यत्र ॥

प्रभोरागमनोदन्तः प्रससार पुरान्तरे ।

चान्दनीय इवामोदः क्षितौ मलयभूभृतः ॥ ११५ ॥

प्रभोर्हीरसूरेरागमनस्यापादावधारणस्योदन्तः प्रवृत्तिः समाचारः पुरान्तरे अकमिपु-रमध्ये प्रससार विस्तरति स्म । क इव । आमोद इव । यथा चान्दनीयः श्रीखण्डद्रुम-संबन्धी परिमलः मलयाचलस्य आषाढभूधरस्य क्षितौ भूमौ प्रसरति ॥

विज्ञायागमनं यतिक्षितिपतेरामोदमेदखितां

प्राप्ताः पौरपरम्परा मधुक्रतोर्व्यूहा इवोर्वीरुहाम् ।

गन्तुं संमुखमस्य नश्यदतनोः सज्जीवभूवुस्ततः

श्राद्धा राजगृहोद्भवा इव मृगारातिध्वजस्यार्हतः ॥ ११६ ॥

ततस्तदागमनश्रवणानन्तरं पौरपरम्परा नागरिकपङ्क्तयः अकमिपुरश्रावकप्रकराः नश्यन् द्वेषितया हन्तुं प्रतिश्रुतत्वेन मृतिभीतेः पलायमानः अतदुरनङ्गो यस्मात् । 'अतनुता नवसम्बुदमाम्बुदम्' इति नैषधे । तस्यास्य सूरेरभिमुखं गन्तुं सजीवभूवुः । के इव । श्राद्धा इव । यथा राजगृहे नगरे उत्पत्तिर्येषां तादृशाः श्राद्धाः मृगारातिः सिंहो ध्वजश्चिह्नं यस्य तस्यार्हतस्तीर्थकरस्य । महावीरदेवस्येत्यर्थः । संमुखं प्रयातुं सज्जा भ-वन्ति स्म । किंभूताः । आमोदेन हर्षेण मेदखितां पुष्टतामाह्लादोलसितरोमाञ्चकञ्चुको-पचितकायत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । किं कृत्वा । यतिक्षितिपतेर्मुनिराजस्य आगमनमकमिपु-रसमीपे समवसरणं विज्ञायावगत्य । क इव । व्यूहा इव । यथा मधुक्रतोर्वसन्तसमय-स्यागमनं प्रादुर्भावं ज्ञात्वा उर्वीरुहां वृक्षाणां समूहा आमोदमेदखितां परिमलोपचि-ततां प्राप्नुवन्ति ॥

पर्याण्यन्ते स्म बाहा हरिहरय इवोत्तीर्णवन्तः क्षमायां

काप्यप्राप्तावलम्बाम्बरचरणभवद्भूमनिर्वेदभाजः ।

शृङ्गार्यन्ते गजेन्द्रा गिरिगुरुवपुषः कृतसिन्दूरपूरा

विद्यः प्रातस्त्यसंध्याः कुनयसमुदवज्ज्योतिरस्तां नयन्त्यः ॥ ११७ ॥

बाहास्तुरगाः पर्याण्यन्ते स्म पत्ययनकलिताः क्रियन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कापि कस्मिन्नपि प्रदेशे अप्राप्तमनासादितमालम्बनमूर्ध्वोभवनोपवेशनादिस्थित्याधारस्थानं यत्र तादृशोऽम्बरे गगनाङ्गणे चरणं परिभ्रमणं तस्माद्भवन्नुत्पद्यमानो यो भूम्ना बाहुल्येन निर्वेदः खेदः तं भजन्तीति तादृशाः सन्तः क्षमायां पृथिव्यामवतीर्णवन्त आगता इन्द्राश्वा इव । 'शतैस्तमक्षगामनिमेववृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः' इति रघुवंशे शकस्याश्वानां बाहुल्यं न त्वेक एवोचैःश्रवाः । अथ वा सूर्याश्वा इव । पुनर्गजेन्द्राः शृङ्गार्यन्ते स्म रक्तपीताम्बरचरमरकिंकिणीघण्टागनेकशृङ्गारयुक्ताः निर्मायन्ते स्म । किंभूताः । गिरिः पर्वतस्तद्वदुत्तमहद्वपुः शरीरं येषाम् । पर्वतप्राया इत्यर्थः । पुनः किंभूताः । कृतो रचितः सिन्दूराणां शृङ्गारभूषणानां पूरः समूहो येषु । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातस्त्याः प्रातःकालीनाः संध्या इव । किं कुर्वन्त्यः । कुनयानां शाक्यादीनां कुमतानां वा समुदायो गणः स एव ज्योतिर्ग्रहनक्षत्रतारकादिस्तदस्तां नाशं नयन्त्यः प्रापयन्त्यः ॥

भूम्या व्योमेर्ध्वयेवाधृषत रविरथाः पद्महस्तैः श्रिताङ्गाः

कैश्चित्सज्जीक्रियन्ते कनकमणिमयाः सत्तुरङ्गाः शताङ्गाः ।

पङ्क्तिः पादातिकानां विविधमणिगणालंकृतीरुद्वहन्ती

राभस्यादस्पृशन्ती भुवमपि सुमनःश्रेणिवत्सज्जति स्म ॥ ११८ ॥

कैश्चित्सुरैः सन्तः शोभनास्तुरङ्गा अथा येषु तादृशाः शताङ्गाः स्वन्दना रथाः सज्जीक्रियन्ते । किंभूताः । कनकं स्वर्णं मणयो रत्नानि प्रचुराणि प्रधानानि वा येषु । पुनः किंभूताः । पद्महस्तैः क्रीडार्थं हस्ते गृहीतकदलैः, अथवा भाग्यवत्तया पद्ममाकृत्या हस्ते येषां तैः । श्रितोऽङ्गः सेवित उत्सङ्गो येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—व्योम्ना नभसा सममीर्षया स्पर्धोद्भूताभ्यसूयया भूम्या पृथिव्या रविरथाः सूर्यस्वन्दना इवाधृषत ध्रियन्ते स्म । तेऽपि कमलपाणिभिर्भास्करैरधिष्ठितमध्यास्तथा सुवर्णमणिसयाः शोभनाश्वाश्च । सूर्याणां बाहुल्याद्रथानामपि बाहुल्यम् । पुनः पादातिकानां पत्तीनां महेभ्यानां सार्धम् । सशस्त्राः पत्तिजना भवन्त्येव । अथ वा पादचारिणीमल्पद्रव्यत्वाद्वाहनाभावस्तेन चरणचारिता तेषां पङ्क्तिः परम्परा सज्जति स्म । किं कुर्वन्ती । विविधानामनेकप्रकाराणां मणिगणानामर्थात्स्वर्णरत्नराजीनामलंकृतीर्भूषणानि उद्वहन्ती धारयन्ती । पुनः किंभूता । राभस्यात्सूरिवदनैः सुवपुषाः शोणीमण्डलमध्यस्पृशन्ती न संघट्टयन्ती । किंवा ।

सुमनःश्रेणिवत् । यथा देवराजी भुवं न स्पृशति । पादाभ्यामिति शेषः । रत्नालं-
कारकृतीश्च धत्ते ॥

प्रसाधिकाभिः परमाणुमध्या विभूषिताङ्गयः पुपुषुर्विभूषाम् ।

निनंसयेवोपनता व्रतीन्दोर्भुजंगलोकाद्भुजगेन्द्रवध्वः ॥ ११९ ॥

प्रसाधिकाभिर्मण्डनकारिणीभी रमणीभिः । ‘प्रसाधिकालम्बितमप्रपादमाक्षिप्य का-
चिद्वरागमेव’ इति रघुवंशे । विभूषितं विचित्रपत्रवल्लीरचनाभिरलंकृतमङ्गं वपुर्लता
यासां तादृश्यः । परमाणुमध्याः कृशोदर्यः । ‘अध्यापयामः परमाणुमध्याः’ इति नै-
षधे । भूषां शोभां पुपुषुः चिन्वन्ति स्म । दधुरित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—भुजंगलोकान्नागभ-
वनाद्ब्रतीन्दोः सूरिन्द्रस्य निनंसया नन्तुमिच्छया उपनता आगता । ‘उपनमन्ति तमी-
शसमुत्सुकाः प्रणयतो वरितुं सकलाः श्रियः’ इति ऋषभनम्रस्तवे । ‘उपनमन्त्याग-
च्छन्ति’ इत्यवचूणौ । भुजगेन्द्रवध्वः नागनायकनायिका इव ॥

सुदृशां शिरसि व्यलीलसत्कलशाली मणिहेमनिर्मिता ।

स्तनवैभवंभर्त्सितेव यद्विजिगीषुः परमभ्युपेयुषी ॥ १२० ॥

सुदृशां सकान्तकामिनीनां शिरसि मस्तके कलशानां कुम्भानां माली श्रेणी व्यलील-
सत् विलसति स्म । शुशुभे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्तनानामर्थोत्तकामिनीकुचमण्ड-
लानां वैभवेन तुङ्गतादिशोभया भर्त्सिता अभिभूता सती तद्विजिगीषुस्तान् कुचान्
पुनर्व्याघुष्य विजेतुमिच्छुरभ्युपेयुषी । अभिमुखमुपेता समीपे समागता वा ॥

विहायोङ्गणालिङ्गिगेहाग्रशृङ्गानिलालोककेतुकणार्त्तिकिणीभिः ।

पुरी प्रेक्ष्य सूरिं किमायान्तमन्तर्भवत्प्रीतिरातन्तनीतीव गीतिम् १२१

आयान्तं लयान्तिकं समागच्छन्तं सूरिं हीरगुरुं प्रेक्ष्य व्यालोक्य अन्तर्मध्ये अर्था-
भिजचित्ते भवन्त्युत्पद्यमाना प्रीतिः प्रमोदो यस्यास्तादृशी पुरी अहम्मदावादाभिधाना
नगरी । गीतिं गानमातन्तनीति अतिशयेन छजतीव विस्तारयतीव वा । काभिः ।
विहायोङ्गणं गङ्गाजिरमालिङ्गन्याक्षिपन्तीलेवंशीलानां गेहानां महेभ्यभववानामप्राणि
उपरितनानि शृङ्गाणि शिखराणि तेष्वनिलैः पवनैरालोलाश्चञ्चला ये केतवो वैजयन्त्यः
पताकास्तेषां कणन्तीभिः शब्दायमानाभिः किंकिणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः शुशुभि
काभिः कृत्वा ॥

तुमुलैर्वन्दिवृन्दानां तूरस्वरकरम्बितैः ।

भूपरीरम्भकाम्भोदनिर्हृदैरिव निर्वभे ॥ १२२ ॥

वन्दिवृन्दानां मङ्गलपाठकप्रकराणां तुमुलैः कोलाहलैः बहुदानादानमनोरथैरुपर्युपरि
पततां व्याकुलशब्दैर्निर्वभे तस्मिन्नवसरे नितरां शुशुभे । किमुलैः तुमुलैः । तूराणा-
मनेकजातीयवादित्राणां स्वरैः शब्दैः करम्बितैः मिश्रीकृतैः । व्याप्तैरित्यर्थः । ‘अक्षवीजव-

लयेन निर्वभे' इति रघौ । उत्प्रेक्ष्यते—भुवो भूमीन्दिराया भूमिभासिन्याः परीरम्भकस्य
आलिङ्गनदायिनः अम्भोदस्य मेघस्य निर्वादैः गर्जारवैरिव ॥

केऽपि कुतूहलकलिता वन्दितुमितरे विलोकितुं केचित् ।

विकसितसुरतरुसुममिव मधुपास्तमुपागमन्पौराः ॥ १२३ ॥

केऽपि केचन नागरिकाः कुतूहलेन कौतुकेन कलिताः सहिता उत्सुककृता वा
सन्तः । पुनः इतरे केचित् अन्ये केचन तं गुरुं वन्दितुं नमस्कर्तुं सपरे केचन विलो-
कितुं तदुत्सवं द्रष्टुं पौरा नागरिकास्तं सूरिसुपागमन् सूरिसमीपे समागच्छन्ति स्म ।
के इव । मधुपा इव । यथा भ्रमरा विकसितं विजृम्भितं सुरतरोः कल्पवृक्षस्य सुमं
पुष्पम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । कुसुमसमूहमुपायान्ति ॥

प्रभोः पदाम्भोजयुगं पुरीजना नमस्कृतेर्गोचरतां नयन्तः ।

प्रमोदनिर्यन्नयनाश्रुविन्दुभिः श्रान्तं पथा संस्त्रपयन्ति मन्ये ॥ १२४ ॥

पुरीजना अहम्मदाबादावास्त्रिआद्भसमूहाः प्रभोः सूरैः पदाम्भोजयुगं चरणारविन्द-
द्वन्द्वं नमस्कृतेर्नमस्कारस्य प्रणामस्य गोचरतां विषयत्वं नयन्तः प्रापयन्तः सन्तः प्रमो-
देनानन्देन निर्यतां निर्गच्छतां नयनाश्रूणां लोचनसलिलानां विन्दुभिः कणैः कृत्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—पथा मार्गेण । मार्गोलङ्घनेनेत्यर्थः । श्रान्तं प्राप्तकृते संस्त्रपयन्ति स्नानं कार-
यन्तीव । मन्ये इवार्थे ॥

मुमुक्षुक्षोणीन्द्रक्रमकमलभक्तिप्रणमन-

क्रियाश्लिष्यत्पांसुप्रसरविलसद्भालफलकाः ।

व्यराजन्त स्वःश्रेयसविहितये क्लृप्ततिलका

व्यवस्यन्तः सिद्धिश्रियमिव वरीतुं पुरनराः ॥ १२५ ॥

मुमुक्षूणां संसारकारागारादात्मानं मोचयितुमिच्छन्तां सुनीनां मध्ये क्षोणीन्द्रो राजा
एतावता हीरसूरिस्तस्य क्रमकमलयोः पादारविन्दयोः भक्त्या प्रणमनं नमस्करणं तस्य
क्रिया व्यापारकालस्तस्यामाश्लिष्यतो मिलतो लगतः पांसोरर्थात्पदाम्बुजराजसः प्रसरो
विस्तारस्तेन विलसन्ति शोभमानानि भालफलकानि ललाटपट्टा येषां तादृशाः पुरनराः
अहम्मदाबादश्राद्धाः व्यराजन्त बभासिरे । उत्प्रेक्ष्यते—सिद्धिश्रियं सुकिलक्ष्मीं वरीतुं
परिणेतुं व्यवस्यन्तः प्रगल्भमानाः सन्तः । स्वःश्रेयसविहितये कल्याणकृतये । रसि-
कायितमानसैरिति पुरातनकाव्ये । क्लृप्तं रचितं तिलकं यैस्तादृश्य इव ॥ इति सूरैरक-
मिपुरसंमुखीकरणम् ॥

प्राघुणः श्रवणयोः श्रमणेन्दोरागमोऽकमिपुरोऽधिभुवोऽद्य ।

वह्निबीजविलसद्दलमालाशालिवारिजवतंसवदासीत् ॥ १२६ ॥

अथ सूरैः श्राद्धानां संमुखमहोत्सवभवनानन्तरं श्रमणेन्द्रोः यतिरजनिजानेरागमः

पादावधारणमकमिपुरस्याहम्मदाबादस्य अधिभूः स्वामी । 'अधिपस्त्वीशानो नेता परिवृढोऽधिभूः' इति हैम्याम् । साहिबखानस्तस्य श्रवणयोः कर्णयोः प्राधुणोऽतिथिरासीत् भवति स्म । साहिबखानेन सूरिसमागमनमाकर्णितमित्यर्थः । किंवत् । वह्निवीजस्य कनकस्य । 'कलधौतलोहोत्तमवह्निवीजान्यपि गारुडं गैरिकजातरूपे' इति हैम्याम् । विलसतां विकस्वरीभवतां दलानां पत्राणां मालया श्रेण्या शालते शोभते इत्येवं-शीलस्य वारिजस्य पद्मस्य वतंसवत् । यथा हैमाम्बुजावतंसः श्रवणयोः प्राधुणो भवेत् ॥

चतुरङ्गचमूचलनप्रसृतै रजसां निवहैर्हरितां दयितान् ।

सममाह्वयतीव पुराधिपतिर्यतिनाथनिनंसुरसौ प्रचलन् ॥ १२७ ॥

असौ साहिबखाननामा पुराधिपतिः राजनगरराजः रजसां रेणूनां निवहैः समूहैः हरितां दयितान् दिक्पालान् समं समकालमेवाह्वयति । अथ वा आत्मना समं सार्ध-माकारयतीव । अर्थात्प्रभुं नन्तुम् । किंभूतैः । चत्वारि चतुःसंख्याकानि वाजिवारण-रथपदातिरक्षणान्यङ्गानि अवयवा यस्यां तादृश्याश्चम्बाः सेनायाश्चलनेन प्रसृतैः प्रति-दिशं विस्तृतैः । असौ किंभूतः । यतिनाथं हीरसूरिं निनंसुर्नमस्कर्तुमिच्छुः सन् प्रचलन्प्रतिष्ठमानः ॥

तत्पुराधिपतिसाधुधरित्रीनाथयोः पथि युगं मिलति स्म ।

कौमुदीदयितनिर्जरराजाचार्ययोर्द्वयमिवैककराशौ ॥ १२८ ॥

तत्पुरस्याहम्मदाबादनगरस्याधिपतिः साहिबखानस्तथा साधूनामनगराणां मध्ये धरि-त्रीनाथो महीपतिः राजा तथोर्युगं युगलं पथि सूरिसमागमनमार्गे मिलति स्म एकत्र भवति स्म । किंनव । द्वयमिव । यथा एक एव एककः स चासौ राशिश्च मेषादिकः ए-कराशिस्तस्मिन् कौमुदीदयितश्चन्द्रः तथा निर्जराणां सुराणां राजा स्वामी पुरंदरस्तस्या-चार्यो बृहस्पतिः । 'शैशवावधि युःपुरुषस्य' इति नैषधे । तथोर्द्वन्द्वं मिलति ॥

नमति स्म मुनीश्वरं पुरीपुरहृतोऽमितभक्तिनिर्भरः ।

शिखरीव गरीयसीं श्रियं फलपङ्केः कलयन्निलातलम् ॥ १२९ ॥

न मीयते स्नेह्यमिता प्रमाणरहिता तादृश्या भक्त्या निर्भरः सोत्सुकः तादृशः पुरी-पुरहृतः राजनगराखण्डलः मुनीश्वरं नमति स्म । प्रभोः प्रणामं कृतवानित्यर्थः । क इव । शिखरीव । यथा फलानां सस्यानां पङ्केः धोरण्या गरीयसीमतिशुर्वी श्रियं शोभां कलयन्निवभ्राणो वृक्षः इलातलं भूमीमण्डलं नमति ॥

प्रेक्षप्रस्खलिताखिलाम्बरचरत्राते प्रणीते क्षणे

पौराणां प्रकरैः प्रवेशितमतिप्रीत्या पुरस्यान्तरं ।

आगृह्णानयति स्म तत्पुरपतिः सूरेश्वरं स्वान्गृहा-

न्नेतं संप्रतिकाश्यपीपतिरिव श्रीमत्सुहस्तिप्रभुम् ॥ १३० ॥

यस्मिन्पुरे पौरैः प्रभोः प्रवेशः कारितः तत्पुरस्याहम्मदावादनान्नो नगरस्य पतिः
स्वामी खानः एतं सूरेश्वरमाष्टव्याख्याग्रहं विज्ञप्तिं विधाय खान् गृहान्निजान् भवनान्
आनयति स्मानीतवान् । क इव । संप्रतिकाश्यपीपतिरिव । यथा संप्रति नामा का-
श्यपीपतिः पृथ्वीनाथः श्रीमन्तं सुहस्तिनामानं ग्रभुं सूरिं खान्सौधान्प्रत्यानिनाय ।
द्वावपि विशिनष्टि—एतं किंभूतम् । अतिप्रीत्याधिकप्रमोदेन पौराणां नागराणां प्रकरैर्द्वन्दैः
पुरस्याहम्मदावादस्य पाटलीपुत्रस्य नगरस्य च अन्तरे मध्ये प्रवेशितं प्रवेशं कारितमा-
नीतम् । कस्मिन्सति । प्रेक्षया विलोकनेन, अथ वा प्रेक्षार्थं दर्शनार्थं प्रस्खलिताः
कौतुकातिरेकातिस्थरीभूताः अखिलाः समस्ता अम्बरचराः सिद्धगन्धर्वविद्याधरदेवता-
दिका नभश्चारिणो निरन्तरगमनगामिनो यत्र तादृशे क्षणे महोत्सवे प्रणीते अर्था-
त्पौरैः कृते सति ॥

शृङ्गैरम्बरचुम्बिभिर्विदधतं विघ्नं विवस्वद्वतेः

प्रासादं त्रिदशार्चयेन् परमं प्रापय्य भूषाभरम् ।

भूमर्त्रेव हिरण्मयं प्रदलितप्रोन्मादिभावद्विषा

रम्योर्णायुमयं विनेयनिहितं तेनासनं शिश्रिये ॥ १३१ ॥

तेन सूरिणा रम्यं प्रशस्यमूर्णायुमयं कम्बलिकारूपमासनं विष्टरः शिश्रिये भेजे ।
किंभूतमासनम् । विनेयेन शिष्येण निहितं स्थापितम् । आस्तीर्णमित्यर्थः । केनेव । भूम-
र्त्रेव । यथा भूपतिना विशिष्टं वस्तु नीयते अर्थात् स्वस्वामिने नीयते प्राप्यते इति ।
विनेयाः सुसेवकास्तैर्निहितं हिरण्मयं सौवर्णमासनं श्रीयते । किंभूतेन सूरिणा राज्ञा
च । प्रदलिता हता प्रोन्मादिनो दुर्धरा भावा अन्तरङ्गाः, तथा प्रोन्मादी प्रकर्षेण उन्मत्तो
भाव आशयः स्वभावो वा येषां तादृशो द्विषो वैरिणो येन श्रितम् । किं कृत्वा । त्रिद-
शस्य देवस्य अर्चया प्रतिमयेत् । प्रासादं देवगृहं भूपतिनिकेतनं च । 'प्रासादो
देवभूपानाम्' इति हैम्याम् । परममतिशायिनं भूषाभरं शोभासमुदयं प्रापय्यार्थादात्म-
नैव लम्बयित्वा । प्रापय्येति कियारत्नसमुच्चये । प्रासादं किं कुर्वन्तम् । अम्बरमाकाशं
चुम्बत्यालिङ्गति स्वाग्रेः संघट्टयतीत्येवंशीलैः शृङ्गैरात्मीयशिशुरैः कृत्वा विवस्वतः
सूर्यगमनस्य विघ्नमन्तरायं दधतं कुर्वाणम् ॥ इति सूरैर्भूपगृहागमनोपवेशने ॥

उपायनीकृत्य मणीहिरण्यदुकूलदामाभरणादि भूमान् ।

कृताञ्जलिः संमदमेदुराङ्गः स भृत्यवत्कृत्यविदित्युवाच ॥ १३२ ॥

स भूमान् राजा साहिबखानः इत्यनुता प्रकारेण उवाच गुरोः पुरो बभाषे । किं-
भूतः । कृत्यसुचितानुचितकार्यं वेत्ति जानातीति । अवसरोचितवेतेत्यर्थः । पुनः
किंभूतः । संमदेन हर्षेण कृत्वा मेदुरसुपत्नीयमानमङ्गं वपुर्यस्य सः । पुनः किंभूतः ।
कृताञ्जलिः विहितहस्तद्वितययोजनः । किंवत् । भृत्यवत् । यथा भक्तः सेवकः कृताञ्जलि-
पुटः स्वस्वामिपुरो वक्ति । किं कृत्वा । मण्यो रत्नानि, हिरण्यानि सुवर्णानि, दुकूलानि

क्षोभाणि उपलक्षणादपराण्यप्यंशुकरत्नकम्बलादीनि, दामानि मुक्ताहारादीनि, आभरणानि रजतकनकघटितविविधभूषणानि, तान्यादौ प्रथमं यत्र तादृक् वस्तुजातम् । पदार्थसार्थ-
मित्यर्थः । उपायनीकृत्य ढौकयित्वा ॥

किमुवाच तदेवाह—

साहिश्रीमदकम्बरावनिभुजेत्यादिष्टमास्ते मम

बुधस्यन्दनवाजिवारणमुखं संपूर्य तत्कामितम् ।

श्रीसूरीश्वरहीरहीरविजयं संप्रापयेस्त्वं ममा-

भ्यासं स्वीयमिवाद्विषय तदिदं विश्राण्यमानं मया ॥ १३३ ॥

हे प्रभो, तत्कारणात् मया विश्राण्यमानं तुभ्यं गुरवे दीयमानमिदं प्रत्यक्षं श्रीमत्पुरो
ढौकितं सर्वं वस्तुजातमाद्विषय स्वीकुरुष्व । किमिव । स्वीयमिव । यथा जनैः आत्मीय-
मवेषवस्तुजातमङ्गीक्रियते । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् यत्कारणात् । साहिना पातिसाहिना
श्रीमता स्वभुजोपाजितदशदिक्चक्रलक्ष्मीवता अकम्बरान्ना अवनिभुजा भूमीभामिनी-
भोक्ता । पृथ्वीपालेनेत्यर्थः । इत्यमुना प्रकारेण आदिष्टं लेखद्वारा प्रसादितमास्ते । स्फुर-
न्माने लिपीकारितमस्तीत्यर्थः । इति किम् । श्रिया संयमलक्ष्म्या कीर्तीन्द्रिया च
युक्ता ये सूरीणामाचार्याणामीश्वरा अणिमादिसिद्धिविविधलब्धिभाजो महत्तमास्तेषु
सर्वोत्कृष्टत्वात् हीरोऽमूल्यवज्रमणिः । मुख्य इत्यर्थः । तादृशं हीरविजयं सूरिं ममाभ्यासं
पार्श्वं प्रापयेः सम्यक् संमानादिप्रकारेण प्रेषयेः । किं कृत्वा । युन्नानि सुवर्णरजतमाण-
कादीनि द्रव्याणि, स्यन्दना रथाः, वाजिनस्तुरगाः, वारणा हस्तिनः, तन्मुखे वदने वा
आदौ यस्य तादृशं तत्कामितं सूरिसमीहितं संपूर्य संपूर्णाकृत्य । सूरिर्यन्मार्गयति
तत्तदर्पयित्वा फतेपुरे मत्समीपे शीघ्रं संप्रेषणीय इत्यर्थः ॥

स्वामिन्मे गन्धवाहा इव धृततनवः स्वान्तवेगास्तुरङ्गाः

सोदर्याः कज्जलाद्रेरिव मदमुदितभ्रान्तभृङ्गाः करीन्द्राः ।

त्वष्ट्रेव स्वेन सृष्टा यदुपतय इवोद्यद्रथाङ्गाः शताङ्गाः

पत्तित्राताश्च मूर्तिं दधत इव रसा वीरनामान एते ॥ १३४ ॥

हे स्वामिन् गुरो, मम मदीया एते श्रीमत्प्रत्यक्षलक्ष्यास्तुरङ्गाः अश्वाः सन्ति । किं-
भूताः । स्वान्तवन्मन इव त्वरितो वेगो येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—धृततनवः अङ्गीकृताङ्गाः
गन्धवाहाः पवना इव । च पुनरेते दृगोचरा गर्जजलधराजुवादिनः करीन्द्राः कुञ्जराणां
वर्तन्ते । किंभूताः । मदेन करिकपोलस्थलनिर्गलद्रुहलदानजलपानेन मुदिता हृष्टाः
अत एव भ्रान्ताः परितो भ्रमणीकारिणो भृङ्गा भ्रमरा येषु ते । उत्प्रेक्ष्यते—कज्जलाद्रे-
रज्जमगिरेः सोदर्याः सहोदरा इव । श्यामतया तुङ्गतया वा भ्रातर इव । पुनरेते श्रीपु-
रस्कृताश्चाभरध्वजन्नदिधोषाद्यलंकृताः शताङ्गाः रथा विद्यन्ते । किंभूताः । उत्प्रावत्येन

वायुवेगेन चलद्रथाङ्गं रथपादौ यत्र । 'इण् गतौ' इत्यस्य धातोः शतृप्रत्यये यत् इति निष्पद्यते । 'यद्धारुणदारुणं प्रकुर्वाणम्' इति व्यासषष्ठिके काव्ये । प्रयोगस्तु क्रियारत्न-समुच्चये । के इव । यदुपतय इव । यथा वासुदेवेशाः उद्यद्दीप्यमानं रथाङ्गं प्रतिभज-प्रतिहतं चक्रं नामायुधविशेषो येषां तादृशाः स्युः । उत्प्रेक्ष्यन्ते—शताङ्गाः त्वष्ट्रा विश्व-कर्मणा देववार्धकिना स्वेनात्मना स्रष्टा निर्मिता इव । पुनरेते श्रीमत्पुरस्ताद्बुधदत्ताः पत्तिव्रजाः पदातिप्रकरा जाप्रति सन्ति । 'सत्तायामस्यास्ते जागर्ति च विद्यते च ध्रिय-तेऽथ' इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिं तत्तुं दधतो विभ्राणाः वीर इति नाम येषां तादृशाः पञ्चमा रसा इव । अस्मिन्काव्ये संबोधनपदादग्रे मे इत्यादेशोऽस्ति । स तु यद्यपि सारस्वतव्याकरणे 'संबोधनपदादग्रे न भवन्ति वसादयः' इत्युक्तत्वात्तदनुसारेण संबोधनपदादग्रे एते वसादय आदेशा न भवन्त्येव, तथाप्यन्यत्र क्वाप्यादेशा दृश्यन्ते । यथा वाक्यप्रकाशे—'मित्र ते मे मोदते मनः' इत्युक्तेः । तथा वैतालिककृतां वि-क्रमादित्यस्तुतावपि—'स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाषः' इत्यु-क्तत्वाच्च । अत्रापि स्वामिश्रिति संबोधनादग्रे 'मे' इत्यादेशपदं प्रयुक्तं न दोषायेति ॥

स्वर्णं तदेतद्भवदङ्गचङ्गिमश्रीस्पर्धिशिक्षावितितीर्षवो रुषा ।

निक्षिप्य वह्नौ च धनैर्निहत्य च्छिन्दन्ति टङ्कैरिव यत्कलादाः ॥१३५॥

हे गुरो, इदं श्रीमत्पुरो दैकितं स्वर्णं काञ्चनं तत्प्रसिद्धस्वनीभवमास्ते । अथ वा तद्यत्संबन्धनिष्ठम् । तर्कभूतम् । यत्स्वर्णं भवतां श्रीमतामङ्गस्य वपुपश्चङ्गिमा चारुता तस्य श्रिया लक्ष्म्या राजते । 'जिनवचनपद्धतिरुक्तिचङ्गिममालिनी' इति पद्मसुन्दरकृ-तमालवरागजिनध्रुवपदे । स्पर्धते इत्येवंशीलमत एव कारणात् शिक्षां ताडनादिदण्डं वितितीर्षवो दातुमिच्छवः कलादाः स्वर्णकाराः रुषा अनौचित्यकरणोद्भूतभूमकोपेनेव वह्नौ वैश्वानरे निक्षिप्य क्षेपयित्वा । च पुनर्धनैर्लोहमयकुट्टनोपकरणैर्निहत्य कुट्टयित्वा टङ्कैरायसतीक्ष्णमुखटङ्कनकैश्च छिन्दन्ति शकलीकुर्वन्तीव ॥

स्फूर्जज्ज्योतिर्जलदपथवद्वृन्दमेतन्मणीनां

सुक्तापङ्क्तिस्ततिरिव सतां शुद्धिमत्तां वहन्ती ।

यानव्राता व्रतिप शिविकाद्या विमाना इवामी

वासांस्येतान्यपि सुमनसामंशुकानीव सन्ति ॥ १३६ ॥

हे व्रतिप व्रतिनः संयमिनः पाति रक्षयति पालयतीति व्रतिपस्तस्य संबोधनम् । एतत्प्रत्यक्षं झगज्झगिति कान्तिततिनिर्दलितान्धकारं मणीनां नानारत्नानां वृन्दं वर्तते । किंभूतम् । स्फूर्जद्दीप्यमानं ज्योतिर्दीप्तिर्यस्य । किंवत् । जलदपथवत् । यथा जलदानां पन्था मार्गो गगनम् । स्फूर्जन्ति झगज्झगिति कान्तिमन्ति ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारका यत्र तत् । पुनरेषां श्रीमल्लोचनगोचरसंचरिष्णुमौक्तिकमाला विद्यते । किं कुर्वन्ती । शुद्धिमत्तामतिशयेन निर्मलत्वं वहन्ती धारयन्ती । केव । सतां ततिरिव । उत्तमपङ्क्तिर्नि-

मैलाशयतां वहते । निष्कलङ्कितं वा धत्ते । च पुनरिमे बहुजनवाद्याः शिविका या-
प्ययानमाद्यं प्रथमं येषु लोके 'पालखी' इति प्रसिद्धा । तत्तद्यानवाताः सुखासनचक्रडो-
लाभिधानोपवेशनोचितासनसंघाता वर्तन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—विमाना इव । विमानशब्दः
पुंल्लीबलिङ्गे । यथा 'धनविधनविमानाः' इति लिङ्गानुशासने । पुनरेतानि श्रीमत्परिधा-
नार्थमानीतानि वासांसि वस्त्राणि सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सुमनसां देवानामंशुकानि देव-
दूष्यानीव ॥

अनुगृहाण गृहाण पुरस्कृतं त्वमिदमन्यदपीहितमात्मनः ।

विफलयन्ति यतः सुजनाः सुरावनिरुहा इव न कचिदर्धनाम् ॥ १३७ ॥

हे प्रभो, त्वं मामनुगृहाण समोपरि प्रसादं कुरु । मय्यनुग्रहं कृत्वा इदं त्वत्प्रत्यक्षं
पुरस्कृतं त्वदग्रे मया दौकितं वस्तुजातं गृहाण । अपि पुनरन्यत्परमपि आत्मनः स्वस्य
समीहितं कामितं च मार्गयित्वा याचित्वा च स्वीकुरु । यतः कारणात् सुजनाः सन्तः
क्वचित्कुत्रापि स्थाने अर्थानां याचनां न विफलयन्ति न मोघीकुर्वन्ति । क इव । सुराव-
निरुहा इव । यथा कल्पवृक्षाः क्वचनापि प्रार्थनां न निष्फलीकुर्वन्ते ॥

अलिकचुम्बिकराम्बुजयामलः प्रकटयन्विनयं स विनेयवत् ।

इदमुदीर्य वचोव्यवहारतो निववृते श्रमणाधिपतेः पुरः ॥ १३८ ॥

स साहिबखानः श्रमणाधिपतेः सूरैः पुरोऽग्रे इदं पूर्वोक्तमुदीर्य कथयित्वा वचोव्य-
वहारतो वागव्यापारान्विवृते निवृत्तः । किंभूतः । अलिकं भालं चुम्बकालिषतीत्येवंशीलं
करावेवाम्बुजे पद्मे तयोर्यामलं द्रुन्दं यस्य भालस्यले स्थायि करकमलयुगलः । कृताञ्ज-
लिरित्यर्थः । पुनः किं कुर्वन् । विनेयवत् सुशिष्य इव विनयं भक्तिनम्रतां प्रकटयन्
प्रकाशयन् ॥ इति साहिबखानस्य सूरिपुरो वस्तुग्रहणविषया विज्ञप्तिः ॥

गृह्णतो गिरमुदीत्वरदन्तव्रातदीधितिर्भासत सूरैः ।

निर्गता बहिरिव प्रणिधानक्षीरनीरधिलसल्लहरीव ॥ १३९ ॥

गिरं प्रत्युत्तरवाणीं गृह्णत आददानस्य भाषमाणस्य सूरैर्हीरगुरोस्दीत्वरः उद्रच्छन्ती
प्रकटीभवन्ती दन्तानां दशनानां व्रातस्य व्रजस्य दीधितिः कान्तिः अभासत शोभते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—बहिर्हृदयाद्वाह्यप्रदेशे निर्गता निःसृता प्रणिधानं तदेव क्षीरनिधिः
दुग्धोदधिः तस्य लसन्ती स्फूर्जन्ती लहरी वीचीव ॥

कलिक्षितीन्द्रानिव दुर्बलश्रुतींश्चक्रीकृतास्यान्धृतचापलान्पुनः ।

क्षमां सकोपानिव निघ्नतस्त्यजेदूरं तुरङ्गान्स्पृहयज्जिह्वश्रियम् ॥ १४० ॥

हे खान, शिवस्य कल्याणसिद्धेश्च श्रियं लक्ष्मीं स्पृहयन् कामयमानः साधुरत्तमो
मुनिश्च कलिक्षितीन्द्रान्कलिकालोत्पन्नभूपालानिव तुरङ्गान्वाजिनः दूरं विप्रकृष्टं त्यजेत्
सुखेत् । किंभूतान् तुरङ्गान् कलिघृपांश्च । दुर्बलश्रुतीन् लघुकर्णान् । परापवादप्रकटनपटु-

पिशुनवचनाकर्णनपरान् । पुनः किंभूतान् । चक्रं जातिस्वभावात्कुटिलं कृतमास्यं वदनं येः । तथा परोपकारादिकरणे वैमुख्यभाजः । पुनः किंभूतान् । धृतमङ्गीकृतं चापलं वक्रगमनोल्लनफालादि यैस्तथा । परदारगमनादिमकलितस्वभावान् । पुनः किं कुर्वतः । सकोपानिव क्रोधोद्धतानिव । क्षमां क्षोणीं निघ्नतः पदप्रहारादिना प्रहरतः सकोपाः क्षान्तिमुपशमं घातयन्ति । नृपास्तु नवीनकरणकरणजननिग्रहदण्डादिना पृथ्वीं पीडयन्ति ॥

मदोद्धतत्वं मधुपानुषङ्गितां मातङ्गतामाश्रयशाखिघातिताम् ।

यस्माद्ब्रह्मन्ते नृपते मतङ्गजाः सतां तदेषां न शिवाय संगमः ॥१४१॥

हे नृपते राजन्, यस्मात्कारणात् एते त्वया मर्दयमाना यिता असी मतङ्गजा हस्तिनः मदैः क्षीवताभिः दानप्रवाहैश्च उद्धतत्वमुन्मत्तताम्, तथा मधुपैर्मधुपानविधायिभिर्भ्रमरैश्चानुषङ्गः सङ्गोऽस्त्येषामिति मधुपानुषङ्गिनः तत्ताम्, तथा मातङ्गतां चण्डालतामस्पृश्यभावं गजताम्, तथा आश्रयाणां स्थानदायिनां छायाशनादिप्रदानैः सुखकारिणां वा शाखिनां शाखाः पुत्रपौत्रपौत्रादीनां विस्तारा विद्यन्ते येषां ते शाखिनस्तेषामाश्रयभूतानां कुटुम्बभाजां कुटुम्बवृद्धानां पोषकाणां वा । 'शाखा इमांशे वेदांशे भुजे पक्षान्तरेऽन्तिके' इत्यनेकार्थः । 'पक्षान्तरे संततिविशेषे' इत्यवचूर्णः । इमाणां च घातितां हननशीलतां वहन्ते बिभ्रते । तत्कारणादेषां गजानां संगमः सतां साधूनां न शिवाय न शुभाय मोक्षाय च ॥

द्यूतकृदिवाक्षविलसन्नरियुक्तः पिशुनवत्पुराधीश ।

निर्वृण्वद्भिः सद्भिः शताङ्गराशिर्न काम्येत ॥ १४२ ॥

हे पुराधीश राजनगरनायक, निर्वृण्वद्भिः निर्वृतिं सुखं मोक्षं च काङ्क्षद्भिः साधुभिः । 'निर्वृणोमि नगतो वसुमत्यां खारसातलभवाहवशङ्की' इति नैषधे । 'निर्वृतिं न प्राप्नोमि' इति तद्वृत्तिः । शताङ्गराशिः स्यन्दननिवहः । शतानि शतशः अङ्गानि उपसर्जनभूताः प्रकाराः क्लेशादयो येषु ते भवा जन्मानि तेषां गणः भवपरम्परा न काम्येत नाभिलष्येत । 'अङ्गमन्तिकगात्रयोः । उपसर्जनभूते स्यादभ्युपायप्रतीकयोः ॥' इत्यनेकार्थः । तथा 'गौणोपसर्जनोपाग्राण्यप्रधाने' इति हैम्यामपि । किंभूतः । अक्षेण रथावयवविशेषेण विलसन् शोभमानः । क इव । द्यूतकृदिव । यथा द्यूतकारः अक्षैः प्रासकैः 'पासा' इति प्रसिद्धनामभिर्विशेषेण नक्तंदिनं लसन् क्रीडन् रममाणो भवेत् । 'लस श्लेषक्रीडनयोः' इत्ययं धातुः । पुनः किंभूतः । अराः सन्त्यनयो रथपादयोश्चक्रयोस्ते अरिणी रथाङ्गे ताभ्यां युक्तः कलितः । क इव । पिशुन इव यथा द्विजिह्वः खलः अरिभिर्युक्तो भवति । प्रायः खलानां बहवो वैरिणः स्युः । अथ वा अरित्वेन वैरिभावेन सर्वेषामपि शत्रुतया युक्तः । खलः खलु जगतोऽपि शत्रुभूतो न कस्यापि मित्रमिति । यदुक्तम्—'मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् । लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥' इति ॥

राजन्हुताशा इव हेतिभीषणाः पुनर्गिरीशा इव रुद्रताङ्किताः ।

शान्तात्मनामार्द्रहृदां महात्मनां नौचित्यमेते दधते पदातयः ॥ १४३ ॥

हे राजन् भूपते, एते दण्डभृच्चण्डप्रचण्डाकृतयः पदातयः पादचारिणः शान्तः शमवानात्मा स्वरूपं येषां तेषां शान्तात्मनाम् । तथा आर्द्रं यावज्जन्तुजातोपरि कृपया क्लिन्नम् । पूर्णमित्यर्थः । हृदयं येषां तेषामार्द्रहृदां महात्मनां सतां साधूनां वा औचित्यं योग्यतां न दधते विभ्रते । किंभूताः । हुताशाः कृशानव इव हेतिभिर्विविधायुधैर्ज्वालावलीभिश्च भीषणा भयानकाः अतिभीतिकारिणः । पुनः किंभूताः । रुद्रतया चण्डत्वेन अङ्किताः कलिताः । क इव । गिरीशा इव । यथा ईश्वरा रुद्राभिधानत्वेनान्विताः । यतः एकादश रुद्राः । 'रुद्रोद्गीशो वामदेवो वृषाङ्कः' इति हैम्याम् ॥

माद्यन्त्यष्टापदैः पृथ्वीकान्त कैतवजीविनः ।

सन्तः संयमसाम्राज्या न पुनर्नयचक्षुषः ॥ १४४ ॥

हे पृथ्वीकान्त भूभामिनीवल्लभ, कैतवेन दुरोदरेण जीवन्ति प्राणान्धारयन्तीति कैतवजीविनो द्यूतकाराः अष्टापदैः शारिफलैः द्यूतक्रीडोपकरणविशेषैः कृत्वा माद्यन्ति मदेन हृष्यन्ति । पुनः सन्तः साधवः अष्टापदैः स्वर्णैः कृत्वा न मदयुक्ता भवन्ति निर्ग्रन्थत्वान्निष्परिग्रहत्वाच्च । किंभूताः । संयमस्य चारित्र्यस्य साम्राज्यमैश्वर्यं येषाम् । तथा नये नैगमादिसप्तभेदभिन्ने न्याये वा चक्षुर्दर्शनं येषां नय एव चक्षुर्येषां वा ॥

धामसाधिमभृतः कलयन्त्यः स्त्रीत्वमात्मनि पुनर्वनितावत् ।

त्यक्तगेहगृहिणीद्रविणानां प्रीणयन्ति न मनो मणिमालाः ॥ १४५ ॥

हे नृप, त्यक्तानि मुक्तानि गेहानि मन्दिराणि गृहिण्यः स्त्रियः द्रविणानि धनानि यैस्तेषां साधूनां मनश्चित्तं मणिमाला रत्नश्रेणयो न प्रीणयन्ति न तोषयन्ति । किंभूतस्य । धाम्नां तेजसां साधिमानं चारिमाणं स्फूर्तिं विभ्रतीति । 'त्वयाहतः किं नरसाधिमभ्रमः' इति नैषधे । किं कुर्वन्त्यः । आत्मनि स्वे स्त्रीत्वं स्त्रीलिङ्गतां कलयन्त्यः । किंवत् । वनितावत् । यथा नार्यः धामसु सौधेषु साधुतां धारयन्ति । यतो गृहमण्डनाः स्त्रियः । अथ वा । 'घरघरणीइपणघरचलइनही' इति लोकोक्तिः । पुनरात्मनि विषये स्त्रीत्वं वनिताभावं विभ्रते ॥

विभ्राणा अपि बाह्यतो विशदतां छिद्रं दधत्यन्तरा

तेनामी उचिता न मौक्तिकगणा द्वेधापि शुद्धात्मनाम् ।

भूप स्तम्भजुषो जडात्मवदमी येन ब्रजा वीवधै-

बाधन्ते च परांस्ततो मतिमतामेभिर्न कृत्यं पुनः ॥ १४६ ॥

हे भूप हे पृथ्वीपाल, येन कारणेन अमी मौक्तिकगणा बाह्यतो बहिस्ताञ्जनहमगो-

चरे विशदतां निर्मलतामुज्ज्वलत्वं बिभ्राणा अपि धारयन्तोऽपि अन्तरा मध्ये छिद्रं रन्ध्रं दोषमप्यगुणं वा दधति धारयन्ति अर्थात्पिशुनवदित्यर्थादनुक्तमप्यवधारणीयम् । यथा खलो बाह्ये विशदतां हासितवदनत्वं दधानोऽपि परानर्थप्रथाविधायि दुष्टाशयतां धत्ते । यदुक्तम्—‘मुखं पद्मसमाकारं वाचा चन्दनशीतला । हृदयं कर्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्तलक्षणम् ॥’ इति । तेन कारणेन द्वेधापि बहिरन्तरापि शुद्धोऽत्युज्ज्वलः निर्मलो निष्पाप आत्मा स्वरूपं येषां तेषां महात्मनाममी नोचिता न योग्याः । पुनर्हं भूप, यतो हेतोरमी यानव्रजाः बाह्यनसमूहाः जडत्ववज्जडत्मान इव स्तम्भान् स्थूणान् जाड्यं च जुषन्ते सेवन्ते इति स्तम्भजुषः । च पुनः परानन्यान् जन्तून् वीवधैः स्वभारैः कृत्वा बाधन्ते पीडयन्ति । ततः कारणदेभिर्मतिमतामखण्डपण्डाशालिनां साधूनां न कृत्यं न किमपि कार्यं विद्यते ॥

भूमीन्दोऽसिचया एते उचिता एव शस्त्रिणाम् ।

भवादृशां न चास्माकं शमसौहित्यशालिनाम् ॥ १४७ ॥

हे भूमीन्दो वसुधासुधाकर, एते असिचयाः खड्गगणाः शस्त्राणि प्रहरणानि धरन्ति रक्षयन्तीत्येवंशीलानां भवादृशां विविधायुधधारिणां विरोधिवधविधानोद्धतक्रोधोद्धराणां युष्मद्विधानामेव उचिता योग्याः । अथ च वास्तवार्थे सिचया वस्त्राणि युष्मादृशां बहुमूल्यत्वाद्भूमीन्द्राणामेव योग्यानि । न पुनः शमेन शान्तरसास्वादेन यत्सौहित्यं तृप्तिस्तृप्तिस्तथा शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलानां मित्रामित्राजनसदृशदृशामस्मादृशासुचिताः । यदुक्तम्—‘भुञ्जीमहि वयं भैक्ष्यं जीर्णं वासो वसीमहि । शयीमहि महीपीठे कुर्वीमहि किमीश्वरे ॥’ इति ॥ इति खानस्य तुरङ्गादिप्रदानाग्रहे गुरोः प्रतिवचनानि ॥

एष निपीय कवेरिव वाचं श्लेषविशेषवतीं व्रतिभर्तुः ।

प्रीतमना इति तं प्रति वार्णीं वासयति स्म पुनर्वदनाब्जे ॥ १४८ ॥

प्रीतं गुरोरतिनिर्लोभतानिभालनात्संतुष्टं मनो मानसं यस्य तादृश एष साहिबखानः इत्यमुना प्रकारेण तं सूरिं प्रति वदनाब्जे निजमुखकमले वार्णीं गिरं वाग्देवतां वासयति स्म वासितवान् । उवाचेत्यर्थः । अथ च लक्ष्मीमिव वाग्वादिनीं पद्मवासिनीं कृतवानित्यप्यर्थध्वनिः । किं कृत्वा । कवेः काव्यकर्तुरिव अथ च कवेः शुक्रस्येव । ‘अजस्रमभ्याससुपेयुषा समं मुदेव देवः कविना बुधेन च’ इति नैषधे । कविः काव्यकर्ता । तथा शुक्रः । बुधो विद्वान् । चन्द्राङ्गजश्च । तथा ‘उशना भार्गवः कविः’ इति हैम्याम् । अथ चायं मुद्रत्वादसुरः असुराणां गुरुत्वाच्च कविवाग्यानमुचितमेव सूरिः सुराणां गुरुर्नासुराणामिति वचनाच्च सूरैः श्लेषानां श्लेषोक्तीनां विशेषा अतिशया विद्यन्ते यस्यां सा श्लेषविशेषवती तादृशीं वाचं भारतीं निपीय सादरं श्रुत्वा ॥

याच्चा मे क्रियतां फलेग्रहिरसौ द्रोणिर्द्रुमाणामिव
 प्रोन्निद्रा मधुना स तुष्यति यथा पृथ्वीमहेन्द्रो मयि ।
 इत्यावेद्य निवृत्तिमीयुषि पुराधीशे वशीन्द्रो गिरं
 जग्राहोष्णऋतौ कृतव्यवसितौ मेघाम्बुधरामिव ॥ १४९ ॥

इत्यमुना पूर्वोक्तप्रकारेण आवेद्य कथयित्वा निवृत्तिमुपरममुपेयुषि मौनमासेदुषि पुराधीशे साहिबखाने सति सूरिर्हीरगुरुगिरं वाणीं जग्राहोपादत्त । बभाषे इत्यर्थः । क इव । मेघ इव । यथा कृता निर्मिता व्यवसितिः स्वसमयोचितप्रबललूकातापपयःशोष-प्रसुखा व्यावृत्तिर्येन तादृशे उष्णऋतौ निदाघसमये निवृत्ते सति जलधरः प्रावृषेण्यपयो-धरः अम्बुधारां वारिवृष्टिं गृह्णाति । इति किमावेद्य । हे गुरो, श्रीमता मे मम याच्चा प्रार्थना फलेग्रहिः सफला क्रियताम् । केनेव । मधुनेव । यथा वसन्तेन ऋतुना द्रुमाणां विविधजातितरूणां द्रोणिः श्रेणिः प्रोन्निद्रा विकसिता फलकलिता क्रियते । तथा यथा येन प्रकारेण स पृथिवीमहेन्द्रः अकञ्चरसाहिर्मयि तुष्यति हृष्टचित्तो भविष्यति तथा विधीयताम् ॥

रक्षामो जगदङ्गिनो न च मृषावादं वदामः कचि-

न्नादत्तं ग्रहयामहे मृगदृशां बन्धूभवामः पुनः ।

आदध्मो न परिग्रहं निशि पुनर्नाश्रीमहि ब्रूमहे

ज्योतिष्कादि न भूषणानि न वयं दध्मो नृपैतान्ब्रतान् ॥ १५० ॥

हे नृप, वयमेतान् ब्रतान् नियमविशेषान् दध्मो धारयामः । व्रतशब्दः पुनर्पुंसके । तानेव पृथक्कृत्य दर्शयति—वयं जगतां त्रयाणामपि भुवनानामङ्गिनो जन्तून् रक्षामः स्वसंतानवत्पालयामः । च पुनः कचिन् प्राणत्यागेऽपि मृषावादं मिथ्याभाषां न वदामो ब्रूमः । पुनः कचिद्गमादावरण्यादावपि चादत्तं केनापि स्वामिप्रमुखेन अविश्राणितं तृणाद्यपि न ग्रहयामहे न गृह्णीमः । पुनर्मृगदृशां सर्वासामपि स्त्रीणां बन्धूभवामः । मुक्ताशेषविषयाभिलाषतया विश्ववनिताः स्वभगिनीतुल्या गणयामः । पुनः परिग्रहं धनधान्यक्षेत्रक्रियाकाण्डशुकादिवस्तु रूप्यसुवर्णरूप्यखर्णादिमयस्थालकचालकादिककुप्य-द्विपदचतुष्पदलक्षणं नवविधवस्तूनां संग्रहं नादध्मः किमपि संसारहेतुभूततया परिग्रह-मात्रं नैव रक्षयामः । पुनर्निशि रात्रिविषये नाश्रीमहि सर्वेयापि नैव भुञ्जामः । पुन-ज्योतिष्कादिनिमित्तलक्षणं चन्द्रग्रहादिकं न ब्रूमहे कदापि न कथयामः । पुनर्भूषणानि मणिखर्णादिमयान्धारणानि न दध्मः वपुषि न धारयामः । अत्र दध्म इति क्रिया घण्टालालान्यायेन उभयत्र व्रतभूषणादिषु योजनीया ॥

वाहाः पञ्च महाव्रतानि करिणः क्षान्त्यादिधर्मा दश

शीलाङ्गाख्यरथा नवद्वयमिताः पार्श्वे सहस्राः सदा ।

मुक्ताखर्णमणीगणाः पुनरमी येषां मुनीनां गुणा

यानान्यद्भुतभावनाश्च यशसां पुञ्जाः पुरोगामिनः ॥ १५१ ॥

विश्वस्फूर्जदमारिशिष्टपटहा मोहाद्यरिध्वंसिनः

साम्राज्यं दधतेऽनिशं दशदिशां ये सार्वभौमा इव ।

ये श्वेतांशुकशालिनः कुमुदिनीकान्ता इव क्षमापते

ते प्राप्ताखिलकामिता इव वयं नाशास्महे किंचन ॥ १५२ ॥

हे क्षमापते खान, प्राप्तानि सर्वात्मना लब्धानि अखिलानि समस्तानि कामितानि वाञ्छितानि मानसिकवाचिककायिककामा यैस्तादृशा इव ते वयं किंचन किमपि नाशास्महे न कामयामहे । ते के । येषामस्माकं प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-परिग्रहविरमणलक्षणानि पञ्च महाव्रतान्येव बाहाः पट्टजाल्यतुरङ्गाः सन्ति । पुनर्येषां क्षान्त्यादयः क्षमा-आर्जव-मार्दव-निर्लोभतारूपमुक्तिः-तपः-संयम-सत्य-निष्कपटतारूपशौच-अकिंच-ब्रह्मचर्यलक्षणा दशविधसाधुधर्माभिधानाः करिणः पट्टगजेन्द्रा विद्यन्ते । पुनर्येषां पार्श्वे संनिधाने सदा निरन्तरं नवद्वयमिता नवानां नवसंख्यानां द्वयं युगलमेतावता अष्टादश तेन मिताः प्रमाणीकृताः । 'नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्' इति नैषधे । सहस्रा दशशतानि । सहस्रशब्दः पुंस्त्रीबलिङ्गे । शीलाङ्गा इत्याख्या नाम येषां तादृशा रथाः एतावता अष्टादशसहस्राः शीलाङ्गरथा वर्तन्ते । पुनर्येषां मुनीनां साधूनां सप्तविंशतिसंख्याका गुणाः । यथा—षण्णां प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-परिग्रह-रात्रिभोजन विरमणलक्षणानां व्रतानां परिपालनम्, तथा षण्णां पृथ्वी-जल-अनल-वायु-वनस्पति-त्रासलक्षणानां कायानां रक्षा, तथा पञ्चानां श्रवण-नयन-प्राण-रसन-स्पर्शननाम्नामिन्द्रियाणां निग्रहः, निर्लोभता, क्षमा, भावसत्यक्रिया, विशुद्धिता, मनोवचनकायानां जयः, संयमयोगयुक्ता, शीतातपादिवेदनासहनम्, उपसर्गसहनं चेति मुक्ताखर्णमणीगणाः मौक्तिककाञ्चनरत्ननिकरा आसते । पुनर्येषामद्भुता आश्चर्यका-रिण्यः द्वादशसंख्याका भावनाः अनित्य-अशरण-संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आश्रव-संवर-कर्म-निर्जर-अधर्मस्वाख्यातता-बोधिलक्षणाः । अथ वा पञ्चानां महाव्रतानां पञ्चपञ्चसंख्याभिः पञ्चविंशतिर्भावनाः । यथा मनोगुप्ति-इयासमिति-आदाननिक्षेपासमिति-एषणा-समिति-दृष्टान्नपानग्रहणम् एताः प्रथमव्रतस्य पञ्च भावनाः, तथा हास्यविरति-लोभविरति-भयप्रत्याख्यान-क्रोधप्रत्याख्यान-आलोच्यभाषणम् एता द्वितीयव्रतस्य पञ्च भावनाः । आलोच्यवाग्रहयाचना, अभीक्ष्णावग्रहयाचना, देशकालपेक्षया एतावन्मात्रावग्रहयाचना, समानधार्मिकेभ्यः सकाशादवग्रहयाचनम्, अनुज्ञापितान्नपानभोगः, एतास्तृतीयव्रतस्य पञ्च भावनाः । स्त्रीषण्डपशुमद्वेश्मस्त्रीभुक्तासनकुड्यान्तरत्यजनम्, सरागस्त्रीकट्वाविवर्जनम्, पूर्वकीडितभुक्त्यादिस्मृतिनिषेधनम्, स्त्रीणां रम्याङ्गावयवावलोकनस्वाङ्गान्नोद्वर्तनादिसंस्कारनिराकरणम्, प्रणीतगलत्त्रेहविन्दुकातिरसोन्मादकद्रव्यबहुलान्नपान-

परिभोगनिवारणम् एताश्चतुर्थव्रतस्य पञ्च भावनाः । मनोज्ञे शब्दे रागः अमनोज्ञे शब्दे द्वेषः, मनोज्ञे रूपे रागः अमनोज्ञे रूपे द्वेषः, मनोज्ञे गन्धे रागः अमनोज्ञे गन्धे द्वेषः, मनोज्ञे रसे रागः अमनोज्ञे रसे द्वेषः, मनोज्ञे स्पर्शे रागः, अमनोज्ञे स्पर्शे द्वेषः एताः पञ्चमव्रतस्य पञ्च भावनाः । संख्यया पञ्चविंशतिर्जाताः । अथ वा एकोनविंशदपि स्वरूपमूल्याः । एता भावना वासना यानानि वाहनानि सन्ति । च पुनर्येषां पुरोगामिनः अग्रेगमनशीलाः यशसां श्लोकानां पुञ्जा व्रजा वर्तन्ते । पुनर्येषां विश्वे त्रैलोक्येऽपि स्फूर्जन्तो वाद्यमाना अमारेर्जिवदयायाः शिष्टयः शिक्षणानि आज्ञा वा त एव तद्रूपा वा पटहा आनकोद्धोषणानि निःस्वाननिरचना वा । पुनः मोह आदिर्येषां तथाविधा अरयः क्रोधमानमायालोभमनोभवमिथ्यात्वाद्याः शत्रवः तान् ध्वंसन्ति निघ्नन्तीत्येवंशीला मोहाद्यरिध्वंसिनः सन्तीति वैरिविजयकारिणः । पुनर्ये सार्वभौमाश्चक्रवर्तिन इव अनिशं निरन्तरं प्राची-आग्नेयी-अपाची-नैऋती-प्रतीची-वायवी-कौबेरी-ऐशानी-पातालभुवन-ब्राह्मीलक्षणानां दशानां दिशामाशानाम् । ‘दशदिगन्तजिता रघुणा यथा’ इति रघुवंशे । साम्राज्यं सुरासुरनराराध्यत्वादाधिपत्यं दधते विभ्रते । पुनर्ये कुमुदिनीकान्ताः कैरविणीवल्लभाश्चन्द्रा इव श्वेतैरुज्ज्वलैरंशुकैर्वैल्लैः । सार्ये कः । किरणैश्च । ‘वरुणगृहिणी-माशामासादयन्तममुं रूचीं निवसयसि च यांशभ्रान्सकमेण निरंशुकम्’ इति नैषधे । ‘कान्तिहीनं च वल्लहीनं वा इति’ तद्वृत्तिः । शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलाः । श्वेताम्बरा इत्यर्थः ॥ इति स्वसंयमसमृद्धिनिरूपणम् ॥

श्रीरामे भरतेनेव भक्तेन स्वामिनि त्वया ।

इदं यदुच्यते सर्वं तदञ्चत्यौचित्तीं यतः ॥ १५३ ॥

हे भूपते, श्रीरामे श्रिया बलभद्रत्वलक्ष्म्या, अथ वा श्रिया पाथोधिपुत्र्या लक्ष्म्या, अवतारत्वात्सीतया । यथा नारायणो रामरूपेणावतीर्णस्तथा लक्ष्मीरपि जानकीकायेनावतारमादत्तवतीति शैवसमयः । तथा युक्तः रामः कौसल्यानन्दनस्तस्मिन् श्रीरामचन्द्रे भरतेनेव कैकेयीतनुजेनेव स्वामिन्यकब्बरनृपे भक्तेन सेवामक्तेन त्वया भवता इदं गजाश्वरथस्वर्णादिप्रदानं सर्वं यदुच्यते कथ्यते तत्सर्वं त्वयि श्रीमति विषये औचित्तीं योग्यतामश्नुति गच्छति । युक्तमेवेत्यर्थः । यतः शास्त्रे प्रोक्तमस्ति तदग्रेतनकाव्येनैव निर्दिशति ॥

उपकर्तुं जलदा इव परपुष्टा इव पुनः प्रियं वक्तुम् ।

स्नेहितुमिव दृक्पद्माः प्रायः प्रभवन्ति भुवि सुजनाः ॥ १५४ ॥

हे भूमीपाल, जलदा मेघा इव उपकर्तुं जगतोऽप्युपकारं कर्तुम्, पुनः परैः काकैः पोष्यन्ते स्म इति परपुष्टाः कोकिला इव प्रियं मृष्टं वक्तुं भाषितुम्, पुनः दृक्पद्मा नयननलिनी इव । कमलनलिनपद्मरविन्दशब्दाः पुनपुंसकलिङ्गयोः । स्नेहितुं स्नेहं मैत्र्यं कर्तुं प्रायो बाहुल्येन भुवि पृथिव्यां विषये सुजना उत्तमजन्माः प्रभवन्ति समर्थाभवन्ति ।

यदुक्तम्—‘क्षेहला नैव नेत्रेभ्यो घनेभ्यो नोपकारिणः । पिकेभ्यो नो प्रियालापा दृश्यन्ते भुवने परे’ ॥

किं बहुनाशुगसूनोरिवात्मभर्तुर्विधातुरादेशम् ।

नीतिमतो दाशरथेरिव राजन्धर्मलामोऽस्तु ॥ १९९ ॥

हे राजन्, किं बहुना भूयिष्ठभाषणेन किमस्तु न किमपि । ततस्तव धर्मलाभः धर्मलाभ इति नाम्ना अस्मत्पक्षसंमत आशीर्वादोऽस्तु भवतात् । तव किं कर्तुः । आत्मभर्तुः स्वस्वामिनः अकम्बरसाहेरादेशमाज्ञां विदधातीत्येवंशीलस्य । कस्येव । आशुगसूनोरिव । यथा पवनात्मजन्मा हनूमान् स्वस्वामिनो रामचन्द्रस्यादेशविधातासीत् । पवनस्य नामपरावृत्तिर्बहुधा दृश्यते । यथा हैम्याम्—‘हनूमान् वज्रकण्टकः मारुतिः’ इति । तथा चम्पूकथायाम्—‘प्रभञ्जनाः खण्डिताङ्गनाधरप्रवालाः’ इत्यादि । पुनस्तव किं लक्षणस्य । नीतिमतो युक्तन्यायोपपन्नस्य । कस्येव । दाशरथेरिव । यथा दशरथस्यापत्यं दाशरथिः श्रीरामः न्यायवानासीत् ॥ इति सूरिणा तस्य स्वामिभक्तता प्रकाशिता ॥

तदुदितमधिगत्य चित्रमन्तर्दधता तेन पुरीपुरंदरेण ।

इव कजमलिनाथ चुम्बता तच्चरणयुगं यतिकुञ्जरो व्यसर्जि ॥ १९६ ॥

अथ सूरिवचनानन्तरं तेन पुरीपुरंदरेण अकमिपुराधिपतिना साहिबखानेन यतिकुञ्जरः श्रीहीरविजयसूरिः व्यसर्जि विसर्ज्यते स्म । स्वस्थानगमनायानुमेने । स्ववसतिं प्रति प्रेषित इत्यर्थः । तेन किं कुर्वता । तच्चरणयुगं सूरिपादारविन्दद्वन्द्वं चुम्बता स्पृशता । केनेव । अलिनेव । यथा भ्रमरेण कजं कमलं चुम्ब्यते । पुनः किंभूतेन । तदुदितं सूरिभाषितमधिगत्य विज्ञाय सम्यगवगम्य अन्तः स्वान्तःकरणे चित्रमाश्चर्यं दधता विभ्रता ॥

वसतिमसुमच्चेतांसीव प्रविश्य महोत्सवं

वचनविषयातीतं स्फीतं वितन्वति पूर्जने ।

सरसिरुहभूः प्रोज्जृम्भाम्भोरुहीव सुखं स्थितः

कतिचन दिनांस्तस्मिन्सूरीश्वरोऽगमयत्पुरे ॥ १९७ ॥

सूरीश्वरो हीरविजयसूरिः तस्मिन्नकमिपुरे कतिचन कियत्संख्याकान् दिनानगमयत्तिक्रामति स्म । किंभूतः । सुखं यथा स्यात्तथा स्थितः । क इव । सरसीरुहभूरिव । यथा पद्मभूर्ब्रह्मा प्रोज्जृम्भाम्भोरुहि विकसिततामरसे तिष्ठति । ‘ताम्यंस्तामरसान्तरालवसतिर्देवः स्वयंभूरभूत्’ इति खण्डप्रशस्तौ ब्रह्मणः कमले वसतिः । किं कृत्वा । वसतिमुपाश्रयं प्रविश्य उपाश्रयमध्ये गत्वा । स्थित्वेत्यर्थः । कानीव । असुमच्चेतांसीव यथा जनानां भव्यलोकानां चेतांसि मनांसि प्रविवेश । चित्तेषु प्रविष्ट इत्यर्थः । अत्रैकवचनस्य बहुवचनोपमास्ति । अन्यत्रापि क्वाप्येवं दृश्यते । यथा रघुवंशेऽप्येवं दृश्यते—‘वै-

दर्भनिर्दिष्टमथो कुमारो नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः' इति । कस्मिन्सति । पूजने राजनगरानेकश्रावकवर्गे वचनानां वाचां विषयाद्गोचरादतीतमतिशयित्वाद्वाग्गोचरमतिक्रान्तम् । वक्तुमशक्यमित्यर्थः । पुनः स्तुतिं पदे पदे क्षणे क्षणे च वर्धमानमेव न तु हीयमानं महोत्सवमतिमहं वितन्वति विस्तारयति कुर्वति सति ॥

यं प्राप्तुं शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिरचिते सर्गोऽयमेकादशः ॥ १९८ ॥

पण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये एकादशानां संख्या-
पूरणः एकादशः सर्गः संजात इति ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्वोपज्ञहीरसौभा-
ग्याभिधमहाकाव्यवृत्तौ अकब्बरसाहिपुरस्तादाकारितदूतद्वन्द्वगमनविज्ञपनतत्प्रेषणाक-
मिपुरपतिपार्श्वगमनश्राद्धाकारणसाहिप्रवृत्तिकथनसूरिपार्श्वप्रस्थापनतद्वागमनतद्वाचिककथ-
नस्फुरन्मानार्पणसूरिप्रस्थानशकुनभवनराजनगरागमनखानसंमुखागमनस्वसदनानयनग-
जाश्वादिदौकनतन्निषेधनखानचमत्कृतिकरणवसत्यागमनादिवर्णनो नाम एकादशः सर्गः ॥

द्वादशः सर्गः ।

सूरिराजोऽथ संप्रस्थितस्तत्पुरान्मेवडाभ्यां पुरोगामुकाभ्यां युतः ।

श्लोकचन्द्रातपश्चेतिताशामुखो यामकाभ्यां शशी पूर्वशैलादिव ॥ १ ॥

अथ राजनगरे कतिचनदिनस्थित्यनन्तरं सूरिराजः श्रीहीरविजयसूरिः तत्पुराद-
हम्मदाबादनगरात्सभ्यक् पदे पदे संमानमहोत्सवपूर्वकं प्रस्थितः पुरश्चाल । किंभूतः ।
पुरो गुरोरग्रे गामुकाभ्यां गमनशीलाभ्यां मेवडाभ्यां मौदीकमालनामाभ्यां साहिप्रहि-
तदूताभ्यां दूतानां लेखहारकाणां च । मुद्रलजातिप्रसिद्धं मेवाडा इत्यभिधानं प्रोच्यते ।
पुनः किंभूतः । श्लोकौ यशः स एव चन्द्रातपश्चन्द्रिका तेन श्वेतितानि उज्ज्वलीकृतानि
आशानामर्थाद्दशदिग्जनानां मुखानि वदनानि येन । क इव । शशीव । यथा चन्द्रश्चारव-
शात्पुरः समेताभ्यां पुनर्वसूतारकाभ्यां युक्तः । 'पुनर्वसू तु यामकौ' इति हैम्याम् ।
युक्तः पूर्वशैलात्प्राचीपर्वतात्प्रतिष्ठते । किंभूतः शशी । यशःसदृशचन्द्रगोलिकया उ-
ज्ज्वलीकृद्दिङ्मण्डलः ॥

कुत्रचिद्वाणिनी सग्विणी शालिनी यत्र लोकं पृणा कापि वातोर्मिका ।

हंसमाला कचित्कापि कन्या मृगी कुत्रचिन्मालती पुष्पिताग्रा पुनः ॥ २ ॥

कापि शार्दूलविक्रीडितं दृश्यते कापि दृष्यद्भुजंगप्रयातं पुनः ।

सूरिशीतद्युतेः सर्पतः पद्धतौ छन्दसां जातिवत्कुञ्जभूमिः स्म भूत् ॥३॥

सूरिशीतद्युतेः हीरसूरिचन्द्रस्य पद्धतौ मार्गे सर्पतः प्रचलतः कुञ्जभूमिर्वनावनी छन्दसां विविधवृत्तानां जातिरेव स्म भूत् बभूव । 'स्मयोगेऽप्यटो लोपमिच्छन्ति' इति सारस्वतव्याकरणे । यत्र कुञ्जभूमौ छन्दोजातौ च कुत्रचित्प्रदेशे वाणिनी । 'छिका मत्ता च वाणिनी' इति हैम्याम् । तथा 'यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्' इति रघुवंशे । उद्याने क्रीडार्थं समेता दृश्यते । किंभूता वाणिनी । स्रग्विणी सजो मुक्ताफलानां सरिविशेषाः कुसुमानां माला हारा विद्यन्ते यस्याः । पुनः शालिनी अत एवानेकालंकारैः शालते शोभते इत्येवंशीला । तथा वाणिनी, स्रग्विणी, शालिनी चैतास्तिष्ठोऽपि छन्दोजातयः । तथा कापि प्रदेशे लोकान् कुसुमावचयग्रथनान्योन्यपरिधापनान्दोलनगाननर्तनादिमानेककौतुकक्रीडाकारिणो जनान्पृणातीति लोकंपृणा सकलजनसुखकारका वातानां पवनानामूर्मिका वीची समेति । अथ च छन्दसि वातोर्मिकाजातिः । पुनः कचित्कमलाकरादिषु हंसमाला राजमरालराजी क्रीडन्ती दृश्यते । हंसमाला छन्दोजातिश्च । कापि स्थाने स्मेरोद्यानादौ कन्या पुष्पावचयार्थमागता पुष्पाजीविकुमारिका विलोक्यते । अथ च कन्या छन्दोजातिः । पुनः कापि सजलशार्दूलप्रदेशादौ मृगी खलद्युवालकलिता सारङ्गी चरन्ती निरीक्ष्यते । मृगी छन्दोजातिश्च । पुनः कुत्रचित्क्रीडाकाननादौ मालतीजातिनामलता प्रेक्ष्यते । किलक्षणा । पुष्पितं कुसुमितं प्रसूनपरम्परापरिचितमग्रं शिखरं यस्याः सा तथा । जातिः पुष्पिताग्रा च द्वे अपि छन्दोजाती । कापि कारस्करकोटरविलादौ दृष्यतां दर्पं मदं विभ्रतां मदोन्मादिनां भुजंगमानां सर्पाणां प्रयातं गमनं निभाल्यते । भुजंगप्रयातं छन्दोजातिश्च । पुनः कापि गिरिगङ्गारादीनां प्रदेशे शार्दूलानां व्याघ्राणां चित्रकायानां वा अथवा अन्यहिंस्रस्वापदविशेषाणां विशेषेण निजमहिलाभिर्बालकैर्वा समं क्रीडितं विलसितं विभाव्यते शार्दूलविक्रीडितनाम्नी छन्दोजातिश्च ॥ युग्मम् ॥

निम्बजम्बीरजम्बूकदम्बद्रुमान्स्मेरमाकन्दकारस्करं कीरवत् ।

लङ्घयन्ग्रामसीमापुरीः स प्रभुः प्राप्तवान्पत्तनस्योपकण्ठं क्रमात् ॥ ४ ॥

स प्रभुः हीरसूरेश्वरः क्रमाद्रामानुग्रामविहारपरिपाठ्या पत्तनस्याणहिल्लापाटकनाम-पुटभेदनस्य उपकण्ठं संनिधानं प्राप्तवानासादयामास । किं कुर्वन् । ग्रामान् लघुपुराणि संनिवेशान्वा सीमामुभयोर्ग्रामयोर्नगरयोर्वा मध्यभूमी ग्रामसमीपभूर्वा पुरीर्महन्नगराणि विश्वलपुरमहीशानकादीनि लङ्घयन्नतिक्रामन् । किं च कीरवत् । यथा शुको निम्बान् पिबु-मन्दान् जम्बीरान् जम्बिलान् वृक्षविशेषान् जनप्रसिद्धान् जम्बून् श्यामफलान्प्रसिद्धान् कदम्बान्नीषान् धाराकदम्बान् धूलीकदम्बांश्च जातिद्वयविशिष्टान् एतानेव द्रुमान्

१. पाणिनीयतन्त्रे तु स्मशब्दयोगेऽडागमाभावाविधानात्स्वभूदिति पाठः साधुः.

पादपान् लङ्घयन् मुञ्चन् स्मेरं वसन्तऋतुना विकसितं पल्लवदलकलिकाकुसुमफलकलितं
कृतं माकन्दकारस्करं सहकारतरुं प्राप्नोत्यधिगच्छति ॥

श्रोत्रपत्रैर्निपीय प्रभोरागमाभेयपीयूषमानन्दमेदस्विनः ।

तत्पदाम्भोजमभ्येत्य भेजुर्जनाः पान्थसार्था इव स्मेरदुर्वीरुहम् ॥ ५ ॥

जनाः पत्तनश्राद्धलोकाः अभ्येत्यागत्य तत्पदाम्भोजं सूरिचरणाविन्दं भेजुः सेवन्ते
स्म । प्रणमन्ति स्मेत्यर्थः । के इव । पान्थसार्था इव । यथा पथिकप्रकराः अभ्येत्य दूरात्स-
मागत्य निदाघदाघतप्तीकृताङ्गाः प्रबलपथधमश्रान्ताश्च सन्तः स्मेरन्तं विकसन्तमुर्वीरुहं
बहुलपल्लवदलफलच्छायाछन्नं मार्गवर्तिमहीरुहं भजन्ते । ‘स्मेरदम्भोरुहारामपवमानमि-
वानिलः’ इति पाण्डवचरित्रे । जनाः किंभूताः । आनन्देन प्रमोदेन मेदस्विनः उप-
चयवन्तः स्फुरद्रोमाञ्चक्रुकपुष्टवपुषः । किं कृत्वा । प्रभोः श्रीगुरोरागम आगमनं तदे-
वामेयं प्रमाणातीतं पीयूषममृतं श्रोत्रपत्रैः कर्णपण्डुनदुर्कैर्निपीयाति तृप्ततया पीत्वा ।
सादरं ध्रुत्वैत्यर्थः । अथ च ‘पीयूषोऽभिनवं पयः’ इति हैम्याम् । सद्यस्कपयः पानाच्च
पुष्टाङ्गा भवन्त्येव ॥

आजगामाथ कम्माङ्गजन्मा यतिक्ष्मातलाखण्डलः संमुखं तत्प्रभोः ।

सूरिणाप्यर्णवेनेव शीतद्युतेः पिप्रियेऽद्वैतमस्योदयं पश्यता ॥ ६ ॥

अथ सूरैः पत्तनसमीपे समागमनानन्तरं कम्मानामसाधोरङ्गजन्मा नन्दनो विजय-
सेननामा यतिषु मुमुक्षुषु अथ वा यतीनां मध्ये क्ष्मातलस्य महीमण्डलस्याखण्डलो
वासवः । सूरिन्द्र इत्यर्थः । तस्य प्रभोः श्रीहीरविजयसूरिन्द्रस्य संमुखमभिमुखमाजगाम
समागच्छति स्म । अपि पुनरस्य विजयसूरैरद्वैतमनन्यसामान्यमुदयं वैभवातिशयप्रादु-
र्भावं पश्यता स्वयं विलोकयता सता सूरिणापि हीरगुरुणापि पिप्रिये प्रसुदितमद्वैतप्री-
तिमत्ता समजायत । केनेव । यथा शीतद्युतेः कौमुदीदयितस्याद्वैतमभ्युदयं पश्यता
समुद्रेण चन्द्रजनकेन प्रीयते । यस्माद्ये समुत्पद्यन्ते स तेषां पिता, चतुर्दशानामपि
रत्नानां समुद्रे समुत्पन्नत्वासमुद्र एव पिता । यथा लक्ष्म्याः प्रसिद्धं नाम क्षीरोदतनया
हैम्याम्, तथा चन्द्रोऽपि प्रसिद्धः समुद्राङ्गजः । तथा च नैषधे—‘सिताम्बुजानां विरहस्य
यच्छलाद्वभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् । तमः समच्छायकलङ्कसंकुलं कुलं सुधांशोर्बहुलं
वहन्निव ॥’ इति । ‘कुलशब्देन समूहं वंशं वा वहति’ इति तद्वृत्तिः ॥

हीरसूरिकमद्वन्द्वनग्रीभवत्तन्मुखं प्राप कामप्यनन्यां श्रियम् ।

कल्पितानल्पसख्यः कथंचिन्मिथः संगतः पङ्कजेनेव शीतद्युतिः ॥ ७ ॥

हीरसूरैः स्वगुरुश्रीहीरविजयसूरैः क्रमद्वन्द्वे चरणयुगले नग्रीभवत्संजायमानं तन्मुखं
विजयसेनसूरिवदनं कामपि वचनगोचरातीतामसाधारणीं श्रियं शोभां प्राप लभते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—मिथः परस्परं कथंचित्केनापि प्रकारेण कल्पितं निर्मितमनल्पं बहुदृष्टं च

सख्यं मैत्रीभावो येन तादृशः शीतयुतिश्चन्द्रः पङ्कजेन पद्मेन समं संगतो मिलित इव ।
चरणस्याम्भोजोपमा वदनस्य च चन्द्रसाम्यमित्युत्प्रेक्षा ॥

प्रश्नयामास भट्टारकाधीश्वरोऽनामयादि स्वयं तस्य सूरीशितुः ।

तेन रेजे पुनः सोऽधिकं सूनुना यौवराज्यान्वितेनैव भूवासवः ॥ ८ ॥

भट्टारकाधीश्वरो बृहद्गणधराधिराजो हीरविजयसूरीश्वरः स्वयमात्मना तस्य सूरीशि-
तुर्विजयसेनसूररनामयादि नीरोगताप्रमुखं समाधिकुशलतादिकं प्रश्नयामास पृच्छति
स्म । पुनः स हीरभट्टारकः तेनाचार्येण समधिकं रेजे बभौ । क इव । भूवासव इव ।
यथा पृथिवीपुरहूतो राजा यौवराज्येन युवराजस्य भावस्तेन यौवराज्यपदवीभावेन
युक्तेन युवराजेन सूनुना नन्दनेन कृत्वा राजते ॥

नैककायान्प्रणीय स्वयं दर्शयन्द्वादशार्चिः स्वचातुर्यमुर्व्यामिव ।

शिष्यसार्था मिथो नव्यकाव्यैस्ततः संस्तुवन्ति स्म तौ सूरिभूभास्करो ९

ततो विजयसेनसूरिसमागमनानन्तरं शिष्यसार्था विद्वद्विनेयव्रजा मिथः परस्परं
नव्यकाव्यैः सद्यस्ककवित्वैः कृत्वा तौ हीरविजयसेननामानौ सूरी एव भूभास्करो सू-
रिराजौ । ‘मध्यंदिनावधि विधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे । प्रति संस्तुवन्ति स्म वर्णया-
मासुः । विजयसेनसूरिं हीरविजयसूरिं श्रीहीरविजयसूरिशिष्या तुष्टुः । उत्प्रेक्ष्यते—
नैकान्बहून् कायान् मूर्तीः प्रणीय कृत्वा । ‘निषेधार्थनकारस्य समासत्वान्नलोपाभावो
निषेधार्थवाचकौ तत्र निषेधार्थवाची नकारस्तत्र लोपो न भवति नैषधेत्यादौ ज्ञेयः न-
अस्तु लोपो भवत्येव’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । उक्तत्वात्समासत्वाच्च नकारस्यानादेशो न
स्यादिति । द्वादशार्चिर्वृहस्पतिर्व्यां पृथिव्यां स्वयमात्मनैव स्वस्यात्मनश्चातुर्यं निपुणतां
दर्शयन्निव । अथ वा दर्शयन् द्वादशार्चिरिव ॥

तत्समीक्षोत्सुकीभूतदिङ्नायके पौरपुञ्जैः प्रणीते महाडम्बरे ।

द्यामिवेन्द्रो जयन्तेन भट्टारकस्तेन सूरीन्दुना प्राविशत्पत्तनम् ॥ १० ॥

भट्टारकः । यद्यपि भट्टारकशब्देन पूज्यत्वख्यापनम् ‘पादा भट्टारको देवः प्रयोज्याः
पूज्यनामतः’ इति हैम्यामुक्त्वात् पूज्यपादाः तथा भूपतिर्भोजदेवः तथा अर्हद्भट्टारकं
गृहीत्वेत्यादौ प्रशस्तार्थप्रकारकत्वं दृश्यते, तथाप्यत्र जैनशासनानुसारेणाधुना लोक-
ख्या भट्टारकशब्देन बृहद्गणाधिपस्तच्छिष्यस्तस्मिन्बृहद्गणाधिपे विद्यमाने आचार्य इत्यु-
च्यते इति संप्रदायः । श्रीहीरविजयसूरिः तेन सूरीन्दुना विजयसेननाम्ना सूरिचन्द्रेणा-
चार्यचन्द्रमसा साकं पत्तनं पुटभेदनं प्राविशत्प्राविशति स्म । ‘द्वीपान्तरेभ्यः पृथिवीप-
तिभ्यः क्षणादवापे पुटभेदनं तत्’ इति नैषधे । क इव । इन्द्र इव । यथा पुरंदरो
जयन्तेन निजनन्दनेन जयदत्तेन समं द्वां दिवं नन्दनादौ क्रीडित्वागस्य प्राविशति ।
कस्मिन् सति । पौरपुञ्जैर्नागरिकनिकरैर्महाडम्बरे अतिशयितोत्सवे प्रणीते कृते सति ।
किंभूते महाडम्बरे । तस्य महाडम्बरस्य समीक्षा सम्यक्सर्वप्रकारेणावलोकनं तत्रो-

सुकीभूता उत्कण्ठिता जाता दिङ्मायका दिक्पाला यत्र ॥ इति हीरसूरैः पत्तने समागजनम् ॥

देशनामन्दिरं श्रीजिनेन्दोः पुरो व्यालुलोके वसत्यां व्रतीन्द्रस्ततः ।

आप्तमाराद्धुकामेव लोकत्रयी वप्रत्रितयीकैतवात्समीयुषी ॥ ११ ॥

ततः पत्तने प्रवेशानन्तरं व्रतीन्द्रः सूरिः वसत्यामुपाश्रये पुरस्तात् श्रीजिनेन्दोः श्रिया त्रैलोक्याधिपत्यलक्ष्म्या कलितस्य जिनानां सामान्यकेवलानां मध्ये इन्दुः सर्वा-
ह्लादकवात्तीर्थकरस्तस्य यदग्रे वर्ण्यमानं सुरासुरनरेषु प्रसिद्धं वा देशनामन्दिरं समवसर-
णं व्यालुलोके विलोकते स्म । दृष्टवानित्यर्थः । तत्किम् । यत्र धर्मदेशनामन्दिरे वप्रत्रि-
तय्याः प्राकारत्रयस्य कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तं श्रीजिनेन्द्रमाराद्धुकामा सेवितुमभि-
लषन्ती लोकत्रयी त्रिलोकी समीयुषी समागतेव ॥

यत्र वापीषु पश्यन्ति शंभुश्रियं वारिदेव्यः स्मिताम्भोजनेत्रैरिव ।

अर्हतेव स्ववाचामृतं निर्जितं सेवितुं तं पुनस्तासु संतिष्ठते ॥ १२ ॥

यत्र समवसरणे वापीषु जलसंपूर्णदीर्घिकासु वारिदेव्यो जलदेवताः स्मितानि
विकसितानि अम्भोजानि कमलानि तान्येव नेत्राणि नयनानि तैः । उत्प्रेक्ष्यते—
विकचकमललोचनैः कृत्वा शंभुश्रियं तीर्थकृतश्चतुर्दशदिशायाद्यतिशायिलक्ष्मीं प-
श्यन्ति विलोकयन्तीव । पुनरर्हता जिनेन्द्रेण स्ववाचा मधुरिमाद्वैतात्मगिरा अमृतं
पीयूषं निर्जितमभिभूतं सत् । उत्प्रेक्ष्यते—पुनस्तं जिनेन्द्रं सेवितुमुपासितुमिव तासु
वापीषु संतिष्ठते समेत्य स्थितम् ॥

यत्र सोपानपङ्क्तिः शिवाहं महागेहमारोढुमूहेऽधिरोहिण्यभात् ।

निम्नगेत्यात्मकौलीननिर्मृष्टये जाह्नवीवोत्तरङ्गागताहृत्पदे ॥ १३ ॥

यत्र भगवत्समवसरणे सोपानपङ्क्तिः आरोहणश्रेणी अभाद्रभौ । उत्प्रेक्ष्यते—शिवं मो-
क्षमित्याह्वा नाम यस्य तादृशं महागेहमत्युच्चैः स्थानस्थितप्रासादमारोढुमुच्चैश्चढितुमधिरो-
हिणी निःश्रेणिकेव ऊहे इवार्थे । अथ वा वितर्कयामि । 'तपःकुशाङ्गास्तं शैलमारोढुं न
वयं क्षमाः । चटिष्यति कथं प्रौढदेहोऽयं गजराजवत् ॥' इति ऋषिमण्डलवृत्तौ । वा अथ वा
इयं निम्नगा नीचगामिनी । कामिन्यो नीचगामिन्यः इत्यप्यर्थध्वनिः । इत्यमुना प्रकारेण
आत्मनः स्वस्य कौलीनस्य जनापवादस्य निर्मृष्टये विनाशनाय अर्हत्तल्लोकयनाय-
कस्य पदे चरणे समवसरणरूपे वा स्थाने आगता समागतवती । उत्तरङ्गा उक्त ऊ-
र्ध्वमुच्चैस्तराः सोपानरूपास्तरङ्गाः कल्लोला यस्यास्तादृशी जाह्नवी जहुकन्या गङ्गेव ॥

यत्र सृष्टैरिव श्रेयसे तोरणैः सार्वविश्वाधिपत्याभिषेकक्षणे ।

येन नेतुं जनान्मुक्तिपुर्यामिवोद्धाटितैर्द्वारवारैः पुनः पुस्फुरे ॥ १४ ॥

यत्र समवसरणे तोरणैश्चतुर्दिक्प्रतोलीषु प्रणीतैर्बहिर्द्वारैर्वन्दनमालाभिर्वा पुस्फुरे

शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—सार्वस्य तीर्थकरस्य विश्वेषां त्रिजगतामाधिपत्यं स्वामित्वम् । राज्यमित्यर्थः । तस्य तत्र वा अभिषेचनं स्थापनं तस्य क्षणे प्रस्तावे महोत्सवे वा श्रेयसे कल्याणकृतये सृष्टैर्निर्मितैरिव । लोकेऽपि प्रायो महोत्सवसमये तोरणानि वध्यन्ते । पुनर्यत्र समवसरणे द्वारवारैर्द्वारद्वारैः पुष्कुरे स्फुरितम् । उत्प्रेक्ष्यते—येन भगवता जनान् भव्यलोकान् मुक्तिपुर्या सिद्धिनगर्या मोक्षमध्ये नेतुं प्रापयितुमुद्घाटितैर्मुकुलीकृतैरर्थान्मुक्तिपुरीद्वारैरिव ॥

शंभुमुद्दिश्य मुक्तैः सरेणशुगैर्मोघतां किं गतैरन्तरेऽवस्थितैः ।

दौकितैरात्मनः किं वपुर्लिप्सया पुष्पचापेन वाभ्राजि यस्मिन्सुमैः ॥१५॥

यस्मिन् समवसरणे सुमैः पञ्चवर्णजानुप्रमाणाप्रमाणोज्जृम्भमाणकुसुमैरभ्राजि रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—सरेण मनोभवेन विरोधितया शंभुं पार्वतीपतिमर्हन्तं वा उद्दिश्य संकल्प्य मुक्तैः क्षित्तैरसाधारणसिद्धयनुभावात् शंभुविषये पुनर्मोघतां विफलतां गतैः प्राप्तैः । अत एव वेध्या लब्धात् अन्तर्मध्ये विचाल एव स्थितैः पतितैराशुगैर्बाणैरिव कामस्य च पुष्पशरत्वात् । अथ वा पुष्पचापेन श्रीनन्दनेन अनङ्गत्वादात्मनः स्वस्य वपुर्लिप्सया शरीरप्राप्तिकाङ्क्षया दौकितैरुपदीकृतैः शरैः किं स्वविशिखैरिव ॥

धीरिमाधःकृते शीलतीव त्रपासंकुचद्वारैवे स्वर्गिरौ विष्टरे ।

यत्र शौर्येण निर्जित्य वन्दीकृतः श्रीजिनेनेव पञ्चाननोऽधःकृतः ॥१६॥

यत्र समवसरणे विष्टरे भगवदुपवेशनोचिते सिंहासने पञ्चाननः केसरी अधः अर्धाङ्गिनेन्द्रस्याधस्तात्स्थितः तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीजिनेन त्रिभुवनाधिपत्य-लक्ष्मीविलासरसिकेन तीर्थकृता शौर्येण स्वशूरतया साहसिक्येन निर्जित्याभिभूय वन्दीकृतो वन्द्यं विहितः सन् अधस्तास्थिवान् विष्टरे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—धीरिम्णा सुरासुर-नराद्यचालनासाधारणधैर्येण कृत्वा अधःकृते परिभूते नीचैः कृते न्यक्कारं प्रापिते । अत एव त्रपया लजाधिक्येन संकुचलघूभवद्वारवं गुरुत्वमुच्चैस्तरत्वं वपुषो महत्त्वं च यस्य तादृशे शीलति । अर्धाङ्गवन्तं सेवमाने स्वर्गिरौ सुवर्णाचले ॥

अर्हता त्रातुमात्माश्रितान्संसृतेर्भीलुकार्णिक चतुर्दिक्समेताञ्जनान् ।

यत्र तेषां चतस्रो गतीर्वा निराकर्तुमूहे चतस्रः कृता मूर्तयः ॥ १७ ॥

यत्र समवसरणे अर्हता तीर्थकृता चतस्रश्चतुःसंख्याका मूर्तयः कायाः कृता निर्मिताः । उत्प्रेक्ष्यते—संघतेः संसारात् अनादिभवपरम्परापरिभ्रमणदुःखभरात् भीलुकान् बिभ्यतीत्येवंशीलान् । तथा च चतुर्दिग्भ्यः पूर्वादक्षिणापश्चिमोत्तरालक्षणाभ्यः चतस्रो हरिर्द्वयः समेतान् स्वसमीपे समागतान् अत एवात्मानं भगवन्तम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इति हैम्याम् । आश्रितान् उपेत्य स्वशरणीभूतान् भविकलोकान् किं त्रातुं रक्षितुमिव चतस्रो मूर्तयो विहिताः । अथ वा ऊहे अहमेवं विचारयामि । पूर्वोक्तविशे-

षणविंशतिनामेव तेषां जनानां चतस्रो नरकतिर्यङ्मनुष्यसुरलक्षणाश्चतुःसंख्याका अपि गतीर्भवाच्चिरार्कतुमिव निवारयितुमिव वा चत्वारो देहा विहिता धृताः ॥

भाति भामण्डलं राजवैरादिवासस्य पृष्ठे प्रविष्टः प्रणश्यारुणः ।

ब्रह्मणा यत्र मुक्तः किमर्चिर्व्रजो विश्वकृत्तक्षिताङ्गस्य वा भास्वतः १८

यत्र श्रीजिनधर्मदेशनसदने आप्तस्य तीर्थकृतः पृष्ठे शिरसः पश्चात्प्रदेशे भामण्डलं ज्योतिःपुञ्जो भाति विभ्राजते दीप्यते वा । उत्प्रेक्ष्यते—राज्ञा चन्द्रेण नृपेण वा सह वैराद्विरोधात् चन्द्रोदये क्वापि प्रणश्य याति खोदये च स्वकरैरेव प्रातश्चन्द्रश्रियं मुष्णाति । अत एव विरोधः । तस्मात्प्रणश्य प्रपलाप्य आप्तस्य विश्वस्तस्य अयं सर्वथापि प्राणत्यागेऽपि मह्यं कस्मैचिदपि न ददाति इति विश्वासं प्राप्तस्य मित्रस्य पृष्ठे प्रविश्य स्थितोऽरुणो भानुमानिव । वाथवा ब्रह्मणा विधात्रा यत्र समवसरणे विश्वकृता देववार्धकिना तक्षितं तनूकृतं 'तांव्यू' इति लोकोक्त्या तादृशमङ्गं कायो यस्य । खदयित्वादिस्त्यतेजोसहिष्णुदक्षाङ्गजाभ्यर्थितदेववार्धकिना चक्रभ्रममारोप्य उल्लिखितवपुष इत्यर्थः । तादृशस्य भास्वतो भास्करस्य अर्चिर्व्रजस्तेजोराशिरिव मुक्तः स्थापितः । 'आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यन्मोल्लिखितो विभाति' इति रघुवंशे ॥

किं प्रिये पूर्णिमाशर्वरी चन्द्रिका वक्रचन्द्रस्य पत्युर्द्विपार्श्वी श्रिते ।

कुन्तलैर्न्यकृते वानुनेतुं स्वयं राजतोऽभ्यर्णयोश्चामराली प्रभोः ॥ १९ ॥

प्रभोर्वृषभतीर्थकृतोऽभ्यर्णयोः पार्श्वयोः प्रदेशयोश्चामराली बालव्यजनमाले राजतः शोभेते । उत्प्रेक्ष्यते—पत्युः स्वभर्तुर्वक्रचन्द्रस्य वदनविधोः । द्वयोः पार्श्वयोः समाहारो द्विपार्श्वी तामुपान्तद्वन्द्वं श्रिते । किंभूते । प्रिये द्वे कान्ते इव । एका पूर्णिमाशर्वरी राकारात्रिः, अपरा चन्द्रिका ज्योत्स्ना । 'कौमुदी कुमुदिनीभदक्षजारोहिणीद्विजनिशौषधीपतिः' इति हैम्याम् । द्वयोरपि पतित्वात् द्वे अपि उपेत्य द्विपार्श्वी श्रिते । चन्द्रकामिन्याविव वाथवा प्रभोर्नाभेयदेवस्य कुन्तलैः परिव्रज्याया उपादानैः पञ्चमुष्टिलोचविरचनावसरे प्रसरत्पवने प्रेरितागतां सस्थूललहलहायमानामानमूर्धजविलोकनानन्दितपुरंदरप्रार्थनाक्षणरक्षितैकमुष्टिमस्तकप्रशस्तकुन्तलहस्तेन न्यकृता तिरस्कृता सती स्वयमात्मना अनुनेतुमर्थात्प्रभुं प्रसादयितुं वा श्रिते प्रकीर्णकपङ्कचाविव ॥

आतपन्नत्रयी यत्र रेजे विभोः क्षमाम्बरोद्द्योतकृत्त्वत्प्रसत्त्याभवम् ।

मां त्रिलोक्याः पुनर्द्योतकं त्वं सृजेतीव वक्तुं त्रिमूर्तिः श्रितोऽयं शशी २०

यत्र समवसरणे विभोस्तीर्थनाथस्य आतपन्नत्रयी छत्रत्रितयी रेजे विराजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण वक्तुं कथयितुं तिस्रो मूर्तयः शरीराणि यस्य स त्रिमूर्तिः तादृशोऽयं भगवन्तं श्रितः सेवमानः शशी चन्द्र इव । इति किम् । हे विभो, त्वत्प्रसत्त्या श्रीमत्प्रसादात् अहं क्षमाम्बरोर्भूमीनभसोरुद्द्योतकृत् प्रकाशकर्ता अभवं

संजातः । पुनस्त्वं मां त्रिलोक्या भुवनत्रयस्योद्द्योतकं प्रकाशकर्तारं सृज कुरु । यथा
द्यावापृथिव्योरुद्द्योतं करोमि तथा स्वर्गपातालभूलोकेषु प्रकाशकारकं निर्माहि इत्यर्थः ॥

विभ्रतीभिः खगान्पत्रविभ्राजिनश्चन्द्रहासप्रसूनप्रतानान्वहन् ।

चैत्यशाखी शिखाभिः श्रिताभिर्नभः स्वर्गिवृक्षान्विजेतुं किमुद्यच्छते २१

यत्र धर्मदेशनवेष्टमनि चैत्यशाखी अशोकतरुपररो वा वटवृक्षादिसालद्रुमावसानः
चैत्यद्रुमः नभो गगनाङ्गणं श्रिताभिः गाहमानाभिः शाखाभिः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गिवृ-
क्षान् सुरद्रुमान् कल्पतरून् विजेतुं पराभवितुमुद्यच्छते उद्यमं करोतीव सजीभवतीव
वा । किंभूताभिः शिखाभिः । पत्रैः पक्षैर्विभ्राजन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलान् खगान् पक्षिणो
बाणांश्च विभ्रतीभिः धारयन्तीभिः । ‘बाणपृषक्तविशिखौ खगगर्धपक्षाः’ । तथा
‘विहगो विहंगमखगौ खगगर्धपक्षा अपि’ इति हैम्याम् । चैत्यशाखी किं कुर्वन् ।
चन्द्रः सुधाकरः कर्पूरो वा हासो हसितं तयोः श्वेतिभ्रा तुल्यानां प्रसूनानां कुसुमानां
प्रतानान् स्तवकान् चन्द्रहासखङ्गांश्च वहन् विभ्राणः । अन्योऽपि सुभटो विरोधिना
योद्धुमिच्छुः चतुर्विधान्यायुधानि धत्ते । यथा—पाणिमुक्तानि शक्तिप्रमुखानि, यन्त्रमु-
क्तानि शरादिकानि, अमुक्तानि शस्त्रिकाद्यानि, मुक्तामुक्तभेदद्वयात्मकानि दण्डादिमानि,
इति । तथैवायं चैत्यतरुः शरग्रहणेन पाणियन्त्रमुक्तयोर्ग्रहणम् । चन्द्रहासग्रहणेन च
मुक्तामुक्तयोः संग्रहः । तथा च हैम्याम्—‘अखं तच्चतुर्विधम् । मुक्तं द्विधा पाणियन्त्र-
मुक्तं शक्तिशरादिकम् । अमुक्तं शस्त्रिकादि स्याद्यष्टयायं तु द्वयात्मकम् ॥’ इति ॥

देशनामन्दिरे यत्र जाम्बूनदः शक्रकेतुः पुरश्चुम्बति स्माम्बरम् ।

कौतुकान्नाकिलोकं दिदृक्षुः क्षितेस्तीर्थभर्तुः प्रसर्पन्प्रतापः किमु ॥ २२ ॥

यत्र धर्मदेशनामन्दिरे श्रीजिनराजसमवसरणे जाम्बूनदः स्वर्णनिर्मितः शक्रकेतुरि-
न्द्रध्वजः पुरो जिनेन्द्राग्रे अम्बरमाकाशं सहस्रयोजनप्रमाणत्वेनात्युच्चैस्तरत्वात् चुम्बति
स्पृशति । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकात् हृदयमध्येऽतिकृत्तह्लात् नाकिनां देवानां लोकं भुवनं
वासस्थानं स्वर्गं दिदृक्षुर्दृष्टुमिच्छुः क्षितेर्भूमेः सकाशात्प्रसर्पन्नुच्चैर्गच्छन् तीर्थभर्तुर्जिने-
न्द्रस्य किमु प्रतापः ॥

विप्रलब्धं विधात्रेव रूपश्रिया स्वं त्रिदश्योऽवयान्ति स यद्वीक्षणात् ।

यत्र भान्ति स्म ते शालभञ्जीभराः श्रीसुताम्भोजदृग्विभ्रमभ्राजिनः २३

यत्र श्रीमज्जिनेश्वरसमवसरणे ते जगन्नयील्लैणजैत्रगात्रलताः शालभञ्जीभराः पाञ्चा-
लिकाप्रकराः भान्ति स्म शुशुभिरे । किंभूताः । श्रीसुतस्य कमलानन्दनस्य स्मरस्य
अम्भोजदृक्कमललोचना स्त्री रतिस्तस्या विभ्रमः शोभा विलासो वा तद्वद्विभ्राजन्ते इत्ये-
वंशीलाः । अथ वा रतिवद्विभ्रमेण शोभया विलासेन वा शोभनशीलाः । ते के ।
येषां पुत्रिकाप्रकराणां वीक्षणादर्शनात् त्रिदयः सुराङ्गनाः स्वमात्मानं रूपश्रिया वपुर्वै-
भवेन विधात्रा जगद्यावत्पुरुषयोषिद्वर्गसर्गविधायिना विप्रलब्धं वञ्चितमिवावयान्ति स्म

मेनिरे । 'मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलं वाचिमूकः' इति नैषधे ।
विप्रलब्धुं योग्यं विप्रलभ्यमिति तदर्थः ॥

आप्तलक्ष्मीलताया इवोद्यत्फलं वीक्ष्य विश्वेशितुर्देशनावेश्म तत् ।

गोचरी स्यान्न वाक्चेतसोर्यः क्वचित्संमदं विन्दति स्म व्रतीन्द्रः स तम् २४

स व्रतीन्द्रो हीरविजयसूरिः तं मोहदयासादनसदृशं संमदमानन्दं विन्दति स्म लभते स्म । तं कम् । यः संमदः क्वचित्कुत्रापि स्थाने नभःकल्लोलिनीविलसत्कल्लोलमाला-स्खलितवाग्विलासशालिसुरासुरनरसूरिषु वा वाक्चेतसोर्वचनमनसोर्वा न गोचरी स्याद्विषयो भवेत् । किं कृत्वा । विश्वेशितुस्त्रैलोक्यनायकस्य श्रीमत्तीर्थकृतो देशनावेश्मसमवसरणं वीक्ष्य लोचनगोचरीकृत्य । किंभूतं तत् पूर्वव्यावर्णितस्वरूपम् । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तस्य जिनराजस्य लक्ष्मीर्भुवनत्रयैश्वर्यश्रीः सैव लता विकसद्बद्धी उद्यत्प्रकटीभवत्फलमिव ॥ इति पुरकृतानुसारेण समवसरणवर्णनम् ॥

तीर्थकृद्ब्रह्मचन्द्रेक्षणोद्वेलितानन्दसिन्धोरिवोद्भूतनूतामृतैः ।

स्वेन तत्राभिनो नूय नयैः स्तवैः श्रीजिनं नेमिवान्हीरसूरीश्वरः ॥ २५ ॥

हीरसूरीश्वरस्तत्र समवसरणे स्वेनात्मना नयैः सद्यस्कैः स्तुतिरूपवृत्तैः अभिनो नूय अतिशयेन भक्तिभरेण स्तुत्वा श्रीजिनं श्रीमद्भगवन्तं नेमिवान् प्रणमति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्तवैः तीर्थकृतो जिनेन्द्रस्य वक्त्रं वदनमेव चन्द्रः पार्वणशावरीवरस्तस्येक्षणादालोकनादुद्वेलितस्य वेलामतिक्रान्तस्योत्कण्ठितस्य आनन्दो मानसान्तःप्रसरत्प्रमोदः स एव सिन्धुरथाक्षीरनीरनिधिस्तस्मादुद्भूतैः प्रकटैर्जातैः अमृतैः सुधारसैरिव ॥

सृष्टसर्वज्ञसंघः सुधाधामवद्भासरान्कांश्चिदत्रातिवाह्य प्रभुः ।

साधुवर्गैस्ततोऽन्वीयमानः पुरात्पूर्वदेशं प्रति प्रीतिमान्प्रस्थितः ॥ २६ ॥

ततः पत्तने कतिचिद्विवसस्थित्यनन्तरं पुरादणहिल्लपाटकपत्तनात्पूर्वदेशं प्रति प्राचीनमण्डलं प्रति प्रस्थितः प्रचलति स्म । किं क्रियमाणः । साधुवर्गैर्विजयसेनसूरिप्रमुखानेकैर्मुनिमण्डलैरन्वीयमानोऽनुगम्यमानः । किं कृत्वा । तत्र पत्तने कांश्चित्कतिचित्क्रियत्संख्याकान्वासरान्दिवसान् अत्र पत्तनमध्ये अतिवाह्य अतिक्रम्य । किंभूतः प्रभुः । सृष्टः कृतः सर्वज्ञेन जिनेन्द्रेण सार्धं सङ्गो भक्तिस्तवनादिको येन । किंवत् । सुधाधामवत् । यथा अमृतकान्तिश्चन्द्रः सृष्टो निर्मितः सर्वज्ञस्य श्रीकण्ठस्य शिरःस्थितिलक्षणो येन स तादृगास्ते ॥

सीमभूमौ वटात्पल्लिकायास्ततो भावडस्यात्मभूः सूरिशीतद्युतेः ।

चैत्यमर्चामिव श्रीजिनेन्दोर्गुरोः पादुकां स्तूपमभ्येत्य स प्राणमत् २७

ततः पत्तनात्प्रस्थितेनानन्तरं वटात्पल्लिकाया वटशब्दादग्रे पल्लिका वटपल्लिका 'वडली' इति नाम्नी तस्याः सीमभूमौ ग्रामाद्वाह्यावनीप्रदेशे स्तूपमभ्येत्य स्तूपस्य समीपे

समागत्य गुरोः स्वधर्माचार्यस्य पादुकां पदद्वयीस्थापनाप्रतिविम्बं स सूरिः प्राणमन्नम-
स्करोति स्म । किंभूतस्य गुरोः । भावडस्य भावडनाम्नो व्यवहारिण आत्मभूर्नन्दनः स
एव सूरिशीतद्युतिः एतावता श्रीविजयदानसूरीन्दुस्तस्य । कामिव । अर्चामिव । यथा
भव्यश्चैल्यं श्रीजिनप्रासादमभ्येय श्रीमत्तीर्थकृत्प्रतिमां प्रणमति ॥

ब्रह्मपुत्री स्मितानेकपद्माङ्किता यत्पुरश्रीमणीमेखलेवाजनि ।

सूरिकण्ठीरवोऽकुण्ठलोकोत्सवैः सिद्धपूर्वं पुरं पावनं तद्वधात् ॥२८॥

सूरिकण्ठीरवः आचार्यपञ्चाननः अकुण्ठैर्बहलैर्लोकानामुत्सवैर्महामहैस्तत्प्रसिद्धं सिद्धपूर्वं
पुरम् । सिद्धपुरमित्यर्थः । पावनं पवित्रं व्यधाचकार । सिद्धपुरे जगामेत्यर्थः । स्मित-
विकसितरैरेकैरनल्पैर्विविधप्रकारैः पद्मैः कमलैरङ्किता ब्रह्मपुत्री सरस्वती नाम्ना नदी
यत्पुरश्रिया सिद्धपुरलक्ष्म्या मणीनां रत्नखचितमेखलेव काञ्चीव अजनि संजाता ॥

श्रीमदाचार्यपादा उषित्वा कियद्वासकांस्तातपादैः समं वर्त्मनि ।

ते न्यवर्तन्त तेभ्यस्तदादेशतः सैकतेभ्यः पयोधेरिवाम्भःप्लवाः ॥२९॥

श्रीमदाचार्यपादाः श्रीमन्तो विजयसेनसूरयः तातपादैः श्रीहीरविजयसूरीश्वरैः समं
वर्त्मनि मार्गे कियद्वासकान् कतिचित्संख्याकान् निवासान् । वासकशब्देन रात्रय
एवोच्यन्ते । तत्र दिवसास्तु स्वयमेव समेताः । उषित्वा स्थित्वा तेभ्यः श्रीमद्वारकेभ्यः
तदादेशतः तदाज्ञया तदनुशिष्टया न्यवर्तन्त पश्चाद्भवलिरे । के इव । अम्भःप्लवा
इव । यथा सैकतेभ्यस्तटेभ्यः सकाशात्पयोधेः समुद्रस्य अम्भःप्लवाः पयःपूरा निवर्तन्ते
पश्चाद्बलन्ते ॥

एष निघ्नस्तमो विश्वमुद्धोधयन्कैश्चिदुद्यन्महोभिर्मुनीन्द्रैः समम् ।

तत्पुरात्प्रस्थितिं तेनिवान्पद्धतौ सार्वभौमो ग्रहाणामिवाग्रे ग्रहैः ॥३०॥

एष हीरसूरिर्मुनीन्द्रैर्वाचकपण्डिताखण्डलैः समं तत्पुरात्सिद्धपुराभिधनगरात्पद्धतौ
मार्गे प्रस्थितिं प्रस्थानं तेनिवान् कुरुते स्म । क इव । सार्वभौम इव । यथा ग्रहाणां
चक्रवर्ती भाखान् ग्रहैः सहाग्रे आकाशे प्रस्थितिं तनुते । 'ग्रहाब्जिनीगोद्युपतिः' इति
हैम्यामुक्तत्वात् ग्रहपतित्वं भानोः । किं कुर्वन्नेष भानुश्च । तमोऽज्ञानं पापं वा ध्वान्तं
च निघ्नन् व्यापादयन् । पुनः किं कुर्वन् । विश्वं भुवनमुद्धोधयन्प्रतिबोधयन् बोधिवी-
जान्वितं वा विदधत् जागरयन् । किंभूतैः मुनिभिः । उद्यत्प्रकटीभवन्महः परवादि-
जनेषु प्रतापो येषां तैः । उत् ऊर्ध्वं यद्गच्छत् उपलक्षणाद्दशदिक्षु स्फुरत् जगज्जगिति
कुर्वन्महस्तेजो येषाम् ॥ इति पत्तनात् शिरोत्तरायावन्मार्गः ॥

भीरुभावाज्जिज्जं व्यालमालाकुलं भीष्ममौज्ज्याश्रमं नागपूरागता ।

किं महीमण्डलं भिल्लपल्ली पुरो हीरसूरीन्दुना व्यालुलोके क्रमात् ॥३१॥

हीरसूरीन्दुना श्रीहीरविजयसूरिचन्द्रेण क्रमाद्विहारपरिपाटीतः पुरोऽग्रे भिल्लानां

पुलिन्दाणां पल्लीपुरी शिरोत्तराभिधानग्रामविशेषः ह्रस्वग्रामो वा व्यालुलोके दृग्गोचरीचक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—महीमण्डलं पृथिवीपीठं प्रत्यागता । सप्तमी वा महीमण्डले समेता नागपू-
र्भोगावतीनाम्नी भोगिनगरीव । किं कृत्वा । भीरुभावात् । विभेतीखेवंशीला भीरुस्तस्या
भावस्तस्मात् । अथ वा स्त्रीस्वभावात् । ‘योषिद्विशेषास्तु कान्ता भीरुनितम्बिनी’ इति
हैम्याम् । मीतिसौलभ्याच्च । व्यालानां विषधराणां मालाभिः श्रेणीभिराकुलं निर्भरभृत-
मत एव भीष्मं भयानकं मनस्यल्यन्तभयोत्पादकं निजमात्मीयमाश्रयं निवासस्थान-
मौज्ज्वल्य ल्यक्त्वा । ‘वसीत निर्भये स्थाने’ इति वचनात् द्विजिह्वभरभृतं भोगिभवनं
सुक्त्वा क्षितौ समायाता नागनगरीव ॥

कापि शक्तिं वहद्भिः कुमारैरिवाभ्मोजनभैरिवोद्यद्गदाधारिभिः ।

यामिरूपैरिवाभाति कादम्बरी सादरीभूतचित्तैः किरातैर्भृता ॥ ३२ ॥

या भिल्लपल्ली आभाति । किंभूता । बलवतामपि वहद्भिः किरातैर्भृता । तथा कुत्र-
चित्स्थाने अभ्मोजनभैः कृष्णैरिव उद्यन्ती दीप्यमानां गदां सप्तधातुमयायुधविशेषं
धरन्तीत्येवंशीला गदाधारिणस्तादृशैः धारयन्ती शबरैर्व्याप्ता । कचन पानभूमौ काद-
म्बर्यां मदिरापाने सादरीभूतं तत्परं संजातं चित्तं मनो येषाम् । कैरिव । अभिरूपैरिव ।
यथा कोविदैः कादम्बरीनामा बाणकविकृतग्रन्थविशेषस्तस्मिन्नादरेण अध्यायनाध्याप-
नासक्तमानसैर्जायते तादृशैः सुरापायिभिर्भिल्लैर्भृता ॥

तत्र वित्रासयन्त्रजुनः शात्रवानस्ति पल्लीपतिः कङ्कपक्षाश्रितः ।

जिष्णुभावं सुभद्रानुषङ्गं पुनर्विभ्रदद्वैतधानुष्कतां पार्थवत् ॥ ३३ ॥

तत्र शिरोत्तरानामपल्लयामर्जुनो नाम पल्लीपतिः अस्ति विद्यते । किंवत् । पार्थवन्मध्य-
मपाण्डव इव फाल्गुन इव । किं कुर्वन् । शात्रवान् विपक्षान् विशेषेण जीवं नाशं
त्रासयन्विनाशयन् । पुनः किंभूतः । कङ्कानां जीवविशेषाणां पक्षाः पिच्छानि येषु ।
‘पत्रं पतत्रं पिच्छं वाजस्तनूरुहम् । पक्षो गरुच्छदश्चापि’ इति हैम्याम् । तन्नामन्येव
कङ्कपत्राणि बाणास्तैराश्रितः । उभयपार्श्वबद्धतूणीरः । अर्जुनोऽप्येतादृक् । पुनर्विशेषः
कङ्कस्य युधिष्ठिरस्य पक्षं सहायताम् अथ वा कङ्केन पक्षं सखिता अद्वैतप्रीतित्वात्
श्रितः । ‘पक्षो मासार्धे ग्रहसाध्ययोः । तुल्हीरन्ध्रे विले पार्श्वे वर्गे केशात्परश्वये । पिच्छे
विरोधे देहाङ्गे सहाये राजकुञ्जरे ॥’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘अजातशत्रुः शल्यादिर्धर्मपुत्रो
युधिष्ठिरः । कङ्कोऽजमीढः’ इति हैम्याम् । पुनः किं कुर्वन् । जिष्णुभावं जयनशी-
लतामर्जुनाभिधानं च । तथा सु शोभनानि भद्राणि मङ्गलानि तैः सुभद्रानाम्नाया स्वपत्न्या
च अनुषङ्गः सङ्गस्तं विभ्रद्धारयत् । पुनरद्वैतामसाधारणीं धानुष्कतां धनुर्धरतां च
विभ्रद्धानः ॥

स्पर्धया यन्मुखालोकनप्रोल्लसत्संमदेनेव वर्धिष्णुभिर्भक्तिभिः ।

सूरिमभ्येत्य नत्या निजं पावयन्नात्मगेहाननैषीन्निषादाधिपः ॥ ३४ ॥

निषादाधिपोऽर्जुनः पुलिन्दराजोऽभ्येत्य गुरोः संमुखमागत्य नत्या पादारविन्दप्रणमनेन कृत्वा निजमात्मानं पावयन् पवित्रीकुर्वन् सन् सूरिं हीरगुहं खान् गृहान् आत्मीयानि मन्दिराणि प्रत्यनैषीत् प्रापयामास । निनायेत्यर्थः । कामिः । भक्तिभिः । किलक्षणाभिः । वार्धिष्णुभिः प्रवर्धनशीलाभिः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य सूरैर्मुखं वदनं तस्यालोकनेन दर्शनेन कृत्वा प्रकर्षेण उल्लसन् सर्वप्रकारेण वर्धमानो यः संमदः परमानन्दसंदोहस्तेन सार्धं स्पर्धयेव संघर्षेणेव ॥ इत्यर्जुनपत्नीपतिगृहागमनम् ॥

अथ चतुर्दशभिर्वृत्तैः किराताङ्गनां विशिनष्टि । चम्पूकथादौ तथाविधशबरदशावर्ण-
नदर्शनात् । संबन्धस्तु चतुर्दशवृत्ते वक्ष्यते किरातवशा स्वकान्ता अजूहवदिति—

सेरपद्मेक्षणा भृङ्गगुञ्जारवा हंसकोद्भासिनी सुस्मितश्रीभृतः ।

कर्णिकामादधाना रसोल्लासिनीः पद्मिनीर्नीलभासस्तथामोदिनीः ॥३५॥

किंभूताः भिल्लीः । उत्प्रेक्ष्यते—पद्मिनीरिव । पद्मिनीः स्त्रीः कमलिनीश्च । किंभू-
ताः । स्मेराणि प्रबुद्धानि पद्मानि कमलानि तद्वत्तान्येव वा ईक्षणानि नयनानि यासाम् । पुनः
किंभूताः । भृङ्गानां भ्रमराणां गुञ्जा इव रवो ध्वनिर्यासाम् । ‘वाण्या भृङ्गीपिकीरवौ’ इति
काव्यकल्पलतोक्तत्वात् । पक्षे मधुकराणां गुञ्जारवो यासु । पुनः किंभूताः । हंसकैर्नूपुरैः
पक्षे हंसा एव हंसकाः । स्वार्थे कः । तैर्मरालैरुद्भासन्ते प्राबल्येन शोभन्ते इत्येवंशीलाः ।
पुनः किंभूताः । सुशोभनां स्मितस्य ईषद्वसितस्य सदा हसितवदनत्वस्य वा तरुणार्क-
किरणसंपर्कवशविकसिततालक्ष्मीं च बिभ्रतीर्दधतीः । पुनः किंभूताः । कर्णिकां कर्णभूषणं
बीजकोशं च दधानाः । पुनः किंभूताः । नीला मरकतमणिसदृशा भासो दीप्तयो या-
साम् । पक्षे नीलाः । पुनः किंभूताः । रसैः शृङ्गारादिभिर्विविधक्रीडारसैर्वा पक्षे मकर-
न्दैरुल्लसन्तीत्येवंशीलाः । रसैः सलिलैरुल्लसन्ति उद्भवन्तीत्येवंशीला वा, वारिजत्वात् ।
पुनः किंभूताः । आमोदः आनन्दः परिमलश्च अस्ति आसामासु वा ॥

मेखलामालिनीः शालिपादाः स्फुरदन्तिका दन्तियानास्तमालत्विषः ।

गण्डशैलोलसत्पत्रवल्लीभृतो विन्ध्यशैलाञ्जनोर्वीधरोर्वीरिव ॥ ३६ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यशैलो विन्ध्याद्रिस्तथा अञ्जनोर्वीधरः अञ्जनशैलः तयोर्वीर्भू-
मीरिव । किंभूताः । मेखलां सुवर्णमणीकाञ्चीमद्रिमध्यभागं च मलन्ते धारयन्तीत्येवं-
शीलाः । पुनः किंभूताः । शालिन्यः शोभनशीलाः पादा भूषणालक्तकरङ्गकलितश्चरणाः
पर्यन्तपर्वता यासाम् । पुनः किंभूताः । स्फुरन्तो दीप्यमाना दृश्यमानाश्च दन्ता एव
दन्तिका दशना पर्वता बहिस्तिर्यङ्मूर्तिता गिरिप्रदेशाश्च यासां यासु वा । पुनः किं-
भूताः । दन्तिनां मत्तमतङ्गानां यानमिव यानं गमनं यासाम् । मध्यमपदलोपी समासः ।
पक्षे मत्तेभानां यानं स्वैरगतिर्यत्र । पुनः किंभूताः । तमालास्तापिच्छद्रुमविशेषाः ।
यदुक्तं नैषधे—‘श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप’ इति । तद्वत्
श्यामास्त्विषः शरीरकान्तयो यासाम् । पक्षे । तमालमालाभिः कृष्णकान्तयः । पुनः

किंभूताः । गण्डशैलयोगण्डस्थलयोरुल्लसन्त्यौ विचित्रतया स्फुरन्त्यो याः पत्रवल्लघः पत्रलतास्ता विभ्रतीः । पक्षे गण्डशैलाः पर्वतात्परितः स्थूलाः उपला महत्पाषाणास्तेषु उल्लसन्त्यो विकसन्त्यः पत्रैः पर्णैरुपलक्षिता उपचिता वा वल्लयो वीरुधस्ता विभ्रतीः । 'देव भवद्वैरिवधूवदने च भान्ति नारङ्गतरुपशोभे गण्डशैलस्थलालंकारिण्यो रोध्रलताः' इति चम्पूकथायाम् गण्डयोः शैलोपमानम् । अथ वा गण्डशैलौ कपोलप्रदेशावित्यर्थः ॥

भृङ्गनेत्रा मृणालीभुजा जृम्भिताम्भोजवक्रास्तरङ्गोलसत्कुन्तलाः ।

बन्धुरावर्तनाभी रथाङ्गस्तनी हंसयाना यमीवारिदेवीरिव ॥ ३७ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—यमी वारिदेवीर्यमुनाजलदेवता इव । किलक्षणाः । मकरन्दपानलुभ्य-
दम्भोरुहाभ्यर्णपरिभ्राम्यन्तो भृङ्गा अतिश्यामत्वाच्चञ्चलत्वाच्च भ्रमरा इव भृङ्गारवा इव
नेत्राणि नयनानि यासाम् । पुनः किंभूताः । मृणाल्यः कमलनालानि । नालमृणाल-
शब्दौ त्रिष्वपि लिङ्गेषु । यथा—'कुवलयमृणालमण्डलानालमृणालपटलाः' इति लिङ्गानु-
शासने । ता इव । मृणाला एव वा भुजा बाहवो यासाम् । भुजाशब्दः पुंस्त्रीलिङ्गयोः ।
पुनः किंभूताः । जृम्भितानि विकाशं प्राप्तानि अम्भोजानि जलजानि तद्वृत्तान्येव
वक्राणि वदनानि यासाम् । पुनः किंभूताः । तरङ्गाः पवनप्रसरलुल्लङ्घिता इव । तरङ्गा
एव वा उल्लसन्तो विविधविच्छिन्त्या स्फुरन्तः कुन्तलाः केशपाशा यासाम् । पुनः
किंभूताः । बन्धुरा मनोज्ञा आवर्ता दक्षिणपार्श्वभ्रमणान्याकारविशेषा यासु तादृश्यः ।
पयोभ्रमाः ह्रदादिषु सलिलमागम्य पश्चाद्वलित्वा भ्रान्त्वा च पुरः प्रचलति 'गवर'
इति समुद्रावगाहिलोकेषु प्रसिद्धा जलावर्तास्तद्वत् एव वा । नाभ्यस्तुन्दकूपिका या-
साम् । पुनः किंभूताः । रथाङ्गाश्चक्रवाकास्तद्वत् एव वा स्तनाः कुचा यासाम् । पुनः
किंभूताः । हंसानां यानं लीलागमनं तद्वन्मनोज्ञं गमनं यासु । तथा हंसानां यानं जलक्री-
डाकृते कमलनालबीजकोशबीजास्त्रादनार्थं गमनागमनं यासु ॥

विष्टरोल्लासिनीश्चन्दनामोदिनीः पल्लवोल्लासिजिह्वाः प्रसूनस्मिताः ।

बिम्बदन्तच्छदाः कुन्दमालाः पिकीव्याहता मूर्तिमत्कुञ्जदेवीरिव ॥ ३८ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमतीः मूर्ता अङ्गीकृताङ्गोपाङ्गाः कुञ्जलक्ष्मीर्वनश्रिय इव । किं-
भूताः । विष्टरेषु पीठेषु अथ वा विष्टरैरासनैर्विविधासनोपवेशैरुत्प्रावल्यान लासन्ते
इत्येवंशीलाः । 'विष्टरः पीठमासनम्' इति हैम्याम् । पक्षे विष्टरैरनेकजातितरुभिः
शोभनशीलाः । 'विटपी कुटः क्षितिरुहः कारस्करो विष्टरः' इत्यपि हैम्याम् । पुनः
किंभूताः । चन्दनाः श्रीखण्डा इव पद्मिनीत्वेन विलेपनभूतैर्वा मलयद्वुमैश्च आमोदः
शरीरसौगन्ध्यं परिमलश्च विद्यते यासां यासु वा । पल्लवाः किसलयानि तद्वत्प्रवाला
एव जिह्वा अरुणास्त्रकुमारा रसना यासाम् । पुनः किंभूताः । प्रसूनानि विकचकुसुमानि
उज्ज्वलत्वात्तद्वृत्तान्येव वा स्मितं महितं यासाम् । पुनः किंभूताः । बिम्बानि बिम्बीफ-
लानि बिल्वीफलानि पक्वोल्लूकानि तद्वृत्तान्येव वा दन्तच्छदा दशनपत्राणि अधरा

यासाम् । पुनः किंभूताः । कुन्दानां मुचकुन्दकुसुमानां मालाः स्रजो हाराः कुन्ददुमाणां श्रेण्यो यासां यासु वा । पुनः किंभूताः । पिकीनां कलकण्ठीनां व्याहृतं पञ्चमालापमधुरध्वनिरिवालपितं यासां कोकिलाकलरवो यासु ॥

कञ्चुकिप्राञ्चिताः शेषगेहा इवारामदेशा इवोत्फुल्लपुष्पाङ्किताः ।

केकिमाला इवालंकृताश्चन्द्रकैः पूर्णचन्द्राननाः पूर्णिमासीरिव ॥३९॥

पुनः किंभूताः । कञ्चुकिभिः सौविदलैः प्रकर्षेणाञ्चिताः सहिताः । ‘सौविदल्लाः कञ्चुकिनः’ इति हैम्याम् । तथा ‘काञ्चिजराजर्जरशबरकञ्चुकिकरावलम्बलीलागामिन्यः’ इति चम्पूकथायाम् । शबराधिराजशबरीणामपि कञ्चुकिसत्तास्ते । शेषगेहा इव । यथा नागाधिराजनिकेताः कञ्चुकिभिर्भुजंगमैः संयुता भवन्ति । शेषनागस्य नागाधिपत्वात् । पुनः किंभूताः । उत्फुल्लैरुन्मिषितैः पुष्पैः कुसुमैरङ्किताः कुसुमावतंसहारादियुक्ताः । के इव । आरामदेशा इव । यथा वनप्रदेशाः प्रबुद्धप्रसूनपरिचिता भवन्ति । पुनः किंभूताः । चन्द्रकैः ललाटपट्टे वृत्ताकारतिलकैर्लोकैः ‘चांदलो’ इति नाम्ना प्रसिद्धैः अलंकृता भूषिताः । का इव । केकिमाला इव । यथा मयूरराजी चन्द्रकैः कलापैः कलिता भवन्ति । ‘पिच्छं बह्वं शिखण्डकम् । प्रचलाकः कलापश्च मेचकश्चन्द्रकः समौ ॥’ इति हैम्याम् । पुनः किंभूताः । पूर्णः पार्वणः षोडशकलाकलितः चन्द्रः कौमुदीपतिरिवाननं वदनं यासाम् । का इव । पूर्णिमासीरिव । पूर्णे निशाकरे सर्वकलाकलिते चन्द्रमसि सति सा पूर्णिमा राकेत्युच्यते । यथा हैम्याम्—‘सा राका पूर्णे निशाकरे’ इति । किंभूता राकाः । पूर्णचन्द्र एवाननं मुखं यासाम् ॥

मञ्जुसिञ्जानमञ्जीरविस्फूर्जितैः स्पर्धमाना ध्वनद्भिर्मरालैरिव ।

केलिवातायुपोतान्कचित्कुर्वतीगीतिभिर्योगिवद्भ्यश्चानलीनानिव ॥ ४० ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मञ्जुनि मनोहराणि सिञ्जानानि रणज्झणिति शब्दायमानानि मञ्जीराणि नूपुराणि तेषां विस्फूर्जितैर्विलसितैः कृत्वा ध्वनद्भिर्मृदुमदकलरौप्यघनघर्घरीकरुचिरस्वरं विरचयद्भिर्मरालैः राजहंसैः सार्धं स्पर्धमाना इव स्पर्धां कुर्वाणा इव । क्वचित्कुत्रापि स्थाने केलये क्रीडाकृते समानीय रक्षितान् वातायुपोतान् सारङ्गशावान् गीतिभिर्माकन्दमञ्जीरपुञ्जास्वादनोद्धटिनीकुण्डकुहरप्रेङ्खोलनास्खलितपरभृतप्रपञ्चितपञ्चमरागविरागीकरणप्रवणस्वपाणिवीणाकणनानुगुणप्रगुणितामितस्फीतगीतैः कृत्वा काश्चन योगिवद्योगीन्द्रानिव ध्याने प्रणिध्याने मधुरगानाकर्णने च लीनान्निश्चलाङ्गान् कुर्वतीः ॥

स्वीयरूपप्रश्रिया मानमातन्वतीः प्रेक्ष्यमाणा मुहुः स्मेरदम्भोरुहम् ।

भूषयाहं विशिष्ये किमैतद्रूहा श्रीरुतेतीव चित्ते विजिज्ञासया ॥ ४१ ॥

पुनः काश्चित्किं कुर्वाणाः । मुहुर्वारंवारं स्मेरदम्भोरुहं विनिद्रत्कमलं प्रेक्ष्यमाणाः पश्यन्तीः । उत्प्रेक्ष्यते—चित्ते स्वमानसे इत्यमुना प्रकारेण विजिज्ञासया विशेषप्रकारे-

णावबोद्धमिच्छया । इति किम् । भूषया वपुःश्रिया कृत्वा अहं विशिष्ये विशेषा भवामि । उताथ वा एतस्मिन्स्मेरदम्भोरुहे गृहमावासो यस्यास्तादृशी श्रीलक्ष्मीर्देवी विशिष्यते । ‘कथं च स देशः स्वर्गाद्विशिष्यते न’ इति चम्पूकथायाम् । विशिष्टो भवति स्म यः ॥

निर्जितस्त्वत्सखास्मन्मुखेन हिया पश्य पाण्डूभवन्भ्राम्यतीन्दुर्दिवि ।

वीक्ष्यमाणा वपुर्विभ्रमं दर्पणे सूचयन्तीरितीव स्मितं तन्वतीः ॥ ४२ ॥

काश्चिदर्पणे आदर्शे वपुर्विभ्रमं स्वशरीरसौन्दर्यं शोभां वीक्ष्यमाणा निभालयन्तीः सतीः । उत्प्रेक्ष्यते—स्मितमीषद्वसितं तन्वतीर्विस्तारयन्तीर्विदधतीश्च सतीः । इत्यमुना प्रकारेण सूचयन्तीः कथयन्तीरिव । इति किम् । हे दर्पण, त्वं पश्य सावधानतया विलोकय त्वत्सखा तव मित्रमिन्दुश्चन्द्रः । ‘जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रानभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ’ इति नैषधे मुकुरचन्द्रयोर्मैत्र्यं मिथः । अस्मन्मुखेन अस्माकं वदनेन निर्जितः पराभवभरं प्रापितः सन् पाण्डूभवन् पाण्डुरो वपुषा जायमानः सन् धवलीभूतशरीरः हिया लज्जया कृत्वा दिवि निर्माजुषतया शून्ये नभसि भ्राम्यति पर्यटतीव ॥

निष्कुटानोकहोत्फुलपुष्पोच्चये षट्पदान्पाणिभिर्दूरतः कुर्वतीः ।

स्पर्धितां विभ्रते वाग्विलसैः सहास्माकमेते हृदीतीव रोषोदयात् ४३

काश्चिन्निष्कुटस्य गृहारामस्य अनोकहानां विविधजातिप्ररोपितपादपानामुत्फुल्लानि विनिर्द्रीभूतानि पुष्पाणि कुसुमानि तेषामुच्चयश्रुण्टनं ग्रहणम् । ‘उच्चिन्वन्ति च मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मालिकाः’ इति चम्पूकथायाम् । तथैवोच्चयः षट्पदान् भ्रमरान् पाणिभिः स्वरैः दूरतः विप्रकृष्टान् कुर्वतीः प्रणयन्तीः । उत्प्रेक्ष्यते—हृदि हृदयमध्ये इत्यमुना प्रकारेण रोषोदयात्कोपप्रादुर्भावात् इव । इति किम् । यदेते षट्पदा भ्रमराः अस्माकं वाण्या वाचा सह स्पर्धितां संघर्षिभावमभ्यसूयाम् । ‘वाण्या शृङ्गीपिकीरवौ’ इति काव्यकल्पलतावचनाद्भृङ्गीसाहचर्याद्भृङ्गोऽप्यागत एव । विभ्रते धारयन्ति । कुर्वते इत्यर्थः । खट्वेषिणस्तु दूरमुत्सार्यत एवेति ॥

नाभिदग्ने हृदेऽम्भोविहारालसास्त्रासमुत्पादयन्ती रथाङ्गात्कचित् ।

तद्विभूषां स्तनाभ्यां गृहीत्वा पुरा किं पुनस्तद्वपुष्पीतिमादित्सया ४४

कचिच्छुत्रापि गृहोद्यानप्रदेशे नाभिदग्ने नाभिप्रमाणे । ‘नाभीरम्या नीलतमालका’ इति चम्पूकथायाम् । ‘नीला हरितत्विषस्तमालद्रुमा नाभिरम्या नाभिदग्नाः’ इति चम्पूटिप्पनके । हृदे द्रुहे अम्भोविहारे जलकेलिकरणसमये अलसा मन्थरा लम्पटा वा काश्चित्किरातीः रथाङ्गात् चक्रवाकात् त्रासमाकस्मिकं भयमुत्पादयन्तीर्जनयन्तीः सतीः । उत्प्रेक्ष्यते—पुरा पूर्वं स्तनाभ्यां निजकुचाभ्यां कृत्वा तेषां रथाङ्गानां विभूषां शोभां गृहीत्वा पुनर्द्वितीयवारं तद्वपुषां चक्रवाकशरीराणां पीतिन्नः पीततायाः आदि-

त्स्या आदातुं गृहीतुमिच्छयेव त्रासमुत्पादयन्ती । असद्वस्तुग्रहणे सनीहा भवेत् ।
यतः स्वयं श्यामवर्णत्वेन स्वर्णवर्णवपुः शोभादानमौचितीमञ्चति ॥

कापि विश्लेषयन्तीर्वकाञ्जीवनाद्धारतराष्ट्रान्पुनर्भीमवाहा इव ।

राक्षसीवत्क्षपारागिणीरुत्पलाकाङ्क्षिणीः क्लृप्तकीलालपानाः पुनः ॥ ४५ ॥

कापि गृहोद्यानदीर्घिकादिप्रदेशे काश्चित् शबरनायकनितम्बिनीर्जीवनाजलात्सका-
शात् बकान् बलाहकान् मीनाशिनो जलचरान् पक्षिविशेषान् तथा धार्तराष्ट्रान् सितेत-
तरपक्षान् राजहंसजातिविशेषान् विश्लेषयन्तीः परस्परं स्ववशाभिः बालकैर्वा वियोगं
नयन्तीः । उड्ढाययन्तीरित्यर्थः । का इव । भीमवाहा इव । कुन्तीतनुजन्मत्रिकापेक्षजातीया
मध्यमपाण्डवस्य युधिष्ठिरानुजन्मनो वृकोदरभुजा यथा बकानिति बकनामानं राक्षसम् ।
बहुत्वं तु लङ्काधिपतिराक्षसराजत्वात् । तथा धार्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रस्यापत्यानि धृतराष्ट्रस्य
पितृव्यस्य शतं दुर्योधनदुःशासनप्रमुखान् पुत्रान् जीवनाजीवितव्यात् विश्लेषयन्तीर्वियो-
जयन्तीः । निघ्नतीरित्यर्थः । पुनः काश्चित्क्षपासु हरिद्रासु । 'हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाख्या
वरवर्णिनी' इति हैम्याम् । रात्रिसर्वनामभिरर्थे सति हरिद्रैवोच्यते । यथा चम्पूकथा-
याम्—'वररजनीकरकान्ते' इति । 'निशानभः सदृशे मज्जनगृहे । किलक्षणा । वरा ।
विशिष्टविज्ञानोपेता रजनीकरा हरिद्रोद्वर्तनादिकारकाः पुमांसस्तैः कान्ते प्रधाने ।
निशानभसि किलक्षणे । वरः सर्वकलासंपूर्णो रजनीकरश्चन्द्रस्तेन मनोज्ञे' इति चम्पू-
टिप्पणके । रागो वपुरुद्वर्तनादिना आसत्तिर्विद्यते यासाम् । तथा उत्पलानि कुवलय-
न्याकाङ्क्षन्तीत्येवंशीलाः । पुनः कुपुं रचितं कृतं कीलालस्य पानीयस्य पानं याभिः ।
किंवत् । राक्षसीवत् । यथा निशाचर्यः राक्षस्यः क्षपायां रजन्यां रागोऽस्त्यासाम् । रात्रिचर-
त्वात् । तथा उत्प्राबल्येन पलं मांसमाकाङ्क्षति सामस्येन वाञ्छतीत्येवंशीलाः । पला-
दत्वात् । पुनः निर्मितं कीलालस्य रुधिरस्य पानं याभिः । असृक्पत्वात् । 'रात्रिचरो
रात्रिचरः पलादः क्रीनाशरक्षोनिकसात्मजाश्च । क्रव्यात्कर्बुरनैर्कृतासृक्पः' इति हैम्याम् ।
'कीलालं रुधिरे नीरे' इत्यनेकार्थः ॥

केलिवापीपयोमज्जनव्याजतो नागनारीर्विजेतुं व्रजन्तीरिव ।

नागगेहोपसीदत्तदम्भोजहृदग्विभ्रमं कुर्वतीर्निःसरन्तीः पुनः ॥ ४६ ॥

काश्चित्किरातेशितुः कान्ताः केलिवापीषु क्रीडाकृते या गृहोपवनदीर्घिकास्तासु प-
यसि स्वतन्त्रसलिलान्तरालखेलनसमये पयसि पानीये मज्जनानां क्रीडारसाद्ब्रूयानां
दनुप्रादुर्भवनव्यतिकरे वा सलिलाद्बहिर्निर्गच्छन्तीः सतीः नागगेहाद्भुजंगभवनादुपसी-
दन्तीनामागच्छन्तीनां तदम्भोजहृदशां नागनिकेतननितम्बिनीनां विभ्रमं विशेषेण
भ्रान्तिं कुर्वतीः सृजन्तीरिव । एतद्दीर्घिकावारिवर्त्मना नागलोकात्कथंचिद्भ्रमण्डलालोक-
नकुतूहलात्क्रीडाकृते वा निर्गता नागाङ्गना इवेति भ्रमः ॥

भास्वतः कान्तिवद्वारुणीरागिणीः शालिपत्रावलीः शालिशाखा इव ।

नन्दनानन्दिनीर्मन्दरोर्वीरिव प्रीणयन्तीर्मनः साधुगोष्ठीरिव ॥ ४७ ॥

काश्चिकिरातीः । वारुणी मदिरा तत्र विषये तत्पाने रागः अस्त्यासामिति रा-
गिणीः । ‘काश्चित्कादम्बरीमधुपानमदघूर्णितदृशः’ इति चम्पूकथायां भिन्नानामपि मदि-
रापानं दृश्यते । किंवत् । कान्तिवत् । यथा भास्वतः सहस्ररश्मेः कान्तयो दीप्तयः वा-
रुण्यां वरुणदिवपालस्य इयं दिग्वारुणी पश्चिमा दिक् तस्यां रागिण्यः । पश्चिमायां
समेतस्य सायं मार्तण्डमण्डलस्य मरीचयो रागरञ्जिताः सरागा भवन्ति । राग आस-
त्किररुणिमा च । पुनः किंभूताः । शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलाः शालिन्यः पत्रा-
वल्याः पत्रलताः यासाम् । का इव । शालिशाखा इव । यथा वृक्षाणां शिखाः शोभन-
शीलाः पत्राणां पर्णानामावल्याः श्रेणयो यासु तादृश्यो भवन्ति । पुनः किंभूताः । नन्द-
नैर्निजाङ्गैः पुत्रैरानन्दः प्रमोदः अस्त्यासाम् । का इव । मन्दरोर्वीरिव । यथा मेरुभू-
मयः नन्दननामवनेनानन्ददायिन्यः ताः । जिनशासने मन्दरो मेरुहच्यते । यथा
भक्तामरस्तवे—‘किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्’ इति । यथा स्नातस्य स्तुतौ
‘मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेकः कृतः’ इति । मन्दरेषु पद्मसु मेरुषु मेरुषु रत्नं लक्ष-
योजनप्रमाणत्वात्सर्वद्वीपसमुद्राणां मध्यवर्तित्वान्नाभिस्थानकत्वाच्च रत्नम् । अपरे च-
त्वारो मेरवः चतुरशीतियोजनमानाः । जिनजन्माभिषेको मेरुं विनान्यत्र न स्यादिति ।
तथा सिद्धान्तेष्वपि मन्दरस्मरणं लभते । ‘पञ्चयस्स-’ इत्यादि । शैवशासनेषु तु
मन्दर इन्द्रकीलशैलः । अत्र तु जैनमतानुसारेणैव मेरुः । पुनः किं कुर्वतीः । मनः
तद्विभ्रमविलासकीडादिविलोककानामन्तःकरणं प्रीणयन्तीस्तोषयन्तीः । का इव ।
साधुगोष्ठीरिव । यथा साधूनां संसारमुमुक्षुणाम् । अथ वा साधुभिः सत्तमैः पुंभिः समं
गोष्ठीः संसारापारपारावारपारोत्तरणोपायप्रकथनेन सन्मतिशिक्षाप्रदानेन च मानसं
परमानन्दसंदोहासादनमेदुरं विदधतीः ॥

आश्मगर्भीयसंदर्भविभ्राजिनीः शालभञ्जीरिव स्वैरसंचारिणीः ।

सूरिपादान्प्रणम्यान्प्रणन्तुं निजास्तत्र कान्ताः किरातेशिताजूहवत् ४८

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—आश्मगर्भीयो मरकतरत्नसंबन्धी । ‘मरकतं त्वश्मगर्भः’ इति है-
म्याम् । यः संदर्भो रचनाविशेषस्तेन विभ्राजन्ते इत्येवंशीलाः । पुनः किंभूताः ।
स्वेच्छया स्वतन्त्रं दिव्यानुभावात्कोकाशसूत्रधारादिकृतकीलिकादिप्रयोगाद्वा संचरण-
शीलाः । इतस्ततः परिभ्रमणस्वभावाः शालभञ्जीः पाञ्चालिका इव । एषु सर्वेष्वपि वृत्तेषु
द्वितीयाबहुवचनानि ज्ञेयान्यग्रेतनसंबन्धात् । एवं व्याचर्णितस्वरूपा निजा आत्मीयाः
कान्ताः प्रियतमाः किरातानां भिन्नानामीशिता स्वामी अर्जुनस्तत्र भगवत्पादपवित्रीकृ-
तनिकेतने प्रणम्यान् जगज्जननमस्करणीयान् सूरिपादान् प्रणन्तुं नमसितुमजूहवदा-

कारयामास । इत्यन्तचतुर्दशभिः कुलकम् ॥ इत्यर्जुनकिरातपतिप्रमदानां विविधविलासचेष्टास्वरूपवर्णनम् ॥

जंगमं सार्वभौमं किमुर्वीभृतां सूरिशीतांशुमायान्तमालोक्य तम् ।

अर्जुनाम्भोजनेत्रास्तदङ्घ्रिद्वयं नेमुरानन्दसान्द्रीभवन्मानसाः ॥ ४९ ॥

अर्जुनान्नः पल्लीपतेरम्भोजनेत्रा नलिननयनाः कान्तास्तस्य हीरसूरैरङ्घ्रिद्वयं चरणयुगलं नेमुः प्रणमन्ति स्म । किंभूताः । आनन्देन प्रमोदेन कृत्वा सान्द्रीभवन्ति निविडानि जायमानानि मानसानि मनांसि यासाम् । किं कृत्वा । सूरिष्वाचार्येषु ज्योतिश्चकायमानेषु मध्ये शीतांशुं सुधाकरं चन्द्रमायान्तमात्ममन्दिरेषु समागच्छन्तमालोक्य स्वनयनयोगोचरीकृत्य । हृष्टैर्लब्धैः । उत्प्रेक्ष्यते—जंगमं संचरन्तं वसुधाविहरणशीलमुर्वीभृतां पर्वतानां सार्वभौमं चक्रवर्तिनमिव । मेरुगिरिमिव ॥

कामिनीभिः किराताधिभर्तुस्ततो मौक्तिकौघैरवाकीर्यत श्रीप्रभुः ।

सोऽप्यवैश्वस्त्यलक्ष्मीमिवानश्वरीं स्वेन ताभ्यो ददौ धर्मलाभाशिषम् ९०

ततो वन्दनानन्तरं किरातानां पुलिन्द्राणामधिभर्तुः स्वामिनः अर्जुनस्य कामिनीभिः कान्ताभिः मौक्तिकौघैर्मुक्ताफलमण्डलैः श्रीप्रभुः श्रीमान् हीरविजयसूरिः अवाकीर्यत वर्धाप्यते स्म । पुनर्वर्धोपनानन्तरं सोऽपि श्रीप्रभुः स्वेनात्ममुखेन ताभ्यः किरातेन्द्रकामिनीभ्यः धर्मलाभमेवाशिषं मङ्गलशंसनमाशीर्वादं ददौ दत्तवान् । उत्प्रेक्ष्यते—अनश्वरीं शाश्वतीमवैश्वस्त्यस्य अर्थात्तासामेवार्जुननारीणामवैधव्यस्य लक्ष्मीमिव । ‘विश्वस्ता विधवा समे’ इति हैम्याम् । तथा ‘नलात्स्ववैश्वस्त्यमनामुमानता’ इति नैषधे ॥

देशनाम्भोदधारां सुधाया इव ज्येष्ठजामिं मुनीन्द्रस्य पीत्वादरात् ।

भिल्लभर्तुर्जजृम्भे मनःकानने बोधिफुल्ललताश्लेषिहर्षद्रुमः ॥ ९१ ॥

भिल्लभर्तुरर्जुनान्नो भिल्लानां शवराणां भर्तुर्नायकस्य पल्लीपतेर्मनो मानसमेव काननं वनं तत्र बोधिः सम्यक्त्वमेव फुल्लन्ती विकसन्ती लता वल्ली तथा आश्लेष आलिङ्गनमस्त्यस्य एतादृशो हर्षद्रुमः प्रमोदपादपः जजृम्भे प्रादुर्भवति स्म । किं कृत्वा । मुनीन्द्रस्य हीरसूरेदेशना धर्मकथा सैव अम्भोदधारा मेघपयोवृष्टिस्तामादरादेकाग्रचित्ततया पीत्वा निपीय सादरं श्रुत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—सुधायाः पीयूषस्य ज्येष्ठजामिं वृद्धभगिनीमिव ॥

वर्णयामः किमस्यामृतस्त्राविणीं विभ्रतो भारतीं वज्रसूरीन्द्रवत् ।

वङ्कचूलो यथा धर्मघोषेण यद्येन रौद्रोऽपि भिल्लप्रभुर्बोधितः ॥ ९२ ॥

अस्य हीरसूरेः किं वर्णयामः किं किं स्तुतिगोचरीकुर्मः । अस्य किं कुर्वतः । वज्रसूरीन्द्रवद्वज्रस्वामिनाम् आचार्यपुरंदरस्येव अमृतस्त्राविणीं सुधारसोद्धारिणीम् । पीयूषवर्षिणीमित्यर्थः । भारतीं वाणीं वाग्विलासं विभ्रतो धारयतः । यत्कारणाद्येन भगवता

रौद्रोऽप्यतिक्रूरोऽपि भिन्नप्रभुः पुलिन्दपतिरर्जुनः बोधितः बोधिबीजं प्रापितः । केनेव ।
यथा धर्मघोषेण सूरिचन्द्रेण चण्डोऽपि वङ्कचूलनामा राजपुत्रीपल्लीपतिः प्रतिबोधितः ।
कतिचिन्नियमान् ग्राहितौ द्वावपीत्यर्थः ॥

उत्पथे प्रस्थितास्तन्वतश्चापलं तत्र सूरिः किरातान्परानप्यसौ ।

सत्पथेऽतिष्ठिपत्सत्त्वरक्षाव्रतै रश्मिभिः शूकलान्सादिवद्वाजिनः ॥ ५३ ॥

असौ हीरसूरिस्त्वत्र शिरोत्तरानामग्रामे परानन्यान्पि किरातान् भिन्नान् सत्त्वानां
जन्तूनां रक्षा दया अहिंसा तदादिभैः सैव प्रथमा येषु तादृशैर्व्रतैर्विविधनियमैः कृत्वा
सत्पथे शोभनमार्गे अतिष्ठिपत्स्थापयति स्म । किंवत् । सादिवत् । यथा तुरगाणां दूषणभू-
षणलक्षणप्रस्थापनरक्षणनर्तनधौरितादिगतिकारापणादिकलाकुशलः सादी अश्ववारः ।
'अश्वारोहे चाश्ववारः सादी च तुरगी च सः' इति हैम्याम् । शूकलान्दुर्विनीतान् । 'दु-
र्विनीतस्तु शूकलः' इत्यपि हैम्याम् । रश्मिभिः वल्गाकशादिरज्जुभिः कृत्वा सत्पथे सर्व-
जनातिवाहिते वर्त्मनि स्थापयति । किलक्षणान् किरातान् । उत्पथे हिंसादिविधाने
दुष्टाध्वनि मार्गोदितरस्थाने वा प्रस्थितान्प्रवर्तमानान्प्रचलितान् । पुनः किंभूतान् ।
चापलं द्यूतमांसमदिरावेश्यापापार्थिचौर्यपराङ्मनागमनायनेकदुर्व्यसनेषु चञ्चलतां लौल्यं
चक्रपदस्थापनगमनादि च तन्वतः प्रकुर्वतः आद्रियमाणान्विस्तारयतश्च ॥ इत्यर्जुन-
पल्लीपतितत्सेवकानां नियमदानम् ॥

सूरिशीतांशुरापृच्छच्च भिल्लाधिपं संप्रणिन्ये पुरस्तादथ प्रस्थितिम् ।

तावदग्रे ददर्शर्बुदोर्वीधरं विन्ध्यमभ्येतमेतं विनन्तुं किमु ॥ ५४ ॥

अथार्जुनादीनां नियमदानानन्तरं सूरिशीतांशुर्हारसूरिचन्द्रः भिल्लाधिपमर्जुनं किरात-
राजमापृच्छच्च प्रश्नयित्वा पुरस्तादग्रे प्रस्थितिं प्रस्थानं गमनम् । प्रयाणमित्यर्थः । संप्र-
णिन्ये करोति स्म । प्रभुर्भट्टारकस्तावदग्रे पुरतः अर्बुदनामानमुर्वीधरं पर्वतं ददर्श
लोचनगोचरीकरोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यं जलबालकापरपर्यायं शैलम् । 'विन्ध्य-
स्तु जलबालकः' इति हैम्याम् । एतं सूरिं विनन्तुं विशेषेण नमस्कर्तुमभ्येतं
संमुखमागतमिव ॥

यो गिरिस्तुङ्गिमश्रीभिरन्यान्पराभूय शृङ्गाग्ररङ्गत्पयोदोपधेः ।

छत्रमाधत्त मायूरमुर्वीधराधीशितुर्नन्दनस्तं जयाङ्कं किमु ॥ ५५ ॥

य उर्वीधराणां पर्वतानां भूपालानां चाधीशितुर्भर्तुर्नायकस्य भर्तुर्हिमाचलस्य चक्र-
वर्तिनो वा नन्दनः पुत्रः । 'गौरीवरश्चशुरभधरसंभवोऽयमस्यर्बुदः ककुदमद्रिकदम्बकस्य ।
मन्दाकिनीधनजटे दधदुत्तमाङ्गे यः शालकः शशिभृतोऽभिनयं करोति ॥' इति गुर्जरेश्व-
रपुरोहितवस्तुपालवयस्यसोमेश्वरभट्टविरचितल्लणिगवसतिपट्टिकोत्कीर्णवस्तुपालप्रशस्ताव-
र्बुदाग्निहिमाद्रिपुत्रवत् प्रकटमास्ते । एतावतार्थेन अर्बुदनामा गिरिः कश्चित्सर्वभौमतनुजन्मा
च । उत्प्रेक्ष्यते—शृङ्गाग्रे शिखरोपरितनप्रदेशे रङ्गतां चरतां पयोदानां सजलजलधरा-

णामुपधेर्धनघटाकपटात् तजयाङ्कं तेषां पर्वतानां भूपानां च जयस्य पराभवनस्य
अङ्कं चिह्नं किमु मायूरं मयूरपिच्छसंबन्धि छत्रमातपत्रमिवाधत्ते बिभर्ति स्म । किं
कृत्वा । तुङ्गिन्नः उच्चत्वस्य महिन्नः पराक्रमस्य करितुरगादिपरिवारस्य जाल्यादेर्वा मह-
त्त्वस्य श्रीभिर्लक्ष्मीभिर्वैभवैर्वा कृत्वा अन्यान्परान् गिरीन्तराधिपान्वा पराभूय विजित्य
स्ववशीकृत्य वा ॥

अध्वरोद्भुः सुधाधामचण्डद्युतोर्विन्ध्यधात्रीधरस्येव संस्पर्धया ।

शृङ्गलेखाभिरभ्रंकषाभिर्नभःपद्भितिं रुद्रवानर्बुदोर्वीधरः ॥ ५६ ॥

अर्बुदाभिधान उर्वीधरः शैलः अभ्रमाकाशं कषन्ति विलिखन्ति घृष्यन्तीति । ‘कषू
विलेखने’ इत्ययं धातुः । अभ्रंकषास्ताभिर्गगनमण्डलोल्लेखिनीभिः शृङ्गलेखाभिः शिखर-
राजीभिः कृत्वा नभःपद्भितिं व्योममार्गं रुद्रवानात्मना रुणद्धि स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सुधा-
धामा चन्द्रः, श्रण्डद्युत्सूर्यः, तयोरध्वनो मार्गस्य रोद्भुः रोधविधातुर्विन्ध्यधात्रीधरस्य
विन्ध्याचलस्य संस्पर्धया संहर्षणेव असूययेव ॥

क्वापि शृङ्गे विनीले तमालैः शशी यस्य चूडामणीवत्कचानां चये ।

क्वापि शोणाश्मशृङ्गे पुनर्भानुमान्प्राग्गिरेः सानुनी वोदयँल्लक्ष्यते ॥ ५७ ॥

यस्यार्बुदाग्रे क्वापि कुत्रापि स्थाने तमालैः समुल्लसद्बहलदलमण्डलसच्छवितापिच्छ-
पादपैर्विनीले अतीव श्यामलीभूते शृङ्गे शिखरे शशी चन्द्रमाः कचानां चये कामिनीके-
शपाशे चूडामणीवत् चूडारत्नमिव लक्ष्यते ज्ञायते वा । पुनरपरेऽर्थे क्वापि कुत्रापि
प्रदेशे शोणाश्मभिः पद्मरागमणिभिर्निर्मिते शृङ्गे कूटे भानुमान् सहस्ररश्मिः प्राग्गिरे-
रुदयाचलस्य सानुनी प्रस्थे उदयन्नभ्युद्गमं लभमान इव लक्ष्यते निरीक्ष्यते ॥

मौलिलीलायमानामृतांशुक्षरनिर्झराम्भःप्रवाहस्वरूपैरसौ ।

सातपत्रस्फुरच्चाभरैर्भूभृतां राजभावं बिभर्तीव भूमीधरः ॥ ५८ ॥

असौ भूमीधरः अर्बुदाचलः सहातपत्रेण छत्रेण वर्तन्ते यानि तानि सातपत्राणि ।
तथा स्फुरन्ति इतस्ततः प्रसरन्ति चञ्चलीभवन्ति यानि चामराणि रोमयुच्छानि तैः
कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—भूभृतां सर्वपर्वतानां राजभावं स्वामित्वमाधिपत्यं वा बिभर्ति
धारयतीव । किंभूतः । मौलौ शिरःशिखरोपरि लीलायमानो लीलया स्ववशेनाचरन्
प्रवर्तमानः प्रचलन्वा अमृतांशुः शीतदीधितिः । तथा क्षरतां शिखरान्तरालेभ्यो
निःसरतां निर्झराणाम्भसां पानीयानां प्रवाहा धारास्ता एवं स्वरूपमात्मा येषां तैः ॥

कुन्दरुङ्नीरमुङ्नीलकण्ठः पुनश्चन्द्रचूडः शिवः सिंहयानाङ्कितः ।

वातवेल्लताकृतसलास्यः सरिद्योऽनुयातीव दिग्वाससं किं दिवा ॥ ५९ ॥

योऽर्बुदगिरिः दिवा दिवसं दिश आशा एव वासांसि वल्गाणि यस्यासौ दिग्वासा
ईश्वरः तमनुयात्यनुकरोति सदृशीभवतीव । ‘दिकृत्तिवासा भवनीललोहितौ’ इति है-

म्याम् । द्वावपि विशिनष्टि—किंलक्षणः । कुन्दानां विकसितकुसुमसंततिसितीकृतमुचकु-
न्दद्रुमाणां रुक् कान्तिर्यत्र । पक्षे कुन्दवदुज्ज्वला रुक् कायकान्तिर्यस्य । पुनः किंभूतः ।
नीरमुग्भिः उन्नमनीरदैः कृत्वा नीलः इयामलीभूतः कण्ठः उपल्यकाभागः शिरःशिख-
रादधस्तनप्रदेशो यस्य । पक्षे मेघवन्नीलः विषविषमानलज्वालाज्वलितत्वात्कालः कण्ठो
गलं यस्य । 'दधदम्बुदनीलकण्ठताम्' इति नैषधे । अर्थः पूर्ववत् । पुनः किंभूतः ।
चन्द्रो विधुरत्युच्चैस्तरत्वात् चूडायामग्रभागे अभ्रंकषशिखरोपरितनप्रदेशो यस्य । पक्षे
चूडायां जटाजूटे यस्य । पुनः किंभूतः । शिवो निरुपद्रवः परैर्ग्रीहीतुमशक्यः शिव-
नामा च । पुनः किंलक्षणः । सिंहानां केसरिणां यानानि गमनागमनानि तैरङ्कितः
कलितः । पक्षे सिंहयानया पार्वत्या अङ्कितश्चिह्नितः । तस्या अर्धाङ्गत्वात् । 'प्रसह्य
चेतो हरतोऽर्धशंभोः' इति नैषधे । अर्धशंभोरीश्वरस्य शरीरार्धघटनया इत्यर्धशंभुः ।
पुनः किंभूतः । वार्तैः पवनैः वेल्लन्यश्चञ्चलीभवन्त्यो या लताः वल्लयस्ताभिस्तद्वा कृप्तं
लास्यं नाटकं येन । महानटत्वान्नाट्यप्रियत्वाच्च । पुनः किंभूतः । सरिन्निर्झररूपा अत्यु-
ज्ज्वलत्वात्स्वःसरिद्रङ्गा यस्य । पक्षे निर्झरतुल्याः गिरीशत्वात् गिरीशो हिमाद्रिरपि ।
तत्र निर्झररूपैव गङ्गा यत्र । अथवा सरति गच्छति विस्तरतीत्येवंशीला व्यवस्थि-
तविकल्पत्वाद्दीर्घत्वाभावस्तादृशी निलवाहिनी खर्वाहिनी यस्मिन् । तथा शैलोऽपि
अत्युच्चत्वादतिविस्तारत्वात्पातालमूलत्वाच्च दिग्वासा दशसु दिक्षु वासो वसनं अथवा
दशापि दिशो वासांसि वज्राणि यस्य सः । 'शिरःस्वःसरित्' इति वा पाठः । तत्र
शिरसि अत्युच्चैस्तरत्वान्मस्तके स्वःसरित् गगनगङ्गा यस्य । तथा च वस्तुपालवसतिप्रश-
स्तावर्तुदाद्रिवर्णने—'मन्दाकिनी घनजटे दधदुत्तमाङ्गे' इति ॥

रत्नसान्वौषधीप्रस्थमुख्यश्रिया मेरुमुख्यक्षमाभृज्जयादर्जिताम् ।

शृङ्गनिर्गत्वरणां झराणां निभात्कीर्तिमेतां बिभर्तीव मूर्ती गिरिः ॥ ६० ॥

यो गिरिरर्तुदाचलः शृङ्गेभ्यः स्वशिखरेभ्यो निर्गत्वरणां निःसरणशीलानां झराणां
निर्यन्निर्झरपयःप्रवाहानां निभाद्याजात् मूर्ती शरीरवतीमेतां जगज्जनताप्रत्यक्षलक्षां
कीर्तिं यशोविस्तृतिं बिभर्ति दधतीव । किंभूताम् । रत्नसानूनां मणिमयानां शिखराणां
तथा औषधीनां फलपाकावसानिकानां वशीकरणखर्णरजतादिकारिकाणां वा लताद्रुमवि-
शेषाणां प्रस्थानां विविधधातुरसकूपिकादिस्थानकानामपरशृङ्गाणां मुख्यया प्रकृष्टया
श्रिया तत्प्रमुखया वा लक्ष्या वैभवेन क्षोभया वा । मेरोर्मणिशिखराणि, हिमाचले
त्वौषधीप्रस्थं शृङ्गम् । अत एव मेरुः खर्णाचलो मुख्यः प्रधानो येषु । मुखे भावो
मुख्य आदिर्वा येषु तादृशानां क्षमाभृतां पर्वतानां जयात्पराभवनादर्जितां स्वायत्ती-
कृताम् ॥

अर्जुनश्रीदधो मर्त्यमालास्फुरत्कंदरो भद्रसालोल्लसन्नक्षभूः ।

बिभ्रतः स्वःसुमेरोरिव स्पर्धया यः पुरं कापि धत्ते धरित्रीधरः ॥ ६१ ॥

यो धरित्रीधरः अर्जुदपर्वतः क्वापि कुत्रापि प्रदेशे पुरं नगरं धत्ते बिभर्ति । उत्प्रेक्ष्यते—स्वः स्वर्गं विभ्रतो धारयतः सुमेरोः कनकाचलस्य । 'मेरुः स्वर्गाधारः' इति परसमये । यदुक्तं च नैषधे—'दिवमङ्गादमराद्रिरागताम्' इति । स्पर्धया संहर्षेणैव । यः किंभूतः । अर्जुनानां ककुभट्टमाणां मेरुपक्षे स्वर्णानां च श्रियं शोभां दधातीति दधः । पुनः किंभूतः । मर्त्यानां विलासागताङ्गनायुतमनुष्याणां पक्षे अमर्त्यानां स्वाङ्गनासंगतकिंनरसिद्धगन्धर्वादिदेवानां मालाभिः श्रेणिभिः स्फुरन्त्यः शोभमानाः कंदरा गुहा यस्य । पुनः किंभूतः । भद्रेः श्रेष्ठैरथवा कल्याणकलितैः कदाचित्केऽपि तान्न खण्डयन्ति तादृशैः सालैः पादपैर्देवदारुभिर्वा उल्लसन्नुल्लासं प्राप्नुवन् । मेरुपक्षे—भद्रसालानाम्ना मन्दरोपत्यकावर्तिना वनेन च शोभमानः । पुनः किंभूतः । ऋक्षाणां भल्लूकानां महत्केशावृताङ्गानां 'रींछ' इति लोके प्रसिद्धानां वन्यस्वापदानाम् । मेरुपक्षे—ऋक्षाणां नक्षत्राणाम् । भूः स्थानम् । 'नक्षत्रभूः क्षत्रकुलप्रसूतेर्युक्तो नभोगैः खलु भोगभाजः । सुजातरूपोऽपि न याति यस्य समानतां कांचन काञ्चनाद्रिः ॥' इति चम्पूकथायाम् ॥

अम्बरालिङ्गिशृङ्गावलीपल्वलोपाश्रयाः स्मेरदम्भोजिनी रागिणीः ।

योऽभिकेनाभ्रपान्थेन साकं सदा मित्रवत्कारयामासिवान्संगमम् ॥ ६२ ॥

योऽर्जुदोऽद्रिर्मित्रवत्सखेव रागिणीः शोणा अनुरक्ताश्च स्मेरन्तीर्विकसन्तीः अनु- रागातिरेकात्सुखीभवन्तीश्चाम्भोजिनीः पद्मिनीस्त्रियः कमलिनीश्च । अभिकेन कासुकेन । 'कासुकः कम्पिता कम्पोऽनुकः कामयिताभिकः' इति हैम्याम् । तथा 'प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निजान्मस्ति' इति नैषधे । अनुरागिणा अभ्रपान्थेन भानुन, साकं सदा प्रतिदिनं संगमं संयोगं कारयामासिवान् निर्मापयति स्म । प्रियमित्रोऽपि कयाचिदनुरागिण्या पद्मिन्या कामिन्या समं स्वमित्रं संगमयति । किंभूताः । अम्बरमाकाशमालिङ्गन्ति संस्पृशन्तीत्येवंशीलानां शृङ्गाणां शिखराणामावली श्रेणी तस्यां ये पल्वला अखातसरांसि तेषु उपाश्रयः स्थानं यासाम् । 'केलती मदनयोरुपाश्रये' इति नैषधे । उपाश्रयः स्थानं साधूनामपि प्रसिद्धम् । अत्युच्चैस्तरशिखरसरसिरुहिणीनां रविणा संयोगः सुकर एवेति । पद्मिनीनामपि चन्द्रशालासंगतानाम् । 'चन्द्रशाला शिरोग्रहम्' इति हैम्याम् ॥

सिन्धुशैलोद्भवद्वौरवैर्दुर्वहां विभ्रतो भूतधात्रीं फणामण्डलैः ।

भोगिनां वासवस्येव विश्रान्तये निर्मितो नाभिजातेन यः क्षमाधरः ६३

यः अर्जुदाचलः । उत्प्रेक्ष्यते—भोगिनां भुजंगमानां वासवस्य पुरंदरस्य शेषनागनाथस्य विश्रान्तये विश्रामं दातुं नाभिजातेन प्रजापतिना ब्रह्मणा निर्मितः कृत इव । किंभूतस्य वासवस्य । सिन्धवः सर्वेऽपि समुद्राः, शैलाः मेरुहिमाद्रिकैलासाद्याः समस्ता अपि पर्वताः, तेभ्यः उद्भवद्भिरुत्पद्यमानैर्गौरवैर्भारैर्युक्तरभरैर्दुर्वहां दुःखेन वोढुं शक्याम् । दुःखेन परानपेक्षत्वेन एकेन स्वयमेवासातेनोद्यते इति दुर्वहा तादृशीं भूत-

धात्रीं भूतानां चराचराणां गिरिसमुद्रादिमनुष्यपर्यन्तानां धरणशीलां समग्रमध्यमलोकं
फणानां खशिरःस्कटानां मण्डलैश्चक्रवालैः कृत्वा बिभ्रतो धारयतः ॥

कण्ठपीठीलुठत्पार्वणश्चेतरुत्तारकानायकोदात्तमुक्तालता ।

व्योम निर्भिद्य यातेन येनोच्चकैर्धार्यते भूभृतेवात्मभूषाकृते ॥ ६४ ॥

येन भूभृता अर्बुदाचलेन आत्मनः स्वशरीरस्य भूषाकृते शोभाविधानाय कण्ठपीठ्यां
ग्रीवायाम् । यथा नैषधे—‘दधदम्बुदनीलकण्ठताम्’ राजमन्दिरवर्णने । कण्ठशब्देन
कन्धरा । एतावता अधिल्यका । पीठशब्दः स्त्रीङ्गीबलिङ्गः । ‘जयत्युदरनिःसरद्वरसरो-
जपीठीपठच्चतुर्मुखमुखावलीरचितसामनामस्तुतिः’ इति चम्पूकथायाम् । तथा ‘वंशिक-
वक्रोष्ठिककन्यकुब्जपीठानितक्तमवहित्थम्’ इति लिङ्गानुशासनेऽपि । लुठन्तः इतस्ततो
भवन्तो ये पार्वणाः पूर्णिमासंबन्धी श्वेतरुक् चन्द्रमाः तथा तारकास्तारा उपलक्षणात्
ग्रहनक्षत्राणि तेषां नायको मध्यमणिस्तेन युक्ता उदात्ता उदारा महाधर्या वा । ‘उदात्त-
नायकोपेता’ इति चम्पूकथायाम् । ‘उदात्तो महात्मा महाधर्यश्च’ इति तट्टिपनके ।
मुक्तालता मौक्तिकहारो ध्रियते किमु । भूभृता किंभूतेन । व्योम गगनं निर्भिद्य अत्यु-
च्चैस्तरत्वाद्वित्वा विदारयित्वा उच्चकैरूर्ध्वं यातेन संप्राप्तेनेत्यत एव कंधरायां ज्योतिश्च-
क्रमायातम् ॥

अभ्रविभ्राजियन्मेदिनीभृद्भृगुव्रातनिष्पातिपाथःप्रवाहोत्थितैः ।

उत्पतद्भिः पतद्भिर्नभःपद्गतौ बिन्दुवृन्दैरिवाभावि ताराभरैः ॥ ६५ ॥

उत्पतद्भिर्महत्प्रस्तरोपरि निपतनादुच्चैरुच्छलद्भिः । अत एव कारणात्तमःपद्गतौ
गगनमार्गे पतद्भिर्गत्वा तिष्ठद्भिर्विन्दुवृन्दैर्जलकणनिकरैः । उत्प्रेक्ष्यते—ताराभरैः तारक-
निकरैरिवाभावि भूतमिव । शुचिजलकणा एवाकाशे तारा बभूवुः । किंभूतैर्विन्दुवृन्दैः ।
अभ्रे नगनाङ्गणे विभ्राजिनां शोभनशीलानाम् । नभसंगतानामित्यर्थः । यन्मेदिनीभृद्भृगूनां
यस्यार्बुदाचलस्य शृङ्गाणां भैरवज्ञम्पारूपाणां वा तटानां व्रातेभ्यः समूहेभ्यो निष्पातिभ्यो
निष्पतनशीलेभ्यः अधोनिर्गमनशीलेभ्यः पाथसां निर्झरनीराणां प्रवाहेभ्यो धाराभ्यः
उत्थितैरुद्गतैः प्रादुर्भूतैः ॥

मित्रपुत्र्या सह स्थातुमप्यम्बरे तामुपादाय भूमेः पुनः स्वःसरित् ।

यद्दिरेर्वर्त्मना शालितालीमिलत्कुन्दमालाच्छलाद्गच्छतीवाम्बरम् ॥ ६६ ॥

शालिनीभिः शोभनशीलाभिः तालीभिः राजतालीनामभित्सरविशेषैः । देशैकग्रहणेन
देशिनो ग्रहणम् । यथा भामाग्रहणेन सत्यतामेति । तैः समं मिलन्त्यः सङ्गं कुर्वन्त्यः
एकत्रोद्गतायाः कुन्दानां विकसितकुसुमकदम्बकवलक्षीकृतमुचकुन्दपादपानां मालायाः
श्रेण्याश्छलात्कपटात्स्वःसरिन्मन्दाकिनी यद्दिरेर्यस्यार्बुदशैलस्य वर्त्मना मार्गेण भूमेः
सकाशान्नभस्तलाद्भूमौमुत्तीर्य पुनस्तत्र गमनेन द्वितीयवारमम्बरमाकाशं गच्छतीव या-
तीव । किं कृत्वा । मित्रस्य सख्युर्भानोर्वा पुत्र्या यमुनया सह अम्बरेऽपि गगनाङ्ग-

णेऽपि स्थातुमेकत्र स्थितिं विधातुं यथा एकया मूर्त्या प्रयागे यमुनया सह तिष्ठामि
तथा अपरयापि मूर्त्या आकाशेऽपि यमुनया सहाहं वसामीति विचिन्त्य मित्रपुत्रीं
कालिन्दीनाम्नीं सह सार्धमुपादाय गृहीत्वा ॥

रोहिणीरागिभावान्नित्यागिनं कान्तमेणाङ्गमुत्सृज्य कोपाकुल ।

औषधीसंततिर्निर्मिमीतेऽनिशं तापसीवत्तपांसीव यस्मिन्निरौ ॥ ६७ ॥

औषधीनां विधुवधूनाम् । चन्द्रस्य तत्पतित्वात् । ‘रोहिणीद्विजनिशौषधीपतिः’ इति
हेमचन्द्रवचनात् । संततिः श्रेणिर्यस्मिन् गिरौ अर्बुदपर्वते । उत्प्रेक्ष्यते—तापसीव परि-
व्राजिकाराजीव अनिशं निरन्तरं तपांसि शीतोष्णतापनिरशनादिकष्टानि निर्मिमीते
करोतीव । किंभूता । कोपाकुला रोषोद्रेकलुषीकृताशया । किं कृत्वा । रोहिण्यां दक्षा-
ङ्गजायां रोहिणीनाम्न्यां स्वसपत्न्यां पत्न्यां विषये रागिभावादत्यन्तानुरक्ताशयत्वान्नज-
स्यात्मनस्त्यागिनं त्यजनशीलमेणाङ्गं चन्द्रमसं कान्तं स्वभर्तारमुत्सृज्य त्यक्त्वा ॥

भासते शातकुम्भाश्मगर्भोपलश्रेणिसंकृतशृङ्गद्वयं कुत्रचित् ।

यस्य विश्वातिशायिश्रियं वीक्षितुं मेरुविन्ध्याविवाल्पीभवन्तौ स्थितौ ६८

कुत्रचित्प्रदेशे शातकुम्भानां काखनानां तथा अश्मगर्भोपलानां मरकतरत्नानां च श्रे-
णिभिः सम्यक्प्रकारेण कृतं रचितं देवादिना कौतुकाद्विनिर्मितं शृङ्गद्वयं शिखरद्वन्द्वं
भासते दीप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य हिमाद्रिनन्दनगिरेः विश्वेभ्यः समस्तपर्वतेभ्योऽपि
विश्वेभ्यो जगद्भ्यो वा अतिशायिनीमत्यभ्यधिकां श्रियं शोभां लक्ष्मीं वा वीक्षितुं
स्वदृग्गोचरीकर्तुं स्थितावागम्य वसन्तौ तथा अल्पीभवन्तौ वपुषा लघूभवन्तौ स्वश-
रीरे स्वल्पे प्रणीय मेरुविन्ध्यौ स्वर्णाचलजलबालकशैलाविव । ‘विन्ध्यस्तु जलबालकः’
इति हैम्याम् ॥

विभ्रतो वाहिनीर्यस्य वार्धिप्लवाप्लाविनीः श्रीपराभूतभूमीभृतः ।

तिष्ठतः क्षोणिमाक्रम्य पूषार्चिषा वेदगर्भः करोतीव नीराजनाम् ॥ ६९ ॥

वेदगर्भो ब्रह्मा यस्यार्बुदभूमीभृतः पूषा भास्वास्तस्यार्चिर्ज्योतिरथ च पूष्णोर्भानोस्तुल्यो
जाज्वल्यमानत्वादुःसहोऽर्चिर्निर्धूमधूमध्वजस्तेन नीराजनामारात्रिकां करोतीवेत्युत्प्रे-
क्ष्यते—अन्यस्यापि राज्ञ आरात्रिकोत्तारणं क्रियते । यथा कस्यापि भूभृतो वेदगर्भो
ब्राह्मणः अर्थात्पुरोधाः । वेदगर्भ इति सामिप्रायं नाम तेन वेदमन्त्रोच्चारपूर्वकं दीप्रव-
हिना नीराजनां निर्मिमीते । यस्य किं कुर्वतः । क्षोणिं भूमीमण्डलमाक्रम्याधिष्ठाय
सर्वात्मनाभिव्याप्य तिष्ठतः वसतः स्थितिं कुर्वतः । पुनः किंभूतस्य । वार्ध्वाणां चतुःस-
मुद्राणां प्लवान् वारिपूरानां प्लवयन्त्यतिक्रामन्ति आक्रामन्ति चेत्येवंशीला वाहिनीर्नदीः
सेनाश्च विभ्रतः । किंभूतस्य । श्रिया आत्मीयया शोभया चतुरङ्गकादिवैभैः कृत्वा
पराभूता विजिताः स्वपादपद्मभुजकरीकृता भूमीभृतः पर्वता नृपाश्च येन सः ॥

यन्नभःसङ्गिशृङ्गाङ्गणालिङ्गिनां किंनराणां समं यौवतैर्गायताम् ।

गीतमाकर्ण्य रङ्गुर्मृगाङ्कं तदाक्षितचेता व्रजव्रततोऽखेदयत् ॥ ७० ॥

रङ्गुश्चन्द्रस्याङ्गमृगः अग्रतः अर्बुदाचलशृङ्गाणि संलय्य पुरस्ताद्गजन् प्रतिष्ठमानः मृ-
गाङ्कं विधुमखेदयत् महत्खेदमुत्पादयति स्म । किंभूतो रङ्गुः । तदाक्षितचेताः तत्र
किंनरकृतगीते आक्षिप्तं विलम्बं चेतो मनोवृत्तिर्यस्य सः । किं कृत्वा । यस्यार्बुदगिरेर्न-
भसोऽम्बरस्य सङ्गो मिलनं विद्यते येषां तादृशानि शृङ्गाङ्गणानि शिखरोपरितनप्रदेशा-
स्तान्यालिङ्गन्त्याश्लिष्यन्ति आश्रयन्तीत्येवंशीलास्तादृग्विधानाम् । तथा यौवतैर्युवतीनां
किंनरीणां गणैः समं सार्धं गायतां स्वरसेन गानं कुर्वतां किंनराणां किंपुरुषाणां गीतं
मधुरध्वनिलयमयगेयमाकर्ण्य श्रवणपारणां प्रणीय ॥

यत्र चन्द्रोदयश्च्योतदिन्दूपलप्रस्थसंस्थायुकोन्निद्रकुन्ददुमे ।

राजते राशिरिन्दिन्दिराणां सुधासागरे शेषशायीव शक्रानुजः ॥ ७१ ॥

यत्रार्बुदशैले चन्द्रस्य मृगाङ्कयोदयेनाभ्युद्गमेन च्योतन्तः क्षरन्तोऽमृतरसं स्रवन्तो
ये इन्दूपलाश्चन्द्रकान्तमण्यस्तेषां प्रस्थं शिखरं तत्र संस्थायुको वसनशीलः उद्रतत्वा-
त्स्थायी तथा उन्निद्रो विकसितः स्मितकुसुमव्रजविशदीकृतो यः कुन्ददुमः तत्र इन्दि-
न्दिराणां भ्रमराणां राशिः समूहो राजते शोभते । क इव । इन्द्रावरज इव । यथा
सुधाया उत्पत्तिस्थाने क्षीरसागरे शेषे नागाधिराजशय्यायां शेते स्वपिति इत्येवं-
शीलः शेषशायी कृष्णः शोभते ॥

मेरुमुख्याखिलोर्वीधराणामिवोपात्तसारैरसौ वेधसासृज्यत ।

एष निःशेषभूमीभृतां निर्जयं निर्मिमीते न चेद्वैभवैः स्वैः कुत ॥ ७२ ॥

मेरुः स्वर्णाचलो मुख्यः सर्वोच्चैस्तरत्वात् रत्नसानुसुवर्णमयत्वाच्च प्रकृष्ट आदिमो
वा मुखे आदौ भव इति व्युत्पत्त्या प्रथमो येषां तादृशानामखिलानां समग्राणामुर्वीध-
राणां पर्वतानामुपात्तैरुप समीपे आगत्य आतैः सम्यगवलोकनपूर्वं संगृहीतैः सारैः
सर्वातिशायिपरमाणुदलैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—असौ अर्बुदाचलो वेधसा जगत्सृजा अ-
सृज्यत सृष्टो विरचित इव । एवं चेन्न तर्हि एषोऽर्बुदाद्रिः स्वैरात्मीयैर्वैभवैः शोभाति-
शयैः कृत्वा निर्गतः शेषोऽवशिष्टो येषु ते निःशेषाः समस्तास्तेषां भूमीभृतां यावज्जगद्भि-
रीणां निर्जयं नितरां जयं परिभवं कुतः कस्मात्कारणान्निर्मिमीते करोति ॥ इत्यर्बु-
दाचलवर्णनम् ॥

आरुरुक्षुर्मुसुक्षुक्षितीन्द्रस्ततोऽलंकरोति स देशं सवेशं गिरेः ।

गौरवेणाधिकोऽहं गिरिर्वास्त्यसौ चेतसीतीव हृल्लेखवान्वीक्षितुम् ॥ ७३ ॥

ततोऽर्बुदाद्रिदर्शनानन्तरमारुरुक्षुरर्बुदपर्वतोपरिभूमीमध्यारोढुमिच्छुः चढितुकामो
मुसुक्षुक्षितीन्द्रः श्रमणधरणीरमणो गिरेर्हिमाद्रिनन्दनसानुमतः सवेशं समीपवर्तिनं

देशं भूभागमलंकरोति स्म भूषयामास । इत्यमुना प्रकारेण वीक्षितुं विलोकयितुं चेतसि स्वमानसे हृल्लेखवानुत्कण्ठाकलित इव । इति किम् । गौरवेण साहात्म्येन गुरुतया वा कृत्वा अहमधिको गिरिर्वाभ्यधिकोऽस्ति । यद्यपि परप्रशमरसमुदासमुद्रमध्यनिमग्नमनसां कदाचिदप्याशये लेशमात्रमप्यनुत्सुकता स्यात्, तन्महात्ममौलीनां तेषां सूरीणां स्वप्नेऽपि नायमभिप्रायः प्रादुर्भवेत् । किंतु केवलं कवेरियं कल्पनामात्रोत्प्रेक्षेति । अथ वा छात्रस्थ्यात्कदाचिदुत्कलिकालेशः संभवत्येव गौतमादीनामपि शकादिकृतनाटका-वलोकने ॥

अर्बुदाधित्यकामभ्रविभ्राजिनीं सूरिसिंहः समारोदुमारब्धवान् ।

किं व्यवस्यञ्जगन्मूर्धसंस्थायिनीमुद्विबध्नुर्महानन्दसीमन्तिनीम् ॥ ७४ ॥

सूरिसिंहः अग्रे आकाशे विभ्राजते इत्येवंशीलाम् । अम्बरचुम्बिनीमित्यर्थः । अथ वा अग्रैर्मैवैः कृत्वा शोभनशीलाम् । ‘गिरौ तिष्ठन्ति वारिदाः’ इत्युक्तेः । अर्बुदस्य हिमाद्रिनन्दनशैलस्याधित्यकामूर्ध्वभूमिकां समारोदुं सम्यक्प्रकारेण चढितुमारब्धवान् प्रारम्भते स्म । सिंहस्य तु भूधराधित्यकाध्यारोहणं युक्तमेव । उत्प्रेक्ष्यते—जगतां त्रयाणां भुवनानां मूर्ध्नि मस्तके संस्थायिनी जगत्त्रयोपरि संतिष्ठते निवसनशीला इत्येवंशीलां महानन्दो मुक्तिरेव सीमन्तिनीं प्रौढकुमारिकासुद्विबध्नुर्द्वोदुमिच्छुः परिणेतुकामः सन् व्यवस्यन् व्यवसायमुद्यमं कुर्वाण इव ॥

तद्गुणश्रेणिनिर्वर्णनानन्दितो वातपूर्णाभवत्कीचकानां क्रणैः ।

अद्रिरभ्यागतस्यैव तस्यान्तिकागामिनः प्रीतिमान्पृच्छति स्वागतम् ७५

प्रीतिः स्नेहः प्रमोदो वा विद्यते यस्य तादृशोऽद्रिरर्बुदाचलः अन्तिके स्वसमीपे आगच्छति आयातीत्येवंशीलस्य तस्य सूरैः वातेन वायुना पूर्णाभवतामन्तःपूर्यमाणानां कीचकानां सच्छिद्रवंशानां क्रणैर्निःस्वानैः । ‘स कीचकैर्मांसतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्विरापादितवंशकृत्यम्’ इति रघौ । स्वागतं सुखेनागमनादिवार्ता पृच्छति प्रश्नयतीव । कस्येव । अभ्यागतस्यैव । यथा स्वसमीपे समेतस्य प्रियप्राधूर्गिकस्य स्नेहकलितः स्वाजन्यात्प्रमोदकलितः प्रियत्वात्स्वागतं पृच्छत्यनुयुजति । किंभूतः अद्रिः । तस्य हीरसूरैर्गुणानां श्रेणे-निर्वर्णनाद्दर्शनादानन्दितः प्रहृष्टमानसो जातः ॥

लोलरोलम्बकोलाहलप्रस्तुतस्फीतकीर्तिस्तवामोदमेदस्विनी ।

यत्र सस्यैर्नताङ्गी लताविग्रहावाकिरत्कुञ्जदेवी प्रसूनैः प्रभुम् ॥ ७६ ॥

यत्रार्बुदगिरौ कुञ्जदेवी । जातावेकवचनम् । वनदेवता प्रसूनैः प्रबलपवनप्रसरप्रपतत्कुसुमोत्करैः कृत्वा तं हीरसूरिमवाकिरत् वर्धयिष्यति स्म । ‘अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः’ इति रघौ । किंभूता कुञ्जदेवी । लोला मकरन्दपानकृते च-पला ये रोलम्बा मधुरकास्तेषां कोलाहलः गुञ्जारूपः कलकलस्तेन प्रस्तुताः प्रारब्धाः

स्फीता वर्धमानाः कीर्तयंशसः स्तवाः स्तुतयो यथा । पुनः किंभूता । आमोदेन पुष्पा-
दिपरिमलेन प्रमोदेन वा मेदस्विनी पुष्टा प्रोद्भूतपुलककोरकाकलिता । पुनः किंभूता ।
सस्यैः खफलभारेण नताङ्गी नम्रीभवत्तनुयष्टी । पुनः किंभूता । लता कुसुमितफलितवल्ली
एव विग्रहः शरीरं यस्याः सा ॥

यत्र कल्लोलयन्त्रैककल्लोलिनीर्मन्दमान्दोलयन्सेरदुर्वीरुहान् ।

स्वर्णदीपन्नपौषैः करम्बीकृतो गन्धवाहोऽनुगामीव तं भेजिवान् ॥७७॥

गन्धवाहः । गन्धं कुसुमादीनां मृगमदादीनां वा सौरभ्यं वहते धारयतीति गन्ध-
वाहो वायुः पुरुषविशेषणं वा । यत्र पर्वतेऽनुगामीव सेवक इव तं हीरसूरिं भेजिवान्
सेवते स्म । वायुश्च त्रिधा वर्ण्यते—शीतो, मन्दः, सुरभिश्च । तदेव त्रैविध्यं दर्शयति ।
किं कुर्वन् गन्धवाहः । नैका अनेकस्थानस्थाधिनीः कल्लोलिनीस्तरङ्गिणीः कल्लोलयन्
स्वरंहः प्राबल्येन कल्लोलमालाकलिताः कुर्वन् । एतेन शीतलः । पुनः किंभूतः । मन्दं
ज्ञानैः सेरतो विजृम्भमाणान् । कुसुमितानित्यर्थः । उर्वीरुहान् विविधवृक्षान् आन्दोलयन्
तरलीकुर्वाणः । एतेन मन्दः । घनगहनानोकहास्फालनेन मन्दीभूत इत्यर्थः । पुनः किं-
भूतः । स्वर्णद्याः पर्वतस्याश्रंकषत्वेनात्युच्चैस्तरत्वाद्गगनगङ्गायाः पद्मानां कमलानां पौषै
रजोभिः करम्बीकृतो व्याप्तः । एतेन सुरभिः ॥

कुत्रचित्तोरणस्रग्विलासश्रियं विभ्रति व्योमसंचारिणः सारसाः ।

सिद्धिपुर्या यियासोः पुरस्तात्प्रभोर्विश्वकर्त्रेव मङ्गल्यमाला कृता ॥७८॥

कुत्रचित्कस्मिंश्चनार्बुदशैलप्रदेशे व्योम्नि आकाशे संचरन्त्युड्वीयमाना गच्छन्तीत्येवं-
शीला गगनगामिनः सारसाः पक्षिविशेषाः प्रसिद्धाः पक्षिणस्तोरणस्रजः तोरणमालाया
विलासश्रियं लीलालक्ष्मीं विभ्रति धारयन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सिद्धिपुर्यां निर्वृतिनगर्यां
यियासोर्गन्तुमिच्छोः प्रभोर्हीरसूरीन्द्रस्य पुरस्तादग्रतः विश्वकर्त्रा सर्ववस्तुविधायिना
विधिना कृता विहिता मङ्गल्यमाला वन्दनमालिकेव । जगत्कर्त्री वा रचितेति शेषः ॥

कापि झाङ्कारिणो निर्झरान्तःप्लवाः प्लावयन्ति स्म तत्पर्वतोपत्यकाम् ।

सिद्धसिन्धुर्नभस्तो निरालम्बना निष्पतन्तीह क्लृप्तावलम्बा किमु ॥७९॥

कापि कुत्रचित्स्थाने झाङ्कार इति शब्दोऽस्त्येष्विति झाङ्कारिणः । निर्झराणां ध्वनेर्झा-
ङ्कार इति संज्ञा । यदुक्तं पाण्डवचरेत्रे—‘झरन्निर्झरझाङ्कारी’ इति । सशब्दा निर्झ-
राणामम्भःप्लवाः पयःप्रवाहास्तत्पर्वतोपत्यकामर्बुदाचलशिखराधोभूमिकां शिखरापेक्ष-
योपत्यकां प्लावयन्ति स्म निर्भरं भरन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निरालम्बना निर्गताधारा
अत एव नभस्तो गगनाङ्गणादालम्बनराहित्यान्निष्पतन्ती अधोभ्रश्यन्ती सती । पुनरि-
हर्बुदाचले क्लृप्तो निर्मितोऽवलम्ब आश्रयो यथा तादृशी सिद्धसिन्धुः किमु गगनगङ्गेव ।
निर्झरपथसामत्यौज्वल्याद्गङ्गादौ त्रेक्षा ॥

पर्वते कुत्रचित्कुर्वतेऽन्तर्मदैर्मेदुराः कुञ्जरा गर्जिविस्फूर्जितम् ।

यज्जितेनेव विन्ध्याद्रिणा प्राभृतं प्रापिताः शक्रनागानुवादा इमे ॥८०॥

पर्वते गौरीगुरुतेऽचले कुत्रचित् गह्वरादिप्रदेशे अन्तर्मध्ये मद उन्मादो दानप्रवाहो वा तेन मेदुरा स्वेच्छाचारित्वात्पुष्टाङ्गाः कुञ्जराः षष्ठिहायना यूथनाथा गजाः । यदुक्त-
मुत्तराध्ययने—‘कुञ्जरे सद्विहायने’ इति । गर्जिविस्फूर्जितं गर्जारवस्फूर्तिं कुर्वते ।
सजलजलदवद्गर्जन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—यज्जितेन अर्बुदपर्वतपराभूतेन विन्ध्याद्रिणा
जलबालकशैलेन शक्रनागमिन्द्रगजमैरावणमनुवदन्यनुकुर्वन्ति ऐरावणोपमानाः । अथ
वा हरिकरिणमनु पश्चाद्वदन्ति वयं पूर्वं शोभातिशयादिभिः प्रथमतो गणनीया ऐराव-
तस्तु अस्मत्पश्चाद्गणनीय इति कथयन्ति वा । हस्तिमल्लप्रतिमल्ला इत्यर्थः । इति शक्र-
नागानुवादा इमे प्रत्यक्षलक्ष्या गजा हस्तिनः प्राभृतमुपदां प्रापिताः दौकिता इव ॥

आशुगालोलसालाङ्गहारो भ्रमद्भृङ्गवाग्गीतिवेल्लल्लताहस्तकः ।

सूरिपादाम्बुजस्पर्शमासाद्य यो नृत्यतीव प्रमोदं दधद्भूधरः ॥ ८१ ॥

सूरैर्वाच्यमचक्रवर्तिनः पादाम्बुजयोश्चरणकमलयोः स्पर्शमनुषङ्गमासाद्य संप्राप्य
प्रमोदं मनस्वानन्दं दधद्ब्रह्मन् यो भूधरोऽर्बुदाचलो नृत्यतीव नृत्यं करोतीव । नृत्यलक्ष-
णानि दर्शयति । किंभूतः । आशुगैः शीघ्रगामिभिरतिवेगवत्तरैः पवनैः कृत्वा आसाम-
स्त्येन शाखाप्रशाखादिभिः सार्धं लोलाश्चपलाः संजायमाना ये साला नानाजातीयतरवः
त एव तैः कृत्वा वा अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपो नाटकाभिनयदर्शनं यस्य । पुनः किंभूतः ।
भ्रमन्तो विविधविकसितकुसुममकरन्दपानार्थमितस्ततः पर्यटन्तो ये भृङ्गास्तेषां वाग्वा-
प्येव गीतिर्गानं यस्य । ‘वाण्या भृङ्गी पिकीरवा’ इति काव्यकल्पलतायाम् । तथा
वेल्लन्त्यो मरुत्तरला भवन्त्यो या लता बल्लयस्ता एव हस्तका विविधहस्तचेष्टनानि यस्य ॥

यः परान्कौतुकैः काममुत्कण्ठयन्नास्य जहे मनश्चित्रमन्नास्ति किम् ।

स्मेरयन्नप्यशेषं कुमुत्काननं पद्ममुद्बोधयेत्पार्वणेन्दुः किमु ॥ ८२ ॥

योऽर्बुदाचलः परान्परजनान् कौतुकैरात्मीयालोकनीयानेककौतुहलैः कृत्वा कामम-
तिशयेन उत्कण्ठयन्नुत्सुकभावं प्रापयन् सन्नपि अस्य हीरसूरैर्मनो मानसं न जहे न
हतवान् न खवशीचक्रे । अत्रेह स्थाने किं चित्रं किमाश्चर्यम् । तदेव दृढयति—
अशेषं समस्तं कुमुदां कैरवाणां काननम् । वृन्दमित्यर्थः । स्मेरयन्विकाशयन्नपि पार्वणेन्दुः
पूर्णमासंबन्धी चन्द्रमाः पद्मं सूर्योदयविकसनशीलं कमलं किमूद्बोधयेद्विनिद्रीकुर्यात्
विकाशयेत् अपि तु न ॥ इत्यर्बुदाचलकौतुकानि ॥

मन्दमन्दं चलन्नर्बुदोर्वीधराधित्यकामध्यरोहद्वतीनां पतिः ।

शंभुसौधैः पवित्रीकृतोर्वीतलां रूप्यशैलस्य चूलामिवेच्छावसुः ॥ ८३ ॥

यतीनां श्रमणानां पतिः स्वामी हीरसूरिर्मन्दमन्दं शनैः शनैः । ‘गगनमवजगाहे मन्द-

मन्दं मृगाङ्कः' इति चम्पूकथायाम् । चलन्संचरन्नुदोर्वाधरस्याधिलकामूर्ध्वभूमिकाम-
ध्यरोहदारुढवान् संप्राप्तः । क इव । इच्छावसुरिव । यथा धनदः कैलाशशैलस्य चूला-
मधिरोहति । किंभूतामधिलकां चूलां च । शंभूनां वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थकृतां
सौधैः यद्यपि भरतकारितः सिंहनिषयानामा एक एव प्रासादः । तथापि सुरविद्याध-
रराजभिरन्येऽपि तत्पार्श्वे प्रासादाः कारिताः संभाव्यन्ते शत्रुंजयरैवताचलादिवत् ।
अथ यद्येक एव तदा सर्वोत्तमत्वात्पूज्यत्वाद्वा बहुवचनम् । पक्षे शंभोरीश्वरस्य सौधैः
पत्नीपुत्रप्रमथादिगणानां परिजनपरिवाराणां मन्दिरैः कृत्वा पवित्रीकृतं पावनं निर्मित-
मुर्वीतलं भूमीपीठं यस्याः सा ॥

पुण्यभाजां हृदाकृष्टिमन्त्रानिव श्रीमदर्हद्गृहानिर्जितस्वर्गहान् ।

अर्बुदश्रीवतंसायमानान्प्रभुनेत्रपत्रैरसौ प्रीतचेताः पपौ ॥ ८४ ॥

असौ प्रभुर्हार्सूरिः श्रीमतः शोभाशालिनः अर्हद्गृहान् जिनप्रासादान् । अथ वा
श्रीस्त्रिभुवनाधिपत्यलक्ष्मीर्विद्यते येषाम् तादृशानामर्हतां तीर्थकृतां गृहान् विहारान्
नेत्रपत्रैर्लोचनदलैः नयनपुटकैर्वा पपौ सादरमवलोकयति स्म । किंभूतः । प्रीतं मोदं प्राप्तं
चेतो मनो यस्य । किंभूतान् श्रीमदर्हद्गृहान् । निर्जितानि निजजगजैत्रवैभवैरभिभूतानि
स्वर्गहानि वैजयन्तादिस्वर्गगेहानि विमानानि वा यैः । पुनः किंभूतान् । अर्बुदस्य हिमा-
द्रिनन्दनगिरेः श्रिया लक्ष्म्या अवतंसायमानान् शिरःशेखरवदाचरतः । उत्प्रेक्ष्यते—
पुण्यभाजां सुकृतिनां साधूनां हृदां मानसानामाकृष्टेराकर्षणस्य मन्त्रानिव ॥

यत्र विश्वत्रयीश्रीनिवासा जिनाधीशसौधाः स्वशृङ्गाग्रदण्डोपधेः ।

स्वर्गहानूर्ध्वमुत्तम्य पाणीन्निजान्भर्त्सयन्तीव भूषाभिरुत्सेकिनः ॥ ८५ ॥

यत्रार्बुदाचले जिनानां सामान्यकेवलिनानामधीशास्तीर्थनाथास्तेषां सौधा मन्दिराणि
प्रासादाः । सौधशब्दः पुनर्पुंसके । 'गुददोहदकुमुदच्छदकन्दार्बुदसौधमेधोत्सेधकबन्धौ'
इति लिङ्गशुशासने । स्वेषामात्मनां शृङ्गाणां शिखराणामग्रे उपरिभागे निबद्धानां द-
ण्डानां ध्वजालम्बनबन्धनयष्टीनामुपधेः कपटान्निजानात्मीयान् पाणीन् उत्तम्य ऊ-
र्ध्वोत्कृत्य । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गहान्देवलोकसंबन्धिसौधान् वैजयन्तादिकान् प्रासादान्
भूषाभिः स्वकीयशोभाभिः कृत्वा निर्भर्त्सयन्ति तिरस्कुर्वन्तीव । किंभूता जिनाधीश-
सौधाः । विश्वत्रय्यास्त्रिलोक्याः श्रीणां लक्ष्मीणां निवासाः वासवैश्मानि । पुनः किंभूताः ।
भूषाभिः स्ववपुर्वैभवैः उत्सेकिनो गर्वावेशवशंवदा मदोद्धुराः । 'उपदा विविशुस्तस्य नो-
त्सेकाः कोशलेश्वरम्' इति रघौ ॥

निकण्टकिंकिणीर्मरुतान्दोलिता यत्पताका विलोक्येन्दुकुन्दोज्ज्वला ।

किं वहत्युर्मिनिर्घोषहुंकारिणी स्पर्धया सिद्धसिन्धुर्नमःपद्गतौ ॥ ८६ ॥

उर्मिणां महत्कल्लोलानां निर्घोषैः शब्दैः कोलाहलैः कृत्वा एताः कियन्मात्रावतपुरः
अहमेवास्मि नापरा कापि कापि इति स्पर्धामादधती सती हुंकारोतीत्येवंशीला अथ

वा एताः पताकाः किं सां जयिष्यन्तीति गर्वात् हुंकरोतीत्येवंशीला सिद्धसिन्धुः स्व-
गङ्गा नभःपद्मतौ गगनमार्गे स्पर्धया सहर्षेण वहति प्रसरति । 'स्रोतः सारस्वतं वहत्'
इति चम्पूकथायाम् । 'वहत्प्रवर्तमानं प्रसरच्च' इति तट्टिप्पनके । किं कृत्वा । निक्क-
णन्त्यः शब्दायमानाः किंकिण्यः क्षुद्रघण्टिका घुरुरिका यासु । तथा मारुतैः पवनैः
आन्दोलितास्तरलीकृताः । तथा इन्दुश्चन्द्रः कुन्दानि मुचकुन्दकुसुमानि तद्रदुज्ज्वला
धवलाः येषां चैत्यानां पताका वैजयन्तीर्विलोक्य दृष्ट्वा ॥ इत्यर्बुदाचलसर्वप्रासादवर्णनम् ॥

अथ पृथक्पृथक्प्रासादवर्णनम्—

वैमलीयवसतिं व्रतीशिता दुग्धसिन्धुवयसीमिवैक्षत ।

श्वेतदन्तितुरगान्वितां सुधाशालिनीं जिनपवित्रितान्तराम् ॥ ८७ ॥

व्रतीशिता मुनिनायकः सूरिः विमलस्येयं वैमलीया सा चासौ वसतिश्च विमलमन्त्रि-
निर्मापितादिदेवप्रासादमैक्षत पश्यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दुग्धसिन्धोः क्षीरसमुद्रस्य
वयसीं सखीमिव । क्षीरसमुद्रसाम्यं दर्शयति । किंभूतां वसतिं वयसीं च । श्वेता ध-
वला आरासोपलमयत्वात् तथा दन्तिनो गजा विमलमूर्तिपृष्ठवर्तिनः तथा तुरगो विम-
लसविधाध्यासितोऽश्वः । अन्ये वा पक्षे श्वेतदन्ती ऐरावणः श्वेततुरग उच्चैश्रवाः ।
यदुक्तम्—'पयोनिलीनाभ्रमुकासुकावली,' तथा 'सहस्रमुच्चैःश्रवसां वहन्निव' इति ।
एतद्वयमपि नैषधे । एतेन क्षीराणवे ऐरावणोच्चैःश्रवसां बाहुल्यं प्रतिपादितम् ।
ततोऽत्राप्यैरावतोच्चैःश्रवसश्चेत्युक्ते न कोऽपि दोषः । तैरन्वितां कलिताम् । पुनः किं-
भूताम् । सुधया पक्वचूर्णकलेपेन अमृतेन च शालते शोभते इत्येवंशीलाम् । पुनः
किंभूताम् । जिनैर्विविधप्रतिमारूपतीर्थकृद्भिः अथ वा जिनेन मूलनायकभूतेन ऋषभ-
देवेन कृष्णेन तस्य समुद्रशाथित्वेन पवित्रितं पावनीकृतम् । अथ वा पविं वज्रं त्रायते
पाणौ लालयति रक्षतीति पवित्रः शक्रः तीर्थे कदाचिद्वन्दनागतः, अथ च कदाचिदनुज-
मिलनागतः पुरंदरः विष्णुशक्रौ संजातौ सम्यक् प्रादुर्भूतौ अस्मिन् तादृशमन्तरं
मध्यं यस्याः ॥

कुक्षिसात्कृतमवेक्ष्य सिंहिकासूनुना स्वपतिशीतदीधितिम् ।

चैत्यकैतववतीव कौमुदी तद्गयादिह समेत्य तस्थुषी ॥ ८८ ॥

चैत्यं विमलवसतिरेव कैतवं कपटं विद्यते यस्याः सा चैत्यकैतववती कौमुदी चन्द्र-
ज्योत्स्ना तस्य स्वभर्तृराहोर्भयादिहारुद्गिरौ समेत्यागत्य तस्थुषी स्थितवतीव । किं
कृत्वा । स्वस्यात्मनः पतिं शीतदीधितिं चन्द्रमसं सिंहिकासूनुना केसरिणा स्वर्भानुना
वा कुक्षिसात्कृतं भक्षितं गिलितं वा अवेक्ष्य दृष्ट्वा ॥

चैत्यमूर्धविधुकान्तनिष्पतत्पाथसि प्रतिमितेर्निभाद्विधुः ।

लक्ष्मपङ्कमपनेतुमात्मनः स्नाति दुग्धजलधेर्धिया किमु ॥ ८९ ॥

विधुश्चन्द्रमा दुग्धजलधेः क्षीरसमुद्रस्य धिया बुद्ध्या । अमेणेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—

आत्मनः स्वस्य मण्डलहृदयवर्तिनं लक्ष्म लाञ्छनमेव पङ्कं कदर्ममपनेतुं क्षालयितुं किमु
ज्ञाति ज्ञानं करोतीव । कस्मात् । चैत्यस्य विमलवसतेर्मूर्धनि शिखरोपरितनभागे संहृद्भेभ्यः
संकल्पितेभ्यो विधुकान्तेभ्यश्चन्द्रकान्तरत्नेभ्यो निष्पतति चन्द्रकिरणसंपर्काद्विनिःसरति
पाथसि पयःपूरे प्रतिमितेः प्रतिबिम्बस्य निभाभ्याजात् ॥

यन्मणीमयशिखासु बिम्बितं बिम्बमम्बरमणिर्वहन्व्यभात् ।

ईयिवानयमित्यत्तया श्रियः कौतुकादनुमिमीषयास्य किम् ॥ ९० ॥

यस्या विमलवसतेर्मणीमयशिखासु रत्नराशिरचितशिखरेषु बिम्बितं प्रतिबिम्बमत्य-
च्छतया संक्रान्तं बिम्बं स्वमण्डलं वहन्नम्बरमणिर्गगनरत्नं भास्करो व्यभाद्रासते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकात्कुतूहलादस्य मूलप्रासादस्य श्रियो लक्ष्म्या इत्यत्तया एतावत्प्रमाणत्वे-
नानुमिमीषया अनुमातुं प्रमाणीकर्तुमिच्छया अयं भाखानीयिवान्कि चैत्ये समेत इव ॥

इह जिनालयवज्रविनिर्मितान्बरविलम्बिशिखाग्रनिर्घर्षणात् ।

उरसि रन्ध्रमजायत यामिनीप्रणयिनः कपटादिव लक्ष्मणः ॥ ९१ ॥

यामिनीप्रणयिनो निशाप्राणनाथस्योरसि वक्षःस्थले । उत्प्रेक्ष्यते—लक्ष्मणो लाञ्छनस्य
कपटादन्ध्रं छिद्रमजायत जातमिव । कस्मात् । इहावुद्वर्ष्यते जिनालयस्य भगवद्गृहस्य
वज्ररत्नैर्हीरकमणिभिर्निर्मिताया रचितायास्तथा अम्बरमाकाशमालम्बते आश्रयते इत्ये-
वंशीलायाः शिखायाः शिखरस्य अग्रे उपरितनभागेऽतिघर्षणात् नितरां घृष्टे ॥

अभितः सितयद्वसतेर्विशदः शुशुभे लघुदेवगृहप्रकरः ।

उड्डयौवतमेतदिहोपगतं शशिना सह रन्तुमिवाम्बरतः ॥ ९२ ॥

सितायाः श्वेतोपलमयत्वादुज्ज्वलाया अथ वा सुधाधवलितत्वेन विशदायाः यद्वसते-
र्मूलप्रासादस्य अभितश्चतुर्ध्वपि दिक्षु पार्श्वेषु वा विशद आरासोपलमयत्वादत्यवदातः
लघुर्मूलप्रासादापेक्षया खल्पप्रमाणोचैस्तरः देवगृहाणां देवकुलिकानां प्रकरः समूहः
शुशुभे भासते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—शशिना स्वभर्त्रा विधुना सह रन्तुं विविधविलासं वि-
धातुमम्बरत आकाशादिह रसिकदम्पतीनां क्रीडोचिते अर्बुदाचले उपगतं आयातमुडव-
स्तारा एव यौवतं चन्द्रनितम्बिनीनिवह इव ॥

निर्ग्रन्थपृथिवीनाथश्चैत्यं विमलमन्त्रिणः ।

वैजयन्तमिव प्रीत्या प्राविशन्निदशेश्वरः ॥ ९३ ॥

निर्ग्रन्थनामनराणां पृथिवीनाथो राजा सूरिन्द्रः प्रीत्या प्रमोदेन विमलनाम्नो मन्त्रिणः
सचिवस्य चैत्यं प्रासादं प्राविशत् विमलवसतिमध्ये प्रविशति स्म । क इव । त्रिदशा-
नामीश्वरो नायकः शकः यथा वैजयन्तं वैजयन्तीनाम्नी पताका अस्यस्मिन्निति वैज-
यन्तः तं प्रासादं प्रविशति ॥ इति विमलवसतिवर्णनम् ॥

वसाब्धिर्मथितोऽनवाप्तपदवत्कुत्रापि बन्धुर्विधुः

शून्ये व्योमनि बम्भ्रमीति विपिनेऽप्यन्यः स्थितः स्वस्तरुः ।

क्षितैका तु जनार्दनेन सद्ने पुंसा पुराणेन मे

जामिः श्रीरपरा सुधापि च सुरैः पानेन निष्ठाप्यते ॥ ९४ ॥

दुःखं कामगवी परा चरति च प्रोत्तानयानाम्बरे

धत्ते कौशिकपत्यगोत्रदमनो मन्मूर्ध्नि पादं पुनः ।

इत्याद्यर्तिमधीश भिन्धि किमिदं वक्तुं जिनं सप्रजः

स्वर्दन्तीव समागतो गजगणस्तेनाल्लोके पुरः ॥ ९५ ॥ (युग्मम्)

तेन हीरसूरिणा पुरोऽग्रे विमलवसतिप्रदेशे प्रथममेव गजानां श्वेतोपलनिर्मितानां हस्तिनां गणो व्रज आल्लोके दृष्टः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनं वृषभतीर्थंकरं विश्वस्यादिसृष्टि-
करमथ वा जगत्पालकत्वेन जिनं ब्रह्मरूपेण विश्वं सृजति नारायणरूपेण पालयति ईश्व-
ररूपेण च संहरतीति । ‘एकमूर्तिस्त्रयो देवाः’ इति परसमये । इदं वक्ष्यमाणं वक्तुं कथ-
यितुं सप्रजः ससंतानः । ‘तोकापत्यप्रसूतयः । तुक्प्रजाः’ इति हैम्याम् । स्वर्दन्ती किमै-
रावण इव समागत इह संप्राप्तः । इदं किम् । हे अधीश हे जगत्प्रभो, त्वं मे मम
इति पूर्वोक्तप्रकारा काव्यस्यादौ वर्तमाना आदौ यस्यास्तादृशीमर्ति मानसीं चिन्तामर्त्यु-
द्भूतां पीडां शारीरिकीं व्यथां वा भिन्धि निवारय मूलादुन्मूलय । इति किं तानेव
प्रकारान्प्रदर्शयति—मे मम वसा पिता अब्धिः क्षीरसमुद्रः अर्थादेव लभ्यते । चतुर्द-
शानामपि रत्नानां क्षीरनीरनिधौ समुत्पन्नत्वेन तज्जनक एव गीयते । स मथितो हरिणा
सुराभ्यर्थितसुधारसकृते भुजंगराजं नेत्रीकृत्य मन्दरगिरिं च मन्यानकं विधाय विलो-
डितः । बन्धुः पुनर्मम सहोदरो विधुश्चन्द्रमाः कुत्रापि नगरग्रामादिस्थाने अनवाप्तमलब्धं
पदं वासस्थानं येन तद्वत् शून्ये निर्मानुषे व्योमनि आकाशमार्गे बम्भ्रमीति अतिशयेन
पर्यटति । अपि पुनरन्यो बन्धुः स्वस्तरुः कल्पद्रुमः कुत्रापि जनसंगते पुरादौ प्रदेशे
अप्राप्तावस्थितिरीव विपिने कानने स्थितो गत्वा उषितः । तु पुनरेका मे जामिर्भगिनी
श्रीलक्ष्मीर्जनार्दनेन लोकपीडाकारकेण पुराणेन जीर्णेन वृद्धेन पुंसा पुरुषेण । कृष्णेन-
त्यर्थः । सद्ने स्वमन्दिरे क्षिता रक्षिता । अपि च पुनरपरान्या द्वितीया स्वसा सुधा
पीयूषरूपा सुरैर्देवैः पानैर्धातिभिः कृत्वा निष्ठाप्यते क्षयं नीयते । च पुनरितरा तृतीया
मम भगिनी कामगवी सुरसुरभी दुःखं महाकष्टं प्रोत्तानमूर्ध्वं पादा अथो वपुरिति व्यव-
स्थया यानं गमनं यस्यास्तादृशी सती अम्बरे आकाशादव्यां चरति गोचरं कुरुते
गच्छति वा । ‘चर गतिभक्षणयोः’ इति धात्वर्थात् । तथा ‘कस्या नोत्तानगाया दिवि
सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रैः’ इति नैषधे । पुनर्गोत्राणां वंशानां कुलस्य वा जगद्गो-
त्राणां यावत्पर्वतानां च दमनो ध्वंसकृत्पक्षच्छेत्ता च तथा कौशिक उल्लूकः शक्रश्च म-

न्मूर्ध्नि मम मस्तके पादं चरणं धत्ते । कुत्रापि जनपदे यदा कस्यचित्तिरस्काररूपनिकृष्ट-
वचनं प्रोच्यते तदा अरे उल्लूक इति कथ्यते । तच्च लाभपुरसत्कपञ्चालमेवातमण्डलादा-
वधुना प्रसिद्धं वर्तते । तस्मात्स निन्द्यः इत्याद्यतिं निवारय ॥ युग्मम् ॥

विमलाभिधधीसखः पुरो ददृशे तेन हयं विभूषयन् ।

किमु सार्थनिनंसया शतक्रतुरुच्चैःश्रवसं समीयिवान् ॥ ९६ ॥

तेन मुनीन्द्रेण विमल इत्यभिधा नाम यस्य तादृशो धीर्बुद्धिरेव सखा सहायो सिद्धं
वा यस्य सः धीसखश्चतुर्बुद्धिनिधानः प्रधानः ददृशे दृग्गोचरीकृतः । किं कुर्वन् । हयं
श्वेताश्मत्तुरङ्गं विभूषयन् आरोहणेन शोभां लम्भयन् । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चैःश्रवोनामानं
निजवाजिनमारुह्य सार्थस्यावुदाचलाधिष्ठायिदृषमध्वजजिनस्य निनंसया नन्तुमिच्छया
समीयिवानागतः शतक्रतुरिन्द्र इव ॥

प्रभुतोपगतः प्रभुभक्तिभरैः स्पृहयन्निव सिद्धिपदाय पुनः ।

विमलः सचिवोऽञ्जलिशालिशयद्वितयः स्थितवानभगवत्पुरतः ॥ ९७ ॥

अञ्जलिना ललाटपटे मुकुलीकरणेन योजनेन वा शालि शोभनशीलं शयद्वितयं
पाणियुगलं यस्य तादृशो विमलनामा सचिवः प्रधानः भगवत्पुरतः युगादिजिनपतेः
पुरस्तादग्रे संमुखः स्थितवान् तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्भगवतो भक्तीनां प्राग्ज-
न्मजनितसेवासक्तीनां भरैरतिशयैः प्रभुतां रोमदेशाधीशद्वादशपतिसाहिप्रमुखानेक-
राजकपराजयनपूर्वकं भूलोकाधिपत्यमुपगतः संप्राप्तोऽपि पुनः सिद्धिपदाय अष्टमहा-
सिद्धिप्रधानस्थानाय मोक्षनगराय वा स्पृहयन् कामयमान इव वाञ्छन्निव । ‘स्पृहेरी-
प्सितः । स्पृहेरिष्टः संप्रदानसंज्ञः स्यात् । हरये स्पृहयति । वेति केचित् । गोपी हरिं
स्पृहयति । ईप्सित इति किम् । पुष्पेभ्यो वनं स्पृहयति’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

हरिन्मणीनिर्मितसंनिधिद्वया सिताश्मसोपानततिर्व्यलोक्यत ।

उपान्तविस्मेरवनीव जाह्नवी जिनं भजन्ती विजिता समज्ञया ॥ ९८ ॥

हरिन्मणीभिर्मरकतरत्नैर्निर्मितं रचितं संनिधिद्वयं पार्श्वयोर्द्वयं यस्यास्तादृशी सिता-
श्मनां स्फाटिकोपलानां सोपानततिरारोहणश्रेणी तेन गुरुणा व्यलोक्यत ददृशे ।
उत्प्रेक्ष्यते—समज्ञया स्वकीर्त्या येन विजिता पराभूता सती जिनं मारुदेवं भगवन्तं
भजन्ती सेवमाना जाह्नवी गङ्गेव । किंभूता जाह्नवी । उपान्तयोर्द्वयोः समीपपार्श्वयोः
विस्मेरा विनिद्रा वनी काननं यस्याः । ‘स्ववनीसंप्रवदत्पिकापि का’ इति नैषधे ॥

त्रतीश्वरेणैक्ष्यत तोरणावली जिनालयद्वारि शुभस्य शंसिनी ।

जिनाधिभर्तुः किमु मुक्तिकन्यया कृतेयमुद्राहविधौ विरञ्चिता ॥ ९९ ॥

त्रतीश्वरेण वाच्यमविभुना सूरिणा जिनालयस्य विमलवसतेर्द्वारि द्वारदेशे तोरणावली
वन्दनमालिकामाला ऐक्ष्यत निरीक्षिता । किंभूता । शुभस्य शंसिनी प्रेक्षाकाणां कल्याण-

कारिणी । अथ वा शुभानि मङ्गलानि शंसति कथयति इत्येवंशीला दृष्टमात्राप्यहं कल्याणानि करोमीति कथयित्रीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनाधिभर्तुर्युगादिदेवस्य मुक्तिकन्यया सिद्धिकुमार्या सहोद्गाहविधौ पाणिग्रहणकरणसमये विरञ्चिना विश्वसृजा किमियं कृता एषा तोरणधोरणी विनिर्मितेव ॥

श्रीभिर्जगन्मूर्धविधूननीभिश्चैत्येऽत्र वैचित्र्यदिदृक्षयेव ।

रूप्याचलोऽनल्पतनुः समीयिवांस्तेनैक्ष्यत स्तम्भततिः सिताश्मनाम् १००

तेन सूरिणा सिताश्मनां श्वेतोपलनिमित्तानां स्तम्भानां ततिः पङ्क्तिरैक्ष्यतालोकिता । उत्प्रेक्ष्यते—अनल्पा बह्व्यस्तनवो मूर्तयो यस्य तादृग्रूपो रूप्याचलः कैलासः समीयिवा-निव किं समेतः । ‘रजताद्रिस्तु कैलासः’ इति हैम्याम् । कथा । जगतां त्रिभुवनानां तात्स्थयात्तद्यपदेशे सुरासुरनराणां मूर्ध्नां मस्तकानां विधूननीभिः आश्चर्यातिरेकात्कम्प-यित्रीभिः । ‘अद्भुतकरी परमूर्धविधूननी—’ इति नैषधे । श्रीभिः शोभाभिः कृत्वा अत्र चैत्ये अस्मिन्विमलमन्त्रिनिर्मापितप्रासादे वैचित्र्यस्य विचित्रताया अथ वा विशिष्टानां जवाज्जनाश्चर्यविधायिनां चित्राणां पाञ्चालिकाप्रमुखाणां नानास्वरूपाणामाश्चर्याणामालेख्यानां वा दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया दृग्गोचरीकरणाकाङ्क्षया ॥

महाव्रतिप्राप्तमृतिं निजं पतिं समीक्ष्य कामं श्वशुरं जिनं श्रितः ।

स्मरावरोधः किमु यत्र पुत्रिकाचयोऽमुना लोचनगोचरीकृतः ॥१०१॥

अमुना वाच्यमचक्रिणा यत्र विमलवसतौ पुत्रिकाणां पाञ्चालिकानां प्रचयो व्रजो लोचनयोश्चक्षुषोगोचरीकृतः लक्ष्यो विहितः । दृष्ट इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनं नारायणं श्वशुरं स्वभर्तुः पितरं श्रितः सेवमानः पार्श्वे स्थितः स्मरावरोधः मदनान्तःपुरं किमु । अथ च विधवकुसुमध्वजयुवतीव्रजः स्वस्यात्मनो जिनभक्तत्वात् श्राद्धत्वात्तस्य सुरं मोक्षलक्षणाभीष्टदायकं देवं जिनं तीर्थकरं श्रितः । ‘स्मरावरोधभ्रममुद्रहन्ती’ इति नैषधे । किं कृत्वा । महाव्रती शंभुः तस्मात्प्राप्ता अधिगता मृतिर्मरणं येन तादृशं निज-मात्मीयं पतिं भर्तारं कामं कंदर्पं समीक्ष्य । अथ च महाव्रती जिनः स चास्मद्भर्तृघात-कस्तद्वरात्तद्वधूजनं मामपि हन्यादतो जिनं स्मरावरोधः सेवते । ‘नाश्रितं वैरिणमपि हिनस्ति महान्’ इति श्रुतिः ॥

ताण्डवं तन्वतीर्विभ्रमैर्हस्तकान्दर्शयन्तीरिहानेकपाञ्चालिकाः ।

पाणिमुत्तमभ्य शंसुं प्रणन्तु जनानाह्वयन्तीरिवासौ ददर्श प्रभुः १०२

असौ प्रभुः सूरिरनेका विविधजातीयाः शतशः पाञ्चालिकाः पुत्रिका ददर्श दृष्ट-वान् । अथ पुत्रिकाणां विविधसंस्थानान्याह—किं कुर्वतीः । ताण्डवं काश्चिन्नृत्यं त-न्वतीः कुर्वतीः । पुनः किंभूताः । विभ्रमैर्विलासैः कृत्वा हस्तकान् हस्तविक्षेपान् दर्श-यन्तीः । पुनः किंभूताः । पाणि काश्चिन्निजहस्तमुत्तमभ्य ऊर्ध्वाकृत्य शंसुं नाभिनन्दं

प्रणन्तुं नमस्कर्तुं जनान् लोकान् । उत्प्रेक्ष्यते—इहार्तुदाचले इह विमलवसतां वा आ-
ह्वयन्तीराकारयन्तीरिव ॥

यत्र पाञ्चालिकाशिल्पं निरूप्य सुरसुभ्रुवः ।

मेनिरे पद्मजन्मानं स्वभूषापरिमोषिणम् ॥ १०३ ॥

यत्र प्रासादे पाञ्चालिकानां पुत्रिकाणां शिल्पं जगच्चेतश्चमत्कारकारि रचनाचातुर्यं
निरूप्य सम्यगालोक्य सुरसुभ्रुवः त्रिदशसुदृशः पद्मजन्मानं विधातारं स्वस्या आत्मनो
भूषाया वपुःप्रियरूपकस्य परिमोषिणं तस्करं मेनिरे जानन्ति स्म । यदस्माकं समग्रा-
मपि रूपलक्ष्मीमपहृत्य प्रयत्नेन विधिना एताः शालभञ्जीर्विनिर्मिताः ॥

चण्डरुक्मिरणमण्डलस्यं खण्डयन्समवलोकि सूरिणा ।

मण्डपो विमलकीर्तिनर्तकीनर्तनाय नवरङ्गभूरिव ॥ १०४ ॥

सूरिणा मण्डपोऽर्थाच्चैत्यमध्यवर्ती बहुजनाश्रयः समवलोकि सम्यगवधानदानपूर्वकं
वीक्षितः । देवभवनवैचित्र्यवीक्षणे संयमिनामपि न कश्चिद्दोषः । यतस्तत्र धर्मवृद्धेरुद्घो-
षात् । मण्डपः किं कुर्वन् । चण्डरुचः सूर्यस्य किरणै रदिमभिर्मण्डितस्य मण्डलस्य
बिम्बस्य सम्यमहंकारं खण्डयन् शकलीकुर्वन् । उत्प्रेक्ष्यते—विमलमन्त्रिणः कीर्तिरेव
नर्तकी नृत्यकारिका पात्रं तस्या नर्तनाय ताण्डवविधानाय नवा नवीना । अथ
वा 'णु स्तुतौ' । नवनं नवः नवस्य स्तुतेर्योग्या मध्यपदलोपे रङ्गभूमिनर्तन-
स्थानक्षोणिरिव ॥

वैजयन्तं विजेतुं विभूषाभरैर्वज्ररोचिःस्फुरच्चापचक्रायुधः ।

यः स्वशृङ्गेण गर्वादिवो गाहिना गन्तुमुच्चैर्व्यवस्यन्निवोर्जस्वलः ॥ १०५ ॥

यो मण्डपो विभूषाभरैः स्वशोभातिशयैः वैजयन्तमिन्द्रप्रासादं विजेतुं पराभवितुं
दिवो गगनमार्गस्य गाहिना अवगाहनशीलेन । अग्रंलिहेनेत्यर्थः । स्वशृङ्गेण निजशिखरेण
गर्वादहंकारादुच्चैरुर्ध्वं स्वलोकं गन्तुं प्रयातुं व्यवस्यन्व्यवसायमुद्योगं कुर्वन्निव । किंभूतो
मण्डपः । ऊर्जस्वलः स्फूर्तिमान् प्रबलबलवान्वा । पुनः किंभूतः । वज्राणां वज्रमणीनां
रोचिर्भिः कान्तिभिः कृत्वा स्फुरत्प्रकटीभवद्यच्चापचक्रं धनुर्मण्डलं तदेवायुधं प्रहरणं
यस्य । अथ च वज्रमिन्द्रायुधं तथा रोचिषा कान्त्या स्फुरद्दीप्यमानं चापयुक्तमिन्द्र-
धनुःकलितं चक्रं रथाङ्गं तथा आयुधान्यपराणि खड्गकुन्तमिन्दमालक्षुरिकायमदं-
ष्ट्राग्रमुखानि शस्त्राणि यस्य । परोऽपि सुभटः स्वप्रतिद्वन्दिना समं योद्धुं गच्छन् संपू-
र्णानि शस्त्राणि गृह्णाति ॥

आलुलोकेऽमुना गर्भगेहः पुना राजधानीव धर्मावनीभास्वतः ।

चित्रितामर्त्यमर्त्योर्गाणां निभान्धूर्भुवःस्वस्त्रयेणेव संसेवितः ॥ १०६ ॥

अमुना मुनीन्द्रेण गर्भगेहो गर्भागारो व्यालुलोके 'गमारो' इति लोके प्रसिद्धो दृष्टः ।

उत्प्रेक्ष्यते—धर्म एवावनेर्भूमेर्भाखान् विश्वत्रयातिशायितेजस्तया भास्करः एतावता राजाधिराजः । ‘पाण्डोरवनिमार्तण्डस्यावदातान् गुणान् रहः’ इति पाण्डवचरित्रे । राज्ञो भूमीभास्कर इति नामापि । तस्य राजधानी ससुखनिवासनगरीव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चित्रितानामालेख्यभावं प्रापितानाममर्त्यानां देवानां मर्त्यानां मनुष्याणामुरगाणां नागानाम् । उपलक्षणादसुरादीनां परिग्रहः । तत्साहचर्यादेव दानवमानवानां पत्न्योऽपि गृह्यन्ते । तन्निभात्कपटात् भूर्भुवःस्त्रयेण पातालभूमण्डलस्वर्गलोकत्रिकेण सम्यक् सेवित इवोपासितः ॥

चैत्यस्य परितो देवकुलिकाः पश्यति स्म सः ।

अर्बुदाद्रिश्रियाश्चूडामरणस्येव मुक्तिकाः ॥ १०७ ॥

स सूरिश्चैत्यस्य विमलवसतेः परितश्चतुर्दिक्षु सर्वतो वा देवकुलिका लघुदेवगृहान् पश्यति स्म प्रदक्षिणाप्रदानावसरे दृष्टवानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अर्बुदनाम्नोऽद्रेः पर्व-तस्य श्रिया लक्ष्म्याश्चूडायाः शिखाया आभरणस्य विभूषणस्य । चूडामणेरित्यर्थः । लोके ‘वाक’ इति प्रसिद्धस्य मुक्तिका लघुमुक्ताफलानीव । ‘सिता वमन्तः खलुः कीर्तिमुक्ति-काः’ इति नैषधे । ‘मुक्तिका लघूनि मौक्तिकानि’ इति तट्टित्तिः ॥

चैत्यं प्रदक्षिणीचक्रे समं संघेन स प्रभुः ।

ज्योतिषां मण्डलेनेव मन्दरं कौमुदीपतिः ॥ १०८ ॥

स प्रभुर्हीरविजयसूरिः संघेन साधुसाध्वीश्राद्धश्राद्धीवर्गेण समं सार्धं चैत्यं मूलप्रासादं प्रदक्षिणीचक्रे । त्रिवारं प्रदक्षिणां प्रददिवानित्यर्थः । कौमुदीपतिरिव यथा चन्द्रमा ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रतारकाणां मण्डलेन कदम्बकेन साकं मन्दरं मेरुपर्वतं प्रदक्षिणयति । जैनमते मन्दरो मेरुः । यदुक्तं ज्ञातस्यास्तुतौ—‘येषां मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेकः कृतः’ इति । सर्वेषां तीर्थकृतां जन्माभिषेकस्थानं मेरुरेवातोऽत्र मन्दरः सुवर्णाचलः । आगमेऽपि ‘मन्दरस्स पन्वयस्स’ इत्यादि । परशासने कविसमये च मन्दर इन्द्रक्रीलपर्वतः मेरोः पृथक् दृश्यते, परं त्वत्र जैनमतानुसार्यैव मन्दरो मेरुरिति वचनम् ॥ इति विमलवसतिमध्यवर्णनम् ॥

विवेश वशिनामीशो गर्भगेहे जिनौकसः ।

स्तम्बेरमीविवोढेव गह्वरे विन्ध्यभूभृतः ॥ १०९ ॥

वशिनां जितेन्द्रियाणां योगिनां साधूनामीशो नायकः सूरिर्जिनौकसः वृषभदेवगृहस्य । प्रासादस्येत्यर्थः । गर्भगेहे गर्भागारे विवेश प्रविशति स्म । क इव । स्तम्बेरमीविवोढेव । यथा स्तम्बेरम्या हस्तिन्या विवोढा पतिर्हस्ती । ‘विवोढा रमणो भोक्ता’ इति हैम्याम् । विन्ध्यभूभृतो जलबालकाचलस्य गह्वरे विविधजातिनिबिडविनिद्रद्रुमक्षोणीदुःप्रवेशविपिने प्रविशति । ‘गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश’ इति रघौ । ‘बहुवृक्षावृतं वनं गह्वरम्’ इति तट्टित्तिः । तथा ‘गह्वरो बिलदम्भयोः । कुञ्जेऽथ’ इत्यनेकार्थः ॥

जातोऽक्षलक्ष्मा भगवानदर्शि सूरिन्दुना संमदमेदुरेण ।

जगन्महानन्दपदं निनीषुः स्वयं ततः किं कृपयावतीर्णः ॥ ११० ॥

संमदैस्तीर्थारोहणचैत्यप्रतिमानिरीक्षणोद्भूतामन्दानन्दैर्मेदुरेण पुष्टाङ्गेन सूरिन्दुना मुनीन्द्रचन्द्रेण जातोऽक्षलक्ष्मा वृषभलाञ्छनो भगवान् श्रीवृषभदेवः अदर्शि नयनविषयं नीतः । निरीक्षित इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जगद्विश्वं जगज्जनमित्यर्थः । महान् सर्वोत्कृष्टतम आनन्दः प्रमोदो यत्रेति कृत्वा मोक्षस्तस्य पदं स्थानम् । मुक्तिनगरीमित्यर्थः । निनीषुः प्रापयितुमिच्छुः । ततो महानन्दपदात्स्वयमात्मना कृपया संसारासारवासेऽतिसीदतां भविकलोकानामुपर्यनुकम्पया अवतीर्ण इहागत इव ॥

अपि प्रपन्नो भुवने धुरीणतां पुनस्तदीयस्पृहयेव निर्वृतौ ।

शीलन्तमङ्गच्छलतः क्रमाम्बुजं जिनस्य जातोक्षमवैक्षत प्रभुः ॥ १११ ॥

प्रभुः सूरिर्जातोक्षं ककुच्चन्तं वृषभमवैक्षत । किं कुर्वन्तम् । अङ्गस्य लाञ्छनस्य छलतः कपटात् जिनस्यार्थादादिदेवस्य क्रमाम्बुजं चरणारविन्दं शीलन्तं सेवमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—भुवने भूमीलोके धुरीणतां धुरंधरत्वं प्रपन्नः प्राप्तोऽपि स्वर्गपातालयोर्लोकयोर्देवदानवेषु सुरद्रुमैः सुधाभिश्च कृत्वा तृप्तिं विदधानेषु यतः स्वर्गे कल्पवृक्षाः सुधा च पाताले च नव सुधाकुण्डानि । यदुक्तं पञ्चमीस्तुतौ—‘यात्वा देवाधिदेवागमदशमसुधाकुण्डमानन्दहेतुः—’ इति । दशमसुधाकुण्डं जैनागम इत्यर्थः । नव तु पातालस्थानि । ततः क्षेत्राणां कृषीणां चाभावाद्वृषभाणामप्यभावः । ततः पुनर्निर्वृतौ मोक्षक्षेत्रे । यदुक्तं जिनशतके—‘मोक्षक्षेत्राभिकाङ्क्षपितशुभशताक्षेमविक्षेपदक्षाः’ इति । मोक्षरूपं यत्क्षेत्रं तत्र धुरीणताया धौरेयभावस्य स्पृहया वाञ्छयेव ॥

पायं पायं विभोर्वक्त्रविधौ लवणिमामृतम् ।

तदुद्गारैरिवास्तावि स स्तवैरिति सूरिणा ॥ ११२ ॥

सूरिणा इत्यमुना प्रकारेण अग्रे वक्ष्यमाणेन स आदिदेवः स्तवैर्नवस्तुतिभिः अस्तावि संस्तूयते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यामृतस्योद्गारैरिव । किं कृत्वा । विभोः ऋषभदेवस्य वक्त्रविधौ वदनचन्द्रे लवणिमा लावण्यं सुषमामेवामृतं सुधारसमतिशायिभक्तिमत्तया पायं पायं वारं वारं पीत्वा पीत्वा आस्वाद्य । सादरमवलोकयेत्यर्थः । ‘पौनःपुन्ये णमपदं द्विश्च’ इति सूत्रेण णमुलप्रत्ययः । प्रत्ययसहितस्यैव धातोर्द्विर्भावश्चेति पायं पायं सिद्धम् ॥

अथ स्तुतिः—

जय त्रिजगदीहितामरतरो सरोजानन

प्रसूनविशिखासनद्विरदभेदपञ्चानन ।

जय त्रिदशसुन्दरीविकचनेत्रनीलोत्पलै-

र्निपीतमुखशीतरुग्लवणिमैकपीयूष हे ॥ ११३ ॥

हे इति संबोधने । यदुक्तं सारस्वतव्याकरणे—‘आभिमुख्याभिव्यक्तये हे शब्दस्य प्राक्प्रयोगः’ इति । त्रिजगतां त्रयाणां भुवनानां त्रीणि च तानि जगन्ति च । त्रिजगज-
नानामित्यर्थः । सुरासुरनराणाम् । अथ च त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तेषां तस्य
वा यानीहितानि कामितानि तेषां पूरणे प्रदानविधौ अमरतरो कल्पवृक्ष इति संबोध-
नम् । तथा हे सरोजानन हे विकसितकमलवदन । हे प्रसूनं कुसुममेव विशिखाः शरा
अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽनेनेति विशिखासनं धनुर्यस्य स स्मरः स एव द्विरदो मदोन्मत्तहस्ती
तस्य भेदे विदारणे पञ्चानन केसरिन् । त्वं जय चिरं सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तस्व । तथा हे
त्रिदशानां सुन्दर्यः कामिन्यः तासां विकचानि विनिद्राणि नेत्राणि नयनान्येव नीलो-
त्पलानि इन्दीवराणि कुवलयानि वा तैर्निपीतं सादरमवलोकितमास्त्रादितं वा मुखं
वदनमेव शीतरक्चन्द्रमास्तस्य लवणिमा लावण्यं शोभातिशय एकमद्वितीयं न केनापि
समानं पीयूषं सुधारसो यस्य तत्संबोधनं पुनस्त्वं जय ॥

जय प्रणतपूर्वदिक्प्रणयिमौलिमालागल-

न्मरन्दकणधोरणीस्तपितपादपद्मद्वय ।

जय त्रिभुवनेन्दिरामरण नाभिभूमीधना-

न्ववायगगनाङ्गणाम्बरमणे महोक्षध्वज ॥ ११४ ॥

हे प्रणतः प्रणामप्रह्वीभूतः पूर्वदिशः प्राचीहरितः प्रणयी पुरंदरः उपलक्षणाच्चतुः-
षष्टिरपीन्द्राः तेषां मौल्यो सुकुटास्तेषां मालाः पुष्पदामानि तेभ्यो गलन्तो निःसरन्तो
ये मरन्दाः कुसुमरसास्तेषां कणानां बिन्दूनां धोरण्यः श्रेणयस्ताभिः स्तपितं कारि-
तज्ञानं प्रक्षालितं वा पादपद्मयोश्चरणारविन्दयोर्द्वयं द्वन्द्वं यस्य तत्संबुद्धौ । अथ वा
केवलमेक एव शक्नोऽपि वाच्यः । त्वं जय विजयस्व । हे त्रिभुवनस्य त्रैलोक्यस्य या
इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्या आभरण अलंकारभूत । पुनर्हे नाभिनाम्नो भूमीधनस्य राज्ञोऽन्ववायो
वंशः स एव गगनाङ्गणं व्योमाजिरं तत्राम्बरमणिः प्रकाशकत्वात्सूर्यः तत्संबुद्धौ । पुनर्हे
महोक्षः ककुब्धान् ध्वजे लाञ्छने यस्य त्वं जय ॥

जय त्रिभुवनाशिवप्रशमनात्मगम्भीरिमा-

पहस्तिततरङ्गिणीप्रियतमावलेप प्रभो ।

महोदयपयोरुहोदरविनोदपुष्पव्रता-

म्बुजासन इव स्फुटीकृतविशिष्टसृष्टिक्रम ॥ ११५ ॥

हे त्रिभुवनस्य त्रिजगत् अशिवस्योपद्रवस्य अरिष्टस्य वा प्रशमन निर्णायक ।
पुनर्हे आत्मनः स्वस्य गम्भीरिण्या गम्भीर्येण अपहस्तितो निराकृतो निर्वाटितः तर-
ङ्गिणी सरितां प्रियतमस्य भर्तुः समुद्रस्य अवलेपोऽहंकारो येन । ‘तुलेऽवलेपं च हसे
वृथैव’ इति प्रतिक्रमसूत्रवृत्तौ । पुनर्हे प्रभो स्वामिन्, त्वं जय । हे महाननन्तज्ञानदर्शक-

चरितसातानन्दादिप्राप्त्या अतिशायी सर्वोत्कृष्ट उदयो यत्र तादृशो मोक्षः स एव पयोरुहं पद्म तस्योदरं मध्यं तत्र विनोदो विलासस्तत्र पुष्पव्रतो भ्रमरः तत्संबुद्धौ । पुनरम्बुजासनो विधाता तद्वत्स्फुटीकृतः प्रकटितो विशिष्टो मोक्षमार्गाव्यभिचारी सृष्टे रचनायाः क्रमः परिपाटी येन तत्संबुद्धिः ॥

जय प्रमथितान्तराहितपताकिनीनायको-

ल्लसत्कनककेतकीकमलगर्भगौरद्युते ।

भवाम्बुनिधिनिष्पतन्मनुजयानपात्रोच्छ्वस-

द्यशःसुमसुगन्धितत्रिभुवनात्र जीयाश्चिरम् ॥ ११६ ॥

हे प्रमथिता निर्दलिता आन्तरा अन्तर्भवा अन्तरङ्गा अहिताः परमप्रत्यनीकभूताः कर्मादयो रागद्वेषकषायादयोऽष्टादश दोषा वा एव पताकिनीनायकाः सेनापतयो भूमी-पाला वा येन तस्य संबुद्धिः । तथा हे उल्लसतामुल्लासं भजतां विस्मेरीभवतां कनकानां काञ्चनसंबन्धिनां खर्णमयानां केतकीनां कमलानां च यो गर्भो मध्यभागस्तद्वद्गौरी पीता । 'गौरः श्वेतपीतयोः' इत्यनेकार्थः । युतिः कान्तिर्यस्य तत्संबुद्धौ । त्वं जय । पुनर्हे भवः संसारः स एव दुस्तरत्वादम्बुनिधिः समुद्रस्तत्र निष्पतन्तो निरवलम्बत्वेन नितरां मज्जन्तो ब्रून्तो ये मनुजा मानवास्तेषां त्राणार्थं यानपात्रं प्रवहण । तथा उच्छ्वसत् विकसत् प्रकटीभवद्यशः कीर्तिरेव सुखं पुष्पं तेन । तत्परिमलेनेत्यर्थः । सुगन्धितं वासितं सुरभीकृतं त्रिभुवनं विश्वत्रयं येन तत्संबोधने । हे ऋषभदेव । अत्रार्बु-दपर्वते भूषणीभवन् चिरं विगलितावधिसमयं जीया विजयी भूयास्त्वम् ॥ चतुर्भिः कुलकम् ॥ इति ऋषभदेवस्तुतिः ॥

कैलासलक्ष्मीतिलकायमानमिवेन्द्रभूतिव्रतिनां बिडौजाः ।

तमित्यभिष्टुत्य मुदं दधानः प्रणेमिवान्प्राञ्जलिरादिदेवम् ॥ ११७ ॥

व्रतिनां मुनीनां बिडौजाः पुरद्वृतः सूरिः प्रकृष्टोऽञ्जलिर्भालस्थलमिलितं पाणिपद्मद्वयं यस्य स आदिदेवमुपमस्वामिनं प्रणेषिवान् नमस्करोति स्म । किं कुर्वाणः । मुदं प्र-मोदं दधानः बिभ्राणः । किं कृत्वा । तमादिदेवमिति पूर्वोक्तप्रकारेणाभिष्टुत्य स्तुत्वा । क इव । इन्द्रभूतिरिव । यया गौतमस्वामी कैलासलक्ष्म्या अष्टापदश्रियास्तिलकायमानं ललामवदाचरितमाचरन्तं वा नाभेयं जगच्चिन्तामण्यादिस्तुतिभिः अभिनोनूय प्राञ्जलिः प्रणमति स्म ॥

आनन्दवृन्दारकनिर्झरिण्यां निमज्ज्य जम्भद्विषतः करीव ।

निरस्तनिःशेषरजाः स सूरिर्निरीयिवाञ्श्रीजिनराजधाम्नः ॥ ११८ ॥

स सूरिः श्रिया जगद्वैतशोभया युक्ताब्जिनराजस्यादिनाथस्य धाम्नः सौधात् विमल-वसतेर्निरीयिवान् निर्जगाम । किलक्षणः । निरस्तं क्षिप्तं दूरीकृतं निःशेषं समस्तं र-

जोऽशुभकर्म येन । बहुवचनं वा वाच्यम् । किं कृत्वा । आनन्दो भगवद्दर्शनोद्भूता-
ह्लादः स एव वृन्दारकनिर्झरिणी सुरसरिर्द्वजा तस्यां विषये निमज्ज्य स्नानं कृत्वा । क
इव । जम्भद्विषतः करीव । यथा जम्भनाम्नो दानवेन्द्रस्य द्विषतः शत्रोरिन्द्रस्य करी
ऐरावणः सुरसिन्धौ निमज्ज्य यथेच्छं जलक्रीडादि निर्माय स्वशरीरादपास्तं च प्राधा-
तादिना विलग्नं रजो येन तादृग्विधो गङ्गाप्रवाहाद्वह्निरेति । देवगजानां तु रजोलगभा-
वात् वैरिदमनत्वाज्जम्भद्विषत्तुल्यो राजा । ‘भूस्तम्भभिदः’ इति पाठो वा । भूमेरि-
न्द्रस्तस्य पट्टहस्ती मन्दाकिन्यां क्रीडित्वा स्वपुर्विलग्नं रजोऽपास्य बहिर्विनिःसरतीत्यर्थः ॥

पिण्डीभवद्भूति वस्तुपालयशः किमालोक्य परं विहारम् ।

तस्मिन्नलीव स्मितपुण्डरीके श्रेयोरसं संपृहयन्विवेश ॥ ११९ ॥

सूरिस्तस्मिन्विहारे विवेश प्रविष्टः । क इव । अलीव । यथा अमरो विशिष्टे श्वेत-
सरोजे मध्ये प्रविशति । किं कुर्वन् सूरिः । संपृहयन् वाञ्छन् । कम् । श्रेयो मोक्षस्तस्य
रसमास्वादम् । ‘रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ विषे हृदे । बोले रागे देहधातौ ति-
क्तादौ पारदेऽपि च ॥’ इत्यनेकार्थः । भृङ्गोऽपि स्वश्रेयःकारिणं पुष्टिविधायिनं स्वशरीरो-
पचये परमं मङ्गलमेव । ‘मकरन्दं रसो मधु । मकरन्दोऽमरन्दश्च’ इति हैम्याम् । काङ्क्षन् ।
किं कृत्वा परमन्यं विमलवसतेरपेक्षया विहारं जिनसद्य आलोक्य समीक्ष्य । उत्प्रे-
क्ष्यते—भूभृति अर्जुनाचले पिण्डीभवत्पिण्डाकारं संपद्यमानं वस्तुपालनाम्नो मन्त्रिणो
यशः किं मूर्तिमती कीर्तिरिव ॥

चुचुम्बेऽम्बरं यन्महामण्डपेन जगन्नेत्रजैवात्रिकेणात्ममूर्ध्ना ।

किमु स्नातुमाकाङ्क्षता सर्वहायाः प्रवाहे विहायोमणीतापितेन ॥ १२० ॥

यस्या वस्तुपालवसतेर्महान् सर्वातिशायी यो मण्डपस्तेनात्ममूर्ध्ना स्वमस्तकेन कृत्वा
अम्बरमाकाशं चुचुम्बे पस्पृशे । आलिङ्गति स्नेहार्थः । किंभूतेन । जगतां जगज्जनानां
नेत्राणामाह्लादकरणविधौ जैवात्रिकेण चन्द्रेण । उत्प्रेक्ष्यते—विहायसो व्योम्नो मणी
रत्नं भास्वान् तेन तापितेन तप्तीकृतसर्वाङ्गेण सता-स्वर्वहाया गगनगङ्गायाः प्रवाहे पयः-
पूरे स्नातुमाप्नुवितुमाकाङ्क्षता किमु वाञ्छतेव ॥

विभाव्य यत्राद्भुतशालिभञ्जीराजीस्त्रिलोकीयुवतीर्जयन्तीः ।

सुरैर्मरुद्यौवतरूपशिल्पी स्म कल्प्यते कारुरिवानधीतिः ॥ १२१ ॥

यत्र वस्तुपालवसतौ सुरैर्देवैर्मरुतां त्रिदशानां यौवतस्य युवतीसमूहस्य । देवाङ्गनागण-
स्नेहार्थः । रूपस्य वपुरामणीयकस्य शिल्पी रचनाकारकः न विद्यते सम्यक् शिल्पक-
लाया अधीतिरध्ययनं यस्य सोऽनधीतिः कारुः नीचजातिशिल्पी निकृष्टशिल्पी च
कल्प्यते स्म विचार्यते स्म । किं कृत्वा । यत्र वस्तुपालवसतौ त्रिलोक्या भुवनत्रयस्य
युवतीस्तरुणीर्जयन्तीः पराभवन्तीः अद्भुता अतिप्रकृष्टा जगदाश्चर्यकारिणीर्वा शालिभ-
ञ्जीराजीः पाञ्चालिकामालिकाः विभाव्य व्यालोक्य ॥

असूयता शुभ्रिमविभ्रमाय युयुत्सु यच्चैत्यमचण्डभासा ।

विभर्ति विद्वेषिजिगीषयैताममोघशक्तिं किमु दण्डदम्भात् ॥ १२२ ॥

यच्चैत्यं वस्तुपालकारितप्रासादः विद्वेषिणां वैभवेन स्वस्पर्धिनां जिगीषया पराभवितु-
मिच्छया । उत्प्रेक्ष्यते—दण्डस्य ध्वजनिघ्नणयष्टेर्दम्भात्कपटात् एतां प्रत्यक्षाममोघां
कापि न निष्कलीभवन्तीं शक्तिमायुधविशेषं लोहमयीं 'सांगि'नाम्ना प्रसिद्धां विभर्ति
दधतीव । किं कर्तुमिच्छुः । चैत्यं युयुत्सु योद्धुमिच्छुः । केन । अचण्डभासा चन्द्रभासा
समं किं कुर्वता चन्द्रेण । असूयता ईर्ष्यां कुर्वता । केन । शुभ्रिमविभ्रमाय स्वशैत्यशो-
भायै । 'कुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः । कुधार्थानां योगे यं प्रति कोपः स
संप्रदानसंज्ञः । इति चतुर्थी विभ्रमायेत्यत्र' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

यच्चान्द्रचैत्योपरि शातकौम्भः कुम्भो विभूषां विभरांबभूव ।

सुधासरःसंभ्रमतः समेतो रथाङ्गनामा किमु रन्तुकामः ॥ १२३ ॥

यदेव चन्द्रकान्तमणीप्रणीतप्रासादस्तुल्यो विहारस्तस्य शातकौम्भः स्वर्णमयः
कुम्भः कलशो विभूषां शोभां विभरांबभूव । उत्प्रेक्ष्यते—सुधासरसः पीयूषपूर्णपद्माकरस्य
संभ्रमतो धिया समेतः समागतः रन्तुं जलादिक्रीडां कर्तुं कामोऽभिलाषो यस्य तादृशो
रथाङ्गनामा चक्रवाक इव ॥

यद्वैजयन्त्या सितिमश्रिया स्वःपाथोधिपत्नी गमिता विगानम् ।

निम्नं व्रजन्ती त्रपयासिताब्जैः श्यामीकृतास्येव जडाशयासीत् ॥ १२४ ॥

यस्या वस्तुपालवसतेर्वैजयन्त्या पताकया कन्या सितिमश्रिया स्वशैत्यस्य लक्ष्म्या
साधनेन कृत्वा स्वः स्वर्गस्य पाथोधेः समुद्रस्य पत्नी जाया एतावता स्वर्गगङ्गा सा
विगानं वचनीयतां विक्कारभावं गमिता संप्रापिता सती । उत्प्रेक्ष्यते—जडाशया किं-
कर्तव्यतायां विमूढमानसा आसीद्वभूवुरिव । किं कुर्वन्ती । त्रपया खहृदयान्तरुदमन्दाक्षेण
निम्नं नीचैर्मन्दं मन्दं वा व्रजन्ती गच्छन्ती । पुनः किंभूता । असिताब्जैः नीलोत्पलैः
कृत्वा श्यामीकृतास्या कृष्णं विहितं सुखं यया । यो लज्जितः कथंचित्स्यात्स निम्नं मन्दं
प्रचलति । श्यामाननः किंकर्तव्यानभिज्ञः स्यादेव ॥

तं रैवतोर्वीधरवत्पवित्रीचिकीर्षयेवार्बुदमभ्युपेतम् ।

निरीक्ष्य तस्मिन्नयनाभिरामं ननाम शैवैयजिनं यतीन्द्रः ॥ १२५ ॥

यतीन्द्रः सूरिस्तस्मिन् वस्तुपालविहारे शिवायाः समुद्रविजयराजपत्न्याः अपत्यं
पुत्रः शैवेयः स चासौ जिनश्च तीर्थकरस्तं श्रीनेमिनाथं ननाम प्रणमति स्म । किं कृत्वा ।
निरीक्ष्य स्वलोचनगोचरीकृत्य अर्थात्नेमिनाथम् । किंभूतम् । नयनयोरभिरामं हृदयनय-
नयोर्हारिणम् । पुनः किंलक्षणं तम् । व्यावर्णितस्वरूपमर्बुदमर्बुदाचलमभ्युपेतं समागतम् ।
उत्प्रेक्ष्यते—पवित्रीचिकीर्षया पावनीकर्तुमिच्छयेव । किंवत् । रैवतोर्वीधरवत् ।
यथा उज्जयन्तपर्वतः पूर्वं पावनीकृतस्तथैनमपीत्यर्थः ॥ इति वस्तुपालवसतिवर्णनम् ॥

नमनेन मुनीशिता परेष्वपि चैत्येषु जिनेन्द्रसंततेः ।

धनकामयितेव संमदं दधते स्माधिगमेन शेषधेः ॥ १२६ ॥

मुनीनां यतीनामीशिता पतिः सूरिः परेष्वपि देवलपाटकवर्तिष्वपि अन्येषु प्रासा-
 देशु जिनेन्द्रसंततेः भगवत्प्रतिमापङ्केनमनेन प्रणामकरणेन संमदं हर्षं दधते विधत्ते स्म ।
 'दधि धारणे' केवलमात्मनेपदी धातुः । क इव । धनकामयितेव यथा द्रव्याभिलाषुकः
 पुमान् शेषधेर्निधानस्याधिगमेन प्राप्त्या प्रसादं दधाति ॥

चौलुक्यचैत्यं विधृतामृतश्रि धर्मप्रपास्थानमिवैष मार्गं ।

नत्वा मुनीन्द्रोऽचलदुर्गमध्ये चतुर्मुखे नाभिसुतं व्यनंसीत् ॥ १२७ ॥

एष मुनीन्द्रः । अचलो नामा यो दुर्गः कोटस्तस्य मध्ये चतुर्मुखे प्रासादे नाभिसुतम्
 ऋषभदेवं व्यनंसीत् विशेषेण नव्यस्तुतिपञ्चाङ्गीभूलगनपूर्वकं नमति स्म । किं कृत्वा ।
 देवलपाटकादलदुर्गागमनाध्वनि चौलुक्यस्य कुमारपालभूपालस्य चैत्यं प्रासादं नत्वा
 अर्थात्तत्रार्हन्तं प्रणम्य । उत्प्रेक्ष्यते—चौलुक्यचैत्यं धर्मप्रपास्थानमिव धर्मस्य पानीय-
 शालागृहमिव । लौकिके व्यवहारे धर्मार्थमार्गश्रमश्रान्तपिपासिपथिकनिवृत्त्यर्थं मार्गं
 प्रपा कार्यते । किंलक्षणेन । विधृता आश्रिता अमृतवदुज्ज्वला श्रीः शोभा येन । अथ-
 वा विधृता स्वस्मिन्नानीय रक्षिता अमृतश्रीर्मोक्षक्षमीयेन । प्रपापि धृता आलम्बिता
 अमृतानां कुसुमैलाकपूर्वादिवसितजलानां प्रागुक्तसलिलैर्वा श्रीः सुषमा येन ॥

दिनानि कतिचित्सूरिर्गिरीन्द्रतनुजे गिरौ ।

स्थितोऽर्हद्धानिध्यानश्चारणश्रमणेन्द्रवत् ॥ १२८ ॥

सूरिर्गिरीन्द्रस्य हेमाद्रिस्तनुजे नन्दने गिरौ पर्वते अर्जुदाचले कतिचिद्दिनानि कियतो
 वासरान् यावत्स्थितः अर्हद्दर्शनादिलोभेन तत्र तस्थिवान् । किंभूतः । अर्हतो भगवतो
 ध्यानेन प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण कृत्वा निध्यानमवलोकनं यस्य । योगिनो हि स्वहृद-
 यकमले परमात्मानं साक्षात्समीक्ष्य ध्यानाद्विरमन्ति इति कुमारसंभवे पार्वतीपाणिग्रह-
 णात्पूर्वसमये ध्यानव्यतिकरे । अथ वा अर्हतां सर्वतीर्थकृतां ध्यानं हृद्गोचरीकरणं स्म-
 रणं वा पौनःपुन्येन । वारंवारमित्यर्थः । दर्शनं चैत्यगमनादिना यस्य । किंवत् । चारण-
 श्रमणेन्द्रवत् । यथा जङ्घाचारणविद्याचारणादिर्यतिपुंगवाः यात्रार्थं गताः कापि शत्रुज-
 यादितीर्थपर्वते कानिचिद्विवसानि तिष्ठन्ति । दिनदिवसवासराः पुनपुंसकलङ्के ।
 श्रूयते तज्जनपदलोकवृत्त्यां पूर्वमष्टांशीतिः ऋषयः अत्र स्थाने तपः कुर्वाणाः आसन् । तेषां
 च होमादिसाधनमेका कामधेनुश्चरन्ती सती महागर्तान्तः पपात । ततस्तां निष्काश-
 यितुमशक्ता ऋषयो गत्वा हिमाचलं याचित्वा तत्पुत्रमर्जुदनामानं महामहीधरमत्रानैषुः ।
 तावतासौ कामगवी स्वपयोभिस्तां गर्तामापूर्य तीर्त्वा च बहिर्निःसरति स्म । ततः
 पुनर्मास्या धेनोरेतद्गर्तायां पातो भवतु इत्याशङ्क्य ऋषिभिस्तद्गर्तामव्यमर्जुदाद्रिणा

पूर्यते स्म । तैः स्थापितस्तत्रैव स्थितः सोऽयमर्बुदो हिमाद्रिपुत्र इति तत्पारिपार्श्वकक्षौ-
बलोकस्य प्रवृत्तिः प्रसिद्धिश्च । तथा वस्तुपालवसतिप्रशस्तावपि 'गौरीवरश्चक्षुरभूधर-
संभवोऽयमस्त्यर्बुदः ककुदमद्रिकदम्बकस्य । मन्दाकिनीघनजटे दधदुत्तमाङ्गे यः शालकः
शशभृतोऽभिनयं करोति ॥' इति दृश्यते ॥

उदयशिखरिणीव श्रीमदम्भोजबन्धु-

विषमविशिखवैरी स्फाटिकोर्वीभृतीव ।

त्रिदशपतिरिव स्वर्भूधरे सूरिसिंहो

हिमशिखरिसुतेऽस्मिन्कांचनाभां बभार ॥ १२९ ॥

सूरिसिंहो हीरविजयनामा सूरिशार्दूलः अस्मिन्नर्बुदाचलाभिधाने हिमशिखरिसुते
तुहिनाचलनन्दने कांचन अनिर्वचनीयामाभां शोभां बभार दधाति स्म । क इव । श्रीम-
दम्भोजबन्धुरिव । यथा श्रीमान् सर्वज्योतिश्चक्रज्योतिः पराभवनप्रवणप्रतापलक्ष्मीवान्
अम्भोजबन्धुर्भानुमान् उदयशिखरिणि पूर्वपर्वते अद्वैतां शोभां बिभर्ति । पुनः क इव ।
विषमविशिखवैरीव । यथा विषमाः सोढुमशक्या अथ वा समेतरे पञ्चत्वाद्विशिखा
बाणा यस्य स स्मरस्तस्य वैरी प्रतिपक्षः पार्वतीपतिः ईश्वरः स्फटिकस्यायं स्फाटिक-
स्तादृश उर्वीभृत्पर्वतः एतावता स्फटिकाचले कैलासे । पुनः क इव । त्रिदशपतिरिव ।
यथा सुरेन्द्रः स्वर्भूधरे मेरुगिरौ असाधारणां भूषां बिभर्ति । 'जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम'
इतीन्द्राभिधानं नैषधे ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽभवद्वादशः ॥ १३० ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिव्यावर्णिते हीरसौभाग्यनान्नि महाकाव्ये हीरविजयसूरि-
चरिते द्वादशानां संख्यापूरणो द्वादशः सर्गः अभवद्बभूव ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनान्नि
महाकाव्ये अकमिपुरप्रस्थानविजयसेनसूरिसंमुखगमनपत्तनपादावधारणसमवसरणवन्दन-
पुरःप्रस्थानासिद्धपुरागमनविजयसेनसूरिपश्चाद्वलनमार्गोल्लङ्घनार्जुनपत्नीपतिपत्नीवन्दनार्बु-
दाचलाधिरौहणविमलवस्तुपालवसतिप्रमुखजिनस्तवनादिवर्णनो नाम द्वादशः सर्गः ॥

त्रयोदशः सर्गः ।

अथार्बुदाद्रेरवतीर्य भूर्मीं विभूषयामास स सूरिभूमान् ।

वचस्तरङ्गैस्त्रिजगत्पुनानो रयो हिमाद्रेरिव देवनद्याः ॥ १ ॥

अथावुदाचलतीर्थकृन्नमनानन्तरं सूरिभूमान् सूरिराजोऽवुदाद्रेहिमाद्रिनन्दनावनीध-
रादवतीर्थं अवरुह्य उपत्यकामागत्य भूमीं पृथिवीपीठं विभूषयामास शोभयति स्म ।
किं कुर्वाणः । वचसां वचनानां तरङ्गैरस्खलितप्रचारनिःसरद्वाक्कलोलैल्लिजगन्निभुवनजनं
पुनानः पवित्रीकुर्वाणः । क इव । रय इव । यथा देवनद्याः गङ्गायाः प्रवाहो हिमाद्रे-
स्तुहिनाचलादवतीर्थं अधः समेत्य भूमीं पुनीते । सोऽपि अस्खलितकलोलैल्लिजगन्निभो-
त्स्वाग्निभुवनं पावनं कुर्वाणः ॥

यस्यां द्विपेन्द्रैः स्वमदप्रवाहैरारामिकौघैरिव वारिपूरैः ।

वृक्षा अवर्ध्यन्त विमुर्व्यहर्षीत्तत्रावुदाभ्यर्णवसुंधरायाम् ॥ २ ॥

विभुः सूरिस्तत्र तस्यावुदाद्रेरभ्यर्णे समीपे या वसुंधरा भूमिस्तस्यां व्यहर्षीत् वि-
हरति स्म । तस्यां कस्याम् । यस्यामवुदाभ्यर्णभूमौ द्विपेन्द्रैर्मत्तगजराजैः स्वेषामात्मनां
मदानां दानवारीणां प्रवाहैरर्थोत्कपोलेभ्यो निःसृत्य पृथिवीपीठे पतद्भिः वृक्षा इमा अ-
वर्ध्यन्त सिक्ताः सन्तः वृद्धिं नीयन्ते स्म । कैरिव । आरामिकौघैरिव । यथा वनपालवृन्दै-
र्वारिपूरैरभिषिञ्चनजलप्लवैः पादपा वृद्धिं प्राप्यन्ते ॥

मित्रं महिम्ना किमनुव्रजन्तं स्वदीर्घभावेन सहायवत्तम् ।

इवाचलं शैवलिनीप्रवाहः क्रमान्मुनीन्द्रोऽवुदमुल्लङ्घे ॥ ३ ॥

मुनीन्द्रः सूरिः क्रमादिहारपरिपाठ्या अवुदं पर्वतमुल्लङ्घे अतिक्रान्तवान् । क
इव । शैवलिनीप्रवाह इव । यथा शैवलान्यनवरतप्रबलप्रसरत्पयःप्रवाहत्वात्प्रादुर्भूतप्रचुर-
बहलसेवालजालानि यस्यां सा शैवलिनी नदी तस्याः प्रवाहः पयःपूरः अचलं मार्गा-
गतगिरिमुल्लङ्घते । अवुदमुत्प्रेक्ष्यते—महिम्ना माहात्म्येन गुरुतया किं मित्रं सखाय-
मिव । अत एवोत्प्रेक्ष्यते—सहायवत् अभिजनमिव । स्वस्यात्मनो दीर्घभावेन अत्या-
यामतयातिलम्बतया अनुव्रजन्तमिव पृष्ठे समायान्तमिव । यथा सहायोऽपि प्र-
स्थितपुंसोऽनुयाति । अत्र किमिति लालाघण्टान्यायेन उभयत्रापि योज्यते । द्वयो-
रप्युत्प्रेक्षयोः संयोजनीयमिति ॥

प्रतिष्ठमानः पुरतो व्रतीन्दुर्भूषामनैषीच्छिवपूःसमीपम् ।

स्वपादसंस्पर्शनतः पयोजकुञ्जं यथा पङ्कजिनीविवोढा ॥ ४ ॥

पुरतोऽग्रतः प्रतिष्ठमानः प्रचलन् व्रतीन्दुः मुनिचन्द्रः सूरिः स्वस्यात्मनः पादयोश्चर-
णयोः संस्पर्शनतः शिवपुरः श्रीरोहिण्या नगर्याः समीपं पार्श्वप्रदेशं भूषां शोभामनै-
षीत् प्रापयामास । क इव । पङ्कजिनीविवोढेव । अत्र यथा इवार्थे । यथा कमलिनी-
रमणो भानुमान् स्वेषां पादानां किरणानां संस्पर्शनतः संपर्कोत् संश्लेषात्पयोजानां क-
मलानां कुञ्जं काननं भूषां लम्बयति विकाशलक्ष्मीं नयति ॥

जनारवैरागमनं मुनीन्द्रोस्ततः सुरत्राणनृपो निपीय ।

कलापिकेकाभिरिवाम्बुदस्य नभोम्बुपः संमदमेदुरोऽभूत् ॥ ५ ॥

ततः शिवपुरीसमागमनानन्तरं सुरत्राणनामा नृपः शिवपुरीमण्डलस्वामी देवडाभिधानानां राजपुत्राणां राजा जनानां शिवपुरीवासिनां लोकानामारवैः शब्दैः । वार्ताभिरित्यर्थः । सुनीन्द्रोः सूरैरागमनं समवसरणम् । पादावधारणमित्यर्थः । निपीय सादरं श्रुत्वा संमदेनानन्देन मेदुरः पुष्टः अभूद्वभूव । क इव । नभोम्बुप इव । यथा चातकः कलापिनां मयूराणां केकाभिः केकाभिधानध्वनिभिः । मयूरवाक् केका इत्युच्यते । अम्बुदस्य मेघस्य आगमनं श्रुत्वा प्रमोदोपचिततनुर्भवति ॥

भक्त्या सुरत्राणनृपोऽभिगम्य वेत्रीव दण्डं दधदग्रगामी ।

प्रवेशयामास पुरीं स सूरिं पुराङ्गनागीतयशःप्रशस्तिम् ॥ ६ ॥

स पूर्ववृत्तप्रोक्तः सुरत्राणाभिधानो नृपोऽर्जुदचलाधिपतिर्भक्त्या सेवासक्त्या अभिगम्य संमुखमागत्य सूरिं पुरीं श्रीरोहिणीं नगरीं प्रवेशयामास । शिवपुरीमध्ये आनिनायेत्यर्थः । ण्यन्तत्वात्कर्मद्वयम् । किंभूतः सः । पुरः सूरैरग्रे गच्छतीति इत्येवंशीलः । पुनः किं कुर्वन् । दण्डं वेत्रं दधद्विभ्राणः । क इव । वेत्रीव । यथा दौवारिकः प्रतीहारः वेत्रयष्टिं करे दधानः पुरो गच्छति । किंभूतः सूरिः । पुराङ्गनाभिः श्रीरोहिणीनगरीनागरीभिर्गीता गानगोचरीकृता यशसां कीर्तीनां प्रशस्तयो विविधा अवदाता यस्य ॥

आलेख्यशेषीकृतकामदस्योरुपास्यमानस्य महीमहेन्द्रैः ।

चक्रीव चक्रस्य पुरे पुरीन्द्रो महामहं कारयति स्म सूरिः ॥ ७ ॥

पुरीन्द्रः श्रीरोहिणीपुरीपुरंदरः सुरत्राणनामा भूमान् पुरे स्वश्रीरोहिणीनगरे हीरविजयव्रतीन्द्रस्य महामहं प्रतिगृहापणादिषु ध्वजबन्धनादिममतिशायिनमुत्सवं कारयति स्म । क इव । चक्रीव । यथा चक्रवर्ती प्रथमोत्पन्नस्य चक्रस्य रथाङ्गरत्नस्य महोत्सवं निर्मापयति । किंभूतस्य सूरेश्वकस्य च । आलेख्यं चित्रं शेषमवशिष्टं यस्य तादृशः कृतः निहितः कामः कंदर्परूपो दस्युः शत्रुर्येन । पक्षे नामशेषीकृता व्यापादिताः काममतिशयेन शिरश्छेदादिना वैरिणो येन । पुनः किंभूतस्य । महीमहेन्द्रैः पृथ्वीपुरंदरैः महाराजैर्भाविति भूतोपचारे उपास्यमानस्य चक्रप्रभावादेव चक्री सेव्यते । अतो मुख्यवृत्त्या चक्रमेव सेव्यम् ॥

दिदक्षुरेतन्महिमानमभसरित्सहस्रं दधती मुखानाम् ।

यत्रागता किं सितकेतुकाया पुरीं स तां सूरिरलंचकार ॥ ८ ॥

सूरिस्तां सुरत्राणनृपनिर्मापितानेकमहोत्सवबहलां शिवपुरीनाम्नीं नगरीमलंचकार विभूषयामास । तां काम् । यत्र श्रीरोहिण्यामेतस्य जगज्जनमानस्य हीरविजयसूरैर्महिमानं स्वाभाविकमाहात्म्यम् । अथ वा सुरत्राणधरित्रीसुत्रामनिर्मापितानन्यमहोत्सवादिगरिमाणं दिदक्षुर्दृष्टुमिच्छुर्विलोकयितुमाकाङ्क्षन्ती सती । अत एव मुखानां पयःप्रवाहरूपवक्त्राणां सहस्रं दशशतीं दधती विभ्रती । सहस्रमुखी गङ्गेति जनप्रसिद्धेः ।

उत्प्रेक्ष्यते—सितानामुज्ज्वलानां केतूनां ध्वजानां कायाः शरीराणि यस्यास्तादृशी
अभ्रसरिरङ्गनापगा समागता ॥

द्वितीयराशौ शतमन्युसूरिरिव क्रमेणोपगतः स तस्याम् ।

प्रकाशयन्बोधिनिधीन्विदग्धान्महोदयस्याभिमुखीचकार ॥ ९ ॥

स सूरिः क्रमेण प्रवेशपरिपाठ्या तस्यां शिवपुर्यामुपगतः समायातवान् सन् विद-
ग्धान् कोविदान् छेकाङ्गान् महान्सुरनराभ्युदयेभ्योऽतिशायी उदयो यत्र तादृशो
मोक्षस्तस्याभिमुखीचकार । धर्मोपदेशश्रवणातदेकाग्राराधनमनस्त्वेन सिद्धिगामिनो
विदधाति स्म । किं कुर्वन् सूरिः । बोधेरनेकमेदमिन्नसम्यक्त्वरूपात् निधीन्निधानानि
प्रकाशयन् प्रकटीकुर्वन् । क इव । शतमन्युसूरिरिव । यथा शतमन्योः शतक्रतोः
पुरंदरस्य सूरिराचार्योऽध्यापयिता बृहस्पतिः । यदुक्तं नैषधे—‘ईदृशीं गिरमुदीर्य वि-
डौजा जोषमासनविशिष्य वशाधे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधिगुरुर्गुरुरस्य ॥’
इति । यस्य कस्यचिद्भाग्यवतः पुंसः खराशितो द्वितीयो राशिस्तत्र समेतः सन् निधा-
नद्रव्याणि प्रकाशानि विदधानः महोदयस्य राज्यमन्त्रिश्रेष्ठिपदादिरूपस्य महोदयस्या-
त्यभ्यधिकाभ्युदयस्य संमुखीकरोति । यदुक्तं ज्योतिर्विद्भिः—‘द्वितीये नवमे राशौ
बृहस्पतिरुपगतः । कुर्यान्महोदयं पुत्रगोत्रवृद्धिं धनं पुनः ॥’ इति वचनात् ॥ इति
शिवपुर्या प्रभोः पादावधारणं तन्महवर्णनं च ॥

स प्रस्थितस्तत्पुरतः पुरस्तात्सितप्रसूनादिव चिञ्चिरीकः ।

गण्डे गजस्येव विलङ्घ्य मार्गं स सादडीनान्नि पुरे जगाम ॥ १० ॥

स सूरिस्तत्तत्पुरतः सीरोहीनगरात्पुरस्तादग्रे प्रस्थितः प्रचलितः सन् मार्गं पन्थानं
विलङ्घ्यातिक्रम्य सादडीनान्नि पुरे जगाम गतवान् । क इव । चिञ्चिरीक इव । यथा
भ्रमरः स्मिताद्विकसितात्प्रसूनात्कुसुमात्प्रचलितः सन् मार्गमुल्लङ्घ्य गजस्य गन्धसिन्धु-
रस्य गण्डे कपोलस्थले गच्छति । ‘कटेषु करिणां पेतुः पुंतागेभ्यः शिलीमुखाः’ इति
रघुवंशे । प्रसूनानि लवक्त्वा भृङ्गा गजेन्द्रगण्डस्थलगलदानवारि पातुं समायान्ति ॥

प्राग्वागडावन्तिविराट्खानमहादिराष्ट्रापरमण्डलेषु ।

सार्थाधिपेनेव सुतेन सातं विहृत्य लाभांश्च बहूनुपार्ज्य ॥ ११ ॥

कल्याणराजद्विजयाभिधानोपाध्यायचन्द्रेण समेत्य तत्र ।

क्रमादविच्छिन्नतमैः प्रयाणैः श्रीतातपादाः प्रणताः प्रमोदात् ॥ १२ ॥ (युग्मम्)

कल्याण इति पदेन राजदीप्यमानं विजय इत्यभिधानं नाम यस्य तादृशेनोपाध्यायेषु
वाचकेषु चन्द्रेण जनाह्लादकत्वेन विधुना । एतावता कल्याणविजयोपाध्यायेनेत्यर्थः ।
अविच्छिन्नतमैरतिशयेन खण्डितैः त्वरितत्वरितैः प्रयाणैः प्रतिदिनं पथि प्रस्थानकैः
क्रमात् खानलाटगुर्जराहुंदाद्रिपरिसरदेशोऽलङ्घनपरिपाठ्या समेत्य सादडीपुरे समागत्य

श्रीतातपादाः श्रीहीरविजयसूरिचरणारविन्दाः पितृपादाश्च प्रमोदादानन्दोदयात्प्रणता नमस्कृताः । किं कृत्वा । सार्थाधिपेनेव सार्थपतीभूतेन सुतेनेव पुत्रेणेव प्राक् पूर्वं गुर्जर-मालवानां मध्ये वर्तमाना वागडाः । एतावता गुर्जरकच्छमध्यवर्तिनो वागडा निषिद्धाः । तथा अवन्तयो मालवाः, विराटाः मालवदक्षिणान्तरालशालिनो 'वडराड' इति प्रसिद्धाः, तथा खाना लाटदक्षिणवर्तिनः, तथा महा इति पदमादौ येषां तादृग्विधा राष्ट्राः । महा-राष्ट्राः इत्यर्थः । 'मरहड' इति प्रसिद्धाः । इत्यादिध्वपरेषु गुर्जरापेक्षया अन्येष्वपि मण्डलेषु देशेषु सातं सुखं यथा स्यात्तथा विहृत्य विहारं कृत्वा द्रव्योपाजनकृते बहुषु जनपदेषु ज्यापारार्थं भ्रान्त्वा च पुनर्वहून्नेकान् लभान्पुण्यान्यनेकधनानि चोपाज्यं अर्जयित्वा । गृहीत्वैत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

विभूषयद्विन्ध्यधराभृतोऽष्टापदस्य साकेतमिवोपकण्ठम् ।

स वाचकेन्द्रानुगतस्ततः श्रीव्रतीश्वरो राणपुरं वभाज ॥ १३ ॥

ततो वाचकागमनानन्तरं वाचकेन्द्रेण कल्याणविजयोपाध्यायेनानुगतः श्रिया भट्ट-रकलक्ष्म्या कलितो व्रतीश्वरः सूरिः राणपुरं नगरं वभाज श्रितवान् । पुरं किं कुर्वत् । विन्ध्यधराभृतो विन्ध्याचलस्योपकण्ठं समीपं विभूषयदलं कुर्वाणम् । किमिव । साकेत-मिव । यथा अष्टापदस्य कैलाशशैलस्य समीपमयोध्या अलंकुरुते ॥

अथ धरणविहारः—

विन्ध्याचलं तुङ्गतया वयस्यभावं भजन्तं प्रविभाव्य विद्मः ।

गिरीशशैलं मिलितुं समेतं स प्रैक्षतास्मिन्धरणस्य चैत्यम् ॥ १४ ॥

स सूरिरस्मिन् राणपुरे धरणनामव्यवहारिणः चैत्यं प्रासादं प्रैक्षत व्यालोकते स्म । अत्रार्थे वयमेवं विद्मः जानीमः । तुङ्गतया अत्युच्चैस्तरत्वेन वयस्यभावं मित्रतां भजन्त-माश्रयन्तं विन्ध्याचलं प्रविभाव्य विलोक्य । विज्ञायेत्यर्थः । मिलितुं समेतमागतं समीपे समेतं गिरीशशैलं कैलाशपर्वतमिव । अत्र विद्म इवार्थे ॥

विनिद्रनीलाञ्जनिकानमेरुवनीविनीलालकशालमाने ।

मौलौ प्रणीतं द्रुहिणेन चान्द्रचूडामणीं किं धरणीन्दिरायाः ॥ १५ ॥

चैत्यं पुनरुत्प्रेक्ष्यते—धरणीन्दिराया भूमीमण्डललक्ष्म्या मौलौ मस्तके द्रुहिणेन विश्वसृजा प्रणीतं विरचितं चान्द्राणां चन्द्रकान्तरत्नानां चूडामणीमिव शिखारत्नमिव । किंभूते मौलौ । विनिद्रा विस्मेरा या नीलाञ्जनिकास्तमालतरवः । 'नीलाञ्जनिकाकुसुम-कान्तिनि तमसि' । तथा 'नीलाञ्जनिकाकुसुमकान्तयः किरातयुवतयः' इतीदं द्वयमपि चम्पूकथायाम् । 'नीलाञ्जनिकास्तमालाः' इति तद्विष्णुके । कृष्णकान्तिवृक्षविशेषास्तेषां वनी काननं तद्वत् एव नीला अलकाः केशास्तैः कृत्वा शालमाने शोभमाने ॥

भूमीन्द्रकुम्भाभिधराणकस्य स्तम्भान्दधानं निजमण्डपान्तः ।

अनेकपस्फूर्तिभुवः समज्ञास्तम्भानिवैताञ्छिवगोत्रजैत्रान् ॥ १६ ॥

पुनश्चैल्यं किं कुर्वाणम् । निजस्यात्मनो मण्डपान्तः खलामण्डपमध्ये मेदपाट-
मण्डलाधिपस्य भूमाविन्द्रोपमस्य कुम्भो इत्यभिधा नाम यस्य तादृशस्य राणकस्य । केषां-
चिदपि राजन्यानां राणो इत्यभिधा प्रोच्यते । ततः कुम्भोराणो इति प्रसिद्धस्य । राज्ञः
पञ्चशतीसुवर्णकानां समर्पणेन खनान्ना कारितान् स्तम्भान् सप्तसंख्याकान् मण्डपावा-
ष्टम्भस्थूणाविशेषान्धानं विभ्राणम् । किंभूतान् स्तम्भान् । अनेकपानां करिणां
स्फूर्तीनां विलसितानां भुवः स्थानानि । उत्प्रेक्ष्यते—शिवस्य शंभोर्गोत्रस्य शैलस्य
शुभ्रश्रिया कैलाशस्य जैत्राज्यनशीलान् एतान्प्रत्यक्षान् समज्ञायाः कीर्तैः स्तम्भानिव ।
किंभूतान् । अनेकाङ्गान् व्यापदुद्धरणव्यसननिराकरणद्रविणवितरणशरणरक्षणादिभिः
पातीति रक्षतीति कृत्वा अनेकपस्तत्त्वेन स्फूर्तयः प्रसिद्धयस्तासां भुव आस्पदाः ॥

खतुङ्गिमाधःकृतरत्नसानुं विगाहमानं शिखरैर्विहायः ।

प्रगल्भमानं वपुषैव तेनाश्रितानिव प्रापयितुं द्युलोकम् ॥ १७ ॥

चैल्यं किं कुर्वाणम् । शिखरैः स्वशृङ्गैः विहायो गगनाङ्गणं विगाहमानं संस्पृशत्
कषट्वा । पुनः किंभूतम् । खतुङ्गिन्ना स्वकीयोच्चैस्तरत्वेन अधःकृतो हीनो विहितो
रत्नसानुः सुवर्णशिखरी येन । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—आश्रितानागत्य स्वं सेवमानान् अर्थात्
निजनायकजिनभक्तिपरायणान् जनान् तेनैव वपुषा मानुषेनैव द्युलोकं स्वर्गभुवनं
प्रापयितुं प्रगल्भमानमुद्यमं कुर्वाणमिव ॥

चेतश्चमत्कारकरील्लिलोक्या लक्ष्मीः समालोक्य रसातिरेकात् ।

संस्तम्भिताङ्गीभिरिवामरीभिः पाञ्चालिकाभिः प्रविभासमानम् ॥ १८ ॥

पुनः किं कुर्वाणम् । प्रविभासमानं प्रकर्षेण दीप्यमानम् । अतिशायिशोभां दधानमि-
त्यर्थः । काभिः । पाञ्चालिकाभिः शालभङ्गीभिः । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिलोक्या भुवनत्रितयस्य
चेतसामन्तःकरणानां चमत्कारमाश्चर्यरसातिशयं करोतीति तादृशीलक्ष्मीरतिशायि-
शोभाः समालोक्य सम्यक् सर्वाङ्गीणतया निर्वर्ण्य । रसातिरेकात्केवलं दर्शनेन विस्म-
याद्वैततया संस्तम्भिताङ्गीभिर्निश्चलीभूततनूलताभिरिव । अथ वा विमुक्तगमगमस्फुर-
णवार्तान्योन्यावलोकनाद्यशेषापरशरीरव्यापाराभिरमरीभिर्देवाङ्गनाभिरिव ॥

पाञ्चालिकाप्रौढविलासवीक्षाहणीयमानद्युधवावरोधम् ।

अष्टापदोत्तीर्णवृषाङ्गगेहमसासहीवाद्रिनिवासजार्तिम् ॥ १९ ॥

चैत्यमुत्प्रेक्ष्यते—अद्रौ पर्वते । शैलशिखरे इत्यर्थः । यो निवासो नित्यनिवसनं तं-
स्माज्जाता या अर्तिः पीडा चिन्ता शारीरिकी मानसी च तामसासहिः सोढुमशक्तम् ।
'अहिर्महीगौरवसासह्रियः' इति नैषधे । अष्टापदात्स्फटिकपर्वतादुत्तीर्णं भूमीठेऽभ्युपेतं
वृषाङ्गस्यादिदेवस्य गेहं सिंहनिष्पद्या नाम चैत्यमिव । यद्यपि चतुर्विंशतितीर्थकृतामपि
प्रासादोऽस्ति तथा मुख्यवृत्त्या ऋषभदेवस्यैव । यतो भरतचक्रिणा ऋषभदेवसमये

भगवन्तं स्वतातमेवोद्दिश्य निर्मापितः । अथ च परसमयानुसारितया वृषाङ्गस्येश्वरस्य मन्दिरमेवोत्तीर्णं शंभोः कैलासवासित्वादित्यप्यर्थध्वनिः । किंभूतम् । पाञ्चालिकानां विविधरचनाचारिमापूर्वपुत्रिकाणां प्रौढानां प्रगल्भानां सुरासुरनरोरगगणमनोहारिणां विलासानां विभ्रसाणां वीक्षया दर्शनेनैव हणीयमानो लज्जां प्राप्नुवन् । 'त्वयानपत्या धरणी हणीयते' इति नैषधे । 'हृणीक् लज्जायाम्' कण्डादिधातुः । युधवानां सर्वेषामपीन्द्राणा-मवरोधा अन्तःपुराणि यत्र यस्माद्वा ॥

ध्रुवं दधानं चतुराननीं च हिरण्यगर्भं भवसूदनं च ।

पद्मासनं स्वःसदुपास्यमानं पतिं प्रजानामपरं किमुर्व्याम् ॥ २० ॥

चैत्यमुत्प्रेक्ष्यते—उर्व्यां भूमीसुवने अपरमेकः ब्रह्मलोके सृष्टिकर्तास्ति अन्यं प्र-जानां पतिं धातारम् । किंभूतं प्रजानां पतिम् । ध्रुवं नित्यस्थायुकं स्थिरं च । पुनः किं कुर्वाणम् । दधानं धारयन्तम् । काम् । चतुराननीम् । चतुर्णां पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिग्ब-र्तिनामाननानां वक्राणां समाहारश्चतुराननी तां चत्वारि मुखानि विभ्राणम् । चतुर्मुख-त्वात् । पुनः किंभूतम् । हिरण्यं स्वर्णं गर्भे मध्ये यस्य । प्रायः प्रासादसरोवापीकूपादौ जीर्णोद्धारार्थं तत्स्वामिनो निधीन्क्षिपन्तीति स्थितिः । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—'कुपि-तकपिकुलकुलितलङ्केश्वरकिंकरा इव भग्नकुम्भकर्णघनखापाः कूपाः' । 'भग्नाः कु-म्भानां घटानां कर्णाः काना इति प्रसिद्धा यत्र । तथा घनाः प्रचुराः स्वाः स्वकीयाः पातालमूलोत्थाना तु प्रवाहादिना प्रविष्टा आपः पानीयानि येषु । अथ च घनखा बहुद्रव्या आपो जलानि येषु । प्रायो वापीकूपादौ जीर्णोद्धारार्थं निधिं क्षिपन्तीति स्थितिः । पक्षे भग्नः कुम्भकर्णस्य रावणानुजस्य घनखापो घोरनिद्रा यैः' इति चम्पूटि-प्पनके । च पुनः किंभूतम् । भवस्य संसारस्य सूदनं निर्नाशकम् । पद्मानां मण्डपान्त-राले अन्यत्र वा आकृतयः पूजादिभिर्वा आसनं स्थानम् । पुनः किंभूतम् । स्वःसद्भिः अधिष्ठातृदेवैर्नमनक्रीडागतैर्वा सुरैरुपास्यमानं सेव्यमानम् । पक्षे ध्रुवनामा । चतुर्भिर्मुखै-र्युक्तः हिरण्यगर्भनामा भवान्तकृदभिधानः पद्ममरविन्दमासने पीठे यस्य । सुरश्रेष्ठत्वा-द्देवसेव्यः ब्रह्म ॥ इति सप्तभिरादिकुलकम् ॥

चातुर्गतीयार्तिमहान्धकूपोद्दिधीर्षयाशेषशरीरभाजाम् ।

मूर्तींश्चतस्रः कलयन्निवासिन्मुनीन्दुनादर्शि युगादिदेवः ॥ २१ ॥

मुनीन्दुना सूरिणा अस्मिन् धरणसंघपतिप्रासादे युगादिदेवः श्रीआदिनाथः अदर्शि लोचनगोचरीकृतः । किं कुर्वन् । चतस्रः चतुःसंख्याका मूर्तीः प्रतिमाः कलयन् दधत् । उत्प्रेक्ष्यते—चातुर्गतीयाश्चतस्रस्तिर्यङ्मुरकमनुजनिर्जराणां गतयः उत्पत्तिस्था-नानि तत्संबन्धिन्यो या अर्तयः शारीरिक्यो मानस्यो वा पीडास्ता एव महान्तोऽग्राधा अन्धकूपास्तपोनिचिता अवटास्तेभ्य उद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया इव । केषाम् । अशेषाणां समस्तानामपि शरीरभाजामर्थादज्ञानादन्धकूपान्तःपततां भविकजनानाम् ॥

निःश्रेयसस्येव सुखं जिनेन्द्रं प्रदक्षिणीकृत्य पतिर्यतीनाम् ।

सुधासनाभीभवदुक्तियुक्तेर्भक्तेः स्तुतेर्गोचरयांचकार ॥ २२ ॥

यतीनां पतिर्निर्ग्रन्थनाथो हीरसूरिः जिनेन्द्रं श्रीऋषभदेवं भक्तेः सेवासक्तिवशात् सुधायाः पीयूषस्य सनाभीभवन्त्यः सगोत्राः संजायमानाः उक्तीनां वाक्यानां वचनप्र-
पञ्चानां युक्तयो रचना यस्यां तादृश्याः स्तुतेः स्तोत्रस्य गोचरयांचकार । तुष्टावेत्यर्थः ।
'गोचरयन्ति न वाचो यच्चरितं चन्द्रिकारुचिरम् । वाचस्पतेर्वचस्वी को वान्यो वर्णयेन्म-
नुजः ॥' इति हस्तिमतीनगरीचैत्यप्रशस्तौ । किं कृत्वा । प्रभुं वृषभस्वामिनं प्रदक्षिणीकृत्य
युगादिदेवस्य तिस्रः प्रदक्षिणाः प्रदाय । उत्प्रेक्ष्यते—निःश्रेयसस्य निश्चितं श्रेयो निः-
श्रेयसं मोक्षस्तस्य सुखं सातमेव प्रकर्षेणानुकूलीकृत्य आत्मायत्तीकृत्य । 'दाक्षिण्यमनुकू-
लता' इति हैम्याम् । दक्षिणोऽप्यनुकूल इति ॥

संप्राप्तयोर्निर्जरनागधाम्नोरिवान्तिकेऽर्हत्क्रमसेवनाय ।

शिरोगृहक्षमागृहयोः प्रणम्य जिनान्मुनीन्दुः स ततः प्रतस्थे ॥ २३ ॥

स मुनीन्दुर्हीरसूरिस्ततो राणपुरादग्रे प्रतस्थे प्रचचाल । किं कृत्वा । शिरोगृहयोरु-
परितनयोर्द्वयोर्भूमिकयोस्तथा क्षमागृहाणि भूमिगृहाणि बहूनि चतुर्मुखसत्कान्यपरचैत्य-
स्थानानि च तेषु जिनान् भगवत्प्रतिमाः प्रणम्य नमस्कृत्य । उत्प्रेक्ष्यते—अर्हतो मुख्य-
तथैव युगादिदेवस्य कमयोरश्चरणयोः सेवनाय उपास्तिकृतः अन्तिके समीपे संप्राप्तयोः
समागतयोः निर्जराणां सुराणां नागानां धाम्नोर्मेन्दिरयोरिव । स्वर्लोकेपाताललोकयो-
रिव ॥ इति राणपुरयात्रा ॥

आउआपुरेशो जगद्भूः किमन्यस्ताल्हाभिधः साधुरनन्यदानैः ।

पीरोजिकाभिः स्वपुरप्रवेशे प्रभावनाद्युत्सवमस्य चक्रे ॥ २४ ॥

आउआ इति नात्रः पुरस्य ईशः तदायत्तत्वात्तनाग्रैव वसतेरभिधानात् 'ताल्लामा-
नीवसही' इति लोकप्रसिद्ध्या च तत्त्वामी ताल्हो इति अभिधा नाम यस्य तादृशः
साधुर्वणिक् । व्यवहारीत्यर्थः । वणिजां 'साह' इति नामोच्यते । ज्ञाता अज्ञाता अपि सर्वे
नैगमाः साहा एव प्रतिपाद्यन्ते । तस्य साहस्य साधुरिति पर्यायो दृश्यते श्रीसु-
मुनिसाधुसूरिकृतसोमसौभाग्यकाव्यादिषु । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्यदानैरसाधारणविश्राणनैः
कृत्वा अन्यो द्वितीयः किं जगद्भूः । प्रतिग्रामपुरदेशशत्रूपकारकरणेन जगदुद्धर्ता एकस्तु
भद्रेश्वरपुरवास्तव्य आसीत्, अपरस्तु सौजातः । सोऽस्य हीरसूरेः यत् आउआभिधानं
पुरं तस्मिन् प्रवेशे पादावधारणप्रस्तावे पीरोजिकाभिः पीरोजपातिसाहिना खनान्ना
कारिताभिः पीरोजिका इति नामनाणकविशेषैः प्रभावना लघुवृद्धप्रतिजनप्रदानं
सैवादौ धुरि यस्य तादृशमुत्सवं चक्रे कृतवान् । मरुदेशेष्वेव प्रसिद्धाः पीरोजिकास्ता
ददावित्यर्थः ॥

प्राप्यानुशास्ति प्रभुतोऽशुलक्ष्मीं पर्वात्ययाच्चन्द्रमसेव भानोः ।

कल्याणचञ्चद्विजयाभिधानोपाध्यायचन्द्रेण ततो न्यवर्ति ॥ २९ ॥

कल्याणेन चञ्चद्राजमानं विजय इत्यभिधानं यस्य तादृशेनोपाध्यायेषु शक्रेण पुरंदरेण तत आउआग्रामान्यवर्ति पश्चाद्वलितम् । कल्याणविजयोपाध्यायः पश्चाद्वलते स्मेत्यर्थः । किं कृत्वा । प्रभुतः श्रीहीरसूरेरनुशास्तिमाज्ञां शिक्षां च प्राप्य लब्ध्वा । केनेव । चन्द्रमसेव । यथा चन्द्रेण भानोर्भास्करात्सकाशादंशुलक्ष्मीं ज्योतिःश्रियं संप्राप्य पर्वात्ययादमावास्याविरामान्निवृत्यते ॥

ग्रामक्षमाभृद्वनदेशदुर्गानुलङ्घ्य दुर्लङ्घ्यभुवो बभाज ।

स मेदिनीनाम पुरं यतीनां पतियथा तक्षशिलां वृषाङ्कः ॥ २६ ॥

स यतीनां पतिः स्वामी सूरिः मेदिनीनाम पुरं मेडताख्यनगरं बभाज शिश्राय । किं कृत्वा । ग्रामा लघुपुराणि संनिवेशा वा, क्षमाभृतः पर्वताः वेलकसत्कगिरयः । तत्र हि सर्वेषां शैलानां 'बलो' इति नाम प्रसिद्धम् । वनानि काननानि, देशाः सामन्तानां राज्ञां मण्डलाः, दुर्गा विषमभूमयः कोट्या वा, तानुलङ्घ्यातिक्रम्य । किंभूतान् । दुर्लङ्घ्या दुःखेन लङ्घयितुं शक्या भुवो भूमयो येषाम् । क इव । वृषाङ्क इव । यथा ऋषभदेवो ग्रामाद्यानुलङ्घ्य तक्षशिलां बाहुबलिनगरीं भजति स्म । अधुना तु म्लेच्छाश्रितत्वेन तस्या 'मङ्का' इति नाम प्रसिद्धं श्रूयते ॥

मरुस्थलीविक्रमनागपूर्वपुरीयभयैर्भगवानिहैत्य ।

वैताढ्यशैलोत्तरदक्षिणाख्यश्रेणीनभोगैरिव स प्रणेमे ॥ २७ ॥

मरुषु सा स्थली वालुकाशैलमालाकुलस्थलप्रदेशे यद्विक्रमनगरं 'वीकानेर' इति नाम पुरम्, तथा नागमिति पदं पूर्वं यत्र तादृकपुरं 'नागोर' इति प्रसिद्धम्, तयोर्विक्रमपुर-नागपुरयोः संबन्धिभिर्भयैः संघैरिह मेडतानगरे एत्यागल्य भगवान् सूरिः प्रणेमे नमश्चक्रे । कैरिव । नभोगैरिव । यथा भरतार्धविभजनजनकवैताढ्यनाम्नः शैलस्य दश योजनानि भूमेरुर्ध्वं गमने दशदश योजनपृथुला प्रथममेखला तस्यामुत्तरा तथा दक्षिणा इति नाम्नी ययोस्तादृशे श्रेण्यौ तयोर्दक्षिणश्रेण्योर्नभसि गगनमण्डले विद्या-बलेन गच्छन्ति प्रचलन्तीति नभोगा विद्याधरखेचरास्तैर्भगवांस्तीर्थकरः प्रणम्यते ॥

तं सादिमाद्यः सुरताननामाभ्युपेत्य भूपो बहु मन्यते स्म ।

मणिः सुराणां गुणगौरवेण कुत्रार्चनागोचरतां न गच्छेत् ॥ २८ ॥

सादिमा इति पदमाद्यं प्रथमभवं यत्र तादृशः सुरतान इति नामा । सादिमासुल-ताननामा भूपो सुद्वलेन्द्रः मेदिनीपुराधिपः अभ्युपेत्य सूरिन्दोः संमुखमागल्य तं हीरसूरिं बहु मन्यते स्म बहुमानं प्रदत्ते स्म । तत्र दृष्टान्तमाचष्टे—गुणानां दानाभिलषितमानादीनां गौरवेण माहात्म्येन सुराणां मणिश्चिन्तारत्नं कुत्र क्व क्व स्थाने अर्चनायाः

पूजायाः गोचरतां योग्यतां न गच्छेन्न प्रयायात् । अपि तु सर्वत्रापि पूजां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

पुरं पुनानेऽम्बरवन्मुनीन्द्रे महामहोऽभूदिह दानवानाम् ।

तदास्यलावण्यसुधाधयानां ज्योत्स्नाप्रियाणामिव रोहिणीशे ॥ २९ ॥

मुनीन्द्रे हीरसूरिवासवे अम्बरवद्गनाङ्गणमिव पुरं मेडताख्यनगरं पुनाने पवित्री-
कुर्वाणे सति तदा सूरिसमागमनावसरे आस्ये सूरिवदने यल्लावण्यं सौन्दर्यं लवणिमैव सुधा-
ममृतरसं धयन्ति पिवन्तीति तेषां तादृशानां मानवानां मेडतापुरवासिभक्तिकजनानां
महामहोऽत्युत्सवोऽभूत्संजायते स्म । केषामिव । ज्योत्स्नाप्रियाणामिव । यथा चन्द्रोऽमृ-
तपायिनां चकोराणामम्बरमाकाशं पुनाने रोहिणीशे चन्द्रमसि महोत्सवो भवेत् ॥

एकोऽहमेव त्रिजगज्जनानां पिपर्मि कामानपरानपेक्षः ।

इति स्मयावेशवशादिवान्तः परानपास्य स्थितमेकमेव ॥ ३० ॥

मरौ सुराणामिव शाखिनं स प्रणेमिवाञ्श्रीफलवर्धिपार्श्वम् ।

अवग्रहो वृष्टिमिवेष्टसिद्धिं बध्नाति तीर्थव्यतिलङ्घनं यत् ॥ ३१ ॥ (युग्मम्)

स हीरसूरिः श्रिया जनादतिशायिमाहात्म्यलक्ष्म्या कलितं फलवर्धिनामानं पार्श्वं
श्रीपार्श्वनाथं प्रणेमिवान् नमस्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मरौ धन्वमण्डले सुराणां शा-
खिनं कल्पवृक्षमिव । किलक्षणम् । परानन्याङ्गिनविम्बानपास्य विमुच्य एकमेव स्वय-
मेव स्थितं स्वप्रासादे प्रवसन्तम् । धृत्यते हि तत्पार्श्वं परा कापि जिनप्रतिमापि
स्थातुं न शक्नोति अतश्चैकाग्र्येव तिष्ठति । किंचेदमस्माभिरपि श्रुतचरं दृष्टचरं च, यत्
फलवर्धिपार्श्वनाथप्रासादद्वारि कपाटौ न तिष्ठतः । कदाचित्कश्चिदानीय योजयति तदा प्रा-
तःसमये प्रासादात्क्रोशद्वयोपरि पतितौ दृश्येते, न द्वारि स्थितौ । अपि चान्या जिनप्र-
तिमापि स्थापितापि पार्श्वं न तिष्ठतीति । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण स्मयावेशो वा-
टोपः तस्य वशादायत्तत्वादिव । इति किम् । परानन्यान्नापेक्षते न काङ्क्षति । अथ वा
परेषां न अपेक्षा यस्य स परानपेक्षस्तादृशोऽहमेक एव त्रिजगज्जनानां त्रैलोक्यलोकानां
कामान्मनोरथान् पिपर्मि पूरयामि इत्येको हेतुः ॥ युग्मम् ॥

प्रस्थापितः..... ।

..... ॥ ३२ ॥

विमल इति पदमादौ यस्य तादृशो हर्षः स एवोपाध्यायेषु सिंहः पद्माननः तस्मि-
न्नेदिनीपुरे मिमेल मिलति स्म । अर्थादस्य सूरैः । किं वत् । ग्रहवत् । यथा बुधग्रहो दिवि
गगने इन्दोर्मिलति । विमलहर्षः किलक्षणः । सिद्धपुरात्पूर्वं सिद्धपुरनगरात्पुरोऽग्रे प्रस्थापि-
तोऽपि । कया । साहेरकम्बरपातिसाहेर्हृदयवती य आशयः अभिप्रायः तस्य बुभुत्सया
बोद्धुमिच्छया । ज्ञातुमिच्छार्थः ॥

भट्टारकेन्द्रो..... ।

..... ॥ ३३ ॥

..... ।

..... ॥ ३४ ॥ (युग्मम्)

असौ भट्टारकाणामिन्द्रः पुनर्द्वितीयवारं पूर्वंप्रस्थापनापेक्षया तूर्णं शीघ्रमसुष्मान्मे-
दिनीपुराभिधानान्नगरादेतं पूर्वोक्तं वाचकवासवं विमलहर्षोपाध्यायं पुरोऽग्रे प्रैषीत्
प्रहिणोति स्म । किं कर्तुम् । क्षितीन्द्रमकम्बरराजमपि पुनरात्मना स्वेन तदीयाशयं
साहेर्निजस्याकारणाभिप्रायं किमर्थमहमाकारितोऽस्मीति साहिमनःपरिणामं ज्ञातुम-
वबोद्धुम् । किलक्षणम् । वाचकवासवम् । श्रिया शोभया कलितो योऽसौ सीहस्तेनादिपद-
भूतेन राजन्ती शोभमाना विमल इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन विज्ञेषु विद्वत्सु उत्तसेन
शेखरेण श्रीसीहविमलप्रज्ञांशेन युक्तं सहितम् । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रज्ञाप्रगल्भ्याद्गुरुणा
बृहस्पतिनेव शक्रोऽपि तावद्वाचस्पतिना संयुक्त एव स्यादिति । अथोपाध्यायस्योत्प्रेक्षा
उत्प्रेक्ष्यते—प्रज्ञा स्वप्रतिभा सैवात्मदर्शो दर्पणं तत्र प्रतिबिम्बति संकामतीत्येवंशीला
विश्वे समस्ता विश्वेषां वा त्रयाणां जगतां पदार्थानां सार्थाः समूहा यस्य तादृशं स्व-
मात्मीयं प्रधानमिव मन्त्रिणमिव ॥ युग्मम् ॥ इति मेदिनीपुरागमनफलपार्श्वनाथयात्रा-
वाचकप्रस्थापनं च ॥

प्रतिष्ठमानस्य ततो त्रतीन्दोः पदे पदे पौरपरम्पराभिः ।

महामहश्रीः समतानि भानोरहःसमूहैरिव शारदीनैः ॥ ३५ ॥

ततो मेडतानगरात्प्रतिष्ठमानस्य प्रस्थानं कुर्वतः । प्रचलत इत्यर्थः । त्रतीन्दोः सूरैः
पदे पदे स्थाने पुरनगरग्रामादौ पौराणां नागरिकाणां परम्पराभिर्धोरणीभिः महामह-
श्रीरतिमहीयसी उत्सवानां शोभा समतानि निर्मिता । कस्येव । भानोरिव । यथा शार-
दीनैः शरत्कालसंवन्धिभिः अहःसमूहैर्दिनवृन्दैः सूर्यस्य पदे पदे गरीयसी महसां
किरणानां श्रीः संतन्यते । महः किरणवाची शब्दप्रभेदे नाममालायामकारान्तो-
ऽप्यस्ति । यथा—‘महं तु महसा साकम्’ इति । तथा सकारान्तोऽप्युत्सववाची श-
ब्दोऽस्ति । यथा नैषधे—‘एनं महस्विनमुपैहि सदारुणोच्चैः’ इति । ‘महस्विनमुत्सवव-
न्तम् । महस्शब्दः सकारान्तोऽप्यस्ति’ इति तद्वृत्तिः । तेजस्विनं वा ॥

फतेपुरं सागरमेखलाया वस्वोकसारामिव गन्तुमिच्छुः ।

यावत्स साङ्गां नगरं पवित्रीकरोति वाचंयमचक्रवर्ती ॥ ३६ ॥

भूपं प्रति प्राक्प्रहितोऽथ तावच्छ्रीवाचकेन्द्रो विमलादिहर्षः ।

सैन्येन सैन्येश इवानुयातो विदग्धवृन्देन फतेपुरेऽगात् ॥ ३७ ॥ (युग्मम्)

अथेत्यपरप्रारम्भे मेदिनीपुरात्प्रभोः प्रस्थानात्प्राक् पूर्वं भूपं प्रति प्रहितः प्रेषितो विमल इति पदमादौ यस्य तादृग्विधो हर्ष इति नामा श्रियोपाध्यायपदशोभया सहितो वाचकेन्द्र एतावता विमलहर्षोपाध्यायः तावत्समय एव फतेपुरे अगाद्गच्छति स्म । जगा-
मेत्यर्थः । किंलक्षणः । विदग्धवृन्देन पण्डितमण्डलेनानुयातः । अनुगम्यमान इत्यर्थः ।
क इव । सैन्येश इव । यथा चक्रवर्तिना स्वमित्रमिलनार्थं कश्चित्सैन्येन कटकेनानुगतः
प्रहितः सेनापतिश्चक्रमित्रनगरे गच्छति । तावत्कुत्र । यावद्वाच्यमानां मुनिनां सार्वभौ-
मश्चक्रवर्ती यावता समयेन साङ्गं नगरं पवित्रीकरोति पुनाति । किं कर्तुमिच्छुः । फ-
तेपुरं गन्तुमिच्छुः श्रीकरीनगरीं यातुकामः । उत्प्रेक्ष्यते—सागरमेखलायाः समुद्रपर्य-
न्तभूमेः वस्त्रोकसारासिव धनदनगरीमिव ॥ युग्मम् ॥

संस्निह्यतश्चक्षुरिव प्रियं स्वं श्रीपातिसाहिं मिलति स्म पूर्वम् ।

गोष्ठीमनुष्ठाय पुनः सधर्म्यां प्रामोदयत्प्रीतमना महीन्द्रम् ॥ ३८ ॥

स विमलहर्षोपाध्यायः पूर्वं सूरिमिलनात्प्राक् साहिमकब्बरपातिसाहिं मिलति स्म ।
किमिव । चक्षुरिव । यथा संस्निह्यतः स्नेहातिशयं बिभ्राणस्य नयनं स्वप्रियं निजमनोरुचितं
प्रति गत्वा तदङ्गसंगमात्पूर्वमेव मिलति, पुनर्मिलित्वा अनन्तरं धर्म्यां धर्मेसंबन्धिनीं
गोष्ठीं मिथो वार्तामनुष्ठाय कृत्वा प्रीतमनाः स्वयं हृष्टमानसः सन् महीन्द्रं पातिसाहिं
प्रामोदयत्प्रह्लादयामास ॥

कल्याणवान्कुत्र कियच्च दूरे कदायियासुः पुनरस्ति सूरिः ।

साहिस्तदोदन्तममुं मुनीन्दोः स प्राश्रयत्सख्युरिवातिहृष्यन् ॥ ३९ ॥

तदा वाचकमिलनव्यतिकरे हृष्यन् मनसि प्रमोदं प्राप्नुवन् साहिरकब्बरो मुनीन्दोर्ही-
रसूरैरमुमिहैव वृत्ते कथ्यमानमुदन्तं समाचारं प्राश्रयत्तृच्छति स्म । कस्येव । सख्यु-
रिव । यथा कश्चित्सखा स्वमित्रस्योदन्तं प्राश्रयति । तमेवोदन्तप्रश्नमाह—स सूरिः
कल्याणवान् कुशलीवर्तते । पुनः सूरिः कुत्र स्थाने पुरे ग्रामे वा अस्ति । पुनः किय-
दूरे विप्रकृष्टे स्थाने वर्तते । पुनः कदा कस्मिन्काले मासे दिने अवसरे वा आधियासु-
रत्रागन्तुमिच्छुरस्ति ॥

प्रभुः शुभंयुर्वरिवर्ति नीतिशालीव साङ्गानगरं पुनानः ।

वितिष्ठते वर्त्मनि नातिदूरे विभूषितो वर्ष्मणि वार्धकेन ॥ ४० ॥

शनैः शनैः..... ।

..... ॥ ४१ ॥

स साहिर्वाचकेन्द्रं विससर्ज पश्चात्प्रेषयति स्म । किं कुर्वाणः । प्रभोः सूरैरागमं स्वपुरे
पादावधारणं समीहमानो वाञ्छन् । पुनः किंभूतः । तेनोपाध्यायेनेत्यमुना प्रकारेणोक्तो
दत्तोत्तरः । इति किम् । हे साहे, प्रभुर्हीरविजयसूरिर्नीत्या न्यायेन शीलते शोभते इ-

त्येवंशीलस्तादृक् राजेव शुभंयुः शुभसंयुक्तः कल्याणवान् वरिवर्ति अतिशयेन कुशली वर्तते । पुनरधुना साङ्गानगरं सांगानेरनाम पुरं पुनानः पवित्रीकुर्वाणोऽस्ति । हे साहे, नातिदूरे नेदीयस्येव वर्त्मनि मार्गे वितिष्ठन्ते । पुनः वर्षमणि खशरीरे वार्धकेन वृद्धावस्थया विभूषितः शोभितः । यदुक्तम्—‘अलंकरोति हि जरा राजामात्यभिषग्यतीन्’ इति सूक्तेः । तत्तस्माद्वार्धककारणात् पथि मार्गे मन्दं मन्दं शनैः शनैः संचरिष्णुः संचरणशीलोऽस्ति । तथा खलपैरेव वासरैः स्तोकैरेव दिनैः समेता श्रीमत्पार्श्वं समायास्यति ॥ इति विमलहर्षोपाध्यायस्य साहिना मिलनगोष्ठीपश्चादागमनानि ॥

तद्वाचकेन्द्रादधिगत्य वार्तां श्राद्धैर्निनसोत्सुकितैः प्रमोदात् ।

अभ्येत्य भव्यैरिव तुङ्गिकायाः पुरो जिनेन्द्रः स ततः प्रणमे ॥ ४२ ॥

ततोऽकव्वरपार्श्वोपाध्यायागमनानन्तरं स चासौ वाचकश्च तद्वाचकस्तस्माद्विमलहर्षोपाध्यायसकाशात् साहिप्रोक्तां वार्तामधिगत्य सम्यक् ज्ञात्वा निनसया सूरिं नन्तु-मिच्छया उत्सुकितैरुत्कण्ठितैः श्राद्धैः श्रीकरीश्राद्धजनैरभ्येत्य साङ्गानगरं यावत्संमुखमागत्य पुरः फतेपुरसंघस्य प्रथमतः प्रमोदादानन्दात् स सूरिः प्रणमे नमश्चक्रे । कैरिव । भव्यैरिव । यथा तुङ्गिकायास्तुङ्गियानाभ्यां नगर्यां भविकैः श्रावकैः अभ्येत्य जिनेन्द्रो महावीरः प्रणमते स्म ॥

दत्तां सुरेभ्यो हरिणाम्बुनाथमाघेऽधिगत्येव सुधां सुरेन्द्रः ।

प्रीतेभ्य एभ्यः प्रभुरप्यवेत्योदन्तं तमन्तर्मुदमादधार ॥ ४३ ॥

प्रभुर्हूरसूरिरपि प्रीतेभ्यो हृष्टेभ्य एभ्यः संमुखागतश्रावकजनेभ्यस्तं विमलहर्षोपाध्यायसत्कमुदन्तं साहिलिलनादिवृत्तान्तमवेत्य ज्ञात्वा अन्तश्चित्तमध्ये मुदं हर्षमादधार विभर्ति स्म । क इव । सुरेन्द्र इव । यथा पुरंदरः शक्रः अम्बुनाथस्य जलपतेः समुद्रस्य । ‘यादःस्रोतोवानदीशः’ इति हैम्याम् । माघे मघनसमयावसाने हरिणा नारायणेन दत्तां विश्राणिताम् अत एव प्रीतेभ्यः यदर्थं समेता सा सिद्धिः सुराणां समजनि ततः प्रीतिं प्राप्तेभ्यः सुधाममृतमधिगत्य प्राप्य मनसि मोदमाधत्त दधौ ॥

पवित्रयंस्तीर्थं द्वाध्वजन्तूपुरेऽभिरामादिमवादनाम्नि ।

यावत्समेतः प्रभुरेत्य तावद्वाग्वाचकेन्द्रेण नतः स तावत् ॥ ४४ ॥

स प्रभुर्हूरसूरिस्तावत्तस्मिन्नेव समये द्राक् शीघ्रमागत्य फतेपुरादभ्येत्य विमलहर्षोपाध्यायेन नतो नमस्कृतः । कदा । यावद्यस्मिन्नेव समये अभिरामा इति पदवादिमं यत्र तादृग्वाद इति नाम यस्य तादृशे पुरे एतावता अभिरामवादनगरे समेतः सम्यक् सुखेन आयातः । किं कुर्वन् । तीर्थं इव । तीर्थशब्दः पुनपुंसके । ‘प्रस्थं तीर्थं प्रथमलिन्दः’ इति लिङ्गानुशासने । शत्रुंजयादिरिव अध्वजन्तुन्मार्गवासिनो मनुष्यान् पवित्रयन् पावनीकुर्वन् । तीर्थमपि अध्वना मार्गेण कृत्वा समायातान्यात्रिकालोक्तानुनाति ॥

मधोः पिकीकान्त इवैष युष्मत्समागमं काङ्क्षति भूमिकान्तः ।

तद्वाचकेनेत्युदितो व्रतीन्द्रः फतेपुरोपान्तभुवं बभाज ॥ ४९ ॥

व्रतीन्द्रो हीरसूरिः फतेपुरस्योपान्तभुवं समीपक्षोर्णो बभाज विश्राय । श्रीकरीपाश्वे समेत इत्यर्थः । किलक्षणः । तद्वाचकेन स चासौ यः साहिपाश्वे गत्वागतो वाचकश्च तेन इत्यमुना प्रकारेण उदितः कथितः । विज्ञप्त इत्यर्थः । इति किम् । हे प्रभो, एषोऽक-
व्वरनामा भूमिकान्तः पृथ्वीपतिः युष्माकं समागममागमनं काङ्क्षति वाञ्छति । क इव ।
पिकीकान्त इव । यथा कोकिलावल्लभो मधोर्वसन्तसमयस्य समागमं कामयते ॥ इति
फतेपुरसमीपे प्रभोरागमः ॥

अश्रावि संघेन ततः प्रवृत्तिर्जनानात्सूरिसमागमस्य ।

द्वीपान्तरोपागतपण्यपूर्णपोतव्रजस्य व्यवहारिणेव ॥ ४६ ॥

ततः सूरैः फतेपुरसमीपागमनानन्तरं संघेन श्रीकरीश्राद्धवर्गेण जनानां वर्धोपनिका-
दायकानामानान्मुखात्सूरैः समागमस्य प्रभोः पादावधारणस्य प्रवृत्तिर्वार्ता अश्रावि
श्रूयते स्म । केनेव । व्यवहारिणेव । यथा व्यापारिणा द्वीपान्तरेभ्यः अन्योन्यद्वीपेभ्यः
उपागतानां तथा पण्यैः क्रयाणकैः पूर्णानां भृतमध्यानां पोतानां यानपात्राणां गणस्य
समूहस्य समागमवार्ता श्रूयते ॥

उपायनीकृत्य नृपैरिधैतन्महीमघोनः कनकांशुकादि ।

तदागमोऽभाष्यत थानसिंहामीपालमानुमुखसंघमुख्यैः ॥ ४७ ॥

थानसिंहो रामाङ्गजसाहिसेवकः, तथा अमीपालोऽपि साहेः प्रतिदिननालिकेरढौकन-
कृत्, तथा मानुमुखाः आद्या येषु तादृशैः सचैः श्राद्धवर्गैः मुख्यैः प्रकृष्टैः श्राद्धैः एत-
न्महीमघोनः अकव्वरसाहेस्तदागमः सूरैरागमनमभाष्यत प्रोच्यते स्म । किं कृत्वा ।
नृपैरन्यभूपालैरिव कनकं स्वर्णमंशुकानि वस्त्राणि आदौ यस्य तादृग्वस्तुजातमुपायनी-
कृत्य ढौकयित्वा ॥

आज्ञां तवासाद्य समग्रभूमीपालाङ्कपङ्केरुहभृङ्गिताङ्गे ।

कुर्मो जिनस्येव वयं प्रवेशमहं मुनीन्दोर्महनीयकीर्तेः ॥ ४८ ॥

समग्राः समस्ता ये भूमिपाला राजानस्तेषामङ्क उत्सङ्गः स एव पङ्केरुहं पद्मं तत्र
भृङ्गितौ भ्रमराविवाचरितौ अङ्गी चरणौ यस्य तत्संबोधनम् । हे साहे, तवाज्ञामादेश-
मासाद्य संप्राप्य वयं त्वदीया महाजनजनाः श्रावकाश्च महनीया जगज्जनश्लाघ्या कीर्ति-
र्थशो यस्य तादृशस्य तीर्थकरस्येव मुनीन्दोः श्रीमदाहूतश्रीहीरविजयसूरैः प्रवेशस्य
फतेपुरमध्ये समागमनस्य महमुत्सवं कुर्मः ॥

प्रभोर्निपीयोपगमं प्रमोदप्रोत्फुलवक्राम्बुरुहो महीन्द्रः ।

सुधां स्वगाम्भीर्यजिताब्धिनेवोपदीकृतामुच्चरति स्म वाचम् ॥ ४९ ॥

महीन्द्रः साहिर्वाणीमुच्चरति स्म बभाषे । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो गाम्भीर्येण ग-
म्भीरतया जितेनाविधना समुद्रेण उपदीकृतां सुधामिव । किंभूतः महीन्द्रः । प्रमोदेना-
ल्हादेन उत्फुल्लं विकसितं वक्रं मुखमेवाम्बुहहं कमलं यस्य । किं कृत्वा । प्रभोः सूरै-
रुपगमं पादावधारणं निपीय सादरं श्रुत्वा ॥

यस्मिन्महाश्चर्यरसे निमग्नभीभूता त्रिलोकीजनता यथा स्यात् ।

विनिर्मिमीध्वं तमिह प्रवेशमहं महीयांसमहो मुनीन्द्रोः ॥ ५० ॥

अहो इति संबोधने । हे आद्वाः, इह मत्फतेपुरमध्ये मुनीन्द्रोः सूरिराजस्य तं जगति
विख्यातिभाजं महीयांसं बहुद्रविणवितरणविविधविचित्ररचनाकरणादिभिरतिमहान्तं
प्रवेशस्य महमुत्सवं तथा तेन प्रकारेण निर्मिमीध्वं कुरुध्वम् । तथा कथं तं कं च । यथा
येन प्रकारेण त्रिलोकीजनता त्रैलोक्यलोकनिकरः यस्मिन्प्रवेशमहोत्सवे महानतिशायी
य आश्चर्यरसः विस्मयातिरेकरसस्तस्मिन्निमग्नभीभूता निलीयस्थीयमाना ब्रूडितेव स्यात् ।
अत्र गर्भितोत्प्रेक्षासौ ॥

गिरं धरेन्दोर्हृदये निधाय नालीकनेत्रामिव नैगमास्ते ।

वाचस्पतेर्गोचरयन्ति वाचो न यां कदाचिन्मुदमादधुस्ताम् ॥ ५१ ॥

ते नैगमा वणिजः श्राद्धास्तामसाधारणां मुदं प्रमोदं दधुर्धारयन्ति स्म । यां मुदं
वाचस्पतेः सुराचार्यस्यापि वाचो वचनरचनाः कदाचित्कस्मिन्नपि प्रस्तावे गोचरयन्ति
विषयीकुर्यन्ति । गुरुगिरोऽपि यां वक्तुं न प्रभवन्तीत्यर्थः । किं कृत्वा । नालीकनेत्रां
प्रफुल्लकमललोचनामिव धरेन्दोरकम्बरस्य वसुधाविधोर्गिरं वापीं हृदये निधाय हृदयं
मनो वक्षश्च तस्मिन् स्थापयित्वा वक्षसि वनिता निधीयते मनसि वागवधार्यते च ॥
इति सूरैः प्रवेशोत्सवकरणार्थं साहेर्विज्ञप्तिस्तदादेशप्राप्तिश्च ॥

निवृत्त्य पृथ्वीपुरहूतपार्श्वार्त्संघस्य चाथाकथयन्नुदन्तम् ।

सोऽपि प्रसर्पत्प्रमदामृताब्धौ मराललीलायितमाततान ॥ ५२ ॥

अथ साहिनाज्ञाप्रदानानन्तरं स्थानसिंहादयः श्राद्धाः पृथिवीपुरहूतस्य साहेः पा-
र्श्वान्निवृत्त्य पश्चाद्वल्यित्वा संघस्य समप्रश्राद्धश्रीद्विजनवर्गस्य उदन्तं भूपतिसंबन्धिनं
वृत्तान्तमकथयन्निवेदयन्ति स्म । पुनः संघोऽपि । श्रुत्वेत्यध्याहार्यम् । प्रसर्पन्वर्धमानो यः
प्रमोदो हर्षः स एवामृताब्धिः क्षीरसमुद्रस्तस्मिन्मराललीलायितं राजहंसविलसितमा-
ततान कुरुते स्म । ‘हंसासाहतपद्मरेणुकपिशक्षीराणवाम्भोभृतैः’ इति ज्ञातस्यास्तुतौ ।
परमानन्दमेदुरीभावं बभारेत्यर्थः ॥

अथ फतेपुरसंघस्य संमुखगमनारम्भः—

संघः प्रतस्थेऽभिमुखं मुनीन्द्रोस्तृण्ठितामाकलयन्नकुण्ठाम् ।

कूलंकषाकान्त इव प्रवृद्धकल्लोलशाली रजनीश्वरस्य ॥ ५३ ॥

संघः आगराफतेपुरश्राद्धसमुदायो मुनीन्द्रोर्हीरविजयसूरेरभिमुखं प्रतस्थे प्रचलति स्म । किं कुर्वन् । अकुण्ठामलभ्यधिकामुत्कण्ठामौत्सुक्यमस्यास्तीत्युत्कण्ठी तस्य भाव उत्कण्ठिता तामाकलयन्दधत् । क इव । कूलंकषाकान्त इव । यथा कूलं मर्यादाभूमीं कषन्ति विलिखन्ति पातयन्तीति कूलंकषा नद्यस्तासां कान्तो भर्ता समुद्रो वृद्धा वृद्धिं प्राप्ता उपचिता ये कल्लोलास्तरङ्गास्तैः शालते शोभते इत्येवंशीलः सन् रजनीश्वरस्य विधोरभिमुखं प्रतिष्ठते ॥

सुवर्णकायानतिवातवेगान्वीज्ज्वाविशेषैः क्षितिमस्पृशन्तः ।

कृष्णा इवाध्यारुरुहुर्वहन्तः श्रियं हरीन्केचन चक्रहस्ताः ॥ १४ ॥

केचन जनाः हरीनश्चानारुरुहुः अध्यासामासुः । के इव । कृष्णा इव । यथा नारायणा हरीन् गरुडानारोहन्ति । किं कुर्वन्तो जना नारायणाश्च । वहन्तो धारयन्तः । काम् । श्रियम्, विविधवस्त्राभरणादिशोभां लक्ष्मीं च । उभयेऽपि कमलां कलयन्तो वा । पुनः किंभूताः । चक्रं रथाङ्गमाकृत्या मूर्तिमद्रा सुदर्शनं हस्ते पाणौ येषाम् । किंलक्षणान् हरीन् । सुशोभनो वर्णो रक्तपीतश्वेतादिको येषाम् । यदुक्तं हैम्याम्—‘सिते तु तत्र कोकाहौ खोद्गाहः श्वेतपिङ्गले । पीयूषवर्णे सेराहः पीते तु हरयो हये ॥ कृष्णवर्णे तु खुद्गाहः क्रियाहो लोहितो हयः । आनीलस्तु नीलकोऽत्र त्रियूहः कपिलो हयः ॥’ इत्यादिवचनात् । पक्षे । स्वर्णकायास्तन्मयत्वात् । यदुक्तं हैम्याम्—‘पक्षिस्वामी काश्यपी स्वर्णकायः’ इति । पुनः किंभूताः । अतिक्रान्ता वातानां पवनानां वेगो वैर्द्वयेऽपि । पुनः किंभूताः । वीज्ज्वातां धौरित-वल्गित-प्लुति-उत्तेजित-उत्तरिताभिधानानां धारागतीनां विशेषैरतिशयैर्विविधप्रकारैर्वा । ‘धौरितं वल्गितं प्लुत्युत्तेजितोत्तरितानिव । गतयः पञ्च धाराख्यास्तरङ्गाणां क्रमादिमाः ॥’ इति हैम्याम् । क्षितिं क्षोणीमण्डलमस्पृशन्तः पादैर्न संघट्टयन्तः शीघ्रगामितया । अथ वा उत्तालफालललितैर्भूमीं स्पृशन्तोऽपि न दृश्यन्ते । यदुक्तं नैषधे—‘दृग्ज्ञेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहैर्वाहैरलुप्यत सहस्रदगर्वगर्वः’ इति । पक्षे खगतया ॥

बभुर्विभूषांशुतडिद्वितानान्गर्जोर्जितस्पन्दिमदाम्बुधारान् ।

शक्रेण कायाः कुतुकात्कृताः किं यानाम्बुदान्केचिदिभान्भजन्तः ॥ १५ ॥

केचिजनाः बभुः शुशुभिरे । किं कुर्वन्तः । इमान् हस्तिनो भजन्तोऽध्यारोहन्तः । उत्प्रेक्ष्यते—कुतुकात्कृतौतृहलात् शक्रेण कायाः खशरीराणि किं कृताः । किं कुर्वन्तः कायाः । यानानि वाहनीभूतानम्बुदान्मेघानाश्रयन्तः । ‘संकन्दनाखण्डलमेघवाहनाः’ इति हैम्याम् । इमानम्बुदांश्च किंलक्षणान् । विशिष्टा भूषा आभरणानि तेषामंशवः किरणा एव तडितां विद्युतां वितानं वृन्दं येषां तान् । ‘विनैव भूषामवधिः श्रियामसौ’ इति नैषधे । ‘भूषा आभरणानि’ इति तद्वृत्तिः । विशिष्टाः शोभा येषां तादृशा अंशवो यासां तादृग्विधानां सौदामिनीनां मण्डलं येषु । गर्जाभिर्गर्जारवैः कृत्वा उभयेऽप्युर्जिताः प्रबलाः स्पन्दन्ति क्षरन्ति इत्येवंशीला मदा दानानि त एवाम्बूनि जलानि तेषां धाराः

प्रवाहा येषु स्पन्दन्ति निष्पतन्ति इत्येवंशीला मदेनाहंकारेण एकैकेभ्योऽभ्यधिकाभ्य-
धिका । अथ वा ग्रीष्मतप्तीभूतं भूलोकं निर्वापयिष्यामः शीतलीकरिष्याम इति मदेन
हर्षेण युक्ताः पयसां धारा येषाम् । 'मदो रेतस्यहंकारे मये हर्षेभदानयोः । कस्तूरि-
कायां क्षेप्ये च' इत्यनेकार्थः । पश्चात्कर्मधारयः ॥

रथ्यैः सनाथान्मणिशातकुम्भसंदर्भगर्भान्रथिकैः श्रिताङ्गान् ।

मरुद्रथान्स्वःसदना इवात्र व्यभूषयन्केऽपि पुनः शताङ्गान् ॥ ९६ ॥

अत्र संमुखगमनोत्सवे पुनः केऽपि जनाः शताङ्गान् रथान् व्यभूषयन् अलंकुर्वन्ति
स्म । किंभूतान् । रथ्यैरथैर्वृषभैर्वा सनाथान् सहितान् । पुनः किंभूतान् । मणीनां
नानाविधरत्नानां शातकुम्भानां स्वर्णानां संदर्भो रचना गर्भे मध्ये येषाम् । पुनः किंभू-
तान् । रथिकैः रथारोहिभिः श्रितः सेवितः अङ्क उत्सङ्गो येषाम् । के इव । स्वःसदना
इव । यथा देवा मरुद्रथान् दिव्यस्यन्दनान् विभूषयन्ति ॥

स्थलप्रफुल्लन्नवहैमपद्मलेखाविभूषामिव लम्भयन्तः ।

क्रमद्वयीचङ्क्रमणक्रमेणालंचक्रिरे केचन वार्धिकाञ्चीम् ॥ ९७ ॥

केचन जना क्रमयेश्वरणयोर्द्वयी तथा यच्चङ्क्रमणं प्रचलनं तस्य क्रमेण परिपाठ्या
वार्धिकाञ्चीं भूमिमलंचक्रिरे भूषयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्थले जलातिरिक्तप्रदेशे प्रफु-
ल्लन्ति विजृम्भमाणानि नवानि प्रथमप्ररूढानि हैमानि कनकसंबन्धीनि पद्मानि कमलानि
तेषां लेखाः श्रेणयस्तासां विभूषां शोभां लम्भयन्तः प्रापयन्त इव । उत्फुल्लस्थलपद्माभ-
भवचरणभूषिता' इति चम्पूकथायाम् ॥

दधुस्तदा जन्मजुषो विभूषां भूषाविशेषान्वपुषा वहन्तः ।

श्रिया जितेनामरसन्ननेवोपदीकृताः स्वीयसुरा नगर्याः ॥ ९८ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे जन्मजुषो मनुष्या विभूषामलंकारादिकं दधुर्धारयन्ति स्म । किं
कुर्वन्तः । वपुषा शरीरेण भूषाणां शोभानां विशेषानतिशयान् वहन्तः दधतः । उत्प्रे-
क्ष्यते—श्रिया लक्ष्म्या कृत्वा जितेनाभिभूतेन अमरसन्नना स्वर्गेण नगर्याः श्रीकर्याः
स्वीया आत्मीयाः सुरा देवा उपदीकृता दौकिता इव ॥

आरुह्य वाहं पितुरिन्द्रसूनुः खिग्वैर्निखेलन्किमनेकमूर्तिः ।

पर्याणितप्रौढहयाधिरूढाः शृङ्गारिता भान्ति तदा कुमाराः ॥ ९९ ॥

तदा तस्मिन्प्रस्तावे शृङ्गारो बलालंकारादिवेषः संजात एषामिति शृङ्गारिताः । अथ
वा शृङ्गारसहितान्कुर्वन्तीति शृङ्गारयन्ति शृङ्गार्यन्ते स्मेति शृङ्गारिताः कुमारा भान्ति
शोभन्ते । किंलक्षणाः । पर्याणं पत्ययनं जातमेषामिति पर्याणिताः । पर्याणयुक्तं कुर्व-
न्तीति पर्याणयन्ति पर्याण्यन्ते स्मेति पर्याणिता वा तथा प्रौढाः प्रगल्भाः पुरुषप्रमाणा
वा हया अश्वास्तानधिरूढाः । 'जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्' इति नैषधे ।

उत्प्रेक्ष्यते—पितुरिन्द्रस्य वाहुमुच्चैःश्रवसमारुह्याध्यास्य अनेकाः शतशो मूर्तयो देहा यस्य । वाहा अपि अनेका इन्द्रस्य विद्यन्ते । यदुक्तं रघुवंशे—‘शतैस्तमक्षणामनिमेषवृत्ति-भिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः’ इति वाजिबाहुल्यम् । एतावता श्वेतनीलवर्णानामुपलक्षणादन्यवर्णसंबन्धिनोऽपि संभाव्यन्ते । अथ च जातिवाचित्वादेकवचनम् । अनेकमूर्तिवेन जयन्तस्यारोहणाश्चा अप्यनेके जाता एव । अथ च स्निग्धैर्मित्रैः समं निखेलन् क्रीडन् । मित्रा अप्यनेकवर्णाश्चाधिरूढाश्च संभाव्यन्ते । तादृश इन्द्रसू-नुर्जयदत्ततामेव ॥

तदा कुमारीभिरभासि भास्वन्मुक्तामणीखर्वविभूषणाभिः ।

इवानुजाभिः सुरराजसूनो रिरंसयोर्वीतलशालिनीभिः ॥ ६० ॥

तदा तस्मिन्व्यतिकरे भास्वन्ति दीप्यमानानि मुक्तानां लघुस्थूलप्रमाणादीनां मुक्ता-फलानां मणीनां करतलपद्मरागेन्द्रनीलहीरकमुख्यानां रत्नानां खर्वीनां श्वेतरक्तपीतवर्ण-कनकानां विभूषणान्याभरणानि यासां तादृशीभिः कुमारीभिरनूढाष्टनवदशवर्षदेशीयबा-लिकाभिरभासि शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—रिरंसया चलवयस्त्वेन क्रीडां कर्तुमिच्छया उर्वीतलं भूमण्डलं शालन्ति सेवन्ते इत्येवंशीलभिः सुरराजसूनोर्जयन्तस्यानुजाभिर्लघुभगिनी-भिरिव । खसुहृद्भिः समं क्रीडां कर्तुं कौतुकात्कृतानेकमूर्तिं आतरं जयन्तं विभाव्य तद्दर्शनोत्पन्नाद्वैतात्मकौतूहलाकलितरसिकमानसतया जयन्तलघुभगिन्या जयन्त्या अपि कृताभिः अनेकाभिर्मूर्तिभिरिवेत्यर्थः । अत एताः सर्वा अपि लघुभगिन्य एव ॥

परम्पराभिः पुरसुन्दरीणां राजी जनानामनुगम्यते स्म ।

महे मुनीन्दोः शरदीव राजमरालमाला कलहंसिकाभिः ॥ ६१ ॥

मुनीन्दोः सुरेर्महे प्रवेशोत्सवे जनानामागराफतेपुरादिनगरनागराणां राजी श्रेणी पुरसुन्दरीणां परम्पराभिः मेवातमण्डलनागरीणां पङ्क्तिभिः अनुगम्यते स्म । नराणामनु-नार्योऽपि प्रचेष्टुरित्यर्थः । काभिरिव । कलहंसिकाभिरिव । यथा शरदि घनात्यये राजमरालमाला राजहंसावली राजहंसीभिरनुगम्यते ॥

भूषामणिद्योतितदिङ्मुखामिश्वापल्यचञ्चत्कुलवालिकाभिः ।

बभेऽअस्वेदाद्भुवमीयुषीभिरिवार्मकाभिर्जलबालकाभिः ॥ ६२ ॥

भूषाणामलंकाराणां मणिभिर्माणिक्यैः । रत्नकान्तिभिरित्यर्थः । द्योतितानि प्रकाशि-तानि दिशां दशानामपि हरितां मुखानि यामिस्तादृशीभिः । तथा चापल्येन चञ्चलतया चञ्चन्तीभिः कुलवालिकाभिः सुजातकुमारिकाभिः बभे दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अग्रे आकाशमार्गे चिरविलसनेन बहुकालं विलासकरणेनोद्भूतखेदान्निःप्रकटीभवन्निर्वेदा-द्भुवं भूमण्डलं प्रति ईयुषीभिरागताभिर्वालिकाभिर्लघ्वीभिर्जलबालिकाभिर्विवृद्धिरिव ॥

सगर्भभावं विधुना दधानाः सारस्वता मर्त्यनिषेव्यमानाः ।

तदा स्म रङ्गन्ति पुरस्तुरङ्गाः क्षमायामिवोच्चैःश्रवसोऽनुबिम्बाः ॥ ६३ ॥

तदा तस्मिन्नुत्सवे पुरः पुरस्तात्संघात्रे तुरङ्गा अश्वा रङ्गन्ति स्म । सौवर्णपर्याणादिभिः
शृङ्गारिताः अनधिरूढनरा लोके 'जलमतीघोडा' इति प्रसिद्धाः । ते पुरतः प्रचेष्टुः ।
उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य अनुबिम्बाः प्रतिकृतय इव । किं कुर्वाणाः । विधुना चन्द्रेण सह
सगर्भभावं भ्रातृत्वम् । 'सगर्भसहजा अपि' इति हैम्याम् । तुल्यवर्णेन समुद्रोत्पन्नत्वेन च
चन्द्रोच्चैःश्रवसोः तथा । पुनः किंभूताः । सारस्वताः काश्मीरदेशोद्भवाः । तथा मर्त्यैः
सम्यगलक्षणयुक्तत्वेन मनुष्यैर्निषेव्याः उपास्यमानाः । पक्षे सरस्वति समुद्रे । 'याद-
स्रोतो वार्नदीशः सरस्वान्' इति हैम्याम् । भवः सारस्वतः । तथा अमर्त्यैः इन्द्राश्वत्वात्सुरैः
संसेव्यमानैः । ततोऽत्र कर्मधारयः ॥

यस्मिञ्जयन्त्यः कलकण्ठकण्ठाञ्जगुः समुत्कण्ठितकम्बुकण्ठ्यः ।

सिद्धाङ्गनाः स्वर्गिगिरेर्धरायां गुणान्गणीन्दोरिव गातुमेताः ॥ ६४ ॥

यस्मिन्महोत्सवे समुत्कण्ठिताः गुरुगुणान् गातुं सम्यक् त्रिधाप्युत्कण्ठा औत्सुक्यं
जातमासामिति समुत्कण्ठिताः कम्बुकण्ठ्यः सलक्षणलक्ष्मीवन्मृगाक्ष्यः जगुर्भुङ्क्षुर्गायन्ति
स्म । किं कुर्वन्त्यः । कलकण्ठानां कोकिलानां कण्ठान् ध्वनीन् जयन्त्यः । 'कण्ठो
ध्वनौ संनिधाने ग्रीवायां मदनद्रुमे' इत्यनेकार्थः । उत्प्रेक्ष्यते—गणीनां साङ्गप्रवचने-
ऽधीतानामिन्दोश्चन्द्रस्य सूरिन्द्रस्य गुणान् गातुं गानगोचरीकर्तुं स्वर्गिगिरेर्मैरुपवेतादेता
आगताः सिद्धा देवविशेषास्तेषामङ्गनाः स्त्रिय इव । किं च किंनरसिद्धाङ्गना एव गीतौ
प्रसिद्धिभाजः । यदुक्तं भोजप्रबन्धे—'देव त्वं जय कासि लब्धकवधूर्हस्ते किमेतत्पलं
क्षामं किं सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यस्ति ते कौतुकम् । गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतदिनीती-
रेषु सिद्धाङ्गना गीतान्धा न तृणं चरन्ति हरिणास्तेनामिषं दुर्बलम् ॥' इति । तथा च
'यस्मिन्नासन्नसारङ्गाः सारं गायति किंनरी' इति चम्पूकथायाम् । किं च । मेरुः सुरावासः
सर्वेषामपि देवानां साधारणवासत्वासिद्धानामप्यावासः । ततस्तत आगमनं युक्तमेव ॥

द्विपैर्व्यतायन्त पटिष्ठघण्टाटङ्कारवाव्याहतवृंहितानि ।

महीतलोद्वासितदुर्नयस्य प्रस्थानदक्काकणितानि मन्ये ॥ ६५ ॥

द्विपैर्वारणैरतिशयेन पट्टानि पटिष्ठानि तथा घण्टानामन्तर्लम्बितायतदृढललाभिवा-
द्यमानवाद्यविशेषाणां देवगृहादौ गजघण्टादिषु च प्रसिद्धानां टङ्कारवैष्टण्टकृतिकृतिकृ-
द्भूनिविशेषैरव्याहतानि अनिहुतानि बहुलीकृतानि वृंहितानि गजगर्जारवाः व्यतायन्त
विस्तार्यन्ते स्म । गजशब्दा वृंहितान्युच्यन्ते । यदुक्तं हैम्याम्—'गजानां गर्जवृंहिते'
इति । उत्प्रेक्ष्यते—महीतलाद्भूमीमण्डलादुद्वासितस्य निष्कासितस्य दुर्नयस्यान्यायस्य
प्रस्थाने प्रचलने दक्का पटहः । 'दक्का मेरी दुन्दुभिरानकः' इति हैम्याम् । तस्य कणितानि
प्रयाणपटहध्वनय इव ॥

भांकारिभेरीनिनदन्नफेरीर्नादैर्दिगन्तानपि पूरयन्तीः ।

कर्णातिथीकृत्य कुपक्षलक्षैर्निर्घोषिवर्षाशरमीवभूवे ॥ ६६ ॥

भामिति शब्दं कुर्वन्तीति भांकारिण्यस्तादृश्यो भेर्यो दुन्दुभयः अतिलम्बास्ताम्रमया तद्युक्ता या निनदन्यः शब्दायमानाः नफेर्यः पित्तलमयाः विचित्ररचनावलयः सुख-
वाद्या वादित्रविशेषास्ताः कर्णातिथीकृत्य स्वश्रवणानां प्रायुणीः प्रणीय । श्रुत्वैत्यर्थः ।
कुत्सितः सिद्धान्तविरुद्धः पक्षः स्वीकारो येषामेतावतां कुमतभाजाम् अथवा सिध्या-
दशां लक्षैः परोलक्षैः निर्घोषो नितरां घोषः कटत्कारः भयानकगर्जितं विद्या तथा
सुता निर्घोषिण्यः ताश्च ता वर्षाश्च प्रावृषः तासाम् । वर्षाशब्दस्य बहुवचनान्तत्वात् ।
शरभीवभूवे । अष्टापदीभावं भेजे । वर्षासु मेघगर्जितं निशम्य शरभा उत्पत्योत्पत्य
भूमौ पतित्वा म्रियन्ते । तथा भेरीनफेरीशब्दानाकर्ण्य कुपाक्षिका अपि मृतप्राया इव
जायन्ते स्म । किं कुर्वतीः नफेरीः । नादैः स्वाद्वैतशब्दैर्दिगन्तानपि निखिलहरिताम-
वसानगङ्गाराण्यपि पूरयन्तीनिर्भरं भरन्तीः ॥

संध्याद्रुहः केऽप्यवहन्विहायो लिहः शयाम्भोरुहि वैजयन्तीः ।

प्रकाशयन्तः प्रति मुक्तकान्तं मूर्तानुरागानिव रन्तुकामाः ॥ ६७ ॥

केऽपि भव्याः अनुचरा वा शयाम्भोरुहि करकमले । एकवचनं जातिवाचित्वात् । पाणि-
पद्मेष्वित्यर्थः । वैजयन्तीः पताका अवहन् धारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—रन्तुकामाः
क्रीडितुमिच्छवः सन्तः मुक्तकान्तं सिद्धवधूं प्रति मूर्तानुरागानिव प्रकाशयन्तः
प्रकटीकुर्वन्तः इव । किंभूता वैजयन्तीः । संध्यां संध्यारागश्रियं रक्ततया द्रुहन्तीस्तस्य
स्पर्धिनीः । पुनः किंभूताः । विहाय आकाशं लिहन्ति स्पृशन्ति इति गगनमण्डलो-
ल्लेखिनीः । अतितुङ्गाः इत्यर्थः ॥

मृगीदृशः कांचन शातकौम्भान्कुम्भाञ्शिरोभिर्विभरांबभूवुः ।

प्राक्स्वगृहीतां सुषमां स्तनेभ्यः पश्चाज्जिघृक्षून्पजग्मुषः किम् ॥ ६८ ॥

कांचन मृगीदृशः सधववध्वः शिरोभिरुत्तमाङ्गैः कृत्वा शातकौम्भान् स्वर्णमयान्कु-
म्भान् कलशान् विभरांबभूवुः विभ्रति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्राक् पूर्वं स्वामात्मीयां गृहीतां
पराभूयोपात्तां सुषमां सातिशायिनीं स्तनेभ्यः युवतीप्रौढपयोधरेभ्यः सकाशात्कथं-
चनानुनयादिना पश्चाज्जिघृक्षून् ग्रहीतुमिच्छून् । किंभूतान् । उपजग्मुषः आगतानिव ॥

रौप्यानिपा नीलकजापिधाना मूर्धस्वधीयन्त तदा पराभिः ।

महामहं तं कचनाप्यदृष्टं द्रष्टुं मृगाङ्गाः किमुपेयिवांसः ॥ ६९ ॥

तदा तस्मिन्प्रभुप्रवेशोत्सवे पराभिरन्याभिः पद्मवदनाभिः रौप्या रजतनिर्मिता
निपाः कलशाः मूर्धसु मस्तकेष्वधीयन्त म्रियन्ते स्म । किलक्षणाः । नीलकजस्य इन्दी-
वरस्य अपिधानमाच्छादनं येषु । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' अस्मादत्र
विकल्पो ग्राह्यः । तेनावगाहो वगाहश्च, अपिधानं पिधानं चेति । तदेव नैषधे-
ऽप्याह—'व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोहं दशोरपिधायके' इति । उत्प्रेक्ष्यते—कचनापि कुत्रापि
स्थाने अदृष्टं न नयनाभ्यां निभालितं तं जगद्वैतमहामहमतिशायिनमुत्सवं द्रष्टुं

साक्षाच्छुलंक्षीकर्तुमुपेयिवांसः समागताः । किंभूताः । मृगाङ्गाः सलक्षमाणश्चन्द्रा इव ।
'राकामृगाङ्गाः संसूय विभान्ति शरणागताः' इति पाण्डवचरित्रे पूर्णन्दुबाहुल्यम् ॥

पुरश्चरन्तः पथि हर्षहेषामिषात्तदा वलितवेष्टिताङ्गाः ।

गायन्ति गन्धर्वगणा गणेन्द्रगुणान्वितन्वन्त इवाङ्गहारम् ॥ ७० ॥

पथि मार्गे पुरः फतेपुरसंघस्य पुरस्ताच्चरन्तो गन्धर्वाणां वाजिनां देवगायनानां च
गणाः हर्षेण युक्ताः हेषा हयध्वनयः । 'हेषा हेषा तुरङ्गणाम्' इति हैम्याम् । तासां
मिषात्कपटात् गणेन्द्रस्य गच्छपुरंदरस्य हीरसूरेर्गुणान् गायन्ति । किलक्षणाः । वलितै-
र्द्वितीयगतिविशेषैः कृत्वा वेष्टितमन्दोलितं चञ्चलीकृतमङ्गं कायो धैस्ते । तत्राप्यु-
त्प्रेक्ष्यते—अङ्गहारमङ्गविक्षेपं नृत्याङ्गविशेषं वितन्वन्तो विस्तारयन्त इव ॥

व्यसीत्पच्छ्रोत्रसुधायमानगाना तदा वैणिकपङ्क्तिरग्रे ।

किमागतामिन्द्रपुरीं पुरीं तां रसादिदक्षुस्तुरगास्यसंसत् ॥ ७१ ॥

तदा तत्र प्रक्रमे वैणिकानां पङ्क्तिर्धोरणी अग्रे संघस्य पुरस्ताद्यसीत्पद्विसर्पति स्म
प्रचचाल । 'गच्छति विसर्पत्यत्ययते' इति क्रियाकलापे । किंभूता । श्रोत्रयोः
श्रोत्रश्रवणयोः सुधायमानममृतमिवाचरत् गानं गीतं यस्याः । उत्प्रेक्ष्यते—अतिक्रान्ता
स्ववैभवैः पराभूता इन्द्रपुरी अमरावती यया तस्याः सर्वनगरीभ्योऽतिशायित्वात्
तादृशीं श्रीकरी नाम नगरीं रसादाश्चर्योत्सुक्यादिदक्षुर्द्रष्टुमिच्छुरागता समेता तुरगा-
स्यानां किनराणां संसत्सभा इव समूह इव । 'उडुपरिषदः किं नार्हन्ती निशः किम-
नौचिती' इति नैषधे । 'उडुपरिषदः तारासमूहस्य' इति तद्वृत्तौ ॥

निःस्नानवृन्दे प्रददुः प्रहारान्केचिद्विपक्षजवक्षसीव ।

अताडयन्केऽपि पुनर्मृदङ्गानमी सरन्ध्रा द्विमुखा इतीव ॥ ७२ ॥

केऽपि निःस्नानवादका जना निःस्नानानां राजवाद्यानां 'दामांमा' इति प्रसिद्धानां
वृन्दे प्रकरे प्रहारान् दण्डमहतीः ददुः । वादयन्ति स्मेल्यर्थः । विपक्षानां जिनशास-
नप्रत्यनीकानां व्रजानां समुदायानां वक्षसि हृदये इव प्रहारान्ददते । दुर्वादिहृदयानीव
ताडयन्ति । पुनः केऽपि मार्दङ्गिकाः 'माइलिया' इति प्रसिद्धाः मृदङ्गान्मुरजानताड-
यन् धोंधों दोंदों वा इति शब्दं कारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्ताडयन्ति ।
इति किम् । यदमी यत्कारणादेते सह रन्ध्रैर्दोषैश्छिद्रैर्वा वर्तन्ते इति सरन्ध्राः सापगुणाः
तथा द्विमुखाः कर्णेजपवद्रे मुखे येषां ते । एकत्र पृथक् वदन्ति, अपरत्र च भिन्नं वद-
न्तीति द्विमुखत्वम् । मृदङ्गास्तु नरमादलक्षणत्वे द्वयोः पार्श्वयोः शब्दायन्ते ॥

वनप्रदेशा इव केऽप्यलाबूव्यालम्बिवंशा सविरावितालाः ।

केचिन्मुकुन्दा इव कम्बुहस्ता वीणाकराः केऽपि गणा इवासन् ॥ ७३ ॥

केऽपि जनास्तत्समये वनप्रदेशा विपिनभूमिभागा इव अलावूं तुम्बिनीलतां तुम्बकं च विशेषेणालम्बन्ते आश्रयन्ते इत्येवंशीला वंशा वेणवो येषां येषु वा अमृतीयुक्ताः केवलतुम्बकेन तन्त्रीवादका वा आसन् । तथा केचिज्जनास्तालधरा विशिष्टं रवन्ति ध्वनन्तीत्येवंशीला विराविणस्तादृशास्ताला व्यवपुटाः सशब्दतालद्रुमा वा येषां येषु वा । 'अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिक्षितैः । मर्मरः पवनोद्भूतराजतालीवनध्वनिः ॥' इति रघौ । इदानीमपि शुष्कपत्रास्तालतरवः सशब्दा दृश्यन्ते च । केचिज्जनाः मुकुन्दाः कृष्णा इव कम्बुः सामान्यः शङ्खः पाञ्चजन्यश्च हस्ते पाणौ येषां तादृग्विधा बभूवुः । तथा केचित्पुरुषा गणा ईश्वरसेवकदेवविशेषाः । 'प्रमथाः पार्षदा गणाः' इति हैम्याम् । ते इव वीणा विपश्ची । तथा 'गणना तु प्रभावती' इति हैमीवचनात् प्रभावतीनाम्री वल्ल्भी करे हस्ते येषां तादृशा आसन्नभूवन् ॥

अपूरयन्केऽपि तदा त्रिरेखान्हंसायमानान्मुखपङ्कजाङ्के ।

विघ्नाधिपं किं विधृतावधानं जिघांसया विघ्नततेः सृजन्तः ॥ ७४ ॥

केऽपि शाङ्खिकाः शङ्खवादकाः तदा तस्मिन्व्यतिकरे त्रिरेखान्कम्बूनपूरयन् प्राणवातैः पूरयन्ति स्म वादयामासुः । किंभूतान् । मुखमेव पङ्कजं कमलं तस्याङ्के उत्सङ्गे हंसायमानान् मरालानिवाचरतः । उत्प्रेक्ष्यते—विघ्नानां प्रत्यूहानां ततेर्धोरण्या जिघांसया हन्तुमिच्छया विघ्नाधिपं विनायकं विधृतावधानं दत्तज्ञानोपयोगम् । सावधानमित्यर्थः । किंभूताः । सृजन्तः कुर्वन्त इव ॥

गीतिं जगुः केचन रासकांश्च सूरैर्यशः केऽपि जयारवांश्च ।

कैश्चिन्मुदानर्ति तमोऽप्यकर्ति प्रावर्ति पुण्ये कुपथान्यवर्ति ॥ ७५ ॥

केचन जना गान्धर्विका गीतिं मधुरध्वनिं गानं जगुर्गायन्ति स्म । केचन रासकगायकाः रासकान् जन्मदिनादारभ्य सूरिपदैश्वर्यपर्यन्तान् रासान् प्राकृतभाषया चरित्रप्रबन्धान् विविधपूर्वपुरुषावदातान्वा जगुः । 'कै गै रै शब्दे' इति धातोः । कथयन्ति स्म गायन्ति इव । केचित्स्तुतिव्रताः पुरुषाः सूरैर्भट्टारकस्य यशः जगज्जनजेगीयमानां कीर्तिं गायन्ति स्म । केऽपि मङ्गलपाठकाः जयारवान् जयजयेति शब्दानुदीरयन्ति स्म । पुनः कैश्चिन्नर्तकैः अनर्ति नृत्यं चक्रे । कथा । मुदा प्रमोदाधिक्येन । अपि पुनस्तमः स्वाज्ञानं निजपापं वा अकर्ति मूलच्छेदितम् । पुनः कैश्चिद्भक्तैः । पुण्ये इदं सर्वमप्युत्सवादिकं पुण्याधीनं तदैहिकामुष्मिककामिवत्तत्तदेव कुर्म इति पुण्यविषये प्रावर्ति प्रवर्तितम् । अत एव कुपथादुन्मार्गान्यवर्ति गुरुभक्तीभूतमन्यैर्वा तन्माहात्म्यावलोकनान्मिथ्यादृशां कुपक्षाणां वा मार्गान्मताद्वातिवर्तितम् ॥

खुरैरखानि प्रचलत्तुरङ्गैर्धात्री खनित्रैः खनकैरिवात्र ।

गलन्मदाम्भोभिरिभैरिवाम्भोधैर्धरा पङ्किलयांबभूवे ॥ ७६ ॥

अत्र गुरुमहोत्सवे प्रचलद्भिर्गुरुसंमुखं गच्छद्भिस्तुरङ्गैरध्वीत्री धरित्री अखानि क्षोदिता । कैः । खुरैः स्वचरणनखशिखाभिः । कैरिव । खनकैरिव । यथा पूर्तकृद्भिः ‘उड’ इति भूमौ प्रसिद्धैः खनित्रैरिति भूमिखननोपकरणैः खनित्रैः ‘कुडाला’ इति प्रसिद्धैस्तैः कृत्वा धरणी खन्यते । पुनः इमैः सिन्धुरैः गलद्भिः कपोलस्थलेभ्यो निःसरद्भिः मदाम्भोभिः दानवारिप्रवाहैर्धरा पृथिवी पङ्किलयांबभूवे जम्बालजालकलिता कृता । कैरिव । अम्भोधरैरिव । यथा मेघैः पयःप्रवाहैः भूर्जम्बालजालाकुला क्रियते ॥

संख्यातिगैस्तद्गजवाजिपत्तिशताङ्गभारोद्ग्रहनाप्रभूष्णम् ।

धात्रा कृता धारयितुं धरित्रीं स्तम्भा इवाहीन्द्रफणाः सहस्रम् ॥ ७७ ॥

धात्रा जगत्सजा धरित्रीं क्षोणीं धारयितुमतिभारासहितया पातालमूलं यान्तीं रक्षितुम् । उत्प्रेक्ष्यते—सहस्रं दशशतीमिता अहीन्द्रस्य नागराजस्य फणा विस्तृतशि-
रांसि एव स्तम्भाः स्थूणाः कृताः प्रणीता इव । किंभूतां धरित्रीम् । संख्यां गणनाम-
तिगच्छन्त्यतिक्रामन्तीति संख्यातिगा गणनातीता ये एतस्य सूरैः संमुखं प्रस्थितस्य
संघस्य गजाः कुञ्जरा वाजिनो विविधजनपदजन्माश्वाः पत्न्योऽनेकजातिपादचारिभृत्या
मनुष्याः परे वा शताङ्गास्तुरङ्गवृषभरथ्यसनाथरथास्तेषां भारोऽतीववीधवः तस्योद्ग्रहणे
उद्दरणे अप्रभूष्णमसमर्था शक्तिरहिताम् ॥

तद्भास्तिकाश्वीयरथोद्धुताभिर्धूलीभिरस्तारिषताखिलाशाः ।

क्षिसैर्दिगीशैरिव दिग्वधूभिः क्रीडद्भिर्द्वैतरसेन चूर्णैः ॥ ७८ ॥

तस्य संघस्य हास्तिकेन गजगणेन तथा अश्वीयेन वाजित्रजेन तथा रथैः स्यन्दनैरुद्धुता-
भिरुखाताभिर्धूलीभिः रजोभिरखिलाः समस्ता अपि आशा दिशः अस्तारिषत । ‘स्तृञ्
आच्छादने’ अयं धातुः । आच्छादिताः । उत्प्रेक्ष्यते—दिग्वधूभिः खहरिन्महिलाभिः
सह क्रीडां रहःसमये स्वतन्त्रं कामपि कामलीलां वसन्तसमय इव सजद्भिः कुर्वद्भि-
र्दिगीशैः दिक्पतिभिरद्वैतेनासाधारणेन रसेन शृङ्गारविलासविनोदेन क्षिसैः परस्परो-
द्वायितैश्चूर्णैर्वासयोगैरिव । ‘वासयोगस्तु चूर्णं स्यात्’ इति हैम्याम् । ‘अवीर’ इति
प्रसिद्धैः ॥ ‘क्रीडां सजद्भिर्द्वैरितां महेन्द्रैः क्षिसैरिवाद्वैतरसेन चूर्णैः’ इत्यपि पाठः ।
तस्यार्थः—क्रीडामन्योन्यं नर्म सजद्भिर्निर्मिममाणैर्द्वैतरितां महेन्द्रैर्दिक्पालैः अद्वैतानन्यसा-
मान्येन रसेन शृङ्गारविनोदेन दिग्वधूः स्वकीयस्वकीयदिक्रान्ताः प्रति क्षिसैः प्रेरितै-
श्चूर्णैर्वासयोगैरिव ॥

चलद्बलाकं कलधौतकुम्भैः कल्याणकुम्भैः सतडिद्विलासम् ।

रजोभिरभ्राङ्गमुदीतगर्जं तूरस्वरैरभ्रमिव ब्रुवे तम् ॥ ७९ ॥

अहं कविस्तं महोत्सवमभ्रं संजातोन्नततोयदमिव ब्रुवे कथयामि । किंलक्षणम् ।
कलधौतानां रजतानां कुम्भैः कलशैः कृत्वा चलन्त्य उड्डीयमाना गगने विलसन्त्यो वा ।
‘गर्भाधानक्षणपरिचयात्’ इति मेघदूतकाव्ये । बलाका बकाङ्गना यत्र । तथा कल्याण-

कुम्भैः कनककलशैः सह तद्धितां विद्युतां विलासेन विलसितेन लीलया वा वर्तते
यत्तम् । पुनः किंभूतम् । रजोभिरुड्डीनधूलीभिरग्राणि वार्दलकानि 'आंभलां' इति
प्रसिद्धान्यङ्के क्रोडे मध्ये यस्य तम् । पुनः किंभूतम् । तूराणां विविधवादित्राणां स्वरैर्निः-
स्वनैरुदिताः प्रकटीभूता गर्जा गर्जितं गम्भीरध्वनिर्यत्र ॥

उद्धर्षनिध्यानधृतावधानसौधाग्रजाग्रतपुरसुन्दरीणाम् ।

वीथी दिवो वक्रसहस्रपत्रैः सहस्रचन्द्रेव तदा दिदीपे ॥ ८० ॥

तदा तस्मिन्नुत्सवसमये उद्धर्षस्य प्रभुप्रवेशमहोत्सवस्य । 'क्षणोत्सवोद्धवोद्धर्षम्' इति
हैम्याम् । निध्याने निरीक्षणे धृतं स्थापितमवधानं मनोध्यानं वा याभिस्तथा सौधानां
स्वखगृहाणामग्रे शिखरे उपरि जाग्रतीनां सावधानतयोपविष्टानां स्थितानां वा पुरसुन्द-
रीणां श्राद्धव्यतिरिक्तनगरनारीणां वक्रसहस्रपत्रैः वदनकमलैः कृत्वा दिवो वीथी गगन-
पद्मतिः सहस्रं दशशतिसंख्याकाः सहस्रशो वा चन्द्रा इन्दवो यस्यां तादृशीव दिदीपे
शोभते स्म ॥

असर्जिं सृष्टिर्विधिना नवा किं गर्भाद्भुवो वा किममी निरीयुः ।

समं निपेतुः किमुताम्बराद्वा विज्ञैर्जनान्वीक्ष्य तदेत्यतर्कि ॥ ८१ ॥

तदा तस्मिन् संघस्य सूरिसंमुखसमागमनसमये प्रमाणातीतान् जनान् लोकान्
वीक्ष्यावालोक्य विज्ञैर्विशेषण विचारचतुरैः इत्यमुना प्रकारेण अतर्किं विचार्यते स्म ।
इति किम् । विधिना सृष्टिकर्त्रा किं नवा अपरा नवीना सृष्टिविश्वनिर्मितिः कृता । वाथ
वा अमी जनाः भुवो भूमेर्गर्भान्मध्यात्किं निरीयुः निर्गताः । उताथ वा अम्बरादाकाशा-
त् समं एककालमेतावन्तो निपेतुः निपतिताः ॥

नभोम्बुपानब्ध इवानधीतार्थनान्सृजन्नर्थिजनान्परेषु ।

स्वगौरवौर्वीवहनप्रणीतसंशीतिशेषः स चचाल संघः ॥ ८२ ॥

स फतेपुरसत्कः संघो जनसमुदायः । 'संघसाथौ तु देहिनाम्' । चचाल सूरिसंमुखं
प्रतिष्ठते स्म । किंभूतः । स्वस्यात्मनो गौरवेण हास्तिकाश्वीयरथकड्यादिजनितातिभारेण
युक्ताया उर्व्या भूमेर्वहने धारणे प्रणीता विहिता संशीतिः संशयो येन । हा मया
अतिभारवतीयं जगती कथं हविष्यते इति संशीतिः तादृशः शेषो नागाधिराजो यत्र ।
संघः किं कुर्वन् । परेष्वन्यवदान्यजनेषु विषये न अधीता पठिता अभ्यस्ता वा अर्थ-
ना याचना यैः तादृशानर्थिजनान् याचकलोकान् सृजन् कुर्वन् । क इव । अब्द इव ।
यथा वारिदो नभोम्बुपान् नभस्तो वर्षद्वारिदात्पतत्योच्चैः कृतं प्रसारितं चक्षुपुढान्तरा-
यातमम्बु पिवन्तीति नभोम्बुपान् वप्पीहान् । तत एवोक्तम्—'एक एव खगो मानी
चिरं जीवतु चातकः । पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरंदरम् ॥' इति । परेषु
व्यतिरिक्तजनाशयेषु विषये निर्मुक्तार्थनान्करोति ॥

धात्रीपवित्रीकृतये प्रणीतजनिं पुनः किं वसुभूतिपुत्रम् ।

संघो मुनीनां मधवानमेनं स्वचक्षुषोर्गोचरयांचकार ॥ ८३ ॥

संघ एनं पातिसाहिसवहुमानाह्वानायातं मुनीनां साधूनां मधवानं पुरद्वृतं श्रीहीर-
विजयसूरीश्वरं स्वस्यात्मनश्चक्षुषोलोचनयोगोचरयांचकार । विलोकते स्मेत्यर्थः । उत्प्रे-
क्ष्यते—धात्र्या भरतक्षेत्रक्षोण्याः पवित्रीकृतये पाचनीकरणाय पुनर्द्वितीयवारं प्रणीता
स्वयमेव कृता जनिः स्वोत्पत्तिर्येन तादृशम् । किंवत् । वसुभूतिपुत्रं गौतमस्वामिनमिव ।
'श्रीइन्द्रभूति वसुभूतिपुत्रपृथ्वीभवं गौतमगोत्ररत्नम्' इति पूर्वोच्चार्यस्तुतौ ॥ इति पुरसं-
घकृतहीरसूरिसंमुखकरणोत्सवः ॥

प्रक्षाल्य दुग्धाम्बुधिना पयोभिः कृतं निरङ्कं तनुजन्ममोहात् ।

पुरीदिदृक्षोपगतं मृगाङ्कमिवैनमन्विष्य तुतोष संघः ॥ ८४ ॥

संघ एनं सूरिमन्विष्य विलोक्य तुतोष जहर्ष । उत्प्रेक्ष्यते—पुरीदिदृक्षया श्रीकरी-
नगरीलक्ष्मीसमीक्षणकाङ्क्षया उपगतमायातम् । 'आगमने गमनार्थाः समभ्युपाङ्मयः
पराः कथिताः' इति क्रियाकलापे । मृगाङ्कं चन्द्रमसमिव । किंभूतम् । दुग्धाम्बुधिना
क्षीरसमुद्रेण तनुजन्मना स्वपुत्रस्य मोहात्तेहात् चन्द्रस्य क्षीरसमुद्रोत्पन्नत्वेन द्रव्योर्जन्य-
जनकभावसंबन्धः । पयोभिः स्वक्षीरैः कृत्वा प्रक्षाल्य धावयित्वा निरङ्कं निर्गतकलङ्क-
मलिनिमानं कृतं निर्मितम् ॥

स्वाहान्वितं वह्निमिवोपयन्ता श्रीसंघलोकः सुमुखीसखस्तम् ।

प्रदक्षिणीकृत्य समाधिपद्मानुषङ्गभाजं प्रणनाम भक्त्या ॥ ८५ ॥

श्रिया महर्ह्या युक्तः संघस्तं गुरुं भक्त्या प्रणनाम नमस्करोति स्म । तं किंभूतम् ।
समाधिपद्माविशिष्टतमध्यानलक्ष्मा सहालिङ्गनैकतानाद्यनुषङ्गो मिथःसंश्लेषसंबन्धस्तं
भजतीति । संघः किंभूतः । सुमुख्यः स्त्रियः सखायो यस्य । किं कृत्वा । प्रदक्षिणीकृत्य
तिस्रः प्रदक्षिणा दत्वा । क इव । उपयन्तेव । यथा नरवाढयोषित्सखः परिणता स्वाहया
खपत्त्या अन्वितं सहितम् । 'स्वाहाग्राहीप्रियस्य च' इति हैम्याम् । वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य
प्रणमति । 'अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्' इति रघुवंशे । तथा 'हा स्वा-
हाप्रिय धूममङ्गजमसुं सूत्रा न किं दूयसे' इति सूक्तोक्तेः ॥

रेणुर्जिघांसुर्लघिमानमेतत्क्रमौ किमाश्लिष्य वितिष्ठमानम् ।

प्रणमुषां जन्मजुषामलीकललामलीलाश्रियमश्रुते स्म ॥ ८६ ॥

रेणुः प्रभुपदाम्बुजरजः प्रणमुषां प्रणतानां जन्मजुषां प्राणिनामलीके भालस्थले
ललामलीलायास्तिलकविलासस्य श्रियं शोभामश्रुते स्म व्याप्नोति स्म । लेभे इत्यर्थः ।
किंभूतः रेणुः । एतत्क्रमौ सूरिपादौ आश्लिष्यालिङ्ग्य वितिष्ठमानो वसन् । उत्प्रेक्ष्यते—
लघिमानं निजलघुभावं जिघांसुर्हन्तुमिच्छुरिव । 'ये जात्या लघवः सदैव गणनां

प्राप्ता न ये कुत्रचित्पद्मयामेव विवर्जिताः प्रतिदिनं भूमौ विलीनाश्चिरम् । उक्षिप्ताश्चप-
लाशयेन मरुता पद्यान्तरिक्षे सखे तुङ्गानामुपरिस्थितिं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः ॥
इति सूक्तोक्तैर्लघिमा रेणूनाम् ॥

नम्राङ्गभाजां भगवन्नखेषु दृग्दन्तपङ्क्तिस्मितबिम्बितानि ।

वालेंदुबिम्बेषु चकोरताराचन्द्रातपाः किं मिलिता विभान्ति ॥ ८७ ॥

भगवन्नखेषु सूरेंद्रचरणकामाङ्कुशेषु नम्राणां नमनशीलानामङ्गभाजां प्राणिनां दृशो
नेत्राणि, तथा दन्तपङ्क्तिः प्रमोदवशाद्विकसितवदनारविन्दानां दशनश्रेणी, स्मितं हसितं
तेषां प्रतिबिम्बितानि विभान्ति । उत्प्रेक्ष्यते—वालान्युदयमानानि इन्दूनां चन्द्राणां
बिम्बानि मण्डलानि तेषु मिलिताः स्नेहेन एकत्रभूताः चकोरा ज्योत्स्नाप्रियास्तथा तार-
काश्चन्द्रकान्ताश्चन्द्रातपाश्चन्द्रिकाः किम् ॥

प्रभोर्नखैर्नम्रनितम्बिनीनां कचच्छटानां प्रतिमा ध्रियन्ते ।

खर्भाणुविद्वेषिजिगीषयार्भमार्तण्डबिम्बैरिव मण्डलाग्राः ॥ ८८ ॥

प्रभोर्ह्यारसूरैर्नखैः कमकामाङ्कुशैर्नम्राणां भक्तिप्रह्वत्वेन नमस्करणशीलानां नितम्बि-
नीनां वनितानां कचच्छटानां केशपाशानां प्रतिमाः प्रतिबिम्बानि ध्रियन्ते आश्रीयन्ते ।
उत्प्रेक्ष्यते—खर्भाणुर्विधुतुदः स एव विद्वेषी प्रतिपक्षस्तस्य जिगीषया जेतुमिच्छया
हन्तुं वाञ्छया वा अर्भा उदयमाना ये मार्तण्डा भास्करास्तेषां बिम्बैर्मण्डलाग्रास्तरवा-
रय इव धार्यन्ते ध्रियन्ते इव ॥

जहेषिरेऽश्वाश्च गजा जगर्जुर्निध्यानतः साधुसुधामरीचेः ।

जम्भद्विषट्वाजिगजानिवात्मगोत्रेषु वृद्धान्पवितुं ह्यन्तः ॥ ८९ ॥

साधुसुधामरीचेः वाच्यमामृतकिरणस्य सूरैर्निध्यानतः दर्शनादेव । 'निध्यानमवलो-
कनम् । दर्शनम्' इति हैम्याम् । अश्वाः प्रमोदाज्जहेषिरे हेषारवं विदधते स्म । च पुन-
र्गजा हस्तिनः जगर्जुः सजलजलधररावानुयायि गर्जारवं विदधिरे । उत्प्रेक्ष्यते—आ-
त्मनः स्वस्य गोत्रेषु वंशेषु वृद्धान्प्रजानाद्यान्वा जम्भद्विषतः पुरंदरस्य वाजिनो वाहा
गजा द्विरदाः । उच्चैःश्रवसः ऐरावणो गजः समुत्पन्नस्तत्संतानानि परेऽश्वा गजाश्च ।
यथा चम्पूकथायाम्—'किलक्षणः । सकलसुरासुरकरपरिघपरिवर्त्यमानमन्दरमन्थानकम-
थितदुग्धाम्भोनिधेरजनि जनितजगद्विस्मया स्मरजननी लक्ष्मीमृगाङ्कसुरतरुधन्वन्तरिकौ-
स्तुभोच्चैःश्रवसा सहभूः शशधरकान्तिरैरावतस्तत्प्रसूतिरियमशेषवनान्यलंकरोति ।
यथैव ऐरावतस्य तथैवोच्चैःश्रवसोऽपि प्रसूतिरिति ॥

उत्कण्डुलास्तन्दुललाजमुक्तापङ्क्या प्रमोदात्पथि पौरकन्याः ।

अवाकिरंस्तं पृष्ठतैः प्रवृद्धपयोधिवेला इव शर्वरीशम् ॥ ९० ॥

उत्कण्डुलाः सोत्कण्डाः । 'उदः कण्डाडुलो मत्वर्थे उत्कण्डुलः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।

तथा—‘स सूर्योदयादवार्कं नलिनीगुल्मविमानगमनार्थमुत्कण्ठुलः संयमप्रतिपत्तये प्रहर्षकः’ इत्याचारप्रदीपे श्रीरत्नशेखरसूरिकृते । पौरकन्या नागरिककुमारिकाः पथि मार्गे प्रमोदादानन्दात्तं गुरुं तन्दुलाश्वोक्षा अखण्डाः तुषकलकलमास्तथा लाजा अष्टा यवाः । लाजैर्वर्धापनं शस्त्रेषु दृश्यते । यथा—‘अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः’ इति रघौ । तथा मुक्ताफलानि तासां पङ्क्त्या श्रेण्या अवाकिरन् वर्धापयन्ति स्म । का इव । प्रवृद्धपयोधिवेला इव । यथा चन्द्रचन्द्रिकालिङ्गनप्रवर्धमानपयसः पयोधेः समुद्रस्य वेला जलवृद्धिः । ‘वेला स्यावृद्धिरम्भसः’ इति हैम्याम् । पृषतैः पयोबिन्दुभिः कृत्वा शर्वरीशं रजनीनायकं चन्द्रमवकिरति वर्धापयति ॥ इति गुरुवन्दनाधिकारः ॥

विशां दृशः प्रीणति शक्रकेताविव क्षणेऽस्मिन्बहलीभविष्णौ ।

निशम्यता वर्त्मनि पौरवृद्धाविश्वस्तकान्ताशुभशंसितानि ॥ ९१ ॥

एकत्र जाग्रज्जगद्विभूतिदिदृक्षयात्रोपगता प्रमेव ।

शनैः शनैः संचरताथ तेन फतेपुरस्योपपुरं प्रपेदे ॥ ९२ ॥ (युगम्)

अथ संघस्य संमुखागमवन्दनानन्तरं शनैः शनैर्मन्दं मन्दं संचरता युगप्रमाणक्षोणीसमीक्षणक्रमेण प्रचलता सूरिणा फतेपुरस्य साहिराजधान्या उपपुरं शाखापुरं प्रपेदे संश्रिते । तत्राजगामेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एकत्र एकस्मिन्नेव श्रीकरीलक्षणस्थाने जाग्रत्याः स्फुरन्त्या वसन्त्याः त्रिजगतां त्रयाणां भुवनानामपि विभूतेर्लक्ष्म्या दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया अत्र फतेपुरसमीपे उपगता समेता प्रभा अलका धनदनगरीव । ‘पुरी प्रभा । अलका वस्त्रोक्तसारा’ इति हैम्याम् । तेन किं कुर्वता । वर्त्मनि मार्गे पौरेषु नागरिकेषु वृद्धा मुखयास्तेषामविश्वस्तानामविधवानाम् । सुवासिनीनामित्यर्थः । ‘विश्वस्ता विधवा समे’ इति हैम्याम् । तादृशीनां कान्तानां सामान्यतः स्त्रीणाम् । अथ वा पुरे भवाः पौर्यः पौर्यश्च ता वृद्धाः पौरवृद्धाः नगरसंबन्धिन्यस्तथा महत्यः तथा अविश्वस्ताः सधवास्तादृशीनां वशानां शुभशंसितानि आशीर्वचनानि निशम्यता शृण्वता पैङ्गुषविषयीकुर्वता । कस्मिन् सति । शक्रकेतौ इन्द्रध्वज इव अस्मिन्प्रभुप्रवेशे संमुखकरणलक्षणे क्षणे बहलीभविष्णौ दृढीभवनशीले बहुतमे जायमाने सति विशां जगज्जनानां दृशो लोचनानि प्रीणति प्रह्लादयति । सर्वेनेत्रानन्ददायित्वात् । ‘पुरद्वूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः’ इति रघौ ॥ युगम् ॥

स श्रीकरीं गन्तुमपीहमानः शाखापुरं भूषयति स्म सूरिः ।

आश्लेषितुं केवलपद्मवासां श्रेणीमिवात्मा क्षपकाभिधानाम् ॥ ९३ ॥

स सूरिः श्रीकरीं साहिनालंकृतां नगरीं गन्तुं प्रयातुमीहमानोऽपि शाखापुरं फतेपुरस्योपपुरं भूषयति स्म अलंकार । क इव । आत्मेव यथा भवश्चरमशरीरी जीवः केवलपद्मवासां केवलज्ञानरूपामरविन्दमन्दिरां लक्ष्मीमाश्लेषितुमालिङ्गितुं प्राप्तुमीहमा-

नोऽपि पूर्वं प्रथमं क्षपक इत्यभिधानं नाम यस्यास्तादृशीं श्रेणीमलंकुरुते प्रथमं क्षपक-
श्रेणीमाश्रयति ॥

विधातृपुत्रीतनयैरिवायं तोस्तूयमानोऽनुपदं कवीन्द्रैः ।

तत्रापि निर्वन्धवशाद्वशीन्द्रः सामन्तभूभृद्भवने न्यवात्सीत् ॥ ९४ ॥

अयं वशीन्द्रः जितेन्द्रियाणां मध्ये वासवो हीरसूरिस्तत्रापि शाखापुरेऽपि निर्वन्ध-
वशादस्याग्रहानुरोधात् सामन्तभूभृद्भवने सामन्तः स्वल्पजनपदग्रामनगराधिपः स एव
भूभृत् पृथिवीपतिः तस्य भवने । जगन्मल्लनामा कच्छवाह इति केषांचिद्राजान्यानां
जातिर्विशेषा एतावता जगमालकच्छवाहा तस्य गृहे न्यवात्सीत् निवसति स्म । किं
क्रियमाणः । अनुपदं पदे पदे स्थाने स्थाने कवीन्द्रैः पण्डितमण्डलाखण्डलैः तोस्तूयमानः
अतिशयेन काव्यादिभिर्विषयमानः । उत्प्रेक्ष्यते—विधातुर्ब्रह्मणः पुत्र्या नन्दिन्याः । ‘दशमं
ब्रह्मणः सुता’ इति सरस्वतीनद्या अप्यभिधानम् । ‘ब्रह्मपुत्री सरस्वती’ इति हैम्याम् ।
वादेवतायाः तनयैः पुत्रैरङ्गैरिव सारस्वतकुमारैरिव ॥

पचेलिमान्प्राक्तनकर्मरोगान् रसायनं दिव्यमिवापनेतुम् ।

तत्रापि शक्रः शमिनां सदस्यानुद्दिश्य धर्मं कथयांबभूव ॥ ९५ ॥

तत्रापि जगन्मल्लभूभृद्भवनेऽपि शमिनामुपशमवतां साधूनां शक्रः पुरंदरस्तन्मध्ये
वा वासवः । सर्वोत्कृष्टशान्तरसवत्वात् । सूरिः सदस्यान् सभ्यानुद्दिश्य अङ्गीकृत्य । अथ
वा सभासदामायतिहितहेतवे धर्मं भगवद्भाषितमुत्कृष्टमङ्गलमशेषसंपदुपादानं धर्मदे-
शनां कथयांबभूव दिशति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पचेलिमान् परिपाकमुदयावलिकां प्रपेदा-
नान् प्राक्तनान् पूर्वजन्मनिर्मितान् कर्माणि ज्ञानावरणीयादिकान्यष्टौ तान्येव रोगान्
दानाशयितुं अपनेतुं निवारयितुं दिव्यं देवसंबन्धि रसायनमौषधविशेष इव पापग-
महामयान् सुधारसमिव ॥

निपीयमाना श्रवणाञ्जलिभ्यां तद्देशनासारसुधाबुधानाम् ।

दन्तांशुमिश्रस्मितमूर्तिरन्तरमान्त्युपेयाय बहिः किमेषा ॥ ९६ ॥

श्रवणौ कर्णावेवाञ्जली योजितप्रसृतपाणी ताभ्यां कृत्वा निपीयमाना सादरं श्रूय-
माणा तस्य सूर्येदेशना व्याख्यानरूपा सारा प्रकृष्टा सकलपदार्थावबोधकारकत्वात् स्वर्गो-
पवर्गविसर्ववैभवदायकत्वाच्च सारत्वम् सैव सुधा पीयूषम् । अथ वा देशनैवासारो
वेगवती वृष्टिर्यस्याः तादृशी सुधा अमृतरसो वा बुधानां सकर्णानां श्रोतृणामन्तर्हृदय-
मध्ये अमान्ती अखण्डितप्रवाह आगच्छदमृतबाहुल्येन स्थातुमशक्नुवन्ती सती ।
उत्प्रेक्ष्यते—दन्तानां दशनानामंशुभिः किरणैर्मिश्रं व्याप्तं यत्स्मितं प्रमोदोदयादीषद्भ-
सितं तदेव मूर्तिर्देहो यस्या एषा प्रत्यक्षलक्ष्या बहिस्ताद्वाह्यस्थानकमुपेयाय समागतेव ॥

निशम्य वाचंयमवासवस्य तां देशनां स्त्रैणसखा मनुष्याः ।

परस्परस्पर्धितया ववर्षुर्दानैरमानैरिव वारणेन्द्राः ॥ ९७ ॥

वाच्यमानां वाक्सुमतिभाजां यतीनां वासवस्य इन्द्रस्य तां धर्मदेशनां निशम्य
श्रवणपारणां प्रणीय त्रैणसखा स्त्रीसमूहाः सखायो येषाम् । स्त्रीभिः सहिता इत्यर्थः ।
परस्परमन्योन्यं स्पर्धितया संहर्षशीलभावेन अमानैर्मानातीतैर्दानैर्द्रविणविश्राणनैर्वैवर्षुः
वर्षन्ति स्म । क इव । वारणेन्द्रा इव । यथा कुञ्जरराजा गन्धसिन्धुरा अमानैः कपो-
ललोचनमेढ्रगुदकरलक्षणसप्तसु स्थानकेषु अविरलनिर्गलनतया मानातीतैर्दानैर्मदवारि-
भिर्वर्षन्ति ॥

वदान्यविश्राणनमीक्षमाणो मालिन्यमालम्बत राजराजः ।

अन्वर्थनामा प्रथितस्त्रिलोक्यां कुबेर इत्येष तदादि विद्मः ॥ ९८ ॥

तदेत्यध्याहारस्तस्मिन् वदान्यानां दानशौण्डानां विश्राणनं विविधांशुकजतसुव-
र्णभरणादिप्रदानमीक्षमाणः खलोचनाभ्यां साक्षाद्विभावयन् धनेश्वरत्वेन पुष्पकविमा-
नाधिरोहणभुवनविलोककत्वेन च साक्षाद्वीक्षणं राजराजः राज्ञामपि राजा चक्रवर्ती
यक्षेश्वरश्च धनदः । 'यक्षः पुण्यजनो राजा गुह्यको वटवास्यपि' इति हैम्याम् । तथा
'कैलासौका यक्षधननिधिकिंपुरुषेश्वरः' इत्यपि हैम्याम् । मालिन्यं यद्यप्यहं दानशू-
रोऽस्मि तथाप्येतेषां गणनातिगकामिताधिकदानाग्रे वदान्यगणनायामहं न किंचिद-
पीति विच्छाद्यतामालम्बत श्रयते स्म । तत्र मालिन्ये वयमेवं विद्मः । तदादि तद्दि-
नादारभ्य एष राजराजः कुत्सितं विच्छाद्यीभवनादनीदृशं वेरं शरीरं यस्य स कुबेर
इत्यमुना प्रकारेण अनुगतः सदृशीभूतोऽर्थो यत्र तदन्वर्थम् । सत्यार्थमित्यर्थः ।
नामाभिधानं यस्य तादृशस्त्रिलोक्यां जगद्वयेऽपि प्रथितो विख्यातिं प्राप्तवानिव ॥

तदार्थिवाञ्छावचनानुरूपं विहापितं सप्तहयोवसाय ।

करान्सहस्रं प्रविसार्य वाहमिवाष्टमं तत्पुरतो वृणीते ॥ ९९ ॥

तदा तस्यां दानवेलायां सप्तहयः सूर्यः सहस्रं दशशती करान् सहस्रसंख्याकान्
हस्तान् विसार्य कराः किरणाः हस्ताश्च । अष्टमं वाहं तुरङ्गं तेषां वदान्यानां पुरतोऽग्रे
वृणीते याचतीव । किं कृत्वा । अर्थिनां याचकानां वाञ्छाया मनसोऽभिलषितस्य वच-
नस्य याचनारूपवाक्यस्य चानुरूपं तुल्यं योग्यं वा विहापितं वितरणम् । दानमित्यर्थः ।
अवसाय विज्ञाय ॥ इति सूरिदेशनानन्तरं श्राद्धदानम् ॥

अथ वर्षागमनारम्भः—

हन्तुं तपतीरिव तापमुर्व्यास्तदाम्बरेऽम्भोधर उल्लास ।

पुरंदरः सूरिपुरंदरस्य विवन्दिषुः पत्कजमागतः किम् ॥ १०० ॥

यदा यस्मिन्नेव दिवसे श्रीहीरविजयसूरयो जगन्मल्लकच्छवाहपृष्ठे समेतास्तदा त-
स्मिन्नेव वासरापराह्णसमये अम्बरे आकाशेऽम्भोधरः सजलजलवाहः उल्लास उन्नम-
य्यायाति स्म । उप्रेक्ष्यते—उर्व्याः पृथिव्यास्तपतीर्ग्रीष्मकालस्य । निदाघसमयजनितमि-
त्यर्थः । तापं संज्वरं तप्तिबाहुल्यं हन्तुं व्यापादयितुमिव । पुनरुप्रेक्ष्यते—सूरिपुरंद-

रस्य हीरसूरिवासवस्य अथ च सूरैः स्त्रीयाचार्यस्य वाचस्पतेः पुरंदरस्य स्वामिनः पत्तकजं चरणारविन्दं विवन्दिषुर्नमस्कर्तुकामः पुरंदरः शक्रः किमागतः । पुरंदरशब्देन शक्रो मेघश्च प्रोच्यते । यदुक्तम्—‘याचते वा पुरंदरम्’ । पूर्वं लिखितमस्येतत् । अथ वा मेघवाहनत्वात्पुरहृतोऽपि । अथ वा मेघोऽपि दिव्यस्वरूपस्तेन तस्य वन्दनमपि युक्तम् । यदुक्तं मेघदूते काव्ये—‘जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः’ इति । इन्द्रस्य तु नमस्करणं प्रसिद्धमेवेति ॥

प्रवासिहृद्धारिधिमाथमन्थाचलोपमं वारिधरो जगर्ज ।

वीरावतंसालससूनशस्त्रं प्रोत्साहयन्विश्वजिगीषयेव ॥ १०१ ॥

प्रवासिनां पान्थजनानां निजयुवतीजनविभोगव्याकुलीभवत् हृत् हृदयमेव वारिधिः समुद्रस्तस्य माथे मन्थनं मास्थस्तस्मिन् मन्थाचलो मन्दराद्रिस्तस्योपमा सादृश्यं यस्य । ‘विरहिमनस्तुदि’ इति चम्पूकथायाम् । तादृशो वारिधरो मेघो जगर्ज गर्जारवं कुरुते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वीरावतंसं सर्वसुभटानां मध्ये शेखरायमाणं निदाघे दाघबाहुल्येन जगद्युवजनविजयक्रियाविधाचलसमालस्यभाजं तादृशं सूनानि कुसुमान्येव शस्त्राणि प्रहरणानि यस्य स कुसुमायुधः कामस्तं विश्वेषां त्रिभुवनजन्मभाजां सुरासुरनराणां जिगीषया खवशीचिकीर्षया प्रोत्साहयन् महोद्यमयुक्तं कुर्वन्निव प्रगल्भभावोपगतं विदधान इव ॥

पौष्पेण चापेन जये त्रिलोक्याः स्मरेण दुःखीभवतार्थितेन ।

अमोघमम्भोजभुवेव चक्रे तदर्थमाखण्डलचापचक्रम् ॥ १०२ ॥

अम्भोजभुवा जगत्सृष्टिकर्त्रा तदर्थं कंदर्पकृते । उत्प्रेक्ष्यते—अमोघं देवदानवमानवलोकेषु सर्वत्राप्यस्खलितमाखण्डलचापचक्रं शक्रकोदण्डमण्डलं चक्रे कृतमिव । किंलक्षणेन अम्भोजभुवा । पौष्पेण कुसुमसंबन्धिना प्रसूनमयेन चापेन शरासनेन कृत्वा त्रिलोक्या जये त्रिभुवनवशीकरणे दुःखीभवता कष्टं प्राप्नुवता स्मरेण मनोभवेन अर्थितेन याचितेन ॥

विश्लेषियोषाविरहोष्मशुष्यत्तनूनिहन्तुं दयितेन रत्याः ।

कार्शानवं शस्त्रमिव प्रयुक्तं व्यलीलसद्योमि तडिद्वितानम् ॥ १०३ ॥

व्योमि गगनाङ्गणे तडितां विद्युतां वितानम् । वृन्दमित्यर्थः । व्यलीलसद्दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—रत्या दयितेन भर्त्रा स्मरेण प्रयुक्तं प्रेरितम् । मुक्तमित्यर्थः । कार्शानवं कृशानुसंबन्धिं वह्निमयं शस्त्रमिव । किं कर्तुम् । विश्लेषो निजवल्लभैर्वियोगो विद्यते यासां ता विश्लेषिण्यो विरहिण्यस्तादृशो योषाः कामिन्यः तासां विरहोष्मणा प्रबलप्रियविद्योगतापेन शुष्यन्तीः शोषं प्राप्नुवन्तीः । कृशीभवन्तीरित्यर्थः । तनूः शरीराणि निहन्तुं ज्वालयितुमिव ॥

आक्रम्य दैत्यारिपदं स्थितस्याम्भोदस्य माहात्म्यमुदीर्यते किम् ।

कृतान्ततातो दशदिक्प्रसारिकरोऽपि येनाधरितो महस्वी ॥ १०४ ॥

दैत्यानां दानवानामरेर्निषूदनस्यापि पदं स्थानं राज्यं वाचरणं च विष्णुपदमाक्रम्य स्थितस्याभिव्याप्य वसतः अम्भोदस्य मेघस्य माहात्म्यं महिमा किं उदीर्यते वर्ण्यते कथ्यते । येन कारणेन अम्भोदेन महस्वी प्रतापवान् तथा दशसु दिक्षु व्याप्नुवन्तीत्येवंशीलाः करा राजदेयांशाः किरणाश्च यस्य तादृक्षः । तथा कृतान्तस्य सकलसुरासुरनरलोकसंहर्तुरपि तातः पिता अधरितस्तिरस्कृतः । आच्छादित इत्यर्थः । 'करः प्रत्यायशुम्भयोः । रश्मौ वर्षोपले पाणौ' इत्यनेकार्थः । 'प्रत्यायो राजग्राह्यो भागः इत्यर्थः' इति तदवचूर्णः । मेघे समुन्नते रविः कस्य स्वास्यं न दर्शयतीत्यधरीकरणमेव ॥

प्राप्ते प्रियेऽब्देऽजनि भूजनीयं वप्पीहरावैः कृतचाटुकेव ।

प्रोद्भिन्नकन्दैः पुलकाङ्कितेवारब्धाङ्गहारेव कलापिलास्यैः ॥ १०५ ॥

प्रिये प्राणनाथे अब्दे मेघे प्राप्ते समागते सति भूजनी वसुधावधूः वप्पीहानां सारङ्गाणां रावैः प्रिय प्रिय इति शब्दैः कृत्वा कृतं विनिर्मितं चाटु प्रियप्रायं वाक्यं यया सा कृतचाटुका तादृशीवाजनि जाता । प्रोद्भिन्नैः प्रकटीभूतैः कन्दैः कन्दलैः पुलकेन रोमाञ्चन अङ्किता कलितेवाजनि । तथा कलापिनां मयूराणां लास्यैर्नृत्यैः आरब्धः कृतः अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः ताण्डवविशेषो यया तादृशीवासीत् ॥

प्रेक्ष्य क्षणं कामरसोन्मदिष्णूर्धनानुषङ्गेण तरङ्गिताङ्गी ।

पुत्रीः स्ववन्तीः पितरो गिरीन्द्राः प्रस्थापयन्तीव पतिं पयोधिम् ॥ १०६ ॥

पितरो जनिकर्तारः ततो गिरीन्द्राः महाशैला हिमाचलाद्याः पुत्रीरङ्गजाताः पर्वतोत्पन्नत्वात् स्ववन्तीर्नदीः । उत्प्रेक्ष्यते—पतिं भर्तारं पयोधिं समुद्रं प्रति समुद्रस्य नदीपतित्वात्प्रस्थापयन्ति प्रेषयन्तीव । किं कृत्वा । क्षणं क्षणमात्रं काममतिशयेन रसैः पयःपुरैः उन्मदिष्णूरुन्मत्ताः रङ्गत्तरङ्गैस्तरीतुमशक्याः तटस्थितशाखिनिषूदिनीर्वा । तथा घनानां वारिवाहानामनुषङ्गेण संगमेन तरङ्गाः कल्लोलाः संजाता अस्मिस्तादृशमङ्गं शरीरं यासां तादृशीः प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । अन्येऽपि पितरः मुहूर्तं कंदर्परसेन उन्मत्ता घनैरुपपतिभिः समं संगमेन तरङ्गितमुपचितमङ्गं कायो यासां तादृशीः स्वपुत्रीः प्रेक्ष्य भर्तुः पार्श्वे प्रस्थापयन्ति ॥

स्वयं धरित्रीधरताभिषेकोत्सवे प्रयुक्तान्कजजन्मनेव ।

तदोन्नमन्नीरदमुक्तधारापयःप्रवाहानवहन्महीध्राः ॥ १०७ ॥

तदा तस्मिन्वर्षाकाले उन्नमन्तो नीरभारैर्नग्रीभवन्तो भूमण्डलमम्बरतलं वातर्मवर्दलकैरेकीकुर्वन्तो वा ये नीरदा घनास्तैर्मुक्ता या धारा वारिवृष्टिलेखास्तासां पयसां पानीयानां प्रवाहान् महीध्राः गिरयः शैला अवहन्धारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कजजन्मना ब्रह्मणा

स्वयमात्मनैव धरित्रीधरताया राजन्वत्त्वस्य भूमीभारोद्धृताया वा अभिषेकः पट्टाभिषेक-
करणं तस्योत्सवे प्रयुक्तान्प्रेरितानिव ॥

किमम्बुमुक्चक्रिणमैक्ष्य वातचमूपतिक्रान्तदिगन्तचक्रम् ।

तदा मुधाभूतनिजप्रयत्ना विशश्रमुर्जिष्णुनृपाः प्रयाणात् ॥ १०८ ॥

तदा तस्मिन्मेघागमसमये जिष्णुनृपा जयनशीला राजानः परराजजनपदजयोद्यता
भूपालाः प्रयाणादभिषेणनाद्विशश्रमुर्विश्रान्ताः स्थिताः । किंभूताः । मुधाभूता विफला
जाता निजा आत्मीयाः प्रयत्ना व्यवसाया येषाम् । अविरलसलिलपूरपूरितपृथिवीतलग-
मनागमनसामर्थ्याभावाद्भ्रमोद्यमाः । उत्प्रेक्ष्यते—अम्बुमुक् मेघः स एव चक्री सार्वभौ-
मस्तं किमैक्ष्य दृष्ट्वा । किंलक्षणम् । वात उत्तराहपवननाम्ना चमूपतिना सेनान्या
आक्रान्तं स्वायत्तीकृतं स्वामिजीमूतनूतनाभ्रकाज्ञावृतं कृतं दिशामन्तानामवसानानां
चक्रं मण्डलं येन ॥

अम्भोभृताभ्रमदभ्रलेखा विभूषयन्ति स्म सुपर्ववीथीम् ।

शङ्के त्रिलोकीजयजागरूकसूनध्वजोर्वीधवगन्धनागाः ॥ १०९ ॥

अम्भोभिः पानीयैर्भृतानि यान्यभ्राणि पयोवाहास्तेषां भ्रमतां प्रतिदिशं पर्यटताम-
भ्राणाम् 'आभलां' इति प्रसिद्धानां लेखाः श्रेणयः सुपर्ववीथीं सुधाशनपद्धतिं गगना-
ङ्गणं विभूषयन्ति स्म । तत्राहमेवं शङ्के वितर्कयामि । शङ्के इवार्थे वा । उत्प्रेक्ष्यते—
त्रिलोक्यास्त्रिभुवनस्य जये विजयकरणव्यवसाये जागरूकस्य जागरशीलस्य सोत्साहं
विहिताभियोगस्य सूनध्वजो मदनः स एव उर्वीधवो भूपतिस्तस्य गन्धनागाः सप्तधा-
प्रसवत्प्रबलमदजलसुगन्धितबन्धुरसिन्धुरा इव । राज्ञां हि हस्तिभिर्भाव्यम् । चण्ड-
प्रद्योतस्येव ॥

नभःस्थलीसंवलिताम्बुवाहान्समीक्ष्य रासा ददिरे प्रमोदात् ।

कुटुम्बिनीभिः किमु शूरराजाभिभूतिजायास्तदुपज्ञकीर्तेः ॥ ११० ॥

नभःस्थल्यां गगनमण्डले संवलितान्बहलीभूतानम्बुवाहान् वारिधरान् समीक्ष्य
सोत्कण्ठं विलोचनगोचरीकृत्य कुटुम्बिनीभिः कुटुम्बिकघनस्तनीभिः प्रमोदात् हर्षाति-
रेकात् रासा रासका ददिरे दत्ताः । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—'कलापोचमुखमण्डलाः'
इति । 'काय जलधरपानीयाय लापाः शब्दाः कुटुम्बिनीजनजेगीयमानमेघरासकास्तैः
कृत्वा उच्चं मेघागमनावलोकनायोर्ध्वीकृतं मुखमाननं यैस्तादृशा मण्डला देशा यासु'
इति तद्विप्पनके । इति मेघागमे कुटुम्बिनीनां रासकप्रदानम् । उत्प्रेक्ष्यते—शूराणां
शतसहस्रलक्षकोटियोधिनां सुभटानां भास्कराणां च तथा राज्ञां सामन्तनृपाणां मूर्धा-
भिषिक्तानां सम्राजां चन्द्राणां चाभिभूतैः पराभवनाज्जायते इति शूरराजाभिभूतिजा
तस्यास्तदुपज्ञः स मेघ एव उपज्ञा आद्यं ज्ञानं यस्याः सा चासौ कीर्तिश्च तस्या इव
सुभटराजजयोपार्जिताया मेघस्य कीर्तिरिव रासका इत्यर्थः ॥

तदा वराणां द्विजवत्कनीनां गर्जात्तवेदध्वनिरम्बुवाहः ।

शाखाकरैर्ग्राहयति स्म भूमिरुहां प्रवालाग्रकरालतानाम् ॥ १११ ॥

तदा तत्र प्रावृट्प्रथमसमये अवनिवनानां नवपल्लवीभवनानन्तरमम्बुवाहो मेघो भूमिरुहां पादपानां शाखा एव कराः पाणयत्तैः कृत्वा लतानां प्रवालः पल्लवा एवाग्रकरा हस्ताग्राणि तान् ग्राहयति स्म । किं वत् । द्विजवत् यथा ब्राह्मणो वराणां परिणेतृणां शाखावलम्बमानैः करैः । अत्र स्कन्धादारभ्याङ्गुली यावत्पाणिरेव विवक्षितः । कनीनां कुमारिकाणां प्रवालवदयान्प्रकृष्टान् शोणिमसौकुमार्ययुक्तान् हस्तान् ग्राहयति । तत्र तावद्वेदपाठोच्चारो भवति । तमेवाह—किंलक्षणोऽम्बुधरः । गर्जाः स्तनिताच्येव आत्ता गृहीता वेदध्वनयो विवाहोचितोच्चरिता वेदऋचां शब्दा येन ॥

अभ्रैरनीकैरिव दिग्विभागानाक्रामतश्छिन्नतर्पुर्दस्योः ।

केकारवैः किं क्रियतेऽम्बुदस्य जयध्वनिश्चन्द्रकिवन्दिवृन्दैः ॥ ११२ ॥

अम्बुदस्य जलधरस्य चन्द्रकिनो मयूराः । ‘अच्छाच्छैः शुक्पिच्छगुच्छहरितैश्छिन्ना वनान्तास्तृणैः सेव्याः संप्रति सान्द्रचन्द्रकिकुलैरुताण्डवैर्मण्डिताः’ इति चम्पूकथायाम् । त एव बन्दिवृन्दानि मङ्गलपाठकपटलानि तैः केकारवैः केका इति शब्दैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—जय जय इति ध्वनिः क्रियते किं विधीयत इव । ‘सरूपाणामेकशेषः’ इति एकपञ्चजयशब्दोऽवशिष्टः । अम्बुदस्य किं कुर्वतः । अनीकैः कटकैरिवाभ्रैर्वहलकैः कृत्वा दिग्विभागान् समस्तानां हरितां प्रदेशानाक्रामतो व्याघ्रवतः खायत्तान्वा स्रजतः । पुनः किंभूतस्य । छिन्नो मूलादुन्मूलितस्तर्पुर्निंदाघसमय एव दस्युः शत्रुर्येन ॥

विषप्रदोऽस्थालु जडाशयश्चेत्यपाचिकीर्षुः स्वमिवापवादम् ।

तदाम्बुदस्तं ककुदं मुनीनामुपासनागोचरतां निनाय ॥ ११३ ॥

तदा प्रावृट्काले अम्बुदो घनाघनः तं मुनीनां श्रमणानां मध्ये ककुदं श्रेष्ठं मुख्यं सूरिम् । ‘ककुदं तु प्रधानेऽसे वृषाङ्गे राजलक्ष्मणि’ इत्यनेकार्थतिलके । उपासनायाः सेवायाः गोचरतां निनाय प्रापयति स्म । सेवते स्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण स्वमात्मीयमपवादमयशो जनमध्ये निन्दामपाचिकीर्षुर्निराकर्तुमिच्छुरिव । इति किम् । यदयं मेघः विषं कालकूटं प्रददातीति । तत्त्वतस्तु जलदः । ‘विषं क्ष्वेडे जले च’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘विषः क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्णं गरलौघः’ इति हैम्याम् । तथा व्यासपञ्चिकमध्ये—‘देवराजो मया दृष्टो वारिवारणमस्तके । भक्षयन्नर्कपत्राणि विषं पीत्वा क्षयं गतः ॥’ तत्त्वार्थो यथा—हे देवर, मया वारिणां वारणं तटाकपालितस्य मस्तके उपरि अजो मेघो वात्कटः दृष्टः । किं कुर्वन् । अर्कस्य अर्कतः ‘आकडो’ इति प्रसिद्धस्य पत्राणि पर्णान् भक्षयन् खादन् । ततो विषं तटाकजलं पीत्वा क्षयं गृहं गतः इति ।

ततो मेघोऽपि विषं गरलं जलं च प्रकर्षेणातिशयेन ददातीति विषप्रदः । तथा अस्थान्नाप्येकत्र स्थातुं शक्तः प्रतिनगरप्रामारामसीमभीमकान्ताराकूपारान् पथेऽनशीलः । अत एवोक्तम्—‘क्षारो वारिनिधिः कलङ्ककलितश्चन्द्रो रविस्तापकृतपर्जन्यश्चपलाशयः’ । तथा जडाशयो ङलयोरैक्यात् जडो मन्दो मूर्खः प्रज्ञाहीनो निर्बुद्धिराशयोऽभिप्रायश्चेतो यस्य । पक्षे जलमय आशयो मध्यं यस्य जलानामाश्रयो वा । ‘आशय आश्रयेऽभिप्रायपनसयोरपि’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः’ इति नैषधे । ‘कृपापारावारे नलहृदये’ इति तद्वृत्तिः । अतो मनोऽपि एतावता पशुवदज्ञानः पश्चात्कर्मधारयः ॥

निजौजसैवोन्मदयन्मनांसि यो योगिनां यौवनवत्पयोदः ।

अहो व्यनंसीस्तनितैः स्तवौघैरिव स्तुवन्सोऽप्यनगारशक्रम् ॥ ११४ ॥

यः पयोदो धाराधरः निजस्यात्मनः ओजसा प्रतापेनैव बलेनैव । माहात्म्येनैवेत्यर्थः । योगिनां वशिनां शशिनामपि मनांसि चित्तान्यमदयन्मदयुक्तानि कृतवान् । किंवत् । यौवनवत् । तथा तारुण्यं संयमिनामपि नन्दिषेणार्द्रकुमाररथनेमिप्रमुखाणामपि मानसानि समदानि सकन्दर्पाणि करोति स्म । यदुक्तम्—‘यौवने विकिरत्येव मनः संयमिनामपि । राजमार्गे प्ररोहन्ते वर्षाकाले किलाङ्कुराः ॥’ इति । अहो इति आश्चर्ये । सोऽपि कन्दर्पदण्डोत्पादयितापि पयोदः तमनगारशक्रं मुनीन्द्रं व्यनंसीत् उन्नमनागमनमिषाद्विशेषेण नमति स्म । उन्नमय्यागतत्वान्नमस्कृतिलक्ष्यते । किं कुर्वन् । स्तवौघैः स्तोत्रप्रकरैरिव । उल्लेक्ष्यते—स्तनितैर्गजितैः कृत्वा स्तुवन्निव स्तुतिं कुर्वन्निव । अन्योऽपि स्तुवन्नेव प्रणमति ॥ इति मेघागमनम् ॥

भोगीव योगी स तदा शमश्रीसङ्गी प्रविश्य प्रणिधानसौधम् ।

दिनं तदर्हद्गुणकीर्तनेन व्यतीत्य सांध्यं विधिमन्वतिष्ठत् ॥ ११५ ॥

तदा तस्मिन् बहलीभूतनूतनजीमूतसमये स हीरसूरियोगी मनोवचनकाययोगवान्, अथ बाष्पाङ्गयोगयुक्तः । अर्हतामतीतानागतवर्तमानतीर्थकृतां गुणानां कीर्तनेन स्ववनेन कृत्वा तज्जगन्मल्लमन्दिरस्वमागननीरदागमनसंबन्धि दिनं वासरं व्यतीत्यातिक्रम्य सांध्यं दिवसावसानसत्कं विधिं प्रतिक्रमणादिकृत्यमन्वतिष्ठत्करोति स्म । किं कृत्वा । दिनं व्यतीत्य । प्रणिधानं ध्यानमेव सौधं विलाससङ्घं प्रविश्यान्तर्निर्लीय । किलक्षणः । शमश्रिया सङ्गो मिथः परिरम्भोऽस्त्यस्य स उपशमकमलानुषङ्गी । क इव । भोगीव । यथा भोगमाक पुमान् कामिनीगाढालिङ्गनरङ्गवान् प्रावृषि क्रीडामन्दरे प्रविश्य सघनं दिनं व्यत्येति ॥

प्राग्भूमिभृत्स्वाभ्युदयाभिलाषी द्वीपे परस्मिन्निव रश्मिमाली ।

निजाननन्यकृतशीतकान्तिस्तस्मिन्नशेषां स उषामनैषीत् ॥ ११६ ॥

स सूरिस्तस्मिन् जगमल्लकच्छवाहकसामन्तमन्दिरे अशेषां समस्तामपि उषां रज-
नीमनैषीदतिक्रामति स्म । क इव । रश्मिमालीव । यथा भानुमान् परस्मिन्नन्यत्र द्वीपे
अखिलां निशामतिवाहयति । किलक्षणः सूरिः भास्वांश्च । प्राग्भूमिभृतः प्राचीनभूपा-
लात् । यद्यपि चतसृणामपि दिशां पतिस्तथापि गुरुणां प्रायो गुर्जरस्थितिमतया
गुर्जरापेक्षया च पूर्वदिशि स्थितत्वेन प्राचीपतिरेवोक्तः । तस्मादकञ्चरसाहेः सकाशात्
स्वस्यात्मनः आत्मीयजिनशासनस्य बाभ्युदयमुन्नतिमभिलषति काङ्क्षति इत्येवंशीलः ।
सूर्यपक्षे पूर्वपर्वतादुद्गमनमिच्छतीत्येवंशीलः । 'उदयः पर्वतोन्नत्योः' इत्यनेकार्थः ।
पुनः किंभूतः । निजस्य स्वस्य आननेन वदनेन आगमनावसरेण अरुणोदयेन वा न्यक्-
तस्तिरस्कृतः । विच्छायाीकृत इत्यर्थः । शीतकान्तिश्चन्द्रो येन ॥

प्राभातिकं कृत्यमथ प्रणीय तृणीकृतांहा विशदाशयश्च ।

फतेपुरं प्रत्यचलद्गतीन्द्र इवाम्बुधिं सिद्धधुनीप्रवाहः ॥ ११७ ॥

अथ रात्रिविरामानन्तरं सूरिः फतेपुरं प्रत्यचलत् प्रतिष्ठते स्म । किं कृत्वा । प्राभा-
तिकं प्रभातकालसंबन्धि कृत्यमावश्यकदिकं करणीयं प्रणीय निर्माय । क इव । सिद्ध-
धुनीप्रवाह इव । यथा गङ्गायाः पयःपूरः अम्बुधिं समुद्रं प्रति प्रचलति । किंभूतः सूरिः
प्रवाहश्च । तृणीकृतं तिरस्कृतं निवारितमहःपापं येन । पुनः किंभूतः । विशदो निर्मलो
निष्पाप उज्ज्वलश्चाशयो मनो मध्यं च यस्य ॥

स श्रीकरिं कैरविणीशकीर्तिः प्रावीविशद्विश्वजनीनमूर्तिः ।

महःसमूहोऽम्बुजबान्धवस्य विभावरीवल्लभमण्डलीवत् ॥ ११८ ॥

स सूरिः श्रीकरिं पातिसाहिपुरीं प्रावीविशत् प्रविशति स्म । किंवत् । विभावरीवल्ल-
भमण्डलीवत् । यथा अम्बुजबान्धवस्य भानोर्महःसमूहः किरणकलापः चन्द्रबिम्बं
प्रविशति । अमावास्यायां हि चन्द्रः सूर्यसमीपे गत्वा किरणगणं मार्गयित्वा तेनाभ्युदयं
लभते । यथा रघुवंशे—'पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः' इति ।
किंभूतः सूरिश्चन्द्रश्च । कैरविणीशः शारदचन्द्रः तद्वद्विशदा कीर्तिर्यस्य । कैरविणीनां
कुमुद्वतीनामीशत्वेन पतितया कीर्तिः ख्यातिर्यस्य । अथ वा । कैरविणी श्वेतकमलिनी
तथा ईश ईश्वरस्तद्गुणला कीर्तिर्विस्तारः करप्रसारः सान्द्रचन्द्रिका यस्य । अथ वा
जैनमतानुसारेण कुमुदिनीशकरवद्विशदा कीर्तिः प्रासादः स्फाटिकचैत्यं वा यस्मिंश्चन्द्र-
मण्डले । 'कीर्तिर्यस्य विस्तारे प्रासादिकर्दमेऽपि च' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतः ।
विश्वजनेभ्यो हिता विश्वजनीनी । 'तत्र साधौ हिते च यः' इति । भुवनजनवत्सला
प्रबोधकारित्वान्मूर्तिर्यस्य । चन्द्रस्तु औषधीपतित्वादमृतमयत्वात् शैत्यकारित्वाचन्द्र-
कापतित्वाच्चाह्लादकारिणी हितकारिका च मूर्तिर्विम्बं यस्य ॥

मुमुक्षुशक्रः सदसत्समीक्षाहल्लेखिताशेषजनप्रदीपः ।

मनोरथः सिद्धिभिवावनीपप्रवेशनक्षोणिमलंचकार ॥ ११९ ॥

मुमुक्षुशक्रः श्रमणेन्द्रः अवनीं भूमीं पाति पालयति रक्षतीत्यवनीपः अकब्बरसा-
हिस्तस्य प्रवेशनं सिंहद्वारं तस्य क्षोणिं भुवं ब्रह्मप्रदेशमलंकारं भूषयति स्म । क
इव । मनोरथ इव । यथा मनोरथः कार्यकरणाभिलाषः सिद्धिं कार्यनिष्पत्तिमलंकुरुते ।
किंभूतः सूरिः । सन् सम्यक् मार्गः असन् विरुद्धः पन्थाः तयोः सदसतोः शुद्धाशुद्धयोः
मार्गयोः समीक्षा दर्शनं सम्यग्ज्ञानं तत्र हल्लेख औत्सुक्यं संजातमेवामिति हल्लेखिता ।
जातार्थे इतच्प्रत्ययः । उत्कण्ठिता ये अशेषाः समस्ता जना लोकास्तेषामज्ञानं तमो-
ऽन्धकारं तत्र प्रदीप इव प्रदीपो मन्दिरमणिः सर्वेषां पदार्थानां प्रकाशकारित्वात्
संसारसन्मार्गदर्शकः स्वर्गापवर्गोत्तममार्गप्रकाशकश्च । ततो दीपोपमः ॥

समस्ति शेखोऽवलफैजनामा तुरुष्कशास्त्राम्बुधिपारदृश्वा ।

हमाउंसूनोः क्षितिशीतभानोर्दृष्टिस्तृतीयेव परिस्फुरन्ती ॥ १२० ॥

अवलफैज इति नामभिधानं यस्य तादृशो यवनानां गुस्त्वेन माननीयः शेषः
समस्ति विद्यते । किंभूतः । तुरुष्काणां यवनानां शास्त्राण्यागमाः सफाराकुरानप्रमु-
खाणि तान्येवाम्बुधिर्वहुत्वात्समुद्रस्तस्य पारं दृष्टवान् इति पारदृश्वा यवनानेकशास्त्रा-
ध्येता पारगामी । उपप्रेक्ष्यते—क्षितिशीतभानोर्वसुधासुधाकिरणस्य राज्ञः हमाउंसूनो-
रकब्बरपातिसाहेः परिस्फुरन्ती सामस्त्ये देदीप्यमाना तृतीया वदनवर्तिनीभ्यां द्वाभ्यां
दृग्भ्यामधिका दृष्टिर्नेत्रमिव । यतोऽसौ साहेः सर्वशास्त्ररहस्यकथयितान्याप्राण्यायो-
पादृष्टा वातस्तृतीया दृक् ॥

सहस्ररश्मेरिव सोमजन्मा समेत्य शेखस्य सवेशदेशे ।

तन्नेयिवासं व्रतिनामधीशं तं स्थानसिंहो वदति स्म तस्मै ॥ १२१ ॥

स्थानसिंहाभिधानः श्राद्धः साहेः सामन्तसमानस्तत्र राजद्वारे इयिवासं समागतं तं
हीरविजयनामानं व्रतिनां साधूनामधीशं सूरिं तस्मै शेषाय वदति स्म निवेदयामास ।
किं कृत्वा । शेखस्यावलफैजस्य सवेशदेशे समीपभूभागे स्थाने समेत्यागत्य । क इव ।
सोमजन्मेव । यथा सोमाच्चन्द्राजन्मोद्भवो यस्य स चन्द्राङ्गजो बुधः सहस्ररश्मेः
सूर्यस्य संनिधौ मैत्र्यालोके च भानोऽश्लवधरो बुध इत्युच्यते । तच्चाधारवशाद्वासमेति ॥

स श्रेणिकायामयवन्मृगारिध्वजस्य शेखोऽपि सभां समेत्य ।

अकब्बरोर्वीरमणस्य सिंहद्वारे विभोरागमनं जगाद ॥ १२२ ॥

स स्थानसिंहः निवेदितावधारितगुर्वागमनः शेखोऽपि अकब्बरनामा य उर्वीरमणो
भूमिभर्ता तस्य सिंहद्वारे विभोः सूरैरागमनं जगाद माषते स्म । किं कृत्वा । सभां
साहेरास्थानं समेत्य । किंवत् । अभयवत् । यथा अभयकुमारो मृगारिध्वजस्य महा-
वीरदेवस्य राजद्वारे राजगृहनगरबहिर्द्वारस्थगुणशिलाचैत्यस्थाने श्रेणिकनृपाय निग-
दति स्म ॥

अर्घ्यं मुदासाम्बुभिरुलसद्भिस्तनूरुहैर्गौरवमादधानः ।

पैङ्गवयोः प्राघुणकीं प्रणीय वाचं बभाषे पुनरेष शेखम् ॥ १२३ ॥

एष पातिसाहिः शेखं अबलकैजनामानं बभाषे वक्ति स्म । किं कृत्वा । वाचं सूरिसमागमनसूचकशेखवाणीं पैङ्गवयोः कर्णयोः प्राघुणकीमभ्यागतां प्रणीय कृत्वा । अथातिथेरातिथेयीकृता विलोक्यते । तामेवाह—मुदा सूरिसमागमश्रवणोद्भूतप्रमोदेन अस्त्राणि वाष्पाणि तेषां अम्बुभिः जलैरर्घ्यं पादधावनजलमादधानः कुर्वाणः । ददान् इत्यर्थः । पुनरुलसद्भिस्तनूरुहै रोमभिः । 'लोमरोमतनूरुहम्' इति हैम्याम् । कृत्वा गौरवमभ्युत्थानादिक्रियामादधानः सृजन् ॥

ऋतौ वसन्तेऽवनिजन्मनेव समीयुषि श्रीश्रमणावतंसे ।

मनोरथेनाद्य मम प्रवीणचूडामणे पल्लवयांबभूवे ॥ १२४ ॥

हे प्रवीणानां निपुणानां विदग्धानां मध्ये चूडामणे कोटीरहीरायमाण, श्रीमति श्रमणानां मध्येऽवतंसे शेखरे श्रीहीरविजयसूरीन्द्रे समीयुषि पादावधारिते सति अद्य सांप्रतीने वर्तमाने वासरे मम मनोरथेनाभिलाषेण पल्लवयांबभूवे सफलीभूयते स्म । केनेव । अवनिजन्मनेव । यथा वसन्ते ऋतौ मधुसमये संप्राप्ते सति अवनिजन्मना । जातिवाचित्वादेकवचनम् । समस्ततरुसमुदायेन पल्लवकलितेन उपलक्षणात् प्रवालैः कुसुमैः फलैश्च संयुक्तैर्जायते ॥

द्रक्ष्यामि दिश्याद्य मुनीन्द्रचन्द्रमिवानुबिम्बं परमेश्वरस्य ।

शेखाधुनाहं नियतेर्वशेन किं चास्मि कार्यान्तरचुम्बिचेताः ॥ १२५ ॥

हे शेख, दिश्या भाग्येन कृत्वा अद्य विद्यमाने अस्मिन् वासरे एव मुनीन्द्रेषु सर्वेषु सूरिष्वाह्लादकत्वेन चन्द्रमिव चन्द्रम् । अथ वा स्वस्वशाखासिङ्घाटकानां स्वामिनो रत्नाधिका मुनीन्द्रास्तेषां मध्ये अधिकं दीप्यमानत्वात् ज्योतिषामिव स्वामित्वाद्वा तेषां चन्द्र इवेति वा तं द्रक्ष्यामि दृग्गोचरीकरिष्यामि । उत्प्रेक्ष्यते—परमेश्वरस्य परमात्मनो बिम्बं प्रतिबिम्बं मूर्तिरिव । जैनमते तु बिम्बशब्देन भगवत्प्रतिमा प्रोच्यते । अथ वा साक्षात्परमेशितुर्बिम्बमिव मूर्तिरिव । तथा 'संसारसिन्धुवतुर्बिम्बमात्रं जागर्ति जाने तव वैरसेनिः । बिम्बानुबिम्बौ तु विहाय धातुर्न जातु दृष्टातिस्वरूपसृष्टिः ॥' इति नैषधे । परं किं चायं विशेषोऽस्ति । हे शेष, अधुना इदानींतनसमये अहं नियतेर्दैवस्य वशे-नायत्तत्वेन कार्यान्तरं किञ्चित्कृत्यविशेषं चुम्बल्यालिङ्गतीत्येवंशीलं चेतो मानसं यस्य कार्यान्तरेण व्यग्रमना अस्मि । एतत्कथनं त्वप्रतिबुद्धत्वेन अज्ञाततत्त्वभावेन म्लेच्छत्वेन वा । यथास्तिकः स्यात्तदा तु सर्वमपि त्यक्त्वा वन्दत एवेति ॥

अमन्तुजन्तुव्ययपातकेनास्पृश्यां प्रणीतां धरणीं स्वधाम्नः ।

शेख क्षणं तेन पवित्रय त्वं गुरोः पदाम्भोजरजोमृतेन ॥ १२६ ॥

हे शेख, तेन कारणेन येनाहं कार्यान्तरेण गृहान्तर्जिगमिषामि ततोऽधुना तदाकारणानवसरः तेन हेतुना त्वं क्षणं क्षणमात्रं मुहूर्तं यावद्गुरोर्हीरसूरेः पदाम्भोजयोश्चरणारविन्दयोर्यद्रजः परागस्तदेवामृतं सुधारसः । 'त्वत्पादपङ्कजरजोमृतदिग्धदेहाः' इति भक्तामरस्तववचनात् । अथ वा अमृतं पानीयं तेन कृत्वा स्वस्यात्मनो धान्नो वासगृहस्य धरणीं भूमीं पवित्रय पावनीकुरु । पावित्र्यं प्रक्षालनात् । प्रक्षालनं तु पानीयेनैव स्यात् इति । किंलक्षणां धरणीम् । अमन्तूनां निरपराधानां जन्तूनां प्राणिनां व्यथो विनाशो घातस्तस्य पातकेन पापेन कृत्वा अस्पृश्यां स्पृष्टुमप्ययोग्यां प्रणीतां कृताम् । अथ च योऽस्पृश्यः कथंचिजातः स लोकव्यवहारद्वारिप्रक्षालनादेव स्पृश्यो भवेदिति रीतिः । इति गर्भोत्प्रेक्षा ॥

इदं निगद्याब्धिगभीरघोषं जोषं मुखे भूमिधवो विधाय ।

जगाम गेहं गृहिणीसनाथं विद्युद्विलासीव गभस्तिरभ्रम् ॥ १२७ ॥

भूमिधवः पृथ्वीपतिः अकब्बरपातिसाहिः गृहिणीभिः स्वकलत्रैः सनाथं संयुक्तं गृहं स्वसौधं जगाम गतवान् । क इव । गभस्तिरिव । यथा भानुमान् विद्युद्भिः सौदामिनीभिर्विलसति शोभते इत्येवंशीलमभ्रं वर्दलकं 'वादल्लु' इति प्रसिद्धं मेघं वा गच्छति । किं कृत्वा । इदं पूर्वप्रोक्तं शेखपुरो निगद्यालप्य । कथम् । अब्धिवत् समुद्र इव गभीरो मन्द्रो घोषो ध्वनिर्ध्वनैर्विधं यथा स्यात्तथा । अकब्बरसाहेः शब्दस्तु नवहस्तकव्याप्रवङ्गाारवं कुर्वन्नासीत् ततो घोष इत्युक्तिः । पुनर्मुखे निजवदने जोषं मौनं विधाय कृत्वा । 'तूष्णीं तूष्णीकां जोषं च' इति हैम्याम् । तथा 'जोषमासनविशिष्य बभाषे' इति नैषधे ॥ इति सूरिसमागमस्य साहेर्निवेदनम् ॥

धनादधीतामिव शेखशक्रो वाणीं समाकर्ण्य हमाउंसूनोः ।

निरीय तस्याः सदसो बभाज भुवं व्रतीन्द्रेण विभूष्यमाणाम् ॥ १२८ ॥

शेखेषु सकलतुरुष्कगुरुषु शक्रः इन्द्रः साहिः । मान्यत्वादिन्द्रत्वम् । तस्याः सदसोऽकब्बरसभाया निरीय बहिर्निर्गम्य व्रतीन्द्रेण सूरिणा विभूष्यमाणामलंक्रियमाणां भुवं भूमीभागं बभाज । सूरिसमीपे समीयिवानित्यर्थः । किं कृत्वा । हमाउंसूनोर्हमाउंणामापातिसाहित्यस्य सूनोः पुत्रस्याकब्बरसाहेर्वाणीं समाकर्ण्य सम्यक् सादरं श्रुत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—गभीरधीरत्वात् धनात् नभस्य सजलजलधरात्सकाशात् अधीतां पठितामिव ॥

भक्त्या नताङ्गो बहुमन्यमानः स्वमन्दिरं सूरिपुरंदरं सः ।

निनीषति स्माखिलशेखपूषा नाशंसते निर्जरशाखिनं कः ॥ १२९ ॥

अखिलेषु शेखेषु म्लेच्छजातिमान्येषु तज्जातीयेषु वा पूषा महत्त्वाद्दीप्यमानत्वाद्भास्करः अवलोक्यशेखः सूरिपुरंदरं हीरविजयसूरीन्द्रं स्वमन्दिरं निजनिवाससदनं निनीषति स्म नेतुमिच्छति स्म । किंभूतः । भक्त्या दर्शनादुद्भूतपरमप्रीत्या कृत्वा

नताङ्गः प्रणमनेन नम्रीकृततनुः । पुनः किं कुर्वाणः । बहुमन्यमानः बहुबहुमानं ददानः । युक्तोऽयमर्थः । निर्जरशाखिनं कल्पपादपं को नाशंसते समीहते । अपि तु सर्वोऽपि इच्छेत् । ‘शंस इच्छायाम्’ । उभयपदी । ‘आशंसते धनायति समीहते तद्वदाशास्ते’ इति क्रियाकलापे ॥

अथो पृथिव्या उशना इवासौ निःशेषशास्त्रोपनिषद्यधीती ।

अस्पृष्टशिष्टेतरवृत्ति तस्मै न्यजीगदत्तनिखिलं निगाद्यम् ॥ १३० ॥

अथो सूरिसमीपागमनानन्तरं शेखस्तसाहिकथितं निखिलं समग्रमपि निगाद्यं वाच्यं न्यजीगदत्तकथयति स्म । कथम् । अस्पृष्टा अनाश्रिता अनादृता वा शिष्टात्साधारितरा अन्या दौर्जनी वृत्तिर्व्यापारो यत्रैवं यथा स्यात्तथा । शेखः किंभूतः । निःशेषाणां सर्वेषां शास्त्राणां कुरानादियवनागमानामुपनिषदि रहस्ये अधीतमध्ययनमस्यास्तीति । उपप्रेक्ष्यते— पृथिव्या भूमेरुशनाः शुक्र इव । तस्य असुराणां गुरुत्वादियमुत्प्रेक्षा । इदानीं च लोकभाषया यवना असूरा उच्यन्ते । यदुक्तं दोषके—‘सुंदरसरअसुरांहदलजलपीधु-वयणेहि । अमरनरिंदकढाविउंतिहांनारीनयणेहि’ ॥

तदुक्तियुक्तौ सनिदर्शनायां शेखं निरस्तप्रतिबन्धभावम् ।

श्रुतौ प्रबन्धारमिव प्रवीणधुरीणमेनं बुबुधे बुधेन्द्रः ॥ १३१ ॥

बुधानां विपश्चितां सर्वशास्त्राधीतिनां मध्ये इन्द्रः सूरिः सनिदर्शनायां दृष्टान्तकलितायाम् । ‘स्मरात्परासोरनिमेषदर्शनाद्विभेसि तद्भिन्नमुदाहरेति सा । जनेन यूनः खवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥’ इति नैषधे । तस्य साहेरुकीनां युक्तौ योजनायां चातुर्यौदाररचनायामेनं शेखं प्रबन्धारं प्रबन्धो विस्तारः तस्य कर्तारं बुबुधे विवेद जानीते स्म । एनं किंभूतम् । निरस्तो निवारितो मुक्तः प्रतिबन्धभावः प्रतिबन्धकतादूषकत्वम् । ‘विहंगमद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धतास्तु प्रतिबन्धता न ते’ इत्यपि नैषधे । कसिव । प्रवीणधुरीणमिव । यथा विद्वद्वृन्दारकं सनिदर्शनायां श्रुतौ शास्त्रे निरस्तम् इदं च शास्त्रविरुद्धम् । इदं तु दूषणमित्यादिप्रतिबन्धककर्तृत्वं दूषणोद्भावकत्वं विरोधभाषित्वं येन तादृशं प्रबन्धारं दूषणनिराकरणनानार्थयुक्तिविशेषोल्लेखप्रकाशकारिणं कश्चिद्विपश्चिद्बुध्यते ॥

निशम्य तद्भाषितमेष धात्रीसहस्रनेत्रस्य ततो व्रतीन्द्रः ।

इयेष शेखस्य गृहे प्रयातुं सुरेन्द्रधाम्नीव सुपर्वसूरिः ॥ १३२ ॥

ततः शेखवाक्यश्रवणानन्तरमेष हीरविजयनामा व्रतीन्द्रः श्रमणशक्रः सूरिः शेखस्य गृहे मन्दिरे प्रयातुं गन्तुमियेष वाञ्छति स्म । किं कृत्वा । धात्रीसहस्रनेत्रस्य पृथिवीपुरंदरस्याकम्बरस्य तत्पूर्वोक्तं भाषितं कथितम् । वचनमित्यर्थः । निशम्याकर्ण्य । क इव कस्मिन् गन्तुम् । सुपर्वसूरिरिव । यथा सुपर्वणां देवानां सूरिराचार्यः पाठयिता वाचस्पतिः सुरेन्द्रस्य नाकिनायकस्य धाम्नि वैजयन्तनामनि प्रासादे गन्तुमिच्छति ॥

शुश्रूषमाणस्य विशिष्य शिष्यस्येवास्य शेखस्य वृषा मुनीनाम् ।

गेहं महीपालगृहोपकण्ठे पवित्रयामास पदारविन्दैः ॥ १३३ ॥

मुनीनां वृषा वासवः सूरिर्महीपालस्य पतिसाहेष्टहस्य प्रासादस्योपकण्ठे संनिधाने अस्यावलकैजानात्रः शेखस्य गेहं भवनं पदारविन्दैश्चरणकमलैः । पूज्यत्वाद्बहुवचनम् । पवित्रयामास पावनीकुरुते स्म । अस्य किं चिकीर्षमाणस्य । शुश्रूषमाणस्य सूरिसेवां विधातुमीहमानस्य । कथम् । विशिष्य विशेषप्रकारेण स्वसेव्याधिक्येन । कस्येव । शिष्य-स्येव । यथा विनेयकः गुरोः स्वस्याचार्यस्योपाध्यायस्य य रत्नाधिकस्य वा विशिष्य सर्वान्तेवासिवर्गेभ्योऽत्यभ्यधिकां परिचर्यां विधित्सति स्वयं सुशिष्यत्वात्स्वर्गापवर्गा-दिसुखसाधकत्वाच्च ॥ इति साहिसिंदिष्टवचनश्रवणपूर्वं शेषगृहगमनम् ॥

संदेहसंदोहमहाम्बुवाहमहाबलेन व्रतिवासवेन ।

बोद्धा श्रुतेः श्राद्ध इव स्वधाम्नि धर्म्यां स गोष्ठीमनुतिष्ठति स्म ॥ १३४ ॥

स शेखः स्वधाम्नि निजनिकेतने व्रतिनां महाव्रतभृतां यतीनां वासवेन मधोना सह धर्म्यां धर्मसंबन्धिनीं गोष्ठीं वार्तामनुतिष्ठति स्म कृतवान् । किंभूतेन व्रतिवासवेन । संदेहाः संशयाः शास्त्रविचारणोद्भवाः मानसिका वा तेषां संदोहाः समूहा एव महान्तो घोराज्ञानान्धकर्तारः अम्बुवाहाः घनाघनाः तेषां विध्वंसने मूलोन्मूलने नामशेखीकरणे महाबलः प्रलयपवनस्तेन । किलक्षणः शेखः । श्रुतेः शास्त्रस्य बोद्धा अवगन्ता प्रवीणः । यदुक्तम्—‘पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः समम् । शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पञ्चाङ्गः पुरुषः स्मृतः ॥’ इति सूक्ते । क इव । श्राद्ध इव । यथा कश्चिदागमावबोधक उपा-सकः केनापि सूरिणा समं धर्म्यां गोष्ठीं विधत्ते ॥

हिंसादये निर्दिशती विरोधिधर्मे मिथः स्वीयतदीयशास्त्रे ।

क्षीराम्भसोर्हसमिवाधिगत्य तयोर्विवेक्तारमसौ पुनस्तम् ॥ १३५ ॥

पुपोष भाषां स्वमुखेन शेखः पुरो विनेयायितवृत्तिरस्य ।

नतिं दधानो विनयादधीतां पाणौ प्रणीतात्सुगुणादिवास्त्रात् ॥ १३६ ॥

असौ स्वसन्नानि सूरैरानेता शेखः अस्य हीरसूरैः पुरोऽग्रे स्वमुखेन निजवदनेन कृत्वा भाषां वाणीं पुपोष पुष्पाति स्म पुष्टां चकार । उवाचेत्यर्थः । किंभूतः । विनेया-यिता विनेयोऽन्तेवासी शिष्यस्तद्वदाचरिता वृत्तिर्मनोवाक्कायव्यापारो यस्य । अत एव किं कुर्वाणः । नतिं नम्रतां विनयनेन प्रह्वीभावं दधानो विभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—पाणौ रणशरतया खहस्ते प्रणीतात्कृतात् । गृहीतादित्यर्थः । तथा सुगुणात् सुशोभना जगजनम-नोरञ्जका धैर्यौदार्यगाम्भीर्यार्जवमार्दवादिमा गुणा मनोज्ञो ढंकारववित्रासितानेकशात्रवो गुणो मौर्वी च यस्मिन् तादृशादस्त्रात्कोदण्डात् । ‘धनुश्चापोऽस्त्रमिध्वासः कोदण्डं धन्व कार्मुकम्’ इति हैम्याम् । अधीतां पठितामिव । यदुक्तम्—‘नमणी खमणी बहुगुणी

विहुपखिवंशविशुद्ध । पुण्यविना न विपासिद् करिधणुहीघरिभज्ज ॥' इति सूक्ते । तथा 'शश्वद्वाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा । धनुषेव गुणाब्ध्येन निःशेषो रञ्जितो जनः ॥' इति चम्पूकथायामपि । किं कृत्वा । मिथः परस्परं विरुध्येते इत्येवंशीलौ धर्मौ स्वभावौ ययोः । 'धर्मो यमोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसु । संसर्गेऽर्ह्यहंसादौ न्यायोपनिषदो-रपि ॥' इत्यनेकार्थः । तथा हिंसा निर्मेन्तुजन्तुव्यापादनं तथा दया जगज्जीवानां स्वप्राणवद्रक्षणं ते निर्दिशती प्ररूपयति स्त्रीयं यवनजातिसंबन्धि तथा तदीयं सूरिशासनसंबन्धि च उभे शास्त्रे अधिगल्य विदित्वा । पुनरपरार्थान्तरे । पुनर्द्वितीयवारमुच्यते । वा इति पुनःशब्दार्थः । क्षीराम्भसोर्दुग्धजलयोर्हंसं सितच्छदमिव तयोर्हिंसादयाशास्त्रयोर्विवे-क्तारम् इदं सम्यक्प्ररूपणमिदमसमीचीनं प्ररूपणं च, अयं स्वर्गापवर्गसाधकः पन्थाः अयं च दुर्गदुर्गतिमार्गः, इयं च निःस्पृहाणामुक्तिः एषा च रसनादिरसलम्प-टानामुक्तिरित्यादि विवेचनकर्तारं तं वशीन्द्रं जितेन्द्रियाणां पुरंदरं च अधिगल्य विज्ञाय मनसि निश्चिद्य ॥

अथ स्वमतानुशिष्टिपृच्छा—

पैगम्बरैः समयेषु सूरे पुरातनैर्व्याहृतमेतदास्ते ।

निक्षिप्यते न्यास इव क्षमायां यमातिथिर्यो यवनस्य वंश्यः ॥१३७॥

खुदाह्वयश्रीपरमेश्वरस्यास्थानीं स्थितस्याधिपतेरिवोर्व्याः ।

उत्थाय पृथ्व्याः परिवर्तकाले गन्ता समग्रोऽपि जनः पुरस्तात् ॥१३८॥

हे सूरे, नोऽस्माकं पुरातनैः प्राचीनैः पैगम्बरैः । केचनास्मन्मार्गप्रवर्तकाः विशिष्ट-सिद्धिबुद्धिभाजो महापुरुषा अभूवन्, तेऽस्मन्मते पैगम्बर इति संज्ञकाः प्रोच्यन्ते । तैस्तत्कृतेषु समयेषु शास्त्रेषु मध्ये एतन्मया श्रीमत्पुरो निवेद्यमानं व्याहृतं भाषित-मास्ते । एतत्किम् । यः कश्चन यमस्य कृतान्तस्य अतिथिः प्राघुणकः । मृत इत्यर्थः । यवनस्य । जातावेकवचनम् । तुरुष्कस्य वंश्यो गोत्रजन्मा तुरुष्को न्यासो निःक्षेप इव स्थापनिके च क्षमायां भूमध्ये निक्षिप्यते स्थाप्यते । स क्षोणीनिक्षिप्तः समग्रः समस्तो-ऽपि यवनवंश्यः तुरुष्कजातीयः परिवर्तकाले कल्पान्तकाले पृथ्व्या भूगर्भादुत्थाय बहि-र्निर्गल्य स्वस्वरूपेण खुदा इत्यस्मत्परंपरायां नाम यस्य तादृशस्य श्रिया समग्रलक्ष्म्या युक्तस्य परमेश्वरस्य समग्रहिन्दुवर्गैर्ध्यायमानस्य जगदीश्वरस्य पुरस्तादग्रे गन्ता गमि-ष्यति । किंभूतस्य खुदाह्वयश्रीपरमेश्वरस्य । आस्थानीं स्वास्थानसभामागल्य स्थितस्य उपविष्टस्य । कस्येव । अधिपतेरिव सभामासीनस्य उर्व्या भूमेर्भर्तुर्वृषस्याग्रे समस्तोऽपि जनः समायाति स्वस्वन्यायनिर्मापणार्थम् ॥

आदर्शिकायामिव पुण्यपापे संक्राम्य संशुद्धनिजोपलब्धौ ।

विधास्यते साधु स तत्र तस्य न्यायं निरस्य स्वपरानुरोधम् ॥ १३९ ॥

हे सूरै, खुदाख्यः परमेशिता तत्र सभामध्ये सर्वस्य पूर्वोक्तस्य यवनजनस्य साधु सम्यक्प्रकारेण यथा स्यात्तथा न्यायं सदसद्यवहारविचारं विधास्यते स्वयमेव करिष्यते । किं कृत्वा । अयं स्वः स्वकीयो मदीयः, अयं च परः परकीयः न मत्पक्षाश्रितः, इति यज्ज्ञानं स तु सांसारिकव्यवहारः तयोः स्वपरयोरनुरोधो बह्वाग्रहोऽथ वा तयोरेव बोधो ज्ञानं तं निरस्य त्यक्त्वा । यदुक्तम्—‘अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥’ इति । पुनरपि किं कृत्वा । आदर्शिका हस्तकनिर्मुक्ता पृष्ठे च ग्रहणार्हा केवला दर्पणिका । मेवातमण्डलादौ आदर्शिकेत्युच्यते । तस्यामिव सम्यक्प्रकारेण शुद्धा निर्मला निष्पापा वा स्वपरव्यवसायविरहिता निजस्यात्मन उपलब्धिर्मतिर्ज्ञानम् । ‘प्रेक्षाप्रतिपत्प्रज्ञाप्रेक्षाचिदुपलब्धयः’ इति हैम्याम् । तस्यां पुण्यपापे अर्थायवनजनस्य सुकृतदुष्कृते संक्राम्य स्वहृदये प्रतिबिम्बयित्वा । विचार्येत्यर्थः ॥

विमृश्य विश्राणयिता फलं स श्रेयोहसोस्तस्य ततोऽनुरूपम् ।

मसूरगोधूमयवादिधान्यबीजस्य सस्योत्करमुर्वरेव ॥ १४० ॥

ततस्तत्सदसज्ज्ञानानन्तरं स खुदाभिधः परमेश्वरः विमृश्य अनेनैवंविधं कर्म विनिर्मितम् अत एतस्य ईदृशमेव फलं प्रदत्तं विलोक्यते इति स्वमानसे विचार्य । यदुक्तम्—‘यद्यावद्यादृशं येन कृतं कर्म शुभाशुभम् । तत्तावत्तादृशं तस्य फलमीशः प्रयच्छति ॥’ इति चम्पूकथायाम् । एतद्वचनात् तस्य यावद्यवनजनस्य श्रेयोहसोः पुण्यपापयोरनुरूपमुचितं फलं सुखदुःखानुभवनरूपं विश्राणयिता स्वस्तनीप्रयोगः प्रदास्यति । केव । उर्वरेव । यथा सर्वसस्या यत्रोत्तमात्राणि सर्वाण्यपि धान्यानि सम्यक् निष्पद्यन्ते सोर्वरेखभिधीयते । तादृशी धरित्री । मसूरा मालवमण्डले बहुप्रसिद्धाः, गोधूमाः सर्वत्रापि ख्याताः, तथा यवा अर्बुदपरिसरे अतिशयेन प्रथिताः प्रायशस्तु सर्वत्रापि विश्रुताः, एते त्रयोऽप्यादौ येषां तेषामपरेषामपि धान्यानां बीजं योनिनिबन्धस्य योग्यं सस्योत्करनिवहं विश्राणयति प्रदत्ते । सर्वसस्यायां भूमौ यादृशं धान्यमुप्यते तादृशमेव लयते इत्यर्थः ॥

नावोऽम्बुधेः कूलमिवानुकूलवातेन भिस्ति गमिता अनेन ।

भोक्ष्यन्ति भोग्याद्भुतभोगभङ्गीतरङ्गिताः केऽपि ततः सुखानि ॥ १४१ ॥

ततः पुण्यफलदानादनेन खुदासंज्ञेन परमेश्वरेण केऽपि पुण्यभाजिनो यवना भिस्ति स्वर्गं गमिताः प्रापिताः सन्तो भोग्याः भोक्तुं योग्याः अथ वा भुज्यन्ते निरन्तरसातं यैस्तानि भोग्यानि तैः पुण्यपरिकैः कृत्वा अद्भुताभिराश्चर्यकारिणीभिर्भोगानां विविधसुखानां नानाप्रकारहृदयंगमाभ्यवहाराणामाभरणवसनागणितमणिमौक्तिकस्वर्पादिधनानामथवा इह लोके राज्यादिलक्ष्मीणां भङ्गीभिः रचनाभिः तरङ्गिताः प्रमोदमेदस्वितां गताः सन्तः । ‘भोगस्तु राज्ये वेश्याभृतौ सुखे । धनेऽहिंकायफणयोः पातालाभ्यवहारयोः ॥’

इत्यनेकार्थः । सुखानि शर्माणि भोक्ष्यन्ति । का इव । नाव इव । यथा यानपात्राणि ता-
त्स्थयात्तद्व्यपदेश इति न्यायान्नौजना अनुकूलेन स्वाभिलषितस्थानप्राप्तिकारिणा वातेन
अम्बुधेः समुद्रस्य कूलं तटं वेलाकूलं वा लम्बिताः सन्तः सुखं सांसारिकं सातं
भुञ्जन्ति ॥

श्येनैः शकुन्ता इव पीड्यमानाः कुम्भाः कुलालैरिव पच्यमानाः ।

तद्गोमृभिर्दोयकिमेनसान्ये प्राप्स्यन्ति दुःखान्यपि तेन नीताः ॥ १४२ ॥

अपि पुनस्तेन खुदाख्यपरमेष्ठिना अन्ये कुकर्मेकारिणो यवनजनाः एनसा पचेलि-
मेन पापेन कृत्वा दोयकिं नरकं नीताः संप्रापिताः सन्तो दुःखानि महाकष्टानि प्रा-
प्स्यन्ति लप्स्यन्ते । किं क्रियमाणाः । श्येनैः शशादनैः सिञ्चानकैः । 'श्येनः पत्री शशा-
दनः' इति हैम्याम् । शकुन्ता विहंगमा इव तद्गोमृभिः तस्य नरकस्य गोमृभिः गोपाय-
न्तीति गोप्तारस्त्वेनरकपालकैः । 'नरयस्सरकेपाला केहिं परिवेया अच्छि । तदुत्तरे
नरकरं केहिं—' इति विदग्धमुखमण्डने । पीड्यमानाः खादनाक्षिकर्षणमारणादिप्रकारैः
सततं संताप्यमानाः । पुनः किं क्रियमाणाः । कुलालैः कुम्भकारैः कुम्भाः कलशा इव
इष्टिकावत्पाचनकटाहोष्णतैलाद्युत्कालनामिक्षेपणतप्तत्रपुमानादिना निरन्तरं पच्यमानाः
पचिक्रियां पक्तां भ्रष्टां नीयमानास्तद्गोमृभिरेव ॥

कुरानवाक्यं किमिदं यथार्थं महात्मनां वाक्यमिवास्ति सूरैः ।

इव प्रसूने गगनस्य तस्मिन्नुताभ्युदेति व्यभिचारिभावः ॥ १४३ ॥

हे सूरैः, महात्मनामवितथवाचासुत्तमानां भाषितं वचनमिव यवनानां किं यच्छास्त्रं
कुरानमित्युच्यते इदं यन्मया श्रीमत्पुरस्तात्पूर्वं प्रतिपादितं कुरानस्य यवनशास्त्रविशेषस्य
वाक्यं वचनम् । किमिति प्रश्ने । यथार्थं सत्यमस्ति । उताथ वा गगनस्य प्रसूने आकाशकुसुम
इव तस्मिन् कुरानवाक्ये व्यभिचारिभावोऽसत्यत्वमभ्युदेति प्रकटीभवति । इदं सत्य-
मसत्यं वा तत्सम्यक् निश्चित्य वाच्यमित्यर्थः ॥ इति शेषस्य स्वशास्त्रानुसारिप्रश्नः ॥

इदं निगद्य व्यरमत्स तस्य बुभुत्सया वाङ्मयवेदितायाः ।

ततो बिडौजा यतिनामिवैकधुरां सिताया भणति स वाणीम् ॥ १४४ ॥

स प्रश्नकर्ता शेष इदं पूर्वोक्तं निगद्य कथयित्वा व्यरमद्विरराम । मौनं कृत्वा स्थित
इत्यर्थः । कया । तस्य साहिना धर्मगोष्ठीमनुष्ठानमाहूतस्य हीरसूरिवाङ्मयानां स्वपरसमय-
शास्त्राणां वेत्ति सम्यग् जानातीत्येवंशीलो वेदी तस्य भावो वेदिता तस्या ज्ञातृताया
बुभुत्सया बोद्धुमिच्छया । ततः शेषे मुखे जोषे कृते सति शेषप्रश्नानन्तरं वा यतिनां
साधूनाम् । 'ब्रह्मशर्मभरचार यतीव' इति नैषधे । मत्वर्थी यन्प्रत्ययः । बिडौजा इन्द्रः
सूरिर्वाणीं भणति स । उवाचेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—सितायाः शर्करायाः एकधुरामिव
एकां धुरं वहतीत्येकधुरां सदृशाम् । 'एकधुरीणैकधुराडभावेकधुरावहौ' इति हैम्याम् ॥

निरञ्जनः कम्बुरिव व्यपास्तनिःशेषदोषः पुनरर्थमेव ।

ज्योतिर्मयो वह्निरिवास्तमूर्तिर्मिनाङ्गवद्यः परमेशितास्ते ॥ १४५ ॥

यः परमेशिता कम्बुः शङ्ख इव निर्गतमञ्जनं रजः आदिल्लेपो यस्य निरञ्जनः कर्म-
मललेपरहितः । 'सङ्क्षो इव निरञ्जणे' इति कल्पसूत्रोक्तेः । पुनरर्थः अर्थमेव भास्वानिव
व्यपास्ता निर्मूलमुच्छेदिता निःशेषाः समस्ता दोषा अपगुणा रात्रयश्च येन । पुनरर्थो
वह्निरग्निरिव ज्योतिर्मयः परमतेजःस्वरूपः । यदुक्तम्—'तेजोमयोऽपि पूज्योऽपि
धातुना नीचजातिना । संगतः सहते वह्निर्धनघातजयातनाम् ॥' इति । पुनर्मिनाङ्ग इव
कंदर्प इवास्ता त्यक्ता मूर्तिः शरीरं येन । स्मरस्यानङ्गत्वात् । आस्ते । 'सत्तायाम-
स्त्यास्ते' इति क्रियाकलापे । तथा 'आसते शतमधिकक्षिति भूपास्तोरयाशिरसिते खलु
कूपाः' इति नैषधे । आस्ते आसाते आसते इति बहुवचनम् ॥

भवभ्रमीभङ्गिभरो भवीव किं रूपमाधाय सभांगमी सः ।

क्षेप्ता पुनर्दोयकिमिस्तिगत्योर्जनस्य कं हेतुमिह प्रतीत्य ॥ १४६ ॥

स परमेश्वरः भवेषु संसारपरम्परासु भ्रमीणां भ्रमणीनाम् । 'अपि भ्रमीभङ्गिभिरा-
वृताङ्गम्' इति नैषधे । भङ्गयो रचना नरकतिर्यङ्गुरदेववैचित्र्यस्तासां भरः समूहो यस्य
तादृशो भवी जीवः । 'स पुनर्भवी जीवः स्यादसुमान्' इति हैम्याम् । संसारपर्यटनशी-
लजन्तुरिव । यथा जीवः संसारे ब्रम्हमाणाः सन्नानारूपाण्यादत्ते तथा संसारी जीव
इव । किं कीदृजजातीयं रूपं देवनरादिसंबन्धि कीदृशं शरीरमाधाय कृत्वा सभां परिषदं
गमिष्यति उपवेक्ष्यति इति सभांगमी । पुनः स खुदा इह जगति कं हेतुं रागद्वेषादिकं
कारणम् । रागद्वेषौ विना शुभाशुभकारकत्वं न स्यात् । तस्य तु तावेव न स्तः । ततः
कं हेतुं प्रतीत्य समाश्रित्य जनस्य दोयकिमिस्तिनाम्योर्नरकस्वर्गलक्षणयोग्ययोः क्षेप्ता
क्षेप्यति । हेतुरत्र नास्त्येव । हेत्वभावात्तत्र क्षेपणमपि न घटते ॥

सुखासुखानि प्रभविष्णु दातुं पचेलिमं प्राक्तनमेव कर्म ।

तस्यैव तत्कारणतास्तु मज्जागलस्तनेनेव किमत्र तेन ॥ १४७ ॥

हे शेख, सुखासुखानि सौख्यानि दुःखानि च दातुं प्रभविष्णु समर्थं प्राक्तनं पूर्वज-
न्माचीर्णं पचेलिमं परिपाकं प्राप्तं कर्मैव नान्यः कोऽपि तत्तस्मात्कारणता तस्यैव कर्मण
एव कारणता जगत्कर्तृतास्तु । अत्र जगति मज्जागलस्तनेनेव छागिकानिगरणजेन
पयोधरेणेव प्रायेणेव तेन केनचित्कल्पितेन जगत्कर्ता किमस्तु यदि अजाकण्ठोद्भूत-
स्तनाहुर्धं प्रादुर्भवति तदा तस्मादपि विश्वस्यष्टिर्घटते ॥ इति कर्मणो जगत्कर्तृत्व-
स्थापने सूरिप्रत्युत्तरम् ॥

इदं गदित्वा विरते त्रतीन्द्रे शेखः पुनर्वाचमिमांमुवाच ।

विज्ञायते तद्वहुगर्हवाचि वीचीव तथ्येतरता तदुक्तौ ॥ १४८ ॥

इदं पूर्वोक्तं गदित्वा प्रत्युत्तरं प्रदाय त्रतीन्द्रे विरते निवृत्ते सति शेखः पुनर्द्वितीय-
वारमिमामग्रे वक्ष्यमाणां वाचं वाणीमुवाच वक्ति स्म । तदेवाह—हे गुरो, तद्भवदुक्ति-
युक्तिकारणाद्बहुगर्ह्यो वाचाटस्तस्य वाचि वचने इव तदुक्तौ कुरानवाक्ये तथ्येतरता
केवलं मृषाभाषितैव विज्ञायते ॥

बभाण भूयः प्रभुरेतमेतत्स्रष्टा जगत्पूर्वमिदं विधत्ते ।

तत्केतुवत्संहरते स पश्चात्ततोऽस्ति तस्याप्यसमश्रमोऽसौ ॥ १४९ ॥

भूयो द्वितीयवारं प्रभुः सूरिः एतं शेखं प्रति एतदिहैव वृत्ते कथ्यमानं बभाण भ-
णति स्म । निजगादेत्यर्थः । तदेव निर्दिशति—हे शेख, यदि स स्रष्टा जगत्कर्ता इदं
सुरासुरनरनारकलक्षणं जगद्विश्वं विधत्ते निर्मिमीते प्रथमं सकलजगज्जनं निष्पादयति,
पश्चात्स एव स्रष्टा विधाता केतुवद्भूमकेतुरिव तत्स्वेनैव कृतं विश्वं संहरते क्षयं नयति ।
ततः कारणात् तस्यापि जगत्कर्तुरपि । अयमसमोऽसाधारणः श्रमः क्लेशोऽस्ति विद्यते,
न पुनः कदाचनापि स्वास्थ्यं यदेकं घटयति परं भनक्तीति ॥

कर्ता च हर्ता निजकर्मजन्यवैचित्र्यविश्वस्य न कश्चिदस्ति ।

वन्ध्यात्मजन्मेव तदस्तिभावोऽसन्नेव चित्ते प्रतिभासते तत् ॥ १५० ॥

हे शेख, निजस्यात्मनः कर्मणा स्वप्राचीनजन्माचीर्णसुकृतदुष्कृतरूपेण कर्मणा
जन्यमुत्पाद्यं वैचित्र्यं रचनाया विचित्रत्वं नानात्वं यस्य तादृशस्य विश्वस्य जगतः
कश्चित्कर्ता निष्पादकः च पुनर्हर्ता संहारकः सर्वथा नास्त्येव । तत्कारणात्तस्य जगत्कर्तु-
रस्तिभावः सत्ता विद्यमानत्वमसन्नेव अविद्यमान एव प्रतिभासते मम चित्ते । मन्मन-
सीति भावः ॥

शेखं तमित्थं कृतपूर्वपक्षं संबोध्य सिद्धान्तवचोभिरेषः ।

धर्मं निधत्ते स्म तदीयचित्ते कृषीवलो बीजमिवोर्वरायाम् ॥ १५१ ॥

एष सूरिस्तदीये शेखसंबन्धनि चित्ते मानसे दयारूपं धर्मं निधत्ते स्म स्थापयति
स्म । क इव । कृषीवलो इव । यथा कर्षुकः उर्वरायां सर्वसस्यायां क्षेत्रभूमौ बीजं वपनो-
चितधान्यं निधत्ते वपति । किं कृत्वा । इत्थममुना प्रकारेण कृतो विहितः पूर्वपक्षो विप्र-
तिपत्तिर्येन । संदिग्धोऽर्थः पूर्वपक्षः । तं शेखं सिद्धान्तवचोभिर्भिः सपत्नबुद्धिनिश्चयः
सिद्धान्तस्तस्य वाक्यैर्वचनैस्तद्रूपैर्वा प्रत्युत्तरैः । सिद्धान्तावलम्बेन पूर्वपक्षप्रतिक्षेपो भ-
वति इति व्युत्पत्तिर्नैषधनरह्यम् । संबोध्य बोधयित्वा ॥

बभूव बलभावसरोऽधुना तद्विधीयतां काप्युचिते पदे सा ।

दत्त्वाल्पमङ्गाद्बहु गृह्यते यद्धर्मादि पात्रादिव बुद्धिमद्धिः ॥ १५२ ॥

श्रुत्वेति शेखस्य वचो विधत्ते यावत्स बलमामुचितप्रदेशे ।

अभाजि भूजम्भभिदा सभाया मध्यं दिवो भानुमतेव तावत् ॥ १५३ ॥

तावत्तदैव तस्मिन्नेव काले भूजम्भभिदा पृथिवीपुरंदरेण अकब्बरसाहिसभायाः स्व-
 पर्षदो मध्यमुत्सङ्गोऽभाजि समाश्रीयते स्म । सभायां समागत इत्यर्थः । केनेव । भानुम-
 तेव । यथा भास्करेण तदैव तस्मिन्नेव वासरे दिवो व्योम्नो मध्यमाश्रितम् । एतावता
 मध्यंदिनावसरोऽपि जात इत्यर्थः । तावत्किम् । यावद्यथा यस्मिन्नेव समये प्रस्तावे
 उचिते प्रदेशे कर्णराजन्यभवने स सूरिर्वल्भं भोजनमाचाम्लं विधत्ते करोति । कर्तुमुप-
 विशतीत्यर्थः । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेण शेखस्य वचो वाक्यं श्रुत्वा आकर्ष्य ।
 इति किम् । हे गुरो, अधुना इदानीम् । युष्माकमित्यध्याह्नियते । वल्भाया अशनस्याव-
 सरः बभूव संपन्नः । तत्कारणात् कापि कुत्रापि उचिते अस्माकं यवनानां सन्न्यस्तुचितं
 हिन्दुवर्गगृहे श्रीमतामाहारकरणयोग्ये पदे स्थाने वसत्यादौ वा गत्वा सा वल्भा विधी-
 यतां क्रियताम् । यत्कारणाद्दुद्धिमद्भिः पण्डितैः अल्पं स्तोकं भाटकमात्रं दत्त्वा अज्ञात्स्व-
 कायात्सकाशात् तपःक्रिया अनुष्ठानादिधर्मो गृह्यते । कथम् । बहु घनतमं यथा स्यात्तथा ।
 कस्मादिव । पात्रादिव । यथा सुपात्राय साधवे स्वल्पमात्रादिकं दत्त्वा तस्माद्बहु स्वर्गप-
 वर्गादिकमादीयते । यतः 'दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि कोटिगुणितं दिवि दायि'
 इति नैषधेऽपि ॥ युग्मम् ॥

धर्मोदयस्येव मुहूर्तमात्मगोष्ठीविधानावसरं विभाव्य ।

महीमहेन्द्रस्तमथाजुहाव मुनीन्द्रमिन्द्रावरजोर्जितश्रीः ॥ १९४ ॥

अथ स्वस्यां सभायामागमनानन्तरं महीमहेन्द्रो भूमीन्द्रोऽकब्बरसाहिस्तं स्वयं गुर्ज-
 रमण्डलादाहृतं मुनीन्द्रं सूरिराजमाजुहाव आकारयामास । स किलक्षणः । इन्द्रस्य पु-
 रंदरस्यावरजो लघुभ्राता कृष्णः । 'कानुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रण-
 चर्चा । यद्भुजाङ्गमुपधाय जयाङ्गं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥' इति नैषधे । 'दासार्हः
 पुरुषोत्तमोऽब्धिशयनोपेन्द्रावजेन्द्रानुजाः' इति हैम्यामपि । तद्वद्भूजिता प्रबला श्रील-
 क्ष्मीर्यस्य । किं कृत्वाजुहाव । स्वस्यात्मनः अकब्बरसाहेरात्मनः गोष्ठीविधानस्य
 सूरिणा समं धर्म्यवार्ताकरणस्यावसरं समयं विभाव्य विलोक्य । विज्ञायेत्यर्थः । उत्प्रे-
 क्ष्यते—धर्मोदयस्य श्रीमजिनधर्मस्याभ्युदयस्य मुहूर्तं वेलावसरमिव ॥

शेखस्ततः साधुविधुं विशुद्धधर्मोपदेष्टारमदःसमाजम् ।

स्वसाधकस्यान्तिकमिष्टदेवं सिद्धिप्रदो मन्त्र इवानिनाय ॥ १९५ ॥

ततः साहेराकारणानन्तरं शेखोऽबलफैजः साधुविधुं वाचंयमचन्द्रमदःसमाजमक-
 ब्बरसभामानिनाय आनयति स्म । 'अदःसमित्संमुखवैरियौवत—' इति नैषधे । अदः-
 शब्दस्य समासविधानम् । किंभूतं साधुविधुम् । विशुद्धो निर्दोषो यो धर्मो दयामूल-
 जिनाज्ञापूर्वकस्तस्योपदेष्टारं सम्यक् विविच्य वक्तारम् । क इव । मन्त्र इव । यथा साध्य-
 सद्गुरुदत्तसंप्रत्ययमन्त्रः स्वस्यात्मनो मन्त्रस्यैव साधकस्याराधयितुः अन्तिकं समीप-
 मिष्टदेवं मन्त्राधिष्ठाय कसुरमानयति । किंभूतो मन्त्रः । सिद्धेरिष्टाभिलषितस्य प्रदो वि-
 श्राणयिता ॥

विश्वत्रयीमीक्षितुमुत्सुकेन त्रैरूप्यभाजेव शिवाङ्गजेन ।

शक्तित्रिकेणेव वपुष्मता वानुगम्यमानस्तनुजत्रिकेण ॥ १५६ ॥

विभाव्य विस्मेरविलोचनाम्भोरुहेण तं साहिजलालदीनः ।

ज्ञानेन शक्रः कतिचित्पदानि ज्ञाताङ्गजन्मानमिवाभ्यगच्छन् ॥ १५७ ॥

महतां मुद्गलेन्द्राणां जलालदीन इति यवनभाषया प्रसिद्धं नामोच्यते । साहिजलालदीनः अकब्बरपातिसाहिपुंगवः विस्मेरेण दृष्टोत्फुल्लेन विलोचनाम्भोरुहेण नयनकमलेन विभाव्य दृग्गोचरीकृत्य कतिचित्कानिचनापि तदानीमभ्यगच्छन्संमुखमागच्छन्ति स्म । क इव । शक्र इव । यथा सौधर्मेन्द्रो ज्ञानेनावधेरुपयोगेन अवधिचक्षुषा ज्ञाताङ्गजन्मानं श्रीमन्महावीरदेवं विलोक्य स्वर्गे स्वसभायामेव कतिचित्सप्ताष्टौ पदानि क्रमान्वावत्संमुखं गच्छति स्म । साहिः किं क्रियमाणः । आद्य एकः शेखजी, द्वितीयः पाटी, तृतीयो दानीयार इति नाम्नां तनूजन्मानां त्रिकेणानुगम्यमानः । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वत्रयीं त्रैलोक्यं ईक्षितुं द्रष्टुं विलोकयितुमुत्सुकेन उत्कण्ठितेन अत एव त्रयाणां रूपाणां भावस्त्रैरूप्यं तद्भजतीति त्रैरूप्यभाजा रूपत्रयीकलितेन शिवायाः पार्वत्या अङ्गजेन नन्दनेनेव एतावता स्वामिकार्तिकेनेव । अथ वा वपुष्मता शरीरमाश्रयता शक्तीनां प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणानां त्रिकेणेव वा ॥ युग्मम् ॥

सूरिं दयाधर्ममिवाङ्गिजातमवन्तमङ्गीकृतकाययष्टीम् ।

तं गोचरं लोचनयोः प्रणीय मीमांसते स्मेति हृदा महीमान् ॥ १५८ ॥

तं हीरविजयनामानं सूरिं भट्टारकं लोचनयोः स्वनयनयोगोचरं विषयं प्रणीय कृत्वा । विलोकयेत्यर्थः । महीमानकब्बरपातसाहिर्हृदात्ममनसा इत्यमुना प्रकारेण मीमांसते स्म विचारयति स्म । ‘मीमांसा तु विचारणा’ इति हैम्याम् । सूरिस्तत्प्रेक्ष्यते—अङ्गीकृता उपात्ता काययष्टी तनूलता येन तादृशमङ्गिजातं प्राणिगणमवन्तं स्वजीवमिव रक्षन्तं दया कृपा जगज्जन्तुषु कारुण्यं तद्रूपं धर्मेमिव ॥

विपक्षभावं कलयन्तमुग्रं प्रियां स्वमृत्याममृतां रतिं च ।

निर्णाय निर्विण्णमनास्तनूमास्तपः प्रपन्नः किमु शम्बरारिः ॥ १५९ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—अयं सूरिस्तपः संयमक्रियानुष्ठानोपवासादिकष्टं प्रपन्नः अधिगतः कुर्वाणो वा शम्बरारिः स्मर इव । किंभूतः । तनूमान् विनाङ्गं तपोऽनुष्ठानादि कर्तुं न शक्नुयादित्यङ्गीकृतकाययष्टीः । अथ वा पार्वतीपरिणयनप्रक्रमानन्तरं सर्वसुरासुरार्थार्थभ्यर्थनाप्रसन्नीभूतभूतपतिना कायः प्रादायि इति कुमारसंभवोक्तेस्तदादिशरीरं संजातमिति कायकलितश्च । किलक्षणः शम्बरारिः । तपःप्रतिपत्तौ कारणमाह—निर्विण्णं खेदखिन्नं मनश्चित्तं यस्य । किं कृत्वा । विपक्षभावं वैरितां कलयन्तं विभ्राणम् अग्रं महाकूरं निर्विशं वा तत्त्वतः शंकरम् । तथा स्वमृत्यावपि त्रिनेत्रनेत्रज्वलदनलज्वालाभस्मीभू-

तेऽपि खदेहे न मृतां नानुविपन्नां रतिनाम्नीं स्वप्रियां प्रियवल्लभामपि निर्णीय नि-
श्चित्य विज्ञाय ॥

न कापि कामीव जहाति कान्तामकीर्तिमेतामपहर्तुकामः ।

किं वा पृथक्कृत्य निजाङ्गलभां शिवां शिवः साधितसाधुवृत्ति ॥१६०॥

वाथवा निजस्यात्मीयस्य अङ्गे काये लग्नां स्यूतामिवार्थीभूताम् । अर्धशंभुरिति
प्रसिद्धत्वेन अर्धं शंभोरित्यर्धशंभुः । तथा 'प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशंभुः' इति नैषधे ।
तथा भोजप्रबन्धे च यथा—'अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं राजन्वि-
श्वमनीश्वरं समभवत्तत्तावदाकर्ण्यताम् । गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्षमातले
सर्वज्ञत्वमपीश्वरत्वमभजत्वा मां च भिक्षाश्रिता ॥' इति । अत एवार्थीभूतां शिवां पार्वतीं
पृथक्कृत्य स्वशरीराद्भिन्नां विधाय । पुनर्द्वितीयवारम् । एकवारं तु पूर्वपत्नीसतीविरहात्तप-
स्तप्तं पूर्वं पश्चात्सतीमेव पार्वतीभूतां परिणीय गृहमेधितामनुभूय तदपेक्षया द्वितीयवारं
साधिता आराधिता साधोर्मुनेर्दृष्टिरावरणं येन तादृशः शिवः किम् ईश्वर इव । किं
कर्तुकामः अयं शिवः । कापि नक्तंदिवा सुप्तौ जाग्रदवस्थायामेकीभूतो बहुमध्यगतो वा
गृहान्तः सभायां वा कुत्रापि स्थाने कान्तां प्रियां पार्वतीं न जहाति नैव त्यजति । क
इव । कामीव यथा प्रबलकंदर्पवान् कापि कस्मिन्नपि समये प्रियां नोज्झति तत्संगत
एव तिष्ठति एतां जगत्प्रसिद्धामपकीर्तिं निजापयशः अपहर्तुकामो निराकर्तुमिच्छुः ॥

प्रलम्बबर्हिर्मुखशाखिशाखावाहः स्फुरत्काञ्चनचारिमश्रीः ।

उत्कंधरो भूमिधरः सुराणां किं वाद्भुताद्भूतलसंचरिष्णुः ॥ १६१ ॥

किं वा अथ वा अद्भुतादाश्चर्यात् कौतुकौत्सुक्यात् भूतले क्षोणीमण्डले संचरिष्णुः
सम्यग्रीत्या भ्रमणशीलः अयं प्रत्यक्षलक्ष्यः सुराणां देवानां भूमिधरः पर्वतः सुमेरुरिव ।
किंलक्षणः । प्रलम्बा अतिदीर्घा या बर्हिर्मुखशाखिनः सुरतरोः शाखास्ता एव तद्वद्वा
वाहा भुजा यस्य । पुनः किंभूतः । स्फुरन्ती देदीप्यमाना काञ्चनं सुवर्णं तस्य तद्वद्वा
चारिमश्रीः शरीररामणीयकलक्ष्मीर्यस्य । पुनः किंभूतः । उत्कंधरः प्रोच्चैःशिरा मादृक्
त्म्यवांश्च ॥

साम्राज्यमासाद्य दिवस्त्रिलोक्या आशंसमानः पुनराधिपत्यम् ।

तपस्तपस्यत्किमुत क्षमायां पुरंदरोपास्तपुरंध्रिपाशः ॥ १६२ ॥

उताथ वा पूर्वोक्तादपरार्थे अपास्तस्यक्तः पुरंध्रीणां स्वःस्त्रीणां पाशो बन्धनं येन ।
यदुक्तम्—'स्मितेन भावेन च लज्जया भिया पराङ्मुखैर्धकटाक्षवीक्षितैः । वचोभि-
रीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥' इति विमुक्तवनितानुषङ्गः
तादृशः क्षमायां जन्मभूमित्वेन सुरासुराङ्गनास्वर्द्धमादीनां स्नेहकारणत्वाद्दिवं स्वर्लोकं विहाय
भूमौ समेत्य तपस्तपस्यन् कुर्वाणः पुरंदरः शक्र इव । किं कुर्वाणः । दिवः स्वर्गलो-
कस्य साम्राज्यं समस्तविमानाधिपतिं देवेन्द्राणां स्वामित्वं द्वात्रिंशत्सहस्रदेशाधीश्वरमुकु-

द्वन्द्वभूपानामिव सार्वभौमस्य तथा द्वात्रिंशलक्षविमानाधिपानां प्रभुत्वम् । अत एव साम्राज्यम् । 'सम्राट् तु शास्ति यो नृपान्' इति हैम्याम् । आसाद्याधिगल्य । पुनस्त्रिलोक्या विश्वत्रयस्याधिपत्यं भर्तृभावमाशंसमानः काङ्क्षन् ॥ इति सूरिदर्शनात्साहिहृदयवितर्काः ॥

यावद्वितर्कानिति तर्कशास्त्राधीतीव चित्ते कुरुते क्षितीन्द्रः ।

निर्ग्रन्थनाथं निजसंनिकर्षं विभूषयन्तं पिबति स्म तावत् ॥ १६३ ॥

क्षितीन्द्रोऽकब्बरसाहिः इति पूर्वोक्तप्रकारेण यावद्यावता समयेन चित्ते स्वमनस्येव नात्मजनसमक्षवितर्कान्विचारान् कुरुते । क इव । तर्कशास्त्राधीतीव यथा तर्कशास्त्रेषु प्रमाणग्रन्थेषु अधीतमध्ययनं सम्यक् शास्त्रावबोधोऽस्यास्तीति तर्कभाषादिकचिन्तामणि-प्रमुखप्रमाणाध्येता वितर्कान् विविधान् तर्कान् कुरुते तावन्निजस्यात्मनः संनिकर्षं समीपं विभूषयन्तमलंकुर्वन्तम् । निर्ग्रन्थनाथं हीरविजयसूरिं पिबति स्म सादरमवलोकयति स्म । सादरावलोकनं पानमुच्यते ॥

सुत्रामगोत्राधिकगौरवेण मार्गे मया संभ्रमगामिनासौ ।

दुरूढभूर्भोगिविभुर्विषादी मा स्तादितीर्त्वरया चरन्तम् ॥ १६४ ॥

सूरिं किं कुर्वन्तम् । अत्वरया न वेगेन मन्दं मन्दं चरन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः । इति किम् । सुत्रामगोत्रान्मेरोरधिकं गौरवं गुरुता माहात्म्यं यस्य तादृशेन मार्गे पथि संभ्रमगामिना औत्सुक्यादिना त्वरितगमनशीलेन । 'आवेगस्तु त्वरिस्तूर्णिः संवेगः संभ्रमस्त्वरः' इति हैम्याम् । मया दुःखेन कष्टेन ऊढा सहस्रफणामण्डलैर्विधृता भूयेन तादृशो भोगिविभुः शेषनागो विषादोऽस्यास्तीति विषादी विषण्णचेता निर्वेदवान्वा मा स्तान्मा भवतादिति ॥

इमे चले मेचकिमाङ्किते च तदौचिती रोद्धुमदःप्रचारम् ।

नेत्रे क्षिपन्तं किमिति प्रमातं युगंधरायां पुरतो धरायाम् ॥ १६५ ॥

पुनः किं कुर्वन्तम् । पुरतः पुरस्तादप्रतः प्रमातं प्रमाणीकृतं युगंधरं कूबरं रथस्य वृषभस्य स्कन्धनिक्षेपणस्य योग्यं काष्ठविशेषं धूसरमिति जने प्रसिद्धं यस्यां तादृश्यां धरायां पृथ्वीपीठे नेत्रे नयने क्षिपन्तं स्थापयन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किम् । इति किम् । इमे नेत्रे चले चञ्चलस्वभावे च पुनर्मेचकिमाङ्किते अन्तःश्यामताकलिते । मलिनाशये इत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणात् अदःप्रचारमेतयोः प्रसारं रोद्धुमौचिती योग्यता । उपचितमेवेत्यर्थः ॥

दण्डं स्वपाणौ दधत्तं स्वबाहाजितं भजन्तं किमु कल्पसालम् ।

कल्पं मुनीनामिव मूर्तिमन्तं कल्पं निजाङ्गे पुनरुद्धहन्तम् ॥ १६६ ॥

पुनः किं कुर्वन्तम् । स्वपाणौ निजवामहस्ते दण्डं यष्टीं दधत्तं धारयन्तम् । उत्प्रे-

क्षयन्ते—स्वबाह्या निजभुजेन जितं पराभूतम् अत एव भजन्तं सेवमानं यो येन जितः प्रायस्तं स सेवते । कल्पसालमिव कल्पद्रुममिव । पुनः किं कुर्वन्तम् । निजाङ्गे आत्मीये शरीरे कल्पं यतीनां शरीरावरणयोग्यवस्त्रविशेषं 'कल्पडो' इति प्रसिद्धः । उद्ग्रहन्तं बिभ्रतम् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमन्तं शरीरशालिनं मुनीनां सुसाधूनां कल्पमाचारमिव ॥

बुधैर्न दोषाकरवंशजातैर्मरालयानैर्न च नाभिजातैः ।

प्रत्यर्थिभिश्चित्तुभवो न रुद्रैर्निर्ग्रन्थनाथैरनुगम्यमानम् ॥ १६७ ॥

पुनः किं क्रियमाणम् । अनुगम्यमानम् अनु पश्चाद्गम्यमानम् । कैः । निर्ग्रन्थनाथैः वा-चकपण्डितगणिचरलक्षणश्रमणपुङ्गवैः । किंभूतैः । बुधैः रोहिणीनन्दनैः पुनर्न दोषाकर-वंशजातैः चन्द्रगोत्रजन्मभिः । अयं तु विरोधः—ये बुधास्ते तु दोषाकरवंशजाता एव स्युः । विरोधशान्तौ तु बुधा विद्रांसस्तथा दोषाणामपगुणानामाकरः खनिर्यो वंशस्तत्र जाता न तर्हि विशुद्धवंशजन्मानः । निर्दोषपितृपक्षा इत्यर्थः । पुनः किंभूताः । मरालो राजहंसस्तेन यानं गमनं येषां ते । हंसबाहनाः च पुनर्न नाभिजाता न ब्राह्मणाः । अयमपि विरोधः—ये मरालयानास्ते तु नाभेर्नारायणनाभिपुण्डरीकादेव जाताः । विरोध-शान्तौ तु हंसवन्मन्थरगमनाः । ईर्या शोधनात् । तथा द्वौ नगौ प्रकृत्यर्थं गमयतः । मौ-लार्थं प्रापयतः । ततः न न अभिजाताः कुलीना एव । अथ वा न अभिजाता न कु-लीनाः । एवं न द्वितीयेन नकारेण अकुलीनत्वनिषेधो निगद्यते । एवं सति कौलीन्यमाया-तम् । तैरेतावता विशुद्धमातृपक्षैरित्यर्थः । 'जाइ संपन्ना कुलसंपन्ना' इति सिद्धान्तोक्तिः । पुनः किंभूताः । चित्तुभवः कंदर्पस्य प्रत्यर्थिभिर्वैरिभिः परं न रुद्रैर्न भीमैरीश्वरैः । अयमपि विरोधः—ये कामरिपवस्ते तु रुद्राः शिवा एव स्युः । विरोधशान्तौ तु त्यक्तसर्वसांसा-रिककान्ताद्यनुषङ्गत्वान्मनोभवाभिरातिभिः शान्तरसतरङ्गिताङ्गितान्तःकरणत्वाच्च रुद्रैः । सौम्यैरित्यर्थः ॥

एकं किमद्वैततया जगत्यां कुमुद्वतीकान्तमिव द्वितीयम् ।

तृतीयमक्षणोरिव चन्द्रचूडब्रह्माच्युतानामिव वा चतुर्थम् ॥ १६८ ॥

पुनः किंभूतम् । जगत्यां भुवनमध्ये भरतक्षेत्रभूमौ वा अद्वैततया गुणैरसाधारणत्वेन नास्त्यस्य तुल्यः । तादृकोऽप्यन्यो नास्ति येन सा उपमीयते इति हेतुना एकं किम् । 'जगती मेदिनी रसा' इति हैम्याम् । 'भुवनं जगती जगत्' इत्यपि हैम्याम् । तथा 'ज-गती विश्वभूमयोः' इत्यनेकार्थेऽपि । पुनर्द्वितीयं कुमुद्वतीकान्तं चन्द्रमिव जगदाह्लाद-कत्वात् । च पुनरक्षणेर्नैत्रयोस्तृतीयम् । यथा जनानां नेत्राभ्यां भौमादिमार्गः प्रका-श्यते तथा तेनापि नेत्रीभूतेन भविकानां स्वर्गपवर्गादिमार्गो ज्ञाप्यते इति तृतीयं नेत्रम् । वा पुनः चन्द्रचूडः शिवः, ब्रह्मा विधाता, अच्युतो नारायणः, तेषां मध्ये चतुर्थमिव त्वपरतीर्थकैरेते त्रयो देवाः सेव्यन्ते, तथा अयमपि गुणबाहुल्यात्स्वपरतीर्थ-कैरुपास्यते । अतस्तच्चतुर्थमिव ॥

चतुर्षु वेदेष्विव पञ्चमं वा षष्ठं द्रुमाणामिव निर्जराणाम् ।

किं सप्तमं मूर्तिमतामृतूनां स्रोतःपतीनां पुनरष्टमं वा ॥ १६९ ॥

च पुनश्चतुर्षु चतुःसंख्येषु ऋक्-यजुः-साम-अथर्वणलक्षणेषु लौकिकेषु मध्ये पञ्चम-मिव । एतस्य सत्यवादित्वाद्देवन्मान्यत्वेन पञ्चमम् । वा पुनः निर्जराणां देवानां द्रुमाणां कल्प-पारिजात-मन्दार-हरिचन्दन-संतानलक्षणानां पञ्चानां कल्पवृक्षाणां मध्ये षष्ठ-मिवाखिलाभिलषितदायकत्वात् । तथा मूर्तिमतां स्वीकृतकाययष्टीनां हिम-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरलक्षणानां षण्णामृतूनां मध्ये सप्तममिव । सर्वेषामपि सेव्यत्वेन । वा पुनः स्रोतःपतीनां लवणोदधि-क्षीरोदधि-नीरोदधि-वृतोदधि-सुरोदधि-खादूदधि-इक्षूदधि-नाम्नां सप्तानां समुद्राणां मध्ये अष्टममिव अतिगम्भीरत्वात् गुणरत्नाकरत्वात् ॥

अधीश्वराणां नवमं दिशां वा कुण्डं सुधानां दशमं किमुर्व्याम् ।

एकादशं वा त्रतिनां वृषेषु किं द्वादशं श्रीगणपुंगवानाम् ॥ १७० ॥

च पुनर्दिशामष्टानां हरितामीश्वराणां स्वामिनाम् इन्द्र-अग्नि-यम-नैर्ऋत-वरुण-वायु-कुबेर-ईशानाभिधानामष्टसंख्याकानां लोकपालानां मध्ये नवममिव । यथा दिक्पालाः स-वैष्णव-मप्याराध्यास्तथायमपीति । वा पुनरुर्व्यां पृथिव्यां वर्तमानं दशमं सुधाकुण्डमिव । यथा पाताले नवसंख्याकानि कक्कोलादिपीयूषकुण्डानि विद्यन्ते, तथा भूमण्डले दशमं सुधाकुण्डमिव । अजरामरपददायकत्वात् । वा पुनर्त्रतिनां साधूनां वृषेषु धर्मेषु मध्ये । 'धर्मः पुण्यं वृषः श्रेयः' इति हैम्याम् । क्षान्ति-आर्जव-मार्दव-निर्लोभता-तपः-संयमः-सत्य-शौच-अकिंचनता-ब्रह्मचर्यमिति लक्षणेषु दशविधसाधुधर्मेषु मध्ये । यदुक्तम्—'खंती अज्वमद्वमुत्तीतवसंजमे अबोधव्वे । सव्वं सोअं आकिंचणं च वंमं च जइ धम्मो ॥' इति वचनात् । एकादशमेकादशसंख्यापूरणं मूर्ते साधुधर्ममिव । वा पुनः श्रिया गणभृलक्ष्म्या शोभया वा युक्तानां गणपुंगवानां गणधारिणाम् इन्द्रभूति-अग्निभू-ति-वायुभूति-व्यक्त-सुधर्मस्वामि-मण्डित-मौर्यपुत्र-अकम्पित-अचलभ्राता-मेतार्य-प्रभासनामानः महावीरजिनैकादशगणधरास्तेषां मध्ये द्वादशमिव ॥

त्रयोदशं वाम्बुजबान्धवानां विश्वेषु देवेषु चतुर्दशं वा ।

रत्नेषु वै पञ्चदशं कलासु शरत्सुधांशोरिव षोडशं वा ॥ १७१ ॥

वा पुनरम्बुजबान्धवानाम् । धाता-अर्थमा-मित्र-वरुण-ईश-भग-इन्द्र-विवस्वत्-पूषा-पर्जन्य-त्वष्टा-विष्णु इति द्वादशसंख्यानामकार्णानां मध्ये त्रयोदशं भास्करमिव । प्रतापत्वात् । वैश्वदेवेषु मध्ये । 'विश्वदेवान्त्रयोदश' इति काव्यकल्पलतायाम्, संख्याना-ममालायां च । चतुर्दशं चतुर्दशसंख्याकमिव । दिव्यरूपत्वात् । वा पुनश्चतुर्दशसु लक्ष्मी-कौ-स्तुभ-पारिजात-सुरा-धन्वन्तरि-चन्द्रमाः-कामधेनु-ऐरावण-अप्सरः-उच्चैःश्रवाः-पीयूष-शार्ङ्गधनुः-पाञ्चजन्यशङ्खः-कालकूटविषाभिधानां चतुर्दशप्रमाणानां रत्नानां

मध्ये पञ्चदशं रत्नमिव । वा पुनः शरत्सुधांशोः शारदीनचन्द्रमसः कलासु पञ्चदश-
कलासु मध्ये षोडशमिव । पञ्चदशसु तिथिषु पञ्चदशैव कला वर्धन्ते, षोडशी
कला तु शिवमस्तके अस्तीति श्रुतिः । अत एव नैषधे नलेन प्रोक्तम्—‘भीमजा च
हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी । न स्वमेव मम साहति यस्याः षोडशा-
मपि कलां किल नोर्वा ॥’ इति । तथा ‘परधार्मिकतिथयश्चन्द्रकलाः पञ्चदश भवन्तीह’
इति काव्यकल्पलतायाम् । तथा तत्रैवोदाहरणम् । ‘तिथिं तिथिं प्रति स्वर्णिभोग्यैकैक-
कलाधिका । कला यस्येशपूजासीदेकः श्लाघ्यः स चन्द्रमाः ॥’ इत्युक्तेः । चन्द्रे तु पञ्च-
दशैव कलाः ॥

किं राजधानी शममेदिनीन्दोर्धवं धुनीनामिव वा समाधेः ।

संकेतसन्नेव गुणावलीनां धर्मस्य साम्राज्यमिवार्हतस्य ॥ १७२ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—शममेदिनीन्दोः उपशमनाग्नौ वसुधासुधारुचेः राज्ञः राजधानी सुख-
वासनगरी च । ‘कुलक्रमायाता पुरी राजधानी’ इति हैम्याम् । वा पुनः समाधेर्ध्यानस्य
विशेष्यैकलयनिष्ठत्वेन यद्वयानं समाधिस्तस्य धुनीनां नदीनां धवं भर्तारं समुद्रमिव ।
पुनरुत्प्रेक्ष्यते—गुणानामावलीनां श्रेणीनां संकेतसन्नेव । यत्र कामुकैर्मिलितुमुत्सुकैरप-
रैर्वा मिलनार्थं संकेतस्तत्स्थानं संकेतगृहं प्रोच्यते । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—अर्हतामतीतानाग-
ततीर्थकृतामयमार्हतः स चासौ धर्मश्च । जैनधर्मस्येत्यर्थः । साम्राज्यमिव । अनेकान्मू-
र्धाभिषिक्तान्नमयित्वा यत्रैश्वर्यं क्रियते तत्साम्राज्यम् । अत्र तु बहुसामन्तभूपनमनं स्फु-
टमेवास्ते इति साम्राज्यमेव ॥

उरो मुरारेः सुभगत्वलक्ष्म्याः कृपामृतस्यैव पतिं तमीनाम् ।

भाग्यस्य वा कोशमिवाक्षयन्तं क्षान्तिस्रवन्त्या इव सानुमन्तम् ॥ १७३ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—सुभगत्वलक्ष्म्याः सौभाग्यश्रियाः वासार्थं मुरारेर्नारायणस्य उरो वक्षः-
स्थलमिव । यदुक्तं नैषधे—‘हित्वा दैत्यरिपोरुरः स्वभवनं शून्यत्वदोषस्फुटा—’ इति
विष्णोर्वक्षो लक्ष्म्यावासमिति । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—कृपा सकलजन्तुजातेषु करुणा सैवा-
मृतं सुधारसस्तस्य तमीनां पतिं चन्द्रमण्डलमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—भाग्यस्य शुभकर्मोद-
यस्य अक्षयन्तं सर्वथापि न व्ययीभावं भजन्तं कोशं भाण्डागारमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—
क्षान्तिः क्षमा सैव स्रवन्ती नदी तस्याः सानुमन्तं पर्वतमिव । यतो भूयुतः सकाशा-
त्सरितः प्रवहन्ति ॥

यशःसुमस्येव सुपर्वसालं किं ज्ञानभानोरुदयाचलं वा ।

सप्तर्षिपुत्रं किमु चित्रवाचामिवाकरो लब्धिमणीगणानाम् ॥ १७४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—यशः सर्वजगज्जनजेगीयमानस्फीतकीर्तिरेव सुमं प्रसूनं तस्य सुपर्वसालं
कल्पद्रुममिव । सदा विकाशपरिमलादिबाहुल्यात्सुरतरुक्रुसुमकथनम् । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—

ज्ञानमेव भातुः सूर्यः तस्याभ्युदयार्थमुदयाचलं पूर्वपर्वतमिव । पुनस्तप्रेक्ष्यते—चित्राणां जगदाश्चर्यकारिणीनां वाचां वचनवैचित्र्याणां सप्तर्षिपुत्रं किमु बृहस्पतिमिव । ‘बृहस्पतिः सुराचार्यो जीवश्चित्रशिखण्डिजः’ इति हैम्याम् । पुनस्तत्रैव ‘सप्तर्षयश्चित्रशिखण्डिनः’ । तथा नैषधे—‘विचित्रवाक् चित्रशिखण्डिनन्दनः’ इति बृहस्पतेः सप्तर्षिपुत्राभिधानम् । यथा चित्रशिखण्डिनन्दनस्तथा सप्तर्षिसूनुरपीति । पुनस्तप्रेक्ष्यते—लब्धयस्तपःप्रादुर्भूत-शक्तिविशेषास्ता एव मणीनां गणास्तेषामाकरं खानिमिव ॥ आदितस्त्रयोदशभिः कुल-कम् ॥ इति हीरविजयसूरिवर्णनम् ॥

तं व्याजहारेति महीमहेन्द्रो जागर्ति वार्तं खलु युष्मदङ्गे ।

हिमं सरःपद्ममिवाध्वजन्मा क्लमोऽपि नाकामति वः शरीरम् ॥ १७५ ॥

महीमहेन्द्रः अकब्बरपातिसाहिः तं सूरिमित्यमुना प्रकारेण व्याजहार व्यक्ति स्म । इति किम् । हे सूर, खलु निश्चितं युष्मदङ्गे श्रीमतां देहे वार्तमनामयं समाधिर्जागर्ति विद्यते । जागर्तीत्यत्र सत्तार्थः । यतः—‘सत्तायामस्यास्ते जागर्तिर्विद्यते प्रियते’ इति क्रियाकलापे । अपि पुनरध्वजन्मा दूरमार्गोल्लङ्घनोद्भूतः क्लमः परिश्रमो वो युष्माकं शरीरं नाकामति न बाधते । किमिव । हिममिव । यथा सरःपद्मं तटाकोत्पन्नं कमलं लुहिनं व्यथयति ॥ इति शारीरकसुखप्रश्नः ॥

तपांसि वः सन्त्यनघानि कच्चिन्नास्ते समाधेः प्रतिबन्धकश्च ।

मनः प्रसन्नं पुनरस्ति नीरं पद्माकरस्येव घनव्यपाये ॥ १७६ ॥

हे सुनीन्दो, पुनर्वो युष्माकं तपांसि अनघानि प्रशस्यानि असौ तपस्वी तीव्रं तप-स्तत्त्वा मासद्राज्यादि वैभवं गृहीतादिति भावाद्विघ्नकर्तृकाणामभावात् निरन्तरायानि सन्ति विद्यन्ते । पुनः कश्चन धर्मद्वेषी वो युष्माकं समाधेर्यानस्य प्रतिबन्धको विघ्नवि-धाता नास्ते न वर्तते । पुनर्युष्माकं मनः प्रसन्नमनाविलमस्ति । किमिव । नीरमिव । यथा घनव्यपाये शरत्समये पद्माकरस्य कमलकुलालंकृतसरसो जलं प्रसन्नमतिस्वच्छं स्यात् ॥ इति साध्वाचारादिकुशलप्रश्नः ॥

का सा पुरी प्रापि दशां दमीशैर्वसन्तनिर्मुक्तवनानुरूपाम् ।

अहो अहोभिर्बहुभिः पयोदैरिवादिमैर्भूरियमन्वकम्पि ॥ १७७ ॥

अहो इति संबोधनप्रश्ने । हे सूर, सा का पुरी किनाम्री नगरी या पुरी दमिनां त-पःक्रियादिकष्टैः स्वात्मदमनपराणां साधूनामीशैर्नार्यकैः श्रीमद्भिः वसन्तेन मधुसमयेन निर्मुक्तस्य फलपुष्पपल्लवदलादिविरहिततरुणस्य वनस्यानुरूपां सदृशीं दशमवस्थां प्रापि लम्बिता । तदभिधानं भाषणीयमित्यर्थः । अहो सूरिन्द्राः, पुनरादिमैः प्रथमैः पुष्करावर्तनाभिः पयोदैर्मधैरिव । इयमास्माकीना मेवातमण्डलसंबन्धिनी वा भूः पृथिवी बहुमिरनल्पैः अहोभिर्दिवसैरन्वकम्पि अनुगृहीता पावनीकृता इत्यागमादि-प्रश्नः ॥ इति साहित्यकृतकुशालापप्रश्नः ॥

इदं विनिर्दिश्य समुद्रकाञ्चीरुच्ये मुखे तन्वति मौनमुद्राम् ।

धर्मस्य धात्रीमिव वृत्रशत्रुर्वाचंयमानां स उवाच वाचम् ॥ १७८ ॥

वाचंयमानां सम्यग्वाग्गुप्तिमतां वृत्रशत्रुर्येतीन्द्रः स हीरविजयनामा सूरिर्वाचं वा-
णीमुवाच वक्ति स्म । साहिप्रश्नानामुत्तरं ददाति सेखर्यः । उत्प्रेक्ष्यते—सूरिवाणी ।
धर्मस्य सुकृतस्य धात्रीमुपमातरमिव वर्धयित्रीं भूमिमिव । स्थानं वा । कस्मिन् सति ।
इदं पूर्वनिगदितं कुशलादिप्रश्नं विनिर्दिश्य कथयित्वा समुद्रकाञ्च्या जलनिधिमेखलाया
भूमिभामिन्या रुच्ये भर्तारि । ‘रुच्यो वरयिता धवः’ इति हैम्याम् । अकम्बरपृथिवीपतौ
मुखे स्ववदने मौनमुद्रां जोषेण कृत्वा मुद्रणां तूष्णीकां तन्वति कुर्वति सति ॥

क्षमाकान्तकोटीरमणीमरीचिमधुव्रतापीतपदारविन्द ।

अवेहि वार्तं द्युसदामिवाप्तवचःसुधापानविधायिनां नः ॥ १७९ ॥

क्षमाकान्ता भूमीवल्लभा अन्ये राजानस्तेषां कोटीरा मौलिमुकुटास्तेषां मणीनां विवि-
धरत्नानां मरीचयः कान्तयः एव मधुव्रता भ्रमरास्तैरा सामस्त्येन पीते चुम्बिते सेविते
वा पदारविन्दे चरणकमले यस्य तस्य संबोधने । यदुक्तम्—‘अवताद्वो हयग्रीवः
कमलाकर ईश्वरः । सुरासुरनराकारमधुपापीतपत्कजः ॥’ इति सारस्वतव्याकरणप्रान्तनम-
स्कृतौ आपीत इति । हे नृप, नः अस्माकं वार्तमनामयमवेहि जानीहि । केषामिव ।
यथा द्युसदां सुराणां देवानामनामयं भवेत् । तत्र हेतुमाह—आप्तानां तीर्थंकृताम् । ‘पुरु-
षोत्तमवीतरागताः’ इति हैम्याम् । वचांसि वाक्यानि आगमा वा । ‘आप्तोक्तिः सम-
यागमौ’ इति हैम्याम् । तानि त एव वा सुधा अमृतरसास्तेषां पानं विदधे इत्येवंशीला-
स्तेषाम् । ‘आप्तो लब्धे च सत्ये च’ इत्यनेकार्थः । ‘सत्ये अधिसंवादके बान्धवेऽप्याप्तः’
इति चूर्णिः । तथा ‘आप्तप्रत्ययितौ समौ’ इति हैम्याम् । आप्तस्य पालकत्वेन विष्णोः
स्वामित्वेनेन्द्रस्य वा वचसा सुधापानं कुर्वते इत्येवंशीलानां सुराणां तदेवाप्तत्वमुच्यते ।
सृष्टिप्रारम्भे ब्रह्मणा सुरा नराश्च विदधिरे, तदर्थं भोज्यकृते धान्यं सृष्टं नरैरङ्गीकृतम्,
तदनिच्छद्भिर्देवैर्ब्रह्मणा प्रहितैः सृष्टिपालकत्वेन विष्णुर्याचितः, ततो विज्ञाय कृष्णे-
नापि मन्थाचलेन पाथोधिं निर्मथ्य पीयूषमुत्पाद्य तेषां पाणौ निजाग्रजन्मने आप्ताय
शक्राय प्रहितम्, ततो निजनायकत्वेनाप्तीभूतस्य तस्येन्द्रस्य वचसा सुधाहारा आसन्—
इति वैष्णवी श्रुतिः । तेन द्वयोरपि सुधापानविधायिता ॥

अश्वानिवाक्षाणि निरीहभावै रश्मिब्रजैर्यन्नयतां स्वयं नः ।

तपांसि निर्विघ्नतया शताङ्गा इव प्रवर्तन्त उदारकान्ते ॥ १८० ॥

उदारा अतिशायिनी स्फारा वा कान्तिदीप्तिः शोभा वा यस्य महती इच्छा वा ।
‘कान्तिः शोभाकामनयोः दीप्तौ च’ इत्यनेकार्थः । तस्य संबोधने हे साहे, नोऽस्माकं
शताङ्गा रथा इव तपांसि नियमविशेषा निर्विघ्नतया निरन्तरायत्वेन प्रवर्तन्ते प्रचलन्ति

च । अस्माकं किं कुर्वताम् । रश्मिब्रजै रज्जुत्करैस्तुरगान्श्वानिव निरीहभावैर्निर्गता ईहा स्त्रीपुत्रमित्रविभवादपि सांसारिकेषु सर्वेष्वपि पदार्थेषु वाञ्छा येषां ते निरीहास्तेषां भावास्तैः कृत्वा निःस्पृहताभिरक्षाणि समनस्कानि पद्धानीन्द्रियाणि स्वयमात्मना सार-
थिभावेन यन्त्रयतां दमयतां वशीकुर्वताम् ॥

प्रत्यूहकृत्कोऽपि न नः समाधेः कुतोऽशिवं स्याद्भुवि यत्त्वयीशे ।

गृहाङ्गणस्थायिनि कल्पशाखिन्युपद्रवेत्किं नु दरिद्रभावः ॥ १८१ ॥

हे साहे, नोऽस्माकं समाधेर्मनःस्वास्थ्यस्य ध्यानस्य वा कोऽपि कश्चिदपि प्रत्यू-
हकृद्भिन्नविधाता नास्ति, यद्यस्मात्कारणात्त्वयि ईशे स्वामिनि अवनीनेतरि समर्थे अशि-
वोपशमके सति भुवि पृथिव्यामशिवमर्थात् त्वद्देशवासिनामकल्याणं कुतो भवेत् । अपि
तु न स्यादेव । युक्तोऽयमर्थः । नु इति परिप्रश्ने । गृहस्याङ्गणे अजिरे तिष्ठतीत्येवंशील-
स्तस्मिन् गृहाङ्गणस्थायिनि कल्पशाखिनि सुरद्रुमे दरिद्रभावो दारिद्र्यं किमुपद्रवेत् । अपि
तु न दारिद्र्यलेशोऽपि स्यादिति ॥

अनित्यताभावनया पदार्थसार्थस्य विश्वस्य मनः पुनर्नः ।

क्षोदैरिवाम्भः कतकस्य शश्वत्प्रसन्नमास्ते वसुधासुधांशो ॥ १८२ ॥

हे वसुधासुधांशो सकलावनीरजनीपते भूपते, विश्वस्य जगतः पदार्थसार्थस्य वस्तु-
जस्य अनित्यता अशाश्वतत्वम् । यतः—‘ही संसारसहाबो सुचरियनेहाणुरायरत्तावि ।
जे पुन्वन्नेदीष्टा अवरन्ने ते न दीसंति ॥’ तथा ‘संझरागजलवुच्चुउव्वमे जीविताप्यजल-
बिदुच्चंचले । जुव्वणेयनइवेगसंनिभे पावजीवकिमयं न वुञ्जसि ॥’, ‘अनित्यानि शरीराणि
विभवो नैव शाश्वतः । नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥’ ‘यदि जन्म-
जरामरणं न भवेद्यदि चेष्टवियोगमयं न भवेत् । यदि सर्वमनित्यमिदं न भवेदिह
जन्मनि कस्य रतिर्न भवेत् ॥’ इति वचनात्सर्वमनित्यं धर्म एव नित्यः कार्यः इति भाव-
नया वासनया कृत्वा पुनर्नोऽस्माकं मनश्चित्तं प्रसन्नं धर्मकर्मणि निर्मलमेवास्ते । किमिव ।
अम्भ इव । यथा कतकस्य कतकनाम्रः फलस्य क्षोदैश्चूर्णैर्जलं प्रसन्नं स्वच्छं स्यात् ।
तथा यदुक्तम्—‘विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोदसोदराः । जयन्ति त्रिजगच्चेतोजल-
नैर्मल्यहेतवः ॥’ इति सकलार्हत्प्रतिष्ठाने ॥

गोशीर्षसौरभ्यमिवानिलेन संदेशहारिद्वितयेन हृतः ।

गन्धारनाम्नो नगरान्महीन्दो शनैः शनैर्वृद्धतया समागाम् ॥ १८३ ॥

हे महीन्दो साहे, गन्धार इति नामाभिधानं यस्य तादृशान्नगरात्समागाम् श्रीमत्पार्श्वे
समेतः । कथम् । शनैः शनैर्मन्दं मन्दम् । कथा । वृद्धतया स्थविरत्वेन । किलक्षणः अहम् ।
संदेशहारिणोद्भूतयोः । ‘शासनहारिणा हरेः’ इति रघौ । यथा शासनहारी तथा संदेश-
हारीति । तथा ‘दूतः संदेशहारकः’ इति हैम्याम् । द्वितयेन द्वन्द्वेन दूतः आकारितः ।

‘आकारणं हवो हूतिः’ इति हैम्याम् । किमिव । गोशीर्षसौरभ्यमिव । यथा चन्दनद्रु-
मस्य परिमलो अनिलेन वायुना हूयते भूमण्डलान्तरमानीयते ॥ इति साहित्यकुशला-
गमादिप्रश्नप्रत्युत्तराणि ॥

भूमानथाभाषत दूरदेशाद्ययं समेताः कथमेकपद्याम् ।

महेन्द्रवन्मत्तमतङ्गजेन रथेन पाथोरुहबन्धुवद्वा ॥ १८४ ॥

रेवन्तवद्वा तुरगेण दिव्ययानेन वृन्दारकवृन्दवद्वा ।

स प्रोचिवानुज्झितयानमत्र चरन्क्रमाभ्यामहमाजगाम ॥ १८५ ॥

अथ कुशलागमादिकथनानन्तरं भूमान्पृथ्वीपतिरभाषत वदति स्म । हे सूरिन्द्राः,
यूयमेकपद्यां मार्गे । ‘पदव्येकपदी पद्या पद्धतिर्वर्त्म’ इति हैम्याम् । कथं केन प्रकारेण समे-
ताः दूरदेशात् अत्रागताः । तानेव प्रकारान्दर्शयति—किं मत्तो मदोदयो यो मतङ्गजो
गजेन्द्रो गजराजः प्रशस्तहस्ती तेन समेताः । किंवत् । महेन्द्रवत् । यथा पुरंदरो मत्तम-
तङ्गजेन ऐरावणेन समेति । वाथवा किं रथेन स्यन्दनेन ‘बहल’ इति प्रसिद्धेन अध्वनि
समेताः । किंवत् । पाथोरुहबन्धुवत् । यथा कमलसुहृद्वात्करो रथेन मरुद्रथेन समाग-
च्छति । वाथवा तुरगेन प्रवरवाजिना कृत्वा समायाताः । किंवत् । रेवन्तवत् । यथा
रेवन्तः अर्करेतोऽजस्तुरगेण समायाति तस्य हयवाहनत्वेन । ‘रेवन्तस्त्वर्करेतोऽजः
प्लवगो हयवाहनः’ इति हैम्याम् । वाथवा दिव्येन मनोरमेण यानेन शिबिकादिना वाहनेन
समीयिवांसः । किंवत् । वृन्दारकवृन्दवत् । यथा वृन्दारकाणां निर्जराणां वृन्दः समुदायः
दिव्येन देवसंबन्धिना विमानेन समेति । इत्युक्तेऽनन्तरं स सूरिः प्रोचिवान् कथयति स्म ।
हे साहे, अहमत्र श्रीमतां समीपे उज्झितं संत्यक्तं यानं तुरगवाहनादिकं येन तादृशः
क्रमाभ्यां चरणाभ्यां चरन् प्रचरन् आजगाम आगतवान् ॥ युग्मम् ॥

भूपोऽप्युवाचेति न साहिबाख्यस्वानेन युष्मभ्यमदायि किञ्चित् ।

तुरङ्गमस्यन्दनदन्तियानजाम्बूनदाद्यं दृढमुष्टिनेव ॥ १८६ ॥

अपि पुनर्भूपः पातिसाहिः इत्यमुना प्रकारेण प्रोवाच जगाद । पृच्छति स्मेत्यर्थः ।
इति किम् । हे सूरिन्द्राः, दृढमुष्टिना कृपणेनेव साहिव इत्याख्या नाम यस्य तादृशेन
खानेन मम उम्बरकेण सामन्तेन तुरङ्गमा अश्वाः, स्यन्दना रथाः, दन्तिनो गजाः,
यानानि शिबिकादीनि, जाम्बूनदं सुवर्णम्, उपलक्षणाद्रूप्यादिसंग्रहः, अमूनि वस्तूनि
आद्यानि प्रथमानि मुख्यानि वा यत्र तादृशं किञ्चित्किमपि वस्तु युष्मभ्यं नादायि न
दत्तम् ॥ इत्याक्षेपप्रश्नवाक्यम् ॥

गुरुर्जगौ बह्मदिशत्स मह्यं त्वया नियुक्तो हरिणेव मेघः ।

पुनर्न किञ्चिन्निखिलानुषङ्गमुचा मयाग्राहि महीमहेन्द्र ॥ १८७ ॥

ततः साहिप्रश्नानन्तरं गुरुर्हीरसूरिर्जगौ भाषते स्म । हे साहे हे महीमहेन्द्र पृथिवी-

पुरंदर, त्वया श्रीमता नियुक्तः प्रसादितानुशिष्टिः स साहिबखानो मध्यं बहु धनमदिशत् यच्छत्रासीत् । क इव । मेघ इव । यथा हरिणा वासवेन वर्षितुं समादिष्टाः घनाघनाः बहु प्रचुरतरं नीरं दिशन्ति प्रददते । जनेभ्य इति शेषः । 'जानामि त्वां प्रवरपुरुषं कामरूपं मघोनः' इति मेघदूते । 'इन्द्रादिष्टा हि मेघाः भूमौ वर्षन्ति' इति श्रुतिः । परमयं विशेषः । निखिलं समस्तमनुषङ्गं रामाद्रविणादिसङ्गं मुञ्चति दूरं त्यजति तादृशेन मया किञ्चित्किमपि दीयमानं नाग्राहि नादायि न गृह्यते स्म ॥

अहो निरीहैर्महतां वतंसैर्भूर्भूषितामीभिरिवांशुभिर्द्यौः ।

तज्जन्मभिः पङ्कमिवारविन्दैर्भवं परित्यज्य पृथग्भवद्विः ॥ १८८ ॥

अहो इत्याश्चर्यं । सदस्या लोका वा । पश्यत कौतुकं परैरदीयमानमपि जगति के नाद्रियन्ते । एते तु बह्नागृहीता अपि सर्वेषामभिलषणीयानामपि स्वर्णाश्वगजादि नाददते तस्मादमीभिः सूरिन्द्रैः कृत्वा भूरशेषाणि क्षोणी विभूषिता अलंकृता पवित्रिता वा । कैरिव । अंशुभिरिव । यथा अंशुभिः सहस्ररश्मिभिः । 'आदित्यः सवितार्थमा खरसहस्रोष्णांश्च रविः' इति हैम्याम् । द्यौर्गगनवीथी शोभिता । किंभूतैः अमीभिः । निर्गता जगज्जन्मकलत्रपुत्रद्रविणराज्यादियावत्पदार्थसार्थेषु ईहा वाञ्छा येषाम् । निःस्पृहैरित्यर्थः । पुनः किंभूतैः । महतां समस्तसाधुजनोत्तमाङ्गेषु अवतंसैः शेखरायमाणैः । पुनः किंभूतैः । भवं संसारं परित्यज्य निर्मुच्य पृथग्भूयते । किंभूतैः अमीभिः अरविन्दैश्च । तज्जन्मभिः तत्र भवे पङ्के वा भवित्वात्पङ्कजत्वाज्जन्म उत्पत्तिर्येषां तैः ॥

चित्ते दधच्चित्रमिति क्षितीन्द्रः पुनर्युनक्ति स्म मुखं स वाचा ।

सौरभ्यविभ्राजिविजृम्भिताब्जं घनात्ययो हंसमृगीदृशेव ॥ १८९ ॥

स क्षितीन्द्रः पातिसाहिः पुनर्वाचा वाण्या मुखं स्ववदनं युनक्ति स्म संयोजयामास । किं कुर्वन् । इत्यमुना प्रकारेण चित्ते स्वमानसे चित्रमाश्चर्यं दधद्धारयन् मुखं वाचा युयोज । क इव । घनात्यय इव । यथा शरत्कालः सौरभ्येन सौगन्ध्येन विभ्राजते शोभते इत्येवंशीलं तथा विजृम्भितं विकस्वरमब्जं कमलं हंसमृगीदृशा राजमरालमहिलया युनक्ति ॥

ग्रीष्मागमेनेव मयाध्वगानां वृथा व्यथा वः पथिजा व्यसर्जि ।

एतत्पुनर्गोधनवन्न किञ्चिच्चक्रे स्वहृद्गोचरसंचरिष्णुः ॥ १९० ॥

हे सूर्यः, वो युष्माकं मया वृथा मिथ्यैव पथिजा मार्गजनिता व्यथा शीतातपल्लकाकण्टकक्लमादिका पीडा व्यसर्जि विश्राणिता । दत्तेत्यर्थः । केनेव । ग्रीष्मागमेनेव यथा निदाघसमयप्रादुर्भावेन अध्वगानां पान्थानां व्यथा तापतृषादिका विसृज्यते दीयते । पुनरेतच्चङ्क्रमकादिकं किञ्चित्किमपि मया स्वस्यात्मनः हृदो मानसस्य गोचरे विषये संचरिष्णुः संचरणशीलं हृदये वर्तमानं न चक्रे न कृतम् । किंवत् । गोधनवत् । यथा

गोकुलं स्वहृदा निजमनसा । स्वेच्छयेत्यर्थः । गोचरे गवां चरणोचिताचलायां सम्यक् स्वरचितं यथा तथा चरणशीलं भक्षणस्वभावं क्रियते । अथ वा खं मदीयं धनं भूमिः नृपस्य भूयनत्वात् । 'स्वात्पालधनभुग्नेतृपतिमन्वर्थकादयः' इति हैमीवचनात् । तस्या हृदि मध्ये यो गोचरो गवां चरणस्थानं तत्र संचरणशीलमित्यर्थः ॥

विघ्नाय जज्ञे भगवत्समाधेरहं पयोवाह इवांशुभासाम् ।

युष्माकमाकस्मिकदुःखजन्मा तत्प्रत्यवायोऽजनि मे महीयान् ॥१९१॥

हे सूरयः, अहं भगवतां पूज्यानां ज्ञानमाहात्म्यादिगुणगणवतां युष्माकं समाधेः स्वास्थ्यस्य ध्यानस्य वा विघ्नाय अन्तरायकृते जज्ञे संजातोऽस्मि । क इव । पयोवाह इव । यथा जलवाहो मेघः अंशुभासां सूर्यकिरणानां विघ्नाय प्रचारप्रत्यूहाय । आवरणा-
येत्यर्थः । जायते तत्कारणायुष्माकं श्रीमतामकस्मादज्ञातं भवमाकस्मिकमतर्कितोपपन्नं वा यदुःखमसातं तस्माज्जन्मोत्पत्तिर्यस्य तादृशो महीयानतिगुरुर्मम प्रत्यवायोऽपराधः पापं वा अजनि संजायते स्म ॥ इत्याकारणायपराधोद्भावनम् ॥

क्षमाचक्रचक्रीत्यथ थानसिंहमुद्दिश्य जग्राह वचो वचस्वी ।

हितैषिणा कल्प इवादसीयः पन्थाः कथं नो कथितः पुरो मे ॥१९२॥

अथ गुरोः स्वप्रत्यवायोद्भावनानन्तरं वचस्वी वाचोयुक्तिमान् क्षमाचक्रस्य निखिल-
भूमीमण्डलस्य चक्री सार्वभौमोऽकन्वरसाहिः थानसिंहमुद्दिश्य संमुखमालोक्य इत्य-
मुना प्रकारेण वचो वाग्विलासं जग्राह । वदति स्मेत्यर्थः । हे थानसिंह, त्वया भवता मे मम पुरोऽग्रे एषामयमदसीयः एतत्संबन्धी । 'नासादसीया तिलपुष्पतूणम्' इति नैषधे । एकाशनपादचारादिको मार्गः साध्वाचारो वा कथं कुतः कारणात् नो कथितो न निवेदितः । केनेव । हितैषिणेव । यथा हितं स्वस्य परस्य वा जनस्य इष्टापत्तिमिच्छ-
त्यभिलषतीत्येवंशीलेन महात्मना पुंसां कल्पः सम्यक्प्रवृत्तिरूप आचारः कथ्यते ॥

इत्यप्यवर्किं न पदप्रचारैः प्राप्स्यन्ति दुःखं यदिहाजिहानाः ।

निगद्य भूमानिति शारदीनसारङ्गवन्मौनमधत्त वक्त्रे ॥ १९३ ॥

अपि पुनस्त्वमित्यप्येतदपि किं केन प्रकारेण नावकं न कथितवान् । इति किम् ।
यदेते सूरीन्द्राः इह दूरदेशे वर्तिनि मेवातमण्डलालंकारहारसकलकमलासंकेतनिकेतफ-
तेपुरमाश्रयतां श्रीमतां संनिधानि पादप्रचारैः स्वचरणचङ्क्रमणैः आजिहाना आगच्छन्तः ।
'स्वयं वरस्याजिनमाजिहानाम्' इति नैषधे । 'अजिनमागच्छन्तीम्' इति तद्वृत्तौ ।
'आगमने गमनार्थाः समभ्युपाङ्मयः पराः कथिताः' इति क्रियाकलापे । 'ओहाङ् गतौ'
इत्यस्य आनश्प्रत्यये जिहाना आङ्योगे आजिहाना आगमनार्थ इति । दुःखमसातं
प्राप्स्यन्ति लप्स्यन्ते । एतन्मया प्रोच्यमानं मम कथं न स्मारितम् । भूमानित्यमुना
प्रकारेण निगद्य कथयित्वा वक्त्रे स्वमुखे मौनं तूष्णींभावमधत्त दधौ । किंवत् । शारदीन-

सारङ्गवत् यथा शरत्कालसंबन्धी वप्पीहो मौनं धत्ते । वर्षासु तृषाक्रान्ततया जलपा-
नार्थमुन्नमनीरदपुरस्ताद्बाल्यालप्य शरदि जलधराभावात्तूष्णीं विधत्ते ॥

किमुत्तरं स्यादिह मन्दधीवन्मीमांसते यावदसौ हृदीति ।

स दीर्घदर्शीव शशी रसायास्तं संशयानं प्रतिशंसति स्म ॥ १९४ ॥

मन्दा कुण्ठा धीर्बुद्धिर्यस्य सोऽल्पमेधा इव यावदसौ स्थानसिंहो हृदि निजमनसि
इति मीमांसते विचारयति । इति किम् । यदिह साहिनिगदितवाक्ये किमुत्तरं प्रतिवचः
स्यात् । तावद्दूरादग्रे स्वपरेषां भावि हिताहितं पश्येत् स्वमनीषया विचार्य जानी-
यात्स दीर्घदर्शी तद्वत् रसायाः शशी क्षोणीक्षणदापतिरकम्बरसाहिः संशयानं संदेहं
विदधानं स्थानसिंहं प्रतिशंसति प्रश्रयित्वा स्वयमेवोत्तरयांचकार ॥

एतद्वयं मानसमानसाङ्गे वलक्षपक्षीकरवाम कामम् ।

इदं त्वयाचिन्त्यत पुण्यलक्ष्मीमाकाङ्क्षता क्षीरधिशायिनेव ॥ १९५ ॥

हे स्थानसिंह, काममत्यर्थं वयमेतदग्रे वक्ष्यमाणं भवन्मनसि वर्तमानं वा मानसं
मदीयमनसस्तदेव मानसं नाम सरस्तस्याङ्गे क्रोडे वलक्षपक्षीकरवाम हंसायमानं विद-
धाम इत्याशीःप्रेरणयोरुत्तमपुरुषबहुवचनम् । यदुक्तम्—‘कान्तारे निर्गतासि प्रिय-
सखि पदवी विस्मृता किं तु सुग्ध मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरेनां वयस्य’
इति नैषधे । यामेत्याशीरुत्तमपुरुषबहुवचनमपि । वयमेव हृदि विद्य इत्यर्थः । हे
स्थानसिंह, त्वया भवता इदं मयोच्यमानमचिन्त्यत ध्यातं हृदि विचारितम् । त्वया किं
कुर्वता । पुण्यलक्ष्मीं धर्मश्रियमाकाङ्क्षता वाञ्छता । केनेव । क्षीरधिशायिनेव । यथा
दुग्धवाधौ शेते स्वपित्येवंशीलेन कृष्णेन पुण्या पतिव्रतात्वेन पवित्रा श्रीः काङ्क्षयते ॥

स्वमण्डले भूतलशीतभासानीयन्त एते यदि सूरिशकाः ।

सुधाशनान्मोनिधिवल्लभाया भगीरथेनेव पयःप्रवाहाः ॥ १९६ ॥

यदि एते सूरिशकाः हीरसूरीन्द्राः भूतलशीतभासा साहिना । ‘इदं तसुर्वतलशीतल-
वुतिम्’ इति नैषधे । स्वमण्डले निजजनपदे आनीयन्ते आकार्यन्ते । केनेव । भगीर-
थेनेव । यथा सुधाशनानां देवानामम्भोनिधिवल्लभा समुद्रपत्नी नदी सुरसरिद्रङ्गा तस्याः
पयःप्रवाहाः जलप्रवाः भगीरथनाम्ना भूमीन्दुना भूपालेन स्वदेशे समानीयन्ते । ‘गङ्गा
भगीरथेनेव पूर्वेषां पावनक्षमा । इच्छता संततिं तेन न्यस्ता मन्त्रिषु कोशला ॥’ इति
रघौ । तथा ‘गङ्गामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः’ इति नैषधेऽपि ॥

सुधारसं प्रीतिभरेण पायं पायं प्रभोर्दर्शननामधेयम् ।

तदा भजामो वयमप्यमर्त्या इव स्वभावादजरामरत्वम् ॥ १९७ ॥

तदा वयं मेवातमण्डलश्राद्धवर्गा अपि अमर्त्या देवा इव स्वभावात्सहजेनेव अजरा-
मरत्वं जरामरणराहित्यम् । अजरामरभावमित्यर्थः । भजाम आश्रयामः । किं कृत्वा ।

प्रीतिभरेण प्रेमातिशयेन मनोहादेन वा प्रभोगुरोर्दर्शनमालोकनं तदेव नामधेयमभिधा-
यस्य । 'नामरूपभागाङ्गय—'इति हैमीवृत्तौ । ततो नामधेयरूपधेयभागधेयानि इति
प्रयोगाः । तादृशं सुधारसममृततनिस्यन्दं पायं पायं पीत्वा पीत्वा । 'पौनःपुन्ये णमृपदं
द्विश्च, पायं पायं भोजं भोजं व्रजति' इति सारस्वतव्याकरणे ॥

पुरो न मे किञ्चन तेन वृत्तं त्वया गुरूणां प्रतिपाद्यते स्म ।

यतः स्वसद्भाभिमुखीभविष्णुमुपेक्षते कः सुरसौरभेयीम् ॥ १९८ ॥

हे स्थानसिंह, तेन कारणेन गुरूणां तव धर्माचार्याणां हीरसूरीणां वृत्तं साध्वाचारा-
दिकमाचरणं मे मत्पुरोऽग्रे त्वया किञ्चन किञ्चिदपि न प्रतिपाद्यते स्म न प्रोक्तम् ।
युक्तोऽयमर्थः । यतः कारणात् स्वस्यात्मनः गृहस्थाभिमुखीभविष्णुं सन्ननः संमुखभवन-
शीलां मन्दिरे समागच्छतीं सुरसौरभेयीं कामधेनुं को जन उपेक्षते । अपि तु न
कोऽपि । सर्वोऽप्यायान्तीं समीहते ॥

रामाङ्गजो मध्यमलोकपालवक्त्रादिदं वाङ्मयमभ्युदीतम् ।

निपीय भृङ्गो मकरन्दमम्भोरुहादिवामोदभरं बभार ॥ १९९ ॥

स्वर्गपातालयोरपेक्षया मध्यमः अधः पातालमुपरि च स्वर्गः तयोर्मध्यवर्ती मध्ये-
वर्ती मध्येभवो मध्यमस्तादृशो लोको विश्वभुवनं तस्य पालयिता अकम्बरस्तस्य
वक्त्राद्वदनादभ्युदीतं प्रकटीभूतं वाङ्मयं वाक्प्रपञ्चम् । वचनरचनामित्यर्थः । 'इतीदृशैस्तं
विरचय्य वाङ्मयैः' इति नैषधे । 'एवंविधैः वचःप्रपञ्चैः' इति तद्वृत्तिः । रामाङ्गजः
स्थानसिंहो निपीय सादरमाकर्ण्य आमोदभरं प्रमोदातिशयं बभार । क इव । भृङ्ग इव ।
यथा भ्रमरः अम्भोरुहात् पद्मादुदीतं मकरन्दं निपीयास्वाद्य आमोदभरं परिमलातिरे-
कप्रमोदाधिक्यं धत्ते ॥ इति स्थानस्य साहेः प्रश्नोत्तरम् ॥

शशंस सभ्यानथ पार्थिवेन्दुरानेतुमेतानिह केन जग्मे ।

तेऽप्यूर्ध्वान्द्रमजय्यवीर्यमिवावतीर्णं भुवि कार्तवीर्यम् ॥ २०० ॥

अथ स्थानसिंहस्य कथनानन्तरं पार्थिवेन्दुः राजराजः सभ्यान् स्वसभासदः पुरुषान्
प्रति शशंस कथयति स्म । किं शशंस तदेवाह—एतान् सूरीन्द्रानिह मत्पार्श्वे आनेतु-
माकारयितुं केन जग्मे गतम् । ततः ते सभ्या अपि उर्वीन्द्रं वसुधावासवम् ऊचुर्बभा-
षिरे । उत्प्रेक्ष्यते—भुवि पृथिव्यामवतीर्णमुत्पन्नं तथा अजय्यं परैर्जैतुमशक्यं वीर्यं
पराक्रमो यस्य तादृशं कार्तवीर्यं बाहुसहस्रार्जुनमिव अजय्यबलत्वे । 'कारागृहे निर्जित-
वासवेन लङ्केश्वरेणोषितमा प्रसादात्' । तस्य सादृश्यं वीर्यातिशयात् ॥

मौन्दीकमालाविति नामधेयौ निदेशतः शासनहारिणौ वः ।

इतोऽजिहातामिव मूर्तिमन्तौ लेखौ वलेखाविव कामचारौ ॥ २०१ ॥

हे प्रभवः, वो युष्माकं निदेशतः आदेशमङ्गीकृत्य एको मौन्दी अपरः कमाल इति

नामधेयावभिधानौ शासनहारिणौ दूतौ यवनमुद्रलजातिषु मध्ये मेवडा इति संज्ञकौ इतो युष्माकं समीपादजिह्वाताम् गतवन्तावास्ताम् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमन्तौ मनुष्यव-पुर्भाजौ लेखौ काङ्गलौ स्फुरन्माने इव पुनरुत्प्रेक्ष्यते । मूर्तिमन्तौ लेखौ देवाविव देवा हि न केनचिच्छुषा लक्ष्यन्ते । अतः पार्थिवशरीरभाक्त्वादिलोचनगोचरौ । किलक्षणौ । कामं स्वेच्छया अतिशयेन च दिव्यया देवगत्या चरणं व्रजनं चारौ गमनं ययोस्तौ ॥

तैः शासितुः शासनतः पृथिव्या दूतौ पुरस्तादुपसेदतुस्तौ ।

वसुंधराशेषविशेषवृत्तिं चिद्रोचरीकर्तुमिवास्य नेत्रे ॥ २०२ ॥

तौ दूतौ पुरस्तात्साहेरग्रे उपसेदतुः आगतवन्तौ । किंभूतौ । पृथिव्या भूमेः शा-सितुः पालयितुः पातिसाहेः शासनत आदेशात्तैः सभ्यैः सभासद्भिः दूतावाकारितौ । उत्प्रेक्ष्यते—वसुंधरायाः समस्तक्षितिमण्डलस्याशेषां समग्रां विशेषवृत्तिं न्यायान्यायका-रिशिष्टाशिष्टमित्रमित्रस्वभावोदन्तसूचयित्रीं वार्तां चिद्रोचरीकर्तुं ज्ञानविषयतां विधातुम् । ज्ञातुमित्यर्थः । अस्याकम्बरसाहेनने नयने इव । यथा नेत्राभ्यां कृत्वा जनेन सर्वम-प्यालोक्यते तथा दूताभ्यां राज्ञा परमण्डलोदन्ताद्यखिलं विज्ञायते । ‘चरलोचना हि राजानः’ इति श्रुतिः । यदुक्तम्—‘चरैः पश्यन्ति राजानः सुहृदा व्यवहारिणः । देवाः पश्यन्ति ज्ञानेन सर्वेऽन्ये चर्मचक्षुषा ॥’ ‘वणिक्पुत्रैर्महेश्वराः’ इति पाठः । अथ वा प्रतिभाविषयं विधातुं चिच्छब्देन बुद्धिरपि । ‘प्रक्षाचिदुपलब्धयः’ इति हैम्याम् ॥

मुखं मृगाङ्गं मिलितुं स्वबन्धोर्लब्धोदयं वारिरुहे इवैते ।

पाणी प्रणीय प्रणयेन मध्येगोधीति धात्रीशमवोचतां तौ ॥ २०३ ॥

तौ दूतौ धात्रीशं साहिं प्रति इत्यमुना प्रकारेण अवोचतां वदतः स्म । किं कृत्वा । प्रणयेन स्वस्वामित्वादिसंबन्धलेहेन । भक्तेनेत्यर्थः । अथ वा आदेशयाचनार्थम् । ‘प्रणयः स्नेहयाचनयोः’ इत्यनेकार्थः । मध्येगोधि भालान्तराले पाणी हस्तौ प्रणीय कृत्वा । ललाटेऽङ्गलिं विधायेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो बन्धोः सकाशाल्लब्धः संप्राप्त उदयो येन । सूर्यज्योतिरधिगम्य चन्द्रोऽभ्युदयतीति कविसमयः । यथा रघुका-व्ये—‘पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः’ इति । तादृशं मुखं मृ-गाङ्गं वदनमेव चन्द्रं मिलीतुमेते समायाते वारिरुहे पद्मे इव ॥

आदिश्यतां देव निदेश्यमित्थं निर्दिश्य तौ संश्रयतः स्म तूष्णीम् ।

धाराधरस्येव ऋतोर्विरामे नमोम्बुपाम्भोदसुहृच्छकुन्तौ ॥ २०४ ॥

हे देव, निदेश्यं कथनार्हं वक्तव्यमादिश्यतां प्रसाद्यताम् । इत्यमुना प्रकारेण निर्दिश्य विज्ञाप्य तौ दूतौ तूष्णीं मौनं संश्रयतः भेजाते । काविव । नमोम्बुपाम्भोदसु-हृच्छकुन्तौ यथा धाराधरस्य ऋतोर्वर्षाकालस्य विरामे व्यपाये । शरत्समये इत्यर्थः । चातकमयूरविहंगमौ मौनमाश्रयेते ॥

भूमानिमावित्यवदत्ततोऽमी कथं समीयुः पथि कीदृशाश्च ।

तावप्यवक्तां तमुपागतं स्वर्बलिद्विषो हन्तुमिवाञ्जनाभम् ॥ २०५ ॥

ततो दूतोक्तेरनन्तरं भूमानकब्बरसाहिरिमौ दूतौ प्रतीत्यमुना प्रकारेण अवदद्द-
भाषे । इति किम् । हे मौन्दीकमालौ, अमी सूरयः पथि मार्गे कथं केन प्रकारेण स-
मीयुः समागताः । मुद्गलम्लेच्छजातित्वाजैनमार्गानभिज्ञत्वादयं प्रश्नः । च पुनः । की-
दृशाः किमाचाराश्च वर्तन्ते । अपि पुनस्तौ दूतौ तं भूपं प्रति अवक्तां कथयतः स्म ।
तमुत्प्रेक्ष्यते—बलिनः पराक्रमचतुरङ्गचक्रादिकं बलं भुजवीर्यं चमूश्च विद्यते येषां ते
बलवन्तो ये द्विषो वैरिणः तथा बलिनामा पातालाधिपः सुरासुरसेव्यमानो वदान्यमौलिः ।
यन्नाम्ना पातालं बलिसमेति प्रसिद्धम् । स एव रिपुर्दानवेन्द्रत्वात् तांस्तं वा हन्तुं यमा-
तिथीकर्तुं स्वर्गादुपेतं देवलोकाद्भूमावागतम् । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—‘कथं च स देशः
स्वर्गान्न विशिष्यते । यत्र गृहे गृहे गौर्यः द्वियः महेश्वरो लोकः । सश्रीका हरयः’
इति । ‘गौराङ्गयः पार्वती च । महेश्वरः शिवश्च । शोभायुक्तो हस्तश्च । लक्ष्मीयुक्तः
कृष्णः’ इति तद्वृत्तिः । अतः स्वर्गस्थत्वम् । अञ्जनाभं नारायणमिव । अञ्जवन्नाभि-
र्यस्य । पक्षे अञ्जं नाभौ यस्येति व्युत्पत्तिमात्रम् । तत्त्वतस्त्वभिधानमेव ॥

चूर्णैरिव स्वक्रमपद्मपांसुभिः प्राचीनसूरिप्रकरैः प्रतिष्ठिताम् ।

सभाजयन्तः प्रतिमामिव क्षमां क्रमाम्बुजाभ्यां पथि संचरन्त्यमी २०६

हे देव, अमी सूरयः स्वाभ्यां क्रमाम्बुजाभ्यां पथि चरणकमलाभ्यां मार्गे संचरन्ति
सम्यगरीत्या प्रचलन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—प्रतिमां परमेश्वरमूर्तिमिव क्षमां क्षोणीं सभाज-
यन्तः पूजयन्त इव । सभाजनशब्दः पूजार्थेऽपि । यथा नैषधे—‘सभाजनं तत्र स-
सर्जं तेषां सभाजने पश्यति विस्मियते सा’ इति । ‘सभाजनं पूजाम्’ इति तद्वृत्तिः ।
तथा क्रियाकलापेऽपि—‘सभाजनार्थे सभाजयति’ । प्रतिमां किंभूताम् । प्राचीनसूरि-
प्रकरैः पूर्वाचार्यनिचयैः स्वक्रमपद्मानामात्मनां पादारविन्दानां पांसुभिः रजोभिः कृत्वा
प्रतिष्ठिताम् । उत्प्रेक्ष्यते—चूर्णैर्वासयोगैरिव पूज्यतया स्थापिताम् ॥

श्रेणीं सतामिव विमुक्तसमग्रदोषां

वल्लभाममी विदधते सकृदेव देव ।

आराधयन्ति विधिवद्विधृतावधाना

योगं विधूतवनिताद्यखिलानुषङ्गम् ॥ २०७ ॥

हे देव, अमी गुरवः सकृदेव एकवारमेव वल्लभामाहारं विदधते कुर्वन्ति । किलक्ष-
णाम् । सतामुत्तमानां श्रेणीमिव । विमुक्तसमग्रदोषां त्यक्ताः सर्वेऽप्याध्यकर्मिकाः
सप्तचत्वारिंशन्मिता अशनदोषा एतावता नवकोटिभिर्विशुद्धां नवकोटय उच्यन्ते ।
स्वयं न कुर्वन्ति परैर्न कारयन्ति परं कुर्वन्तं नानुमोदयन्ति इति नवकोट्यस्ताभि-

निर्दोषां तथा अपगुणाय याताम् । पुनरमी विधूतो दूरं निरस्तो वनिता नारी आदौ
यस्य तादृशोऽखिलः समस्तोऽप्यनुषङ्गः सङ्गः परिचयो यत्रैवं स्यात्तथा विधिवदागमोक्तेन
विधिना योगं यमाद्यष्टप्रकारसंगतमवध्यानविशेषं मनोवाक्यादीनां स्वस्वव्यापारेभ्यो
नियमनरूपं वा योगमाराधयन्ति । किंभूता अमी । विधृतं योगे एव निहितम् अथ
वा विशेषेण धृतं संसारानित्यतायामवधानं ध्यानं मनो वा यैः ॥

विश्वे वेश्मनि तारमौक्तिकनभश्चन्द्रोदयभ्राजिनि

ज्योतिस्तैलभृतौषधीप्रियतमे स्नेहप्रियोद्भासिनि ।

आश्लिष्योपशमश्रियं निजभुजागण्डोपधानाङ्किते

पर्यङ्के जगतीतले सुखममी भूमीशवच्छेरते ॥ २०८ ॥

हे साहे, अमी सूरयः भूमीशवद्द्रूपाळा इव विश्वे वेश्मनि जगन्नाम्नि निकेतने भु-
वने एव भवने वा जगतीतले भूमेरुसङ्गरूपे पर्यङ्के पल्यङ्के शय्यायामुपशमनात्रीं श्रियं
लक्ष्मीं नामाङ्गनामाश्लिष्य गाढमालिङ्ग्य सुखं निर्भयं मनःस्वास्थ्ययुतं यथा स्यात्तथा
शेरते स्वपन्ति निद्रासुखमनुभवन्ति । पर्यङ्के किंभूते । निजभुजा स्वबाहुनिव गण्डोप-
धानं गल्लमसूरकं तेनाङ्किते कलिते । किंभूते वेश्मनि । तारास्तारका उपलक्षणात् ग्रहन-
क्षत्राणि एव मौक्तिकानि यत्र तादृशं नभ आकाशमेव चन्द्रोदय उल्लोचस्तेन भ्राजते
इत्येवंशीले । पुनः किंभूते । कान्तिज्योतिरेव तैलं स्नेहस्तेन भृतः पूरितः य औषधी-
प्रियतमः चन्द्रः । 'नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्' इति रघौ । स एव स्नेहप्रियः दीप-
स्तेनोत्प्राबल्येन भासते दीप्यते सहोद्योतेन शालते इत्येवंशीले ॥

बाह्याबाह्यजिघांसुधातुकतपस्तेजोभिरेभिर्भुवो

जम्भारे गगनार्धगोणधरैर्धिकारतां लम्बितः ।

शत्रून्प्रत्यपकर्तुमम्बुधिशयं संशीलतीवानिशं

यायादेष कुतः सरस्वति न चेदेणाङ्कयोषामुखे ॥ २०९ ॥

हे भुवो जम्भारे क्षोणीन्द्र, एभिर्गणधरैर्ह्यरविजयसूरिभिर्बाह्या बहिर्भवाः कुट्टकप्र-
मुखाः अबाह्या अन्तरङ्गाः रागद्वेषकषादयो जिघांसवो द्वेषिणस्तेषां घातुकानि हिंसनशी-
लानि यानि षष्ठाष्टमादिविकृष्टतपांसि तेषां तेजांसि प्रतापास्तैः साधनैः कृत्वा । तेजः-
शब्देन प्रतापोऽप्युच्यते । यथा नैषधे—'एतस्योत्तरमथ नः समजनि उत्तेजसां लङ्घने'
इति । 'तव प्रतापानामतिक्रमणे' इति तद्वृत्तिः । धिकारतां पराभवभावं लम्बितः
प्रापितः सन् गगनाध्वगः सूर्यः । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रून् सूरिप्रतापरूपान्निजविजयित्वात्
स्ववैरिणः प्रत्यपकर्तुं पराभवं विधातुमम्बुधिशयं समुद्रशे(शयि)तारं विष्णुमनिशं निर-
न्तरं शीलतीव सेवते इव । यः शत्रून्भूय परं पराभवति स तेन दैत्य एवोच्यते ।
ततो विष्णोर्दैत्यनिषूदनत्वेन तत्सेवनं युक्तमेव । एवं चेन्न तर्हि एष भानुरेणाङ्कस्य

चन्द्रस्य योषा कान्ता रात्रिस्तस्या मुखे प्रारम्भे संध्यासमये । 'रजनी वसति-
श्यामा वासतेयी तमस्विनी । उषा दोषेन्दुकान्ता' इति, तथा 'प्रदोषो यामि-
नीमुखम्' इति हैम्याम् । सरस्वति समुद्रे कुतः कारणाद्यायादृच्छेत् । तत्र गमनकारणं
तु दैत्यारिसेवनैव ॥

कामचापभ्रुवः स्फारशृङ्गारिणी कुम्भिकुम्भप्रगल्भस्तनीः स्रग्विणीः ।

स्वर्वशाः किं प्रणश्यत्पृषच्चक्षुषः सुभ्रुवोऽमी तृणं मन्यते क्षमापते २१०

हे क्षमापते भूमीनायक, अमी सूरयः सुभ्रुवो नारीस्तृणं मन्यते तृणप्राया गणयन्ति
जानन्ति । किंभूताः सुभ्रुवः । कामस्य मदनस्य चापः कोदण्डः तद्रुद्रुवो यासाम् । पुनः
किंभूताः । स्फारो विश्वचेतश्चमत्कारकारी मनोहारी च शृङ्गारो वस्त्राभरणाद्यादम्ब-
रोऽस्ति आसाम् । पुनः किंभूताः । कुम्भिनां गजेन्द्राणां कुम्भौ शिरसः पिण्डौ तद्रत्नं
प्रगल्भौ तुङ्गौ पीनौ च स्तनौ कुचौ यासाम् । पुनः किंभूताः । स्रजः स्वर्णरत्नमुक्तादीनां
रक्तसुमादीनां मालाः सन्त्यासाम् । 'अस्त्रायामेधास्त्रगर्भ्योऽस्त्यर्थे विनिर्वक्तव्यः' इति
सारस्वते । पुनः किंभूताः । प्रणश्यन्तो भयपलायमाना ये पृषतो मृगविशेषाः तेषां
चञ्चललोचने इव चक्षुषी यासाम् । उत्प्रेक्ष्यते—किं साक्षात्स्वर्वशा अप्सरस इव ।
सुराङ्गनासदृशा अपि वशा एते तृणाय मन्यन्ते । व्यञ्जनान्तोऽपि पृषच्छब्दो मृगवाची
हृदयते । यथा नैषधे—'पृषत्किशोरी कुरुतामसंगतम्' इति ॥

विरागे नानुरागे न तोषे दोषे न भूविभो ।

मुक्तौ न सुभ्रुवां मुक्तौ चेतश्चिन्वन्त्यमी क्वचित् ॥ २११ ॥

हे भूविभो, अमी सूरयः विरागे वैराग्ये सर्वसंसारासारतापरिज्ञानादनित्यभावनायां
चेतः स्वं मनश्चिन्वन्ति पुष्टं कुर्वन्ति, परं नानुरागे क्वचित्कुत्राप्यवस्थायां न पुनः
पुत्रकलत्रमित्रद्विगणानुरक्तौ आजन्म यावद्वैराग्यरङ्गतरङ्गितमानसा एव वर्तन्ते । तोषे
निलोभतालक्षणे संतोषे । 'संनिधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी । अमराः किंकरायन्ते
संतोषो यस्य भूषणम् ॥' इत्युक्तेः स्वास्थ्ये चेतश्चिन्वन्ति, न पुनः क्वचित्कस्मिन्नपि
दोषे अपगुणे रागद्वेषकषायादौ च । पुनर्मुक्तौ कदा अनादिसंसारपरम्परात्तां मूलादु-
च्छिद्य मोक्षे यास्याम इत्याशये, न पुनः क्वचिद्देवनरादिकानां कलत्राणां मुक्तौ भोगे वि-
लासे राज्यादिदुखलीलाभुक्तौ वा । 'जिनेति जिनमद्रेति वा स्मरन् । नरो न लुप्यते
पापे मुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥' इति जिनकवचनस्तोत्रे । चेतश्चिन्वन्ति ॥

भूलोके भोगिलोके च स्वर्लोके स न कश्चन ।

आवाभ्यामुपमीयेत योगिनां मौलिनामुना ॥ २१२ ॥

हे प्रभो, भूलोके निखिलविपुलामण्डले च पुनर्भोगिनां भुजंगमानां लोके भुवने पा-
ताले च पुनः स्वर्लोके देवमन्दिरे कश्चन कोऽपि स वशीन्द्रो नास्ति यो योगीन्द्रः योगि-

नामष्टाङ्गयोगभाजां मनोवाक्काययोगवतां वा मध्ये मौलिना मुकुटेन शेषरेणामुना
सममावाभ्यामुपमीयेत उपमानीक्रियेत ॥

नमश्चिकीर्षयामीषां तीर्थानामिव सर्वतः ।

परोलक्षा मृगाक्षीभिः सममायान्ति मानवाः ॥ २१३ ॥

हे प्रभो, शत्रुञ्जयोज्ज्वलन्तगङ्गाप्रयागादितीर्थानामिवामीषां सूरीणां नमश्चिकीर्षया
नमस्कर्तुमिच्छया सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः मृगाक्षीभिः खल्वस्त्रीभिः समं सार्धं लक्षा-
तपरे परोलक्षाः सहस्रशः मानवाः समायान्ति समागच्छन्ति ॥

दूतास्यपद्महृदनिर्गतेति त्रतीशितुः कीर्तिसुरस्रवन्ती ।

कूलंकषानामिव कामुकेन महीमघोना हृदये न्यधायि ॥ २१४ ॥

इति पूर्वव्यावर्णितस्वरूपयोर्दूतयोः संदेशहारिणोरास्यं वदनमेव पद्महृदश्चुल्लहिमव-
च्छिखरिमध्यगतसहस्रयोजनविष्कम्भपद्मशतयोजनायामो लक्ष्मीदेवतानिवासस्थानं प-
द्मानामाहदो हृदस्तस्मान्निर्गता प्रवर्तिता या त्रतीशितुर्ह्रीरविजयसूरेः कीर्तिरेवाति-
विशदत्वात् सुरस्रवन्ती देवनदी गङ्गा सा कूलंकषानां सर्वसरितां कामुकेन अभिलाषु-
केण भर्त्रा इव समुद्रेणैव महीमघोना वसुधावासवेन अकम्बरसाहिना हृदयं मनो वक्षश्च
तस्मिन् समुद्रेण वक्षसि साहिना च खमनसि न्यधायि स्थापिता । अवधारितेत्यर्थः ॥
इति मौन्दीकमालमेवाढावर्णितसूरिगुणाः ॥

येनाकरा रोहणवन्मणीनाममी गुणानां गणिरोहिणीशः ।

हूतास्ततोऽस्माभिरिहेत्युदित्वा न्यवीवृतवीरधिनेमिनाथः ॥ २१५ ॥

हे दूतौ, येन कारणेन अमी साङ्गप्रवचनाधीतिष्वनूचानेषु गणिषु रोहिणीशाश्वन्द्राः
सूरीन्द्राः गुणानां शमदमसंयमादीनामाकराः खनयः सन्ति । किंवत् । रोहणवद्रत्नाचल
इव । यथा रोहणनामा पर्वतो मणीनामनेकेषां रत्नानामुत्पत्तिस्थानम् । ततः कारणादमी
अस्माभिरिह मेवातमण्डले फतेपुरे अस्मत्समीपे वा आहूता आकारिता नीरधिनेमेः
पृथिव्या नाथः स्वामी पातिसाहिः इत्यमुना प्रकारेणोदित्वा कथयित्वा न्यवीवृतत् नि-
वर्ततो मौनमाश्रितवान् ॥ इति दूतौ प्रति साहेः सूरेराकारणागमनहेतूक्तिः ॥

द्वाराणीव महानन्दनगर्याः साधुसिन्धुराः ।

कानि वः सन्ति तीर्थानि नृपः पप्रच्छ तानिति ॥ २१६ ॥

नृपोऽकम्बरस्थान् सूरीन् इत्यमुना प्रकारेण पप्रच्छ प्रश्नयामास । इति किम् । हे
साधुसिन्धुराः, वो युष्माकं कानि किंनामानि तीर्थानि सन्ति वर्तन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—म-
हानन्दनगर्याः सिद्धिपुर्याः द्वाराणि गोपुराणि प्रतोल्य इव ॥

१. नवमसर्गीय १२३ संख्याकल्लोकटिप्पणिवत् 'परस्लक्षा' इति भवेत्, 'पृषोदरा-
दित्वात्' यथान्यासमेवास्तु वा.

पतिर्यतीनां जगदुत्तमाङ्गोत्तसायमानक्रमपद्मयुग्मः ।

अर्थेन काव्यं कवितेव वक्त्रं संयोजयामास स भाषितेन ॥ २१७ ॥

यतीनां पतिर्हीरसूरिर्भाषितेन वचसा साकं वक्त्रं मुखं संयोजयामास युनक्ति स्म संगमयति । क इव । कवितेव । यथा काव्यकर्ता अर्थेन समं काव्यं योजयति । 'भवद्वृत्तं स्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितुः' इति नैषधे कवितृशब्दः कवेर्नामापरपर्यायः । किंभूतः सूरिः । जगतां जगज्जनानामुत्तमाङ्गानि शिरांसि तेष्टुत्तसायमानं शेखरा-यमाणं क्रमौ चरणावेव पद्मौ कमलौ द्वावपि पुनपुंसकलिङ्गयोर्युग्मे युगलं यस्य ॥

अथ सूरिः साहिपुरः कानिचित्तीर्थानि कथयति—

राजन्यत्र पतिवरेव वृणुते कैवल्यलक्ष्मीः स्वयं

संघाखण्डलमूर्ध्नि वर्षति पयोऽब्दालीव राजादनी ।

यस्मिन्पङ्क इव प्रयाति वृजिनं मार्तण्डकुण्डाम्भसा

तत्तीर्थं विमलाचलो विजयते सौराष्ट्रचूडामणिः ॥ २१८ ॥

हे राजन् पातिसाहे, जगत्रयीप्रसिद्धं पापापायव्यपायक्षेत्रं विमल इति नामाचलः पर्वतः विमलाचलोऽधुना शत्रुंजय इति नाम तीर्थं विजयते सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तते । किंभूतः । सौराष्ट्रणां यात्रागतशत्रुंजयोज्ज्वलन्तपर्वतरूपतीर्थद्वयविलोकनात्प्रमुदितभर-तचक्रवर्तिप्रदत्तदेवदेशाभिधानानां चूडामणिः शिखामणिसदृशः इव । तत्किम् । यत्र विमलाचले पतिवरा स्वयंवरा कन्येव कैवल्यलक्ष्मीः मुक्तिश्रीः स्वयमात्मनैव वृणुते वरयति । पुनर्यत्र राजादनी प्रियालङ्घनः । 'नवनवतिपूर्ववाराण्यस्मिन्समवासरयु-गादिजिनः । राजादनीतरुतले विमलगिरिरयं जयति तीर्थम् ॥' इति पूर्वार्चार्थकृतशत्रुं-जयस्तुतौ । अब्दालीव कादम्बिनीव संघस्य श्राद्धवर्गस्याखण्डल इन्द्रः संघपतिस्तस्य मूर्ध्नि मस्तकोपरि पयो दुग्धं पानीयं च वर्षति । पुनर्यस्मिन्विमलाचले मार्तण्डकुण्डा-म्भसा सूर्यकुण्डजलेन पङ्कः कर्दम इव वृजिनं पापं प्रयाति दूरे गच्छति ॥

आस्तेऽभ्रंलिहरैवताद्रिरपरः स्वस्याः पवित्रीकृते

जाने सानुनिभेन सप्तजगतीयं सेवतेऽहर्निशम् ।

शंभोश्चन्द्रकलेव मूर्धनि पुनर्भाति स्म यस्याम्बिका

यस्मिन्नेमिजिनस्तथा गजपदं कुण्डं पुनीते जगत् ॥ २१९ ॥

हे नृप, अपरोऽन्यः अभ्रंलिहः अम्बरंचुम्बी रैवत इति नामा अद्रिः पर्वत आस्ते अहमेवं जाने अवगच्छामि । सप्तजगती सप्तसंख्यया युक्ता जगती । सप्त भुवनानी-त्यर्थः । 'त्रिजगती पुनती कविसेविता' इति ऋषभनम्रस्तवे । यथा त्रिजगती स्वस्या आत्मनः पवित्रीकृते पावनीकरणाय सानुनिभेन सप्तशिखरकपटेन अहर्निशं दिवारात्रौ यं गिरिनारगिरिं सेवते भजतीव । पुनर्यस्य रैवताद्रेर्मूर्धनि शिरसि शिखरे अम्बिका

श्रीनेमिनाथशासनाधिष्ठायिका देवता भाति स्म शुशुभे । केव । चन्द्रकलेव । यथा शंभो-
रीश्वरस्य मूर्ध्नि मस्तके शशिकला भाति । पुनर्यस्मिन् गिरौ नेमिनामा जिनो द्वाविंश-
तितमस्तीर्थनाथोऽधिपतिः श्रीनेमिनाथस्तथा गजपदं श्रीनेमिनाथवन्दनागतसौधमेन्द्रेण
निजगजरत्नैरावणहस्तिपार्श्वप्रदापितपदातिभारपूर्वकं कारितं सर्वतीर्थावतारं गजपदं
नाम कुण्डं प्रसिद्धं जगद्विश्वत्रयमपि पुनीते पवित्रीकरोति । यदुक्तं नगरपुराणे—‘दृष्ट्वा
शत्रुंजयं तीर्थं स्पृष्ट्वा रैवतकाचलम् । स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते ॥’ इति ॥

अस्त्यद्रिप्रभुनन्दनोऽर्बुदगिरिर्यस्मिन्वसत्यात्मना

स्थाणुक्षोणिभृतीव कल्पितशिवाश्लेषो वृषाङ्कः प्रभुः ।

निर्जेतुं दशमौलिवत्क्षितिभृतः किं सांयुगीनान्भुजा-

न्स्तूपांविशतिरर्हतां वहति यः संमेतभूभृत्परः ॥ २२० ॥

हे नृप साहे, परः अर्बुदनामा गिरिः अस्ति तीर्थत्वेन प्रसिद्धो विद्यते । किंभूतः ।
अद्रिप्रभोर्हिमाचलस्य । ‘हिमालयो नाम नगाधिराजः’ इति कुमारसंभवे । पर्वतानां प-
तिस्तस्य नन्दनस्तनयः । ‘गौरीगुरुखशुरभूधरसंभवोऽयमस्त्यर्बुदः ककुदमद्रिकदम्बकस्य’
इति वस्तुपालवसतिप्रशस्तौ अर्बुदाचले एव । यस्मिन्नर्बुदगिरौ वृषाङ्कः प्रभुः ऋषभदेवः
स्वामी स्वयमात्मना वसति । पूर्वं तु भरतादिसंघपतिभिः स्वस्त्रोद्धारकरणसमये ऋषभा-
दितीर्थकृतप्रतिमाः स्थापिताः अभूवन्, परमिदानींतनसमये पञ्चमे अरके विमलम-
न्त्रिणा सर्वप्रासादनिर्माणपातपूर्वं स्वकारितविमलवसतौ ऋषभस्वामी वर्तते । कस्मि-
न्निव । स्थाणुक्षोणिभृतीव । यथा अष्टापदपर्वते सतीष्वपि त्रयोविंशतितीर्थकृतप्रतिमासु
भरतकारितत्वात्स्वतातत्वाच्च मुख्यतया ऋषभदेव एव स्वामी । अथ च वृषाङ्कः शं-
भुरचलेश्वरो यत्र परशासनदेवो विद्यते । सोऽपि कस्मिन्निव स्थाणुक्षोणिभृतीव ।
यथा कैलासेऽपि परशासनरीत्या ईश्वरो विद्यते । किंभूतौ द्वावपि । वृषो वृषभोऽङ्को
वामोरुचिह्नं यस्य । शंभोर्वाहनत्वे यस्य । ‘रुद्रोऽङ्गीशो वामदेवो वृषाङ्कः’ इति हैम्याम् ।
पुनः किंभूतौ । प्रभुः स्वामी सर्वादिभूतत्वात्प्रथमराजत्वात्सर्वसृष्टिकारणत्वाच्च शंभुरपि
प्रभुः समर्थः सृष्टिसंहरणकारकत्वात् विश्वं ब्रह्मरूपेण सृजति विष्णुरूपेण पालयति
शिवरूपेण संहरति । अत एवोक्तम्—‘एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । स-
मग्रसर्गनिर्माणपालनक्षयकारिणः ॥’ इति । तथा नैषधेऽप्युक्तम्—‘क्षये जगजीवपिबं
शिवं वदन्’ इति । पुनः किंभूतौ । कल्पितः कृतः शिवस्य मुक्तिलक्ष्म्याः शिवायाः
पार्वत्या आश्लेष आलिङ्गनं येन । किं च नहि गुणरूपाया मुक्तेराश्लेषो युज्यते, परमेतत्तु
कविसमयानुसारि वचः ‘नभःपरीरम्भणलोलुभेन’ इत्यादिवताकिंकमतात्कवीनां समयो
धर्मश्च पृथगेवेति नात्र वितर्कः । पार्वत्याः परीरम्भस्तु पतित्वादर्धाङ्गत्वाच्च युक्त एव
परोऽन्यः स विंशतितीर्थकृतां निर्वाणकल्याणकत्वेन विख्यातः संमेतनामा भूभृत् शैलो-
ऽस्ति । स कः संमेताचलः । अर्हतां जिनेन्द्राणाम् अजित-शंभव-अभिनन्दन-सुमति-

पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयांस-विमल-अनन्त-धर्म-शान्ति-कु-
न्धि-मल्लि-मुनिसुव्रत-शान्ति-नेमि-पार्श्वजिनचन्द्राणां विंशतिविंशतिसंख्याकान् स्तु-
पान् स्थूलस्तम्भाकृतविविशेषान्वहति विभर्ति । यत्र तीर्थकृतां चित्पायां शरीरसंस्कारो
भवति तत्रेन्द्राः स्तूपान्कारयन्तीति स्थितिः । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—क्षितिभृतः श्रिया स्वस्प-
र्धिनः सर्वपर्वतान् नृपांश्च निर्जेतुं पराभवितुं दशमौलिवद्रावण इव । संयुगे संग्रामे
साधवः सांयुगीनास्तान् रणधुरीणान् संग्रामशौण्डान् विंशतिर्भुजान्बाहूनिव विभर्ति ।
जैत्रराजस्यापि परराजजेतृत्वं युक्तमेव । 'करशाखाः श्रीभर्तुर्विशोपकाः सकलज-
ननखाङ्गुल्यः । दशकंधरनेत्रभुजाः संख्यया विंशतिर्वाच्याः' ॥ इति काव्यकल्पलतायाम् ॥

यो लक्ष्म्येव जिताः कुलावनिभृतः सोपानकायाश्रिताः

जहुर्यत्परिखीचकार खधुनीं सोऽष्टापदः पर्वतः ।

तेजः सर्वसुपर्वणां परिभवन्भानुग्रहाणां यथा

नाथो यत्र फणिध्वजः समभवत्काशीति तीर्थं पुनः ॥ २२१ ॥

स ईश्वरवैश्रवणनिवासतया प्रथितः अष्टापदनामा पर्वतः स्फटिकाचलाख्यस्तीर्थं
मुक्तिक्षेत्रं योऽष्टापदे स्वशक्त्यास्त्र देवान्वदते स च तद्भव एव मोक्षं गन्तेति कृत्वा
सिद्धिस्थानं वर्तते । स कः । लक्ष्म्या निधिपतिनिवासित्वान्निधिश्रिया रजतस्फटिकमयत्वेन
गौरिमशोभया वा जिताः पराभूताः सन्तोऽष्टसंख्याकाः कुलावनिभृतः हिमाद्रि-कौश्व-
मलय-मन्दर-विन्ध्य-माल्यवत्-सह्य-इन्द्रकीलाख्याः कुलपर्वताः सोपानान्यारोहणा-
न्येव कायाः शरीराणि येषां तादृशा ये अष्टापदाद्रिश्रिताः आगल्य सेवन्ते इव । पुनर्जह्नुनामा
नृपः खधुनीं गङ्गां परिखीचकार यत्परितः खानिकां कुरुते स्म । श्रूयते हि—पुरा श्रीमद-
जिततीर्थकृत्पितृव्यजभ्रातुः सगरचक्रिणो जह्नुप्रमुखैः षष्टिसहस्रसंख्यैः पुत्रैः पुत्रप्रेम्णा च
पितृप्रदत्तस्त्रीरत्नवर्जत्रयोदशरत्नैः समं यात्रार्थमागतैरष्टापदपर्वते निजपूर्वजभरतका-
रितसिंहनिषद्याः प्रासादे चतुर्विंशतिजिनात्मस्फुल्ल प्रमुदितैः पतितप्रायसोपानानि स-
जीकृत्य तदद्विरक्षाकृते पूर्वं पर्वतपरितो दण्डरत्नेन सहस्रयोजनो द्वेधा परिखा कृता
पुनर्दण्डरत्नानीतमन्दाकिनीपयःप्रवाहेण पूरिता च—इति पुरातनी वृत्तिः । विशेषवि-
स्तरस्तु शत्रुजयमाहात्म्यादिभ्यो ग्रन्थेभ्योऽवसेयः इति । पुनः काशी वाराणसी इति
नाम्ना तीर्थं वर्तते । परशासने तु 'वाराणसीमरणान्मुक्तिः' इति श्रूयते । यत्र काश्यां
फणी नागराजो ध्वजश्चिह्नं यस्य स नाथो योगक्षेमकरः स्वामी । अलब्धस्य लब्धि-
योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः, तयोः कर्ता । श्रीपार्श्वनाथ इत्यर्थः । समभवत्समु-
त्पन्नः । किं कुर्वन् । सर्वसुपर्वणां लौकिकानां हरिहरयक्षादीनां समस्तानां देवानां तेजः
प्रतापं परिभवन् अपहरन् तिरस्कुर्वन् वा । क इव । भानुरिव । अत्र यथा इवार्थः । यथा
भाखान् सर्वेषां ग्रहाणामुपलक्षणाद्ग्रहनक्षत्रतारकचन्द्राणां तेजो ज्योतिरपहरति जग्रे
ज्योतिः संजातः ॥

सूरिपुरंदरगदितानिति तीर्थान्मेदिनीसुनासीरः ।

श्रवणाभरणानीव व्यधित निजश्रोत्रपत्रयुगे ॥ २२२ ॥

इत्थसुना प्रकारेण सूरिपुरंदरेण हीरविजयसूरिराजेन गदितान् साहिपुरःकथितान् तीर्थान् शत्रुंजयादिपुण्यस्थानानि । तीर्थशब्दः पुनपुंसके । 'प्रस्थं तीर्थं प्रोद्यमल्लिन्दः' इति लिङ्गानुशासनपुनपुंसके । मेदिनीसुनासीरो भूमीजम्भारातिः निजस्यात्मनः श्रोत्र-पत्रे कर्णपालौ श्रवणाभरणानि कर्णपूरानिव व्यधित चकार । 'श्रवणपूरितमालदलाङ्कुरः' इति नैषधे । सम्यक् शुश्रावेत्यर्थः ॥

अपि यतिपर्जन्योदिततीर्थततिश्रुतिसुधारसःप्रसरन् ।

अविशन्मानसमुर्वीभर्तुः कर्णप्रणालिकया ॥ २२३ ॥

साहिर्न केवलं तीर्थानि श्रवणगोचरमात्राणि कुरुते स्म, किं तु सम्यङ्मनस्यवधारया-मास । तदेवाह—अपि पुनः यतिनां मध्ये पर्जन्येन वासवेनोदितानि निवेदितानि कथितानि यानि तीर्थानि तेषां ततिः श्रेणिस्तस्याः श्रुतिः श्रवणं सैव सुधारसः अमृत-निस्पन्दः स प्रसरन् प्रवर्धमानः कर्णः श्रवणमेव प्रणालिका जलागमननिर्गमन-मार्गः तथा कृत्वा उर्वीभर्तुः नृपस्य मानसं मनः अविशत् प्रविवेश । अथ वा उर्वी-भृत्पर्वतः, प्रस्तावात् हिमाचलः । हिमाद्रौ मानसं सरोऽस्तीति कविसमयः । तथा 'सदा हंसाकुलं विभ्रन्मानसं प्रचलज्जलम् । भूभृन्नाथोऽपि नायाति यस्य साम्यं हिमाचलः ॥' इति चम्पूकथायाम् । ततः पर्जन्याज्जलधरात्प्रादुर्भूतः प्रबलवृद्ध्या समुत्पन्नः प्रवर्धमानः पदे पदे अपरापरस्रोतःप्रवेशाद्बद्धिं प्राप्नुवन् पयःप्रवाहः हिमाचलस्य मानसं सरः नीरागमनस्य 'घडनालं' इति लोके ख्यातस्य मार्गेण प्रविशति ॥ इति सूरिकथितानि तीर्थानि साहिना श्रुत्वावधारितानि ॥

शेखूजी इत्येकः पाटी अपरश्च दानियार इति ।

तिष्ठन्ति साहिजाता अमी कुमारा इव द्युसदाम् ॥ २२४ ॥

हे सूरयः, अमी पुरःस्थायुकाः साहिजाताः पातिसाहितनयाः लोके 'साहि-जादा' इति प्रसिद्धाः तिष्ठन्ति उर्वीभूय स्थिताः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसदां देवानां कुमारा इव । अमी के । तान्नामग्राहं निवेदयति दर्शयति च—एकः त्रयाणां मध्ये एकोऽयं शेखूजी इति नामास्ते । च पुनरपरो द्वितीयोऽयं पाटी इति नाम्ना अस्ति । च पुन-रपरोऽयं तृतीयः कनिष्ठो दानियार इत्यभिधानो वर्तते ॥

एषामाशिषमखिलश्रीणां संकेतसदनमिव ददत ।

सारिण्या शिखरिण इव यथानयामी विवर्धन्ते ॥ २२५ ॥

हे सूरयः, यूयमेषां मन्त्रन्दनानामखिलानां सर्वप्रकाराणां श्रीणां लक्ष्मीणां संकेत-

सदनं मिलनसंदेशगृहं मिथः प्रीतिभाजामेकान्ते संगमनगेहमिव । आशिषं मङ्गलशंसनं ददत विश्राणयत । यथा येन प्रकारेण अनया श्रीमदाशिषा अमी त्रयोऽपि साहिजाता विवर्धन्ते वृद्धिं प्राप्नुवन्ति । क इव । शिखरिण इव । यथा सारिण्या कुल्यया द्रुमा विवर्धन्ते ॥

इति नृपमणिवार्णी कर्णपेयां प्रणीय

व्यतरदयममीभ्यो धर्मलाभाशिषं सः ।

अपि निजकरक्लृप्ताशेषराज्या इवैते-

ऽसमप्रमदसुधाब्धौ राजहंसीवभूवुः ॥ २२६ ॥

अयं मुनीन्द्रः सूरिरमीभ्यः पातिसाहिपुत्रेभ्यः धर्मलाभ इति नात्रीमाशिषं व्यतर-
इदाति स्म । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण नृपमणेः समस्तराजसुररत्नस्य साहेवार्णी
कर्णयोः सादरं श्रोतुं योग्यां प्रणीय कृत्वा । श्रुत्वेत्यर्थः । अपि पुनरेते साहिपुत्रा अपि
निजकरे स्वपाणौ क्लृप्तं कृतमागतमशेषं समग्रं राज्यं मेदिनीमण्डलाधिपत्यं यैस्तादृशा
इव । असमोऽसाधारणः यः प्रमोदः । अत्र प्रमदशब्दगतो रेलो न यतिभङ्गाय संभवेत् ।
तथा 'बहुलभ्रामरमेचकतामसे' इत्यस्मिन्काव्ये हियादयोऽपि सन्तीति काव्यकल्पलता-
वृत्तरत्नाकरवृत्त्यादौ कथनात् स एव सुधाब्धिः क्षीरसमुद्रः तत्र राजहंसीभूताः सि-
तच्छदा जाताः ॥ इति साहिजातानामाशीर्वाददानम् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामादिमम् ।

तद्वाहीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते हीरगुरोस्त्रयोदशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥ २२७ ॥

इति हीरसूरिचरित्रहीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ त्रयोदश इति संख्यया
मितः प्रमाणीकृतः सर्गो बभूवान् संजात इति ॥

इति पण्डितसीहविमलगुणिशिष्यपण्डितदेवविमलगुणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभा-
ग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ शिवपुरीपादावधारणसुरवाणसहोत्सवकरणराणपुरयात्राआयुआपु-
रेशप्रजाप्रभावनाकरणमेडजागमननागपुरविक्रमपुरीयसंघमहोत्सवकरणफलवर्धियाकरणो-
पाध्यायविमलहर्षपुरप्रेषणसाहिमिलनतदुदन्ताकर्णनफतेपुरागमनसंघसंमुखगमनशेषणे-
ऽब्ध्यनन्तसाहिमिलनकुशलप्रश्नालापदूतोक्तसूरिगुणाकर्णनतीर्थकथनसाहिजाताशीर्वाद-
प्रदानादिवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

चतुर्दशः सर्गः ।

अथ प्रदेशीव स केशिनामुना विधातुकामः सुकृतस्य संकथाम् ।

इदं महीन्दुर्मुनिचन्द्रमब्रवीत्पुनन्तु पूज्या मम चित्रशालिकाम् ॥ १ ॥

अथ साहिजातानामाशीर्वाददानानन्तरं स महीन्दुर्वसुधासुधांशुरकब्बरसाहिर्मुनि-
चन्द्रं हीरविजयसूरिं प्रति इदमेतदग्रे वक्ष्यमाणमब्रवीद्वभाषे । किंभूतः सः । अमुना
सूरिणा समं सुकृतस्य धर्मस्य संकथां वार्ताम् । धर्मगोष्ठीमित्यर्थः । विधातुकामः कर्तुमि-
च्छन् । क इव । प्रदेशीव । यथा प्रदेशी नामा राजा केशिना श्रीपार्श्वनाथापत्यकेशिग-
णधरेण सार्धं धर्मसंकथां कर्तुकाम आसीत् । इदं किम् । हे पूज्या जगन्मान्या भग-
वन्तः, मम चित्रशालिकां पुनन्तु पवित्रीकुर्वन्तु ॥

ततः ककुब्जानिव भूमिमानसौ तमित्युदीर्य क्रमचर्ययाचरत् ।

सहामुना सूरिरपि व्यसीसृपद्विडौजसा सूरिरिवामृतान्धसाम् ॥ २ ॥

ततः सूरेश्चित्रशालिकायामाकारणानन्तरं तं सूरिमिति पूर्वोक्तमाकारणलक्षणमुदीर्य
कथयित्वा ककुब्जान्मततृषभ इवासावकब्बरो भूमिमान् क्षितिपतिः क्रमचर्यया चरणच-
ङ्गमणेन अचल(र)त्पुरः प्रस्थितः । अपि पुनः सूरिर्गुरुरपि अमुना साहिना सह समं
व्यसीसृपद्विसर्पति स्म जगाम । क इव । सूरिरिव । यथा अमृतान्धसां सुधाशनानां
देवानामाचार्यः उपलक्षणादिन्द्रस्यापि । यदुक्तं नैषधे—‘ईदृशीं गिरमुदीर्य विडौजा
जोषमासनविशिष्य वभाषे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधिगुरुर्गुरुरस्य ॥’ इति
वृहस्पतेरिन्द्रस्याचार्यत्वम् । सूरिः कलाचार्यो वाचस्पतिर्विडौजसा शकेण समं कार्यव-
शात्प्रचलति ॥

धरातुराषाद् शमिनां शशी पुनः पथि प्रयान्तौ श्रयतः परां श्रियम् ।

कथंचिदुर्व्यामिव केलिशालिनौ विभावरीवल्लभभानुमालिनौ ॥ ३ ॥

धरातुराषाद् भूमीन्द्रः । ‘धरातुरासाहि मदर्थयाच्चा कार्यो न कार्यान्तरमुम्बित्ते’
इति नैषधे । पुनः शमिनां शशी साधूनां सुधाकरः सूरिः । द्वावपि पथि चित्रशालिका-
वर्त्मनि प्रयान्तौ गच्छन्तौ सन्तौ परां प्रकृष्टां श्रियं शोभां श्रयतो लभेते । उत्प्रेक्ष्यते—
कथंचित्केनापि कुतूहलादिना प्रकारेण एकत्र मिलित्वा उर्व्यां भूमण्डले केलिभिः
क्रीडाभिः शालते शोभते इत्येवंशीलौ विभावरीवल्लभभानुमालिनौ चन्द्रसूर्याविव ।
तस्मिन् समये सूरिदर्शनादतीव शान्तीभूतः साहिश्चन्द्रतुल्यः, सूरिस्तु पुण्यप्रतापा-
त्तदाधिकं दीप्यमानत्वाद्भानूपमो दृश्यते ॥

विभुज्य कण्ठं क्षितिपाकशासनो दशं दिदेश द्विरदद्विषन्निव ।

तथा स्थितानेष गवेषयंस्ततोऽनगारपारीन्द्रमुनीनजूहवत् ॥ ४ ॥

क्षितिपाकशासनो धात्रीसुत्रामा साहिः कण्ठं ग्रीवां विभुज्य चक्रीकृत्य पश्चाद्बाल-

यित्वा दृष्टिं दृशं दिदेश दत्तवान् । क इव । द्विरदद्विषन्निव । यथा दन्तिनां प्रतिपक्षः सिंहः कण्ठं विभुज्य दृशं दत्ते । केसरी अग्रे गच्छन् पश्चाद्विलोकयतीति तत्स्वभाव एव । 'गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम्' इति नैषधे । ततोऽग्रे कियदागत्य पश्चात् दृष्टिदानानन्तरमेव साहिरनगरपारीन्द्रस्य साधुसिन्धुरारातेः सुरैः । अथ वा अनगारेषु सुनिषु पारीन्द्राः दुर्वादिवारणवित्रासकत्वेन कण्ठीरवाः । अथ वा यतिषु सुख्याः । 'स्यु-रुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥' इति हैम्यामुक्तत्वात् । तादृशान् मुनीन् श्रमणानजूहवदाकारयामास । एष किं कुर्वन् । यत्र सूरिणां सार्धं मिलितास्तत्रैव स्थितास्तिष्ठतः अथ वा तत्रैवार्धभूय स्थितिं कुर्वतो गवेषयन्पश्यन् ॥

सूरैरिवेन्द्रः कलभैरिव द्विपो ग्रहैरिवार्कश्च शशीव तारकैः ।

अदियुतद्वर्त्मनि सूरिवासवोऽनुगम्यमानो मुनिपुंगवैस्ततः ॥ ५ ॥

ततस्तेषां साहिनाकारणानन्तरं मुनिपुंगवैर्वाच्यमवृषभैरनुगम्यमानो वर्त्मनि तस्मिन्नेव चित्रशालिकाध्वनि सूरिवासवः अदियुतत् । क इव । सूरैर्वेन्दारकैः इन्द्रः पुरंदर इव । पुनः क इव । कलभैः त्रिंशद्वर्षीयस्तम्बेरमैर्द्विपः षष्टिहायनयूथनाथ इव गजेन्द्र इव । पुनः क इव । ग्रहैर्मङ्गलादिभिरकों भास्वानिव ग्रहपतित्वात् । 'ग्रहाब्जिनीगोद्युपतिर्विकर्तनः' इति हैम्याम् । तथा जीवाभिगमसूत्रवृत्तौ—'यावान् चन्द्रपरिवारस्तावान् सूर्यस्यापि परिवारः । परमतितेजस्वाद्भास्वत्पार्श्वे न च दृश्यते ।' पुनः क इव । तारकैर्यौतिभिः शशी चन्द्र इव अनुगम्यमानो दीप्यते ॥

अथाधिरुह्योर्ध्वधरां स किंचनात्मना न्यगादीत्पृथिवीपुरंदरः ।

दुलीचकाख्यास्तरणं व्रतीश्वराः पुनन्तु भूपीठमिव क्रमाम्बुजैः ॥ ६ ॥

अथ साधूनां सूरिसंनिधावाहानानन्तरमात्मना स्वेन किंचन स्तोकमात्रां सोपानत्रयमयीमुच्चैरुर्ध्वधरां सोपानत्रिकेणैव कृत्वा उच्चैर्भूमीमधिरुह्य अध्यास्याश्रित्य वा स पृथिवीपुरंदरो भूपो न्यगादीद्वभाषे । तदेवाह—हे व्रतीश्वराः सूरयः, राजासुपवेशनोचितं विचित्रचित्ररचनाचक्षुरमणीयं लोकप्रसिद्ध्या दुलीचा इत्याख्या नाम यस्य । स्वार्थे कः । दुलीचकाख्यमस्मत्सभागमनागमनभूमेः आस्तरणमाच्छादनं क्रमाम्बुजैर्निजचरणकमलन्यासैः पुनन्तु पवित्रीकुर्वन्तु । किमिव । भूपीठमिव । यथा क्षोणीमण्डलं स्वपादपद्मः पवित्र्यते ॥

गुरुर्जगादेति कदापि क्रीटिका भवेदधोऽस्मिन्न पदं दधे ततः ।

नृपोऽभ्यधादत्र न कश्चनासुमान्भवेत्सुराणामिव मन्दिरे नरः ॥ ७ ॥

गुरुः सूरिरित्यग्रे वक्ष्यमाणं जगद वदति स्म । इति किम् । हे साहे, अधो दुलीचकस्थाधस्तात् भूप्रदेशे कदाचिदपि दैवयोगात्क्रीटिकापि चरन्ती तिष्ठन्ती वा भवेत् । ततो जन्तुजातपालनादिहेतोरहमस्मिन्दुलीचके एतावता दुलीचकास्तरणोपरि कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे पदं चरणं न दधे न मुञ्चामि । चक्षुरदृष्टभूमौ कथमपि क्रमं

न निक्षिपामीत्यर्थः । ततः सूरीकथनानन्तरं साहिरभ्यधाद्वक्ति स्म । हे सूरयः, अत्र मच्चित्रशालिकायां दुलीचकाच्छादितायां च भूमौ कदापि कस्मिन्नपि समये वर्षाग्रीष्मादावपि कश्चन कोऽपि कीटकादिरसुमान् जीवो न भवेत् नैव स्यात् । क इव । यथा सुराणां मन्दिरे देवगृहे स्वर्गे भूचरो नरो मनुजो न स्यात् ॥

गुरुर्जगावाचरणं तथाप्यदः पदं निभाल्यैव ददे परत्र नो ।

यतः स्वकीयाचरणं मुमुक्षुणा प्रयत्नतो रक्ष्यममर्त्यरत्नवत् ॥ ८ ॥

गुरुः सूरिः पुनर्जगौ जल्पति स्म—हे साहे, यद्यपि श्रीमच्चित्रशालिकायां रचनाचारिमदुलीचकस्य अध उपरि वा सर्वथापि कीटिकादिजन्तुर्न स्यात्, तथापि जीवाभावे सत्यपि ममाद् एतदाचरणमाचारो वर्तते यदहं निभाल्य अग्रेतनां युगप्रमाणां भूमिकां नेत्राभ्यां विलोक्यैव पदं ददे स्थापयामि, न परत्र चक्षुरनवेक्षिते स्थाने सर्वथापि क्रमं न मुञ्चामि । ‘दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् । सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥’ इति नीतिशास्त्रेऽपि । हे साहे, यतः कारणान्मुमुक्षुणा संसारकारागारात्स्वं मोचयितुमिच्छता यतिना स्वकीयाचरणं निजस्याचारः प्रयत्नतः प्रमादनिद्राकषायादीनां निराकरणाद्रक्ष्यं सम्यक्परिपालनीयम् । किंवत् । अमर्त्यरत्नवत् । यथा संतुष्टेन केनचिद्देवेन दत्तं चिन्तामणिं सम्यक्प्रयत्नेन कृत्वा रक्षयते ॥

ततः स यावत्कुरुते तदुच्चकैर्बभूव तावत्प्रकटैव कीटिका ।

व्रतिप्रभोरप्रतिमां कृपालुतां पुरः क्षितीन्दोर्गदितुं किमात्मना ॥ ९ ॥

ततो गुरुगदितानन्तरं सोऽकम्बरो यावदुलीचकं करे गृहीत्वा पश्चादुच्चकैः करोति ऊर्ध्वमुत्पाटयति, तावत्तत्र प्रदेशे कीटकैव प्रकटा साहिलोचनगोचरा बभूव संजाता नृपेण स्वदृष्ट्या दृष्टा । उत्प्रेक्षयते—क्षितीन्दोः पुरो राज्ञोऽग्रे व्रतिप्रभोः सूरैः अप्रतिमा-मसाधारणां कृपालुतां दयावत्तामात्मनेव स्वेन गदितुं कथयितुमिव प्रकटीकर्तुमिव ॥

ततः क्षितौ स्वस्य यथैकभूपतां गुरोस्तथाद्वैतदयाधिनाथताम् ।

अवेत्य चित्तेऽतिचमत्कृतिं वहन्मुहुर्मुहुस्तं प्रशशंस भूमिमान् ॥ १० ॥

ततः कीटिकादर्शनानन्तरं स भूमिमानकम्बरसाहिर्मुहुर्मुहुर्वारंवारं तं सूरीन्द्रं प्रशशंस श्लाघते स्म । किं कुर्वन् । चित्ते मनस्यतिचमत्कृतिमतिशयेनाश्चर्यं वहन् दधत् । किं कृत्वा । क्षितौ क्षितिमण्डले स्वस्यात्मनो यथा येन प्रकारेण अन्यराजसु तादृक्स्फूर्तिमाहात्म्याद्यभावात् स्वस्यैव तदद्वैतत्वेन एकभूपतामद्वैतपातिसाहितां तथा तेन प्रकारेण गुरोर्द्वैतामनन्यसामान्यां दयायाः कृपाया अधिनाथतां स्वामित्वम् । कृपालुतामित्यर्थः । चित्ते स्वमानसे अवेत्य ज्ञात्वा । चित्ते इत्युभयत्रापि योजनीयम् ॥

कृपालुतां वः किमहो महीयसीमुत स्तुवे स्वाचरणप्रवीणताम् ।

पयोदवर्त्कि तु परोपकारितां निरूपकं वा भवतां शुचेः पथः ॥ ११ ॥

अहो सूरयः, अहं वो युष्माकं महीयसीमतिगुर्वी विश्वप्रशस्यां कृपालुतां सर्वजग-
ज्जन्तुषु कृपावत्तां किमिति प्रश्ने स्तुवे श्लाघाविषयं नयामि । उताथ वा वो युष्माकं
स्वाचरणे निजाचारविधिमार्गपालने प्रवीणतां नैपुण्यं सुशिक्षिततां किं स्तुवे प्रशंसामि ।
पुनरहं पयोदवद्वाषिकघनाघन इव परोपकारितां परेषां निःशेषालघुलघुप्राणिनामुपकर्तृत्वं
स्तुवे कवयामि । वाथ वा भवतां शुचेः पवित्रस्य विशुद्धस्य वा पथो मार्गस्य सद्वर्मा-
चरणस्य वा निरूपकमुपदेष्टारं कथयितारं वा स्तुवे स्तुतिविषयीकरोमि । कं कं स्तुवे
श्लाघे, सर्वमपि प्रशंसापरमास्पदमिति ॥

जगत्यसाधारणता व्यतर्कि वः क्षणादनेनाचरणेन शासने ।

सुधाभुजां भूमिरुहीव कामितप्रदातृभावेन मुमुक्षुपुंगवाः ॥ १२ ॥

हे मुमुक्षुपुंगवाः सूरिश्वराः, अनेन समग्रजगज्जन्तुजातपालनलक्षणेन आचरणेन
सदाचरणविधानेन कृत्वा क्षणादल्पकालात्तत्कालमेव मया वो युष्माकं शासने जैनदर्शने
जगति विश्वे असाधारणता सर्वेभ्योऽद्वैतता एतावता पञ्चभ्यो दर्शनेभ्यो युष्माकं जैनशास-
नमसाधारणमेवेति व्यतर्कि मया विचारितम् । ज्ञातमित्यर्थः । कस्मिन्निव । भूमिरुहीव । यथा
कामितानामैहिकशेषमनोभिलषितानां प्रकर्षेण दातृभावेन दायकत्वेन सुधाभुजाममृताश-
नानां पादपे असाधारणता वितर्क्यते, एतावता यथा सर्ववृक्षजातिभ्यः कल्प-
द्रुमा विशेषास्तथान्यशासनेभ्यः श्रीमच्छासनमिति ॥ इति सूरिन्द्रकृपालुताजैनशा-
सनयोः प्रशंसा ॥

कथीपकस्यास्तरणं ततः करद्वयेन दूरीकृतवान्स्वयं नृपः ।

मुनीन्द्रसङ्गादिव पापमात्मनः प्रभुः पुनाति स्म पुनः स तां क्षितिम् १३

ततः प्रमुकृपालुतावगमनप्रणीतप्रशंसानन्तरं नृपोऽकञ्चरः स्वयं तत्रान्यसेवकाभा-
वादात्मनैव करद्वयेन पाणिपद्मद्वन्द्वेन कथीपक इति नाम्नः परदेशोत्पन्नजातिविशेषपट्ट-
सूत्रमयवस्त्रस्यास्तरणं दुलीचकापराभिधानं दूरीकृतवानपसारयति स्म । पश्चात्कृत
इत्यर्थः । पृथक्चक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—मुनीन्द्रस्य हीरसूरः सङ्गादात्मनः स्वस्य पापमिव
दूरीचकार । तस्य दूरीकरणात्प्रभुः सूरिस्तामास्तरणरहितां क्षितिं पुनाति स्म पवित्र-
यासातिवान् । ऊर्ध्वं धरामारोहेत्यर्थः । चित्रशालिकात्रिसोपानभूमौ चढित इत्यर्थः ॥

धरेशधामाधरिताद्रिसूदनोपदीकृतास्थामिव चित्रशालिकाम् ।

विभूषयांचक्रतुर्वरावरानगाररात्रीरमणौ क्रमेण तौ ॥ १४ ॥

उर्वरायाः सर्ववस्त्राया भूमेः वरः स्वामी धनधान्यमणिप्रसवित्र्या धरित्र्याः पतिः ।
यदुक्तम्—‘शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् । सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्तु पुरु-
षास्त्रयः ॥’ इति । तथा रघुवंशेऽपि—‘क्षितिरेन्दुमतीच भामिनी पतिमासाद्य तमश्रयपौ-
रुषम् । प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वारमजीजनत्सुतम् ॥’ इति । तथा अनगाररात्रीरमणः
श्रमणचन्द्रः सूरिस्तौ क्रमेण चित्रशालिकां विभूषयांचक्रतुः अलंकुर्वाते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—

धरेशेन भूमिपतिना धाम्ना तेजसा बलेन वा अधरीकृतेन हीनीकृतेन । अभिभूयेति शेषः । अद्रिसूदनेन मघोना उपदीकृतां ढौकितामास्थां स्त्रीयां सौधर्मीं सभामिव ॥

अवग्रहं प्राप्य महीहिमांशोर्निषेदुषस्तत्र यतिक्षितिक्षितः ।

जलालदीनोऽपि पुरोऽभजद्भुवं सुहस्तिनः संप्रतिभूगभस्तिवत् ॥ १५ ॥

जलालदीनो यवनमुद्रलप्रसिद्धमिदं विशेषनाम साहिरपि यतिक्षितिक्षितः सूरिराजस्य । ‘महीक्षित्पार्थिवो मूर्धोभिषिक्तो भूप्रजानृपः’ इति हैम्याम् । पुरोऽप्रेतनां भुवं क्षोणीं अभजत् बभाज । भूमावेवोपविष्टो नासने । सूरैः किं चक्रुषः किलक्षणस्य वा । निषेदुषः उपविष्टस्य । किं कृत्वा । महीहिमत्विषो भूमीसोमस्य अवग्रहमुपवेशनार्थमादेशं प्राप्याधिगत्य । किंवत् । संप्रतिभूगभस्तिवत् । यथा संप्रतेरनुज्ञामवाप्य निषण्णस्य सुहस्तिनः पुरस्तात्संप्रतिनामा भूगभस्तिर्भूमीभास्वान् उपविशति स्म । ‘मध्यंदिनावधि विधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे ॥ इति चित्रशालिकायामागत्य सूरिनृपावुपविष्टौ ॥

अथ धर्मकथारम्भः—

स धर्मकिर्मीरितसंकथास्वथो मिथः प्रवृत्तासु तमित्यचीकथत् ।

धराविधो बीजमिवावनीरुहां वृषोऽस्त्युपादानमशेषसंपदाम् ॥ १६ ॥

अथो चित्रशालायां द्वयोरुपवेशनान्तरं स सूरिस्तमकब्बरसाहिमित्यमुना प्रकारेणाचीकथत् कथयति स्म । कासु सतीष्ठु । धर्मेण पुण्यप्रकाशनेन किर्मीरितासु मिथः संपदाम् वार्तासु मिथः सूरिभूयोः परस्परं प्रवृत्तासु प्रारब्धासु । इति किम् । हे धराविधो पृथिव्या निष्कलङ्क चन्द्र हे साहे, अशेषाणां सर्वासामपि संपदां लक्ष्मीणामुपादानं मूलकारणं वृषो धर्म एवास्ते विद्यते । किमिव । बीजमिव । यथा अवनीरुहाणां वृक्षाणामुपादानं तत्तज्जातिजं बीजं योनेर्निबन्धनम् ॥

अनक्षिलक्ष्यापि यथानुमीयते पयोदवृष्टिस्तटिनीपयःप्लवैः ।

विचक्षणैश्चेतसि तर्क्यते तथा विभूतिभिः प्राक्सुकृतं पचेलिमम् ॥ १७ ॥

हे साहे, यथा येन प्रकारेण तटिन्या नद्या पयःप्लवैः पानीयपूरैः । आगतैरित्यध्याहारः । अनक्षिलक्ष्या लक्षितुं द्रष्टुं योग्या लक्ष्या । ‘लक्ष दर्शनाङ्कनयोः’ इत्यस्य धातोः प्रयोगः । अक्ष्णोर्लक्ष्या अक्षिलक्ष्या, न अक्षिलक्ष्या अनक्षिलक्ष्या, अदृग्गोचरा । अदृष्टापीत्यर्थः । पयोदानां घनानां वृष्टिर्विचक्षणैर्निपुणैरनुमीयते अनुमानविषयीक्रियते, तथा तेनैव प्रकारेण पण्डितैर्विभूतिभिर्विभवैः कृत्वा अदृष्टविषयीकृतमपि पचेलिमं परिपाकं प्राप्योदयमागतं प्राक्सुकृतं पूर्वजन्मोपाजितं पुण्यं तर्क्यते विचार्यते विज्ञायते वा ॥

अभङ्गभोगाम्बुधिशंबरीयतां धरेश धर्मेण विना जनुष्मताम् ।

अपार्थतामुद्रहते परं जनुर्विना फलौघैरवकेशिनामिव ॥ १८ ॥

हे धरेश क्षितिपते, धर्मेण सुकृताचरणेन विना जनुष्मतां प्राणिनां परं केवलं जनुर्जन्म अपार्थतां निरर्थकत्वम् अपगतोऽर्थः धर्मप्रयोजनं यस्य । यदुक्तम्—‘जे जिणधम्मवाहिरा ते जाणे वाचारि । उग्या उरहिंष्ययग्या संसारिया संसारि ॥’ इति । तस्य भावस्तत्ताम् । ‘अर्थो हेतौ प्रयोजने । निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारे द्रव्यवस्तुषु ॥’ इत्यनेकार्थः । एवोद्वहते विभर्ति । तथा ‘यस्य युधिष्ठिर इव न क्वचिदपार्थो वचनकर्मः’ इति चम्पूकथायाम् । जनुष्मतां किमाचरताम् । अभङ्गा अनवच्छिन्नाः सततप्रवृत्ता ये भोगा विभववनिता राज्यादिसुखास्वादास्त एवाम्बुधिः समुद्रः तत्र शंबरीयतां मीनानामिवाचरताम् । ‘शंबरो दानवान्तरे । मत्स्यैणगिरिभेदेषु’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘शंबरोऽनिमिषस्तिमिः । मत्स्योऽवमीनः’ इति हैम्याम् ॥

कुरङ्गनाभीमपहाय भूषितुं स्ववर्ष्म गृह्णाति निषद्वरं करे ।

निकृत्य गेहोपवने प्ररोपितं सिताभ्रसालं वपतेऽर्कपादपम् ॥ १९ ॥

अपास्य पीयूषरसं जिजीविषुर्मुखादहीन्दोः स्वदते गरं पुनः ।

विमुच्य धर्मं नृप सार्वकामिकं विमुग्धधीर्यो विषयेऽनुरज्यते ॥ २० ॥

हे नृप, सर्वानैहिकासुष्मिकान् कामानभिलाषान् करोति पूरयतीति सार्वकामिकस्तम् । ‘कतुं विधत्ते यदि सार्वकामिकम्’ इति नैषधे । तादृशं धर्मं विमुच्य त्यक्त्वा यो विश्लेषेण मुग्धा कृपा कृत्येष्वनभिज्ञा कार्याकार्यविचारविकला धीर्बुद्धिर्यस्यासावज्ञानो विषये भोगसुखादावनुरज्यते अनुरक्तीभवति, स पुमान् कुरङ्गनाभीं कस्तूरिकाम् । मुग्मदवाच्यपिनाभिश्चन्दो हस्त्रो दीर्घोऽपि ‘मृगनाभिर्मृगमदः’ इत्यत्र हैम्यां हस्त्रः । तथा ‘गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपात्पुनरुक्तयन्ती’ इति नैषधे दीर्घोऽपि । अपहाय मुक्त्वा स्ववर्ष्म निजशरीरं मुखस्तनाद्यवयवं स्त्रीमधिकृत्य पुनरर्थं केवलं वपुरेव भूषितुं विलेपनादिना भाले तिलकादिना वा शोभां नेतुम् । यथा ‘शोभन्ते स्थितिसौष्ठवेन कतिचित्कस्तूरिकाम्,’ ‘नेपालक्षितिपालभालफलके पङ्कं न शङ्केत कः’ इति सूक्तपदद्वयी । निषद्वरं पङ्कं कचवरकं करे हस्ते गृह्णाति । पुनः गेहस्य स्वमन्दिरस्योपवने समीपवाटिकायां गृहारामे वा प्ररोपितं स्वयं पृथक् मनोरथैरुप्तं सिताभ्रसालं कर्पूरपादपम् । ‘छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृत्तिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्’ इति सिन्दूरप्रकरे । निकृत्य छित्त्वा । ‘कृती छेदने’ अयं धातुः । अर्कपादपम् ‘आकडा’ इति लोकप्रसिद्धं नामेति अर्कवृक्षम् । ‘अर्काः किं फलसंचयेन भवतां किं वा प्रसूनैर्नवैः’ इत्यपि सूक्तम् । वपते प्ररोपयति । वपधातुरुभयपदी । पुनः स पीयूषरसं तुष्टसुरदत्ताजरामरकृदभृतं संलज्ज्य दूरे क्षिप्त्वा जीवितुमिच्छुर्जिजीविषुः सन् अहीन्दोः विषभाससहस्रभाजः शेषनागराजस्य । ‘विषभारसहस्रेण वासुकिनैव गर्वितः । वृश्चिको विषमात्रेण स्वोर्ध्वं वहति कण्ठकम् ॥’ इति सूक्तम् । मुखाद्वदनाद्वरं गरलं स्वदते पिबति । ‘संगरं गरमिवाकलयन्ति’ इति नैषधे ॥ युग्मम् ॥

अनश्वरी श्रीयुवता किमु ध्रुवा जरापि जीर्णा शमनः शशाम किम् ।

यदेष जन्तुर्विषयामिलाषुको दधाति धर्मे न मनो मनागपि ॥ २१ ॥

हे नृप, श्रीलक्ष्मीरनश्वरी शाश्वती अस्थिरैव । यदुक्तम्—‘सायरवप्पमुरारिपिय चन्दसरीसा भाय । लच्छी हीडइ घरि घरि महिला एह सहाय ॥’ इति पुनर्युवता यौवनं ध्रुवा नित्या कदापि न यास्यति । ‘यौवन जाइ वेगिनदीर्युजलहइ । इन्दुचन्दुनागिन्दु-कहो कुणथिररहइ ॥’ इत्युक्तेः । पुनर्जरा विस्रसा यौवनवयोहानिलक्षणवस्था जीर्णा स्थविरीभूता स्थातुमुत्थातुमप्यशक्ता जाता किम् यज्जराशक्तभावान्नागमिष्यति । यदुक्तम्—‘यौवनकेरेदीहडइ कीजइ मित्त दुच्चार । कालिज वडपण आवशइ को न विवार ॥’ इति । पुनः शमनो यमः शशाम शान्तीभूतः । किंभूतः । यदथ कमपि न व्यापादयिष्यामि मृतो वा यत्कारणादेष जन्तुर्जावो विषयानां कामभोगादिसुखानाम-मिलाषुकः कामयिता कामुको लोलुपः सन् धर्मे सुकृताचरणे मनागीषन्मात्रमपि मन-श्चित्तं न दधाति स्थापयति ॥

प्रसृत्वरः शंबरवैरिविक्रमोऽचिरात्सृजेद्विक्रमिणोऽप्यविक्रमान् ।

उदीयतेऽस्मादपि राजयक्ष्मणा तमोभरणेव तमस्विनीमुखात् ॥ २२ ॥

हे साहे, प्रसृत्वरः प्रसरणशीलः प्रवर्धमानः शंबरनामा दैत्यविशेषस्तस्य वैरी दस्यु-हन्ता स्मरस्तस्य विक्रमो वीर्यं प्रतापः स्मरी अपस्मारप्रसारः मदनोन्मादः अचिराद-ल्पकालादेव विक्रमिणोऽपि महाशक्तिमतोऽपि अविक्रमान् निर्वीर्यान् अबलान् सृजेत् कुर्यात् अपि पुनरस्मान्मदातिरेकात् राजयक्ष्मणा क्षयरोगेण उदीयते प्रादुर्भूयते । केनेव । तमोभरणेव । यथा तमस्विनीमुखात्प्रदोषात्संध्यासमयादन्धकारेण स्फूर्यते ॥

मनोभुवा मोहयमानमानसो महांहसां संहतिमात्मनाचरन् ।

लभेत कश्चिन्नरकेषु कारणामिहैव शूलामिव पारिपन्थिकः ॥ २३ ॥

कश्चित्पापीयान् पुमान्नरकेषु कारणां सप्तस्वपि दुर्गतिषु परमाधार्मिकनिर्मितां क्षेत्रो-द्भूतां महारोगशीतोष्णादिजनितां कासश्वासकठोदरादिकां तीव्रवेदनां लभेत प्राप्नुयात् । क इव । पारिपन्थिक इव । यथा परस्वाद्यपहर्ता तत्करो नरकेषु नारकित्वेन नरको-द्भूतां महतीं पीडां लभते । कामिव । शूलामिव । यथा इह लोके च शूलां मार्त्यमाणचौ-राधिरोपणतीक्ष्णतदादिकां महतीं व्यथां प्राप्नोति । जन्तुः किं कुर्वन् । मनोभुवा शत्रु-भूतेन कामेन मोहयमानं मोहं मूर्छां सदसद्विवेचनचातुरीविकलतां नीयमानं मानसं मनो यस्य तादृशः सन्महांहसां प्रबलपापानां संहतिं श्रेणीमाचरन् । यदुक्तं नैषधे दमयन्त्याः पुरस्तात्—‘दधुना नलः पापभीरुरपि त्वत्प्रापकात्रस्यति नैनसोऽपि’ इति ॥

दुरन्तदुःखाद्विषयात्तु बिभ्यता विमुक्तसङ्गेन कृपानुषङ्गिना ।

वशेव सौभाग्यवता स्वकामुकीक्रियेत केनापि मरुद्देहिन्द्रा ॥ २४ ॥

तु पुनः केनापि धार्मिकेण पुंसां मरुद्देहिन्द्रा स्वर्गलोकलक्ष्मीः स्वकामुकी स्वस्मिन्नि-
च्छा यस्याः स्वाभिलाषिणी । 'इच्छायुक्ता तु कामुका' । च्विप्रत्यये कामुकीक्रियते । अथ
वा स्वस्यात्मनः कामुकी लालसाकलिता क्रियते । 'वृषस्यन्ती कामुकी स्यात्' इति है-
म्याम् । केनेव । सौभाग्यवतेव । यथा 'सद्गमनसन्निरीक्षणसज्जल्पनमिति वदन्ति लावण्यम् ।
स्पृहणीयो रतिसुभगः स्पर्शगुणो भवति सौभाग्यम् ॥' इदं च द्वयमपि स्त्रीपुरुषयोः स्यात् ।
अत्र तु सुभगत्वभाजा वसुदेवेनेव सकलकामिनीजनकर्मणा वा पुरुषेण वशा वनिता
स्वकामुकीक्रियते । पुंसां किं कुर्वता । दुर्दुष्टोऽन्तोऽवसानं यस्य प्रान्ते कठिनः वि-
पाको यस्य तादृशं दुःखं यस्मात्तद्विधाविषयाद्गोचरात् शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्शल-
क्षणपञ्चसंख्यकात् गुणाद्विभ्यता संसारकारागारप्रपतनानन्तासातसहनादिमहाभीतिं वि-
भ्रता अत एव विगीतोऽपमानितो मुक्तः सङ्गः पुत्रकलत्रधनादिकः सकलसंसारिका-
नुषङ्गः संसारिकलोहो येन । पुनः किंभूतः । कृपानुषङ्गेन पृथ्वी-अप-तेजो-वायु-व-
नस्पत्-त्रसरूपाणां षण्णां कायानां रक्षणलक्षणकरुणाकलितेन षट्कायगोकुलपालकेन
समस्तयावज्जगच्चराचरजनतुरक्षाक्षमेणेत्यर्थः ॥

क्रमादुपक्रम्य समाधिना भवी भवं स मुञ्चन्भजते महोदयम् ।

स्वलोहतां सिद्धरसेन संत्यजन्सुवर्णतां धातुरिव प्रपद्यते ॥ २९ ॥

स विषयविमुखो भवी संसारी जीवः क्रमात्परिपाटीतः स्वर्गे गत्वा प्रशस्तमर्त्यजन्म
संप्राप्य उपक्रम्य चारित्रादिविशिष्टधर्माचरणोपक्रमं कृत्वा समाधिना शुक्लध्यानयोगेन
भवं संसारमुज्झन् मुञ्चन् सन् महोदयं मोक्षं निःसीमानमभ्युदयं भजते । संसारसागरं
निस्तीर्य सिद्धो भवतीत्यर्थः । क इव । धातुरिव । यथा धातुर्लोहादिः सिद्धरसेन रसकू-
पिकादिपानीयविशेषेण स्वलोहतां कालायसभावं नीचधातुतां संत्यजन् मुञ्चन् सुवर्णतां
प्रपद्यते ॥ इति धर्मदेशना ॥

अभाजि युष्माभिरिवानुगामिभिर्महीमहेन्द्रः परमेशिता स कः ।

अवद्यवन्ध्यां पदवीं प्ररूपयन्नुपासनामर्हति कीदृशो गुरुः ॥ २६ ॥

सुधाब्धिवद्यो ददतेऽमृतं पुनः स किंविधो धर्म इदं वदन्तु मे ।

महीमहेलादयितोदितामिमां गिरं निपीय प्रभुरप्यचीकथत् ॥ २७ ॥

इमां वृत्तापेक्षया पूर्वोक्तां मही भूमिरेव महेला कामिनी । 'यश्च परमहेलारतोऽप्य-
पारदारिकः' इति चम्पूकथायाम् । तथा 'महिला स्यान्महेलया' इति शब्दप्रभेदे ।
तस्या दयितो भर्ता अकञ्चरः तेनोदितां कथितां वाणीं निपीय सादरं श्रुत्वा प्रभुः सूरि-
न्द्रोऽप्यचीकथत् वदति स्म । इमां काम् । हे सूरिन्द्राः, इदं मयैव निगद्यमानं पृच्छ-
मानं मे मम वदन्तु कथयन्तु । इदं किम् । यः परमेशिता परमेश्वरो युष्माभिः श्रीम-
द्भिरभाजि संसेव्यते स्म । कैरिव । अनुगामिभिरिव । यथा महीमहेन्द्रो नीतिमान् भूमान्
सेवकैः सेव्यते । स कः परमेष्ठी किंनामा च पुनः किंशुणो गुरुपासनामर्हति सेवां

कर्तुं योग्यो भवति सेवनीयः स्यात् । गुरुः किं कुर्वन् । अवद्येन पापेन वन्ध्याम् ।
 'अवद्यमुक्तेः पथि यः प्रवर्तते' इति सिन्दूरप्रकरे । सर्वथा पापनिर्मुक्तां पदवीं मार्गं
 प्ररूपयन् । गुरोर्गुरुरिति विशेषणमपि तत्त्वोपदेष्टा हिताहितनिरूपकः । च पुनः सुधा-
 विधवत्क्षीरसमुद्र इव अमृतं सुधां मोक्षं च ददते विश्राणयति । अयं 'दद दाने' धातु-
 रात्मनेपदी भ्वादिश्च । स धर्मः किंविधः कीदृक्प्रकारः ॥ युगमम् ॥ इति साहेदेवगुरु-
 न्प्रति देवगुरुधर्माणां प्रश्नः ॥

जगन्ति यस्यानुभवेऽनुबिम्बितामिवात्मदर्शे दधते धरापते ।

जिगाय चाष्टादशदोषविद्विषो नवद्वयद्वीपभुवो जयीव यः ॥ २८ ॥

तरङ्गिणीवेणिमिवाम्भसां प्रभुर्न चाङ्गपालीं नयते नितम्बिनीम् ।

कचित्पुनर्यस्य न नर्मनर्मदाहदावगाहे द्विरदायितं हृदा ॥ २९ ॥

बिभर्ति हेतीर्न तनूनपादिवाहितान्पुनर्यो न हिनस्ति हिंसवत् ।

भवं भिनत्ति स्म करीव पञ्जरं दधाति देवः स नमस्क्रियार्हतीम् ॥ ३० ॥

हे धरापते, स दीव्यति क्रीडति त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्म्या ब्रह्मश्रिया वा स देवः परमे-
 श्वरो निखिलनरसुरासुराणामपि नायकः नमस्क्रियाया नमस्कृतेरार्हतीमौचित्यं योग्यतां
 दधाति बिभर्ति । 'उडुपरिषदः किं नाहन्ती निशः किमनौचित्यं' इति नैषधे । अत्र नुम्-
 विकल्पत्वेन रूपद्वयी आहन्ती आहती च । अर्हतो भाव आहती । 'अणूत्तुण ईप्' इतीप्प्र-
 त्ययः । इति सिद्धिरपि । स देवः प्रणामयोग्यः स्यात् । स कः । यस्य परमेशितुरनुभवे
 ज्ञाने जगन्ति त्रीणि-सप्त-चतुर्दश-एकविंशतिर्वा भुवनानि अनुबिम्बन्ति संक्रामन्तीत्ये-
 वंशीलानि अनुबिम्बिनी अनुबिम्बिनां भावोऽनुबिम्बितां प्रतिबिम्बशीलतां दधते बिभ्रति ।
 कस्मिन्निव । आत्मदर्श इव । यथा निर्मलदर्पणमण्डले क्वापि भूधनधनिगृहचित्रशालिका-
 दिभित्त्यादौ चित्राकृतानि त्रीणि जगन्ति प्रतिफलन्ति । च पुनर्हे भूवल्लभ, यो
 देवो दीनान्तराय-लभान्तराय-वीर्यान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-हास्य-
 रति-अरति-भीति-जुगुप्सा-शोक-काम-मिथ्यात्व-अज्ञान-निद्रा-अविरति-राग-द्वे-
 षनामानोऽष्टादशसंख्याका दोषा अपगुणास्त एव विद्विषो महावैरिणो जिगाय पराभू-
 तवान् । क इव । जयीव । यथा परराजजित्वरो राजा नवसंख्याकानां द्वयं द्वन्द्वं नव-
 द्वयं नवद्वयं च ते द्वीपाश्च नवद्वयद्वीपाः इति नैषधवृत्तिनरहरिकृतसमासः । तेषामष्टा-
 दशद्वीपानां भुवो भूमीप्रदेशान् जयति स्ववशीकुरुते । 'नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्'
 इति नैषधे । तथा 'अष्टादशद्वीपनिखातयूपः' इति रघौ । च पुनर्यः परमेष्ठी नित-
 म्बिनीं कान्तामङ्गपालीमालिङ्गनं न नयते न प्रापयति । 'आलिङ्गनं परिष्वङ्गः संश्लेष
 उपगूहनम् । अङ्गपाली परीरम्भः' इति हैम्याम् । क इव । प्रभुरिव । यथा अम्भसां
 पानीयानां स्वामी समुद्रस्तरङ्गिणीवेणि नदीप्रवाहं नदीपूरं नदीनां स्वपत्नीत्वेनाश्लेषणं
 नयते लम्बयति । पुनर्यस्य परमात्मनो हृदा हृदयेन कचित्कुत्रापि समये प्रदेशे वा

रहसि वा प्रकटं वा नर्म क्रीडा तदेव नर्मदा मेकलाचलजाता नदी नर्मदानात्री तस्या
 द्वदो द्रहस्तस्यावगाहे विलोडने जलकेलिविधौ वा न द्विरदायितं गजवदाचरितम् । प्रायो
 विन्ध्यपर्वतोत्पन्ना हस्तिनो विन्ध्योपकण्ठप्रवहन्नर्मदायामनिशं स्वरं रमन्ते । यदु-
 क्तम्—‘कौपं वारि विलोक्य वारणपते किं विस्मितेनास्यते प्रायो भाजनमस्य संप्रति
 भवांस्तथीयतामादरात् । उन्मज्जच्छफरीपुलिन्दललनापीनस्तनास्फालनस्फालीभूतमहो-
 मिनिर्मलजला दूरे धुनी नर्मदा ॥’ इति गजाष्टके । पुनर्हे भूमण्डलाखण्डल, यो हेतीश्वाप-
 चक्रशूलगदाप्रमुखानि प्रहरणानि न विभर्ति । क इव । तनूनपादिव । यथा ‘वह्निर्हेती-
 ज्वाला धत्ते । ‘हेतिः प्रहरणं शस्त्रम्’, तथा ‘हेतिः कीलाशिखा ज्वाला’ इति द्विकमपि
 हैम्याम् । पुनर्यः हिंस्रवत् घातुक इव अहितान्वैरिणो न हिनस्ति न घातयति । पुनर्यः
 भवं संसारं भिनत्ति भनक्ति । क इव । करीव । यथा हस्ती पञ्जरं काष्ठकोष्ठं भिनत्ति भेद-
 यति । ‘जयकोईमणकमेलभसलयपंजरकुंजर’ इत्यभयदेवसूरिकृतजयतिहुअणस्तोत्रे ॥
 त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति देवस्वरूपम् ॥

परिग्रहं यो जलमम्बुदाविलं मरालवन्मुञ्चति सद्य संसृतेः ।

प्रबोधशालीनिह यः प्ररोपयेत्कृपारसापूरितमानसावनौ ॥ ३१ ॥

प्रवर्तको यः सुगतेश्च दुर्गतेर्व्यनक्ति मार्गौ रविवच्छुभाशुभौ ।

भवात्तरन्त्वेन परांश्च तारयंस्तीव्र वाधौ गुरुरीदृशः स्मृतः ॥ ३२ ॥

हे साहे, यः संसृतेः संसारस्य सद्य गृहभूतं परिग्रहं धन-धान्य-क्षेत्र-वस्तु-रूप्य-
 सुवर्ण-कुप्य-द्विपद-चतुष्पदरूपं नवविधमपि स्वयमात्मना मुञ्चति जहाति । किंवत् ।
 मरालवत् । यथा राजहंसः अम्बुदेन प्रावृषेण्यप्रबलजलधरवारिवर्षणेन जम्बालजलप्ल-
 वागमनेनाविलं पङ्किलीकृतं जलं सरसीसलिलं त्यजति । ‘गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते
 राजहंसा वयम्’ इति सूक्ते । पुनर्यः कृपारसेन कारुण्यामृतेन पूरितायां भरितायां पूर्णा-
 कृतायां वा मानसं भविजनमन एवावनिर्भूमिस्तस्यां प्रबोधाः सम्यग्ज्ञानानि त एव
 शालयः कलमास्तान्प्ररोपयेत् वपेत् । जलभृतभूमौ हि शालय उप्यन्ते इति स्थितिः ।
 पुनर्यो रविवत्सूर्य इव शुभाशुभौ समीचीनासमीचीनौ मार्गौ पन्थानौ व्यनक्ति प्रकट-
 यति । किंभूतौ मार्गौ । सुगतेः स्वर्गोपवर्गस्य, तथा दुर्गतेर्नरकतिर्यक्त्वादिकुगतेः प्र-
 वर्तकः । हे साहे, ईदृश ईदृग्लक्षणो गृह्णाति तत्त्वं सम्यग्मार्गं च स्वयं विज्ञाय भव्य-
 जन्तुपदिशतीति गुरुः स्मृतः शालेषु कथितः । किं कुर्वन् । भवात्संसारत्वात् स्वेना-
 त्मना तरन्पारं प्राप्नुवन् च पुनः परानन्यान् भविकांस्तारयन्नुत्तारयन् परपारं प्रापयन् ।
 केव । तरीव । यथा नौर्वाधौ समुद्रे स्वेन तरति पारे गच्छति परान् स्वाश्रितान् लोकांश्च
 तारयति परतीरं लम्भयति ॥ युग्मम् ॥ इति गुरुस्वरूपम् ॥

जिनास्यपद्मे मकरन्दविभ्रमं दधद्विपत्पूषसुताप्रलम्बभित् ।

महोदयस्वर्गितरोरिवाङ्कुरः कृपापयोराशितमखिनीपतिः ॥ ३३ ॥

नरोरगस्वर्गहृसार्वभौमतादिमेन्द्रा यस्य वशंवदा सदा ।

पुनर्विधातेव भवान्तकारकः क्षितीन्द्र धर्मः पुनरीदृशः श्रिये ॥ ३४ ॥

हे क्षितीन्द्र धरित्रीसहस्रनेत्र, ईदृशो विश्वे ईदृग्लक्षणः संसारसमुद्रमध्यमजत्समस्त-जनतानां धारणादुद्धारणाद्धर्मः श्रिये मोक्षलक्ष्म्यै भवति । किं कुर्वन् । जिनस्य राग-द्वेषाद्यशेषविद्वेषितुः परमेश्वरस्यास्यपद्मे वदनकमले मकरन्दविभ्रमं मधुविलासं दधद्धारयन् । सर्वज्ञप्रणीत इत्यर्थः । किलक्षणः । विपदापद्रूपा या पूषसुता सूर्यपुत्री यमुना तद्भिदायां प्रलम्बभिद्वलभद्रोपमः । 'रुक्मिप्रलम्बयमुनाभित्' इति हैम्याम् । आपद्र-छीनां मूलोन्मूलनकृदित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—महोदयो मोक्षः स एव स्वर्गितरुः कल्पद्रुम-स्तस्याङ्कुरः प्ररोहः । यथाङ्कुरात्तरुर्जायते तथा धर्मादेव सर्वदुःखक्षयः स्यादिति । पुनः किंभूतः । कृपा जगजीवानुकम्पा सैव पथोराशिः समुद्रस्तद्वर्धने तमस्विनीपतिः विधुः । यथा चन्द्रात्समुद्रो वर्धते, तथा धर्मादपि दयापि वर्धमाना भवति । जीवदयामय इत्यर्थः । पुनर्यस्य धर्मस्य नरा मनुष्याः, उरगा नागाः, स्वर्गहाः पुराः, तेषां सार्वभौमाश्चकव-तितनस्तेषां भावो नरोरगस्वर्गहृसार्वभौमता नरेन्द्रता नागेन्द्रता असुरेन्द्रता देवेन्द्रता ता आदिमा यस्यास्तादृश्य इन्द्राः सर्वश्रियो लक्ष्म्यो यस्य सदा नित्यं वशंवदा आयत्ता यं ददाति तं श्रयन्ते पुनः विधाता ब्रह्मा इव भवस्य संसारस्यान्तकारकः धातुकः विधातापि भवान्तकृत्नामा ॥ युग्मम् ॥ इति धर्मस्वरूपम् ॥

जनुष्मतां शालिशया इवात्मनापुनर्भवोद्भावविधायिनोऽनिशम् ।

त्रयोऽप्यमी सन्ति समग्रमेदिनीधवावतंसीकृतपादपङ्कज ॥ ३५ ॥

समग्रा ये मेदिनीधवाः पृथिवीपतयो राजानस्तैरवतंसीकृतं शेखरीप्रणीतं पादपङ्कजं यस्य स तस्य संबोधने । अमी देवो गुरुधर्मश्च त्रयोऽपि जनुष्मतां जन्मभाजां भवि-कानां शालिशयाः शोभनशीलाः पाणय इव आत्मना स्वयमपुनर्भवस्य न विद्यते पुन-स्ततोऽत्रागल्य द्वितीयवारं भव उत्पत्तिर्यस्मात्तादृशो मोक्षः तस्य तथा पुनर्भवानामु-द्भावः प्रकटीभवनं तं विदधते कुर्वते इत्येवंशीलाः मुक्तिकारिणो विद्यन्ते सन्ति ॥ इति सुधर्मदेवगुरुनिरूपणम् ॥

शिवस्त्रिनेत्रीमिव भूमिमानिव त्रिशक्ति विद्यात्रितयीं सुधीरिव ।

अचालनीयां सुरशैलवत्सुरैस्तदर्हदादित्रितयीमहं वहे ॥ ३६ ॥

हे साहे, अहं तत्पूर्वव्यावर्णितस्वरूपामर्हदादीनां जिनगुरुधर्माणां त्रितयीं वहे स्वेन धारयामि । किंभूताम् । सुरैर्देवैरप्याचालनीयां चालयितुमशक्याम् । किंवत् । सुरशैलव-द्यथा मेरुः केनापि न चाल्यते । अहं वहे । क इव । शिव इव । यथा ईश्वरस्त्रिनेत्रीं लो-चनत्रितयं वहति । 'एकत्रिदृग्भालदृगेकपादः' इति हैम्याम् । यदुक्तं च—'गतियुगलक-मेवोन्मत्तपुष्पोत्कराणां त्रिनयनतनुपूजा वाथ वा भूमिपातः' इति । पुनः क इव । भूमि-मानिव । यथा राजां तिसृणां प्रभुत्व—उत्साह—मन्त्रलक्षणानां त्रिकसंख्याकानां शक्तीनां

समाहारस्त्रिशक्ति शक्तित्रिकं धत्ते । 'शक्तयस्त्रिस्रः प्रभुत्वोत्साहमन्त्रजाः' इति हैम्याम् ।
'त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्' इति रघौ । पुनः क इव । सुधीरिव । यथा विद्वान्
विद्यानां व्याकरण-साहित्य-तर्कलक्षणानां त्रितयीं विभर्ति । भुवनवलिवद्विविधा संध्या-
गजवाजिनां भुवननेत्राणि' इति काव्यकल्पलतायाम् । त्रिसंख्याकानि ॥ इति साहेः
पुरः सूरिभिः स्वस्य तत्त्वत्रयाराधनं प्रोक्तम् ॥

कति व्रतानीह बहुध्वमात्मना परेण शक्यानि न वोढुमद्रिवत् ।

इदं नृपे पृच्छति भारती विभोर्मुखारविन्दे मधुपी बभूवुषी ॥ ३७ ॥

विभोर्हीरगुरोर्मुखारविन्दे वदनपद्मे भारती वाणी मधुपी बभूवुषी भ्रमरी संजायते
स्म । प्रोवाचेत्यर्थः । कस्मिन् सति । नृपे भकब्बरे इदं निगद्यमानं पृच्छति प्रश्नं कुर्वति
सति । इदं किम् । हे सूरयः, इह जगति संयममार्गे वा यूयमात्मना स्वेन कति
क्रियत्संख्याकानि व्रतानि नियमविशेषान् बहुध्वं धारयत पालयत वा यानि व्रतानि
परेण असत्त्वेन क्लीबप्रायेण पुंसा वोढुं धारयितुं न शक्यानि न समर्थानि । किंवत् ।
अद्रिवत् । यथा विष्णुव्यतिरेकेणेत्यध्याहारः । पर्वतोऽन्येन केनचिद्वोढुं न शक्यते ।
'सोमसिन्धुर्जगन्नाथो गोवर्धनधरोऽपि च' इति विष्णुनामसु हैम्याम् ॥ इति सूरिणां
क्रियद्वतधारणविषये साहेः प्रश्नः ॥

वसुंधराभोग इवामराचलान्सुपर्वसालानिव काञ्चनाचलः ।

अहं वहे पञ्चमहाव्रतानमून्स्वविक्रमाधःकृतपाकशासन ॥ ३८ ॥

हे स्वविक्रमेण निजभुजवीर्येण कृत्वा अधःकृतो हीनीकृतस्तिरस्कारं नीतो वा पाक-
शासनो वज्रपाणिर्येन तस्य संबोधनम् । अहममूनग्रे वक्ष्यमाणान्प्रोच्यमानान्पञ्चसंख्या-
कान्महाव्रतान् सर्वेभ्योऽप्यतिशायिनियमान्वहे विभर्मि । व्रतशब्दः पुनपुंसके ।
'व्रतोपवीतौ पल्लिलिन्तौ वसन्त' इति लिङ्गानुशासने । क इव । वसुंधराभोग इव । यथा
वसुंधराया सार्धद्वयद्वीपलक्षणमनुष्यक्षेत्रभूमेराभोगो विस्तारः पञ्चामराचलान्मेरून्
विभर्ति । एको जम्बूद्वीपे, द्वितीयो धातुकीखण्डपूर्वार्धे, तृतीयो धातुकीखण्डपश्चिमार्धे,
चतुर्थः पुष्करार्धपूर्वार्धे, पञ्चमः पुष्करार्धपश्चिमार्धे, एवं पञ्च काञ्चनाचलान् धत्ते । पुनः
क इव । काञ्चनाचल इव । यथा मेरुः कल्प-पारिजात-मन्दार-हरिचन्दन-संताना-
भिधानान्पञ्च सुपर्वसालान् सुरद्रुमान् कलयति ॥

क्षितीन्द्र तेषामिदमादिमं व्रतं समन्तवो मन्तुमुचोऽपि जन्तवः ।

न पञ्चतागोचरचारिणः कचित्रिधा क्रियन्ते निजनन्दना इव ॥ ३९ ॥

हे क्षितीन्द्र, तेषां पञ्चानां महाव्रतानां मध्ये इदमुच्यमानमादिमं प्रथमं व्रतं वर्तते ।
तदेवाह—यत्कचित्प्रदेशे ग्रामे अरण्ये वा रहसि प्रकटे वा प्रमोदेन दर्पेण संकल्पेन
वा त्रिधा मनोवाक्यायैः कृत्वा समन्तवः सापराधाः अपि पुनः मन्तुमपराधं सुञ्चन्ति

त्यजन्ति ते निरपराधाः जन्तवः प्राणिनः पञ्चतायाः पञ्चत्वस्य मृतेर्गोचरे विषये चरन्ति व्रजन्तीति एवंशीलाः नैव क्रियन्ते सर्वथा नैव हन्यन्ते । के इव । निजन-
न्दना इव । यथा खपुत्राः पञ्चताया गोचराः केनचित्पित्रा न क्रियन्ते तथा सर्वेऽपि
जगज्जन्तवः पाल्यन्ते एव ॥

न देवदेवः परमेशितुः परः प्रतापवान्नापि पयोजिनीपतेः ।

गुरुर्नमेरुर्न मरुर्मर्मेर्गणिस्तथा न धर्मोऽस्ति दयाविधेः परः ॥ ४० ॥

हे देवशब्देन राजभट्टाकादिरुच्यते । 'राजा भट्टाको देवः प्रयोज्याः पूज्यता-
मतः' इति हैम्याम् । तथा 'देव त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गीर्णप्रतापानल-', 'देवे दिग्वि-
जयोद्यते' इति खण्डप्रशस्तौ । तथा 'देव त्वं जय कासि लुब्धकवधूर्हस्ते किमेतत्प-
लम्' इत्यादि भोजप्रबन्धादावपि । तथा 'देवेन किं न श्रुतम्' इति चम्पूकथायाम् ।
यथा परमेशितुः परमेश्वरात्परो देवो नास्ति । अथ वा परमेश्वरादपरः देवानां भवनप-
तिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां सुराणामपि देवः पूज्यः एतावता देवाधिदेवः ।
अपरे सर्वे हरिहरपुरंदरादयो देवाः, परमेश्वरस्तु देवदेवः, तथा यथा पयोजिनीपतेः
सूर्यात्परः प्रतापवान्महस्वी तेजस्वी नास्ति । पुनर्यथा मेरोर्लक्ष्योजनप्रमाणत्सुदर्शन-
नाम्नः खर्णाचलात् कोऽपि गुरुर्महान्नास्ति । सर्वेऽप्यपरेऽत्युच्चाश्चतुरशीतिच्योजनमानाः,
अयं तु शतसहस्रयोजनोच्चैस्तरः । पुनर्यथा मरुन्मणेश्चिन्तारत्नात्परो मणिर्नास्ति वज्रप-
द्मरागकर्कतनमरकतेन्द्रनीललोहिताक्षपुलिन्दाज्जनहंसगर्भादयोऽनेकेऽपि मणयः सन्ति,
परं चिन्तामणिं विना सर्वकामकरः कोऽपि नास्ति । यथा दयाविधेः कृपाकरादपरो
धर्मो न वर्तते । 'नास्ति धर्मो दयापरः' इति गीतायाम् ॥ इति प्रथमं व्रतम् ॥

वदन्ति वाचंयमपुंगवास्त्रिधा मृषा न भाषामपि जीवितव्यये ।

इयं यदंहःपटलीव दुर्गतेर्विमानताया अतिशायि कारणम् ॥ ४१ ॥

हे साहे, वाचंयमपुंगवाः साधुसिन्धुराः जीवितव्यये प्राणत्यागेऽपि त्रिधा मनोवचन-
कायैः कृत्वा मृषा अलीकां भाषां वाचं न वदन्ति न ब्रुवन्ति । यत्कारणादियं मृषा
भाषा विमानताया अवगणनायाः पदे पदे अपमानस्य अतिशयते सर्वेभ्योऽभ्यधिकीभ-
वतीत्येवंशीलमतिशायि कारणं साधनं वर्तते । मिथ्याभाषी सर्वत्राप्यपमानं पराभवं
च प्राप्नुयात् । केव । अंहःपटलीव । यथा अंहसां दुष्कृतानां पटली परम्परा दुर्गतेर-
तिशायि साधनमास्ते ॥

यशःसुधांशोरपिधायिका कुहूरिवादशालोलदृशः प्रियासखी ।

समूहनीवारजसामिवाङ्गिनां गुणावलीनामनृता हि भारती ॥ ४२ ॥

हे साहे, निश्चितमनृता असत्या भारती वाणी मृषा भाषा कुहूरमावास्येव यशः
जगत्प्रसारिकीर्तिकलापः स एव सुधांशुश्चन्द्रमास्तस्यापिधायिका । 'व्रजति कुमुदे मोहं
दृष्ट्वा दशोरपिधायिका' इति नैषधे । पुनस्तुप्रेक्ष्यते—अत्र इवशब्दो घण्टालालान्यायेन

उभयत्र योज्यते । अदशा विरुद्धदशा । तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञ् वर्तते सारस्व-
तोक्तः । दुर्दशा सैव लोलहक्कामिनी तस्याः प्रियसखी इष्टवयसीव । च पुनरुत्प्रेक्ष्यते—
अङ्गिनां प्राणिनां गुणानां शीललज्जार्जवमार्दवादीनामावलीनां धोरणीनां समूहनी संमा-
र्जनीव । लोके 'सारवणी' इति प्रसिद्धा । केषामिव । रजसामिव । यथा धूलीनां गृहा-
दिकत्ववरकाणां प्रमार्जनकारिका । निष्काशयित्रीत्यर्थः ॥ इति द्वितीयं व्रतम् ॥

तृणादि नोपाददते च किञ्चनाप्यदीयमानं मुनयो महीमणे ।

पदं किलाविश्वसितेरिवैकद्वक्त्वतेररिष्टः पृथिवीपुरंदर ॥ ४३ ॥

हे महीमणे भूमीरत्न, च पुनर्मुनयः साधवः तृणादि दन्तशोधनमात्रप्रमुखं किञ्चि-
दपि वस्तु अदीयमानं केनाप्यविश्राप्यमानं नोपाददते नैव गृह्णन्ति । हे पृथिवीपुरंदर
मेदिनीमण्डलाखण्डल, किलेति निश्चितं श्रूयते वा । हेतोर्वा । 'किल संभाव्यवार्तयोः ।
हेत्वरुच्योरलीके च' इत्यनेकार्थः । अस्माकं तु सर्वथापि तत्कारणाभावात् लोके जने
एवाकर्ण्यते । अदत्तादानं वस्तु स्वामिना कथमप्यदीयमानवस्तुनो ग्रहणमविश्वसितेरवि-
श्वासस्य पदं स्थानमास्ते । क इव । अरिष्ट इव । यथा निम्बतरुः । 'निम्बोऽरिष्टः पितु-
मन्दः' इति हैम्याम् । एकद्वक्त्वतेः काकश्रेण्या निवासस्थानं स्यात् ॥

अदत्तमादत्त न यस्त्रिधापि तं वृणोति विधेव विनीतमिन्दिरा ।

मृगी मृगेन्द्रादिव दुर्गतस्ततः प्रयाति दूरादवनीनभोमणे ॥ ४४ ॥

हे अवनीनभोमणे प्रतापवत्त्वाद्भूमीभानो, यः पुमान् त्रिधापि मनोवचनतनुभिः
कृत्वा अदत्तं वस्तु स्वामिना न विश्राणितं यो नादत्त न जग्राह तं पुमांसं इन्दिरा
लक्ष्मीः स्वयमागल्य वृणोति वरयति । भजते इत्यर्थः । कमिव । विनीतमिव । यथा
विनयवन्तं शिष्यं विद्या निषेवते पुनस्ततस्तस्मान्निःस्पृहान्नरादुर्गतिर्नरकादिकुगतिर्दूरा-
त्प्रयाति पालयते । क इव । मृगीव । यथा मृगेन्द्रान्मृगी कुरङ्गी दूरात्प्रयाति ॥ इति
तृतीयं व्रतम् ॥

पराङ्मुखी स्याद्विषयाद्भ्रतिव्रजो निकुञ्जवासीव तदेकभूमिषु ।

क्षमाधरो येन महोदयंगमी वशास्वनीतिष्विव कोऽनुरज्यते ॥ ४५ ॥

हे साहे, व्रतिव्रजो मुनिगणो विषयात् शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणात्पञ्चप्रमा-
णाद्गोचरात्पराङ्मुखी स्यात् विमुखो विरक्तो भवेत् । क इव । निकुञ्जवासीव । यथा वने
एव वसनशीलो जन्तुः श्वापदादिर्विषयाजनपदाद्विमुखः स्यात्कदाचिन्नगरग्रामादिषु नाग-
च्छेत् । येन कारणेन क्षमायाः क्षान्तेः क्षमाया उपशमस्य वा धरो धर्ता पुनर्महोदयं
मोक्षं गमिष्यति यास्यतीत्येवंशीलः साधुस्तदेकभूमिषु तेषां पञ्चानामपि विषयाणामेका
अद्वैता भूमयो वासवेष्टमानि । नहि वाणिनीं विना विषयाः सुखाय स्युः । तादृशीषु
वशासु स्त्रीषु न अनुरज्यते अनुरक्तीभवति । कास्त्रिव । अनीतिष्विव । यथा क्षमाधरो
सुवराजपदवीं प्रापितः सर्वराज्यधुरंधरः पुनर्महान्तं सर्वातिशायिनमुदयं राज्यैश्वर्यं

गमिष्यति लप्स्यते इत्येवंशीलः । अथ वा क्षमाधरो जनकेन निजनिजराज्ये स्थापितः । पुनर्महान्तं सार्वभौमतादिलक्षणमुदयमाधिपत्यं प्राप्स्यते इत्येवंशीलः । तादृशः कः । अनीतिष्वन्यायेषु अनुरागवान् भवेत् । उदयाभिलाषी सर्वोऽपि न्यायेष्वेवानुरज्यते । यदुक्तम्—‘न निमित्तद्विषां क्षेमं नायुर्वैद्यकविद्विषाम् । न श्रीनीतिद्विषामेतन्नयं धर्मद्विषां नहि ॥’ इति ॥

यतः स शूरः सुदृशां भ्रुवं धनुः कटाक्षबाणान्कवरीकृपाणभृत् ।

नितम्बचक्रं भुजपाशमुत्कटं पुनर्वह्नयेन जितः स्मरप्रभुः ॥ ४६ ॥

हे सुदृलेन्द्र, स एव पुमान् शूरः सुभटः । कथ्यते इति शेषः । येन पुंसां स्मर एव प्रभुः त्रिजगज्जेतृत्वात्समर्थो राजा इन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राणामपि स्वसेवकीकरणाद्राजा जितो वशीकृतो हतो वा । किं कुर्वन् । सुदृशां चारुलोचनानां भ्रुवमेव धनुः कोदण्डम्, पुनः कटाक्षानपाङ्गदर्शनान्यक्षिविकृणितानि एव बाणान्नाराचान्, पुनर्नितम्बमारोहं स्त्रीकटीपश्चात्प्रदेशम् । येन कृत्वा नितम्बनीत्यभिधानेन प्रसिद्धा । तदेव चक्रं रथाङ्गायुधम् । पुनरुत्कटं केनापि छेतुमशक्यं भुजौ बाहू एव पाशं द्विषद्वन्द्वनार्थं वज्ररज्जुमयग्रन्थिं वहन् धारयन् । किंभूतः । कवरीं वेणीमेव कृपाणं चन्द्रहासं बिभर्तीति भृत् । प्रभुः सकलसुरासुरोरगनरनायकनिर्जयेन सामर्थ्यवानिति सामिप्रायं प्रभुरिति पदम् ॥

स भद्रवांस्त्रैणकुचाचलान्तिकप्ररूढरोमावलिशालगह्वरे ।

न दस्युवद्यस्य मनोभुवा शमश्रियो ह्रियन्ते शिवमार्गगामिनः ॥ ४७ ॥

हे साहे, स नरो भद्रवान् कुशली । स कः । शिवे निरुपद्रवे मार्गे पथि मोक्षमार्गे वा गच्छतीत्येवंशीलस्य यस्य महात्मनो दस्युवत्सकरेणेव । ‘दस्युस्तस्करविद्विषोः’ इत्यनेकार्थः । मनोभुवा मदनेन शमश्रियः प्रशमविभवा न ह्रियन्ते नाच्छिद्य गृह्यन्ते । कस्मिन्विषये । त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य कुचाः प्रोत्तुङ्गपीनपयोधरास्त एवाचलाः पर्वतास्तेषामन्तिके समीपे प्ररूढा उद्गताः या रोमावल्यो लोमलेखास्ता एव शाला विविधविटपवृक्षास्तेषां गह्वरे घननिकुञ्जे तस्करश्वापदादिभयंकरकानने ॥

यशस्त्रियामादयिते कलङ्कति द्विपेन्द्रति क्षीरधिसूनुवीरुधि ।

शमारविन्दे तुहिनोदवृन्दति व्रताम्बुवाहेष्वपि गन्धवाहति ॥ ४८ ॥

निदाघति व्रीडवहा पयःप्लवे महत्त्वगोत्रे च सहस्रनेत्रति ।

गुणद्रुमद्रोणिषु मन्त्रजिह्वति क्षितीश शीलं पुरुषेण खण्डितम् ॥ ४९ ॥

हे क्षितीश भूपते, पुरुषेण उपलक्षणाद्विशेषेण स्त्रिया वा शीलं ब्रह्मचर्यं स्वदारसंतोषलक्षणं परपुरुषत्यागलक्षणं यावज्जीवनियमपालनविधं वा खण्डितं त्यक्तं भग्नं सत् । तस्येति शेषः । यशः कीर्तिरेव त्रियामादयितः शारदीनचन्द्रस्तस्मिन्कलङ्कति लाञ्छनमिवाचरति । सकलङ्कः स्वयशो मलिनीकरोति । पुनः क्षीरधेः क्षीरसमुद्रस्य सूनुः

पुत्रो नन्दनः । 'उद्वहोऽङ्गात्मजः सूनुस्तनयो दारकः सुतः । पुत्रो दुहितरि स्त्रीत्वे' इति हैम्याम् । 'स्त्रीत्वे स्त्रीलिङ्गे वाच्ये सति नन्दननामशब्दो दुहितरि पुत्र्यां स्युः' इति तदवचूरिः । लक्ष्मीस्तद्रूपा वीरद्वली तत्र । तदुन्मलने इत्यर्थः । द्विषेन्द्रति ऐरावणोऽन्यो वा गजराजस्तद्वदाचरति । पुनः शमः प्रशान्तता स एवारविन्दं कमलं तस्मिंस्तुहिनोदवृन्दति हिमजलकणगण इवाचरति । हिमानीयतीत्यर्थः । अपि पुनर्व्रतानि पञ्चमहाव्रतानि द्वादशाणुव्रतानि वा अन्ये नियमविशेषा वा त एवाम्बुवाहाः पयोधरास्तेषु गन्धवाहति प्रबलप्रभञ्जन इवाचरति । पुनर्ब्रीडो लज्जा स एव वहा सरित् तस्याः पयःप्लवे पानीय-पूरे निदाघति ग्रीष्मकालति । 'जेणिदिनिपवनप्रचण्डलुअझलतापतडक्का । जिणिदिनि-नदीनिवाणवाणवाविकूआ सवसुक्का ॥' निदाघे हि प्रायोऽखिला जलाशयाः शुष्यन्ति । तथा ब्रीडशब्दः अकारान्तोऽप्यस्ति । 'ब्रीडनं ब्रीडा चित्तसंकोचः ब्रीडोऽपि' इति हैमीवृत्तौ । तथा 'त्वयि स्मरब्रीडसमस्ययानया' इति नैषधे । च पुनर्महत्त्वं महिमा तदेव गोत्रः पर्वतः तत्राचलच्छेदे सहस्रनेत्रति इन्द्र इवाचरति । पुनर्युगाः सदाचरणानि त एव हुमा वृक्षास्तेषां द्रोणिषु श्रेणिषु । तज्ज्वालने इत्यर्थः । मन्त्रजिह्वति । अर्थाद्वावानल इवाचरति । 'भिल्ली पल्लवशङ्कया विचिनुते सान्द्रदुमद्रोणिषु' इति चम्पूकथायाम् । 'हुमद्रोणयो वृक्षश्रेणयः' इति तद्विष्णुके । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिप् वाचारे इत्येको कृष्ण इवाचरतीति कृष्णति । एवं स्वति स्वामास' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तस्मादत्र सर्वत्रापि आचारार्थं किप्प्रत्ययः ॥ युग्मम् ॥

कृतप्रदोषा पितृसूरिवाशनिश्चला वनीवन्मदनावगाहिनी ।

अहेर्महेलेव च जिह्मगामिनी वधूः पयोधेरिव निम्नगामिनी ॥ ५० ॥

जलैर्वहाया इव मेघमालिका विवर्धिनी वा भवपद्मतेरधैः ।

मनः शमाद्वैतसुखानुषङ्गिनां वशीकरोतीश वशा न योगिनाम् ॥ ५१ ॥

हे ईश अर्थात् हे अवनीनायक, इह जगति वशा कामिनी योगिनां मनोवाक्काय-योगभाजां वशीकृतात्मनां मुनीनां मनो मानसं न वशीकरोति न मोहयति न हरति । यदुक्तम्—'अकामस्य तृणं नारी निरीहस्य तृणं नृपः । तृणं ज्ञानवतां सर्वं तृणं शूरस्य जीवितम् ॥' इति वचनात् । किंभूतानां योगिनाम् । शमेन शान्तभावेनाद्वैत-मसाधारणं यत्सुखं सातं तस्यानुषङ्ग आस्वादो विद्यते एषाम् । किंभूता वशा । कृतप्रदोषा कृता उत्पादिताः प्रकर्षेण दोषा दम्भादयः । स्त्रीजातौ दाम्भिकता । तथा 'स्त्रीभ्यः शिक्ष्यते कैतवम्' इत्यादिसूक्तोक्तेः विविधा अपगुणा यया । केव । पितृसूरिव । यथा संध्या कृतः प्रदोषो यामिनीमुखं यथा तादृशी स्यात् । पुनः किंभूता । चला अतिचञ्चलस्वभावा । केव । अशनिरिव । अत्र इवशब्दो लालाषण्टान्यायेन उभयत्रापि योज्यते । ततो यथा अशनि-विद्युदतिचपला आकालिकी शतहृदा । 'चञ्चला चपलाशनिः' इति हैम्याम् । 'अशनिरिव-ज्रविद्युतोः' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूता । मदनावगाहिनी । मदनं प्रबलकर्षणमवगा-

हते । 'कुङ्कुमाग्निसदङ्गारी' इति वचनात् । धारयतीति । किं वत् । वनीवत् । यथा कान्तारं मदननामानं द्रुमम् । 'मीढुल' इति प्रसिद्धं लोके । अवगाहते बिभर्तीति । 'स्ववनी-संप्रवदत्पिकापि का' इति नैषधे । पुनः किंभूता । जिह्मगामिनी जिह्मं वक्त्रं गच्छतीत्येवंशीला । केव । महेलेव । यथा अहेर्भुजंगमस्य महेला वनिता भुजंगी कुटिलचारिणी भवेत् । पुनः किंभूता । निम्नं नीचैर्हानतमकर्मभिर्गच्छति विचरतीत्येवंशीला । अथ वा निम्नेषु नीचजातिषु गच्छन्ति सङ्गं कुर्वन्तीत्येवंशीला । 'कामिन्यो नीचगामिन्यः' इति वचनात् । नीचसक्ताः प्रायः स्युः । केव । वधूरिव । यथा पयोधेः समुद्रस्य वधूः पत्नी नदी निम्नगा नीचैर्वहा जलस्य निम्नगतित्वान्नाम्नापि च । पुनः किंभूता । अघैः पापकर्मभिः कृत्वा भवपद्धतेः संसाररचनाया अथ वा संसारपरम्परायाः संसारमार्गस्य वा । 'पद्धतिः पथि पक्तौ च' इत्यनेकार्थः । एतेषां समीचीना पद्धतिरित्यपि रूढ्या दृश्यते । पद्धतिराचरणं रचनापीति । तस्या विवर्धिनी विशेषेण वृद्धिकरणशीला च तत्र विवर्धिनी । केव । मेघमालिकेव । यथा कादम्बिनी जलैः पानीयैः वहाया नद्या वृद्धिकारिणी । यदुक्तम्—'वर्षानदीनां पतिरङ्गनानामर्थो नराणामृतुरादृ तर्हणाम् । स धर्मचारी नृपतिः प्रजानां लोकागतं यौवनमानयन्ति ॥' इति ॥ युगम् ॥

पुरःसरास्तस्य सुरा मरुद्गवी गृहाङ्गणे पाणितले मरुन्मणिः ।

पुरः सुरद्रुर्निकटे मरुद्धटः स्वयंवराः स्युर्भुवनत्रयीश्रियः ॥ ५२ ॥

प्रदक्षिणो दक्षिणवारिजः पुनः खलाः सखायः सविधे च शेवधिः ।

न चित्रकृच्चित्रलता च सिद्धयः करेऽदधाद्योऽसिशिखोपमं व्रतम् ॥ ५३ ॥

हे साहे, यः पुमानसिशिखायाः खड्गधाराया उपमा सादृश्यं यस्य तादृशं व्रतं ब्रह्मचर्यमदधाद्धारयति स तस्य पुंसः सुरा देवाः पुरःसरा अग्रगामिनस्तदग्रे पदातिवद्गच्छन्ति । पुनर्मरुद्गवी कामधेनुः गृहप्रसूता क्रीतगृहीता वा गौरिव गृहाङ्गणे तिष्ठेत् । मरुन्मणिश्चिन्तारत्नं तस्य पाणितले करकरोडै हस्तेलिकायामेव वसेत् । पुनः सुरद्रुमः कल्पवृक्षः पुरः पुरस्तात् च्छायाकारक इव तिष्ठेत् । पुनः मरुद्धटः कामकुम्भः निकटे समीपप्रदेशे पानीयपायक इव तिष्ठेत् । पार्श्ववर्तीव वा स्यात् । पुनर्भुवनत्रयीश्रियः त्रैलोक्यलक्ष्म्यः स्वयंवरा आत्मभिरेवागत्य तं वृण्वते । पुनर्दक्षिणोऽपसव्यप्रदेशे आवर्तो यस्य स चासौ वारिजश्च । मध्यमपदलोपी समासः । दक्षिणावर्तशङ्खः प्रदक्षिणोऽनुकूलः मार्गितं विनैव सर्वं समीहितं पूरयति । 'कम्बुस्तु वारिजः' इति हैम्याम् । खला द्विजिह्वा दुर्जनाः सखायो मित्राणि भवन्ति । च पुनः शेवधिर्निधानं सविधे पृष्ठे अनुलभमिवायाति च । पुनश्चित्रलता चित्रकवल्ली न चित्रकृत् । अद्रष्टीणामाश्चर्यकारिणी स्यात्तस्य तु पदे पदे तत्प्राप्तित्वेन न विस्मयविधायिनी । तद्रूढ एवोद्गमनत्वेन वा भवेत् । च पुनः सिद्धयः लघिमा-वशिता-ऐश्वर्य-प्राकाम्य-महिमा-अणिमा-यत्र कामावसायित्वम्-प्राप्तिः-इत्यैश्वर्यम् । अष्टावपि सांसारिका महासिद्धयः । करे हस्ते

मनोनुगामिन्यः हस्ततलस्थायिन्यो वा । महत्त्वाद्वहुवचनम् । सिद्धयो मुक्तयोऽपि हस्ते ॥ युग्मम् ॥

गजोऽप्यजो गोष्पदमम्बुधिर्मृगो मृगाधिपः स्रग्भुजगस्तमी दिनम् ।

रणः क्षणश्चाल्पगिरिर्मरुद्गिरिस्त्रिधापि यो ब्रह्म विभर्ति भूपते ॥ ५४ ॥

हे भूपते, यः पुमान् महिला वा त्रिधापि मनोवाक्कायैर्ब्रह्म शीलव्रतं परनारीसहो-
दरतां विभर्ति धत्ते, तस्य पुंसस्तस्याः स्त्रियो वा गजो मदोदुरसिन्धुरोऽपि अजश्लाग-
प्रायः स्यात् । पुनरम्बुधिः समुद्रोऽपि गोष्पदं गोखुरोत्खातभूमिस्थजलमिव तेन तथा
वोल्लङ्घ्यते । पुनर्मृगाधिपः पश्वाननोऽपि मृगो हरिण इव तस्या दूरं पलायते । पुनर्भुजगो
विषधरोऽपि तेन स्रग्वि कुसुममालिकेव तथा चाकरे गृह्यते । तमी सान्धकारा रात्रि-
दिनमिव तस्य तस्या वा जायते । रणो घोरोऽपि संग्रामः क्षण उत्सव इव विभर्ति । पुन-
मरुद्गिरिः सुराचलोऽपि अल्पगिरिः किञ्चिदुच्चपाषाणभूमिरिवावरुह्यते ॥ इति चतुर्थे
ब्रह्मव्रतम् ॥

परिग्रहः संयमिनापवादवन्निधापि नाङ्गीक्रियते कदाचन ।

तमस्तमीनामुदयादिवोरगाद्विषं यतो दोषभरः परिस्फुरेत् ॥ ५५ ॥

हे भूपते, संयमिना चारित्र्यवता साधुना त्रिधापि मनोवचनतनुभिरपि अपवा-
दोऽप्यश इव । कदाचन कस्मिन्नपि प्रस्तावे सुखे दुःखे वा सुकाले दुःकाले वा सुखा-
जीविकायां कष्टाजीविकायां वा परिग्रहो धनधान्यक्षेत्रवस्तुसुवर्णरूप्यकुप्यद्विपदच-
तुष्पदलक्षणो नाङ्गीक्रियते नाद्रियते । यतो यस्मात्परिग्रहाद्वोषाणां निकेतानि दाक्षि-
ण्यलोभाद्यपगुणानां भरो गणः परिस्फुरेत् । किमिव । तम इव । यथा तमीनां कृष्ण-
पक्षक्षपाणामुदयात्प्रकटीभावात्परिभावाद्वा तमो घोरोऽन्धकारं स्फुरेत् । परि समन्तात्स-
र्वविश्रान्तः स्फूर्तिमत्पृथात् विश्वव्यापिस्फूर्तिमद्भवेत् । पुनः किमिव । विषमिव । यथा
उरगाद्भुजंगमाद्भ्रूलमाविर्भवेत् ॥

गिरीन्द्रमारोहति लङ्घतेऽम्बुधीन्प्रयाति जन्यं गहनं च गाहते ।

असूस्तृणानीव सृजेन्निरञ्जनस्तदुल्लसल्लोभविजृम्भितं विभो ॥ ५६ ॥

हे विभो हे साहे, यज्जनो लोकः गिरीन्द्रं तुङ्गशैलमारोहति पर्वतोपरितलशिखर-
शिखायां चढति, पुनर्यदम्बुधीन् समुद्रान् लङ्घते यानपात्रादिभिः कथं कथंचिदति-
क्रामति अपारं पारावारं प्रतीर्य पारपारं याति । पुनर्यज्जन्यं दुराकलनीयरणाङ्गणं
प्रयाति प्रविशति । च पुनर्गहनं भयानकं काननं कान्तारं गाहते सर्वतः परिभ्राम्यति ।
पुनर्जनो निजानात्मीयानसूत्राणान् तृणानीव तृणप्रायान् सृजेत् कुर्यात् । हे राजन्, तत्
पूर्वोक्तं सर्वमपि उल्लसन् वर्धमानः प्रकटीभवन् वा यो लोभस्तृष्णा तस्य विजृम्भितं
विस्फूर्जितं प्रभावः ॥ इति पञ्चमं व्रतम् ॥

वहन्ति पञ्च व्रतिनो महाव्रतान्यमूनि वक्राणि मृगाङ्गमौलिवत् ।

भजन्ति दन्तद्वितयीं गजा इवापरामिमां देव पुनर्व्रतद्वयीम् ॥ ७७ ॥

हे साहे, व्रतिनो नियमवन्तः साधवः अमूनि प्राणातिपातविरमण-मृषावादविरमण-अदत्तादानविरमण-विषयभोगविरमण-परिग्रहविरमणलक्षणानि पञ्चसंख्याकानि महा-व्रतानि मेरुवटुरुद्धराण्यतिशायिनो नियमान् वहन्ति धारयन्ति । किंवत् । मृगाङ्गमौलि-वत् । यथा चन्द्रशेखरः शिवः पञ्चप्रमाणानि वक्राणि वदनानि बिभर्ति । ‘पञ्चमुखोऽष्टमूर्तिः’ इति हैम्याम् । अथ वा ‘महामृगारिवत्’ इति पाठः । यथा मृगाणां हस्तिनामरयः केस-रिणः पञ्चवक्राणि विभ्रति । ‘पञ्चास्यो नखरायुधः’ इति हैम्याम् । हे देव, पुनः साधवः इमामप्रे वक्ष्यमाणामपरां पञ्चमहाव्रतानि उपरितनीं व्रतद्वयीं भजन्ति श्रयन्ते । के इव । गजा इव । यथा हस्तिनो दन्तद्वितयी दन्तकोशयुगलं दधते ॥ इति पञ्चमहाव्रतस्वरूपम् ॥

निशाशनं नीतिजुषा निषिध्यते परिप्लुतापानमिवावनीपते ।

निशाशनेभ्योऽपि वरं विहंगमा निशि त्यजन्तो यतिवज्जलाशने ॥ ९८ ॥

हे अवनीपते, नीतिजुषा न्यायधर्मवता धर्मे सुनिष्ठावता पुरुषेण परिप्लुतापानं मदिरा-पानमिव । ‘गन्धोत्तमाकल्पमिरापरिप्लुताः’ इति हैम्याम् । निशाशनं रात्रिभोजनं निषि-ध्यते निवार्यते स्वयं नाद्रियते । हे नृपते, निशायां रात्रावशनं भोजनं येषां ते निशा-शना रात्रिभोजनास्तेभ्यो जनेभ्यः सकाशात् विहंगमाः पक्षिणोऽपि वरं समीचीनाः । वरमिति समीचीनार्थेऽपि दृश्यते । यथा सिन्दूरप्रकरे—‘वरं क्षिप्तो हस्तः कुपितफ-णिनो वक्रकुहरे वरं झम्पापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः । वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विरचितो न जन्यं दौर्जन्यं तदपि विपदां सद्य विदुषाम् ॥’ इति । किं कुर्वन्तः । यतिवन्मुनय इव । निशि रात्रौ जलाशने पानीयान्ने त्यजन्तो मुञ्चन्तः न भुजन्तः पिबन्तश्च ॥

गवामधीशं भुवनोपकारिणं महस्विनं श्रीजिनपादसेवितम् ।

अवेत्य मित्रं विधुरं विधीयतेऽशनादि यत्सा कथमौचिती सताम् ॥ ९९ ॥

हे साहे, गवामधीशं राजानं पतिं भास्करं धेनूनामधीशं कृष्णं नन्दगोपाङ्गजत्वाद्गो-कुलवासित्वाद्भजनाथत्वाच्च गवां वाचामधीशं वागीशत्वाद्गुरुं वाचस्पतिमध्येतारं वि-धुरमस्तप्राप्तं मृतम् । ‘दिष्टान्तोऽस्तं कालधर्मः’ इति हैम्याम् । अवेत्य ज्ञात्वा यदशना-दि भोजनप्रमुखं रङ्गसुखकारणं विधीयते क्रियते, सा सतामुत्तमानां कथमौचिती केन प्रकारेण योग्यता । अपि तु नैव । किंभूतस्य । भुवनोपकारिणः । जगतो भूलोकस्य पाल-नादुपकारको राजा यावापृथिव्योरुद्द्योतकर्तृत्वात्सदसन्मार्गप्रकाशत्वान्मित्रत्वाच्चोपकर्ता भास्वान् जगदुपद्रवकृद्दैत्यनिवारकत्वात्पालकत्वात्सृष्टेश्वरपकर्ता कृष्णः अज्ञानान्धकार-च्छेदत्वात् ज्ञानविवेकदायकत्वाद्गुरुः । पुनः किंभूतम् । महस्विनं प्रतापवन्तं नृपं कि-रणमालिनं भानुमुत्सववन्तं कृष्णं विद्यावत्त्वात्सर्वदाप्युत्सववत्त्वाद्गुरुः । अथाप्युत्सवानां

जायमानत्वेन विष्णोः । 'एनं महस्विनमुपैहि सदारुणोच्चैः' इति नैषधे । महस्वशब्दः सकारान्तोऽप्युत्सववाची वर्तते । 'महस्तेज उत्सवश्च' इति तद्वृत्तिः । पुनः किंभूतः । श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयलक्ष्म्या तस्याः कादाचित्कत्वेन सदा केवलोत्पत्तिं मर्यादीकृत्य महानन्दनगरावासिपर्यन्तमष्टमहाप्रातिहार्यलक्ष्म्या युक्तो जिनस्तीर्थकृदन्यतरः श्राद्धत्वेन तं सेवते इत्येवंशीलः नृपः, तथा श्रिया पाथोधिपुत्र्या युक्तस्तस्याः पतित्वालक्ष्मीयुक्तत्वं जिनो विष्णुस्तत्पदसेवितं विष्णुपदे व्योम्नि स्थितिमत्त्वेन भानुः कमलाकलितकुण्डवासिनः समुद्रशायिनो जिनस्य वैकुण्ठस्य पादमंशं शीलत्येवंशीलं कृष्णस्यांशावतारत्वेन न सर्वावतारित्वं किं तु दशानामप्यंशावतारित्वमेव । गुरोर्वृहस्पतेः स्वर्गस्थायुक्तत्वेन निजकृष्णस्य सेवनं सुकरमेव । गुरोस्त्वन्यतरः कश्चिज्जिनो बौद्धो विष्णुरहन्वा एतेषामन्यतरशासनस्थत्वात् । पुनः किंभूतम् । मित्रं सखायं राजन्यपि कुत्रचित्सेवकादौ हितान्वेष्टित्वेन मैत्र्यं संभाव्यते न सर्वेऽपि नृपाः कृतघ्नाः । यदुक्तम्—'सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्ये प्रियासु नारीषु । स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं सुखीभवति ॥' इति सूत्रोक्तत्वात् । तथा भास्वान्मित्रनामा कुमोदत्वात् मित्रवत्सर्वजनानां दैत्याद्युपद्रवनिराकरणेनानन्दोत्पादत्वाद्विष्णोर्गुरोस्तु । 'प्राप्ते षोडशमे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेत् ।' पुत्रमिव शिष्यमपीति । तत्त्वतस्तु सूर्यमेव विधुरं कष्टभाजमस्तंगतं मरणावस्थां प्रपन्नं सूर्यस्य वैधुर्यमस्तादेव ॥ इति षष्ठं रात्रिभोजनम् ॥

कदापि नैमित्तिकवत्तपस्विनो निमित्तमेते ब्रुवते न किंचन ।

यतश्चरित्रेण निमित्तभाषणात्तमिस्रपक्षाद्विधुनेव हीयते ॥ ६० ॥

हे साहे, एते पूर्वेऽक्षपङ्कतपालकाः प्रत्यक्षा वा श्रीमदाकारितागताः पुर उपविष्टास्तपस्विनः साधवः कदापि कस्मिन्नपि व्यतिकरे नैमित्तिकवन्निमित्तज्ञा इव किंचन अङ्ग-स्वप्न-स्वर-भौम-व्यञ्जन-लक्षण-उत्पात-अस्तरिष्टम् एतेष्वष्टसु निमित्तेषु किमपि निमित्तं ग्रहवाराङ्गस्फुरणशकुनस्वरादिकं न ब्रुवते न कथयन्ति । अथ वा ज्यौतिषिका इव किमपि शुभाशुभादिग्रहविचारं न भाषन्ते । यतः कारणात्तस्य निमित्तस्य अष्टाङ्गनिमित्तानां वा ज्यौतिष्कादेर्वा भाषणात्कथनाच्चारित्रेण संयमेन हीयते क्षीयते । केनेव । विधुनेव । यथा तमिस्रा कृष्णात्पक्षात् विधुना चन्द्रेण क्षयः प्राप्यते क्षीणीभूयते । यदुक्तमुराध्ययने—'जेलकेण च सुविणं च अंगविज्जं च जेपउं जंति न हुते समणाबुच्चंति । एवमारियेहिं अकोपम् ।' इति ॥ इति सप्तमं निमित्ताद्यभाषणव्रतम् ॥

इति व्रतान्सप्त विभर्ति संयतव्रजः शिवश्रीपरिरम्भलोलुपः ।

वसुंधराभोग इवाम्भसां प्रभूञ्छिखाः शिखीव द्युमणिर्हयानिव ॥ ६१ ॥

हे साहे, संयतानां सर्वविरतिभाजां साधूनां व्रजः समुदाय इत्यमुना प्रकारेण पूर्वव्यावर्णितस्वरूपान् सप्तसंख्याकान् व्रतान्नियमविशेषान् विभर्ति धत्ते । किंभूतः । शिवश्रिया मोक्षलक्ष्म्या परिरम्भे आलिङ्गने लोलुपः लालसः । क इव विभर्ति । वसुंधरा-

भोग इव । यथा सप्तद्वीपाया वसुंधराया आभोगो विस्तारः । 'प्रपञ्चाभोगविस्तारः' इति हैम्याम् । सप्त लवण-क्षीर-दधि-घृत-सुरा-इक्षु-वारिनाम्नः अम्भसां प्रभून् समुद्रान् । 'यादःस्रोतोवार्नदीशः सरस्वान्' इति हैम्याम् । धत्ते । पुनः क इव । शिखीव । यथा वह्निः सप्त शिखा ज्वाला धत्ते । 'विभावसुः सप्तोदधिः स्वाहाप्राही' इति हैम्याम् । पुनः क इव । युमणिरिव । यथा नभोरत्नं सहस्ररश्मिः सप्त हयान् स्वरथे सप्ताश्वान् धारयति ॥

पुरातनैराचरितानि सूरिभिर्यथा तथा धर्तुमहं न तान्यलम् ।

मतङ्गजप्रक्षरधारणक्षमा मतङ्गजा एव न यत्तुरङ्गमाः ॥ ६२ ॥

हे नृपते, अहं स्वल्पमनःकायबलाकलितकलिकालोत्पन्नजनः तथा तेन प्रकारेण तानि सप्त व्रतानि धर्तुं धारयितुं नालं न समर्थोऽस्मि । तथा कथम् । यथा येन प्रकारेण संपूर्णाद्वैतमनोवाकायबलशालिभिः सिद्धिसंप्राप्त्युचितं चारुसंहननैः सुषमासमयसंप्राप्तावतारैः पुरातनैः प्राचीनैः सूरिभिराचार्यैरुपलक्षणादुपाध्यायगणाच्चच्छेदकसाधुभिरप्याचारितानि सम्यक्पालितानि यद्यस्मात्कारणान्मतङ्गजानां संनाह्यानां समरोचितानां दन्तिनां प्रक्षराणां 'पाखर' इति लोकप्रसिद्धानां धारणे उद्वहने परिधाने वा मतङ्गजा एव क्षमाः समर्थाः स्युः न पुनस्तुरङ्गमाः स्वयोग्यप्रक्षरधारणे समर्था अप्यश्वाः किं गजानामतिशायिभारदुर्वहं प्रक्षरां धारयन्ति । अपि तु न तथा । अहमपि पूर्वाचार्यानुष्ठितोत्कृष्टानुष्ठानं विधातुं समर्थोऽपि देशकालस्वमनोवपुर्बलानुरूपमनुष्ठानमाचराभिलोकोक्त्या खरग्रहणं निन्द्यम् । किं च तस्य मूलत एव प्रक्षरैव न भाति तद्ग्रहणमयुक्तमेव यानेषु रत्नत्वात्प्रक्षरधारित्वाच्च अश्वभिधानं न्याय्यमेव ॥

श्रुतोक्तयावद्गतपालने यदाप्यलं न किञ्चित्तु तथापि शक्तितः ।

विधिं बिमर्श्येष्ट तरेन्न तारको नदीमपीशस्तरणेऽम्बुधेर्न यः ॥ ६३ ॥

हे नरेन्द्र, श्रुते शास्त्रे उक्तः प्ररूपितः कथितः यावान् समग्रः यावत्परिमाणमस्येति यावान् । 'यावज्जनरञ्जनव्रती' इति नैषधे । 'समग्रलोकानां रञ्जने ग्रीणने व्रतमस्यास्तीति' इति तद्वृत्तिः । विधिः कर्तव्यार्थोपदेश आचारो वा तस्य पालने आचरणे यदापि यद्यपि नालं नाहं प्रभुः, तथापि तर्हि एषां शक्तितः स्वसामर्थ्यानुसारात् यादृशी व्रतपालनशक्तिस्तादृशमित्यर्थः । तु पुनः किञ्चित्किमपि अल्पमात्रं देशकालानुरूपमाचारमाचारमिपालयामि । युक्तोऽयमर्थः । यस्तारकः स्वकलया जलातिक्रामकः अम्बुधेः समुद्रस्य तरणे भुजाभ्यामुत्तरणे नेशः प्रभुर्न स्यात् स तारकः नदीं समुद्रापेक्षया स्वल्पपरिमितसलिलं सरितं किं न तरेन्नोल्लङ्घयेत् परपारं न यायात् । अपि तु तरेदेव ॥ इति स्वस्य व्रतपालनसामर्थ्यमुक्तम् ॥

इदं निशम्य प्रमदं दधन्पुः प्रणीय गोष्ठीमितरां च तात्त्विकीम् ।

परीक्षितुं रत्नपरीक्षको मणीनिवेहमानः पुनरित्यवोचत ॥ ६४ ॥

नृपो राजा विभुं सूरिं परीक्षितुं गुरोः पूर्वोक्तव्रतानां परीक्षां कर्तुमीहमानो निजहृदि वाञ्छन् पुनर्व्याघुष्य इत्यग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत वदति । परीक्षितुं क इव । रत्नपरीक्षक इव । यथा माणिक्यपरीक्षाकारकः ‘जवहरी’ इति लोके प्रसिद्धः । स मणीन् परीक्षते रत्नगुणान् परीक्षयति । अल्पानल्पं वा तन्मूल्यं विधत्ते । नृपः किं कुर्वन् । इदं सुरिनिगदितव्रतस्वरूपं निश्चय्य आकर्ष्य प्रमदमानन्दं दधद्विभ्रत् । किं कृत्वा । इतरां एतस्या वार्तायाः पृथग्वर्तिनीं तात्त्विकीं धर्मतत्त्वसंबन्धिनीं गोष्ठीं प्रणीय कृत्वा ॥

पुरेऽनयीवावनिमानुपेयिवान्य एष मीने तरणेस्तनूरुहः ।

स मत्सरीवापकरिष्यति प्रभो क्षितेः पतीनामुत नीवृतां किमु ॥६५॥

हे सूरै, यः कृष्णविक्रमार्कादीनां संतापकारकः एष प्रत्यक्षतया लोकैर्दुष्टाशय इत्युच्यमानः मद्वादशराशौ समेतो वा तरणेर्भास्करस्य तनूरुहः पुत्रः शनैश्चरो मीने मीनराशौ उपेयिवानागतोऽस्ति । क इव । अवनिमानिव । यथा अनयी अन्यायकारको भूपतिः पुरे नगरे उपैति । हे प्रभो, स शनिर्मत्सरीव अमर्षयुक्त इव पिशुन इव वा । ‘पिशुनः सूचको नीचो द्विजिह्वो मत्सरी खलः’ इति हैम्याम् । किमु क्षितेः पतीनां राज्ञा-मुताथ वा किमु निवृतां देशानाम्, देशप्रहणेन देशवासिजनानां दुर्भिक्षदमरसरक-परचक्रादिकोपद्रवकरणादिना अपकरिष्यति दुष्टं विधास्यति । ‘वितर्के किं किमूत च’ इति हैम्याम् ॥

गुरुर्जगौ ज्यौतिषिका विदन्यदो न धार्मिकादन्यदवैमि वाङ्मयात् ।

यतः प्रवृत्तिर्गृहमेधिनामियं न मुक्तिमार्गे पथिकीवभूवुषाम् ॥ ६६ ॥

गुरुर्हीरसूरिर्जगौ पातिसाहिं प्रत्युवाच । अद एतत् श्रीमत्पृच्छ्यमानं ग्रहादीनां चा-रशुभाशुभपरिज्ञानं ज्यौतिषिका ज्योतिःशास्त्रविदो विदन्ति जानन्ति । पुनरहं धार्मि-काद्वर्मेसंबन्धिनो वाङ्मयात् शास्त्रादन्यत्परं वाङ्मयं नावैमि न वेद्मि । यतः कारणादियं ग्रहादीनां शुभाशुभपरिणतिकथनादिका प्रवृत्तिः प्रवर्तनं व्यापारः प्रकर्षेण वृत्तिरा-जीविका वा गृहमेधिनां गृहस्थानामास्ते । परं मुक्तिमार्गे मोक्षाध्वनि पथिकीवभूवुषां पान्थीभूतानां मोक्षमार्गे प्रवृत्तानामियं प्रवृत्तिर्न स्यात् ॥ इति परीक्षार्थं साहिप्रश्ने गुरोर्निषेधवाक् ॥

निपीय स श्रोत्रपुटैः सुधाशनः सुधां सुधांशोरिव तां प्रभोर्गिरम् ।

पुनर्महीमण्डलमत्स्यलाञ्छनश्चकार वाणीं वदनानुषङ्गिनीम् ॥ ६७ ॥

स साहिः पुनर्महीमण्डलस्य क्षोणीचक्रस्य मत्स्यलाञ्छनः अतिशायिरूपवत्त्वेन रति-पतिः । ‘निषधवसुधामीनाङ्गस्य प्रियाङ्गमुपेयुषः’ इति नैषधे । स साहिर्वाणीं वाचं वद-नानुषङ्गिनीं मुखपद्मसंगतां चकार कृतवान् । उवाचेत्यर्थः । किं कृत्वा । श्रोत्रपुटैः स्व-कर्णरूपपद्मपुटकैः प्रभोः सूरैः ताम् अहं धर्मशास्त्रादन्यत्र वेद्मीति लक्षणां गिरं वाणीं

निपीय सादरमाकर्ष्य पीत्वा च । क इव । सुधाशन इव । यथा अमृतपानकृद्देवः सुधां-
शोश्चन्द्रमसः सुधां निपीयते । 'पीड् पाने' दिवादिरात्मनेपदी च ॥

द्युतामिबार्काः पयसामिबार्णवा यतः श्रुतीनां निधयः स्थ सूरयः ।

इदं न जानीथ ततः कथं भवेदगोचरः कश्चन सर्वविचिदाम् ॥ ६८ ॥

हे सूरयः, यतः कारणाद्ययं श्रुतीनां सर्वज्ञानाणां निधयः स्थ निधानानि वर्तन्ते ।
के इव । अर्का इव । कविसमयोक्तद्वादशानामपेक्षया बहुत्वम् । यथा भास्करा द्युतां का-
न्तीनां निधयः । पुनः क इव । अर्णवा इव । अत्रापि कविसमयानुसरणात्सप्तानामपेक्षया
बाहुल्यम् । यथा समुद्राः पयसां पानीयानां निधयः सन्ति । जैनसमयानुसारेण त्व-
संख्यातास्तत्रापि बहुत्वमेव । ततस्तस्मात्कारणादिदं मनुक्तं शौरैर्मनराशावागमनफलम-
न्यग्रहादिचारागमादिफलं वा कथं केन प्रकारेण न जानीथ वित्थ । युक्तोऽयमर्थः ।
उक्तमर्थमर्थान्तरेण वा द्रढयति—कविः सर्वं समस्तमतीतानागतवर्तमानरहोगतप्रकट-
भूतं विदन्ति जानन्तीति सर्वज्ञास्तेषां चिदां ज्ञानानां कश्चन पदार्थोऽगोचरः अविषयः
अज्ञेयः । अपि तु सर्वमपि सर्वज्ञज्ञानगोचर एव । तस्माद्ययं समस्तं स्वपरशास्त्राणि
जानीथ एवेति सर्वज्ञज्ञानानां महत्वापेक्षया बहुत्वम् । अथ वा मतिश्रुतावधिमनः पर्य-
वकेवलाभिधानानां बहूनां ज्ञानानामप्यपेक्षया बहुत्वम् ॥

प्रवृत्त्य वार्तास्वितरासु तत्फलं पुनः पुनः प्रश्नयति स्म भूधनः ।

यदा तदा स्यादपरं न धर्मतः शशाङ्कविम्बादमृतादिवोदगात् ॥ ६९ ॥

भूधनोऽकम्बरः पुनः पुनर्वारं वारं तत्फलं तस्य मीनराशिगतस्य छायासुतस्य
फलं प्रश्नयति स्म शुभाशुभविनिर्माणकारणं पृष्ठवान् । किं कृत्वा । इतरासु स्वदाद-
शराशिस्थमन्दफलप्रश्नादपरसु वार्तासु किंवदन्तीषु प्रवृत्त्य प्रवृत्तिं कृत्वा मध्ये मध्ये
अन्यां वार्तां विधाय । पुनर्मुहुस्तदेवानुयुनक्ति स्मेत्यर्थः । यदा यस्मिन्काले तदा स्यात्
सूरिवक्त्रात् धर्मतः अपरमन्यन्नोदगात् न प्रकटीभूतम् । कस्मादिव । शशाङ्कविम्बादिव ।
यथा चन्द्रमण्डलादमृतात्पीयूषादन्यन्नोद्गच्छति ॥

तदा मुदोर्वीवलयोर्वशीवशो विधाय शेखं स्वसवेशदेशगम् ।

स बन्दिवृन्दारकवत्प्रणीतवान्पुरोऽस्य सद्भूतगुणस्तुतिं गुरोः ॥ ७० ॥

तदा तस्मिन् समये सूरिसम्यक्परीक्षाकरणानन्तरं प्रक्रमे स उर्वीवल्यस्य मेदिनीम-
ण्डलस्य उर्वशीवशः पुरुरवाश्चक्रवर्ती । 'तमेनसुर्वीवलयोर्वशीवशः' इति नैषधे । तथा
'पुरुरवा बालऐल उर्वशीरमणश्च सः' इति हैम्याम् । अकम्बरो मुदा हर्षेण कृत्वा अस्य
शेखस्य यवनजातिगुरुप्रायस्य पुरोऽग्रे गुरोः सूरिन्दोः सद्भूतानां सतां वर्णनीयानां
भूतानां विद्यमानानाम् । 'भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः' इति भक्तामरस्तवे । स्तुति-
वर्णनां प्रणीतवान् चकार । किंवत् । बन्दिवृन्दारकवत् । यथा मङ्गलपाठकपुंगवो गुणानां
स्तुतिं प्रणयति । वृन्दारकशब्देन प्राधान्यमपि दृश्यते । यथा चम्पूकथायाम्—'सोऽहं

हंसायितुं मोहाद्वक्त्रः पञ्चुर्यथेच्छति । मन्दधीस्तद्वदिच्छामि कविवृन्दारकायितुम् ॥' इति ।
स्तुवति स्म । किं कृत्वा । शेखम् अवलकैजनामानं निजसामन्तीभूतं स्वस्यात्मनः
सवेशदेशं समीपभूभागं गच्छतीति तादृशं विधाय । स्वकीयसंनिधावाकार्यैल्यर्थः ॥

मया विशेषात्परदर्शनस्पृशो गवेषिताः शेख न तेषु कश्चन ।

व्यलोकि वाचंयमचक्रिणः सदृङ्मृगेषु कोऽप्यस्ति मृगेन्द्रसंनिभः ॥ ७१ ॥

पराण्यन्यानि बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-वैशेषिक-नास्तिक-जैमिनीयादीनि दर्शनानि
स्पृशन्त्यनुभवन्त्याद्रियन्ते इति परदर्शनस्पृशः परपाक्षिका मया विशेषात् स्वप्रागल्भ्यप्रक-
ल्पितानल्पप्रश्ननिर्वाहकरणाप्रावीण्यप्रगुणीभवद्भूरितममन्दाक्षविलक्षीभवनपरिज्ञानाद्गवे-
षिता दृष्टाः परं तेषु तत्तद्दर्शनेषु कश्चन वाचंयमचक्रिणः हीरसूरेः सदृक् तुल्यो न व्य-
लोकि न निरीक्षितः । युक्तोऽयमर्थः । मृगेषु हरिणेषु मध्ये कोऽपि कश्चिदपि मृगेन्द्रस्य
केसरिणः संनिभः साधारणोऽस्ति । अपि तु न कोऽपि ॥

स्ववासयोग्यां वसतिं न कुत्रचिन्निरीक्ष्यमाणैरवसादिभिर्गुणैः ।

स्वयंभुवाभ्यर्थ्य निवस्तुमात्मनां मणिर्मुनीनां किमकारि मन्दिरम् ॥ ७२ ॥

हे शेख, गुणैः शमदमार्जवमार्दवादभिरभ्यर्थ्य बह्वीं प्रार्थनां कृत्वा आत्मनां स्वेषां
निवस्तुं नितरां समकालं सर्वैरेकत्र संभूय वासं विधातुं स्थातुं स्वयंभुवा ब्रह्मणा कर्त्रा
पार्श्वे । उप्रेक्ष्यते—मुनीनां मणिः सूरिरत्नं मन्दिरं वसतिः किमकारि निर्मापितेव ।
गुणैः किं कुर्वाणैः । कुत्रचित्कस्मिन्नपि स्थाने स्वेषामात्मनां वासस्य निवसनस्य
योग्यामुचिततां वसतिं वासवेष्टम नैव निरीक्ष्यमाणैरपश्यद्भिः अत एव वासादिभिरेव
मेदस्त्रिभिः ॥

असौ मुहुर्मीनभुजः शनेः फलं मयानुयुक्तोऽपि न किञ्चिदूचिवान् ।

यतः कचिद्भङ्गुरसंगरो महान्भवेत्सुराणामचलोऽपि चाचलिः ॥ ७३ ॥

हे शेख, असौ हीरसूरिर्मया चतुर्दिक्चक्रचक्रिणा मुहुर्वारं वारं मीनभुजो मीनराशे-
र्भोक्तुः शनेः शनैश्चरस्य फलं भूपजनपदद्विपदचतुष्पदादीनां क्षमाक्षेमनिर्माणलक्ष-
णमनुयुक्तोऽपि पृष्ठोऽपि सन् किञ्चित्किमप्यंशमात्रमपि नोचिवान्न वभाषे । यतः का-
रणान्महानुत्तमजनः क्वचित् क्वाप्येकान्ते पर्वदि वा भङ्गुरसंगरो भञ्जनशीलप्रतिज्ञः
निर्मुक्ताङ्गीकारः स्यात् । 'प्रतिज्ञागूश्च संगरः' इति हैम्याम् । एतेन प्रागुक्तं यदहं
ज्योतिर्निमित्तादि न वच्मि तत्परीक्षार्थमेव केवलं मया स्वमाहात्म्यभयाद्यपि दर्शयि-
त्वा पृष्ठम् । पुनरेतेन सत्त्वमात्ममार्गं चानुसृत्य शनिफलं किमपि नोचे । इदं सत्यम् । सु-
राणामचलः मेरुः क्वचिच्चाचलिरतिशयेन चञ्चलः स्यात्, अपि तु न कदाचिदपि । न कम्पते
चलनशीलश्चाचलिः । 'चलिपतिवदिसाहिभ्य इणिद्वित्वं च, पापतिः वाचदित्वाचलिः
सासहिः इति चत्वारः प्रयोगाः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

यथा सुधाब्धेरपरो न वारिधिर्न सिद्धसिन्धोरपरा तरङ्गिणी ।

न पादपः कश्चन कल्पपादपात्परो नृपः कोऽपि न चक्रवर्तिनः ॥७४॥

न धेनुरन्या सुरभेः सुधाभुजां पदं न चान्यत्परमेष्ठिनः पदात् ।

परो न धर्मः करुणाविधेर्यथा तथास्ति कश्चिन्न वशी विभोः परः ॥७५॥

हे शेष, तथा तेन प्रकारेण विभोरस्मात्सूरः परोऽन्यः कश्चिद्वशी जितेन्द्रियमनाः कथनकरणयोः सदृशो निजाङ्गीकृतप्रतिज्ञानिर्वाहको नास्त्येव । तथा कथम् । यथा सुधा-
ब्धेर्यस्मिन् पीयूषप्रमुखचतुर्दशरत्नान्युत्पाद्यन्ते तस्मात्क्षीरसमुद्रादपरः कः श्लाघ्यो
वारिधिरस्ति । न कश्चिदपि । यथा सिद्धसिन्धोर्गङ्गाया अपरा इतरा जगत्यां चित्रकारिका
त्रैलोक्येऽपि त्रिभिः प्रवाहैः वाहिनी निर्मलजला च तरङ्गिणी नास्ति । यथा कल्पपाद-
पात्सुरतरोः परः कश्चन कामदायकः पादपो नास्ति । पुनर्यथा चक्रवर्तिनः षट्खण्डपृ-
थिवीपतिरन्यः कश्चिन्नृपो नास्ति । पुनर्यथा सुधाभुजां निर्जराणां सुरभेः कामधेनोरपरा
कामदुघा सकलकामप्रदा धेनुर्न विद्यते । पुनर्यथा परमेष्ठिनो जगन्नाथस्य पदात्पदव्या अन्यत्
अपरं पदं न वर्तते । यत्र त्रैलोक्यैश्वर्यम्, यत्र च शिबिकावाहकाश्चतुःषष्टिः सुरासुरेन्द्रा-
श्चतुर्ल्लिखदतिशयाष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्ष्मीस्तत्पदादपरं किमपि पत् । अपि तु न । अथ
वा परमेष्ठिनः स्थानान्मोक्षादपरं पदमनन्तसुखानन्दज्ञानात्मकं परमपदमित्युच्यमानं
निवर्तते । पुनर्यथा करुणाविधेर्दयापालनात्परो धर्मो नास्ति । यदुक्तम्—‘नास्ति धर्मो
दयापरः’ इति ॥ युगम् ॥

श्रवःपथातिथ्यमनायि यादृशो वशी दृशा दृश्यत एव तादृशः ।

इदं गुणौघान्गणयज्जगद्गिरामगोचरान्किं स्थविरोऽभवद्विधिः ॥ ७६ ॥

हे शेष, यादृशो यादृक्प्रकारो मत्स्यदस्यैः सम्यक् वर्ण्यमानः असौ वशी पञ्चेन्द्रि-
याणि मनश्च वशे स्वाधीनप्रचाराणि सन्त्यस्येति योगीन्द्रः श्रवःपथस्य श्रवणमार्गस्य
आतिथ्यमातिथेर्यौ प्राघुणतां वा अनायि मया नीतः । श्रुत इत्यर्थः । तादृशस्तादृग्गुणप्र-
कार एव दृशा लोचनेन दृश्यते विलोक्यते । हे अवलम्बेन शेष, जगतां विश्वजनानां
गिरां वाचामगोचरान् अविषयान् सुरासुरनरैरपि संस्तोतुमशक्यान् कथयितुं वा इदं-
गुणौघान् अस्य सूरैर्गुणगणान् गणयन् संख्यां प्रापयन् । उत्प्रेक्ष्यते—विधिर्विधाता
स्थविरो वृद्धः किमभवत्संजात इव तन्नामापि ॥

ददाति धाता गिरिशश्च शक्तिभृच्चतुर्मुखीं पञ्चमुखीं च षण्मुखीम् ।

भुजंगराजो द्विसहस्रजिह्वातां विभर्ति संस्तोतुमिवोत्सुकीभवन् ॥ ७७ ॥

हे शेष, यं सूरिराजं संस्तोतुं वर्णयितुम् । उत्प्रेक्ष्यते—उत्सुकीभवन्नुत्कण्ठतां धारयन्
सन् धाता जगत्कर्ता चतुर्णां मुखानां समाहारश्चतुर्मुखीमिव दधाति धत्ते । पुनर्गिरिशः
शंकरः पञ्चमुखीं पञ्चवक्त्राणीव दधाति विभर्ति । पुनः शक्तिभृत्स्वामिकार्तिकः षण्मुखीं

षड् वदनानीव कलयति । पुनर्भुजंगराजो नागेन्द्रः शेषनागो द्विसहस्रजिह्वातां द्वे सहस्रे जिह्वा रसनाब्धिसहस्रमिता वा जिह्वा रसज्ञा यस्य तस्य भावः जिह्वानां विंशति-
शतीं विभर्ति धारयति । 'प्रजापतिर्ब्रह्म चतुर्मुखो भवान्,' तथा 'मृत्युञ्जयः पञ्चमुखो-
ऽष्टमूर्तिः,' तथा 'कुमारः' इति हैम्यां त्रयमपि । तथा 'यस्यास्मिन्नुरगप्रभोरिव भवे-
जिह्वासह स्रव्यम्' इति चम्पूकथायाम् ॥

कलिं कृतीकर्तुमयं स्वयं वपुर्दधाति धर्मः किमिदं निभाञ्जुवि ।

गुणान्निशम्येति गुरोर्नृपस्तुतांश्चमत्कृतः स स्वपदं मुदागतः ॥ ७८ ॥

हे शेख, भुवि पृथिव्यामिदं निभादस्य सूर्यव्याजात् अयं प्रत्यक्षलक्ष्यः स्वयमात्मना
धर्मो दयारूपः । उत्प्रेक्ष्यते—किम् । वपुः शरीरं दधाति । किं कर्तुम् । कलिं कलिनामानं
युगं कृतीकर्तुं कृतयुगं विधातुं कृतयुगतां प्रापयितुं वा । स शेखः अबलकैजनामा इति
पूर्वोक्तप्रकारे नृपस्तुतानकव्वरपातिसाहिना स्वमुखेन वर्णितान् गुरोर्हीरविजयसूर्यगुणा-
न्निशम्य नितरां सोत्कण्ठं सरोमाञ्चं कञ्चुकं श्रुत्वा चमत्कृतो निजहृदये विस्मयं प्राप्तः
सन्मुदा प्रमोदेन स्वपदं साहिसभाया मध्ये यत्र सर्वेऽपि सामन्तभूपाला ऊर्ध्वं दम्भी-
भूयावतिष्ठन्ते, यत्र च स्वेनाप्यूर्ध्वोभूय स्थीयते तस्मिन् स्थाने जग्मिवान् ॥ इति
शेखपुरः साहिवर्णिता गुरोर्गुणाः ॥

पिवन्मुनीन्द्रस्य शमामृतं दशा मुदश्चुदम्भेन तदुद्गिरन्निव ।

अकव्वरो वव्वरवंशमौक्तिकं पुनः पुरस्तस्य गिरं गृहीतवान् ॥ ७९ ॥

अकव्वरसाहिस्तस्य सूरः पुरोऽग्रे पुनः पुनरपि गिरं वाणीं गृहीतवान्ब्राह्म । उवा-
चेत्यर्थः । किंभूतः अकव्वरः । वव्वरोऽस्य पूर्वजः पातिसाहिस्तस्य वंशे गोत्रे वेणौ च
मौक्तिकं मुक्ताफलोपमः । यदुक्तम्—'समुद्रस्ताम्रपर्णी च वंशः करिशिरस्तथा । उत्प-
द्यन्ते मौक्तिकानि प्रायोऽमीषु परत्र न ॥' इति वचनप्रामाण्यतः । किं कुर्वन्नकव्वरः ।
दशा स्वनयनेन कृत्वा मुनीन्द्रस्य हीरसूरः शमामृतं शान्ततासुधारसं पिवन्नाखादयन्
हृदये एव स्वचमत्कारं वर्णयन् सादरं मुहुः पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—तच्छमामृतपानं मु-
दश्चुदम्भेन प्रबलप्रादुर्भवदप्रतिमोदोदीतनयनबाष्पव्याजेन उद्गिरन्वमन्निव अतिवृत्ततया
वह्नमृतपानं हृदयान्तराद्बहिरुद्गिरन्निव ॥

स्फुरन्ति शिष्याः कति वो व्रतीश्वराश्चरित्रदुग्धाम्बुधिनन्दना वराः ।

इमप्रभूणां कलभा इवावनीरुहां सुमानीव करा विवस्वताम् ॥ ८० ॥

हे व्रतीश्वराः सूरयः, वो युष्माकं चरित्रं सदाचरणमूलसंयमस्तदेव दुग्धाम्बुधिनन्दना
क्षीरसमुद्रतनया लक्ष्मीः । 'सायमित्थमथ भीमनन्दनाम्' इति नैषधे । नन्दना नन्दिनी
आकारेकारान्तौ द्वावपि शब्दौ दृश्येते । ते तस्या वरा भर्तारः संयमिनः । अथ वा तया
लक्ष्म्या कृत्वा वराः श्रेष्ठाः व्यवहारिणश्चारित्रिणः कति कियत्संख्याकाः शिष्या विनेयाः
स्फुरन्ति वर्तन्ते । केषामिव । इमप्रभूणामिव यूथनाथगजराजानामिव । महत्त्वाद्बहुत्वाद्वा

बहुत्वम् । कलभात्रिंशदब्ददेशीयाः सिन्धुरा भवेयुः । पुनः केषामिव । अवनीरुहामिव ।
 'रुट् रुहजन्मजैः' इति हैम्याम् । यथा वृक्षाणां सुमानि पुष्पाणीव भवेयुः । पुनः
 केषामिव । विवस्वतामिव । यथा मार्तण्डानां कराः किरणाः स्युः ॥ इति साहेः
 गुरुन्प्रति शिष्यप्रश्नः ॥

नृपं प्रति व्याहृतवानिति त्रतीशिता कियन्तो मम सन्ति भूपते ।

इदं मुनीन्द्राननपद्मसंभवं स भृङ्गवद्वाङ्मकरन्दमापौ ॥ ८१ ॥

ततो त्रतीशिता सूरिर्नृपमकम्बरं प्रति इत्यमुना प्रकारेण व्याहृतवान् भाषते स्म ।
 हे भूपते, मम शिष्याः कियन्तः कतिचिद्वर्तन्ते । परं संख्या नाख्यायि । यतः सन्तः
 उत्तमा निजगौरवं स्वमुखेनैव न ख्यापयन्ति । यदुक्तम्—'न सौख्यसौभाग्यकरा नृपां
 गुणाः स्वयं गृहीता युवतीस्तना इव । परैर्गृहीता द्वितयं वितन्वते न तेन गृह्णाति निजं
 गुणं महान् ॥' इति । ततोऽनन्तरं स भूमान् इदं खमदपरिहारद्वारा शिष्यसंख्याकथन-
 रूपं मुनीन्द्रस्य सूरैराननं मुखमेव पद्मं कमलं तस्मात्संभव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं वाक्
 वचनमेव मकरन्दं मधु आपौ सादरं शृणोति स्म । किंवत् । भृङ्गवत् । यथा भ्रमरकः
 कमलोद्भवं मकरन्दमापिबति । 'सुरासुरनराकारमधुपापीतपक्वजः' इति सारस्वतव्याक-
 रणग्रन्थे आपीत इति प्रयोगो दृश्यते ॥

जगाद गाजी गणपुंगवं पुनः पुरा मयेति श्रुतिगोचरीकृतम् ।

विलोचनानामिव भोगिनां विभोः सहस्रयुग्मं शमिनां समस्ति वः ॥ ८२ ॥

मुद्रलजनपदप्रसिद्धं महत्त्वख्यापकं यवनज्ञातेरभिधानं गाजीति । स गाजी अकम्बर-
 साहिः गणपुंगवं तपागच्छवृषभं मुख्यं वा प्रति जगाद गदति स्म । हे त्रतीश्वराः, पुरा
 पूर्वं मया जनवार्ताया इति श्रुत्योः श्रवणयोगोचरीकृतं विषये विहितमास्ते वर्तते ।
 इति किम् । वो युष्माकं शमिनां शिष्यीभूतानां साधूनां सहस्रस्य युग्मं युगलं द्विसहस्री ।
 सम्यक् विद्यते इति समस्ति । केषामिव । विलोचनानामिव । यथा भोगिनां भुजंगमानां
 विभोः स्वामिनः शेषनागराजस्य नेत्राणां नयनानां सहस्रद्वयी आस्ते । 'शेषो नागाधि-
 पोऽनन्तो द्विसहस्राक्ष आलुङ्कः' इति हैम्याम् । सहस्रफणामण्डलैर्धरणीधारकत्वात् सह-
 स्रफणानां सहस्रनेत्रद्वयभावात् ॥ इति साहिना स्वयमेवोक्तसूरिशिष्यसंख्या ॥

ततः क्षितीन्द्रः..... ।

..... ॥ ८३ ॥

ततः स्वयं सूरिशिष्यकथनानन्तरं क्षितीन्द्रः साहिः त्रतीश्वरं सूरिं प्रति समीपं भग-
 वत्संनिधानं भजन्ति इति तत्समयसूरिसमीपस्थायुकानां व्रतिनां साधूनामभिधानामिति
 पृच्छति स्म । ततस्तस्य नृपस्य पुरोऽग्रे परस्परमन्योन्यं तद्विदो व्रतिनामज्ञास्त एव
 व्रतिनो गीतार्था एव ताः पण्डितनामाभिधा अभिधानानि अवदन्कथयति स्म । के-

षामिव । महामणीनामिव । यथा तद्विदो महामणीगुणवेत्तारः परीक्षका महामणीमभिधा-
वज्रमरकतवैडूर्यपद्मरागादिनामानि कथयति ॥ इति यतिना परस्पराभिधाननिवेदनम् ॥

गृहादथानायितमङ्गजन्मना स खानखानेन च मुक्तमग्रतः ।

महीमरुत्त्वान्प्रमदादिवोपदां मुनीशितुर्दौकयति स्म पुस्तकम् ॥ ८४ ॥

अथ गुरोः शिष्यानां नामावधारणानन्तरं महीमरुत्वान् भूमीन्द्रः । 'वृत्तनाषाड्ग्र-
धन्वा मरुत्वान्मघवा' इति हैम्याम् । प्रमदादानन्दात् उपदां प्राशृतमिव मुनीशितुः
सूरैः पुरोऽग्रे पुस्तकं दौकयति स्म । किंभूतं पुस्तकम् । अङ्गजन्मना शेखजीनाम्ना
शृङ्गपुरेण गृहात्स्वभवनमध्यादानायितं लोके 'अणाव्यु' इति प्रसिद्धं च पुनः खानखानेन
मीयांखाननाम्ना साहिसामन्तेन साहेरासेन ततः संग्रामे गूर्जरपातिसाहिजयविधान-
समये श्रीमदकम्बरपातिसाहिना स्वयं खानखान इति दत्तबिरुदेन अग्रतो नृपपुरस्तात्
आनीय मुक्तं साहिप्रतिशिष्टशेखजीसुनुना मन्दिरमङ्गूषाभ्यो निष्काश्य मीयांखानस्य
हस्ते प्रदत्तं तेन च नृपग्रे पुञ्जीकृतम् ॥

ततस्तदुन्मुद्य पुरो धराविधोरवाचि वाचंयमपुंगवैर्गुरोः ।

रहस्यमेतस्य पुनर्न्यागादि तैरमुष्य सख्युः सखिवत्स्वचेतसः ॥ ८५ ॥

तत आनयनानन्तरं प्रभोः सूरैः वाचंयमपुंगवैर्यतिकृञ्जरैः पण्डिताखण्डलैः तत्पुस्त-
कमुन्मुद्य समस्ताः पुस्तिकाश्छोढयित्वा धराविधोर्मदिनीन्दोः पुरोऽग्रे अवाचि वाच्यते
स्म । पुनस्तैर्गीताथैरेतस्य साहेः पुरोऽमुष्य पुस्तकस्य मध्ये लिखितस्य शास्त्रस्य रहस्यम्
इदं पुस्तकमेतन्नाम शास्त्रमत्र चैतद्वाच्यमित्यादि हार्दं न्यागादि कथितम् । किंवत् । सखि-
वत् । यथा सखिभिर्मित्रैः सख्युः स्वकीयनिरन्तरमनसः सख्युः पुनः स्वचेतसो निजहृद-
यस्य रहस्यं गुह्यं हार्दं निगद्यते प्रोच्यते ॥

उदीतमङ्गैरिह रुद्रविग्रहैरिवास्तपुष्पध्वजकालकेलिभिः ।

पुनस्तमस्तोमभिदाविदांवरैः परैरुपाङ्गैरिव पद्मिनीवरैः ॥ ८६ ॥

इह पुस्तकगङ्गकमध्ये रुद्रा एकादश तेषां विग्रहैरङ्गैरिव एकादशसंख्याकैः आचा-
राङ्ग-सूत्रकृदङ्ग-स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-विवाहप्रज्ञप्ती-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग-अन्तकृद्दशान्त-
उपासकदशाङ्ग-अणुस्तरोपपातिकादशाङ्ग-प्रश्वव्याकरणाङ्ग-विपाकश्रुताङ्गलक्षणैरङ्गैरुदीतं
प्रादुर्भूतम् । किं लक्षणैः अङ्गैः रुद्रविग्रहैश्च । अस्तः क्षिसो विनाशितः पुष्पध्वजः कंदर्प-
स्तथा कालः कलिकालो दैत्यविशेषस्तयोः केलिविलासो यैः । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कत'
इति नैषधे । पुनरिह पुस्तके पद्मिनीवरैर्नलिनीनाथैर्भास्करैरिव परैरङ्गैर्भ्योऽयैर्द्वादशभिः
उपपत्तिका-राजप्रश्रीय-जीवाभिगमप्रज्ञापना-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका-चन्द्रप्रज्ञप्तिका-सूर्य-
प्रज्ञप्तिका-निरयावलिका-कल्पिका-कल्पावतंसिका-पुष्पिता-पुष्पचूलिका-वृष्णिदशा-
इति द्वादशसंख्याकैरङ्गानामेव वाच्यसूचकैरुपाङ्गैरुदीये । किंभूतैः उपाङ्गैः सूर्यैश्च ।

तमसामज्ञानानां दुष्कृतानां वा अन्धकाराणां स्तोमस्य समूहस्य भिदायां विदारणे विदां-
वरैः कुशलैः वेतुषु मुखैः ॥

प्रकीर्णकैर्धर्मधरापतेरिव प्रकीर्णकैः प्रादुरभावि तत्र च ।

परश्वधैश्छेदकरैर्धरारुहामिवांहसां छेदवरागमैस्तथा ॥ ८७ ॥

चतुःप्रमाणैरपि मूलवाङ्मयैश्चतुर्गतीनां प्रतिषेधकैरिव ।

युगेन वा नन्धनयोगशास्त्रयोर्दृशोरिव श्रीजिनशासनश्रिया ॥ ८८ ॥

च पुनस्तत्र पुस्तके चतुःशरण-आतुरप्रत्याख्यान-महाप्रत्याख्यान-भक्तपरिज्ञान-
तेदुलवैकालिक-चन्द्राविध्वज-गणिविद्या-मरणविभक्ति-देवेन्द्रस्तव-संस्तारकप्रकीर्ण-
क-इति नामभिर्दशप्रकीर्णकैः प्रादुरभावि प्रकटीभूतम् । उत्प्रेक्ष्यते-धर्मधरापतेः
धर्मनाम्नो राज्ञः प्रकीर्णकैश्चामरैरिव । तथा पुनः निशीथ-महानिशीथ-व्यवहार-दशा-
श्रुतस्कन्ध-पञ्चकल्प-जीमूतकल्प-बृहत्कल्पनामभिः छेद इति संज्ञया वरैः प्रधानैः
आगमैः सिद्धान्तैः आविर्भूयते स्म । किंभूतैः । अंहसां पापानां छेदकरैः खण्डशः का-
रिभिः । कैरिव । परश्वधैरिव । यथा कुठारैः धरारुहां वृक्षाणां शतसहस्रलक्षशः शकल-
कारकैः भूयते । अपि पुनश्चत्वारि, प्रमाणानि येषां तैश्चतुःप्रमाणैः मूलवाङ्मयैः आवश्य-
कदशवैकालिक-उत्तरायन-पिण्डनिर्युक्ति-रिति मूलाभिधानैराद्धान्तैराविरभावि । उत्प्रे-
क्ष्यते-चतुःप्रमाणत्वेन चतुर्णां नरक-तिर्यङ्-मानव-दानवाहितानां दुष्टानां निकृष्टानां
भवभ्रमणहेतूनां नीचजातीनां वा गतीनां प्रतिषेधकैर्निवारकैरिव । वा पुनः नन्दी तथा
अनुयोग इति नाम ययोस्तादृशयोः शास्त्रयोर्युगेन द्वन्द्वेन प्रकटीभूतम् । उत्प्रेक्ष्यते-
श्रीजिनशासनश्रिया श्रीमन्महावीरार्हन्मतलक्ष्म्या दृशोर्द्वयं नयनयोर्यामलम् किमेतावता
पञ्चचत्वारिंशदागमाः संजाताः ॥ युगम् ॥

अलंकृतिज्यौतिषकाव्यनाटकप्रमाणवेदान्तसलक्षणगमान् ।

अदर्शयन्साधुसुधांशुसाधवो नृपस्य भावानिव भानुभानवः ॥ ८९ ॥

अथापरशासनसत्करशास्त्राणां नामान्याह-अलंकृतिः वाग्भटालंकार-काव्यानुशा-
सन-छन्दोनुशासन-वृत्तरत्नाकरादयोऽलंकारग्रन्थाः, ज्यौतिषाणि नारचन्द्र-आरम्भसि-
द्धि-वाराहीसंहिता-खण्डखाद्य-कर्णकुतूहलादीनि ज्योतिःशास्त्राणि, काव्यानि रघु-
वंश-मेघदूत-कुमारसंभव-किरात-माघ-नैषध-चम्पू-कादम्बरी-पद्मानन्द-चतुसुन्द-
राद्यानि, नाटकानि पिङ्गलभरतादीनि तथा हनुमत्-दूताङ्गद-रघुभीमानाटकादीनि च
नाटकशास्त्राणि, तथा प्रमाणं तर्कपरिभाषा-सप्तपदार्थ-मितभाषिणी-प्रमाणमञ्जूषा-
शशधरचरदराजी-मणिकण्ठवर्धमान-प्रशस्तपदभाष्य-वर्धमानेन्दु-किरणावली-चिन्ता-
मणि-खण्डन-पूर्वमीमांसा-पञ्चाध्यायी-जैनप्रमाण-प्रमाणमञ्जरी-स्याद्वादमञ्जरी-रत्ना-
करावतारिका-संमिति-स्याद्वादरत्नाकरादीनि प्रमाणशास्त्राणि, वेदान्त उपनिषद्-ऋग्-
यजुः-साम-अथर्वणाभिधवेदानां वृत्तिर्वा, सहलक्षणैः इन्द्र-चन्द्र-काशकृत्स्न-आपि-

शाली-शाकटायन-पाणिनि-अमरचन्द्रजिनेन्द्रौ इत्यष्टौ व्याकरणानि । अथ वा ऐन्द्र-पाणिनि-जिनेन्द्र-शाकटायन-वायने-चान्द्रं सरस्वतीकण्ठाभरणं बुद्धिसागरं विश्रान्तविद्याधरं च भीमासनकलापकं मुष्टिव्याकरणं शैवं गौडं नन्दिजयोत्पलं-‘सारस्वतं सिद्ध-हैमं जयहैमं तथापरम् । इति व्याकरणं प्रोक्तं सिद्धप्राभृतसंभवम् ॥’ इत्यष्टादशव्याकरणैः सह वर्तन्ते ये ते तादृशा आगमाः सिद्धान्ताः अङ्गोपाङ्गनिर्युक्तिचूर्णिभाष्यादयः सर्वेऽपि तत्पुस्तकान्तर्वर्तमाना ग्रन्थास्तान् साधुसुधांशोः सूरीन्द्रस्य साधवो गीतार्था नृपस्यादर्शयन् नामग्राहं दर्शयन्ति स्म । के इव । भानुमानव इव । यथा दिनकरकिरणा भावान् जगत्पदार्थसार्थान् दर्शयन्ति प्रकाशयन्ति ॥

निभाल्य निःशेषमिदं स्वचक्षुषा हृदा दधत्प्रीतिमिवेन्द्रिरात्मजः ।

बभाण भूमीद्युमणिर्गणिणीश्वरं तृणीकृतानेकनरेन्द्रविक्रमः ॥ ९० ॥

भूमीद्युमणिः क्षोणीसहस्रकिरणः पातिसाहिः । ‘मध्यंदिनावधिविधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे । गणीश्वरमनूचानचक्रिणं प्रति बभाण वदति स्म । किंभूतः । तृणीकृतः अधरितस्तिरस्कृतः तृणप्रायो गणितः अनेकेषां परोलक्षाणां नरेन्द्राणां क्षोणीपालानां विक्रमो वीर्यं येन । किं कुर्वन् । हृदा हृदयेन प्रीतिं प्रमोदं स्नेहं च दधत् । क इव । इन्दिरात्मज इव । यथा कमलानन्दनो हृदा वक्षसा कृत्वा । ‘ममासनार्थं भव मण्डनं ननु प्रिये मदुत्सङ्गविभूषणं भव । भ्रमाद्भ्रमादालपमङ्गमृष्यतां विना ममोरः कररत्नवासनम् ॥’ इति नैषधे । प्रीतिं प्रीत्या स्वपत्नीं धत्ते । किं कृत्वा । स्वचक्षुषा निजनेत्रेण निःशेषं समस्तमपि तत्पुस्तकं निभाल्य विलोकयित्वा ॥ इति यतिप्रोक्तपुस्तकरहस्यावबोधः ॥

पुराभवत्प्रीतिपदं वयस्यवद्विशारदेन्दुर्मम पद्मसुन्दरः ।

न येन सेहेऽम्बुरुहामिवावलीं हिमर्तुना पण्डितराजगर्विताम् ॥ ९१ ॥

हे सूर, पुरा पूर्वं मम वयस्यवन्मित्रमिव प्रीतिपदं स्नेहभाजनं पद्मसुन्दर इति नामा विशारदेन्दुः विचक्षणचन्द्रमाः अभवद्बभूव । येन पद्मसुन्दरेण पण्डितराजस्य कस्यचिद्द्वाराणसीतः पठित्वा समेतस्य स्वगुरुणाप्यजेयतां स्वस्य प्रख्यापयतः पण्डितविशेषविप्रस्य पण्डितराजेत्यभिधानं प्रकटयतः गर्विता स्वचित्तकल्पितानल्पाहंकारित्वं न सेहे न सोढा । वादेनि(वि)जित्य सभासमक्षं तद्गर्वं निर्वासयामासेत्यर्थः । केनेव । हिमर्तुनेव । यथा हेमन्तकालेन अम्बुरुहां पद्मानामावलिर्न सद्यते । हिमपातेन पद्मानि कोमलत्वाद्विलित्वा यान्ति ॥

जगाम स स्वर्गिमृगीदृशां दशामथातिथेयीं परिणामतो विधेः ।

मुहुर्मयाशोचि स वातपातिताजिरप्ररूढामरसालवद्विभो ॥ ९२ ॥

हे विभो हे सूर, अथ पश्चात्किंयता कालेन स पद्मसुन्दरो विधेर्द्वैवस्य परिणामतो वशतः स्वर्गिणां स्वर्गजन्मनां देवानां मृगीदृशां संत्रस्तहरिणनेत्राणामङ्गनानां दृशां लोचनानामातिथेयीं प्रावृणीभावं जगाम संप्राप । ततस्तस्य स्वर्गे गमनानन्तरं स मय

मुहुर्वारंवारमशोचि शोचितः शोकगोचरतां प्रापितः । किंवत् । वातेन प्रचण्डपवनेन पातितो मूलादुन्मूल्य निक्षिप्तः अजिरे खगृहाङ्गणे प्ररूढ उद्गतः अमरसालवत्कल्पवृक्ष इव । यथा निजगृहाजिरोद्गतवातनिष्पातितरुः शोच्यते तथा मयासौ मुद्गलः शोच्यते इत्यर्थः ॥

अमुष्य शिष्येषु गवेषयन्नहं न साधिमानं बहुपात्फलेष्विव ।

चकार तत्पुस्तकमात्मसात्ततो यदिन्दिरा नीतिमुचं विमुञ्चति ॥ ९३ ॥

हे सूर, ततः पद्मसुन्दरस्य स्वर्गगमनानन्तरं तस्य मद्रथस्यस्य पुस्तकं लिपीकृतसर्व-शास्त्रचक्रमात्मसान्मया दत्तं चकार । उत्तमपुरुषैकवचनं णप् । मद्रूहे एवाहं रक्षितवानित्यर्थः । अहं किं कुर्वन् । अमुष्य मम सख्युः पद्मसुन्दरस्य शिष्येषु विनेयेषु साधोर्भावं साधिमानं साध्वाचारतां श्रीसमीचीनभावम् । 'त्वयादतः किं नरसाधिसभ्रमः' इति नैषधे । न गवेषयन् अपश्यन् । केष्विव । बहुपात्फलेष्विव । यथा न्यग्रोधपादपफलेषु साधिमा चारुता न गवेष्यते गृहीतम् । कुतः । यतः कारणात् नीतिमुचं न्यायस्यागिनं स्वाचारहीनं नरमिन्दिरा श्रीर्विमुञ्चति जहाति । यदुक्तम्—'सत्यपि सुकृते कर्मणि दुर्नीतिरपान्तरे श्रियं हरति । तैलेऽनुपमुक्तेऽपि हि दीपशिखां किमु न वाताली ॥' इति । यस्तु सदाचारवांस्तमेवागम्य लक्ष्मीः श्रयते ॥

दिनान्तसंध्यासमयस्वधाशनान्म्बुजाननाकोशमिवाखिलागमम् ।

इमं प्रदास्याम्यहमत्र कस्यचिन्महानुभावस्य हृदेत्यचिन्तयम् ॥ ९४ ॥

हे सूर, अहं तत्समस्तपुस्तकं स्वसात्कृत्वा हृदि निजमनसि इत्यमुना प्रकारेणाचिन्तयं विचारितवान् । इति किम् । यदहमत्र जगति मम मण्डले परजनपदे वा वासिनः कस्यचिदसाधारणाचारवत्तया सकलमहीमण्डलाखण्डविख्यातिभाजः महानुभावस्य साधोर्वा इमं पद्मसुन्दरसंबन्धिनमखिलागमं सर्वशास्त्रं प्रदास्यामि । उत्प्रेक्ष्यते—दिनान्तस्य संध्यासमयस्य पितृसूकालस्य स्वधा आहुतिविशेषः अशनं भोजनं यस्य स स्वधाशनस्तस्य अम्बुजानना पद्मवदना । सरस्वती देवतेत्यर्थः । 'दिनान्तसंध्यासमयस्य देवता' इति नैषधे । तस्याः कोशं भाण्डागारपुस्तकमिव । श्रूयते हि—नवव्याकरणं चिकीर्षता हैमाचार्येण सिद्धराजजयसिंहदेवजनाः स्वकीयश्राद्धाश्च काश्मीरे प्रेषिताः । ते च वाग्देवीवसतिं गत्वा ब्राह्मीं संपूज्यागुरुक्षेपपूर्वं व्याकरणपुस्तकं याचन्ते स्म । तदैव तथा साक्षाद्भूय सन्मूर्तिरेका त्वत्पार्श्वे हेमाचार्यरूपास्तीति राज्ञो वाचिककथनपूर्वं व्याकरणपुस्तकानि समर्पितानि । अन्येषां पूजामार्गणादिविधिना प्रातः पुस्तकं दृश्यते न वाग्देवी । ततः काश्मीरे ब्राह्म्या भाण्डागारोऽस्तीति । तेषु सर्वाणि पुस्तकान्यपि सन्तीति ॥

ततो गुणागण्यमणीमहार्णवा न वीक्षिताः केऽपि दृशा भवादृशाः ।

पदे पदे स्युः किमु निर्जर्जुनीमणीमहीजन्मनिपावनीधराः ॥ ९५ ॥

हे सूर, ततस्तत्पुस्तकप्रदानयोग्यापरपात्रानवेक्षणरक्षणकारणाद्गुणा एव गणयितुं प्र-
माणीकर्तुमशक्याः गणनार्हा गण्या न गण्या अगण्या वा मण्यो रत्नानि तेषां महा-
र्णवाः क्षीरनीराशयाः रत्नाकरत्वात् भवादृशाः श्रीमत्सदृशाः केऽपि परे दृशा मया
लोचनेन न वीक्षिता दृष्टाः । युक्तोऽयमर्थः । हे गुरो, निर्जराणामर्जुनी सुरगवी काम-
धेनुः, मणी सुरमाणिक्यं चिन्तारत्नम्, महीजन्मानः सुरतरवः कल्पद्रुमाः, निपाः सुर-
कलशाः कामकुम्भाः, अवनीधराः सुरगिरयः मेरुपर्वताः । किमु इति प्रश्ने । पदे पदे
स्थाने स्थाने किं स्युः । अपि तु न भवेयुः । निर्जरशब्दादग्रे अर्जुन्यादयः शब्दाः यो-
ज्याः । ततः कामधेन्वादीनि नामानि भवन्ति । यथा श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्रे—
'गीर्वाणद्रुमकुम्भधेनुमणयस्तस्याङ्गणैरिङ्गिणः' इति ॥

इदं तदादत्तसमस्तपुस्तकं मुनीश्वरा मामनुगृह्य शिष्यवत् ।

यदत्र पात्रप्रतिपादनं नृणां भवाम्बुराशौ कलशीसुतीयते ॥ ९६ ॥

हे मुनीश्वराः सूरयः, तदुक्तमपात्रत्वादिकारणात् शिष्यवन्निजविनेयमिव स्वभक्त-
मिव वा मामनुगृह्य ममोपरि अनुग्रहं प्रसादं विधाय इदं पद्मसुन्दरसत्कं श्रीमत्पुरो
मया दौकितं समस्तमपि पुस्तकं लिपीकृतशास्त्रजातमादत्तं गृह्णीत । यतो हेतोरत्र
जगति पात्रप्रतिपादनं साधुदानं नृणां भव्यजनानां भवाम्बुराशौ संसारसमुद्रे कलशी-
सुतीयते अगस्तमि(स्तिरि)वाचरति । भवसागरं निष्ठापयति । घटः कुम्भः कलशः
त्रयोऽपि पुञ्जीलिङ्गे ॥

मतिं श्रुतिक्षीरधिपारदृश्वरीं यतो वहन्तः स्थ तपस्विशेखराः ।

इमं ततोऽलंकुरुतां मरालवद्विरञ्चिपुञ्ज्या इव वः कराम्बुजम् ॥ ९७ ॥

हे तपस्विशेखराः, तपोरूपं स्वं खापतेयमस्त्येषामिति तपस्विनः । 'अस्य स्वं तपो-
योगसमाधयः' इति हैम्याम् । एतावता श्रमणावतंसाः श्राम्यन्ति तपसा इति श्रमणा
इति भगवद्विशेषणेन सार्थकं पूर्वोक्तं नाम । यतः कारणात् श्रुतयः शास्त्राणि ता एव
क्षीरधिर्दुग्धाम्भोनिधिस्तस्य पारं दृष्टवतीति पारगामिनीं मतिं बुद्धिं वहन्तो धारयन्तः
स्थ वर्तध्वे । ततोऽद्वैतबुद्धिमत्त्वहेतोरिदं पुस्तकं विरञ्चिपुञ्ज्याः 'दशमं ब्रह्मणः सुता'
इत्युक्तत्वात् विधातुर्नन्दिन्याः सरस्वत्या इव वो युष्माकं कराम्बुजं पाणिपद्ममलंक-
रोतु । किंवत् । मरालवत् । यथा राजहंसः करतुलां रक्तत्वेन कोकनदमलंकुरुते । वि-
रञ्चिपुञ्ज्या अपि करकमले पुस्तकमास्ते । 'पुस्तकव्यग्रहस्ता च' इति स्तोत्रे ॥ इति पुस्त-
कोत्पत्तितत्प्रदानकथनम् ॥

इदं तदाकर्ण्य स कर्णकेसरी गिरं न्यगादीत्तमसामवावरीम् ।

अवाप्तवृत्तेरशनैरिवामुना न कृत्यमास्ते बहुधीवरीवर ॥ ९८ ॥

स कर्णकेसरी पण्डितपञ्चाननः सूरिस्तदा पुस्तकदर्शनसमये इदं पुस्तकं यूयं गृहीत इति नृपतिनिगदितमाकर्ण्य श्रुत्वा तमसामज्ञानानां पाप्मनां वा अवावरीमपनेत्रीम् । 'ओण् अपनयने' ओण् धातुः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वनिप्रत्ययः । 'णोन्ता-द्वातो ङीप्' इति केचिदिति वन्प्रत्ययस्य ङीप् आगमो नकारस्य राकारादेशः । 'विङ्नोरनुनासिकस्य' इति सूत्रेण धातोर्णकारस्याकारादेशः । ओकारस्यावादेशः । अवावरी इति सिद्धम्—इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । दुरितहन्त्रीं गिरं वाणीं न्यगादीत् वभाषे । किमुवाच—बहवो धीमन्तो बुद्धिमन्तो वर्तन्ते यस्यां सा बहुधीवरी नगरी श्रीकरी तस्या वरः पतिस्तस्यां वरः श्रेष्ठः सर्ववेतृत्वात् सर्वाधिपतित्वात्तस्य संबोधनम् । बहुव्रीहौ वा ततो बहुधीवरी बहुधीवा इति प्रयोगद्वयं स्यात् । 'वनोर च' वनन्तात्त्रियां ङीप् रश्चान्तादेशादि सर्वं पूर्ववत् । अयमपि प्रयोगः प्रक्रियायामेव । पुस्तकेन कृत्वा मम किमपि कृत्यं कार्यं नास्ति न विद्यते । कस्येव । अवाप्ततृप्तेरिव । यथा अवाप्ता लब्धा तृप्तिः साहित्यं येन । एतावता आकण्ठमिच्छापूर्णपर्यन्तं भुक्तवोत्थितस्य पुंसः अशने भोजने कृत्वा किमपि कार्यं न स्यात् ॥

नरेन्द्र यावद्भ्रतिनां विलोक्यते तदस्त्यमीषां क्रियतेऽधिकेन किम् ।

विभोरिमां दामवदुद्रहन्हृदा गिरं पुनः क्षोणिपुरंदरोऽवदत् ॥ ९९ ॥

हे नराणां मध्ये इन्द्र सहस्रलोचन साहे, भ्रतिनां सर्वविरतिवतामनगाराणां यावत्प्रमाणमध्येतुं वाचयितुं विलोकयितुं विलोक्यते तावत्प्रमाणं पुस्तकममीषां यति(ती)नामस्ति विद्यते तर्हि मूर्च्छाकारिणा अधिकेन बहुना किं क्रियते । न किमपीत्यर्थः । पुनः क्षोणिपुरंदरो नृपोऽवदत् जगाद । किं कुर्वन् । विभोः सूरेरिमां यावत्पुस्तकं विलोक्यते तावन्मात्रं तत्पुस्तकं वर्तते । साधूनामधिकेनाधिकरणभूतेन पुस्तकेन किं विधीयते न किञ्चिद्विधेयमित्यादिकां गिरं वाणीं हृदा मनसा उद्वहन् । किंवत् । दामवत् । यथा कश्चिद्भोगी पुमान् हृदा वक्षसा कुसुममालिकामुद्वहते धारयति ॥

ब्रवीमि किं वो बहु येन निःस्पृहा महीधनार्किचनतुल्यचक्षुषः ।

तथापि मन्नाहुतिसिद्धदेववत्प्रसाद्य मे पिप्रतु यूयमीहितम् ॥ १०० ॥

हे सूरयः, वो युष्मान् प्रति बहु पुनः पुनरधिकं वा किं ब्रवीमि कथयामि । येन कारणेन यूयम्, बहुशब्द उभयत्रापि योज्यते । बहु अत्यधिकं निःस्पृहाः कुत्रापि सर्वैरप्यभिलषणीये रमणीयेऽपि वस्तुनि वाञ्छारहिताः । पुनः किंभूताः । महीधनाः भूपतयः तथा अकिञ्चना दरिद्राः तेषु लक्षणात्तृणे ह्येणे च अहौ हारे च दृषदि रत्ने च तुल्यं विशेषममत्वरहितं चक्षुर्येषाम् । यद्यप्येवंविधाः स्थ यूयम्, तथापि प्रसाद्य मयि प्रसादं कृत्वा मे मम ईहितं पुस्तकादानलक्षणमभिलषितं यूयं पिप्रतु पूरयन्तु । किंवत् । मन्नाहुतिसिद्धदेववत् । यथा प्रणवमायाबीजवाग्बीजकामबीजादियुक्तेन कृतपूर्वसेवोत्तरसेवाविधिना मन्त्रेण आहुत्या गुग्गुलागुरुफलावलीपञ्चामृतादिह वनं तेन च सिद्धः

प्रसन्नीभूतः प्रत्यक्षीभूतश्च देवो मन्त्राधिष्ठाता सुसाधकस्य मनोवाञ्छितं पूरयति ॥
इति साहेः पुस्तकदानाग्रहः सूरैर्निषेधवचः ॥

यदाददे नैष सुहर्षहृदितस्तदा हृदा भूपतिनेत्यचिन्त्यत ।

विधीयते किं बहुनिःस्पृहा अमी इवानुरागा न च विक्रमोचिताः॥१०१

यदा एष सूरिः भूपतिना सुहर्षारंवारं बहु अत्यभ्यधिकमुदितो विज्ञप्तोऽपि नाददे साहिपुस्तकं न गृहीतवान्, तदा भूपतिना अकम्बरेण हृदा मनसा इत्यग्रे वक्ष्यमाण-मचिन्त्यत विचारितम् । अहो किं विधीयते कियते । अमी सूरयो निःस्पृहा निरीहाः महानुभावा मुक्तिं विना कापि वस्तुनि न साभिलाषाः च पुनर्महत्वेन विक्रमस्य बला-त्कारस्यापि नोचिता नाहंः । क इव । अनुरागा इव । यथा आदिरागा बलयोग्या न भवन्ति । यतः सूक्तम्—‘कविता वनिता गीतिः स्वयमेवागता वरम् । बलादाकृष्यमा-णापि सरसा विरसा भवेत् ॥’, तथा—‘जरा यौवनस्युं प्राणन होइ जातई प्राणइ प्राणन होइ । प्राणनाथस्युं प्राणन होइ कीर्तिप्रीतिस्युं प्राणन होइ ॥’ इत्युक्तेः । नात्र बलदर्शनमुचितम् ॥

अमीभिरुक्तिर्मम मन्यते न चेत्ततोऽन्तरा कश्चन संधिकर्तृवत् ।

विधीयते यद्विविधोक्तिभिः प्रभूनुरीकृतिं स्वेन स एव कारयेत् ॥१०२॥

चेद्यदि अभीभिः सूरिभिर्मोक्तिः मत्कथितं न मन्यते नाङ्गीक्रियते ततः कारणात् संधिकर्तृवत् संधिकारक इव कश्चन शेषप्रमुखः कोऽपि अन्तरा ममैतेषां च साध्ये विधीयते यत्कारणात् मध्यविहित एव प्रभून् सूरान् विविधा नानाप्रकारा या उक्तय अनुनयविनयसत्सामर्थ्यस्वभावजातिप्रकटीकारकाणि वाक्यानि वचनचातुरीविशेषा-स्ताभिः कृत्वा उरीकृतिं स्वीकारं कारयेत् । यतो महत्सु विक्रमो नौचितीमञ्चति किं तु विज्ञप्तिरेव विधेया, यद्वा कमप्यन्तरा विधायानुनत्या प्रणत्या कथमपि कार्यं कार्य-मिति नीतिः ॥

इमं विकल्पं परिकल्प्य चेतसा विभूषयन्भागमितः क्षितेः परम् ।

सुधारुचेश्चारवशात्सवेशगो ग्रहः पदव्या इव मन्युभोजिनाम् ॥१०३॥

महीमरुत्वानथ शेषशेखरं प्रतापदेवीतनयं तथाह्वयत् ।

ततः सृजन्तौ प्रणतिं ग्रहेशितुर्ग्रहाविवास्यान्तिकमागतावुभौ ॥१०४॥

अथ विचारकरणान्तरमपरप्रदेशागमनानन्तरं च महीमरुत्वान् धरित्रीसुधाशमी शेखेषु यवनानां मान्येषु शेखरमवतंसं मुकुटं वा अवलक्रेजं तथा पुनः प्रतापदेव्यः रामासाधुतृतीयलघुपत्न्यास्तनयं नन्दनं थानसिंहाह्वयं चाह्वयदाकारयामास । किं कुर्वन् । इमं पूर्वोक्तं मनसैव विचारितं विकल्प्यं विचारं चेतसा चित्तेन परिकल्प्य कल्पयित्वा इतः सूरिपार्श्वोत्परमन्यं क्षितेर्भूमेर्भागं प्रदेशं स्थानं विभूषयन् सेवालंकुर्वन् । क इव ।

ग्रह इव । यथा भौमादिग्रहः चारवशाद्गतिविशेषायत्तत्वात् सवेशगः समीपप्राप्तः सुधारुचेश्चन्द्रस्य पार्श्वोत्परं मन्युं यज्ञांशं भुङ्गते इत्येवंशीला देवास्तेषां पदव्या मार्गस्य गगनस्य भागमन्यं प्रदेशं भूषयति । ततः साहिना आकारणानन्तरमुभौ शेखथानसिंहौ प्रणतिं 'पातिसाहिसलामत' इत्युक्त्वा भूमौ हस्तं दत्त्वा पुनर्भाले ददतौ पुनस्तदेव वदन्तौ तथैव विदधातौ च इति सलाममिति यवनजातिषु नमस्कृतेरभिधानं तामेव सृजन्तौ कुर्वाणौ सन्तौ अस्य साहेरन्तिकं संनिधानमागतौ । काविव । ग्रहाविव । यथा कौचिचारवशाद्ग्रहेक्षितुः सूर्यस्य पार्श्वे आगच्छतः ॥ युगमम् ॥

अमी न गृह्णन्ति मदीयपुस्तकं निरीहभावेन बहूदिता अपि ।

ततो युवां ग्राहयतां कथंचनाप्यमून्यशो मूर्तमिवेन्दुसुन्दरम् ॥ १०५ ॥

हे शेखथानसिंहौ, अमी सूरयो मया बहूदिता वारंवारं विज्ञप्ता अपि निरीहभावेन निःस्पृहत्वेन मदीयं मम संबन्धि अथ वा पद्मसुन्दरसत्कमपि मदधीनत्वान्मदीयमेव महत्तं पुस्तकं न गृह्णन्ति नाददते, ततः कारणाद्युवां भवन्तौ सूरिपार्श्वे गत्वा बहु बहु उक्त्वा कथंचन केनचित्प्रकारेणापि विज्ञप्त्यनुनयमत्सामर्थ्यान्वयप्रकटनप्रकारेणापि अमून् सूरिन्प्रति इन्दुसुन्दरं चन्द्रोज्ज्वलं मूर्तं प्रत्यक्षं यशः कीर्तिमिव मदीयपुस्तकं ग्राहयतां आदापयताम् । स्वीकारयतामित्यर्थः ॥

इदं गदित्वान्तरिते स्थिते नृपेऽशुमालिनीवाअकशालिनि क्षणात् ।

उपेत्य तावूचतुरित्यमून्यप्रति प्रणीततत्पत्कजरेणुचित्रकौ ॥ १०६ ॥

उपेत्य प्रभुपार्श्वे समेत्य तौ शेखथानसिंहौ अमूनेतान्सूरिन्प्रति इत्यग्रे वक्ष्यमाणं ऊचतुः कथयतः स्म । किंभूतौ । प्रणीतं विहितं तत्पदकजरेणुभिर्नमस्करणसमये सूरिचरणारविन्दरजोभिश्चित्रकं भालस्थले तिलकं याभ्यां तौ । कस्मिन् सति । इदं पूर्वोक्तं गदित्वा भाषित्वा अश्रके मध्ये मध्ये शालते शोभते इत्येवंशीले अश्रकेणादृश्यमाने अंशुमालिनि भास्करे इव अन्तरिते व्यवहिते नृपे राशि स्थिते सति । सूरैरदृग्गोचरे नृपो जात इत्यर्थः ॥

इदं व्रतीन्द्राः क्षितिशीतदीधितेर्गृहीतवत्तिष्ठति धाम्नि पुस्तकम् ।

दधाति खेदं पतितं यतः क्षिते रजःस्थितं रत्नमिवात्र गृह्यताम् ॥ १०७ ॥

हे व्रतीन्द्राः सूरयः, इदं पुस्तकं गृहीतवद्वन्दीकृतमिव क्षितिशीतदीधितेरकम्बरस्य धाम्नि तिष्ठति स्थितिमाधत्ते । यतः कारणादत्र साहिगृहे पतितं खेदं विषादम् । तयोर्भाषया 'अदावम्' इत्युच्यते । दधाति धत्ते । किमिव । रत्नमिव । यथा क्षितेः पृथिव्या रजःस्थितं धूलीभिः स्थण्डिलं छादितं माणिक्यं खेदं विभर्ति म्लेच्छमुद्गलगृहत्वादत्र इत्युक्तं पुस्तकं बन्दिमोचनकारणवच्छीमद्भिः गृह्यताम् ॥

हमाउंसूः सोमयशोऽङ्गजन्मवद्दधाति पात्रं गुरवो युगादिवत् ।

रसो यथेक्षोरपि वस्तु पुस्तकं कथं न गृह्णीथ तदर्हमात्मनः ॥ १०८ ॥

हे सूरयः, हमाउंसूरकब्बरपातिसाहिः सोमयशसो बाहुबलैर्वृहत्पुत्रस्य यन्नामा चन्द्रवंशोऽजनि तस्याङ्गजन्मा पुत्रः श्रेयासस्तद्वद्दाति । आवश्यवृत्त्यनुसारेण बाहुबलिसुतः सोमप्रभस्तस्य पुत्रो युवराजः श्रेयासः । आवश्यचूर्णौ तु 'भरहृत्स पुत्रो सेजंसो अन्ने भणति । बाहुबलिस्स पुत्तो सोमप्पभोसे अंसो अत्ति तत्त्वं केवलिगम्यम् ॥' पुनर्युगादिवत् वृषभजिनेन्द्रा इव । गुरवो यूयं पात्रं सम्यक् श्रेयो बुद्ध्या दानोचितं स्थानमपि तु पुनर्यथा इक्षो रसालस्य रसः स्यन्दः तत्राभूत् । तथा अत्र पुस्तकं दातव्यं वस्तु । 'अथेष्टु स्याद्रसालोऽपि पत्रकः' इति हैम्याम् । तथा 'रसाल इक्षौ दूते च' इत्यनेकार्थः । ततो दातृपात्रसुवस्तुत्रयाणामप्यत्र संयोगो वर्तते, तत्कारणादात्मनः स्वस्याईमुचितं ग्रहीतुं योग्यं यूयं कथं केन प्रकारेण न गृह्णीथ ग्रहयध्वे । अवश्यं गृह्यतामेवेति थानसिंहोक्तिः ॥

अमुं च जानीथ न मुद्गलेश्वरं निदेशशूरं द्विषतां निषूदनम् ।

दिगीश्वरा यच्चकिता इवाखिलास्त्यजन्ति नाद्यापि दिगन्तवासिताम् ॥

हे प्रभवः, च पुनरमुकब्बरं परेषां मुत् हर्षो गलति द्रवीभवति । यातीत्यर्थः । येभ्यस्ते मुद्गलास्तेषामपीश्वरं पराभवनकरणे समर्थं स्वामिनं च ऐन्दं युगिनचक्रवर्तिनं न जानीथ सम्यक् हृदये न वित्थ नावधारयत । निदेशे आज्ञायां शूरमतिकठिनं य आज्ञां न मन्यते तं स्वशासनोल्लङ्घिनमवश्यमेव निगृह्णाति । पुनः किंभूतम् । द्विषतां वैरिणां निषूदनं मूलादुन्मूलनकारकम् । हे प्रभवः, अखिलाः समस्ता अपि दिगीश्वरा दिक्पालाः । उत्प्रेक्ष्यते—यच्चकिता यस्माद्भयभ्रान्ताः सन्त इव दिशामाशानामन्तेऽवसाने सन्तीत्येवंशीलास्तेषां भावं दिशां प्रान्तेषु दूरे निवसनशीलतामद्यापि एतद्दिनं यावन्न त्यजन्ति ॥

निजानुकूलीभवतां तनूमतां सुधालतेव त्रतिचक्रवर्तिनः ।

प्रविभ्रतां स्वप्रतिकूलतां पुनर्विषस्य शाखीव समुन्मिषत्यसौ ॥ ११० ॥

हे त्रतिचक्रवर्तिनः, असावकब्बरो निजस्यात्मनोऽनुकूलीभवतां सेवाहेवाकिभावं भजतां तनूमतां नराणां राजसामन्तादयः सर्वेऽपि तनूमन्त एवेति । सुधालता अमृतवल्लीरिव समुन्मिषति जीवातुरिवोदेति । पुनरसौ साहिः स्वस्यात्मनः प्रतिकूलतां विलोमभावं प्रद्विष्टभावं प्रविभ्रतां विद्विषतां विषस्य क्ष्वेडस्य कालकूटस्य शाखी वृक्षः किंपाकतरुः समुन्मिषत्युद्गच्छति ॥

यदात्मनोर्व्यां परमेश्वरा इवागताः स्थ साक्षादुपकर्तुमङ्गिनाम् ।

इदं विदन्त्येव मुनीन्दवो हृदा द्विरुक्तितुल्यं पुनरावयोर्वचः ॥ १११ ॥

हे मुनीन्दवः, यत्कारणाद्यूयमुर्व्यामस्मिन् भूमीलोके अङ्गिनां साक्षात्प्रत्यक्षीभूय प्रकटमुपकारं कर्तुं विधातुं साक्षात्स्वरूपेण । उत्प्रेक्ष्यते—परमेश्वरा इवागताः जगन्नाथा इव स्वयं समायाताः स्थ वर्तध्वे । ततः कारणादिदमस्मदुक्तं साहिस्वभावादिकं सर्वं

हृदा स्वमनसा कृत्वा हृदि सम्यग्विबुध्य सर्वं च श्रीमन्तो विदन्त्येव । यतः परमेश्वरत्वं ततः सर्वज्ञत्वमप्यास्ते तेन जानन्त्येव । पुनरावयोर्वचः साहिस्वरूपनिरूपणवचनं द्विरुक्तितुल्यं पुनर्भाषणसाधारणं केवलं पिष्टपेषणमेव ॥

स्ववत्तदादत्त समस्तपुस्तकं स्थितौ गदित्वेति पुरः प्रभोरुभौ ।

ततो विनेया अपि तद्भाषिरे निवार्यते कैः स्वयमागतेन्दिरा ॥ ११२ ॥

उभौ शेखथानसिंहौ प्रभोर्हीरसूरेः पुरोऽग्रे इत्यमुना प्रकारेण गदित्वा स्थितौ तूष्णीं कृतवन्तौ इति पूर्वोक्तकारणात्स्ववदात्मीयमिव समस्तपुस्तकमादत्त ग्रहयताम् । ततस्तयोरुक्तेरनु पश्चात् विनेया हीरसूरिशिष्याः वाचकविचक्षणगणिप्रमुखा गीतार्था अपि शेखथानसिंहकथितं स्वीकारयोग्यमास्ते तद्गृह्यतामिति तत्तदुक्तमेव बभाषिरे प्रोचुः । युक्तोऽयमर्थः । स्वयमात्मनैवागता संप्राप्ता इन्दिरा लक्ष्मीः कैर्मूर्खैर्निवार्यते निषिध्यते । अपि तु न कैश्चिदपि ॥

अवेत्य चेतस्यमुना समुन्नतिं स्वशासने पुस्तकसंग्रहेण सः ।

मुदामिवौङ्कार इदंक्षितिक्षितस्तथेति वाचंयमवासवोऽवदत् ॥ ११३ ॥

वाचंयमवासवः यतिजम्भारातिः तथेति एवमस्तु मया साहिप्रदत्तं पुस्तकं ग्रहीष्यते इत्यवदत् भाषते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इदंक्षितिक्षितः अस्याकव्वरपातिसाहेमुदां परमानन्दानामौङ्कारः आदिरिव । किं कृत्वा अवदत् । इत्यमुना मुदलाखण्डलेन चतुर्दिग्धिपतिना पातिसाहिना स्वयमत्यागृह्य प्रदत्तानामेतत्पुस्तकानां संग्राहणं कृत्वा स्वशासने जैनमते तपागच्छे वा समुन्नतिं दीप्तिमुद्द्योतं वा प्रभावानां चेतसि स्वहृदये अवेत्य विज्ञाय ॥

उपेत्य ताभ्यां तदभाषि भूपतेस्तदेष निश्चेतुमपृच्छदात्मना ।

मुदं प्रणेतुं द्विगुणामिवावनीमणेर्गणेन्द्रोऽप्यवदत्तथैव तम् ॥ ११४ ॥

ताभ्यां शेखथानसिंहाभ्यामुपेत्य पातिसाहिसमीपे समागम्य भूपतेरकव्वरस्य तत्सूरिकथितपुस्तकस्वीकारवचः अभाषि प्रतिपादितम् । पुनः साहिस्तयोस्तद्वचो निश्चेतुं सख्यतया ज्ञातुमात्मना स्वेन स्वयं वा तानपृच्छत् प्रश्नयति स्म श्रीमद्विर्मदीयं पुस्तकं गृहीतं न वेति स्वयं पुनः पृष्टवान् । अपि पुनर्गणेन्द्रो गच्छनायकोऽपि तं भूपतिं तथेति मया श्रीमत्पुस्तकं गृहीष्यते गृहीतं वा इत्येवमवदत् जगाद । उत्प्रेक्ष्यते—अवनीमणेरकव्वरस्य मुदमानन्दं द्विगुणां प्रणेतुं विधातुमिव ॥ इति शेखथानसिंहविज्ञपनात्साहिपुस्तकग्रहणम् ॥

दयान्वितं धर्ममवाप्य सद्गुरोरिवार्णवात्कृष्णलताङ्गविद्रुमम् ।

संथानसिंहं यवनावनीधनस्ततः समाहूय गिरं गृहीतवान् ॥ ११५ ॥

सूरिणा ततः पुस्तकादानस्वीकारकथनश्रवणानन्तरं वा सोऽकव्वरसाहिः यवनास्तु-

रुक्ताः प्रस्थानालाभपुरीयादयस्तथा मुद्गलाः काबिलखुरासानादिजनपदजन्मानो म्लेच्छास्तेषामवनीधनो राजा थानसिंहं समाहूय आकार्य गिरं वार्णीं गृहीतवान् जल्पति स्म । किं कृत्वा । सद्गुरोः श्रीहीरविजयसूरिसकाशादयान्वितं कृपाकलितं धर्ममवाप्य लब्ध्वा । कमिव । कृष्णलताङ्गविद्रुममिव । यथा कश्चिदर्णवाज्जलनिधेः कृष्णलता 'कालीवेलि' इति लोके प्रसिद्धा । सा अङ्गे हृदये मध्ये यस्य तादृशं प्रवालं लभते ॥

मदीयतूर्यादिनिनादसादरं जगज्जनानन्दमहेन मेदुरम् ।

त्वमालयं लम्भय साधुसिन्धुरं तटं शशीवामृतवाहिनीवरम् ॥ ११६ ॥

हे थानसिंह, त्वं साधुसिन्धुरं श्रीगुरुं मदीयानि तूर्याणि मम संबन्धीनि वादित्राणि तेषां निनादैर्घोषैः सहादैरैर्वर्तन्ते एवं स्यात्तथा आलयं स्वावासमुपाश्रयं वा लम्भय प्रापय । क इव । शशीव । यथा चन्द्रमा अमृतवाहिनीवरं सुधासिन्धुधवं क्षीरसमुद्रं तटं वेलावनीं लम्भयति । ण्यन्तात्कर्मद्वयम् । पुनः कथम् । जगतां भुवनानां जनान् सुरासुरनरानानन्दयति प्रमोदयतीत्येवंशीलेन महेनोत्सवेन कृत्वा मेदुरं स्यादेवम् ॥

प्रमाणमाज्ञा जगतीवसन्तिका सृजामि निःशेषमिदं नियोगिवत् ।

पुरा मदीहा पुनरीशशासनं पयस्तेदेतत्सितया करम्बितम् ॥ ११७ ॥

हे प्रभो, जगतीवसन्तिका समस्तक्षोणीचक्रशिरःशेखरायमाणा । 'आपीडशेखरोत्तंसा वतंसाः शिरसः सृजि' इति हैम्याम् । 'विदर्भसुभ्रूवणावतंसिका' इति नैषधे । आज्ञा श्रीमदादेशः प्रमाणं शिरस्यारोपयामि । हे स्वामिन्, इदं श्रीमत्प्रसादितं निःशेषं समस्तमपि सृजामि करोमि । किंवत् । नियोगिवत् । यः कश्चित्स्वस्य सुकरे दुष्करेऽपि कार्ये आप्रयुक्तः स वनिजजीवमपि दुःखात्कृत्यकृत्यं कुरुते स नियोगी सेवक इव । यद्यप्यहं श्रीमत्सेवकोऽस्मि परं नियोगिवत्कार्यकर्ता नास्मि केवलं सेवाकार्येव । यथा परे नियोगिन आश्रवाः श्रीमद्वार्ताकारकाः श्रीमन्निर्दिष्टं कार्यं कुर्वन्ति तथाहमपि करोमीत्यर्थः । पुनर्हे प्रभो, पुरा पूर्वं मदीहा मम वाञ्छा आसीत् । यदेतान्महामहेन खालयं नयामि । पुनस्तदुपरि ईशस्य पृथ्वीनाथस्य पातिसाहेः शासनं आदेशः तदेतत्सितया शर्करया करम्बितं मिश्रितं पयो दुग्धं दुग्धपानमिव संजातमिति ॥

अथैनमापृच्छच्च स भूमिभूषणं प्रदाय धर्माशिषमात्मना पुनः ।

सहानगारैर्निरगात्समाजतः शशीव तारैः शरदभ्रगर्भतः ॥ ११८ ॥

अथ थानसिंहस्य साहेस्तूर्यदानाद्यादेशानन्तरं स सूरिरनगरैः सहागतसाधुभिः सह समाजतः सभामध्याग्निरगात् निर्जगाम । क इव । शशीव । यथा कौमुदीपतिस्तारैस्तारकैरुपलक्षाद्बहुभिः । 'प्रथममुपहृत्यार्थं तारैरखण्डिततन्दुलिः' इति नैषधे । तारशब्दोऽकारान्तः । सर्वज्योतिर्भिः सार्धं शरदभ्रस्य शारदीनघनाघनस्य गर्भत उदरात् निर्गच्छति । किं कृत्वा निर्गतः । एनमकब्बरं भूमिपूषणं क्षोणीमण्डलमार्तण्डमापृच्छय

वयं वसतौ व्रजाम इत्युक्त्वा पुनरस्य साहेरात्मना स्वेन धर्माशिषं धर्मलाभं प्रदाय दत्त्वा ॥ इति साहिना गोष्ठीकरणानन्तरं सभावहिः पादावधारणं प्रभोः ॥

तदा चकोरायितमर्णवायितं रथाङ्कितं कैश्चन कैरवायितम् ।

स्रवन्मुदस्रैश्च विधूपलायितं विलोक्य यद्वक्रमृगाङ्कमङ्गिभिः ॥ ११९ ॥

तदा तस्मिन्नकम्बरसभाया बहिः प्रभोरागमनावसरे यस्य गुरोर्वक्त्रं मुखमेव मृगाङ्कं चन्द्रं विलोक्य कैश्चनङ्गिभिर्जनैश्चकोरायितं सूरिमुखलावण्यामृतपानकारिभिर्ज्योत्स्ना-प्रियैरिवाचरितम् । पुनः कैश्चनार्णवायितं प्रोल्लसितप्रह्लादकल्लोलपटलीप्रवर्धमानाङ्ग-रोमाञ्चचञ्चलशालिशफरितसमुद्रैरिवाचरितम् । समुद्रा हि चन्द्रमालोक्य प्रवर्धन्ते इति जगत्स्वभावः । कल्पसूत्रेऽपि क्षीरसमुद्रे कल्लोलोर्मयोऽपि दृश्यन्ते । तथा 'वेलावनीव-नततिप्रतिबिम्बचुम्बिकिर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम्' इति नैषधे क्षीरसमुद्रवर्णने । पुनः कैश्चन रथाङ्कितम् । तादृशं जगज्जनैरभिनन्द्यमानं प्रमुहदयमालोक्य । हृदयेऽभ्य-सूयाद्वैतदुःखं दधानैः कुपाक्षिकैः चक्रवाकैरिवाचरितम् । चन्द्रोदये हि चक्रवाकानां दुःखमित्यपि जगत्स्वभावः । यदुक्तम्—'कथय किमपि दृष्टं स्थानमत्र श्रुतं वा व्रजति दिनकरोऽयं यत्र नास्तं कदाचित् । इति विहगसमूहं नित्यमापृच्छयमानो रजनिविरह-भीतश्चक्रवाको वराकः ॥' इति चक्रवाकाष्टके । पुनः कैश्चित्कैरवायितं विकसितनयनैः कुमुदैरिवाचरितम् । पुनः कैश्चन । स्रवन्ति निःसरन्ति यानि हर्षाश्रूणि प्रमोदबाष्पाणि तैः कृत्वा विधूपलायितं चन्द्रकान्तरलैरिवाचरितम् । चन्द्रोदये हि चन्द्रकान्तमणयो हि अमृतं क्षीरं वमन्तीति लोकरूढिः कविसमयश्च । तथा 'यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दू-पलतुन्दिलापया' इति नैषधेऽपि ॥

तदाभवद्भूमिनभःप्रचारिणां जयारवो भूपुरहूतवर्त्मनोः ।

समीक्ष्य सूरैर्महिमानमुत्तमं हृदा दधाने इव रोदसी स्तुतः ॥ १२० ॥

तदा तस्मिन्नवसरे भूर्भूमी पुरहूतवर्त्म नभोङ्गणः । 'बहुवगाढसुरेश्वराध्व' इति नै-षधे । 'सुरेश्वरस्य शकस्य अध्वा मार्गः' इति तदर्थः । तयोर्विषये भूमिनभःप्रचारिणां भूचराणां समस्तमानवानां खेचराणामदृश्यान्तरिक्षचारिणां सिद्धगन्धर्वविद्याधराणां जिनशासनाधिष्ठायकसुराणां वा यानानां विविधगजवाजिशिविकासुखासनस्पन्दानाम् । उपर्यारोहकत्वेनान्तरिक्षचारिता । तेषामुच्चैःस्थितत्वेन खेचराणां नराणां जयारवः जयजयेति निनादः अभवत्संजायते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सूरैर्मुनीन्दोर्महिमानं मा-हात्म्यं समीक्ष्य सम्यगवलोक्य हृदा मानसेन कृत्वा अद्भुतमाश्चर्यं दधाने बिभ्राणे रोदसी भूमीनभसी दिवस्पृथिव्यौ वा स्तुतः स्तुतिं कुरुतः ॥

मित्पयोवाहपयोधिर्गर्जितैरिवाहतातोद्यनिनादसान्द्रितैः ।

प्रमोदमाद्यत्तुमुलैस्तनूमतां जगत्तदा शब्दमयं स्म जायते ॥ १२१ ॥

तदा तस्मिन्वसतिसमागमनसमये तनूमतां भविकजनानां प्रमोदेन प्रोलसत्प्रबलप्र-
ह्लादेन माद्यन्तो बहुलीभवन्तो ये तुमुला व्याकुलशब्दाः 'अध्वं धावत यात मुञ्चत पुरः
पन्थानम्' इत्यादिकोलाह्लासैः कृत्वा जगद्विश्वं शब्दमयं केवलं नादस्वरूपं जायते
स्म । किंभूतैः तुमुलैः । आहतानि हस्तदण्डादिभिस्ताडितानि उपलक्षणान्मुखैर्वादितानि
च परस्परं दण्डैर्वा घर्षितानि आतोयानि नानाविधानि वादित्राणि तेषां निनादैर्निर्घेषैः
सान्द्रितैर्नारन्त्रीभूतैः । उत्प्रेक्ष्यते—मिलन्तः श्लिष्यन्तः दिग्दिग्भ्यः आगत्य एकीभ-
वन्तो वा अविरलसलिलपटलैः पर्युन्नमन्तो वा पयोवाहाः प्रबलजलभृतगर्भघना यत्र
तादृशस्य पयोधेर्गर्जितैर्गम्भीरधीरारवैरिव ॥

कुलाङ्गनाभिः प्रभुमूर्ध्नि हैमनप्रसूनमुक्ताफललाजराजिभिः ।

ववर्षिरे प्रावृषि मेघपङ्क्तिभिस्तदाम्बुधारा शिखरे गिरिरिव ॥ १२२ ॥

तदा तस्मिन्व्यतिकरे प्रभुमूर्ध्नि हीरसूरेर्मस्तकोपरि कुलाङ्गनाभिः सुकुलोद्भवसधवव-
धूमिहैमनानि हेमामिमानि सुवर्णसंबन्धीनि । 'हीराङ्कुरश्चाहणि हेमनीव' इति नैषधे ।
'हेमः अकारान्तः पुनपुंसके नकारान्तस्तु नपुंसके एव' इति लिङ्गानुशासनावचूणौ । प्रसू-
नानि कुसुमानि । उपलक्षणात् रूप्यपुष्पाणि च । तथा मुक्ताफलानि मौक्तिकानि ।
तथा लाजा अक्षता उपलक्षणादक्षततन्दुलाश्च तेषां राजयः श्रेणयो ववर्षिरे वृष्टाः ।
काभिरिव । मेघपङ्क्तिभिरिव । यथा प्रावृषि वर्षाकाले धाराधरधोरणीभिर्गिरिः पर्वतस्य
शिखरे शृङ्गोपरि अम्बुधाराः पयःप्रवाहाः वर्धन्ते । 'वर्ष वर्षणे' धातुः । यदु-
क्तम्—'गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः' इति वचनात् ॥

पराध्यसंख्यैः पुरुषैः परिष्कृतः प्रभुर्महे विभ्रति मेदसां भरम् ।

चतुर्निकायप्रभवैरिवामरैः प्रतिष्ठते स त्रिजगत्पुरंदरः ॥ १२३ ॥

प्रभुर्हीरसूरिः प्रतिष्ठते स्म । राजद्वाराद्वसति प्रति प्रचलति स्म । कस्मिन् सति । महे
थानसिंहादिश्राद्धजननिर्मितमहोत्सवे मेदसां पुष्टीनां भरमतिशयं विभ्रति धारयति
सति । 'तपर्तुपुर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे' इति नैषधे । किंभूतैः
पुरुषैः । परार्थ्याः सर्वोत्कृष्टाः लौकिकसंख्याः । यथा 'एकं दश शतं सहस्रमयुतं लक्षं
प्रयुतं कोटी अर्वमब्जं खर्वं निखर्वं महाम्बुजं शङ्कुं वार्धिरन्यं मध्यं परार्ध्यमेतत्प्रमा-
णैर्गणनातीतैर्मनुष्यैः प्रकृष्टा वा संख्या प्रमाणमुत्तमो विचारो धर्मतत्त्वादिको वितर्को
येषाम् । 'संख्यैकादौ विचारे च' इत्यनेकार्थः । 'परार्ध्यं च प्रकृष्टे स्यात्संख्यायामपि' इति
अनेकार्थः । परिष्कृतः परीतः परिवृतः । क इव प्रतस्थे । त्रिजगत्पुरंदर इव । यथा
जगन्नयीनायकस्तीर्थकरः चत्वारो निकाया नराणि भवनानि ज्योतिर्विमानानि कल्पवि-
मानानि च गृहाणि येषां चत्वारो निकायाः संधाः समुदाया वा येषाम् । अथ वा
व्यन्तरभवनपतिज्योतिष्कवैमानिकलक्षणा निकाया वैक्रियशक्तिकामचारिदेवत्वेन स-
मानधर्मिकजातिप्रभवैः । 'निकायस्तु सधर्मिणाम्' इति हैम्याम् । 'निकायः सज्ञसं-

वयोः । परमात्मनि लक्ष्ये च' इत्यनेकार्थः । तादृशैरमरैः । 'चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्ज-
घन्यभावादपि पार्श्वदेशे' इति हैम्याम् । परिवारितः प्रतिष्ठते । पथीलध्याहारः ॥

निपीयमानो नयनैर्मृगीदृशामिवार्च्यमानो विकचाम्बुजन्मभिः ।

प्रणूयमानः कविभिर्नवस्तवैर्जगत्पृणन्वीर्यगुणैश्च वास्तवैः ॥ १२४ ॥

मृगारिरद्रेरिव कंदरोदरे कृशोदरीणां मनसीव मन्मथः ।

अमर्त्यदन्ती चतुरे हरेरिव त्रतिक्षितीन्द्रो वसतौ विवेश ॥ १२५ ॥

स त्रतिक्षितीन्द्रः हीरविजयसूरिराजो वसतौ उपाश्रये विवेश प्रविष्टवान् । क इव ।
मृगारिरिव । यथा कण्ठीरवः अद्रेः पर्वतस्य कंदरोदरे गुहामध्ये प्रविशति । पुनः क इव ।
मन्मथ इव । यथा मनोभवः कृशोदरीणां तरुणीनां मनसि चित्ते प्रविशति । पुनः क
इव । अमर्त्यदन्तीव । यथा सुरगज ऐरावणगजः हरेरिन्द्रस्य चतुरे हस्तिशालायां
प्रविशति । 'हस्तिशाला तु चत्वरम्', 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इति हैम्याम् । स किं क्रिय-
माणः । मृगीदृशां सारङ्गलोचनानाम् । 'सारङ्गं सिंहशावं स्पृशति सुतथिया नन्दिनी
व्याघ्रपोतम्' इत्यादि समवसरणवर्णने । नयनैर्नैत्रैर्निपीयमानः सादरं निरीक्ष्यमाणः ।
उत्प्रेक्ष्यते—विकचाम्बुजन्मभिरुन्निद्रनीलोत्पत्तिरिवार्च्यमानः पूज्यमान इव । पुनः किं
क्रियमाणः । कविभिः काव्यकर्तृभिः पण्डितैर्वा नवस्तवैः सद्यस्कैः कान्यैः स्तुतिभिर्वा
प्रणूयमानो वर्ण्यमानः स्तूयमानः । स किं कुर्वन् । वास्तवैः । स्वाभाविकैः जिनवज्रन्मका-
लोत्पन्नैः स्वीयगुणैः कृत्वा जगद्विश्वलोकं पृणन् आनन्दयन् ॥ इति सूरैः समहं
वसतावागमनम् ॥

प्रतापदेवीतनयस्तदुत्सवे समर्थयन्नर्थिततेर्मनोरथान् ।

दरिद्रमुद्रामभिनत्तमां तटीं प्रवाहवत्प्रावृषि वार्धियोषितः ॥ १२६ ॥

तस्मिन् सूरैरुपाश्रयसमागमनमहामहे प्रतापदेवीतनयः स्थानसिंहः अर्थिततेर्याचकश्रे-
र्मेनोरथानभिलाषान् समर्थयन् दरिद्रमुद्रां दुःखावस्थामभिनत्तमामतिशयेन भिनत्ति स्म ।
किंवत् । प्रवाहवत् । यथा प्रावृषि बहुसलिलभरनिर्भरातिसमुन्नमननिरन्तरनिष्पतन्नीर-
धाराधोरणीबन्धुरधाराधरसमये वार्धियोषितः समुद्रमहिलया नद्याः प्रवाहः पानीयपूरः
तटीं सरिदुभयसमीपोचभूमीम् । तीरभित्तिमित्यर्थः । भिनत्ति पाटयति ॥

तडिद्वता तस्य निजातिपातुकां समीक्ष्य सर्वाधिषु कामवर्षिताम् ।

शितीकृतास्येन पदं मुरद्विषो निषेव्यते तत्तुलनाकृते किमु ॥ १२७ ॥

तडिद्वता विद्युद्वनितानुषङ्गभाजा मेघेन तत्तुलनाकृते तदवसरदानशौण्डीभवत्स्थान-
सिंहसमानताप्राप्तये । उत्प्रेक्ष्यते—मुरद्विषः पदं निषेव्यते विष्णुपदं व्योम समुपास्यते
इव । किंभूतेन तडिद्वता । शितीकृतं कृष्णं विहितमास्यं वदनं येन । किं कृत्वा । तस्य
थानसिंहस्य निजमात्मानमतिपतति अतिक्रामतीत्येवंशीलां निजातिपातुकां काम-

मतिशयेन कामानभिलाषान् वर्षति संपूरयति इत्येवंशीलः कामवर्षी तस्य भावस्तत्तां
समीक्ष्य दृष्ट्वा । 'सरूपाणामेकशेषः' इत्येककामशब्दलोपः ॥ इति थानसिंहकृतसू-
रिसमागममहोत्सवः ॥

स्वकोशरक्षाधिकृतस्य भूमिमानिवाखिलक्षोणिजयार्जितैर्धनैः ।

विधाय कोशं नृपदत्तपुस्तकैः स स्थानसिंहस्य वंशवदं व्यधात् ॥ १२८ ॥

स हीरविजयसूरिः नृपेणाकबरसाहिना दत्तैरुपदीकृतैः पुस्तकैः कोशं भाण्डागारं
विधाय स्वयं निष्पाद्य स्थानसिंहस्य वंशवदमायत्तं व्यधाच्छेदकैः । क इव । भूमिमानिव । यथा
पृथ्वीपालः अखिलायाः समस्तायाः क्षोणेः पृथिव्या जयेन स्वायत्तीकरणेनार्जितैः सं-
चित्तैर्धनैः द्रविणैः । इदं तु साधितत्रिखण्डवसुधामण्डलस्यैव मण्डलीकस्य राजाधिराजस्य
घटते । कोशं निर्माय स्वस्यात्मनः कोशस्य भाण्डागारस्य रक्षायामधिकृतस्यादृतस्य
सम्यग् नीतिमत्सत्यवाक् स्वामिभक्ततया अङ्गीकृतस्य भाण्डागारिणो वंशं विधत्ते ॥
इति पुस्तककोशः ॥

क्रमान्महादेशमिवावनीशितुर्निदेशमासाद्य पयोधरोदये ।

फतेपुरात्स प्रभुरागरापुरं पवित्रयामास पदाम्बुजन्मभिः ॥ १२९ ॥

स प्रभुः सूरिः पयोधरोदये वर्षाकालप्रारम्भे क्रमादनुक्रमतः फतेपुरात् श्रीकरीन-
गरात् उग्रसेनपुरापरपर्यायमागरा इति नाम पुरं पदाम्बुजन्मभिः चरणक्रमलैः कृत्वा
पवित्रयामास पावनीकरोति स्म । किं कृत्वा । क्रमात्किञ्चिद्भिर्वासरैरवनीशितुरकबरसाहे-
निदेशमाज्ञामासाद्य प्राप्य । कसिव । महादेशमिव । यथा कश्चिद्राजरञ्जकः राज्ञः सकाशा-
न्महान्तं जनपदमासादयति लभते ॥ इत्यागरानगरे गमनम् ॥

न राजहंसान्कचन प्रवासयन्वियोगिनोऽपि प्रणयंश्च निर्वृतान् ।

न दुर्दिनं कापि सृजंस्तमोद्विषं न च द्विषन्निर्दलयज्जलोदयम् ॥ १३० ॥

मनोभवं वाभिभवन्गुरोर्महो न निहुवानः स्थिरतां पुनर्वहन् ।

अभूदपूर्वः प्रभुरम्बुदः पुरे जिनक्रमोपासनकृद्दिवानिशम् ॥ १३१ ॥

प्रभुर्हीरसूरिः पुरे तत्रागरानगरे अपूर्वोऽसाधारणोऽम्बुदो मेघोऽभूद्भूव । किं
कुर्वन् । राजसु नृपेषु हंसाः प्रधानास्तान्न प्रवासयन् न पीडयन् । आनन्दयन्नित्यर्थः ।
'संहरति निर्दलयति निर्वासयति प्रवासयति' इति क्रियाकलापे हिंसार्थाः क्रियाः ।
यदि वा नृपश्रेष्ठान् प्रकर्षेणातिशयेन वासयन् दयादिधर्मतत्त्वे स्थापयन् वासं कारयन् ।
अथ वा कृपाधर्मसुगन्धवस्तुसौरभेण न सुगन्धीकुर्वन्नपि वासयन्नेव । नकारः
काङ्क्षार्थवाची । मेघस्तु वर्षाकाले हंसान्मानसं प्रति प्रस्थापयति । यथा—'प्रोषितकलहं-
सवयसि' इति चम्पूकथायाम् । 'प्रोषिता मानसं प्रस्थापिता हंसपक्षिणो येन' इति
तट्टितः । पुनः किंविशिष्टः । विशिष्टः मनोवाक्कायसंबन्धी अथ वा यमाद्यङ्गयुक्तः प्रश-

स्तोऽन्यो वा योग एषामस्तीति । यदि वा सर्वसांसारिकसङ्गाद्वियोगो विरहः पृथ-
ग्भावो विद्यते येषां ते वियोगिनः संयमिनस्तेषां निर्द्विषं मोक्षं प्रणयन् कुर्वन् ।
विरहिणामपि प्राचीनाचीर्णकर्मपरिणतिप्रकटनपूर्वं संसारानित्यतां प्रकटयन् धर्मोपदेश-
प्रदानादिना सुखयन् । मेघस्तु वियोगिनो व्यथयति । पुनः किंभूतः । कापि कुत्रापि
स्थाने दुर्दिनं दुष्टं दिवसं न सजन् । अपि तु प्रतिबोधप्रदानेन धर्ममाहात्म्यात्सुदिवसानेव
कुर्वन् । मेघस्तु दुर्दिनं घनघटासंघट्टप्रकटीभवद्विकटान्धकारं करोति । च पुनस्त-
मसामज्ञानानां पाप्मनां वा द्विषं भेदकं ज्ञानिनं साधुं वा न द्विषन्न संतापयन् प्रत्युत
प्रीणयन् । मेघस्तु तमोद्विषं भास्करं चन्द्रं वा द्वेष्टि आवृणोति । पुनः किंभूतः । डल-
योरेक्यात् भावप्रधाननिर्देशाच्च जडत्वस्य जाड्यस्योदयमज्ञानप्रादुर्भावं निर्दलयन्
व्यापादयन् । मेघस्तु जलोदयं वर्धते । च पुनर्मनोभवं काममभिभवन् पराजयमानः ।
मेघस्तु मदनं मदयति । पुनः किं कुर्वाणः । गुरोः स्वधर्माचार्यस्य विजयदानसूरेर्महः
प्रतापं तेजो वा न निहुवानः प्रकटीकुर्वाणः । मेघस्तु बृहस्पतितारकतेजो निहुते
विछुम्पति । पुनः किं कुर्वन् । स्थिरतां संयमधर्मादिषु साहसिक्यात्स्थैर्यं वहन् ।
मेघस्तु चपलाशयत्वान्नैकत्र कुत्रचित्तिष्ठति । पुनः किंभूतः । दिवानिशं दिवसे निशायां
च जिनानां तीर्थकृतां क्रमाणां पादारविन्दानामुपासनां स्तुतिध्यानप्रणामादिभिः सेवां
करोति । मेघस्तु जिनकमस्य विष्णुपदस्य सेवां वर्षास्वेव तत्रापि कदाचिन्न यावद्धर्म-
कालमत एव गुरोर्मेघादसाधारणता ॥ युग्मम् ॥

क्रमाच्चतुर्मासकवासरान्पयोधरे दधाने बहलीभविष्णुताम् ।

निनाय तस्मिन्परिवर्ततां धुनी धवेऽब्धिशायीव गणेन्दिरावरः ॥ १३२ ॥

गणेन्द्रावरस्तपागच्छलक्ष्मीपतिः तस्मिन्नागरानगरे क्रमात्पर्युषणादिपरिपाठ्या चतु-
र्मासकवासरान् वर्षाशरदुद्दिनान् परिवर्ततां क्षयभावं निनाय अतिक्रामति स्म । ‘क-
ल्पो युगान्तः कल्पान्तः संहारः प्रलयः क्षयः । संवर्तः परिवर्तश्च’ इति हैम्याम् । संपूर्णतां
प्रापयामास । कस्मिन्सति । पयोधरे जलवाहे घने बहलीभविष्णुतां दशभ्योऽपि दिग्भ्यो-
ऽभ्येक्ष्य समुन्नम्य समुन्नम्य अखण्डवारिधारावर्षणशीलतां दधाने सति । क इव । अब्धि-
शायीव । यथा समुद्रशयनशीलो विष्णुः वर्षासु नारायणः शेषशय्यायां समुद्रे शेते इति
लोकरूढिः । यदुक्तं चम्पूकथायां वर्षावर्णने—‘क्षीरसमुद्रनिद्राणवाणबाहुच्छिदि’ इति ।
वारिधौ वर्षां वासरान्परिवर्ततां लम्भयति ॥ इत्यागरानगरे चातुर्मासकरणम् ॥

ततोऽल्पकर्मा तपसेव संसृतिं प्रतीर्य पोतेन पतङ्गनन्दनाम् ।

अरिष्टनेमेर्जनुषा पवित्रितं प्रतस्थिवाञ्छैर्यपुरं प्रति प्रभुः ॥ १३३ ॥

ततश्चतुर्मास्या अनन्तरं प्रभुः सूरिः शौर्यपुरं प्रति प्रतस्थिवान् प्रचलितः । किंभूतं
शौर्यपुरम् । अरिष्टनेमेर्द्वाविंशतितीर्थकृत्नेमिनाथस्य जनुषा जन्मना पवित्रितं पाव-
नीभूतम् । किं कृत्वा । पोतेन यानपात्रेण कृत्वा पतङ्गनन्दनां सूर्यपुत्रीं यमुनां प्रतीर्य

तीर्त्वा समुलङ्घय । क इव । अल्पकर्मैव । यथा लघुकर्मा आसन्नसिद्धिः बहुक्षीणकर्म-
प्रकृतिर्जन्तुस्तपसा संश्रुतिं संसारं प्रतरति । पाठान्तरे तर्था नावा कृत्वा अर्थम्णो भानो-
र्नन्दनां पुत्रीं नदीं यमुनां प्रतीर्य । क इव । भवीव । यथा भव्यजीवो भरतादिवद्भावयथा
शुभाध्यवसायेन संश्रुतिं प्रतरति ॥

यमीसमीपे रपडीपुरे क्रमात्स संघलोकेन समं समीयिवान् ।

मनोरथाकृष्टमिवागतं पुरो व्यलोकयच्छौर्यपुरं पुरस्ततः ॥ १३४ ॥

स सूरिः क्रमात्प्रयाणपरिपाटीतः यम्या यमुनानद्याः समीपे पार्श्ववर्तिनि रपडीनान्नि
पुरे समीयिवान् समागतः । कथम् । समं सार्धम् । केन । संघलोकेन आगराप्रमुखनगरश्चाद्-
समुदायेन । श्राद्धानामनु श्राद्धयोऽपि समेता एव । ततः रपडी आगमनानन्तरं पुरो-
ऽग्रे शौर्यपुरं नाम नगरं 'सौरीपुर' इत्यधुना प्रसिद्धं व्यलोकयत्पश्यति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—मनोरथेन सूरीशितुरभिलाषेणाकृष्टमाकृष्टयानीतमिव प्रभुपुरः प्रादुर्भूतम् ॥

प्रभुः प्रियस्येव सधर्मचारिणीमहर्निशं शौर्यपुराङ्गचारिणीम् ।

च्युतोत्तरीयां कवरीमिवार्णवाम्बरेन्दिराया नवभङ्गसङ्गिनीम् ॥ १३५ ॥

संबन्धस्त्वप्रे वक्ष्यते । केवलं कालिन्येव वर्ण्यते—यमुनां किंभूताम् शौर्यपुरः सो-
रीपुरस्य अङ्गे समीपे । 'अङ्गः स्थाने क्रोडेऽन्तिकागसोः' इत्याद्यनेकार्थः । चरति बहती-
त्येवंशीलाम् । कथम् । अहर्निशं निरन्तरम् । कामिव । सधर्मचारिणीमिव । यथा प्रियस्य स्व-
वल्गुभस्य समानेन धर्मेण चरणशीला पतिव्रता पत्नी नक्तं दिनमङ्गे उत्सङ्गे क्रोडे वा समीपे वा
चरति प्रवर्तते इत्येवंशीला स्यात्सति व्यतिकरे भर्तृरुत्सङ्गे उपविशति । यदुक्तं नेमि-
चरित्रे—'अनुज्ञाप्य स्वपितरो देवदन्तीमुपेयुषीम् । रथमारोपयामास नलोऽङ्गे च न्य-
वीविशत् ॥' इत्युत्सङ्गारोपणम् । तथा 'विना ममोरः कतरत्तवासनम्' इति नैषधे । इति
क्रोडे । 'अथ सधर्मिणी । पत्नी सहचरी' इति हैम्याम् । सहचरत्वेन समीपचारिणी ।
उत्प्रेक्ष्यते—अर्णवाम्बरेन्दिरायाः समुद्रवसनालक्ष्म्याः क्षोणीश्रियः कवरीं वेणीमिव ।
किंभूतां कवरीम् । च्युतं शिरस्तः सस्तमुत्तरीयमुपर्याच्छादनवसनं यस्याः । पुनः किंभू-
ताम् । नवाः सद्यस्काः भङ्गास्तरङ्गा रचनाश्च विद्यन्ते यस्याम् ॥

व्यवस्यमानामिव जेतुमम्बरापगां तरङ्गैर्गगनावगाहिभिः ।

प्रियेण चाणूरभिदा वियोगिनीं निषेवमानामिव तीर्थमेदिनीम् ॥ १३६ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—गगनावगाहिभिर्नभोऽङ्गालिङ्गनशीलैस्तरङ्गैः कल्लोलैः कृत्वा अम्बरापगां
स्वर्गगङ्गां जेतुं श्रिया पराभवितुं व्यवस्यमानामुद्यमं कुर्वाणामिव । 'प्रगल्भमानाम्' इति
पाठो वा । अर्थः पूर्वेक्त एव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चाणूरनामानं मल्लं भिनत्ति स्मेति
चाणूरभित् तेन विष्णुना भर्त्रा समं वियोगिनीं विरहिणीम् । अत एव वैराग्याहुःखो-
त्थित्यै वा । 'जम्मन्तरे न विहृडइ उत्तममहिलाणजं किअं पिम्मम् । कालिन्दिक्कन्ह-
विरहे अज्जवि कालं जलं बहइ ॥' इति वचनात्कृष्णेन क्रान्तेन वियोगिनीं वियोगवतीम् ।

वियोगिनां वैराग्यं दुःखोच्छेदकरणं युक्तमेव । तीर्थमेदिनीं श्रीमन्नेमिनाथजन्मकल्याणकभूमीं निषेवमानां भजन्तीमिव ॥

जलावगाहागतदन्तिपङ्क्तिभिर्निलीनशैलाब्धितुलावहामिव ।

भुजामिवाम्भोजमुखीं मृणालिकां हिरण्यबाहुं दधतीं च नाभिवत् १३७

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—जलावगाहार्थं सूर्यातपातितप्तवपुस्तथा वा सातेन वा तरुणकरिणीभिः समं सलिलकेलिकरणायागताभिः समेताभिर्दन्तिपङ्क्तिभिर्गजराजीभिः कृत्वा निलीना वज्रपाणिभयात्प्रणय्यात्यगाधपानीयप्रविष्टाः शैलाः पर्वता यत्र तादृशस्याब्धेः समुद्रस्य तुलायाः साम्यस्य वहां धारिणीमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—किं कुर्वतीम् । दधतीं बिभ्रतीम् । काम् । मृणालिकां पद्मनालिकाम् । कामिव । अम्भोजमुखीमिव । यथा पद्मवदना स्त्री कोमलां भुजां बाहुलतां धत्ते । च पुनः स्त्रीनाभिवत्तुन्दकुपिकामिव हिरण्यबाहुं शोणं हृदं दधतीम् । अथ चन्द्रमाः । अम्भोजं कमलमेव मुखं वदनं यस्याः ॥

अमुं नमन्तीमिव वीचिसंचयैर्विभावयन्तीं शफरीक्षणैरिव ।

अभिष्टुवन्तीमिव विष्किरक्कणैर्लुलत्कजैर्नृत्यमिव प्रकुर्वतीम् ॥ १३८ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—वीचिसंचयैः उन्नमन्नमद्भिः परिस्फुरत्तरङ्गणैः कृत्वा अमुं सूरिन्द्रं नमन्तीमिव कल्लोलमालानामुन्नम्य नम्रीभवनेन प्रणामं सृजन्तीमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—शफर्यो मत्स्या एव ईक्षणानि । अथ वा ‘मीनलोचनैः’ इति पाठे मीना एव लोचनानि नयनानि तैर्विभावयन्तीमिव । सूरिन्द्रं निर्निमेषं निरीक्ष्यमाणामिव । तथा ‘विस्फुरच्छफरीनेत्रा तत्रापि रणसाक्षिणी । अस्ति ज्योत्स्नासपत्नाम्बुरियमेव सरस्वती ॥’ इति पाण्डवचरित्रे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—विष्किराणां जलचारिणां हंससारसकौञ्चादीनां पानीयपानागतानामपरेषां वा पक्षिणां कणैः शब्दैः कृत्वा सुनीन्द्रममुमभिष्टुवन्तीमिव सूरैः स्तुतिं विदधतीमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—लुलन्ति प्रचलत्कल्लोलैस्तरलीभवन्ति यानि कजानि कमलानि तैरस्य पुरो नृत्यं ताण्डवं कुर्वतीमिव ॥

निखेलियोषास्तनचन्दनद्रवैः सरिद्वरासंवलितप्लवामिव ।

क्रमात्स तत्राप्यवतीर्य सूर्यजां न्यभालयन्नेमिनिकेतनं पुरः ॥ १३९ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—नितरां स्वस्वकान्तेः समं सखीभिः सार्धं वा खेलन्ति जलक्रीडां कुर्वन्तीत्येवंशीला निखेलिन्यो या योषा विविधभूचरखेचरचञ्चललोचनास्तासां स्तनानां कुचान्तरकुचोपरिविरचितविचित्रपत्रवल्लीविलेपनादिसत्कसलिलसंयोगगलचन्दनद्रवैः श्रीखण्डवर्चरसैः कृत्वा सरिद्वरया गङ्गाया संवलितो मिश्रीभूतः प्लवः पयःपुरो यस्यास्तादृशीमिव । तत्रापि गङ्गायमुनाप्रवाहद्वयकलितामिव स प्रभुर्ह्यारसूरिः क्रमात्संघलोकशिष्याद्युत्तरणानुपूर्व्यां रपडीपार्श्वे पूर्वव्यावर्णितस्वरूपां सूर्यजां मार्तण्डनन्दनां यमुनामवतीर्योल्लङ्घ्य पुरोऽग्रे नेमिनिकेतनम् । लोकरुढ्या यत्र स्थाने श्रीनेमेर्जन्मकल्याणकमजायत तस्मिन्नेव पुण्यपृथ्वीप्रदेशे प्रासादः कारितोऽस्तीति श्रूयते । पश्चाज्जिनो वेद

तं नेमिनाथप्रासादं न्यभालयद्विलोकते स्म ॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥ यमुनावर्णेनम् । इति
सूरैः शौर्यपुरागमनम् ॥

स तूररावैः कुलशैलकंदरोदरप्रसर्पत्प्रतिनादमेदुरैः ।

निनाय नेमेर्वसर्तिं प्रदक्षिणां महोदयाम्भोनिधिनन्दनामिव ॥ १४० ॥

स हीरसूरिः तूररावैरनेकवादित्रनिर्घोषैः सार्धं नेमेः श्रीअरिष्टनेमिनाथस्य वसतिं
प्रासादं त्रिवारं भ्रमणीरूपां परितः प्रदक्षिणां निनाय प्रापयति स्म । त्रिः प्रदक्षिणीक-
रोति स्मेत्यर्थः । किंभूतैः तूररावैः । कुलशैलाः मन्दरमेरुकैलासहिमाचलप्रमुखाः सप्त
कुलपर्वतास्तेषां कंदराणां गुहानामुदरेषु मध्येषु प्रसर्पन्तः प्रवर्तमानाः प्रसरन्तो वा
ये प्रतिनादाः प्रतिशब्दाः 'पडच्छन्दा' इति प्रसिद्धाः तैर्भेदुरैः सान्द्रैः पुष्टीभूतैः ।
उत्प्रेक्ष्यते—महोदयो महानतिशायी अभ्युदयो विशिष्टवैभवप्रारम्भः स एवाम्भोनिधि-
नन्दनां लक्ष्मीं प्रदक्षिणां प्रकर्षेणातिशयेन दक्षिणां स्वानुकूलं निजानुरागिणीमिव
निनाय कृतवान् ॥

निजां तनूजां धरिणीप्रचारिणीमिवाभ्रकेतौ मिलितुं समीयुषि ।

विवेश तस्मिन्लमिनां शतक्रतुः शिवासुतस्यायतने हिरण्मये ॥ १४१ ॥

शमिनां शतक्रतुर्वाचंयमवासवः तस्मिन् प्रह्लादपूर्वं पूर्वमेव दृष्टे शिवायाः समुद्रवि-
जयराजजायायाः सुतस्य नेमिनाथस्य आयतने प्रासादे विवेश प्रविष्टवान् । किंभूते ।
हिरण्मये स्वर्णनिर्मिते सुवर्णप्रधाने । उत्प्रेक्ष्यते—धरिण्यां भूमिमण्डले प्रकर्षेण चरति
प्रसरति इत्येवंशीलां निजामात्मीयां तनूजां पुत्रीं यमुनानात्रीं मिलितुं सुतात्वेन स्नेह-
संबन्धान्मिलनार्थं समागते गगनाङ्गणात्क्षोणीचक्रे संप्राप्ते अभ्रकेतौ नभाष्कतेन सूर्य
इव । 'हरिः शुचीनौ गगनाध्वगाध्वगौ' इति हैम्याम् ॥

जनार्दनान्दोलनकेलयेऽभवत्प्रलम्बदोलेव यदीयदोर्लता ।

य उग्रसेनस्य सुतां प्रभुर्जहौ पतिस्तमीनामरविन्दिनीमिव ॥ १४२ ॥

प्रभुर्हीरसूरिः नेमिं ददर्श इत्यग्रे वक्ष्यते । इति संबन्धः । यच्छब्देन तद्वर्णन-
माह—यदीयदोर्लता श्रीनेमिनाथसंबन्धिनी दक्षिणबाहुवल्ली जनार्दनस्य नारायणस्य
आन्दोलनस्य प्रेङ्खोलनस्य केलये क्रीडायै प्रलम्बा अतिव्यायता दोला प्रेङ्खा इवाभवत् ।
पुनर्यौ भगवान् उग्रसेनस्य भोजकवृष्णेः सुतस्योग्रसेननृपतेः सुतां नन्दनां राजीमतीं
जहौ तस्याज न परिगिन्ये । क इव । पतिरिव । यथा तमीनां पतिः रजनीदयितश्चन्द्रमाः
अरविन्दिनीं कमलिनीं जहाति ॥

तनुश्रिया येन निजौजसा पुनर्जितो ह्रियानङ्ग इवाङ्गजोऽजनि ।

यदङ्गरुद्धिर्जितनीलनीरजैरभाजि दुःखादिव पुष्करे तपः ॥ १४३ ॥

पुनर्येन नेमिनाथेन तनुश्रिया शरीरशोभया पुनर्निजौजसा स्वबलेन आत्मीयप्रता-

पेन वा जितोऽभिभूतः अङ्गजः कंदर्पः । 'अङ्गजः पुत्रकामयोः' इत्यनेकार्थः । तथा 'कमनः कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—हिया मन्दाक्षेणेव अनङ्गो मुक्तकाययष्टिरजनि संजात इव । पुनर्यस्य परमेष्ठिनः अङ्गश्चा शरीरस्य मरकतमणिमसृणकान्त्या निर्जितैः परिभूतैः नीलनीरजैरिन्दीवरैः दुःखात्पुष्करे तीर्थविशेषजले च । 'पुष्करं तु जले व्योम्नि तीर्थे कुण्डे च' इत्यनेकार्थः । तपः अभाजि तपस्तप्यते इव । निर्जितो हि द्विधा तपस्यति पराभवदुःखोद्विभो वा तत्तुल्यतायाप्तये वा ॥

रवेण वाह्याहितजित्त्वरं तरोऽप्यभिप्रपन्नः पुनरान्तरद्विषाम् ।

विघातशक्तिं स्पृहयन्त यत्पदं हरेस्त्रिरेखोऽङ्कमिषान्निषेवते ॥ १४४ ॥

हरेर्विष्णोस्त्रिरेखः पाञ्चजन्यनामा शङ्खः अङ्कमिषालाञ्छनच्छलात् यत्पदं नेमिनाथचरणं निषेवते । उत्प्रेक्ष्यते—रवेण निजशब्देन वाह्या भूमिनभःसंचारिणः प्रत्यक्षा ये अहिताः प्रतिपक्षास्तेषां जित्त्वरं जयनशीलं तरो बलं अभिप्रपन्नः संप्राप्तोऽपि । यदुक्तम्—'अम्मोघेरेव जाता जगति कति न ते हन्त सन्तीह शङ्खा यान्बिभ्राणा भ्रमन्ति प्रतिभवनममी भिक्षवो जीवनाय । एकः श्रीपाञ्चजन्यो हरिकरकमलक्रोडहंसायमानो यस्य ध्वनैरमानैरसुरसुरवधूवर्गगर्भा गलन्ति ॥' इति । पुनरान्तराणामन्तरङ्गानामनन्तकालादात्मना प्रतिबद्धानां द्विषां कर्मशत्रूणां विघातशक्त्यव्यापादनसामर्थ्यस्य स्पृहया वाञ्छयेव सेवते ॥

अशीलि शीलेन जितेन येन किं हिया कुमारेण गिरेरधित्यका ।

प्रभुर्जिनं तं यदुवंशभास्करोदयोदयक्षोणिधरं दृशा पपौ ॥ १४५ ॥

येन भगवता शीलेन खब्रह्मचर्येण जितेन तिरस्कृतेन कुमारेण स्वामिकार्तिकेन । 'षाण्मातुरो ब्रह्मचारी गङ्गोमाकृतिकासुतः' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—हिया लज्जया गिरेर्गन्धमादनाभिधानभूधरस्याधित्यका ऊर्ध्वभूमिः शृङ्गमशीलि सेवितम् । तत्र गत्वा स्थित इत्यर्थः । 'सुगन्धिगन्धमादनाधिवासिनः स्कन्ददेवस्य दर्शनार्थमिदो गतवानस्मि' इति चम्पूकथायाम् । तथा पित्रोरपेक्षया तु कैलासाचलचूलिकायां स्थानम् । तथा 'स्कन्दो मन्दमतिश्चकार न करस्पर्शं श्रियाः शङ्कितः' इति खण्डप्रशस्तौ । प्रभुः सूरिस्तं पूर्वव्यावर्णितं जिनं नेमिनाथं दृशा नेत्रेण पपौ सादरं पश्यति स्म । किंभूतः । यदूनां यादवानां वंशोऽन्ववायः स एव भास्करः सूर्यस्तस्योदयार्थमुद्गमनाय उदयक्षोणिधरः । पूर्वपर्वत इत्यर्थः ॥ चतुर्भिः कलापकम् । नेमिनाथवर्णनम् ॥

जय त्रिलोकीजनकल्पपादप पुनर्भवश्रीपरिरम्भलोलुप ।

जय प्रमोदाङ्कुरकोटिवारिमुक् जय प्रभामर्त्तिसतनीलरत्नरुक् ॥ १४६ ॥

१. 'विघातशक्तेः स्पृहया वाञ्छयेव सेवते' इति टीकादर्शनात् 'विघातशक्तेः स्पृहयेव यत्पदम्' इति पाठो भवेत्.

तरीव वार्धौ तमसीव शारदारविन्दिनीशः सरसीव धन्वनि ।

दरिद्रतायामिव शेवधिर्मया कलौ जिनेन्दो त्वमलम्भि दुर्लभः ॥ १४७ ॥

हे त्रिलोक्या जयत्रयस्य जनानां सुरासुरनराणां कामितानां मनोभिलाषाणां पूरणे प्रदाने कल्पपादप सुरतरो । पुनर्हे पुनर्भवश्रिया मोक्षलक्ष्म्या सार्धं परिरम्भे गाढा-
लिङ्गने लोलुप अतिशयेन लोल चञ्चल हे नेम, त्वं जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । पुनर्हे प्रमो-
दा आनन्दाः । यद्दर्शनात्पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यराज्यैश्वर्यादयः सर्वेऽप्यानन्दकारिणः
पदार्थाः प्रादुर्भवेयुः, तस्मात्तेऽपि प्रमोदा एवोच्यन्ते । तत्र च बहुत्वम् । प्रमोदा
एवाङ्कुराः प्ररोहास्तेषां कोटयस्तेषां वृद्धिकरणे इत्यर्थः । वारिमुक्त्वा वार्षिकवारिवाह ।
पुनर्हे प्रभया नीलोत्पलदलश्यामलदेहदीप्त्या भस्मिता तिरस्कृता नीलरत्नानां हरिन्म-
णीनां रक्कान्तिर्येन तादृक् शिवानन्दन, त्वं जय । हे जिनेन्दो हे नेमिनाथ, मया कलौ
कलियुगे पञ्चमे अरके दुःखेन महाकष्टेन कृत्वा लभ्यते इति दुर्लभः दुःप्रापस्त्वमल-
म्भि प्राप्तः । केव । तरीव । यथा प्रलयकालोद्दामदावानलज्वालायमाना माननिदाघसम-
योद्भवन्मध्यंदिनदीप्तदिनकरघोरघमैरुचिचयसंतापितालानीभूतसिकतभूमण्डलमरुस्थले
सच्छायपत्रच्छन्नानेककारस्वरकोटिशिशिरीकृतसलिलशालिमहापद्मसरोवरं लभ्यते ।
पुनः क इव । शेवधिरिव । यथा दुःखावस्थायां निधानमासाद्यते ॥

तमित्यभिष्टुत्य हृदा दधन्मुदं चकार पञ्चाङ्गनतिं यतीशिता ।

विचक्षुरेतत्किमु पञ्चमीं गतिं दिश प्रभो पञ्चमकेरकेऽपि मे ॥ १४८ ॥

यतीशिता सूरिः तं नेमिनाथमिति पूर्वोक्तप्रकारेणाभिष्टुत्य सुत्वा हृदा मनसा
कृत्वा मुदमाह्लादं दधद्धारयन् सन् पञ्च अङ्गानि प्रकृतानि यत्र सा पञ्चाङ्गा । पञ्चानाम-
ङ्गानां समाहारो वा इति पञ्चाङ्गी । द्वौ जानू द्वौ करौ एकं शिरः इति पञ्चाङ्गी । तथा भूः
स्पृश्यते इति पञ्चाङ्गनतिं चकार कृतवान् । उत्प्रेक्ष्यते—एतदुच्यमानं जिनने-
मिनाथं प्रति विवक्षुः किमु वक्तुमिच्छुरिव । एतत्किम् । हे प्रभो, मे मम पञ्चमकेरके
कलिकालेऽपि पञ्चमीं नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभ्य उपरितनीं मुक्तिलक्षणां पञ्चानां
संख्यापूरणीं गतिं दिश प्रदेहि । चतुर्थारके तु तव मुक्तिदातृत्वमस्येव । परं पञ्चमे
त्वरके मुक्तिप्राप्तेरभावात्तस्याः प्रार्थनाया उत्प्रेक्षा ॥

मुनीन्दुना शौर्यपुरे पदाम्बुजैर्विभूष्य दृष्टी इव तत्पुरश्रिया ।

वृषाङ्गनेमिप्रतिमे पुरातने प्रतिष्ठते तत्र सनेमिपादुके ॥ १४९ ॥

मुनीन्दुना हीरसूरिचन्द्रेण तत्र शौर्यपुरे पुरातने जीर्णे पूर्वं केनापि कारिते न परं
प्रतिष्ठापिते कथंचिदप्रतिष्ठिते एव स्थिते वृषाङ्गस्य श्रीऋषभदेवस्य नेमेरिष्ठनेमिनाथस्य
प्रतिमे मूर्तां प्रतिष्ठते अज्जनशलाक्यादिकरणेन स्थापिते । किं च श्रीहीरसीहविमलग-
णिपितामहसोहिलसंघपतिकारिते इति मूलशौर्यपुरलोके किंवदन्ती इति । उत्प्रेक्ष्यते—
तत्पुरश्रिया शौर्यपुरलक्ष्म्या दृष्टी नेत्रे इव । किंभूते प्रतिमे । सहनेमेः शैवेयस्य पादुकाभ्यां

पदद्वन्द्वप्रतिविम्बाभ्यां वर्तेते ये । किं कृत्वा । पदाम्बुजैः । पूज्यत्वादुहवचनम् । चरण-
कमलैर्जाणं शौर्यपुरं विभूष्यालंकृत्य ॥

दिनद्वयीं तद्यदुवंशबाहुजत्रजान्कृपाधर्मधियो विधाय सः ।

ततो मुनिक्षोणिमणिर्न्यवीवृतत्तत्तात्पयःपूर इवापगापतेः ॥ १५० ॥

स मुनिक्षोणिमणिर्ह्रीरविजयनामा साधुवसुधारत्नं सूरिन्द्रः ततः शौर्यपुराण्यवीवृ-
तत् निवर्तते स्म पश्चाद्ववले । क इव । पयःपूर इव । यथा आपगापतेर्नदीनाथस्य
समुद्रस्य पानीयप्लवः तदात्तीरान्निवर्तते । 'जयी महीमानिव वार्धिरोधसः' । क इव ।
महीमानिव । यथा दिग्जैत्रयात्रासु अप्रतिहतशक्तित्वेन जयी राजा अर्थाच्चतस्रो दिशो
विजित्य वार्धिरोधसः पथोनिधिप्रतीरान्निवर्तते । किं कृत्वा । दिनद्वयीं वासरयुगलम् ।
यावत्कालाध्वनोर्नैरन्तर्ये द्वितीयावत् । तस्मिन् शौर्यपुरे यदुवंशान्यादवकुलोत्पन्नान्
बाहुजानां राजपुत्रसुभटानां व्रजान् गणान् । 'राजन्यो बाहुसंभवः' इति हैम्याम् ।
'संध्याधियेवास्तं यान्ति समस्तबाहुजभुजातेजःसहस्रांशवः' इति नैषधे । कृपा जीवाहिंसा
सैव धर्मस्तत्र धीर्बुद्धिः परिणामो येषां तादृशान् विधाय कृत्वा ॥

गते प्रिये कापि निजे जनार्दने किमेत्य नेमिप्रभुदेवरान्तिके ।

स्थितां समुत्तीर्य यमीं शमीश्वरः पुरं प्रयातः पुनरागरामिधम् ॥ १५१ ॥

शमीश्वरो मुनिनायकः सूरिः पुनर्व्याधुव्य आगरा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशं पुरं
नगरं प्रयातो गतवान् । किं कृत्वा । यमीं यमुनां समुत्तीर्य नावा लङ्घयित्वा । किंभूतां
यमीम् । उत्प्रेक्ष्यते—निजे आत्मीये प्रिये भर्तरि जनार्दने कृष्णे कापि कुत्रापि निजा-
भिलषिते स्थाने गते प्रयाते सति नेमिप्रभुः अरिष्टनेमिनाथः स एव देवरो निजम-
तुल्यधुभ्राता तस्यान्तिके पार्श्वे किमेत्य स्थितः वसन्तीमिव ॥

मणिं सुराणां तनुमत्समीहितं प्रदित्सयेव त्रिदिवादुपागतम् ।

स तत्र चिन्तामणिपार्श्वतीर्थं महामहेन प्रतितस्थिवान्प्रभुः ॥ १५२ ॥

स प्रभुर्ह्रीरविजयसूरिस्तत्रागरानगरे चिन्तामणिः इति नामानं पार्श्वे एव तीर्थपस्तीर्थ-
नाथस्तं महामहेनाधिकोत्सवेन प्रतितस्थिवान् । उत्प्रेक्ष्यते—तनुमतां जगज्जनानां
समीहितानां मनसां सम्यक्कामितानां प्रदित्सया प्रदातुमिच्छया त्रिदिवादेवलोकादिह
भूमण्डले उपागतं संप्राप्तं सुराणां मणिं चिन्तारत्नमिव ॥

स उग्रसेनाद्यपुरात्फतेपुरं यशस्करं स्वस्य विभुर्व्यूषयत् ।

इवान्यराशेः शशिसौधमुच्चतापदप्रदं चित्रशिखण्डिनन्दनः ॥ १५३ ॥

स विभुर्ह्रीरसूरिः स्वस्यात्मनो यशस्करं कीर्तिविधायकं पुनरित्यध्याहार्यम् । उग्रसेन
इति पदमाद्यं प्रथमं यस्य तादृशात्पुरात् । आगरादित्यर्थः । फतेपुरं साहिनगरं व्यभूषय-
दलंकरोति स्म । श्रीकर्था जग्मिवानित्यर्थः । क इव । चित्रशिखण्डिनन्दन इव । यथा बृह-

स्पतिः स्वस्यात्मन उच्चतायाः उच्चत्वस्य पदं स्थानं प्रददातीति प्रदम् अन्यराशेः पूर्व-
स्मान्मिथुनराशेः शशिनः शशाङ्कस्य सौधं गृहं कर्कराशिम् । 'प्रोक्तः कर्कस्य चन्द्रमाः' इति
वचनात् । विभूषयति । कर्कराशिगतो गुरुश्चः प्रतिपाद्यते ॥ इति पुनः फतेपुरागमनम् ॥

महीहिमज्योतिरियेष खञ्जनो घनात्ययस्येव तदास्य दर्शनम् ।

अमुं स गोष्ठीप्रविधित्सया पुनर्निकेतने शेखमणेरजूहवत् ॥ १९४ ॥

तदा तस्मिन् सूरैः फतेपुरे समागमावसरे महीहिमज्योतिरकम्बरसाहिः अस्य हीर-
सूरेदर्शनमित्येष अभिलषति स्म । क इव । खञ्जन इव । यथा खञ्जरीटो घनात्ययस्य
शरत्कालस्य दर्शनमिच्छति । पुनर्दर्शनेच्छानन्तरं द्वितीयवारममुं सूरिं शेखमणेरव-
लकैजनात्रो यवनगुरुत्नस्य निकेतने भवने अजूहवत् आकारयामास । कया । गोष्ठी-
प्रविधित्सया धर्मेवार्तां कर्तुं काङ्क्षया ॥

क्रमेण वाचंयमयामिनीमणिर्विभूष्य शेखप्रमुखस्य मन्दिरम् ।

शिरोगृहं तस्य पुनः पवित्रयांचकार जम्भारिरिव त्रिविष्टपम् ॥ १९५ ॥

वाचंयमयामिनीमणिः श्रमणशर्वरीरत्नं सूरिः पुनर्गृहागमनादनु शेखगृहस्य शिरो-
गृहं चन्द्रशालामुपरितनपिट्टनिकां पवित्रयांचकार पावनीकृतवान् । किं कृत्वा । क्रमेण
आगमनाकम्बराकारणपरिपाठ्या तस्यावलकैजनात्रः शेखप्रमुखस्य यवनगुरुमुख्यस्य
मन्दिरं निवाससौधं विभूष्यालंकृत्य । यत्र पूर्वं साहिमिलनसमये समेत्य गोष्ठी अनुष्ठिता
आसीत्, तदलंकृत्य तस्य सद्मनः चन्द्रशालामलंकरोति स्म । क इव । जम्भारिरिव ।
यथा पुरंदरः कुत्रचिद्वत्वा गतः सन् त्रिविष्टपं स्वर्गं पवित्रयति ॥ इति पुनर्गुरोः शेख-
गृहागमनम् ॥

अथात्मधात्रीव स शेखमन्दिरे समेत्य भूमीतलशीतलद्युतिः ।

इवाङ्कुरान्कल्पतरोर्मुनीशितुर्मुनीनिह प्रेक्ष्य हृदा मुदं दधौ ॥ १९६ ॥

अथ सूरैः शेखमन्दिरे समागमनानन्तरमकम्बरनामा भूमीतलशीतलद्युतिः मेदि-
नीमण्डलशीतकान्तिः राजा पातिसाहिः इह शेखमन्दिरे कल्पतरोः सुरद्रुमस्य अङ्कुरा-
न्प्ररोहानिव मुनीशितुः सूरैः मुनीन् वाचंयमान्प्रेक्ष्य विलोचनगोचरीकृत्य हृदा हृदयेन
मनसा कृत्वा मुदमानन्दं दधौ । किं कृत्वा । शेखस्य मन्दिरे सद्मनि समेत्यागत्य ।
कसिन्निव । आत्मधात्रीव निजवैश्मनीव ॥

क्रमादमीषामभिधाः सुधारसद्रवानिवापृच्छच्च पिवञ्छ्वःपुटैः ।

प्रमोदवांस्तद्रुहचित्रशालिकां ततः स्वयं क्षमारमणोऽधिरूढवान् ॥ १९७ ॥

ततः सूरिसुधांशुसाधूनां पृथङ्नामप्रश्रतदाकर्णनानन्तरं स्वयमात्मना क्षमारमणो
भूमीवल्लभः तद्रुहस्य शेखसौधस्य चन्द्रशालिकामुपरितनीं भूमिकामारूढवान् अधि-
रोहति स्म । किंभूतः क्षमारमणः । प्रमोदवानानन्दकलितः । किं कुर्वन् । क्रमादुल्लुप-
रिपाठ्या अमीषां सूरिसाधूनामभिधा नामानि आपृच्छच्च पृथक् पृथक् दृष्ट्वा ततः

सुधारसद्वानमृतनिःस्पन्दान् च श्रवःपुटैः कर्णपुटकैः श्रवणनामदुन्दुकैः पिबन्नास्वादयन्
सादरं शृण्वन् ॥

मघाभुवेवासुरशीतभानुना विधाय गोष्ठीं सदसद्विचारणा ।

मुनीश्वरेणाम्बुधिनेमिभानुना स्थिरीकृताहन्मतसंप्रधारणा ॥ १९८ ॥

मुनीश्वरेण सूरिन्द्रेण सच्च असच्च सदसती तयोर्विचारणा इदं सत् इदमागमविरुद्ध-
मिदं च लोकविरुद्धमिदमुभयाभिमतमिति विमर्शो यस्यां तादृशी अहन्मतसंप्रधारणा
जिनशासनसमर्थना सर्वेष्वपि शासनेषु विचार्यमाणं सर्वकोटिविशुद्धं जिनवासनमेव
दृश्यते इति संप्रधारणा स्थिरीकृता । सत्या चक्रे इत्यर्थः । किं कृत्वा । मघाभुवेव
भार्गवेनेव असुरशीतभानुना दैत्येन्द्रेणैव अम्बुधिनेमिभानुना जलधिमेखलाभास्करेण
साहिना सार्धं गोष्ठीं धर्मतत्त्वविचारवार्तां विधाय कृत्वा ॥

तदिष्टगोष्ठीसमये महीहरेर्हृदन्तरानन्दरसः स कोऽप्यभूत् ।

गिरां हि पारेऽजनि यो गिरां पतेर्न यत्र काव्यं न च काव्यचातुरी १९९

सैव साहिसूरिद्वन्द्वसंबन्धिनी इष्टा मनसोऽभिप्रेता साहिहृदयंगमा गोष्ठी स्वतन्त्रवार्ता
तस्याः समये प्रस्तावे स कोऽप्यद्वैताश्चर्यकारी वाचामगोचरो महीहरेर्भूमीन्द्रस्य हृद-
न्तरा मनोमध्ये आनन्दरसः प्रह्लादास्वादः । 'रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ' इत्यने-
कार्थः । अभूद्भूव । य आनन्दरसो गिरां पतेः सुराचार्यस्य हि निश्चितं गिरां पारे
वाचां परतीरवर्ती वक्तुमशक्योऽजनि संजायते स्म । 'गिरां हि पारे निषधेन्द्रवैभवम्'
इति नैषधे । च पुनर्यत्रानन्दरसे काव्यस्य शुक्रस्य काव्यानां कवित्वानां चातुरी नाजनि
वाचस्पतिर्वाचा वक्तुं न शक्नोति । शुक्रोऽपि काव्यरचनां रचयितुं नालं भवतीत्यर्थः ॥
इति सूरिणा समं साहेद्वितीयवारं गोष्ठी ॥

ततः प्रदित्सुर्गुरवे स किंचनात्मनो घनो भूभवनाय नीरवत् ।

प्रणीतवान्सप्रणयं गिरां गृहं मुखारविन्दं वसुधावधूवरः ॥ १९० ॥

ततो गोष्ठीकरणोद्भूतानन्दरसानन्तरं सोऽकव्वर एव वसुधावधूवरः भूमीभामिनी-
भर्ता सप्रणयं सन्नेहं याच्नासहितं वा । 'प्रणयः स्नेहयाचनयोः' इत्यनेकार्थः । यथा स्या-
त्तथा मुखारविन्दं वदनकमलं गिरां वाचां गृहं वासस्थानं प्रणीतवान् चकार । नृपः
किं कर्तुमिच्छुः । गुरवे हीरविजयसूरये आत्मनः स्वस्य किंचन आत्मीयं वस्तु किमपि
प्रदित्सुः प्रदातुमिच्छुः । किंवत् । नीरवत् । यथा घनो धाराधरो भूभवनाय पृथ्वी-
लोकाय जलं दातुमिच्छति तथा अकव्वरोऽपि प्रभवे वाजिवारणादि दातुमुत्कण्ठतो
बभूवेत्यर्थः ॥

परश्शताः कौतुकिना पयोनिधिं प्रमथ्य कृष्टा इव जहुना पुनः ।

स्फुरन्ति तेऽमी मम मत्तकुम्भिनः प्रभोऽभ्रमूवल्लभलक्ष्मिभिनः १९१

हे प्रभो, ते प्रसिद्धाः प्रबलप्रत्यर्थिपृथिवीपालदलविदलनोपार्जितानेकविरुदा मदो-
द्धता मे मम अभ्रमूः नामा हस्तिनी तस्या वल्लभ ऐरावणः । 'अभ्रमूवल्लभारुढं निशः
शेषे कदाचन । स्वप्ने महेन्द्रमद्राक्षीत्पृथा पृथुमनोरथा ॥' इति पाण्डवचरित्रे । तथा 'गजा-
नामभ्रमूपतिः' इति काव्यकल्पलतायां च । तस्य लक्ष्मीं शोभां लभन्ते इत्येवंशीलाः ।
'लक्ष्मिलक्ष्मी हरेः स्त्रियाम्' इति । तथा 'चरणलक्ष्मिकरग्रहणोत्सवे' इति जिनप्रभसू-
रिभूतऋषभनमस्तत्वेऽपि च । तथा 'स्वस्थानात्पदमात्रमप्यचलतो विन्ध्यस्य चानेकशो
जायन्ते मदपालितः.....श्रीलम्भिनः कुम्भिनः' इति सूक्ते लम्भितः 'लभेर्धातोः
सार्वधातुकपरोक्षार्थवर्जं यथाप्रयोगं नुम् इत्यनुस्वारः' इति प्रक्रियायाम् । गजा हस्तिनः
स्फुरन्ति स्फूर्तिं दधते । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकिना कुतूहलाकलितेन जहुना नारायणेन
चतुर्दशरत्नकर्षणाच्छाखादातया पुनर्द्वितीयवारं पयोनिधिं समुद्रं प्रमथ्य विलोडयित्वा
परदशताः शतात्परे सहस्रशः कृष्टा निष्काशिता इव ऐरावतभ्रातरः ॥

यतीन्द्र यत्पञ्चमचङ्क्रमोपमामवासुकाभेन महीविहायसोः ।

अमी समीरेण किमु प्रणीयते तिरस्कृतोच्चैःश्रवसश्च ते हयाः ॥१६२॥

हे यतीन्द्र, तिरस्कृतः स्वशोभया धिक्कृतः उच्चैःश्रवा इन्द्राश्चो यैस्ते विविधजातीयः
मम हयास्तुरङ्गाः सन्ति । ते के । येषां हयानां पञ्चमचङ्क्रमस्य उत्तेरितनान्याः पञ्चम्या गतेः
उपमानं साम्यमवासुकाभिना लब्धुमिच्छता । शिक्षितुं काङ्क्षतेत्यर्थः । समीरेण वायुना
महीविहायसोऽर्धमी भ्रमणं प्रणीयते किमु । 'अपि अमीभङ्गिभिरावृताङ्गम्' इति नैषधे ॥

रथाः सरथ्या मम कामगामिनो मुमुक्षुमार्तण्ड मरुद्रथा इव ।

पुनः कृतारातिचमूविपत्तयः कृतान्तदूता इव सन्ति पत्तयः ॥ १६३ ॥

हे मुमुक्षुमार्तण्ड सुरे, मम रथाः शताङ्गाः सन्ति । किंभूताः । सह रथ्यै रथधुराधु-
रीणैर्वृषभैस्तुरगैर्वा वर्तन्ते ये ते । पुनः किंभूताः । कामगामिनः काममतिशयेन इच्छया
वा गच्छन्तीत्येवंशीलाः । के इव । मरुद्रथा इव । यथा सुरस्यन्दना देवानामिच्छयैव
गमनशीला भवेयुः । पुनरर्थान्तरन्यासे । पुनर्मम पत्तयः सन्ति । किंभूताः । कृता नि-
ष्पादिता अरातिचमूनां वैरिसैन्यानां विपत्तयो भङ्गमारणादि नानानिष्ठानि यैस्ते । उत्प्रे-
क्ष्यते—कृतान्तदूता इव चण्डमहाचण्डाद्या यमस्य किंकरा इव ॥

जनार्दनस्येव ममेयमिन्दिरा सुरेश्वरस्येव च राज्यमूर्जितम् ।

इदं तथान्यद्यदभीप्सितं हृदो मुनीन्द्र तन्मामनुगृह्य गृह्यताम् १६४

हे मुनीन्द्र, इयं मम गृहे इन्दिरा धनरत्नखणेरुप्यादिलक्ष्मीर्वर्तते । कस्येव । जना-
र्दनस्येव । यथा नारायणस्य मन्दिरे प्रत्यक्षा लक्ष्मीरस्ति । च पुनः ऊर्जितं प्रबलं
राज्यं हस्त्यश्वरथसङ्घदुर्गैर्बलरूपं वर्तते । कस्येव । सुरेन्द्रस्येव । यथा पुरंदरस्य प्रबलं
राज्यं वर्तते । हे प्रभो, इदं यन्मया विज्ञप्तं गजाश्वादिकं तथा अन्यत्परमपि यदुष्माकं

हृदो मनसोऽभीप्सितं वाञ्छितं भवेत् तद्वस्तु मामनुगृह्य ममोपरि अनुग्रहं कृत्वा गृह्यतां स्वीक्रियताम् ॥

स्वचेतसो गोचरयन्नपि क्षमाक्षपापतिर्निःस्पृहतां मुनीशितुः ।

इवान्यपुष्टः सहकारकोरकैः प्रवर्तितो भक्तिभरैरदोऽवदत् ॥ १६५ ॥

क्षमाक्षपापतिः अवनीरजनीनायकः अकब्बरसाहिर्मुनीशितुः सूरैर्निःस्पृहतां निरीहभावं स्वचेतसो निजहृदयस्य गोचरयन् गोचरीकुर्वन् । मनसि जानन्नपीत्यर्थः । भक्तेभैरतिशयैः प्रवर्तितः प्रेरितः सन्नदो गजाश्वादि गृह्यतामिति अवदद्भाषे । क इव । अन्यपुष्ट इव । यथा कोकिलः सहकारकोरकैः आभ्रतरोः कलिकाभिः मञ्जुमञ्जरीव्रजास्वादैः प्रवर्तितः शब्दायते मधुरध्वनिं विधत्ते । 'प्रेरणं प्रवर्तनमिति आशीःप्रेरणयोः' इत्यर्थः सारस्वतव्याकरणे ॥ इति सूरीणां गजाश्वादिप्रदाने साहिर्विज्ञप्तिः ॥

निशम्य सूरिर्नृपतेरिमां गिरं न किञ्चिदेभिर्मम कृत्यमित्यवक् ।

मदोद्धता दुर्नृपवद्गजा अमी वशास्पृशः प्रौढकरप्रवृत्तयः ॥ १६६ ॥

नृपतेरकब्बरस्य इमां पूर्वोक्तां गिरं वाणीं निशम्याकर्ण्य सूरिर्मुनीन्द्र इत्यमुना प्रकारेणावक् वदति स्म । इति किम् । हे साहे, एभिः श्रीमत्प्रदीयमानकरितुरगादिभिः मम किञ्चित्किमपि कृत्यं कार्यं नास्ते । यत्कारणादमी गजा दुर्नृपवद्गृभूपतय इव । मानदाहंकारेण क्षीबतया वा मदेन मद्यपानेन च राज्यमान्यताकृते हस्तिपालका मदिरापानं कारयित्वोन्मदीकुर्वन्तीति स्थितिः । तत्त्वतस्तु मदेन दानप्रवाहेण उद्धता उत्कटाः सचिवादीनामप्यकथितकारिणो दुर्नराधिपाः । करिणस्तु महामात्राणामवशाः सर्वेऽपि कृत्याकृत्यविचारणान्धबधिराश्च । वशाः करिण्यः । 'इभः करेणुर्गजोऽस्य स्त्री धेनुका वशापि च' इति हैम्याम् । अथ च वशाः त्रियः अर्थात्परदारास्ताः स्पृशन्ति स्पर्शाख्यकामगुणैर्वशीकृताः सन्तः आश्लिष्यन्तीति वशास्पृशः । तथा प्रौढा अतिशायिनः प्रबलाः करा राजदेयांशाः शुण्डादण्डास्तेषां प्रवृत्तिः प्रवर्तनं येषु । पक्षे प्रौढाः पर्वतप्रायाः अथ वा प्रौढोऽतिलम्बः करः शुण्डादण्डः । तथा प्रौढा अतिशायिनी प्रकर्षेणोढा तादृशी प्रवृत्तिर्दानवारिधारा येषाम् । 'मदो दानं प्रवृत्तिश्च' इति हैम्याम् । कलियुगदुष्टनृपतुल्यत्वमर्थात् ॥

अतिप्रमाणा नृप जिह्मगामिनोऽप्यमर्षणाः सुप्तभृतश्च सप्तयः ।

रथाश्च खिन्ना इव कामचारिणः स्ववाहिनीबन्धविधायिनः पुनः १६७

हे नृप, च पुनरमी सप्तयस्तुरङ्गा अतिप्रमाणा अतिक्रान्तं भावप्रधाननिर्देशात्प्रामाण्यमादेयता येस्ते सर्वत्राप्यप्रमाणान् कचिदपि मान्या वर्तन्ते । तत्त्वतस्तु अतिक्रान्तं प्रमाणं पुरुषमानं यैरत्युच्चत्वात् । यदुक्तं नैषधे—'जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्' इति । पुनः जिह्मं वक्त्रं गच्छन्तीति । यदुक्तम्—'कुटिलगतिः कुटिलात्मा कुटिलशीलसंपन्नः' इति मौलार्थे । कुटिलं चङ्क्रमणम् । यदुक्तम्—'जडकिम्मेकममहवसइ खलसंपयपामंति । त

चतुरंगं तुरंगजिम वंकापायठवन्ति ॥' इति । जाल्यश्वा हि सदश्ववारे समाखडे अतिचञ्च-
लकुटिलगामिनो भवन्तीति ख्यातिः । पुनः किंभूताः । अमर्षणाः कोपनाः । कस्यापि
वचनमात्रमपि न सहन्ते । अमर्षभाजः परोपरीर्ष्याजुषः । तत्त्वार्थे कोपकलिताः । यदु-
क्तम्—'दुब्बलकन्नावंकमुह बहुभोअणा सरोस । जेता तुरियां होइ गुण ते ता नरवइ
दोस ॥' इत्युक्तेः । सुप्तं निद्रां प्रमादमज्ञानं परोपकारादिकरणे निद्रां बिभ्रतीति । तत्त्वार्थे
बहुप्रमिला रणतूररावाकर्णेने जाग्रतीति जनप्रसिद्धिः । अतः कारणात्खलोपमाः सन्ति ।
च पुनः रथाः कामचारिणः अतिशयेन वाताधिकवेगेन चरन्ति प्रचलन्तीत्येवंशीलाः ।
के इव । खिन्ना इव । यथा विटाः कामं स्वेच्छया अथ वा कामेन कंदर्पचेष्टया मदविह्व-
लत्वेन वा चरन्ति व्यवहरन्तीत्येवंशीला भवन्ति । पुनः किंभूताः । स्वमात्मानं वहन्ति
शुभस्थानं सुमार्गं वा नयन्तीति स्ववाहिनो वृषभास्तेषां बन्धविधायिनः योक्तृ(ग्य)ब-
न्धकारिणः । तथा खिन्ना स्ववाहिनीमाजीविकादिकारिणां कुकर्म्मरतत्वेन बन्धवधाद्यव-
स्थायां स्वदानादिना मोचयितृणामपि ऋणप्रत्यर्पणानध्यवसायेन कथंचिदभ्याख्यान-
प्रदानादिना अनार्यत्वात्तेषां साधूनामुपकारिणामपि नियन्त्रणां निर्मापयन्तीत्येवंशीलाः ॥

अमी नृशंसाः परधातिनः क्षितेः शतक्रतो शल्यजुषः पदातयः ।

इयं च लक्ष्मीः करिकर्णतालवच्चलानिलान्दोलितकेतुवत्पुनः ॥ १६८ ॥

हे क्षितेः शतक्रतो भूजम्भारे, अमी पदातयो नृशंसाः क्रूराः । तथा परान् शत्रून्
खल्यतिरिक्तानन्यान्वा घातयन्तीत्येवंशीलाः । शल्यानि शस्त्राणि कुन्तान्वा । 'पर-
स्पोल्लासितशल्यपल्लवे । मृषा मृधं सादिवले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥'
इति नैषधे । 'शल्यं शस्त्रं कुन्तश्च' इति तद्वृत्तिः । तथा समरावसरे शरीरान्तःप्रवि-
ष्टानि लोहशल्यानि वा । तथा रागद्वेषद्रोहादिशल्यानि वा जुषन्ते भजन्तीति शल्यजुषो
वर्तन्ते । च पुनरियं लक्ष्मीः चला चपला वर्तते । किंवत् । करिणां दन्तिनां कर्णतालवत् ।
पुनरनिलेन प्रबलपवमानेनान्दोलितो वेल्लितस्तरलीकृतो यः केतुः प्रासादशिरःशिख-
रस्थायुकध्वजस्तद्वत् ॥

इदं च राज्यं नरकप्रतिश्रुतेः सुभूमभूर्भुवोरिवास्ति लग्नम् ।

परं पुनः कारणमस्ति संसृतेर्नभोम्बुदाम्भोऽङ्कुरसंततेरिव ॥ १६९ ॥

हे नृप, च पुनरिदं श्रीमदादिमहामण्डलीकैः सम्राड्भिः भुज्यमानं राज्यं समग्रदिग-
न्तभूमण्डलप्रभुता सुभूमनाम्नो भूर्भुवर्भूमीसार्वभौमस्य चक्रवर्तिन इव नरकस्य सप्तमदुर्गतेः
प्रतिश्रुतेरङ्गीकारस्य लग्नं प्रतिभूः साक्षिकमिवास्ति । च पुनरिदं राज्यं राज्ञो भावो
राज्यं भूपतित्वं संघतेः संसारस्य परं प्रकृष्टं कारणं हेतुरस्ति । किमिव । नभोम्बुदाम्भ
इव । यथा श्रवणवारि अङ्कुरसंततेर्धान्यतृणादिप्ररोहपरम्परायाः परमं कारणं विद्यते ॥

भवन्ति योग्या विभवा भवादृशां न काबिलक्ष्माधव मादृशां पुनः ।

यदन्तरायं प्रणयन्ति मुक्तिपूः प्रयायिनां दुःशकुना इवाङ्गिनाम् १७०

हे काविलनाम्नो मुद्गलमण्डलस्य श्रीमज्जन्मजनपदस्य क्षमाधव चक्रवर्तिन्, अनी विभवा विशिष्टराज्यादिलाभाकलिताः भवा उत्पत्तय इत्यर्थध्वनिरपि । विभवा विभूतयः धनधान्यद्विपदचतुष्पदसंपदः भवाहशां सांसारिकसुखाभिलाषिणां युष्मादृशमेव योग्या उचिताः । न पुनर्माहशां विमुक्तसर्वसङ्गानां निवृत्तिनितम्बिनीविनिर्मिताविरलविलासास्वादरसिकायितमनसां साधूनाम् । यत्कारणादमी विभवा विशिष्टा विरुद्धा वा भवाः जन्मपरम्पराः अथ वा धनधान्याद्युपरि अतिमूर्छावत्तया विशेषेण सूक्ष्मवादरादिभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिनिगोदाधिक्येन भवः संसारो येभ्यस्ते विभवा मुक्तिपुरि सिद्धिर्नगरी प्रयान्ति गच्छन्तीत्येवंशीलानामङ्गिनां भविकजनानां दुःशकुना इव प्रतिकूलविहगा इव विघ्नमन्तरायं कुर्वन्ति । यतः सप्रन्थाः मोक्षं गन्तुमशक्तास्ततो निर्ग्रन्थत्वमेव वरं शिवपदप्राप्तिसाधनम् ॥

शिखामणेस्तस्य निरीहताजुषां बलाहकस्येव निशम्य निःस्वनम् ।

मुदाविरासीदवनीशमानसे विदूरभूमाविव बालवायुजम् ॥ १७१ ॥

अवनीशस्य विश्वभराभर्तुरकब्बरसाहेमानसे हृदये सुत् प्रमोद आविरासीत्प्रकटीभवति स्म । किमिव । बालवायुजमिव । यथा विदूरनाम्नो भूधरस्य भूमौ रत्नोत्पत्तिपृथिव्यां बालवायुजं वैदूर्यरत्नमाविर्भवति । किं कृत्वा । निरीहताजुषां निर्गता ईहा सर्वेष्वपि पुत्रकलत्रधनप्रमुखसांसारिकानुषङ्गेषु स्पृहा वाञ्छा येषां ते निरीहास्तेषां भावं जुषन्ते सेवन्ते इति निरीहताजुषस्तेषां निःस्पृहत्वभाजां वशिनां शिखामणेः चूडामणेः शिरोरत्नस्य सूर्योर्निःस्वनं पूर्वोक्तवस्तुपादाननिषेधसूचकवाचं निशम्य श्रुत्वा । कस्येव । बलाहकस्येव । यथा मेघस्य निःस्वनं बालवायुजं शृणोति । वर्षाकाले हि सजलजलदगजितमाकर्ष्य विदूरपर्वतक्षितौ वैदूर्यरत्नशलाकाः प्रादुर्भवन्तीति ख्यातिः । अधुनापि यथा अर्बुदाद्यचलवंशभूमीषु प्रथमवृष्टिजलक्लिन्नमेदिनीषु वंशाङ्कुरा भुवं निभिय निर्गच्छन्तः श्रूयन्ते दृश्यन्ते च कैश्चित्तद्वदिति ॥ इति साहिदीयमानवस्त्वनुपादाने सूरिप्रत्युत्तरवचः ॥

शशंस सूरिं कमिता ततः क्षितेः किमप्युपादाय कृतार्थ्यतामहम् ।

न यत्करः पात्रकरोपरि स्म भूत्स मोघजन्मा विपिनप्रसूनवत् ॥ १७२ ॥

ततो मुदाविर्भवानन्तरं क्षितेः कमिता भूमीकामुको वसुधाधवोऽकब्बरः । 'इत्यमी वसुमतीकमितारः' इति नैषधे । सूरिं प्रति शशंस शंसति स्म वभाषे । किमुवाच । हे प्रभो, किमपि किंचिदपि मदीयं मामकीनं वस्तु पदार्थमुपादाय गृहीत्वा प्रमुणाहं कृतः सिद्धोऽर्थः कार्यं यस्य स कृतार्थः कृतकृत्यः कृतार्थं करोतीति कृतार्थयति ततः कर्मोक्तौ कृतार्थतां सफलः क्रियताम् । हि यस्मात्कारणात् यत्करो यस्य पाणिः पात्रस्य साधो-

दानार्हस्य दानावसरे करस्य हस्तस्योपरिष्ठात् स भूत् नाजनि न संजातः । स पुमान् विपिनप्रसूनवत्कान्तारकुसुममिव मोघजन्मा निष्फलावतारो जातः ॥

नवोद्धृतं दध्न इवाम्बुधेः सुधां मृदश्च हेमोपकृतिस्तनोरिव ।

श्रियस्तथा सारमिदं मुनीन्द्र यत्क्रियेत सा पात्रकराब्जसङ्गिनी ॥१७३॥

हे मुनीन्द्र, तथा तेन प्रकारेण श्रियः लक्ष्म्या इदमेतत्सारं वर्तते । यत्सा श्रीः पात्रस्य साधोः कराब्जस्य पाणिपद्मस्य सङ्गोऽस्ति अस्याः इति पात्रकराब्जसङ्गिनी क्रियेत विधीयेत । तथा कथम् । यथा दध्नः पयःसुतस्य सादरं नवोद्धृतं नवनीतं म्रक्षणमास्ते । पुनर्यथा अम्बुधेः क्षीरसमुद्रस्य सारं सुधां पीयूषम् । नवीनसृष्टिनिर्माणमनुजाभ्यवहारेषु धान्येषु जुगुप्सां कुर्वाणैर्गीर्वाणैः स्वाशनार्थमभ्यर्थितो मधुमथनः प्रथमतः पीयूषार्थमेव पयोनिधिं मथितवानिति श्रुतिः । पुनर्यथा मृदो धातुमृत्तिकायाः सारं हेमस्वर्णम् । पुनर्यथा तनोः शरीरस्य सारमुपकृतिरुपकारः । यदुक्तम्—‘दानवित्तादतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथायुषः । परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥’ इत्युक्तेः ॥ इति गुरोर्दानाय पुनराग्रहः ॥

ततो बभाण प्रभुरब्धिनन्दना स्वतन्त्रचारा व्यभिचारिणीव या ।

श्रयेत तां गन्धकलीमलीव को वृणोमि किं चान्यदहं महीमणे १७४

ततो नृपवाक्यानन्तरं प्रभुर्हीरसूरिर्वभाण भाषते स्म । हे महीमणे रत्नगर्भात्, या अब्धिनन्दना क्षीरनीरनिधितनया श्रीर्व्यभिचारिणीवासतीव स्वतन्त्रं स्वेच्छया चरति भ्राम्यतीत्येवंशीला स्वतन्त्रं चारो विचरणं भ्रमणं यस्याः सा स्वतन्त्रचारा आस्ते । ततः कारणात् तां पांसुलामिव श्रियं को महात्मा उत्तमः पुमान् श्रयेत भजेत । अपि तु न कोऽपि । कामिव । गन्धकलीमिव । यथा अली शृङ्गो भ्रमरः गन्धकर्ली चम्पककल्किं नाश्रयेत् । ‘न षट्पदो गन्धकलीमजिघ्रत’ इति सूक्ते । किं च मत्कथितमवधार्यताम् । एतेषु भवत्कथितपदार्थेषु मम प्रयोजनं नास्ति । अहं किञ्चिदन्यत् वृणोमि भवत्पार्श्वे याचे ॥

निवेशिता ये नरकेषु नारका इवाङ्गिनो गुप्तिषु सन्ति ते विभो ।

विमुञ्च तानित्थमुदीर्य तस्थुषि त्रतीश्वरेऽभाषत भूवृषा पुनः ॥१७५॥

पुनः प्रभुयाच्चोपरि भूवृषा भूमीन्द्रोऽभाषत । कस्मिन् सति । इत्थममुना प्रकारेण उदीर्य उक्त्वा याचनां कृत्वा त्रतीश्वरे सूरिन्द्रे तस्थुषि स्थिते सति मौनमवलम्बमाने सति । इत्थं कथम् । हे साहे, नरकेषु दुर्गतिषु नारका इव ते तव गुप्तिषु कारागारेषु ये अङ्गिनः प्राणिनो जना निवेशिताः क्षिप्ताः सन्ति तान् विमुञ्च स्वैरचारिणो मुक्तलान् कुरु ॥ इति गुरोर्विन्दिमोचनार्थं याचना ॥

पृष्ठत्सपत्नैरिव वन्यजन्तवः शकुन्तपोता इव वा शशादनैः ।

विसारवारा इव देव धीवरैरमीभिरुद्वेगमवापिता जनाः ॥ १७६ ॥

हे देव भट्टारक, अमीभिः कारागारवासिभिः अन्यायाजन्यकारिभिः नृशंसैर्जनाः प्रजा लोकाः उद्वेगं संतापमकराकरदण्डादिकरणैर्महोपद्रवमवापिता लम्बिताः । कैरिव । पृष्ठत्सपन्नैरिव । यथा पृष्ठतां मृगविशेषाणां सपन्नैः प्रत्यर्थिभिः केसरिभिः । ‘पृष्ठत्कि-
शोरी कुशतामसंगतम्’ इति नैषधे । वन्या वने भवाः मृगशशशम्बरादयो जन्तवः प्राणिनः काननसत्त्वाः संताप्यन्ते । पुनः कैरिव । शशादनैरिव । यथा श्येनैः शकु-
न्तानां विहंगमानां पोता बालाः शकुन्ताः पोताश्च लघुवृद्धपक्षिण उद्विज्यन्ते । ‘श्येनः
पत्नी शशादनः’ इति हैम्याम् । तथा च—‘नभसि महसां ध्वान्तध्वाङ्गप्रमापणपत्रिणामिह
विहरणैः श्येतां पातां रवेरथ धारयन् । शशविशशनत्रासादाशामयाचरमां शशी तद-
धिगमनात्तारापारापतेरुदडीयत ॥’ इति नैषधे । पुनः धीवरैरिव । यथा कैवर्तकैर्विसार-
वारा मत्स्यगणा उद्वेगं प्राप्यन्ते । ‘विसारः शकली शक्ती शम्बरोऽनिमिषस्तिमिः’ इति
हैम्यां मीननामानि ॥

अमी प्रजाम्भोजरमा हिमागमा मुनीन्द्र नीतेः परिपन्थिका इव ।

पचेलिमेनेव निजांहसा मया निगृह्य तच्चारकगोचरीकृताः ॥ १७७ ॥

हे मुनीन्द्र, यत्कारणादमी बन्दिजनाः नीतेर्यायस्य शिष्टाचारस्य परिपन्थिकाः
प्रतिपक्षा इव वर्तन्ते । किलक्षणाः । प्रजाः प्रकृतयः नगरग्रामजनपदादिवासिजना ए-
वाम्भोजानि पद्मानि सुकुमारत्वात्कमलतुल्यास्तेषां रमा लक्ष्म्यः तासु हिमागमाः हेम-
न्तशिशिरसदृशाः । यथा हिमागमेन लक्ष्मीरादाय । विच्छायाकृत्येत्यर्थः । कमलानि
गाल्यन्ते, तथा एभिरपि श्रीणां ग्रहणे कथैव का जीवा अभिगृह्यन्ते जनानां तस्मा-
त्कारणानीतिविदा न्यायनिष्ठेन मया निगृह्य निग्रहं कृत्वा निगडयित्वा च चारकगोचरी-
कृताः कारागारनिवासिनो विहिताः । उत्प्रेक्ष्यते—पचेलिमेन परिपाकं प्राप्तेनोदयाव-
निकायामागतेन निजांहसा स्वकीयपापेनेव । ‘अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमाप्यते’
इति वचनात् ॥

अगण्यपुण्यादिव पक्त्रिमान्निजात्तथापि वाक्याद्यतिजम्भविद्विषाम् ।

समुद्धृता दुःखमहान्धकूपतो यदृच्छयामी विचरन्तु बन्दिनः ॥ १७८ ॥

हे प्रभो, अमी बन्दिनो बन्दिजनाः कारागारीभूताः अपि यदृच्छया स्वतन्त्रं वि-
चरन्तु स्वस्थाने गत्वा खैरं क्रीडन्तु । किंभूताः । यद्यप्यमी हिंसा इवानेकसत्त्वोद्वे-
जकाः सन्ति, तथापि यतिजम्भविद्विषां वाच्यमवासवानां तत्रभवतां भवतां वाक्या-
न्मदुग्रहकारिवचनात् दुःखमेव महानतिगुरुः पातालविवरोपमो योऽन्धकूपो घोरा-
न्धकारनिचितावटस्तस्मादुद्धृता अर्थात्तत्र पूर्वं पतिताः पश्चान्निष्काशिताः । उत्प्रेक्ष्यते—
निजादात्मनैव प्राचीनजन्मन्याचीर्णादत एव स्वकीयात्तथा पक्त्रिमात्परिपाकभावं प्राप्ता-
दुदयावलिकायामायातात् तथा अगण्याद्रणयितुमशक्यादतिबहुलात्पुण्यात्सुकृतादिव ॥
इति सूरिवाक्याद्वन्दिमोचनम् ॥

इयं तु पूज्येषु परोपकारिता प्रसादनीयं निजकार्यमप्यथ ।

तमूचिवानेष यदङ्गिनोऽखिलानसूनिवावैमि ततः परोऽस्तु कः॥१७९॥

हे सूरयः । तु इति विशेषद्योतकम् । अवधारयन्तु वा । 'तु विशेषेऽवधारणे' इत्यनेकार्थः । इयं वन्दिजनमोचनलक्षणा पूज्येषु भुवनजनाभ्यर्चनीयेषु श्रीमत्सु केवलं परोपकारिता परेषु आत्मव्यतिरिक्तेषु जीवेषु उपकारिता उपकारकरणशीलता परोपकर्तृत्वमेव । अपि पुनर्निजकार्यं स्वकृत्यमपि प्रसादनीयं प्रसाद्य सद्योवाच्यम् अथ इत्युक्तेरनन्तरमेष सूरिस्तमकव्वरं प्रति ऊचिवान् कथयति स्म । हे साहे, अहमखिलान् समस्तानपि अङ्गिनो जन्तून् असून् स्वप्राणानिवावैमि निजजीवजानामि । ततः तर्हि परः कोऽस्तु । न कोऽपीत्यर्थः ॥

सुखं निखेलन्तु विलासविष्किरास्त्वया विमुक्ता निजपञ्जरात्पुनः ।

निरोधदुःखं स्वगृहैर्वियोगिनस्तुदत्यमून्यतुहिनं तरुनिव ॥ १८० ॥

हे साहे, निजपञ्जरात्स्वकीयकाष्ठकोष्ठात्त्वया विमुक्ताः श्रीमता निष्कास्य रोधा-न्मुक्तला मुक्ताः स्वेच्छाचारिणः कृताः विलासविष्किराः क्रीडाविहंगमाः पुनः पूर्ववत्सुखं सुखेन निखेलन्तु रमन्ताम् । यत्कारणात्स्वेषामात्मनां गृहैर्दारैर्वियोगो विरहोऽस्त्येषामिति वियोगिनस्तानमून्विहंगान्निरोधो निरुध्य रक्षणं पञ्जरक्षेपणं च तस्य दुःखमसातं तुदति पीडयति । किमिव । तुहिनमिव । यथा तुहिनं हिमं हिमानीव तरु-न्पीडयति दहति ॥

नभश्चराम्भश्चरभूमिचारिणां वपुष्मतां स्वैरसुखप्रचारिणाम् ।

निभालयन्तीतिदृशा चराचरं भवानिशं साधुरिवाभयप्रदः ॥ १८१ ॥

हे साहे, नभस्याकाशे चरन्तीति नभश्चराः पक्षिणः, तथा अम्भसि पानीये चरन्तीति अम्भश्चारिणो मत्स्या मकरादयः, तथा भूमौ पृथिव्यां चरन्तीत्येवंशीला भूमिचारिणः शशशम्बरवराहहरिणादयो वन्या गोमहिषपश्वेडकादयो ग्रामीणास्तेषां वपुष्मतां देहिनां जन्तूनां त्वं नीतिदृशा न्यायचक्षुषा चराचरं स्थावरजङ्गमरूपं जगन्निभालयन् स्वात्मवत्सर्वेऽपि सत्त्वाः पालनीया इति बुद्ध्या पश्यन्ननिशं निरन्तरं साधुरिव पृथिवीजलानलवायुवनस्पतित्रिसाभिधानानां षण्णां कायानां पालयितेव अभयं जीवितदानं प्रददातीत्यभयप्रदो भव एधि । किं च । वपुष्मतां स्वैरं स्वेच्छया सुखेन मनसा तेन च प्रचरन्तीत्येवंशीलास्तेषाम् ॥ इति पञ्जरपक्षिमोचनमार्गणम् ॥

इति निशम्य द्योदयगर्भितं क्षितिपतिर्यतिशीतरुचेर्वचः ।

कवितृकाव्यमिवाप्रतिमं गुणैर्मनसि तं प्रशशंस चमत्कृतः ॥ १८२ ॥

क्षितिपतिरकव्वरसाहिः चमत्कृतः आश्चर्यं प्राप्तः सन् मनसि चित्ते एव गुणैः शमदमकृपासत्त्वादिभिरप्रतिममसाधारणं तं सूरिं प्रशशंस श्लाघते स्म । किं कृत्वा । य-

तिशीतरुचेर्मुनिमृगाङ्गस्य इत्यमुना बन्दिविहगादिभोचनद्वारा दयाया यावज्जगज्जन्तूपरि
कृपाया उदयः प्रादुर्भावः गर्भे मध्ये जातोऽस्येति तद्दयोदयगर्भितं करुणाकलितं वचो
विभुवाक्यं निश्चयं श्रुत्वा । वचोऽपि किंभूतम् । गुणैर्निःस्पृहताशान्तरसादियुक्त-
तापरोपकारितादिभिरप्रतिममनुपमम् । किमिव । कवितृकाव्यमिव । यथा कवितुः कवेः
काव्यं कवित्वं गुणैरुपमोत्प्रेक्षाप्रसादकान्तिश्लेषालंकारादिभिरप्रतिमं न विद्यते प्रतिमा
प्रतिबिम्बं यस्य तादृशं स्यात् ॥

मनसा साहिः किं प्रशंसं । तदेवाह—

प्रावीण्यमन्यहितकर्मणि पश्यतैषां

तथ्यं यतो व्यवसितिर्महतां परार्था ।

विश्वं शशीव धवलत्यखिलं कलाभि-

रम्भोभरैर्जलधरोऽपि धरां धिनोति ॥ १८३ ॥

मूर्ध्ना दधाति वसुधां भुजगाधिराजो

नैःस्थं निहन्ति मणिरध्वरभागभाजाम् ।

आमोदयन्ति हरितो हरिचन्दनानि

भिन्दन्ति संतमसमम्बरकेतवोऽपि ॥ १८४ ॥

साला दिशन्ति च फलानि पचेलिमानि

वार्ध्वेशा अपि वहन्ति पयःप्रवाहान् ।

विश्वोपकारकरणैकनिबद्धकक्षै-

रेभिर्बभूव वसुधा किमु रत्नगर्भा ॥ १८५ ॥

एषाममीषां सूरीणामन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां जन्तूनां हितकर्मणि इष्टनिर्माणे प्रा-
वीण्यं चातुर्यं पश्यत भो लोकाः, विलोकयत । यतः कारणान्महतामुत्तमानां व्यवसिति-
र्व्यापारः प्रयत्नो वा परेषामेवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तादृश्य इति । तथा सत्यां तदेव दर्श-
यति—शशी चन्द्रमाः कलाभिश्चन्द्रिकाभिः कृत्वा विश्वं जगद्धवलत्युज्ज्वलीकरोति ।
किंभूतं विश्वम् । अखिलं समस्तमपि । अपि पुनर्जलधरो मेघोऽपि अम्भोभरैर्वृष्टिरूपैः पयः-
समूहैः कृत्वा धरां वसुधां भूमीं धिनोति निदाघदाघनिवारणवाङ्कुरनिकुरम्बकरणादिना
प्रीणयति । पुनर्भुजगाधिराजः शेषनागेन्द्रो मूर्ध्ना मस्तकेन वसुधां दधाति विभर्ति । पुन-
रध्वरभागभाजामध्वराणां यज्ञानां भागमंशं भजन्तीति देवाः क्रतुमुक्त्वात् । ‘खाहा-
स्वधाक्रतुसुधाभुज आदितेयाः’ इति हैम्याम् । ‘मखांशभाजां प्रथमो निगद्यसे’ इति
रघौ । ‘मुखं मखाखादविदां वदन्ति’ इति नैषधे । मखाखादविदां देवानां मुखं व-
हिरित्यर्थः । ‘बर्हिर्मुखा निमिषदेवतनाकिलेखाः’ इति हैम्याम् । तेषां सुराणां मणि-

श्चिन्तारत्नम् । नैःस्थं दारिद्र्यं निहन्ति नाशयति । पुनर्हरिचन्दनानि श्रीखण्डपादपाः
हरितो दिश आमोदयन्ति सौरभयन्ति सुरभीकुर्वाणाः सन्त आमोदयन्ति सप्रमोदान्
कुर्वन्ति हर्षयन्ति पुनरम्बरकेतवो भास्कराः संतमसमन्धकारं भिन्दन्ति निर्दलयन्ति ।
च पुनः सालाः सर्वजातीयाः पादपाः पचेलिमानी फलानि दिशन्ति यच्छन्ति । तथा
वार्धेः समुद्रस्य वशाः पत्न्यो नद्योऽपि पयःप्रवाहान् पानीयपूरान् वहन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—
विश्वेषां जगतां समस्तजन्तुजातानां वा य उपकारः समीहितकरणं तत्र एका अ-
द्वितीया निबद्धा रचिता कक्षा स्त्रीकारो यैस्तादृशैरेभिश्चन्द्रादिपदार्थैः सूरिभिर्वा वसुधा
एषा विश्वंभरा रत्नगर्भा बभूव रत्नानि मणयो रत्नपुरुषा वा गर्भे मध्ये यस्याः तादृशी
जातेव । रत्नगर्भैर्लभिधानमेभिर्भूमेरभूदिव ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

शशंस साहिर्जनयन्ति मन्मनोविनोदमेते विबुधा इव प्रभो ।

अमूनपरं नाहमैवमि विभ्रतः शमीद्रुमान्वह्निमिवार्तिमन्तरा ॥ १८६ ॥

साहिरकन्वरः शशंस कथयति स्म । हे प्रभो, एते विहंगमा मन्मनोविनोदं मम
मनसश्चित्तस्य विनोदं क्रीडां जनयन्ति । के इव । विबुधा इव । यथा पण्डिता विवि-
धशास्त्रगोष्ठीकाव्यादिरसैः मनोविनोदमुत्पादयन्ति । यदुक्तम्—‘गीतशास्त्रविनोदेन
कालो गच्छति धीमताम्’ इति । परं पुनरहममून् विहगान् अन्तरा मनोमध्ये अर्तिं
पीडाञ्चितां वा विभ्रतो धारयतो नावैमि न जाने । कानिव । शमीद्रुमानिव । यथा श-
मीवृक्षाः ‘खेजडी’ इति प्रसिद्धाः अन्तरा मध्ये वह्निमनलं विभ्रति । ‘शमीमिवाभ्यन्तर-
लीनपावकाम्’ इति रघुवंशे ॥

शापेन कस्यापि मुनेरिवानिशं निरुध्यमाना विविधाः खगा मया ।

निर्मुक्तिभाजो भवदीयभाषितैरेते स्वतन्त्रं विचरन्तु सत्वरम् ॥ १८७ ॥

हे प्रभो, एते विविधा नानाजातीया अनेकजातिजन्मानो मयूरशुकसारिकाकाकपि-
कचकोरप्रमुखाः खगाः विहंगमाः भवदीयैः श्रीमत्संबन्धिभिः भाषितैः कथितैः निर्मुक्ति
बन्धनं परेभ्यो मोक्षं भजन्तीति निर्मुक्तिभाजः मया विमुक्ताः सन्तः सत्वरं शीघ्रं
स्वतन्त्रं स्वेच्छया विचरन्तु सुखं स्वैरमितस्ततो व्रजन्तु विशिष्टां मनोभिलषितां वा
चूर्णं कुर्वन्तु । खगाः किं क्रियमाणाः । मया अनिशं निरन्तरं निरुध्यमानाः पञ्ज-
रादिषु प्रक्षिप्य संरक्ष्यमाणाः रोधं प्राप्यमानाः । उत्प्रेक्ष्यते—कस्यापि कोपनस्य
दुर्वासः प्रमुखस्य कस्यचिदनिर्दिष्टनाम्नो मुनेस्तापसस्य आक्रोशवाक्येनेव अनिष्टवद्वसेत् ॥

भास्वत्करा इव सुदूरभुवः समेता

गृहीत दन्तिहयहेममुखं न किञ्चित् ।

तेन प्रसाद्य किमपि स्वविधेयमेष

प्राप्यः कृतार्थपदवीमिति भूभुजोचे ॥ १८८ ॥

भूभुजा साहिना इत्यमुना प्रकारेण ऊचे कथ्यते स्म । इति किम् । हे श्रीसूरयः, यूयं सु अतिशयेन दूरभुवः दविष्टस्थानाद्गन्धारपुरान्मदाकरणवशात्समेताः इह पादा-
वधारिताः । के इव । भास्वत्करा इव । यथा सूर्यकिरणा अतिदूराद्दशधिकाष्टयोजनश-
तस्थायुकार्कमण्डलादायान्ति । अथ वा गमनानन्तरं मया प्रदीयमानं दन्तिनो मदो-
द्धुरगन्धसिन्धुराः, हया जात्यानेकजातीयोत्तुङ्गतुरंगमाः, हेम स्वर्णम्, तत्प्रमुखं तदादिकं
किञ्चिन् गृहीत नादध्वम् । तेन कारणेन किमपि स्वविधेयमात्मीयकार्यं प्रसाद्य प्रसन्नी-
भूय कथयित्वा एषोऽहं कृतार्थपदवीं कृतकृत्यतां प्राप्यो लम्भयितव्यः ॥

सम्यग्विमृश्य गुरुणा निजभूमिभर्तु-

रामुष्मिकैहिकसुखप्रतिभूभविष्णुः ।

क्षीराब्धिसूनुरिव पर्युषणाष्टसंख्य-

घसेष्वमारिमवनीरमणाद्ययाचे ॥ १८९ ॥

गुरुणा हीरविजयसूरिणा सम्यक् चित्तावधानदानपूर्वकं विचारयित्वा अवनीरमणा-
दकब्बरसाहिपाश्चात्पर्युषणायाः सांवत्सरिकपर्वणः वसुमिता अष्टसंख्या प्रमाणं येषां
तेऽष्टसंख्या घन्ना वासरास्तेषु अमारिं जगजीवामयप्रदानं ययाचे अभ्यर्थयामासे । का
इव । क्षीराब्धिसूनुरिव । यथा केनचित्सुंसा वदान्यनृपपाश्चात्पाथोधिनन्दना श्रीर्याच्यते ।
किं लक्षणाममारिम् । निजस्य सूरेरात्मनः भूमिभर्तुरकब्बरस्यात्मनश्च आसुष्मिकं स्व-
र्गापवर्गभवं तथा ऐहिकं पुत्रकलत्रधनधान्यमाण्डलीकसार्वभौमादिपदवीसंभवं च य-
त्सुखे साते तयोः प्रतिभूभविष्णुः साक्षिणीभवनशीला ॥

उद्वेलिताखिलशरीरिक्पपापयोधी-

न्प्रेक्ष्य प्रभून्हृदि चमत्कृतिमादधानः ।

चत्वार्यहान्युपरि सन्तु भवद्वृतानां

चूलावदत्र मम तं नृप इत्यवादीत् ॥ १९० ॥

नृपः साहिस्त्वं सूरिं प्रति इत्यवादीत् इदं वदति स्म । इति किम् । हे प्रभो, भव-
द्विद्वृतानां श्रीमद्याचितानां पर्युषणाष्टदिनानामुपरि अधिकानि मम पुण्यार्थं चत्वारि
अहानि दिनानि सन्तु भवन्तु । किंवत् । चूलावत् । यथा दशवैकालिकादिकानां केषां-
चिच्छास्त्राणामुपरि चूला भवति, यथा वा सप्तदशसहस्रयोजनप्रमाणलवणसमुद्रजला-
नामुपरिष्ठाजलशिखा जायते, तथैवैते वासराः श्रीमद्वृतेभ्यो दिवसेभ्योऽभ्यधिका
भूयासुः । नृपः किं कुर्वाणः । वेलां कूलभूमीमतिक्रान्त उद्वेल उत्कण्ठः । उद्वेलता
संजाता अस्मिन्नित्युद्वेलितः । अखिलानां समग्राणां शरीरिणां जलस्थलाम्बरचारिणां
प्राणिनामुपरि कृपा दयोदयः तद्रूपः पयोधिः समुद्रो येषां तादृशान्प्रभून् हीरसूरीन्प्रेक्ष्य
दृष्ट्वा चमत्कृतिं यत्र तत्राप्येतेषां केवलं सर्वप्राणिषु करुणापरिणाम एव तदहो

महानुभावा एवेत्याश्चर्यम् । आ सामस्त्येन सर्वाङ्गीणोल्लसद्रोमाश्चक्रुः कत्वेन दधानः
विभ्राणः ॥

प्रारभ्यमेव कनभोदशमीं शमीश

यावन्नभस्य बहुलेतरषष्टिका स्यात् ।

तावच्चरन्तु सुखमङ्गिगणास्त्रिलोकी-

जीवातुनेव भवतां वचसेत्युदित्वा ॥ १९१ ॥

स्वाह्वाङ्कितं कजसुहृन्मितवासराणां

विभ्रद्विचित्ररुचिकाञ्चनचारिमाणम् ।

अम्भोनभोवनतनूमदमारिसत्कं

प्रादायि तेन गुरवे फुरमानषट्कम् ॥ १९२ ॥

तेनाकम्बरसाहिना स्वाह्वाङ्कितं निजनामकलितम्, तथा कजसुहृदः कमलबान्धवाः
सूर्याः तैर्मितानां प्रमाणीकृतानां द्वादशसंख्याकानां वासराणां दिवसानाम्, तथा अम्भसां
पानीयानाम्, तथा नभसाम् । विचित्राणामित्यर्थः । तथा वनानामुपलक्षणाज्जनपदनगरपु-
रग्रामाणां ये तनूमन्तः अम्भश्चरा मत्स्यकच्छपादयः नभश्चरा मयूरशुककलिबिङ्कादयः
वनचराः शशशम्बरहरिणादयः ग्रामादीनां महिषमेषादयः एतेषां जीवानाममारिः
जीववत्पालनदया तत्सत्कं तत्संबन्धि स्फुरन्मानानां साहिनाममुद्राङ्कितलेखविशेषाणां
षट्कं गुरवे हीरविजयसूरये प्रादायि प्रदत्तम् । किं कुर्वत् । विशिष्टानि विचित्राण्याले-
ख्यानि यत्र रुच्या स्फुरज्ज्योतिषा युक्तस्य काञ्चनस्य । अथ वा विशिष्टा मनोज्ञा चित्रा
विस्मयकारिणी । अथ वा विचित्रा नानाप्रकारा रुचिः कान्तिर्यस्य तादृशस्य काञ्चनस्य
कनकस्य चारिमाणं मनोहरतां विभ्रद्धारयत् । दत्तं किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेणो-
दित्वा कथयित्वा । इति किम् । त्रिलोक्यास्त्रिभुवनस्य जीवातुना जीवनौषधिनेव । आका-
शेन खला ऊर्ध्वलोकः, बिलादिना अधोलोकः, भूमिर्मध्यमलोकः, इति त्रिलोकी जाताः ।
भवतां श्रीपूज्यानां वचसा अङ्गिगणा जन्तुव्रजाः तावत्तावन्तं समयं सुखं सातेन चरन्तु
पर्यटयन्तु भक्षयन्तु वा यदृच्छया । 'चर गतिभक्षणयोः' अर्थत्वात् । किं यावत् हे
शमीश उपशमवतामवतंस, मेचकनभोदशमीमारभ्य श्रावणबहुलदशमीदिनमादौ कृत्वा
इदं तु गुर्जरमण्डलानुगतं वचः अन्यदेशापेक्षया तु भाद्रपदकृष्णदशमी स्यादिति
श्रावणकृष्णदशमीं प्रथमं संस्थाप्य यावत् यावता कालेन नभस्य भाद्रपदमासस्य
बहुलेतरा शुक्ला अथ वा बहुलः कृष्णपक्षः तस्मादितरोऽन्यः शुक्लपक्षस्तस्य षष्टिका
षष्ठी तिथिः स्याद्भवेत् ॥ युगलम् ॥

व्यक्तिर्यथा प्रथममार्प्यत गुर्जराणां

सौराष्ट्रमण्डलफतेपुरदिल्लिकानाम् ।

द्वैतीयिकं सदजमेरुकृते तृतीयं

तुर्यं पुनर्निखिलमालवमण्डलस्य ॥ १९३ ॥

.....

..... ।

.....

..... ॥ १९४ ॥

तेषां षण्णामपि फुरमानानां व्यक्तिः पृथक् पृथक् कथनं यथेति ग्रन्थकृता प्रोच्यते । प्रथमं फुरमानं ग्रामनाम्नोः संस्काराभावः । क्वचिद्विद्यते क्वचनापि न । तेनात्रापि संस्कारो न कृतः । इति गुर्जराणां धरित्रीमण्डलस्य । सु शोभनो भरतसार्वभौमप्रदत्त-
देवदेशनामत्वात् राष्ट्रः सुराष्ट्रः, सुराष्ट्रः एव सौराष्ट्र इति सौराष्ट्र एव मण्डलः । अथ वा सौराष्ट्रनाम्नो युगादिदेवनन्दनस्य मण्डलो देशः सौराष्ट्रमण्डलः । तथा फतेपुरं साहिराजधानी तदाश्रयेण मेवातमण्डलमागतम् । तथा दिल्ली दिल्लीनामनगरी तत्कथनेन तत्पार्श्ववर्तिनोऽन्येऽपि मण्डलाः समायाताः । एतेषां मण्डलानां द्वितीयमेव द्वैतीयिकम् । स्वार्थे इकण् । तथा सन् प्रधानो योऽजमेरुदेशः तेन वनवकोटीकामरु-
स्थलीनागपुरादिदेशा लभ्यन्ते । तत्कृते तदर्थं तृतीयम् । पुनर्निखिलः समग्रोऽपि मालवमण्डलोऽवन्तिदेशस्तस्य । तद्ब्रह्मेण निखिलमपि दक्षिणदिक् तुर्यं चतुर्थम् । तथा श्रिया लक्ष्म्या लाभः प्राप्त्यर्थं तादृशेन लाभपुरेण लाभपुरदेशेन पञ्चापनाम्ना । मण्ड-
लेनेत्यर्थः । तत्समीपस्था अपि तद्ब्रह्मेण ज्ञेयाः । युनक्तीति तादृक् मुलताननामा नीहृजनपदः तयोर्द्वयमुच्चमुलतानादिभेदाद्युगमं तस्य कुसुमाश्रुगः स्मरस्तस्य बाणाः शरास्तेषां संख्या यस्य । पञ्चममित्यर्थः । पुनः साधुषु मुनिषु सिन्धुः समुद्रः स एव रसना मेखला यस्याः सा पृथ्वी तस्या रजनीश्वरश्चन्द्रः तस्य । एतावता यतिराजस्य हीरसूरेः स्वस्यात्मनः सवेशदेशे समीपे रक्षणकृते कदाचित्कस्याप्याकस्मिकागतस्य प्रत्य-
यकृते दर्शनार्थं स्वापनार्थं षष्ठं स्फुरमानमार्प्यत अर्पितम् ॥ युगम् ॥ इति पर्वुषणाद्वादशदिनामारिफुरमानप्रदानम् ॥

नैकक्रोशमितं न दृग्विषयभाक्पारं पयोराशिव-

त्कीडत्कुञ्जरवाजिराजिवनितामर्त्यव्रजभ्राजितम् ।

नानानीडजमीननीरभरितं तड्डामराख्यं सर-

स्तेभ्योऽदत्त निषिद्धमीननिधनं तद्विज्ञवाग्भिर्नृपः ॥ १९५ ॥

नृपोऽकम्बरस्तेषां सूरीणां विज्ञाः पण्डितशान्तिचन्द्रगणयस्तेषां वाग्भिः डाम-
रसरो मत्स्यीविज्ञस्त्युपदर्शकश्चोकोक्तियुक्तिभिः निषिद्धं निवारितं मीनानां मत्स्यानां
निधनं वधो यत्रैवंविधं तत्स्वयं साहिना खानितत्वान्महत्तया प्रसिद्धं डामर इत्याख्या

नाम यस्य तादृशं सरो महातटाकं तेभ्यो हीरविजयसूरिभ्यः अदत्त ददिवान् । किं-
भूतम् । नैके बहवः क्रोशा गन्व्यूतानि तैर्मायते स्म प्रमाणीक्रियते स्मेति द्वादशको-
शप्रमाणम् । पुनः किंभूतम् । दृशां चक्षुषां विषयं गोचरीं भजतीति तादृक् पारं पर-
तटं यस्यैवविधं न । अहंगोचरपारमित्यर्थः । किंवत् । पयोराशिवत् समुद्रमिव ज्ञायते ।
पुनः किंभूतम् । क्रीडन्तो जलकेलीं कुर्वाणा ये कुञ्जरा हस्तिनस्तथा वाजिनस्तुरङ्गमा-
स्तेषां राजयः श्रेणयस्तथा वनिता युवतयस्ताभिर्युक्ता मर्त्या मानवाः सतरुणीकाः
तरुणास्तेषां व्रजा गणास्तैर्भ्राजितं भूषितम् । पुनः किंभूतम् । नाना विविधजातिज-
न्मानो ये नीडजाः पक्षिणः तथा मीना मत्स्या जातयो यत्र तादृशेन नीरेण भरितं
संपूर्णम् ॥ इति डामरतटाकार्पणम् ॥

भूजानिरित्यालपति स्म सूरयः श्रीमद्गिरा मे न्यवसहया हृदि ।

हंसी पयोदध्वनिनैव मानसे पृच्छामि किं त्वेतदहं गुरुन्प्रति ॥ १९६ ॥

भूर्भूमी जाया यस्यासौ भूजानिः पृथ्वीपतिरित्यग्रे वक्ष्यमाणमालपति स्म कथया-
मास । हे सूरयः, श्रीमद्गिरा युष्माकं वाचा मे मम हृदि हृदये दया सर्वसत्त्वोपरि कृपा
न्यवसन्निवासं कृतवती । केव । हंसीव यथा पयोदध्वनिना पर्जन्यगर्जारवेण मराली
मानससरसि निवसति । मेघागमे हि राजहंसाः कलुषजलत्वादितो मानससरसि यान्तीति
कविसमयः । चम्पूकथायामपि 'प्रोषितकलहंसवयसि' । 'वर्षावर्णने प्रोषिता मानसं प्रति
प्रस्थापिता हंसपक्षिणो येन' इति तद्वृत्तिः । किं तु परं विशेषः प्रश्नो विद्यते । अहं
गुरुन् युष्मान्प्रति पृच्छामि ॥

कः प्रश्नस्तमेवाह—

अनेहसीव युग्मिनां न कोऽपि कं हनिष्यति ।

कदाचिदीदृशं दिनं समेष्यति क्षितौ प्रभो ॥ १९७ ॥

हे प्रभो, कदाचित् कस्मिन्नपि प्रस्तावे क्षितौ पृथिव्यामीदृशं दिनमेवंविधो वासरः समे-
ष्यति समायास्यति । यस्मिन् समये दिवसे वा कोऽपि लघुवृद्धोऽपि सिंहव्याघ्रादिहिं-
सकोऽपि कमत्तुङ्गमपि जन्तुं न हनिष्यति नैव व्यापादयिष्यति । कस्मिन्निव । अनेह-
सीव । यथा युग्मिनां युगलिकानां समरे अवसर्पिण्याः प्रथमद्वितीयतृतीयारकलक्षणे
काले कोऽपि न हन्ति ॥ इति सर्वजगज्जन्तुकृपाविषयः प्रश्नः ॥

कलौ युगे पाप्मपूर्णे दुर्लभं दिनमीदृशम् ।

इत्युक्ते गुरुणा किञ्चिद्विचिन्त्येत्यब्रवीन्नृपः ॥ १९८ ॥

पाप्मभिर्दुष्कृतैः पूर्णे भरिते कलौ ईदृशं श्रीमदुक्तं जगज्जन्तुहितावहमहो दुर्लभं
दुःप्राप्यम् । गुरुणा इत्युक्ते कथिते सति किञ्चिद्विचिन्त्य विचारयित्वा नृप इत्यग्रे
वक्ष्यमाणमब्रवीज्जगाद ॥

पलाशतां बिभ्रति यातुधाना इवाखिला अप्यनुगामिनो मे ।

अमारिरेषां न च रोचते कचिन्मल्लुचानामिव चन्द्रचन्द्रिका १९९

हे गुरो, मे मम अखिलाः समस्ता अपि अनुगामिनः सेवकाः । 'सहायोऽभिजनोऽश्व-
जीविगामिचरप्लवाः । सेवकोऽथ' इति हैम्याम् । मुद्गलप्रस्थानादयो यवनाः पलाशतां
पलं मांसमश्नन्ति खादन्तीति पलाशास्तेषां भावः मांसभुक्त्वं बिभ्रति । मांसाशिनः
सन्तीत्यर्थः । के इव । यातुधाना इव । यथा राक्षसाः पलादतां दधते । च पुनरत
एव कारणादेषामनुचराणां यावद्यवनानाममारिर्जीवदया न रोचते न स्वदते ।
लुब्धकानिवैतान् जीवानुकम्पा न प्रीणाति इत्यर्थः । केव । चन्द्रचन्द्रिकेव । यथा
चान्द्रस्य सुधारुचेश्चन्द्रिका कौमुदी मल्लुचानां चौराणां न रोचते । दन्तानामपि च-
न्द्रिका स्यात् । यथा 'दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघौ प्रोक्तमास्ते । तन्निरा-
सार्थं चन्द्रचन्द्रिकेति ग्रहणमत्र ॥

शनैः शनैस्तेन मया विमृश्य प्रदास्यमानामथ सर्वथैव ।

दत्तामिवैतामवयान्तु यूयममारिमन्तर्महतेव कन्या ॥ २०० ॥

हे पूज्याः, यस्माजीवदया मुद्गलानां म्लेच्छानां न रोचते तेन कारणेन त्रिकरण-
शुद्धयैव दानाभिप्रायेण विमृश्य अमारिप्रदानयोग्यदिवसादीनां विचारं विधाय शनैः
शनैर्मन्दं मन्दं मस्तकैरिव दिनैः प्रदास्यमानामेतां श्रीमदुक्ताममारिं जीवपालनरूपां
सर्वथा सर्वप्रकारेणैव यूयमन्तश्चित्ते दत्तामेवावयान्तु जानन्तु । कामिव । कन्यामिव ।
यथा महता उत्तमेन । 'अमोघा महतां वाणी' इति वचनात् । तथा च 'कूर्मकुलाचलफ-
णिपतिविश्रुतापि चलति वसुधेयम् । प्रतिपन्नमचलमनसां न चलपुंसां युगान्तेऽपि ॥'
इत्यपि वचनाच्च प्रदास्यमानां स्वयं मनसि कल्पितां कथितां वा दत्तामिव ज्ञायते-
ऽवश्यम् ॥ इति गुरोः पुर इत्यग्रे जीवामारिप्रदावकथनम् ॥

प्राग्वत्कदाचिन्मृगयां न जीवहिंसां विधास्ये न पुनर्भवद्वत् ।

सर्वेऽपि सत्त्वाः सुखिनो वसन्तु स्वैरं रमन्तां च चरन्तु मद्वत् ॥ २०१ ॥

हे गुरो, अहं कदाचित् कस्मिन्नपि समये मृगयामाखेटकं न विधास्ये । किंवत् । प्राग्वत् ।
यथा पूर्वं श्रीमन्मिलनात्प्रथमं मृगयां कुर्वाणोऽभवं तद्वत्पुनर्मृगयां विनापि जीवहिंसां
निरपराधवन्यप्राप्त्यजन्तूनां वधं न करिष्ये । किंवत् । भवद्वत् । यथा भवन्तः कदाचिन्मृ-
गयां न कुर्वन्ति, अथ सर्वप्राणातिपातविरतत्वात्सापराधनिरपराधजीववधं सर्वथा न
विदधते, अहं तु गृहमेधित्वाद्धरणीधरत्वेन दुष्टादुष्टनिग्रहपालनधर्मत्वान्निरपराधजीववधं
न निर्मास्ये । अथ मृगयान्यसत्त्ववधनिषेधानन्तरं सर्वे समस्ता अपि जलजाः स्थलजा
वनजा नगरग्रामजाश्च मत्स्यादयो मृगादयः श्वापदा गोमहिषमेषादयश्च सत्त्वाः प्राणिनः
सुखिनः सौख्यभाजः वसन्तु भवन्तु । पुनः स्वैरं स्वेच्छया रमन्तां क्रीडन्तु । स्त्रीभिः समं

च पुनः खैरं चरन्तु भक्षणसंचरणादि कुर्वन्तु । त्रिष्वप्युक्तिषु मद्रत् । यथाहं सुखी
वर्ते खैरं रमे स्वेच्छया चाग्निं चरामि विलसामि च ॥ इति मृगयानिषेधः ॥

प्रागागमे प्राभृतवत्किमेषां कार्यं मया चिन्तयतेति चित्ते ।

प्रवर्तितासौ नवरोजघसामारिः क्षितौ खेलनकौतुकेन ॥ २०२ ॥

हे सूरयः, क्षितौ पृथिव्यां खेलनकौतुकेन क्रीडाकुतूहलेन कृत्वा असौ सर्वजनसाक्षा-
त्कारिणी प्रत्यक्षा वा श्रीमदुचिता श्रीमन्निमित्तप्राभृतरूपा मया नवरोजनाम्नां घसामाणां
दिनविशेषाणाममारिः कोटिकाद्यानामपि जीवानां वधनिषेधः प्रवर्तिता मया कृता
मत्सेवकैश्च कारिता प्रकटीकृता वा । मया किं कुर्वता । एषां जगन्मान्यानां षट्काय-
गोपालानां सूरीणामागमे आगमने मन्नगरसमीपे समवसरणे प्राभृतवत् ढौकनमिव
प्राक् पूर्वं किं कार्यं विधेयम् । कर्तव्यमित्यर्थः । इत्यमुना प्रकारेण चित्ते स्वमनसि चिन्त-
यता विचारयता ॥ इति नवरोजनामामारिप्रदानं गुरोः ॥

आघाटनगरक्षोणीशक्रेणैव तपा इति ।

द्वादशाब्दाचात्मलकर्तुर्जगच्चन्द्रव्रतीशितुः ॥ २०३ ॥

यथा दफरखानेन स्तम्भतीर्थे प्रमोदतः ।

मुनिसुन्दरसूरीन्दोर्वादिगोकुलसंकटः ॥ २०४ ॥

गुणश्रेणीमणीसिन्धोः श्रीहीरविजयप्रभोः ।

जगद्गुरुरिदं तेन बिरुदं प्रददे तदा ॥ २०५ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे तेन प्रमुदितेनाकम्बरसाहिना शमदमार्जवमार्दवादीनां गुणानां
श्रेष्ठ एव मण्यो रत्नानि तेषां सिन्धोः समुद्रस्य श्रीहीरविजयाभिधानस्य प्रभोः सूरी-
न्द्रस्य अयं जगद्गुरुरिदं बिरुदं प्रसिद्धिक्वन्नामविशेषं प्रददे दीयते स्म दत्तम् । केनेव ।
आघाटनगरक्षोणीशक्रेणैव । यथाधुना 'आहड' इति प्रसिद्धस्य मेदपाटमण्डलमण्डन-
स्याघाटनगरस्य क्षोणीशक्रेण भूमीन्द्रेण राणकेन द्वादशसंख्याकानि वत्सराणि यावत्
आचात्मलानां तपोविशेषाणां कर्तुः कारकस्य जगच्चन्द्रनाम्नो व्रतीशितुः सूरीराजस्य
तपा इति बिरुदं ददे । पुनः केनेव । दफरखानेनेव । यथा स्तम्भतीर्थे तन्नगरनायकेन
दफरनाम्ना खानेन यवनाधिपतिना प्रमोदतो हर्षातिशयतः सहस्रावधानिनो मुनि-
सुन्दरनाम्नः सूरीन्दोराचार्यचन्द्रस्य वादिगोकुलसंकट इति बिरुदं दत्तम् ॥ त्रिभिर्विशे-
षकम् ॥ इति जगद्गुरुबिरुदम् ॥

नीत्वास्तोकाब्जन्दीलोकाञ्जश्रीमत्सूरेः पादोपान्ते ।

प्रोज्झाचक्रे क्षोणीशक्रो देहीवांहोव्यूहांस्तीर्थे ॥ २०६ ॥

क्षोणीशक्रोऽकम्बरसाहिः श्रीमान् साहिविहितसंमानदानकुललक्ष्मीकलितो हीर-

विजयनामा सूरिस्तस्य पादोपान्ते चरणसमीपे नीत्वा आनीय अस्तोकान् बहून् बन्दी-
लोकान् कारागारनिक्षिप्तजनान् प्रोज्झाञ्चके बन्दीतो निष्करदण्डान् कृत्वा सुत्कलान्
मुञ्चति स्म । क इव । देहीव यथा भव्यजीवस्तीर्थे श्रीशत्रुञ्जये अन्यतीर्थे वा अंहोव्यूहा-
न्निजदुरितसंघातान्मुञ्चति निष्पापो भवेत् ॥

प्रणम्य ते प्रभोः पदानवीवदन्निदं मुदा ।

मुनीन्द्र नन्दताच्चिरं सुवर्णसानुमानिव ॥ २०७ ॥

ते बन्दीलोकाः प्रभोर्हौरसूरेः पदान् । पूज्यत्वाद्वहुवचनम् । चरणान्प्रणम्य स्वस्वशि-
रसा संस्पृष्ट्वा मुदा प्रमोदेन कृत्वा इदमेवंविधमवीवदन् अतिशयेन बाढस्वरेण वा
वदन्ति स्म । इदं किम् । हे मुनीन्द्र चिरादस्माकं कारागारनरकुहकनिपातिनामुद्धार-
कारक त्वं गुरो, चिरं गलितावधिसमयं यावन्नन्दतात् समृद्धिमान् भव जीव चिरस्थायी
भव । क इव । सुवर्णसानुमानिव । यथा मेरुगिरिः कल्पवृक्षादिसमृद्धिमांस्तथा शाश्वत-
स्थायुकोऽस्ति तथा त्वमपि भूयाः ॥ इति बन्दीमोचनम् ॥

उत्थाय निशीथिन्यां प्रभुपार्श्वार्त्तपक्षिणां विमुक्तिकृते ।

डावरसरसि स गतवान्धनविजयं सार्धमादाय ॥ २०८ ॥

सोऽकब्बरसाहिः प्रभुपार्श्वार्त्त श्रीहीरविजयसूरीन्द्रस्य संनिधानादुत्थाय पक्षिणां
केलिकुतूहलकृते स्वयंरक्षितानां विविधविहंगमानां विमुक्तिकृते स्वयमेव विमोचनार्थं
धनविजयनामानं सूरिसचिवं सार्धं स्वेन सममादाय सूरीणां बिम्बार्थं गृहीत्वा डावर-
नान्नि सरसि तटाके गतवान् जगाम ॥

पक्षिणस्तत्क्षणात्क्षोणिचक्रेन्दुना पञ्जरेभ्यो विमुक्ताः समस्ता अपि ।

प्राप्तवन्तः खनीडद्रुमान्धन्विना कार्मुकेभ्यः शरव्यं पृषत्का इव २०९

क्षोणिचक्रेन्दुना मेदिनीमण्डलचन्द्रेण पञ्जरेभ्यः पक्षिरक्षणकाष्ठमयादिस्थानकेभ्यः
तत्क्षणात्सरोगमनानन्तरकालं निशीथिन्यां वा विमुक्ता मोक्षं प्रापिताः सन्तः मुकुली-
कृताः सन्तः समस्ताः सर्वेऽपि पक्षिणो नैकजातिशकुन्ताः खनीडद्रुमान् निजालयकु-
लायस्थानद्रुमान् प्राप्तवन्तः समाश्रितान् केषांचित्स्थानतरवः परेषां तु भाविनः भाविनि
भूतोपचारस्तु वर्तते एव । के इव । पृषत्का इव । यथा धन्विना धनुर्धरेण कार्मुकेभ्यः
कोदण्डेभ्यः पृषत्काः शराः क्षिप्ताः सन्तः शरव्यं लक्ष्यं वेध्यं प्राप्नुवन्ति ॥

तेऽपि पत्नीपरीरम्भिणो भाषितैर्विभ्रतः संमदं सूरिमित्यूचिरे ।

त्वद्गिरास्माभिरापे यथा निर्वृतिस्त्वं लभस्वाशिषा नस्तथा निर्वृतिम् २१०

पत्नीं खजायां पक्षिणीं परीरम्भन्ते आलिङ्गन्ति इत्येवंशीलास्ते पक्षिणोऽपि संमदं
बन्धनागमनात्परमानन्दं विभ्रतो हृदि धारयन्तः सन्तः भाषितैः स्वस्वभाषाभिः सूरि-
हीरविजययतीन्द्रमित्यमुना प्रकारेण ऊचिरे प्रोक्तवन्तः । इति किम् । हे प्रभो, यथा

येन प्रकारेण त्वद्विरा श्रीमदीयया वाचा वचनेन अस्माभिर्निर्घृतिं स्वैरं संचारितारूपं सुखमापे प्राप्तं लब्धम् । तथा तेन प्रकारेण अस्माकमाशिषा मङ्गलशंसकवाचा त्वं नि-
र्घृतिं मानसिकं सौख्यं मुक्तिसुखं च लभस्व प्राप्नुहि । प्रायोऽव्यक्तानामाशीर्वाक् फलेप्र-
हिर्भवेत्तेनावश्यं त्वं निर्घृतिं लप्स्यसे ॥ इति पक्षिमोचनम् ॥

त्रिजगज्जनगीयमानयानुगतोऽद्वैतयशःश्रियालये ।

भरतावनिभृज्जयश्रिया पुरि चक्रीव ततः स जग्मिवान् ॥ २११ ॥

ततो वन्दीमोचनानन्तरं स हीरविजयसूरिः आलये वसतौ उपाश्रये जग्मिवान् ग-
च्छति स्म । किंभूतः । त्रिजगजनैः सुरासुरनरनिकरैर्गीयमानया गानगोचरं नीयमानया
अद्वैतया न विद्यते द्वैतं युगलं सदृशोपमानं यस्याः सा तया असाधारणया यशःश्रिया
कीर्तिलक्ष्म्या अनुगतः सहितः । क इव । चक्रीव । यथा भरतक्षेत्रस्य अवनिभृतां द्वा-
त्रिंशत्सहस्रपार्थिवानां जयश्रियानुगतः ग्रन्थकर्तुर्भरतक्षेत्रस्थायुक्त्वेन भरतक्षेत्रस्यैव
नामातीतम् । चक्री चक्रवर्ती भरतादिसार्वभौमः पुरि खराजधानीनगरे गच्छति ।
अत्रापरे पाठान्तरमपि—‘त्रिजगज्जनगीयमानयानुगतः सूरिशशी यशःश्रिया ।
वसतिं सुदृशा नवोदया परिणीतेव ततो व्यभूषयत् ॥’ त्रैलोक्यलोकगीयमानया
यशःश्रिया सहितः सूरिशशी वसतिमालयं व्यभूषयदलं करोति स्म । यथा परिणता
पाणिग्रहणकर्ता नवोदया तत्कालपरिणीतया सुदृशा मृगलोचनया सहितो वसतिं वास-
सौधं विभूषयति ॥

अथामारिप्रवर्तनम्—

प्रावर्तयत्पुनर्भुवो भास्वानमारिमङ्गिनाम् ।

मूर्धाभिषिक्तवन्निजामाज्ञामशेषमण्डले ॥ २१२ ॥

भुवो भास्वान् अत्युत्कटप्रतापवत्त्वेन प्रतिपक्षक्षोणीक्षिलक्षाणां कल्पान्तकालोद्दण्ड-
चण्डमार्तण्डमण्डलवद्दुःसहोऽकम्बरसाहिः पुनर्हीरविजयसूरेरालये पादावधारणानन्तरं
स्वयं च अशेषमण्डले स्वायत्तीकृतसमस्तजनपदत्रजे अशेषाश्च ते मण्डलाश्चाशेषम-
ण्डलाः, अशेषमण्डलानां मण्डलमशेषमण्डलम् । ‘सरूपाणामेकशेषः’, सरूपाणां सदृशानां
शब्दानां मध्ये एक एव शिष्यते रक्ष्यते नान्य इति एकमण्डलशब्दस्य लोपः । अथ
वा मध्यमपदलोपी समासः शाकपार्थिवादिवत् । अङ्गिनां प्राणिनाममारिं वधनिषेधं
प्रावर्तयत् प्रवर्तयति स्म । किंवत् । मूर्धाभिषिक्तवत् । यथा श्रेष्ठिसेनापतिसचिवपुरोहि-
तसामन्तादिभिरभिषिक्तः सप्ताङ्गराज्याधिपतिबलन्यायशक्तिकलितः पृथ्वीपतिरशेषम-
ण्डले निजामात्मीयपितृप्रदत्ते निखिले देशे आज्ञां प्रवर्तयति ॥

तत्र च व्यतिकरेऽटवीवियद्वारिचारियुवजानिजन्मिनाम् ।

संकथा विरहदाववारिसुग्मालिका इव मिथोऽत्र जश्निर ॥ २१३ ॥

च पुनरमारिः प्रवर्तिता, अथ च सकलसत्त्वानां मिथश्च वार्ता प्रवृत्ता इति चशब्दार्थः । तत्र च व्यतिकरे तस्मिन्नेवामारिप्रवर्तनसमये अत्राकब्बरभूमण्डले जगति वा अटव्यामरण्ये । उपलक्षणाद्वनग्रामादिसंग्रहः । तथा वियति आकाशे, तथा वारिणि सलिले चरन्ति पर्यटन्ति इत्येवंशीलाः एतावता वनचारिणो मृगादयः श्वापदाः । यदुक्तं पाण्डवचरित्रे—‘कान्तारेऽत्र कृतान्तोऽपि श्वापदानामनापदाम् । त्वत्पुत्रभीतो नैतेषां प्रभवत्यपमृत्यवे ॥’ इति । यद्यपि हैम्याम् ‘पशुस्तिर्यक्चरे हिंसेऽस्मिन्व्यालः श्वापदोऽपि’ इत्युक्तम्, तथापि अन्यत्र वन्यजीवाः सर्वेऽपि श्वापदा एवोच्यन्ते इति । वियचारिणो मयूरादयः पक्षिणः, तथा जलचारिणो मीनादयः, तथा युवतिस्तरुणी जाया पत्नी येषाम् । ‘जायाया निड्’ । जायाशब्दस्य निड्प्रत्ययः । तथा ‘लोपो व्योर्वलि’ इति सूत्रेण यकारस्य लोपः । पुंवद्भावः स्त्रीप्रत्ययस्य तेल्लोपः । युवजानयः तरुणीस्त्रीकाः तादृशा ये जन्मिनो जीवाः अधिकारात्पुमांसः तेषां मिथः परस्परं स्त्रीभिः सार्धं संकथा वार्ताः । ‘त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति’ इति भक्तामरस्तवे । ‘संकथा वार्ता’ इति तद्वृत्तिः । जज्ञिरे जाताः प्रवृत्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—विरहः स्त्रीभर्त्रोः इतरेतरं वियोगः स एव दावो दावानलः तत्र वारिसुचां मेघानां मालिका धोरणयः कादम्बिन्य इव ॥

अथ प्रथमं वनचारिणां वार्ता—

काप्याचख्यौ प्रियमिति करिणी किं मत्तो मद्यप इव रमसे ।

नो जानीषे मृगयुमिव नृपं हन्तारं तद्गज गज गहनम् ॥ २१४ ॥

कापि अनिर्दिष्टनामा करिणी हस्तिनी प्रियं करिणमित्यमुना प्रकारेण आचख्यौ वदति स्म । किमाचख्यौ तदेवाह—हे प्रिय हस्तिन्, मद्यपो मदिराप्रायीव मत्तोऽतिक्षीबः सन् रमसे मया सह क्रीडसि यद्यस्मात्कारणात् त्वं मृगयुमिव प्रबलाखेटककारिणममुं नृपमकब्बरसाहिं ते तव हन्तारं घातकं नो जानीषे नो वेत्सि काकूक्ष्या । तत्तस्मात्कारणात् हे गज ‘जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्’ इति वचनात् गहनं गिरिगह्वरं प्रति व्रज मारणभयात्प्रणश्य याहि ॥

सोऽप्यवक्करिणि मा विभीहि नः सूरिशासनवशान्न हन्ति सः ।

किं त्वनेकपतयो रणेषु मद्भोत्रिणामुपकृतिस्मृतेरिव ॥ २१५ ॥

सोऽपि गजोऽपि अवक् व्याचष्टे आख्यातवान् । हे करिणि, भीरुत्वात् भीरुकस्वभावत्वात् च मा विभीहि मनसि भयं मा नय । सः अकब्बरः सूरैर्हीरविजयगुरोः शासनस्थोपदेशस्य वशादायत्तत्त्वान्नोऽस्मान्न नैव हन्ति व्यापादयति । उत्प्रेक्ष्यते—अनेकान् बहून् पाति रक्षतीत्यनेकपस्तत्त्वेनेव उताथ वा रणेषु संग्रामाङ्गणेषु मद्भोत्रिणां मद्भद्रयानां मदेकवंशानां वा गजानामुपकृतेः परदलविदलनाद्युपकारस्य स्मृतेः संस्मरणादिव ॥ इति गजमिथुनालापः ॥

इति काचिदुवाच हयद्विषती प्रमदं प्रिय मुञ्च सचिन्त इव ।

भुजमूर्धविरोधितयेव यतः प्रणिहन्तुमना अयमेति नृपः ॥ २१६ ॥

काचित् हयद्विषती वनखण्डमहिषी । 'महिषो यमवाहनः । रजस्वलो वाहरिपुः' इति हैम्याम् । इत्यमुना प्रकारेण उवाच भाषते स्म । इति किम् । हे महिष प्रिय, सचिन्त इवात्यार्तियुक्त इव प्रमदमानन्दं मुञ्च त्यज । यतः कारणात् प्रणिहन्तुमनाः त्वां घातयितुकामः अयमतिभयात्प्रत्यक्ष इव लक्ष्यते साक्षादकम्बरः नृपो राजा समेत्यायाति । उत्प्रेक्ष्यते—भुजमूर्धविरोधितया स्कन्धश्रीस्पर्धोद्भूतवैरित्वेनेव । 'स्कन्धर्यो वृषरक्ताक्ष-स्कन्धोपमः' इति काव्यकल्पलतायाम् ॥

इत्यवक्सोऽपि कान्तेऽधृतिं भूपतेर्मा कृथा यन्निदेशेन सूरीशितुः ।

सोऽप्यवद्येन नश्चक्षुषा नेक्षते यानभावेन विभ्यत्कृतान्तादिव ॥ २१७ ॥

सोऽपि हयद्विषन् महिषोऽपि इत्यमुना प्रकारेण अवक् जगाद । हे कान्ते सैरभि, भूपतेरकम्बरात्सकाशादधृतिमस्वास्थ्यम् । भीतिमित्यर्थः । मा कृथा मा कुर्याः । 'माङ्गि लुङ्,' माङ्गयोगे लुङ् स्यात् । 'मा कार्षात् । लुङ्शब्देन भूते सिः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा च हेमचन्द्रः—'मा कार्षात्कोऽपि पापानि मा च भूः कोऽपि दुःखितः' इति वचनाद्भविष्यदर्थे भूते सिप्रयोगः । यत् यस्मात्कारणात् सूरीशितुः हीरविजयसूरीन्द्रस्य निदेशेनानुशिष्टया नोऽस्मानवद्येन पापेनासमीचीनेन चक्षुषा नेत्रेण नेक्षते न पश्यति किं पुनर्वधेच्छया तन्मा शङ्कस्व । उत्प्रेक्ष्यते—यानभावेन वाहनत्वेन कृतान्ताद्विभ्यदिव । स्ववाहनपरिभवं विभाव्य ममोपरि मा कुप्यादित्यन्तकाद्भयं प्राप्तुवन्निव ॥ इति महिषमिथुनालापः ॥

कापि प्रियं वदति वारणवैरिणीति

शेषे सुखं कथमहो गिरिगह्वरेषु ।

हन्ता नृपस्तव कलत्रकलतुलक्ष्मी-

स्पर्धाक्रुधा निजगजारितयाथ वा किम् ॥ २१८ ॥

कापि वारणवैरिणी गजद्वेषिणी सिंही प्रियं स्वभर्तारं पञ्चाननं प्रति इति वदति । इति किम् । अहो कान्त केसरिन्, गिरिगह्वरेषु भूधराणां कंदरेषु घननिकुञ्जेषु वा यथा स्यात्तथा कथं केन प्रकारेण शेषे स्वपिषि । यस्मादित्यधिकारात्प्राक्तनमेव सर्वत्र गृह्यते । कारणान्नृपोऽकम्बरो मृगयारसिकतया तव भवतो हन्ता घातको व्यापादयिता वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—कलत्राणां स्वपत्नीनां कलत्रलक्ष्म्या कटितटीश्रिया सह स्पर्धा संघर्षस्तस्यास्तया वा या कुध् कोपस्तेन किम् अथ वा निजा आत्मीया ये गजा रणकरणधुरीणा वारणास्तेषामरित्वेन किं शत्रुभावेनेव ॥

सिंहोऽप्याख्यत्कुरु मा भीरु भीतिं नायं हन्ति व्रतिशार्दूलशास्त्या ।

यद्वा शौर्यादलितद्वेषिनागान्हन्यादुच्चैःशिरसः संश्रितान्कः ॥ २१९ ॥

सिंहः कण्ठीरवोऽपि आख्यद्वभाषे । हे भीरु हे कान्ते केसरिणि, त्वं भीतिमातङ्गं मा कुरु । 'पिब बोदच चारुलोचने यदतीतं वरगात्रि तद्गतम् । न हि भीरु गतं निवर्तते समुदायमात्रमिदं कलेवरम्(?) ॥' इत्युत्तराध्ययनवृत्तौ । यस्माद्धेतोर्व्रतिशार्दूलस्य मुनिपञ्चाननस्य हीरगुरोः शास्त्या आज्ञया शिक्षया वा अयं साहिः अस्मान्न हन्ति न घातयति । यद्वा अथ वा वधविधानाभावे हेतुमप्याह—शौर्याग्निजशूरत्वेन दलिता व्यापादिता द्वेषिषु विपक्षेषु नागा मुख्या ये द्वेषिणो निजनिष्ठान्तनजनितामितद्वेषित्वेन वैरिणो नागा हस्तिनो यैस्तान् तथा उच्चैःशिरसो महात्मनो महर्धिकान्वा पर्वतांश्च तुङ्गशृङ्गान् शैलांश्च संश्रितान् पृष्ठलग्नान् सेवमानान् वा को हन्यात्कोऽपि व्यापादयेत् । अपि न कोऽपि । यदुक्तं भक्तामरस्तवे—'हरिणाधिपोऽपि नाक्रामति क्रमयुगाचल-संश्रितं ते' ॥

वपुषा कुरुषे किमभ्यसूयां स्मयमानासनशाखिशखया त्वम् ।

किमवैषि न भूवृषैति हन्तुं दयितं द्वीपिनमित्युवाच काचित् ॥ २२० ॥

काचिद्वाग्नी दयितं स्वभर्तारं द्वीपिनं व्याघ्रमित्युवाच इति जजल्प । इति किम् । हे नाथ द्वीपिन्, स्मयमाना विकसन्तो ये असनशाखिनः पीतसाला 'वीड' इति नाम्ना सिद्धास्तरवस्तेषां शाखया सह वपुषा स्वशरीरेण किमभ्यसूयामीध्यां कुरुषे । असनशाखानां व्याघ्रस्य तुल्यत्वेनोपमानं दृश्यते । यथा रघुवंशे—'व्याघ्रानभी० । फुल्लासनाग्रविटपानिव' इति । किमिति प्रश्ने । हे द्वीपिन्, त्वं किं नावैषि न जानासि । यत्कारणान्द्रवृषा पृथ्वीपुरंदरः साहिस्त्वां हन्तुमेत्यागच्छति ॥

रमस्व ससुखं योषे यदस्मान्न हन्ति यतिजम्भारेगिरा सः ।

मुदा पिबति यन्मां पुण्डरीकं सुदष्टिरिव शैलं पुण्डरीकम् ॥ २२१ ॥

व्याघ्रीपतिरपि स्वां द्वीपिनीं प्रियां प्रत्युवाचेति संबन्धः । हे योषे द्वीपिनि व्याघ्रि, सह सुखेन वर्तते यत्तत्ससुखं सौख्यसहितं यथा स्यात्तथा रमस्व स्वेच्छया मया सह विलासं विधेहि । यत्कारणात्सोऽकम्बरसाहिः यतिजम्भारेर्मुनिमधोनः गिरा वाचा अस्मानात्मनां यावज्जातीनं हन्ति न हिनस्ति । हे व्याघ्रि कान्ते, असौ क्षोणीन्द्रः तत्तटूरेवाक्प्रपञ्चैककारणान्मां पुण्डरीकं मुदा हर्षेण मच्चेष्टाशौर्याद्यवेक्षणोद्भूतप्रभोदेन पिबति । अथ वा गर्भितोपमा । पुण्डरीकमिव सिताम्भोजमिव अग्निदिग्गजमिव स्मिन् । तसहकारमिव वा इक्षुविशेषमिव वा ऋषभस्वामिप्रथमगणधरमिव वा भव्यः सादरं पश्यति । 'पुण्डरीकं सिताम्बुजे सितच्छत्रे च भेषजे ।' 'पुण्डरीकोऽग्निदिग्गजे सहकारे णधरे राजलाहौ जगत्खरे गजज्वरेऽपि प्रत्यन्तरे' इत्यवचूणौ । 'कौशिकान्तरे व्याघ्रे'

इत्यनेकार्थः । क इव । सुदृष्टिरिव । यथा सम्यग्दर्शवान् श्राद्धः पुण्डरीकं शैलं शत्रुञ्जयं पर्वतं प्रीत्या पिबति गच्छन्नागच्छन् वलितप्रीवं मुहुर्मुहुर्दृष्ट इव प्रेक्षते । चैत्रपूर्ण-
मायां पञ्चकोटीमुनिपरिवृतपुण्डरीकगणधरस्य मोक्षगमनात् । पुण्डरीक इति नामाद्विरज्या-
सीत् । तथा च हैमनाममालायाम्—‘अथ व्याघ्रो द्वीपी शार्दूलचित्रकौ । चित्रकायः
पुण्डरीकः’ इत्येकार्थान्येव नामानि दृश्यन्ते । वृत्तावपि तथैव व्याख्यानात् । तथा च
शत्रुञ्जयकल्पे शत्रुञ्जयनामसु—‘विमलगिरिमुत्तनिलउसित्तुंजोसिद्धखित्तपुण्डरिउ’ इति ॥
इति व्याघ्रमिथुनालापः ॥

पोत्रिणी वदति काचन दयितं किं निखेलसि निषद्वर सुखितः ।

रुद्र एष निहनिष्यति मखवत्त्वां विचिन्तय तदायतिकुशलम् ॥२२२॥

काचन पोत्रिणी काननसूकरी दयितं वनसूकरं प्रति वदति । किं वक्ति तदेवाह—
हे वराह निषद्वर जम्बाल, सुखितः सौख्ययुक्तः सन् कथं निखेलसि मया समं स्वैरं
क्रीडां कुरुष्व । यत्कारणादेष प्रत्यक्षः प्रत्यहमाखेटकागमनेन स्मृतिगोचरीकरणात्प्रत्यक्ष
एव लक्ष्यते । आगतोऽकम्बरः रुद्रश्चण्डस्त्वां सुखनिखेलिनं भवन्तं निहनिष्यति
नितरां घातयिष्यति मृगयाक्रीडारसावेशात्मिकमप्यगणयन्प्रमथयिष्यति । किंवत् ।
मखवत् । यथा रुद्रेण शंभुना मखो नाम दैत्यविशेषो निहतः । तत्तस्मात्कारणात् त्व-
मायतिकुशलमुत्तरकाले दीर्घदाशितामाश्रित्याग्रे आत्मनः कुशलं चिरजीवितां निर्विघ्नतां
विचिन्तय विमृश ॥

पातालावटकोटरान्तरपतत्पाथोधिनेर्मिया

दंष्ट्रायां यदधारि धेनुकभिदो भागीभवद्वर्ष्मणा ।

भूभृत्त्वादिव गोत्रिणं न मिनुयाद्धात्रीधरः पोत्रिणि

श्रीमत्सूरिगिरा शुभंयुरिव तत्स्वैरं चरेत्याह सः ॥ २२३ ॥

स पोत्री पोत्रिणीमित्याह ब्रूते स्म । इति किम् । हे पोत्रिणि वराहि, तत्कारणात्
शुभंयुः शुभसंयुक्ता कल्याणवती त्वं स्वैरं स्वेच्छया चर संचर । इतस्ततो याहि कं-
दान्मुस्तांश्च खाद भक्षय । यद्यस्मात्कारणात् हे पोत्रिणि सूकरि, श्रीमत्सूरिगिरा श्रीही-
रविजयसूरिवाचा धात्रीधरोऽकम्बरो मां न मिनुयान्न घातयेत् । उत्प्रेक्ष्यते—भूभृत्त्वात्
धरणीधारकत्वात् गोत्रिणं स्वजनमिव । यतो महात्मा सर्वथा स्वशक्त्या स्वजनं
रक्षतीति रीतिः । अथ भूभृत्वमेव दर्शयति—यत्कारणात् पातालमधोलोकः स
एवावटः कूपः तस्य कोटरोऽधोभागवर्ती महागर्तस्तस्यान्तरे मध्ये पतन्ती यान्ती
पाथोधिनेमिरासमुद्रान्तक्षितिर्धेनुकभिदो विष्णोर्भागीभवत् अंशरूपेण जायमानं
वर्ष्म शरीरं यस्य तादृशेन मया महीवराहरूपेण दंष्ट्रायां दाढामध्ये अधारि । श्रूयते च
शास्त्रे—पुरा पातालं प्रविशन्ती क्षितिर्विष्णुना वराहरूपेण स्वदंष्ट्रायां धृता इति ॥
इति वराहमिथुनालापः ॥

इति पृषती शंसति दयितं स्वं किमु जितकासीव विगतभीतिः ।

स्वयुवतिजङ्घाप्रतिभटभावादिव तव हन्ता यदवनिकान्तः ॥ २२४ ॥

पृषती मृगीविशेषा स्वं दयितं प्रेयांसमात्मीयं पृषतं प्रति शंसति कथयति । इति किम् । हे प्रिय, त्वं जितकासीव जिताहवः विजयीव किमु कथं विगतभीतिर्निर्मुक्तभयो वर्तसे । यत्कारणादवनिकान्तोऽकब्बरसाहिः तव भवतो हन्ता व्यापादयितास्ते । मृगयुत्वेन त्वां हनिष्यतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो युवतीनां तरुणीनां स्त्रीणां जङ्घानां प्रति-भटभावाद्वैरवैरित्वादिव । जङ्घयो मृगजङ्घोपमा योगशाल्ववृत्त्यादिष्वास्ते अतस्तदुत्प्रेक्षा । ‘पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे’ इति नैषधे ॥

पृषदिति कान्तां निगदति भूभृद्भ्रतिविभुवाचा व्यथयति नास्मान् ।

निजकजनेत्रानयनसखित्वाच्छरणगतत्वादुत किमु राज्ञः ॥ २२५ ॥

पृषन्मृगविशेषः कान्तां स्वप्रियां पृषतीं प्रति इति निगदति जल्पति । पृषवत्पृषच्छब्दोऽपि यथा जलबिन्दुवाची ‘पृषत्पृषतविप्लुषः बिन्दौ’ इति, तथा मृगवाच्यपि दृश्यते । यथा ‘पृषत्किशोरी कुरुतामसंगतम्’ इत्यपि नैषधे । इति किम् । हे प्रिये पृषति, व्रतिविभोर्मुनीन्द्रस्य वाचा वाण्या कृत्वा भूभृद्राजा अस्मान्मृगजातीरपि न व्यथयति नैव पीडयति । उत्प्रेक्ष्यते । निजकजनेत्राणामात्मीयानां कमलदललोचनानां तरुणीनां नयनकर्णान्तायतानां सखित्वान्मित्रत्वादिव । उताथ वा राज्ञः चन्द्रस्य शरणगतत्वात्किमु राज्ञोऽङ्गस्थायुकत्वादिव ॥ इति मृगमिश्रनालापः । इति वनचराः ॥

कापि मयूरी लपति पतिं किं केकाङ्क्षितताण्डवकेलीम् ।

व्यातनुषे मनुषे नो मानुषपूषणमेनं स्वासहजम् ॥ २२६ ॥

काप्यज्ञाताभिधाना मयूरी केकिनी पतिं स्वभर्तारं प्रति वदति । हे केकिन् प्रिय, केकया शिखण्डिसंबन्धिशब्दविशेषेणाङ्कितां कलितां ताण्डवकेलीं नृत्यविलासं किं कथं व्यातनुषे विस्तारयसि । हे नाथ, एनं मानुषपूषणं मनुजेषु प्रतापवत्त्वेन विभाकरं स्व-स्यात्मनोऽसहजं परिपन्थिनं नो मनुषे न जानासि इति काकूक्तिः । अपि तु जानीहि ॥

विष्टपजीवनवारिधिरैरिव भैर्याद्वा शितिकण्ठतया ।

सूरिगिरा न निहन्ति नृपोऽस्मान्मेचकिनौच्यत कान्तेति ॥ २२७ ॥

मेचकिना मयूरेण कान्ता स्वप्रेयसी मयूरी इत्यौच्यत इदं निगद्यते स्म । हे कान्ते हे शिखिनि, सूरैर्ह्यारविजयगुरोर्गिरा दयोपदेशवाचा नृपः पातिसाहिरस्मान्न निहन्ति नैव यमातिथीकरोति । उत्प्रेक्ष्यते—विष्टपानां जगज्जन्तूनां जीवन्मैर्जीवितव्यहेतुभिर्वारि-धरैर्मैधैः सह मैत्र्यात्सौहार्दादिव । अथ वा शितिकण्ठतया नीलकण्ठत्वेनेवेश्वरतया इव ॥ इति मयूरमिश्रनालापः ॥

ऊचे कापि पिकं पिकीति विरहिव्यामोहजेनाहसा
प्रादुर्भूतमिवावयासि दमनं न क्षोणिसंक्रन्दनम् ।

स स्माहेति गुरोर्गिरा द्विजतयेवासौ स्वलीलावती-

लीलापञ्चमगीतिपाठकतया वास्मान्न हन्ति प्रिये ॥ २२८ ॥

कापि पिकी कोकिला पिकं स्वकान्तं कलकण्ठमित्यूचे भाषितवती । हे जीवितनायक पिक, क्षोणिसंक्रन्दनं भूमिजम्भारारातिमकव्वरं दमनमात्मनां निवर्हयितारं प्रादुर्भूतं प्रकटं जातं नावयासि न वेत्सि । उत्प्रेक्ष्यते—विरहिणां वियोगिनामत्यनुरक्तात्मयु-
वतीभिः समं विश्लेषवतां प्रवासिनां जनानाम् । अथ वा प्रवासिप्रियापांशुलामहिलालो-
कानां वा व्यामोहजेन विरहोत्पादनोद्भूतातुच्छमूर्च्छासंतापजनितेनाहसा । यदुक्तम्—
'कोइलिमधुरीभाषिअं ववनि कुहु कुहइ । जसकापिउ परदेसकिहि यडाडहकि हइ ॥
भरभाहुंकीरातिनयनझरलइ तुहइ । दाधाउपरिल्लणववीहादे तुहइ ॥' इत्युक्तेः । पापेने-
वागतं नो जानीषे । यत्खैरं मत्तो मया रमसे इति प्रागुक्तादध्याहार्यं तत इत्युक्तेरनन्तरं
स वनप्रिय आह स्म अब्रवीत् । हे प्रिये, असौ साहिर्गुरोर्होरसूरेर्गिरा वाचा अस्मान्न
हन्ति न प्रमापयति । उत्प्रेक्ष्यते—द्विजतया ब्राह्मणत्वेनेव । ब्राह्मणो हि लोकेष्ववध्यः ।
चतसृषु ह्यस्यासु प्रथमहत्यात्वेनेति । 'द्विजः पक्षी ब्राह्मणश्च' इत्यनेकार्थः । वाथ वा
स्वस्यात्मनो लीलावतीनां विलासिनीनां लीलया विलासेन कलितं यत्पञ्चमरागोपचि-
तगानं पञ्चमध्वनिनं तस्य पाठकतया अध्यापकत्वेनेव वा साहिहरिणीदृशः पञ्चरान्त-
रस्थायुकैलीपिकनिकरमाकन्दमञ्जुमञ्जरीव्रजाखादोद्धृताकुण्ठकण्ठकुहरसमुच्चरचारुप-
ञ्चमकूजिताकर्णनात्तदनुगुणं गायन्तीत्यर्थः ॥ इति कोकिलमिथुनालपः ॥

स्वां पत्नीं ताम्रचूडो दरतरलदृशं हन्तुमभ्येति भूमी-

भास्वांस्त्वां मामपीति प्रकटितवचसं धीरयन्नित्यवादीत् ।

मा भूस्त्वं भूरिभीतेर्भवनमिह जगद्बोधकर्तृत्वशक्ति-

व्यक्तिप्रेमातिरेकादिव विभुवचसा ध्वंसते नायमस्मान् ॥ २२९ ॥

ताम्रचूडः कुक्कुटः स्वां स्वकीयां पत्नीं कुक्कुटां कान्तां धीरयन्नाश्वासयन् सन्निलवा-
दीत् निगदितवान् । किंभूतां पत्नीम् । हे प्राणेश्वर हे ताम्रचूड, भूमीभास्वानकव्वर-
साहिः त्वामपि पुनर्मामपि हन्तुं कीनाशसकाशं नेतुमभ्येति आगच्छति इत्यमुना प्र-
कारेण प्रकटितवचसं उदीरितं भर्तुः पुरः कथितं दीनवचनं यया । अत एव पुनः
किंभूताम् । दरेण कृतान्तनिकेतातिथीभवनभयेन तरले चपले दृशौ यस्यास्तादृशम् ।
धीरां करोति धीरयति इति धीरयन् निर्भयां कुर्वन् । तत्कथं तदेवाह—इति किम् ।
हे प्राणप्रिये हे कुक्कुटि, त्वं भूरिभीतेः प्रबलतमभयस्य भवनं स्थानं मा भूर्भव । यतो
विभुवचसा जीवदयोपदेशादयं भूमान्नास्मान् ध्वंसते न घातयति । उत्प्रेक्ष्यते—

इह भूमिमुवने जगतां विश्वजनानां यो बोधः प्रतिबोधनं सुप्तोत्थापनं प्रतिबोधदानं जागरणं सत्पथस्थापनं वा तस्य कर्तृत्वं तस्य शक्तिः सामर्थ्यं तस्या व्यक्तिः प्रकटता । अथ वा शक्त्या कृत्वा व्यक्त्या स्फुटतया यः प्रेमातिरेकः लेहातिशयस्तस्मादिव ॥ इति कुकुटमिथुनालापः ॥

ऊचे हंसीति हंसं किमु तव नृपतेर्भीतिरभ्येति नान्त-

हन्ता ते यन्मृगाक्षीललितगतिपरिस्पर्धिभावादिवसौ ।

सोऽपि स्मित्वा शशंस श्रुतसुरसुदृशो विश्वकर्तुश्च जाने

यानत्वान्मां न कश्चिद्व्रतिपतिवचनादीश्वरः स्यान्निहन्तुम् ॥२३०॥

हंसी मराली हंसं सितच्छदमित्यूचे भाषितवती । इति किम् । हे हंस प्रियतम मानसवासिन्, तव भवतोऽन्तर्हृदयमध्ये नृपतेः सकाशात् भीतिर्भयमपि नाभ्येति नो-
देति । यत्कारणात् असौ साहिस्त्व हन्ता प्रमापयितास्ते । उत्प्रेक्ष्यते—मृगाक्षीणां स्वसारङ्गनयनानां स्त्रीणां लीलाललिताभिर्मन्थरभावमञ्जुलाभिर्गतिभिर्गमनैः सह परिस्पर्धि-
भावात्संघर्षित्वात् इव । ततः स हंसः स्मित्वा किमपि हसित्वा स्वसहचरीं चकाङ्क्षीं प्रति शशंस अवदत् । हे बारले, व्रतिपतेः सूरीन्द्रस्य वचनाद्वाक्यान्मां प्रति कश्चि-
न्निहन्तुं घातयितुं न ईश्वरः स्यात् न समर्थो भवेत् । उत्प्रेक्ष्यते—श्रुतसुरसुदृशः सरस्वत्याश्च पुनर्विश्वकर्तुर्वैष्णवोऽपि यानत्वाद्वाहनभावादिव । अत्र जाने इवार्थे ॥
इति हंसमिथुनालापः ॥

रथाङ्गी रथाङ्गं जगादेति दूरात्प्रयाहि प्रियास्माद्विषत्कालरात्रेः ।

यतो राजविद्वेषितोदीतकोपातिरेकादसौ त्वां हनिष्यत्यवश्यम् ॥२३१॥

रथाङ्गी चक्रवाकी रथाङ्गं स्वसहचारिणं क्रोकमिति जगाद कथितवती । इति किम् । हे द्वन्द्वचर प्राणनाथ, द्विषतां वैरिणां कालरात्रेः कल्पान्तकालान्त्यनिशासदृशात् । यस्यां निशायां सुरासुरनरादयः सर्वेऽपि क्षयं यास्यन्ति न कोऽपि चराचरेषु स्थाता इति शैवमते । जैनमते तु निखिला भरतभूमिनुष्यरिक्ता भाविनी षष्ठारके सर्वेऽपि मनु-
ष्यचतुष्पदपक्षिणस्तु बिलवासिनः इति बहिर्भुवोऽनुसारिण्यपि कालरात्रिरेवेति । ततो बहुद्विषदचतुष्पदपक्षिर्दक्षिण्यकरादस्मान्नृपतेस्त्वं दूरात् दूरं विप्रकृष्टभूभागे प्रयाहि । स्वप्रा-
णधारणायैत्यध्याहारः । गच्छ । यतः कारणात् राज्ञा स्वयं राजत्वात् स्वेन चन्द्रेण च सह या विद्वेषिता वैरिभावस्तस्याः सकाशादुदीतः प्रादुर्भूतो यः कोपातिरेकः क्रोधाति-
शयस्तस्मादिव त्वां राजविरोधिनां भवन्तं अवश्यं निश्चितं हनिष्यति ॥

प्राहेत्यसौ मां स नृपः कृपावान्न हन्ति जाने निजयौवतस्य ।

रतोत्सवोच्छ्वसितकञ्जुकेषु कुचेषु संचारितचित्तवृत्तिः ॥ २३२ ॥

असौ चक्रवाकः खां प्रेयसीं प्रति निरातङ्गः सन् प्राह बभाण । इति किम् । हे

जीवितवल्लभे द्वन्द्वचारि चक्रवाकि, कृपावान् श्रीहीरसूरीन्द्रधर्मोपदेशश्रवणात् कृपाक-
लितचेतोभूतः स नृपोऽकञ्चरसाहिः मां नैव हन्ति निशुम्भति । अहमेवं जाने वेद्मि ।
उत्प्रेक्ष्यते—इत्यर्थे जाने । निजयौवतस्य स्वतरुणरमणीगणस्य रतस्य संभोगस्यानन्द-
मयसमयत्वादुत्सव इवोत्सवः तत्रोच्छ्वासितः उच्चैः कृतो हृदयादुत्तार्यान्यत्र क्षिप्तो वा
कञ्चुको निचोलो येभ्यस्तादृशेषु कुचेषु पीनप्रोत्तुङ्गपयोधरेषु संचारिता संक्रामिता चित्त-
वृत्तिरन्तःकरणव्यापारो वर्तनं वा येन तादृश इव । विगलन्निचोलचारुलोचनोच्चकुच-
कलशस्मरणात्तत्तुल्यत्वेनास्मान्नायं निहन्तीत्यर्थः । जाने ज्ञानार्थे इवार्थे वा ॥ इति
चक्रवाकमिथुनालापः ॥

प्रियाश्चकोरानपि खञ्जरीटान्वदन्त्यदस्तिष्ठथ किं सुखेन ।

पुरा हि बध्नाति बधूविलोचनश्रियोऽधमर्णान्भवतो यतो नृपः ॥ २३३ ॥

चकोरान् ज्योत्स्नाप्रियान् खञ्जरीटान् खञ्जनान् प्रति प्रियास्तेषामङ्गनाः चकोर्यः तथा
खञ्जरीटचटुललोचनाः अद एतद्वदन्ति निर्दिशन्ति कथयन्ति । तदेवाह—हे प्रियाः, सुखेन
शर्मणा निश्चिन्ततया वा किं कथं प्रश्ने तिष्ठथ वसथ वा स्थिता वा । यतः कारणाद्-
धूनां निजयुवतीनां विलोचनानां चारुचञ्चलविचित्रनेत्राणां श्रियो लक्ष्म्या अधमर्णान्
ग्राहकान् भवतो युष्मान् नीतिनिपुणो नृपोऽसौ पुरा बध्नाति बन्धस्यति बन्धं प्राप-
यिष्यति गृहीतं पश्चादददानोऽधमर्णः समर्थेन उत्तमर्णेनावश्यं निगृह्यते इति लो-
कव्यवहारः ॥

इत्थममी प्रति दयिताः प्रोचुर्मा स्म भयं मनसापि जिहीध्वम् ।

येन सपक्षतयेव न पश्येत्सूरिगिराभिमुखं नृपतिर्नः ॥ २३४ ॥

अमी चकोरखञ्जरीटाः पतत्रिणः दयिताः स्वस्वप्रियाः प्रति इत्थममुना प्रकारेण प्रो-
चुर्व्याचक्षते स्म । इत्थं कथम् । हे कान्ताः, यूयं मनसापि स्वचित्तेनांशमात्रमपि भयं
साध्वसं मा स्म जिहीध्वं मा गच्छत । येन कारणेन सूरिगिरा गुरोर्दयोपदेशप्रदान-
श्रवणेन नृपतिनांस्माकमभिमुखं कुदृष्ट्या घातवार्ता तु दूरे तिष्ठतु विरुद्धदशापि संमुखं
पश्येन्नावलोकयेत् । उत्प्रेक्ष्यते—सपक्षतयेव सह पक्षेण परिवारेण वर्तन्ते ये ते सप-
क्षास्तत्तथा । ‘जे परिवारइ अगला ते गज्जणां न जाइ’ इति वचनात् । पक्षैः पक्षक-
क्षाकारिभिर्मित्रादिभिर्वा वर्तन्ते ये अथवा समानः पक्षो गोत्रं येषां ते सगोत्राः । ‘पक्षो
गोत्रे परीवारे पक्षतौ च’ इत्यनेकार्थः । तेषां भावः सपक्षता तथा पक्षयुक्तत्वेन एक-
गोत्रत्वेन वा । बहुपक्षो हन्तुमशक्य एकपक्षश्च हन्तुमयुक्तः ॥ इति चकोरखञ्जनमिथु-
नालापाः । इति खचराः ॥

न्यगददनिमिषीनं मीनमेतत्किमु रमसे रमणीसखः सुखेन ।

अनय नयपयोधिपारदृश्वा किमु कुलवैरितया हनिष्यति त्वाम् ॥ २३५ ॥

अनिमिषी मत्स्यी इनं स्वकान्तं मीनं मत्स्यमिति न्यगददाचख्यौ । हे मीन, रमणी-
सखः बहुस्त्रीकत्वेन स्वान्यनारीकलितः किमु कथं रमसे सलिले स्वेच्छया क्रीडसि बहु-
मत्स्यीभिः सार्धं विलससि । केन । सुखेन शर्मणा । निरपायं क्रीडानिषेधहेतुमाह—हे
अनय, न विद्यते नयो निजकुलक्षयकारित्वेन न्यायो यस्मिन् । ‘मत्स्यगलगलिन्याय
जेह जेह नइ पहुचइ ते हनइ खाय’ इति लोकवार्ता । तथा न्याय एवागाधत्वात्पयोधिः
समुद्रस्तस्य पारदश्वा पारगामी नीतिभिः रामचन्द्रो भूपतिस्त्वां भवन्तं हनिष्यति कृ-
तान्तनिकेतनातिथेयीं प्राहविष्यति । उत्प्रेक्ष्यते—कुलस्य स्ववंशस्य वैरितया संहार-
कत्वेन किमु यः कुलसंहारकृतसोऽवश्यं स्वाहसैव निहन्यते । तथा चोक्तं नैषधे—‘अ-
बलखकुलाशिनी झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् । अनवद्यतृणादिनो मृगान्मृगया-
घायनभूतां प्रताम्’ इति शैवपुरोहितमन्त्रिवचसा नृपस्त्रयाणामपि मृगयां करोति ॥

तिमिरिति कान्तां मदनविनोदी वदति मुनीन्दोर्वचनविलासात् ।

अनिमिषभावादिव विनिहन्तुं धरणिमुधांशुः प्रभवति नास्मान् ॥२३६॥

मदनेन कामेन मदनादनङ्गोदयाद्वा विनोदो विलासः स्वेच्छया विविधचेष्टा काम-
क्रीडा सुरतादिर्वा अस्यास्तीति मदनविनोदी तिमिर्मत्स्यः कान्तां स्वप्रेमवतीं लीलावतीं
मत्स्यीं प्रति इति वदति जल्पति । हे प्रिये, मुनीन्दोः साधुसुधाकरस्य वचनविलासा-
त्कृपाप्रपञ्चाश्रितवाचां वैचित्र्यात् धरणिमुधांशुरचला चक्रचन्द्रमाः साहिरस्मान्विनि-
हन्तुं न प्रभवति न समर्थो भवति । धरणिशब्दो द्रस्त्रोऽपि दृश्यते नाटकशास्त्रे । यथा—
‘प्राचीभागे धरणिविरहिणि कान्तमुद्रे समुद्रे’ इत्यादि । तथा च वाग्भटालंकारे—‘मुदा
यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वचनचरैर्मुहुः श्रुत्वा हेलोदृतधरणिभारं भुजवलम् । दरोद्-
च्छद्भर्माङ्गुरनिकरदम्भात्पुलकिताश्वमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे ॥’ इति ।
उत्प्रेक्ष्यते—अनिमिषभावाद्देवत्वादिव । ‘अनिमिषो देवमीनयोः’ इत्यनेकार्थः । देव-
देव्यो हि मनुष्येण हन्तुं न शक्यन्ते ॥ इति मत्स्यमिथुनालापः ॥

व्याधेन वेधीकृतकाययष्टी मृगीव तत्साध्वसधावमाना ।

त्रासातिमात्रास्थिरनेत्रपत्रा वादालबालेत्यलपत्प्रियं स्वम् ॥ २३७ ॥

वादालः सहस्रदंष्ट्रः मत्स्यविशेषस्तस्य बाला स्त्री स्वं प्रियमात्मीयं वल्लभमित्यलपन्नि-
गदति स्म । किंभूता । धावमाना पलायमाना प्रणश्यन्ती । केन । तत्साध्वसेन तस्मान्मु-
गयो राज्ञो भयेन कीनाशदासीकरणातङ्गेन । पुनः किंभूता । त्रासादाकस्मिकभयादति-
मात्रमतिशयेनास्थिरं चञ्चलतमे नेत्रपत्रे विलोचनदले यस्याः । केव । मृगीव । यथा
व्याधेन लुब्धकेन वेधीकृता शरव्या विहिता । ‘रूषा शरव्याकरणे दिवौकसाम्’ इति
नैषधे । यकारसहितस्यापि च्विप्रत्ययः । काययष्टी तनुलता यस्याः तादृशी मृगी सारङ्गी
व्याधस्य भयेन प्रणश्यन्ती त्रासान्नितान्तरललोचना स्यात् ॥

वादाली किमालाप तदेवाह—

वादाल कुदालवदाने किं दंष्ट्राः स्फुटीकृत्य सुखेन शेषे ।

गम्भीरताभिश्चुलकीकृताब्धेस्त्वद्भानुसूनुर्यदुपैति भूपः ॥ २३८ ॥

हे वल्लभ वादाल सहस्रदंष्ट्र, आनने खमुखे कुदालवद्भूखननोपकरणविशेषानिव । 'को-
दालाः' इति लोके प्रसिद्धाः । दंष्ट्रा दाढाः स्फुटीकृत्य विकाश्य सुखेन जलशयेन किं कथं
शेषे निद्रायमाणो वर्तते । यत्कारणात् त्वद्भानुसूनुः तव भवतो भानोरादित्यस्य सूनूर्न-
न्दनो धर्मराजो वर्तते त्वद्वधकः अकम्बर उपैति समागच्छति । सोऽलपत्—भद्रे, अहं
समुद्रमध्ये, तन्मां कथं मारयिष्यति । अत एव सा वक्ति । किंभूतः साहिः । गम्भी-
रताभिः खगाम्भीर्यैः चुलकीकृतः गण्डूषमात्राम्भोविहितोऽब्धिः समुद्रो येन । कुम्भो-
द्भववत्पीतपयोनिधिस्तत्कथमात्मानं रक्षति ॥ युगमं संगत्या न क्रियया ॥

स स्माहेति सहस्रदंष्ट्रमहिलामालिङ्ग्य लीलालसो

मा गाः साध्वसमध्वराशनपतेः पाथोधिनेमेरतः ।

श्रीमत्सूरिगिरा महाव्रतिवपुःपाथोनिशोपासना-

प्रोद्भूतप्रणयादिव प्रियतमे नास्मान्हिनस्ति प्रभुः ॥ २३९ ॥

लीलया विलासेन नर्मणा वा मन्थरोऽपरकर्मण्यलसः सहस्रदंष्ट्रमहलां स्वां प्रियां
वादालीमालिङ्ग्य स्वहृदयेन दयिताहृदयं गाढमाश्लिष्य स वादाल इति आह स्म व्रूते स्म ।
हे प्राणितप्रियतमे भीरु, अतोऽस्मादकम्बरात् पाथोधिनेमेर्जलधिचक्रवालाया वसुधाया
अध्वराशनपतेर्यज्ञभोजनप्रभोरिन्द्रस्य अध्वरा यज्ञा अशनं भोजनं येषां तेषां देवानां
पतिः स्वामी तस्माद्भूमीन्द्रात् साध्वसं भयं मा गा मा व्रज । यस्मात् श्रीमत्सूरिगिरा
वाक्यात् स प्रभुः साहिरस्मान्न हिनस्ति नालभते । उत्प्रेक्ष्यते—महान्ति सर्वोत्कृष्टानि
मेरुवद्भुवमशक्यानि यस्य तादृशस्य सूरैरन्यस्य कस्यापि साधोर्वा नाम्ना वशंकरस्य
महाव्रतिनो वपुः शरीरं यत्पाथः पानीयं तस्यानिशं निरन्तरं या उपासना सेवा ततः
प्रोद्भूतः प्रकटो जातः प्रणयः स्नेहः प्रेमातिरेकस्तस्मादिव ॥ इति वादालमिथुनालापः ॥

नक्राद्यानुपसृत्य तत्प्रियतमा इत्यूचुरातङ्किताः

कीलालेष्विव लोलुपाशयतया हन्ता नृनेतात्मनाम् ।

तेऽप्याख्यन्निति वज्रबाहुनृपवद्गोपायति क्षमापति-

र्जन्तूञ्जन्तुपितामहः स करुणाकलोलिनीवल्लभः ॥ २४० ॥

नक्रा जलयादौविशेषाः कुम्भीराः मत्स्यजातयस्ते आद्या आदिभूता येषां येषु वा
ते नक्रचक्रपाठीनकुम्भीरालस्यकुम्भीमहामुखप्रमुखानुपसृत्य समीपमागत्य आतङ्किता
भूपतेर्भीतिव्याकुलीभूतास्तेत्प्रियास्तेषां नक्रादीनां पत्न्यः इत्यमुना प्रकारेणोचुः कथयां-
चक्रुः । इति किम् । हे प्राणवल्लभाः, नृनेता नरपतिरकम्बरः आत्मनां यावदात्मजातिजन्तूनां

हन्ता घातयिता[स्ते] विद्वद्व्यसनवशंवदानां कृत्याकृत्यविवेको न भवत्येव । उत्प्रेक्ष्यते—
 कीलालेषु रुधिरेषु लोलुपो लम्पटो लुब्ध आशयो मनो येषां तत्तयेव रुधिरपानलुब्धम-
 नस्त्वेनेव । ‘कीलालं रुधिरे जले’ इत्यनेकार्थः । तत्त्वतस्तु जलचरत्वेन जले एव
 लोलुपाशयाः । ततस्ते नकाद्या जलयादोत्रजा अपि निजदयिताः स्वस्वप्रियाः प्रति
 इत्याख्यन् इदमाचख्युः । हे प्रियाः, स क्षमापतिर्नृपः जन्तूनां प्राणभृतां पितामहः
 पितृपिता भवन् सन् जन्तून् सर्वसत्त्वान् नृमृवद्गोपायति रक्षति । किंभूतः । करुणा
 जगज्जन्तूपरि कृपा तस्याः कलोलिनीवल्लभो नदीनायकः समुद्रः । किंवत् । वज्रबाहुनृपवत्
 श्रीशान्तिनाथपूर्वजन्मवज्रबाहुमहीपतिरिव । पारापतप्रमुखाननेकसत्त्वान् । तथा सूरि-
 गिरा इत्यध्याहारादयमासीदिति ॥ इति नकादिजलजन्तुमिथुनालापः । इति जलचराः ॥

चौलुक्यावनिजानिनेव निखिलेऽकूपारकाञ्चीतले

श्रुत्वा प्राणिगणैरमारिमवनीकान्तेन संकल्पिताम् ।

गर्जन्तीह गजा हसन्ति हरिणाः कूर्दन्त्यथो कासरा

हृष्यन्ति द्विरदद्विषः सुखमधुर्वाघ्रीणसद्वीपिनः ॥ २४१ ॥

केकायन्ते कलितललनाकेलयो नीलकण्ठा

माकन्दस्था विदधति पिकाः पञ्चमालापलीलाम् ।

शब्दायन्ते शिखरिशिखरस्थायुकास्ताम्रचूडाः

कीरा धीरा इव तरुशिरस्यन्वतिष्ठंश्च गोष्ठीः ॥ २४२ ॥

प्रीतिप्रहां रमयति रहः स्वां चकोरीं चकोर-

श्वेरं स्वैरं गृहबलिभुजः खञ्जनाः खे विलेसुः ।

लीलायन्ते धवलगरुतः प्रोच्छलन्ति स्म मत्स्या

विश्वस्यासन्निव सुखमया वासरास्ते तदानीम् ॥ २४३ ॥

चौलुक्यावनिजानिना कुमारपालभूपालेनेव निखिले समग्रे अकूपारः समुद्रः स एव
 काञ्ची मेखला यस्यास्तस्याः तले । भूमण्डले इत्यर्थः । अवनीकान्तेनाकम्बरेण संकल्पितां
 प्रवर्तिताममारि जीवदयां श्रुत्वा निश्म्य इह जगति गजाः सर्वेऽपि वन्यचारिणः
 गर्जन्ति सजलजलधरवद्रम्भीरधीरगर्जारवं कुर्वन्ति । पुनर्हरिणा हर्षेण हसन्ति मिथो
 हास्यं कुर्वन्ति । अथ पुनः कासरा महिषाः कूर्दन्ति नभसि फालां ददते । च पुनर्द्विर-
 दद्विषः केसरिणः हृष्यन्ति उद्धुषितकेसरसटाटोपः प्रमोदमेदुरी । पुनर्वाघ्रीणस्तः
 खङ्गिणो ‘गांडां सावज’ इति प्रसिद्धाः । तथा द्वीपिनो व्याघ्राः चित्रकाया वा । तथा
 गिरिनारिगिरिगहने व्याघ्रीचित्रकचित्रकीव्याघ्राणां च संयोगे जायमानास्तत्र ‘दीपडाः’
 इति प्रसिद्धाः सुखं सातमधुर्विभ्रति स्म । सातेन शेरते इत्यर्थः । पुनः कलिता निर्मिता

ललनाभिर्मयूरीभिः समं केलयो विलासा यैस्तादृशा नीलकण्ठाः केकायन्ते सताण्डवा-
 डम्बरं केकारवं कुर्वते । पुनर्मोकन्दस्थाः स्मितसहकारशाखिशिखास्थायुकास्तत्कलिकाकद-
 म्बकास्वादसुन्दरीभूतनूतनाकुण्ठकण्ठाः पञ्चमनाम्रो रागस्य आलापस्य आलपनस्य घोल-
 नाया लीलां विनोदं विदधति । तथा शिखरिणां पत्रलपादपानां शिखरेषु तिष्ठन्तीत्येवं-
 शीलाः स्थायुकाः स्थायिनः सन्तस्ताम्रचूडाः कुकुटाः शब्दायन्ते जगत्प्रबोधं विदधति ।
 पुनर्धराराः पण्डिता इव । यथा हैम्याम्—‘ज्ञः प्राप्त्यरूपकृतिरुपानिरूपधीराः’ इति ।
 कीराः शुकास्तरूणां पुष्पितफलितद्रुमाणां शिरसि शिखरे उपरिशिखायां गोष्ठीः परस्पर-
 वार्ताः अन्वतिष्ठन् चक्रुः । पुनश्चकोरो ज्योत्स्नाप्रियः प्रीत्या स्नेहेन कृत्वा प्रह्लां नम्रीभूतां
 स्वामात्मीयां चकोरीं रह एकान्ते रमयति । पुनर्गृहबलिभुजश्चटकाः स्वैरं स्वेच्छया चेरुः
 पर्यटन्ति स्म भक्षयन्ति स्म । च पुनः खञ्जना आकाशे विलेसुः विलसन्ति स्म चि-
 क्रीडुर्वा । पुनर्धवलगरुतो राजहंसा लीलायन्ते मन्थरगमनैर्विचरन्ति । पुनर्मत्स्या मीनाः
 प्रोच्छलन्ति प्रकर्षेणोच्चैरुत्पतन्ति । साहेर्भृगयानियमनाकर्णनात्सर्वेऽपि प्रमोदभाजो
 जन्तवः स्वतन्त्रं क्रीडन्ति तर्हि ते दिनाः [वसा] कीदृशा जाताः तदानीं तस्मिन्प्रस्तावे
 तेऽमारिसत्का वासरा दिवसा विश्वस्य सर्वस्य जलस्थलवारिचरजन्तुवर्गस्य सुखमयाः
 शर्मप्रचुराः । यदुक्तं रघुवंशे—‘क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्त्यदि जन्तुर्न तु लाभवानसौ’
 इति । इति वचनात्परमानन्दमया इवासन् बभूवुः । परममारिपटहोद्धोषणव्यतिकरे
 इत्यर्थः ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

मधुना मञ्जरीमालालंकृताः फलदा इव ।

अमारिमण्डिताः सर्वे कृतास्तेनात्मनीवृतः ॥ २४४ ॥

तेनाकम्बरेणात्मनीवृतः निजजनपदा अमारिमण्डिता जीवानुकम्पाविभूषिताः
 कृता निर्मिताः । केनेव के । मधुना फलदा इव । यथा वसन्तेन सर्वे महीरुहा मञ्ज-
 रीणां कलिकानां उपलक्षणात्पल्लवपुष्पफलानां च मालाभिरावलीभिरलंकृताः क्रियन्ते ।
 यदुक्तम्—‘अर्थो नराणां पतिरङ्गनानां वर्षा नदीनामृतराद् तरुणाम् । स धर्मचारी
 नृपतिः प्रजानां गतं गतं यौवनमानयन्ति ॥’ इति ॥

प्राचीनापगुदीचीनप्रतीचीनावनीधनाः ।

साहिप्रवर्तितामारिं शेषामिव शिरस्यधुः ॥ २४५ ॥

पूर्वदिग्दक्षिणदिक्पश्चिमदिगुत्तरदिक्संबन्धिनो भूमीकान्ता राजानश्चतसृणामपि
 दिशामधीशाः उपलक्षणाद्विदिशामपीशास्ते कर्तारः साहिना प्रवर्तितामारिं सकल-
 जीवदयां शेषां देवेन स्वामिना वा प्रदत्तप्रसादमिव शिरसि मस्तके अधुर्धारयन्ति
 स्म । शेषाः शीर्षा अपि । ‘सेस’ इति लोकप्रसिद्धा ॥ इति श्रीहीरविजयसूरिवचनादक-
 म्बरसाहिना निखिलमण्डलेष्वमारिः प्रवर्तिता ॥

१. दिनशब्दस्य वस्तुतः पुंस्त्वाप्रसिद्धत्वेन चिन्त्योऽयं प्रयोगः, अर्शाद्यजन्त-
 त्वात्पुंस्त्वं वा.

श्रीसूरीश्वरहीरहीरविजयैस्तैः स्थानसिंहः स्वयं
निर्माप्यातिमहोत्सवेन भगवद्विम्बप्रतिष्ठापयाम् ।

कल्याणश्रियमर्थिसार्थवशगां कुर्वन्नपि प्रीतिमा-

नेतच्चित्रममुत्र तन्निजवशां तां निर्मिमीते स्म यत् ॥ २४६ ॥

अमुत्रास्मिन् जगति तत्प्रसिद्धमेतद्दृश्यमानं चित्रमाश्चर्यमास्ते । तत्किम् । थानसिंहो यत्तां कल्याणश्रियं मुक्तिलक्ष्मीं निजवशां स्वायत्तां निर्मिमीते स्म चकार । किंभूतः । प्रीतिमान् मुक्तिलक्ष्मीं प्रति ज्ञेहवान् । अन्यत्र प्रमोदमेदुरिताङ्गयष्टिः । पुनः किं कुर्वन् । कल्याणश्रियं सुवर्णविभूतिमर्थिनां याचकानां सार्थस्य वर्गस्य वशगां वशवर्तिनीं कुर्वन्नपि सृजन्नपि । किं कृत्वा । इह फतेपुरमध्ये तैरकब्बरसाहिबहितसन्मानैः श्रिया शुद्धाचारत्वेन यशोलक्ष्म्या युक्तानां सूरीणामपरेषामनूचानानां मध्ये ईश्वराः अधिपतयः ज्ञानवर्गादिभिर्महीयांसस्तेषु हीरैश्चूडामणिकल्पैर्हीरविजयसूरिभिः स्वयमात्मना अप्रतिमेनासाधारणेन उत्सवेन महेन भगवतां तीर्थकृतां विम्बानां प्रतिमानां प्रतिष्ठां वा सक्षेपाञ्जनशलाकादिकां निर्माप्य कारयित्वा ॥

श्रीमदुर्जराराजवीरधवलाधीशः समुत्कण्ठितः

स्वेन श्रीकरणाभिधानपदवीं श्रीवस्तुपालं यथा ।

सूरिक्षोणिमहेन्द्रहीरविजयस्तस्मिन्महेऽस्याग्रहे-

णौपाध्यायपदं निनाय विबुधं शान्त्यादिचन्द्राभिधम् ॥२४७॥

स जगद्विख्याताकब्बरप्रतिबोधविधाता सूरिष्वनूचानेषु क्षोणिमहेन्द्रः पृथिवीपाकशासनो राजा श्रीहीरविजयसूरिस्तस्मिन् प्रतिष्ठासंबन्धिनि महे महोत्सवे अस्य थानसिंहस्याग्रहेण शान्तिरिति पदमादौ यस्य तादृशी चन्द्र इत्यभिधा नाम यस्य तादृग्विबुधं विबुधं प्रज्ञांशमुपाध्यायपदं निनाय प्रापितवान् । शान्तिचन्द्रप्रज्ञांशस्योपाध्यायपदं ददावित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तं वक्ति—यथा सम्यगुत्कण्ठा औत्सुक्यं जातमस्येति समुत्कण्ठितः श्रीमान्मण्डलक्ष्मीकलितः गुर्जराणां राजा स्वामी वीरधवल इति नामाधीशः प्रभुः स्वेनात्मना श्रिया भाग्यवैभवेन युक्तं वस्तुपालं तेजःपालज्येष्ठभ्रातरं श्रीकरणान्त्रीं पदवीमधिकारविशेषम् । मित्रित्वमित्यर्थः ॥ इति थानसिंहप्रतिष्ठायां शान्तिचन्द्रस्योपाध्यायपदम् ॥

दुर्जनमल्लो दुर्जनमल्ल इव गुणैर्महीपतेर्मान्यः ।

समहं प्रत्यष्टापयदर्हत्प्रतिमा मुनीन्द्रेण ॥ २४८ ॥

दुर्जनमल्लो नाम भ्राद्रो मुनीन्द्रेण सूरिपार्श्वे समहं महामहकलितं यथा स्यात्तथा अर्हत्प्रतिमा भगवद्विम्बानि प्रत्यष्टापयत् प्रतिष्ठापयति स्म । किंभूतः । गुणैरौदार्यधैर्यम-

णिपरीक्षाकारकादिभिः कृत्वा महीपतेरकम्बरसाहेमान्यो बहुमाननीयः । पुनः गुणैर्दुर्जनानां कर्णेजपानां खलानां वा मल्ल इव मल्लः प्रतिपक्षः ॥

समहं मथुरापुर्या यात्रां पार्श्वसुपार्श्वयोः ।

प्रभुः परीतः पौरौषैश्चारणर्षिरिवाकरोत् ॥ २४९ ॥

प्रभुर्हीरविजयसूरिः मथुरापुर्या मधूपन्नगरे समहं सोत्सवं चारणर्षिर्विद्याजङ्घाचारणादिमुनिरिव पौरौषैर्नागरिकनिकरैः परीतः परितुतः संघेन सहितः पार्श्वसुपार्श्वयोर्द्वयोर्विशतितमसप्तमजिनचन्द्रप्रतिमयोर्यात्रामकरोच्च कृतवान् ॥

जम्बूप्रभवमुख्यानां मुनीनामिह स प्रभुः ।

ससप्तविंशतिं पञ्चशतीं स्तूपान्प्रणेमिवान् ॥ २५० ॥

स प्रभुर्हीरसूरिरिहैव मथुरानगर्या जम्बूनाममहावीरदेवस्य द्वितीयपट्टधरः, चरमकेवली प्रभवनामा तृतीयः पट्टधरः, तौ मुख्यौ प्रकृष्टावाद्यौ वा येषां तेषां मुनीनामुपलक्षणात्साध्वीनामपि परं तन्मध्यवर्तिनामेव सहसप्तविंशत्या वर्तते या तादृशी पञ्चशतीं स्तूपान् प्रणेमिवान्नमति स्म । पञ्चशती प्रभवस्वामिसहिता चौरसाधूनां जम्बूस्वामियुक्तानामष्टानां कनीनां नवानामपि मातृपितृणां नव त्रिभिर्गुणिताः सप्तविंशतिर्जातं यथोक्तमानं सप्तविंशत्यधिका पञ्चशतीस्तूपाः सन्तीति ॥ मथुरायात्रा ॥

गोपालशैलेऽथ सुपर्वसद्भावष्टम्भनस्तम्भ इवाभ्युपेत्य ।

समं जनौषैर्जिनसार्वभौमं ककुब्जकेतुं नतवान्त्रतीन्द्रः ॥ २५१ ॥

अथ मथुरायात्रानन्तरं त्रतीन्द्रः सूरिः जनौषैर्वैभक्तिकप्रकरैः समं सार्धमुपेत्यागल्य गोपालशैले 'ग्वालेरगढ' इति लोकोक्त्या तत्र ककुब्जान् वृषभः केतुश्चिह्नं यस्यैतावता ऋषभस्वामिनं जिनाः सामान्यकेवलिनः तेषु तेषां मध्ये वा सार्वभौमं चक्रवर्तिनं नतवान् प्रणमति स्म । किंभूते गोपालशैले । सुपर्वसद्भनः स्वर्गस्यावष्टम्भनार्थमाधारकृते विधिना विश्वसृजा कृते स्तम्भे स्थूणा वागिव ॥

द्वापञ्चाशद्भजमितवृषभप्रतिमां स सिद्धशैल इव ।

प्रभुरपरा अपि तस्मिन्मूर्तीर्जैनीरनंसीत्सः ॥ २५२ ॥

स प्रभुः सूरिः सिद्धशैले शत्रुंजयपर्वते इव तस्मिन् गोपगिरौ द्वापञ्चाशतो गजा वज्रादिप्रमितिकरणार्थं वंशमया काष्ठमया वा यष्टिविशेषास्तैर्द्विपञ्चाशद्भिर्मिता प्रमाणीकृता या वृषभस्यादिनाथस्य प्रतिमा मूर्तिस्तामाशां वरीयाकृतित्वाद्वासक्षेपपूर्वकमनंसीत् प्रणतवान् । अपि पुनरपरा अन्या अपि जैनीर्जिनसंबन्धिनीर्मूर्तीः प्रतिमाः पञ्चाशच्चत्वारिंशत्पञ्चात्रिंशद्भिर्वादिगजमानास्तथैव पूर्वप्रतिमावन्नेमिवान् ॥

१. मध्यमपदलोपिसमासत्वेन नानडादिः प्रसक्तिः.

यात्रां कृत्वात्र सुत्रामा यथा नन्दीश्वरे दिवम् ।

प्रभुर्विभूषयामास पुनरप्यागरापुरम् ॥ २९३ ॥

प्रभुः सूरिरत्र गोपगिरौ यात्रां जिनपादप्रणतिं कृत्वा भावविधिपूर्वं विधाय पुनरपि व्याख्य तदेवागरानाम नगरं विभूषयामासालंकृतवान् । दृष्टान्तमाचष्टे—यथा सुत्रामा सौधमेन्द्रः नन्दीश्वरे जम्बूद्वीपादष्टमे द्वीपे भगवत्कल्याणकादिगाहाहिकादिषु यात्रां गीतमृत्त्यकारापणादिमहोत्सवं निर्माप्य पुनरपि दिवं स्वर्लोकं भूषयति ॥ इति गोपगिरियात्रा ॥

यः सेरद्विकखण्डलम्भनिकया ख्यातोऽखिले मण्डले

श्रद्धावानिह मेदिनीपुरसदारङ्गः प्रभोर्भक्तितः ।

सोऽदान्मूर्तमिवेन्द्रकुम्भिनमिभं लक्षप्रसादं पुन-

र्वाहानां नवतिं च काञ्चनमणीस्वर्णांशुकाद्यर्थिनाम् ॥ २९४ ॥

तस्मिन्नवसरे इहागरानगरे सः दानशक्त्या प्रसिद्धो मेदिनीपुरस्य मेढतानगरस्य वास्तव्यः सदारङ्गनामा श्रद्धावान् श्रावकः प्रभोः सूरिन्दोरुपरि भक्तितः भक्तिवशाद्वागातिशयात् । अर्थिनां याचकानामिति सर्वत्र योज्यम् । मूर्तं मूर्तिमन्तं भूमावागतमिन्द्रकुम्भिनमैरावणमिव इभं गजोचितपरिकरादिकलितकरिणमदाद्दौ । पुनर्लक्षप्रसादं 'लक्षप्रसाय' इति जनप्रसिद्धिः च पुनर्वाहानां जाल्यतुरङ्गाणां नवतिं नवतिप्रमाणानश्वान् ददिवान् । पुनः काञ्चनैः सुवर्णैर्मणीभिः रत्नैः उपलक्षितां स्वर्णं मुद्रा अङ्गुलीयकानि । 'साक्षराङ्गुली मुद्रा' इति हैम्याम् । 'वेढवीटी' इति प्रसिद्धा । तथा अर्थिनां अंशुकानि नानाविधवस्त्राणि । आदिशब्दादुर्णायवः 'सखलातपामरी' इति जनप्रसिद्धाः । दत्ते स्म । श्रूयते हि—कस्मिन्नपि व्यतिकरे पातिसाहिमार्गेण सूरिन्द्रः करीन्द्रमज्ञानाद्याचितः । तदवसरे च करिराजसमर्पकं सकलसंघमनुनीय सदारङ्गसाधुः स्वयमेव श्रीहीरविजयसूरिन्दोरुपरि न्युञ्जन् निर्माय तस्य साहिडुम्बकस्य सर्वगजोपकरणपरिकलितं गजं परस्य कस्यापि तादृशस्य लक्षप्रसादमन्येषां च नवतिं तुङ्गतुरङ्गमानां परेषां च वस्त्रस्वर्णमणिभूषणौर्णयुप्रमुखं प्रदत्तवानिति । स कः । यः सदारङ्गश्राद्धः सेरयोर्लोकप्रसिद्धयोर्मानविशेषयोर्द्विकं युगलं तन्मितानां खण्डानां मधुधूलीनां लम्भनिकया प्रतिमथनप्रदानेनाखिले मण्डले ख्यातः प्रसिद्धिमान् जातोऽस्ति ॥ इति श्रीहीरविजयसूरिश्राद्धदानम् ॥

मुक्त्वामात्यमिवावनीशसविधे शान्त्यादिचन्द्राभिधो-

पाध्यायं प्रविधाय तत्र विषये वर्षाश्चतस्रः स्वयम् ।

श्रीकम्मातनयव्रतीन्द्रविलसत्संघाग्रहाद्गुर्जरा-

द्रच्छन्नागपुरे स्म तिष्ठति चतुर्मासीं स नागेन्द्रवत् ॥ २९५ ॥

स सूरिर्नागपुरे नगरे प्रसिद्धे नगरे चतुर्मासीं वर्षासमयं तिष्ठति स्म । किंवत् । नागे-

न्द्रवत् । यथा नागानां राजा नागपुरे भोगवत्यां नगर्यो तिष्ठति । किं कुर्वन् । श्रियाः
आचार्यलक्ष्म्या कलितो यः कम्माख्यसाधोस्तनयः पुत्रो व्रतीन्द्रः सूरिरेतावता विज-
यसेनसूरिस्तेन विलसन् शोभमानो यो गुर्जरदेशसंघः साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूप-
समुदायस्तस्याग्रहातपुरोधादुर्जराधुधरित्रीपदं प्रति गच्छन् प्रतिष्ठमानः । किं कृत्वा ।
अमाख्यं सचिवमिव अवनीशस्याकब्बरपातिसाहेः सविधे संनिधाने शान्तिरिति पदमादौ
यस्य तादृशं चन्द्रोपाध्यायम् । शान्तिचन्द्रवाचकमित्यर्थः । मुक्त्वा कार्यकरणार्थं संस्थाप्य
पुनस्तत्र मेवातनाम्नि विषये मण्डले स्वयमात्मना चतस्रश्चतुःसंख्याकाः वर्षाः प्रावृत्का-
लप्रतिबद्धाश्चतुर्मासीः प्रविधाय कृत्वा । स्थित्वेत्यर्थः ॥ इति मेवातमण्डलादागत्य नागपुरे
चतुर्मासककरणम् ॥

तस्मिञ्जगन्मलमहीन्द्रमन्त्री मेहाजलो नाम वणिञ्जहेन्द्रः ।

भक्तिं व्यधात्कृत्प्रमहो मुनीन्द्रोः पद्मावतीकान्त इवाहिकेतोः ॥ २५६ ॥

तस्मिन्नागपुरे जगन्मल्लो जगमाल इति नाम्ना महीन्द्रो राजा तस्य मन्त्री प्रधानो
मेहाजल इति नाम वणिकसु नैगमेषु महेन्द्र इन्द्रसदृशः मुनीन्द्रोः सूरिन्द्रस्य भक्तिं
सेवां पर्युपासनां व्यधात् चकार । किंभूतः । कृतो निष्पादितोऽखिलपुरजन्मार्थानार्थ-
जनैर्महो उत्सवो येन । क इव । पद्मावतीकान्त इव । यथा धरणेन्द्रः अहिकेतोः श्री-
पार्श्वनाथस्य स्वस्य नागेन्द्रपदप्रदानप्रमोदेनान्यप्रकारेण वा महोत्सवं कुर्वन् भक्तिं
विधत्ते ॥

श्रीमज्जेसलमेरुनामनगरादागत्य संघान्वितः

कोष्ठागारिकमाण्डणो मुनिमणिं सौवर्णटङ्कैर्मुदा ।

सिद्धौ स्वर्मणिवत्प्रपूज्य तृणयल्लक्ष्मीं पुनस्तत्पुरे

नानादानविधौचितीं प्रकटयांचक्रे यथा विक्रमः ॥ २५७ ॥

कोष्ठागारिकः धान्यकोष्ठाध्यक्षः लोकप्रसिद्ध्या 'कोठारी' माण्डणः । 'ग्रामनाम्नोः सं-
स्काराभावः कचित्' इति वचनान्माण्डणः । संस्कारे तु मण्डन इति नाम्ना वणिक् श्राद्धः
तस्मिन्नागपुरे पुनरित्यन्यार्थे अन्यानां नानाविधानां दानानां स्वर्णरजतांशुकोर्णयुखण्ड-
घृताद्यनेकप्रकाराणां विश्राणनानां विधा विधयः प्रकारा वा तेषामौचितीमुचिततामौ-
चित्यं प्रकटयांचक्रे प्रकाशयामास । दृष्टान्तमाचष्टे—यथा विक्रमो विक्रमादित्यः
नानादानविधौचितीं प्रकटीचक्रिवान् । माण्डणः किं कुर्वन् । तत्पुरे तस्मिन्नागपुरनगरे
खल्लक्ष्मीं निजविभवं तृणयन् तृणमिव गणयन् । विविधलम्भनिकाभिर्याचकदानैश्चेत्य-
ध्याहारः । किं कृत्वा । मुदा हर्षेण सिद्धयै महानन्दप्राप्तये मुनिमणिं हीरविजयसूरिपु-
रंदरं सौवर्णटङ्कैः 'सोनइयाइ' इति प्रसिद्धैः प्रपूज्यार्चयित्वा । किंवत् । स्वर्मणिवत् । यथा
कोऽपि सिद्धयै स्वार्थसंप्राप्तये विभवार्यं चिन्तामणिं पूजयति । किं कृत्वा । श्रीमतो
लक्ष्मीः दुर्गादिशोभा वा विद्यते यस्मिंस्तादृशं यज्जेसलमेरुनामाभिधानं यस्य तादृशाज्ञग-

रात् । जेसलमेरुपुरादिलर्थः । आगल्य । किंभूतो मण्डनः । संघेन । यद्यपि संघशब्देन चातुर्वर्ण्यं गृह्यते, तथाप्यत्राधिकारात् श्राद्धश्राद्धीसार्थेनान्वितः सहितः ॥

..... ।

..... ॥ २९८ ॥

परेऽपि अन्यान्यनगरसंबन्धिनः संघाः क्रमात्तत्र नागपुरे उपागल्य समेत्य विभोर्ही-
रसूरेः पादांश्चरणानभिवन्द्य नमस्कृत्य निजं निजं स्वं स्वं स्थानं नगरग्रामादिकमास्पदं
ययुर्गताः । कानिव । अभिवन्द्य तीर्थानिव । यथा संघा विविधप्रासनगरजनपदसंबन्धिनः
श्राद्धीसखश्राद्धसार्थाः शत्रुजयोज्यन्तार्जुदाष्टापदसमेतशिखरादिषु विभोर्भगवतः पादान्
जिनबिम्बान् जिनपादुकान्वा अभिवन्द्य प्रणम्यार्चित्वा च निजनिजस्थानं यान्ति ॥

यदन्यनीवृत्ततिमुद्रिकायां विभर्ति माणिक्यमिवात्र लक्ष्मीम् ।

क्रमात्प्रतिक्रम्य स तत्पुरे चतुर्मासीं विहारं विदधे व्रतीश्वरः ॥ २९९ ॥

स सूरिः क्रमात्पुरुषणापरिपोष्या तत्पुरे तस्मिन्नागोरनगरे चतुर्मासीं प्रतिक्रम्य
अथ वा कार्तिकचतुर्मासकं प्रतिक्रम्य व्रतीश्वरो यतिराजो हीरसूरिर्विहारं विदधे वि-
हितवान् प्रतिष्ठते स्म । तत्किम् । यत्पुरम् अन्येऽपरे ये नीवृत्तो जनपदास्तेषां ततिः
श्रोणिः सैव मुद्रिका अञ्जुलीयकं तस्यां माणिक्यं महर्घ्यमणिरिवात्र भूमण्डले लक्ष्मीं
शोभां विभर्ति धत्ते । ‘और देस सब मुंदही उर नागोर नगीना’ इति तत्रत्यजनैः
प्रसिद्धिरद्यथावत् श्रूयते ॥ इति नागपुरचतुर्मासकम् ॥

पीपाढिनाम्नि स्वपुरे प्रभोर्मरुत्पुरोपमे नागपुरादुपेयुषः ।

तालाहसाधुर्यधिताधिकोत्सवं तदा प्रदेशीव मुदान्तिमार्हतः ॥ ३०० ॥

तदा तस्मिन्सूरिसमागमनावसरे पीपाढि इति नाम यस्य तस्मिन् पीपाढिनाम्नि
स्वपुरे आत्मीयनिवसननगरे ताला इत्याह्वा नाम यस्य तादृशः साधुर्वणिक् । तालोसाह
इत्यर्थः । प्रभोर्हीरसूरेरधिकमतिशायिनमुत्सवं व्यधित कृतवान् । प्रभोः किं चकुषः ।
नागपुरादुपेयुषः आजगमुषः । किंभूते स्वपुरे । मरुत्पुरोपमे मरुतो देवास्तेषां पुरं पत्तन-
ममरावती तस्योपमा सादृश्यं यस्य तादृशे । क इव । प्रदेशीव । यथा केशीप्रतिबोधित-
प्रदेशी नामा नृपतिः अन्तिमार्हतश्वरमतीर्थकृतः श्रीमहावीरस्वामिनः छद्मस्थावयाम-
प्रतिबद्धं विहरतः स्वपुरं स्वकीयश्वेताम्बीनगर्या समागतस्यात्यभ्यधिकमहोत्सवं विधत्ते
स्म । किं च श्रीसूरीणामागमनावसरे आउआपुरे तालाह्वा आसीत् । तदवसरे तु पाति-
साहेरायत्तत्वात्पीपाढिनगरे निवसतीति तात्पर्यम् ॥

ग्रामाश्चद्विपताम्रखान्यधिपतिः सामन्तवद्योऽजनि

श्रीमालान्वयभारमल्लतनयः श्रीइन्द्रराजस्तदा ।

आह्वातुं सुगुरुन्स्वकीयसचिवास्तेनाथ संप्रेषिताः

प्रासादे निजकारिते भगवतां मूर्तिप्रतिष्ठाकृते ॥ २६१ ॥

तदा तस्मिन् पीपाढिपुरपादावधारणप्रस्तावे श्रिया युक्त इति नामा वणिक् वर्तते । किंभूतः । श्रीमाल इत्यन्वयो वंशो यस्य तादृशो यो भारमलस्तस्य तनयः पुत्रः । पुनः किंभूतः । ग्रामाणां पञ्चशतीजिनानां संनिवेशानां तथा अश्वानां तुरंगमाणां तथा द्वि-
पानां हस्तिनां तथा ताम्राणां खानेराकरस्याधिपतिः स्वामी । किंवत् । सामन्तवत् । यथा सामन्तः सीमालभूपालः कतिचिद्रामपुराधिपतिः सामान्यनृपः ग्रामाश्चद्विपखान्यधिपतिः स्यात् । राजन्यानां तु 'वागिड' इति, यवनानां तु 'उंवरो' इति प्रसिद्धस्तत्तुल्य इति । अथ प्रभोर्मरुदेशे समागमनानन्तरं तेनेन्द्रराजेन सुगुरुन् हीरविजयसूरीन् आह्वातुं स्वविराटनगरे आकारयितुं स्वकीयसचिवा निजप्रधानपुरुषाः संप्रेषिताः प्रस्थापिताः । किमर्थम् । निजेनात्मना कारिते निर्मापिते प्रासादे विहारे भगवतां तीर्थकृतां मूर्ति-
प्रतिष्ठाकृते प्रतिमां प्रतिष्ठापयितुम् ॥

ज्ञात्वा शक्ति.....

..... ।

.....

..... ॥ २६२ ॥

अथ विज्ञातेरनन्तरं सूरिवरः अभ्यर्णगं समीपस्थायिनं श्रीहर्षाङ्गजावचकं श्रिया वाचकलक्ष्म्या युक्तं हर्षा इति नाम्नो वणिजः अङ्गजं नन्दनं कल्याणविजयनामानं वा-
चकेष्ववनिमणिमुपाध्यायराजं प्रैषीत् तत्र प्रख्यापयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अपरामन्यां स्वीयामात्मीयां मूर्तिं किं तनूमिव स्वप्रतिमामिव । किं कृत्वा । स्वामात्मीयामशक्तिं शरीरासामर्थ्यं ज्ञात्वा अवधार्य । किं कर्तुम् । इतः पीपाढिपुरात् मेवातमण्डलस्थवि-
राटनगरे गन्तुं प्रयातुम् । ततः प्रेषणानन्तरं सोऽपि वाचकेन्द्रोऽपि सपदि शीघ्रमन-
विच्छिन्नप्रयाणैः क्रमाद्रामानुग्रामविहारपरिपाठ्या तत्पुरं विराटनगरं प्राप्यासाद्य कृत्स्नै-
र्निमितैरसाधारणैस्तस्य तेन च महामहैः प्रतिष्ठां विरचयांचके कृतवान् ॥

रत्नस्वर्णसुवर्णकोपलमयाप्तार्चाप्रतिष्ठाक्षणे

हस्त्यश्वांशुकभूषणाशनमुखानेकप्रकारैस्तदा ।

भोजेनेव पुनर्गृहीतवपुषा विश्वार्थिदौस्थ्यच्छिदे

चत्वारिंशदनेन रूपकसहस्राणि व्ययीचक्रिरे ॥ २६३ ॥

तदा तस्मिन् रत्नानि स्फटिकादीनि स्वर्णं काञ्चनं सुवर्णकं पित्तलम् । यदुक्तं है-
म्याम्—'रीरीरीरीवरीतिश्च पित्तलोहं सुवर्णकम्' इति । उपलः मम्माणीखनिजन्मा
पाषाणस्त एव स्वरूपं यासां तादृशा आप्तानां जिनानामर्चाः प्रतिमाः तासां प्रतिष्ठाक्षणे

स्थापनमहोत्सवे इन्द्रराजेन हस्तिनो गजाः अश्वा वाजिनः अंशुकानि वस्त्राणि भूषणान्याभरणानि अशनानि जेमनवरा मुखानि आद्यानि येषु तादृशैरनेकैर्बहुविधैः प्रकारैः कृत्वा चत्वारिंशन्मितानि रूपकाणां रूप्यटङ्कानां 'रूपया' इति प्रसिद्धानां सहस्राणि व्ययीचक्रिरे व्ययीकृतानि । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वेषां सर्वेषामर्थिनां याचकानां दौस्थ्यच्छिदे दारिद्र्यच्छेदनाय पुनर्द्वितीयवारं गृहीतवपुषा उपात्तदेहेन भोजनेनैव धाराधिराजभोजदेवेनेव ॥ इति विराटनगरप्रतिष्ठा ॥

श्रीरोहिण्याः प्रतिष्ठायै संश्रुतायै स्वयं प्रभुः ।

ततः प्रतस्थे यत्साधोः स्थितिनैकत्र भृङ्गवत् ॥ २६४ ॥

प्रभुर्हीरसूरिस्ततः पीपाडिपुरतः प्रतस्थे प्रचलितः । कस्येव । श्रीरोहिण्याः शिवपुर्याः प्रतिष्ठायै शिवपुरीश्राद्धकारितचतुर्मुखप्रासादतद्विम्बानां च प्रतिष्ठाकृते । किंभूतायै प्रतिष्ठायै । संश्रुतायै इन्द्रराजसचिवागमनात्प्रथममङ्गीकृतायै स्वयमात्मनैव प्रस्थाने । युक्तोऽयमर्थः—यद्यस्मात्कारणात् साधोः संयमिनः स्थितिर्वास एकत्र न स्यात् एकस्मिन्नेव स्थाने न स्यादेव नैव भवेत् । किंवत् । भृङ्गवत् । यथा भ्रमरस्य एकत्र स्थितिर्न स्यात् । यत उक्तम्—'समणाणं सडणाणं भ्रमरकुलाणं गोकुलाणं च । अणियाडवसहीउसारयाणं च मेहाणम् ॥' इति ॥

वरकाणकमागत्य पुरं सूरिपुरंदरः ।

वरकाणकपार्श्वेशं साक्षात्पार्श्वमिवानमत् ॥ २६५ ॥

सूरिपुरंदरो हीरविजयसूरिः वरकाणकनाम्ना पार्श्वयक्षस्य ईशं स्वामिनं पार्श्व एवेशो विश्वनायकः तमनमन्नमस्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रत्यक्षं स्वयमेवमुक्तेरत्रायातं श्रीपार्श्वनाथमिव । किं कृत्वा । वरकाणकमित्यभिधानं पुरमागत्य समेत्य ग्रामनाम्नैव श्रीपार्श्वनाथाभिधानम् । श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथवत् ॥

आगादथाभिमुखमस्य पुरादमुष्मा-

दागच्छतो विजयसेनगुरुर्गणेन्दोः ।

विश्वोपकारकृतिनौ मिलितौ मिथस्तौ

तीर्थाभिभूगणधराविव दिद्युताते ॥ २६६ ॥

अथेत्यपराधिकारे अस्माद्वरकाणकपुरादागच्छतः शिवपुर्यां समवसरतः अस्य गणेन्दोर्हीरविजयसूरैर्विजयसेननामा गुरुराचार्यः अभिमुखं संमुखमागादाययौ तथा तौ भृङ्गरकाचार्यौ मिथः परस्परं मिलितौ संगतौ दिद्युताते राजतः । किंभूतौ । विश्वेषां जगतां समस्तभव्यजीवानां वा उपकारो बोधिबीजदानादिस्तत्र कृतिनौ चतुरौ । उत्प्रेक्ष्यते—तीर्थाभिभूस्तीर्थकरस्तथा गणधराविव ॥

उत्तंसैरिव पत्कजैः शिवपुरीं संप्राप्य भूषां परां

प्रासादे च चतुर्मुखे ध्रुव इव श्रीमन्महोक्षध्वजम् ।

चैत्येऽन्यत्र पुनर्गजध्वजजिनं बिम्बैरनेकैः समं

प्रत्यस्थापयदासपालविलसन्नेताप्रणीतोत्सवैः ॥ २६७ ॥

स हीरसूरिः ध्रुव इव ब्रह्मणीव चत्वारि मुखानि आननानि यस्य तादृशे प्रासादे विहारे श्रीमन्तं त्रैलोक्यलक्ष्मीकलितं महोक्षध्वजं वृषभकेतनमादिनाथं पुनरन्यत्र चैत्ये जिनगृहे गजध्वजं हस्तिलाञ्छनमजितनाथं जितं तीर्थकरं प्रत्यस्थापयत्प्रत्यतिष्ठिपत् । कथम् । समं सार्धम् । कैः । अनेकैः शतसंख्यैर्बिम्बैर्जिनप्रतिमाभिः । कैः । आसपालनाम्ना संघपतिना तथा विलसता शोभमानेन नेतानामसाधुना प्रणीतैः कृतैरुत्सवैः महामहैः । आसपालसंघपतिना चतुर्मुखप्रासादे आदिनाथस्य प्रतिष्ठा कारिता, नेताकेन श्रीअजितनाथचैत्ये श्रीअजितनाथस्य प्रतिष्ठा निर्मिता इति तत्त्वम् । किं कृत्वा । उत्तंसैः शोखैः इव पत्कजैः चरणारविन्दैः शिवपुरीं श्रीरोहिणीनगरीं परां प्रकृष्टां भूषां शोभां संप्राप्य लम्भयित्वा । प्यन्तत्वाद्विकर्मकत्वम् ॥

आरुह्यार्बुदभूधरं जिनपतीन्त्वा पुनर्गुर्जरा-

नप्रस्थातुं स्पृहयन्महीपतिसुरत्राणेन मन्त्रीश्वरैः ।

आगृह्यायममारिनिर्मितिकरव्यामुक्तिपूर्वं समा-

हूतो भूषितवांस्ततः शिवपुरीं वर्षागमे सूरिराट् ॥ २६८ ॥

ततः प्रतिष्ठाकरणान्तरमयं सूरिराट् हीरविजयसूरीन्द्रो वर्षागमे चतुर्मासके शिवपुरीं पुनर्भूषितवानलंकरोति स्म । किंभूतः । महीपतिना सुरत्राणनाम्ना वृषेण मन्त्रीश्वरैः स्वमुख्यप्रधानपुरुषैः सकलेऽपि स्वमण्डले अमारिनिर्मितिर्जीवदयापालनं तथा कराणां राजदे-
यांशानां जनदण्डानां च व्यामुक्तिर्मोचनं पूर्वं यथा स्यात्तथा । यावन्तं समयं श्रीपूज्या मन्त्रगरीमलंकरिष्यन्ति तावत्कालं मदीयाखिलमण्डले अमारिं तथा जनेषु करदण्डमो-
चनं करिष्यामीति वाग्वन्धपूर्वकमित्यर्थः । आगृह्याग्रहं कृत्वा मन्त्रीश्वरैः स्वप्रधानपुरुषैः समाहूतः सम्यक्प्रकारेण संमानदानपूर्वकमाकारितः । सूरिराट् किं कुर्वन् । अर्बुदभू-
धरं हिमाद्रिनन्दनशैलाधिल्याकामारुह्याध्यास्य पुनर्जिनपतीन् चैत्येषु भगवत्प्रतिमां नत्वा प्रणम्य पुनर्गुर्जरान् गुर्जरजनपदं प्रति प्रस्थातुं स्पृहयन् । पुनःशब्दो घण्टालालान्या-
येनोभयत्रापि योज्यते ॥ इति शिवपुरीं प्रतिष्ठाद्वयपूर्वकं चतुर्मासकम् ॥

हेमसूरीश्वरेणेवाणहिल्लपुरपत्तनम् ।

क्रमाद्विहरता तेनालंचके व्रतिचक्रिणा ॥ २६९ ॥

क्रमाच्चतुर्मासकप्रतिक्रमणानन्तरं पारणके विहरता क्रमाक्रमानुग्रामं सुखं सुखाद्वा

विहारं कुर्वता तेन व्रतिचक्रिणा सूरीन्द्रेणाणहिल्लपुरं नाम पत्तनमलंचक्रे । केनेव । हेम-
सूरीश्वरेणेव । यथा हेमचन्द्रसूरिपुरंदरेण पत्तनमलंक्रियते ॥ इति गुर्जरदेशागमनम् ॥

निःशेषोचितकर्मकर्मठधियं वाचैव वाचस्पतिं

मुक्त्वा तत्र च भानुचन्द्रविबुधाधीशं गुरूणां गिरा ।

श्रीमद्वाचकशान्तिचन्द्रगणिनेत्याख्यायि साहेः पुरः

शिष्टिः स्याद्यदि वः प्रयामि तदहं नन्तुं गुरूनुत्सुकः ॥२७०॥

श्रीमान् शोभाकलितो वाचक उपाध्यायः शान्तिचन्द्रगणिना शान्तिचन्द्रोपाध्यायेन
साहेरकब्बरस्य पुरोऽग्रे इत्याख्यायि प्रोक्तम् । इति किम् । यदि वो युष्माकं शिष्टिराज्ञा
स्यात् तदा उत्सुक उत्कण्ठितोऽहं गुरून् हीरसूरीनन्तुं नमस्कर्तुं गच्छामि । किं कृत्वा ।
गुरूणां सूरीणां गिरा शासनेन भानुचन्द्रनामानं विबुधाधीशं प्राज्ञपतिं तत्र फतेपुरे
साहिपार्श्वे वा मुक्त्वा संस्थाप्य । किंभूतं भानुचन्द्रविबुधाधीशम् । निःशेषाणि सम-
स्तानि उचितानि साहिकथनयोग्यानि यानि कर्माणि कार्याणि तेषु कर्मठा कार्यशूरा
प्रतिभा प्रज्ञा मतिर्यस्य । पुनः किंभूतम् । वाचा वाग्विलासेन कृत्वा वाचस्पतिं बृह-
स्पतिमिव ॥

प्रह्लादेन ततो गुरून्प्रति निजात्पार्श्वार्त्स जेजीयका-

मारीणां फुरमानढौकनकरः संदेशवाचो वहन् ।

श्रीमत्सूरिसितांशुशासनकृपाकोशानिश्रावण-

च्छेकः प्रैषि नृपेण वाचकवरः शान्त्यादिचन्द्राभिधः ॥२७१॥

तत आदेशमार्गानन्तरं नृपेणाकब्बरेण निजात्स्वकीयात्पार्श्वार्त्समीपात्प्रह्लादेन
शान्त्यादिचन्द्राभिधः वाचकेषु विभुः शान्तिचन्द्रोपाध्यायः गुरून् श्रीहीरविजयसूरी-
न्द्रान् प्रति प्रैषि प्रस्थापितः । किंभूतः । जेजीयकाख्यो गौर्जरकरविशेषस्तन्मोचन-
युक्तामारीणां फुरमानं खनाममुद्राङ्कितलेखः स एव ढौकनं प्राभृतं नृपोपदा करे हस्ते
यस्य । किं कुर्वन् । संदेशवाचः साहिना संदिष्टान् कथितान् वाग्विलासान् वहन्
बिभ्रत् । पुनः किंभूतः । सूरिसितांशोर्हीरविजयसूरिचन्द्रस्य शासनादादेशात्कृपारसकोशः
खकृतकाव्यग्रन्थविशेषस्तस्यानिशं निरन्तरं श्रावणं साहेः कर्णप्राधुणकीकारकत्वं तत्र
छेकश्चतुरः ॥

हमाउंसूनोः फुरमानदानाद्युदन्तमुद्वेलकृपापयोधेः ।

प्रीत्या समेत्याप्त इवात्र सोऽपि न्यवेदयत्सूरिपुरंदरस्य ॥ २७२ ॥

सोऽपि शान्तिचन्द्रवाचकेन्द्रोऽपि अत्र गुर्जरमण्डले पत्तने वा समेत्यागल्य प्रीत्या
मुदा । 'मुत्प्रीत्यामोदसंमदः' इति हैम्याम् । हमाउंसूनोरकब्बरपातिसाहेः फुरमानस्य
खमुद्राङ्कितलेखस्य दानं विश्राणनं गुरून्प्रति प्रेषणं यत्र तादृशमुदन्तं वृत्तान्तं सूरिपुरं-

दराय न्यवेदयत्कथयांचकार । क इव । आस इव । यथा विश्वस्तः केनचित्कथितं सर्वं
वृत्तान्तं निवेदयति । किंभूतस्य हमाउंसूनोः । उद्वेलो वेलाभतिक्रान्तोऽतिप्रवृद्धः
कृपारूपः पयोधिः समुद्रो यस्य यस्मिन्वा ॥ इति शान्तिचन्द्रोपाध्यायगुर्जरागमनं कु-
रमानदानं च ॥

श्रीमत्पर्युषणादिना रविमिताः सर्वे रवेर्वासराः

सोफीयानदिना अपीददिवसाः संक्रान्तिघन्ताः पुनः ।

मासः स्वीयजनेर्दिनाश्च मिहिरसान्येऽपि भूमीन्दुना

हिन्दुम्लेच्छमहीषु तेन विहिताः कारुण्यपण्यापणाः ॥ २७३ ॥

तेन भूमीन्दुना वसुधासुधांशुना अकब्बरेण हिन्दुम्लेच्छमहीषु राजपुत्राणां यव-
नानां च भूमीषु आर्यानार्यदेशेष्वपि एते प्रोच्यमाना दिना कारुण्यपण्यानां कृपाकयाण-
काणामापणा विपणयो दृष्टा विहिताः कृताः । तानेव दिनान्दर्शयति—रविभिर्मिताः
सूर्यप्रमाणा द्वादश श्रीमत्याः पर्युषणायाः सांवत्सरिकपर्वणः । पुनः सर्वे समस्ता अपि
रवेरादित्यस्य वासराः । द्वादशमाससंबन्धिनो निःशेषा आदित्यवारा इत्यर्थः । अपि
पुनः सोफीयानदिना यवनजातिप्रसिद्धाः । अपि पुनरीदस्य दिनास्तेऽपि यवनेष्वेव
प्रसिद्धाः । पुनः संक्रान्तीनां मेषादिकानां सूर्यसंक्रमणानां घन्ता दिवसाः । पुनः स्वीय-
जनेः स्वकीयजन्मनः संबन्धी मासः । तथा मिहिरवासरास्तेऽपि यवनजातिष्वेव वि-
ख्याताः । अपि पुनरन्ये अपरेऽपि दिना वासराः ॥

तेन नवरोजदिवसास्तनुजजनू रजवमासदिवसाश्च ।

विहिता अमारिसहिताः सलतास्तरवो घनेनेव ॥ २७४ ॥

तेनाकब्बरेण नवरोजस्य क्रीडाविशेषस्य दिवसाः, तथा तनुजानां पुत्राणां जनुषां
जन्मनां मासाः, तथा रजवमासस्य दिवसाः । नवरोजः रजवमासश्च यवनेष्वेव प्रसिद्धौ ।
अमारिसहिता विहिताः जीवदयाकलिताः कृताः । केनेव । घनेनेव । यथा वार्षिकवा-
रिदेन तरवः पादपाः सलता वल्लीसमालिङ्गिता विधीयन्ते ॥

गुरुवचसा नृपदत्तासाधिकषण्मास्यमारिरभवदिति ।

तत्तनुजैरपि दत्ताधिकवृद्धिं व्रततिवद्भजे ॥ २७५ ॥

गुरोर्हीरविजयसूरैर्वचसा स्वर्गकुसुमापवर्गफलप्रदायिद्यालताद्वैतमाहात्म्योपदेशक-
वाक्येन नृपेणाकब्बरेण दत्ता स्वदेशेषु च प्रवर्तिता साधिका षड्भिर्वासरैरधिकां षण्मासीं
यावदमारिरिति दिनानुक्रमेणाभवद्बभूवुषी । अपि पुनस्तस्य तनुजैर्नन्दनैः सलेमसाहिसु-

१. दिनशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वेन पुंस्त्वघटितोऽयं प्रयोगश्चिन्त्यः, अर्शाद्यजन्त-
त्वात्पुंस्त्वं वा कल्प्यम्.

रादिसाहिप्रमुखैर्दत्ता स्वस्वजन्ममासादिका प्रवर्तिता व्रततिवद्वलीबाधिकवृद्धिं भेजे ॥
इत्यमारिदिनव्यक्तिः ॥

येनोद्वेगमवापितो जनपदः स्वक्षीणताकारिणा

तूर्णं त्याजयता निजं पुरमपि प्राणित्रजान्यक्षमवत् ।

शंभोर्देशनया भवस्तनुमतेवाशंसुनां श्रेयसे

जेजीयाख्यकरो व्यमोचि च महीशक्रेण सूरैर्गिरा ॥ २७६ ॥

सूरैर्हीरगुरोर्गिरा वाङ्मात्रेण स गुर्जरादिजनपदप्रसिद्धो जेजीया इत्याख्या यस्य तादृङ्गमा करो दण्ड एव महीशक्रेण भूमीन्द्रेण साहिना व्यमोचि सर्वेष्वेव निवारितः । केनेव । तनुमतेव । यथा शंभोस्तीर्थकरस्य देशनया व्याख्यानश्रवणेन प्राणिना भवः संसारो मुच्यते त्यज्यते । नृपेण प्राणिना च किलक्षणेन । श्रेयसे कल्याणाय मोक्षाय वाशंसुना अभिलाषुक्रेण । स कः । येन जेजीयाभिधकरणेन जनपदो गुर्जरमण्डलमुद्वेगं क्लेशमवापितो नीतः । किंभूतेन । स्वस्य देशस्यात्मनः क्षीणताया दारिद्र्यस्य कारिणा करणशीलेन । पुनः किं कुर्वता । प्राणित्रजान् जननिकरान्निजमपि पुरं स्वकीयमपि निवासनगरं तूर्णं द्रविणाभावाद्वातुमशक्ततया शीघ्रं त्याजयता मोचयता । किंवत् । यक्षमवत् । यथा राजयक्षमणा क्षयरोगेण जनपदो देशः कदाचिद्बहुव्यापको भवेत् । अथ वा धर्मचारिणिष्पुत्रनृपाङ्गे भाविना देश उद्वेगमवाप्यते । किंभूतस्य । स्वस्य रोगिण आत्मनः शरीरस्य शनैः शनैः क्षीणतां दुर्बलतां करोतीत्येवंशीलस्य । किं कुर्वता । तूर्णं रागोत्पत्तेरनन्तरं त्वरितमेव पुरं देहं त्याजयता । ‘यदा जठरे अश्वः पुमान् छत्रं संपूर्णतां याति तदा देहं त्यजेज्जन्तुः’ इति चिकित्सकशास्त्रे । ‘पुरं तु नगराङ्गयोः’ इत्यनेकार्थः ॥ इति जेजीयाकरविमुक्तिः ॥

कश्मीराध्वनि पल्वलो जयनलक्षोणीभृताखानि यः

संख्यातो दशयोजनैर्जयनलप्रोल्लासिलङ्काभिधः ।

यूथाधीश्वरसिन्धुराधिपतिवत्पोतव्रजैर्भ्राजित-

स्तं कौतूहलतो निरीक्षितुमिव प्राप्तं सरो मानसम् ॥ २७७ ॥

जयनल इति नाम्ना क्षोणीभृता राज्ञा कश्मीर इति नाम्नो देशस्याध्वनि मार्गे पल्वलस्तटाकः अखानि खानितः । किंभूतः पल्वलः । जयनलेनाद्यभूतेन प्रोल्लसनशीला लङ्का इत्यभिधा नाम यस्य । जयनललङ्काभिधसर इत्यर्थः । पुनः किंभूतः । दशयोजनैश्चत्वारिंशत्कोशैः संख्यातः प्रमाणीकृतः । पुनः किंभूतः । पोतव्रजैर्भ्राजितः यानपात्रप्रकरैः शोभितः । किंवत् । यूथाधीश्वरसिन्धुराधिपतिवत् । यथा यूथनाथगजेन्द्रः पोतानां दशवर्षदेशीयानां करिकिशोराणां व्रजैर्गणैः भूषितो भवेत् । ‘पञ्चवर्षो गजो बालः स्यात्पोतो दशवर्षिकः’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—कौतूहलतः कौतुकात् जयनलनृपं तदवसरे चाकञ्चरसाहिमिव वा निरीक्षितुं द्रष्टुं प्राप्तं समागतं मानसं हंसावासं सर इव ॥

प्रालेयेन खिलीकृते शिखरवत्प्रालेयभूमीभृतः

शीतार्तिं प्रविषह्य वल्लवियुजां संवर्तरात्रीमिव ।

क्षोणीपालनिभालिताखिलमहाभीलोपलम्भः पथि

श्रीवाचंयमशर्वरीवरयितुः संदेशवाक्प्रेरितः ॥ २७८ ॥

श्रीशत्रुंजयभूभृतस्तनुमतां यात्रां विनिर्मित्सतां

मूलान्मोचयितुं स्वयं करमथो श्रीभानुचन्द्रः सुधीः ।

तत्सारस्वतवर्त्मभूषणसरोवोहितस्थसंस्थायिनो

विज्ञप्तिं कृतवानकब्बरधरापाथोजिनीप्रेयसः ॥ २७९ ॥

अथो सूरिसंदेशलेखागमनानन्तरं भानुचन्द्रनामा सुधीर्विद्वान् । भानुचन्द्रप्रज्ञांश इ-
त्यर्थः । तत्पूर्वव्यावर्णितस्वरूपं यत्सारस्वतानां कश्मीराणां वर्त्मनो मार्गस्य भूषणम-
लंकारभूतं सरो जयनललङ्काख्यस्तटाकः तत्र वोहित्ये वहने संस्थायिनः तिष्ठतीत्येवं-
शीलस्याकब्बरनामधरापाथोजिनीप्रेयसः पृथिवीपद्मिनीपतेर्भूमीभानोः विज्ञप्तिम् । यवन-
जातिं प्रसिद्धां अरजीमित्यर्थः । कृतवान् चकार । किं कर्तुम् । श्रीशत्रुंजयभूभृतो वि-
मलाचलस्य यात्रां विनिर्मित्सतां कर्तुमिच्छतां श्रीशत्रुंजयशैलमधिरुह्य कृष्णभदेवं नन्तुं
पूजयितुं वा काङ्क्षतां तनुमतां भव्यजनानां करं राजदेयांशं मूलादादितः सर्वथैव
स्वयमात्मनैव मोचयितुं त्याजयितुम् । किंभूतो भानुचन्द्रः । श्रीवाचंयमानां मध्ये
शर्वरीवरयितुः निशानाथस्य संदेशवाचा उदन्तप्रेषणेन प्रेरितः । पुनः किंभूतः । पथि
मार्गे क्षोणीपालेन पृथिवीपतिना साहिना निभालितो दृष्टः अखिलः समस्तः महानति-
शायी आभीलस्य पीडायाः शीतव्यथायाः उपलम्भः प्राप्तिर्यस्य अत एव पथि मार्गे
शीतार्तिं शीतोद्भूतां पीडां प्रविषह्य मर्षयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—वल्लैर्वसनैर्वियुञ्जन्ति पृथ-
ग्भवन्ति तेषां वल्लरहितानां संवर्तरात्रीं कालरात्रीमिव क्षयकारिणीम् । पथि किलक्षणे ।
प्रालेयेन हिमेन खिलीकृते विषमे निष्पादिते । किंवत् । शिखरवत् । यथा प्रालेयभू-
मीभृतः तुहिनाचलस्य शिखरं शृङ्गं प्रालेयेन हिमेन स्थपुटीक्रियते विषमं विधीयते ॥
युग्मम् ॥

भूभृत्कूकुद एष जेजियकरव्यामुक्त्यलंकारितां

योऽमार्गं स्वकुमारिकामिव मुदा पूर्वं प्रदाय प्रभोः ।

निःशुल्कां पृथिवीं पुनर्जिनमतं निर्माय नित्योत्सवं

श्रीमत्सिद्धधराधरं प्रददिवांस्तद्यौतके युक्तकृत् ॥ २८० ॥

‘सत्कल्यालंकृतां कन्यां यो ददाति स कूकुदः’ इति हैम्याम् । एष भूभृदकब्बर
एव कूकुदः स्वस्यात्मनः कुमारिकां कन्यामिवामारिं जीवदयां सूरिभिरमारिमार्गिता

नृपेण प्रदत्ता अत एव दानं पूर्वं प्रथमतः प्रभोर्हारिसूरेः प्रदाय दत्त्वा तद्यौतके तयोः
सूरिजीवदययोर्वैरवधोर्युवतयोर्देये दातव्ये श्रीमन्तमनेकरत्नखर्णरजतरचनाकं महा-
नन्देन्दिरामन्दिरं सिद्धधराधरं शत्रुञ्जयशैलं प्रददिवान् निष्करं कृतवान् विश्राण-
यामास । किंभूताममारिकुमारिकाम् । जेजीयाख्यो यः करो जनदण्डस्तस्य या व्यामु-
क्तिर्मोचनं सैवालंकारो भूषणगणः संजातोऽस्याः । किं कृत्वा ददौ । पृथिवीं स्वसा-
धितसर्ववसुधां निःशुल्कां व्यापारादावपि प्रदेयद्रव्यरहिताम् । शुल्कं लोकभाषया
'दाण' यवनभाषया तु 'जगातिः' इत्युच्यते । पुनर्जिनमतमर्हच्छासनं नित्योत्सवं
निरन्तरमहामहं विधाय । नृपः किंभूतः । युक्तमुचितं वेत्तीति विदित्वा च करोतीति
युक्तकृत् । 'यौतकं युतयोर्देयम्' इति हैम्याम् ॥

निजनामाङ्कं कृत्वा फुरमानं प्राहिणोन्नृपः प्रभवे ।

इदमप्यलमकृत ततः करकमलं हंस इव सूरेः ॥ २८१ ॥

नृपः पातिसाहिर्निजस्यात्मनो नामाङ्के उत्सङ्गे मध्ये यस्य तादृशं फुरमानं कृत्वा विधाय
प्रभवे सूरिन्द्राय प्राहिणोत्प्रेषयामास । ततः प्रेषणानन्तरमिदमपि फुरमानं सूरेः कर-
कमलं पाणिपद्मं हंस इवालमकृत भूषयति स्म ॥

यः पूर्वं कलिकालकेलिकलनालीलालयश्रीजुषां

म्लेच्छक्षोणिभुजां वशंवदतया जज्ञे नृणां दुर्लभः ।

तिग्मज्योतिरखण्डचण्डिममहःसंदोहदूरीकृत-

ज्योत्स्नारम्भविभावरीशविभवः सौगन्धिकानामिव ॥ २८२ ॥

सौवर्णेन ततो बभूव भविकैर्लभ्योऽत्र गोशीर्षव-

ज्जातः साधिकरूपकेण तदनु प्राप्यः कथंचिज्जनैः ।

साहिश्रीमदकब्बरेण यवनक्षोणीभुजा संमदा-

त्सोऽपि श्रीविमलाचलो मुनिमणेश्वके शयालुः शये ॥ २८३ ॥

यः श्रीशत्रुञ्जयशैलः पूर्वं प्रथमं म्लेच्छानामागमनसमये म्लेच्छक्षोणिभुजां यवन-
पातिसाहीनां वशंवदतया आयत्तत्वेनाधीनभावेन यात्रिकजनानां दुर्लभो दुःप्रापो जज्ञे
जातः । पूर्वं म्लेच्छा हि चढितुं यात्रामपि कर्तुं न ददुः । किंभूतानाम् । कलिकालस्य
कलियुगस्य केलिकलनायै क्रीडाकरणार्थं लीलालयः क्रीडासदनं तस्य श्रियं जुषन्ते
भजन्ते । केषामिव दुर्लभः । सौगन्धिकानामिव । यथा तिग्मज्योतिषो ग्रीष्मभानोर-
खण्डोऽविच्छिन्नो निस्तुषो वा चण्डिमा अतितीव्रता यत्र तादृशेन महसां भूयसः
प्रतापानां संदोहेन समुदायेन दूरीकृतो निरस्तो ज्योत्स्नानां चन्द्रिकाणामारम्भोऽभ्यु-
दयो यस्य तादृशस्य विभावरीशस्य चन्द्रमसः विभवः शोभाभरोऽत्र कल्लाराणां दुर्ल-
भो भवेत् । कल्लारं चन्द्रविकाशि । यथा नैषधे—'कल्लारसिन्दुकिरणा इव हासभासम्'

इति । 'सौगन्धिकं तु कल्लारम्' इति हैम्याम् । ततोऽप्राप्तेरनन्तरं कियता कालेनात्र काले भूमौ वा सौवर्णेन सुवर्णटङ्केन । सुवर्णविकारः सौवर्णं तेन 'सोढइयो' इति लोक-प्रसिद्धेन । 'दीनारेण' इति पाठो वा । भविकैर्यात्रिकजनैर्लभ्यः प्राप्यो बभूव । किंवत् । गोशीर्षवत् । यथा चन्दनं सौवर्णेन स्वर्णमूल्येन लभ्यते, तदनु हेमटङ्केन प्राप्तेरनन्तरं पञ्चमुद्रिकाभिर्महंमुदीभिः, तदनु च कथंचिन्महत्कष्टेन विशिष्टिभिः साधिकरूपकेण तिसृभिर्मुद्रिकाभिः कृत्वा कथंचिज्जनैः प्राप्योऽभूत् । सोऽप्येवंविधदुष्प्रापोऽपि श्रीवि-मलाचलः श्रीशत्रुंजयपर्वतः यवनक्षोणीभुजा मुद्गलभूमण्डलाखण्डलेन पातिसाहिना श्रीमता चतुर्दिक्चक्रलक्ष्मीवता अकम्बरेण मुनिमणेः श्रीहीरविजयसूरैः शये शयालुः पाणौ स्थाता चक्रे । गुरुकरकमलवर्तीकृत इत्यर्थः । कस्मात् । संमदाद्गुरुपरि गुरुप्रीत्या ॥

प्राचीनजैननरपतिवारक इव निष्करे विमलशैले ।

विदधुर्विधिना यात्रां तत्र मनुष्याः परोलक्षाः ॥ २८४ ॥

परोलक्षा लक्षसंख्या मनुष्या यात्रिकास्तत्र विमलशैले शत्रुंजयपर्वते विधिना शा-स्त्रोक्तप्रकारेण यथा 'एकाहारी भूमिसंस्तरकारी पद्भ्यां चारी शुद्धसम्यक्त्वधारी । यात्राकाले सर्वसचित्तधारी पुण्यात्मा स्यात्सत्क्रियो ब्रह्मचारी ॥' इत्युक्तविधिना संवपतिभवनविधिना वा यात्रां विदधुः चक्रुः । किंभूते । विमलशैले निकरे कररहिते । कस्मिन्निव । प्राचीनजैननरपतिवारके इव । यथा प्राचीनाः पूर्वकालोत्पन्नास्तथा जैना जिनशासनरञ्जितमनसः ये नरपतयो भरताद्या भूपालास्तेषां वारके । तद्राज्यसमये विमलाद्रिनिर्गतः करो यस्मात्तादृश आसीत् ॥ इति गुरोर्विमलाचलार्पणम् ॥

वर्षाकाले व्रतीन्द्रौ तौ राजधान्यपुरेऽन्यदा ।

जम्बूद्वीपे पयोजन्मबान्धवाविव तस्थतुः ॥ २८५ ॥

अन्यदा अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वर्षाकाले प्रावृट्समये चतुर्मासके तौ व्रतीन्द्रौ श्रीही-रविजयसूरिविजयसेनसूरी राजधान्यनाम्नि पुरे नगरे तस्थतुः स्थितौ । अर्थाच्चतुर्मा-सकम् । काविव । पयोजन्मबान्धवाविव । यथा जम्बूद्वीपे द्वौ भास्करो तिष्ठतः ॥

श्रीमत्सूरिपतिः प्रसन्नहृदयः सन्भानुचन्द्राभिध-

प्राज्ञेन्दोरथ वाचकाह्वयपदं दत्ते स वाचैव सः ।

संस्थास्त्रोरतिदूरतोऽपि कुमुदां पङ्केरिव ज्योत्स्नया

प्रोद्यत्पार्वणशर्वरीवरयिता प्रोज्जृम्भतावैभवम् ॥ २८६ ॥

अथ राजधान्यपुरागमनचतुर्मासकस्थितिकरणानन्तरं प्रसन्नं शत्रुंजयकरमुक्तिसत्क-पातिसाहिफुरमानप्रेषणेन कृत्वा प्रसादोपेतं हृदयं मनो यस्य तादृशः स जगद्गुह्य-रुदतया ख्यातः श्रीमत्सूरिपतिः श्रीहीरविजयसूरिरतिदूरतो लाभपुरे लाहोरनगरे

साहिपार्श्वे संस्थान्नोः स्थितवतोऽपि भानुचन्द्र इत्यभिधा नाम यस्य तादृशस्य प्राज्ञेन्दो-
र्विबुधविधोः प्रज्ञांशस्य वाचक इत्याह्वयं नाम यस्य तादृशं पदम् । उपाध्यायपदमित्यर्थः ।
दत्ते स्म । कया । वाचा । कथमेव । वचनमात्रेणैव न तु वासक्षेमपूर्वमिति । क इव ।
प्रोद्यत्पार्वणशर्वरीवरयितेव । यथा उदयं प्राप्नुवन् पूर्णिमासंबन्धी शर्वर्या निशाया वरयिता
भर्ता अतिशयेन दूरतोऽपि भूमण्डलकमलाकरमध्ये गगनापेक्षया क्षोणी दूरस्थायिनी ।
कुमुदां कैरवाणां पङ्क्तैः श्रेण्या ज्योत्स्नया चन्द्रिकयेव प्रोज्जृम्भतावैभवं विकाशभाव-
लक्ष्मीं दत्ते ॥ इति भानुचन्द्रस्योपाध्यायपदम् ॥

विजयसेनविभोर्हृदि दर्शनं वसुमतीकमिता चक्रमे क्रमात् ।

विदलिताखिललोकतमस्ततेः शुचिरुचेश्चलचञ्चुरिवाचिरात् ॥ २८७ ॥

क्रमादनुक्रमेण हीरविजयसूरिभ्यां भानुचन्द्रस्य वाचकपदं प्रदत्तं तदाकर्णनानन्तरं
वसुमतीकमिता भूमीपतिरकब्बरसाहिः हृदि मनोमध्ये विजयसेननाम्नो विभोर्गुरोर्दर्शनं
चक्रमे काङ्क्षति स्म । क इव । चलचञ्चुरिव । यथा चकोरः शुचिरुचेश्चन्द्रमसो दर्शनं
कामयते । किंभूतस्य विजयसेनविभोः शुचिरुचेश्च । विदलितानि अखिललोकस्य सम-
स्तजगतः सर्वभविकानां च तमसामज्ञानानामन्धकाराणां च ततिः पङ्क्तिर्येन ॥

प्रेषीत्ततः प्रेष्ययुगं सलेखमानेतुमाचार्यसुधामरीचिम् ।

अकब्बरः सिन्धुमिवात्र चक्री सुमित्रभूः सुस्थितमादितेयम् ॥ २८८ ॥

ततो दर्शनाकाङ्क्षानन्तरं अकब्बरः पातिसाहिः आचार्यसुधामरीचिं विजयसेनसूरीन्दु-
मानेतुं स्वदेशे समाकारयितुं सह लेखेन फुरमानेन वर्तते यत्तत्सलेखं प्रेष्ययुगं मेवढाद्वन्द्वं
प्रेषीत्प्रस्थापयति स्म । क इव । सुमित्रभूरिव । यथा सगरचक्रवर्ती सिन्धुं समुद्रमानेतुं
लवणसमुद्राधिष्ठायकं सुस्थितनामानमादितेयं देवं प्रेषयति स्म ॥

लेखं न्यासमिवार्पितं क्षितिपतेर्दूतद्वयेनादरा-

दादायाथ विभाव्य तस्य बुबुधे हार्दं मुनीन्द्रोऽखिलम् ।

द्रष्टुं काङ्क्षति मामिवैष कथमप्याचार्यमप्यात्मना

संतर्क्येति ततो न्यवेदयदनूचानाय सर्वं स तत् ॥ २८९ ॥

मुनीन्द्रो हीरविजयसूरिस्तस्य फुरमानरूपलेखस्य अखिलं समग्रं हार्दं रहस्यं बुबुधे
जानाति स्म । किं कृत्वा । विभाव्यावलोक्य । कथम् । अथ पश्चात् । किं कृत्वा । आदरा-
द्बहुमानादादाय गृहीत्वा । कम् । लेखं फुरमानम् । कमिव । न्यासमिव निक्षेपमिव । यथा
'पणि' इति लोकप्रसिद्ध्या । किंभूतं लेखम् । क्षितिपतेरकब्बरसाहेर्दूतद्वयेन मेवढायाम-
लेन संदेशहारकयुगलेन अर्पितं स्वस्य प्रदत्तम् । ततो लेखादानवाचनरहस्यज्ञानानन्तरं
स सूरिस्तत्सर्वं भूपाकारणवाचिकमनूचानाय विजयसेनसूरये न्यवेदयत्कथयांचकार । किं
कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेण संतर्क्यं विचार्यं । इति किम् । यदेष पातिसाहिः कथमपि

केनापि प्रकारेण आत्मना स्वेन मामिव आचार्यमपि द्रष्टुं विलोकयितुं काङ्क्षति कामयते वाञ्छति ॥

गुरोरुपादाय रहस्यविद्यां शिक्षां च साक्षात्किमुदर्कसिद्धिम् ।

कम्मानात्रः साधोरङ्गजातो नन्दनः स एव त्रतिषु साधुषु मध्ये चक्रवर्ती सार्वभौमो

विजयसेनसूरिन्द्रः क्रमादनुक्रमेण ग्रामानुग्रामदेशानुदेशविहारपरिपाठ्या चलन् प्रतिष्ठमानः लाभपुरं लाहोरनगरं बभाज भजते स्म । लाभपुरनगरं गतवानित्यर्थः । किं कृत्वा । गुरोर्हीरविजयसुरे रहस्यस्योपनिषदो विद्यां पराज्ञातजैनमन्त्रान् च पुनः शिक्षां हितमितिम् । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रत्यक्षेण किमुदर्कसिद्धिसुत्तरकालोत्पन्नसिद्धिमिव ॥

निर्ग्रन्थनाथः स विधाय गोष्ठीं संप्रीणयामास महीमहेन्द्रम् ।

वाङ्मामपीयूषरसाभिवर्षी नाह्लादकः कस्य कुमुद्वतीशः ॥ २९१ ॥

स निर्ग्रन्थनाथो विजयसेनसूरिः महीमहेन्द्रमकम्बरं संप्रीणयामास प्रह्लादयांचकितवान् समतोषयत् । 'प्रीणाति प्रीणयति पृणातीति प्रीणनार्थाः स्युः' इति क्रियाकलापे । समुपसर्गः । पञ्चमीस्तुतौ यथा—'संप्रीणन्सच्चकोराञ्जिशवतिलकसमः कौशिकानन्दमूर्तिः' इति । किं कृत्वा । गोष्ठीं धर्मेतत्त्ववार्तां विधाय कृत्वा । किंभूतः सः । वाग्वाण्येव नाम यस्य तादृशो यः पीयूषरसः सुधाद्रवजलं वा अभिवर्षतीत्येवशीलः । युक्तोऽयमर्थः । कुमुद्वतीशश्चन्द्रः कस्य नाह्लादकः स्यात् । अपि तु सर्वस्यापि प्रमोदकारी भवत्येव ॥

श्रीमत्सूरिवरो व्यधत् वसुधावास्तोष्पतेराग्रहे-

गोपाध्यायपदस्य नन्दिमनघां श्रीभानुचन्द्रस्य सः ।

शेखो रूपकषट्शतीं व्यतिकरे तत्राश्वदानादिभि-

र्भक्तः श्राद्ध इवार्थिनां प्रमुदितो विश्राणयामासिवान् ॥ २९२ ॥

स सूरिष्वाचार्येषु वरः प्रधानो विजयसेनसूरिर्वसुधावास्तोष्पतेर्महीन्द्रस्याग्रहेणोपरोधेन उपाध्यायपदस्य नन्दिं विधिविशेषं व्यधत् चक्रे । तत्र व्यतिकरे तस्मिन्नन्दि-विधानावसरे शेखः अवलम्बेजनामा रूपकाणां 'रूपया' इति प्रसिद्धानां षट्शतीं षट्शतानि रूप्यटङ्कानां प्रमुदितो हृष्टः परस्परमैत्र्यात् अश्वदानमादौ येषां तेऽश्वदानादयः प्रकारास्तैः कृत्वा अर्थिनां याचकानां विश्राणयामासिवान् प्रददाति स्म । किंभूतः शेखः । भक्तः । क इव । श्राद्ध इव । यथा भक्तश्राद्धोऽपि कस्यचित्त्वेष्टस्य योग्यस्य साधोरुपाध्यायपदतन्त्रान्दिकरणादिमहोत्सवे स्वधनमर्थिनां विश्राणयति स्म ॥

साहेः पर्षदि शेखादिपार्षद्यजुषि स प्रभुः ।

अजैषीद्वादिनो वादे मुनिसुन्दरसूरिवत् ॥ २९३ ॥

प्रभुर्विजयसेनसूरिः साहेरकम्बरधरणीरमणस्य पर्षदि सभायाम् । किंभूतायां पर्षदि ।

शेखः अबलफैजनामा साहिसामन्तः स एवादौ येषां तादृशान्पार्षद्यान् सभ्यान् जुषते भजते तद्विधायां वादिनस्त्रिषष्टिः त्रिशतीं ब्राह्मणान् वादविधायिनः प्रतिवादीभूतान् सम-
स्तानपि अजैषीत् पराजयति स्म । उक्तियुक्तिप्रत्युक्तिभिर्निरुत्तरीकृतवानित्यर्थः ।
किंवत् । मुनिसुन्दरसूरिवत् । यथा श्रीमुनिसुन्दरसूरिस्तैरभुक्तीयं पण्डितं शताष्ट-
केन क्वचिदष्टाधिकसहस्रेण वर्तुलिकावधानेन अजयत्पराबभूव ॥

साहिः सवाईविजयसेनसाधुविधोरिदम् ।

बिरुदं हीरसूरीन्दोर्जगद्गुरुरिवाददात् ॥ २९४ ॥

साहिरकब्बरो विजयसेनसाधुविधोः सूरीन्द्रस्य सवाईविजयसेनसूरेरिदं बिरुद-
मददाद्वत्तवान् । कस्येव । हीरसूरीन्दोरिव । यथा श्रीहीरविजयसूरेर्जगद्गुरुरिदं साहिः
प्रददौ ॥

वादिनां विजयोदन्तं श्रुत्वा तं मुमुदे गुरुः ।

तस्य विष्णोरिवाशेषद्विषामानकदुन्दुभिः ॥ २९५ ॥

गुरुर्हीरविजयसूरिस्तस्य विजयसेनसूरेस्तं वादिनां विजयस्य निरुत्तरीकरणस्योदन्तं
वृत्तान्तं श्रुत्वा मुमुदे जहर्ष । क इव । आनकदुन्दुभिरिव । यथा विद्याधरान्वशीकृत्य
वैताल्यादागतो वसुदेवो विष्णोर्नारायणस्य अशेषद्विषां समग्रशिष्टपालजरासंधप्रमुख-
विद्वेषिणां पराभवनोदन्तमाकर्ण्य मोदते स्म ॥ इति विजयसेनसूरेर्वादे विजयाः स-
वाईबिरुदं च ॥

सूरिर्दीक्षयति स्म सक्षणमिहानेकान्महेभ्याङ्गजा-

मूर्तीनां च सहस्रशो भगवतां चक्रे प्रतिष्ठाः स्वयम् ।

एकच्छत्रमिव व्यधत्त भुवने स्वायंभुवं शासनं

प्रज्ञाधःकृतगीष्पतिः क्षितिपते राज्यं पुरोधा इव ॥ २९६ ॥

सूरिर्हीरविजयगुरुरिहास्मिन्महीमण्डले सक्षणं समहोत्सवं यथा स्यात्तथा अनेकान्
बहून् महेभ्याङ्गजान् व्यवहारिनन्दनान्दीक्षयति स्म प्रत्राजयामास । च पुनः स्वय-
मात्मना सूरिः सहस्रशो बहुसहस्रसंख्यानां भगवतां तीर्थकृतां मूर्तीनां प्रतिमानां
प्रतिष्ठाश्चक्रे । पुनर्भुवने विश्वे स्वायंभुवं जैनं शासनमेकच्छत्रमद्वितीयातपत्रमिव व्यधत्त
विदधे । किंभूतः । प्रज्ञया स्वबुद्ध्या अधःकृतस्तिरस्कृतो गीष्पतिर्वृहस्पतिर्येन । क
इव । पुरोधा इव । यथा पुरोहितो बुद्धिमत्तया मन्त्रविद्यादिशक्तिमान् क्षितेः पतेः
स्वतृपस्य मन्त्रतन्त्रादिशक्त्या राज्यमेकच्छत्रं विधत्ते सोऽपि प्रतिभापराभूतपुरुह-
तसूरिः स्यात् ॥

सानन्दं ससुरासुरोरगनरत्रातैः स्वकान्तायुतैः

श्रोतृश्रोत्ररसायनैर्धनरवैर्जैर्जीयमानां रसात् ।

तद्विश्वत्रयचित्रकृदुणगणैरागत्य कर्णान्तिकं

गीतेर्गोचरताममेयसमयं नेतुं प्रणुनैरिव ॥ २९७ ॥

सूरेर्भूधनबोधनादिचरितप्रोद्भूतकीर्तिप्रथां

प्रीत्याकर्ण्य शिरोविघूर्णनपरे जातेऽखिले विष्टपे ।

श्रोतुं सोत्सुकमानसो दशशतीमक्षणामिवाखण्डलः

कर्णानाममरावतीविरचितावासाद्वृणीते विधेः ॥ २९८ ॥

आखण्डलः पुरंदरः अमरावत्यां स्वनगर्यां विरचितः कृत आवासो गृहं येन तादृशा-
द्विधेर्विधातुः सकाशात् कर्णानां श्रवणानां दशशतीं सहस्रं वृणीते याचतीव । केषामिव ।
अक्षणामिव । यथा मम नयनानां दशशती वर्तते तथा श्रुतीनामपि दशशतीं कुरु ।
कस्मिन् सति । सूरेर्हिरगुरोर्भूधनोऽकम्बरसाहिस्तस्य बोधनं प्रतिबोधविधानं तत्प्रमुखं
चरितं चरित्रं तस्मात्प्रोद्भूतां प्रकटां जातां कीर्तिप्रथां यशोविस्तारं प्रीत्या प्रमोदेना-
कर्ण्य श्रुत्वा । अखिले समस्तेऽपि विष्टपे विश्वे शिरोविघूर्णनपरे चेतश्चमत्कारितया
स्वमूर्धविधूननतत्परे जाते सति । कीर्तिप्रथां किं क्रियमाणाम् । रसाद्रागात् । रसो रागे-
ऽनेकार्थ्याम् । स्वेषामात्मनां कान्ताभिः स्त्रीभिर्युतैः सहितैः सुरसहिता ये असुरा दानवा
उरगा नागा नरा मनुष्यास्तेषां ब्रातैर्वृन्दैः सानन्दमानन्दकलितं यथा स्यात्तथा श्रोतृणां
श्रोत्रेषु कर्णेषु रसायनसदृशैर्धनैर्निर्विलेस्तारतरैर्वा रवैर्जैर्गीयमानामतिशयेन गीतां नर-
ब्रातैः । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वत्रयस्य त्रैलोक्यस्य चित्रकृद्भिरतिशयाश्चर्यविधायिभिर्गुणानां
गणैः कर्णान्तिकं आगत्य श्रवणसमीपे समेत्य मातुं योग्यो मेयो न मेयोऽमेयो गलिता-
वधिसमयं यावद्गीतेर्गानस्य गोचरतां नेतुं प्रापयितुं प्रणुनैरिव प्रेरितैरिव ॥ युग्मम् ॥

सूर्याचन्द्रमसौ पुनर्दिनतमीनिर्माणदम्भादिदं

शुश्रूषारसिकायितानिशमनोवृत्ती इव आम्र्यतः ।

भर्ता भोगभृतां तदाश्रवभवन्निर्वेदमेदस्विह-

न्मन्दं स्वश्रुतिनिर्मितावपि शतानन्दं निनिन्दात्मना ॥ २९९ ॥

पुनरपरार्थे सूर्याचन्द्रमसौ भानुविधू दिनानां तमीनां रात्रीणां निर्माणं करणम् । सूर्यो
दिनान् चन्द्रो रात्रीः कुरुते । तस्य दम्भात्कपटान्नाम्यतः पर्यटतः । उत्प्रेक्ष्यते—इदं
शुश्रूषायां कीर्तिप्रथां श्रोतुमिच्छायां रसिकवदाचरिते अनिशं निरन्तरं मनसो वृत्तिर्व्या-
पारो यथोक्तादृशाविव । अपि पुनस्तदाश्रवणेन भवन्नुत्पद्यमानो यो निर्वेदः खेदस्तेन
मेदस्वि मेदुरं पुष्टं भूतं हृत् हृदयं यस्य तादृशो भोगभृतां नागानां भर्ता स्वामी ना-
गेन्द्रः स्वस्यात्मनः श्रुतीनां कर्णानां सहस्रफणत्वात्कर्णबाहुल्यस्य निर्मितौ विधाने
मन्दमलसं मूर्खं वा शतानन्दं जगत्कर्तारमात्मना स्वेनैव निनिन्द पर्वदि गर्हणामकरोत् ॥

विश्वो मन्दरकंदरैः प्रतिरवैः प्रोत्साहिताः किनराः

यत्कीर्तिं युवतीकृतानुवदनाः प्रीतेरुपावीणयन् ।

सिद्धा रोधसि सिद्धसिन्धुसुदृशो योषानुषङ्गा जगू

रङ्गत्तुङ्गतरङ्गसङ्गजरवैः स्थानं ददत्या इव ॥ ३०० ॥

युवतीभिः स्वकान्ताभिः किनरीभिः कृतमनुवदनं समं गानं येषां तादृशाः किनराः पुरुषाः प्रीतेः स्वतन्त्रानन्दायत्कीर्तिसुपावीणयन् वीणया वादनपूर्वकं गायन्ति स्म तत्र वयमेवं विश्वो जानीमः । उत्प्रेक्ष्यते वा—मन्दरकंदरैर्मैरुदरीभिः प्रतिरवैर्जगज्जन-गानतारतरध्वनिप्रतिध्वनितैः कृत्वा प्रोत्साहिता गातुमुत्कण्ठां प्रापिता इव । ‘मन्दर-कंदरासु शयितानुत्थापयन्किनरान्’ इति चम्पूकथायाम् । पुनः सिद्धा देवविशेषास्ते सिद्धानां सिन्धुसुदृशः समुद्रपत्न्या नथा एतावता गङ्गायाः । ‘सिद्धस्वःस्वर्गिखापगाः’ इति हैम्याम् । रोधसि तीरे जगुर्गायन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—रङ्गन्तश्चलन्तो ये तुङ्गा अत्युच्चतमास्तरङ्गाः कल्लोलास्तेषां परस्परं सङ्गाज्जाता ये रवाः कोलाहलाकलितगम्भीर-धीरध्वनयस्तैः कृत्वा स्थानं ददत्याः स्वरं पूरयन्त्या इव । जिगासतां हि प्रथमं स्थानं दीयते, रागाद्यालापः वादित्रादिध्वनिश्च विधीयते, तत्स्थानम्, तदनु च गायनो गायति इति गीतिरीतिः । सिद्धाः किंभूताः । योषानुषङ्गाः स्त्रीणामनुषङ्गो येषाम् । सस्त्रीका इत्यर्थः ॥

तद्गङ्गागिरिराजयत्पिबजनानुर्व्याः स्तुवन्त्यो मुहुः-

स्वर्गे स्वर्गिमृगीदृशो निजजर्नि निन्दन्ति मन्दाशयाः ।

मोहात्प्राक्परिकल्पितप्रियतमार्धाङ्गानुषङ्गादिमां

श्रोतुं कापि न गन्तुमीश्वरतया स्वं शैलजाक्रोशति ॥ ३०१ ॥

सैव कीर्तिप्रथैव गङ्गा मन्दाकिनी तस्या गिरिराजो हिमाचल एवोत्पत्तिस्थानं यः सूरिस्त्वं पिबन्ति सादरं पश्यन्ति तादृशान् जनान् भूमण्डलजन्मनो लोकान् सुहृर्वारंवारं स्तुवन्त्यः प्रशंसन्त्यः श्लाघमानाः स्वर्गिमृगीदृशः सुराङ्गनाः स्वर्गे देवलोके निजजर्नि स्वावतारं नि-न्दन्ति तद्दर्शनाभावाद्गृह्णन्ति । किंभूताः । मन्दाशयाः प्रभोरन्यमुवनस्थायुकत्वेन दर्शनमल-भमाना अत एव मन्दीभूतमनसो जडभावमुपगताः । तथा मोहादज्ञानात् । ‘सोऽहं हंसायितुं मोहात्’ इति चम्पूकथायाम् । मोहशब्देनाज्ञानम् । अथ च मोहात्प्रेमातिरे-कात्प्राक् प्रथमं परिकल्पितः कृतः प्रियतमस्य अतीष्टस्य भर्तुश्च हरस्यार्धाङ्गेन सामिश-रीरेण सममनुषङ्गः सबन्धः तस्मात्स्वार्धशरीरमीश्वराङ्गे स्यूतमतोऽर्धाङ्गी गौरीति प्र-सिद्धिः । तत्कारणादिमां सूरिकीर्तिं कापि श्रोतुं कर्णगोचरीकर्तुं नेश्वरतया न समर्थत्वेन स्वमात्मानं शैलजा पार्वत्यपि स्वमोहमाक्रोशति धिक्कुरुते । हा मया अविचारचतुरया वृ-थैव हाराङ्गेन स्वाङ्गं स्यूतम्, गीतिप्रीतिमत्तापि कापि हरेण विना हन्तुं न शक्नोति ॥

यत्कीर्तिं नरनिर्जरोरगवधूप्रारब्धनूतस्तुतिं

श्रुत्वास्यामनुरागितां त्रिभुवने विभ्रत्यदभ्रां हृदा ।

शर्वाणीरमणस्तदश्रवणतो मूर्धस्थसिद्धापगां

कुर्वाणां बधिरत्वमुद्धररवैस्तारङ्गजैर्गर्हते ॥ ३०२ ॥

शर्वाणीरमणः पार्वतीपतिर्हीरस्तस्याः सूरिकीर्तेरश्रवणतः अनाकर्णेनात्तारङ्गजैः तारङ्गाणां समूहास्तारङ्गाः, तारङ्गेभ्यो जायन्ते स्मेति तारङ्गजास्तैः । यथा पद्मसुन्दरकविकृत-भारतीस्तवे—‘वारं वारं तारतरस्वरनिर्जितगङ्गातारङ्गाः’ इति । उद्धररवैरत्युद्धरध्व-निभिर्बधिरत्वं कर्णयोर्बाधिर्यं कुर्वाणां मूर्धस्थसिद्धापगां स्वमस्तकस्थायुकभागीरथीं गर्हते । अस्या जडाशयायाः प्रोल्लसत्कल्लोलकोलाहलपुरः किमपि कापि श्रोतुं न शक्यते इति निन्दति । कस्मिन्सति । त्रिभुवने जगत्रये सति । किं कुर्वति त्रिभुवने । अस्यां सूरिकीर्तेः हृदा मानसेन कृत्वा अदभ्रामतिशायिनीमनुरागितां रागयुक्त्वत्तां विभ्रति दधाने । किं कृत्वा । नरा नागराः, निर्जराः सुराः, उरगा नागाः, तेषां वधूभिः अङ्गनाभिः प्रारब्धाः प्रमोदादुपकान्ताः । ‘प्रारम्भः प्रोपतः क्रमः’ इति हैम्याम् । नूता अभिनवाः स्तुतयः स्तवनानि यस्यां तादृशीं यस्य हीरसूरेः कीर्तिं श्रुत्वा श्रवणगोचरीकृत्य ॥

नैतां श्रोत्रवतंसिकां विरचयन्सृष्टेर्विनिर्माणतो

वैयग्र्येण कुलालमेव मनसा मेने निजं नाभिभूः ।

त्रैलोक्यस्तुतिपारवर्तिविभवां संस्तोतुमेतां गुरुः

संज्ञे गतगौरवः कविरपि प्रापाकवित्वं पुनः ॥ ३०३ ॥

सृष्टेर्विश्वसर्गस्य निर्माणतः करणाद्वैयग्र्येण व्यग्रभावेन एतां सूरिकीर्तिं श्रोत्रयोरात्म-कर्णयोरवतंसिकां कर्णपूरताम् । ‘विदर्भसुभ्रूश्रवणावतंसिका’ इति नैषधे । न विरचयन्न कुर्वाणः । न शृण्वन्नित्यर्थः । नाभिभूर्ब्रह्मा निजमात्मानं कुलालं कुम्भकारमेव मेने । कुम्भकारो हि भाण्डकरणव्यग्रतया किमपि श्रोतुं न शक्नोति । पुनत्रैलोक्यस्य त्रिभुवनस्यापि स्तुतेः स्तवनस्य पारे अगोचरे वर्तते इत्येवंशीलो विभवो यस्य । विश्वत्रयस्यापि स्तुतिगोचरामित्यर्थः । एतां सूरिकीर्तिं संस्तोतुं वर्णयितुं गुरुः बृहस्पतिर्गतं गौरवं माहात्म्यं वाचस्पतिता वा यस्य तादृशः संज्ञे संजातः । तथा कविः शुक्रोऽपि काव्यकर्तापि अकवित्वं मूर्खत्वं न काव्यकर्तृत्वं प्राप ॥

निर्विण्णा इव जज्ञिरेऽश्रवणतस्तस्या मदप्रोद्धुर-

स्वाशासिन्धुररुन्धनादहरहः स्वान्ते महेन्द्रा दिशाम् ।

निद्रामुद्रितलोचनं जलनिधौ निध्याय ताक्ष्यध्वजं

स्वच्छन्देन्दुमुखीव तां प्रतिगृहं शुश्राव सिन्धोः सुता ॥ ३०४ ॥

दिशां महेन्द्राः दिक्पालाः । 'पतिः प्रतीच्या इति दिङ्महेन्द्रैः' इति नैषधे । अहरह-
निरन्तरं मदेन प्रोद्धुराणां मदोन्मत्तानां स्वाशासिन्धुराणां निजनिजदिग्गजानां रुन्ध-
नात्स्वस्थीकरणादेकत्र स्थाने रक्षणाद्वा तस्याः सूरिकीर्तैरश्रवणतोऽनाकर्णनात्स्वान्ते
मनसि निर्विण्णाः खेदखिन्नाः इव जज्ञिरे जाताः । पुनः सिन्धोः सुता समुद्रस्य
पुत्री लक्ष्मीस्तां कीर्तिं प्रतिगृहं सर्वेष्वपि मन्दिरेषु शुश्राव शृणोति स्म । यदु-
क्तम्—'सायर वप्प मुरारिपिय चंदसरीसा भाड । लच्छी हींडइ घरघरि महिला
एह सहाड ॥' कैव । स्वच्छन्देन्दुमुखीव । यथा स्वच्छन्दचारिणी विलासिनी प्रतिगृहं
वातीदिकं श्रुतिविषयीकुरुते । किं कृत्वा । जलनिधौ पारावारे निद्रया स्वापेन मुद्रिते
मीलिते लोचने नयने यस्य तादृशं ताक्ष्यध्वजं गरुडकेतुं कृष्णं कान्तं निध्याय दृष्ट्वा ॥

स्वच्छन्दं त्रिजगद्विलासरसिकां कीर्तिं व्रतिक्षमापतेः

संदब्धोद्धुरतानगानवनितावक्रामृतार्चिःसुधाम् ।

सोत्कण्ठं पिबतामकुण्ठमनसां विश्वत्रयीजन्मिनां

प्राप्तानुत्तरसंमदा इव तदा संजज्ञिरे वासराः ॥ ३०९ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे विश्वत्रयीजन्मिनां खल्लोके पाताललोके भूलोके च जन्मास्त्ये-
षामिति विश्वत्रयीजन्मिनां सुरासुरनराणां वासरा दिवसाः प्राप्तो लब्धो न वियते
उत्तरोऽप्रेतनः पदार्थः कोऽपि यस्मादसाधारणः संमदो नन्दो येषु तादृशा इव संजज्ञिरे
संजाताः । किंभूतानां विश्वत्रयीजन्मिनाम् । अकुण्ठमनसां तदेकतानचित्तानां च ।
किं कुर्वताम् । व्रतिक्षमापतेः हीरविजयसूरिराजस्य कीर्तिमेव संदब्धानि विरचितानि
उद्धुरानि अतिशायीनि तानानि आलापविशेषा येषु तादृशानि गानानि यासां तानयु-
क्तगानानि याभिर्वा तादृशीनां वनितानां निजयुवतीनां वक्राणि वदनानि एवामृतार्चिषां
चन्द्राणां सुधां पीयूषरसं सोत्कण्ठं सह उत्कण्ठया वर्तते यत्तत् पिबतामाखादयतां सादरं
शृण्वताम् । किंभूतां कीर्तिम् । स्वच्छन्दं स्वेच्छया निरङ्कुशं त्रिजगति त्रिभुवनमध्ये
यो विलासो विविधकैलीकरणं तत्र रसिकां सरसामुत्सुकां वा ॥ इति सूरिकीर्तिवर्णनम् ॥

यं प्राप्तुं शिवाह्वसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसीहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भाह्वीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते हीरगुरोश्चतुर्दशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥ ३०६ ॥

पण्डितदेवविमलगणिना आनन्दतः आह्लादान्निर्मिते विरचिते हीरगुरोः श्रीहीरवि-
जयसूरेवृत्ते चरिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ पूर्वव्यावर्णितस्वरूप एव चतुर्द-
शत्वेन चतुर्दशसंख्यया वा मितः प्रमाणतां प्रापितः गणितः सर्गः काव्यरचनमयाधिका-
रविशेषः बभूवान् । कसुप्रयोगः । संजात इति ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलविरचितायां खोपज्ञहीरसौभा-
ग्यनाम्नि महाकाव्यवृत्तौ अकब्बरगोष्ठीवन्दिपञ्जरपक्षिमोचनमृगयानियमनसकलजन्तुजा-
तसिद्धोभयनिर्भयकथनालापसुखानुभवनसोरीपुरमथुरागोपगिरियात्रानागपुरशिवपुरीप्रति-
ष्ठापूर्वकचतुर्मासककरणगुर्जरागमनजेजीयाकरमोचनामारिप्रवर्तनशत्रुंजयपर्वतार्पणफुर-
मानादिप्रदानकीर्तिवर्णनादिवर्णनो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

पञ्चदशः सर्गः ।

अथ सुहृद इव स्वं सारवस्तु प्रदत्तं
प्रमुदितहृदयेनाकब्बरोर्वीमघोना ।

श्रमणधरणिभृत्तलाभमादातुकामो

विमलशिखरिरत्नं प्रेक्षितुं काङ्क्षति स्म ॥ १ ॥

अथ शत्रुंजयप्रदानस्फुरमानागमनानन्तरं श्रमणधरणिभृत्सूरिराजः विमलनामा श्री-
शत्रुंजयाभिधानः स एव शिखरिषु सर्वपर्वतेषु रत्नं सकलतीर्थाधिराजत्वात् । यथा
ज्ञातस्यास्तुतौ—‘मन्दररत्नशिखरे’ इति । प्रेक्षितुं दृग्गोचरीकर्तुं काङ्क्षति स्म वाञ्छति
स्म । रत्नस्य हि प्रेक्षणं युक्तमेव । किं कर्तुकामः । तस्माद्विमलाचलात्सकाशाश्लाभमधि-
कफलं यात्रया कृत्वा सुकृतोपाजनात्कर्मक्षयाद्वा मोक्षप्राप्तिरूपं च आदातुकामो गृही-
तुमनाः । किंभूतं विमलशिखरिरत्नम् । प्रमुदितहृदयेन हृष्टमानसेन अकब्बरोर्वीमघोना
अकब्बरपातिसाहिना स्वं स्वकीयं तस्य सौराष्ट्राधिपतित्वात्सारवस्तु सम्यक्पदार्थं धन-
रूपं वा प्रदत्तमर्थात्सूरीन्द्राय विश्राणितम् । कस्येव । सुहृद इव । यथा केनापि सौहा-
र्दभाजा सुहृदः स्वमित्रस्य सारवस्तु प्रदीयते ॥

विदलयितुमिवान्तर्वैरिषड्वर्गमुच्चै-

र्विधिवदुपचरद्भिः षड्विधीन्ब्रह्ममुख्यान् ।

प्रतिविमलगिरीन्द्रं भव्यलोकैः परीतो

व्रतिपतिरथ यात्रां कर्तुकामः प्रतस्थे ॥ २ ॥

अथ दर्शनाकाङ्क्षानन्तरं व्रतिपतिर्हीरविजयसूरिः विमलगिरीन्द्रं प्रति श्रीशत्रुंजय-
शिलोच्चयसंमुखं प्रतस्थे प्रतिष्ठते स्म प्रचलति स्म । किंभूतः । भव्यलोकैः विमला-
द्रियात्राभिलाषुकभक्तिजनैः परीतः परिवृतः परिवारितो वा । भव्यलोकैः किं कुर्वद्भिः ।
विधिवदागमोक्तप्रकारेण ब्रह्म शीलं मुख्यं प्रकृष्टमादिर्वा येषु तादृशान् षट्संख्याकान् ।
‘एकाहारी भूमिसंस्तरकारी पद्भ्यां चारी शुद्धसम्यक्त्वधारी । यात्राकाले सर्वसच्चित्त-
हारी पुण्यात्मा स्यात्सत्किं च ब्रह्मचारी ॥’ इति । विधीनाचारविशेषान् उपचरद्भिः सेव-
मानैः कुर्वद्भिर्वा । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चैरतिशयेन । मूलदित्यर्थः । अन्तरित्वव्ययम् । मध्य-

स्थायुकानामन्तरङ्गाणामित्यर्थः । वैरिणां शत्रुभूतानां परमप्रत्यर्थिनामनर्थकारित्वात् । क्रोधमानमायालोभरागद्वेषरूपाणां षड्वर्गं षण्णां वर्गं देहिनां महादुःखदायित्वात्सर्वेषामपि सादृश्यम् । 'वर्गस्तु सदृशम्' इति हैमीवचनात् । विदलयितुमिव ॥

नगरनिगमदुर्गग्रामसारामसीमा-

गहनगुरुगिरीन्द्रालङ्घ्यमानः क्रमेण ।

किममृतकमलायाः केलिशैलं क्षमायां

श्रमणधरणिशक्रः सिद्धिशैलं ददर्श ॥ ३ ॥

श्रमणानां तपस्विनां मध्ये धरणिशक्रो राजा । धरणिशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । पूर्वं लिखितोऽस्ति ग्रन्थोक्तेन । सूरिराजः सिद्धिशैलं शत्रुं जयगिरिं ददर्श पश्यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—क्षमायां भूमौ अमृतं मुक्तिः सैव कमला लक्ष्मीः तस्याः केलिशैलं क्रीडाकरणार्थं पर्वतमिव । अत्र सिद्धिश्रीः खेलं रमते । सूरिः किं कुर्वणः । क्रमेण विहारपरिपाठ्या नगराणि महत्पुराणि देशेषु मुख्यपुराणि राजधानीरूपाणि वा, निगमा नगरस्थानविशेषा बृहद्वणिक्स्थानकानि वा, दुर्गा दुःखेन गम्यन्ते अध्यास्यन्ते इति दुर्गाः कोट्याः विषमस्थानानि वा, ग्रामा अल्पचातुर्याणि लघुपुराणि संनिवेशा वा, सह्यारामैः कृत्रिमवनैरुद्यानैरुपवनैर्वा वर्तन्ते यास्तादृश्यः सीमा पुरवाह्यपरिसरभूमयो नगरो विभागकृद्भवो वा, गहनानि शैलसमीपविषमप्रदेशागतवनानि संकीर्णानेकपादपटलशाखाविशेषा प्रविष्टार्ककिरणदुःसंचारकान्तारा वा, गुरवोऽतितुङ्गशृङ्गा गिरीन्द्राः महाशैलास्तां लङ्घ्यमानः अतिक्रामन् ॥

अथ सिद्धिशैलं विशिनष्टि—

नयनपुटनिपेयामाश्रयन्काययष्टीं

किमु सुकृतसमूहो भारतक्षेत्रभाजाम् ।

निखिलविषयभूषामोषिसौराष्ट्रलक्ष्म्या

यदवनिधरदम्भाचारुचूडामणिर्वा ॥ ४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—यदवनिधरदम्भायस्य श्रीशत्रुं जयशैलस्य व्याजान्धारतं नाम जम्बूद्वीपमध्यभागस्थमन्दरगिरिदक्षिणदिक्प्रान्तविभागवर्तिलवणाम्भोधिः संनिधिवर्ति च क्षेत्रं वर्षं भजन्ते जन्मना श्रयन्ते इति भरतक्षेत्रोत्पन्नानां नराणामित्यर्थः । सुकृतसमूहः किमु पुण्यराशिरिव । किंभूतः सुकृतसमूहः । नयनानि भविकलोकलोचनानि एव पुटाः पर्णभाजानानि तैर्निरन्तरं पेयां पातुं सादरमवलोकयितुं योग्यां काययष्टीं तनुलताम् । 'स्याद्दोर्भूयः कणसमुचितः काययष्टीनिकायः' इति नैषधे । आश्रयन् बिभ्रत् वा । अथ वा निखिलाः समस्ता ये विषया देशाः । 'विषयस्तूपवर्तनम् । देशो जनपदो नीवृत्' इति हैम्यम् । तेषां भूषां शोभां मुष्णाल्यपहरतीत्येवंशीलः सौराष्ट्रनामा देशः शत्रुं जय-

यात्रासमागतभरतचक्रवर्तिप्रदत्तापरनामधेयो देवदेश इति तस्य लक्ष्म्याः श्रियः यद्वि-
मलशैलच्छलाचारः सर्वालंकारेभ्यो विशेषभूतश्चूडामणिः शिरःशिखामणिरिव ॥

अमितरजतरलस्वर्णशृङ्गैरसंख्या-

निमिषशिखरिखण्डैः स्वःसदां सद्मभिश्च ।

त्रिजगदुपरिभूमीलम्भना येन मेरु-

विजित इव बभूव व्रीडयानक्षिलक्ष्यः ॥ ५ ॥

येन शत्रुंजयगिरिणा विजितः पराभूतः सन् । उत्प्रेक्ष्यते—मेरुः सुवर्णाचलो व्री-
डया लज्जया कृत्वा न अक्षणीर्नयनयोर्लक्ष्यो निरीक्षितुं योग्योऽनक्षिलक्ष्योऽदृश्यो बभूव
जायते स्म । क इव । येन । किंभूतेन । त्रिजगतां त्रयाणां पातालभूमिस्वर्गलक्षणानां
भुवनानामुपरिभूमीं लोकाप्रवर्तिस्थानं सुक्तिलक्षणं लम्भयति प्रापयति इत्येवंशीलस्तेन ।
'सर्वेषामपि शैलानामुन्नतो विमलाचलः । यदारोहेण लोकाग्रं प्राप्यते बालकैरपि ॥' इति
पूर्वाचार्यस्तुतिवचनात् । विजितः । कैः कृत्वा । न मीयन्ते प्रमाणीक्रियन्ते खबुद्ध्या वि-
दग्धैरपीत्यभिधानि । गणनातीतानीत्यर्थः । रजतानां रूप्यरत्नानां विविधमणीनां स्व-
र्णानां काञ्चनानां शृङ्गाणि शिखराणि तैः । पुनर्न विद्यते संख्या गणना मानं येषां तान्य-
संख्यानि अनिमिषाणां देवानां शिखरिणां वृक्षाणां खण्डानि काननानि तैः । 'स्यात्ख-
ण्डं काननं वनम्' इति हैम्याम् । पुनः स्वःसदां सुराणां सद्मभिर्नगरैर्मन्दिरैश्च । 'गौ-
क्षिदिवमूर्धलोकः सुरालयः' इति हैम्याम् । मेरुस्तु स्वप्रमाणोच्चप्रदेशे प्रापयति नोप-
रितनविभागे । तथा मितान्येव शृङ्गाणि विभर्ति तान्यपि रत्नानामेव रत्नसानुत्वात् ।
तथा भद्रसालनन्दनसौमनसपाण्डुकनामानि चत्वार्येव वनानि धत्ते । तथा एकमेव सुरगृहं
कलयति । यदुक्तम्—'दिवमङ्गादमराद्रिरागताम्' इति नैषधे । अधः शत्रुंजयाद्रिणा
स्वाभ्यधिकवैभवेन मेरुर्निर्जितस्तद्युक्तमेव ॥

शिखरिमणिविनिर्यज्ज्योतिरुज्जृम्भमाणा-

अनविपिनविनीले व्योम्नि यस्यावभासे ।

अतुलचटुलभावं स्वं परित्यज्य नित्यं

तडिदिव निवसन्ती वल्लभाम्भोधराङ्के ॥ ६ ॥

उज्जृम्भमाणा पुष्पपल्लवादिभिर्विकसितभावं भजन्ते येऽञ्जनाः अञ्जननामानो वृक्षवि-
शेषाः । 'केचित्प्रभञ्जना इव पापार्थिकजनाः खण्डिताञ्जनाधरप्रवालाः' इति चम्पूकथा-
याम् । 'अञ्जना सुन्दरी पत्नी अञ्जनद्रुमश्च । अधरोष्ठपल्लवः अधस्तनकिसलयं च' इति
तद्वृत्तिः । तेषां विपिनानि तद्वद्विनीले अतिशयामले व्योम्नि नभस्तले यस्य शत्रुंजयाद्रेः
शिखराणामुत्तुङ्गशृङ्गाणां मणिभ्यो रक्तपीतरत्नेभ्यो विनिर्यन्निःसरद्दशदिग्गङ्गानि व्याप्नुव-
ज्ज्योतिः कान्तिरावभासे शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वमात्मीयमतुलमतिशयितमतिघनं

चटुलभावं चापलं परित्यज्य विहाय वल्लभस्य स्वभर्तुः अम्भोधरस्य प्रावृषेण्यपयोदस्य अङ्गे उत्सङ्गे । 'चिरविलसनातिखन्नवियुत्कलत्रः' इति मेघदूतकाव्यम् । वियुतो मेघकलत्रत्वमुक्तम् । तथा 'प्रिये मदुत्सङ्गविभूषणं भव' इति नैषधे । वल्लभाया वल्लभस्य क्रोडे उपवेशनं दृश्यते । निवसन्ती वाल्भ्येन वितिष्ठमाना तडिद्वियुदिव ॥

क्वचिदपि कलधौतप्रस्थसंस्थानगाहि-

प्रवहदविरलाम्भोनिर्झरस्फारधारा ।

तुहिनशिखरिशृङ्गोत्सङ्गरङ्गप्रवाह-

द्युसदधिपनदीवाटैतशोभां वभार ॥ ७ ॥

क्वचिदपि शत्रुंजयशैलस्य कुत्रापि स्थानके कलधौतस्य रजतस्य प्रस्थं शिखरं तदेव संस्थानं सम्यगाश्रयस्तदवगाहन्ते अधितिष्ठन्तीत्येवंशीलाः, तथा प्रकर्षेण वहन्ति प्रसर्पन्ति, तथा अविरलानि अविच्छिन्नधाराधोरणानि अम्भांसि जलानि येषु तादृशानां निर्झराणां स्फारा अत्युदारा दृश्यमाना नयनानन्ददायिन्यो धारा महत्प्रमाणाधोनिष्पत्तयः प्रवाहाः अद्वैतामसाधारणां शोभां वभार धत्ते स्म । केव । तुहिनशिखरिणो हिमाचलस्य शृङ्गस्य शिखरस्य उत्सङ्गे क्रोडे मध्ये वा रङ्गप्रसर्पन् प्रवाहो निरन्तरपयःपूरो यस्यास्तादृशी । दिवि सीदन्यवतिष्ठन्ते इति द्युसदो देवास्तेषामधिपः पुरंदरस्तस्य नदी सरिद्रङ्गेव । यथा देवनदी तथा देवेन्द्रस्यापि नदी । यदुक्तम्—'सुरेन्द्रतटिनीतीरेषु सिद्धाङ्गनाः' इति भोजप्रबन्धे ॥

जलधिमवनजम्भारातिसारङ्गचक्षु-

र्दिगवनिधरमूर्धालम्बिविम्बौ दिनादौ ।

रजतकनकराजत्कर्णपूराविवैत-

द्विमलगिरिरमायाः पुष्पदन्तौ विभातः ॥ ८ ॥

जलधौ सागरे भवनं गृहं यस्य स वरुणः । 'वरुणस्त्वर्णवमन्दिरप्रचेताः' इति हैम्याम् । जम्भस्य दानवविशेषस्य अरातिः शत्रुरिन्द्रस्तयोः सारङ्गचक्षुषी प्रिये तादृशौ दिशौ प्रतीचीप्राच्यौ । 'वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रुची-', तथा 'निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित्' इति पदद्वयमपि नैषधे । तयोर्दिशोरवनिधरौ पर्वतौ अस्ताचलोदयाद्री तयोर्मूर्धानौ मस्तकशिखरे आलम्बेते आश्रयेते तादृशौ बिम्बौ मण्डलौ ययोस्तादृशौ पुष्पदन्तौ शशिभास्करो । 'पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोत्तया शशिभास्करो' इति हैम्याम् । दिनादौ पूर्णिमादिके क्वापि प्रातःकाले विभातः । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्य विमलगिरेः शत्रुंजयादे रमायाः लक्ष्म्याः रजतेन रूप्येण तथा कनकेन काञ्चनेन कृत्वा राजन्तौ रूप्यस्वर्णनिर्माणेन शोभमानौ दीप्यमानौ कर्णपूरौ श्रवणौ पूर्येते आभ्यामिति कुण्डले इव ॥

निखिलभुवनभारोद्धारनिर्वेदभाजा

भुजगपरिवृढेनानेकविज्ञप्तिकाभिः ।

भरभरणधुरीणोऽशेषनीरेशनेमेः

किमयमिह महीध्रः कारितो विश्वकर्त्रा ॥ ९ ॥

भुजगानां नागानां परिवृढेन स्वामिना शेषनागेन अनेकाभिर्विविधप्रकाराभिर्विज्ञप्ति-
काभिरञ्चलप्रसारेण दीनतादर्शनमुखाङ्गुलीप्रेक्षणचटुभाषणप्रमुखविज्ञपनैः कृत्वा । उत्प्रे-
क्ष्यते—विश्वकर्त्रा जगन्निष्पादकेन धात्रा पार्श्वे इह जगति पृथिव्या अयं महीध्रः एष
शत्रुंजयाद्रिः । किं कारितः । निर्मापित इव । किंभूतेन । निखिलस्य समग्रस्य भुवनस्य
भूलोकस्य भारो वीवधस्तस्योद्धारणेणोद्बहनेन कृत्वा निर्वेदं मनसि विषादं खेदं वा भजतीति
तेन । अयं किंभूतः । अशेषायाः समस्ताया नीराणां जलानामीशः स्वामी समुद्रः ।
'लोतोवार्नदीशः सरस्वान्' इति हैम्व्याम् । नेमिश्चक्रधारावयस्याः परिधीभूतो यस्या-
स्तादृश्याश्चतुरर्णवपर्यन्तपृथिव्या भरस्य भरणे धारणे । 'दुभृज् धारणपोषणयोः' इत्यस्य
प्रयोगः । धुरीणो धुर्यो धौरेयः ॥

सुरपथपथिकैतत्प्रस्थसंस्थानभोगाः

शशभृदपरभागं प्रेक्ष्य साक्षान्निरङ्कम् ।

किमयमिदमुपास्ते नित्यमभ्येत्य कुर्व-

न्नजनि विगतलक्ष्मेत्यन्तरध्याहरन्ति ॥ १० ॥

सुरपथस्याकाशस्य पथिकेषु पान्येषु । अन्नं कषेष्टवित्यर्थः । एतस्य शत्रुंजयाद्रेः प्रस्थेषु
शृङ्गेषु संतिष्ठन्ते इति संस्थाः । क्तिबन्तः । तिष्ठन्तीत्यर्थः । नभस्याकाशे गच्छन्तीति
नभोगाः सिद्धगन्धर्वविद्याधरसुराः अन्तश्चित्तमध्ये इत्यमुना प्रकारेणाध्याहरन्ति
विचारयन्ति । किं कृत्वा । निर्गतोऽङ्कः कलङ्को यस्मात्स निरङ्कस्तं लाञ्छनरहितं
शशभृतश्चन्द्रस्यापरभागं यस्मिन्नधस्तने भागे लाञ्छनं लक्ष्यते तस्मादन्यम् । उपरित-
नभागमित्यर्थः । साक्षात्प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्य व्यालोक्य । एतावता चन्द्रलोकादप्युत्तमानि
शृङ्गाणि तेषूपविष्टा नभोगाश्चन्द्रस्योपरितनं भागं दृशा व्यालोक्य वितर्कयन्ति । इति
किम् । यद्यं चन्द्रो नित्यं सदा अभ्येत्यात्रागत्य इदमुपास्ते श्रीशत्रुंजयाद्रेः सेवां कुर्वन्
सन् । उत्प्रेक्ष्यते—विगतं प्रयातं लक्ष्म लाञ्छनं यस्य तादृशः किमजनि संजात इव ॥

भुजगभवनमध्यं व्याप्नुवन्स्थूलमूलै-

र्दिवमपि शिखरैः स्वैर्भूघनेनापि भूमीम् ।

इति विमलमहीभृद्भूर्भुवःस्वस्त्रयीं यो

हरिरिव निजपादैः स्वात्मनाक्रम्य तस्थौ ॥ ११ ॥

यो विमलनामा महीभृत् शत्रुंजयाचलः स्वात्मना निजस्वरूपेण कृत्वा भूर्भुवःस्वस्त्रयं पातालभूमण्डलस्वर्गलोकत्रिकमाक्रम्याभिव्याप्य तस्थौ स्थितवानास्ते । क इव । हरिरिव । यथा नारायणो निजैः स्वकीयैः त्रिभिः पादैः क्रमैः कृत्वा त्रैलोक्यमाक्रम्य तिष्ठति स्म । बलिबन्धावसरे वामनरूपेण बलेः सकाशात्क्रमत्रिकमितां क्षितिं याचितवान्, तस्मिन्यतिकरे अतिमहद्द्रूपमाधाय क्रमत्रयेण त्रिजगदाक्रान्तम्, तदा बलिर्बद्धा पाताले क्षिप्तः । तदंशो नैषधे यथा—‘हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः । त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥’ ‘यत्स्वमाकाशं हरेरेककेन पदाङ्गिणा अक्रामि तस्य नभसश्चतुर्भिः पदैराक्रमणे नोऽस्माकं हरीणां त्रपा लज्जा इति नम्रितं नीचैः कृतमाननं यैस्तादृशैः । नामसादृश्यादुत्प्रेक्षा । हरिभिरश्वैरर्धा न संपूर्णा नभसि गगने कृताः क्रमाः फला यैर्यवर्ति । नभःक्रमणादित्यर्थः ।’ इति तद्वृत्तिः । यथैकेन क्रमेण खम्, तथा द्वितीयेन पदेन भूः, तृतीयेनाङ्गिणा पातालं चेति । अथ गिरेराक्रमणं दर्शयति—यः किं कुर्वन् । स्थूलैरतिपुष्टैः पृथुलैर्वा मूलैरधोभागवर्तिस्वप्नदेशैः कृत्वा भुजगानां भवनं गृहं पातालं तस्य मध्यं पातालमूलम् । कैलाश इत्यभिधानत्वात् । अपि पुनर्दिवमाकाशं स्वर्गं वा स्वैरात्मीयैरभ्रंलिहैः शिखरैः शृङ्गैः अपि पुनर्भूषणेन स्वशरीरबाहुल्येन देहस्थूल्येन पृथ्वीं व्यापुवन् ॥

बहलसलिलपूर्णातूर्णयानाभ्रिकाभिः

स्फुरति शिखरमालालम्बिकादम्बिनीभिः ।

विधुमणिरविदीपाञ्जेतुमभ्यागतैर्यः

किमभिलषितदायी सेव्यमानस्तमोभिः ॥ १२ ॥

यो विमलाद्रिः शिखरमालां शृङ्गश्रेणीमालम्बन्ते समाश्रयन्ते इत्येवंशीलाभिः कादम्बिनीभिर्धनघटाभिः कादम्बिनीमेघमालाभिर्बहलं नीरन्ध्रं सर्वेष्वपि वर्दलेषु विद्यमानत्वेनातिघनं यत्सलिलं पानीयं तेन पूर्णा निर्भरभृता अत एवातूर्णं मन्दसत्त्वरितं यानं गमनं यासां तादृश्योऽभ्रिका वर्दलानि यासु ताभिः । उत्प्रेक्ष्यते—अभिलषितानि निजमनःकामितानि ददातीत्येवंशीलो यः शैलो विधुश्चन्द्रो रविः सूर्यः मणयो रत्नानि कर्कतनादीनि प्रभंकरादिमानि वा दीपास्तान् जेतुमर्थात्स्वप्रतिपक्षान् परामवितुं यदेते तमसामुच्छेदविधायिनस्ततस्तेषामभिवनमुचितमेव । अभ्यागतैर्महात्मनः समीपे समेतैस्तमोभिरन्धकारैरिव सेव्यमानः किमुपास्यमानः ॥

जडिमशितिमवर्षायुष्कलोलस्वभावो-

क्षुरसमिरविरोधोदन्वदभ्यर्थनाद्यम् ।

निजमखिलमसातं हातुमब्दैः समेत्या-

निशनिवसनदम्भात्किं तपस्तप्यतेऽस्मिन् ॥ १३ ॥

अब्दैर्मेघैः समेत्य अत्रागल्य अनिशं निरन्तरं यन्निवसनं निवासः स्थितिकरणम् । वर्षानन्तरं हि वारिदाः क्वापि गिरौ वसन्तीति कविसमयः । तस्य दम्भात्कपटात् । उपप्रेक्ष्यते—अस्मिन् शत्रुंजये तप उपवसनादि तप्यते किं क्रियत इव । किं कर्तुम् । निजमात्मीयमखिलं समस्तमप्यसातं दुःखं हातुम् । ‘ओहाक् त्यागे’ इत्यस्य प्रयोगः । त्यक्तुम् । किंभूतमसातम् । जडिमानं जाज्यमज्ञानं डलयोरैक्यात् जलमयतां जडा-शयताम्, तथा शितिमानं निन्द्यकृष्णभावम्, तथा वर्षायुष्कं वर्षाकाले यावज्जीवितव्यताम् । ‘शरद्वनात्ययः’ इति वचनात् । तथा लोलस्वभावतामस्थिरत्वं चञ्चलाशयत्वम् । यदुक्तम्—‘क्षारो वारिनिधिः कलङ्ककलुषश्चन्द्रो रविस्तापकृतपर्जन्यश्चपलाशयः स्वयमिहादृश्यः सुवर्णाचलः । काष्ठं कल्पतरुर्दृषत्सुरमणिः स्वर्धामधेनुः पशुः.....तत्केन साम्यं सताम् ॥’ इति लोकोक्तेः । तथा उद्गुरा उत्कटा प्रबला ये समिराः पवनास्तैः सह विरोधो वैरम् । यदुक्तम्—‘सज्जन सावन मेहज्यं उन्नहि ए गहगट । पिशुनपचनभइसंचरे मारिकिएदहवट ॥’ इति । पुनरप्युक्तम्—‘विलपति कृषा सारङ्गोऽयं त्वमुन्नतिमानहो जलमपि च ते संयोगोऽयं कथंचिदुपस्थितः । उपकृतिकृते प्रह्वं चेतः कुरुष्व यदप्रतो भ्रमति पवनः कस्त्वं कोऽयं क ते जलबिन्दवः ॥’ तथा ‘अहह...समीरण दारुण किमिदमाचरितं चरितं त्वया । यदिह चातकचञ्चुपुटोदरे पतति वारि तदेव निवारितम् ॥’ इत्यपि सूक्तोक्तेः । समुद्रात्सकाशादभ्यर्थना प्रतिवर्षपानीययाच्चा परस्मादभ्यर्थदानम् । यदुक्तम्—‘अब्दैर्वारिजिघृक्षयार्णवगतैः साकं व्रजन्ती सुहुः’ इति खण्डप्रशास्तौ । तथा मेघा हि समुद्रात्सलिलं याचित्वा भूमण्डले वर्षन्तीति जनश्रुतिः । एते प्रकारा आद्याः प्रथमा यत्र तत् ॥

त्रिदिवसदनमार्गोत्सङ्गरङ्गतरङ्गै-

र्मणिचितचयचञ्चद्रोचिषां संचयैर्यः ।

द्युनिशमिह निजाङ्गस्थायुकानां चिकीर्षुः

किमु शरणधुरीणः शाश्वतं सुप्रभातम् ॥ १४ ॥

यः शत्रुंजयाद्रिमणिभिरामङ्करप्रभङ्गरादिरनैश्चितो व्याप्तो रत्ननिर्मितो यश्चयो वप्रः प्राकारस्तस्य चञ्चतां दीप्यमानानां रोचिषां कान्तीनां संचयैः संदोहैः कृत्वा । उपप्रेक्ष्यते—इह विश्वे द्युनिशं नित्यं निजस्यात्मनः अङ्गे उत्सङ्गे स्वसमीपे वा स्थायुकानां निवसनशीलानां स्वापल्यानामिव भविकजनानां शाश्वतमनश्चरं सुप्रभातं शोभनालोकं सिद्धशैलत्वाचिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरिव । किंभूतैः संचयैः । त्रिदिवे स्वर्गे सदनं गृहम्, अथ वा त्रिदिवं द्यौरेव सदनं येषां ते देवास्तेषां मार्गः पन्था आकाशस्तस्योत्सङ्गे कोडे र-

ङ्गन्तः प्रसर्पन्तः तरङ्गाः प्रसारा येषां तैः । यः किंभूतः । शरणे स्वसमीपागतरक्षणे
धुरीणो बलवान् वत्सलः आश्रितपालकः शरणागतवज्रपञ्जरो वा ॥

घनलसदुपकण्ठा रुक्मरूप्यद्विभागा

पतदुपरिझराम्भा भाति कुत्रापि भित्तिः ।

तनुरिव पुरदस्योः स्यूतशैलाङ्गजाङ्गा

श्रितशितिगलनाला स्वःस्ववन्तीं श्रयन्ती ॥ १५ ॥

यत्र शत्रुञ्जयादौ कुत्रापि कस्मिंश्चित्प्रदेशे कौतुकाकलितशिल्पिकल्पिता भित्तिः
कुड्यं भाति दीप्यते राजते वा । किंभूता । घनेन मेघेन कृत्वा । 'गिरौ वर्षन्ति माधवाः'
इति वचनात् । लसत् शोभमानमुपकण्ठं कण्ठस्य समीपमुपकण्ठं समीपं वा यस्याः ।
पुनः किंभूता । रुक्मं स्वर्णं रूप्यं रजतं तयोर्द्वौ पूर्वापरौ भागावंशप्रदेशौ यस्याः ।
एकस्मिन् भागे स्वर्णेन, अपरस्मिन् भागे च रजतेन घटिता इत्यर्थः । पतन्निर्माणवि-
शेषादागच्छदुपरि शिरःप्रदेशे झरस्य शिखरनिर्झरस्य अम्भः पानीयं यस्याः । केव
भाति । तनुरिव । यथा पुरदस्योरीश्वरस्य तनुः वपुर्यष्टी शोभते । किंभूता । घनवन्मेघ
इव नीलत्वाल्लसत्कण्ठस्य समीपं यस्याः । पुनः किंभूता । स्यूतं प्रोक्तम् अर्धाङ्गीकरणात्
शैलस्य हिमाद्रेरङ्गजायाः पार्वत्या अङ्गं शरीरं यस्याम् । शंकरः श्वेतवर्णः, पार्वती तु कन-
ककेतकी पीतवर्णा । पुनः किंभूता । श्रितं शिति श्यामवर्णं गलनालं कण्ठपीठं यया ।
पुनः किं कुर्वन्ती । स्वःस्ववन्तीं गगनगङ्गां श्रयन्ती शिरसि सिद्धधुनीं दधती ॥

स्फटिकघटितशृङ्गोत्सङ्गसङ्गी तरङ्गी-

भवदलिकुलशाली चम्पकः पुष्पपीतः ।

दशशतनयनस्याध्याश्रितस्वःकरेणोः

कलितकनककान्तेः कान्तिमादान्मघोनः ॥ १६ ॥

यत्र शत्रुञ्जये कचन प्रदेशे चम्पको हेमपुष्पकः मघोनः पुरंदरस्य कान्ति शोभा-
मादाजग्राह । शकसदृशः संजायते स्मेत्यर्थः । 'कान्तिर्द्युतिभूषेच्छासु' इत्यनेकार्थः ।
किंभूतश्चम्पकः । स्फटिकैः श्वेतरत्नैर्घटितं निष्पादितमर्थाद्विरञ्जिता विरचितं यच्छृङ्गं शि-
खरं तस्योत्सङ्गः कोटो मध्यं तत्र सङ्गोऽस्यास्तीति स्फटिककूटोपरिप्ररूढः । पुनः किं-
भूतः । तरङ्गीभवद्भिः अनेकश्रेणीबन्धागमनात्कल्लोललीलां कलयद्भिरमन्दमकरन्दास्वादो-
न्मदिष्णुभावं बिभ्रद्भिरलिनां भ्रमराणां कुलैर्वृन्दैः शालते शोभते इत्येवंशीलः ।
यद्यपि च लोककल्या 'वहिरइनपुण्यो गीतभमरचंपइनवइहो । सोलकलासंपुन्नचन्दशं
धलइ न दिहो ॥' इत्यादि श्रूयते । तथापि 'विचिन्वती पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलि-
कजलच्छलात् । व्यलोकयचम्पककोरकावलीः स शम्बरारेबैलिदीपका इव' इति नैष-
धोकल्या चम्पकेऽपि भृङ्गागमनसंभवो दृश्यते । पुनः किंभूतः । पुष्पैर्विकसत्कुसुमैः पीतो

हारिद्रवर्णः । मघोनः किंभूतस्य । दशशतानि सहस्रं नयनानि नेत्राणि यस्य । पुनः किं-
भूतस्य । अध्याश्रितः स्वकीयारोहेण पृष्ठे प्रतिष्ठां प्रापितः स्वःकरेणुरैरावणो येन ।
एतावता अभ्रमूवलभारूढः । पुनः किंभूतस्य । कलिता धृता कनकवत्स्वर्णस्येव कान्ति-
देहयुतिः शोभा वा येन । 'चम्पकोऽस्मिन्सपुष्पः' इति पाठे अस्मिन् शत्रुंजये सपुष्पः
स्मेरप्रसूनपरिचितश्चम्पकद्रुमः ॥

अपि धृतसुरसिन्धुर्नागरङ्गी सदुर्गः

सवृषमुषितकालः केकियानं दधानः ।

धृतशशधरचूडो नीरमुङ्गीलकण्ठः

शिव इव घनयानो भाति मृत्युंजयाद्रिः ॥ १७ ॥

अद्रिः शत्रुंजयशैलः शिव ईश्वर इव भाति । किंभूतः । धृता कलिताः सुरा विवि-
धस्थानस्थातारोऽनेककपर्दियक्षप्रमुखा अधिष्ठातारो देवाः, तथा सिन्धवः शत्रुंजया-
ऐन्द्री-साभ्रमती-ब्राह्मी-प्रमुखाश्चतुर्दश महानद्यो येन । शिवस्तु श्रितदेवनदीको गङ्गाध-
रत्वात् । पुनः किंभूतः । नागरङ्गा वृक्षविशेषा 'नारङ्गा' इति लोके प्रसिद्धाः सन्त्यस्मिन् ।
पक्षे नागेषु भुजंगमेषु विषये रङ्गः स्नेहोऽस्त्यस्येति । 'पाणौ फणीन् भजति कङ्कणभूय-
मैशे सोऽयं मनोहरमणीरमणीयमुच्चैः । कोटीरबन्धनधनुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगमसुं
भज भूतभर्तुः ॥' इति नैषधे । पुनः किंभूतः । सह दुर्गैर्विषमस्थानकैः कोटैर्वा वर्तते यः ।
पक्षे पार्वतीयुक्तः अर्धाङ्गत्वात् । पुनः किंभूतः । सह वृषेण धर्मेण । 'पुण्यराशिः श्रियः-'
इत्यभिधानत्वात् । पक्षे वृषभेण बाहनवलीवर्देन वर्तते यः । तथा मुषितो निर्दलितः
कालः कलिर्यमो वा अजरामरपददायकत्वात् । पक्षे कालनामा दैत्यो येन । पुनः किंभूतः ।
केकिनां मयूराणां यानमितस्ततो गमनम् । पक्षे स्वामिकार्तिकं च दधानः । पुनः किंभूतः ।
धृतः कलितः शशधरश्चन्द्रो यया तादृशी चूडा शिखरशिखा अत्रंकषत्वात् म-
स्तकोपरितनभागश्च येन । पुनः किंभूतः । नीरमुचा मेघेन तद्वच्च नीलः कृष्णः कण्ठः
कंधरा गलनालं यस्य । 'दधदम्बुदनीलकण्ठताम्' इति नैषधे राजगृहवर्णनम् । अम्बु-
देन मेघेन नीलः कण्ठः उपत्यकाभागो ग्रीवा चेति उपत्यकायाः कंधरेति प्रतिपादनम् ।
'यदनेककसौधकंधराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव' इत्यपि नैषधे । पुनः किंभूतः । घ-
नानां मेघानां यानानि गमनानि संचारा यत्र । पक्षे घनबाहन इत्यभिधानः । यानशब्दे-
न बाहनम् । पुनः किंभूतः । मृत्युं मरणं यमं जयतीति मृत्युंजयो जन्मजरामरणाप-
हारकः सिद्धिदातृत्वात् । पक्षे मृत्युंजयो नाम्ना ॥

स्वकशिखरशिखाङ्कस्थायुकान्स्वैकताना-

न्कमलमृदुलदेहांस्तापितांस्तापनेन ।

सुखयितुमिव शैत्यैः सिद्धशैलोऽङ्गभाजो

बहलजलमुचोच्चैरातपत्रं तनोति ॥ १८ ॥

सिद्धशैलः शत्रुञ्जयाद्रिर्बहलेन नीरन्ध्रेण सान्द्रेण जलमुचा नीरदेन कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गभाजो यात्रिकजनान् शैलैः शीतलताभिः सुखयितुं सुखीकर्तुं शीतलान्विधातुमिधातपत्रं मायूरपिच्छच्छत्रं तनोति विस्तारयति । शिरसि धत्ते इत्यर्थः । किंभूतानङ्गभाजः । स्वकान्यात्मीयानि शिखराणि शृङ्गाणि तेषां शिखानामप्राणामङ्गे उत्सङ्गे स्थायुकान् संस्थापिनः उपविशनशीलान् । पुनः किंभूतान् । स्वस्मिन्नात्मनि विषये एकतानानेकाप्रचितान् । पुन किंभूतान् । कमलवन्मृदुलः सुकुमारो देहः शरीरं येष्टाम् । पुनः किंभूतान् । तापनेन सूर्येण तापितान् संतप्तीकृतकायान् ॥

स्वभवविभवभूम्ना लम्बितेनाभिभूर्तिं

त्रिदशशिखरिमुख्याशेषशैलव्रजेन ।

किमु विमलगिरीन्दो रूप्यरत्नार्जुनाङ्गा

निजनिजशिखरौघाः प्रापिताः प्राभृतत्वम् ॥ १९ ॥

त्रिदशशिखरी मेरुमुख्यः प्रकृष्टो येषु तादृशा अशेषाः समस्ता ये शैलाः पर्वतास्तेषां व्रजेन समूहेन विमलगिरीन्दोः श्रीशत्रुञ्जयशैलशकस्य । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्य शिखरौघाः शृङ्गगणाः । ‘निजस्य तेजः शिखिनः परश्शताः’ इति नैषधे । प्राभृतत्वमुपदाभावं प्रापिताः । ढौकिता इत्यर्थः । किंभूताः । रूप्यं रजतं रत्नानि मणयः अर्जुनं स्वर्णं तेषामङ्गं शरीरं येषां ते । रजतरत्नहेममया इत्यर्थः । किंभूतेन । त्रिदशशिखरिमुख्याशेषशैलव्रजेन । स्वस्माद्विमलशैलात्मनो भव उत्पत्तिर्येषां तादृशानां विभवानां शोभासंपदां भूम्ना बाहुल्येन । अभिभूर्तिं पराभवं लम्बितेन प्रापितेन ॥

विमलशिखरिकुण्डा वल्लरीः शैवलाना-

मुपरि बहलितानामुद्रहन्तो विभान्ति ।

प्रवसितदयितानां कामिनीनां कपोला

इव लुलदलकाङ्काः पाण्डिमानं दधानाः ॥ २० ॥

विमलशिखरिणः श्रीशत्रुञ्जयगिरेः कुण्डा जलस्थानानि विभान्ति शोभन्ते । किं कुर्वन्ते । उपरि स्वसलिलोर्ध्वभागे बहलितानां निच्छिद्रीभूतानां सान्द्राणां शैवलानां शैवलानां वल्लरीर्मञ्जरीः । ‘मञ्जरी वल्लरीश्च सा’ इति हैम्याम् । उद्रहन्तो धारयन्तः । के इव । कपोला इव । यथा प्रवसिताः पथिकीभूताः परदेशं प्राप्ता वा दयिता भर्तारो यासां तादृशीनां कामिनीनां विरहविधुरवधूनां कपोलः गण्डा गङ्गा राजन्ते । किंभूताः । लुलन्तः पतिव्रता व्रततया प्रियप्रवासवासरादारभ्य अबद्धत्वादुपरि पतन्तो गण्डस्थले मिलन्तः अलकाः केशा अङ्गे उत्सङ्गे येषाम् । पुनः किं कुर्वाणाः । पाण्डिमानं पाण्डुरभावं दधानाः । विरहे हि प्रायः पतिव्रतानां कपोला धवलीभवन्ति । यदुक्तं नैषधे—‘विरहपाण्डुकपोलतले विधुः’ इति ॥

विविधनवचिरत्नायत्नदत्तात्मरत्नै-

निखिलमपि निहत्याकिंचनत्वं जनानाम् ।

मणिशिखरिणमद्रिर्दीनवाक्कारिणं यो

बहु तृणमिव चक्रे किंपचानं वदान्यः ॥ २१ ॥

अद्रिः श्रीशत्रुंजयपर्वतः मणिशिखरिणं रोहणाचलम् । ‘श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिविशित-
ब्रीडस्तु रत्नाचलः’ इति नैषधे । तथा ‘ये रत्नाचलवासिनो हि मनुजास्तेषां न रत्नो-
द्यमः’ इति सूक्ते । यथा रत्नाचलस्तथा मणिशिखरी । तं बहु धनं यथा स्यात्तथा तृणं
तृणप्रायमकिंचित्करमिव चक्रे कृतवान् । किं कृत्वा । जनानां स्वाश्रितभविक्कलोकानां
निखिलं समस्तमपि अकिंचनत्वं दरिद्रभावं निहत्य मूलादुच्छेद्य । कैः कृत्वा । विवि-
धानि नानाप्रकाराणि ‘वज्र-वैडूर्य-लोहिताक्ष-मसारगल्ल-हंसगर्भ-पुलक-सौगन्धिक-
ज्योतीश्वर-अञ्जन-अञ्जनपुलक-जातरूप-सुभग-अङ्क-स्फटिक-कर्कतन-मरकत-प्रवा-
ल-इन्द्रनील-चन्द्रप्रभ’ इति सिद्धान्तोक्तानि, ‘पद्मराग-गरुडोद्गार-राजपट्ट-चन्द्र-
कान्त-सूर्यकान्त-माणिक्याद्यानि नवानि नवीनोत्पन्नानि चिरत्नानि चिरकालोद्भू-
तानि । ‘चिरत्नरत्नाचितमञ्चितं चिरात्’ इति नैषधे । ‘चिरत्नानि चिरकालजातानि’
इति तद्वृत्तिः । अयत्नदत्तानि प्रयासं विनैव प्रकटस्थितत्वेन खननाद्युपक्रममन्तरेण वि-
श्राणितानि यान्यात्मनः स्वस्य स्वस्मिन्नुत्पन्नत्वेन निजस्यैव रत्नानि माणिक्यानि तैः ।
अद्रिः किंभूतः । वदान्यो दानशीलः । किंभूतं मणिशिखरिणम् । दीनां कृपणाम् ।
‘कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि’ इति नैषधे । ‘कृपणे दीने’ इति तद्वृत्तिः । ‘कृपणः
कदर्थे दीने च’ इत्यनेकार्थः । हस्ताभ्यां भालमास्फाल्य हा तात हा मातः इति वार्चं
वार्णां कारयतीत्येवंशीलम् । यदुक्तम्—‘हा दैवेति वचो विना न ददते वज्राणि
वज्राकराः’ इति सूक्ते । तथा ‘दैन्योक्त्या रोहणाद्रिः खरमुखरतरं पुष्करावर्तमेघाः’
इति सोमसुन्दरसूरिकृतऋषभदेवस्तवे । तथा ‘धिग्रोहणं गिरिं दीनदारिद्र्यत्रणरोहणम् ।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय यः ॥’ इति विक्रमादित्यादिभिरुक्ते । अत एव
पुनः किंभूतम् । किंपचानं कदर्थम् ॥

विदलितदलमालाशालिलीलातमालः

कनकशिखरसंस्थस्तच्छविच्छन्नवर्ष्मा ।

मुररिपुरिव पीतस्फीतवासोवसानो

विहगविभुविहारी यत्र शत्रुंजयेऽभात् ॥ २२ ॥

यत्र यस्मिन् श्रीशत्रुंजयधात्रीधरे विदलिताभिर्विकसिताभिर्दलानां मरकतमणि-
गणाच्छिन्नच्छविच्छायाणां पत्राणां मालाभिः श्रेणीभिः शालते शोभते इत्येवंशीलो
यो लीलातमालः विद्याभृद्धिर्मानवैर्वाढा(?)कृते रोपितस्तापिच्छतरुः । अथ वा स्वयमेव

कथंचिदुद्गतः विलासविधायकस्तमालद्रुमः अभाद्रभौ । किंभूतस्तमालः । कनकस्य का-
चनरचिते शिखरे शृङ्गे संतिष्ठते इति कनकशिखरस्थः । पुनः किंभूतः । तस्य कनक-
शिखरस्य छविर्ज्योतिस्तया छन्नं व्याप्तं वर्ष्म शरीरं यस्य । क इवाभात् । मुररिपुरिव ।
यथा नारायणो भासते । किंभूतः । पीतं हारिद्रवर्णं स्फीतं मनोज्ञं वासो वस्त्रं वसानः
परिदधानः । वस्ते इति वसानः । 'गुणिप्रायाणि वस्त्राणि भूषणानि तव प्रभो । वसानश्च
दधानश्च सत्कविर्द्वारि तिष्ठति ॥' इति भोजप्रबन्धे । पुनः किंभूतः । विहगानां पक्षिणां
विभुः स्वामी गरुडस्तेन विहरति विचरतीत्येवंशीलः ॥

उपरिपरिसरद्भिः पद्मरागाश्मगर्भ-

स्फटिकघटितशृङ्गव्रातजातांशुपूरैः ।

अपि नभसि भुवीव ब्रह्मभूमानुपुत्री-

त्रिदशजलधिगानां यस्तनोतीव सङ्गम् ॥ २३ ॥

यः श्रीशत्रुञ्जयशैलः भुवि पृथिव्यामिव नभस्याकाशेऽपि ब्रह्मभूः सरस्वती, भासुपुत्री
यमुना, त्रिदशजलधिगा गङ्गा, तासां सङ्गं संगमनं मेलनम् । त्रिवेणीसङ्गमित्यर्थः । तनोति
करोतीव । कैः कृत्वा । उपरि नभोज्ञे परिसरद्भिः परि समन्तात्प्रसरद्भिः पद्मरागा रक्त-
मणयः, तथा अश्मगर्भाः मरकतरत्नानि, तथा स्फटिकाः श्वेतमाणिक्यानि तैः कृत्वा ।
'रत्नं वसुमतीमाणिक्यमपि' इति हैमीवृत्तौ । घटितानां नाकिना शिल्पिना वा संक-
ल्पितानां शृङ्गणां शिखराणां व्राताद्वृन्दाजाताः प्रकटीभूता येऽंशुपूराः किरणगणास्तैः
कृत्वा । पद्मरागरुचिभिर्विरञ्चिषुता सरस्वती हि कविसमये किञ्चिदरुणा वर्ण्यते । रुधि-
रप्रवाहस्य त्वस्या उपमानत्वेन मरकतमणिकान्तिभिर्यमुना तस्याः श्यामवर्णत्वेन स्फ-
टिकरत्नज्योतिषा गङ्गा तस्या उज्ज्वलत्वेन । इति त्रिवेणीसंगमः ॥

कचिदपि मुचकुन्दोऽमन्दनिस्यन्दवृन्द-

स्मितसुमविशदश्री राजतप्रस्थसंस्थः ।

समदसुरभिसूनोः पृष्ठचधिष्ठानभाजो

भसितलसितमूर्तेः प्राप शंभोर्विभूषाम् ॥ २४ ॥

कचिदपि श्रीशत्रुञ्जयस्य कुत्रापि प्रदेशे मुचकुन्दो मुचकुन्दनामा पुष्पजातिवृक्ष-
विशेषः शंभोरीश्वरस्य विभूषां शोभां प्राप लेभे । किंभूतः । अमन्दा अतिप्रचुरा ये नि-
स्यन्दास्तेषां वृन्दानि पटलानि येषु तादृशानि स्मितानि विकसितानि सुमानि पुष्पाणि
तैः विशदा उज्ज्वला श्रीः शोभा यस्य सः । पुनः किंभूतः । राजते रूप्यसंवन्धिनि
प्रस्थे शिखरे संतिष्ठते इति संस्थः । शंभोः किंभूतस्य । समदो मदमेदुरो यः सुरभि-
सूनुः अर्जुनीनन्दनो वृषभस्तस्य पृष्ठे 'पुंठि' इति लोके प्रसिद्धा तत्राधिष्ठानमाश्रयं भ-

जते । पृष्ठे चङ्कितः । पुनः किंभूतः । भसितैर्भस्मभिर्जसिता मनोज्ञीभूता मूर्तिर्यस्य ।
यस्योद्धूतशालिनः ॥

अनणिममणिमालाशालिनी यस्य सिन्धुः

प्रतिफलितविवस्वदीप्तिदुःप्रेक्षणीया ।

सुकृतभरितजन्तोर्गर्भमन्तर्वहन्तीं

युवतिमनुकरोति स्मेरदम्भोरुहास्या ॥ २९ ॥

यस्य श्रीशत्रुञ्जयस्य सिन्धुः काचित्तरङ्गिणी युवति तरुणीमनुकरोति । युवतीसदृशी
भवतीत्यर्थः । किंभूता सिन्धुः । न विद्यते मूल्यापेक्षया महिम्ना वा अणिमालाधिमा
अल्पत्वं येषु एतावता बहुमूल्यानामप्रतिमप्रभाप्रभाववतां च मणीनां रत्नानां मालाभिः
श्रेणीभिः शालते शोभते इत्येवंशीला । गिरिनदीषु मणिसद्भावः किरातार्जुनकाव्ये
कथितोऽस्ति । किंभूता । प्रतिफलितः अन्तर्जलं प्रतिबिम्बितो यो विवस्वान् सूर्यः
तस्य दीप्त्या कान्त्या दुःखेन प्रेक्षितुं योग्या द्रष्टुमर्हा । किंभूतां युवतीम् । सुकृतेन
प्राचीनजन्माचीर्णेन पुण्येन भरितस्योपचितस्य पूर्णस्य जन्तोर्जीवस्य गर्भं दोहदलक्ष-
णमन्तः कुक्षौ वहन्तीं धारयन्तीम् । पुनः किंभूता । स्मेरद्विनिद्रयदम्भोरुहं कमलं
तद्रूपं विकसितसरोजवद्वा आस्यं मुखं यस्याः । ‘स्मेरदम्भोजखण्डाभिः’ इति पाण्डव-
चरित्रे । तथा युवत्यपि पुण्यप्राग्वद्गर्भानुभावाहुःप्रेक्षणीया । यथा ‘धामैकधाम गङ्गाया
इव भास्करं गर्भमन्तर्दधाना वा दुरालोकमभूद्रुपुः’ इति पाण्डवचरित्रे ॥

वृषभजिनगुणौघान्गायतः स्वक्वणस्या-

नुगुणरणितवीणान्किनरेन्द्रान्गिरीन्द्रः ।

क्वचन विकचमोचाचारुपत्रैर्धवित्रै-

रिव पवनविलोलैर्वीजयामास मन्ये ॥ २६ ॥

गिरीन्द्रः शत्रुञ्जयपर्वताधिपतिः क्वचन कस्मिन्नपि कदलीसदनलतामण्डपादौ प्रदेशे
किनरेन्द्रान्किपुरुषराजान् । उत्प्रेक्ष्यते—अहमेवं मन्ये वा । पवनविलोलैर्वीजवेगान्दो-
लनचञ्चलीभूतैर्विकचानां विकसितानां मोचानां रम्भाद्रुमाणां चारुभिर्मनोहरैः पत्रैः म-
हद्विलैर्वीजयामास निरन्तरगाढबहुलगीतिजनितश्रमापनोदार्थं वीजयति स्मेव । कैरिव ।
धवित्रैरिव । यथा मृगचर्मव्यजनैः कश्चित्पार्थिवादीन् ग्रीष्मसमये स्वेदविन्दुकितका-
थाम् वीजयति । ‘व्यजनं तालवृन्तं धवित्रं मृगचर्मणि’ इति हैम्याम् । किनरेन्द्रान् किं
कुर्वतः । वृषभजिनस्य विमलाचलकमलाशृङ्गारहारस्य युगादिदेवस्य गुणानामोघान्
गणान् गायतो गीतिगोचरीकुर्वतः । पुनः किंभूतान् । स्वक्वणस्य निजमधुरध्वनेरनु-
गुणा अनुगतः सदृशीभूतो गुणो निःक्वणरूपो यस्याः सा तादृशी रणिता वादिता
वीणा विपश्चिका यैस्तान् ॥

गलदमलमरन्दोन्मादिरोलम्बरावा-

कुलकलदलमालोन्निद्रसान्द्रद्रुमौघः ।

रणरणकितचेता वेश्मनीवात्र तस्थौ

मुदिर इव रिरंसुर्विद्युतात्मीयपत्न्या ॥ २७ ॥

गलद्भिः सर्वर्तुनिवासवत्वेन समकालविकसितसकलकुसुमसमूहेभ्यो निःसरद्भिः अ-
मलैर्विशदैः सुखादुभिर्मरन्दैः कुसुमरसैरन्मादिनां मकरन्दविन्दुपानोन्मत्तीभूतानां
रोलम्बानां मधुकराणां रावैर्युञ्जारवैराकुला विहस्ता निर्झरभृताः शब्दायमानाः । तथा
कलानां मनोज्ञानां दलानां पत्राणां मालाः श्रेणयो येषु तादृशास्तथोन्निद्रा विकसिताः
पल्लवपत्रपुष्पफलकलिताः जाता अत एव सान्द्राः स्नेहलच्छाया ये द्रुमा वृक्षास्तेषामोघः
समूहोऽत्र शत्रुंजयाद्रौ तस्थौ स्थितिमातनुते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मुदिरो मेघ इवागल्य
स्थितवान् । कुत्रात्र कस्मिन्निव । वेश्मनीव यथा कश्चिद्रूढे गत्वा तिष्ठति । मुदिरः
किंभूतः । रणरणकमौत्सुक्यं जातमस्मिन्निति रणरणकितं तादृशं चेतो यस्य । अत
एव पुनः किं कर्तुमिच्छुः । रिरंसुः रन्तुमिच्छुः । कया । विद्युता सौदामिन्या । किल-
क्षणया । आत्मीयया निजसंबन्धिन्या पत्न्या सहचर्या स्त्रिया । 'चिरविलसनात्किञ्चिद्विद्यु-
त्कलत्रः' इति मेघदूते ॥

मदमुदितमृगेन्द्रारब्धरावाः प्रतिश्रु-

न्मुखरितशिखरौघा मेघघोषं द्विषन्तः ।

विमलधरणिभर्तुर्विश्वतीर्थेश्वरत्वा-

भ्युदितहृदवलेपैर्हुंकृतानीव भान्ति ॥ २८ ॥

मदेन क्षीबतया मुदितैः प्रहृष्टमनोभिः मृगेन्द्रैः कण्ठीरवैः आरब्धा उपक्रान्ताः
स्वेच्छया शयनसमये पार्श्वपरावर्तने विहिता रावाः क्ष्वेडितानि सिंहनादाः भान्ति
शोभन्ते । खतञ्चं निद्रा विरामे कृतत्वात् शोभनं तेषाम् । किंभूताः । प्रतिश्रुति प्रतिशब्दे ।
'प्रतिश्रुत्तु प्रतिध्वनिः' इति हैम्याम् । मुखरिता वाचालीकृताः शिखराणां शृङ्गाणा-
मोघाः समूहा यैस्ते । पुनः किं कुर्वन्तः । मेघानां प्रबलजलधराणां घोषं धीरगम्भीरग-
र्जारवं प्रति द्विषन्तः स्पर्धमानाः । उत्प्रेक्ष्यते—विमलधरणिभर्तुः श्रीशत्रुंजयशैलस्य
तथा विमलनाम्नो राजविशेषस्य वा विश्वेषां समस्तानां जगतां वा तीर्थानां मुक्ति-
स्थानानां मागधप्रसादादीनामीश्वरत्वेनाधिपत्येनाभ्युदिताः प्रादुर्भूता ये हृदवलेपा अहं-
कारास्तैः कृत्वा हुंकृतानीव हुंकारशब्दा इव । चक्रवर्त्यादयः केचिद्विश्वाधिपत्याहंकृते-
हुंकृतीः कुर्वन्ते ॥

निकटविटपिपत्रित्रातवातप्रपाति-

स्सितकिसलयपुष्पाङ्कृततल्पानिवात्र ।

सुखमनिमिषलेखाः संनिषण्णैणनाभी-

सुरभिमणिशिलाङ्गान्साङ्गनाः संश्रयन्ते ॥ २९ ॥

अनिमिषाणां देवानां लेखाः पङ्क्तयः सुखं सातं यथा स्यात्तथा अत्र शत्रुंजयाद्रौ सं-
निषण्णाः सम्यगुपरि उपविष्टा ये एणाः कस्तूरिकामृगास्तेषां नाभीभिस्तुन्दकूपिकाभिः
सुरभयः कस्तूरिकोत्पत्तिस्थानसंपर्कोत्सुगन्धा या मणीनां रत्नमयाः शिलास्तासामङ्का-
नुत्सङ्गान् संश्रयन्ते । किंभूताः । अनिमिषाः साङ्गनाः खखयुवतीसखाः । उत्प्रेक्ष्यते—
कृत्स्नान् रचितान् पुष्पपल्लवादिविच्छित्तिकलितान् तत्पान् पल्यङ्कानिव । किंभूतान् ।
निकटयोरुभयोः पार्श्वयोर्विदपिनोर्विनिद्रद्रुमास्तेषु पत्रिणां विविधविहंगमानां व्राताः
प्रकारास्तेषां वाताः उड्डयनोपवेशनगमनागमनसमयविधूतपक्षपवनैः प्रकर्षेण पतन्ती-
त्येवंशीलानि । तथा स्मितानि विकसितानि किसलयानि पल्लवाः पुष्पाणि कुसुमानि येषु
तान् । अन्येऽपि तरुणिसहितास्तरुणाः पुष्पपल्लवरचनाञ्चिते पर्यङ्के सुखं भजन्ते ॥

कचिदपि सरिदम्भो गाहितुं साग्रहेण

द्विरदसमुदयेनोन्मादिनास्मिन्दिदीपे ।

कुलिशशयभयोर्वीनष्टवार्धिप्रविष्टा-

खिलशिखरिविभूषामिच्छताच्छेत्तुमूहे ॥ ३० ॥

अस्मिन् श्रीशत्रुंजये कचिदपि कुत्रापि स्थाने द्विरदसमुदयेन विन्ध्यावत्तत्र कथं-
चिदुत्पन्नेन राजादीनां स्वेच्छया चरणार्थं मुक्तेन वा गजयूथेन दिदीपे । किंभूतेन ।
उन्मादिना मदोदयमत्तीभूतेन । पुनः किंभूतेन । सरितः शत्रुंजयाप्रमुखचतुर्दशमहान-
दीषु कस्याश्चिन्नद्याः अम्भो जलं गाहितुं मध्ये प्रविश्य सलिलकेलिं कर्तुं साग्रहेण
सहृटेन निर्वन्धवता । तत्राहमेवमूहे वितर्कयामि । कुलिशं वज्रं शये पाणौ यस्य स
शक्रस्तस्य भयेन भीतेर्वशेन उर्व्याः पृथिव्याः सकाशान्नष्टाः पलायिताः सन्तो वार्धौ
खप्राणतादृगपरस्थानाभावात्तद्वातृसकललोकपालकपुरुषोत्तमनिवासस्थाननीरनिधिमध्ये
प्रणश्य प्रविष्टाः अखिलाः समग्रा ये शिखरिणः शैलास्तेषां विभूषां शोभामाच्छेत्तुं हटा-
दृहीतुमिच्छता वाञ्छतेव ॥

कचिदुदरशयालूनप्रौढगर्भान्महेला

इव दधति धरेन्दोः कंदराः सिंहशावान् ।

अपि बभुरिह नागाः प्रेषिता यत्प्रसत्त्यै

निजगरिमजितेनेवाञ्जनेनात्मशृङ्गाः ॥ ३१ ॥

कचित्कुत्रापि प्रदेशे धरेन्दोः शत्रुंजयशैलराजस्य कंदराः गुहाः सिंहशावान् केसरि-
किशोरान्दधति बिभ्रति । का इव । यथा धरेन्दोः पृथिवीनिशीथिनीनाथस्य महेला नित-

म्बिन्यः उपलक्षणानिखिला अपि योषितः प्रौढान् प्रगल्भान् संपूर्णनिष्पन्नान् गर्भान्
भ्रूणान् विभ्रति । किंभूतान् । उदरेषु कंदरामध्येषु कुक्षिषु च शयालान् शयनशीलान्
निद्रामुद्रितलोचनान् स्थायुकांश्च । अपि पुनरिह श्रीशत्रुंजयाचले नागाः गन्धसिन्धुराः
बभुर्भान्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्य विमलशैलात्मनो गरिम्णा गुरुतया तुङ्गत्वेन जिते-
नाभिभूतेनाञ्जनेनाञ्जननाम्ना पर्वतेन यस्य पुण्डरीकाद्रेः प्रसक्त्यै प्रसन्नीकरणार्थमनुकूली-
करणाय प्रेषिताः प्रस्थापिता आत्मनोऽञ्जनगिरिसंबन्धिनः शृङ्गाः शिखराणीव ॥

कचन करिणि मग्ने केलिलोले हृदिन्यां

तदुपरिसरवेणाभ्राम्यत भ्रामरेण ।

क नु गत इह हस्ती(?)स्ताघ आस्ते नवान्त-

स्तमनु पुनरयेऽहं पृच्छतातीव सिन्धुम् ॥ ३२ ॥

हृदिन्यां नद्यां कचन कापि स्थानके केल्यां जलक्रीडायां लोले चञ्चले करिणि कुञ्जरे
कपोलयुगलनिर्गलद्बहुलमदजलप्रबलप्रवाहद्वयामलीभूतभूयस्तरतरलजले दन्तावले मग्ने
जलमध्यप्रविष्टे सति तदुपरि गजमज्जनस्थाननीरोपरिष्ठात् सरवेण सशब्देन गुञ्जारव-
भाजा भ्रामरेण मधुकरनिकरेण । भ्रमराणां समूहो भ्रामरम् । यथा 'बहुलभ्रामरमेचक-
तामसे' इति वृत्तरत्नाकरवृत्तौ काव्यकल्पलतायां च । अभ्राम्यत भ्रान्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—
सिन्धुं नदीं प्रति इत्यमुना प्रकारेण अतीव पृच्छता प्रश्नं कुर्वता इव । इति किम् । नु
प्रश्ने । हे सिन्धो, इहास्मिन्प्रदेशे मग्ने हस्ती महानृपः क कुत्र स्थाने गतः प्रविष्टिष्ठति
वा । पुनरिह त्वज्ज(?)मध्ये स्ताघो गाधाम्बु स्वल्पजलमास्तेन वा अगाधोदकं वर्तते ।
यद्यल्पपयः स्यात्तदाहं तं हस्तिनमनु पृष्टे अये गच्छामि मदपानार्थमिति शेषः ॥

किमखिलकुलशैलाञ्जेलुकामः स्वलक्ष्म्या

तरुण इव मृगाक्षीः किं दिशः प्रेक्षितुं वा ।

किमुत निखिललोकालोकनोत्कण्ठचेता

विमलवसुमतीभृत्प्रोन्नतिं संतनोति ॥ ३३ ॥

विमलनामा वसुमतीभृत्पर्वतः प्रकर्षेणोन्नतिमुच्चैस्तरत्वं संतनोति सम्यक्तया वृद्धिं
विदधाति किमु । उत्प्रेक्ष्यते—स्वलक्ष्म्या निजवैभवेन कृत्वा अखिलानष्टावपि कुलशैला-
न्मन्दरप्रमुखान् गिरीन् जेलुकामः किं पराभवितुमिच्छुरिव । वा अथ वा । उत्प्रेक्ष्यते—
दिशो दशापि हरितः प्रेक्षितुमिव । क इव । तरुण इव । यथा युवा मृगाक्षीः सारङ्गसु-
न्दरलोचनास्तरुणीः प्रेक्षितुमुन्नतीभवति । उताथ वा । उत्प्रेक्ष्यते—निखिलस्य समग्रस्य
सचराचरस्य लोकस्य त्रिभुवनस्यापि आलोकने दर्शने उत्कण्ठा औत्सुक्यं विद्यते
यस्मिन् तादृशं चेतो मानसं यस्यैवंविधं किमुच्चैस्तरः संजातः ॥

उदयदरुणबिम्बेनैकतो नैशनिर्य-

त्तिमिरपरिकरेणाप्यन्यतः पर्वतेन ।

कलितनिलयरत्नः पृष्ठतिष्ठत्तमिस्रो

दिननिधननिकेतापातिलोकोऽनुचके ॥ ३४ ॥

पर्वतेन श्रीशत्रुञ्जयाद्रिणा दिनस्य वासरस्य निधनं नाश एतावता संध्यासमयस्तस्मिन्निकेतं निजवाससौधमापतत्यागच्छतीत्येवंशीलो लोको जनो येनानुचके अनुकृतः स्वसदृशो विहितः । केन कस्मिन् । पूर्वदिग्विभागवर्तिपार्श्वप्रदेशे उदयदुद्गच्छदुदयाचलचूलिकामलंकुर्वत् अरुणस्य भास्करस्य बिम्बं मण्डलं तेन । अपि पुनः केन । अन्यतः अपरस्मिन् प्रतीचीदिग्वर्तमानपार्श्वे नैशानां निशासंबन्धनां निर्यतां स्वद्रोहिध्वान्तारान्तिभीतेर्निःसरतां तिमिराणामन्धकाराणां परिकरेण परिवारेण । प्रकरेणेत्यर्थः । किंभूतो लोकः । कलितं भूरितमानुच्छेद्यभूच्छायाच्छादितनिखिलपुरस्थपदार्थसार्थप्रकटीकरणप्रगुणघृणिगणं स्वहस्ते गृहीतं निलयरत्नं प्रदीपो येन । पुनः किंविशिष्टम् । पृष्ठे स्वनिर्मुक्तपश्चात्प्रदेशे तिष्ठद्वर्तमानं तमिस्रमन्धकारं यस्य ॥

क्वचिदपि कमलानामात्मनोऽक्षीणभावं

त्रिजगदनिशदानेनाप्ययाच्यत्वमन्यत् ।

किमु विवरिषुरेष प्रावृषेण्याम्बुवाहो

वशदविमलशैलं शीलति साञ्जनौघः ॥ ३५ ॥

अञ्जनानामञ्जनाभिधानातिनीलवर्णवृक्षविशेषाणामोघः समुदयः शत्रुञ्जयशैलं शीलति सेवते । निकुरम्बेण समुद्रताः सन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एषः अञ्जनपादपवपुः प्रत्यक्षलक्ष्यः प्रावृषेण्याम्बुवाहः किमु वर्षाकालसंबन्धी वारिवाह इव भजते । किं कर्तुमिच्छुः । त्रिजगतां त्रयाणामपि भुवनानामनिशं निरन्तरमविच्छेदं दानेन विश्राणनेनापि स्वस्य कमलानां लक्ष्मीणां जलानां च क्वचिदपि कुत्रापि स्थाने क्षीणत्वं न सर्वत्राप्यक्षीणभावं शाश्वतत्वम् अन्यत्पुनः अयाच्यत्वमनर्थिभावम् । मेघा हि क्षीरसमुद्राद्याचित्वा जलमादाय वर्षन्ति इति कविसमयो लोकरुढिश्च । कस्यापि याच्यां न कुर्म इत्यायाच्यत्वं किमु विवरिषुर्याचितुमिच्छुरिव । कम् । वशं कामितं ददातीति । ‘तृष्णा लिप्सा वशः स्पृहा’ इति हैम्याम् । वशदः समीहितदायकं तादृशं विमलशैलं शीलति । किं चाक्षीणलक्ष्मीकस्य याचनीयमेव न भवेत्, तर्हि किमर्थमयाच्यत्वयाच्यायुक्तं परं किंचिद्वस्तु लक्ष्म्यापि दुःप्राप्यं स्यात्, तथाच्यायां केनचित्कृतायां तदपि अविद्यमानतया कुतोऽप्यानीयाभ्यर्थ्यादाय वा दातव्यं भवेत्, अत एव विश्वविश्वपदार्थैश्चरत्वमयाच्यत्वमिति ॥

असुरसुरनराणां श्रेणिभिः सप्रियाणां

स शिखरिपृतनाषाड् भूष्यते निर्विशेषम् ।

भुजगभवनदेवावासविश्वंभराणां

सममखिलविभूषादित्सयेवोत्सुकाभिः ॥ ३६ ॥

स शत्रुंजयः शिखरिणां समस्तपर्वतानां पृतनाषाडिन्द्रः सप्रियाणां साङ्गानामसुराणां दानवानां नागानां वा सुराणां देवानां नराणां मनुष्याणां श्रेणिभिर्धोरणीभिर्निर्गते विशेषः सेवाविधौ यत्र तथा भूष्यते अलंकियते । उत्प्रेक्ष्यते—सममेककालं भुजग-भवनं पाताललोकस्तथा देवावासः स्वर्गलोकः तथा विश्वंभरा भूलोकः एतासाम् । त्रिजगतामित्यर्थः । अखिलानां समग्राणां विभूषाणां शोभानां दित्सया दातुमिच्छया उत्सुकाभिरुत्कण्ठिताभिरिव ॥

मरकतशिखराणां पद्मरागोदराणां

दिशि दिशि जलधारोद्गारिनिर्यञ्जराणाम् ।

क्वचिदुपरि नमन्तश्चञ्चलकेलिमन्तो

ध्वनिभिरिह पयोदा जज्ञिरे वृष्टिमन्तः ॥ ३७ ॥

इह शत्रुंजये क्वचित्कुत्रापि स्थले मरकतशिखराणामदमगर्भमणिमयशृङ्गाणामुपरि ऊर्ध्वशिखरः प्रदेशे नमन्तः मिलित्वागल्य संस्पृशन्तः पयोदा मेघाः ध्वनिभिर्गजारवैरेव जज्ञिरे कथमपि ज्ञायन्ते स्म । शिखराणां किंभूतानाम् । पद्मरागाः लक्ष्मीपुष्पाणि रक्तमणयः उदरे गर्भे मध्ये येषाम् । पुनः किंभूतानाम् । दिशि दिशि सर्वास्त्रि दिक्षु । ‘दिशि दिशि किमिमानि प्रच्यवन्तेऽन्तरिक्षात्’ इति चम्पूकथायाम् । जलानां पानी-यानां धाराणां वृष्टीरुद्गिरन्ति सुखन्तीत्येवंशीलं निर्यान्तः शिखरमध्यान्निःसरन्तो द्वारा निक्षेपप्रवाहाः येषु तेषाम् । किंभूताः पयोदाः । चञ्चलाया विद्युतः केलयो विलसनानि विद्यन्ते येषु । ‘चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः’ इति मेघदूतकाव्ये । पुनः किंभूताः । वृष्टिमन्तो निष्पन्ननीरधाराः ॥

क्वचिदवहदपाचीवीचिमालीव सेतुं

क्वचिदपि वसुराजीमिभ्यधामेव धत्ते ।

अपि दुरधिगमत्वं ब्रह्मवत्काप्यधत्त

व्यधृत कनकसालं कापि लङ्केव शैलः ॥ ३८ ॥

शैलः शत्रुंजयाचलः क्वचित्क्वचन प्रदेशे अपाच्या दक्षिणस्या दिशो वीचिमाली समुद्र इव सेतुं पद्यामवहद्वहति स्म । रावणापहतसीताप्रत्यायनार्थं लङ्कागमनावसरे रामेण दक्षि-णार्णवे सेतुर्बद्ध इति श्रुतिः । ‘सेतुर्येन महोदधौ विरचितः कासौ दशास्यान्तकः’ इति

भोजप्रबन्धे । क्वचित्कुत्र च स्थाने इभ्यधाम व्यवहारिवेशमेव वसूनां मणीनाम् । 'रत्नं वसुमणिः' इति हैम्याम् । खर्णानां च । 'खर्णं हेमहिरण्यहाटकवसून्यष्टापदं काञ्चनम्' इत्यपि हैम्याम् । राज्ञीं श्रेणीं धत्ते दधाति । अपि पुनः कापि शिखरादिप्रदेशे ब्रह्म-
वन्मोक्ष इव दुःखेनाधिगम्यते इति दुरधिगमं तस्य भावो दुरधिगमत्वं दुरारोहतामवत्त-
बिभर्ति स्म । पुनः कापि ऋषभकूटादौ लङ्केव दशकंधरनगरीव कनकसालं काञ्चनप्रा-
कारं व्यधृत धरति स्म ॥

स्फुटकटतटनिर्यद्धानपाथःप्रवाहैः

शिशुशिखरिसमूहान्सिञ्चदञ्चद्वनान्तः ।

कचिदपि करियूथं विन्ध्यधत्रीभृतीव

प्रणयति रतिकेलीं यत्र सत्रा कलत्रैः ॥ ३९ ॥

यत्र शत्रुजये कचिदपि कुत्रचनापि वनगह्वरप्रदेशे करियूथं गजवृन्दं कलत्रैः स्व-
करिणीभिः सत्रा सार्धं रत्या मनस्तुष्ट्या रागेण च केलीं विविधक्रीडां सुरतविलासं वा
प्रणयति करोति । कस्मिन्निव । विन्ध्यधत्रीभृतीव । यथा खोत्पत्तिस्थाने विन्ध्यशैले
गजघटा स्ववशाभिः । 'गजोऽस्य स्त्री धेनुका वशापि च' इति हैम्याम् । स्वैरं रमते ।
किं कुर्वन् । स्फुटं प्रकटं जननयनगोचरं यथा स्यात्तथा कटतटाभ्यां कपोलस्थलाभ्यां
सकाशान्निर्घर्द्भिः सरद्भिर्दानपाथसां मदोदकानां प्रवाहैर्धाराप्रवहणैः कृत्वा शिशूनां
बालानां नवप्रलूढानां शिखरिणां वृक्षाणां समूहान् गणान् सिञ्चत् पानीयं पायन् ।
पुनः किं कुर्वन् । वनान्तर्विपिनमध्ये अञ्चत् चरत् ॥

त्रिदिवसदनभूभृत्सार्वभौमाध्वरोधो-

द्भुरशिखरसहस्रैः पुण्डरीकावनीभृत् ।

धरणिमिव फणाभिश्चक्रिणां चक्रवर्ती

त्रिदिवमिव दिधीषुर्लक्षकैर्लक्ष्यते स्म ॥ ४० ॥

पुण्डरीकावनीभृद्विमलाचलः त्रिदिवं स्वर्गलोकं दिधीषुः धर्तुमिच्छुरिव लक्षकैर्दर्शयि-
तभिरवलोककलोकैर्लक्ष्यते ज्ञायते । कैः । त्रिदिवे स्वर्गे सदनं गृहं येषां ते त्रिदिवसदना
देवास्तेषां भूभृत्पर्वतो मेरुः । 'स्वःस्वर्गिकाञ्चनतोगिरिः' इति हैम्याम् । सुराचलस्तस्य
सार्वभौमश्चक्रवर्ती शक्रः । 'जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौमः' इति नैषधे इन्द्राभिधानम् ।
तस्येन्द्रस्याध्वा मार्गो गगनम् । 'बहुविगाढसुरेश्वराध्वा' इति नैषधे च । तस्याध्वनो नभसो
रोधे रुन्धने उद्भुरैस्तकटैः शिखराणां शृङ्गाणां सहस्रैर्भूयस्तरदशशतीभिः प्रमितैः । कृत्वा
इत्यर्थः । क इव । चक्रवर्तीव । यथा चक्रिणां नागानां सार्वभौमः शेषनागः सहस्रफणाभिः
कृत्वा धरणिं भूमिं धत्ते । 'धरणिविरहिणि क्लान्तमुद्रे समुद्रे' इति नाटकशास्त्रे धरणि-
शब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । 'मुदा यस्मोद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरैर्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतध-
रणिभारं भुजबलम्' इति वाग्भटालंकारेऽपि ॥

विदलितदललीलाश्यामलीभूतभूमी-
रुहनिवहनितम्बालम्बिजाम्बूनदस्तुः ।

प्रस्तुतझरपयस्कः प्रावृषेण्याम्बुवर्षि-

स्फुरदशनिपयोदं योऽनुयातीव कान्त्या ॥ ४१ ॥

यः शत्रुंजयाद्रिः प्रावृषेण्यं वर्षाकालसंबन्धिनं अम्बु पानीयं वर्षतीत्येवंशीलः,
तथा स्फुरन्ती वियोतमाना प्रतिदिशं चमत्कारं कुर्वती वा अशनिर्वियुद्यत्र तादृशं
पयोदं मेघं कान्त्या शोभया कृत्वा अनुयातीव आत्मना अनुकरोतीव । यः किंभूतः ।
विदलितानां विशेषेण विकाशं प्राप्तानामुन्मिषितम् । 'विकसितं दलितं स्फुटितं स्फुटम्'
इति हैम्याम् । दलानां पत्राणां लीलया विलासेन श्यामलीभूतानां कृष्णच्छवीभूतानां
भूमीरुहाणां द्रुमाणां निवहाः समूहा यत्र तादृशं नितम्बमालम्बते श्रयतीत्येवंशीलम् ।
'मेखलामध्यभागोऽद्रेर्नितम्बः कटकश्च सः' इति हैम्याम् । जाम्बूनदं काञ्चनमयं
स्तुः शिखरं यस्य । पुनः किंलक्षणः । प्रस्तुतानि दिशि दिशि विस्तारं गतानि ऊढानि
वा झराणां निर्झराणां पयांसि जलानि यस्मिन् सः । 'लुः प्रस्थं सातु' इति हैम्याम् ॥

क्वचिदपि लसदाभ्रस्फाटिकोत्तुङ्गशृङ्गा-

ङ्गणधरणिचरिष्णूः क्षमास्पृशां प्रेक्ष्य लक्षाः ।

इति मतिरुदयासीद्यन्नितम्बस्थितानां

किमिह चरति पङ्क्तिः स्वैरमेषा सुराणाम् ॥ ४२ ॥

यस्य शत्रुंजयाद्रेर्नितम्बे मेखलायां स्थितानामुषितानां वा पुंसामित्यमुना प्रकारेण
मतिरुदयासीदाविर्भूता । इति किं का बुद्धिः । यदेषा प्रत्यक्षलक्ष्या सुराणां देवानां
पङ्क्तिः धोरणी इह विमलचले स्वैरं स्वेच्छया चरति विहरति भ्राम्यति वा । किं कृत्वा ।
क्वचिदपि कुत्रापि प्रदेशे विशेषे । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इति धातुः । लसतां श्लि-
ष्यतामर्थात्परस्परं शिखरापेक्षया आभ्रस्फाटिकानामाकाशस्फटिकरत्नानामिमानि आभ्र-
स्फाटिकानि । क्वचिद्वयोः पूर्वोत्तरपदयोर्वृद्धिर्भवति । 'आग्निमासुतं कर्म सौहार्दम्' इति
सारस्वतव्याकरणे, तद्वदत्राप्युभयत्र वृद्धिः । आकाशस्फटिकमयानि क्रीडया कुतूहलेन
वा देवैर्विरचितानि स्वामाविकानि वा तथा उत्तुङ्गानि गगनाङ्गणालिङ्गीनि शृङ्गाणि
शिखराणि तेषामङ्गणान्यजिराणि अधिल्यका वा तेषां तासां वा धरणौ भूमौ चरिष्णूः
संचरणशीला क्षमास्पृशां यात्रिकमानवानां लक्षाः शतसहस्राणि प्रेक्ष्य दृष्ट्वा दृग्गोचरी-
कृत्य । आकाशस्फटिकमणीनां चर्मचक्षुरलक्ष्यत्वात्सुराणां चाम्बरचारिस्वादेषा घट्टना ॥

मलयगिरिरिवासौ कापि काकोदराली-

कलितमलयसालैर्निर्यदामोदिवातैः ।

गलदमलमदाम्भःपङ्क्तिःसंसिक्तवृक्षैः

क्वचिदपि गजयूथैर्विन्ध्यवद्यो विभाति ॥ ४३ ॥

असौ शत्रुञ्जयाचलः कापि कुत्रचन प्रदेशे मलयगिरिरिव दक्षिणाचल इव विभाति ।
‘अथ मलय आषाढो दक्षिणाचलः’ इति मलयाद्रिनामानि हैम्याम् । कैः । काकीदराणां
भुजगानामालीभिः राजीभिः कलितैरामूलचूलं वेष्टितैर्मलयसालैश्चन्दनद्रुमैः । किंभूतैः ।
निर्यान्तः श्रीखण्डवनखण्डेभ्यो निर्गच्छन्तः प्रसरन्तः आमोदाः परिमला विद्यन्ते येषु
तादृशा वाता वायवो येभ्यस्तैः । अपि पुनः क्वचित्कस्मिंश्चिदपि स्थाने गजयूथैर्मत्तग-
जपुङ्खैः विन्ध्यवज्जलबालकशैल इव विभाति । किंभूतैः गजयूथैः । गलन्तीभिः कपो-
लपालिभ्योऽविरलप्रवाहैः निष्पतन्तीभिः अमलाभिः अनाविलाभिर्मदाम्भसां दानजलानां
पङ्क्तिभिर्धोरणीभिः संसिक्ताः सम्यक्प्रकारेण उद्यानपालवत्सेकं सिञ्चनं प्रापिता वृक्षा
वालसालाः प्रौढपादपा वा यैः ॥

करिकदनकपर्दकोडलीलायमान-

त्रिदिवसदनपाथोनाथपद्माननेव ।

क्वचन कनकशृङ्गोत्सङ्गरङ्गतरङ्गा-

वलिललितविलासा कापि कुल्योल्लास ॥ ४४ ॥

यत्र शत्रुञ्जये काप्यनिर्दिष्टाभिधाना चतुर्दशसु नदीषु अन्यतमा कापि काचित्कुल्या
कल्लोलिनी उल्लास शोभते स्म । किंभूता कुल्या । कनकस्य काञ्चनमयस्य शृङ्गस्य शिखर-
स्योत्सङ्गे कोडे रङ्गन्ती प्रचलन्ती तरङ्गाणां कल्लोलानामावलिः श्रेणिः तया ललितो
मनोज्ञो विलासो विलसनं यस्याः सा । उत्प्रेक्ष्यते—करिणो गजासुरस्य कदनं हननं
यस्मादिति कृत्वा शंकरः । ‘गजपुष्पपुरानङ्गकालान्धकमखासुहृत् । हरः’, तथा ‘निग्रन्थनं
प्रमथनं कदनं निवर्हणम्’ इति हनननामानि । इदं द्वयमपि हैम्याम् । तस्य शिवस्य
कपर्दो जटाजूटः । ‘कपर्दस्तु जटाजूट ईश्वरस्य’ इत्यपि हैम्याम् । तस्य कोडेऽङ्गे ली-
लायमाना लीलया चलन्ती विलसन्ती वा त्रिदिवः स्वर्गस्तत्र तदेव वा सदनं गृहं येषां
तादृशा देवास्तेषां पाथसां पानीयानां नाथः स्वामी । ‘यादःस्रोतोवानर्नदीशः सरस्वान्’
इति हैम्याम् । समुद्रस्तस्य कमलमुखी पत्नी । ‘समुद्रदयिताधुन्यौ’ इत्यपि हैम्याम् ।
नदी । एतावता देवनदी गङ्गैव स्फुरति स्म ॥

क्वचन कनकरत्नाधित्यकादीप्रदीप्तिं

दिनकरकरसङ्गाद्वाहमानां विहायः ।

सकलकुलगिरीन्द्रान्यः पराभूय भूत्या

कलयति किमु शैलः स्वेन मूर्ते प्रतापम् ॥ ४५ ॥

यो विमलाद्रिः कचन कापि प्रदेशे कनकानां काञ्चनानां रत्नानां रक्तपीतमणीनां वा अधित्यका ऊर्ध्वभूमिस्तस्या दीप्रां दीपनशीलां दीप्तिं कान्तिं कलयति धत्ते । किंभूतां दीप्तिम् । दिनकरस्य सूर्यस्य करणां किरणानां सङ्घातसंपर्कादाश्लेषाद्विहाय आकाशं ग्राहमानानां निर्भरं भरन्तीनाम् । गगनमण्डलं यावत् प्रस्रमराणामित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—सकलान् समग्रान् कुलगिरीन्द्रान् भूत्या आत्मलक्ष्म्या पराभूय जित्वा शैलो विमलशैलो-च्चयः स्वेनात्मना मूर्तं तन्मन्तं सकललोकलोचनगोचरं तन्मन्दरमेकैलाशादिशैला-भिभवोद्भवं प्रतापमिव विभर्ति ॥

बलिनिलयनिकेतैरात्मनः स्थूलमूलै-

धरणिधरतया यो भूभृतां सार्वभौमः ।

निखिलजलधिनेमीभारभुग्नाङ्गभाजो

दिशति किमु कृपालुर्विश्रमं भोगिभर्तुः ॥ ४६ ॥

भूभृतां समस्तपर्वतानां सार्वभौमश्चक्रवर्ती नगाधिराजाभिधानत्वात् शत्रुंजयाद्रिः धरणिधरतया भूभृत्त्वेन । उत्प्रेक्ष्यते—भोगिभर्तुः शेषनागस्य विश्रमं प्रयासापनोदं किमु दिशति ददातीव । कैः । आत्मनः स्थूलमूलैः पुष्टैः पदैः अधः प्रविष्टप्रदेशैः । किंभूतैः । बलिनिलये पाताले निकेतो निवासो येषाम् । 'पातालमूलकैलाशः' इत्यभिधानत्वाच्च । किंभूतस्य भोगिभर्तुः । निखिला समग्रा या जलधिनेमिः सप्तद्वीपसमुद्रपर्यन्ता पृथिवी तस्या भारो वीवधस्तेन भुमं वक्रीभूतमङ्गं वपुर्मजतीति तस्य ॥

गगनगतयद्ग्रस्फारकासारफुल्ल-

त्कुमुदकुवलाङ्गाद्भृङ्गरिञ्छोलिकाभिः ।

निशि शशिनमवेक्ष्याधावि मुग्धाभिरूध्वं

सुरसरिदलिलीलापुण्डरीकभ्रमेण ॥ ४७ ॥

भृङ्गाणां भ्रमराणां रिञ्छोलिकाभिर्देशीभाषया श्रेणीभिर्निशि रात्रौ शशिनं शशलाञ्छनं चन्द्रमवेक्ष्य दृष्ट्वा ऊर्ध्वमुच्चैर्गगनं प्रत्यधावि उड्डीनम् । केन । सुराणां देवानां सरि-न्नदी गङ्गा तस्या अलिभिर्मधुपानागतमधुकैर्युक्तं यल्लीलापुण्डरीकं क्रीडाकरणार्हं सिता-म्भोजं तस्य भ्रमेण आनृत्या । कस्मादधावि । गगने आकाशे गतं प्राप्तं यद्यस्य शत्रुं-जयस्याग्रमुपरितनशिखरं तस्मिन् स्फारो मनोज्ञः पानीयपूर्णो यः कासारः पञ्चवर्णच-न्द्रिकाविकाशिसूर्यविकाशिकमलाकरस्तडागस्तत्र फुल्लतां निशाकरकरसंपर्काद्विकस्वरीभ-वतां कुमुदानां कैरवाणां कुवलयानामुत्पलानामङ्गात्कोडात् । किंभूताभिः भृङ्गरिञ्छो-लिकाभिः । मुग्धाभिः अज्ञानाभिः सदसद्विवेकविकलाभिर्विचाराचतुराभिः सार्धपशुभि-रिव । यदुक्तम्—'हे मालति म्लायसि किं यदेष चुचुम्ब तुम्बी कुसुमं षडङ्घ्रिः । प्राणी चतुर्भिश्चरणैः पञ्चैत्स षड्भिरध्यर्धपशुर्न किं स्यात् ॥' इति ॥

विकसितकुसुमालीकर्णिकालीनपीन-

ध्वनदनयनपेयामेयरोलम्बरावः ।

कचन रजतशृङ्गे चम्पकद्रुश्चकासे

कविरिव कृतवेदोद्गारहंसाधिरूढः ॥ ४८ ॥

कचन कुत्रापि शत्रुंजयस्थानकविशेषे रजतशृङ्गे रूप्यशिखरे चम्पकद्रुर्हेमपुष्पपादपः चकासे दिदीपे । किंभूतश्चम्पकद्रुः । विकसितानां विकाशं प्राप्तानां कुसुमानां चम्पकपुष्पाणामालीनां श्रेणीनां कर्णिकासु बीजकोशेषु लीना मकरन्दपानार्थं मध्ये प्रविश्य निश्चलीभूय स्थितास्तथा पीना यथेच्छाहारप्राप्त्या पुष्टास्तथा ध्वनन्तः शब्दायमाना गुञ्जारवो-जितास्तथा अनयनपेया कर्णिकासु प्रविष्टत्वेन लोचनाभ्यां पातुं योग्याः । अदृश्या इत्यर्थः । तथा अमेयाः प्रमाणातीता ये रोलम्बास्तेषां रावो गुमगुमायमानध्वनिर्यस्मिन् सः । क इव । कविरिव । यथा धाता चकास्ति । किंभूतः । कृतो निर्मितो वेदानामृक्सामयजुषामथर्वणानामुद्गार उद्गिरणमुच्चारो येन हंसे सितच्छदे अधिरूढः अध्याश्रितः राजमरालपृष्ठस्थायुकः ॥

स्वकशिखरसरःस्थां भृङ्गरङ्गत्कटाक्षां

विदलितदलनेत्रीं रागमन्तर्दधानाम् ।

परमसुहृदिवाद्रिः पद्मिनीं यो विविक्ते

समगमयदभीशुस्वामिना कामिनेव ॥ ४९ ॥

योऽद्रिः शत्रुंजयगिरिः परमः सर्वोत्कृष्टः सुहृदिव मित्रमिव पद्मिनीं पद्मपरिमलां कामिनीं कमलिनीं च कामिना कामुकेनेव अभीशुस्वामिना ज्योतिःपातिना भानुना समं विविक्ते विजने एकान्ते समगमयत्संगमं कारयति स्म । किंभूतां पद्मिनीम् । स्वकस्य शैलसंबन्धिनः शिखरं शृङ्गं निजं वा कूटं तत्र यत्सरः पद्माकरस्तत्र तिष्ठतीति तादृशीम् । 'शिरःस्थाम्' इति पाठे शृङ्गमस्तके जलार्द्रप्रदेशे स्थायिनीम् । स्थलेऽपि पद्मिन्याः संभवो दृश्यते । यथा नैषधे—'ददर्श दूतः स्थलपद्मिनीं नलः' इति । तथा चम्पूकथायामपि 'उत्फुल्लस्थलपद्माभभवच्चरणभूषिता' इति । पुनः किंभूताम् । भृङ्गा भ्रमरा एव मधुकरैः कृत्वा रङ्गन्तः पतिं सूर्यं तिर्यक्सर्पन्तः कटाक्षा अक्षिविकृणितानि यस्याः सा । पुनः किंभूताम् । विदलितानि दलानि पद्मण्येव नेत्रे नयने यस्याः । पुनः किं कुर्वाणाम् । अन्तर्मध्ये मानसे च रागं रक्तिमानमनुरतिं स्नेहं च दधानां विभ्राणाम् ॥

विलिखितगगनाङ्कुप्रस्थकण्ठावलम्ब-

द्विजपरिवृढबिम्बालम्बिनक्षत्रमाला ।

तरलकलितमुक्तामालिकाशालिशोभां

प्रतिरजनि विधत्ते सिद्धभूभृन्मघोनः ॥ ५० ॥

विलिखितो निजाप्रेण धृतो गगनस्य नभसः अङ्ग उत्सङ्गो येन तादृशं प्रस्थं साधु
शिखरं तस्य कण्ठोऽधिलका तस्य समीपं किञ्चन शिखाधःप्रदेश उपकण्ठस्तत्रावलम्बं
मिलितं यद्विजपरिवृढस्य बिम्बं मण्डलमालम्बते आश्रयते इत्येवंशीला नक्षत्राणामु-
पलक्षणाङ्गहनक्षत्रतारकाणां माला श्रेणी सिद्धनामा भूभृतां पर्वतानां पार्थिवानां च
मघोनः पुरंदरस्य प्रतिरजनि निशां निशां प्रति तरलेन नायकेन हारमध्यमणिना क-
लितायाः सहिताया मुक्तमालिकाया हारलतायाः शालिनीं दीपनशीलां शोभां विभूषां
विधत्ते करोति ॥

अविरलमणिशृङ्गैर्नैकनाकिद्रुमैश्च

त्रिदशमिथुनवृन्दैर्जातरूपश्रिया च ।

विविधसुरनिकुञ्जैः सिद्धसौधैर्नृणां यः

श्लथयति सुरशैलप्रेक्षणोत्कण्ठि चेतः ॥ ५१ ॥

यः शत्रुंजयाद्रिः नृणां भरतक्षेत्रभूचरनराणां सुरशैलस्य मेरोः प्रेक्षणे विलोकने उ-
त्कठा औत्सुक्यं विद्यते यस्मिन् तादृशं चेतो मनः श्लथयति शिथिलयति मेरुदर्शनोत्कण्ठां
श्लथीकरोति । स्वर्णाचलविलोकनहृल्लेखविमुखं मानसं स्रजतीत्यर्थः । कैः कृत्वा । अवि-
रलान्यनेकानि मणीनाम् । रत्ननिर्मितानीत्यर्थः । शृङ्गाणि शिखराणि तैः । च पुनः कैः ।
नैकैर्नानाप्रकारैर्लौकिकैः कल्पपारिजातादिपञ्चप्रकारैर्जिनशासनोक्तमङ्गादिदशप्रकारैर्वा ना-
किभिर्देवैः स्वक्रीडाकृते छायार्थं वा प्ररोपितैः द्रुमैर्वृक्षैः कल्पतरुभिर्वा । च पुनः कैः ।
त्रिदशानां चतुर्निकायसुराणां मिथुनानां यात्रार्थागतानामधिष्ठातृतया वा स्थायुकानां
गुगलानां दम्पतीरूपाणां वृन्दैः समूहैः । च पुनर्जातया सम्यक्समुत्पन्नया रूपस्य सं-
स्थानविशेषस्य स्वर्णस्य वा श्रिया शोभया लक्ष्म्या । च पुनः कैः । विविधा भवनपति-
व्यन्तरवैमानिकाः सुरा येषु तादृशैर्निकुञ्जैः काननैरथ वा विविधा नानाप्रकाराः सुरनि-
कुञ्जा नन्दनवनरूपा देवारामास्तैः । पुनः कैः । सिद्धानां देवविशेषाणां गानरसिकाणां
सौधैर्गृहैः सिद्धायतनैश्च ॥

क्वचन करटियाना मेखलाशालमानाः

कनककटकभाजो वारिमुक्केशपाशाः ।

विविधमणिविभूषाः पद्मिनीनालबाहाः

विकचकुसुमनेत्रा बिम्बदन्तच्छदाश्च ॥ ५२ ॥

बहलमलयजन्मामोदिता मञ्जुपादा

गुरुतरकुचकूटाः स्फारमुक्तावलीकाः ।

मदपटुपिकवाचश्चम्पकश्रेणिगौरा

युवतय इव यस्मिन्भूमयो विस्फुरन्ति ॥ ५३ ॥

यस्मिन् श्रीशत्रुञ्जये युवतयस्तरुण्यः स्त्रिय इव भूमयः पृथिव्यः कचन क्वापि प्रदेशे विस्फुरन्ति दीप्यन्ते । भूमयो युवतयश्च किंभूताः । कचन कुत्रापि स्थाने करटिनां गलहानजलगजानामिव च यानं गमनं स्वेच्छया परिभ्रमणं लीलामन्धरगतिश्च यासु यासां वा । पुनः किंभूताः । मेखलया गिरिमध्यभागेन स्वर्णमणिवेचितकाक्ष्या च कृत्वा शालमानाः शोभमानाः । पुनः किंभूताः । कनकस्य स्वर्णमयं काञ्चनखनीयुक्तं वा कटकं कमपि मध्यप्रदेशविशेषं हेमवल्यं च भजन्तीति । पुनः किंभूताः । वारिसुचा शिखरोपरिसंचरज्जलदेन कृत्वा मेघवच्च केशपाशः कुन्तलहस्तो यासाम् । पुनः किंभूताः । विविधानामनेकप्रकाराणां मणीनां कर्कतचन्द्रकान्तादीनां रत्नानां विभूषाः शोभा विशिष्टा भूषा अलंकारा यासु वा यासाम् । पुनः किंभूताः । पद्मिनीनां कमलानां नालानि मृणालान्येव तत्तुल्या बाहा भुजा यासाम् । 'पद्मिनी कमलिन्यां कमले प्रधानस्त्रियां च' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूताः । विकचानि विकसितानि कुसुमान्येव कुसुमवुल्यानि वा नेत्राणि नयनानि यासाम् । पुनः किंभूताः । बिम्बानि पद्मगोलहकानि एव तद्वद्वा दन्तच्छदा अधरा यासाम् । पुनः किंभूताः । बहलाः सान्द्राः दृढा वा ये मलयजन्मानः श्रीखण्डतरवः तेषामामोदाः परिमलाः संजाता आसु । पक्षे सान्द्रवदनविलेपनेन सुगन्धीभूताः प्रमोदकलिता वा जाताः । आमोदः परिमलः प्रमोदश्च । पुनः किंभूताः । मञ्जवो मनोज्ञाः पादाः पर्यन्तपर्वताः स्त्रीयोग्यलक्षणोपेताश्चरणाश्च यासाम् । पुनः किंभूताः । गुरुतराण्यभ्रलिहानि अत्युन्नतानि पर्वतलक्ष्म्याः कुचरूपाणि स्तना एव वा कूटानि शिखराणि यासाम् । पुनः किंभूताः । स्फाराः स्फुरन्तः जनगणैः श्रवणैराकर्ष्यमाना मुक्ता अनेकानगरकोटीकलितपुण्डरीकगणिद्रविडवालिल्लिरामशाम्बप्रद्युम्नपाण्डवादिका मुक्तात्मानः सिद्धास्तेषामावल्यः श्रेणयो यासु । मुक्ताशब्देन मुक्तात्मानः प्रोच्यन्ते । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—'ता एव निर्वृतिस्थानमहं मन्ये मृगेक्षणाः । मुक्तानामास्पदं येन तासामेव स्तनान्तरम् ॥' इति । 'निर्वृतिर्मोक्षः सुखं च मुक्तानां मौक्तिकानां च' इति तट्टिप्पनके । अस्याद्वैरपि सिद्धक्षेत्राभिधानात् । 'कर्करकर्करेष्वनन्ताः सिद्धाः' इति श्रुतेश्च । पक्षे दीप्यमानमौक्तिकमालाकलिताः । पुनः किंभूताः । मदेन क्षीबतया सुरखेचरप्रकरप्रकारोऽपि तत्सर्वतुल्यस्मितयत्सहकारसरसमञ्जरीपुञ्जास्वादोद्विक्ताकुण्डकुण्डकहरोदितामन्दानन्दोन्मदतया वा पटवः प्रगल्भा ये पिकाः कोकिलास्तेषां तद्वद्वाचो मधुरपञ्चमालापललितगिरो यासु यासां वा । पुनः किंभूताः । चम्पकानां विकसितकुसुमपुञ्जपिञ्जरीभूतनूतनहेमपुष्पकतरूणां श्रेणीभिः पङ्क्तिवद्वा गौराः काञ्चनरुचः । 'गौरं तु पीतश्चेतयोः' इत्यनेकार्थः । पीतवर्णाः ॥ युग्मम् ॥

विकचकुसुमपीतस्फीतिमज्जातिजातो-

परिपरिमल्लुभ्यल्लोलमत्तालिमाला ।

खगपरिवृढपृष्ठाधिष्ठितारिष्टदस्यो-

रुपमितिमिह शैलाखण्डलेऽलंचकार ॥ ५४ ॥

इहास्मिन् शत्रुंजयनाम्नि शैलाखण्डले गिरीन्द्रे विकचानि विनिद्राणि कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् तथा पीतत्वेन स्फीतिमदीप्यमानमथ वा पीतं हारिद्रवर्णं काश्चिज्जातयः श्वेताः काश्चिच्च पीता अपि स्युरिति स्फीतिमत्प्रवर्धमानं यज्जातीनां मालतीनां जातं वृन्दं तस्योपरि परिमले सुरभितायां लुभ्यतां लोभं प्राप्नुवतां लोलानां चञ्चलानां मत्तानां मकरन्दपानेनोत्कटानामलीनां भ्रमराणां माला श्रेणी सा कर्त्री । खगानां परिवृढः पक्षिणां स्वामी नायको गरुडः स्वर्णकायस्तस्य पृष्ठं ततः पश्चिमो भागस्तमधिष्ठितस्य स्थितस्याध्वारूढस्य वा अरिष्टनामासुरस्तस्य दस्योर्वैरिणः कृष्णस्य उपमितमुपमानमलंचकार भूषितवान् । विष्णोरुपमां प्राप्तवतीत्यर्थः ॥

लिखितसुरपथाङ्कप्रस्थपुञ्जप्ररोह-

न्मसृणसरसघासग्रासवृत्तिं सृजन्तः ।

क्षुधितमृगतुरङ्गाः खेदयन्ति स्म नक्तं-

दिनमिदमुपरिष्ठात्संचरच्चन्द्रसूर्यौ ॥ ९५ ॥

क्षुधिता नक्तंदिनाविश्रान्तिपरिभ्रमणप्रादुर्भवद्बुभुक्षाक्षामकुक्षयः मृगश्चन्द्रोत्सङ्गत-
कुरङ्गस्तुरङ्गाः सूर्यरथरथ्याश्वाः कर्तारः नक्तंदिनं रात्रौ दिवा च इदमुपरिष्ठाद्विमलाच-
लोपरिप्रदेशे संचरन्तौ प्रचलन्तौ चन्द्रसूर्यौ शशिभास्करौ प्रति कर्मणी खेदयन्ति वि-
षादमापादयन्ति । दुःखीकुर्वन्तीत्यर्थः । किं कुर्वन्तः । लिखितो निवृष्टः सुरपथस्याका-
शस्य अङ्कः क्रोडो हृदयं येन तादृशो यः प्रस्थानां सानूनां पुञ्जः तत्र प्ररोहन्त्युद्गच्छ-
न्तस्तथा मसृणाश्चक्रणाः सुकुमारास्तथा सरसाः सान्द्राः स्नेहलाः सुखादा वा ये घासा-
स्तृणानि तेषां ग्रासैः कवलनैर्वृत्तिमाजीविकां प्राणाधारं सृजन्तः कुर्वन्तः ॥

कचन कनकशृङ्गे रङ्गिभृङ्गानुषङ्गि-

क्षरदमितमरन्दस्पन्दसंदोहसान्द्रा ।

अलभत वयसीत्वं जृम्भमाणा तमाला-

वलिरिह यमुनाया भास्वदङ्के स्थितायाः ॥ ९६ ॥

इह शत्रुंजयाद्रौ कचन कुत्रचन स्थानके कस्मिन्नपि वा कनकशृङ्गे सुवर्णशिखरे जृ-
म्भमाणा विकसन्ती तमालानां तापिच्छद्बुभुक्षामावलिः श्रेणी भास्वदङ्के सूर्योत्सङ्गे स्थि-
तायाः पितुः सवितुरुत्सङ्गे खेलन्त्या यमुनाया यमभगिन्या नद्याः वयसीत्वं सखीभाव-
मलभत प्राप्नोति स्म । किंभूता । रङ्गो रङ्गणं पर्यटनम् । 'अगिरगिलगि गत्यर्थाः' इत्ययं
धातुः । तथा रङ्गनं रङ्गो रागः । 'रञ्ज रागे' इत्यस्य प्रयोगश्च विद्यते । येषां ते रङ्गिण-
स्तेषां शृङ्गाणां भ्रमराणामनुषङ्गः सङ्गो विद्यते येषु तादृशाः क्षरन्तो निःसरन्तोऽसिता
मानातीता ये मरन्दा मधूनि त एव स्पन्दा रसास्तेषां संदोहा राशयस्तैः सान्द्रा
नीरन्त्रा पूर्णा ॥

मरकतकटकाङ्कस्फाटिकानुचकूटो-

दरविदलितपुष्पप्रस्फुरच्चम्पकद्रुः ।

नरकदमननाभीपुण्डरीकाङ्कनिर्य-

जलजतनुजलीलामालम्बे कदम्बे ॥ ९७ ॥

कदम्बे शत्रुंजयाचले मरकतानामश्मगर्भमणीनां कटकस्य क्वापि नीलरत्ननिर्मितगिरि-
नितम्बस्याद्रिमध्यभागस्य अङ्कः क्रोडस्तत्र स्फाटिकं स्फटिकमणिसंबन्धि यदनुचं ना-
त्युन्नतं नोत्तुङ्गम् । लघु इत्यर्थः । कूटं शिखरं किञ्चिदुच्चगिरिप्रदेशस्तस्योदरे मध्ये गर्भे वा
विदलितैर्विनिद्रीभूतैः पुष्पैः कुसुमैः प्रस्फुरद्दीप्यमानश्चम्पकद्रुर्हेमपुष्पकपादपः कर्ता । नर-
कनाभोऽसुरस्य दमनो हन्ता नारायणस्तस्य नाभ्यां तुन्दकूपिकायां यत्पुण्डरीकं श्वेता-
म्भोजं तस्याङ्गात् हृदयात् । उदरादित्यर्थः । निर्यतो निर्गच्छतो जलजतनुजस्य कमलभुवो
ब्रह्मणो लीलां विलासमालम्बे आश्रयते स्म । इति गर्भितोपमा ॥

रसिककरिविलोत्कर्णतालौघतूर-

ध्वनिमधुकरराजीगुञ्जितोदात्तगीतौ ।

कचिदिह गुरुणेव प्रेरिता मारुतेन

स्त्रिय इव वनवल्लयः पत्रहस्ता अनृत्यन् ॥ ९८ ॥

इह श्रीसिद्धशैले क्वचित् कुत्रापि प्रदेशे स्त्रियो नृत्यकृतकामिन्यो नर्तक्य इव वनवल्लयः
काननोद्गतलता अनृत्यन् नृत्यन्ति स्म । किंभूताः । मारुतेन वायुना प्रेरिताश्चपलीकृताः ।
उत्प्रेक्ष्यते—गुरुणेव । यथा नाटकाचार्येण सूत्रधारेण प्रेरिताः प्रवर्तितास्ताण्डवकारिकाः
पात्राणि नृत्यन्ति । किंभूतानि । पत्राणि पर्णान्येव पवनचञ्चलत्वात् हस्तकाः पाणिर्विक्षे-
पा यासां ताः । नृत्यन्ति कस्यां सत्याम् । रसिकाः स्वैरं स्ववशाभिर्वनद्रुमेषु सल्लकीकाननेषु
क्रीडारसकलोलितचेतसो ये करिणो गजेन्द्राः तेषां सशब्दं चञ्चलीभवतामितस्ततः संजाय-
मानानां कर्णतालानां श्रोत्रपत्राणाम् । ‘उषसि गजयूथकर्णतालैः’ इति रघुवंशे । ओघाः
समूहास्त एव तूराणां वादित्राणां ध्वनयो निर्घोषास्तथा मधुकराणां विकसितकुसुमारवि-
न्दवृन्दमकरन्दविन्दुमदोन्मदबन्धुरगन्धसिन्धुरकपोलस्थलगलन्मदोदकपानमेदुरीभूतानां
भ्रमराणां गुञ्जितानि गुञ्जारवा एव उदात्ता मनोज्ञा गीतिर्गानं तस्यां सत्याम् ॥

लुलितगगनगङ्गासीकरासारवन्तः

स्मिततरुवनमालामन्दमान्दोलयन्तः ।

विकचकुसुमपद्मामोदभेदस्विनो यं

प्रभुमिव पवमानाः सेवकाः शीलयन्ति ॥ ९९ ॥

पवमाना मारुताः यं पुण्डरीकाचलं शीलयन्ति । के इव । सेवका इव । यथा अनु-

चराः प्रभुं स्वामिनं सेवन्ते । वायुस्त्रिधा वर्ण्यते । शीतो मन्दः सुरभिश्च । तदेव त्रै-
विध्यं दर्शयति—किंभूताः पवमानाः । लुलिताः पवनवेगेनान्दोलिता अतिचपलीकृता
या गगनस्य गगनवर्तिनी वा आकाशे प्रवहमाना भूमिगतवत् या गङ्गा सिद्धधुनी देवनदी
तस्याः सीकराणां जलकणानामासारो वेगवती वृष्टिर्विद्यते येषु । इति शीतलत्वम् । पुनः
किंभूताः । स्मिता विनिद्रास्तरवो द्रुमा येषु तादृशानि वनानि काननानि तेषां मालाः
श्रेणीः मन्दं शनैः शनैरान्दोलयन्तस्तरलीकुर्वन्तः । इति मन्दत्वम् । पुनः किंभूताः ।
विकचानां विकसितानां कुसुमानां विविधजातीयतरुपुष्पाणां तथा पद्मानां कमलानां वा
मोदैः परिमलैः मेदस्विनः पुष्टाः । इति सुरभित्वम् ॥

प्रतिशिखरमुष्मिन्निःसरन्निर्झरौघा

असुरसुरपुरंध्रीकेलिनीरन्ध्रनीराः ।

नभसि निरवलम्बप्रस्खलन्नाकिनद्याः

शतश इव भवन्तो वाःप्रवाहाः स्फुरन्ति ॥ ६० ॥

अमुष्मिन् सिद्धपर्वते प्रतिशिखरं निखिलशिखरेभ्यो निःसरन्तो निर्गच्छन्तो ये
निर्झराणामोघाः संघाताः स्फुरन्ति दीप्यन्ते । विभान्तीत्यर्थः । किंभूताः । असुराणां
पातालवासिनां सुराणां स्वर्गगेहानां पुरंध्रयः कामिन्यस्ताभिः केलिभिः जलविलासैः
कृत्वा नीरन्ध्रं निर्भरं भृतं नीरं पानीयं येषु ते । उत्प्रेक्ष्यते—निर्गतः अवलम्ब
आश्रयणं यस्मात्तादृशे नभसि आकाशे निराधारत्वेन प्रस्खलन्त्या प्रकर्षेण स्खलित्वा
निष्पतत्या नाकिनद्याः स्वर्गिगङ्गायाः शतशः शतसहस्रसंख्याका भवन्तः वाःप्रवाहाः
पयःपूरा इव ॥

स्फटिकघटनमन्तः पद्मरागप्रगल्भं

मरकतमयशृङ्गं निर्झरै राजमानम् ।

कलितकलबलाकाकालिकीवारिधारं

ध्वनिजितमिव सार्वं शीलदभ्रं बभासे ॥ ६१ ॥

क्वचित्कस्मिन्नपि गिरेः प्रदेशे मरकतानि अश्मगर्भा नीलमणय एव रूपं यस्य
इन्द्रनीलरत्नघटितं शृङ्गं शिखरं बभासे शुशुभे । किंभूतं शृङ्गम् । स्फटिकानां क्षीरतैल-
स्फटिकरत्नानां घटना रचना यत्र तत् । पुनः किंभूतम् । अन्तर्मध्ये क्वापि स्थाने
पद्मरागा अरुणमणयस्तैः प्रगल्भं पटुशोभम् । पुनः किंभूतम् । निर्झरैर्निःसरन्नीरधा-
राधोरणीभी राजमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—ध्वनिना गम्भीरशब्देन जितमभिभूतं सत्सार्व
कृषभदेवं शीलत् सेवमानमभ्रं मेघ इव । 'मेघगम्भीरघोषत्वम्' इति हैम्याम् । किंभू-
तमभ्रम् । कलिता धृता कला मनोज्ञा बलाका बलाकां गता । मेघसमये हि बलाकानां
गर्भाधानं जायते । अत एव मेघदूतकाव्ये प्रोक्तम्—'गर्भाधानक्षणेपरिचयात्खे भवन्तं

बलाकाः सेविष्यन्ते' इति । तथा वर्षासु बका नीडवृक्षादावेवोपविश्य तिष्ठन्ति, बला-
काश्च तेषां भक्ष्यमानीय ददते । 'बगला पावसवइठा' इति लोकवृत्तावपि श्रूयते
प्रसिद्धिः । तस्माद्बलाकापदोपादानम् । तथा आकालिकी विद्युत् । तथा वारिधारा
जलवृष्टयो येन ॥

क्वचिदपि रुचिचञ्चत्पद्मरागप्रगल्भं

मरकतमणिचङ्कोत्तुङ्गशृङ्गं चकासे ।

विजितमृषभभर्त्रा धीरगम्भीररावै-

स्तप इव तनुतेऽस्मिस्तत्तुलाप्त्यै तडित्वान् ॥ ६२ ॥

क्वचिदपि कुत्रापि स्थाने शत्रुंजयपर्वतोपरिभूमौ मरकतमणीनां महेन्द्रनीलरत्नानां
चङ्गं प्रधानं मरकतमणिक्यैर्वा चङ्गं चारु तथोत्तुङ्गमग्निलिहं शृङ्गं चकासे दीप्यते
म् । किंभूतम् । रुचिभिर्निर्यज्ज्योतिःपुञ्जैश्चद्विर्दाप्यमानैः पद्मरागैः लक्ष्मीपुष्परत्नैः
प्रगल्भं आजमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—ऋषभभर्त्रा विमलाचलकमलालंकारहारेण श्रीवृषभ-
देवस्वामिना आदिनाथेन धीरैरभङ्गाबुधुरैः गम्भीरैर्मन्दैः मध्यमानपाथोनाथनिर्घोषानु-
कारिभिः रावैः स्वशब्दैः जितः पराभूतः सन् तडित्वान् विद्युद्वलयालंकृतो जलधरस्ते-
षां जैनधीरगम्भीररावाणां तुलायाः सादृश्यस्य आप्त्यै प्राप्स्यै किं तपस्तनुते उपवासादि-
कष्टं करोतीव ॥

चपलशफरनेत्रा बन्धुरावर्तनाभी

मधुपपटलकैर्या मानसावासहासाः ।

कनककमलगौर्यो वीचिमालावलीकाः

स्त्रिय इव रसभाजो भूमृतापो ध्रियन्ते ॥ ६३ ॥

भूमृता शत्रुंजयाद्रिणा स्त्रियो बन्धु इव आपो जलानि ध्रियन्ते । किंभूता आपः
स्त्रियश्च । चपलाश्चञ्चलाः शफरा मत्स्या एव तद्वद्वा नेत्राणि नयनानि यासाम् । तथा
बन्धुरो मनोज्ञ आवर्तो दक्षिणावर्तो भ्रमिविशेषः पयसां भ्रमो भ्रमणं यासां तादृश्यो
नाभ्यो मध्यं तुन्दकूपिकाश्च यासां तथा मधुपानां भ्रमराणां पटलानि मण्डलानि एव
तद्वद्वा कैश्यं केशानां समूहो यासाम् । पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किंभूताः । मानसा-
वासा हंसास्त एव तद्वद्वा विशदो हासो यासाम् । पुनः किंभूताः । कनकस्य स्वर्णस्य
कमलानि तैस्तद्वद्वा गौर्यैः गौराङ्ग्यः । पुनः किंभूताः । वीचीनां कल्लोलानां माला श्रेणी
सैव तद्वद्वा वली उदरे मांससंकोचलक्षणा यासाम् । पुनः किंभूताः । रसं जलं शृङ्गा-
रादिकं च भजन्ते इति रसभाजः ॥

क्वचन जिनगृहान्तर्दृष्टमानागुरुभ्यः

प्रसरदमरमार्गप्रस्फुरद्वायुवाहम् ।

सजलजलदबुद्ध्या वीक्ष्य बप्पीहवालाः

कृतपटुचटुवाचो यत्र धावन्ति मुग्धाः ॥ ६४ ॥

यत्र शत्रुंजये कचन कुत्रचन प्रदेशेषु मुग्धा अज्ञाना बप्पीहानां चातकानां बालाः शिशवः अङ्गना वा सजलानां पानीयपूर्णानां जलदानां मेघानां बुद्ध्या धिया भ्रान्त्या वा धावन्ति संमुखं पार्श्वं वा यान्ति । किंभूताः । कृता विहिताः पटवः प्रवणाश्चटवः प्रियप्राया वाचो वाण्यो यैर्याभिर्वा । किं कृत्वा । जिनगृहाणां जैनप्रासादानामन्तर्मध्ये दह्यमाना भगवत्पुरो धूपोत्क्षेपणार्थं धूपाधानाग्नौ प्रज्वाल्यमानाः । उत्क्षिप्यमाना इत्यर्थः । ये अशुरवः काकतुण्डास्तेभ्यः प्रसरन्तं विस्तरन्तं तथा अमरमार्गे आकाशे प्रस्फुरन्तमितस्ततो भूत्वा दशदिग्गृहाङ्गणानि व्यामुवन्तं वायुवाहं धूमं वीक्ष्य दृष्ट्वा ॥

स्वकरनिकरसङ्गश्चोतदिन्दूपलाम्भो-

भरमिदमचलोच्चैरत्नशृङ्गादृहीत्वा ।

स्वयममृतमरीचिर्भैत्र्यतः कैरवाणां

किमु दिशति तमेव प्रश्निपीयूषदम्भात् ॥ ६५ ॥

अमृतमरीचिश्चन्द्रः कैरवाणां स्वबन्धुकुमुदानां भैत्र्यतः परस्परसंख्यात् प्रश्नीनां पीयूषस्य कान्तिद्वारा अमृतस्य प्रश्निरूपस्य पीयूषस्य वा दम्भात्कपटात् तमेव चन्द्र-कान्ताम्भोभरमेव स्वयमात्मना दिशति ददातीव । किं कृत्वा । इदमचलस्य अस्य शत्रुंजयाद्रेरुच्चैः ऊर्ध्वमधिकायां यद्रत्नानां चन्द्रकान्तकर्केतनादिमणीनां शृङ्गं शिखरं तस्मात्स्वस्य कराः किरणास्तेषां निकरो राशिस्तस्य सङ्गः संपर्कस्तेन श्वेततन्तः क्षरन्तो गलन्तो ये इन्दूपलाश्चन्द्रकान्तमणयस्तेषामम्भोभरं जलपटलं गृहीत्वा आदाय ॥

यस्मिन्बुरोद्वयसनिःसृतसिन्धुरङ्क-

क्रीडन्सुरासुरपुरं प्रियोधराणाम् ।

कस्तूरिकामलयजद्रवसान्द्रपूरा

रेजे यमीसलिलसंवलितेव गङ्गा ॥ ६६ ॥

यस्मिन् शत्रुंजयादौ उरोद्वयसंहृदयप्रमाणं निःसृता निर्गता सिन्धुर्नदी यस्या यमु-नायाः सलिलैः संवलिता मिश्रितजला गङ्गेव रेजे विभाति स्म । किंभूता सिन्धुः । अङ्गे जलोत्सङ्गे क्रीडन्तीनां जलकेलिं कुर्वाणानां सुराणां देवानामसुराणां दानवानां पाता-लवासिनां प्रथमनिकायभवनयतिनिर्जराणां वा पुरंघ्नीणां वधूनां पयोधराणां विविध-पत्रलताकलितस्ननकलशानां कस्तूरिकाणां गन्धधूलीनां मलयजमननां चन्दनानां द्रवैः जम्बालिनीजलसङ्घातपङ्क्तैः सान्द्रं करम्बितं पूरं जलप्रवाहो यस्याः ॥

यत्रोन्मदैः परिणतैर्हरितां करीन्द्रै-

रुत्खातगैरिकभरैर्नभसि भ्रमद्भिः ।

संध्याधियेव गलितावधिवेलमत्र

विश्रान्तिमाप न महानटनाट्यरङ्गः ॥ ६७ ॥

अत्र जगति महानटस्य शंभोर्नाट्यरङ्गः नाटकस्य रङ्गः स्नेहक्रीडा गलितो निर्गतोऽवधिः सीमा यत्र तादृग्वेला वारः । काल इत्यर्थः । निरवधिसमयं यावत् । 'शंभोर्भा बत सांध्यवेलनटनं भाजि व्रतं वाक्' इति नैषधे । विश्रान्तिं विभ्रममाप लेभे । न नाटक-रङ्गाद्विररामेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—संध्याधिया पितृसूत्रमेणेव । कैः कृत्वा । यत्र शत्रुंजये हरितां दिशां करीन्द्रैः गजरारैः । दिग्गजैरित्यर्थः । उत्खातैस्तटाघातक्रियायां दत्तमुस-लेस्तपाय क्षिप्तैः गैरिकानां धातूनां भरैः प्रकरैः । किभूतैः करीन्द्रैः । उन्मदैः क्षीव-तयोद्धतीभूतैः । पुनः किभूतैः । परिणतैस्तिर्यक्प्रवादिषु प्रदत्तप्रहारैः । भरैः किं कुर्वद्भिः । नभसि आकाशे भ्रमद्भिः पर्यटद्भिः । विस्तरद्भिरित्यर्थः ॥

यस्मिन्ननन्यमणिधोरणिक्लृप्ततुङ्गा

शृङ्गाङ्गणैर्दलितसंतमसप्रचारैः ।

पूषा मयूखमुषितोत्सहस्रलक्ष्मीः

खद्योतपोत इव किञ्चिदधत्त शोभाम् ॥ ६८ ॥

यस्मिन् शत्रुंजये विमलचलोपरि वर्तमानः पूषा सूर्यः खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः 'खज्जळ' इति लोकप्रसिद्धः । तस्य पोतो बालकः खद्योत एव शिशुः तद्वत्किञ्चित्किमपि स्वल्पमात्रं शोभामधत्त दधाति स्म । किभूतः । पूषा मुषिता आच्छिद्य गृहीता उत्स्राणां किरणानां सहस्रं दशशती तस्य लक्ष्मीः श्रीर्यस्य । कैः । अनन्याभिरसाधारणाभिः मणीनां नानाविधरत्नानां धोरणीभिः श्रेणीभिः कुप्तानि घटितानि तथा तुङ्गान्यभ्रं कषाणि शृङ्गाणि शिखराणि तेषामङ्गणैरजिरैः । सद्भूमीभिरित्यर्थः । किभूतैः । दलितो व्यापादितः संतमसानामन्वकाराणां प्रचारः प्रसारो यैः ॥

अहोरात्रस्थासूदयदमितभास्वद्भ्रमकरीं

मणीशृङ्गश्रेणीं हततमसमभ्राध्वपथिकीम् ।

विलोक्यैतत्पद्माकरकमलिनीराजिरनिशं

गलन्निद्रामुद्रां कलयति समुद्धोधकमलाम् ॥ ६९ ॥

एतस्य शत्रुंजयाद्रेः पद्माकराणां कमलमण्डलशालिसरसां कमलिनीनां राजीविनीनां राजिरनिशं निरन्तरं नक्तंदिनमपि समुद्धोधस्य सम्यग्विकाशस्य कमलां लक्ष्मीं कलयति धत्ते । किभूतां कमलाम् । गलन्ती निर्यान्ती निद्रासंकोचलक्षणा तन्द्रा तस्या मुद्रा मुद्रणं स्वापावस्था यस्याः सा ताम् । किं कृत्वा । मणीनामभंकरप्रभंकरादीनां माणिक्यानाम् । देदीप्यमानमणिमयानामित्यर्थः । शृङ्गाणां शिखराणां श्रेणीं धोरणीं विलोक्य दृष्ट्वा । किभूताम् । अहोरात्रं दिवसे निशायां च निरवधिसमयं यावन्नित्यं स्थासूनां

वसनशीलानां तथा उदयतामभ्युद्गमं भजतां तथा अमितानां प्रमाणरहितानां संख्या-
तीतानां भास्वतां भास्कराणां भ्रमकरीं भ्रान्तिविधायिकाम् । पुनः किंभूताम् । हतानि
ध्वस्तानि गले गृहीत्वा निष्काशितानि तमांसि ध्वान्तानि यया ताम् । पुनः किंभूताम् ।
अभ्राणां मेधानामध्वनो मार्गस्य गगनपद्धतेर्वा पथिकीं पान्थीम् । अभ्रंकषामित्यर्थः ।
'अभ्रं व्योमपयोदयोः' इत्यनेकार्थः ॥

यस्मिन्नुद्वहता कनीमिव लतां यूनेव भूमिरुहा

स्वामोदैः खजनैरिव सितसुमैः पात्रैरिवोद्यन्मधु ।

प्रीत्या भोजयितुं वराशनमिवानेके द्विरेफाः समं

स्त्रीभिर्नागरिका इवोन्नततयामद्भ्यन्त मन्यामहे ॥ ७० ॥

यस्मिन् शत्रुजये यूनेव तरुणेनेव भूमिरुहा विनिद्रुमेण अथ च भूमिजन्मना व्यव-
हारिणा नागरिकाः पौरजना इव अनेके बहवो द्विरेफा भ्रमरा भृङ्गाः आमन्त्रयन्त आकार्य-
न्त । कथम् । समं सार्धम् । कामिभिः । स्त्रीभिः नागरीभिरिव भ्रमरीभिः सह । कया । उन्नत-
तया महत्त्वेन उच्चैः शिरस्त्वेन महातरुत्वेन अथ महाव्यवहारित्वेन चेत्यत्रायं हेतुः । कैः
कृत्वा आहूयन्ते स्म । आमोदैः परिमलैः । कैरिव । खजनैरिव खगोत्रजातैरिव । भूमिरुहा
किं कुर्वता । उद्वहता उत्प्राबल्येन वहता विभ्रता अङ्गीकुर्वता षण्णामपि ऋतूनां सर्वदा
तत्रादौ स्थायुक्त्वेन पाणिग्रहणं कुर्वता च । काम् । लतां वनवल्लीम् । कामिव । कनीमिव
कुमारिकामिव । किमर्थमामन्त्रयन्त । भोजयितुं भोजनं कारयितुम् । कया । प्रीत्या ।
खोत्सङ्गस्नेहेन स्थायुक्त्वेन किं कर्मतापन्नम् । उद्यन्मधु प्रकटीभवन्मकरन्दम् । किमिव ।
वराशनमिव षड्ससरसीकृतप्रधानभोज्यास्वाद्यलेह्यचोष्यभोजनमिव । कैः । स्मितैः
विकसितैः कुसुमैः पुष्पैः । कैरिव । पात्रैरिव स्वर्णाद्यमत्रैरिव ॥

सिन्धूः सुता इव पिता त्वरमाणभावाः

प्रोत्कण्ठिताः प्रदधतीः सरसीजभूषाः ।

प्रास्थापयत्प्रति पतिं जलधिं तरङ्गैः

सत्राङ्गरक्षकभटैरिव सिद्धशैलः ॥ ७१ ॥

सिद्धशैलः श्रीशत्रुजयाचलः सिन्धूश्चतुर्दशापि महानदीः सर्वतुस्थानत्वेन जलधरका-
लबहलीभवज्जलदजलप्राबल्यकलोलितकलोलिनीः जलधिं समुद्रं भर्तारं प्रति प्रास्थापय-
त्प्रेषयति स्म । कथम् । सत्रा सार्धम् । कैः । तरङ्गैः गगनाङ्गणालिङ्गनलोलकलोलैः । कैरिव । अथ
वा उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गरक्षकभटैः शरीरयत्नविधायकवीरैरिव । क इव प्रास्थापयत् ।
पितेव । यथा जनकः स्वस्वतातः सुताः आत्मपुत्रीः पतिं पाणिगृहीतारं प्रति प्रस्थापयति ।
किंभूताः सिन्धूः सुताश्च । त्वरमाणः शीघ्रतरो भावः । भूयते उत्पद्यते कर्मवशतया
भूयो भूयः संसारः अनेनेति भाव आत्मा चित्ताभिप्रायश्च यासाम् । प्रायो वर्षाकाले

नयस्त्वरितं चलन्ति । स्त्रियोऽपि पतिमिलनार्थं त्वरिता अत्युत्सुकाश्च भवन्ति । पुनः किंभूताः । प्रोत्कण्ठिताः प्रकर्षेण उत्कृष्टः कण्ठः उपकण्ठः संनिधानं संजात आसाम् उभौ कण्ठौ पानीयपूर्णौ संजातावासामिति प्रोत्कण्ठिताः कण्ठादूर्ध्वमूढा वा । 'कण्ठो ध्वनौ संनिधाने ग्रीवायां मदनद्रुमे' इत्यनेकार्थः । तथा प्रकर्षेणोत्कण्ठा औत्सुक्यं भर्तृसंगमे जातमासाम् । पुनः किं कुर्वतीः । सरसीजानि विविधकमलानि तैः कृत्वा भूषा शोभा यासाम् । पक्षे पद्मानामुपलक्षणात्कुसुमानां भूषा हारादिमाभरणानि यासाम् । अथ वा कमलकुसुमानि हाररूपाणि तथा भूषा विविधाभरणानि यासाम् । 'भावोऽभिप्रायवस्तुनोः । स्वभावजन्मसत्तात्मक्रियालीलाविभूतिषु ॥ चेष्टायोन्योर्बुधे जन्तौ शृङ्गारादेश्च कारणे । शब्दवृत्तिहेतौ च' इत्यनेकार्थः ॥

शशाङ्करसंगमक्षरदमन्दपाथःप्लवैः

क्वचिद्विधुमणीमयः कलयति स सालः श्रियम् ।

प्रचण्डतरचण्डरुक्मिरणतापसंतापितः

प्रतिक्षिपति वामृतैः प्रविदधन्निजेनाप्लवम् ॥ ७२ ॥

क्वचित्कुत्रापि शत्रुंजये विधुमणीमयश्चन्द्रकान्तरत्नघटितः सालः प्राकारः श्रियं शोभां कलयति धत्ते । कैः । शशाङ्कस्य चन्द्रस्य करणां किरणानां संगमेन संपर्केण क्षरतां निःसरताममन्दानां भूयसां पाथसां पानीयानां प्लवैः पूरैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—प्रचण्डतरेण अतिशयेन तीव्रेण चण्डरुचः सूर्यस्य किरणानां ज्योतिषां तापेनोष्मणा संतापितो व्याकुलीकृतः सन् प्रतिक्षिपं रात्रीं रात्रीं प्रति अमृतैर्नारैः कृत्वा निजेनात्मना आप्लवं स्नानं प्रविदधत् कुर्वन्निव ॥

लीलायमानान्निजमौलिदेशे केशानिवोच्चैःप्रसरत्पयोदान् ।

धूपायतीवासनिकेतधूपधूमैर्विलासीव स सिद्धशैलः ॥ ७३ ॥

स त्रिजगद्विख्यातः सिद्धशैलः शत्रुंजयाद्रिः निजस्यात्मनो मौलिदेशे शिरःस्थानीय-शिखराग्रभागे लीलायमानान् लीलयाचरतो विभ्रमं भजन्तः क्रीडया आचरतो वा केशानिव कुन्तलानिव मस्तकोपरि शोभां विभ्रतः उच्चैरूर्ध्वं प्रसरतो विस्तारं प्राप्नुवतः पयोदान् जलधरान् । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तानामर्हतां निकेतेषु गृहेषु प्रासादेष्वित्यर्थः । उत्क्षिप्यमानागुरुवातधूपानां धूमैः कृत्वा धूपायतीव । सुगन्धीकरोतीव । क इव । विलासीव । यथा ह्यादिभोगासक्तत्वेन विलासवान् पुमान् कृष्णागुरुप्रमुखधूपधूमैर्निज-केशान्प्रभयति ॥

अर्काशुसंपर्किपतङ्गकान्ताभितोविनिष्पातिहुताशहेतिभिः ।

मणीविहाराः प्रणयन्ति यस्मिन्पञ्चाग्निकष्टं क्वचनापि योगिवत् ॥ ७४ ॥

यस्मिन्विमलचले क्वचनापि कुत्रचिदपि प्रदेशे मणीनामन्तःसंहृद्धारककान्तमा-

णिकयानां विहाराः प्रासादाः योगिवत्तापसा इव पञ्चाम्रिकण्टं चतसृषु दिक्षु चत्वारः प्रज्वालितकाष्ठामयः पञ्चमो भास्वांश्चेति पञ्चाम्रिसाधनं कृच्छ्रं प्रणयन्ति कुर्वते इति गर्भितोत्प्रेक्षा । काभिः कृत्वा । अर्कस्य सूर्यस्यांशुभिः किरणैः समं संपर्कः संयोगोऽस्त्येषां तादृशा ये भास्करमणयस्तेभ्यः अभितश्चतुर्दिक्षु विशेषेण निष्पतनशीलानां हुताशनानामनुच्छिद्यद्दीनां हेतिभिर्ज्वालाभिः ॥

निर्गतवरप्रस्रमरद्युतिवारिपूर-

पूर्णान्तरस्फटिककल्पितकूटकोटीम् ।

जज्ञे किमु प्रतितटं तटिनी विपाशा

प्रेक्ष्येत्यबुध्यत विमुग्धजनेन यस्मिन् ॥ ७५ ॥

यस्मिन् शत्रुंजये विमुग्धजनेनाज्ञानलोकेन इत्यमुना प्रकारेणानुबुध्यत ज्ञातम् । विचारितमित्यर्थः । किं कृत्वा । निर्गलरा निःसरणशीलाः प्रस्रमरा द्युतयः किरणास्ता एव वारिणां नीराणां पूराः प्लवाः प्रवाहास्तैः पूर्णं संपूरितं भृतमन्तरं मध्यं यस्यास्तादृशीं स्फटिकैः श्वेतोपलैः कल्पितां रचितां कूटानां शिखराणां कोटीं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । इति किम् । प्रतितटं शिखरं शिखरं प्रति विपाशा तटिनी अनुसर्पिणी नदी किमु जज्ञे संजाता । ‘उत्सर्पिणी न खलु तत्र तरङ्गिणी या लवेत्रयोरहह तत्र विपाशि जाता । नीराजनाय नवनीरजरा-जिरास्तामत्राञ्जसानुरजराजनि राजमाने ॥’ इति नैषधे । तत्र द्वीपे विपाट् नदी न प्रसरणशीला आविर्भवति किल तत्र जातत्वात् अन्यत्र द्वीपेषु यथा सरित्प्रसरन्ती दृश्यते तथा तत्र विपाट् नेति पुराणप्रसिद्धिः । ‘तत्र तस्यां विपाशि जाता नवपद्मपङ्क्तिः लवेत्रयोर्नीराजनायास्ताम् । अहहेत्याश्चर्यं । अत्रास्मिन् राजनि साकल्येनानुरज अनुरक्ता भव । ‘अञ्जेश्व’ इत्यनुनासिकलोपः । ‘विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम्’ इत्यमरः ।’ इति नैषधवृत्तौ ॥

गुहागृहशयानानां खगसारङ्गचक्षुषाम् ।

राजी जागरयन्तीव स्तनितैः स्तनयित्त्ववः ॥ ७६ ॥

यत्र पुण्डरीकपर्वते स्तनयित्त्ववो वारिवाहाः स्तनितैर्निजगर्जरवैः । ‘जलदस्य तु । स्तनितं गर्जितं गर्जिः स्तनितं रसितानि च ॥’ इति हैम्याम् । मेघगर्जाभिधानानि कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—गुहाः शत्रुंजयकंदरा एव गृहा रमणीयत्वान्मणीगणसोद्योतत्वाच्चालयतुल्यास्तेषु शयानानां बहुदेवगृहगमनसंजातपरिश्रान्तिवशात्सुखसुप्तानां खगसारङ्गचक्षुषां विद्याधरहरिणीनयनानां खे नभसि गच्छन्तीति खगाः सुरास्तेषामपि मृगेक्षणानाम् । देवीनामित्यर्थः । राजी श्रेणी जागरयन्तीव पुनर्देववन्दनपूजनार्थं प्रबोधयन्तीव ॥

स्वभक्तभव्यजन्तूनामन्तरङ्गविरोधिनाम् ।

योऽस्तुदानां संदोहं स्पृहयन्हन्तुमात्मना ॥ ७७ ॥

नाराचोपचिता विश्वजैत्रीश्चापलता इव ।

भृङ्गालिसङ्गिनीर्धत्ते पद्मिनीः प्रतिपल्वलम् ॥ ७८ ॥

यः शत्रुंजयाद्रिः प्रतिपल्वलं पद्माकरं पद्माकरं प्रति भृङ्गाणां मधुकराणामालिभिः श्रेणीभिः सह सङ्गोऽनुषङ्ग आसक्तिरस्त्यासां तादृशीः पद्मिनीः कमलिनीः कमलानि वा धत्ते धारयति । उत्प्रेक्ष्यते—यः शैलः विश्वानां जगतां जैत्रीर्जयनशीलस्तथा नाराचैर्लोहमयव्राणैः सर्वायसशरैरुपचिताः संधानसहिताः लता धत्ते इव धारयतीव । किं कुर्वन् । हन्तुं निहन्तुं स्पृहयन् काङ्क्षन् । केन । आत्मना स्वयमेवं स्वभक्तलप्रीत्या । कम् । संदोहम् । केषाम् । अन्तरङ्गा मध्ये वर्तमाना अष्ट कर्माण्येव अथ वा क्रोधमानमायालोभरागद्वेषाख्या एव विरोधिनः प्रतिपक्षास्तेषाम् । किंभूतानाम् । अस्तुदानां मर्मव्यथकानाम् । केषाम् । स्वस्मिन् स्वस्य वा भक्ताः सेवासक्तास्तादृशा ये भव्याः सिद्धिगमनयोग्या जन्तवः प्राणिनस्तेषाम् ॥

स्वस्मिन्नम्बरचारिणां प्रतिपदं कृत्वैकतानं मनो

विद्याः साधयतां स्वपुण्यमिव यः सिद्धीर्विधत्ते धरः ।

यस्मिन्कापि च योगिनामहरहर्ज्योतिः परं ध्यायतां

हृत्पद्मे परमात्मना प्रकटितं पूष्णेव पूर्वाचले ॥ ७९ ॥

यो धरः शत्रुंजयाद्रिः । 'प्रावापर्वतभूध्रभूधरधराः' इति हैम्याम् । एकतानमेकाग्रं विद्याध्यानलीनं मनो मानसं कृत्वा विधाय प्रतिपदं स्थाने स्थाने आत्मशिखरकंदराशिलतलोद्यानकुण्डतटभूमिपीठेषु स्वस्मिन्नात्मनि विषये विद्या गोचरीप्रज्ञप्तिप्रमुखा विद्याधिष्ठायिका देवता मन्त्रान् साधयतामाराधनं कुर्वतामम्बरचारिणां विद्याधराणां सिद्धीः कार्यनिष्पत्तीर्विधत्ते कुरुते । विद्यादेवतास्तत्प्रत्यक्षीकरोतीत्यर्थः । किमिव । स्वपुण्यमिव । यथा निजप्राचीनसुकृतं सिद्धीर्दत्ते । च पुनर्यस्मिन्विमलचले कापि प्रदेशे अहरहः प्रतिवासरम् । नित्यमित्यर्थः । परं परममुत्कृष्टं ज्योतिर्ब्रह्म परमेष्ठिलक्षणं ध्यायतां ध्यानगोचरीकुर्वतां योगिनां मनोवाक्काययोगवतामष्टाङ्गयोगभाजां वा योगीन्द्राणां हृत्पद्मे हृदयकमले परमात्मना ब्रह्मस्वरूपेण प्रकटितं प्रादुर्भूतम् । योगिनो हि ध्यानं कुर्वाणा हृदयकमलकर्णिकायां परमात्मस्वरूपमालोक्य ध्यानाद्विरमन्तीति श्रुतिः । 'योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम' इति कुमारसंभवे । केनेव । पूष्णेव । यथा पूर्वाचले सहस्ररश्मिना प्रकटीभूयते ॥

तावल्लीलाविलासं कलयति मलयो विन्ध्यशैलोऽपि ताव-

द्धत्ते मत्तेभगवर्षं तुहिनधरणिभृत्तावदेवाभिरामः ।

तावन्मेरुर्महत्त्वं वहति हरगिरिर्गाहते तावदाभां

यावत्तीर्थाधिराजो न नयनपुटैः पीयते पर्वतेन्द्रः ॥ ८० ॥

मलयो दक्षिणाचलः गोशीर्षचन्दनोत्पत्तिस्थानं मलयगिरिस्तावत्प्रमाणमस्येति सम-
यप्रमाणं लीलया खरसेन स्थानवैशिष्ट्येन वा विलासं विभ्रमं कलयति विभर्ति । अपि
पुनर्विन्ध्यशैलो जलबालकाचलः मत्तेभानां मदोदयोद्धतानां मतङ्गजेन्द्राणां गर्वमहंकारं
धत्ते धारयति । विन्ध्याद्रौ हि भद्रमन्दमृगमिश्रजातयो गजा उत्पद्यन्ते तदभिमानः ।
पुनस्तु हिनधरणभृत् हिमाचलस्तावदेवाभिरामः कस्तूरिकाभृगौषधीप्रस्थचमरगोप्रमुखै-
र्मनोज्ञः । तथा मेरुः सुपर्वपर्वतः तावन्महत्वं महिमानं गरिमाणं वहति । पुनर्ह-
रगिरिः कैलाशस्तावन्तं कालमाभां शोभां गाहते आलम्बते यावत् यावता समयेन स
त्रिभुवनप्रसिद्धः पर्वतेन्द्रः शत्रुंजयशैलाखण्डलः नयनपुटैः नेत्रपत्रामत्रैर्न पीयते सादरं
खट्वा नावलोक्यते । किंभूतः । तीर्थानां पुण्यस्थानानां मोक्षगमनक्षेत्राणां वा अधिरा-
जश्चक्रवर्ती तीर्थाधिराजः पर्वतेन्द्रः । 'श्रियः पदम्' इति शत्रुंजयमाहात्म्योक्ताभि-
धानत्वात् ॥

विविधकमलाकेलीगेहं क्षमाक्षणदापते-

गृहमिव महीकान्तारत्नावतंसमिवोन्नतम् ।

सफलमखिलं कर्तुं काङ्क्षन्नुर्गिरियात्रया

व्रतिवसुमतीशक्रः शत्रुंजयं खट्वा पयौ ॥ ८१ ॥

व्रतिनां संयमिनां मध्ये वसुमतीशक्रो राजा । 'राजा राट् पृथिवीशक्रः' इति हैम्याम् ।
हीरविजयसूरीश्वरः शत्रुंजयं विमलाचलं खट्वा निजनयनेन पयौ सादरमवलोकयति
स्म । प्राक् सर्गस्य तृतीये 'सिद्धिशैलं ददर्श' इत्युक्तमास्ते तत्र तु दूरत्वेन दृष्ट्वात्रावलोक-
नम् । इदानीं तु शनैः शनैः संनिधानागमनेन सम्यगवेक्षणत्वेन शिखरादिस्थानविशेष-
विभूषितं पुण्डरीकपर्वतं खलोचनाभ्यां सादरं दृष्टवानिति विशेषः । किं कर्तुमिच्छन् ।
शत्रुंजयशैलारोहणप्रासादप्रतिमादर्शनसर्वतः स्पर्शनादिभिरखिलमशेषमपि जनुर्जन्म
स्वावतारं सफलं फलेग्रहिं कृतार्थं फलकलितं कर्तुं विधातुं काङ्क्षन् वाञ्छन् । किंभूतं
शत्रुंजयम् । विविधानां कमलानां केलीगेहं क्रीडासदनम् । 'केलीभिरुद्धरं कृशोदरि' इति
नैषधे । किमिव । गृहमिव । यथा क्षमाक्षणदापतेर्वसुधासुधाकरस्य आसमुद्रान्तभूमी-
भर्तुर्भवनं भाण्डागारगेहमन्यद्वा सौधं विविधश्रीणां स्थानं भवेत् । शत्रुंजयमुत्प्रेक्षते—
महीकान्ताया भूमीभामिन्या रत्नावतंसं मणिमयशेखरमिव । किंभूतम् । उन्नतं तुङ्गम् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाङ्मीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते पञ्चदशोऽत्र हीरचरिते सर्गो बभूवानसौ ॥ ८२ ॥

आनन्दतः सकलतीर्थाधिराजस्मरणवर्णनोद्भूतनूतप्रमोदाद्देवविमलेन निर्मिते विर-

चित्ते हीरस्य हीरविजयसूरेश्वरितं यत्पावारादिना सिद्धिगमनादिकं चरित्रं यत्र तादृशे
वृत्ते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ पूर्वोक्तलक्षणः पञ्चदशः पञ्चदशानां संख्यापूरणः
अत्र हीरचरित्रे सर्गोऽधिकारविशेषः बभूवान् संजातः ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौ-

भाग्यमहाकाव्यवृत्तौ गुर्जरदेशात्प्रस्थानशत्रुंजयसमीपागमनतद्दर्शनतद्व-
र्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

षोडशः सर्गः ।

समीपमुपजग्मिवानथ गिरीशितुः श्रीगुरुः

प्रभावमतिशायिनं त्रिभुवने समाकर्णयन् ।

सुरद्रुमसमुल्लसत्कनककान्तकायद्युति-

लघूकृततनुः समीक्षितुमिवोत्सुकः स्वर्गिरिः ॥ १ ॥

अथ दर्शनसम्यगवलोकनानन्तरं श्रीगुरुः हीरविजयसूरिगिरीशितुः शत्रुंजयशैलश-
क्रस्य समीपं पार्श्वमुपजग्मिवान् समाजगाम । सप्तम्यर्थे द्वितीया । उत्प्रेक्ष्यते—समी-
क्षितुं सम्यक्तया विलोकयितुमुत्सुक उत्कण्ठितः स्वर्गिरिर्मेरुरिव समीपे समेतः । किं
कुर्वन् । त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि अतिशायिनमत्यभ्यधिकं प्रभावमर्थार्द्रिमलाद्रेर्माहात्म्यं
समाकर्णयन् सम्यगेकाग्रमनसा शृण्वन् । महिमानं श्रुत्वा तं द्रष्टुमागत इत्यर्थः । किंभूतः
श्रीगुरुः स्वर्गिरिश्च । सुरद्रुमाः पञ्चापि कल्पवृक्षाः तद्वद्वाततया निरुपमरूपवत्तया च तैश्च
समुल्लसन्दीप्यमानः । तथा कनकं सुवर्णं तद्वद्वा तेन च कान्ता मनोज्ञा कायस्य शरीरस्य
द्युतिर्यस्य । पश्चात्कर्मधारयः । किंभूतः स्वर्गिरिः । लघूकृता खल्पा विहिता तनूः शरीरं येन ॥

तदद्रितलहट्टिकाप्रथितपादलिप्ताभिधं

पपौ पुरमपश्रमः श्रमणशर्वरीवल्लभः ।

उपेतमिह पूर्ववत्पुनरुपान्तमानन्दयु-

क्पुरं प्रथमहार्दतः किमतिदूरभावं त्यजन् ॥ २ ॥

श्रमणशर्वरीवल्लभः तस्य शत्रुंजयनाम्नोऽद्रेः पर्वतस्य तलहट्टिका परिसरभूमिः 'तल-
हटी' इति प्रसिद्धा तस्यां प्रथितं भुवि विख्यातं तथा पादलिप्तमित्यभिधा नाम
यस्य तादृशं पुरं नगरं 'पालीतापुं' इति लोके प्रसिद्धं पपौ सादरमवलोकितवान् ।
मार्गश्रान्तस्य नगरस्य प्रमोदकृदित्यादरपूर्वकप्रेक्षणम् । अत एव सूरिः किंभूतः । अप-
गतः श्रमो मार्गप्रयासखेदो यस्य सोऽपश्रमः । उत्प्रेक्ष्यते—इह तलहट्टिकायां पूर्वव-
त्प्रथममिव पुनर्व्याधुव्य द्वितीयवारम् । पूर्वं भरतचक्रिणा शत्रुंजयदर्शनादानन्दसमुत्पादा-
त्तलहट्टिकायां वासितमासीत्, बहुकालातिक्रमवशात्कालानुभावेन च गिरिघटनात्तदतिदू-
रीभूतम् । अत एव प्रथमहार्दतः पूर्वज्ञेहादुपान्ते शत्रुंजयसमीपे उपेतमागतमानन्देन

युनक्तीत्यानन्दयुक् तादृशं पुरम् । आनन्दपुरमित्यर्थः । तदायातमिव । किं कुर्वत् ।
अतिदूरभावमतिशयेनात्यन्तं विप्रकृष्टतां ल्यजन् मुञ्चन् ॥

नभोगमनभेषजव्रजविधेरनुग्राहिणा

गुरोरभिधया पुरं गृहमिव त्रिलोकीश्रियाम् ।

सुवर्णरससिद्धिमान्विविधसिद्धविद्यान्वितः

स्व वासयति संनिधौ नगवरस्य नागार्जुनः ॥ ३ ॥

नागार्जुनो नाम योगीन्द्रः पादलिप्तसूरैरभिधया नाम्ना नगेषु सर्वपर्वतेषु वरः सि-
द्धिदायकत्वात्प्रधानः शत्रुंजयशैलेन्द्रस्य संनिधौ समीपे पुरं पादलिप्तनगरं वासयति स्व
निवेशितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिलोकीश्रियां त्रैलोक्ययावलक्ष्मीणां गृहं निवाससौधमिव ।
गुरोः किंभूतस्य । नभसि आकाशे गम्यते पादलेपप्रभाद्वंभ्रम्यते अनेनेति नभोगमनं भेष-
जानां सप्रभावाणां सौषधानां व्रजः अष्टोत्तरशतसंख्यः समूहास्तस्य विधेः प्रकारस्यानु-
गृह्णाति स्वभक्तीभवनात्प्रसादं करोतीत्येवंशीलस्य । किंभूतो नागार्जुनः । सुवर्णस्य
सार्धषोडशवर्णिकाभाजो हेमः कोटीवेधीति नाम्नो रसस्य जलरूपस्य सर्वधातुभेदुः
सिद्धिनिष्पादनं विद्यते अस्येति सुवर्णरससिद्धिमान् । नवीनं सुवर्णरसं स्वयं निष्पादय-
तीत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टः । विविधा नानाप्रकाराः सिद्धाः परिपाकं प्राप्ताः कार्य-
कारिणः । अथ वा प्रत्यक्षीभूततदधिष्ठायकदेवतास्तादृश्यो विद्या आम्नायमन्त्रास्ताभि-
रन्वितः । नागार्जुनयोगी श्रावकीभूय श्रीपादलिप्तसूरीशितुः सकाशात् गगनगमनदा-
यकभेषजान्नायमग्रहीदिति श्रूयते ॥

यदीयविभवैर्जगन्नयपुरीपराभावुकैः

पुरी त्रिदिवसद्वानां परिभवं भरालम्बिता ।

उपास्तिमतनोन्निजाश्रयजुषस्त्रिलोकीसृजः

सरोजवसतेरिवाकलयितुं स्वयं तत्तुलाम् ॥ ४ ॥

त्रिदिवसद्वानां देवानां पुरी नगरी अमरावती नाम्नी निजमात्मैवाश्रयं स्थानं जुषते
भजते स्वस्याश्रये स्थानं सेवते वा तादृशस्य सरोजवसतेः । 'ताम्यंस्तामरसान्तरालवस-
तिर्देवः स्वयंभूरभूत' इति खण्डप्रशस्तौ । तथा 'नाभिपद्मात्मभूतिः' इति हैम्याम् । ब्रह्मणः ।
उत्प्रेक्ष्यते—उपास्ति सेवामतनोच्चकारेव । किंभूतस्य सरोजवसतेः । त्रिलोकीसृजः
जगतां त्रयीं सृजति करोतीति । किं कर्तुम् । स्वयमात्मना तस्य पादलिप्तपुरस्य तुलां
साम्यमाकलयितुं प्राप्तुम् । किंभूता अमरावती । जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां त्रयस्य ।
त्रिभुवनस्येत्यर्थः । पुरीणां समग्रसुरासुरनरनगरीणां पराभाडुकैरभिवनशीलैर्यदीयैः
पादलिप्तपुरसंबन्धिभिर्विभवैः शोभातिशयैर्भरादाधिकात्परिभवमभिभूतिं लम्बिता
प्रापिता ॥

सुरादिपरिवारिता किममरावती स्वर्गतः

क्षितौ किमुपजग्मुषी विमलशैलयात्राकृते ।

द्विजिह्वनिचिताश्रयं किमु विहाय गेहं बले-

रुतागतमिह श्रिया स्फुरति पादलिप्तं पुरम् ॥ ५ ॥

इह शत्रुञ्जयशैलतलहट्टिकायां पादलिप्तं पादलीताणामिधानं पुरं श्रिया शोभया लक्ष्म्या वा स्फुरति दीप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—विमलशैलस्य पुण्डरीकाद्विर्यात्राकृते स्पर्शन-
देवदर्शनपूजनाद्यर्थं स्वर्गतो देवलोकाक्षितौ पृथिव्यामर्थाद्विमलाचलसंनिधौ सम्यक्प्रका-
रेण महर्ष्या उपजग्मुषी समागता किममरावती इन्द्रनगरीव । किंभूता । सुरा देवाः ।
आदिशब्दाद्देव्यः इन्द्राण्यः मन्दिराणि कोट्वाप्यः वनानि सरांसि पुरीपरिकरादि सर्वमपि
संगृह्यते । सुरादिभिः परिवारः संजातोऽस्या इति परिवारिता परिच्छदर्कलता । उताथ
वा इह गिरेरुपान्ते आगतं संप्राप्तं बलेर्गेहमिव नागलोक इव । किं कृत्वा । द्विजिह्वैः
भुजंगमैः पिशुनैर्वा निचितं व्याप्तमाश्रयं स्वस्थानं विहाय त्यक्त्वा । यदुक्तम्—‘शृङ्गिणं
दशभिर्हस्तैः शतहस्तैर्हयं त्यजेत् । गजं हस्तसहस्रेण देशत्यागेन दुर्जनम् ॥’ इति ॥

भवाहितमिदोदयत्परमसातमाशंसतां

पुरी निजनिवासिनामसुमतां समूहानसौ ।

महोदयमहापुरं विमलशैलमूलाध्वना

निनीषुरमुना किमु स्थितवती समेत्यान्तिके ॥ ६ ॥

असौ पादलिप्ताभिधाना नगरी अन्तिके शत्रुञ्जयाद्रिसमीपे समेत्यागत्य स्थितवती
उवास स्थितिं कृतवती । उत्प्रेक्ष्यते—निजनिवासिनां स्वस्यां नितरां सातेन वसनशी-
लानाम् । ‘निजनिषेविनाम्’ इति पाठे तु निजमात्मानं नितरामतिशयेन सेवन्ते इत्येवंशी-
लानामसुमतां प्राणिनां समूहान् गणान् अमुना प्रत्यक्षलक्ष्येण विमलशैलरूपो यो मूलः
अध्वरोऽध्वा मार्गस्तेन कृत्वा महोदयो मोक्षः अथ वा महानतिशायी उदयः मानसस-
मीहितं सर्वसंप्रदाप्तिर्यस्मिन् तादृशं महापुरमनन्तसुखविधायकत्वात्सर्वेनगराभ्यधिक-
पत्तनं किमु निनीषुर्नेतुमिच्छुरिव । असुमतां किं कुर्वताम् । भवः संसारः स एवाहितः
शत्रुर्न विद्यते हितं शुभोदको यस्मात्सोऽहितः केवलानिष्टतरायतिफलप्रदस्तस्य भिदा
व्यापादनं तथा कृत्वा उदयत्प्रकटीभवत्परमसुत्कृष्टं सातं शर्म आशंसतां काङ्क्षताम् ॥

विजित्य निजवैभवैः सुरनरोगस्वामिनां

स्फुरत्पुरपरम्परा जगति पादलिप्तं वरम् ।

परश्शतजिनेश्वराश्रयशिखाङ्गणालिङ्गिनी-

द्विषद्विजयबोधिकां व्यधृत वैजयन्तीरिव ॥ ७ ॥

पादलिप्तं पुरं नाम नगरं द्विषतां श्रिया कृत्वा स्वप्रतिमल्लानां विजयस्य पराभवस्य बोधिकां कथयित्रीम् । 'निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—वैजयन्तीर्महापताका व्यधृत धारयति स्मेव । किंभूता वैजयन्तीः । परश्शताः शतसहस्रसंख्याकाः ये जिनेश्वराणां तीर्थकराणामाश्रया गेहाः । प्रासादा इत्यर्थः । तेषां शिखाङ्गणानि शृङ्गाजिराणि आलिङ्गन्त्याश्लिष्यन्तीत्येवंशीलाः । किं कृत्वा व्यधृत । जगति त्रैलोक्येऽपि सुरा देवाः नरा मानवा उरगा असुरनागास्तेषां स्वामिनां नायकानां सुरेन्द्रनरेन्द्रनागेन्द्राणां स्फुरतां लक्ष्म्या दीप्यमानानां पुराणां नगराणां परम्पराः श्रेणी-निजवैभवैः स्वकीयसमृद्धिशोभातिशयैर्विजित्य परिभूय ॥

नृशंसनिकषात्मजव्रजनिवासतो बिभ्यती

पयःप्रकटसंकटाज्जलधिजाच्च निर्वेदभाक् ।

अपास्य पदमात्मनः किमियमत्र लङ्कागता

पुरी पुरजनोत्सवैरलमकारि सूरीन्दुना ॥ ८ ॥

सूरीन्दुना हीरविजयसूरिचन्द्रेण पुरजनानां नगरलोकानामुत्सवैर्महामहैर्जायमानैः सद्भिः पुरी पादलिप्तनात्री नगरी अलमकारि भूष्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र शत्रुंजय-समीपे तलहट्टिकाप्रदेशे आगता समागता लङ्का दशकंधरनगरीव । किं कृत्वा । आत्मनः स्वस्या पदं जलधिमध्यगतं स्थानमपास्य त्यक्त्वा । किंभूता । नृशंसानां निर्दयानां निकषात्मजानां राक्षसानाम् । 'कीनाशरक्षोनिकषात्मजाश्च' इति हैम्याम् । व्रजानां कुलकलापानां निवासतोऽनिशं स्वस्यां निवसनं ततो बिभ्यती भीतिं प्राप्नुवती । च पुनः किंभूता । निर्वेदभाक् खेदोपगता । कस्मात् । जलधिजात्समुद्रोत्पन्नात् । परिखास्थाने परितः पयोधिमध्ये लङ्का तादृजजलमध्यस्थितिलक्षणात्पयसां पानीयानां प्रकटादुल्बणात्संकटात्क्लेशात् । 'स्थानं त्रिकूटः परिखा समुद्रो रक्षांसि योधा धनदाश्च वित्तम् । संजीविनी यस्य मुखे च विद्या सरावणो दैववशाद्विनष्टः ॥' इत्युक्तेः ॥ इति पादलिप्तपुरम् ॥

अशेषविषयान्तराद्यतिकरेऽत्र संघाधिपाः

समं मनुजराजिभिर्जयिमहीमहेन्द्रा इव ।

भगीरथगिरीश्वरं प्रति शताङ्गमातङ्गयु-

क्तुरङ्गशिविकामुखप्रमुखयानभाजोऽव्रजन् ॥ ९ ॥

अत्र व्यतिकरे पादलिप्तपुरे सूरिसमागमनप्रस्तावे अशेषविषयान्तरात्समस्तजनपद-मध्यात्संघाधिपाः संघपतयः मनुजानां मनुष्याणां राजिभिः श्रेणिभिः समं भगीरथ-गिरीश्वरं विमलाचलेन्द्रं प्रति अव्रजन् प्रतिष्ठन्ते स्म । 'बाहुबलिर्मैरुदेवो भगीरथः सहस्रपत्रशतपत्रः' इति शत्रुंजयकल्पे । के इव । जयिनो विजयकरणशीला महीमहेन्द्रा महामण्डलीकमहीपाला इव । तेऽपि मानवमण्डलीभिः प्रतिष्ठन्ते । अर्थात् दिग्विजयाय । किंभूताः संघाधिपाः नृपाश्च । शताङ्गा रथा मातङ्गा हस्तिनः तैर्युञ्जन्ति युक्ता भवन्ति ।

तत्सहिता इत्यर्थः । तुरङ्गा अश्वास्तथा शिविका याप्ययानानि 'पालखी' इति प्रसिद्धाः
मुखानि येषु तादृशानि प्रमुखानि प्रकृष्टानि यानानि वाहनानि भजन्ते संश्रयन्ते इति ॥

अगाधभववारिधेरभिलषद्भिरेतुं बहिः

समुद्धरणधुर्यतां प्रदधदन्तरीपं किमु ।

व्रजद्विरिह यात्रिकैः प्रति सहस्रपत्राचलं

तदा विदधिरेऽखिला अपि निजावशेषा दिशः ॥ १० ॥

तदा हीरविजयमूरियात्रासमये इह जगति सहस्रपत्राचलं शत्रुंजयशैलोच्चयं प्रति
व्रजद्विः प्रतिष्ठमानैर्यात्रिकैर्यात्राकारकैर्लोकैरखिलाः समस्ता अपि दिशः हरितः निज
आत्मा एव अवशेषोऽवशिष्टो यासां तादृशो विदधिरे विहिताः । दिशः केवलं स्वयमेव
स्थिताः, जनास्तु सर्वेऽपि प्रस्थिता इत्यर्थः । यात्रिकैः किं कुर्वद्भिः । अगाधोऽलब्ध-
मध्यपूर्वपरपारो यो भवः संसारः स एव वारिधिः समुद्रस्तस्माद्बहिः पारे मोक्षलक्षणे
बाह्यप्रदेशे एतुमागन्तुमभिलषद्भिर्वाञ्छद्भिः । अत एवोत्प्रेक्ष्यते—समुद्धरणे भवसमुद्र-
मध्ये मज्जतां जन्तूनां सम्यगुद्धारकरणे धुर्यतां प्रकृष्टधौरेयतां प्रदधत् प्रकर्षेण धार-
यत् । अत एवान्तरीपं किमु अन्तर्जले तटमिव ॥

महोदयविधायिना विमलभूभृताहूतव-

त्स कोऽप्यजनि नो जनोऽगमि न येन यात्राकृते ।

न काचिदचलाभवत्पथि च या न तद्यात्रिकै-

रनीयत पवित्रतां त्रिपथगाप्रवाहैरिव ॥ ११ ॥

स कोऽपि तत्तदुत्तमजातिजनितः कश्चिदनिर्दिष्टनामा जनो लोको नाजनि नो संजा-
तः । स कः । येन जनेन यात्राकृते शत्रुंजययात्रार्थं नागमि नागतम् । किंवत् । विमल-
भूभृता शत्रुंजयशैलेनाहूतवदाकारितेनेव । 'निहोत्रो' इति लोकप्रसिद्ध्या । यथा क-
श्चित्संमानपूर्वकमाकारित आगच्छति । किंभूतेन विमलाद्रिणा । महोदयो मोक्षः महान्
त्रिभुवनजनतानिषेव्यलक्षणोऽभ्युदयस्तं विदधाति करोतीत्येवंशीलेन च पुनः सा का-
चिदचला पृथिवी नाभवन्न बभूव । याचला पथि मार्गे तद्यात्रिकैः शत्रुंजययात्राकारकैः
पवित्रतां पावनीभावं नानीयत न प्रापिता । कैरिव । त्रिपथगाप्रवाहैरिव । यथा गङ्गाया
ओधैः सहस्रसंख्याभिर्वैणिभिः पयःपूरैः पवित्रतां नीयते प्राप्यते ॥

शिवश्रिय इवावनीवलयशालिलीलाचलं

जनैः प्रचलितैः समं परिजनेन शत्रुंजयम् ।

स्ववर्तिविविधासुमत्प्रकरकीलनाविश्रमा-

द्बधुः सुखमिहाखिला अपि दिशां प्रदेशास्तदा ॥ १२ ॥

तदा तस्मिन् संघप्रस्थानावसरे इह जगति अखिलाः समस्ता अपि दिशां हरितां प्रदेशाः भूमिभागाः सुखं शर्मातिशयं दधुर्धृतवन्तः । कुतः । स्वस्मिन्नात्मनि विषये वर्तन्ते तिष्ठन्तीत्येवंशीलास्तथाविधा अनेकजातीया ये असुमन्तः प्राणिनः जनाः सखज-नगजवाजिकरभमहिषवृषभप्रसुखास्तेषां प्रकराः समुदायास्तैः कृत्वा कीलनास्ताडनाः पीडाः ताभ्यो विभ्रमः क्षणमात्रं स्वस्थीभवनं ताडनाद्विरमणं तस्मात्सकाशात्कैर्विश्रमः शत्रुंजयाचलं प्रति परिजनेन स्वस्वसमस्तपरिवारेण समं प्रचलितैः प्रस्थितैर्जनैः धार्मिकलोकैः । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रुंजयम् । शिवश्रियो मोक्षलक्ष्म्या अवनीवलये भूमीमण्डले शालते शोभते इत्येवंशीलं लीलाचलं क्रीडाकरणार्थं पर्वतमिव ॥

महेन्द्रमिहिराङ्गजाम्बुनिधिधामपौलस्त्यदि-

क्पथेषु पृथु पप्रथे प्रथितजन्तुसार्यैस्तथा ।

तिलैर्न जगतीतलं कचिदलम्भि कीर्णैर्यथा-

वसानमिव मानसैर्जनमनोरथस्फूर्जितैः ॥ १३ ॥

प्रथितैः सकर्तव्यैः सद्गुणैर्वा जगति विख्यातिमद्भिर्जन्तूनां भविकप्राणिनां सार्यैः । 'संघ-सार्यौ तु देहिनाम्' इति हैम्याम् । वृन्दैः 'पान्थसार्यैः' इति पाठे तु पान्थाः विमलगिरिमार्गं प्रति स्थायुकास्तेषां प्रकरैरिति । महेन्द्रः शक्रः मिहिरः सूर्यः तस्याङ्गजो नन्दनो यमस्त-थाम्बुनिधिधामा वरुणस्तथा पौलस्त्यो धनदस्तेषां दिशो हरितः पूर्वा, पश्चिमा, दक्षिणा, उत्तरा, तासां पथेषु मार्गेषु पृथु विस्तीर्णं विपुलं यथा स्यात्तथा तेन प्रकारेणातिबाहुल्येन पप्रथे विस्तृतम् । यथा येन प्रकारेण विकीर्णैर्विक्षिप्तस्तिलैः स्नेहधारिधान्यविशेषैः कचित्कुत्रापि स्थाने जगतीतलं भूमण्डलं नालम्भि न प्राप्तम् भूमेरुत्सङ्गो न लेभे जनमस्तके-ष्वेवातिष्ठत् । विक्षिप्तास्तिलाः क्षितौ नापतन्नित्यर्थः । किमिव । अवसानमिव । यथा मानसैर्मनःसंवन्धिभिर्जनानां मनोरथानामभिलाषाणां स्फूर्जितैर्विलसितैरवसानं प्रान्तो न प्राप्यते संसारिणां प्राणिनामवसानमेव नास्ति । 'इच्छा हु आगाससमा अनन्तया' इत्युत्तराध्ययनोक्तेः ॥

चलत्सु विमलाचलं निखिलयात्रिकेष्वोजसा

पुरस्वरितमैयरुः कचन केचिदुत्कण्ठिताः ।

गृहीतुमनसः शिवश्रियमिवागमेनाग्रतः

स्वयं प्रथमतः परेष्विव धनार्थिनोऽर्थप्रथाम् ॥ १४ ॥

कचन कुत्रचित्स्थाने उत्कण्ठिताः श्रीशत्रुंजययात्राजिनदर्शनोत्सुकितचेतसः केचन पुरुषा ओजसा बलेन कृत्वा त्वरितं शीघ्रं पुरः संघजनाग्रे केषांचिज्जनानामपेक्षया वा ऐयरुः आगताः । केषु सत्सु । क्रमादनुक्रमेण श्रेण्यादिपरिपाठ्या निखिलेषु सर्वेषु यात्रिकेषु जनेषु विमलाचलं शत्रुंजयचौलं प्रति चलत्सु प्रतिष्ठमानेषु सत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—

अग्रतः पुरस्तादागमेन आगमनेन कृत्वा प्रथमतः पूर्वमेव स्वयमात्मना शिवश्रियं मुक्तिलक्ष्मीं गृहीतुमनसः आदातुकामा इव । के इव । धनार्थिन इव । परेषु अन्येषु द्रव्याभिलाषिषु विगतो मलः किट्टो रत्नोत्पत्त्या यस्मात्तादृशमचलम् । रोहणाद्रिमित्यर्थः । परदेशं वा प्रति व्रजत्सु अलौकिकयादतिशायितृष्णाभाजो धनार्थिनः बहुलाभाभिलाषिणः अतिधनलुब्धाः निःप्रत्यूहमाजन्मसुखकारकत्वेन शिवश्रियं कल्याणकृद्ब्रह्मादिमसंपदं गृहीतुकामा अग्रे गच्छन्ति ॥

पुरःप्रचलितैर्जनैर्धननिरुद्धवर्त्मान्तरः

पुनः प्रणुदितस्तमां द्रुतमुपेत्य पश्चात्तनैः ।

अमन्यत तदा हृदा कचन यात्रिकैः स्वं भ्रम-

द्भ्ररदृघटितं क्षणं कणमिवातिसंघटितः ॥ १५ ॥

तदा संघप्रस्थानसमये कचन कुत्रचित्स्थानके कश्चिद्यात्रिकजनो भ्रमति भ्रमणीं कुर्वाणे घरदृके कणचूर्णीकरणोपवृत्तपाषाणयुगलरूपे घटितं योजितं तदन्तर्निक्षिप्तं कणं धान्यमिव क्षणं निमेषमात्रं हृदा स्वमनसा स्वमात्मानममन्यत जानाति स्म । किंभूतो यात्रिकः । अत्यधिकं संघटितः बहुजनसंमर्देन पश्चादागच्छद्भिः पुरश्चलद्भिश्च जनैरति-संकीर्णतया निष्पीडितः । अत एव पुनः किंभूतः । पुरोऽग्रे प्रचलितैः क्रमाक्रमेण प्रस्थितैर्जनैर्लोकैर्धनं बहु निबिडं वा नीरन्ध्रमन्तरालरहितं वा निरुद्धमति-संकीर्णतया कथमप्यग्रे गन्तुमशक्तीकृतं पुरस्तात्प्रचलल्लोकमध्ये प्रवेष्टुमशक्यं कृतं वर्त्मानो मार्गस्य अन्तरं मध्यं यस्य वर्त्मान्तरः अपरमार्गो वा यस्य सः । पुनः किंभूतैः । पश्चात्तनैः पृष्ठे समागतैर्जनैर्दुष्टं शीघ्रमुपेत्यागल्य तमामतिशयेन प्रणुदितः अग्रे गमनाय प्रेरितः वा-क्यरीरादिभिस्त्वरितीकृतः ॥

चतुर्जलधिमेखलावनिनिकेतलोकैस्ततः

समीपमवनीभृतः सममलम्भि शोभां पराम् ।

पुरंदरगिरेरिवाखिलचतुर्निकायामरै-

र्जिनेन्द्रजननाभिषिञ्चनमहोत्सवप्रक्रमे ॥ १६ ॥

ततः स्वस्वदिग्भ्यः प्रस्थितेरनन्तरं चत्वारः पूर्वापरदक्षिणोत्तरलक्षणाश्चतुःसंख्याका जलधयः समुद्रा एव मेखला काञ्ची यस्यास्तादृश्यामवनौ निकेतं गृहं येषां तादृशैर्लोकैर्यात्रिकजनैः सममेककालमवनीभृतः अर्थाधिकाराद्यात्रासमत्वाच्च श्रीशत्रुंजयगिरेः समीपं तलहट्टिकारूपपार्श्वं परां वक्रुष्टां शोभामलम्भि प्रापितम् । कैरिव । अखिलचतुर्निकायामरैरिव । यथा जिनेन्द्रस्य तीर्थंकरस्य जननस्य जन्मनोऽभिषिञ्चनस्याभिषेकस्य । जन्माभिषेकस्येत्यर्थः । प्रक्रमे प्रस्तावे । 'वेलावाराववसरः प्रस्तावः प्रक्रमोऽन्तरम्' इति हैम्याम् । अखिलैः समस्तैश्चत्वारो निकाया उत्पत्तिगतिसाधर्म्येण सादृश्यं येषां ते ।

‘निकायस्तु सधर्मिणाम्’ इति हैम्याम् । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकलक्षणा-
श्वतुर्निकायास्तादृशा अमरा देवास्तैः पुरंदरगिरेर्मैरोः समीपं शोभां लभ्यते । यथा
सुरगिरिः तथा सुरेन्द्रगिरिरपि । यथा सुराचार्यस्तद्वत्पुरंदरगुरुरपि । यथा नैषधे—‘शैश-
वावधि गुरुगुरुरस्य’ । अस्य शक्रस्य । तथा श्रीपालचरित्रे—‘सक्रपुरुचेवसके इ’ इति ।
तथा नैषधे—‘जाम्बूनदार्यां धरसार्वभौमः’ । यथा शक्रनामेदं तथा शक्रस्यायमपि
शैल इति ॥

धराधिविबुधेरिता किमु सहैव संकेतभा-

किमत्र सुकृतैरुत व्रतिपतेरिवाकर्षिता ।

शताङ्गमुखवाहनानुगतयौवतभ्राजिना

यदेकसमये ततिस्तनुमतामुपेता गिरौ ॥ १७ ॥

गुरौ शत्रुंजयाचले तनुमतां प्राणिनां यात्रिकजनानां ततिः श्रेणी यद्यस्मात्कारणात्
एकसमये एकस्मिन्नेव प्रस्तावे उपेता समकालं समागता । किंभूता । शताङ्गाः स्यन्दना
रथा मुखे आदौ येषां तादृशानि वाहनानि यानानि तैरनुगतानां युक्तानां यौवतैर्युवती-
समूहैर्भ्राजन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलास्तेषां द्वयोरपि कर्मधारयः । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—धरस्य
विमलाद्रेरधिबिबुधैरधिष्ठायकसुरैः ईरिताः प्रणुन्नाः किमु । अथ वा सहैव एककालमे-
केन वारेणैव संकेतं परस्परसंगमस्थानं भजतीति तादृशी किमु । उताथ वा व्रतिपते-
र्होत्रविजयसूरेः सुकृतैः पुण्यैराकर्षिता अत्र शत्रुंजये आकृष्यानीतेव वा कश्चिदाकर्ष-
यति । स्वार्थे निप्रत्ययः । आकर्ष्यते स्मेत्याकर्षिता ॥

तुरङ्गममतङ्गजाग्रिमशताङ्गरङ्गन्मरु-

प्रियोक्षतरबेसरोत्करपुरःसरप्राञ्चिता ।

पुरीपरिसरावनी समजनिष्ट संघागमे

तदा विजयिमेदिनीरमणराजधानीव सा ॥ १८ ॥

तदा तस्मिन् यात्रिकजनव्रजागमनसमये पुर्याः पादलिप्तनगर्याः परिसरस्य समी-
पप्रदेशस्य अवनी भूमी कर्त्रा विजयिनो विजयकरणशीलस्य मेदिनीरमणस्य राज्ञो
राजधानी स्कन्धावतार इव समजनिष्ट संजाता । किंभूता । तुरङ्गमा अश्वा मतङ्गजा
हृस्तिनः तथा अग्रिमाः प्रकृष्टाः शताङ्गाः रथास्तथा रङ्गन्तो मरुप्रियाः करभाः तथा
उक्षतरा महोक्षाः पुष्टवलीवर्दास्तथा बेसरा अश्वतराः लोके ‘खचर’ इति प्रसिद्धास्ते-
षामुत्कराः समूहास्तथा पुरःसराः पादचारिणः तैः प्राञ्चिताः परिपूर्णा निभृतं भृताः ॥
इति संघागमनम् ॥

जडीकरणभीतितो हिमगिरेः प्रणश्यागतं

सरः किमिह मानसं सकुलराजहंसाकुलम् ।

समग्रसुखसंपदभ्युदयसिद्धगोत्रान्तिके

व्यभूषि ललिताभिधं सर उपेत्य संघैः समम् ॥ १९ ॥

संघैर्यात्रिकपान्थसार्थैः उपेत्य समीपे आगत्य ललित इत्यभिधा नाम यस्य तादृशं सरः । ललितसरोवरमित्यर्थः । समं समकालं व्यभूषि अलंकृतम् । उपेत्यते—जडीकरणस्य । ‘जडो मूर्खे हिमाघाते मूकेऽपि च’ इत्यनेकार्थः । मूर्खीकरणस्य मूकीकरणस्य वा हिमांघ्राणीकरणस्य वा यो बहुना तुहिनेनाघ्रातो निविडीभूतः स्यात्तस्य प्राणस्यापि संशयः स्यात्तथा मूर्खमूककरणादपि भीतिर्भयं ततः कारणात् हिमगिरेस्तुहिनाचलात्प्रणश्य प्रपलाय्य । नेष्टेत्यर्थः । इहास्मिन् समग्राणां समस्तानामैहिकामुष्मिकाणां सुखानां शर्मणां संपदां विभूतीनां वा अभ्युदय आविर्भावो यस्मात्तादृशस्य सिद्धगोत्रस्य सिद्धाचलस्य शत्रुंजयशैलस्य मन्त्रतन्त्रविद्यौषधीरसादिभिः सिद्धानां पुरुषाणां गोत्रस्य वंशस्य अन्तिके यत्र गोत्रे सर्वेऽपि सिद्धतरास्तेषां संनिधौ आगतं मानसं नाम सरः पद्माकर इव । किंभूतम् । सह कुलैः पुत्रपौत्रप्रपौत्रभ्रातृभ्रातृव्यस्वजनादिवंशैर्वर्तते ये तादृशानां हंसानां सितच्छदानां मालाभिर्धोरणीभिराकुलं व्याप्तम् । हिमाचले मानसं सरोऽस्ति । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—‘सदाहंसाकुलं बिभ्रन्मानसं प्रचलज्जलम् । भूभृन्नाथोऽपि नायाति यस्य साम्यं हिमाचलः ॥’ इति । तत आगमनं युक्तमेव ॥

गजा इव जनास्ततः सलिलकेलिमातन्वते

पिबन्ति च पिपासिताः सलिलमत्र पान्था इव ।

विजृम्भिजलजावलिं कुसुममालिकां मालिका

इवावनिरुहे पुनः कचन केचिदुच्चिन्वते ॥ २० ॥

तरन्ति च सितच्छदा इव परे मृगाक्षीसखा

विशन्ति रसिकाः पुनस्तिमिगणा इवान्तर्जलम् ।

तपतुरवितापिता इव मुदा प्लवन्ते परे

चिरेण मिलितेष्टवज्जहति नास्य पार्श्वं पुनः ॥ २१ ॥

ततः ललितसरः समीपागमनोत्तरणानन्तरम् अत्र ललितसरोवरे केचित्केऽपि जना गजा हस्तिन इव सलिलकेलिं जलमज्जनादिकां क्रीडामातन्वते कुर्वते । च पुनरत्र सरसि पान्थास्तपागमतीव्रतपनतापसंशुष्यद्गलतालुरसनोष्ठपुटसंकटविधुराः पथिका इव पिपासितास्तृषातरलिताः सन्तः केचिज्जनाः सलिलं पानीयं पिबन्ति । पुनः कचन कुत्रापि सरःप्रदेशे केचन जनाः विजृम्भिणीं विकसनशीलां जलजानां पद्मानामावलीं मालिकामुच्चिन्वते उच्चित्य गृह्णन्ति । के इव । मालिका इव । यथा मालाकारिका अव-
निरुहे वृक्षे कुसुममालिकां पुष्पपरंपरामुच्चिन्वन्ति च । ‘मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मा-

लिकाः' इति चम्पूकथायाम् । पुनः परे अन्ये जनाः सितच्छदा राजहंसा इव तरन्ति । किंभूताः । मृगादयो निजनिजयुवत्यः सखायो येषाम् । पुनः रसिका विविधजलकेलि-
करणरसभाजो जनास्तिमिगणा मत्स्यव्रजाः इवान्तर्जलं पानीयमध्ये विशन्ति । 'डवकि'
इति लोकप्रसिद्धा । परे जनास्तपतीर्ग्रीष्मकालस्य रविणा सूर्येण तापितास्तीव्रतापेन
क्लेशिताः संतापिता इव मुदा हर्षेण प्लवन्ते स्नान्ति स्नानं कुर्वन्ते । पुनः केचिदन्ये जना-
श्विरेण बहुकालेन मिलितः संगतो य इष्टः स्वमनसोऽतिवल्गुमस्तद्वत्तत्त्वेवास्य ललित-
सरोवरस्य पार्श्वे न जहति नो त्यजन्ति ॥ युग्मम् ॥ इति ललितसरोवरे यात्रिकज-
नविविधक्रीडा ॥

प्रमोदभरमेदुरः प्रथममेव संघस्तदा

स हीरविजयव्रतक्षितिपतेः पदाम्भोरुहम् ।

अचुम्बदलिवन्महोदयमरन्दपानाभिको

गुरुक्रमविलङ्घनं यदुदयेत न श्रेयसे ॥ २२ ॥

तदा तस्मिन् पादलिप्तपुरे समागमनावसरे प्रमोदानां स्थावरजङ्गमतीर्थानमश्चिकी-
र्षोद्भूतहर्षाणां भरेणातिशयेन मेदुरः पुष्टः स तत्तद्देशगतः संघो यात्रिकलोकप्रकरः
प्रथमं पूर्वं शत्रुंजययात्रायाः प्रागेव हीरविजयनाम्नो व्रतिनां साधूनां मध्ये क्षितिपते
राज्ञः पदाम्भोरुहं चरणारविन्दमचुम्बच्चुम्बति स्म । ववन्दे इत्यर्थः । किंवत् । अलिवत् ।
यथा भ्रमरः कमलं चुम्बति । किंभूतः संघः । महोदयो महानतिशायी उदयो जगदै-
श्वर्यलक्षणो मोक्षश्च स एव मरन्दो मधु तस्य पाने अभिकः अभिलाषुकः । प्रथम-
वन्दने हेतुमाह—यद्यस्मात्कारणात् गुरुक्रमाणां पूज्यपादचरणानामतिक्रमणमर्हणोलङ्घनं
श्रेयसे कल्याणाय नोदयेत नो जायेत । 'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः'
इति रघुवंशे ॥

वशासिकगीतिभिर्विविधवाद्यमाद्यद्रवै-

रखण्डकृतताण्डवैर्विदुरबन्दिवृन्दस्तवैः ।

समं प्रमुदितैर्जनैः प्रभुरितः प्रतस्थे गिरिं

सुरासुरनरोत्करैरिव जिनावनीवासवः ॥ २३ ॥

तत इत्यध्याहार्यम् । संघागमनान्तरं प्रमुहूर्तिरविजयसूरिरितः पादलिप्तपुरात् गिरिं
शत्रुंजयस्यैव प्रति प्रतस्थे प्रचलति स्म । कथम् । समं सार्धम् । कैः । प्रमुदितैरानन्दं
प्राप्तैर्जनैः संघलोकैः समम् । पुनः काभिः । वशानां तरुणीनां रसिकाभिः सरसाभिः
श्रवणयोः सुधारसवर्षिणीभिः विविधरसललिताभिर्गीतिभिर्गानैः । पुनः कैः । विविधानि
बहुप्रकाराणि वाद्यानि मृदङ्गमुरजपटहृल्लरीनिःखानभेरीनफेरीदुन्दुभिडक्कातालकसाल-
वीणावंशादिमवादित्राणि तेषां माद्यद्भिः सागरगिरिगह्वरादिषु प्रतिशब्देन मदमेदुरीभ-

वद्भिः उद्भूतै रवैर्निर्घोषैः शब्दैः उद्धतध्वनिभिः । पुनः कैः । अस्वप्नं विच्छेदविरहितं
 कृतैः प्रारब्धैः विरचितैस्ताण्डवैर्नाटकैः । पुनः कैः । प्रमुदिता अनर्गलदानप्राप्त्या प्रभो-
 दकलिता जाता अथ वा विदुराः प्राज्ञा ये वन्दिनो मङ्गलपाठका मागधास्तेषां वृन्दानि
 संदोहास्तेषां स्तवाः स्तुतयस्तैः । अमूनि सर्वाण्यपि विशेषणानि जनविशेषणीक्रियन्ते
 वा बहुव्रीहिणा च योज्यन्ते । क इव । जिनावनीवासव इव महोक्षलक्षमेव वा । यथा
 जिनराजः अथ वा वृषभध्वजो युगादिदेवः सुरा देवा असुरा दानवा नरा मनुष्याः
 तेषामुत्कर्षैर्गणैः सार्धं शत्रुंजयं प्रति प्रतिष्ठते । त्रयोविंशतिरपि तीर्थकराः शत्रुंजये
 समवसृताः, तेषु ऋषभदेवो नवनवतिपूर्ववारान्समागतः । यदुक्तम्—‘नवनवतिपूर्ववा-
 रान् यस्मिन् समवसद्युगादिजिनः । राजादनीतरुतले विमलगिरिरयं जयति तीर्थम् ॥’
 इति पूर्वार्थस्त्वैव । तथा श्रीमन्नेमिनाथोऽपि शक्रस्तुतिमसहमानैः सुरैः परिक्षिप्तास्त-
 दवसरागतपुरंदरप्रार्थनाप्रक्रमे गृहमेधित्वे यावदेवेन्द्रो देवेन्द्रैः समं शत्रुंजये समाज-
 गाम-इति शत्रुंजयमाहात्म्ये ॥

तदा मुदितमानसा निखिलयात्रिकाणां गणा

उपेत्य तलहट्टिकां शिवपुरस्य सीमामिव ।

प्रसूनमणिमौक्तिकैर्धरमवर्धयन्विन्दुभि-

स्तटावनिधरं पयोनिधिविवृद्धवेला इव ॥ २४ ॥

तदा हीरसूर्यात्राकृते श्रीशत्रुंजयशैले प्रति प्रस्थानसमये निखिलाः समस्ता या-
 त्रिकाणां विमलाचलरोहणार्थमागतानां भविकानां गणाः समूहा धरमार्थात्पुण्डरीकपर्वतं
 प्रसूनानि पुष्पाणि स्वर्णरूप्यमयानि स्थलजलजातानि कुसुमानि, मणयो रत्नानि, मौ-
 क्तिकानि मुक्ताफलानि, तैः कृत्वा सममेककालं सर्वेऽप्यवर्धयन् वर्धयन्ति स्म ।
 किं कृत्वा । तलहट्टिकामार्थाद्विमलाचलोपान्तपृथिवीमुपत्यकामधोभागे उपेत्यागत्य ।
 उत्प्रेक्ष्यते—शिवपुरस्य मुक्तिनगरस्य सीमामुपशल्यमिव परिसरभूमीमिव । किंभूता
 गणाः । मुदितं यात्राचिकीर्षया शत्रुंजयाभ्यर्णगमनेन हृष्टं मानसं मनो येषां ते । अव-
 र्धयन्कथम् । सममेकस्मिन्नेव समये यात्रिका धरं विमलाद्रिमवर्धयन् । का इव । वेला
 इव । यथा पयोनिधेः समुद्रस्य विवृद्धा चन्द्रोदयदर्शनाद्भीष्मर्तुप्रादुर्भावाद्वा वृद्धिं प्राप्ता
 वेलास्तटावनीधरं वेलातीरगिरिं विन्दुभिर्जलकणैरवकिरन्ति ॥

निपीय नगपुंगवं विकचनेत्रपत्रैर्भव-

स्थितैर्भविककुञ्जरैरपि तनूतलाम्बिभिः ।

व्यपेतभवविग्रहैरिव समग्रलोकाग्रै-

रलम्भि भुवि निर्वृतिर्यदिह तत्र चित्रं महत् ॥ २५ ॥

इह तलहट्टिकायामुपत्यकायां वा विकचैर्गिरिगवेषणोद्बुधितहर्षप्रकर्षाद्विस्मरैर्नेत्रपत्रै-

लौचनदलैर्नगपुङ्गवं समग्रगिरिगिरिष्ठं शत्रुंजयं निपीय सादरमवलोक्य भविककुञ्जरैः
प्रधानमव्यजनैः भुवि पृथिव्यां यन्निर्वृतिरलम्भि संप्राप्ता । किंभूतैः । भवे संसारे
स्थितैर्वसद्भिरपि । संसारस्थैर्हि कदापि निर्वृतिर्नाप्यते । पुनः किंभूतैः । तनूलां शरी-
रयष्टिमालम्बन्ते श्रयन्ते इत्येवंशीलैरपि । शरीरं विभ्रद्भिरपि मुक्तिर्नो लभ्यते ।
कैरिव । व्यपेतभवविग्रहैरिव । यथा व्यपेतो निष्ठितो भवः संसारः गतोभवः शिवो वा
तथा विग्रहः शरीरं संप्रामो वा येभ्यस्तादृशैर्मिथ्यादृशां सिद्धेरभावः तथा समग्राणां
समस्तानां लोकानां त्रयाणां सप्तानां चतुर्दशानां वा भुवनानामग्रे उपरितनभागे
गच्छन्ति तिष्ठन्तीति कृत्वा तादृशैः । 'लो अगमुवगगयाणम्' इति वचनात्सिद्धैरिव
निर्वृतिर्लब्धा । 'निर्वृतिः शिवशर्मणोः' इत्यनेकार्थः । इति जगति तत्र निर्वृतिप्राप्ति-
प्रकारे महद्गुरु चित्रमाश्वर्यं वर्तते ॥

ततः श्रमणशर्वरीपतिरुपत्यकायां गिरे-

गिरीशसदनान्तरे सह महेश्वरैर्भावुकैः ।

चरन्नमृतपत्तनं किमतिदूरभावात्पथो

निशि न्यवसदन्तराप्रमितसार्थसार्थेशवत् ॥ २६ ॥

ततस्तलहृष्टिकागमनानन्तरं श्रमणशर्वरीपतिः साधुसुधांशुः सूरीन्द्रो गिरेः शत्रु-
जयाद्रेरुपत्यकायामधोभूमिभागप्रदेशे अन्तरा पादलिप्तपुरशत्रुंजयाद्रिमार्गमध्ये यद्दि-
रीशस्य शंभोः सदनं गृहं शिवप्रासादस्तस्यान्तरं मध्यं तत्र निशि रात्रौ न्यवसन्निवासं
कृतवान् वासकं वसति स्म । तिष्ठति स्मेत्यर्थः । कथम् । सह । कैः । महेश्वरैर्भावुकैर्महेश्वरैः
श्राद्धैः जिनश्रावकैः । अथ च शिवसदने महेश्वरजनैः कश्चिद्वसति । उत्प्रेक्ष्यते—अमृत-
पत्तनं मुक्तिनामपुटभेदनं प्रति चरन् गच्छन् पथो मार्गस्यातिशयेन दूरभावाद्दवीयस्तथा
किमन्तरा निवसति स्म । किंवत् । अप्रतिमसार्थसार्थेशवत् । यथा अप्रमितः प्रमाणर-
हितः सार्थः मनुष्यसंघो यस्य तादृशः सार्थपतिः किमपि नगरं गन्तुमिच्छन्मार्ग-
स्यातिदूरत्वेन अन्तरा मार्गमध्ये एव निशायां निवसति ॥

हरेर्मृगदशामिवोत्पलदृशां लसद्गीतिभिः

पुनर्मुदितनाख्यकृद्धटितपाण्डवाडम्बरैः ।

निनाय निखिलां निशां वशिशशी स धर्मक्रिया-

विनिर्मितिभिराश्रये रजनिजानिचूडामणेः ॥ २७ ॥

स वशिशशी हीरविजयसूरिचन्द्रः रजनी रात्री जाया पत्नी यस्य । 'जायाया निङ्'
इति निप्रत्ययः । 'लोपो व्योर्बलि' इति यकारस्य लोपः । रजनिजानिरिति सिद्धम् ।
रजनिजानिश्चन्द्रः चूडामणिः शिरोरत्नं यस्य । एतावता ईश्वरस्तस्याश्रये वसतौ शंक-
रप्रासादे धर्मस्य स्वाचारलक्षणस्य क्रिया अनुष्ठानं सम्यक्तया प्रतिक्रमणादिकरणं तस्य

विनिर्मितिभिर्विधानैः कृत्वा निखिलां समस्तां चतुर्यामवतीं निशां रात्रीं निनायातिच-
क्राम । यथा स्वधर्मास्तुष्टानैस्तथा । पुनः काभिः । लसन्तीभिश्चेतोहराभिर्गीतिभिर्गानैः ।
कासाम् । उत्पलदृशां कुवलयलोचनानां तरुणीनाम् । उत्प्रेक्ष्यते—हरेरिन्द्रस्य मृगदृशा-
मिन्द्राणीनामिव । पुनः कैः । मुदितैर्यथेप्सितदानाधिगमादानन्दमेदुरैर्नाट्यकृद्भिर्नर्तकैर्ध-
टितैर्निर्मितैस्ताण्डवानां नाटकानामाढम्बरैः ॥ इति शत्रुञ्जयान्तिकशिवप्रासादे वासका-
वस्थानम् ॥

गते तमसि तद्दिरेरिव निरीक्षणात्तत्क्षणा-

त्त्वगैर्गुरुजयारवे किमु कृतेऽथ सांराविणे ।

समीयुषि खरत्विषि द्विषि निशां नभोमण्डले

विधित्सति सहामुना विमलशैलयात्रामिव ॥ २८ ॥

सुधाशनपथातिथिं शिवनिकेतनिःश्रेणिका-

मिव त्रतिशतक्रतुर्विमलशैलपद्यां ततः ।

सवालवरवर्णिनीनिवहनैकतौर्यत्रिका-

नुयातजनसंयुतः समधिरोढुमारब्धवान् ॥ २९ ॥

स त्रतिशतक्रतुर्हीरविजयसूरीन्द्रः विमलशैलस्य शत्रुञ्जयाद्रेः पद्यां सेतुं लोकप्रसिद्ध्या
'पाज' इति समधिरोढुमारब्धवान् प्रारम्भे । किंभूतः सः । सह बालाः कुमारः कुमा-
रिकाश्च तैस्ताभिश्च । 'सरूपाणामेकशेषे' । वर्तन्ते यास्तादृश्यो वरवर्णिन्यः प्रधानस्त्रियः ।
तीर्थयात्रादिधर्मकारकत्वात् प्राधान्यम् । अथवा उत्तमा स्त्री जाल्या गुणैर्वा । 'उत्तमा
वरवर्णिनी' इत्यमरः । तासां निवहाः प्रकराः । तथा नैकानि बहूनि अनेकजातीयानि वा
तौर्यत्रिकाणि गीतनृत्यवाद्यानां त्रिकाणि तैरनुयाताः सहिता ये जना यात्रिकसंघलोकास्तैः
संयुतः परिकल्पितः । किंभूतां विमलाचलपद्याम् । सुधाशनानां देवानां पन्था मार्गो
गगनं तस्यातिथिं प्राप्नुयिष्यतीति । गगनावगाहिनीमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—शिवनिकेतनिःश्रे-
णिकामिव मोक्षप्रासादे अधिरोहणार्थमधिरोहणिकामिव 'नीसरणी' इति लोकप्रसि-
द्धाम् । कस्मिन् सति । तत्क्षणात्तत्कालात् शीघ्रमेव तमसि अन्धकारे गते सति
लोकाग्निः सति । उत्प्रेक्ष्यते—तद्दिरेः स चासौ विमलाचलनामा गिरिः पर्वतश्च
तस्य निरीक्षणादर्शनादिव पापे याते । 'तमोऽज्ञानेऽन्धकारेऽधे' इत्यनेकार्थः । अथ
पश्चात्तमोगमनानन्तरं खगैः प्रातःप्रबुद्धविहंगमैः सांराविणे मिश्रास्पष्टशब्दे कृते सति ।
अथ वा समन्ताद्बैवः । यदुक्तं नैषधे—'तटतरुवेगश्रेणीसांराविणैरिव सांप्रतं सरसि
विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजिनी' इति । 'संपूर्वाद्भौतेरभिविधौ भावे इनुण्' । तस्मा-
दिनुणः सांराविणानि तैः इति तद्वृत्तौ साधना । उत्प्रेक्ष्यते—गुरोर्हीरविजयसूर्यजया-
रवे विहिते सति किमु पुनः कस्मिन् सति खरत्विषि भास्करे नभोमण्डले गगनाङ्गणे

समीयुषि सति संप्राप्तवति । किंभूते । निशां रात्रीणां द्विषि वैरिणि तद्विनाशकत्वात् ।
उत्प्रेक्ष्यते—अमुना सूरीन्द्रेण सह सार्धं विमलशैलस्य शत्रुंजयाद्रेयात्रां विधित्सतीव ॥
युग्मम् ॥

क्रमादचलचक्रिणः श्रमणपुंगवः पद्यया

रुरोह भवसागरं किमु तितीर्षुभिः क्लृप्तया ।

निबद्धमिव शृङ्खलां हृदयदन्तिनो मेखलां

सुपर्वतरुनन्दनामिव सुमेरुभूमीभृतः ॥ ३० ॥

श्रमणपुंगवः सूरीन्द्रः क्रमादनुक्रमेण पद्यया सेतुना प्रस्तरनिबद्धमार्गेण 'पाज'
इति प्रसिद्धेन कृत्वा अचलचक्रिणो गिरीन्द्रस्य । सर्वतीर्थाधिराजत्वात्पर्वतसार्वभौमत्वम् ।
तथा जैनमते प्रातः प्रतिक्रमणप्रान्तप्रत्याख्यानकरणसमयादौ 'सकलतीर्थाधिराजश्री-
शत्रुंजयाय नमः' इत्युच्चार्य प्रत्याख्यानं क्रियते इति । मेखलां मध्यभागमारुरोहाध्या-
सामास । किंभूतया पद्यया । क्लृप्तया रचितया । उत्प्रेक्ष्यते—भवसागरं संसारसमुद्रं
तितीर्षुभिस्तिरीतुमिच्छुभिरेव कृतया रामचन्द्रादिवत्सेतुना समुद्रः समुत्तीर्यते । किंभूतां
मेखलाम् । हृदयानि मनांसि । 'हृच्चेतो हृदयं चित्तम्,' तथा 'स्तनान्तरं हृद्द्वयम्'
इति द्वयमपि हैम्याम् । अत एवानेकार्थः—'हृदयं मनो वक्ष्ये' । तान्येवोन्मत्तत्वाद्दन्तिनः
करिणः तन्निबद्धं नियन्त्रयितुं शृङ्खलां निगडमिव । शृङ्खलशब्दस्त्रिलिङ्गः । 'शृङ्खला
निगडोऽन्दुकः' इति हैम्याम् । तथा 'नालप्रणालपटलार्गलशृङ्खलकंदलाः' इति लिङ्गा-
लुशासने स्वतस्त्रिलिङ्गे । तथा मेखलां मुञ्जदोरिकामिव । दोरिकया हि करिणो निय-
न्त्रयन्ते । यथा चम्पूकथायाम्—'ब्राह्मीव दौर्जनी समेखला समेमित्रे । अमित्रे च
समभावभाजि साधौ विषये वेला मत्सरवती दौर्जनी श्रेणी ब्राह्मी तु सह मेखलया
मौञ्जीदोरिकया वर्तते या' इति चम्पूटिप्पनके । इति गर्भितोत्प्रेक्षा । पुनः किंभूताम् ।
सु शोभनानि पर्वाणि शाखादिनिर्गमस्थानानि येषां येषु वा तादृशैर्वृक्षैस्तरुभिः नन्दयति
प्रीणाति समृद्धिं प्राप्नोतीति वा । उत्प्रेक्ष्यते—सुमेरुभूमीभृतो मन्दरमहीधरस्य मेखलां
नितम्बमिव । किंभूताम् । सुपर्वतरुभिः कल्पवृक्षैर्नन्दयति समृद्धिं प्राप्नोति । अथ वा
कल्पद्रुकलितनन्दनवती । एतावता प्रथममेखलामारूढवान् ॥ इति पद्यया प्रथममेख-
लारोहणम् ॥

प्रपासु गिरिपद्धतेरमृतपानवद्यात्रिकै-

रपीयत सितोपलाकलिततोयमातृसितः ।

पुनर्मुनिमहीन्दुनावनिधराधिरोहोदय-

त्प्रमोदरसमिश्रिता शमसुधा तदास्वाद्यत ॥ ३१ ॥

तदा शत्रुंजयप्रथममेखलाधिरोहणसमये गिरेर्विमलाचलस्य पद्धतेर्मागस्य पद्धतौ

भागं वा वर्तमाना याः प्रपाः पानीयशालास्तासु यात्रिकैः श्रीशत्रुंजययात्राकारकैर्लो-
कैरमृतस्य पीयूषस्य पानवद्भीतिरिव । 'धीतिः पाने' इति हैम्याम् । 'धेद् पाने' । धयनं
धीतिरिति व्युत्पत्तिः । अथ वा मुक्तिरसाखादवत् । 'अमृतं मुक्तिपानीयपीयूषेषु'
इत्यनेकार्थः । आवृत्तितस्तृप्ति मर्यादीकृत्य । आढादियोगे पञ्चमी । सितोपलभिः
शर्कराभिः कलितं करम्बितं बहुव्याप्तं तोयं पानीयमपीयत पीतम् । पुनर्होत्रविजय-
सूरिणा तु शमसुधा उपशान्तरसनाम्नी सुधा समाखाद्यत सम्यक् पीयते स्म । किंभूता
शमसुधा । अवनिधरे शत्रुंजयशैले यदधिरोहणं चढनं तेनोदयत्प्रकटीभवन् यः प्रमो-
दाभिधरसो हर्षोत्कर्षः आनन्दातिरेकनिस्पन्दस्तेन मिश्रिता करम्बिता व्याप्ता ॥

स्फुरत्स्वरकरोद्भुरद्युतिवितानसंतापिता-

जनाञ्जनितनिर्झरोत्करजलाप्लवा वायवः ।

भवार्तिविधुरीकृतानिव महात्मनां संगमाः

सृजन्ति शिशिरान्गिरौ क्षणमपास्य तापं तनौ ॥ ३२ ॥

गिरौ पुण्डरीकपर्वते वायवः पवनाः जनान्यात्रिकलोकान् क्षणं क्षणमात्रं शिशिरान्
शीतलान् सृजन्ति कुर्वन्ति । किं कृत्वा । निमेषमात्रं च तनौ शरीरे तापं घर्मेमपास्य
निवार्य । जनान् किंभूतान् । स्फुरन्दीप्यमानस्तीव्रं तपन्वा खरकरश्चण्डरश्मिः सूर्यस्त-
स्योद्गुराणामुत्कटानां द्युतीनां कान्तीनां वितानेन समूहेन संतापितान्पीडितान् अति-
तप्तीकृतान् । किंभूता वायवः । जनितो निर्मितो निर्झराणां शिखरान्तरनिःसरत्पयः-
प्रवाहाणामुत्कराणां संदोहानां जलेषु पानीयेषु आप्तवः स्नानं यैस्ते । के इव शिशिरय-
न्ति । संगमा इव । यथा महात्मनां साधूनां संगतयः भवस्य संसारस्यार्तिर्विविधाधिब्या-
धिदुःखपीडा तथा ताभिर्बहुत्वं वा विधुरीकृतान् व्याकुलान् विहितान् भविकान् संसा-
रासारतोद्भावनविधिधर्मोपदेशप्रदानादिना शीतलयन्ति ॥

झरज्झरपयःप्लवप्रसरशीतलोर्वीतले

सहस्ररुचिसंचरद्रुचिचयस्य दुःसंचरे ।

विलासिकदलीगृहे भुजगगुल्मिनीमण्डपे

स्फुरद्विविधविष्टरे पृथुलशैलतल्पाङ्किते ॥ ३३ ॥

स्मितद्रुमगलन्मणीचकचयोपचाराञ्चिते

द्विरेफरवगानितानिललुल्लताताण्डवे ।

जनान्भवनवद्वने श्रमनुदेऽतिघर्मान्बुभिः

सबिन्दुकितवक्षसो ह्वयति लोलशाखाशयैः ॥ ३४ ॥

शत्रुंजयाचलः जनान् यात्रार्थमधिलकामधिरोहते लोकान् लोलैश्चपलैः शाखारूपैः

शयैः हस्तैर्वने खनिकुञ्जे ह्वयत्याकारयतीव । इति गर्भितोत्प्रेक्षा । किंभूतान् जनान् । अतिघर्मांश्चुभिः अत्यभ्यधिकप्रस्वेदसलिलैर्विन्दुकितवक्षसः बिन्दुभिः श्रमोदककणगणै-
र्युक्तं जातम् । स्वार्थं के जातार्थे इतप्रत्यये । बिन्दुकितं वक्षो हृदयं येषाम् । अत एव
कस्मै हेतवे । श्रमनुदे मार्गक्लमपनोदाय । 'खेदबिन्दुकितनासिकाशिखाम्' इति नैषधे ।
किंवत् । भवनवत् । यथा कश्चित्सुजनः कमपि मार्गक्लमप्राप्तं निजनिकेतने समाह्वयति ।
किंभूते वने । झरन्तो निःसरन्तो ये झरा निर्झरास्तेषां पयःप्लवानां वारिपूराणां प्रसरै-
र्विस्तारैः कृत्वा शीतलं शिशिरीभूतमुर्वीतलं भूमीमध्यं यस्य । पुनः किंभूते । सहस्र-
रुचेः सूर्यस्य संचरन्तीनामितस्ततो दशदिक्षु प्रसरन्तीनां रुचीनां कान्तीनां वितानं
समुदायस्तस्य दुःखेन संचरः प्रसरणं प्रवेशो वा यत्र । पुनः किंभूते । विलासिनः
शोभनशीलाः कदलीपृष्ठा रम्भाभवनानि यस्मिन् । पुनः किंभूते । भुजगगुल्मिनीनां
नागवल्लीनां ताम्बूलवल्लीनाम् । 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागपर्यायवह्यपि' इति हैम्याम् ।
मण्डपा यस्मिन् । पुनः किंभूते । स्फुरन्तो विकसन्तः प्रकटीभवन्तो वा दृश्यमाना वा
विविधा विष्टरा वृक्षा आसनानि वा यस्मिन् । 'क्षितिरुहः कारस्करो विष्टरः', तथा 'विष्टरः
पीठमासनम्' इति द्वयमपि हैम्याम् । विष्टरः पुंसि । पुनः किंभूते । पृथुलानि विस्ती-
र्णानि शैलानि शिलासमूहा वा । यथा न्नातस्यास्तुतौ 'मन्दररत्नशैलशिखरे' एतस्यार्थः-
द्वयम् । यथा मन्दरैषु पञ्चसु सुमेरुषु मध्ये रत्नं श्रेष्ठो यः सुदर्शनाख्यो मेरुः
शैलः पर्वतस्तस्य शिखरे शृङ्गे । अपरोऽप्यर्थः—यथा मन्दरस्य मेरो रत्नानां शैलाः
शिलासमूहा यस्मिंस्तादृशे इति । ततो पृथुलानि विपुलानि शैलानि एव तल्पानि पत्यङ्गाः
शय्यास्तैरङ्किते कलिते युक्ते । पुनः किंभूते । स्मिता विकसिता ये द्रुमा वृक्षास्तेभ्यो गलन्ति
वातादिवशात्स्वभावपरिपाकाद्वा निष्पतन्ति यानि मणीचकानि कुसुमानि तेषामुपचारः
प्रकरः 'पगर' इति लोकप्रसिद्धः रचनाविशेषस्तेनाङ्किते सहिते । पुनः किंभूते ।
द्विरेफाणां भ्रमराणां रवा गुञ्जितानि त एव गानितं गीतिर्जातं यस्मिन् तादृशमनिलेन
पवमानेन लुलन्तीनां चपलीभवन्तीनां लतानां विविधजातिवल्लीनां ताण्डवं नाटकं
यस्मिन् । सर्वाण्यप्येतानि चित्रेषणानि भवनेष्वर्थात्संबध्यन्ते । किं चात्र भवनशब्देन
राजमन्दिरादि ग्राह्यम् । तत्र सर्वेऽप्यर्थाः संभवन्त्येव दृश्यन्ते च । अथ वा पुण्याढ्या-
नामाढ्यानामपि भवने भवन्ति शालिभद्रादिमन्दिरवत् इति ॥ युग्मम् ॥

क्वचिद्विकचकानने मधुपगीतिमिश्रां गिरं

जगुर्मृदु फलादनाः श्रुतिसुखां विदग्धा इव ।

क्वचिच्च ननृतुर्नटा इव शिखण्डिनां मण्डला

जगर्ज जलदः क्वचित्करिषटेव भूमीभूतः ॥ ३९ ॥

क्वचित्कुत्रापि शत्रुंजयमेखलाशालिप्रदेशे विकचे विकसितकुसुमितसान्द्रद्रुमद्रोणीके
कानने वने फलादनाः शुकाः मधुपानां कुसुममकरन्दपानोन्मादमेदुरभ्रमराणां गीतिभि-

शुञ्जारवैर्मिश्रां करम्बीकृतां गिरं वाणीं मृदु सुकुमारं मधुरमवृत्तत्वेन श्रवणपुटकनिपी-
यमानं यथा स्यात्तथा जगुर्वदन्ति स्म । के इव । विदग्धा इव । यथा छेका लोका
गीतिमिश्रां वाणीं वदन्ति । किंभूताम् । श्रुत्योः श्रोतृश्रवणयोः सुखां सातोत्पादकत्वेना-
मृतायमानाम् । च पुनः क्वचिद्धनवने शिखण्डिनां परिपूर्णकलापकलितानां मयूराणां
मण्डलाः संततयो नमृतुर्नृत्यन्ति स्म । च पुनः क्वचित्प्रदेशे जलदो मेघो जगर्ज
गर्जति स्म । गिरौ मेघानां सद्भावो वर्ण्यते । उत्प्रेक्ष्यते—भूमीभृतः शत्रुंजयान्ने राज्ञो
वां करिष्येव गजराजीव । ‘बहूनां घटना घटा’ इति हैम्याम् ॥

मरुन्मिथुनमण्डिता खगविनोदसान्द्रीकृता

मरुत्तरुपरंपरा विविधसिद्धसौधान्तरा ।

मणीशिखरशालिनी पुनरनिन्दिताष्टापदा

नितम्बविलसद्वनी भगवतालुलोके गिरौ ॥ ३६ ॥

भगवता हीरसूरिणा गिरौ शत्रुंजयशैले नितम्बे मेखलायां विलसन्ती स्फुरन्ती
शोभमाना वनी काननमालुलोके निरीक्षिता । तीर्थस्थान्यपि सर्वाणि स्थानानि पावनान्येव ।
वनीशब्दोऽन्यत्रापि दृश्यते । यथा ‘यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीयं यदि पाव-
नीकरोति । अवनीतलमेव माननीयं न पुनर्माधवनीवनीविनोदः ॥’ इति कविकल्लोले ।
तथा ‘खवनी संप्रवदत्पिकापि का’ इति नैषधे । किंभूता वनी । मरुतां देवानां मिथुनानि
देवदेवीयुगलानि तैर्मण्डिता अलंकृता । पुनः किंभूता । खगानां विविधजातीयविहङ्ग-
मानां खकामिनीकलितविद्याधराणां वा विद्यासाधकखेचराणां वा विनोदः क्रीडातिरेकः
रसैर्विशिष्टैर्गुरुप्रमुखैः साधनोपायकरणादिषु नोदैः प्रेरणैः सान्द्रीकृता स्नेहलीकृता निबिडा
विहिता वा । पुनः किंभूता । मरुद्भिर्यक्षादिदेवैः अधिष्ठितानाम् । ‘गुह्यको वटवास्यपि’
इति हैम्याम् । तरुणां द्रुमाणां देवद्रुमाणां वा परंपराः श्रेणयो यत्र । पुनः किंभूता । वि-
विधानि नानाप्रकाराणि स्वर्णरूप्यरत्नमयानि वा सिद्धानामर्हतां पुण्डरीकादिमुनीनामेव
सिद्धानां वा सौधानि चैत्यानि सिद्धायतनानि । अथ वा विविधमन्त्रतन्त्रौषधीरससिद्धि-
भाजां सिद्धानां गृहाणि । तत्रस्था हि केचिन्मन्त्रादिसाधनां विदधतो विविधौषधीजि-
घृक्षवोऽपि सौधमाधाय तिष्ठन्तीति तानि अन्तरे मध्ये यस्याः सा । पुनः किंभूता ।
मणीनां शिखरैः शृङ्गैः शालते इत्येवंशीला । पुनः किंभूता । अनिन्दिता श्लाघनीयास्ती-
र्थानुभवेनाक्रूतवात्प्रशंस्याः अष्टापदाः शरभा उपलक्षणादन्येऽपि श्वापदा अष्टापदानि
खानौ स्वर्णानि वा यस्याम् । अत्रापि मेरुमेखलाया अप्यर्थध्वनिः, तत्रापि सुरयुग्मानि
खेचराणां विविधनिधुवनविनोदैः सान्द्रीकृतकंदरान्तराः कल्पद्रुमाश्च सिद्धायतनानि
रत्नशिखराणि स्वर्णमया च ॥

प्रभोः शिरसि भूरुहैर्विदधिरे छदैश्छायिका

निरुद्धरविरश्मिभिः सहचरैरिव स्वांशुकैः ।

अवीज्यत पुनर्जनः कचन तालवृन्तैरिव

प्रसारिश्चरसीकराकलितलोलरम्भादलैः ॥ ३७ ॥

कचन कुत्रापि गिरिमेखलायां भूरुहैः सच्छायतरुभिः कर्तृभिः निरुद्धाः पिहिता आच्छादिता रवेर्भानुमालिनो रश्मयः किरणा यैस्तादृशैश्छदैः स्वर्णैः साधनैः कृत्वा प्रभोः सूरिन्द्रस्य शिरसि मस्तके छायिका भास्करातपावृतयः 'छाहडा' इति जनप्रसिद्धाः विदधिरै कृताः । कैरिव । सहचरैरिव । यथा सेवकलोकैः प्रभोः स्वस्वामिनः शिरसि स्वांशुकैः स्वकीयवसनैः कृत्वा छायिकाः क्रियन्ते । पुनः कचन कुत्रापि स्थाने प्रसारिभिर्विस्तरणशीलैः झराणां शिखरान्तरनिःसरत्पयःप्रवाहाणां सीकरैर्वा तास्ता वारिविन्दुभिः कलितैर्मिश्रीभूतैस्तथा लोलैः पवनान्दोलनचपलीभूतै रम्भाणां कदलीद्रुमाणां दलैः पृथुलपर्णैः कृत्वा जनः अवीज्यत । अर्थाद्गिरिणैव । कथम् । पुनर्वारं वारम् । कैरिव । तालवृन्तैरिव । यथा व्यजनैर्वाज्यते ॥

विदग्धविहगा जयारवमुदीरयन्त्यध्वनि

स्तुतिव्रतजना इवान्तरभिमातिभेत्तुः प्रभोः ।

कचिन्निचितमारुतोपचितकीचकानां कणै-

गुरोर्गुणगणः पुनर्गिरिसुरैरिवोद्गीयते ॥ ३८ ॥

कचित्कापि प्रदेशे विदग्धाः कौतुकक्रीडाकृते अध्याप्य पश्चात् श्रीभूतमहेभ्यैः पञ्चरेभ्यो निजेच्छया गमनाय विमुक्ताः । 'तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्' इत्यपि नैषधदौ दर्शनादिदमपि युक्तिमदेवेति । तथा धावकसंगत्या श्राद्धं च प्रपन्नाः । अत एव तीर्थाधिराजं स्वतिर्यकृतपयोहाय सेवमानाः पण्डिता विहगाः शुकसारिकादयः पक्षिणः अध्वनि शत्रुंजयाचलारोहणमार्गे प्रभोः सूरिन्दोर्जयारवं जयजयेति शब्दमुदीरयन्ति कथयन्ति । किंभूतस्य प्रभोः । अन्तर्मध्ये स्वात्मनि वर्तमानानामभिमातीनां रागद्वेषकषायादिविद्विषां भेतुर्हन्तुः । के इव । स्तुतिव्रतजना इव । यथा स्वामी प्रमुखाणां पूर्वपुरुषकर्तव्यादिषु प्रवर्तमानवृपादिमानां वैरिजयधर्मकार्यदानप्रमुखे विधेये स्तवने व्रतं नियमो येषां तादृशा जना बन्दिलोका वैरिविजेतुः स्वामिनो मङ्गलपाठकाः जयजयारवमुदीरयन्ति । पुनः कचिद्भूमिभागे निचितैरन्तःप्रविष्टत्वान्निभृतैर्निर्वलीभूतैः अथ वा निभृतं परिपूर्णं यथा स्यात्तथा मारुतैः पवनैरुपचिताः पुष्टाः कृताः । समस्तावयवेषु पूरिता इत्यर्थः । ये कीचकाः सकीचकाः सच्छिद्रवशाः । 'स कीचकैर्मास्तपूर्णरन्ध्रैः' इति रघुवंशे । तेषां कणैः शब्दैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—गिरिसुरैः श्रीशत्रुंजयाचलाधिष्ठायकदेवैः कपर्दिचक्रेश्वरीगोमुखप्रमुखैर्गुरोर्हिरसूरैर्गुणानां शमदमसंयमादीनां गणः समूह उद्गीयते उत्प्राबल्येन गानविषयीक्रियते इव ॥

स्वचैत्यचटुलध्वजोपधिकरैरिवाकारय-

न्प्रभञ्जननमद्भूमैः किमतिगौरवं कल्पयन् ।

मनीषिशुकभाषितैरिव सुखागमं प्रश्नय-

ञ्झरञ्झरमुदश्रुभागिरिरभूदुरोरागमे ॥ ३९ ॥

गुरोः सूरीन्द्रस्य आगमे गिरिर्विमलाचलः अद्वैतमोदप्रादुर्भावादिविधः अभूद्भूव । किंभूतः । झरन्तो निष्पतन्तो ये झरा निर्झरवारिधारास्त एव मुदश्रूणि हर्षवाष्पान् भजतीति । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनश्चैत्यानां परमेश्वरप्रासादानां चटुलाः पवनान्दोलनविलोला ये ध्वजा वैजयन्त्यस्त एवोपधिः कपटं येषां तादृशैः करैर्हस्तैः किमाकारयन्नाह-यन्निव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—प्रभञ्जनेन वायुवेगेन नमन्तो नम्रीभवन्तो ये द्रुमाः पादपास्तैः कृत्वा अतिगौरवमतिशायिनीं भक्तिं नमनचरणलगनलक्षणां कल्पयन् कुर्वन्निव । ‘अनुतिष्ठति विदधाति रचयति कल्पयति चेति करणार्थे’ इति क्रियाकलापे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मनीषिणां विविधशास्त्राध्येतॄणां शुकानां कीराणां भाषितैरुक्तिभिर्वचनचातुरीभिः कृत्वा । सुखागमं यूयमत्र सुखेन समाधिना चागता इत्यादि स्वागतप्रश्नयन्निव पृच्छन्निव । अन्यो महात्मा कमपि स्वाभीष्टमभ्यागच्छन्तं विभाव्य चञ्चलकरैराकारयति । तथा नमनपदलगनादिभिर्गौरवं कल्पयति । तथा मधुरया गिरा सुखागमनप्रश्नं कुरुते । तथा हर्षाश्रूण्यपि भजते ॥ इति गुरोर्विमलाचलपट्वारोहणे गिरिमेखलावर्णनम् ॥

क्रमेण धरणीभृतः समधिगत्य सोऽधित्यकां

ददर्श वशिनां शशी चरणमम्बरालम्बिनम् ।

धृतं विमलभूभृतोद्भटभवाभिमातेर्भया-

ज्जनं स्वशरणागतं किमिह रक्षितुं काङ्क्षता ॥ ४० ॥

स वशिनां वशात्मनां जितेन्द्रियाणां मध्ये शमाभृतैरतिशीतलत्वेन विश्वाह्लादकत्वेन च शशी । अत्र षष्ठ्या अलुक्समासे एकमपि पदं प्रणीयते वा । सूरीन्द्रः अम्बरमाकाशमालम्बते संश्रयत्यालिङ्गति इत्येवंशीलं वरणप्राकारं बाह्यसालं ददर्श पश्यति स्म । किं कृत्वा । क्रमेण प्रथमद्वितीयतृतीयादिमेखलारोहणपरिपाट्या धरणीभृतः श्रीशत्रुंजयाद्रेरधिष्ठाकामूर्ध्वभूर्मीं समधिगत्य प्राप्य । ‘अधिगत्य जगत्प्रीतिश्चरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः’ इति नैषधे । ‘अधिगत्य आसाद्य’ इति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—उद्भटः अत्युत्कटो वारयितुमशक्यो यो भवः संसारः स एवाभिमातिः शत्रुस्तस्य भयाद्भीतिः स्वस्यात्मनः शरणे आगतं संप्राप्तं जनं भविकलोकं रक्षितुं त्रातुं पालयितुं निर्भयं कर्तुं काङ्क्षता वाञ्छता विमलभूभृता शत्रुंजयाद्रिणा किमु धृतं कृतं वा ॥

विवेश वशिश्चर्वरीवरयिता नृणां श्रेणिभिः

समं वरणगोपुरं पुरमिवावनीवासवः ।

स धर्मधरणीपतेरिव निवासवेश्मावलीं

व्यलोकत पुरःस्फुरज्जिननिकेतपङ्क्तिं पुनः ॥ ४१ ॥

स वशिनां संयमिनां मध्ये शर्वर्या निशाया वरयिता भर्ता चन्द्रो हीरविजयसूरिर्नृणां यात्रिकसंघलोकानां श्रेणिभिः समं वरणं शत्रुं जयशिखरबाह्यप्राकारस्तस्य गोपुरं प्रतोलीं विवेश प्रविष्टवान् । क इव । अवनीवासव इव । यथा विजयी राजा दिग्जैत्रयात्रां प्रणीय पुरं स्वां राजधानीं नगरीं प्रविशति । पुनरन्यार्थोपन्यासे । स हीरसूरिः पुरोऽग्रे वरणप्रवेशानन्तरमेवाग्रत एव स्फुरन्तीं प्रकटीभवन्तीं दीप्यमानां वा जिनानां तीर्थ-कृतां निकेतानां मन्दिराणाम् । प्रासादानामित्यर्थः । पङ्क्तिं मालिकां व्यलोकत निरीक्षते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—धर्मनामा यो धरणीपतिस्तस्य निवासार्थं वासकृते वेश्मावलीं भवन-राजीमिव ॥ इति शत्रुं जयतीर्थे प्रथमप्राकारे प्रवेशः ॥

मृगेन्द्रशरभाङ्कुशाः परिभवन्ति मां निर्दया

इमां जहि जगत्पतेर्जननि दुःखितामुल्बणाम् ।

इतीव गदितुं गजो भजति यानदम्भेन यां

वृषध्वजजिनप्रसूः प्रथममेव नेमेऽमुना ॥ ४२ ॥

अमुना सूरिचन्द्रेण प्रथमप्राकारप्रवेशे पूर्वमेव सातात्कालिकोत्पन्नकेवलज्ञानेन चतुर्निर्मितसमवसरणमध्ये सिंहासनमधितस्थुषा चतुर्विधसंघस्थापनकृते भरतभूपागमनं प्रतीक्षमाणेन श्रीऋषभदेवेन तीर्थस्थापनसमयात्प्राक् सिद्धिगामुकत्वेन अतीर्थसिद्धत्वेन च अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे प्रथमसिद्धत्वेन वा प्रसिद्धा वृषो वृषभो ध्वजश्चिह्नमूरुलाञ्छनं यस्य स युगादिदेवः स एव जिनः प्रथमतीर्थकृत्तस्य प्रसूर्माता मरुदेवा नेमे नमस्कृता प्रणता । सा का । यां मरुदेवीं यानदम्भेन बाहनच्छलेन गजो हस्ती भजते सेवते । उत्प्रेक्ष्यते—इति गदितुं कथयितुमिव । इति किम् । हे जगत्पतेर्लौक्यनायकस्य जननिर्माता निर्दया निर्याता दया करुणा येभ्यस्तादृशा मृगेन्द्राः केसरिणः तथा शरभा अष्टापदाः । 'हर्यक्षः केसरी इमारिः' तथा 'शरभः कुञ्जरारतिः' इदं द्वयमपि हैम्याम् । तथा शिरसि घातदायकत्वादङ्कुशाः स्रणयः एतत्प्रमुखा मृगयाविधायिव्याधभूपादिकाः मां परिभवन्ति यावद्गजजातिमपि निघ्नन्ति । इमामुल्बणामुत्कटां घातन-लक्षणां दुःखितां दुःखिनो भावं जहि विनाशाय निवारय । हन्तेर्धातोर्हि विषये जहि-रादेशः । यदुक्तं सारस्वते—'जह्येधिशाधिः, हन्तेर्जहिशब्दोऽस्तेरेधिः शास्तेः शाधि-शब्दो निपात्यते हि विषये' इति वक्तुमिव ॥

यदीक्षणजितो मृगः श्रित इवाङ्गकायः क्रमं
मृगध्वजजिनं ततः प्रमुदितः स तं नेमिवान् ।

जिनेन्द्रमजितं पुनर्नजितमान्तरैर्वैरिभिः

कदाचिदपि पद्मिनीप्रियतमस्तमिश्रैरिव ॥ ४३ ॥

स सूरिस्ततो मरुदेवीनमस्कृतैरनन्तरं तं शान्तिकारकत्वेन सर्वत्रापि प्रसिद्धं मृगो हरिणो ध्वजश्चिह्नं यस्य तादृशं जिनं षोडशतीर्थनाथं श्रीशान्तिनाथं नेमिवान् प्रणमति स्म । अयं कसोः प्रत्ययस्य प्रयोगः । स च णवादिबत् ज्ञेयः । किंभूतः सूरिः । प्रमुदितो हृष्टमानसः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् यस्य श्रीशान्तिनाथस्य क्रमं चरणं मृगः सारङ्गः श्रितः समेत्य सेवते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यदीक्षणाभ्यां यस्य नयनाभ्यां जितः श्रिया पराभूत इव अङ्कोऽभिज्ञानमेव कायो वपुर्यस्य तादृशः सन् श्रित इव । पुनरपरविहारे अजितं द्वितीयं जिनेन्द्रं परमेष्ठिनं नेमिवान् प्रणनाम । किंभूतम् । नेति निषेधे । जितं पराभूतं न जितमजितम् । कैः । आन्तरैरन्तरङ्गैः कर्माद्यैर्भाववैरिभिः । कथम् । कदाचिदपि कस्मिन्नपि काले प्रस्तावे । कैरिव । तमिश्रैरिव । यथा अन्धकारैः कदाचिदपि पद्मिनी-प्रियतमो भानुमान् जीयते ॥

स सिद्धगृहवज्जिनं प्रणमति स्म पृथ्वीधर-

प्रणीतजिनमन्दिरे मुनिपुरंदरः संमदात् ।

प्रधान इव पर्षदं क्षितिपतिं स छीपाभिधां

समेत्य वसतिं पुनर्जिनसुधांशुमाराधयत् ॥ ४४ ॥

शत्रुंजयोजयन्तादितीर्थानां करमोचयिता मुनीनां तपागच्छश्रमणानां पुरंदरः अतिशायिलक्ष्मीवत्त्वेन वासवसदृशः सूरिः संमदादानन्दात् पृथ्वीधराभिधेन मण्डपाचलपातिसाहिमन्त्रिणा पथडदेसाधुना निर्मापिते जिनमन्दिरे प्रासादे जिनं भगवन्तं प्रणमति स्म । किंवत् । सिद्धगृहवत् । यथा कश्चिद्विद्याधरो लब्धिमान्वा साधुः सिद्धायतने शाश्वततीर्थकरं नमस्करोति । पुनस्तस्मादन्यत्र स्थाने छीपा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशीं वसतिम् । अत्र तीर्थादौ वसतिशब्देन केवलं चैत्यमेव प्रतिपाद्यते न गृहादि प्रासादं समेत्य जिनांशुसुधांशुर्महद्भद्रारकमाराधयत् भजते स्म । 'वरिवस्यत्यन्वास्ते लुषते शुश्रूषतेऽनुकूलयति । आराध्रोत्याराध्यत्याराधयतीति सेवायाम् ॥' इति क्रियाकलापे । क इव । प्रधान इव । यथा सचिवः पर्षदं सभां समागत्य क्षितिपतिं स्वस्वामि-नृपतिमाराधयति ॥

अवन्दत स टोटराभिधविहारतीर्थेश्वरं

पुनः प्रभुमबीभजद्भसतिमेत्य मौल्हाभिधाम् ।

विलोक्य च कपर्दिनं सकलसंघविघ्नच्छिदं

परंगिरिमिवार्वुदादिमविभुं स्तवैरस्तवीत् ॥ ४९ ॥

स सूरिः टोटरा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशे विहारे प्रासादे तीर्थेश्वरं जिनमवन्दत
नमस्कुरुते स्म । पुनरन्यत्र प्रदेशे मौलहा इत्यभिधा नाम यस्यास्तादृशीं वसतिं चैखं
समेत्य प्रभुं परमेश्वरमबीभजदुपास्ते स्म । च पुनः स सूरिः । उत्प्रेक्ष्यते—परमन्त्रं गिरिं
पर्वतमिव तादृशमर्बुदनामानमादिमविभुमादिनाथं स्तवैः स्तोत्रैः कृत्वा अस्तवीत् स्तौति
स्म । किं कृत्वा । सकलानां विविधदेशागतत्वेन बाहुल्यात्समस्तानां संघानां यात्रिकलो-
कानां विघ्नानामन्तरायाणां छिदं विघातकं कपर्दिनामानं शत्रुं जयस्यादिदेवस्य चाधि-
ष्टायकं यक्षं विलोक्य दृग्गोचरीकृत्य ॥ इति बाह्यप्राकारप्रासादेषु सकलजिनप्रणमनम् ॥
इति मरुदेवीशिखरवर्णनम् ॥

सरस्यनुपमाभिधे शिखरिशेखरे मानसा-

ह्वये तुहिनमेदिनीधर इव क्षिपन्नक्षिणी ।

ततः समधिरूढवान्स शिखरं स्वरारोहणा-

भिधं धृतमिवामुना स्वरधिरोहणायाङ्गिनाम् ॥ ४६ ॥

ततो मरुदेवीशिखरादवतरणानन्तरं सूरिराजहंसः स्वरधिरोहणाभिधमर्थात्स्वर्गा-
रोहणं नाम । अथ वा अक्षरच्युतकप्रदानालंकारेणाधिकारोऽपनीयते गकारश्च प्रदीयते
तदा च स्वर्गारोहणाभिधानं शृङ्गं समधिरूढवान् चढति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गिनां
भविकानां स्वरधिरोहणाय स्वर्गे अधिरोहणार्थममुना शत्रुं जयगिरिणा धृतमिव । सूरिः
किं कुर्वन् । शिखरिणां सर्वपर्वतानां शेखरे अवतंसभूते शिखरिणो विमलद्रोः शेखरे
वा तेजःपालपत्न्या अनुपमदेव्या खानिते कारिते तदभिधेये वा उपमनान्नि सरसि तटाके
अक्षिणी निजनयने क्षिपन् किरन् । पश्यन्नित्यर्थः । कस्मिन्निव । मानसाह्वये इव । यथा
तुहिनभूधरे हिमाचले किमपि शिखरमारोहन् हंसो मानसमित्याह्वयं नाम यस्यैतावता
मानसनान्नि सरसि तटाके दृश्यो क्षिपति । हिमाचलोपरि मानससरसः सद्भावः प्रो-
क्तोऽस्ति । यथा चम्पूकथायाम्—‘सदा हंसाकुलम्’ इति प्राक् प्रोक्तमस्ति ॥

समेत्य मणिसेतुना वृषभकूटमभ्रंकरं

विवेश वरणान्तरे किमपवर्गपूर्गोपुरे ।

विलोक्य स तदन्तिके सचिववस्तुपालेन चो-

ज्ययन्तमवतारितं प्रणमति स्म तत्रार्हतः ॥ ४७ ॥

स हीरसूरिः वरणस्यान्तरे मध्यतनप्राकारमध्ये विवेश प्रविष्टवान् । उत्प्रेक्ष्यते—
अपवर्गो मोक्षः स एव पूर्णगरी तस्या गोपुरं प्रतोलीमिव प्रविशति स्म । किं कृत्वा ।
मणिसेतुना विविधरत्ननिर्मापितपथया अभ्रंकरं गगनमुल्लिखत् वृषभकूटं मूलप्रासादं-

बन्धि शिखरं समेत्य समागत्य । च पुनस्तस्य चरणस्थान्तिके सचिवो वीरधवलधरा-
ध्वप्रधानो यो वस्तुपालस्तेनावतारितं रचनया नवीनं निष्पादितमुज्जयन्तं गिरिनारि-
गिरिप्रपञ्चं विलोक्य । ‘प्रणीय नयनातिथिं स च कुमारदेवीभुवा’ इत्यपि पाठः । तत्र च
पुनः कुमारदेवीसाधो रासराजस्य पत्नी तस्यां भूरुपतिर्यस्य तादृशेन वस्तुपालेनाव-
तारितं प्रतिरूपं कृतमुज्जयन्तं रैवताचलं नयनयोरतिथिं प्राद्युष्टिकं प्रणीय विधाय ।
लोचनगोचरीकृत्येत्यर्थः । स सूरिस्तत्रोज्जयन्तावतारे वस्तुपालविहारे अर्हतः श्रीनेमि-
नाथप्रमुखान् जिनेन्द्रान्नमति स्म ॥

ततः खरहताभिधां वसतिमभ्युपेत्य प्रभुः

स्ववासत इवागतं रचनयात्र नन्दीश्वरम् ।

सराजिमतिकां स्फुरच्चतुरिकां पुनर्नेमिनो

निभाल्य जिनपुंगवानिह तमामनंसीन्मुदा ॥ ४८ ॥

प्रभुर्हीरसूरिः इह खरहतवसतौ मुदा हर्षेण जिनपुंगवान् तमामतिशयेन पञ्चाङ्गप्र-
णतिनमस्तवादिना अनंसीन्नतवान् । किं कृत्वा । ततो रैवतावतार-वस्तुपालवसति-जिन-
पति-नमनानन्तरं खरहत इत्यभिधा यस्यास्तादृशीं वसतिं खरहतनात्रा व्यवहारिणा
स्वनात्रैव कारितप्रासादमभ्युपेत्यागत्य । पुनः किं कृत्वा । नन्दीश्वरमभ्युपेत्य । उत्प्रे-
क्ष्यते—रचनया शिल्पघटनाविशेषेण कृत्वा इह शिखरवसतौ स्ववासतो निजवसन-
स्थानात् अष्टमद्वीपभूमेरागतं संप्राप्तं नन्दीश्वरमष्टमद्वीपलक्षणं द्विपं वा सप्तसादलक्षण-
मिव । पुनः किं कृत्वा । अत्र खरहतवसतौ नेमिनो द्वाविंशतितमतीर्थकृत्नेमिनाथस्य
स्फुरन्तीं रचनाचातुर्येण शोभमानां चतुरिकां ‘चउरी’ इति लोकप्रसिद्धां पाणिग्रहण-
स्थानं निभाल्य दृष्ट्वा । किंभूतां चतुरिकाम् । सराजिमतिकां सह राजीमत्या वर्तते या
सा सराजिमतिका । राजिमतीत्यत्र जिकारो ह्रस्वोऽपि दृश्यते श्रेण्यामिव राजिः
राजी । तथा च ‘स्वामिन्मासुप्रसेनक्षितिपकुलभवां सातुरागां सुरूपां बालां त्यक्त्वा
कथं त्वं बहुमनुजरतां मुक्तिनारीमरूपाम् । वृद्धां मूकामकुल्यां करपदरहितामीहसेऽशे-
षविच्छ्रागित्युक्तो राजिमत्या यदुकुलतिलकः श्रेयसे सोऽस्तु नेमिः ॥’ इति पूर्वसूरिप्र-
णीतस्तवे । तथा ‘काप्यतः’ इति सारस्वतसूत्रेण कापि परे ह्रस्वे राजिमतिका ॥

स घोटकचतुष्टिकादिमगवाक्षजैनालये

चकार च नमस्कृतिं चरणयोजिनोर्वीभृताम् ।

गिरेरिव विशेषके तिलकतोरणे श्रीजिना-

न्पुनर्मुनिमतङ्गजो नवनवैः स्तवैरस्तवीत् ॥ ४९ ॥

स सूरिर्घोटकचतुष्टिका इति आदौ नवमादिमं पदं यत्र तादृशो गवाक्ष इत्यभि-
धानो ‘घोडाचोकी गडख’ इति नाम्नि जैनालये तीर्थकृतसंबन्धिनि मन्दिरे । प्रासादे

इत्यर्थः । च पुनर्जिनोर्वाभृतां जिनराजानां चरणयोः पादयोः नमस्कृतिं प्रणामं चकार । पुनरपि मुनिमतङ्गजः साधुसिन्धुरः तिलकतोरणे 'तिलकुंतोरण' इति नाम्नि विहारे श्रीजिनान् श्रीमत्तीर्थकृतो नवनवैर्नूतनैर्नूतनैः तात्कालिकैः स्वकृतैः स्तवैः स्तोत्रैः अस्तवीत्तुष्टाव । उत्प्रेक्ष्यते—गिरैः श्रीशत्रुंजयाद्रेस्तिलके विशेषके इव ॥

जिनाधिपसभाजनाल्लवविधानबद्धादरा-

रविन्दनयनाजनैः सममलंकृतं सर्वतः ।

जलाधिसुरयौवतैः प्रभुनिनंसयेव स्फुटी-

भवद्विरमुना न्यभाल्यत पतङ्गकुण्डं ततः ॥ ५० ॥

ततस्तत्र तिलकतोरणे जिननमनानन्तरममुना सूरीन्द्रेण पतङ्गकुण्डं सूर्यकुण्डम् । कुण्डशब्दद्विलिङ्गः । 'पेटो मठः कुण्डनीड-' इति लिङ्गावुशासने । न्यभाल्यत ददृशे । किंभूतम् । सर्वतः सर्वेष्वपि प्रदेशेषु सममेव एककालं समलंकृतं सम्यक्प्रकारेण शोभितम् । कैः । जिनाधिपानामृषभदेवतीर्थकृतां सभाजनार्थं पूजाकृते । 'सभाजने प-
श्यति विस्मिते सा सभाजनं तत्र ससर्ज तेषाम्' इति नैषधे । 'तेषां देवानां सभाजनं पूजां ससर्ज चकार' इति तद्वृत्तिः । यः आप्लवः स्नानम् । 'स्नानं सवनमाप्लवः' इति हैम्याम् । तस्य विधाने करणे बद्ध आदरो बहुमानं यैस्तादृशैररविन्दनयनारूपैर्जनैः । स्त्रीसमूहैरित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्ह्यरविजयसूरेर्निनंसयानन्तुमिच्छया स्फुटीभवद्विः प्रकटैर्जौयमानैः जलाधिसुराणां सलिलाधिष्ठायकदेवानां जलदेवतानां यौवतैर्युवतीसमू-
हैरिव ॥ इति द्वितीयप्राकारप्रासादेषु देववन्दनम् ॥

विजित्य कलिना समं दुरितदुर्धरद्वेषिणः

सुखं स्थितिमुपेयुषः शिखरिमण्डलाखण्डले ।

ससालमणिमन्दिरं किमिह धर्मभूमीभुजो

न्यभालयदयं पुरः प्रवरवप्रवेशमार्हतः ॥ ५१ ॥

अयं हीरविजयसूरिः पुरोऽग्रतः अर्हतः ऋषभदेवतीर्थकृतः सत्कः प्रवरः प्रकृष्टः वप्रः प्राकारो यत्र तादृग्वेश्म भवनं ससालं युगादिजिनविहारं न्यभालयत्पश्यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इहास्मिन् शिखरिणां सर्वपर्वतानां मण्डलानां समूहानां मध्ये आखण्डलः शक इवाखण्डले सुखं सातं यथा स्यात्तथा स्थितिं निवासलक्षणामुपेयुषः प्राप्तवतो धर्मनाम्नो भूमिभुजः भूपालस्य सह सालेन प्राकारेण वर्तते यत्तत्ससालं तादृशं मणिम-
न्दिरं किं रत्नगेहमिव सुखं स्थितस्य । किं कृत्वा । कलिना कलिकालेन समं सार्धं दुरितानि पापान्येव दुर्धरानुत्कटान् दुष्टत्वात् द्वेषिणः सपत्नान् विजित्य सर्वात्मना पराभूय ॥

स्फुरत्करतरङ्गितां स्फटिककल्पितारोहणा-

वलीमयममार्गयद्वरणगोपुराभ्यन्तरे ।

विमुच्य मृडमद्रिजापरिभवेन सापहत्यतः

किमम्बरतरङ्गिणीं विदधतीं विरक्तेस्तपः ॥ ५२ ॥

मलीमसजनाह्वैर्निजमपावनीभावुकं

पवित्रयितुमीयुषी किमथ वात्र शत्रुंजये ।

मुरारिमथनोदितस्वतनुजादिविश्लेषजा

सुखादुत सुधाम्बुधिः किमु तनोति तीर्थे तपः ॥ ५३ ॥

अयं सूरिवरणस्य प्राकारस्य गोपुरं प्रतोली तस्याभ्यन्तरे मध्ये स्फुरद्भिः करैः किरणैः कृत्वा तरङ्गः कल्लोलाः संजाता अस्यामिति तरङ्गिता तादृशीं तथा स्फटिकैः श्वेतरत्नैः कल्पितां निर्मितामरोहणानां सोपानानामावलीं श्रेणीममार्गयत्पश्यति स्म । ‘मार्गयति मृगयतेऽपि च मार्गति चेत्याहुरीक्षार्थे’ इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—समान एकः पतिर्यस्याः सापत्नी तस्याः भावः सापत्न्यं ततः कारणाद्विजायाः पार्वत्याः परिभवेन संतापेन । उद्विग्लेध्याहार्यम् । मृडमीश्वरं विमुच्य त्यक्त्वा विरक्तेवैराग्यात्तपो विदधतीं तीर्थे तपस्यन्तीमम्बरतरङ्गिणीं गङ्गामिव । अथ वा पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मलीमसा जाल्या अन्य-जाः कर्मणा महाक्रूरकर्मणो जीवादिघातनान्महापापिनो मलिनजनास्तेषामाह्वैः क्लान-करणादिभिः कृत्वा अपावनीभावुकमपवित्रीभवनशीलं निजमात्मानं पवित्रयितुं पावनी-कर्तुम् । तीर्थसेवया इत्यध्याहार्यम् । अस्मिन् सर्वतीर्थाधिराजे सौराष्ट्रमण्डलकमलाचूडा-मणौ श्रीशत्रुंजये ईयुषी समागतवती किमु । अर्थात्पूर्वप्रतिपादिता गङ्गेव वा । उताथ वा मुरारिणा नारायणेन यन्मथनं मन्दरगिरिणा कृत्वा आमूलाद्विलोडनं तस्मादुदितः प्रादुर्भूतो यः स्वस्य क्षीरसमुद्रस्यात्मनः तनुजानां ‘लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुरा धन्व-न्तरिश्चन्द्रमाः धेनुः कामदुघा सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गना । अश्वः सप्तमुखोऽमृतं हरिधनुः बाह्वो विषं चाम्बुधे रत्नानीति चतुर्दशापि कविभिः संकीर्तितानि स्फुटम् ॥’ एषां चतुर्दशानां मध्ये केचित्पुत्रा आदिशब्दात्काश्चित्पुत्र्यस्तासां विश्लेषो वियोगः तस्माज्जातं यदसुखं सुखादन्यत् विरुद्धं वा सुखस्याभावो वासुखम् । ‘तदन्यत्तद्विरुद्ध-तदभावेषु नञो वर्तमानत्वात् त्रयोऽप्यर्थाः संगच्छन्ते’ इति सारस्वतव्याकरणानुसा-रिवचः । एतावता दुःखं तस्मात्कारणात्सुधाम्बुधिः क्षीरसमुद्रो महानन्दपदप्रापकास्प-देऽत्र शत्रुंजयतीर्थे तपस्तनोति किमु । अशनादित्यागलक्षणं नियमविशेषं करोतीव ॥ युग्मम् ॥ इति सर्वाभ्यन्तरप्राकारप्रतोलीसोपानानि ॥

स हीरविजयप्रभुर्वरणगोपुरं प्राविश-

त्प्रवेशनमिवर्षभध्वजजिनावनीवज्रिणः ।

सुराम्बुधिवधूस्रवेऽम्बुजपरागपिङ्गीभव-

त्सितच्छद इव व्यभासत ततोऽस्य सोपानके ॥ ५४ ॥

अकञ्चरसाहिसंमानितो हीरविजयनामा प्रभुस्तपागणश्रमणस्वामी अर्थात्सूरिः वर-
णस्य मूलप्रासादप्राकारस्य गोपुरं प्रतोलीं प्राविशत् प्रविशति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—ऋषभो
वृषभो ध्वजश्चिह्नमूर्धविषयलाञ्छनं यस्य युगादिरैव जिनानां सामान्यकेवलानां मध्ये
अवन्या भूमेर्वज्रिणः पुरंदरस्य । राज्ञ इत्यर्थः । प्रवेशनं सिंहद्वारमिव । ततो गोपुरप्रवे-
शानन्तरमस्य सर्वाभ्यन्तरवरणगोपुरस्य सोपानके आरोहणगणे सोपानानां समूहः
सोपानकं तस्मिन् । समूहार्थे कप्रत्ययः । हास्तिकादिवत् । सूरिर्व्यभासत संशोभते स्म ।
क इव । सुराणां देवानामम्बुधेः समुद्रस्य वधूः पत्नी एतावता देवनदी तस्याः प्लवे पूरे
गङ्गाप्रवाहे । स्वभावेन पद्मानि पीतकमलानि इत्युच्यन्ते । यथा स्नातस्यास्तुतौ—‘हंसांसा-
हतपद्मरेणुकपिशक्षीराणवाम्भोभृतैः’ इति । तानि च हेमसूरीणां नामग्राहं हैम्यामा-
नीतानि न सन्ति, यथा पराणि वर्णभेदोच्चारणप्रोक्तानि । यथा—‘रक्तोत्पलं कोकनदं
श्वेते तु तत्र कुमुदं नीले तु स्यादिन्दीवरम् । श्यामे तूत्पलं स्यात्कुवलयम्’ इति । तस्मा-
त्तेषां स्वभावात्पीतिमैवावसीयते । ततोऽत्रापि अम्बुजानि पीतपद्मानि अथ वा
कनकमयानीत्यध्याहार्यम् । तेषां परागा रजांसि तैस्तत्संगमात्पिङ्गीभवन्पीतो जायमानः
सितच्छदो राजहंस इव ॥

चतुष्कमधिरोहणात्क्रमविहारयोरन्तरा

व्यलोकत समाजवत्सुकृतभूमिभर्तुः प्रभुः ।

पुनर्मणिहिरण्मयं जिननिकेतनं तत्पुरः

सुधाशवसुधाधरोल्लसितचूलिकाचैत्यवत् ॥ ९९ ॥

प्रभुर्हीरविजयसूरिः अधिरोहणादधस्तनसोपानात्क्रमादुपरितनसोपानागमनात् सोपा-
नक एव स्थितः । यत्र विहारयोर्मूलप्रासादप्राकारयोरन्तरा मध्ये चतुष्कं ‘चौक’ इति
प्रसिद्धम् । प्रासादाङ्गणभूमिमित्यर्थः । व्यलोकत दृष्टवान् । किंवत् । समाजवत् । उत्प्रेक्ष्यते—
सुकृतभूमिभर्तुः धर्माभिधानपार्थिवस्य समाजं सभामिव । पुनरन्यत्तत्पुरः तस्य चतु-
ष्कस्याग्रे मणयः कर्केतनचन्द्रकान्तादिकास्तैर्युक्तं हिरण्मयं स्वर्णप्रधानं रक्तकाञ्चनरचितं
जिननिकेतनमृषभदेवप्रासादं व्यलोकत ददर्श । किंवत् । सुधाममृतमश्नन्तीति सुधाशा
देवास्तेषां वसुधाधरः पर्वतो मेरुगिरिस्तस्योल्लसिता उल्लासं प्राप्ता शोभासंयुक्ता जाता
या चूलिका शिखा अधिल्यका वा तस्याश्चैत्यवत्सिद्धायतनमिव ॥

अथैकविंशतिकाव्यैर्मूलप्रासादवर्णनम्—

तमीश इव तारकैर्ग्रहपतिर्ग्रहौघैरिवा-

सुरेश्वर इवासुरैरिव सुरैः सुरेशः पुनः ।

नरेन्द्र इव मानवैर्वृषभकेतनार्हद्रुहं

गृहैर्लघुभिरर्हतां स्फुरति सर्वतोऽलंकृतम् ॥ ९६ ॥

सर्वतः सर्वास्वपि दिक्षु अर्हतां भगवतां लघुभिरल्पप्रमाणैर्गृहेर्देवकुलिकाभिरलंकृतं
शोभितं वृषभकेतनाहृतः वृषभदेवस्य गृहं चैत्वं स्फुरति दीप्यते । कैः क इव ।
तारकैर्ज्योतिर्मिस्तमीशश्चन्द्र इव । पुनर्ग्रहाणां मङ्गलादीनामोघैः समूहैर्ग्रहपतिः सूर्य इव ।
पुनरसुरैः दानवैरसुरेश्वरो दानवेन्द्रवत् । पुनः सुरैर्देवैः सुरेशो देवेन्द्र इव । पुनर्मानवै-
र्मनुष्यैः नरेन्द्रो राजेव ॥

क्षयं प्रलयकालजं निजमवेक्ष्य साक्षान्मरु-

त्सरिजलरयैरिवाक्षयपदोदयाकाङ्क्षया ।

उपासितुमुपागतैरिह पदारविन्दं प्रभो-

र्व्यलासि सदने वृषध्वजजिनस्य सोपानकैः ॥ ५७ ॥

वृषध्वजजिनस्य युगादिदेवस्य सदने गृहे मूलप्रासादे प्रवेशनमार्गे सोपानकैरारो-
हणैर्व्यलासि शुशुभे । अत्र कः स्वार्थे । उत्प्रेक्ष्यते—न विद्यते क्षयो विनाशो यत्र
तादृशस्य पदस्य स्थानस्य संपदो वा उदय आविर्भावः तस्याकाङ्क्षया वाञ्छया इह
शत्रुंजये प्रभो ऋषभस्य युगादिदेवस्य पदारविन्दं चरणकमलमुपासितुं सेवितुमुपागतैः
समीपे समेतैर्मरुत्सरितो गङ्गाया जलरयैः पयःप्रवाहैरिव । किं कृत्वा उपागतैः । प्रलय-
कालः कल्पान्तषष्ठारकलक्षणः तस्माज्जातं निजमात्मीयं स्वसंबन्धिनं क्षयं विनाशं षष्ठा-
रके क्रमाद्विशुध्यजला रथचक्रमार्गमात्रप्रवाहा गङ्गा भविष्यतीति श्रुतिः । सार्धद्विषष्टि-
योजनमानजलप्लवो विशोध्य द्विहस्तप्रमाणप्रवाहो भविता इति । अल्पशब्दस्याभाववा-
चित्वात्क्षय एव साक्षादागमोक्तवाक्यात्प्रत्यक्षेणैवावेक्ष्य दृष्ट्वा । ज्ञात्वा इत्यर्थः ॥

इमा अनिशनिम्नगा बत जडाशया वक्रतां

वहन्त्यहरहस्तथा सप्रतिकूलवृत्तिप्रथाः ।

श्रितोत्पलमधुव्रतान्कृतकुलक्षयैराश्रिता

धरन्ति च पदे पदे भुवनभङ्गरङ्गं पुनः ॥ ५८ ॥

नमन्निकटवर्तिनामवनिजन्मनां धातुकाः

स्वकीयवचनीयतामिति जिघांसुभिः सिन्धुभिः ।

निषेवितुमिव प्रभोः पुर उपागताभिर्वभे

यदाससदनाग्रतो विविधरत्नसोपानकैः ॥ ५९ ॥

यस्य श्रीशत्रुंजयसंबन्धिनः आससदनस्य मूलजिनगृहस्याग्रतः पुरस्ताद्विघ्नानां ना-
नाप्रकाराणां रत्नानां मणीनां सोपानकैः । स्वार्थे कप्रत्ययः । आरोहणैर्वा बभे शुशुभे । उत्प्रे-
क्ष्यते—निषेवितुमर्थात् युगादिजिनमुपासितुं प्रभोः ऋषभदेवस्य पुरोऽग्रे उपागताभिः
संप्राप्ताभिः सिन्धुभिर्नदीभिरिव । किं कर्तुकामाभिः । इत्यमुना प्रकारेण स्वकीयामा-

त्मीयां वचनीयतामपवादं जननिन्दां जिघांशुभिर्हन्तुमिच्छुमिरिव । इति किम् । यत्
 इमाः सिन्धवः अनिशं निरन्तरं निम्नगा नीचगामिन्यः । वत इति खेदे । पुनर्जडाशया
 मन्दमनस्काः जडिमाश्रितचित्ताः डलयोरैक्याज्जलभूताः । तथा अहरहः प्रतिवासरं वक्रतां
 कुटिलभावं वहन्ति धारयन्ति । तथा पुनरर्थे सप्रतिकूलवृत्तिप्रथाः सह प्रतिकूलवृत्तेः प्रति-
 लोमवर्तनस्य प्रथया विस्तारेण वर्तन्ते याः । तत्त्वतस्तु कूलं कूलं प्रति मर्यादामेदिनी
 प्रवृत्तेः प्रवर्तनस्य पथः प्रवहणस्य प्रथाभिः सह वर्तन्ते । ह्यादिसंयोगे क्वचिद्विधुरेव
 गण्यते । यथा—‘बहुलभ्रामरमेचकतामसे’ इति वृत्तरत्नाकरवृत्तौ काव्यकल्पलतायां
 च । इति न दोषः । पुनरिमाः श्रितमङ्गीकृतमुत्कृष्टं पलं मांसं यैस्तादृशान्मांसखादकान्
 मधु मद्यमेव व्रतं मयं विना वयं नान्यत्पिबाम इति नियमो येषां तान् । तत्त्वतस्तु से-
 वितकुवलयान् भ्रमरान् । पुनः कृतो विहितः कुलानां खान्वयानां क्षयो विनाशो यैस्तै-
 र्मेत्स्यैराश्रिताः । पुनरिमाः पदे पदे स्थाने स्थाने भुवनानां जगतां भङ्गे विनाशे रङ्गं रागं
 श्रयन्ति । तत्त्वतस्तु भुवनानां पानीयानाम् । ‘नीरं वारि जलं दलं कमुदकं पानीयमम्भः
 कुशं तोयं जीवनजीवनीयसलिलाणीस्यम्बु वाः शंबरम् । क्षीरं पुष्करमेघपुष्पकमल-
 न्यायः पयःपाथसी कीलालं भुवनं वनं घनरसो यादोनिवासोऽमृतम्’ ॥ इति हैम्याम् ।
 भङ्गाः कल्लोलाः । ‘तरङ्गे भङ्गवीच्युर्मिः’ इत्यपि हैम्याम् । तैरङ्गं श्रयन्ति । पुनरिमा न-
 भन्तो नभ्रीभवन्तः पादयोलगन्तः तथा निकटे समीपे वर्तन्ते आजीविकां कुर्वन्तीत्येवं-
 शीलास्तादृशानामवनिजन्मनामवन्यां भूमावेव जन्मावतारो येषां त्रसानां द्वित्रिचतुःपञ्चे-
 न्द्रियाणां तिरश्चां तथा । खेचरजलचरभूचराणामवन्यामेवोत्पत्तिर्न तु देववृद्धादौ, स्थाव-
 राणां तूभयत्रापि दृश्यमानत्वात्त्रसानामुपादानम् । तत्त्वतस्तु अवनिजन्मनां वृक्षाणाम् । घा-
 तुका हननशीला इति स्वापदं निराकर्तुंकामाभिः ॥ युग्मम् ॥ इति मूलप्रासादसोपानानि ॥

जिनेन्द्रसदनाग्रतोऽद्युतदनल्पशिल्पोल्लस-

त्सुवर्णमणितोरणं शिवसुधाब्धिजाकार्मणम् ।

निबद्धमपवर्गपूः प्रथमसाधनप्रक्रमे

जिनावनिबिडौजसः किमिह मुक्तिगेहे गिरौ ॥ ६० ॥

जिनेन्द्रस्य ऋषभस्वामिनः सदनस्य प्रासादस्याग्रतः पुरस्तात् द्वाराग्रे अनल्पैर्बहुभिर-
 नेकजातीयैः शिल्पैर्विश्रानै रचनाविशेषैरुल्लसद्दीप्यमानं सुवर्णानां मणीनां सुवर्णमणिभिर्वा
 घटितं स्वर्णमाणिक्यमयं वा तोरणमद्युतत् द्योतते स्म दिदीपे । किंभूतं तोरणम् ।
 शिवं मुक्तिरेव सुधाब्धिजा क्षीरसमुद्रपुत्री लक्ष्मीस्तस्याः कार्मणं संवननम् । वशिक्रिया-
 करणमित्यर्थः । उप्रेक्ष्यते—इहास्मिन्मुक्तिगेहे गिरौ शत्रुंजयशैले ‘विमलगिरिमुत्ति-
 निलु’ इति शत्रुंजयकल्पे । तथा ‘मुक्तिगेहः श्रियः पदम्’ इति शत्रुंजयमाहात्म्ये ।
 जिनावनिबिडौजसः श्रीजिनराजस्य अपवर्गो मोक्षः स एव पूर्णगरी तस्याः प्रथममादित
 एव साधनं स्वायत्तीकरणं तस्य प्रक्रमे प्रारम्भे निबद्धं रचितमिव । राज्ञा हि नवीनग-
 रग्रहणे पूर्वं तत्र तोरणं बध्यते इति रीतिः ॥

निजस्य बहलीभवत्यपि महोत्सवे द्वारि मां
जना असहजा इव प्रतिपदं निबध्नन्त्यमी ।

जहीति मम दुःखितां किमिति वक्तुकामं प्रभोः

पुरः स्थितमुपेत्य यजिननिकेतने तोरणम् ॥ ६१ ॥

यद्यस्मिन् जिनस्यार्हतो निकेतने गृहे मूलविहारे उपेत्य कुतश्चिदागत्य तोरणं स्थितं तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोः ऋषभदेवस्य पुर इत्यमुना प्रकारेण वक्तुकामं कथयितुमीहमानं किं स्थितमिव । इति किम् । हे प्रभो, निजस्यात्मनः निजस्यात्मीयस्य वा कस्यचिन्महोत्सवे अतिशायिनि महे बहलीभवति सान्द्रे निविडे निरन्तरं जायमाने सति असहजा वैरिण इवामी भूमीलोकवर्तिनो लोका मां तोरणं प्रतिपदं स्थाने स्थाने गृहद्वारि बहिस्तान्मार्गे वा निबध्नन्ति इत्यमुना प्रकारेण विद्यमानां मम दुःखमस्यास्तीति दुःखी दुःखिनो भावो दुःखिता तामसुखवत्तां जहि व्यापादय । निवारयेति यावत् ॥ इति तोरणम् ॥

यदीयविभवैः पराजितजगन्नयस्पर्धिभिः

स्वकीयमुपदीकृतं विजितवैजयन्तेन किम् ।

दधार मणिमण्डपं किरणखण्डिताखण्डरु-

क्वप्रचण्डरविमण्डलं वृषभतीर्थकृन्मन्दिरे ॥ ६२ ॥

वृषभतीर्थकृतो युगादिदेवस्य मन्दिरं कर्तुः किरणैः प्रतिदिशं प्रसरज्जोतिर्दण्डैः खण्डितं तिरस्कृतमखण्डाभिरक्षताभिः क्वचिदप्यप्रतिहताभिः रुग्भिः प्रचण्डं दुरालोकं रवेर्भास्करस्य मण्डलं बिम्बं येन तादृशं मणिमण्डपं विविधरत्नघटितजनाश्रयं दधार धत्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पराजिताः पराभवं लम्बिता जगन्नय्याल्लौक्यस्य त्रिभुवनसं-बन्धिनः स्पर्धिनस्तुल्यविभवत्वेन संघर्षणशीला यैस्तादृशैर्यदीयविभवैः ऋषभदेवप्रासादसंबन्धिभिर्विभ्रमैः शोभातिशयैर्विजितेन परिभवं नीतेन वैजयन्तेन इन्द्रप्रासादेन उपदीकृतं दौकितं स्वकीयमात्मसंबन्धिनमर्थोक्तं मणिमण्डपमिव ॥

अनन्यशिवकन्यकां मनसि धर्मभूमीभृता

प्रदातुमिह काङ्क्षतोचितवराय कसैचन ।

स्वयंवरणमण्डपं मणिसुवर्णाचित्रश्रिया-

श्रितः किमु विधापितः स्फुरति यन्महामण्डपः ॥ ६३ ॥

यस्य मूलप्रासादस्य महान् गगनाङ्गणालिङ्गी मण्डपः स्फुरति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्यामसाधारणीं सर्वातिशायिनीं शिवकन्यकां मुक्तिकुमारिकां कसैचनानिर्दिष्टनाम्ने उचिताय भव्यादिसामग्रीभृते योग्याय वराय प्रधानाय परिणयनकामाय पुरुषाय इह

सिद्धशैले प्रदालुमिच्छता पाणिं प्राहयितुं वाञ्छता धर्मनाम्ना भूमीभृता राज्ञा मणीनां
रत्नानां चन्द्रकान्तादीनामुपलक्षणात्कैतनादीनां सुवर्णानां काञ्चनानां चित्राण्यालेख्यानि
तेषां श्रिया अथ वा चित्रकारिण्या आश्चर्यविधायिन्या शोभयाञ्जितः कलितः स्वयं-
वरणमण्डपः स्वयं स्वेच्छया, न तु पित्रादिपारतन्त्र्यात्, वरणमर्थोत्वाभीप्सितवरयितुः
कण्ठपीठे वरमालाक्षेपणेन स्वीकरणं यत्र तादृशो विधापितः किमु शिल्पिना निर्मा-
पित इव ॥

अवेत्य कलितौकसं नभसि सिंहिकानन्दनं

वनान्मिलितुमागताः किमिह गोत्रहार्दादमी ।

यदाप्तगृहकंधरास्फुरदमानपञ्चाननाः

परां श्रियमशिश्रियन्नमृतकान्तिकान्तद्विषः ॥ ६४ ॥

यस्य विमलाचलशिखरिशेखरस्याप्तगृहस्य जैनप्रासादस्य कंधरायां शिखरोपत्यकायां
स्फुरन्तो दृश्यमानाः शोभमाना वा अमानाः प्रमाणातीताः अतिबहवो ये पञ्चानना
मृगेन्द्राः । ‘यदनेककसौधकंधराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव’ इति नैषधेऽपि । परां प्रकृष्टां
श्रियं शोभामशिश्रियन् लभन्ते स्म । किंभूताः । अमृतकान्तिकान्ताश्चन्द्रमणयस्तेषां द्विषः
श्वेतमविभ्रमवैरिणः । उत्प्रेक्ष्यते—नभसि आकाशे कलितौकसं निर्मितनिकेतनम् ।
गगनस्थायिनमित्यर्थः । सिंहिकानन्दनं स्वर्भाणुं केसरिणं वा अवेत्य ज्ञात्वा गोत्रस्य
ज्ञातेर्हार्दात् । तेहला हि खजनाः खजनं प्रस्तावे मिलितुमायान्त्येवेति प्रथमव्यवहारतः
वनात्खकाननात्सकाशात् अमी प्रत्यक्षलक्ष्याः पारीन्द्राः मिलितुं मिलनार्थमिह प्रासा-
दोपरितनप्रदेशे आगताः समेता इव ॥

वने वसतिरेकिका जनुषि नः प्रसूतिः परि-

च्छदो न कदनं सदा पुनरनेकपानां हहा ।

जहीत्यसुखमाशु नः किमिति भाषितुं नाभिजं

भजन्ति गृहकंधरागतमृगेश्वराः श्रीजिनम् ॥ ६५ ॥

गृहकंधरायामर्थोज्ज्वलसदनशिखरोपत्यकायां गताः शिल्पेन स्थिताः मृगेश्वराः केस-
रिणः नाभेर्नाम्नो नृपाज्जायते स्म इति नाभिजः अथ च नाभेस्तुन्दकूपिकाया जायते
स्मेति नारायणनाभिपुण्डरीकोत्पन्नं ब्रह्माणं श्रिया अतिशयलक्ष्म्या युक्तो जिनस्तीर्थकृतं
तथा श्रिया समुद्रनन्दिन्या युतो जिनो नारायणस्तं भजन्ते सेवन्ते । इत्यमुना प्रकारेण
नोऽस्माकमसुखं दुःखं जहि घातय । इति किम् । हे जगन्नाथ, नोऽस्माकं वसति-
र्वाचो वने न च नगरादौ । पुनर्जनुषि अखिलेऽप्यवतारे एकैव प्रसूतिः संतानमेकमेव
नान्यत् । ‘एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्’ इति वचनात् । पुनः परिच्छदः
परिवारोऽपि न खवपुःसहायत्वमेव । पुनर्हहा इति खेदे । सदा सर्वकालमपि अनेका-

न्बहून् लोकान् पान्ति आजीविकाभिः रक्षयन्ति पालयन्तीत्यनेकपाः । 'बन्धनस्थोऽपि मातङ्गः परेषां मरणक्षमः' इति सूक्तवचनात् । सन्तो हस्तिनश्च तेषां कदनं व्यापादनं मारणम् । 'निर्घ्नन्धनं प्रमथनं कदनं निबर्हणम्' इति हैम्याम् । घातनाभिधानानि ॥ इति चैत्यकंधरामृगेन्द्राः ॥

युगादिजिनमन्दिरे शिखरमम्बराडम्बरं

विडम्बयति चण्डरुक्मिरणमण्डलं वैभवैः ।

पुनर्निजसपक्षतामिव समीहमानो जिनं

भजन्नमरभूधरो भुवनकामितस्वस्तरुम् ॥ ६६ ॥

युगादिजिनः प्रथमतीर्थकरस्तस्य मन्दिरं गृहं प्रासादस्तत्राम्बरे आकाशे आडम्बरः शोभातिशयो यस्य तादृशं शिखरं शृङ्गं वैभवैः सुषमाभिः कृत्वा चण्डरुचः सूर्यस्य किरणमण्डलं ज्योतिःपुञ्जं विडम्बयति धिक्करोति अनुकरोति वा । यदुक्तम्—'विकल्यति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति । अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देवः ॥' इति चम्पूकथायां विडम्बनार्थः । 'पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्कासचामरः । ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥' इति रघौ । अनुकरणार्थेऽत्र । इत्यर्थद्वयमपि । उत्प्रेक्ष्यते—पुनर्द्वितीयवारमिन्द्रेण छिन्नपक्षत्वात् अपरवेलायां निजस्यात्मनः सपक्षतां पक्षयुक्तलम् । पूर्वं सर्वेऽपि पर्वताः सपक्षा आसन् । ततः स्वेच्छयोद्गीयोद्गीय यत्र तत्राप्यकाण्ड एवातर्किता आगत्य पतन्तः सन्तः पृथिवीमतीव व्याकुलीकुर्वन्ति स्म । ततः पृथिवी स्वर्लोके पुरंदरपुरो गत्वा मुत्करोति स्म । तदनु दम्भोलिपाणिना सादरं सत्वेहं पृष्टा सती लोचनयुगलगलद्वाष्पपयःप्लवा सगद्गदस्वरं कथं कथमपि कथयामास । यत् 'मध्यमलोके समग्रा अपि गिरयः सपक्षलाद्यथाकाममुत्पत्योत्पत्य स्वरचित्तस्थाने निपतन्तो मामतिभारभङ्गुरगात्रां कुर्वाणाः खेदखिन्नमनस्कां विदधते । तस्मादहं तदतिगरिमोद्गारिस्फारभारासासहितया पातालमूलं प्रवेक्ष्यामि ।' इति वसुधावचनश्रवणानन्तरं संजातातिकोपेन पुरदूतेन स्वपाणिप्रज्वलज्जोतिर्ज्वालाकरालदम्भोलिना कृत्वा सर्वेषामपि पर्वतानां पक्षाः क्षणाच्छेदिताः—इति पुराणोक्तिः श्रूयते । अथ पुनः पक्षाभ्यां सहितत्वं समीहमानो बाञ्छन् भुवनानां तात्स्थ्यात्तद्वचपदेशाद्भिभुवनजनानां सुरासुरनराणां कामिते वाञ्छितप्रदाने स्वस्तरुं कल्पवृक्षं तादृशं नाभेयं देवं भजन् सेवमानः अमरभूधरो मेरुरिव ॥

अवेत्य जगदीहितं प्रददतं कदम्बाचलं

द्विधापि वसुधातलेऽखिलमहाभयालम्बिनम् ।

दरेण धरवैरिणः किमु भजन्ति यं भूधरा

यदल्पशिखरच्छलाल्पिततनूलतालम्बिनः ॥ ६७ ॥

यस्य प्रासादस्य अल्पानि मूलशिखरापेक्षया लघूनि यानि शिखराणि शृङ्गाणि तेषां छलेन कपटेन अल्पिता अल्पाः कुर्वन्तीति अल्पयन्ति अल्पयन्ते स्मेत्यल्पिताः अल्पाः कृताः । 'मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः' इति नैषधे । यास्तनूलताः शरीरयष्टीरालम्बन्ते आश्रयन्ते इत्येवंशीला भूधराः पर्वताः कदम्बाचलं शत्रुंजयशैलम् । 'लोहिन्वड तालज्जड कयंबुत्ति' इति शत्रुंजयकल्पे कदम्ब इत्यभिधानम्, तथा एकचत्वारिंशदभिधानेष्वपि कदम्बाभिधास्तीति । यं कदम्बाचलं भजन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—धराणां गिरीणां वैरिणः शत्रोरिन्द्रस्य दरेण किमु भयेनेव । किं कृत्वा । वसुधातले भूमण्डले द्विधापि द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् ऐहिकामुष्मिकभेदात् जगतां भुवनानामीहितमनीप्सितं प्रददत् प्रकर्षेण सर्वोत्कृष्टतया विश्राणयन्तम् । अर्थात्स्वसेवाकारिणं शत्रुंजयाद्रिमवेत्य ज्ञात्वा । तथा अखिलानां समस्तानां महाभयानां रोगगज-मृगेन्द्रदवानलविषधरसंयामसमुद्रवैरशत्रुप्रभृतीनां प्रबलभीतीनामालम्भो व्यापादनमस्मास्तीति अर्थात्स्वाश्रितानां तादृशं वयमवेत्य शास्त्रवचसा लोकपरंपरया वा ज्ञात्वा ॥

जगद्गिरिविजित्त्वरं महिमभिर्महीभृद्भरै-

रवेत्य भुवि भूधराभिनवसार्वभौमं नगम् ।

स्वबालशिखरैरमुं किमु न सेवितुं प्रेषितैः

कुमारशिखरैर्बभे यदतितुङ्गशृङ्गाश्रयैः ॥ ६८ ॥

यदतितुङ्गे यस्य प्रासादस्य अतिशयेन गगनालिङ्गित्वेन अत्युच्चैस्तरै महति शृङ्गे मूल-शिखरे आश्रयो निवासो येषाम् । मूलशृङ्गे लगन्ति अनेकानि अन्यानि अल्पानि शिखराणि भवन्तीति प्रत्यक्षमपि लक्ष्यते । तादृशैः कुमारशिखरैर्लघुशृङ्गैः बभे शुशुभे । कुमारशब्दोऽत्र केवलं लघुत्वमेव वक्ति । यथा नैषधे—'रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरा रवेः' । अत्र तु कुमारितरा रवेः । कुमारितरा प्रथमनिर्गतत्वेन लघ्वी रुचिः कान्तिः । तथात्रापि महच्छिखरापेक्षया लघूनि अत एव कुमाराणि शृङ्गाणि इति । उत्प्रेक्ष्यते—महीभृतां भरैर्गिरीणां गणैः राज्ञां चकैश्च भुवि पृथिव्यां भूधराणां शैलानां भूपतीनां च मध्ये अभिनवं नवीनं प्रादुर्भूतं सार्वभौमं चक्रवर्तिनममुं नगं शत्रुंजयाचलमवेत्य विज्ञाय तं सेवितुमुपासितुं प्रेषितैः स्वबालशिखरैः किमु निजनिजडिम्भशृङ्गैरिव । राजानो हि चतुर्दशस्वप्नसूचितनवीनोत्पन्नचक्रवर्तिनं विज्ञाय स्वस्वकुमारनन्दनांस्तत्सेवार्थं प्रेषयन्तीति स्थितिः । यथा कल्पसूत्रव्याख्याने महावीरचरित्रे—'गजवृषभपञ्चाननादिमचतुर्दशस्वप्नसूचितमहावीरदेवजन्म ज्ञात्वा श्रेणिकचण्डप्रद्योतादयः कुमाराः सेवार्थं स्वपितृभिः प्रहिताः । इति किम् । नगं महिमभिस्तुङ्गताभिः । यदुक्तम्—'सर्वेषामपि शैलानामुन्नतो विमलाचलः । यदारोहेण लोकाग्रं प्राप्यते बालकैरपि ॥' इति वचनात्तुङ्गिमा । माहात्म्यमस्य तु सर्वेभ्योऽभ्यधिकं प्रसिद्धमेवास्ति । जगत्सु विश्वेषु ये गिरयः पर्वताः पर्वतप्रायाः उच्चैस्तरत्वेनाभिमानितया वा तुङ्गा । यथा—'तं मानतु-

ह्रमवशात्समुपैति लक्ष्मीः' इति भक्तामरस्तवे । तेषां विजित्वरं जयनशीलम् ॥ इति शिखरम् ॥

धनादि जगदीहितं प्रभवितास्मि दातुं पुनः

शिवादिकमलाकरं प्रणय मां प्रभो त्वामिव ।

इतीव जगदीश्वरं गदितुमुत्सुकीभावुकः

समेत्य सुमनोनिपो भजति चैत्यशृङ्गे स्थितः ॥ ६९ ॥

सुमनोनिपः कामकुम्भः समेत्य स्वर्गादागल्य चैत्यशृङ्गे प्रासादशिखरे स्थितस्तिष्ठन् सन् जगदीश्वरं त्रिभुवननायकं श्रीकृष्णभदेवं भजति उपास्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण गदितुं कथयितुमुत्सुकीभावुकः उत्कण्ठीभवनशीलः सन्निव । इति किम् । हे प्रभो त्रैलोक्यनाथ, अहं धनादि द्रव्यभोज्यवस्त्राभरणादिकं जगदीहितं जनमनःकामितं दातुं प्रभवितास्मि समर्था भवामि । पुनस्त्वं मां शिवादिकमलाकरं स्वर्गापवर्गप्रमुखलक्ष्मीकारकं प्रणय कुरु । कस्मिव । त्वामिव । यथा त्वां स्वःसिद्धिकमलाकारिणं निगदन्ति ॥

विधास्यति विभोरहर्निशमुपास्तिमभ्येत्य यः

स मद्भद्रमृतस्फुरन्नुपरिसंस्थितिं लप्स्यते ।

विसृत्वरविनिःसरत्करभरैरिदं प्राणिनां

पुरः प्रवदतीव यत्कनककृतकुम्भः स्वयम् ॥ ७० ॥

यस्य चैत्यस्य कनकेन काञ्चनेन कृतो रचितः कुम्भः कलशः विसृत्वरैः प्रसरणशीलः विनिःसरद्भिर्बहिर्निर्गच्छद्भिः करभरैः किरणसमूहैः हस्तसंघातैश्च कृत्वा स्वयमात्मना प्राणिनां सर्वेषां जगज्जन्तूनां पुरः पुरस्तात् इदमेतस्मिन्नेव काव्ये कथ्यमानं प्रवदति प्रकपेण कथयतीव । इदं किम् । हे प्राणिनः, यो जनः अभ्येत्य भगवत्पार्थ्वे समागल्य अहर्निशमहोरात्रं विभोः कृष्णभदेवस्योपास्ति सेवां विधास्यति करिष्यति स पुमान् अमृते मोक्षे स्फुरन् कर्मराहिल्याब्धोतिर्मयत्वाद्दीप्यमानः सन् उपरि त्रिभुवनस्याप्युपरितनप्रदेशे लोकाग्रे संस्थितिं निवासं लप्स्यते प्राप्स्यति । किंवत् । मद्भद्रम् । यथाहं पार्थिवः कलशोऽहर्निशं विभुं सेवमानः अमृतेन पानीयेन स्फुरन् पूर्णत्वेन प्रकटीभवन् सर्वेषामपि चक्षुर्लक्ष्यः संपद्यमानः सन् उपरि जनमस्तकोपरि संस्थितिं लभे प्राप्नोमि ॥ इति चैत्यकलशः ॥

विभाव्य भुवनत्रये स्वविभवाङ्गकारव्रजा-

न्विजेतुमनसामुना किमु जिनेशितुः सद्मना ।

सपत्ननिवहस्याम्बुनिधिमाथमन्थाचलं

शिरःशिखरसंस्फुरन्निविडदण्डरत्नं दधे ॥ ७१ ॥

चैत्यशिखरे दण्डो भातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—अमुना ऋषभकूटकमलामौलिचू-
डामणिना जिनेशितुर्वृषभदेवस्वामिनः सद्गना मन्दिरेण ऋषभचैत्येन शिरःशिखरे
उपरितनश्यङ्गे संस्फुरत् वज्ररत्ननिमित्तत्वात् दीप्यमानं दृश्यमानं वा निविडं दृढमभेद्यं
दण्डरत्नं दधे किमु धृतमिव । किंभूतम् । सपत्नानां वैरिणां निवहस्य गणस्य यः स्मयः
अहंकारः स एवाम्बुनिधिः समुद्रः तस्य माथे मथने मन्थान्चलं क्षुब्धपर्वतं मन्दरगिरिम् ।
'पाथोधिमाथसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणम्' इति, तथा 'मन्थानगः स भुजगप्रभु-
वेष्टिघृष्टिः' इति द्वयमपि नैषधे । किंभूतेन सद्गना । विजेतुमनसा पराभवितुकामेन ।
अर्थात्स्वस्पर्धितभुवनत्रये नाकिनागगेहमहीत्रितये स्वेषामात्मीयानां विभवानां शोभा-
तिशयानामङ्गकाराणां जैत्रप्रतिमल्लानां व्रजान् समूहान्विभाव्य विलोक्य विज्ञाय वा ।
'दूरं गौरगणैरहंकृतिभृतां जैशङ्करे चरत' इति नैषधे ॥

निभात्य नलिनीधवं स्वविभवेन संस्पर्धितां

दधानमधिकं कुबोद्धुषितवर्ष्मणार्चिर्मिषात् ।

जिनाधिपतिवेश्मना सुरपथे स्वदण्डस्फुर-

त्करः परिवुभूषया द्विष इवैष ऊर्ध्वीकृतः ॥ ७२ ॥

निभात्य नलिनीधवं दण्डो दीप्यते । जिनाधिपतेर्वृषभस्वामिनो वेश्मना मन्दिरेण
विहारेण एष सर्वजनप्रत्यक्षः स्वस्यात्मनो यो दण्डः स एव स्फुरन् प्रकटीभवन्करो
द्वस्तः द्विषो भास्वलक्षणवैरिणः परिवुभूषया चपेटासुष्टिप्रहारादिभिः पराभवितुमिच्छया
सुरपथे आकाशे ऊर्ध्वीकृत उन्नतो विहित इव । किंभूतेन वेश्मना । अर्चिर्मिषात्सर्वतः
स्फुरत्कान्तिकपटात् अधिकं यथा स्यात्तथा कुधा कोपेन कृत्वा उद्धुषितमुत्कण्ठकितं
प्रोच्चैर्भूतरोमराजि वर्ष्म शरीरं यस्य । किं कृत्वा । स्वेनात्मीयेन विभवेन शोभासमुदायेन
सार्धं संस्पर्धितां सम्यक् मनसा वचसा कायेन च स्पर्धनशीलतां दधानं बिभ्राणं नलि-
नीधवम् । 'नलिनीप्रेमनिबद्धो मानसगमनाय सत्वारो हंसः । न च गच्छति न च तिष्ठति
उभयसव्याकुलीभूतः ॥' भास्करं निभात्य दृष्ट्वा ॥ इति चैत्यशृङ्गदण्डः ॥

विजित्वरविभूतिभिः प्रतिपदं परिस्पर्धिनो

विजित्य जिनसद्गना जगति वैजयन्तादिकान् ।

द्विषद्विजयबोधिकाध्रियत मूर्ध्नि मन्येऽमुना

विहारशिखरे मरुत्तरलवैजयन्ती व्यभात् ॥ ७३ ॥

विहारस्य ऋषभचैत्यस्य शिखरे उच्चशृङ्गे मरुता पवनवेगेन तरला चञ्चला अन्दो-
लायमाना वैजयन्ती महापताका व्यभाद्भासते स्म । तत्राहमेवं मन्ये विचारयासि ।
उत्प्रेक्ष्यते वा—अमुना सर्वप्रासादमूलभूतेन जिनगृहेण युगादिजिनचैत्येन प्रतिपदं
पाताललोके खलोके भूलोके च स्थाने स्थाने क्रमं क्रमं वा । निजेनात्मना सह स्पर्धिनः

स्पर्धाविधायिनः विरोधिनो वा जगति विश्वे वैजयन्त इन्द्रप्रासाद आदौ येषां ते । स्वार्थं के । आदिकास्तान्विजित्वरीभिः प्रतिस्पर्धिनां विशेषेण जयनशीलाभिः पुंवद्भावे विभूतिभिः स्वश्रीभिर्विजित्य पराभूय द्विषतां सर्ववैरिणां विजयस्य पराभवनस्य बोधिकां ज्ञापयित्रीं परेषां कथनशीलां मूर्ध्नि निजमस्तके वैजयन्ती ध्वजोऽग्नियत धृतेव ॥

दिनं दिनमुदीत्वरद्युमणिचण्डिमाडम्बरो-

द्भुरप्रसृमरप्रभाप्रकरतापसंतापितः ।

रसं रसितुमम्बराम्बुधिवधूप्रवाहान्तरे

दिवि प्रकटितो ध्वजः स्वरसनेव जैनौकसा ॥ ७४ ॥

ध्वजो राजते इति संबन्धः । जैनौकसा अर्हत्प्रासादेन भगवत्संबन्धिविहारेण अम्बरस्याकाशस्य या अम्बुधेः समुद्रस्य बधूः पत्नी नदी एतावता गगनापगा स्वर्गङ्गा तस्याः प्रवाहस्य पयःपुरस्यान्तरे मध्ये रसं पानीयं रसितुं पातुम् । 'क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत्' इति भक्तामरस्तोत्रे । दिवि आकाशे । उच्चैरित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते— प्रकटिता स्फुटीकृता वक्त्राद्बहिर्विहिता ध्वजरूपा पताका काया स्वरसना आत्मजिह्वेव । कुतः कारणात् । दिनं दिनम् । अत्र प्रातरध्याहारः कार्यः । प्रतिवासरम् । 'दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने' । अत्रापि सप्तमी वा । उदीत्वरस्योदयनशीलस्य द्युमणेर्भास्करस्य चण्डि-
मन्त्रीव्रताया आडम्बर आटोपो बाहुल्यं तेनोदुरा असह्यास्तथा प्रसृमरा प्रसरणशीला या प्रभाः कान्तयस्तासां प्रकरः सहस्रसंख्यत्वेन समूहस्तस्य तापः संज्वरः ऊष्मा-
तिरेकः तेन संतापितः ॥ इति पताका ॥

न कश्चिदुपलब्धिमान्न जनसंशयच्छेदक-

न्न कोऽपि च शिवंगमी जगति पूर्ववद्दृश्यते ।

महोदयविधायकोऽर्हति निषेव्यतां सांप्रतं

मही महिमसंपदां तदयमेक एवाचलः ॥ ७५ ॥

सदाकृतिवपुः पदं परिचरामि यस्य प्रभोः

प्रकाशितमिदं स्वयं जगति तेन मत्स्वामिना ।

पटु प्रकटयाम्यहं गणिवदस्य तीर्थस्य त-

त्प्रभावमतिशायिनं त्रिभुवनद्विचिन्त्येति किम् ॥ ७६ ॥

जिनेन्द्रसदनाम्बरान्तरनुषङ्गिशृङ्गाङ्गणा-

निलप्रचलकेतनस्फुरदकुण्ठकण्ठीरवः ।

पुरस्त्रिजगदङ्गिनामिति निजान्तिकावासमा-

ग्रणज्ज्ञापिति किङ्किणीकणमिषेण किं भाषते ॥ ७७ ॥

जिनेन्द्रस्य मारुदेवस्य सदनं गृहम् ऋषभचैलं तस्याम्बरस्य गानस्य अन्तर्मध्ये अनु-
षङ्गः संगमो मिलनमस्यास्तीति तादृशं शृङ्गाङ्गणं शिखरोपरितनप्रदेशस्तत्रानिलेन पवनेन
प्रचलं यत्केतनं ध्वजस्तत्र स्फुरत् अकुण्ठः अमन्दो दुर्धर्षो वा कण्ठीरवः केसरी स कर्ता ।
निजस्यात्मनः अन्तिके समीपे आवासं निरन्तरवसति भजन्तीति तादृश्यो रणजङ्गणिति
शब्दं कुर्वाणाः किङ्किण्यो लघुबुर्बुरिकास्तासां कणस्य शब्दस्य मिश्रेण कपटेन त्रिजगदङ्गिनां
सुरासुरनराणां पुरः किम् । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण विचिन्त्य विचार्य विमृश्य विचारं
कृत्वेव भाषते ब्रवीति । इति किम् । आकृतिराकार एव वपुः शरीरं यस्य तादृशः सन् अहं
यस्य प्रभोर्महावीरस्य भगवतः पदं चरणं सदा सर्वकालं परिचरामि सेवे, तेन मत्स्वामिना
मम प्रभुणा वीरेण स्वयमात्मनैवेदं पूर्वकाव्यप्रतिपादितं श्रीशत्रुंजयमाहात्म्यं जगति विश्वे ।
जगजनानामग्रे इत्यर्थः । प्रकाशितं प्रकटतया कथितम् । यस्मादिति गम्यं तस्मात्कार-
णादहं तच्चरणपरिचारकः अस्य मद्वसतिभूमेस्तीर्थस्य लोकोत्तरपुण्यस्थानस्य प्रभावं महि-
मानं पटु स्पष्टं यथा स्यात्तथा प्रकटयामि प्रकटीकरोमि । किंवत् । गणिवत् । यथा गण-
धरो भगवतार्थात्प्रतिपादितं सूत्रं पटु सहेतु युक्तिकं विस्तारयति, तथा श्रीमन्महावी-
रार्हत्प्रकाशिनमहमपि विमलाचलस्याद्वैतमाहात्म्यं प्रकाशयामीत्यर्थः । इदं किम् । यद्य-
स्मात्कारणात् एतस्मिन्कलिकाले जगति विश्वेऽखिले । भरतक्षेत्रे इत्यर्थः । कश्चित्कोऽपि
मुनिप्रमुखः उपलब्धमान् मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानयुक्तः पूर्ववच्चतुर्थारक इव न
दृश्यते न चक्षुषा लक्ष्यते न च श्रवसा श्रूयते च । पुनर्जनानां भारतभूमिजन्मनां
लोकानां संशयानां मानसिकानां शास्त्रसंबन्धिनानां वा संदेहानां छेदकृन्निवारकः कोऽपि
कश्चिदपि पूर्ववत्प्रदेशिराजस्य केशिगणधर इव नैव विभाव्यते नाकर्ण्यते च । च पुनर-
धुना कोऽपि कश्चनापि शिवंगमी चरमशरीरत्वेन केवलज्ञानमासाद्य मोक्षं गमिष्यतीति ।
'यथा विदुराद्रिरदूरतांगमी' इति नैषधे । तादृशोऽपि लोचनाभ्यां न विलोक्यते नापि
च श्रुतेर्गोचरीक्रियते । तत्तस्मात्करणात् सांप्रतं पञ्चमे दुःखमानान्नि अरके लोकोत्तया
कलिकाले च महिमसंपदां मानातीतमाहात्म्यसंपत्तीनां मही स्थानमाधारः । तथा महो-
दयस्य राज्याद्वैताभ्युदयस्य मोक्षस्य च विधायकः । एकोऽद्वितीय एवायं न चापरः ।
अयं प्रत्यक्षलक्ष्यस्तथा निश्चयेनाचलः श्रीशत्रुंजयशैलः निषेव्यतां सेवनीयत्वमर्हति
योग्यो भवति । सर्वेषामपि भव्यानामयमेव सेवाया उचितोऽस्तीत्यर्थः ॥ त्रिभि-
र्विशेषकम् ॥

स्वमौज्ज्वल्य भुवि निर्वृतौ गतमवेत्य सिंहध्वजं

यियासुरनु तं स्वयं द्यनिशसेविता सेहतः ।

इतः प्रचलितोऽम्बरोपगतचैत्यशृङ्गाध्वना

ध्वजाङ्कगतकेसरी कलयति स लक्ष्मीमिह ॥ ७८ ॥

इह मूलप्रासादस्य शिखरे ध्वजस्य पताकाया अङ्के उत्सङ्गे गतः प्राप्तः स्थितो वा

केसरी मृगेन्द्रः लक्ष्मीं शोभां कलयति भगवच्चरणे ध्वजे वा कृत्यैव न तु मूर्तिमान् ।
 अतएवोत्प्रेक्षणम् । उत्प्रेक्ष्यते—द्वयनिशमहोरात्रं सेवन्ते इत्येवंशीलः सेवी तस्य भावः
 सेविता तथा सेवनशीलत्वेन यः स्नेहः प्रेमातिरेकः तेन कारणेन स्वयमात्मनापि तं
 भगवन्तमनु पश्चात्पृष्ठे वा यियासुर्गन्तुमिच्छुः किमु । इतो भूमिसकाशादम्बरमाकाश-
 मुपगतं प्राप्तं यच्चैत्यस्य प्रासादस्य शृङ्गं शिखरं तस्याध्वना मार्गेण कृत्वा प्रचलितः किमु
 प्रस्थित इव । इति गर्भितोत्प्रेक्षा । किं कृत्वा । स्वमात्मानमर्थाह्लाङ्गनपञ्चाननं भुवि श्रुति-
 व्यामिवौज्ज्वल्य भुक्त्वा च पुनः स्वयमात्मना निर्वृतावनन्तसुखस्थाने मोक्षं गतं यात्वा च
 निरवधिसंतिष्ठमानं सिंहध्वजं श्रीमन्महावीरदेवमवेत्य ज्ञात्वा ॥ इति पताकापञ्चाननः ॥

मृगाङ्ककरसंगमक्षरदमन्दपाथःप्लवै-

र्यदुच्चशिखरात्तमीमणिमणीगणैर्निर्मितात् ।

रजोभिरवगुण्ठितं प्रबलगन्धवाहव्रजै-

र्वपुः पवितुमात्मनो जिनगृहं निशि स्नाति किम् ॥ ७९ ॥

तमीमणिमणीनां चन्द्रकान्तनाम्नां रत्नानाम् । 'निशारत्नकरौ चन्द्रः' इति, तथा
 'चन्द्रकान्तश्चन्द्रमणिः' इति द्वयमपि हैम्याम् । गणैर्निर्वहैर्निमित्तानिष्पादितात् घटितात्
 प्रासादस्य उच्चाद्गनसङ्गिनः शिखरात् मृगाङ्गस्य चन्द्रमसः कराः किरणालोकां संगमेन
 संपर्केण क्षरन्तो निःसरन्तो ये अमन्दा अविरलाः पाथसां पानीयानां प्लवाः पूराः । प्रवाहा
 इत्यर्थः । तैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—जिनगृहं भगवत्प्रासादः निशि स्नाति किं स्नानं करोतीव ।
 किंभूतम् । प्रबलैः प्रचण्डैर्गन्धवाहव्रजैर्महावातैः कर्तृभिः रजोभिरगुण्ठितं
 धूसरितं मलिनीकृतमात्मनः स्वस्य प्रासादसंबन्धिनो वपुः शरीरं पवितुं पवित्रीकर्तुम् ।
 निर्मलां कर्तुमित्यर्थः ॥

स्फुटस्फटिककल्पिता कचन जाह्नवीवावनी

कचिन्मरकताङ्किता स्थिरजला यमीवाजनि ।

कृत्तारुणमणीगणैः किमुत कुङ्कुमैरर्चिता

कचिद्विकचचम्पकैः परिचितेव चन्द्राञ्चिता ॥ ८० ॥

कचन कुत्रापि प्रदेशे अवनी प्रासादमेदिनी स्फुटं प्रकटं यथा स्यान्तथा स्फटिकैः
 श्वेतरत्नैः कल्पिता रचिता अजनि । उत्प्रेक्ष्यते—स्थिरं कथंचिद्देवयोगादुपगमना स्थाना-
 भावाद्वा अप्रवहमानं जलं सलिलं यस्यास्तादृशी जाह्नवी गद्गेव । पुनः कचिदप्रदेशे
 मरकतैः अश्मगर्भरत्नैर्नलमणीभिरङ्किता केलिता भूरजनि संजाता । उत्प्रेक्ष्यते—स्थिर-
 जला केनचिद्देवेन दानवेनाकुतूहलात्कृतमप्रचलत्पयो यस्यास्तादृशी यस्यां यमुनेव । प्रति-
 त्कुत्रचित्स्थाने अरुणमणीनां पद्मरागापराभिधानां रक्तरत्नानां गर्णैः पुनः कृत्वा निर्मिता
 भूमिरजनि । उत्प्रेक्ष्यते—कुङ्कुमैः केसरैरर्चिता पूजितेव । पुनः कचिद् कश्चिन् स्थाने

च चन्द्रेण काञ्चनेन । 'तपनीयचामीकरचन्द्रभर्म' इति हैम्याम् । तथा 'चन्द्रोऽम्बुका-
म्ययोः । स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे कं पिबे मेचकेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । अञ्चिता सहिता
भूमिका अजनि भवति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विकचचम्पकैर्विकचचम्पककुसुमोपचारैः
परिचिता सहितेव ॥ इति शिखरपार्श्वप्रदेशाः ॥

सुरासुरनरस्फुरन्मिथुनचारुचित्रव्रजः

पुपोष सुषमां जिनावसथमण्डपस्यान्तरे ।

जगन्नयमिवागतं विमलशैलयात्राकृते

स्थितं किमतिभावतः पुनरिहार्हतः संनिधौ ॥ ८१ ॥

जिनावसथस्य ऋषभचैत्यस्य मण्डपस्य रङ्गमण्डपस्यान्तरे मध्ये सुरासुरनराणां देव-
दानवमानवानां स्फुरतां शोभां लभमानानां मिथुनानां दम्पतीसंबन्धियुगलानां चारुणि
विलोकमनोहराणि यानि चित्राणि आलेख्यानि तेषां व्रजः सुषमां सातिशायिशोभां
पुपोष पुष्पाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विमलशैलस्य श्रीशत्रुंजयाद्रेर्यात्राकृते यात्राकरणार्थ-
मागतं स्वस्वस्थानात्समायातं सत् अतिभावतो वासनाधिक्यात्पुनरर्हतः श्रीऋषभदेवस्य
संनिधौ समीपे किमु स्थितं निरन्तरमुषितं जगन्नयं त्रैलोक्यमिव ॥

वरीतुममृताह्वयामिह पतिवरां कन्यकां

स्वयंवरणमण्डपे किमुपजग्मिवांसः समम् ।

जिनेन्द्रगृहमण्डपे लसदनल्पशिल्पीकृताः

सुरासुरधरास्पृशा समुदया ददन्ते मुदम् ॥ ८२ ॥

जिनेन्द्रगृहस्य प्रासादस्य मण्डपे जनाश्रये लसन्ति परस्परं श्लिष्यन्ति क्रीडन्ति वा
शोभमानानि वा । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' अयं धातुः शोभार्थेऽपि दृश्यते । तथा अन-
ल्पानि बहूनि विविधजातीयानि वा शिल्पानि चित्रविज्ञानानि । त्रिष्वपि कर्मधारयः ।
लसदनल्पशिल्पानि कृता लसदनल्पशिल्पीकृताः तादृशाः सुरा देवाः, असुरा दानवाः,
धरास्पृशो मनुष्यास्तेषां समुदाया गणा मुदं प्रमोदं ददन्ते यच्छन्ति । आनन्दयतीत्यर्थः ।
'दद दाने' आत्मनेपदी । अत्र बहुवचनम् । उत्प्रेक्ष्यते—अमृतं मुक्तिस्तदेवाह्वयो नाम
यस्याः । 'अथाह्वयोऽभिधा गोत्रं संज्ञानामधेयाः' इति हैम्याम् । तादृशीं पतिवरां
स्वेच्छया स्वामिलषितयोग्यवरस्य वरयित्रीं स्वयंवरां कन्यकां कुमारिकाम् । कन्यैव पतिं
वृणोति नान्येति रीतिनीतिधर्माः । इत्याशयाद्वरीतुं परिणेतुम् । अत्र तु मुक्तेः कनीत्वं
कविसमयानुसारेणैव । केवलं स्वयंवरणमण्डपे समं समकालमेकसमय एव देवदानवमा-
नवव्रजाः किमुपजग्मिवांसः समागता इव ॥

भवच्चरणसेवनैरधिगता द्युलोकेन्दिरा

विनैव नरजन्मना दिश शिवश्रियं श्रीप्रभो ।

उपेत्य जिनमन्दिरान्तरमितीव विज्ञीप्सया

भजन्ति सुरसुभ्रुवः प्रभुमनन्यचित्रोपधेः ॥ ८३ ॥

जिनमन्दिरान्तः श्रीकृष्णभचैत्यमध्ये उपेत्य अर्थात्स्वर्गलोकादागत्य अनन्यानामसा-
धारणानां चित्राणामुपधेशलेख्यानां छलात्सुरसुभ्रुवः अप्सरसः । 'स्वःस्वर्गिवध्वोऽप्सरसः'
इति हैम्याम् । प्रभुं भगवन्तं भजन्ति सेवन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण किं विज्ञी-
प्सया विज्ञप्तिं कर्तुमिच्छयेव । इति किम् । हे श्रिया चतुर्विंशदुदयलक्ष्म्या त्रैलोक्या-
धिपत्यलक्ष्म्या वा लक्षितविभो स्वामिन् परमेष्ठिन्, भवचरणसेवनैः श्रीमत्पदपरि-
चरणैरस्माभिर्व्युल्लोकेन्द्रां स्वर्गलोकलक्ष्मीमधिगताः प्राप्ताः । अथ नरजन्म विना
मनुष्यावतारं विनैव नोऽस्माकं पुराङ्गनानां शिवश्रियं मोक्षलक्ष्मीं सिद्धिसंपातिं दिश
प्रदेहि ॥

प्रयोजयति नः सदा स्वपदसाभिलाषीभव-

त्तपस्वितपसां व्ययीकृतिविधौ विभो जम्भभित् ।

इमां जहि विडम्बनां किमिति भाषितुं मण्डपे-

ऽथ वाप्सरस आगताः परिचरन्ति चित्रोपधेः ॥ ८४ ॥

हे विभो स्वामिन्, स्वस्यात्मनः पदे स्थाने इन्द्रैश्वर्यप्राप्तौ सहाभिलाषेण कामेन व-
र्तन्ते ये तादृशा भवन्तः संपद्यमाना ये तपस्विनस्तापसास्तेषां तपसां घोरानुष्ठानोपवा-
सादिकष्टानां व्ययीकृतिविधौ नाशनिर्माणप्रकारे जम्भभिद्रासवः सदा चतुर्ध्वपि
युगेषु नः अस्मान्प्सरसः प्रयोजयति प्रयुक्ते प्रेषयति । तथा च इन्द्रपदप्राप्त्यभिलाषेण
तपः कुर्वन्तस्तापसान् कष्टध्यानतपोभ्यः पातयितुं पुरंदरेण प्रेषिता अप्सरसः प्रेक्ष्य
तद्रूपलावण्यमोहिता विस्मृतस्वतपोध्यानानुष्ठानास्ते ता एव कामयमानास्तद्भोगासक्ति-
भाजो भूताः सन्तस्ततः सर्वे स्वकीयं पुराचीर्णतपोमूलादेव हारयन्ति—इति परशासन-
कविसमयः । तत्कारणात् हे विभो त्रिभुवनजननाथ, त्वं नोऽस्माकमिति गम्यम् । इमां
येषां तेषां बालयुववृद्धकृशाजातिजातिप्रमुखाणां तपसामङ्गसंगमाख्यनिपादप्सरसः सर्व-
वनिता उर्वशीमेनकाघृताचीरम्भादिकाः प्रासादमण्डपे आगताः सत्यः किमु प्रभुं परिच-
रन्ति भजन्तीव ॥ इति मण्डपमध्यचित्राणि ॥

कुतूहलिकृतासितोपलतलोर्ध्वमध्या कचि-

न्महारजतनिर्मिता जिननिकेतनस्तम्भकाः ।

विचित्रसुरविभ्रमं प्रदधतः श्रियं विभ्रते

तलोपरि विचालभागवनभृतः किमु स्वर्नगाः ॥ ८५ ॥

कचिक्कुत्रचित्प्रदेशे महारजतैः काञ्चनैर्निर्मिता विरचिता जिननिकेतनस्य मूलध्व-
लस्य स्तम्भकाः । पादपूरणे स्वार्थं कप्रत्ययः । स्तम्भाः एव स्तम्भकाः प्रासादमण्डपाद्याधा-

रस्थूणाः श्रियं शोभां विभ्रते कलयन्ति । किंभूताः । स्वर्णघटितत्वेऽपि विशेषमाह—कु-
तूहलिभिः कैश्चित्कौतुकवद्भिः शिल्पिभिः कृतानि असितोपलानामिन्द्रनीलमणीनां तलं
स्तम्भाधो विभागः ऊर्ध्वं स्तम्भोपरितनप्रदेशः मध्ये स्तम्भान्तराले तत्र प्रदेशद्वये ।
कर्मधारये । मध्यानि येषां ते । किं कुर्वन्तः । विशिष्टचित्ररूपाः सुरा देवा अथ वा
विचित्रा विविधजातीयाश्चतुर्निकायिका देवतास्तेषां विभ्रममन्तःकल्पितशिल्पत्वेन
विलासं विभूषां भ्रान्तिं वा प्रदधतो धारयन्तः । उत्प्रेक्ष्यते—तलमधोवर्ती भूमिभागः
भूमीप्रदेश एव विवक्षया न तु भूमध्यगो विभागः तथा उपरिशिखरोच्चचूलिका मध्ये
स्तम्भविलासे एतावता मध्ये भागद्वयं तानि भजन्ति इति तलोपरि विचालभाजि तादृ-
शानि वनानि अधोभूमौ भद्रसालवनं शिखरचूलिकायां पाण्डुकवनं विचालभागद्वये तु
नन्दनं सौमनसं चैत्याख्यानि चत्वारि काननानि विभ्रतीति भूतः तादृशः स्वर्नगा मेरु-
पर्वता इव । 'रत्नसानुः सुमेरुः स्वःस्वर्गिकाश्चनतो गिरिः' इति हैम्याम् ॥

हरिर्य इह सेवकस्तव जिनेन्द्र सोऽस्मद्विष-

न्विधापय मिथस्ततस्त्वदमुना समं सौहृदम् ।

इतीव गदितुं वृषध्वजजिनालयस्तम्भको-

पधेरखिलभूभृतः प्रभुमुपेत्य शीलन्त्यमी ॥ ८६ ॥

वृषो वृषभो ध्वजश्चिह्नं लाञ्छनं यस्य तादृशो जिनो युगादिदेवस्तस्यालयं गृहं ऋ-
षभविहारस्तस्य स्तम्भका आधारस्थूणास्तेषामुपधेर्व्याजादमी प्रत्यक्षलक्ष्या मन्दरादयः
अखिलाः समस्ताः भूभृतः पर्वता उपेत्य अत्र प्रासादे समागत्य प्रभुं श्रीकृष्णभस्वामिनं
शीलन्ति भजन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण गदितुं कथयितुमिव । इति किम् । हे
जिनेन्द्र युगादिप्रभो, इह जगति यो हरिरिन्द्रस्तव भवतः सेवकस्त्वत्पादपद्मसेवाविधा-
तास्ते सोऽस्माकं द्विषन् शत्रुः पक्षच्छेदकर्तृत्वेन प्रबलप्रतिपक्षो वर्तते ततस्तस्मात्कार-
णात् हे प्रभो, त्वदमुना त्वद्भक्तिभाजा हरिणा सममत्साकं मिथः परस्परं सौहृदं मैत्र्यं
सखिभावं विधापय कारय । महात्मना प्रभुणा च स्वयमन्तरा भूयः कृतः संधिः
कदाचिदपि न विघटते इति वक्तुमिव ॥ इति प्रासादमध्यस्तम्भाः ॥

अनन्यगुणवाहिनीशितुरनन्तसातैकभूः

कृते तव निरीक्षितात्मज मया शिवस्मेरदृक् ।

तदेहि वृणु तां कनीमिति समेत्य वक्तुं पुरः

स्थितेव मरुदेव्यभात्करिवशांसमासेदुषी ॥ ८७ ॥

यस्मिन् प्रासादे करिणो हस्तिनो वशा पत्नी हस्तिनी । यद्यपि वशाशब्देन करिणी
कथ्यते । 'इभः करेणुर्गजोऽस्य स्त्री धेनुका वशापि च' इति हैमीवचनात् । तथापि
वशाशब्दो नार्यामेव प्रायो वर्तते । तत्कारणादेव मनुष्यजातिस्त्रीभ्रमनिवारणार्थं च क-

रिवशेति प्रतिपादितम् । तस्या अंसं स्कन्धमासेदुषी आश्रितवती मरुदेवी नातिनृप-
पत्नी ऋषभदेवजननी अभाद्वभौ । उत्प्रेक्ष्यते—इति वक्तुं निवेदयितुं समेल्य कुतश्चि-
त्स्थानादागल्य पुरो युगादिदेवस्याग्रे तिष्ठति स्वेव । इति किम् । हे आत्मज औरसपुत्र-
अनन्यानामसाधारणानां गुणानां शौर्यौदार्यधैर्यगाम्भीर्यशौण्डीर्यार्जवमार्दवादीनामीशि-
तुर्भर्तुः समुद्रस्य तव भवतः कृते अर्थाय अनन्तानां प्रमाणातीतानां ज्ञातिवचनगोचरा-
तिक्रान्तावसानानां सातानां महासुखानामेका अद्वितीया भूः स्थानं शिवस्मेरदृक् मुक्ति-
रूपा कामिनी । पाणिग्रहणकरणौत्सुक्याद्बुद्ध्यरुच्याध्वानं विलोकयतीत्यत एव स्मेरदृक्त्वं
प्रोक्तम् । मुक्तिमानिनी मया तज्जनन्या निरीक्षिता नितरां सर्वगुणाधारतया प्रथिता
विलोकितास्ति । तत्तस्मात्कारणात् त्वं वृषभ, एहि त्वरितमागच्छ । आगल्य च तां निर्वृ-
तिनाम्नीं कनीम् अष्टादशकोटीकोटीसागरोपमप्रमितकालोऽभूत् कोऽपि भारतीयक्षेत्र-
सत्कपुमान् वृतो नास्ति, अत एव प्रौढां कुमारिकां वृणु वरय परिणयेति ॥

अयं श्रयति मां सदा तनय वाहनव्याजत-

स्तदुद्धरतमाममुं श्रितहितो महान्यद्भवेत् ।

इतीव गदितुं मुदा भगवतः पुरस्तस्थुषी

समेत्य मरुदेव्यसौ गजपतेरुतांसासिता ॥ ८८ ॥

असौ मूलप्रासादगर्भाग्रे दृश्यमाना मरुदेवी भगवन्माता उत गजपतेर्द्विपराजस्य अंसे
स्कन्धे आसिता उपविष्टा सती समेल्य ऋषभाभ्यर्णेऽभ्यागल्य मुदा हर्षेण भगवतः
स्वपुत्रस्य परमेष्ठिनः पुरोऽग्रे पुरस्तात् तस्थुषी स्थितवती । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण
गदितुं कथयितुमिव । इति किम् । हे तनय ऋषभदेव, अयं द्विपतिर्गजेन्द्रो वाहनव्या-
जतो याननिभात्सदा सर्वदापि मां तव मातरं मरुदेवीं श्रयति सेवते । तत्तस्मात्कार-
णादमुं करीन्द्रं जगदुद्धरणधीर, उद्धरतमां सर्वथा सर्वप्रकारेण तिर्यक्त्वदूषितात्संसारा-
न्मोचय । यद्यस्मात्कारणान्महानुत्तमः पुरुषः श्रिते स्वभक्तीभूते हितो वत्सलो भवेत् ।
निजस्य पुंसः समीहितमवश्यं करोत्येव । यदुक्तम्—‘विह्वलं जो अवलंबइ आवय पडियं
च जो समुद्धरइ । सरणागयं च रक्खइ तिसु तैहि अलंकिया पुहवी ॥’ तथा—‘म-
रुदेवा मरुदेव्यपि’ इति आकारान्तमीकारान्तं च नामद्वयं हेमनाममालावृत्ता । तथा
केचित्करिणीस्कन्धारूढा केचिच्च गजराजांसाध्याश्रितेति च प्रतिपादयन्ति । ततो हे
अपि पृथगुत्प्रेक्षे इत्युतशब्दः ॥ इति गजस्कन्धाधिरूढा मरुदेवी ॥

महोदयमृगीदृशा सह विनोदनिर्मित्सया

विलासमणिमन्दिरं विमलशैलचूलोपरि ।

अकारि वृषकेतुना स्वयमिवात्र नाभीभुवा

युगादिजिनसद्मनि श्रयति गर्भगेहः श्रियम् ॥ ८९ ॥

युगादिजिनसद्धानि विमलचलमूलप्रासादे गर्भगेहः गर्भागारः श्रियं शोभां श्रयति ।
उत्प्रेक्ष्यते—वृषकेतुना जातोक्षध्वजेन ऋषभदेवेन कर्त्रा स्वयमात्मना अत्र विमलशैलस्य
शशुंजयाद्रेश्चूलिकायां पर्वतोपरिविभागे अधिल्यकोर्ध्वप्रदेशे नाभीमुवा सृष्टिकर्त्रा । वि-
धातुः पार्थ्वे इत्यर्थः । विलासार्थं क्रीडाकृते मणिमयं मन्दिरं रत्नमन्दिरमकारि कारि-
तमिति । प्यन्तप्रयोगः । कया । महोदयनाम्न्या मृगीदृशा सिद्धिवध्वा सह सार्धं विनो-
दस्य विविधविलासस्य निर्मितसया निर्मातुं काङ्क्षया ॥

अनेकनरनिर्जरोरगपुरंदरोपासितं

सदःसदनमुन्नये विमलशैलभूमीभुजः ।

वृषाङ्गजिनवासवौकसि विचित्रतौर्यत्रिक-

प्रपञ्चपट्टमण्डपे श्रियमुवाह गर्भालयः ॥ ९० ॥

वृषाङ्गो युगादिदेव स एव जिनानां सामान्यकेवलानां मध्ये वासवः पुरंदरस्तस्यौको
मन्दिरं तस्मिन् गर्भालयो गर्भागारः श्रियं लक्ष्मीं शोभामुवाह धारयति स्म । किंभूते
ओकसि । विशिष्टानि चित्राण्यालेख्यानि येषां विविधप्रकाराणि वा विशेषाश्चर्यकार-
काणि वा तौर्यत्रिकाणि गीतनृत्यवादित्राणां त्रयाणि त्रित्वसंख्याकानि तेषां प्रपञ्चो वि-
स्तारस्तेन पट्टः प्रकटः स्पष्टभूतो मण्डपो यत्र तत् । तत्र गर्भागारवर्णने अहमेवमुन्नये
विचारयामि । ‘वितर्कः स्यादुन्नयनम्’ इति हैम्याम् । विमलशैलः श्रीशशुंजयाद्रिः स
एव भूमीभुक् राजा अथवा विमलनाम्नः शैलानां सर्वपर्वतानां भूमीभुजो राज्ञः सदः-
सदनं सभागृहमिव । ‘नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहम्’ इति रघुवंशे । किंभूतं सद-
नम् । अनेके बहवो ये नराणां मनुष्याणां निर्जराणां देवानामुरगाणां नागानामुपल-
क्षणादसुराणां पुरंदरा इन्द्रास्त्रैरुपासितं सेवितम् ॥ इति गर्भागारः ॥

सुरासुरनरेन्दिरादिमसमग्रकामप्रदा

कृताम्बुजमुवा लता क्रतुभुजामपूर्वा किमु ।

रसायनमिवान्तरामयजुषां च सम्यग्दृशां

दृशां किममृताञ्जनं वृषभमूर्तिरत्रावभौ ॥ ९१ ॥

अत्र मूलप्रासादगर्भागारे वृषभमूर्तिर्युगादिजिनप्रतिमा आबभौ शोभते स्म । उ-
त्प्रेक्ष्यते—अम्बुजमुवा पद्मजन्मना जगत्सृष्टिविधायिना विधिना सुरासुरनराणां देवदा-
नवमानवानामिन्दिरा आधिपत्यलक्ष्मीः आदौ प्रथमं येषां ते समग्राः सर्वेऽपि कामा
मनसामभिलषितानि तान्प्रकर्षेणातिशयेन ददातीति तादृशी । अत एवापूर्वा नान्यस-
दृशी कित्वसाधारणा क्रतुभुजां देवानां लता वीरुत् कल्पवल्लीव कृता किमु निर्मितेव ।
च पुनः आन्तरामयान् अन्तरा अष्टकर्मण्येव रोगास्तान् जुषन्ते भजन्ते तादृशानां पु-
रुषाणामन्तरङ्गरोगोच्छेदनाय रसायनं पारदरजतस्वर्णाद्यौषधपाचितं महाभेषजमिव

विधिना विहितम् । अथवा सम्यग्दृशां सुदृष्टीनां भव्यानां दृशां नेत्राणां शीतलताकृते
अमृताञ्जनं सुधासंबन्धि कज्जलमिव वेधसा सृष्टम् ॥

युगादिसमये यथा भुवनमुद्धृतं संसृते-

स्तथैव पुनरुद्धराम्यहमवद्यकाले कलौ ।

विचिन्त्य किमिदं हृदा वृषभकेतुरत्रात्मना-

वतीर्य कुरुते स्थितिं स्थिरतयात्ममूर्तिच्छलात् ॥ ९२ ॥

वृषभकेतुर्युगादिदेवः आत्मना स्वयमेवात्र शत्रुंजयमूलविहारे अवतीर्य मोक्षादा-
गस्य आत्मनो निजस्य वृषभस्यैव मूर्तेः प्रतिमायाश्छलात्कपटात् स्थिरतया अव्यग्रचित्त-
त्वेन न तु गमनौत्सुक्येन स्थितिं निवासं कुरुते । उत्प्रेक्ष्यते—हृदा स्वमनसा कृत्वा इदं
वक्ष्यमाणं किं विचिन्त्य विचार्येव । इति किम् । यथा युगस्य लक्षणया चतुर्थारकस्यादे-
स्तृतीयारकस्य पर्यन्तसमयस्तस्मिन्प्रस्तावे संसृतेः संसारात्सकाशाद्भुवनं विश्वमुद्धृतं
निस्तारितं पुनर्द्वितीयवारं तथा तेनैव प्रकारेणाहमृषभः अवद्यकाले प्रबलपापोपचितसमये
कलौ कलियुगे पञ्चमारकेऽपि भुवनं जगदुद्धरामि संसारकारागारादुद्धृत्य सुखेन म-
हानन्दपुरं प्रापयामीति ॥ इति ऋषभप्रतिमा ॥

चतुष्कपृथिवीं ततः परिचरन्स विस्मेरिता-

रविन्दसवयविलोचनयुगेन योगीश्वरः ।

जगद्विजयिनीं जिनाधिपतिवेश्मलक्ष्मीं पिब-

न्हृदा त्रिजगदिन्दिरां करगतामिवामन्यत ॥ ९३ ॥

योगिनां मनोवचनकाययोगवतां वशीकृतेन्द्रियाणां वा ईश्वरः स्वानी स हीरविज-
यसूरिः हृदा स्वमनसा कृत्वा त्रिजगदिन्दिरां त्रैलोक्यलक्ष्मीं करगतां हस्तप्राप्ताभि-
वामन्यत जानाति स्म । यथा कश्चित्पुमान् जगदाधिपत्यं कथमप्यधिगत्य परमानन्दं
विन्दति तथा सूरिन्द्रोऽपि प्रासाददर्शनानन्तरमद्वैतां मुदमालोकयांचकार । स किं
कुर्वन् । पिबन् सादरमवलोकयन् । काम् । जगद्विजयिनीं त्रिभुवनप्रासादपरम्परधि-
भवपराभववित्रीं जिनाधिपतिवेश्मनः ऋषभचैत्यस्य लक्ष्मीं शोभाम् । केन । विस्मेरत्वं
संजातमस्मिन्निति विस्मेरितं सूर्येण विकासितं यदरविन्दं कमलं तस्य सवयसा मित्रेण ।
ततुल्येनेत्यर्थः । विलोचनयोर्नयनयोर्युगेन द्वन्द्वेन कृत्वा । पुनः स किं कुर्वन् । ततः
प्राकारमध्ये आगमनानन्तरं चतुष्कपृथिवीं प्रासादाग्रेतनभूमिकाम् 'चउक' इति लोकप्र-
सिद्धाम् । 'नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः' इति रघुवंशे । परिचरन् सेवमानः । प्रासादा-
ग्रचतुष्के समेत इत्यर्थः ॥

जिनेन्द्रभवनं शिखोदयनभःपरीरम्भणं

प्रतिक्षितिशतक्रतुः स शमपद्मया संगतः ।

प्रदक्षिणयितुं मुदारमत गीतिभिः सुभ्रुवां

सुमेरुमुडुमालयेव सममौषधीनायकः ॥ ९४ ॥

स व्रतिक्षितिशतक्रतुः हीरविजयसूरिराजः सुभ्रुवां स्त्रीणां गीतिभिर्मङ्गलगानैः समं जिनेन्द्रभवनं भगवत्प्रासादं मुदा हर्षेण प्रदक्षिणयितुं त्रिः प्रदक्षिणागोचरीकर्तुमारमत । प्रारब्धवानित्यर्थः । किंभूतो व्रतिपतिः । शमः शान्तिर्नाम तस्य वा पद्मा लक्ष्मीस्तया संगतः सहितः । किंभूतं जिनेन्द्रभवनम् । शिखायाः शिखरस्य उदयेन उच्छ्रयेन । 'उच्छेद उदयोच्छ्रयौ' इति हैम्याम् । उच्चत्वेन कृत्वा नभ आकाशं परीरम्भते आलिङ्गतीत्येवंशीलम् । भवनशब्दः पुनपुंसकलिङ्गे । 'भवनभुवनयानोद्यानवातायनानि' इति लिङ्गानुशासने । तेन पुल्लिङ्गविशेषणम् । क इव । औषधीनां नायक इव । यथा औषधीनाथश्चन्द्र उडुमालया नक्षत्रश्रेण्या समं सुमेरुं स्वर्णाचलं प्रदक्षिणयति प्रदक्षिणीकृत्य भ्राम्यति दक्षिणपार्श्वे प्रणीय पर्यटति ॥

स देवकुलिकान्तरे जिनपुरंदरान्संमदा-

दवन्दत तदा जिनाधिपतिकेतनस्याभितः ।

मरुद्रसतिवत्ततः सुरपरम्परोपासिता

व्यलोकि विभुना पुरः प्रमुदितेन राजादनी ॥ ९५ ॥

तदा प्रदक्षिणादानन्दसरससूरिर्जिनाधिपतिकेतनस्य मूलचैत्यस्याभितः परितश्चतुर्दिक्षु देवकुलिकानां लघुदेवगृहाणां 'देहरी' इति प्रसिद्धानामन्तरे मध्ये जिनपुरंदरान् भगवत्प्रवरप्रतिमाः संमदादानन्दादवन्दत नमस्करोति स्म । ततः कतिचिद्देवकुलिकासु जिनबिम्बवन्दनानन्तरं प्रमुदितेन हृष्टमनसा विभुना गणस्वामिना गुरुणा पुरोऽग्रे राजादनी क्षीरिका 'रायणि' इति प्रसिद्धा । 'नवनवति पूर्ववारान् यस्मिन्समवसरय-युगादिजिनः । राजादनीतरुतले विमलगिरिरयं जयति तीर्थम् ॥' इति पूर्वसूरिकृत-स्तुतौ । व्यलोकि दृष्टा । किंभूता । सुराणां चतुर्निकायिकदेवानां परम्पराभिः श्रेणीभिरुपासिता सेविता । केव । मरुतां भवनपतिव्यन्तरज्यौतिष्कविमानिकानां वसतिर्निवास-स्थानमिव । यथा मरुद्रसतिः सुरालीभिः परिशीलिता आस्ते ॥

अवर्धयत स मौक्तिकै रजतहेमपुष्पव्रजै-

र्जगद्गुरुरिवाङ्गिभिः सुमनसां समूहैः श्रिता ।

गिरेरिव घनागमोन्नमदमन्दकादम्बिनी

ववर्ष पयसां भरैः शिरसि संघर्भतुश्च या ॥ ९६ ॥

या राजादनी अङ्गिभिर्यात्रिकसंघलोकैः सह मौक्तिकैर्मुक्ताफलैर्वर्तन्ते ये तादृशा रजतानां रूप्यसंबन्धिनां हेम्नां सुवर्णसंबन्धिनां पुष्पाणि कुसुमानि अथ वा रजतानि

स्वर्णानि पुष्पाणि जलस्थलजातानि कमलमालतीप्रमुखाणि तेषां व्रजाः समूहाः तैरव-
 धृत्य वर्धिता । क इव । जगद्गुरुरिव । यथा तीर्थनाथः अङ्गिभिर्भोज्यजनैः सुरासुरनरैर्मौक्ति-
 ककलितरजतमहारजतमयसुमैः स्वाभाविककुसुमैश्च वर्धते । किंभूतानाम् । सुमनसां
 पुष्पाणां देवानां च । 'प्रतिशाखं प्रतिपत्रं प्रतिफलं देवैरधिष्ठिता' इति शत्रुंजयमाहात्म्ये ।
 समूहैः श्रिता । जगद्गुरुरपि समवसरणे जानुप्रमाणपुष्पैश्चतुर्निकायनाकिनिकरैश्च से-
 वितः स्यात् । च पुनर्या संघभर्तुः संघपतेः शिरसि मस्तके पयसां क्षीरवृक्षत्वात्क्षीराणां
 भरैर्धाराभिर्वैवर्षं वृष्टिं कृतवती । केव । घनागमोन्नमदमन्दकादम्बिनीव । यथा घनानां
 मेघानामागमे प्रावट्समये । 'वर्षास्तपालयः प्रावट्मेघात्कालागमौ क्षरिः' इति ह्यम्याम् ।
 उन्नमन्ती जलभरैर्नम्रीभवन्ती तथा अमन्दा मिलददभ्राभ्रिकाभिर्वहला जायमाना का-
 दम्बिनी मेघमाला गिरेः पर्वतस्य शिरसि शिखरे पानीयानां ब्रजैर्वर्धति ॥

असावपि किमक्षयाजनि न सिद्धशैलाश्रया-

दनन्तयतिनः शिवश्रियमवापुरस्यास्तले ।

युगादिजिनपादुका किमधिदेवतास्या मरु-

द्वीव विहितेहिता श्रियमुवाह राजादनी ॥ ९७ ॥

मन्त्रतन्त्रयन्त्रविद्यानां विविधाः सिद्धयो यस्य स सिद्ध उच्यते । तादृशश्चासौ शैलश्च
 शैलनामा कश्चित्सिद्धपुरुषः शत्रुंजयपर्वतश्च तस्याश्रयो नित्याङ्गस्थायुकत्वेन संश्रयस्त-
 स्मात्कारणादसावपि राजादन्यपि । उत्प्रेक्ष्यते—अक्षया सर्वदेव विद्यमानत्वाद्वा क्षयर-
 हिता किमजनि जातेव । पुनरस्या राजादन्यास्तले मूलसंनिधौ भूमिभागे अनन्ता
 अन्तातीता यतिनः साधवः । मत्वर्थाय इन्द्रप्रत्ययः । 'ब्रह्मशर्मभरचार्यतीव' इति नै-
 षधे । शिवं मोक्षमवापुर्लेभिरे । पुनरस्यास्तले अधोभूमिभागे युगादिजिनपादुका ऋष-
 भदेवपादद्वन्द्वप्रतिमा आस्ते । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या राजादन्या अधिदेवता किमधिष्ठात्री
 देवीव । पुनर्या विहितं निष्पादितम् । पूरितमित्यर्थः । ऐहिकमिहलोकसंबन्धि पुत्रकलत्रध-
 भवादिकमामुष्मिकं परलोकसंबन्धि स्वर्गापवर्गादिमभीहितं यथा तादृशीव वर्तते । केव ।
 मरुद्वीव । यथा कामधेनुः कृतजनाभिलषिता भवति तादृशी सा राजादनी शोभा-
 मुवाह वहते स्म ॥

विहारमिव संमदाद्भ्रतिवसुंधरावासवः

प्रदक्षिणयति स्म तत्प्रथमतीर्थकृत्पादुकाम् ।

जिनाधिपमिवाध्वनि द्रुमपरम्परा तं तदा

ननाम किमु भक्तितः फलभराच्च राजादनी ॥ ९८ ॥

व्रतिवसुंधरावासवो मुनीनां मध्ये मेदिनीन्द्रो राजा हीरसूरिविहारं जिनप्रासादमिव
 सा चासौ प्रथमतीर्थकृतो नाभेयदेवस्य पादुका च तत्पादप्रतिकृतिं प्रदक्षिणयति स्म

प्रदक्षिणीचकार । च पुनस्तदा तस्मिन् सूरेः प्रदक्षिणादानावसरे फलानां सस्यानां भराद्भारादतिशयाद्वा राजादनी ननाम नम्रीबभूव । उत्प्रेक्ष्यते—भक्तितो गुरौ सेवास-
क्तिवशादिव नमति स्म । केव । ह्रमपरम्परेव । यथा पादपानां पटली अध्वनि भगवति
विहारं कुर्वाणे सति मार्गे जिनाधिपं नमति तीर्थनाथं प्रति प्रह्वीभवति ॥ इति राजादनी ॥

समीक्ष्य शिखिभोगिनौ स सखिवन्मिथः संगतौ
ततो यमिमतङ्गजो जिननिशीथिनीनायकान् ।

जसूप्रथमठकुरप्रवररामजीकारितो-

लसज्जिनविहारयोस्त्रिचतुरास्ययोर्नेमिवान् ॥ ९९ ॥

ततो राजादनीकृष्णभपादुकाप्रदक्षिणाप्रणमनानन्तरं यमिमतङ्गजो वाचंयमकुञ्जरः सू-
रिर्जिननिशीथिनीनायकान् जिनचन्द्रविम्बान् नेमिवान् नतिगोचरीचक्रिवान् । कयोः ।
जसू इति शब्दः प्रथमं पूर्वं यत्र तादृशठकुरः एतावता लोकप्रसिद्ध्या जसूठार इत्यभि-
धानः, तथा प्रवरो धर्मकर्मदातृतादिगुणप्रधानो यो रामजी नामा व्यवहारी ताभ्यां कारि-
तयोः शिल्पिभिर्निर्मापितयोः । तथा उल्लसतो विविधरचनाचारुशोभाभिः स्फुरतोस्तादृ-
शयोजिनविहारयोस्तीर्थकृत्प्रासादयोः । किंभूतयोः । त्रिचतुरास्ययोः त्रीणि तथा चत्वारि
आस्यानि द्वाराणि ययोः । त्रिमुखचतुर्मुखयोरित्यर्थः । किं कृत्वा । समीक्ष्य दृग्गोचरी-
कृत्य । कौ शिखिभोगिनौ मयूरभुजंगमौ । किंभूतौ । मिथः परस्परं संगतौ मिलितौ ।
किंवत् । सखिवत् सखायाविव मित्रे इव ॥

स भक्तमिव नाभिभूप्रभुपुरोऽनिशस्थायिनं

प्रणम्य गणधारिणं तदनु पुण्डरीकाभिधम् ।

जिनेन्द्र इव देशनासदनमादिदेवालयं

समं मनुजराजिभिः श्रमणपुंगवः प्राविशत् ॥ १०० ॥

श्रमणेषु साधुषु पुंगवः प्रधानः श्रेष्ठः । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः' इति है-
म्याम् । तथा 'पुंगवो गवि भैषज्ये प्रधाने चोत्तरस्थितः' इत्यनेकार्थः । अथ वा श्रम-
णानां मध्ये पुंगवो वृषभो गणभारधुरंधरत्वात् सूरिर्मनुजराजिभिः भव्यलोकमालिकाभिः
सममादिदेवालयमृषभप्रासादं प्राविशत्प्रविशति स्म । क इव । जिनेन्द्र इव । यथा तीर्थ-
करः सुरासुरनरैः सार्धं देशनासदनं समवसरणं प्रविशति । किं कृत्वा । तदनु जसूठार-
रामजीसाहिविहारयोर्भगवद्विम्बप्रणमनादनु पश्चात्पुण्डरीक इत्यभिधा नाम तादृशं
गणधारिणमृषभजिनप्रथमगणधरम् । यदुक्तम्—'ऊसपिपणीण पढमं सिद्धौ इह पढम-
चक्रिपढमसुड । पढमजिणस्सपढमो गणहीरीजच्छपुण्डरिड ॥' इति शत्रुजल्पकल्पे ।
प्रणम्य नमस्कृत्य । किंभूतम् । नाभिनाम्नः कुलकराद्भूतपतिर्यस्य तादृशो मारुदेवदेवः
स एव प्रभुः स्वामी जगन्नायकस्तस्य पुरोऽग्रे दृग्गोचरे अनिशमहोरात्रं तिष्ठतीत्येवंशी-

लम् । कमिव । भक्तमिव । यथा सेवासक्तः पुमान् स्वामिपुरस्तान्नात्यासने नातिदूरे
तिष्ठति ॥

प्रणम्य जननीं जिनेशितुरिभांसमासेदुषीं

स गर्भभवने पुनः किमु न देवयुक्छन्दके ।

जिनं स्वयमिव स्थितं विकचनेत्रपत्रैः पिव-

त्रवाङ्मनसगोचरां मुदमविन्दत श्रीगुरुः ॥ १०१ ॥

स हीरविजयसूरिरिति नाम्ना प्रसिद्धः श्रिया गणभृलक्ष्म्या युक्तो गुरुस्तत्त्वज्ञः जैन-
श्राद्धानां धर्मोपदेष्टा जिनं श्रीकृष्णभतीर्थकरं विकचैर्विनिर्द्रेनेत्रपत्रैः । पूज्यत्वाद्वहुत्वम् ।
नयनकमलदलैः पिवन् सादरमवलोकयन् सन् अवाङ्मनसयोर्न वचनचेतसोगोचरं
विषयातीतम् । वाचा वक्तुं न शक्यते चेतसा च ज्ञातुं न पार्यते इत्यर्थः । तादृशीं मुद-
मानन्दमविन्दत प्राप्नोति स्म । किंभूतं जिनम् । स्थितं स्थितिं कृतवन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—
स्वयमात्मनैव मोक्षादागत्यात्र तस्थिवांसमिव । क स्थितम् । गर्भभवने भवनस्य गर्भो गर्भ-
भवनः । ‘क्वचिदमाद्यन्तस्य परत्वम्’ इति सूत्रेण भवनस्य परत्वम् । तस्मिन् गर्भागारे ।
उत्प्रेक्ष्यते—देवेत्यादिपदेन युनक्ति योगं प्राप्नोति संबन्धं लभते इति देवयुक् तादृश-
छन्दकः । स्वार्थे कः । एतावता देवच्छन्दकस्तस्मिन्निव । प्रागपि समवसरणे मध्ये
प्राकारान्तर्देवच्छन्दक आसीत्, तत्र च सुखं तिष्ठन्नासमानः शयान आसीत्तद्वत् । किं
कृत्वा मुदमविन्दत । जिनेशितुः श्रीवृषभध्वजस्य जननीं मातरं प्रणम्य मरुदेवीं प्रणाम-
विषयीकृत्य । किं चकृषी । इभस्य गजराजस्य अंसं स्कन्धमासेदुषीमाश्रितवतीम् । आरूढा-
मित्यर्थः । यदुक्तं स्थानाङ्गे चतुर्थस्थानकचतुरन्तक्रियाधिकारे—‘मरुदेवा हि स्थावर-
त्वेऽपि क्षीणप्रायकर्मत्वेनाल्पकर्मा अविद्यमानमानतपोवेदना च सिद्धा गजवराहरूढाया
एवायुःसमाप्तौ सिद्धत्वात् ।’ इति ॥

जिनानननिशीथिनीमणिनिरीक्षणप्रोल्लस-

द्भृदन्तरमुदम्बुधिस्फुरदभङ्गभङ्गैरिव ।

स गौतमगणीन्द्रवच्चरममादिमं श्रीजिनं

सुधामधुरिमाङ्कितैरभिनवैः स्तवैरस्तवीत् ॥ १०२ ॥

स सूरिरादिमं प्रथमं श्रीजिनमृषभं सुधावत् पीयूषैरिव मधुरिमणा माधुर्येण अङ्कितैः
कलितैस्तथा अभिनवैर्नवीनैः स्वयं विहितैः स्तवैः स्तोत्रैः अस्तवीत् तुष्टुवे । ‘तुब् स्तुतां’
धातुरुभयपदी । किंवत् । गौतमवद्गणीन्द्रवत् । यथा गौतमनामा गणितां साङ्गे प्रवचने
अधीतानां मध्ये इन्द्रो गणधरश्चरमं श्रीजिनं महावीरं भगवन्तम् अथ वा शत्रुं जये
यात्रार्थं समेतो जगच्चिन्तामणिः इति नमस्कारो नाभिनरिन्दमह्वार इति स्तवनमित्यादि
प्रघोषान् स्तवैश्च स्तौति स्म । अथः स्तवैः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनस्यादिदेवस्य आननं मुखं

तदेव निशीथिनीमणिश्चन्द्रः । 'निशारत्नकरौ च चन्द्रः' इति हैम्याम् । तस्य निरीक्षणेन दर्शनेन प्रोल्लसद्देवीभवन् यो हृदन्तरे मनोमध्ये मुदानन्दरूप एवाम्बुधिः समुद्रस्तस्य स्फुरन्तो विस्तरन्तो ये अभङ्गाः भङ्गाः कल्लोलास्तैरिव ॥

जय त्रिदशशेखरोन्मिषितपुष्पमालागल-
न्मरन्दकणमण्डलीस्त्रपितपादपद्मद्वय ।

जयामृतनितम्बिनीहृदयतारहारो जग-

त्रयीजनसमीहितं त्रिदशसालवत्पूरयन् ॥ १०३ ॥

हे जिन, त्वं जय विजयस्व सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तस्व । हे त्रिदशा देवास्तेषां शेखरा अव-
तंसाः । 'आपीडशेखरोत्तंसावतंसा शिरसः स्रजि' इति हैम्याम् । तेषामुन्मिषितानि
विकसितानि यानि पुष्पानि कुसुमानि तेषां माला माल्यानि श्रेणयो वा ताभ्यो गलन्तो
निष्पतन्तो ये मरन्दाः पुष्परसाः तेषां कणा बिन्दवस्तेषां मण्डलीभिः स्त्रपितं प्रक्षा-
लितं धौतं पादौ चरणावेव पद्मौ कमलौ तयोर्द्वयं युगलं यस्य स तस्य संबोधनम् ।
पुनः हे जिन, त्वं जय । त्वं किभूतः । अमृतं महानन्दस्तदेव नितम्बिनी दुर्वारोहा
महिला तस्या हृदये स्तनान्तरे उज्ज्वलः । अथ वा ताराणां निर्मलमौक्तिकानां हारो
मुक्तावली । हारोपम इत्यर्थः । 'तारो निर्मलमौक्तिके' इत्यनेकार्थः । हे पूरयन् संपूर्णाङ्ग-
वैन् हे विश्राणयन् । संबोधने 'शत्रानशौ' इति प्रक्रियासूत्रेण संबोधने शत्रुप्रत्ययः ।
तथा च 'गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्' इति नैषधे संबोधनं पदं वृत्तौ व्याख्यातमस्ति ।
किभूतः । जगतां विश्वेषां त्रयीनां स्वर्गपातालभूमीनां जनानामेतावता सुरासुरदानव-
मानवानां समीहितं मनसामभिलषितम् । किंवत् । त्रिदशसालवद्यथा कल्पद्रुमः सर्वेषां
समीहितं पूरयति ॥

जयोल्लसितकेवलामलतमात्मदर्शोदरा-

नुबिम्बितजगत्रयाखिलपदार्थसार्थ प्रभो ।

जय त्रिभुवनाद्भुतातिशयपद्मिनीसद्मना

विनिद्रवनवीरुधा विटपिवत्समालिङ्गित ॥ १०४ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, हे उल्लसितमावरणापगमात्प्रकटीभावं प्राप्तं यत्केवलं लोकालोकप्र-
काशनप्रशुणपञ्चमज्ञानम् । 'केवलं त्वेककृत्स्नयोः । निर्णाते कुहने ज्ञाने' इत्यनेकार्थः । तदे-
वामलतमः अतिशयेन विशुद्धो य आत्मदर्शो दर्पणस्तस्योदरे मध्ये अनुबिम्बिता प्रति-
बिम्बयुक्ता जाताः संक्रान्ता नागलोकखल्लोकभूलोकानां त्रयस्याखिलाः समस्ताः पदार्था
यावद्भूतानि तेषां सार्थाः समूहा यस्य तस्य संबोधने त्वं जय । हे समालिङ्गित सम्य-
क्प्रकारेण कृताश्लेषक, या त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि अद्भुताश्चर्यकारिणी अतिशयरूपा
स्वामाविका आजन्मजाताश्चत्वारस्तथा कर्मणां घाताज्जाता एकादश तथा देवनिर्मिता

एकोनविंशतिः एवं चतुर्विंशत्तदतिशयरूपा पद्मिनीसद्या पद्मवासा लक्ष्मीः । पद्मिन्यां कमले सद्य गृहं यस्याः सा । एतावता । 'श्रीहरेप्रिया । पद्मवासा' इति हैम्याम् । तथा 'पद्मिनी योषिदन्तरे । अञ्जेऽब्जिन्यां सरस्यां च' इत्यनेकार्थः । तथा । किंवत् । विटपि-
वत् । यथा विटपी पादपः विनिद्रया विकसितया वनवीरुधा विपिनवल्लया समालिङ्ग्यते ॥

जय प्रकटयन्पथो रविरिवथ मश्वस्तमः

कुट्टगिरिव कौशिकैर्जगति दुर्निरीक्ष्यः पुनः ।

गजेन्द्र इव वज्रिणः स्फुरदखण्डशौण्डीरिमा

मृगारिरिव निर्भयः परिभवन्कुरङ्गान्पुनः ॥ १०९ ॥

हे ऋषभ, त्वं चिरं जय । किं कुर्वन् त्वम् । प्रकटयन् । कान् । पथो मार्गान् । धर्मकर्म-
संबन्धिनः स्वर्गापवर्गनरकादिकान्वा । क इव । रविरिव भास्वानिव । यथा भास्करः पथो
भुवो मार्गान् प्रकाशयति स्पष्टान् दर्शयति । अथ पुनः रविरिव तमोऽज्ञानं पापं वा
ध्वान्तं चमश्नन्निर्दलयन् । पुनः रविरिव कौशिकैर्वृक्षैरिव जगति विश्वे कुट्टगिरिभिः कुपाक्षिकैः
दुःखेन कष्टेन निरीक्षितुं द्रष्टुं शक्यः । पुनर्वज्रिणो वासवस्य गजेन्द्र इव ऐरावण इव ।
स्फुरन् स्फूर्तिं प्राप्नुवन् अखण्डः परैः सुरासुरनरैरप्रतिहतः शौण्डीरिमा पराक्रमो यस्य ।
पुनर्मृगारिरिव निर्भयो देवमनुजतिर्यक्तोपसर्गपरिषदादिभ्यो भीतिरहितः । पुनः
कुरङ्गः कुमतकुदर्शनमिथ्यात्वादिषु रङ्गो रागो वासना येषां तान् । 'रङ्गः स्यान्नृत्तयु-
द्भुवोः । रागे' इत्यनेकार्थः । मृगांश्च परिभवन्मश्वत् ॥

जयानिमिषसानुमानिव सुजातरूपः पुनः

प्रभञ्जनभरैः कथंचन न कम्प्रभावं भजन् ।

सुधांशुरिव बोधयन्कुवलयं विलासैर्गवां

समुल्लसितगौरिमा कलितशीतलेश्यः पुनः ॥ १०६ ॥

हे युगादिदेव, त्वं जय चिरं विजयवान् भव त्रिभुवनोपकारं कुर्वाणः प्रवर्तस्व । किं-
भूतः । अनिमिषाणां देवानां सानुमान् शैलः सुमेरुरिव सुष्ठु शोभनं त्रैलोक्यातिशायि
जातमुत्पन्नं प्रादुर्भूतं वा रूपं यस्य मेरौ तु प्रकृष्टं जातरूपं स्वर्णं चसिन् । पुनः किं-
भूतः । प्रकर्षेणातिशयेन भजता उपमर्दनाव्याघातादिकारिण उपसर्गाः प्रतिकूलदेवादयो
वा तेषां भरैर्गणैः कथंचन कम्प्रभावं कम्पनशीलतां कातरतया भयपरिणामतां न नैव
भजन् । मेरुस्तु वातवैश्वान्नाचलित्वं न भजते चालयितुमशक्यः । पुनः सुधांशुश्चन्द्र इव
गवां विलासैः पञ्चत्रिंशद्गुणकलितयोजनविस्तरद्वाचां चातुरीभिश्चन्द्रिकाप्रचारैश्च कुवलयं
मेदिनीमण्डलं तत्र स्थायुक्तत्वेन उपलक्षणत्वाज्जगत्रयमपि उत्पलं च बोधयन् प्रतिबोधं
प्रापयन् प्रतिबोधकलितं कुर्वन् विकाशयन् । पुनः किंभूतः । समुल्लसितां स्फूर्तिमत्तां
प्राप्तः चतुरलोचनपुटकपेयतां प्राप्तो वा गौरिमेव विकचचम्पककाञ्चनवद्भुप्रीतिमा

श्वेतिमा च यस्य । 'गौरः श्वेतपीतयोः' इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतः । कलिता धृता शीतलेदया शीतलता च येन ॥

जय प्रशमयन्मनोभवभटं महाबोधिव-

त्कुट्टकमलकाननोन्नमदकाण्डचण्डाम्बुदः ।

सलीलदलिताखिलप्रबलदोषदोषातमः-

स्फुरद्विमलकेवलाम्बुरुहबन्धुबिम्बोदयः ॥ १०७ ॥

हे नाभेय देव, त्वं जय चिरकालं जीयाः । किं कुर्वन् । प्रशमयन्निघ्नन् । 'प्रोजासनं प्रशमनं प्रतिघातनं वधः' इति हैम्याम् । तथा 'वत्स्यति शमयति च दमयति च' इति क्रिया-कलापे हिंसायै । कम् । मनोभवः कंदर्पः स एव भटः वीरस्तम् । किंवत् । महाबोधिवत् । यथा बुद्धः स्मरशूरं प्रशमयामास । 'बोधिसत्त्वो महाबोधः', तथा 'मारलोकरवजित्' इति हैम्याम् । द्विकमपि । पुनः किंभूतः । कुट्टकः कुपाक्षिकाः अन्यदर्शनिन एव कमलकाननानि पद्मवनखण्डानि तेषु उन्नमन् साडम्बरीभवन् जलभरेण भवन् वा महीं स्पृशन्वा अकाण्डे अप्रस्तावे प्रावृषं विनैव चण्डः कठिनः मुशलप्रमाणजलधारावर्षीं अम्बुदो मेघः । 'बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः' इति रघौ । 'निद्राणपङ्कजसरसि जलदानेहसि' इति चम्पूकथायाम् । पुनः किंभूतः । सलीलं लीलासहितं यथा स्यात्तथा प्रयासं विनैव दलितानि विध्वस्तानि चूर्णीकृतानि अखिलानि समस्तान्यपि प्रबन्धप्रसवानि अष्टादशसंख्याकाः प्रबला अनुकूलबलत्वात्परमैर्महामूढतया कातरीभूतैरन्यैर्भर्तुमशक्या दोषा दानान्तराय-लामान्तराय-वीर्यान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-हास्य-रति-अरति-भय-जुगुप्सा-शोक-काम-मिथ्यात्व-अज्ञान-निद्रा-अविरति-राग-द्वेषरूपा अपशुणा एव दोषातमांसि निशान्धकाराणि तैः कृत्वा स्फुरन्दीप्यमानो विमलो हिमाम्बुदापग-माद्विशदः केवलमनन्यापेक्षं लोकालोकप्रकाशकारकमनुत्तरं पञ्चमज्ञानं तदेवाम्बुरुह-बन्धोः कमलसुहृदो दिनकरस्य बिम्बोदयः प्रादुर्भावो यस्य ॥

जयामृतविभूतिभागधन इवातिधीरध्वनि-

निरञ्जनतयोदितो जलजवद्विशुद्धाशयः ।

सुधारस इव प्रभो सकलजन्तुजीवातुको

भवाद्वभवृतोऽम्बुधेर्जगति पोतवत्तारयन् ॥ १०८ ॥

हे मारुदेवदेव, त्वं जय । त्वं किंभूतः । धन इव मेघवत् अमृतं निःश्रेयसं सलिलं च तस्य तेन वा विभूतिं संपत्तिं शोभां वा भजतीति । चिण्प्रत्यये भाक् । तथा अतिशयेन सर्वेभ्यश्चराचरेभ्योऽभ्यधिकतया धीरो देशनासमये गम्भीरो वा ध्वनिर्वापिव-लासो गर्जितं गर्जारवो यस्य । पुनः किंभूतः । जलजवत् शङ्ख इव । 'ततः प्रियोपात्त-रसेऽधरोष्ठे निवेद्य दध्मौ जलजं कुमारः' इति रघुवंशे । निर्गतमञ्जनं रागद्वेषोपलेपो

रजोवगुण्ठनं वा यस्माद्यस्य वा तत्त्वेनोदितः कथितः प्रादुर्भूतो वा । पुनः किंभूतः । जलजवत् शङ्खवन्निरेख इव विशुद्धो निष्पापो निर्मलश्च आशयो मनो मध्यं च यस्य सः । पुनः किंभूतः । सुधारसः पीयूषमिव सकलानां त्रिभुवनभवनोदरवर्तिनां जन्तूनां प्राणिनां जीवातुको जीवनौषधम् । पुनः किंभूतः । जगति विश्वे भवभृतो भविकजीवान् भवात्संसारोत्तारयन् संसारपरपारवर्तिमुक्तिनगरीं प्रापयन् । किंवत् । पोतवत् । यथा पोतो यानपत्रमम्बुधेः समुद्रमध्याज्जनान् सांयानिकलोकान्निस्तारयति ॥

जयेश इव कालमिच्छितशिवश्च मृत्युंजयो

वहन्निरवलम्बतां गगनवत्पदं ज्योतिषाम् ।

युगादिसमये पुनर्जगदशेषसृष्टिं सृज-

न्सरोजतनुजन्मवत्कलमराललीलागतिः ॥ १०९ ॥

हे सुरभीनन्दनकेतन जिन, त्वं जय सर्वेभ्योऽप्युत्कृष्टतया प्रवर्तस्य । त्वं किंभूतः । कालमिदं कालं कलियुगं भिनत्तीति । क्षिप्रप्रत्यये । पुनः किंभूतः । श्रितं शिवं कल्याणं महानन्दश्च । पुनः किंभूतः । मृत्युं मरणं जयतीति जरामरणरहितत्वात्सिद्धत्वाच्च । क इव । ईश इव । यथा शंभुरपि कालनामानं दानवं भिनत्तीति । तथा श्रिता अर्धाङ्गीकृता शिवा पार्वती येन । तथा मृत्युंजयनाम लोके अनाद्यन्तत्वात् वर्तते । पुनः किं कुर्वन् । गगनवदाकाशवत् निर्गतः अवलम्ब आधार आश्रयो वा यस्मात्तस्य भावस्तत्तां वहन्धारयन् । पुनर्ज्योतिषां तेजसां पृष्ठवर्ति भामण्डलभावाद्ब्रह्मक्षत्रतारकाणां च पदं स्थानम् । पुनः किं कुर्वन् । सृजन् विदधत् । काम् । जगदशेषसृष्टिं जगतां भुवनजना-नामशेषां समस्तां कुलशिल्पशिक्षकादिकां सर्गरचनाम् । क । युगस्यादौ सर्वलौकिकव्यवहार-प्रकटीकरणप्रथमसमये । पुनः किंभूतः । कलो मनोज्ञो यो मरालो राजहंसस्तद्वल्ली-लया मन्थरत्वेन न त्वौत्सुक्येन त्वरिततया वा चापल्येन वा गतिर्गमनं यस्य । किंवत् । सरोजतनुजन्मवत् । यथा पद्माङ्गजन्मा विधाता । 'पद्मनन्दनसुतारिरंशुता' इति नैषधे । युगानां कृतद्वारपरत्रेताकलिनान्नां कालविशेषाणामादिसमये जगतां सुरासुरनरनारक-तिरश्चां समग्रां गृहाह्नगगनगरादिकां सृष्टिं सृजति स्म । कलमरालेन कृत्वा क्रीडया गमनं यस्य हंसवाहनत्वात् ॥

शरत्समयपङ्कजाकर इव प्रसन्नाशयः

कुशेशयपलाशवन्निरुपलेपभावं भजन् ।

प्रमद्वरपदं दधन्न च कदापि भारुण्डव-

द्विशेषक इवालिं विमलभूधरं भूषयन् ॥ ११० ॥

हे वृषभध्वज जिनेन्द्र, त्वं जयेति संबन्धः । त्वं किंभूतः । शरत्समयो जलवाहवि-रामकालस्तस्य तस्मिन्वा यः पङ्कजाकरस्तटाकः तद्वत् प्रसन्नः प्रसादोपेतः अच्छोऽना-

विल आशयो हृदयं मध्यं यस्य । पुनः किं कुर्वन् । कुशेशयं कमलं तस्य पलाशं पत्रं तदिव निर्गत उपलेपः संसाराभिध्वङ्गः लिम्पनं च यस्मात्तस्य भावस्तत्ताम् । निर्लेपतामित्यर्थः । भजन्नाश्रयन् । च पुनः कदापि कस्मिन्नपि समये भारुण्डवद्भारुण्डपक्षीव प्रमद्वरपदं प्रमादस्थानम् । प्रमत्ततामित्यर्थः । 'जनैव दधत् मा भूः कापि प्रमद्वरः' इति पाण्डवचरित्रे । पुनः किंभूतः । विमलभूधरं शत्रुं जयशैलं भूषयन्नलंकुर्वन् । क इव । विशेषक इव । यथा तिलको ललाटं भूषयति ॥ इति हीरसूरिकृता ऋषभदेवस्तुतिः ॥

इत्यभिष्टुत्य सूरिश्वरः श्रीजिनं भालविन्यस्तहस्तद्वयाम्भोरुहः ।

इष्यशाखी फलाप्तेरिवामोदवान्प्राणमद्भूतलालम्बिमौलिस्थलः ॥ १११ ॥

भूतलं पृथ्वीपीठमालम्बते इत्येवंशीलं मौलिस्थलं मस्तकं यस्य तादृशः सन् सूरिश्वरो हीरविजयसूरिवासवः श्रीजिनमृषभदेवं प्राणमत्प्राणनाम नमस्करोति स्म । किं कृत्वा । भाले ललाटे विन्यस्तं स्थापितं हस्तयोर्द्वयं करयोर्युगलमेवाम्भोरुहं कमलं येन तादृशः सन् इति पूर्वाक्तकाव्यैरभिष्टुत्य स्तुतिं कृत्वा । किंभूतः सूरिः । फलाप्तेः श्रीशत्रुं जययात्राऋषभदेवदर्शनादिरूपफलस्य प्राप्तेः सकाशादामोदवान् परमानन्दकन्दकन्दलितहृदयः । क इव । इष्यशाखीव । यथा वसन्ततरुभूतले मेदिनीमण्डले मिलन्त्यो मस्तकस्य शिखरस्य शाखा यस्य तादृशः फलानामुपलक्षणात्पल्लवपत्रकुसुमानां च लालादामोदवान्परिमलकलितः प्रकर्षेण नमति ॥

निववृते प्रमदेन्दिरयान्वितः स जिनगर्भगृहान्तरतस्ततः ।

चतुरिकोदरतोऽभिनवोढया वर इवामृतदीधितिक्वत्रया ॥ ११२ ॥

ततो जिनस्तुतिभुतिकरणानन्तरं स सूरिर्जिनस्य ऋषभदेवस्य यो गर्भगृहो गर्भागारस्तस्यान्तरतो मध्यान्निववृते निवृत्तः पश्चाद्ववले । 'निववृते स महार्णवरोधसः' इति रघौ । बहिरागगामेत्यर्थः । किलक्षणः । प्रमदेन्दिरया प्रमोदलक्ष्म्या अन्वितो युक्तः । क इव । वर इव । यथा वरयिता परिणेतुः अभिनवोढया तात्कालिकपरिणीतया अमृतदीधितिक्वत्रया चन्द्रमुख्या आह्लादकृद्वदनया सहितः । चतुरिकोदरतः 'चउरी' इति प्रसिद्धाया मध्यतः गर्भान्निवर्तते बहिरागच्छति ॥

शांभवाद्बहिरुपेत्य सन्ननः पर्षदो वसुमतीपतेरिव ।

द्वारि धीसख इव प्रवेशने धर्मकृत्यविधये स आसितः ॥ ११३ ॥

स हीरसूरिः द्वारि प्रासादद्वारदेशे आसित उपविष्टः । कस्यै । धर्म्याणि धर्मसंबन्धीनि दीक्षोपस्थापनाव्रतोच्चारादीनि कृत्यानि कार्याणि तेषां विधिः शास्त्रोक्तप्रकारेण करणं तदर्थम् । क इव । यथा सचिवः प्रधानः धर्म्याणां न्यायव्यवहारोपलक्षितकार्याणां राजप्रजासंबन्धिनां विधये प्रवेशने आसितो भवति । किं कृत्वा । शांभवात्तीर्थकरसंबन्धिनः सन्ननः मन्दिराद्बहिर्बाह्यप्रदेशे उपेत्यागत्य । कस्या इव । पर्षद इव । यथा धीसखो वसुमतीपतेः पर्षदः सभाया बहिरेत्य सिंहद्वारे राजप्रजाकार्यार्थमुपविशति ॥

अदीक्षयत्तत्र स कांश्चिदिभ्यतनूभवान्गौतमवद्गणीन्द्रः ।

कांश्चित्ककुश्रेष्ठिमुखाङ्गभाजस्तुर्यव्रतोच्चारमकारयच्च ॥ ११४ ॥

तत्र प्रासादद्वारे गणिनामनूचानानामिन्द्रः पुरंदरः गणनायको वा कांश्चिदिभ्यतनू-
भवान् व्यवहारिनन्दनानदीक्षयत्प्रात्राजयदीक्षां ददाति स्म । किंवत् । गौतमवत् । यथा
गौतमस्वामी इभ्यायङ्गजान् दीक्षयति स्म । पुनः कांश्चित् अणहिलपाटकपत्तनसत्ककुनाम
श्रेष्ठी प्रमुखो मुख्यो येषां तादृशानङ्गभाजो भव्यास्तुर्यव्रतं ब्रह्मचर्यं तस्योच्चारं प्रत्या-
ख्यानमकारयत् ब्रह्मचर्यमुच्चारयति स्म ॥

पुण्डरीकान्तिकस्थान्तरथोद्दिश्य वशीव सः ।

श्रीशत्रुंजयमाहात्म्यं वृषाङ्कवदभाषत ॥ ११५ ॥

अथ दीक्षादानानन्तरं पुण्डरीकनामा ऋषभदेवप्रथमभृत्तन्मूर्तेरन्तिके समीपे तद्देवकु-
लिकामागत्य तत्पार्श्वे एव स्थास्तुस्तिष्ठतीति एवंशील एतावता मूलप्रासादद्वारादुत्थाय
पुण्डरीकमूर्तेः पार्श्वे आगत्योपविष्ट इत्यर्थः । तादृशो वशी जितेन्द्रियः सूरिर्विशो या-
त्रिकलोकाहुद्दिश्य श्रीशत्रुंजयमाहात्म्यं विमलचलमहिमानमभाषत कथयति स्म । किं-
वत् । वृषाङ्कवत् । यथा ऋषभदेवः पूर्वं सिद्धशैलमाहात्म्यं भाषते स्म ॥

यत्तीर्थेऽन्यत्र शुद्धाध्यवसितिर्विशदध्यानतः पूर्वकोट्या

प्राणी बध्नाति पुण्यं भवति भवभृतां तत्क्षणेनाप्यमुष्मिन् ।

भेतव्यं पातकेभ्यो भुवि न भविजनैर्भेद्यनिर्भेददक्षे

क्षमाभृत्यस्मिञ्शरण्ये पुनरहिमरुचीवान्धकारोत्करेभ्यः ॥ ११६ ॥

अन्यत्र अपरस्मिन्तीर्थे शुद्धा निष्पापा या अध्यवसितिर्ध्ववसायः शुभपरिणामस्तेन
कृत्वा यद्विशदं शुल्कध्यानं तस्मात्सप्ततिवर्षकोटिलक्षषट्पञ्चाशत्कोटिसहस्रवर्षमानपू-
र्वाणां कोट्या शतलक्षैः कृत्वा यत्पुण्यं शुभकर्म प्राणी बध्नाति जन्तुरुपार्जयति तत्पुण्यं
तावत्प्रमाणं सुकृतममुष्मिन् शत्रुंजये तत्क्षणात्स एव क्षणस्तत्क्षणस्तस्मात् । तत्काल
एवेत्यर्थः । अष्टादशनिमेषैरेका काष्ठा, द्वाभ्यां काष्ठाभ्यामेको लवः, पञ्चदशभिल्लैर्वैरेका
कला, द्वाभ्यां कलाभ्यामेको लेशः, पञ्चदशभिल्लैश्चैरेकः क्षणः, षड्भिः क्षणैरेका घटिका,
द्वाभ्यां घटिकाभ्यां सुहूर्तम्, इत्यादिकालमानम् । भवभृतां भविनां भवति जायते ।
पुनर्भुवि पृथिव्यां शरणागतवज्रपञ्जरे अस्मिन् शत्रुंजयनाम्नि पर्वते पृथ्वीपतां च सति
भविजनैर्भविकलोकैरनन्तदुःखदातृत्वाद्वैरिभूतेभ्यः पातकेभ्यः कथंचित्प्रमादात्पापानि
कृत्वा न नैव भेतव्यं न भयमानेयम् । किंभूते । भेद्यानि भेत्तुं योग्यानि दुःकर्माणि तेषां
निर्भेदे घातने निवारणे दक्षे निपुणे । यदुक्तं शत्रुंजयमाहात्म्ये—‘न भेतव्यं पातकेभ्यः
प्रमादिभिः । श्रूयतामेकवेलं श्रीसिद्धक्षेत्रकथानकम् ॥’ कस्मिन्निव । अहिमरुचीव । यथा
अभ्युदिते सहस्रकिरणे अन्धकाराणां ध्वान्तानां भयं नानीयते । हिमादन्या अ-

हिमा उष्णा रुचः किरणा यस्य । यदुक्तं माघे—‘उदयमहिमरदिमर्याति शीतांशुरस्त्रं
कुमुदवनमपथि श्रीमदम्भोजखण्डम् । त्यजति मदमुल्लसः प्रीतिमांश्चक्रवाको हतविधि-
ललितानां ही दुरन्तो विपाकः ॥’

अर्हद्देशनवेश्मनीव सततं संत्यज्यतेऽस्मिन्मिथः

पारीन्द्रद्विरदादिजन्मनिवहैराजन्मविद्वेषिता ।

राज्ये नीतिमतः क्षितेरधिपतेर्वाता इवोर्वीस्पृशां

सर्वे सन्त्यकुतोभया यदचलोत्सङ्गे पुनः स्थायुकाः ॥ ११७ ॥

भो भव्याः, अस्मिन् शत्रुंजये सततं निरन्तरं पारीन्द्रद्विरदादिभिः सिंहहस्तिप्रमुखैः ।
आदिशब्दाद्याप्रधेनुचित्रमृगमार्जारमूषकमयूरनागाद्यैः । अन्यैरपि बहुभिरङ्गिभिः प्राणिग-
णैर्मिथः परस्परं जन्म मर्यादीकृत्याजन्म अवतारमुत्पत्तिमारभ्य । मरणान्तं यावदित्यर्थः ।
आजन्मनो विद्वेषिता वैरिभावः संत्यज्यते मुच्यते । कस्मिन्निव । अर्हद्देशनवेश्मनीव ।
यथा जिनेन्द्रसमवसरणे सर्वैः प्राणिभिर्मिथो वैरं संत्यज्यते । यदुक्तम्—‘सारङ्गौ
सिंहश्चाव स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकि-
कान्ता भुजङ्गम् । वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति श्रि-
त्वाद्याम्यैकरूढप्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥’ पुनर्यदचलोत्सङ्गे यस्य शत्रुंजयस्य
पर्वतस्योत्सङ्गे कोडे स्थायुका वसनशीलाः सर्वे स्वपरजातीयः प्राणिनः न विद्यते कुत-
श्चित्कस्माच्चनापि भयं येषां ते अकुतोभया निर्भीका अज्ञातभयाह्वानाः सन्ति विद्यन्ते ।
कस्मिन्निव । राज्य इव । यथा नीतिमतो न्यायवतः क्षितेरधिपते राज्ञो राज्ये उर्वीस्पृशां
मानवानां वाताः समूहा अकुतोभया भवन्ति ॥

स्वर्णोदयार्बुदब्रह्मगिर्याद्यष्टशतोन्मितैः ।

सुतैरिवोत्तुङ्गशृङ्गैः परितः परिवारितः ॥ ११८ ॥

यः श्रीशत्रुंजयपर्वतः उत्तुङ्गैर्गगनावगाहिभिः शृङ्गैः शिखरैः परितः सर्वतश्चतुर्विधु-
च परिवारः परिच्छेदः संजातोऽस्येति परिवारितः । परिचारयुक्तो जात इत्यर्थः । किं-
भूतैः शृङ्गैः । स्वर्णगिरिः-उदयगिरिः-अर्बुदगिरिः-ब्रह्मगिरिः एते चत्वारः शैला आदौ
प्रथमं यस्य तादृशेन अष्टाभिरधिकेन शतेन उन्मितैः प्रमाणीकृतैः । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चैः
शिरोभिः अथ वा उत्प्राबल्येन तुङ्गेभ्योऽपि महद्भ्योऽपि तुङ्गैर्महद्भिः । ‘तं मानतुङ्गमवशा
समुपैति लक्ष्मीः’ इति भक्तामरस्तवे । मानेन तुङ्गे महान् इति मानतुङ्गः । सुतै-
र्नन्दनैरिव परिवारकलितः ॥

तीर्थमास्ते न विश्वेऽप्यदःसंनिभं विश्वकर्त्रेति रेखा किमेषा कृता ।

स्वर्गिणां निम्नगावत्पुनाना जनान्यत्र शत्रुंजये भाति कल्लोलिनी ॥ ११९ ॥

यत्र शत्रुंजये शैले शत्रुंजयनाम्नी कल्लोलिनी भाति नदी शोभते । किं कुर्वाणा ।

जनान् भविकलोकान् पुनाना पवित्रीकुर्वाणा । किञ्चत् । निम्नगावत् । यथा स्वर्गिणां देवानां निम्नगा गङ्गा परशासनलोकप्रसिद्धा लोकान्पुनीते । उत्प्रेक्ष्यते—त्रैलोक्येऽपि विश्वत्रयेऽपि अदःसंनिभम् अस्य विमलाद्रेः संनिभं तुल्यमन्यतीर्थं नास्ते लोकान् जगजनानिति वक्तुं वा विश्वकर्त्रा जगत्पृष्ठिकारकेण विधिना एषा प्रत्यक्षलक्ष्या शत्रुञ्जया नदी किमु रेखा कृता विहितेव ॥

केवलज्ञानितीर्थेशतीर्थे पुरा स्नात्रनिर्मितस्येशानजम्भद्विषा ।

सिद्धसिन्धोर्मुदानायि यस्मिन्नसौ जह्नुनेव प्रवाहो नगेऽष्टापदे ॥ १२० ॥

पुरा पूर्वं गतचतुर्विंशत्यास्तृतीयारकस्यादिसमये केवलज्ञानिनामा प्रथमतीर्थकर-स्तस्य तीर्थे शासने वारके वा तस्मिन् जिते विद्यमाने वा यस्मिन् शत्रुञ्जयनाम्नि नगे गिरौ प्रथमस्थापितप्रासादे स्नात्रनिर्मितसया अर्थात्केवलज्ञानितीर्थकृन्मूर्तेरेव स्नात्रस्य कर्तुमिच्छया ईशाननाम्ना द्वितीयपदे लोकनायकेन जम्भद्विषा इन्द्रेण सिद्धसिन्धोर्वेताढ्य-शैलान्तर्वर्तिन्या गङ्गाया मध्यादसौ शत्रुञ्जयाभिधाना सिन्धुरा नायता आनीता वा इत्येषा कथा शत्रुञ्जयमाहात्म्येऽस्तीति । केनेव । जह्नुनेव । यथा सगरचक्रिणः षष्टिसह-स्रसुतेषु ज्येष्ठेन नन्दनेन अष्टापदाभिधाने नगे भूधरे अर्थात्काञ्चनप्रासादमणिमयप्रति-मारक्षाकृते । दण्डरत्नकारितसहस्रयोजनोद्वेधकैलाशशैलपरितः खातिकाखातपूरणार्थमि-त्यर्थः । सिद्धसिन्धोः संनिधिवर्तिमन्दाकिन्या एव प्रवाहो दण्डरत्नेनैव पानीयोऽथ आ-नायि इत्येषामपि कथा शत्रुञ्जयमाहात्म्ये एवास्ते ॥

रसकूपीदिव्यौषधीसुवर्णमणिरत्नभूमिरेष गिरिः ।

शिव इव सकलाः सिद्धीः पुनर्दधानः श्रियं श्रयते ॥ १२१ ॥

एष शत्रुञ्जयाख्यो गिरिः पर्वतः श्रियमद्वैतवैभवत्वेन शोभां श्रयते धत्ते । किंभूतः । रसकूपीनां लोहताम्रादीनां हेमविधायकै रसैः परिपूर्णानां लघुकूपानां तथा दिव्यानां देवा-धिष्ठातृत्वेन महाप्रभावाणामौषधीनां सुवर्णरजतकारकाष्ठमहाभयस्तम्भकरोगविनाशक-निधिद्रव्यादिदर्शकाखिलकामितकारकादीनां विविधजटिकानां सुवर्णानामुपलक्षणाद्रूप्यत्र-पुसीसकताम्रलोहादीनां मणीनां चन्द्रकान्तादीनां रत्नानां कर्केतनप्रमुखाणां भूमिरर्थात्स्व-र्णादिखनीनामुत्पत्तिस्थानम् । पुनः किं कुर्वाणः । सकलाः सर्वजातीयाः सिद्धीर्दधानो धारयन् धत्ते । धारणं तु युक्तमेव । यतः स्वस्मिन् स्वस्य वा यद्भवति तत्परस्मै दीयते परं स्वस्मिन्नेव यन्न भवति तत्परस्मै कुतो दीयते । असौ तु एकतानो भवन्मानसानिशस्त्राराधकानामैहिकामुष्मिकाः सर्वाः सिद्धीः प्रदत्ते । क इव धत्ते । शिव इव । यथा ईश्वरोऽखिला लघिमा-वशिता-ईशिता-प्राकाम्यं-महिमा-अणिमा-यत्रकामाव-सायसायित्वं-प्राप्तिः इत्यष्टसिद्धीर्दधाति ॥

सूर्योद्यानं सुरेन्दोर्दिशि विपिनमिव स्वःसदां भाति यस्मि-

न्खर्गोद्यानं त्वपाच्यां दिशि गिरिकमलानीलचेलं किमेतत् ।

चन्द्रोद्यानं प्रतीच्यां विविधसुमभरैर्भूषितं भूषणैः किं

लक्ष्मीलीलाविलासं धनददिशि पुनः किं तदीयं निकुञ्जम् ॥ १२२ ॥

यस्मिन् शत्रुंजये सुरेन्दोरिन्द्रस्य दिशि पूर्वस्यां सूर्योद्यानं भाति । उत्प्रेक्ष्यते—स्वः-
सदां देवानां विपिनं काननं नन्दनवनमिव । पुनः अपाच्यां दक्षिणस्यां दिशि
स्वर्गोद्यानं राजते । उत्प्रेक्ष्यते—गिरिकमलाया विमलाचललक्ष्म्याः नीलं मरकतच्छवि
चेलं वल्लमिव । पुनः प्रतीच्यां पश्चिमायां दिशि चन्द्रोद्यानं आजते । किंभूतम् ।
विविधानि नानाप्रकाराणि रक्तपीतनीलकृष्णश्वेतादिवर्णानि सुमानि पुष्पाणि तेषां भरैः
समूहैर्भूषितं शोभितम् । उत्प्रेक्ष्यते—किंभूतैः । भूषणैराभरणैरिवालंकृतम् । पुनर्धनद-
दिशि उत्तरस्यां लक्ष्मीलीलाविलासं नाम वनं शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—तदीयमुत्तरदिक्पते-
र्धनदस्य संबन्धि निकुञ्जमुद्यानं चैत्ररथं वनमिव । 'विमानं पुष्पकं चैत्ररथं वनं पुरी
प्रभा' इति हैम्याम् । निकुञ्जशब्दः पुनपुंसकलिङ्गयोः । इदं वर्णनमग्रेऽपि प्रोच्यमानं
शत्रुंजयमाहात्म्यादितो ज्ञेयम् । अधुना तु तेषामलक्ष्यत्वेनेति ॥

राकामृगाङ्गा इव यत्र पद्माकरा रमां कांचन चिन्वते स्म ।

कुण्डान्यखण्डान्यपि नागगेहात्पीयूषकुण्डानि किमुद्धृतानि ॥ १२३ ॥

यत्र शत्रुंजये राकाणां यः सुपूर्णः षोडशकलाकलितश्चन्द्रो भवेत् । 'राका पूर्णे
निशाकरे' इति हैम्याम् । पूर्णिमासीनां मृगाङ्गाश्चन्द्रा इवामृतपूरिताः पद्माकरास्तटाकाः
कांचन वचनविषयातीतां रमां लक्ष्मीं चिन्वते पुष्पान्ति । पुनर्यत्र गिरौ अखण्डानि अ-
भ्रमानि अक्षतानि कुण्डानि हृदभेदा जलाशयविशेषाः शोभन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—नागगे-
हात्पातालादुद्धृतानि गृहीत्वा आनीतानि किं पीयूषकुण्डानि अमृतकुण्डानीव । पाताले
हि नव सुधाकुण्डानि सन्ति । यदुक्तं पञ्चमीस्तुतौ—'यात्वा देवाधिदेवागमदशमसु-
धाकुण्डमानन्दहेतुः' इत्यागमरूपं दशमं सुधाकुण्डम् । तथा नैषधवृत्तौ—'क्षितिं फणाम-
ण्डलै रक्षन्ति धारयन्तीति क्षितिरक्षिणो नागाः । यथा यत्कथाश्रवणात् पूर्वं फणिप्रभृ-
तयो नवसुधानां कुण्डानां रक्षिता कुण्डानि नामृतरोऽभूवंस्तथा रक्षयन्ति' इति ॥

कलितललितरङ्गचुङ्गतारङ्गसङ्गी-

मिलदलिकुलकेलीस्मेरदम्भोजपुञ्जः ।

श्रियमयति तटाकश्चिल्लणाख्योऽत्र नन्दी-

सर इव दनुजारिश्रेणिभिः सेव्यमानम् ॥ १२४ ॥

अत्र शत्रुंजयशैले चिल्लण इति आख्या नाम यस्य तादृशः तटाकः श्रियं शोभाम-
यति गच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः । किंभूतः । कलितं ललितं गमनागमनादिविलासो यैस्ता-
दृशाः तथा रङ्गन्तश्चलन्तस्तुङ्गा उच्चैस्तरा गगनावगाहिनस्तारङ्गाः कल्लोलसमूहाः । अत्र
समूहार्थेऽणप्रत्ययः । तथा 'वारंवारं तारतरस्वरनिर्जितगङ्गातारङ्गाम्' इति पद्मसुन्दरक-

तभारतीस्तोत्रे । तेषां सङ्गोऽस्यस्यास्मिन्वा । पुनः किंभूतः । मिलन्तो मकरन्द-
पानार्थं लोलुपतया आगत्य एकत्रावस्थितिं कुर्वन्तो ये अलिनो भ्रमरास्तेषां कुलं
सजातीयवृन्दानि । 'कुलं तेषां सजातीनाम्' इति हैम्याम् । तेषां केली क्रीडा यत्र
तादृशः स्मेरन्विकाशं प्राप्नुवन् । 'स्मेरदम्भोजखण्डाभिः' इति पाण्डवचरित्रे ।
अम्भोजानां कमलानां पुञ्जो ब्रजो यत्र । उत्प्रेक्ष्यते—नन्दीसर इव । यथा पूर्वोक्तवि-
शेषणविशिष्टमिन्द्रसरोवरं श्रियं श्रयति । एतद्वयमपि किंभूतम् । दनुजानां दान-
वानामरयो वैरिणो देवास्तेषां श्रेणिभिर्धोरणीभिः सेव्यमानम् । मोक्षार्थं क्रीडार्थं च
चिह्नणनन्दीसरसोर्विशेषणम् ॥

क्वचिदुपरिकर्पदिप्राक्सरः पालिशालि

स्मितशिखरिशिखाग्रस्थायुकानेकपक्षि ।

विलसति विमलाद्रौ स्वां जडाधारभावा-

भ्युदितजगदकीर्तिं हन्तुमेत्य स्थितं किम् ॥ १२९ ॥

विमलाद्रौ शत्रुंजयशैले क्वचित्कुत्रापि स्थानके उपरि अधित्यकाप्रदेशे कर्पदि इति
शब्दः प्राक् पूर्वं यस्य तादृशं सरो विलसति शोभते । किंभूतम् । पालौ सेतौ जलवा-
रणके शालन्ते शोभन्ते इत्येवंशीलाः, तथा स्मिता विकसिताः कुसुमिताश्च ये शिखरिणः
पादपास्तेषां शिखानां शाखानामग्रेषु उपरितनप्रदेशेषु स्थायुका वसनशीलास्तिष्ठन्ती-
त्येवंशीला उपविष्टा अनेके विविधजातीयाः पक्षिणो विहंगमा यत्र तत् । उत्प्रेक्ष्यते—
स्वां स्वकीयां डलयोरैक्याद्भावप्रधाननिर्देशाच्च जलाधारत्वेन अथ वा भावप्रधानत्वेन
विना जडानामाधारत्वेनाभ्युदितान् प्रकटीभूतामुत्पन्नां वा जगति विश्वे अकीर्तिमपयशो
हन्तुं किं निवारयितुमिवैत्यागत्य स्थितम् ॥

स्फुटमिव घटितानां वेधसा स्फाटिकानां

क्वचन खनिरपूर्वा तण्डुलानां विभाति ।

उदयति किल दृष्टेः सादिमातुः पुरस्ता-

दिव शतधृतिपुत्र्याः केसराङ्गराजी ॥ १२६ ॥

शत्रुंजये क्वचन बहिःप्राकारप्रतोलीप्रवेशानन्तरमेव पुरो भूमौ स्फाटिकानां स्फटि-
कोपलमयानां तण्डुलानां चोक्षानामपूर्वा असाधारणा खनिराकरो विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—
वेधसा सृष्टिकर्त्रा घटितानामिव निष्पादितानामिव । कथम् । स्फुटं प्रकटं यथा स्यात्तथा ।
किलेति श्रूयते निश्चितं वा । यदेतदित्यमेव दृश्यते च । सा चोक्षकखनिरादिमातुः युगा-
दिदेवजनन्या लोकेऽप्यादिमाता देवीविशेषा सैव मरुदेवा तस्या दृष्टेः पुरस्तादेवोद-
यति प्रादुर्भवति । केव । केसराङ्गराजीव । यथा शतधृतेर्ब्रह्मणः पुत्र्या नन्दिन्याः सर-

खत्वा दृष्टेरे कुङ्कुमप्ररोहमण्डली प्रादुर्भवति । काश्मीरजनपदे सरस्वतीदृष्टेः पुरो घुम्-
णमुद्रच्छति, अन्यत्र कुसुम्भक इति श्रूयतेऽद्यापि ॥

हृदभिलषितसिद्धीरैहिकामुष्मिकाद्या-

स्त्रिजगति ददतो मे के पुरो यूयमाध्वे ।

इति किमु सुरवृक्षानैहिकार्थान्ददानां-

स्तृणयति खगरावैर्यद्वटः सिद्धनामा ॥ १२७ ॥

सिद्ध इति नाम यस्य तादृशो यो वटः न्यग्रोधः यस्य शत्रुंजयस्य वटो यद्वटः
प्रक्षः । 'सिद्धवट' इति प्रसिद्धः । स खगानां पक्षिणां रावैर्विरुतैः इह लोके भवा ऐहिकास्ते
च ते अर्था अभिलाषास्तान्ददानान्पूरयतः सुरवृक्षान् कल्पद्रुमान् तृणयति तृणप्रायान्
कुरुते । अवगणयतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किमु । इति किम् । त्रिजगति त्रैलो-
क्येऽपि । त्रिभुवनजनानामित्यर्थः । ऐहिका इहलोकसंबन्धिनीः आमुष्मिकाः परलोकसं-
बन्धिनीः हृदभिलषिता हृदयेन मनसा कामिताः सिद्धीर्ददतो यच्छतो मे मम पुरोऽप्रे
भोः कल्पवृक्षाः यूयं के वराका आध्वे वर्तध्वे । अकिंचित्करत्वेन न केऽपीत्यर्थः ॥

यस्मिन्नित्थमशापि पात्रसलिलक्षेपात्कुधा साधुना

काकः कोऽपि कदापि मास्त्वह नगे जातप्रवेशः क्वचित् ।

मातङ्गो महतामिवौकसि ततस्तत्राप्यभूदक्षयं

स्थाने तद्वचसाम्बु पद्मनदवद्विश्वैकमाहात्म्यभृत् ॥ १२८ ॥

यस्मिन्नेगे विमलाद्रौ पात्रान्नालिकेरामत्रात् 'उल्लसो' इति प्रसिद्धात्सलिलस्य ज-
लस्य क्षेपात्क्षेपणाद्धोकोक्त्या ढोलणात् कुधा कोपेन केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना साधुना
मुनिना कोऽपि स्वपात्रपानीयक्षेपकः काकः इत्थममुना प्रकारेणाशापि शस्तः । इत्थं कथम् ।
यदिह नगे अस्मिन् शत्रुंजये क्वचित्कुत्रापि शैलसंबन्धिनि प्रदेशे स्थानके कदापि कस्मिन्नपि
प्रस्तावे कोऽपि कश्चिदपि त्वजातीयः काको वायसो जातो भूतः प्रवेशः समागमो यस्य
तादृशो मा भूत् मास्ताम् । कोऽपि काको मात्रागच्छत्वित्यर्थः । क इव । मातङ्ग इव ।
यथा चाण्डालो महतामुत्तमजातीयानामोकसि गृहे जातप्रवेशो भवेत् । ततः शापदाना-
नन्तरं मध्यंदिनदिनकरप्रसरत्करनिकरप्रवृत्तापोद्भूतप्रभूतवृषाशुष्यन्मुखोष्ठतालुरसना-
ल्लाकुलबालवृद्धादिसंघजनात्यर्थार्थान्नोत्पन्नानुकम्पाद्रींभवन्मनस्ताया तद्वचसा तस्यैव
साधोर्गिरा तत्रापि स्थाने तस्मिन्नेव पानीयक्षेपणप्रदेशे तीर्थातिशयप्रकटनार्थमक्षयं न
विद्यते क्षयो रिक्तीभावो यस्य तादृशमम्बु पानीयमभूत् जातः । अधुनाप्यक्षीणमेव
वारि वर्तते । 'उल्लसाद्धोल' इति नाम्ना प्रसिद्धमास्ते । किंवत् अक्षीणम् । पद्मन-
दवत् । यथा पद्महृदे अक्षयमम्बु वर्तते । किंभूतमम्बु । विश्वे त्रैलोक्येऽप्येकमद्वैतं मा-
हात्म्यं महिमानं विभर्तीति ॥

महीपालभूभृन्मुखाणामिवैतन्नृणां कुष्टकष्टादिनिर्घातनिष्णम् ।

मरुलोलकलोललीलायमानारविन्दव्रजं सूर्यकुण्डं विभाति ॥ १२९ ॥

एतत्प्रत्यक्षं पार्श्ववर्ति सूर्यकुण्डं विभाति । किंभूतम् । मरुता वायुवेगेन लोला-
श्वल्लीभूता ये कल्लोलास्तरङ्गास्तेषु लीलायमानो लीलया आचरन् अरविन्दानां कम-
लानां व्रजो यत्र । पुनः किंभूतम् । नृणां सर्वजनानां कुष्ठान्यष्टादशजातीयमहारोगविशे-
षास्तेषां कष्टानि अङ्गादिगलनादिकृच्छ्राणि तान्यादौ प्रथमं येषां तादृशानि शोकापत्प्रमु-
खदुःखानि तेषां निर्घातो मूलोच्छेदनं तत्र निष्णं निपुणम् । केषामिव । महीपालभूभृत्प्र-
मुखाणामिव । यथा साधिताप्रतिहतखड्गाद्यनेकविद्यासिद्धस्य स्वयंवरपरिणीतगुणमुन्दरी-
भर्तुः रोगाकुल्येऽपि विजितप्रतिपक्षक्षमाभृलक्षस्य महीपालनाम्नो राज्ञः कुष्टकष्टनि-
र्भेदकमासीत्तथा परेषामपीति बोध्यम् । महीपालकथा तु शत्रुंजयमाहात्म्येऽस्तीति ॥

पुण्डरीकाचलोर्वाव महिमैकनिकेतनम् ।

राजादनी विभात्येषा मुषिताशेषकल्मषा ॥ १३० ॥

एषा प्रत्यक्षलक्ष्या राजादनी क्षारिका 'रायणि' इति प्रसिद्धा विभाति । किं-
भूता । मुषितानि मूलादुच्छिन्नानि अशेषाणि समस्तानि कल्मषाणि पापानि यथा ।
पुनः किंभूता । महिम्नां माहात्म्यानामेकमद्वैतं निकेतनम् । केव । पुण्डरीकाचलस्य
शत्रुंजयाद्रेरुर्वी भूमीव ॥

ऐहिकामुष्मिकानल्पसंकल्पितान्यङ्गभाजां सृजन्ती त्रिलोकीभुवाम् ।

वेधसा स्थाङ्गिणां गौरपूर्वेव या निर्मिता राजते यत्र राजादनी ॥ १३१ ॥

यत्र शत्रुंजये राजादनी राजते । उत्प्रेक्ष्यते—या राजादनी वेधसा सृष्टिकर्त्रा अ-
पूर्वान्याभ्यः कामधेनुभ्यो लक्षणैरसाधारणा गौर्धेनुः कामदुघा निर्मिता निष्पादिता ।
किं कुर्वती । त्रिलोकीभुवां जगत्रितयजन्मनां अङ्गभाजां देहभाजां सुरासुरनराणां प्रा-
णिनामैहिकानि इहलोकभवानि रोगापनयनसंपत्करणादिमानि आमुष्मिकाणि परलोकभ-
वानि स्वर्गापवर्गादिकानि यान्यनल्पानि भूयांसि । समस्तानीत्यर्थः । संकल्पितानि मनः-
कामितानि । मनोरथानित्यर्थः । सृजन्ती कुर्वन्ती । संपूरयन्तीत्यर्थः ॥

वर्षत्यसौ शिरसि संघपतेः पयोभि-

जम्भारिराजिरिव जन्ममहे जिनेन्दोः ।

मुक्त्यङ्गनां पुनरियं वयसीव रङ्गा-

त्पुंसानुषङ्गयति संगमकामुकेन ॥ १३२ ॥

असौ राजादनी संघपतेः संघनायकस्य 'संघवी' इति लोकप्रसिद्धस्य शिरसि मत्स्य-
क्षीरवत्त्वेन पयोभिः क्षीरैर्वर्षति । जम्भारिराजिरिव । यथा जन्ममहे जननमहोत्सवं

जम्भारीणामिन्द्राणां राजिः श्रेणीः जिनेन्दोः जिनचन्द्रस्य उत्तमाङ्गोपरि एककोटिषष्टि-
लक्षप्रमितपञ्चविंशत्योजनोत्तुद्गदादशयोजनपृथुलकलशयोजनोन्मितनालनिर्मुक्तविविधती-
र्थोदकैर्वर्षति । पुनरियं राजादनी संगमक्रामुकेन मिलनामिलापुकेण पुंसां पुरुषेण
सार्धं मुक्त्वङ्गनां सिद्धवधून्नुषङ्गयति संगमं कारयति । केव । वयसीव । यथा प्रियसखी
संगमं कर्तुं काङ्क्षता मनोमिलषितेन केनचित्तरुणेन समं तत्तरुणाङ्गसंगमकृते सुचिरमु-
त्कण्ठितां स्वां सखीमनुषङ्गयति मेलयति ॥

संप्राप्तः पूर्ववारान्नवनवतिमितानादिदेवस्तलेऽस्या-

स्तत्रार्चैर्वार्चनीयास्त्यसुरनरमरुत्पुंगवैः पादुकास्य ।

अश्रयत्पर्णादिचूर्णैर्भुवनतनुभृतां भूतवेतालरक्षो-

यक्षाद्याशेषदोषानपहरति पुनर्या च रोगान्मुधेव ॥ १३३ ॥

अस्या राजादन्यास्तले अधःप्रदेशे मूलपार्श्वे छायायां वा नवनवत्या मितानेकोनश-
तप्रमाणीकृतान् पूर्ववारान् पूर्वाणां वर्षवासरसंख्याका वेला आदिदेवो वृषभस्वामी
संप्राप्तः समवसृतः । यदुक्तम्—‘नवनवतिपूर्ववारान् यस्मिन् समवसरद्युगादिजिनः ।
राजादनीतरुते विमिलगिरिरयं जयति तीर्थम् ॥’ इति पूर्वार्चार्थप्रणीतस्तवे । पुनस्तत्र
राजादन्यास्तले अर्चैव अर्हत्प्रतिमेव । अर्चाशब्देन पूर्वसूरिभिः प्रतिमा प्रोक्तास्ति ।
यथा—‘अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां वरभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् । इह
मनुजकृतानां देवराजार्चितानां जिनवरभवनानां भावतोऽर्चा नमामि ॥’ इति । अस्या-
दिदेवस्य पादुका पदप्रतिमा । पदद्वन्द्वप्रतिकृतिरित्यर्थः । अस्ति वर्तते । किंभूता । अ-
सुरा दानवा नरा मानवास्तथा मरुतो देवास्तेषां पुंगवैः प्रधानैरिन्द्रादिभिरर्चनीया
पूजयितुं योग्या पूजिता च । पुनर्अश्रयतां स्वयं निपततां भूमीं वातादिना न तु क-
राकर्षणादिना पर्णादीनां पल्लवपुष्पपत्रकलिकाफलशाखाछलिप्रमुखाणां चूर्णैः क्षौदैः
कृत्वा भुवनतनुभृतां जगज्जनानां भूतवेताला देवविशेषा रक्षांसि रात्रिचरा मनुष्याः
सिद्धराक्षसादिविद्या देवजातीया वा इति द्विधा यक्षा वटवासिनस्ते आद्याः प्रथमा
येषां ते पिशाचप्रेतव्यन्तरयोगिनीशाकिन्यादयस्तेषामशेषाः समस्ता दोषा उपद्रवास्तान्
या अपहरति निर्णाशयति । च पुनर्या रोगान् समस्तानप्यामयानपाकरोति । केव ।
मुधेव । यथा पीयूषं देवभोज्यं पीतं सन्निःशेषान् गदानपनयति ॥

श्रीवाचंयमपञ्चकोटिकलितः श्रीपुण्डरीको गणी

चैत्र्यामत्र दिने महीमिव जयी सिद्धिं मुदासाधयत् ।

यत्किञ्चित्क्रियते जनैरिह नगे दानोपवासादिकं

तत्स्यात्तेन दिनेऽत्र कोटिगुणितं दानं सुपात्रे यथा ॥ १३४ ॥

श्रीभिर्ज्ञानदर्शनचारित्रलक्ष्मीभिर्वृता वाचंयमा महामुनयस्तेषां पञ्चसंख्याकाभिः को-

टिभिः शतलक्षाभिः कलितः सहितः । तथा कोटिशब्दो द्वयः स्त्रीलिङ्गाचिवदाकारान्तः । यदुक्तम्—‘क्रियती पञ्चसहस्री क्रियती लक्षा च कोटिरपि कीयती । औदार्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती क्रियती ॥’ इति सूक्ते लक्षाशब्दः । तथा लिङ्गानुशासने—‘मानो लक्षं माने वाच्यं लक्षशब्दः स्त्रीलिङ्गवलिङ्गयोः लक्षं लक्षा च’ इति लिङ्गानुशासने । श्रिया प्रथमचक्रिप्रथमपुत्रप्रथमतीर्थकृतप्रथमगणभृलक्ष्म्या युतः पुण्डरीकनामा गणी श्रीकृष्णभदेवचतुरशीतिगणभृत्सुमुख्यो गणधरः अत्र शत्रुंजयादौ चैत्र्याम् । चैत्रेण मासेन युक्ता पौर्णमासी चैत्रीत्युच्यते । चैत्रपौर्णमास्यामित्यर्थः । मुदा अनन्तानन्दसंदोहमेदु-रतया मोक्षमसाधयत्साधयामास । मुक्तिं जगामेत्यर्थः । क इव । जयीव । यथा जयनशीलो राजा प्रमोदेन महीमासमुद्रान्तमेदिनीं साधयति । तत इह नगे श्रीशत्रुंजयपर्वते यत्किञ्चिद्दानोपवासादिकमत्र दिने अस्यां चैत्र्यां पूर्णिमायां जनैर्भविक्लोकैः क्रियते विधीयते । तत्साधुसाध्वीविश्राननोपवसनादिकमत्र चैत्रपूर्णमावासरे एकस्मिन्नेवाहनि पञ्चकोटिमुनीनां मुक्तिगमनकारणेन कोटिभिः शतलक्षाभिः गुण्यते इति कोटिगुणितं स्यात् । किमिव । दानमिव । यथा सुपात्रे दानं कोटिगुणं भवेत् । यदुक्तम्—‘दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहिकोऽटिगुणितं दिवि दायि’ इति नैषधे ॥

शाश्वताद्रिरिवानन्तसमयस्थायुकोऽस्त्ययम् ।

कालक्रमात्पुनर्धत्ते शशीवोपचयक्षयौ ॥ १३९ ॥

अयं शत्रुंजयादिर्न विद्यते कदाप्यन्तोऽवसानं यस्य तावन्तं समयं कालं यावत्तिष्ठतीत्येवंशीलः स्थायुकः । क इव । शाश्वताद्रिरिव । यथा अनश्वरो मेरुप्रमुखशैलः । जातिवाचित्वादेकवचनम् । अनन्तं कालं यावत्स्थान्धुरास्ते । परमस्मिन् शत्रुंजये एकोऽयं विशेषः । कालक्रमादुत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयपरिपाख्या उपचयक्षयौ वृद्धिक्षीणभावौ असौ धत्ते । क इव । शशीव । यथा चन्द्रः शुक्लकृष्णपक्षक्रमादुपचयक्षीणते धत्ते । यथा शशी शुक्ले पक्षे वर्धते कृष्णे च हीयते, तथा शत्रुंजयोऽप्युत्सर्पिण्यां वृद्धिं भजते अवसर्पिण्यां क्षणं क्षयमयते । किं च यथा कलावान्कलामात्रमेवावशिष्यते तथा विमलाद्रिरपि सप्तहस्तप्रमाणो मुण्डकमानोऽवशिष्यते ॥

तालध्वजढङ्काभिधकदम्बलौहित्यरैवताद्यचलाः ।

विलसन्महिमानोऽमी यत्प्रतिकाया इवाभान्ति ॥ १३६ ॥

अमी प्रत्यक्षाः संनिधौ निरीक्ष्यमाणाः तालध्वजः, तथा ढङ्क इत्यभिधा ययोस्तौ ‘तस्ताश्चो ढङ्को’ इति नाम्ना प्रसिद्धौ, तथा कदम्बः, तथा लौहित्यः, तथा रैवत्य उज्जयन्तः कोलम्बो लोहिचो गिरिनारि इति नाम्ना लोकप्रसिद्धाः । एते पञ्चापि पर्वता आर्दा कृत्वा येषां ते अचलाः ‘ढङ्क’ इति ख्याताः पर्वता यत्प्रतिकाया यस्य शत्रुंजयादेः प्रतिबिम्बानीवाभान्ति आ सामस्त्येन शोभन्ते । किंभूताः । विलसन् त्रैलोक्ये स्फूर्तिमत्तां कलयन् महिमा माहात्म्यं येषामेते पञ्चापि गिरयः शत्रुंजयादेर्मुख्यशिखरार्णि विमलचलतुल्यमाहात्म्यानि सन्ति ॥

माहात्म्यमेतस्य समग्रमेकैकस्यापि शृङ्गस्य कदापि वक्तुम् ।

प्रभुर्भवेत्कोऽपि तदाप्त एव तरीतुमब्धेरिव वारि पोतः ॥ १३७ ॥

एतस्य शत्रुंजयस्य एकैकस्यापि शृङ्गस्य शिखरस्य समग्रं समस्तं माहात्म्यं महिमानं वक्तुं कथयितुं यदि चेत्कदापि कस्मिन्नपि समये कोऽपि पुमान् प्रभुः समर्थो भवेत्तदा स आप्तः सर्वज्ञ एव नान्यं सर्वज्ञं विना अस्य महिमानं भाषितुं कोऽपि नालम् । क इव । पोत इव । यथा अब्धेर्महागर्णवस्य वारि पानीयं यदि कदाचित्कोऽपि तरीतुमलं तदा स पोतो यानप्रात्रमेव न तारकादिः ॥

तदत्र प्राप्यतेऽनल्पं यद्वस्तु कापि नाप्यते ।

मेरौ न सन्त्यदभ्राः किं दुःप्रापाः स्वर्दुमा मरौ ॥ १३८ ॥

अत्र शत्रुंजये तत्तत्प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा निधिदर्शनकृतरजतकनककारिचित्रकमोहनवल्लीप्रमुखानेकौषधीरसकूपिकाखर्णरत्नाकरादिकमनल्पं बहु । पदे पदे इत्यर्थः । वस्तु प्राप्यते लभ्यते भाग्यवद्भिः । अथ वा अत्र गिरौ बालवृद्धैरपि सिद्धिरासाद्यते । यदुक्तम्—‘सर्वेषामपि शैलानामुन्नतो विमलाचलः । यदारोहेण लोकाग्रं प्राप्यते बालकैरपि ॥’ इति पूर्वसुरिस्तवे । तत्किम् । यद्वस्तु अन्यत्रान्यस्मिन् स्थाने महायासोऽपि कापि कुत्रापि नाप्यते न लभ्यते । युक्तोऽयमर्थः—ये स्वर्दुमाः कल्पवृक्षा मरौ मरुस्थल्यां दुःप्रापाः । यदुक्तम्—‘पातुं बाञ्छति चातकस्य रुदतो नेत्राम्बु यत्राम्बुदाश्रयाभिच्छति निश्छदक्षितिरुहः प्रत्याशया धावताम् । अन्तर्गूढजलाशया श्रमजलं नेतुं नदी काङ्क्षति प्राप्तास्तं मरुनीवृतं वयमितो दूरेण वाराणसीम् ॥’ इति मरुमण्डलक्षणम् । तत्र ये दुर्लभास्ते कल्पशाखिनो मेरौ सुवर्णाचले अदभ्रा गणनातीताः किं न सन्ति न विद्यन्ते अपि त्वसंख्या आसते ॥

षष्ठैः सप्तभिरष्टमाष्टमयुतैर्यस्मिन्कृतैर्निर्जलै-

स्तार्तीयिकतया मिते किल भवे प्राप्नोति सिद्धिं सुधीः ।

यस्मिन्नाष्टमभिकारितां मणिमयीं मूर्तिं जिनेन्दोर्म-

स्कुर्वन्स्वर्णगुहागतामपि भवेदेकावतारी भवे ॥ १३९ ॥

किलेति पूर्वाचार्यपरम्परया श्रूयते बृहद्ग्रन्थेषु च दृश्यते । यस्मिन् शत्रुंजये तृतीय एव तार्तीयिकः । ‘तीयादीकण् स्थाथे वा वक्तव्यः’ । तस्य भावस्तार्तीयिकता तथा तार्तीयिकतया । यदुक्तम्—‘तार्तीयिकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः’ इति नैषधे । मिते प्रमाणीकृते भवे जन्मनि सुधीर्धीमान् सिद्धिं मोक्षं प्राप्नोति । कैः । षष्ठैरुपवासद्वयमानैः ‘छठ्’ इति लोकप्रसिद्धैः । किंभूतैः । सप्तभिः सप्तसंख्याकैः मार्तण्डतुरगप्रमाणैः । पुनः किंभूतैः । अष्टमेन अष्टमनाम्ना उपोषणत्रिकेण ‘अष्टम’संज्ञेन प्रसिद्धेन युतैः सहितैः । पुनः किंभूतैः ।

कृतैर्विहितैः । कीदृशैः कृतैः । निर्जलैः पानीयरहितैः चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानरूपैः ।
अत्र ये निर्जलान् सप्तषष्ठानष्टमं चाष्टमं कुर्वन्तीति ते तृतीये भवे मोक्षं यान्तीत्यर्थः ।
अपि पुनर्यस्मिन् शत्रुंजये आर्षभिणा ऋषभस्यापत्यमार्षभिर्भरतचक्रवर्ता तेन कारितां
वार्धकिना निर्मापितां जिनेन्दोः स्वतातस्य ऋषभदेवस्यैव मूर्तिं प्रतिमां नमस्कुर्वन्
प्रत्यक्षलक्ष्यीकृत्य प्रणमन् सन् भवे संसारे एक एव नापरोऽवतारो जन्म अस्या-
स्तीति एकावतारी भवेत्स्यात् । मूर्तिं किंभूताम् । मणिमयीं रत्नस्वरूपाम् । पुनः किं-
भूताम् । स्वर्णगुहागताम् ऋषभशिखरात्पश्चिमप्रदेशे स्वर्णनाम्न्यां गुहायां कंदरायां गतां
प्राप्ताम् । आगमिष्यन्मन्दकालवशाद्भोलुपलोककृताशातनाभयादिन्द्रवचसा सगरचक्रिणा
स्वर्णगुहायां स्वयं गुप्तीकृत्य स्थापितामित्यर्थः ॥

अत्रानन्तजिना अनन्तमुनिभिः सिद्धा विशुद्धाशया

ध्यानैर्वह्निभिरिन्धनप्रकरवन्निर्दह्य कर्मव्रजम् ।

सिद्धक्षेत्रमतो निगद्यत इदं चेदीहते मानसं

सिद्धिं वस्तदिह स्वयं वसति सा सत्संगमाकाङ्क्षिणी ॥ १४० ॥

अत्र शत्रुंजये शैले न विद्यतेऽन्तोऽवसानं येषां तादृशैर्मुनिभिः साधुभिः सार्धम-
नन्ताः प्रान्तातीताः कालस्यानन्याजिनास्तीर्थकराः सिद्धाः मोक्षं प्राप्ताः । किंभूताः ।
विशुद्धो निर्मल आशयोऽध्यवसायः परिणामो येषां ते । किं कृत्वा । निर्दह्य नितरां
ज्वालयित्वा । कम् । कर्मणां ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-अन्तराय-वेदनीय-
नाम-गोत्र-आयुः-प्रमुखानामनेकजातीयानां प्राचीनाचीर्णशुभाशुभपरिणतीनां व्रजं स-
मूहम् । कैः । ध्यानैः धर्मशुक्लप्रणिधानैः कृत्वा । किं वत् । इन्धनप्रकरवत् । यथा वह्नि-
भिर्हुताशनैः काष्ठकलापो निर्दह्यते । अतः अनन्तानन्तभेदभिन्ना नगरे गणपरिकलि-
ततीर्थकृतां सिद्धिगमनकारणादिदमपि तीर्थं सिद्धक्षेत्रं निगद्यते कथ्यते । ततो भो
भव्याः, चेद्यदि वो युष्माकं मानसं मनः सिद्धिं समीहते, तत्तर्हि सा सिद्धिः स्वयमात्म-
नैव इह शत्रुंजये वसति वासं विधत्ते । किंभूता सा । सिद्धिरुत्तमैः समं संगमं संयोगमा
सामस्येन काङ्क्षतीत्येवंशीला ॥ इति शत्रुंजयाद्रिमाहात्म्यवर्णनम् ॥

इत्यद्वैतप्रभावं विमलशिखरिणो भाषमाणो विशिष्य

श्रीमत्प्राचीनसूरीश्वर इव भगवानङ्गभाजां समाजे ।

सिद्धक्षेत्रेऽवतस्थे कतिचन दिवसान्किं न सिद्धो भविष्युः

स्वेन श्रीतीर्थभर्तुः पदपरिचरणानन्दसान्द्रो मुनीन्द्रः ॥ १४१ ॥

मुनीन्द्रो हीरविजयसूरिः कतिचन कियत्संख्याकान् दिवसान् यावत्सिद्धक्षेत्रे श्रीश-
त्रुंजयशैलोपरि विमलगिरिम् । ‘उत्तिनिलउ सितुंजो सिद्धखित्तपुंडरीउ’ इति शत्रुंजय-
कल्पेऽभिधानानि । अवतस्थे अवस्थितिं कृतवान् । वार्धकात्पुनः पुनश्चदितुमुत्तरीतुं

शक्यभावात्तदधिल्लकायामेव तस्थिवानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वेनात्मनापि सिद्धानां क्षेत्रत्वेन सिद्धो मुक्तात्मा भविष्यन् भवनशीलेन अपि तु काकूत्तया सिद्धो भवितैव । अथ वा विद्यामन्त्रतन्त्रौषधीविविधसिद्धिभिः कृत्वा सिद्धपुरुषो बुभूषुर्न अपि तु सर्वसिद्धिमान् भवितुमिच्छुरेव । यद्यपि विद्यामन्त्रादीनां साधूनां प्रयोजनं नास्ति, तथापि कदाचिदपि समयानुसारेण प्रयोजनमपि भवेत् । अथ वा पूर्वादिषु सर्वस्यापि सद्भावात् ज्ञेयस्वरूपमपि सर्वं भवेत् । किंलक्षणो मुनीन्द्रः । श्रीमित्तैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीभिः कलितस्य तीर्थभर्तुः ऋषभदेवस्य पदयोश्चरणयोः परिचरणा उपासना तथा हेतुभूतया य आनन्दः परमाह्लादस्तेन सान्द्रो मेदुरः । स्निग्ध इत्यर्थः । किंभूतः पुनः । भगवान् जगत्पूज्यः । पुनः किं कुर्वाणः । श्रीमान् सातिशयज्ञानाश्चर्यकलल्लविधलक्ष्मीयुतः प्राचीनः प्राक्तनः सूरेश्वर इवाङ्गभाजां यात्रिकजनानां समाजे सभायां विमलशिखरिणः पुण्डरीकाद्रेरिति पूर्वव्यावर्णितप्रकारेण प्रभावं महिमानं विशिष्य विशेषप्रकारेण भाषमाणः प्रकाशयन् ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमधवा सौभाग्यदेवी च यं
श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्वीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽभवत्षोडशः ॥ १४२ ॥

पण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये षोडशानां संख्यापूरणः द्विरष्टसंख्यः सर्गोऽधिकारविशेषः अभवत्संजातः ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ संघागमनचैत्यपरिपाटीपूर्वकयात्राकरणप्रासादादिवर्णनशत्रुंजयमाहात्म्यप्रकाशनो नाम षोडशः सर्गः ।

सप्तदशः सर्गः ।

अथ व्रतीन्द्रोऽभ्युदयं दधाने बिम्बे नभस्यम्बुजबान्धवस्य ।

मूर्ध्ना धृते पूर्वदिशेव भद्रकुम्भे स नाभेयजिनं ननाम ॥ १ ॥

अथ शत्रुंजये यात्रां कृत्वा कतिचिद्दिनान्यधिल्लकायामेव स्थितेरनन्तरं सोऽकृच्छरसाहिमाननीयो व्रतीन्द्रो हीरविजयसूरिः कदाचित्कस्मिन्नपि दिवसे गिरेरुत्तितीर्षुः नाभेयजिनं श्रीऋषभतीर्थनाथं ननाम प्रणमति स्म । कस्मिन् सति । नभसि गगनमण्डले अम्बुजबान्धवस्य सूर्यस्य बिम्बे मण्डले अभ्युदयं संमुखाद्गमनं दधाने विभ्राणे सति । प्रातःकाले सूर्येऽभ्युदिते सतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—पूर्वदिशा प्राचीहरिता स्वमस्तकेन कृत्वा धृते अधिरोपिते भद्रकुम्भे मङ्गलकलशे इव ॥

अन्याननन्यां मुदमादधानः पुनर्व्यनंसीत्स जिनावनीन्द्रान् ।

शत्रुंजयाद्रेरिव भूषणेषु शेषेषु चैत्येषु हिरण्येषु ॥ २ ॥

पुनरित्यपरार्थः । यथा ऋषभदेवं प्रणतवांस्तथैव अन्यानपरानपि जिनावनीन्द्रानर्ह-
द्भट्टारकान् स सूरिव्यनंसीत् विशेषेण नमस्यति स्म । स किं कुर्वाणः । अनन्यां न
विद्यते अन्या अधिका अपरा अस्याः सकाशादित्यनन्यामसाधारणीं मुदं प्रीतिं प्रह्ला-
दमादधानः कुर्वाणः । अथ वा आ सामस्त्येन मनोवाक्यैर्दधानो विभ्राणः । क्वचिच्च
कुमारसंभवादिषु धरणाथेऽप्यादधान इति दृश्यते । केषु । जिनराजान् व्यनंसीत् । शेषेषु
मूलचैत्यव्यतिरिक्तावशिष्टेषु चैत्येषु प्रासादेषु । किंभूतेषु चैत्येषु । हिरण्येषु काञ्चनर-
चितेषु । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रुंजयाद्रेर्विमलाचलस्य भूषणेष्विव सुवर्णवर्णाभरणेष्विव ॥

शत्रुंजयोर्वीधरसार्वभौममौलेर्दधानो विशदाशयत्वम् ।

अवातरन्निर्जरनिर्झरिण्या इव प्रवाहो मिहिकाद्रिशृङ्गात् ॥ ३ ॥

स सूरिः शत्रुंजयनाम्नः उर्वीधराणां सर्वपर्वतानां सार्वभौमस्य चक्रवर्तिनः मौलेर्म-
स्तकात् । अधिल्लकायाः सर्वोपरितनशिखरादित्यर्थः । अवातरत् उत्तरति स्म । क इव ।
प्रवाह इव । यथा निर्जराणां देवानां निर्झरिण्या नद्या गङ्गायाः प्रवाहः पयोधारा मिहि-
काद्रिशृङ्गात् तुहिनाचलशिखरात् हिममहीधरशृङ्गादवतरति । किंभूतः स प्रवाहश्च ।
विशदं विमलं निष्पापमुज्ज्वलं च आशयं मनोमध्यं च दधानो विभ्राणः । हिमा-
द्रिरप्यचलचक्री ॥

अलंकरोति स्म स पादलिप्तपुरं पुरंभ्रीगणगीयमानः ।

सहस्ररश्मेरिव रश्मिराशिरुदीयमानद्विजराजविम्बम् ॥ ४ ॥

स हीरसूरिः पादलिप्तपुरं कथंचिद्गुरुवचनतः श्रावकीभवनानन्तरमवाप्तगगनाङ्गणवि-
चरणप्रवणशक्तिप्रदायिपादलेपोऽष्टोत्तरशतशेषजसंतुष्टचेतसा वमृतचाराधितनागेन्द्रवि-
श्राणितवरप्रसादाधिगतसततानेकजातीयौषधीसंदोहमाहात्म्येन सिद्धसहस्रलक्षकोटिवेधि-
स्वर्णरसेन नागार्जुनयागिना उदयदतिभक्तिशक्तिवशंवदीभवन्मानसेन स्वपादलिप्तगु-
रोर्नाम्ना वासितं पादलिप्ताभिधानं नगरम् अधुना तु ‘पालीताणुं’ इति लोके प्रसि-
द्धम् अलंकरोति स्म भूषयामास । किंभूतम् । पुरंभ्रीणां विविधजनपदागतानां मृगाक्षी-
णाम् । पुरंभ्रीशब्दो ह्रस्वो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—‘अखिलपुरपुरंभ्रीनेत्रनीलोत्प-
लानि’ इति । गणैर्वृन्दैर्गायमानः गानगोचरीक्रियमाणः । क इव । रश्मिराशिरिव । यथा
सहस्ररश्मेर्दिनकरस्य किरणनिकरः उदीयमानमभ्युदयं गच्छत् द्विजराजविम्बं चन्द्र-
मण्डलमलंकुरुते । सहस्रकिरणात्किरणगणमादाय चन्द्रोऽभ्युदयतीति कविसमयः ।
‘पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः’ इति रघुवंशे ॥

स प्रार्थितो द्वीपजनव्रजेन स्वपत्तनं पावयितुं व्रतीन्द्रः ।

चित्रादिना सारथिनेव केशी वशीशिता श्वेतविकामिधानम् ॥ ५ ॥

स व्रतीन्द्रो हीरसूरिः द्वीपजनव्रजेन द्वीपवन्दिरसत्कसंघलोकनिकरेण स्वपत्तनं सामान्यतो नगराभिधानं पत्तनम् । यथा हैम्यां समुदितान्येव नगरनामानि—‘नगरी पूः पुरीद्रङ्गं पत्तनं पुटभेदनम्’ इति । विशेषतस्तु ‘पत्तनं रत्नयोनिः’ इति द्वीपाभिधानं निजनगरं पावयितुं पवित्रीकारयितुं प्रार्थितो याचितः । आगृहीत इत्यर्थः । क इव । केशीव । यथा चित्रमिति पदमादौ धुरि यस्य तेन चित्रादिना सारथिना श्रावस्त्र्यां नगर्यां राजकार्यार्थं गतेन तस्यैवोपदेशात् श्राद्धीभूतेन चित्रसारथिना केशीनामा वशी-
शिता मुनीन्द्रो गणधरः श्वेतविका इत्यभिधानं नाम यस्य तादृशं स्वपत्तनं पावयितुं पावनं निर्मापयितुं प्रार्थितः । आगृहीत इत्यर्थः ॥

निश्चिक्व्य चित्तेऽजयपार्श्वभर्तुर्यात्रां स शत्रुंजयवद्भतीन्द्रः ।

कथंचिदप्याग्रहमस्य मेने सेनेशवत्सोऽपि ततः प्रतस्थे ॥ ६ ॥

स यतीन्द्रो हीरसूरिः कथंचिन्महता कष्टेन अस्य द्वीपवन्दिरस्य संघस्याग्रहं मेने मानयति स्म । किं कृत्वा । अजयनाम्ना दशरथवृषित्रा राज्ञा स्थापितस्याजयनाम्नः अधुना ‘अद्वारा’ इति प्रसिद्धस्य पार्श्वभर्तुः श्रीपार्श्वनाथस्य यात्रां प्रणमनं चित्ते स्वमनसि निश्चिक्व्य अवश्यं मया अजयपार्श्वनाथयात्रा कार्येति निश्चयं कृत्वा । किंवत् । शत्रुंजयवत् । यथा मया शत्रुंजययात्रा कृता, तथा अद्वारापार्श्वनाथस्य मया यात्रा कर्तव्येति विशेषः । अपि पुनः स सूरिरपि सेनेशवत्सेनापतिरिव राजेव वा ततः पादलिप्तपुरातप्रस्थे द्वीपवन्दिरं प्रति प्रचलति स्म ॥ इति पादलिप्तपुरात् द्वीपवन्दिरं प्रति प्रस्थानम् ॥

तत्प्रक्रमोपस्थितयात्रिकाणां तदावलीभिर्ववले गिरीन्द्रात् ।

अम्भोधिवेलामिरिवोपकण्ठगिरेर्गभीरारवबन्धुराभिः ॥ ७ ॥

स चासौ प्रक्रमश्च प्रस्तावस्तत्प्रक्रमः शत्रुंजयाद्रियात्राकरणसमयः । ‘वेल वाराव-
वसरः प्रस्तावः प्रक्रमान्तरम्’ इति हैम्याम् । तत्रोपस्थितानामागतानाम् । ‘उपस्थिता शोणितपारणा मे’ इति रघौ । तथा ‘आगमने गमनार्थाः समभ्युपाङ्म्यः पराः कथिताः । आपतति चोपतिष्ठत्युपनमति तथोपसीदति च ॥’ इति क्रियाकलापे । यात्रिकाणां शत्रुंजययात्राकारकाणामावलीभिः श्रेणीभिस्तदा हीरसूरेर्द्वीपवन्दिरं प्रति प्रस्थानावसरे गिरीन्द्राद्विमलाचलाद्ववले पश्चाद्वाधुटितम् । स्वस्वपुरं प्रति प्रस्थितमित्यर्थः । काभिरिव । अम्भोधिवेलामिरिव । यथा समुद्रस्य प्रवृद्धपयःकलोलमालाभिरुपकण्ठगिरेः समीपपर्वतात्पश्चाद्वलित्वा गम्यते । किंभूतः । गभीरैर्मेधुरैरारवैस्तरङ्गध्वनितैर्बन्धुरा-
भिर्मनोज्ञाभिः यात्रिकश्रेणिभिरपि श्रीशत्रुंजयाद्रिहीरसूरिमहिमगुणप्रशंसासंस्तवनादि-
गम्भीरनिनादैरभिरामाभिः ॥

मुहुः प्रसर्पन्पथि कण्ठपीठं विभुज्य पारीन्द्र इवाल्लोके ।

उवाह सौहित्यमसौ न दर्श दर्श पुनः सिद्धधराधरं तम् ॥ ८ ॥

असौ सूरिः पथि श्रीशत्रुंजयशैलसंबन्धिवर्तिमार्गे प्रसर्पन् प्रचलन् मुहुर्वारंवारं कण्ठपीठं गलकंदलं विभुज्य वक्त्रीकृत्य । 'गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम्' इति नैषधे । आलुलोके । अर्थाद्विमलाचलं विलोकयति स्म । क इव । पारीन्द्र इव । यथा केसरी अग्रे गच्छन् मुहुः पश्चात्कण्ठं वलयित्वा विलोकते । पुनरन्यार्थे असौ सूरिस्तत्रैवालोके-ऽप्यद्वैततीर्थतया प्रख्यातं पूर्वव्यावर्णितं वा सिद्धधराधरं शत्रुंजयाद्रिं दर्शं दर्शं पुनः पुनर्दृष्ट्वा दृष्ट्वा सौहित्यं तृप्तिम् । 'तृप्तिः सौहित्यमाप्राणः' इति हैम्याम् । न उवाह न वहते स्म न प्राप । सरागं सरणरणकं च लोचनाभ्यां सादरमवलोकयन्नेव तृप्तिं प्राप्नोति स्म ॥

षट्मः काव्यैः क्रियापदेषु सत्स्वपि सूरैर्मानसविकल्पानामेकार्थनिष्ठतया कुलकमे-
वावधीयते—

एतां धरित्रीं त्रिजगत्पवित्रीकर्त्री सवित्रीमिव शर्मदात्रीम् ।

स्वजन्मभूमीमिव भूस्पृशो मे मोक्तुं मनो नोत्सहते कथंचित् ॥ ९ ॥

एतां श्रीशत्रुंजयसंबन्धिनीं धरित्रीं पृथिवीं मोक्तुं विहातुं मे मम मनो मानसं कथं-
चित्केनापि प्रकारेण महता कष्टेन वा नोत्सहते नोत्साहं कुरुते न प्रगल्भते । नोद्यमं निर्मातीत्यर्थः । 'उत्साहः प्रगल्भता । अभियोगोद्यमौ प्रौढिः' इति हैम्याम् । इमां भूमीं मोक्तुं न शक्नोमीत्यर्थः । कामिव । स्वजन्मभूमीमिव । यथा भूस्पृशो मनुष्यस्य निजज-
न्मसंबन्धिनीमवनीं त्यक्तुं चेतो नोद्यच्छते । किंभूतां धरित्रीम् । त्रिजगतां तात्स्थ्यात्त-
द्यप्यदेशात्रैलोक्यलोकानां पवित्रीकर्त्री पावनीकारिकाम् । पुनः किंभूताम् । सवित्रीं जन-
नीमिव । शर्मणां निःशेषसुखानां दात्रीं दायिकाम् ॥

कदम्बलौहित्यकदङ्कतालध्वजादिकूटैः कटकैरिवैषः ।

सगर्वगन्धर्वगजेन्द्रगर्जैः श्रितोऽस्ति शत्रुंजयभूधरेन्द्रः ॥ १० ॥

श्रीशत्रुंजयनामा भूधराणां पर्वतानां भूपानामिन्द्रः स्वामी त्रिभुवनभवनप्रवर्तमा-
नसमस्तप्रशस्तमहातीर्थोधि राजत्वाच्चक्रवर्तित्वाच्च अस्ति विद्यते । साक्षात्प्रकारेण
दृश्यते इत्यर्थः । किंभूतः । सगर्वा अद्वैतगीतकलाभिः पवनातिपातिगतिवेगा-
तिशयवशेन साहंकाराः गन्धर्वाः देवगायनाः । गन्धर्वजातिदेवविशेषाः स्वर्णम-
णिमण्डितशिखरोदारकंदरोदरनिषण्णाः स्वशशिमुखीसखा हाहादयः पारवासुरा यद्व-
णान् गायन्तीत्यर्थः । तथा गन्धर्वा वन्यवाजिनश्च येषु शिखरेषु तथा गजेन्द्रा
गन्धहस्तिनो भद्रादिजातिगजा वा तेषां गर्जा बृंहितानि सजलजलदधीरगम्भीरध्वनयो
येषु तादृशैः कदम्बनामा तथा लौहित्याहस्तथा कदङ्काख्यस्तथा तालध्वजाभिधानाः शै-
लास्ते आदौ प्रथमं येषां तादृशैरष्टोत्तरशतमितैः कूटैः शिखरैः श्रितः सेवितः ।
उत्प्रेक्ष्यते—कटकैः सैन्यैरिव शत्रुंजयाभिधानः सार्वभौमोऽपि बलैः कलितो भवेत् ।
सैन्यैरपि साभिमानः तुरङ्गमगजगर्जोर्जितैः भूयते अथ वा कटकैरिवेक्षभिधेयम् ॥

प्रपूज्य पुष्पैः किसलैः फलैश्च यो वृक्षलक्षैः क्षितिभृन्महेन्द्रः ।

उपास्यते त्यक्तुमिवात्मवानस्पत्यं गतिं वल्गुमिवाधिगन्तुम् ॥ ११ ॥

यो विमलाभिधानः क्षितिभृन्महेन्द्रः गिरिराजः वृक्षाणां द्रुमाणां लक्षैः शतसहस्र-
संख्यैः उपास्यते सेव्यते । किं कृत्वा । प्रपूज्य प्रकर्षेण भावशुद्ध्या पूजयित्वा । कैः । पुष्पैः
खकीयकुसुमैः । च पुनः कैः । किसलैः पल्लवैः । च पुनः फलैः आत्मीयशस्यैः । स्वजा-
तीयप्रवालपत्रप्रसूनफलैरभ्यर्च्येत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्ववानस्पत्यं निजां वनस्पतितां
खकीयतस्भावम् । काष्ठत्वमिति यावत् । त्यक्तुं विहातुमम् । अथ पुनरुत्प्रेक्ष्यते—वल्गुं
मनोहरां स्वर्गादिकां गतिमधिगन्तुं प्राप्नुमिव । ‘अधिगत्य जगत्प्राधीश्वरादथ मुक्तिं पुरु-
षोत्तमात्ततः’ इति नैषधे । ‘अधिगत्य प्राप्य’ इति तद्वृत्तौ ॥

एते मिथः प्रीतिपरीतचित्ताः सिंहेभमुख्या अपि मुक्तवैराः ।

तिर्यग्भवेऽपि स्पृहयेव सिद्धेः सिद्धाचलेन्द्रं परिशीलयन्ति ॥ १२ ॥

एते प्रत्यक्षसूरिणा दृग्गोचरीक्रियमाणाः सिंहेभमुख्याः केसरिकुञ्जरादिकाः अर्था-
द्वनजीवाः सिद्धाचलेन्द्रं परिशीलयन्ति सेवन्ते शत्रुंजयपर्वतपुरंदरं तथा सिद्धो मन्त्रत-
न्त्रादिसिद्धिमानचलेन्द्रनामा कोऽपि पुरुषस्तमपि सिद्धयभिलाषुकाः भजन्ते । किंभूताः ।
मिथः परस्परमाजन्मप्रतिबद्धमपि मुक्तं सर्वथापि मनोवाकायैस्त्यक्तं वैरं विरोधो यैः ।
अत एव पुनः किंभूताः । मिथोऽन्योन्यं ग्रीत्या ज्ञेहेन परीतं व्याप्तं चित्तं मनो येषाम् ।
सिद्धानां तपस्विनां च प्रभावादिदमपि घटते । यदुक्तम्—‘सिद्धीं सारङ्गशावं स्पृशति
सुतधिया द्वीपिनी तर्णकं गौर्माजारी मूषकार्भं रमयति नकुली व्यालबालं प्रमोदात् ।
मातङ्गी कुञ्जरारिं चटकशिशुमथो पत्रिणी यत्र सत्त्वा आजन्मद्वेषिणोऽपि प्रदधति
सखितां तीर्थराजप्रभावात् ॥’ इति । उत्प्रेक्ष्यते—तिर्यग्भवेऽपि तिरश्चात्मप्यवतारे ज-
न्मनि सिद्धेर्मांक्षस्य स्पृहया बाञ्छयेव एवमन्यापि सेवनं सिद्धेः काङ्क्षया ॥

धात्रात्र विश्वाचलचारिमश्रीः पिण्डीकृतैकत्र दिदृक्षतेव ।

इत्यूहमानेन गिरीन्द्रलक्ष्मीं समीक्षमाणेन मुनीश्वरेण ॥ १३ ॥

शत्रुंजयोर्वीधरसंनिधाने शत्रुंजया शैवलिनी न्यभालि ।

परांहसा स्वं मलिनं विभाव्य पुत्रीव जह्वोः पवितुं समेता ॥ १४ ॥

मुनीश्वरेण हीरसूरिणा शत्रुंजयोर्वीधरस्य विमलाचलस्य संनिधाने समीपप्रदेशे
शत्रुंजया नात्री शैवलिनी नदी न्यभालि विलोकिता दृष्टा । उत्प्रेक्ष्यते—परांहसा
समागतापरपापीयोजनसंगमाज्जातपापेन मलिनं पातककलुषीकृतम् । यदुक्तम्—
‘महापातककृद्भोक्तैर्नित्यस्नानविधानतः । मुक्त्वा पापं गतैः स्थानं तदादि मलिनास्म्य-
हम् ॥’ तदुपरि च गङ्गोक्तश्लोकः—‘परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः । गङ्गाप्याह कदा-
भ्येत्य मामयं पावयिष्यति ॥’ इति परसमयोक्तानुसारेण परपातकागमनाद्गङ्गाया अपि

मालिन्यं प्रसिद्धमास्ते तदुपरीयमुत्प्रेक्षा । स्वमात्मानं विभाव्य दृष्ट्वा । ज्ञात्वेत्यर्थः । तं पवितुं पवित्रीकर्तुं समागता जहोः पुत्री गङ्गेव । ‘तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जहुकन्या-सरन्वोः’ इति रघुवंशे । अथ वा ‘मलिनीभविष्णु’ इति पाठः । तत्र कल्मषेण कल-षीभवनशीलं स्वमात्मीयमात्मानं पावनीकर्तुम् । मुनीश्वरेण किं कुर्वाणेन । समीक्षमाणेन विलोकमानेन । काम् । गिरीन्द्रलक्ष्मीं वनकुण्डशिखराणां सुषमाम् । पुनः किं कुर्वाणेन । इत्य-मुना प्रकारेण ऊहमानेन वितर्कं कुर्वता । इति किम् । धात्रा सृष्टिकर्त्रा अत्र सौराष्ट्रमण्डले शत्रुंजयमूलधरित्र्यां वा विश्वेषां त्रयाणां सप्तानां चतुर्दशानां वा एकविंशतिसंख्याकानां वा जगताम् । ‘भुवनानि निवध्रीयात्रीणि सप्तचतुर्दश’ इति वाग्भटालंकारे । वृत्तौ एक-विंशतिरपि । सर्वेषां वा चतुर्दशकोटीब्रह्माण्डाधिपतिः पार्वतीपतिः इति प्रसिद्धः । अच-लानां पर्वतानां चारिमश्रीर्मनोज्ञलक्ष्मीः पिण्डीकृता पुण्डरीकाचलरूपे पिण्डतां प्रापिता । उत्प्रेक्ष्यते—सर्वपर्वतानां श्रियमेकत्र पृथक् पृथक् अवतिष्ठमानामेकस्मिन्नेव स्थाने दिदक्षता द्रष्टुमिच्छतेव पिण्डीकृता ॥ युग्मान्तर्भूतषट्कुलकं तुल्यम् । शत्रुंजयपर्वतात्प्र-स्थानावसरे शत्रुंजयस्वरूपविचारणम् ॥

पद्मानि यस्यां व्यलसन्मुखानि पयःसुरीभिः प्रकटीकृतानि ।

अमानमाहात्म्यमहीधरेन्द्रदिदक्षयेव स्मितनेत्रपत्रैः ॥ १५ ॥

यस्यां शत्रुंजयाभिधानतरङ्गिण्यां पद्मानि कमलानि व्यलसन् विभान्ति स्म । उत्प्रे-क्ष्यते—अमानं प्रमाणातीतं माहात्म्यं महिमा यस्य तादृशस्य महीधरेन्द्रस्य शत्रुंजयशै-लराजस्य दिदक्षया द्रष्टुमिच्छयेव पयःसुरीभिः जलदेवताभिः प्रकटीकृतानि जनलोचन-गोचराणि निर्मितानि स्मितानि विकसितानि नेत्राणि नयनान्येव पत्राणि दलानि येषु तादृशानि स्ववदनानि निजमुखानीव ॥

नेहकपरं तीर्थमुदेति मुक्तिक्षेत्रं त्रिलोक्यामपि तत्समीपे ।

शत्रुंजयासिन्धुमिषेण रेखाचिख्यासयेतीव कृता विधात्रा ॥ १६ ॥

त्रिलोक्यां जगत्रये ईदृक् ईदृशं शत्रुंजयशैलसदृशं मुक्तिक्षेत्रं मोक्षगमनस्थानं ना-माख्यानपूर्वकानन्तानन्तकोटिकोटिसिततीर्थकृद्गणधरसाधुगृहमेधिना सिद्धिसाधनपदम् अन्यतीर्थमतादृग्विधं नैवोदेति जागति । विद्यते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेणा-चिख्यासया अर्थाज्जगत्पुर आख्यातुमिच्छयेव विधात्रा विश्वसृष्टिकर्त्रा तस्य शत्रुंजयस्य समीपे पार्श्वप्रदेशे शत्रुंजया नाम सिन्धुस्तस्या मिषेण कपटेन रेखा कृता चिह्नितेव । एतस्य तुल्यमपरं किमपि तीर्थं नास्तीत्यतोऽयमेव रेखाभाक् । तस्मादस्य पार्श्वे शत्रुं-जया सरिद्रूपा रेखा कृतास्तीत्यर्थः ॥

पयःप्लवक्रीडदनेकपौरपुरंभिपुञ्जः सरिति व्यराजत् ।

नमश्चिकीर्षुः श्रमणावनीन्दोः पादाम्बुजं वारिसुरीभरः किम् ॥ १७ ॥

सरिति शत्रुंजयायां नद्यां पयसां पानीयानां प्लवे पूरे क्रीडन्तीनां जलक्रीडां कुर्वा-

णानामनेकानां विविधजातीयानां बहूनां वा पौराणां नागरिकलोकानां पुरंघ्नीणां कामिनीनां पुञ्जो व्रजो व्यराजद्भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रमणानां साधूनां मध्येऽवनीन्दोः क्षोणीयचन्द्रस्य राज्ञः हीरसूरीश्वरस्य पादाम्बुजं चरणारविन्दं नमश्चिकीर्षुर्नमस्कर्तुमिच्छुः । 'तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुः' इन्द्रं द्रष्टुमिच्छुः इति नैषधे । वारिसुरीभरः किं जलदेवतासंदोह इव ॥

पतिव्रतापीश्वरवार्धिभर्तृद्वयेति कौलीनमपाचिकीर्षुः ।

शत्रुंजयं सेवितुमात्मनागान्मिषेण यस्या हरशेखरेव ॥ १८ ॥

या सारित् भातीति संबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्याः शत्रुंजयाया नद्या मिषेण कपटेन आत्मना स्वकीयरूपेणैव शत्रुंजयं महातीर्थधिाराजं सेवितुं हरशेखरा गङ्गा इवागादगता । किं कर्तुमिच्छुः । इत्यमुना प्रकारेण कौलीनं स्वकीयापवादम् । 'जनप्रवादः कौलीनं विगानं वचनीयता' इति हैम्याम् । अपाचिकीर्षुः निराकर्तुमिच्छुः । इति किम् । स्वकान्तं विना परं पुमांसं मनसा वचसा कायेन स्वप्नेऽपि कदाचिदपि न कामयते इति सा पतिरेव व्रतं सतीत्यव्यञ्जको नियमः शीलं यस्याः सा पतिव्रता सती ईदृश्यतोऽपि सार्धाङ्गहारिपार्वतीतोऽपि अतिप्रेमाधिक्येन स्वशिरस्यारोपितापि मन्दाकिनी ईश्वरः शंभुः वार्धिः समुद्रः एतल्लक्षणं भर्तृद्वयं बलभद्रन्दं यस्याः सा द्वयोः पुरुषयोः पार्श्वे या वनिता व्रजति सा असती व्यभिचारिण्येव भवति सा सती सर्वथापि नोच्यते । अथ ईश्वरं भिक्षुकं मुक्त्वा समुद्रं रत्नाकरं भजते । तदियं पुंश्चली एव न पतिव्रता इति स्वनिन्दां निराकर्तुम् ॥

या शान्तनोर्वीमघवाङ्गजानां महामयापायवतां चतुर्णाम् ।

चिकित्सकीवात्र महीन्द्रमुक्तिश्रीसंगमेऽपि प्रतिभूरिवाभूत् ॥ १९ ॥

या शत्रुंजया नदी अत्र जगति महान्तः अतिशायिक्लेशापवादायशोविधायिनो ये आमयाः कुष्ठादिदुष्टरोगास्त एवापायाः कष्टानि विद्यन्ते येषां ते महामयापायवन्तस्तेषां चतुर्णां चतुःसंख्याकानां शान्तनुर्नामा इक्ष्वाकुवंशीय उर्वीमघवा महीमहेन्द्रस्तस्याङ्गजानां पुत्राणां चिकित्सकीवागदंकारिकेव अखिलव्याधिमूलोच्छेदकारिणीवाभूत् जायते स्म । अपि पुनस्तेषां शान्तनुनन्दनानां महीन्द्रमुक्तिश्रीसंगमे राज्यलक्ष्मीस्तथा मोक्षलक्ष्मीस्तयोः संगमे मिलने अङ्गीकरणे प्रतिभूः साक्षिणीव संजाता । अयं संबन्धः शत्रुंजयामाहात्म्ये सविस्तरोऽस्तीति ॥

तीर्थेषु पाथःप्रथितेषु गत्या पृथक्पृथक्स्वियति लोक एषः ।

शत्रुंजयेतीव विचिन्त्य सर्वतीर्थावतारा विधिना व्यधायि ॥ २० ॥

सर्वेषां भूर्भुवःस्वप्नयीभवानां नदीनदीपतिकूपपुष्करिणीदीर्घिकाहदकुण्डतडागपुष्करप्रभृतीनां तीर्थानां पुण्यस्थानकानामवतारोऽवतरणमनुप्रवेशो यस्मां तादृशी शत्रुंजयानात्री निश्चरिणी विधिना प्रजापतिना व्यधायि विहिता । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यत्रैव वृत्ते

प्रोच्यमानं विचिन्त्य प्रजापतित्वात्प्रजायाः खेदकारणं करुणया हृदये विचार्येव । इति किम् । 'यत्पाथःसु तदीयकुण्डसरःपुष्करप्रमुखेषु जलस्थानकेषु प्रथितेषु तीर्थतया विख्यातिं प्राप्तेषु सिद्धिसाधनस्थानकेषु लोकप्रसिद्धेषु पृथक् पृथक् गत्वा इतस्ततः पर्यटनेन भिन्नभिन्नप्रदेशपरिश्रमणेन कृत्वा एष मदुपक्रमलोको मध्यमलोकसंज्ञातो जनः खिद्यति । पादचारित्वेन पर्यटने दुष्करदुःखितया खेदं प्राप्नोति इत्येष विमर्शः ॥

शत्रुंजयाद्रैर्महिमैकसिन्धोः सांनिध्यतोऽसावपि सिन्धुरासीत् ।

माहात्म्यभूमिः किमु किं न गङ्गासङ्गेन गङ्गीयति सिन्धुरन्या ॥२१॥

महिन्नामद्वैतमाहात्म्यानामेकस्याद्वितीयस्य सिन्धोः समुद्रस्य विमलाद्रेः पुण्डरी-
कगिरेः सांनिध्यतः सामीप्यात्पार्श्वे स्थित्या । उत्प्रेक्ष्यते—असौ शत्रुंजया सरिदपि
माहात्म्यानामसाधारणप्रभावाणां भूमिः स्थानं किमु आसीज्जातेव । दृष्टान्तेनार्थं स्प-
ष्टयति—युक्तोऽयमर्थो वा । गङ्गासङ्गेन मन्दाकिनीसंपर्केण अन्या परा यमुनाप्रमुखा
सिन्धुर्नदी किमिति वितर्के प्रश्ने वा नैव गङ्गीयति गङ्गेव नाचरति । अपि तु गङ्गेव
भवति ॥

उत्तीर्णवांस्तां सरितं व्रतीन्दुः सिन्धुं सुराणामिव चक्रपाणिः ।

ईर्यापथिक्याश्च कृते तटे स्थाद्रष्टुं क्षणं तामिव कल्मषघ्नीम् ॥ २२ ॥

व्रतीन्दुः साधुसुधाकरः सूरिः तां शत्रुंजयानाग्रीं नदीमुत्तीर्णवान् 'एकं पादं जले
कृत्वा' इति सिद्धान्तोक्तविधिना उत्ततार । क इव । चक्रपाणिरिव । यथा नारायणो धातुकी-
खण्डभरतक्षेत्रमण्डनामरकाभिधराजधानीनायकं पाण्डुधात्रीपतिपुत्रकलत्रापहारकमर्ध-
नरसिंहरूपेण पद्मोत्तरपृथिवीपतिं परिभूय द्रौपदीं चादाय षड्भी रथैः सुस्थितसुरातुभा-
वाल्लवणार्णवमप्यवगाह्य पूर्वोत्तीर्णपाण्डवाप्रतिहतवहनाभावात्सुराणां सिन्धुं देवनदीं
गङ्गां स्वयमुत्तरति स्म । अत्रागमविधेः किमपि प्रयोजनं न, किं तु केवलं नव्युत्तरणमे-
वोपमानम् । च पुनः सूरिरीर्यापथिक्या ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणस्य कृते कार्याय तटे शत्रुं-
जयसरित्तीरे क्षणं क्षणमात्रं तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कल्मषाणि पापानि हन्तीति क-
ल्मषघ्नीं शत्रुंजयां द्रष्टुं दृग्गोचरीकर्तुं क्षणं तस्थिवानिव । यतः सा पापहन्त्री ततस्तद्दर्श-
नमपवर्गजिगमिषया पापप्रहननोद्यतानां यतीनामप्युचितमेव दुरितघातसाधनत्वादिति ॥

पुंनागनारङ्गरसालसालप्रियालहन्तालतमालतालैः ।

कदम्बजम्बीरसनिम्बजम्बूसर्जार्जुनैरञ्जनवज्जुलैश्च ॥ २३ ॥

कङ्क्रेलिभिर्भूषिततीरभूमिर्यावन्मनोभीप्सितदानदक्षा ।

स्वसालतायाः स्पृहयात्मनीव सर्वैर्द्रुमैः सिन्धुरुपास्यतेव ॥ २४ ॥

पुंनागाः सुरपर्णिकाः पादपविशेषाः, नारङ्गाः प्रसिद्धाः, रसालाः सहकाराः इक्ष-
वोऽपि, साला असनाः, प्रियाला राजादनाः, हन्ताला नाम देशविशेषप्रसिद्धवृक्षाः,

तमालास्तापिच्छाः, येषां तमालपत्राणि भवन्ति यत्पत्राणि पूर्वदेशे दक्षिणदेशे कर्णाभ-
रणीभवन्ति वा । यदुक्तं नैषधे—‘श्रवणतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप ।
किमपि तुन्दलितः स्थगयत्यमुं स यदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥’ इति विरहा-
वस्थायां चन्द्रोदये दमयन्तीवाक्यम् । तालास्ताडतरवो गुर्जरेषु प्रसिद्धाः । दक्षिणदिशि
च राजताला अपि भवन्ति येषां पत्रैः पुस्तकानि लिख्यन्ते तैः । तथा कदम्बनीपा
धाराकदम्बा धूलीकदम्बा वा । द्वये अपि चम्पूटिप्पनके प्रोक्ताः सन्ति । जम्बीराः प्रसिद्धाः ।
सह निम्बेन पित्रुमन्देन ‘नींबडा’ इति प्रसिद्धेन वर्तन्ते यास्तादृश्यः, जम्बू श्यामफलाः
प्रसिद्धाः । अथ वा निम्बजम्बूभिः सहितैः सर्जा देवदारवः । अर्जुनाः शास्त्रे देवविशेषे
वार्बुदसमीपे च प्रसिद्धाः तैः, तथा अञ्जना वृक्षविशेषाः, वज्रुला वानीराः, तथा कङ्कलयः
अशोकाः केसरा नागकेसरा एतैर्वृक्षैर्या शत्रुंजया सरित् उपास्यते सर्वकालं सेव्यते ।
किंभूता । यावन्ति त्रैलोक्यलोकवर्तीनि सर्वजातीयानि वा मनसामभीप्सितानि कामि-
तानि तेषां दाने प्रपूर्णे दक्षा कुशला । कामितकामधेनुरित्यर्थः । उद्दिश्यते—आत्मसुखेषु
विषये स्वःसालतायाः कल्पद्रुमभावस्य स्पृहया वाञ्छया वृक्षलक्षैः संसेव्यते । कामि-
तकामदुषां शत्रुंजयां सरितं संसेव्य वयं कल्पवृक्षभावं भजाम इतीच्छयैव ॥ युगम् ॥

कदा पुनर्दर्शनमस्य भावि ध्यायन्निदं स्वीयहृदा मुनीन्दुः ।

तीर्थं स तीर्थेशमिव प्रणम्य पथि प्रतस्थे प्रथितावदातः ॥ २९ ॥

स मुनिर्ह्रीरसूरीन्द्रतीर्थेशं जिनमिव शत्रुंजयाद्रिं प्रणम्य ललाटघटितकुङ्कुलीकृत-
करकमलो नमस्कृत्य पथि द्वीपोन्नतपुरपद्धतौ प्रतस्थे प्रचंचाल । स किलक्षणः । प्रथितो
जगद्विख्यातोऽवदातः अकम्बरसाहिप्रतिबोधनलक्षणं चरितं यस्य । स किं कुर्वन् । इ-
दमत्रैव वृत्ते प्रोच्यमानमेतत्स्वहृदा निजमनसा ध्यायन् चिन्तयन् । इदं किम् । यदस्य
तीर्थाधिराजस्य पुनर्द्वितीयवारं कदा कस्मिन्काले मम दर्शनमवलोकनम् । यात्रा इत्यर्थः ।
भावि भविष्यति ॥

मेरुनिव कापि सुवर्णवर्णान्कुत्रापि रौप्यानिव शर्वशैलान् ।

अप्याश्मगर्भानिव विन्ध्यभूध्रान्सिद्धाद्रिकूटान्पथि दृष्टवान्सः ॥ २९ ॥

पथि मार्गे सिद्धाद्रेः पुण्डरीकपर्वतस्य कूटान् शिखराणि । कूटशब्दः पुनर्पुंसकलि-
ङ्गयोः । यथा—‘ध्वजमलयजकूटाः कालकूटारकूटौ’ इति लिङ्गानुशासने । दृष्टवान्प-
श्यति स्म । किंभूतान् कूटान् । कापि कुत्रापि प्रदेशे सुवर्णैः शोभनवर्णैर्वर्णान् वर्णनी-
यान् । कानिव । मेरुनिव । मेरवः किंभूताः । सुवर्णैः काञ्चनैः वर्णैः प्रशस्याः । पुनः
कुत्रापि स्थाने रौप्यान् रूप्याणामिमे रौप्याः । रजतमयानित्यर्थः । कानिव । शर्वशैलानिव ।
यथा कैलाशाः कलधौतस्वरूपा भवन्ति । ‘रजताद्रिस्तु कैलाशः’ इति हैम्याम् । अपि
पुनः कचन भूभागे आश्मगर्भान् अश्मगर्भाणां ह्रिन्मणीनामिमे । मरकतमणिमयानि-
त्यर्थः । कानिव । विन्ध्यभूध्रानिव । विन्ध्योपमानं श्यामवर्णत्वात् । श्यामनीलवर्णयोः

शास्त्रेष्वेक्यमेव दृश्यते । यथा—‘नीली विनीलं नभः’ । तथा—‘जसतणुकंतिकडप्प-
सिणिद्ध’ । सोहइ फणमणिकिरणालिद्ध’ नेत्रवजलहरतडिलयलंछिउ ॥’ इति । अत्र पार्श्व-
नाथो मरकतवर्णः, जलधरः श्यामवर्णः, अनयोरुपमेयोपमानता जाता इति ॥ इति
शत्रुंजयपरिसरभुवं विहायाग्रे प्रस्थानम् ॥

कुत्रापि बन्धूनिव नन्दनस्य निकुञ्जपुञ्जान्सुमनोभिरामान् ।

वेणीरिव व्योमपयोधिपत्न्याः कूलंकषाः कापि विशुद्धवारः ॥ २७ ॥

इवात्मदर्शान्धरणीन्दिरायाः कचित्तटाकांश्च पयःप्रपूर्णान् ।

मित्राणि सुत्रामपुरः किमत्र श्रीवासवेश्मानि पुनः पुराणि ॥ २८ ॥

हल्लेखितामाकलयद्भिरात्मावतंसतां नेतुमिदं पदाब्जम् ।

श्राद्धैरिवानेकजनैः प्रणम्यमानः स पश्यन्पुरतोऽजिहीत ॥ २९ ॥

स प्रभुः सूरिः पुरतः शत्रुंजयाद्रिकूटानि निर्मुच्याग्रेतनमार्गे अजिहीत । ‘ओहाइ
गतौ’ धातुः । अद्यतनप्रयोगः । गच्छति स्म प्रचलितवान् । स किं क्रियमाणः । श्राद्धैः
श्रावकैरिवानेकैर्विविधजातीयैर्बहुभिर्वा जनैः सौराष्ट्राष्ट्रजन्मभिलोकैः प्रणम्यमानो न-
मस्कियमाणः । जनैः किं कुर्वद्भिः । हल्लेखा उत्कण्ठा अस्त्येषामिति हल्लेखिन उत्कण्ठा-
वन्तस्तेषां भावो हल्लेखिता औत्सुक्यम् । ‘रणरणकोत्कण्ठे आयल्लकारतीहल्लेखोत्क-
लिके’ इति हैम्याम् । आकलयद्भिविभ्राणैः । किं कर्तुम् । इदं पदाब्जं सूरिचरणारवि-
न्दमात्मनः स्वस्य अर्थान्मस्तके अवतंसतां शेखरत्वं नेतुं प्रापयितुम् । पुनः स किं कुर्वन् ।
पश्यन्विलोकयन् । कान् । कुत्रापि प्रदेशे निकुञ्जपुञ्जान् वनप्रकरान् । उत्प्रेक्ष्यते—नन्दनस्य
मन्दराद्रिद्वितीयमेखलावर्तिवासववनस्य बन्धून् सोदरान् इव । तत्तुल्यानित्यर्थः । किं-
भूतान् । सुमनोभिर्विविधजातिकुसुमैरभिरामान् देवैश्च रमणीयान् । पुनः कापि भू-
मिभागे कूलंकषाः अभङ्गरङ्गुत्तरङ्गसंगमागाहप्रबलप्रसरत्पयःपूररंहोनिष्पातिततटी-
स्तटिनीः पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—व्योमपयोधिपत्न्याः गगनापगायाः गङ्गायाः वेणीः
प्रवाहानिव । ‘प्रवाहः पुनरोद्यः स्याद्वेणीधारारयश्च’ इति हैम्याम् । किंभूताः । विशुद्ध-
वारः विशुद्धं निर्मलमुज्ज्वलं च वाः पानीयं यस्याम् । पुनः कान् । तटाकान् सरोवराणि
पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—धरणीन्दिराया भूमिश्रिय आत्मदर्शान्दर्पणानिव । किंभूतान् ।
पयोभिः पानीयैः प्रकर्षेण कण्ठं यावत्पूर्णान् निर्भरभृतान् । पुनः कानि पुराणि नगराणि
पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र मेदिनीमण्डले सौराष्ट्रमण्डले वा सुत्रामपुर इन्द्रनगरस्यामरा-
वत्याः मित्राणीव । किंभूतानि पुराणि । श्रीवासवेश्मानि श्रीणां धनधान्यादिलक्ष्मीणां
श्रियो हरिप्रियाया वा वासार्थं निवसनकृते मन्दिराणीव ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

क्रमद्वयीचङ्क्रमणक्रमेणातिक्रम्य शक्रो व्रतिनां स मार्गम् ।

वस्वोक्तसारावरजामिवात्राजयाभिधानां पुरमाससाद ॥ ३० ॥

स व्रतिनां शक्रो मुनीन्द्रः हीरसूरिः अजय इत्यभिधानं यस्यास्तादृशीं पुरं नगरी-
माससाद प्राप । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र द्वीपोन्नतनगरोपकण्ठे भूपीठे वस्त्रोक्तसारथ्या धनद-
नगर्याः अवरजां लघुभगिनीमिव । किं कृत्वा । क्रमद्वयी चरणयुगली । ‘उच्चै राज्यप्रदाना-
त्कलिकलुषमलक्षालनात्, तामसानामुच्छेदात्, त्रिदशपतिकरस्पर्शनात्, दर्शनस्य ।
हेतुत्वात्, सस्य सूर्याद्युदयफलपदस्वर्जनज्ञानभूत्वात् धत्ते नाभेयदेवप्रभुपदयुगलीगौरवं
गौरिवेह ॥’ इति श्रीसोमसुन्दरसूरिकृतस्तवे युगलीशब्दः । तथा यच्चङ्क्रमणं चलनं तस्य
क्रमेण परिपाठ्या मार्गे पन्थानमतिक्रम्योल्लङ्घ्य ॥ इति मार्गोल्लङ्घनम् ॥

तत्राजयोर्वीरमणस्य पिण्डीभवद्यशः किं शशिजित्वरश्चि ।

सूरीन्दुरालोकयति स चैत्यमचिन्त्यमाहात्म्यजिनाङ्किताङ्कम् ॥ ३१ ॥

सूरीन्दुर्हीरसूरिसोमः तत्राजयपुरे चैत्यं प्रासादमालोकयति स्म ददर्श । किंभूतं
चैत्यम् । अचिन्त्यं चिन्तयितुमशक्यं विचारगोचरातीतं माहात्म्यं प्रभावो यस्य तादृ-
शेन जिनेनाजयपार्श्वनाथप्रतिमारूपेण अर्हता अङ्कितं कलित उत्सङ्गो मध्यं यस्य तत् ।
उत्प्रेक्ष्यते—चैत्यम् । अजयो नामा उर्वीरमणो राजा दशरथनृपस्य जनकस्तस्य । ‘अधु-
नाजयभूपालभाग्येन यमिहागता’ इति शत्रुंजयमाहात्म्ये । पिण्डीभवत्पिण्डतां प्राप्नु-
वद्यशः किं कीर्तिरिव । किंभूतं यशः । शशिनश्चन्द्रस्य जित्वरी जयनशीला श्रीः श्वेति-
मलक्ष्मीर्यस्य ॥

प्रीत्या प्रणत्याजयपार्श्वमन्त्राभिष्टुत्य वृत्रारिरिव व्रतीन्दुः ।

अकीर्तयत्काप्युपविश्य तस्य माहात्म्यमित्यङ्गभृतां पुरस्तात् ॥ ३२ ॥

व्रतीन्दुर्वाचंयमचन्द्रमाः सूरिः कापि कुत्रापि स्थाने तद्देवगृहवर्धिमर्माशालायामुप-
विश्यासित्वा अङ्गभृतां भविकजन्तूनां पुरस्तादग्रे इत्यमुना प्रकारेणाग्रे वक्ष्यमाणं तस्या-
जयपार्श्वनाथबिम्बस्य माहात्म्यं प्रभावमकीर्तयत् विस्तारयति स्म । ‘कीर्तणं यशसि वि-
स्तारे’ इति धातुः । उक्तवान् । किं कृत्वा । अत्र प्रासादे प्रीत्या प्रमोदेन । ‘मुत्प्रीत्यामो-
दसंमदाः । आनन्दानन्दथू’ इति हैम्याम् । अजयपार्श्वमजयपार्श्वनाथप्रतिमां प्रणत्य
नमस्कृत्य । व्यवस्थितविकल्पत्वान्मितानिटां वा तुक् । ‘आगम्यागल्य प्रणम्य प्रणत्य’
इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । च पुनः किं कृत्वा । अभिष्टुत्य स्तुत्वा । क इव । वृत्रारिरिव ।
यथा इन्द्रः शक्रः स्ववादिना जिनं स्तौति ॥

कश्चिन्महेभ्यो व्यवहर्तुमब्धिमध्याध्वना प्रास्थित सागराहः ।

कास्त्यत्र पुत्री जलधोर्निभात्य गृह्णाम्यहं तामिति किं वितर्क्य ॥ ३३ ॥

कश्चित्कोऽप्यज्ञातपूर्वस्वरूपः सागर इत्याहा नाम यस्य तादृशो महेभ्य इभप्रमाणं ध-
नमस्तीति । इभ्यस्ततोऽप्यधिकद्रव्यो महेभ्यो व्यवहारी व्यवहर्तुम् । ‘जहालहैतहालोहो
लहो लोहो पवटई’ इति वचनात् । अधिकधनाकाङ्क्षया व्यापारं कर्तुमब्धिमध्याध्वना
समुद्रान्तरालयाथिना मार्गेण प्रास्थित प्रस्थितवान् । समुद्रे यानपात्रे चढति स्मे-

त्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति किं वितर्क्य विचारयित्वेव । इति किम् । यदत्राम्भोधेर्जलधे-
र्वांरिराशेः पुत्री नन्दना लक्ष्मीः कास्ति कुत्र विद्यते निभाल्य सम्यङ्ङिरीक्ष्य तां समु-
द्रसुतां श्रियमहं गृह्णामि ॥

दुर्दैवयोगाज्जलधौ जजृम्भे तदा कुतश्चिज्जलदस्तमोवत् ।

चिखेल योषेव तडित्तदङ्गे जगर्ज मत्तेभ इवोत्कटं सः ॥ ३४ ॥

तदा तस्मिन् सागरव्यवहारिणः वारिधिमध्यगमनसमये दुर्दैवयोगादभाग्योदयात्
प्रभावाज्जलधौ पयोधेरुपरि गगनभागे जलदोऽतिप्रबलपयोधरः कुतश्चित्कस्माच्चन स्था-
नादागत्य जजृम्भे नभोमण्डले परितः प्रससार । किंवत् । तमोवत् । यथान्धकारं कुतश्चि-
द्विरिगङ्गादिभ्य आगत्य जृम्भति यावाभूम्योः प्रसरति । पुनस्तस्य जलदस्याङ्गे उत्सङ्गे ।
मध्ये इत्यर्थः । तडिट्टिद्युचिखेल चिक्रीड चमत्कारं कुरुते स्म । केव । योषेव । यथा
वाणिनी नायिका खनायकाङ्गे वैलायति । पुनः स जलदो मत्तेभ इव । वारुणीयाधिमदो-
द्धतीभूतनूतगन्धसिन्धुर इव उत्कटं कर्णकटुकं यथा स्यात्तथा भैरवं जगर्ज गर्जारवं चकार ॥

तातोऽहिकान्तः परिवर्तवात इव प्रवृत्तः परितः पयोधौ ।

कपोतपोता इव तस्य पोता निपेतुरुत्पत्य नभस्यधस्तात् ॥ ३५ ॥

ततः प्रबलपयोधिपटलप्रसरणानन्तरं परिवर्तवातः कल्पान्तकालसंबन्धी समीरण
इव । 'कल्पो युगान्तः कल्पान्तः संहारः प्रलयः क्षयः । संवर्तः परिवर्तश्च' इति है-
म्याम् । अहिकान्तः प्रचण्डपवनः । 'वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्प्रकम्पनाः' इत्यपि
हैम्याम् । परितः समुद्रमध्ये सर्वत्र प्रवृत्तः प्रवर्तते स्म । प्रसरति स्मेत्यर्थः । ततः
पवनप्रवृत्तेरनन्तरं तस्य सागरव्यवहारिणः पोता वहनानि नभसि उत्पत्य अत्युद्भटवि-
कटप्रभञ्जनवंहिमरंहःसंदोहोच्छालितानि गगनाङ्गणान्तरुद्धीयोद्धीय अधस्तात्पुनः पयो-
धिमध्ये निपेतुः पतन्ति स्म । के इव । कपोतपोता इव । यथा पारावतपृथुका व्योमन्यु-
द्धीयाधस्ताद्वरणीपीठे निपतन्ति ॥

रङ्गत्तरङ्गावलिरम्बुराशेरालम्बमानाम्बरमम्बुपूरैः ।

राजी गिरीणामिव तुङ्गिमानमाविभ्रती प्रादुरभूत्तदानीम् ॥ ३६ ॥

तदानीं निखिलाम्बरमण्डलाखण्डाडम्बरितदुर्धरवारिधराविर्भवनादनुपरितः प्रवृत्त-
परिवर्तपवमानसमानामानाकाण्डप्रकटीभवत्प्रचण्डपवनप्रसरणसमये अम्बुराशेः समुद्रस्य
रङ्गन्ती दशदिग्विभागेषु प्रचलन्ती तरङ्गाणां कल्लोलानामावलिः श्रेणिः प्रादुरभवत्प्रकटी-
भवति स्म । किं कुर्वाणा । अम्बुपूरैः पयःप्लवैः । जलभरैरित्यर्थः । कृत्वा अम्बरमाकाश-
मालम्बमाना आश्रयन्ती । प्रौढा पवनप्रोच्छलज्जलकल्लोलैर्जलधिव्योममण्डलावेकीभूता-
विव लक्ष्येते । किं कुर्वती तरङ्गावलिः । गिरीणां राजिः पर्वतानां पङ्क्तिरिव तुङ्गिमानम-
त्युच्चभावमाविभ्रती धारयन्ती ॥

पाठीनपीठाण्डजनक्रचक्रकुम्भीरपुञ्जैः प्रकटीभवद्भिः ।

वन्यैरिवारण्यमगण्यहिंसैर्भयानकोऽम्भोधिरभूत्तदास्य ॥ ३७ ॥

तदा तस्मिन्मेघागमप्रक्रमे तस्य सागरमहेभ्यस्य अम्भोधिः समुद्रो भयानको भयं-
करो बभूव । कैः । प्रकटीभवद्भिः दृग्गोचरीभवद्भिः दृग्गोचरमागच्छद्भिः पाठीनपीठा-
मत्स्यविशेषा अण्डजाः सामान्यमत्स्याः नक्ताश्चक्रास्तथा कुम्भीराणां पुञ्जा व्रजा मकरजा-
तिविशेषास्तैः कृत्वा भीमम् । किमिव । अरण्यमिव । यथा वन्यैः काननजन्मभिः अग-
ण्यैर्गणयितुमशक्यैर्गणनातीतैर्हिंसैः हिंसनशीलैः श्वापदैर्व्याघ्रसिंहाष्टापदादिकैर्जन्तुघात-
कसंततिभिरटवी भयकारिणी भवेत् ॥ इति जलदोदयः ॥

क्रोधोद्धतं व्यालमिवोपयान्तं प्रकोपितं दुष्टमिवाथ चण्डम् ।

स सागरो भैरवसागरं तं द्रष्टुं न दृष्ट्यापि तदा शशाक ॥ ३८ ॥

स यानपात्रेण समुद्रमध्ये समेतः सागरनामा व्यवहारी यदा यस्मिन् समये तं स्फु-
रदमन्दमेदुरमुदिरमण्डलाकलितं प्रचण्डप्रभञ्जनप्रक्षुब्धतपयःप्रसरत्प्रतिदिगन्ततुङ्गत-
ङ्गभरं भैरवं भयावहं सागरं समुद्रं दृष्ट्यापि लोचनेनापि द्रष्टुं विलोकयितुं न शशाक नैव
समर्थो बभूव । कसिव । व्यालमिव । यथा क्रोधेन कोपाटोपेन कृत्वा उद्धतमुत्कटं सुमटको-
व्यापि कलयितुमाक्रमितुमशक्यं तथा उपयान्तं संमुखमागच्छन्तं व्यालं दुष्टगजं
'धुनी' इति प्रसिद्धम् । अथ वा पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं गारुडिकैरपि कलयितुम-
शक्यं दुष्टसर्पमिव । अथ वा वन्यजीवैराक्रमितुमशक्यं श्वापदमिव । अथ वा
चित्रकव्याघ्रादिभिरनाक्रमणीयं कण्ठीरवमिव । अथ वा गन्धसिन्धुरादिभिरनाकलनीयं
शरभमिव । 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे खले श्वापदसिंहयोः' इत्यनेकार्थः । अथ पुनः
कसिव । प्रकोपितं केनापि प्रकारेण प्रकोपितं महाक्रोपं प्रापितम् । तथा चण्डं दुष्टाशयं
दुर्दन्तिनं वा दुष्टं दुर्जनमिव ॥

संवर्तवत्तत्र तदा स्वपोतलोकक्षयं प्रेक्षितुमक्षमः सन् ।

विलासवाप्यामिव वार्धिमध्ये यावत्स झम्पां प्रगुणः प्रदत्ते ॥ ३९ ॥

स सागरश्रेष्ठी यावत् यावत्प्रमाणेन समयेन प्रगुण उत्साहवान् सन् वल्गायञ्चलसं-
रणेन बद्धकच्छो वा वार्धिमध्ये समुद्रान्तः झम्पां संपातपाटवम् । जले निपतनमित्यर्थः ।
प्रदत्ते । कस्यामिव । विलासवाप्यामिव । यथा कश्चिज्जलकेलिकरणप्रवणः क्रीडादीर्घिकायां
झम्पां दत्ते । किंभूतः सन् समुद्रसलिले पतति । तदा तस्मिन्मेघोत्पातसमये तत्र
क्षुब्धपयोधिमध्ये संवर्तवत्कल्पान्तकाल इव स्वपोतलोकानां जिनयात्रारूढानेकसाया-
त्रिकजनानां क्षयं संहारं प्रेक्षितुं स्वयमालोकितुमक्षमः असमर्थः सन् । मया कथं
कथंचिन्मद्यानपात्रमध्येऽधिरोपिता एतावन्तो लोका एककालं प्रलयं लप्स्यन्ते । तदे-
तेषां मदाश्रितानां लोकानां क्षयमहमात्मदृष्ट्या द्रष्टुं नालमिति तत्प्रथममेव मर्तुकामो
यावज्जलधौ झम्पां प्रदत्ते इत्यर्थः ॥ इति सागरस्य सागरे पिपतिषा ॥

कृष्टेव तद्भाग्यभरैस्तदाविर्भूयाभ्रमार्गेऽब्धिगभीररावा ।

पद्मावती वाचमिमामुवाच मा वत्स कार्षीरिह साहसं त्वम् ॥ ४० ॥

तदा तस्मिन् सागरव्यवहारिणः सागरमध्ये पतनसमये अघ्राणां मेघानां मार्गे वत्सनि
अभ्र एव मार्गे गगनाध्वनि वा आविर्भूय प्रकटीभूत्वा पद्मावती पार्श्वनाथशसनाधिष्ठायिका
यक्षिणी धरणेन्द्राग्रमहिषी वा अनयोरन्यतरा वा इमां वक्ष्यमाणां वाचं वाणीमुवाच
वदति स्म । किंभूता । अब्धिवज्रलधिधीरध्वनितमिव गभीरो गम्भीरो रावो ध्वनि-
र्यस्याः । उप्रेक्ष्यते—तद्भाग्यभरैः सागरव्यवहारिणा प्राचीनाचीर्णमहासुकृतसंदोहैरिवा-
कृष्टो वा आकृष्यानीतेवात्र । इमां काम् । हे वत्स हे पुत्र सागरमहेभ्यः, इहागाधप-
योधिमध्ये साहसं झम्पालक्षणम् अतलस्पृकृजलमध्यनिपतनरूपं सत्त्वं मा कार्षीः । मा
इति निषेधे । सर्वथा मा कुर्वीथाः । चिरं जीव । ‘मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भू-
त्कोऽपि दुःखितः’ इति हेमाचार्यकृतयोगशास्त्रे ॥

मध्येऽम्बुधरेस्ति समस्तदुःखपाथोधिमन्थावनिभृत्प्रभावम् ।

निधानमम्भोनिधिमेखलाया इवान्तरे पार्श्वजिनेन्द्रविम्बम् ॥ ४१ ॥

हे वत्स, मध्येऽम्बुधरेः समुद्रसलिलान्तराले पार्श्वजिनेन्द्रस्य विम्बं मूर्तिरस्ति विद्यते ।
किमिव । निधानमिव । यथा अम्भोनिधिमेखलायाः समुद्रः काञ्चीरूपो वृत्ताकारः परितो-
वर्तित्वाद्यस्यास्तादृश्याः क्षोण्या अन्तरे मध्ये रूप्यसुवर्णमणिमाणिक्यमण्डितं निधानं
भवति । किलक्षणं विम्बं निधानं च । समस्तानि ऐहिकामुष्मिकाणि दुःखानि सकलानि
दौस्थ्यभृत्यभावादीनि क्लेशानि । यदुक्तं भर्तृहरिकाव्ये—‘सेवाधर्मः परमगहनो योगि-
नामप्यगम्यः’ इति । परलोके देवादिसु परप्रेक्ष्यभावो महद्दुःखं तान्येव बहुत्वात्पयोधिः
पारावारस्तस्य मन्थने विलोडने मन्थावनिभृत् मन्दरगिरिस्तुल्यः प्रभावो माहात्म्यं
यस्य तत् ॥

जलात्तदानाथ्य जनैः प्रपूज्य संस्थापितं स्वे वहने धनेश ।

उत्तालवातूलमिवार्कतूलं विभ्रं पुरैतद्धरति त्वदीयम् ॥ ४२ ॥

हे धनेश धनपते व्यवहारिन्, जनैर्निजनाविकलोकैर्जलजलधिसलिलात् आनाय्या-
कर्षयित्वा पुनः प्रपूज्य प्रकर्षेण चन्दनसुमकर्पूरागुरुभिरभ्यर्च्य तन्मयोक्तम् श्रीपार्श्व-
विम्बं स्वे आत्मीये अर्थात्त्वसंबन्धिनि वहने यानपात्रे संस्थापितं सत् एतत्प्रत्यक्षम-
विरलजलदपटलप्रचण्डपवनवेगवहनोड्डयनप्रवर्तनरूपं त्वदीयं तव संबन्धिनं विभ्रं
प्रत्यूहव्यूहमनिसर्गोद्गतोपसर्गं पुरा हरति अवश्यं हरिष्यतीति । ‘यावत्पुराणिपातयो-
योगे भविष्यदर्थे वर्तमाना’ इति सूत्रेणात्र पुरा हरति इति हरिष्यतीत्यर्थः प्रयोगः ।
तथा ‘पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया’ इति नैषधे । किमिव ।
अर्कतूलमिव । यथा उत्तालवातूलं त्वरिततरं प्रवर्तमान एव मानसमूहोऽर्कतूलं हरति
उड्डीय कचिदपि क्षिपति तथैतत्त्वद्विभ्रं हरिष्यति ॥

मोद्धाटयेः स्वस्तरुपत्रपेटां संप्रापयेद्वीपपुरं पुनस्ताम् ।

परस्य पृथ्व्या इव वासवस्य तत्राजयोर्वीशितुरपयेस्त्वम् ॥ ४३ ॥

हे वत्स हे सागरव्यवहारिन्, मयोक्तां पयोधिपयोमध्यवर्तिनीं स्वस्तरोः कल्पद्रुमस्य पत्राणां दलानाम् । खड्गमपर्णेर्निर्मितामित्यर्थः । पेटां मञ्जुषां मोद्धाटयेः त्वं माविकाशी-
कुर्याः । 'तुं म उघाडीश' इति लोकभाषा । पुनस्तां कल्पपादपत्रपेटां द्वीपनाम्नि
पुरे नगरे संप्रापयेः अनुद्धाटितद्वारकपाटामेव एनां द्वीपवन्दिरे त्वं नयेः । गृहीत्वा यायाः
इत्यर्थः । पुनस्तत्र द्वीपपुरे अर्थाद्दिग्जैत्रयात्रार्थं समेतस्याजयनात् उर्वीशितुः पृथ्वीपतेः
राज्ञः अपयेः विश्राणयेः दद्याः । उत्प्रेक्ष्यते—पृथ्व्या भूमेः परस्य अन्यस्य वासवस्य
पुरंदरस्येव एकः स्वर्गवासवो वर्तते अयमन्यो मेदिन्या वासव इव ॥

उद्धाट्य पेटां प्रकटां प्रणीय चित्रादिवल्लीमिव पार्श्वमूर्तिम् ।

छिनत्विदं स्नात्रजलाभिषेकाञ्छतं सप्तोत्तरमङ्गरोगान् ॥ ४४ ॥

हे सागरेभ्य, अजयो नाम राजा इदं स्नात्रस्य अस्याः श्रीपार्श्वनाथमूर्तेः स्नात्रस्य
स्नपनस्य जलस्य सलिलस्याभिषेकान्सिद्धनान्सप्तसंख्या उत्तरे अग्रे यस्य तादृशं शत-
मेतावता सप्तोत्तरं शतमङ्गरोगान् स्वशरीरामयान् छिनत्तु निराकरोतु । 'स दिशः
सकला जिष्णुर्जयन्प्राग्भावकर्मणा । सप्तोत्तरशतेनाथ व्याधिना परिपीडितः ॥ आ-
कामन्निति भूपालान् बलात्सौराष्ट्रमण्डलम् । क्रमात्प्रापदखण्डाञ्चस्त्रिखण्डावनिमण्डनः ॥'
इति शत्रुंजयमाहात्म्ये । किं कृत्वा । पेटां कल्पद्रुदलमण्डलघटितां मञ्जुषामुद्धाट्य द्वार-
द्वयं विकाशीकृत्य । अपावृतद्वारां विधायेत्यर्थः । पुनश्चित्रमिति पदमादौ यस्यास्तादृशीं
वल्लीमिव चित्रकवल्लीमिव 'चित्रावेलि' इति प्रसिद्धां द्रव्याद्यक्षयकारिकां पार्श्वमूर्तिं
श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां प्रकटां लोचनगोचरां प्रणीय कृत्वा ॥ इति पद्मावल्यादेशः ॥

आसादितप्राणितवत्पुनः स्वं विदन्निशम्येति गिरं त्रिदश्याः ।

आनाययन्नीरधिनीरमध्याज्जनैः स्वपोते जिनमूर्तिपेटाम् ॥ ४५ ॥

स सागरव्यवहारी जनैः स्वनाविकलोकैः नीरधिनीरमध्यात्समुद्रसलिलान्तरालाजिनमू-
र्तिपेटां त्रयोविंशतितमभगवत्प्रतिमापवित्रितमध्यमञ्जुषां स्वपोते स्वयानपात्रमध्ये आना-
ययत् । किं कृत्वा । निशम्य श्रुत्वा । काम् । त्रिदश्या पद्मावल्या देवताया गिरं
वाणीम् । स सागरः किं कुर्वन् । पुनर्द्वितीयवारमासादितं संप्राप्तं प्राणितं जीवितव्यं येन
तद्वत्स्वमात्मानं विदन् जानन् ॥

क्षणाददृश्योऽभवदिन्द्रजालमिवोपसर्गोऽथ प्रभोः प्रभावात् ।

चमत्कृतस्तत्प्रविलोक्य पेटामभ्यर्च्य भोगादि पुरो व्यधत् ॥ ४६ ॥

अथ पोते पार्श्वनाथप्रतिमासमागमनानन्तरमुपसर्गो गजोंजिततडिज्जात्कारितनू-
तजीभूतवातादिजनितोपद्रवः क्षणात्क्षणमात्राददृश्यो दृग्गोचरातीतः क्षणदृष्टनष्टः अज-

निष्ठ । क्रमात्प्रभोः प्रभावात् श्रीमत्पार्श्वनाथमाहात्म्यातिशयात् । किमिव । इन्द्रजाल-
मिव । यथा कुहकं क्षणाददृश्यीभावं भजेत् । 'इन्द्रजालं तु कुहकम्' इति हैम्याम् ।
स सागरधनी पेटां पार्श्वनाथप्रतिभासत्कमञ्जुषां चन्दनमृगमदघनसारादिभिरभ्यर्च्य
पूजयित्वा पुरः पेटाया अग्रे भोगादि कृष्णागुरुकुन्दरुष्कतुरुष्काद्युत्क्षेपणमादिशब्दाद्वलि-
वाकुलादिकं च व्यधत्त विदधाति स्म । कृतवानित्यर्थः । स किंलक्षणः । चमत्कृतः
जलदानिलाद्युपसर्गविलयादि विलोक्य स्वहृदये विस्मितः ॥ इत्यकाण्डोद्भूतोपसर्ग-
प्रशमनम् ॥

ततोऽनुकूलैः पवनैः पयोनिधौ प्रवर्तितस्तद्व्यवहारिपोतः ।

मत्तद्विपः सादिभिरध्वनीवालानं सुखं द्वीपपुरं प्रपेदे ॥ ४७ ॥

ततो विघ्नापगमनानन्तरं तद्व्यवहारिपोतः तस्य सागरनाम्नो व्यवहारिणो महेभ्यस्य
पोतो यानपात्रं सुखं यथा स्यात्तथा द्वीपपुरं द्वीपनाम नगरं प्रपेदे प्राप प्रातः द्वीपव-
न्दिरे सुखेनागतः । किंलक्षणः पोतः । पयोनिधौ स्वस्थीभूते समुद्रे अनुकूलैः सुखप्रवृत्ति-
कारिभिः पवनैर्वातैः प्रवर्तितः प्रेरितः । 'प्रेरणं प्रवर्तनम् । तत्र तुवादयः' इति सारस्व-
तव्याकरणम् । क इव । मत्तद्विप इव । यथा मदोद्धतो हस्ती सादिभिराधोरणैः अध्वनि
मार्गे प्रवर्तितः सुखमालानं प्रपद्यते ॥

उत्तीर्य तर्थाश्च बलिं विकीर्याप्येतामुपादाय सुतामिवाब्धेः ।

इहाह्वयन्किं हरितां महेन्द्रान्पार्श्वं प्रणन्तुं घनतूररावैः ॥ ४८ ॥

भजनृपाभ्यर्णमथार्णवीयं वस्तूपदीकृत्य निवेद्य वृत्तम् ।

पेटां ङुढौके स पुरः क्षितीन्दोः रुजां चिकित्सामिव तां द्विधापि ॥ ४९ ॥

अथ द्वीपवन्दिरे समागमनानन्तरं स सागर आब्यः क्षितीन्दोरजयगतीर-
जनिजानेः पुरः पुरस्तादग्रे पेटां कल्पपादपपूर्णनिर्मितां मञ्जुषां ङुढौके प्राभृतीचकार ।
उत्प्रेक्ष्यते—द्विधापि द्वाभ्यां बाह्यान्तरङ्गलक्षणाभ्यामपि रुजामन्तरङ्गरोगाणामष्टकर्मणां
बाह्यरोगाणां ज्वरादीनां चिकित्सां रुक्प्रतिक्रियामिव रोगापहारिणी औषधादिविधा ।
किं कृत्वा ङुढौके । आर्णवीयमर्णवसंबन्धि पयोधिमध्यगतद्वीपोत्पन्नं वस्तु समुद्रान्तर्जातं
च वस्तु मुक्ताफलादिकमुपदीकृत्य ङौकयित्वा । च पुनः वृत्तं पञ्चावतीप्रकाशितश्रीपार्श्व-
प्रतिमाया यानपात्रान्तरानयनानन्तरं स्वोपसर्गगमनादिचरित्रं निवेद्य कथयित्वा ।
सागरः किं कुर्वन् । नृपाभ्यर्णमजयराजसमीपं भजन्नाश्रयन् । कैः । घनतूररावैः घना-
मामनेकजातीयानां तूराणां वादित्राणां रावैः शब्दैः । अथ वा शब्दाद्वैतीभावं विद-
धानैः सान्द्रैरातोद्यनादैः । उत्प्रेक्ष्यते—विविधवाचनादैरिह द्वीपवन्दिरे पार्श्वं प्रणन्तुं
भविष्यदजयाभिधानपार्श्वनाथप्रतिमां नमस्कर्तुम् हरितां महेन्द्रान्दशदिक्पालकान् किमा-
ह्वयन्नाकारयन्निव नृपान्तिकं श्रयन् । किं कृत्वा । तर्था वेदाया उत्तीर्थं स्वयानपात्रा-
दवरुह्य तीरभूमावागम्य । पुनर्बलिं दशदिक्षु कूरपूपिकाचणककुलमापादिकं विकीर्य

क्षित्वा । अपि पुनरेतां पद्मावत्याः पूर्वं नृपार्थं प्रकाश्य प्रेषितां मञ्जूषामुपादाय गृहीत्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—अब्धेः समुद्रस्य सुतां नन्दिनीं लक्ष्मीमिवादाय ॥

प्रणीय पूजां क्षितिपेन पूर्वं प्रोद्धाटितायाः प्रमदेन तस्याः ।

पार्श्वप्रभुः प्रादुरभूत्तमोभिद्वास्वानिव प्राग्विरिकंदरायाः ॥ ९० ॥

तस्याः पेटायाः । पञ्चमीप्रयोगः । मञ्जूषामध्यात्पार्श्वप्रभुः श्रीपार्श्वस्वामिनः प्रतिमा
प्रादुरभूत्प्रकटीभवति स्म । क इव । भास्वानिव । यथा प्राग्विरिकंदरायाः पूर्वपर्वतगुहा-
मध्यात् भास्करः प्रकटीभवति । किंभूतः । तमोभित् तमोऽज्ञानं पापं वा अन्धकारं च
भिनन्ति विदारयति इति । तस्याः किंभूतायाः । क्षितिपेनाजयपृथ्वीपतिना प्रमदेन रोग-
विनाशकोपायत्वाद्भावविभगवद्विम्बत्वान्महानन्दसंदोहपुलकितकाययष्टिना प्रोद्धाटितायाः
स्वयमेव विकाशीकृतमनपिधानं विहितं वा द्वारं कपाटो वा यस्याः । किं कृत्वा । पूर्वं
प्रथमं स्वयमात्मना चन्दनकर्पूरकस्तूरिकाकुसुमादिभिः कृष्णागुरुप्रमुखसुगन्धद्रव्योत्क्षेप-
पूर्वं पूजामर्चां प्रणीय विधाय ॥

पार्श्वेशितुः स्नात्रजलाभिषेकाकृतोऽजयोर्वीन्द्रतनूलतायाः ।

महामयोत्थः प्रशशाम तापो भूमेरिव ग्रीष्मभवोऽब्दवर्षात् ॥ ९१ ॥

ततो मञ्जूषामध्यात् श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाप्रकटीभवनानन्तरं पार्श्वेशितुः पार्श्वप्रभुप्रति-
मायाः स्नात्रजलस्य स्नपनसलिलस्य अभिषेकातिसञ्चनात् अजयो नामा उर्वीन्द्रः वसुधा-
सुधानाधीशः तस्य तनूलतायाः वपुर्ग्रहेर्महान्तोऽत्युत्कृष्टा ये आमया कुष्ठज्वरादयो
रोगास्तेभ्य उत्था उत्थानं यस्य तादृशस्तापो निदाघज्वरः प्रशशाम शान्तिं प्राप्नोति
स्म । कस्या इव । भूमेरिव । यथा पृथिव्या ग्रीष्मान्निदाघकृतोर्भवो जनितः संतापः
अब्दवर्षान्मेघवर्षणात्प्रशाम्यति ॥

महामहः कोऽपि महीहिमांशौ प्रावर्ततानामयतामवासे ।

मेने जनो यत्र निजं प्रपन्नस्वः प्राज्यसाम्राज्यमिव प्रमोदात् ॥ ९२ ॥

महीहिमांशौ अजयामिधानवसुधासुधाकरे अनामयतां नीरोगतां समाधिं अवासे
प्राप्ते सति कोऽप्यद्भुतवैभवो महामहः अर्थाञ्जनानामत्युत्सवः प्रावर्तत संजायते स्म ।
यत्र यस्मिन्नतिशायिनि उत्सवे प्रवर्तमाने सति जनस्तदजयराजपरिजनसेवकलोकः प्रमो-
दान्नजमात्मानं प्रपन्नमासादितं स्वः स्वर्गस्य प्राज्यं प्रभूतं साम्राज्यं मण्डलीकपदलक्षणा-
धिपत्वं येन तादृशं मेने मन्यते स्म जानीते स्म ॥

तदोपतापप्रकरैर्वियुक्तः साकेतनेताभ्यधिकं दिदीपे ।

घनात्ययन्यकृतनीरवाहोपरोधनिर्मुक्त इवामृतांशुः ॥ ९३ ॥

तदा न केवलं सेवकलोकानां प्रमोदः समजनि, अपि पुनः पार्श्वनाथस्नात्रजलाभिषिञ्चना-
नन्तरमुपतापानां कुष्ठज्वरादिसप्तोत्तरशतरोगाणां प्रकरैर्वृन्दैः वियुक्तो विरहितः । 'आम

आमय आकल्पमुपतापो गदः समाः' इति हैम्याम् । साकेतस्य कोशलानगर्या अयो-
ध्याराजधान्या नेता अधिपतिरजयनृपोऽपि अधिकमतिशायितया दिदीपे शोभते स्म ।
क इव । अमृतांशुरिव । यथा घनात्ययेन शरत्कालेन न्यकृतो विध्वस्तो निराकृतो निर्वा-
सितो यो नीरवाहो मेघस्तस्योपरोधः संरोधनं तस्मान्निर्मुक्तः पृथग्भूतश्चन्द्र आश्विनपू-
र्णिमाकौमुदीपतिरधिकं दीप्यते ॥ इत्यजयराजस्य रोगोपशमः ॥

ततोऽजयाख्यं नगरं निवास्य पुरीमयोध्यामपरामिवात्र ।

केनापि सिद्धायतनं सुरेण मुक्तं किमस्मिंश्च विधाप्य चैत्यम् ॥ ५४ ॥

संस्थाप्य तं तत्र जिनेन्द्रबिम्बं सिद्धिश्रिया वोपयमं स्वकीयम् ।

काङ्क्षन्निव द्वादशसूर्यतेजा दत्त्वार्चितुं द्वादश शासनानि ॥ ५५ ॥

भूमीभुजां शेखरयज्जिरःसु स्वाज्ञां सुमानामिव मालिकां सः ।

स्वर्गाव नीरोगतनुः क्रमेण स्वां राजधानीं पुनरध्युवास ॥ ५६ ॥

ततो रोगापगमनानन्तरं सः अजयभूपालः पुनर्देशसाधनानन्तरं द्वितीयवारं स्वामा-
त्मीयां तातसंबन्धिनीं राजधानीमयोध्यानाम्नीं नगरीमध्युवास आश्रयति स्म । केन ।
क्रमेण पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिग्बतिदेशसाधनामनस्यपरिपाठ्या । स किंभूतः । स्वर्गां देव
इव नीरोगतनुर्विविधामयरहितशरीरः । स किं कुर्वन् । भूमीभुजां वैताव्यभूधरपर्यन्त-
चतुर्दिग्भूपान्मलमण्डलानां शिरःसु मौलिषु सुमानां मालिकामिव स्वां स्वकीयामाज्ञां
शासनं शेखरयन्त्रवतंसीकुर्वन् सुकुटुमिवापादयन् । 'आपीडशेखरोत्तंसावतंसाः शिरसः
स्रजि' इति हैमीवचनात् । किं कृत्वा राजधानीमधिवसति स्म । अत्र रोगनिर्मुक्तिस्थाने
द्वीपसमीपे अजय इति खनामसमाना आख्या अभिधानं यस्य तादृशं नगरं महत्पुरं
निवास्य वासयित्वा संस्थाप्य । उत्प्रेक्ष्यते—अपरामन्यां द्वितीयामयोध्यां कोशलापुरीमिव
स्वकुलक्रमायातां साकेतनीनाम्नीं राजधानीमिव । 'साकेतं कोशलायोध्या' इति हैम्याम् ।
च पुनरस्मिन्नजयनामनगरे चैत्यं श्रीपार्श्वनाथप्रासादं विधाप्य शिल्पिभिर्निर्माप्य । उत्प्रे-
क्ष्यते—केनानिर्दिष्टनाम्ना सुरेण देवेन अस्मिन्नजयपुरे मुक्तं कुतश्चित्प्रदेशात्स्वयमानीय
संस्थापितं सिद्धायतनं शाश्वतजिनचैत्यमिव । पुनः किं कृत्वा । तत्र स्वनिर्मापितप्रासादे
तं पद्मावतीप्रकटितमाहात्म्यं सागरमहेभ्यमहामहानीतपार्श्वनाथं संस्थाप्योपवेशयित्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—सिद्धिश्रिया मोक्षलक्ष्म्या समं स्वकीयमात्मसंबन्धिनमुपयमं विवाहमिव सं-
स्थाप्य स्थापयित्वा । 'पाणिग्रहणमुद्राह उपायामयमावपि' इति हैम्याम् । उपयाम
उपयमाविति शब्दद्वयं पुनरर्चितुं श्रीअजयपार्श्वनाथप्रतिमां पूजयितुं द्वादशसंख्याकानि
शासनानि श्रीमान् दत्त्वा स्वेनार्पयित्वा । 'दीयतां दशलक्षणि शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोको यद्वा गच्छतु गच्छतु ॥' इति । अथ धृतकेशागतसिद्धसेनदिवाक-
रागमनसमये एव अदृष्ट एवैकश्लोकप्रेषणे विक्रमार्कदानपत्रे दानश्लोके दानम् । तत्र दश-
सौवर्णकलक्षाणि शासनानि ग्रामाश्च दत्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—द्वादशानां सूर्याणां तेजः प्रताप

काङ्क्षन् वाञ्छन्निव । तेजःशब्देन प्रतापोऽप्युच्यते । यथा नैषधे—‘एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने—’ ‘त्वत्प्रतापानामतिक्रमेण’ तद्वृत्तिः ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इत्यजयराजरोगापह्वारकाजयपार्श्वनाथप्रस्तावनम् ॥

नामैव तस्यावनिवल्लभस्य पार्श्वप्रभोस्तस्य बभूव नाम ।

तद्वासितस्येव पुरस्य वाराणस्या इवैतस्य निवासभूमेः ॥ ५७ ॥

तस्यावनिवल्लभस्य तस्य पूर्वकथितस्याजयस्य राज्ञो नाम्नैवाभिधानेनैव पार्श्वप्रभोः श्रीपार्श्वनाथस्य नाम बभूव । अजयपार्श्वनाथ इति संजातम् । कस्येव । तेनाजयराजेन वासितस्य निवेशितस्य स्थापितस्य अजयपुरमिव । किंभूतस्य पुरस्य । अजयपार्श्वनाथस्य निवासभूमेः स्थितिस्थानकस्य । कस्या इव । वाराणस्या इव । यथा वाराणसी भगवतः श्री-पार्श्वनाथस्य जन्मभूमित्वादवासस्थानम् ॥ इति पाठान्तरम् ॥

ध्यातोऽधुनाप्येष पयोधिमध्ये प्रयाति वाते प्रतिकूलभावम् ।

निर्विघ्नयन्पोत इवाङ्गभाजः प्रभुः सुखं लम्भयति प्रतीरम् ॥ ५८ ॥

भो भव्याः, अधुनापि पञ्चमारके अस्मिन्कलौ प्रवर्तमानेऽपि वा पयोधिमध्ये जलधि-जलान्तराले ध्यातोऽर्थांल्लोकैर्ध्यानगोचरीकृतः स्मृतोऽपि वा वाते प्रचण्डपवने प्रतिकूलभावं प्रतिकूलतां याति गच्छति सति एष प्रभुरजयपार्श्वनाथः अङ्गभाजः पार्श्वनाथ-स्मरणप्रवणाः प्राणिनः निर्गता विलयं प्राप्ता विघ्नाः प्रत्यूहा येभ्यस्ते निर्विघ्नान्करो-तीति । ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इति प्रक्रियासूत्रेण जिः । ‘जिर्दित्करणे’ इति सारस्वते इति सारस्वतसूत्रेण जिप्रत्ययः । निर्विघ्नयति निर्विघ्नयतीति निर्विघ्नयन् । विघ्नरहितान्कुर्वन्नित्यर्थः । निरन्तरायान् सृजन् सुखं यथा स्यात्तथा कुशलेनेत्यर्थः । प्रतीरं तटभूमीं स्वस्ववेलाकूलावनीं लम्भयति प्रापयति । क इव । पोत इव । यथा निर्वहणान्वोहित्थर-हितांस्तथाम्भोधिमध्ये पतिताञ्जनान् यानपात्रे स्वस्मिन्नधिरोप्य सुखेन तीरं नयति ॥

बहूदितैः किं भवदीयभाग्यैरारोपितस्तेन महीधनेन ।

सुपर्वशाखीव समीहितानि यच्छंश्चिरं नन्दतु पार्श्वनाथः ॥ ५९ ॥

भो भव्याः, किं बहूदितैः बहुभिरनल्पैरुदितैः कथितैः किमस्तु । एषोऽजयपार्श्वनाथः वो युष्माकं समीहितानि सम्प्यगैहिकानि पुत्रकलत्रद्रविणादीनि आमुष्मिकाणि स्वर्गोपवर्गा-दिकानि कामितानि मनोरथान् यच्छन् पूरयन् चिरं बहुसमयमाकल्पान्तकालं यावन्नन्दतु विजयवान् प्रवर्तताम् । किंभूतः । तेन महीधनेनाजयराजेन आरोपितः स्थापितः । उत्प्रेक्ष्यते—भवदीयभाग्यैः युष्मत्संबन्धिभिः सुकृतैः सुपर्वशाखी कल्पवृक्ष इवारोपितः ॥ इत्यजयपार्श्वनाथप्रबन्धः । विस्तारतस्त्वेतद्व्यतिकरः शत्रुंजयमाहात्म्यादवसेयः ॥

तत्रोपदिश्येति जनान्मुमुक्षुक्षोणीऋमुक्षा क्षणमक्षिलक्ष्यम् ।

प्रणीय नत्वा च तमात्मना तत्पुरं पवित्रीकृतवान्स तद्वत् ॥ ६० ॥

स हीरविजयनामा मुमुक्षूणां मुनीनां मध्ये क्षोण्या भूमेः ऋक्ष इन्द्रः । सूरीन्द्र इत्यर्थः । तद्वदजयपार्श्वनाथ इव तत्पुरमजयपुरमधुना तु अञ्जारग्रामः ग्रामनाम्ना च 'अञ्जारोपार्श्वनाथ' इति प्रसिद्धिः । आत्मना स्वेनैव पवित्रीकृतवान् पावनीचकार । किं कृत्वा । तत्र चैत्ये बहिःप्रदेशवर्तिन्यां धर्मशालायां जनान् भविकलोकान् प्रति इति पूर्वोक्तप्रकारेण अजयपार्श्वगमनादिवत्तमुपदिश्य उपदेशं देशनां दत्त्वा च पुनः क्षणं क्षणमात्रं तं जिनमक्ष्णोर्दृशोर्लक्ष्यं गोचरं प्रणीय निर्माय पुनस्तं पार्श्वनाथं नत्वा प्रणम्य ॥

द्वीपस्य संघोऽप्यखिलो मुनीन्दोरभ्यागमत्तत्र सहाङ्गनाभिः ।

माहात्म्यमद्वैतमेवेत्य तस्य शुश्रूषया लेखगणः किमेषः ॥ ६१ ॥

तत्राजयपुरे अङ्गनाभिः स्वकीयपरकीयपुरं पुरं धीभिः सह सार्धमखिलोऽपि समस्तोऽपि द्वीपस्य द्वीपबन्दिनस्य संघः श्रावकसमुदायो मुनीन्दोर्हीरविजयसूरेरभ्यागमत्संमुखमाजगाम । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य सूरीशितुः अद्वैतमनन्यमसाधारणं माहात्म्यं वाङ्मनसगोचरातीतं महिमानमेवेत्य विज्ञाय शुश्रूषया सेवां कर्तुमिच्छया एष संघरूपो लेखगणः सुरसमूहः समेतः समागत इव ॥

लोकं पृष्ठान्वीक्ष्य गुणान्गणेन्दोः प्रीता प्रणीयागणितात्ममूर्तीः ।

नम्रागतस्त्रैणमिषेण लक्ष्मीर्नमस्यती स्तौति च गायतीव ॥ ६२ ॥

गणेन्दोः सूरेर्लोकं पृष्ठान्विश्वाह्लादकान् गुणान् शमदममार्दवार्जवसंयमनिष्ठत्वादिकान् वीक्ष्य खट्वगोचरीकृत्य प्रीता संतुष्टचित्ता सती नम्रं नमनशीलं तथा आगतं भगवद्वन्दनार्थमायातं यत्त्रैणं स्त्रीणां समूहः सीमन्तिनीसमुदायस्तस्य मिषेण कपटेन अगणिता गणनातीता आत्मनः स्वस्य मूर्तीः शरीराणि प्रणीय लक्ष्मीर्जलधिनन्दना । उत्प्रेक्ष्यते—नमस्यतीव अर्थाद्रणधरं नमस्करोतीव । च पुनः स्तौतीव स्तुतिगोचरीकरोतीव । च पुनर्गायतीव गानविषयीकरोतीव । वार्धेः सामीप्यात्तन्नन्दनाया आगमनसुचितमेव । पितुः पार्श्वे कदाचिदुत्कण्ठिता पुत्री मिलनार्थमागच्छतीति समुद्रे श्रिया सद्भावोऽप्युचित एव ॥ इति द्वीपबन्दिने संघागमनम् ॥

ततः प्रतस्थे प्रभुरुन्नताख्यं पुरं प्रति प्रीतमना मुनीन्द्रः ।

मेघागमे मानसमभ्रमार्गवहाप्रवाहादिव राजहंसः ॥ ६३ ॥

ततो द्वीपोन्नतदेवलपाटकसत्कसंघसमागमनानन्तरं हीरविजयसूरिः ततोऽजयपुरा-दुन्नतमित्वाख्या नाम यस्य तादृशं पुरं प्रति प्रतस्थे । उन्नतनगराभिमुखं प्रचलति स्म । किंभूतः । प्रभुः सर्वधर्मकार्यकरणप्रवणः समर्थः । पुनः किंभूतः । प्रीतमनाः श्रीपार्श्वनाथयात्रया कृत्वा हृष्टमानसः । क इव । राजहंस इव । यथा मेघागमे अभ्रमार्गो मेघाध्वा गगनम् । 'सुराभ्रोद्धमरूपथोऽम्बरम्', तथा 'अभ्रं धूमयोनिस्तनयितुमेघाः' इति द्वयमपि हैम्याम् । तस्य वहा नदी । गङ्गैत्यर्थः । 'सिद्धखः स्त्रिंशिखापगाः । ऋषिकुल्या हेमवती' इत्यपि हैम्याम् । तथा 'सिन्धुः शैबलिनी वहा च हृदिनी स्रोतस्त्रिनी निग्रागा' इत्यपि

हैम्याम् । तस्याः प्रवाहाद्गङ्गापयःपुरान्मानसं नाम राजहंसनिवाससरोवरं प्रति प्र-
तिष्ठते । यदुक्तम्—‘मेघागमं दिवि विभाव्य परापगाम्भःपूरागमैर्जलमथाविलमभ्र-
सिन्धोः । भातीति चेतसि विचिन्त्य च हंसमाला खं मानसं प्रति ततस्त्वरितं प्रतस्थे ॥’
इति । तथा ‘गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम्’ इत्यपि सूक्ते ॥

अथ द्वीपोन्नतपुरादिसंघसंमुखागमनवर्णनप्रस्तावः—

शिरोधृतश्वेतसुवर्णकुम्भाः काश्चिल्लसन्ति स्म विलासवत्यः ।

श्यामादिवालक्ष्म्य इवोद्ग्रह्यः संपूर्णचन्द्राम्बुजबन्धुविम्बान् ॥ ६४ ॥

हीरसूरैः संमुखागमने काश्चिदनिर्दिष्टनामानः विलासवत्यः विलासो हंसहृत्सगम-
नादिकः शृङ्गारादिविभ्रमो वा विद्यते यासां ता लीलाबल्यो वनिता लसन्ति शोभन्ते ।
किंभूताः । शिरसि स्वमौलौ धृता आरोपिताः श्वेता उज्ज्वलास्तथा सु शोभनो वर्णो ये-
षाम् । अथ वा श्वेतानां रूप्याणाम् । ‘स्याद्रूप्यं कलधौतताररजतश्वेतानि’ इति है-
म्याम् । तथा सुवर्णानां काञ्चनानां कुम्भाः कलशा याभिस्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—श्यामादि-
वालक्ष्म्य इव रजनीदिवसस्य श्रिय इव । किं कुर्वत्यः । उद्ग्रह्यः विभ्रत्यः । कान् ।
संपूर्णा अखण्डाश्चन्द्रास्तथा अम्बुजबन्धवो भास्करास्तेषां बिम्बान्मण्डलान् । अखण्ड-
चन्द्रमण्डलानादाय निशाश्रियः सूर्यमण्डलान् गृहीत्वा दिवसलक्ष्म्य इव भगवत्संमुखं
समेता इत्यर्थः ॥

अवाकिरन्काश्चन मुक्तिकाभिरभ्येत्य वाचंयमसार्वभौमम् ।

क्षीरोर्मयो मेरुमिव प्रमाथकालोच्छलद्भूरिपयःपृषद्भिः ॥ ६५ ॥

अभ्येत्य संमुखमागत्य काश्चन संघमध्यात्तिकृत्यः तं हीरविजयनामानं वाचंयमानां
साधूनां सार्वभौमं चक्रवर्तिनं मुक्तिकाभिर्लेखुमुक्ताफलैः । ‘सिता वमन्यः खलु कीर्ति-
मुक्तिकाः’ इति नैषधे । का इव । क्षीरोर्मय इव । यथा क्षीरसमुद्रवीचयः प्रकर्षेण सुरासु-
रादिभिः सर्वाजसा माथस्य मथनस्य काले समये उच्छलद्भिः उच्चैरुत्पतद्भिः तथा भूरि-
भिरनल्पैः पयःपृषद्भिः जलकणैर्मैतं काञ्चनाचलम् । किं च परसमये मन्दरशब्देन
मेरुर्नोच्यते किं तु मन्दरशब्देन इन्द्रकीलनामा शैलः । जैनमते तु मन्दरो मेरुरेव ।
मन्दरनामगिरिं वर्धयन्ति ॥

मुक्ताफलैः काश्चिदवाकिरंस्तं नवोपयन्तारमिवात्र लाजैः ।

सिद्धाद्रियात्रोद्भवपुण्यलक्ष्म्या नवोदयालंक्रियमाणपार्श्वः ॥ ६६ ॥

काश्चिदपराः सीमन्तिन्यः तं सूरिम् अत्र संघसंमुखागमनसमये मुक्ताफलैर्मौक्तिकैः
अवाकिरन् वर्धयन्ति स्म । कमिव । नवोपयन्तारमिव । यथा अत्र भूमिभुवनं देवल्लोके
नागलोके देवासुराणां परिणयनाभावाद्भुवो ग्रहणम् । सद्यस्कपरिणेतारं चारं पुमांसं का-
श्चित्द्वर्गसंबन्धिन्यो वर्धिन्यः लाजैरक्षतैर्वर्धयन्ति । किंभूतः सूरिः वरश्च । सिद्धाद्रेः शत्रु-
जयशैलस्य यात्राया दर्शनस्पर्शनभावाच्चाया उद्भव उत्पत्तिर्यस्यास्तादृश्या पुण्यलक्ष्म्या

सुकृतश्रिया अलंकियमाणं भूष्यमाणं पार्श्वं जीवान्तिकं यस्य । परिणेतोऽपि तत्कालपरि-
णीयतया अलंकियमाणवामाङ्गान्तिकः ॥ इदं तु पाठान्तरम् ॥

गीतिं जगुर्नागरिकाः किरन्तीं सुधां सुधादीधितिमण्डलीवत् ।

यां श्रोत्रपत्रैर्विनिपीय चित्रार्पितैरिवाभूयत मार्गमार्गैः ॥ ६७ ॥

काश्चन नागरिका द्वीपोन्नतपुरपुरंध्रयो गीतिं सूरिगुणगानं जगुर्गायन्ति स्म । किं
कुर्वन्तीम् । गीतिं किरन्तीं विस्तारयन्तीम् अर्थात्कर्णयोर्वर्षन्तीम् । काम् । सुधाममृतम् ।
किंवत् । सुधादीधितिमण्डलीवत् । यथा आश्विनमाससंवन्धिराकामृगाङ्गमण्डल्यः पीयूषं
किरन्ति, तथा नागरिका कर्णामृतवर्षिणीं गीतिं गायन्ति । यां गीतिं श्रोत्रपत्रैः कर्णपणैः
कृत्वा विनिपीय सादरं निशम्य मार्गस्य अजयोन्नतपुरयोरन्तरालाध्वनः मार्गैर्मुगगणै-
श्चित्रार्पितैरालेख्यस्थापितैर्लिखितैरिवाभूयत संजायते स्म ॥

गजाधिरूढा व्यरुचन्कुमारा विभूषिता भूषणधोरणीभिः ।

प्रवालपुष्पावलिशालमानाः प्रस्थप्ररूढा इव बालसालाः ॥ ६८ ॥

भूषणानां मणिखर्णभरणानां धोरणीभिः श्रेणीभिः विभूषिता अलंकृताङ्गाः । तथा
गजाधिरूढाः सिन्धुरस्कन्धाध्यासिनः केचन कुमाराः व्यरुचन् शुशुभिरे । उत्प्रेक्ष्यते—
प्रवालानां पल्लवानां पुष्पाणां कुसुमानामावलीभिर्मालिकाभिः शालमानाः शोभमानाः
प्रस्थेषु सानुषु प्ररूढा उद्भूता बालसालाः लघुपादपा इव ॥

काश्चित्कुमार्यः शिविकां श्रयन्त्यो माणिक्यभूषा वपुषा बहन्त्यः ।

कुतूहलाद्भ्रूवलं भजन्त्यो विमानयाना इव नाकिकन्याः ॥ ६९ ॥

काश्चित्कुमार्यो लघुकन्यकाः भान्ति तदवसरे शोभन्ते । किं कुर्वन्त्यः । शिविकां
याप्ययानं श्रयन्त्यः परिचरन्त्यः । शिविकाधिरूढा इत्यर्थः । पुनः किं कुर्वन्त्यः । माणि-
क्यानां रत्नविशेषाणां भूषा अलंकारान् वपुषा स्वशरीरेण बहन्त्यो धारयन्त्यः । 'वृता
विभूषामणिरश्मिकामुर्कैः' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—कुतूहलात्कौतुकाद्भ्रूवलं मेदिनीम-
ण्डलं भजन्त्यः सेवमाना आश्रयन्त्यः । विमानेन देवयानेन यानं गमनं यासां ता-
दृश्यो नाकिकन्या देवकुमारिकाः इव । यथा इन्द्रस्य । 'तनयस्तु जयन्तः स्याज्जयदत्तो
जयश्च सः । सुता जयन्ती तविषी ताविष्णुच्चैःश्रवा हयः ॥' इति ह्यम्याम् ॥

गत्या जितोऽनेन किमभ्रकुम्भी द्रष्टुं तमीत्युत्सुकितोऽन्विमध्यात् ।

किमीयिवानेष तदन्ववायः शृङ्गारितास्तत्र गजा विरेजुः ॥ ७० ॥

तत्र तस्मिन् संसुखागमनसमये शृङ्गारिताश्च शृङ्गारभूषणतैलचामराद्याडम्बरैरलंकृताः
गजा हस्तिनो विरेजुः शोभन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण इति हं-
तोर्वा तं सूरिं द्रष्टुं प्रेक्षितुमुत्सुकित उत्कण्ठितः सन् अन्विमध्यात्समुद्रान्तरालादेष प्र-
त्यक्षं लक्ष्यमाणः तस्यैरावणस्य अन्ववायो गजघटारूपो वंशः किमीयिवान् आगत इव ।

ऐरावणस्य समुद्रमध्यादुत्पन्नविनिःसृतत्वेन तद्वंशस्यापि सद्भावः संभाव्यते एव । यदुक्तं नैषधेऽपि—‘पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन्’ इति । तथा समुद्रस्यापि अत्र सामीप्यादियमुत्प्रेक्षा घटत एव । अथ प्रस्तुतम् । इति किम् । यदनेन सूरिणा गत्या पुरतो युगप्रमाणां धरणीं चक्षुषा प्रेक्षमाणा । ईर्यसमिति पूर्वकं मन्यर-गमनेन अभ्रकुम्भी ऐरावणः । ‘ऐरावणोऽभ्रमातङ्गश्चतुर्दन्तार्कसोदरे’ इति हैम्याम् । किं कथं कथा रीत्या जितोऽभिभूतः ॥

पर्याणितास्तत्र तुरङ्गमास्ते रेजुर्जवाधःकृतवातवेगाः ।

यैर्निर्जिता भानुमतस्तुरङ्गा ह्रियेव नाद्यापि भुवं स्पृशन्ति ॥ ७१ ॥

तत्र संमुखगमनसमये ते तादृशा ये अग्रे स्वगुणोत्कर्षैरुत्प्रेक्षां प्रापिताः । अथ वा ते काम्बोजकामरूपकच्छसिन्धुदेशोद्भवा विविधजातीयाः प्रसिद्धास्तुरङ्गमाः अश्वाः । यदुक्तं प्राकृतवाक्ये—‘ये गंगाजलनीअडा हरिअडा कालाकिहाडापुरा साणीसिंघल-सिंधु आकलहला कस्मीरियां कुंकुणा । टुंकेकानि अनेकवानिपिहुला पीठे पगे नीसला ते हेष्पत्रियकुं अरा जिमसुरा ते जीतुषारैवडा ॥’ इति । पर्याणिताः पल्ययनकलिताः कृताः । ‘पर्याणं तु पल्ययनः’ इति हैम्याम् । रेजुः विभान्ति स्म । किंभूताः । जवेन मानसातिपातिगतिरंहसा अधःकृतो निरस्त्रो वातानां पवनानां वेगो रघो यैस्ते । ते के । यैस्तुरङ्गमैर्भानुमतो भास्वर्तस्तुरङ्गा वाजिनः निर्जिता गतित्वराभिः परा-भूताः सन्तः । उत्प्रेक्ष्यते—अद्याप्यद्यतनं वर्तमानं वासरं प्रभृति यावन्मण्डयित्वा ह्रिया लज्येव कृत्वा भुवं क्षोणीं न स्पृशन्ति । लजिता हि स्वं मुखं दर्शयितुमनलम्-घ्नवः पृथिव्यां नायान्तीत्यर्थः ॥

रथाङ्गभाजस्त्वरमाणताक्षर्याः सुजातरूपा घननन्दकाश्च ।

अम्भोजनाभा इव कामरोमशोभाः शताङ्गाः शतशः प्रचेलुः ॥ ७२ ॥

शतशः शतसहस्रसंख्याकाः शताङ्गा रथाः । ‘शताङ्गः स्यन्दनो रथः’ इति हैम्याम् । प्रचेलुः सूरैरभिमुखं प्रचलन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अम्भोजनाभाः कृष्णा इव । किंभूता रथाः कृष्णाश्च । रथाङ्गं रथपादं चक्रं ‘पङ्कजं’ इति प्रसिद्धं सुदर्शनं चक्रं भजन्ति इति रथाङ्गभाजः । पुनः किंभूताः । त्वरमाणाः शीघ्रगामिनस्ताक्षर्यास्तुरङ्गमा गरुडाश्च येषां ते । च पुनः किंभूताः । शोभनं जातरूपं सुवर्णः काञ्चनजटितत्वेन । पक्षे जातमुत्पन्नं रूपमति-शायिसुन्दरशरीराकारविशेषो येषाम् । पुनः किंभूताः । घनान्बहुजानान्नन्दयन्ति प्रह्लाद-यन्ति । तथा घनो निबिडोऽपराप्रतिहतो नन्दकनामा खड्गो येषां ते । च पुनः किंभूताः । काममतिशयेन रामा मनोज्ञा शोभा येषां ते । तथा कामः प्रद्युम्नः रामो बलभद्रः ताभ्यां शोभा येषां ते ॥

तूरस्वरैश्चित्कृतिभी रथानां हयालिहेषागजगार्जितैश्च ।

नृणां स्तवादिध्वनितैर्व्रतीन्दोः श्लोकैरिवापूरि समग्रलोकः ॥ ७३ ॥

तूरस्वरैर्विविधवादित्रनिर्घोषैश्च पुनः रथानां स्यन्दनानां चित्कृतिभिस्त्वरितगमना-
वसरोद्भवचित्कृतिसंज्ञध्वनितविशेषैः च पुनर्हयानामश्वानामालिः श्रेणिस्तस्य हेषाभिर्हिं-
सारव इति प्रसिद्धैः तथा गजानां मदोद्धतसिन्धुराणां गर्जितैर्बृंहितैस्तथा नृणां ध्राद्धभाट-
गायनादिजनानां स्वादिध्वनितैः स्तुतिच्छन्दोगानादिभणितिभिः कृत्वा समग्रोऽपि दश-
दिक्पर्यन्तं यावल्लोको भुवनमपूरि निर्भरं भृतः पूरितः । कैरिव । श्लोकैरिव । यथा व्रती-
न्दोर्हीरसूरैर्यशोभिः समग्रोऽपि लोकः पूर्यते स्म । 'श्लोकः कीर्तिर्यशः' इति हैम्याम् ॥

स्त्रीभ्यस्तदा तद्गुणगायनीभ्यः पैञ्चूषपीयूषरसाभिषेकाम् ।

वाणीमधीत्याभ्यसितुं वनस्थाः शिष्या इवासन्कलकण्ठकान्ताः ॥ ७४ ॥

तस्य सूरैर्गुणान् गायन्तीत्येवंशीलाभ्यः स्त्रीभ्यः पौरपुरेध्रीभ्यः सकाशात्तदा त-
स्मिन् संघागमनमहोत्सवव्यतिकरे पैञ्चूषयोः श्रोतृजनश्रवणयोः पीयूषरसस्य सुधानि-
स्यन्दस्य अभिषेकोऽभिषिञ्चनं तत्तुल्यां वाणीं वाग्विलासमधीत्य पठित्वा कलकण्ठ-
कान्ताः कोकिलकामिन्यः । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्यसितुं सम्यगभ्यासं विधातुमिव वनस्था
वनवासिन्य आसन्निव संजाता इव । का इव के इव वा । शिष्या इव । यथा विनेयाः
कुतश्चिदुरोः सकाशात्किमप्यधीत्य एकान्ते वनादिषु गत्वा स्थिता वा तदभ्यसन्ति ॥

ध्वनन्नफेरीसखभूरिभेरीभाङ्गाररावैः प्रतिशब्दितेन ।

नन्तुं सवेशाम्बुधिशायिशौरिः प्रबोध्यते सूरिसमागमे किम् ॥ ७५ ॥

ध्वनन्त्यः शब्दायमाना नफेर्यः पित्तलमय्यः वदनेन वादनीया वाद्यविशेषाः प्रसि-
द्धाश्च ता एव सख्यः सहाया यासां तादृश्यो भूरयः शतसंख्याका भेर्यो दुन्दुभय-
स्तासां भाङ्गाररावैः भाङ्गुतिध्वनिभिः कर्तृभिः प्रतिशब्दितेन अर्थात्संनिधिवर्तिसागरम-
ध्यप्रतिनादितेन । 'पर्योधिमध्यप्रतिनादमेदुरः' इति नैषधे । कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—सवेशे
समीपे योऽम्बुधिः समुद्रस्तत्र तन्मध्ये शेते इत्येवंशीलो यः शौरिर्नारायणः स
सूरैरुन्नतपुरप्रवेशोत्सवे नन्तुमर्थात्सूरीन्द्रं नमस्कर्तुं किं प्रबोध्यते निनिन्दीक्रियते
जागर्यते इव ॥

तदाद्रिमध्यप्रतिशब्दसान्द्रैः सरध्वजौघध्वनिपूर्यमाणैः ।

प्रमोदमाद्यत्तुमुलैर्जनानां व्योमेव भूः शब्दगुणा किमासीत् ॥ ७६ ॥

तदा तस्मिन् सूरिप्रवेशोत्सवे जनानां संमुखागतसकललोकानां प्रमोदेन हर्षातिश-
येन माद्यद्भिर्मदं प्राप्नुवद्भिस्तुमुलैरतिबहुलव्याकुलताकलितकोलाहलैः । अथ वा 'अर्धं
धावत यात मुञ्चत पुरः पन्थानम्—' एवंविधचम्पूकथाकथितकेवलव्याकुलशब्दैः कृत्वा
व्योमेव गगनमिव भूरपि पृथिव्यपि शब्द एव गुणो यस्यास्तादृशी किमासीत्तेव ।
किंभूता । तुमुलैरद्रीणां समीपभाजां नन्दीवेलकप्रमुखाणां स्वभावतस्तु शत्रुं जयाचलशि-
खराणां परं कालानुभावाद्गिरिघटनाच्च दूरीभूतानां पर्वतानां मध्ये कंदरोदरे प्रतिशब्दाः
प्रतिध्वनयस्तैः सान्द्रैर्निबिडीभूतैः । पुनः किंभूतैः । सरध्वजानां नानाविधवाद्यानाम् ।

‘तूर्यं तूरं स्मरध्वजः’ इति हैम्याम् । ओघाः समूहास्तेषां ध्वनिभिर्नानाप्रकारप्रसरन्नि-
र्घोषैः पूर्यमाणैः बहलीक्रियमाणैः ॥ इति द्वीपोन्नतपुरसंमुखगमनवर्णनम् ॥

तदुत्सवे मूर्च्छति भूर्भुवःस्वस्त्रयीप्रसत्तिं प्रदिशत्यपूर्वाम् ।

अलंचकार प्रभुरुन्नताख्यां पुरं हरिर्द्वारवतीमिवासौ ॥ ७७ ॥

प्रभुर्ह्रीरविजयसूरिरुन्नतमिति आख्या नाम यस्यास्तादृशीं पुरं नगरीमलंचकार भूष-
यामास । क इव । हरिरिव । यथा नारायणो धनदनिर्मितां द्वारवतीं द्वारकां नगरीमलं-
करोति । कस्मिन् सति । तदुत्सवे स चासावुत्सवश्च तदुत्सवः द्वीपोन्नतादिसंघप्रारब्धसू-
रिप्रवेशमहामहस्तस्मिन्मूर्च्छति वृद्धिमतिशायितां श्रयति प्राप्नुवति सति । किं कु-
र्वति तदुत्सवे । भूर्भुवःस्वस्त्रय्या नागलोकनाकिलोकभूमिलोकानां त्रिकस्य अर्थात्रिजगज्ज-
नानां प्रसत्तिं मनःप्रसन्नतां प्रमोदप्रकर्षं प्रदिशति प्रयच्छति ददति ॥

तस्मिन्नतेर्गोचरयांचकार चैत्येषु तीर्थाधिपतिं मुदा सः ।

कण्ठीरवः शैलगुहामिवाथानैषीद्विभूषां वसतिं व्रतीन्द्रः ॥ ७८ ॥

स ह्रीरसूरिस्तस्मिन्नुन्नताभिधाननगरे चैत्येषु ऋषभदेवप्रमुखजिनप्रासादेषु तीर्था-
धिपतिं जिनाधिराजप्रतिमां मुदा हर्षेण नतेः प्रणामस्य गोचरयांचकार विषयीक-
रोति स्म । नमस्कृतवानित्यर्थः । अथानन्तरं देववदनात्पश्चात् व्रतीन्द्रः सूरिः वसति-
मुपाश्रयं विभूषां शोभामनैषीत्प्रापयति स्म । क इव । कण्ठीरव इव । यथा पारीन्द्रः
शैलगुहां गिरिकंदरं विभूषां नयति ॥ इत्युपाश्रयागमनम् ॥

ततः समुद्दिश्य महेभ्यसभ्यान्धर्मोपदेशं स वशी दिदेश ।

पीयूषवत्तेऽपि निपीय वत्सा इवावहन्संमदमेदुरत्वम् ॥ ७९ ॥

ततो वसतावुपाश्रये आगमनानन्तरं स वशी जितेन्द्रियः सूरिर्महेभ्या व्यवहारि-
णस्ते एव सभ्याः सदस्याः सभाजनास्तानुद्दिश्य उद्देशं कृत्वा धर्मोपदेशं धर्मदेशनां
दिदेश ददाति स्म । तेऽपि महेभ्यसभ्याः पीयूषवत्सुधारसमिव निपीय पीत्वा तद्दे-
शनां सादरं श्रुत्वा संमदैरानन्दैः कृत्वा मेदुरत्वं पुष्टतामवहन्धत्ते स्म । के इव । वत्सा
इव । यथा गवां तर्णका पीयूषं स्वस्वमातुरुधोमध्यविनिःसरदभिनवं पयो दुग्धं पीत्वा
प्रमोदादास्वाद्य मेदुरत्वमुपचयभावं वहन्ते । ‘पीयूषोऽभिनवं पयः । पीयूषमपि’ इति
हैमीसूत्रवृत्त्याः ॥

क्षेत्रेण्विवाम्बूनि नभोम्बुवाहा द्युम्नांशुकान्यर्थिषु ते ववर्षुः ।

प्रभावनां श्रीफलपूगपूगैश्चक्रुस्ततो रूपकनाणकैश्च ॥ ८० ॥

ते सभ्यजनाः अर्थिषु तत्समयागतानेकयाचकविषयेषु द्युम्नांशुकानि द्रव्यवस्त्रादीनि
ववर्षुः । प्रददुरित्यर्थः । क इव । नभोम्बुवाहा इव । यथा श्रावणमेघाः क्षेत्रेषु विषयेषु अम्बू-
नि पानीयानि वर्षन्ति । वर्षाऋतोरतिपूतत्वान्नभोमासोपादानम् । ततो याचकदानानन्तरं

श्रीफलानि नालिकेराणि तथा पूगानि क्रमुकाणि 'सोपारी' इति प्रसिद्धानि तेषां पूगैः समूहैः कृत्वा प्रभावनां संमुखगतानामुपाश्रयागतानां च सकलबालवृद्धजना-
नामनिवारितदानं ददते स्म । च पुनः रूपकाणां नाणकैल्यारीमहसुंदीप्रमुखैः प्र-
भावनां व्यधुः ॥

अन्येऽपि संघाः पुरपत्तनेभ्योऽभ्येत्याभजन्सूरिसहस्ररश्मिम् ।

अश्वादिदानानि ददुर्महेन्द्रा इव प्रमोदाद्वयवादसान्द्राः ॥ ८१ ॥

अन्ये परेऽपि पुरपत्तनेभ्यः नवीननगरजीर्णदुर्गमङ्गलपुरवेलाकुलदेवपत्तनप्रमुखेभ्यो
नगरेभ्यः संघाः श्राद्धवर्गा अभ्येत्यागत्य प्रमोदात्प्रभुपार्श्वे समेत्य सूरिषु सहस्ररश्मि
दिवाकरमभजन्संसेवन्ते स्म । पुनर्महेन्द्रा नृपा इव ते अश्वास्तुरङ्गा आदौ येषां तानि
द्रव्यांशुकादीनि दानानि ददुर्ददते स्म । किंभूताः । प्रमोदानामानन्दानामद्वयवादेन
असाधारणत्वेन सान्द्रा उपचिततनूलतिकाः ॥

आगृह्णतस्ताननगृह्य लोकांस्तत्रांशुसंघोऽशुमतीव तिष्ठन् ।

पर्जन्यकालोऽभ्रमिवोन्नताख्यं व्यातन्तनीदुन्नतिमत्पुरं सः ॥ ८२ ॥

स सूरिरुन्नताख्यं पुरम् उनामाननगरमुन्नतिमत् शोभासंपन्नमयं व्यातन्तनीद्वितनोति
स्म विशेषेण कृतवान् । क इव । पर्जन्यकाल इव । यथा वर्षासमयः अत्र मेघमुन्नतिम-
त्समुन्नतं नीरभरैर्नम्रीभूतं व्यातनुते । स किं कुर्वन् । तत्रोन्नतनगरे तिष्ठन् स्थितिं
कुर्वन् । क इव । अंशुसंघ इव । यथा किरणगणोऽशुमति भास्करे तिष्ठति । तत्र तिष्ठन् किं
कृत्वा । तान् द्वीपोन्नतनगरसंबन्धिनो लोकान् श्राद्धजनाननगृह्य तेषामुपरि अनुग्रहं
कृत्वा । तान् किं कुर्वतः । आगृह्णतः श्रीपूज्या अस्मदुपरि प्रसादं प्रणीय अत्रैव चतुर्मासीं
कुर्वन् इत्यमाग्रहं कुर्वतः ॥ इत्युन्नतनगरे चतुर्मास्यवस्थानम् ॥

धोरामनुष्ठानविधां विधातुरुग्रं तपस्तेज उदीयते स्म ।

दोषालिमालम्भयतो व्रतीन्दोरिवोत्तराशां भजतो गभस्तेः ॥ ८३ ॥

व्रतीन्दोर्हीरसूररुग्रं परपाक्षिकैरसह्यं तपसां तेजो ज्योतिः प्रतापश्च उदीयते स्म
प्रकटीभव । किंभूतस्य व्रतीन्दोः । धोरामपरेषां मन्दसत्त्वानां भयंकरामनुष्ठानविधां
क्रियाप्रकारं विधातुः विदधातीत्येवंशीलस्य । शीले तृच् कतुर्वा तृडुर्णा । किं कुर्वतः ।
दोषाणामपशुणानां दान-लाभ-वीर्य-भोग-उपभोगाख्या नाम पञ्चान्तरायकर्मणि हास्य-
रति-अरति-भय-जुगुप्सा-शोक-काम मिथ्याज्ञान-निद्रा-विरति-राग-द्वेषा इत्येतेषामष्टादश-
संख्याकानां दोषाणामालि पङ्क्तिमालम्भयतो मूलादुच्छिन्दतो निव्रतः । पुनः किंभूतस्य ।
उत्तरामग्रिमां मोक्षलक्षणामाशां वाञ्छां भजतः श्रयतः । तेजः कस्येव । गभस्तेरिव ।
यथा उत्तराशां कौबेरीं दिशं भजतः सेवमानस्य दिवसपतेरुग्रं जनैरसह्यं तपोवतेजः ।
अथ वा तपते संतापयति जनमथ ऊर्ध्वं चेति तपस्तादृशं तेजो ज्योतिः प्रतापो वा
उदीयते प्रकटीभवति । किंभूतस्य । धोरां दैत्यैरसहनीयामनुष्ठीयते स्वबलवीर्यपुरुषाकारः

क्रियते इत्यनुष्ठानं किञ्चिदधृष्यमनधृष्यं वा कार्यादिनिर्माणं तस्य विधा प्रकारः एतावता मन्देहा नाम राक्षसास्तैः सार्धमुद्धतयुद्धक्रियां कर्म विदधाति करोतीत्येवंशीलस्य । यदुक्तं नैषधे प्रातर्वर्णने—‘इह हि समयेषु व्रजन्त्युदवज्रतामभिरविमुपस्थानोत्क्षिप्ता जलाञ्जलयः किल’ अथ तद्वृत्तिः । अस्मिन्प्रातःसमयेऽवसरे सूर्यमुद्दिश्य उपस्थानोत्क्षिप्ता उपासनायामुद्धृता जलाञ्जलयः उदवज्रतां जलरूपाशन्तिवत् प्रपद्यन्ते । एतावता ‘आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहान् अरुणद्विपे क्षिपन्ति’ इति श्रुतेः । ‘तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च मन्देहा नाम राक्षसाः । उदयन्तं सहस्रांशुमभ्ययुध्यन्त ते सदा ॥’ इत्युक्तेः । अथ वा घोरां घूकान्धकारैः सोढुमशक्यामनुष्ठानविधां दिवसकिरणलक्षणां क्रियां कर्तुः । पुनः किं कुर्वतः । दोषाणां रात्रीणां धोरणीं घातयतो निर्णाशयतः । ‘प्रवासनोद्वासनघातनिर्वासनानि संज्ञसिनिष्ठम्भहिंसानिर्वापणालम्भनिसूदनानि’ इति द्वैम्याम् ॥

स्वश्राद्धसौधाहतभक्तभोगाद्यभिग्रहान्साग्रहमग्रहीत्सः ।

श्रीवप्पभट्टिव्रतिशीतकान्तिरिव क्षितीन्द्रप्रतिबोधधुर्यः ॥ ८४ ॥

स सूरिः स्वश्राद्धानां निजश्रावकाणां तपापक्षीयगृहमेधिनां सौधाद्रेहादाहतस्यानी-
तस्य भक्तस्य आहारस्य भोगो भोजनमादिर्येषां तादृक्षानभिग्रहान्निषेधरूपात्रियमान्
भक्तं भक्तस्य नो कल्प्युत इत्यादिकान् प्रत्याख्यानविशेषान् साग्रहमपरैर्वाचकप्रज्ञांश-
साधुभिरतिविज्ञप्तोऽपि निर्वन्धादग्रहीज्यग्राह । क इव । श्रीवप्पभट्टिव्रतिशीतकान्तिरिव ।
यथा श्रीआममहेन्द्रप्रतिबोधविधायकवप्पभट्टिसूरिः स्वश्रावकनिकेतनानीतभक्तभोगनिषे-
धादिकानभिग्रहान् गृहीतवान् । किंभूतः । क्षितीन्द्रोऽकब्बरपातिसाहिरामनृपश्च । तस्य
प्रतिबोधे स्वभक्तीकरणे धुर्यो धुरीणः । प्रतिबोधविधातेत्यर्थः ॥

जिनं हृदम्भोजविलासराजहंसायमानं प्रणयन्कदाचित् ।

विधाय बाह्येन्द्रियमौनमुद्रां ध्यानं स योगीन्द्र इव व्यधत् ॥ ८५ ॥

स सूरिः कदाचित्कस्मिन्नपि समये योगीन्द्रो मनोवचनकाययोगानां निरोधो विद्यते
येषाम् । अथ वा यम-नियम-करण-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षणना-
मभिरष्टभिरङ्गैर्योगोऽस्त्येषामिति वा योगिनस्तेषामिन्द्रः सर्वोत्कृष्टयोगिराजस्तद्वद्योगमा-
र्गाधिरूढवद्भ्यानं कस्मिन्नपि चेतश्चिन्तिते विषये एकप्रत्ययसंततिकरणं प्रणिधानं व्यधत्
चकार । किं कृत्वा । बाह्यानां स्पर्शन-रसन-घ्राण-नयन-श्रवणाख्यानां पञ्चानामिन्द्रि-
याणां मौनेन स्वस्वव्यापारनिषेधेन मुद्रां चित्तैकाग्र्यं विधाय । किं कुर्वन् । हृदम्भोजे
हृदयकमलकर्णिकायां विलासे क्रीडाकरणे राजहंसमिवाचरन्तं जिनं वीतरागं प्रणयन्
कुर्वन् ॥

नीरन्ध्रपाथःपरिपूर्यमाणपर्जन्यपुञ्जोर्जितगर्जितं किम् ।

कदापि रुच्यश्चरणेन्दिरायाः स्वाध्यायसान्द्रध्वनितं दधार ॥ ८६ ॥

कदापि कस्मिन्नपि अवसरे अस्वाध्यायनिर्मुक्तविकालवेलारहितसमये वा चरणेन्द्र-
रायाश्चारित्र्यलक्ष्म्या रुच्यो भर्ता । 'विवोढा रमणो भोक्ता रुच्यो वरयिता धवः' इति
हैम्याम् । स्वाध्यायस्य प्रोचैः स्वरेण सिद्धान्तादिगणनरूपस्य सान्द्रं धीरगम्भीरं ध्वनितं
दधार । ध्वनिं विधत्ते स्मेत्यर्थः । 'ध्वनिमावभार' इत्यपि पाठः । बाढध्वनिना सिद्धा-
न्ताद्यगणयदित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—नीरन्ध्रं सर्वतोऽपि निर्गतं रन्ध्रं छिद्रं रिक्तस्थानं यथा
स्यात्तथा पाथोभिः पयोभिः परिपूर्णमाणस्य निर्भरं भ्रियमाणस्य पर्जन्यानां प्रावृषेण्यप-
योवाहानां पुञ्जस्य घटाया ऊर्जितं प्रोद्दामं गर्जितं किं गर्जिरिव ॥ इत्यभिप्रहृद्धान-
स्वाध्यायादि ॥

तत्र प्रतिष्ठात्रितयीमतुच्छोत्सवोच्छलच्छेकमनःप्रमोदाम् ।

चक्रे मुनीन्द्रो भुवनत्रयस्याधिपत्यलक्ष्मीं स्पृहयन्निवान्तः ॥ ८७ ॥

तत्रोन्नतनगरे मुनीन्द्रो हीरसूरिः प्रतिष्ठात्रितयीं शतसहस्रशो भगवत्प्रतिमाप्रति-
ष्ठापनरूपाणां प्रतिष्ठानां त्रिकं चक्रे व्यधत् । किंभूताम् । अतुच्छोऽत्यभ्यधिको यत्र उ-
त्सवो महामहास्तेन उच्छलन्वर्धमानः छेकानां विदग्धानां मनसि खान्ते प्रमोदो हर्षो
यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—अन्तः स्वचित्ते भुवनत्रयस्य त्रैलोक्यस्याधिपत्यलक्ष्मीं राज्यश्रियं
स्पृहयन् वाञ्छन्निव ॥

उग्रं तपो धन्य इवानुतिष्ठन्नाद्यं चतुर्मासकमाततान ।

अपाटवार्त्किचन काययष्टेः पुनर्द्वितीयं कुरुते स तस्मिन् ॥ ८८ ॥

स सूरिस्तस्मिन्नुन्नतनगरे आद्यं विमलाचलयात्रां कृत्वा तत्र गमनानन्तरं प्रथमं
चतुर्मासकं वर्षारात्रमाततान करोति स । किं कुर्वन् । उग्रमत्युत्कटं धोरं षष्ठाष्टमादिम-
मतिशायि विकृष्टं तपोऽनुतिष्ठन् विदधत् । क इव । धन्य इव । यथा कान्दीसत्को द्वात्रिंश-
त्कनकोटीकामिनी द्वात्रिंशद्भूमिकप्रासादमौक्ता धन्यनामानगारः उग्रं षष्ठाचामाम्लनि
अनुतिष्ठति स । पुनर्द्वितीयवारं काययष्टेः शरीरस्य किंचन किमपि अपाटवादपटुत्वा-
त्प्रबलरोगादिना मन्दत्वादिकारणात् द्वितीयं द्वयोः संख्यापूरणम् । कम् । चतुर्मासकं
तस्मिन्नेवोन्नतपुरे कुरुते स्म ॥

अथ सूरैर्दीक्षादानदिनादारभ्य यत्किंचित्तपो विहितं तदुच्यते परिवारश्च—

अथ व्रतादानदिनात्तपो यत्तीव्रं व्रतीन्द्रेण विधीयते स ।

बभूव यस्तस्य परिच्छदश्च श्रीवीरवर्त्किचिदिहोच्यते तत् ॥ ८९ ॥

अथेत्यधिकारान्तरकथनम् । तस्य व्रतस्य दीक्षाया आदानं ग्रहणं तस्य दिनाद्विषाद्दी-
क्षाग्रहणदिनं मर्यादीकृत्य व्रतीन्द्रेण हीरसूरिणा यत्किंचिदल्पमनल्पं वा तप एकाशनका-
दिकं तथा तीव्रं षष्ठाष्टमादिमं धोरं कठिनं विधीयते स्म कृतं च । पुनस्तस्य प्रमोद्यो-
यावत्संख्याकः परिच्छदः परिवारो बभूव संजातः । किंवत् । श्रीवीरवत् श्रीमन्महावी-

रदेवस्येव तपस्तथानुष्ठानादिकमासीत् । तर्कचिदिह ग्रन्थे देशमात्रं यथाश्रुतं मया
ग्रन्थकर्त्रोच्यते कथ्यते ॥

सूरीन्दुरेकाशनकं न यावज्जीवं जहौ न्यायमिव क्षितीन्द्रः ।

पञ्चापि चासौ विकृतीरहासीद्गुणान्स्मरस्येव पराबुभूषुः ॥ ९० ॥

सूरीन्दुर्मुनिचन्द्रो यावदिति यावन्तं समयं जीव्यते प्राणा धार्यन्ते इति यावज्जीवं
संयमजन्म मर्यादीकृत्य एकवारमशनमेकाशनं सकृद्भोजनं वा यत्र । एकाशनके स्वार्थः ।
न नैव जहौ तस्याज । सकृदेव भुक्तवानित्यर्थः । क इव । क्षितीन्द्र इव । यथा धर्मप्र-
धानो राजा न्यायं नीतिं न जहाति । च पुनरसौ सूरिः दधिदुग्धपक्वान्नतैलगुडघृतभि-
धाना पञ्चसंख्याका विक्रियते विकारयुक्तो जीवः क्रियते एभिरिति विकृतयः स्वा
विकृतीरहासीदत्याक्षीन्मुञ्चति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरस्य कंदर्पस्य पञ्चप्रमाणान् शब्दरूप-
गन्धरसस्पर्शाभिधान् गुणान् पराबुभूषुः पराभवितुमिच्छुरिव ॥

द्रव्याणि बलभावसरे त्रतीन्द्रः सदाददे द्वादश नाधिकानि ।

किं भावना पोषयितुं विशिष्य भवाब्धिपारप्रतिलम्भयित्रीः ॥ ९१ ॥

त्रतीन्द्रः सदा सर्वकालं सूरिपदप्राप्तिं मर्यादीकृत्य बलभावसरे आहारकरणसमये
द्वादश सूर्यसंख्ययैव द्रव्याणि धान्यानां नामग्राहं विकृतेस्त्वेकैव शाकान्यपि नामग्राहं
पानीयं च सर्वाण्यपि द्वादशान्तर्भावीनि आददे जग्राह नाधिकानि द्रव्याण्यग्रहीत् । कदा-
चिदपीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अनित्यता—अशरणत्व—संसारत्व—एकत्व—अन्यत्व—अशुचित्व-
आश्रय—संवर—निर्जरा—धर्म—लोक—बोधिसंज्ञा द्वादश भावनाः पोषयितुं पुष्टाः क-
र्तुमिव । कथम् । विशिष्य विशेषप्रकारेण कृत्वा । किंभूता भावनाः । भवः संसारः स
एवाब्धिः समुद्रस्तस्य पारस्य परतीरस्य मोक्षवेलाकूलस्य लम्भयित्रीः प्रापयित्रीः ।
'अन्यथा कथमदः प्रतिलम्भः' इति नैषधे । 'प्रतिलम्भः प्राप्तिः' इति तद्वृत्तौ ॥

व्रतिक्षितीन्द्रेण स सप्तपञ्चत्रिंशन्मिताः कातरितान्यसत्त्वाः ।

आहारदोषाः कृतपापपोषा द्वेष्या इव द्वेषजुषा निषिद्धाः ॥ ९२ ॥

व्रतिक्षितीन्द्रेण सूरिराजेन सह सप्तभिर्वर्तते । सप्तयुक्ता इत्यर्थः । तादृशाः पञ्चत्रिंशत्
तैर्मिताः प्रमाणीकृताः । एतावता सप्तान्विताः पञ्चत्रिंशत् द्विचत्वारिंशद्भवन्ति । द्वाचत्वा-
रिंशत्संख्याकाः । 'सोलस उगमदोसा सोलस उपायणाय दोसाय । दस एसणा इ दोसा मि-
लीय सव्वे विवायाला ॥' इति वचनात् । अथैतानेव पृथक् विवृणोति । श्राद्धश्राद्धीभ्यः
षोडश दोषाः समुत्पद्यन्ते । तानेव दर्शयति—आध्यधर्मिक—औद्देशिक—पूतिकर्म-
मिश्रकर्म—स्थापनाकर्म—प्राश्रुतिकर्म—प्रादुःकरण—क्रीतदोष—प्राप्तित्व—परावृत्तत्व—अभ्या-
हत—उद्भिन्नक—मालापक—आच्छेद्यक—अनिसृष्ट—अध्यवपूरकाः । अथ साधुसाध्वीभ्यः
षोडश दोषा जायन्ते । तानेव दर्शयति—घात्रीदोष—दूतीदोष—निमित्तदोष—आजीवक-
वनोपक—चिकित्सा—क्रोधदोष—मान—माया—लोभ—पूर्वसंस्तव—पश्चात्संस्तव—विद्यादोष—

मन्त्रदोष-चूर्णदोष-योगदोषाः । अथैषणादोषा दश साधुभास्त्रेभ्यः समुत्पद्यन्ते । तानपि दर्शयति—शङ्कितदोष-मर्क्षितदोष-बहिर्निक्षिप्त-पिहितदोष-संहतदोष-दायकदोष-उन्मिश्रदोष-अपरिणत-लित्तदोष-छर्दितदोषाः । तथा प्रभोजनं कुर्वतां साधूनां प्रसङ्गात्पञ्च दोषा भवेयुः । तेऽप्युच्यन्ते—संयोजन-अप्रमाण-इङ्गाल-धूमसामान्य-अकारणदोषाः । केचित्सप्तचत्वारिंशदपि दोषान्प्रतिपादयन्ति । तस्मात्तेऽपि प्रोक्ताः । परं मौल्यस्तु द्विचत्वारिंशत्संख्याका एव । आहारस्य भोजनस्य दोषा अपगुणास्ते निषिद्धाः निवारिताः । एतावता सूरि(रयो) द्वाचत्वारिंशदोषनिर्मुक्तमाहारमभ्यवहरन्ति । किंभूता दोषाः । कातरं क्लीबं ततः शुद्धिविमुखं कुर्वन्तीति कातरयन्ति । कातरयन्ते स्मेति कातरिताः । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति प्रक्रियासूत्रेण जिप्रत्ययः । 'वन्तन्तात् क्तः' इति क्तप्रत्ययः । जिलोपे इट्प्रत्ययश्चेति सिद्धम् । उदाहरणं यथा नैषधे प्रथमकाव्ये—'नलः किंभूतः । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः पूर्वोक्तयुक्तिरेव । सितं च छत्रं च सितच्छत्रं करोतीति सितच्छत्रयति सितच्छत्र्यते स्मेति सितच्छत्रिता कीर्तिमण्डले देशे येन' इति नरहर्ष्याम् । कातरीकृता हीनसत्त्वा विहिता अन्ये अपरे सत्त्वाः कर्मपरिणतिवशाच्चारित्रपालनासमर्थाः प्राणिनो यैस्ते । पुनः किंभूताः । कृतं निर्मितं पापस्य दुःकृतस्य पोषः पुष्टिर्यैः । पापोपचयकारिभिरित्यर्थः । केनेव निषिद्धाः । द्वेषशुषेव । यथा विरोधवता अतीववैरभाजा भूभुजा द्वेष्याः स्ववैरिणः पराक्रमेण निषिध्यन्ते मूलतोऽप्युच्छिद्यन्ते ॥

अंहोदुहामाभरणानि भिक्षोः किं द्वादशानां प्रतिमारमाणाम् ।

तपांसि यो द्वादशभेदभिन्नान्यपूपुषत्कायमशूशुषच्च ॥ ९३ ॥

यो भगवान् अनशन-मूनोदरिका-वृत्तिसंक्षेप-रसत्याग-कायक्लेश-संलीनताः इति षड्विधं बाह्यं तपः । तथा प्रायश्चित्त-विनय-वैद्यावृत्त्य-स्वाध्याय-ध्यान-कायोत्सर्गाः इति षोढा आभ्यन्तरं तपः । षट् बाह्यानि षडाभ्यन्तराणीति द्वादशभिर्भेदैः प्रकारैः भिन्नानि पार्थक्यभाजि तपांसि अपूपुषत् पुष्णाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—भिक्षोः साधोः प्रति अलेपाहारैकभक्तपानसत्का प्रथमा एकमासस्य, द्वितीया द्विमास्याः, तृतीया त्रिमास्याः, चतुर्थी चतुर्मास्याः, पञ्चमी पञ्चमास्याः, षष्ठी षण्मास्याः, सप्तमी सप्तमास्याः । पूर्वविधिः सर्वास्यपि ग्राह्याः । अष्टमी सप्तरात्रिका । तत्र चतुर्विधाहारनिषेधकचतुर्थीः । तथा ग्रामाद्वहिः कायोत्सर्गकरणम् । नवमी सप्तरात्रिकी । उत्कटिकासनेन दण्डासनेनेवास्थानम् । दशमी सप्तरात्रिकी । साष्टमभक्ता चतुर्विहारप्रत्याख्यानं च गोदुहिकासनेनावस्थानम् । एकादशी एकरात्रिकीत्युच्यते । परममष्टमभक्तेन पूर्यते चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च तृतीये दिने । ग्रामाद्वहिः कायोत्सर्गकरणम् । द्वादश्यपि एकरात्रिकी । परं चतुर्विधाहारत्यागाष्टमभक्तेन पूर्यते तत्रानिमेषनेत्राभ्यां कायोत्सर्गकरणम् । इत्थं सूत्रोक्तविधिविधानात्प्रतिमानां द्वादशसंख्याकानां प्रतिमारमाणं श्रमणानुष्ठानविशेषलक्ष्मीणामाभरणानीव भूषणानीवापूपुषत् । किंभूतानां प्रतिमारमाणम् ।

अंहोद्दहामहसां दुरन्तदुरितानां दुहां द्रोहकारिकाणां मूलादुच्छेदविधायकानां च पुनर्यो मुनीन्द्रः कार्यं स्वशरीरमशूषत् विकटोत्कटतपोभिः कृत्वा शोषयति स्म । कृशीकृतवानित्यर्थः ॥

गुरोः समीपे विजयादिदानवाचंयमेन्दोर्विधिना व्रतीन्द्रः ।

आलोचनां द्विर्ग्रहयांबभूव लोकद्वयस्येव विशुद्धये सः ॥ ९४ ॥

व्रतीन्द्रो हीरसूरिगुरोः स्वधर्माचार्यस्य तपस्यादातुर्वा विजय इति पदमादौ यस्य तादृशस्य दाननात्र एतावता विजयदानसंज्ञस्य वाचंयमेन्दोः सूरैः समीपे पार्श्वे विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण द्विर्वारद्वयमालोचनां निःशल्यत्वेन निजाशेषपापप्रकाशनपूर्वकप्रायश्चित्तविशेषं ग्रहयांबभूव गृह्णाति स्म । ‘गृह्णाति द्रहयते लाति’ इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—लोकयोरिहलोकपरलोकयोर्वर्तमानामुक्तभवयोर्द्वयस्य युगलस्य विशुद्धये निर्मलीकरणायेव ॥

उपोषणानां त्रिशतीं व्यतानीत्सूरीन्दुरालोचनयोर्द्वयोः सः ।

समीहमानो मनसाधिगन्तुं पदं त्रिलोकाग्रभवं किमेषः ॥ ९५ ॥

यः पातिसाहिसंमानितः स जगद्विख्यात एष प्रत्यक्षलक्ष्योऽस्यदादीनां दृग्गोचरीभ-
वन् सूरीन्दुर्हीरसूरिचन्द्रो द्वयोरुभयोरालोचनयोर्द्विर्वारविहितदुःकृतालोचनप्रायश्चित्त-
योरुपोषणानामुपवसनानां त्रिशतीं त्रयाणां शतानां समाहारत्रिशती तां सर्वोपेति संभाव्यते । व्यतानीत्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिलोकस्य । ‘त्रिलोकनाथेन सता मख-
द्विषः’ इति रघौ । ‘त्रिलोकनाथास्त्रिलोकपूज्यास्त्रिलोकेश्वरा इति बृहच्छान्तौ । त्रैलोक्य-
स्याग्रे उपरितनप्रदेशे भवमुत्पन्नं यत्पदं यत्स्थानं मनसा अधिगन्तुं प्राप्तुं मोक्षस्थानं
लब्धुमधिगम्य प्राप्येत्यर्थः’ इति तद्वृत्तिः । मनसा स्वचित्तेन कृत्वा समीहमान एष
वाञ्छन्निव ॥

षष्टात्सपादां द्विशतीं शमीन्द्रो व्यातन्तनीति स्म स नीतिचन्द्रः ।

साग्रेऽपि गव्यूतिशतद्वये स्वमाहात्म्यमिच्छञ्जिनवत्किमुर्व्याम् ॥ ९६ ॥

शमीन्द्रः शमवतां साधूनां मध्ये इन्द्रः पुरंदरो द्वयोरलोचनयोस्तथा अन्येऽपि सर्वे भूपतयः सपादां द्विशतीं पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयीं षष्ठानामुपवासद्वयलक्षणानां व्यातन्त-
नीति स्म कृतवान् । स किंलक्षणः । नीतौ न्याये चन्द्रः । अथ वा ‘सान्द्र’ इति पाठः ।
दृढः अतिशायिन्यायविधाता । तत्र विषये वयमेवं विद्मः । उत्प्रेक्ष्यते वा—गव्यू-
तीनां क्रोशानां साग्रे पञ्चविंशत्यधिके शतद्वये । सपादक्रोशशतद्वयप्रमाणे इत्यर्थः । इति
हैमनाममालानुगतव्याख्यानम् । ‘तस्यां यथा साग्रे च गव्यूतिशतद्वये—’ इति । जिनवत्ती-
र्थकरस्येव स्वस्य माहात्म्यं निजस्य सप्तानामीतीनां प्रशमनरूपादिकं महिमानमुर्व्यां
पृथिव्यां किमिच्छन् काङ्क्षन्निव ॥

द्वासप्ततिं सूरिसहस्ररश्मिः स्म निर्मिमीते पुनरष्टमानाम् ।

विभ्रश्चतुर्विंशतिकात्रिकस्य प्रसत्तिमाधातुमना जिनानाम् ॥ ९७ ॥

सूरिषु सहस्ररश्मिः अधिकप्रतापत्वेन भानुमाली पुनर्द्वयोरालोचनयोरन्येषां च
'अष्टमानामुपवासत्रिकलक्षणानां द्वासप्ततिं निर्मिमीते स्म कृतवान् । उत्प्रेक्ष्यते—चतु-
र्विंशतिकानामतीतानागतवर्तमानरूपाणां त्रिकस्य त्रितयस्य जिनानां तीर्थकृतम् । चतु-
र्विंशतिस्त्रिभिर्गुणिता सती द्विसप्ततिर्भवेत् । एतावता द्वासप्ततिर्मितार्हद्भ्यश्चरकाणाम् । केवल-
ज्ञानि—निर्वाणि—सागर—महायशः—विमल—सर्वानुभूति—श्रीधर—दत्त—दामोदर—सुतेजः—
स्वामि—मुनिसुव्रत—सुमति—शिवगति—अस्ताव—नमि—अनिल—यशोधर—कृतार्थ—जिनेश्व-
र—शुद्धमति—विवेक—स्यन्दन—संप्रतिनामान एतेऽतीतचतुर्विंशतिजिनाः । ऋषभ—
अजित—शंभव—अभिनन्दन—सुमति—पद्मप्रभ—सुपार्श्व—चन्द्रप्रभ—सुविधि—शीतल—श्रेयां-
स—वासुपूज्य—विमल—अनन्त—धर्म—शान्ति—कुन्धु—अर—मल्लि—मुनिसुव्रत—नमि—नेमि—
पार्श्व—वर्धमानाभिधाः एते वर्तमानचतुर्विंशतितीर्थकराः । पद्मनाथ—सुरदेव—सुपार्श्वक—
स्वयंप्रभ—सर्वानुभूति—देवश्रुत—उदय—पेटाल—पोटिल—शतकीर्ति—सुव्रत—असम—निष्क-
षाय—निष्पुलाक—निर्मम—चित्रगुप्त—समाधि—संवर—यशोधर—विजय—मल्ल—देव—अन-
न्तवीर्थ—भद्रकृत्संज्ञा एते त्वनागतचतुर्विंशतिरहन्तः । एतेषां चतुर्विंशतित्रितयजि-
नानां प्रसत्तिं स्वविषये प्रसन्नभावमाधातुमनाः कर्तुकाम इव विभ्र इवार्थेऽत्र ॥

चक्रे य आचाम्लसहस्रयुग्मं स्वयं जिनं स्तोतुमवेक्षितुं वा ।

पृथक्सहस्रे रसनेक्षणानां विभ्रः फणीन्दोरिव लिप्समानः ॥ ९८ ॥

यो भगवान् आचाम्लानां सहस्रस्य दशशत्या युग्मं द्वन्द्वं चक्रे विंशतिशर्ता विधत्ते
स्म तत्र विषये वयमेवं विज्ञो जानीमः । उत्प्रेक्ष्यते वा—जिनं वीतरागं स्वयमात्म-
नैव स्तोतुं स्तवनगोचरीकर्तुं पुनरवेक्षितुं विलोचनविषयं विधातुं द्रष्टुं रसनेक्षणानां
जिह्वानयनानां पृथक्पृथक् सहस्रे लिप्समानः काङ्क्षन्निव । भगवन्तं स्तोतुं रसनानां
द्विसहस्रं तथा अनिमेषं विलोकयितुं लोचनानां विंशतिशतीमीहमान इव । केषामिव ।
फणीन्दो रसनेक्षणानामिव । यथा शेषनागस्य रसनानां तथा ईक्षणानां सहस्रे स्तः । तस्य
नागराजस्य सहस्रफणत्वेन द्विजिह्वत्वेन द्विनेत्रत्वेन सहस्रफणेषु रसज्ञानां नयनानां च
द्विसंख्याभाक्त्वेन द्विसहस्री स्यात् । तथा चम्पूकथायाम्—‘यस्यास्मिन्पुरगप्रभोरिव
भवेजिह्वासहस्रद्वयम्’ इति ॥

आचाम्लकैर्विंशतिसंमितानि यः स्थानकान्यातनुते स्म सूरिः ।

निजस्य विंशत्यसमाधिपूर्वस्थानान्यपाकर्तुमना इवैषः ॥ ९९ ॥

यः सूरिराचाम्लकैराचाम्लनामतपोविशेषैः कृत्वा विंशतिसंख्यया संमितानि प्रमा-
णीकृतानि स्थानकानि—‘अर्हति सिद्धे प्रवचनसूरि स्थविरेषु वाचके साधौ । ज्ञाने
भक्तिर्दर्शनशुद्धिः सद्दिनयसंपन्नाः ॥ संध्याद्वयेऽप्यवश्यावश्यककरणेन शुद्धचारित्रम् ।

ब्रह्मव्रतधारिवशः क्रियारताः पूर्णपौषधतः ॥ नवतपसा च तपस्वी सुसंविभागेन गोत-
मस्वामी । वैद्यावृत्त्येन जिनाः समताभावाच्च चारित्र्यम् ॥ ज्ञानं नूतनपठनात्संधार्चाविर-
चितैः श्रुतज्ञानम् । जिनशासनोन्नतिकृतेस्तीर्थं त्वेभिर्भवेदर्हन् ॥' एतदभिधानानि विंश-
तिस्थानकानि आतनुते स्म विदधे । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनः विंशतिस्थानकानि
असमाधिरिति पदं पूर्वं येषां तादृशानि स्थानानि । तानि यथा—अतित्वरितं प्रचलति,
अप्रमार्ज्यं स्थानकं कुरुते, दुःप्रमार्ज्यं स्थानकं कुरुते, अन्यजनैः सह नारदवक्त्रेशं का-
रयति, पीठशय्यापट्टकादीनि अधिकानि रक्षयति, आचार्योपाध्यायरत्नाधिकानां संमुखं
वक्ति, स्थविरादीन् घातयति, भूतानि विनाशयति, पुनः पुनः क्रोधं कुरुते, सदैव
क्रोधतो भाषयितुमपि न शक्यते, पृष्ठे गुणवता विरुद्धं भाषते, मुहुर्मुहुर्निश्चयभावां
भाषते, अधिकरणान्युदीरयति, अकाले स्वाध्यायं कुरुते, अस्थण्डिलस्त्यण्डिलं गच्छन्
पादौ न प्रमार्जयति स्वयं च खण्डितहस्ताभ्यां विहरति, अकाले दीर्घं वादस्वरेण
भाषते, स्वयं निःप्रयोजनं क्लेशं कुरुते, गच्छभेदं स्वयं करोति परांश्च कारयति
परैर्वा, यावद्वास्वानुदयत्यस्तमयति च तावद्भुक्ते, अशुद्धमानमप्याहारं न मुञ्चति,
एवंविधानि विंशत्यसमाधिस्थानकानि अपाकर्तुमना निराकर्तुकाम इवैषः ॥

चक्रे पुनर्निर्विकृतीः सहस्रे द्वे सूरिरद्वैतधृतिं दधानः ।

किं संसृतिं निर्विकृतिं विधातुं हृषीकपङ्क्तिं किमुत स्वकीयाम् ॥१००॥

सूरिः पुनर्यथा चाम्लानि तथैव द्वे सहस्रे सहस्रयोर्द्वयीमेतावता विंशतिशतीं दधि-
दुग्ध-पक्वान्न-तैल-गुड-धृतरूपषट् विकृतिपरित्यागरूपा निर्विकृतीस्तपोग्रहविशेषांश्चक्रे
कृतवान् । किंलक्षणः । धृतिं रसनारसलाम्पव्यपरित्यागमयीं संतोषं दधानो विभ्राणः ।
उत्प्रेक्ष्यते—संसृतिं संसारं भूयो भूयो दोषोत्पादकत्वेन अनन्तजन्ममरणोपचयका-
रणलक्षणा विकृतिर्विकारस्तद्विहितम् । विरलमित्यर्थः । कर्तुं विधातुमिव । उताथ वा
स्वकीयां स्वात्मसंबन्धिनीं हृषीकपङ्क्तिमिन्द्रियश्रेणीम् । पञ्चाक्षीमित्यर्थः । निर्विकृतिं
विकारविकलां स्पर्शन-रसन-ग्राण-नयन-श्रवणानामिन्द्रियाणां स्पर्श-रस-गन्ध-
रूप-शब्देषु प्रवृत्तिकरणलक्षणेषु तत्तद्व्यापारेषु मन्दीभवनाप्रवृत्तिकारिकां कर्तुमिव वा ॥

स एकदन्तिस्फुरदेकसिक्थमुखानि तीव्राणि तपांसि चक्रे ।

प्रभुः प्रणेतुं स्पृहयन्निवैकभवामनन्तामपि संसृतिं स्वाम् ॥ १०१ ॥

स सूरिरिकदन्तिरेकस्मिन्वारके पात्रे । यत्रानवच्छिन्नं पानीयान्नादिकं पतेत्सा एकद-
न्तिरुच्यते । यस्मिंश्चैकमेव सिक्थं भुज्यते नान्यत्तदेकसिक्थमेकदन्त्या स्फुरद्दीप्यमानम् ।
युक्तमित्यर्थः । एकसिक्थं तत्प्रमुखमायं येषु तादृशानि तीव्राणि अतिकठिनानि
तपांसि चक्रे विनिर्मितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्तां स्वभावपरिणामेन न विद्यते अन्तो-
ऽवसानं यस्यास्तादृशीं स्वां स्वकीयां संसृतिं संसारमेक एव भवोऽवतारो यस्यास्तादृशीं
प्रणेतुं निर्मातुं स्पृहयन्निव ॥

उपोषणानामपुषत्सहस्रत्रयं स तस्योपरि षट्शतीं च ।

सरोजजन्मा धरणीधरेन्द्रं सुधाशनानामिव चारुचूलाम् ॥ १०२ ॥

स सूरिरुपोषणानामुपवासानां सहस्राणां दशशतीनां त्रयं त्रिकं त्रिसहस्रीमपूपुषत्
पूष्णाति स्म । चकारेत्यर्थः । च पुनस्तस्य सहस्रत्रयस्य उपरि षट्शतीं षट्शतानि
उपवासान् चकार । क इव । सरोजजन्मेव । यथा कमलभूर्ब्रह्मा सुधाशनानां देवानां
धरणीधरेन्द्रं मेरुं व्यधात् । पुनस्तस्योपरि चारुं प्रकृष्टां चूलं विधत्ते स्म । यद्यपि धरणी-
धरेन्द्र इति नाम्ना मेरुरायातस्तथापि धरणीधरेन्द्रो हिमाद्रिरप्युच्यते । तस्यापि
नगाधिराजत्वं वर्तते । परं तस्मिन् चूला नास्ति, तन्निरासार्थं सुधाशनानामित्युक्तम् ।
सुराद्रिर्मेरुरेव नापरः ॥

एकाशनाचाम्लयुतैर्यतीन्दुरुपोषणैर्निर्गलितान्तरायम् ।

त्रयोदश व्यातनुते स्म मासाञ्छिक्षामि वः स्वीयगुरोस्तपोऽसौ ॥ १०३ ॥

असौ यतीन्दुः सूरिः स्वीयगुरोः विजयदानसूरेः तपोऽनुष्ठानविशेषं व्यातनुते स्म
निर्ममे । कान् । मासान् । त्रिंशद्वासरान्यावत् । किंभूतान् मासान् । त्रयोदश विश्वेदेव-
प्रमितान् त्रयोदशसंख्याकान् । कथम् । निर्गलितान्तरायं विगतविगतविघ्नम् । कैश्चके ।
उपोषणैरुपवासैः । किंभूतैः । एकाशनाचाम्लयुतैः प्रथममुपवासः, तत एकाशनकमेकभ-
क्तम्, तत आचाम्लं केवलं जलेन रुक्षान्नाशनम्, पुनरुपवासः, अनया रीत्या निर्विघ्नं
त्रयोदशमासीं यावद्विजयदानसूरेस्तपो विदधे । उत्प्रेक्ष्यते—स्वीयगुरोरासेवनाग्रहणा-
दिकां शिक्षामिवातनुते स्म ॥

त्रिधा समाराद्धुमनाः समग्रज्ञानानि चैकादशयुग्ममासान् ।

तपांसि तीव्राणि चकार योगैः परीषहाञ्जेतुमिवेहमानः ॥ १०४ ॥

स सूरिरेकादशानां युग्मं येषु । एकादश द्वाभ्यां गुणिता द्वाविंशतिर्जाता । तादृशान्मा-
सान् द्वाविंशतिमासान्यावद्योगैरङ्गोपाङ्गादिसूत्राणां योगवहनैः कृत्वा तीव्राण्युपवासाः चा-
म्लादिरूपाणि तपांसि चकार कृतवान् । किं कर्तुमनाः । त्रिधा त्रिभिर्मनोवाक्कायलक्षणैः
कृत्वा समग्राणि मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवललक्षणानि पञ्चापि ज्ञानानि समाराद्धुमनाः
सम्यगाराधयितुंकामः । उत्प्रेक्ष्यते—क्षुधा-तृषा-शीत-उष्ण-दंशमशक-अचेल-
अरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वध-याचन-अलाभ-रोग-तृण-मल-स-
त्कार-प्रज्ञा-अज्ञान-सम्यक्त्वं रूपान् द्वाविंशतिसंख्याकान् परीषहान् जेतुमीहमान इव ॥

उग्रैस्तपोभिर्द्युनिशं त्रिमासीं यत्सूरिमन्त्रं विधिनारराध ।

श्रीशासनाधिनिद्रिशैर्वशीन्द्रः स्वयं स्वयंभूरिव सेव्यमानः ॥ १०५ ॥

यो वशीन्द्रो योगीश्वरः उग्रैः पारणकेष्वाचाम्लयुक्तैश्चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपैस्तपोभिरभि-
ग्रहविशेषैः कृत्वा त्रिमासीं मासत्रयीं यावत् द्युनिशमहोरात्रं सूरिमन्त्रमाचार्यपद-

स्थापनगौतमविद्यां विधिना सम्यक् तत्कल्पशास्त्रपूर्वाचार्यप्रोक्तप्रकारेणाराध साधयति स्म । किं क्रियमाणः । स्वयंभूजिनेन्द्र इव श्रिया युक्तैरनेकदेवदेवीवृन्दाधिपत्यकलितैः शासनस्य जिनमतस्याधिन्निदशैरधिष्ठायिकैर्देवैर्वाग्वादिनी-त्रिभुवनस्वामिनी-श्रीदेवी-यक्षराज-गणिपिटकप्रमुखसुरासुरैः स्वयमात्मना सेव्यमान उपास्यमानः ॥

सूरीन्दुरेकाग्रमनाश्चतस्रः स्वाध्यायकोटीर्गणयांबभूव ।

निर्वेदिताशेषशरीरभाजां चतुर्गतानामिव जैत्रमन्त्रान् ॥ १०६ ॥

सूरीन्दुरेकाग्रमेकतानं मनश्चेतो यस्या व्यग्रान्तःकरणः सन् स्वाध्यायानां सिद्धान्तप्रकरण-परिवर्तन-गणन-चिन्तनरूपाणां चतस्रः चतुःसंख्याकाः कोटीः शतीशतसहस्राणां गणयांबभूव गणयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निर्वेदं खेदं प्रापिता नीता अशेषाः संसारवर्तिनः समस्ताः शरीरभाजाः प्राणिनो याभिस्तादृशीनां नरकतिथ्यङ्गनुष्यदेवलक्षणानां चतसृणां गतीनां जैत्रान् जयनशीलान्मन्त्रानिव गणयांचकार ॥

ग्रन्थावलीं निर्मितवान्विशुद्धां निजां मनोवृत्तिमिव व्रतीन्द्रः ।

अदीक्ष्यद्यः शतशो वशीशः शिष्यान्स्वशिष्यीकृतशक्तसूरिः ॥ १०७ ॥

यो व्रतीन्द्रो ग्रन्थावलीं शास्त्रश्रेणीमशुद्धां विशुद्धां कूटवर्णविरहितां निर्मितवान् शोधयामास । कामिव । निजामात्मीयां मनोवृत्तिमिव स्वान्तव्यावृत्तिमिव विशुद्धां निष्पापां निर्मितवान् । पुनर्यौ वशीशः जितेन्द्रियेन्द्रः योगिजम्भारातिः शतशः शतसंख्याकान् शिष्यान् विनेयान् अदीक्ष्यत् दीक्षां ग्राहयति स्म । किंभूतः । शिष्यीकृतो बुद्ध्या शास्त्रपरिज्ञानेन च निजान्तेवासिविहितः शक्तसूरिः पुरंदराचार्यः बृहस्पतिर्येन । 'ईदृशीं गिरमुदीर्य बिडौजाः जोषमासनविशिष्य बभाषे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुस्य' ॥ इति सूरेरातपस्यासमर्थं तपःक्रियानुष्ठानादिवर्णनम् ॥

यत्पण्डिताः सार्धशतं बभूवुः संप्राप्तसिद्धान्तपयोधिपाराः ।

दिवेर्ष्यैकं धिषणं दधत्या वागीश्वराः किं विधृता धरित्र्या ॥ १०८ ॥

यस्य सूरैः पण्डिताः प्रज्ञांशपदधारिणः सार्धशतमेकपञ्चाशदुत्तरं शतं संख्या येषां तादृशा बभूवुः संजाताः । किंभूताः । संप्राप्तोऽधिगतः सिद्धान्तस्यागमस्य उपलक्षणात् स्वसमयपरसमयप्रवर्तमानशास्त्रसंदोहरूपस्य पयोधेः समुद्रस्य पारो यैस्ते । उत्प्रेक्ष्यते—एकमेव धिषणं बृहस्पतिम् । 'वाचस्पतिर्द्वादशार्चिंधिषणः फाल्गुनीभवः' इति हैम्याम् । दधत्या धारयन्त्या दिवा स्वर्लोकेन अमरावत्या वा सममीर्ष्यया स्पर्धया धरित्र्या धरित्रीभुवा सार्धशतं वागीश्वराः सुराचार्या विधृताः किं ध्रियन्ते स्म इव ॥

सप्ताभवन्वाचकवारणेन्द्रा यस्योल्लसद्वाग्लहरीविलासाः ।

गाम्भीर्यभाजो गुणरत्नपूर्णास्तरङ्गिणीनामिव जीवितेशाः ॥ १०९ ॥

यस्य भट्टारकस्य सप्तसंख्याका वाचकेषु उपाध्यायेषु विषये कुमतिमतप्रबलबलवि-

दलनेन वारणेन्द्राः कुञ्जरराजाः अभवन् संजायन्ते स्म । के इव । तरङ्गिणीनां जीवि-
तेशा इव । यथा नदीनां नाथाः सप्तसंख्याका भवन्ति । यदुक्तं हैम्याम्—‘द्वीपा-
न्तरैरसंख्यास्ते सप्तैवैते तु लौकिकाः’ इति द्वये अपि । किंभूताः । उल्लसन्तः स्फुरन्तो
, वाचो वाण्य एव लहर्त्यः कल्लोलास्तेषां विलासा विभ्रमा वैचित्र्यो येषु येषां वा । पुनः
‘किंविशिष्टाः । गाम्भीर्यं गम्भीरिमाणमलब्धमध्यत्वं भजन्तीति । पुनः कथंभूताः । गुणा
एव रत्नानि मणयस्तैः पूर्णा निर्भरभृताः ॥

क्षमां दधानस्य च गौरिमाणं पदाब्जभृङ्गायितचक्रिणश्च ।

द्वे यस्य जाते यतिनां सहस्रे विलोचनानामिव भोगिभर्तुः ॥ ११० ॥

यस्य सूर्ययतिनां साधूनाम् । ‘ब्रह्मशर्मभरचारुयतीव’ इति नैषधे । अतो यतिशब्द
इकारान्तो नकारान्तश्च । द्वे सहस्रे विंशतिशती जाते । कस्येव । भोगिभर्तुरिव । यथा
नागराजस्य विलोचनानां चक्षुषां द्वे सहस्रे स्तः सहस्रफणत्वात् । किंभूतस्य यस्य भोगि-
भर्तुश्च । क्षमां क्षान्तिं सर्वसहतां धरित्रीं दधानस्य विभ्राणस्य । च पुनर्गौरिमाणं सुवर्ण-
वर्णतां श्वेतिमानं च । ‘गौरः श्वेतपीतयोः’ इत्यनेकार्थः । पुनः किंभूतस्य । पदाब्जयो-
श्चरणारविन्दयोः भृङ्गायिता भ्रमरवदाचरिताश्चक्रिणः चक्रवर्तिनो महाराजा नागाश्च
यस्य । ‘दर्वाकरः कञ्चुकिचक्रिगूढपात्’ इति हैम्यां गुरुनागेन्द्रयोर्विशेषणानि ॥

शीलं परिष्कारमिवोद्वहन्त्यः सर्वानुवादा इव चन्दनायाः ।

यस्याप्तवाङ्मानसराजहंस्यः साध्यो बभूवुस्त्रिशतीमिताश्च ॥ १११ ॥

यस्य सूर्ययाणां शतानां समाहारस्त्रिशती त्रीणि शतानि तथा मिताः प्रमाणीकृताः
साध्यो यतिन्यो बभूवुः संजाताः । किंभूताः । आप्तानां तीर्थकृतां वाग्वाणी सिद्धान्तः ।
‘आप्तोक्तिः समयागमौ’ इति हैमीवचनात् । सैव मानसं राजहंसनिवाससरस्तत्र खेलने
राजहंस्यः । सिद्धान्तस्वाध्यायध्यानपरा इत्यर्थः । किं कुर्वत्यः । उद्वहन्त्यः उत्प्रावत्येन
वहन्त्यो धारयन्त्यः । किम् । शीलं त्रिधापि ब्रह्मचर्यम् । कमिव । परिष्कारमिव आम-
रणमिव । ‘परिष्काराभरणे च’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—चन्दनायाः चन्दनबालायाः
सर्वानुवादा इव सर्वशीलागमादिकमनुवदन्ति अनुकुर्वन्तीति । चन्दनातुल्या इत्यर्थः ॥

ब्रजे यतीनां विजयाद्यसेनप्रभोर्ददौ सूरिपदं य एकम् ।

नक्षत्रताराग्रहमण्डलेऽपि वेधा यथा राजपदं सुधांशोः ॥ ११२ ॥

यः सूर्ययतीनां ब्रजे श्रमणानां गणे सत्यपि विजय इति पदमाद्यं प्रथमं यत्र
तादृशः सेन एतावता विजयसेननामा प्रभुर्मुनिः स्वामी तस्य नान्यस्य एकं सूरिपदमाचा-
र्यपदं ददौ दत्तवान् । यथा इवार्थः । क इव । वेधा इव । यथा ब्रह्मा जैनमते नक्षत्राणाम-
ष्टाविंशतिसंख्यानां ताराणां षट्षष्टिसहस्रकोटिकोव्यस्तथा पञ्चसप्ततिकोव्य एतावत्प्रमा-
णानां तारकाणां तथा ग्रहाणामष्टाशीतिप्रमितानां कलिकालनानि पञ्चमारके नराणाम-

ल्पायुष्मान्नवानमेव सूर्यादिकानां मण्डले समूहे सत्यपि सुधांशोश्चन्द्रस्यैव एकं राजपदं ददिवान् ॥ इति परिवारः ॥

यस्योपदेशाद्बहवो विहाराः संजज्ञिरे मन्दिरचैत्ययुक्ताः ।

त्वष्ट्रा क्षितौ वस्तुमिवामृतस्वःश्रीभिर्व्यधाप्यन्त विलाससौधाः ॥११३॥

यस्य प्रभोरुपदेशाद्बहवोऽनल्पसंख्याका विहारा जिनप्रासादाः संजज्ञिरे । किंभूताः । मन्दिरचैत्ययुक्ताः गृहदेवतावसरसहिताः । 'देहरासर' इति प्रसिद्धिः । एतावता गृहचैत्यान्यप्येकान्यासन् । उत्प्रेक्ष्यते—अमृतस्वःश्रीभिरपवर्गस्वर्गलक्ष्मीभिः कर्त्राभिः क्षितौ भूमण्डले वस्तुं निवासं कर्तुं त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा कर्त्रा विलाससौधा लीलागृहा व्यधाप्यन्त कारिता इव ॥

पञ्चाशदर्हत्प्रतिमाप्रतिष्ठाः प्रभुः पृथिव्यामनुतिष्ठति स्म ।

दिशश्चतस्रोऽप्यपुनाद्विहारैः प्रभाप्रसारैरिव भानुमाली ॥ ११४ ॥

प्रभुः सूरिः अर्हत्प्रतिमानां शतसहस्रसंख्याकानां जिनविम्बानां प्रतिष्ठा वासक्षेपाञ्जन-शलाकादिकादिक्रियाभिः प्रतिष्ठापनानि पञ्चाशत्संख्याकाः पृथिव्यां गुर्जरसौराष्ट्रमहमे-दपाटलाटमेवातकुशावर्तादि मण्डलभूमण्डलमध्ये अनुतिष्ठति स्म कृतवान् । पुनश्चत-स्रश्चतुःसंख्याकाः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरसंज्ञा दिशो हरितो विहारैः स्वविचरणैः कृत्वा अपुनात् पवित्रीचकार । क इव । भानुमालीव । यथा भास्वान् प्रभाप्रसारैः स्फुरि-णविस्तारैः कृत्वा चतस्रोऽपि दिशः पुनीते ॥

यस्मिन्पुनाने भुवमर्बुदाद्रिसमेतसिद्धाचलरैवतेषु ।

संघाधिपाः पाण्डववच्छतानि त्रीणि त्रिकेणान्यधिकान्यभूवन् ॥११५॥

यस्मिन् सूरिशके भुवं पृथिवीपीठं पुनाने पवित्रीकुर्वाणे सति अर्बुदाद्रिः हिमा-चलनन्दनगिरिः वृषभदेववासुपूज्यारिष्टनेमिमहावीरवर्जं विंशतितीर्थकृतां निर्वाणभूमाक-ल्याणकपावनीकृतं संमेताचलः शत्रुञ्जयो विमलाचलः रैवतो गिरिनारगिरिः एतत्प्रमुखेषु तीर्थेषु पाण्डववत्पाण्डुनन्दना इव त्रिकेण त्रयेणाधिकानि त्र्युत्तराणि त्रीणि शतानि संघाधिपाः संघपतयः अभूवन् समजायन्त ॥

आत्मा भृतो येन जिनेश्वराद्रितीर्थादियात्रोद्भवपूर्णपुण्यैः ।

प्राक्शृङ्गिशृङ्गागमनोद्गतांशुभारैरिवाम्भोरुहिणीवरेण ॥ ११६ ॥

येन भगवता जिनेश्वराद्रिः शत्रुञ्जयशैलः । 'पञ्चाशदादौ किल मूलभूमेर्दशाध्वभूमेरपि विस्तरोऽस्य । उच्चत्वमष्टैव तु योजनानि मानं वदन्तीह जिनेश्वराद्रेः ॥' इति नगरपुराणो-क्तमन्तर्वाच्यान्तर्गतमत्र लिपीकृतमस्ति । स एव तीर्थः सिद्धिगमनस्थानम् । तीर्थशब्दः पुनर्पुंसकलिङ्गे । स एव तदेव वा आदौ येषां तेषां यात्रा दर्शनं स्पर्शनं तदहतां द्रव्य-भावस्त्वार्चनातपोविधानादिकाः क्रियास्ताभ्यः उद्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशैः पूर्णैरन्यूनैः

पुण्यैः सुकृतैः कृत्वा आत्मा स्वप्राणी भृतः संपूरितः । केनेव । अम्मोरुहिणीवरेणेव ।
यथा भानुमालिना प्राक्शृङ्गी पूर्वाचलः तस्य शृङ्गे शिखरे आगमनेनोपनमनेन उन्नतः
प्रकटीभूताः अंशुभाराः किरणनिकराः सहस्रसंख्यकराः ऋतुभरात्पोडशशतकरा अपि
यैस्तैः आत्मा भ्रियते । उदयानन्तरमेव किरणबाहुल्यदर्शनादिशयमुत्प्रेक्षोपमा वा ॥

धार्त्री पवित्रां सृजतोऽस्य पादन्यासे दुकूलान्यध्रियन्त भव्यैः ।

तीर्थाधिराजस्य चतुर्निकायसुरैरिव स्वर्णसरोरुहाणि ॥ ११७ ॥

धार्त्री वसुंधरां पवित्रां पावनां सृजतः कुर्वतः पादचारेण चरतः अस्य सूरैः पाद-
न्यासे चरणयुगलस्थापनस्थाने प्रायो बाहुल्येन भव्यैः श्राद्धवर्गैः दुकूलानि क्षौमानि वि-
विधदेशवासिंस् वा अध्रियन्त पादाधः स्थाप्यन्ते स्म । कस्येव । तीर्थाधिराजस्येव । यथा
धरित्रीं पवित्रां विदधानस्य भूमण्डले विहारं कुर्वतः श्रीभगवतश्चतुर्निकायसुरैः भवन-
पति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-विमानवासि-देवैः स्वर्णसरोरुहाणि कनककमलानि पादन्यासे
चरणारविन्दयोस्तले विधीयन्ते ॥

स्तम्भादितीर्थे जलदागमेऽस्मिन्स्थिते कदाचिद्विक्रव्रजेन ।

कोटिव्ययेऽसृज्यत टङ्ककानां श्रीविक्रमाम्भोरुहबन्धुनेव ॥ ११८ ॥

कदाचित्कस्मिन्नपि जलदागमे वर्षाकाले स्तम्भ इति पदमादौ यस्य तादृशे तीर्थे
स्तम्भतीर्थे 'खंभाति' इति लोकप्रसिद्धानामनि अस्मिन् मुनीन्द्रे चतुर्मासीमासीने सति
भविक्रव्रजेन अर्थात् स्तम्भतीर्थादिसंघलोकनिकरेण टङ्ककानां गुर्जरजनपदप्रसिद्धानां
नाणकविशेषाणां कोटिरेका कोटिव्यये दानेऽसृज्यत व्ययीक्रियते स्म । केनेव । श्रीविक्र-
माम्भोरुहबन्धुनेव । यथा श्रीमद्विक्रमादित्येन एकस्मिन् वारके दाने वा कोटिः कनकट-
ङ्ककानाम् । सुवर्णकानामित्यर्थः । दाने दीयमाना आसीत् । प्रतिश्लोकं काव्यं गाथां
च प्रायो जनानां कोटिदातासीत्, न न्यूनमधिकं बहु ॥

प्रेक्ष्य प्रियं शक्रवशा अहिल्यासक्तं क्षितावक्षमया किमेताः ।

मृगीदृशो न्युञ्जन्कानि यस्य प्रायो व्यधू रूपकनाणकेन ॥ ११९ ॥

मृगीदृशो निखिलमेदिनीमण्डलसम्यङ्मृगलोचनाः प्रायो बाहुल्येन यस्य प्रभोर्न्युञ्ज-
नकानि निर्मितसतानि रूपकनाणकेन । जातिवाचित्वेनैकवचनम् । रजतसंबन्धिमहमुंदी-
ल्यारिका-आसेरी-मुदप्फारिका-रूपकादिकेन उपलक्षणादभिरामिकासुवर्णकाद्येनापि व्यधुः
कुर्वन्ति स्म । मृगीदृश उत्प्रेक्ष्यन्ते—प्रियं भर्तारं शक्रमहिल्यायां गौतमर्षिपत्न्यां
तपस्विन्यामासक्तं भोगलम्पटीभूतं प्रेक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य अक्षमया अस्मात्सर्वोत्तमरूपला-
वण्यसौभाग्यवपुर्बिभवशीलशालिनीर्विहाय वत्कलमुञ्जदोरिकाजटादिरूपविकरालां ताप-
सीमसौ सेवते इति भर्तरि विषये रुषा ईर्ष्यायां क्षितौ क्षोण्यां किमेताः शक्रवशा इन्द्राण्य
इवायाताः ॥ इति माहात्म्यम् ॥

पुरीमपापामिव पञ्चवक्त्रध्वजो जिनेन्द्रः पुनरुन्नताह्वाम् ।

..... ॥ १२० ॥

स जिनेन्द्रः सूरिरन्तिममायुरपेक्षया चरमं चतुर्मासकं तत्र चक्रे कृतवान् । किं कृत्वा । अजयपुरदेवलपाटकादिषु विहारैः कृत्वा । पुनरपरवारमुन्नत इत्याह्वा नाम यस्यास्तादृशी पुरीं नगरीं चरणारविन्दैः निजपादपद्मैः पवित्रां पावनीं कृत्वा । क इव । पञ्चवक्त्रध्वज इव । यथा केसरिकेतनो महावीरो जिन्नानां सामान्यकेवलानां मध्ये तीर्थाधिपत्वादिन्द्रः पुरंदरः अपापां पुरीं स्वीयपदपङ्कजैः पवित्रीकृत्यान्तिमं पश्चिमं चतुर्मासकं कृतवान् ॥

[वाचंयमेन्दुर्निजमायुरल्पं] विदांचकाराथ हृदा तदानीम् ।

स्वेनोपचेतुं पुनरेष पुण्यमगण्यमैच्छद्रविणं धनीव ॥ १२१ ॥

अथ चतुर्मासकस्थितेरनन्तरं तदानीं तस्मिन् प्रस्तावे तच्चतुर्मासक एव वाचंयमेन्दुर्हीरविजयसूरिः हृदा कुशाग्राग्रिममतज्ञानवता हृदयेन कृत्वा निजमात्मीयमायुर्जीवितकालमल्पं स्तोकं विदांचकार अज्ञासीत् ज्ञातवान् । पुनरित्यन्योक्तिः । एष सूरिः स्वेनात्मना अगण्यमपरिमितं स्वर्गापवर्गसाधकं पुण्यं सुकृतमुपचेतुं पुष्टं कर्तुमैच्छद्वाञ्छति स्म । क इव । धनीव । यथा व्यवहारी अगण्यं गणयितुमशक्यं गणितं द्रविणं धनमुपचेतुमिच्छति ॥

संलेखनां तत्र तपोविचित्रां स वृत्रशत्रुव्रतिनां वितेने ।

विधित्सयेवोत्सुकितोत्तरात्मशुद्धेर्बहिःस्नानमिवाङ्गशुद्धेः ॥ १२२ ॥

तत्रोन्नतनगरे स व्रतिनां वृत्रशत्रुर्वाचंयमवासवो हीरविजयसूरिस्तपोभिरेकाशननिर्विकृतिकाचाम्लचतुर्थषष्ठाष्टमादिभिः कृत्वा विचित्रां नानाविधां संलिख्यन्ते संतक्ष्यन्ते तुच्छीक्रियन्ते स्वकर्माप्यनयेति संलेखना तपोनुष्ठानविशेषस्तां वितेने करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अन्तरात्मनो जीवस्य शुद्धेर्निर्मलतायाः कर्मराहित्यस्य विधित्सया कर्तुमिच्छया उत्सुकित उत्कण्ठित इव । किमिव । बहिःस्नानमिव । यथा कश्चिदङ्गस्य बाह्यशरीरस्य शुद्धेर्विशुद्धताया विधित्सया विधातुमिच्छयोत्सुकितो बहिःस्नानं जलादिभिस्त्वङ्गालापह-सेवनं वितनुते ॥ इति संलेखना ॥

प्राचीनसूरीन्द्र इव प्रणीय संलेखनामेष विशिष्य सूरिः ।

आराधनां प्रारभतेति शान्तरसारविन्दैकविलासहंसः ॥ १२३ ॥

एष सूरिः इत्यग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण आराध्यन्ते सर्वव्यापारपरित्यागेन पुराकृतदुष्कृतमिथ्यादुष्कृतप्रदानेन च त्रिधापि अर्हदादयः सेव्यन्ते यस्यां सा आराधना तां प्रारभत प्रारब्धवान् । किंभूतः । शान्तनामा नवमो रसः उपशमलक्षणः स एवारविन्दैकविलासकमलं तत्रैकोऽद्वितीयो विलासः क्रीडा तत्राद्वैतखेलनविषये हंसो राजमरालः हंसोपमः आराधनां प्रारभत । किं कृत्वा । प्राचीनसूरीन्द्रो वज्रस्नानीप्रमुखपूर्वाचार्यं

इति विशेषप्रकारेण प्राकृतेभ्यस्तपोभ्योऽत्यभ्यधिकविषयां दुष्करतपोविशेषरूपां संले-
खनां कृत्वा ॥

अम्भोजनाभा इव ये त्रिलोक्याः सिषेविरे नीरधिनन्दनाभिः ।

भूता भविष्यन्ति वसन्ति सार्वस्ते मे शरण्याः शरणीभवन्तु ॥१२४॥

ते सर्वे सार्वस्तीर्थकरा अशरणाः शरणा भवन्त्विति शरणीभवन्तु त्राणाय जाय-
न्ताम् । कस्य । मे मम संसारभीरुः तस्य । किंभूताः । शरण्याः शरणागतवत्सलाः । पुनः
किंभूताः । अतीतायामुत्सर्पिण्यां केवलज्ञानिप्रमुखाः अथ वा अस्यामेवावसर्पिण्यामत्र भर-
तक्षेत्रे ऋषभदेवादिकाः पञ्चमारकापेक्षया चातुर्थारके पूर्वजातत्वादतीता एवोच्यन्ते ।
अनन्ताः संजाताः पुनर्ये भविष्यन्ति । अनागतकाले पद्मनाभादिमा उत्पत्स्यन्ते पुनर्ये
सन्ति सीमंधरस्वामिप्रमुखा इदानींतने काले विहरमाना विद्यन्ते । यत्तदोर्नित्याभिसंव-
न्धात्ते के । ये सार्वे अम्भोजनाभा नारायणा इव । 'यत्कमाश्चक्रिणो वा' इति जिनशतके
बहुत्वम् । त्रिलोक्या जगद्वयस्य नीरधिनन्दनाभिलक्ष्मीभिः सिषेविरे सेविताः ॥

यैरन्तरे ध्यानधनंजयस्य प्रज्वाल्य दुःकर्ममलं विशुद्धः ।

असर्जि जाम्बूनदवन्निजात्मा ते सन्तु सिद्धाः शरणं शरण्याः ॥१२५॥

ते सिद्धा मुक्तात्मानो निर्वाणं प्राप्ताः सत्त्वाः शरणमर्थान्मम त्राणाः सन्तु भवन्तु
संसाराद्रक्षका भवन्तु । किंभूताः । शरण्याः शरणे साधवः । 'तत्र साधौ हिते च यः'
इति यप्रत्ययः । ते के । यैः सिद्धैर्ध्यानं तदेव धनंजयो वह्निस्तस्यान्तरे मध्ये दुष्टानि
दुरन्ताधिव्याधिदुर्गतिरूपविपाककारित्वादशुभानि नृशंसानि कर्माणि तान्येव मलं किं
तं प्रज्वाल्य भस्मीकृत्य निजस्यात्मन आत्मा जीवो विशुद्धो निर्मलः कर्मरहितः अ-
सर्जि स्रष्टः कृतः । किंवत् । जाम्बूनदवत् । यथा दृषदादेर्मलं कृशानुना प्रज्वाल्य सुवर्णं
सृज्यते ॥

वितन्वते ये भ्रमरा इवात्मवृत्तिं स्मरं व्रन्ति च शंभुवद्ये ।

ते साधवः स्युः शरणं तपस्याधुरं धुरीणा इव धारयन्तः ॥ १२६ ॥

ते साधवः श्रमणाः । ममेति शेषः । शरणं स्युर्मवेयुः । किंभूताः । धुरीणा धौरेयकाः
वृषभा इव । तपस्याधुरं दीक्षायाः सर्वात्मना समग्रं क्रियाकलापादिप्रकारकरणरूपधुर्वो
धारयन्तः विभ्रतः । ये साधवो भ्रमरा मधुकरा इव आत्मवृत्तिं निजजीविकां माधुकरा
वृत्तिं वितन्वते कुर्वते । च पुनर्ये शंभुवदीश्वर इव जगद्विडम्बकं स्मरं व्रन्ति मदनं
व्यापादयन्ति ॥

मज्जज्जनस्यास्ति करावलम्ब इवातिभीमे भववारिधौ यः ।

भूयात्स धर्मः शरणं सुधांशुः सुधामिवान्तः करुणां दधानः ॥ १२७ ॥

स धर्मः शरणं भवभीतस्य मम रक्षको भूयात् । किंभूतः । अन्तर्मध्ये करुणां सर्वे-

तत्त्वेषु कृपां दधानः । अजिनाज्ञापूर्वकदयामयो धर्म इत्यर्थः । के इव । सुधांशुरिव । यथा चन्द्रो मध्ये निजमण्डलान्तराले सुधाममृतं धत्ते । यो धर्मः अतिभीमे अतिशयेन भीतिकारिणि भववारिधौ संसारसमुद्रे मज्जनस्य वृडतो लोकस्य करावलम्बो हस्ता-वलम्बनमिवास्ति । हस्ते गृहीत्वा कर्षतीत्यर्थः । यथा कश्चिदगाधजलनिधिमज्जन्तं कंचिजन्तुं हस्ताभ्यां गाढमादाय बहिः कर्षति तद्वदस्ते ॥ इत्यर्हत्सिद्धसाधुधर्माणां चतुर्णां शरणम् ॥

ज्ञाने ममाद्यौ समयादिकातीचाराः प्रमादा इव शुद्धधर्मे ।

शङ्कादिका अष्ट च दर्शनेऽतीचारा मदा देहभृतीव जाताः ॥ १२८ ॥

कर्माणि जन्ताविव ये ममातीचाराः पुनर्मातृगताश्चरित्रे ।

मिथ्यासतां ते बहुगर्ह्यवाचो व्याहारवन्मे निखिला इदानीम् ॥ १२९ ॥

ये ममाद्यौ अष्टसंख्याकाः ज्ञाने ज्ञानाचारे अतीचाराः संजाताः । किंभूताः । समयः कालः आदौ येषां कालविनयबहुमानोपधानहीननिहवव्यञ्जनार्थतदुभयहीना एतेऽष्ट ज्ञाना-तीचाराः । के इव । प्रमादा इव । यथा शुद्धे जिनभाषिते धर्मे मद्य-विषय-क्रोध-मान-मा-या-लोभ-निद्रा-विकथानामानोऽष्टप्रमादाः स्युर्धर्मविषयेऽस्मी प्रमादा भविनां भवेयुः । च पुनर्ये मम दर्शने सम्यक्त्वे दर्शनाचारे शङ्का-आकाङ्क्षा-विविकित्सा-मूढदृष्टता-अनुपम-वृंहणा-अस्थिरीकरण-असाधर्मिकवात्सल्य-अप्रभावना इत्यभिधाना अद्यौ अष्टप्रमाणा अतीचाराः संपन्नाः । के इव । यथा जने जाति-कुल-बल-ज्ञान-ऐश्वर्य-रूप-तपो-लब्धि-रूपा अद्यौ मदा भवन्ति । पुनर्ये चरित्रे चारित्राचारे अनिर्यासमिति-अभाषासमिति-अनेषणासमिति-अनादाननिक्षेपासमिति-अपारिष्टापनिकासमिति-अमानागुप्ति-अवच-नगुप्ति-अकायगुप्तिः इति संज्ञा मातृगता अष्ट प्रवचनमातृसंबन्धिनोऽतीचारा जाताः । कानीव । कर्माणीव । यथा जन्तौ प्राणिनिविषये ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोह-नीय-वेदनीय-अन्तराय-नाम-गोत्र-आयुः इत्यद्यौ कर्माणि जायन्ते । सांसारिके जीवे इति शेषः । ते निखिलाः सर्वेऽपि चतुर्विंशतिरतीचाराः इदानीमस्मिन्नायुरन्तसमये मम ते ममातीचारा मिथ्या मृषा आसतां भवन्तु । किंवत् । व्याहारवत् । यथा बहुगर्ह्यवाचो वाचालस्य । 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इति हैम्याम् । व्याहारा वचांसि मिथ्या जायन्ते । 'व्याहारो भाषितं वचः' इत्यपि हैम्याम् ॥ युग्मम् ॥

तपःसु ये द्वादशभेदभिन्नेष्वहर्मणीनामिव मण्डलेषु ।

वीर्येऽभवन्त्येऽत्र भवे ममातीचारप्रचाराश्च मृषासतां मे ॥ १३० ॥

द्वादशभिर्भेदैः प्रकारैः भिन्नेषु पृथक्पृथक्भूतेषु । अनशनम्, ऊनोदरिका, वृत्तिसंक्षेपः, सत्यागः, कायक्लेशः, संलीनता, इति षड्विधं बाह्यतपः । तथा प्रायश्चित्तम्, विनयः, वैद्यावृत्त्यम्, स्वाध्यायः, ध्यानम्, कायोत्सर्गश्च इति षड्विधं बाह्यतपः । संभूय द्वादशप्र-कारेषु तपःसु तपश्चाचारेषु समये अतीचाराणां प्रचारा विस्तारानि वा अभवन्

तपःसु । उत्प्रेक्ष्यते—द्वादशभेदभिन्नेषु द्वादशसंख्येषु अहर्मणीनां सूर्याणां मण्डलेषु बिम्बेष्विव । यथा आस्कराणां तेजो दुःसहं तथैव तपसामपि । तथा च यथा कर्मणां प्रभावस्तथा तपसामपीति । च पुनरत्र भवे अस्मिन् जन्मनि उपलक्षणादन्यस्मिन्नपि भवे ये मम वीर्यं वीर्याचारविषये अतीचारा अभवन् ते अतीचारा मे मम मृषा मिथ्या आसतां भवन्तु । सर्वेषामप्यतीचाराणां मम मिथ्यादुःकृतमस्त्वित्यर्थः ॥ इति पञ्चज्ञानाचारादिपञ्चाचारातीचारालोचनम् ॥

एकेन्द्रिया भूजलवह्निवायुवनान्यहन्यन्त मयाङ्गिनो ये ।

विभ्राम्यता भूरिभवेषु कर्मवशेन देशेष्विव दैशिकेन ॥ १३१ ॥

ये भुवः पृथिवीकायिका, जलान्यप्कायिका वह्नयस्तेजस्कायिका वायवो वायुकायिका वनानि वनस्पतिकायिका एकं स्पर्शनं शरीरं तल्लक्षणमिन्द्रियम् हृषीकं येषां ते एकेन्द्रिया अङ्गिनः पूर्वोक्ताः पञ्च स्थावराः प्राणिनः मया अहन्यन्त हताः । अत्र भवे अन्यत्र भवे वा इति शेषः । मया किं कुर्वता । कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनामष्टसंख्याकानां वशेनायत्तत्वेन भूरिध्वनन्तेषु भवेष्ववतारिषु विभ्राम्यता विशेषेण एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंख्यसंज्ञित्वेन चतुरशीतिलक्षजीवयोनिषु भ्रमणीं कुर्वता । केनेव । दैशिकेनेव । यथा पान्थेन कर्मणा स्वपरकार्याणां वशेनाधीनतया देशेषु विविधजनपदेषु पर्यटनं प्रणीयते ॥

संध्ये दिनानामिव जन्मिनां द्वे येषां हृषीके भवतो हतास्ते ।

मया जलौकःकृमिशुक्तिशङ्खमुखाः प्रमादैकवशंवदेन ॥ १३२ ॥

येषां जन्मिनां जन्तूनां द्वे द्विसंख्ये हृषीके स्पर्शनरसनलक्षणे शरीरजिह्वारूपे इन्द्रिये भवतः । केषामिव । दिनानामिव । यथा दिवसानां द्वे संध्ये दिनाननदिवसावसानलक्षणे पितृस्त्रौ स्याताम् । ‘संध्या तु पितृसूः’ इति हैम्याम् । ते जलौकसो जलसर्पिण्यः क्रमयः कीटका गण्डोलका वा शुक्तयो मुक्तास्फोटाः । ‘मुक्तास्फोटोऽन्धिमण्डूकी । शुक्तिः’ इति हैम्याम् । मुक्ताफलोत्पत्तिभुवोऽन्या वा । शङ्खाः कम्बवः ते मुखा मुखे वा आदौ येषां तादृशा द्वीन्द्रिया जीवा मया हता विरोधिताः । किंभूतेन मया । प्रमादोऽनवधानता तस्य एकमद्वितीयतया वशंवदेनाधीनेन । प्रमादिना इत्यर्थः ॥

विशां वयांसीव भवन्ति येषां त्रीणीन्द्रियाणीह शरीरभाजाम् ।

गोपालिकामत्कुणकीटिकाद्या व्यापादितास्ते तु मया कथंचित् ॥ १३३ ॥

येषां शरीरभाजां जीवानामिह संसारे जगति वा तिर्यग्गतौ वा त्रीणि स्पर्शनं शरीरं रसनं जिह्वा प्राणं नासिकालक्षणानि त्रिसंख्याकानि इन्द्रियाणि करणानि भवन्ति । कानीव । वयांसीव । यथा विशां मनुष्याणां त्रीणि वात्ययौवनवार्धक्यलक्षणानि वयांस्ववस्थाविशेषाः स्युः । ते गोपालिका धनेडिकानि धान्यकीटका मत्कुणकाः कीटि-

काश्च प्रसिद्धाः ते आद्याः पूर्वे येषां तादृशास्त्रीन्द्रिया जन्तवो देहिनो मया कथंचित्केन-
चन प्रकारेण जानता अजानता वा प्रमादिना सता व्यापादिताः ॥

चत्वारि येषां पुनरिन्द्रियाणि नाभीभवस्येव मुखानि सन्ति ।

ते मक्षिकाभृङ्गपतङ्गकर्णकीटोर्णनाभप्रमुखा हताश्च ॥ १३४ ॥

पुनर्येषामसुमतां चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणनयनलक्षणानि शरीरजिह्वानासिकालोचन-
रूपाणि चतुःसंख्याकानि इन्द्रियाणि अक्षाणि सन्ति । कानीव । मुखानीव । यथा
नाभीभवस्य ब्रह्मणः । 'नाभीमथैष श्लथवाससोऽस्याः' इति नैषधे दीर्घोऽपि नाभिश्चन्दः ।
प्राची-अपाची-प्रतीची-उदीचीलक्षणचतुर्दिक्संमुखानि वर्तन्ते । शकेण पष्टिसहस्रवर्ष-
कृततपःप्रभावात्स्वपदाभिकवेधस्तपोभ्रंशं विधातुं ग्रहिताप्सरोभिश्चतुर्दिक्प्रारब्धाखण्ड-
ताण्डवाडम्बरविलोकनकौतुकोत्कण्ठितचेताश्चतुर्दिक्षु चत्वारि वदनानि विदधाति स्मेति
शीलतरङ्गिण्याम् । ते मक्षिका मधुवननीलसामान्याः प्रसिद्धाः । यदुक्तम्—'सरघा
मधुमक्षिका । वर्वणा मक्षिका नीली पुत्तिका च पतङ्गिका ॥ वनमक्षिका तु दंशो दंशी
तज्जातिरल्पिका । तैलाटी वरटी गन्धोली' इति हैन्याम् । भृङ्गा भ्रमराः, पतङ्गाः
शलभाः 'टील' इति लोके प्रसिद्धाः, कर्णकीटाः शतपद्यः खर्जूरकाः, ऊर्णनाभाः जाल-
कारकाः 'कालियावडा' इति प्रसिद्धाः, ते प्रमुखा आदिमा येषु तादृशाश्चतुरिन्द्रियाः
पुनर्मया हता व्यापादिताः ॥

महाव्रतानीव मुनीश्वराणां पञ्चेन्द्रियाणीह भवन्ति येषाम् ।

पापार्धिकेनेव महीचरास्ते संप्रापिताः प्रेतपतेर्निकेतम् ॥ १३५ ॥

इह जगति संसारे वा येषां जन्तूनां पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रवणलक्षणानि श-
रीरजिह्वानासिकानयनकर्णरूपाणि पञ्चसंख्याकानीन्द्रियाणि भवन्ति । कानीव । महाव्रता-
नीव । यथा मुनीश्वराणां साधुसिन्धुराणां महान्ति कातरैरल्पसत्त्वैः सत्त्वैः मेरुवदुद्धर्तुम-
शक्यानि सर्वप्राणातिपातविरमण-सर्वमृषावादविरमण-सर्वादत्तादानविरमण-सर्वमैथु-
नविरमण-सर्वपरिग्रहविरमणलक्षणानि व्रतानि नियमविशेषाः पञ्च भवन्ति । ते च
पञ्चेन्द्रियास्त्रिविधाः सन्ति । एके स्थलचराः, एके जलचराः, तृतीयाः खेचराः । तानेव
प्रतिपादयति—महीचरा गोमहिषाजमृगशशशम्बरादिकाः स्थलचराः पञ्चेन्द्रिया
जीवा मया भवान्तरे प्रेतपतेर्यमस्य निकेतं मन्दिरं संप्रापिता गमिताः । केनेव ।
पापार्धिकेनेव । यथा आखेटिकेन लुब्धकेन मृगाद्याः पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाः कृतान्तनिकेतनं
नीयन्ते ॥

जीवान्तिकेनेव वियद्विहारा आलेख्यशेषत्वमवापितास्ते ।

कैवर्तकेनेव पयश्चरास्ते कथासु शेषत्वमवापिताश्च ॥ १३६ ॥

जीवान्तिकः शाकुनिको विहंगमघातुकः तेनेव वियति आकाशे विहारो विहरणं
गतिर्येषां ते खचराः । कलविङ्ककुक्कुटशुक्रसारिकाकाककपिजलचापखज्जनशिखण्डिकपो-

ताद्याः पञ्चेन्द्रिया जीवा आलेख्ये चित्रे शेषत्वमवशिष्टतां न तु प्राणेनतामवापिता भा-
रिताः । तथा कैवर्तकेनेव धीवरेणेव पयश्चरा जलचारिणो जीवास्ते पञ्चेन्द्रिया मत्स्य-
नक्रवक्रपाठीनपीठग्राहमकराद्याः कथासु वार्तासु आख्यानसंबन्धेषु शेषत्वमवशिष्टताम-
वापिता लम्बिताः । निहता इत्यर्थः । हिंसायां सर्वत्र जन्मान्तरापादनम् । अस्मिन्
जन्मनि तु संयतत्वात्तदभाव एवेति तात्पर्यम् ॥

अर्हन्निदेशादितसान्द्रचन्द्रचन्द्रातपोद्वेलकृपापयोधौ ।

मीनायमानेन मुनीन्दुनेव स्वात्मेव नामानि गणोऽङ्गभाजाम् ॥ १३७ ॥

पुनर्मया अङ्गभाजां प्राणिनां गणः समूहः स्वात्मेव निजजीव इव नामानि न गणितः ।
इदमपि प्राग्जन्मापेक्षयैव नास्मिञ्जन्मनीति शेषः । तदेव वक्ति—केनेव । मुनीन्दु-
नेव । यथा वैराग्यरङ्गतरङ्गितात्मना साधुसुधाकरेण अन्यतनूमधिकरः निजजीवसदृशो
गण्यते । किंभूतेन । मुनीन्दुना अर्हतां सर्वतीर्थकृतां निदेश आज्ञा स एवोदित उदयं
प्राप्तः सान्द्रश्लेहलोऽमृतवर्षा आश्विनपूर्णिमासंबन्धी चन्द्रः अखण्डमण्डलेन्दुस्तस्य
चन्द्रातपश्चन्द्रिका तेनोद्वेलो वेलामुलङ्घ्य यात उद्वेल उत्कण्ठितो यः कृपारूपः पयो-
धिस्तत्र मीनो मत्स्य इवाचरितस्तेन । दयार्द्रहृदयेनेत्यर्थः ॥ इति प्रथमव्रते प्राकृतजी-
वहिंसालोचनम् ॥

अमर्षणेनेव रुषा हसेन वैहासिकेनेव च भीरुणेव ।

भयेन लोभेन च गृध्रुनेव मया यदप्यल्पमजल्प्यलीकम् ॥ १३८ ॥

यन्मया इह भवे परभवे वा यदल्पं स्तोकमप्यलीकं मिथ्यावाक्यमजल्पि भाषितम् ।
कथा । रुषा रोषेण । केनेव । अमर्षणेनेव क्रोधनेनेव । यथा क्रोधातुरेण क्रोधेनालीकं
जल्प्यते । पुनः केन । हसेन हास्येन । केनेव । वैहासिकेनेव । यथा स्वभावातिभीरुकेण
मृषा भाष्यते । च पुनः केन । लोभेन तृष्ण्या । केनेव । गृध्रुनेव । यथा लोभेन
लोभाभिभूतेनासन्नं निगद्यते ॥ इति द्वितीयव्रते मृषावादालोचनम् ॥

ऋक्थं परेषां परिमोषिणेव मया कथंचिद्यददत्तमात्तम् ।

प्रयोजने सत्यपि यत्तृणाद्यं क्वचिद्विनादेशमुपाददे च ॥ १३९ ॥

यन्मया कथंचिकेनापि प्रकारेण अदत्तं केनापि स्वामिना अविश्राणितं परेषामन्ये-
षामृक्थं द्रविणं धनमात्तं गृहीतम् । केनेव । परिमोषिणेव । यथा तस्करेणादत्तं परद्रव्यमा-
दीयते । च पुनः प्रयोजने कार्ये सत्यपि विद्यमानेऽपि कृत्ये आदेशं स्वाम्यस्वामिनोर्वा
अनुज्ञां विना तृणाद्यं तृणशलाकाप्रमुखं क्वचित्कुत्रापि स्थाने उपाददे जगृहे स्वयं स्वी-
कृतम् ॥ इति तृतीयव्रते अदत्तादानालोचनम् ॥

मरुन्मृगाक्ष्या मरुतेव दिव्यं नार्या नरेणेव च मानवीयम् ।

मया तिरश्चेव पुनस्तिरश्चा तैरश्चमाचर्यत मैथुनं यत् ॥ १४० ॥

मरुन्मृगाक्ष्या देवाङ्गनया समं दिव्यं देवतासंबन्धि यन्मया मैथुनमाचर्यत भोगः
कृतः । केनेव । मरुतेव । यथा चतुर्निकायादिदेवेन देव्या सार्धं निधुवनं विधीयते । पुन-
नार्या मनुष्ययोषिता साकं मानवीयं मानवसंबन्धि मैथुनं कामकेलिराचर्यत आचीर्णा ।
केनेव । नरेणेव । यथा नरेण नार्या समं कन्दर्पक्रीडा क्रियते । पुनस्तिरश्चा तिर्यग्जाती-
यया स्त्रिया सत्रा तैरश्चयं तिर्यक्संबन्धि मैथुनं ग्राम्यधर्मं आचर्यत विहितम् । केनेव ।
तिरश्चेव । यथा तिर्यग्जातीयेन पुरुषेण तिरश्चा समं मैथुनं पशुक्रिया क्रियते । सर्वत्र
इह भवेऽन्ये भवेऽपीति योज्यम् ॥ इति चतुर्थव्रते मैथुनालोचनम् ॥

सखीमिव स्वःशिवपद्मधाम्नोर्निरीहतां मुग्धतया विहाय ।

दूतीमिवावृत्य च दुर्गतीनामृद्धिं मयादायि परिग्रहो यत् ॥ १४१ ॥

यन्मया परिग्रहो धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिक आदायि स्वीकृतः । किं कृत्वा । स्वःशि-
वपद्मधाम्नोः स्वर्गापवर्गलक्ष्म्योः सखीं वयसीमिव निरीहतां निःस्पृहभावं विहाय वि-
मुच्य । कया । मुग्धतया सौगध्येनाज्ञानेन । च पुनर्दुर्गतीनां दुष्टानां महाधिव्याधिविधा-
त्रीणां नारकतिर्थकुदेवकुमनुजलक्षणानां गतीनां दूतीमाकारणसंदेशहारिकामिव कृद्धिं
प्राप्ताप्राप्तेषु वस्तुषु सर्वेष्वैहलौकिकपदार्थेष्व्वासक्तिमाहत्याङ्गीकृत्य । तस्यामादरपरिभूये-
त्यर्थः ॥ इति पञ्चमव्रते परिग्रहालोचनम् ॥

मरुद्गुमान्मेरुरिवेन्द्रियाणि प्राणीव बाणानिव पञ्चबाणः ।

मुखान्यथा पञ्चमुखश्च सम्यङ्नाधारयं पञ्चमहाव्रतान्यत् ॥ १४२ ॥

यदहं पञ्चमहाव्रतान् मेरुपमान्नियमविशेषान् । व्रतशब्दः पुनपुंसके । सम्यक् त्रि-
करणशुद्ध्या नाधारयं न धृतवान् । क इव । मेरुरिव । यथा काञ्चनाचलः कल्पपारिजातम-
न्दारहरिचन्दनसंतानाभिधानान्पञ्चसंख्याकान्मरुद्गुमान् कल्पवृक्षान् धारयति । पुनः
क इव । प्राणीव । यथा जन्तुः शरीररसनानासिकानयनश्रवणलक्षणानि पञ्चेन्द्रियाणि
धत्ते । पुनः क इव । पञ्चबाण इव । यथा मदनः संमोहन-उन्माद-तापन-शोषण-
मारण-इति नाष्टः । तथा क्वचित् 'दिद्वीहिं दिद्विपसरो दिद्विपसारणभाव अणुराओ ।
अणुराएण विनेहो बाणा मयणस्स पञ्चेए ॥' एतेऽपि पञ्च बाणाः प्रोच्यन्ते । पञ्चप्रमा-
णान्बाणान् सायकान्दधाति । पुनः क इव । पञ्चमुख इव । अत्र यथा इवार्थे । यथा
नीलकण्ठः कण्ठीरवो वा पञ्चमुखान् धरति । मुखशब्दोऽपि पुनपुंसके । एवं यथा
मेरुमनुष्यमदनपारीन्द्रपिनाकिनः कल्पद्रुमेन्द्रियमार्गणमुखानि धारयन्ति तथा अहं
पञ्च महाव्रतान्नाधारयमित्यर्थः ॥ इति पञ्चव्रताधारणलोचनम् ॥

निशाचरेणेव निशाशनं यन्मया कथंचित्प्रविधीयते स्म ।

कौसीद्यमाद्यन्मनसेव किंचिच्छैथिल्यमालम्ब्यत यत्क्रियासु ॥ १४३ ॥

मया कथंचित्केनचिन्मिथ्याज्ञानमूढतादिप्रकारेण निशाचरेणेव राक्षसेनेव निशाशनं
तन्निर्भोजनं प्रविधीयते स्म । पुनर्यत्क्रियासु चारित्रानुष्ठानकरणेषु शैथिल्यं शिथि-

लता किञ्चित्कृतं किञ्चिन्न कृतं किञ्चिदिष्यते किञ्चिच्च क्रियते इत्याद्यं श्रुत्वा त्वमालम्ब्यत ।
केनेव । कौसीयेनालस्येन मायदुन्मत्तीभवन्मनश्चेतो यस्य तादृशेन पुंसेव । यथा अलसेन
सर्वं कार्यं श्रुतीक्रियते ॥ इति षष्ठव्रते रात्रिभोजनक्रियाशैथिल्यालोचनम् ॥

प्रमादभाजा नियमा मया ये बभञ्जिरे आन्तिभृता भवेषु ।

छायाद्भुमं गण्डगलन्मदान्धं भविष्णुनेवोद्धुरसिन्धुरेण ॥ १४४ ॥

प्रमादमालस्यं शिथिलतां वा अनवधानतां वा मन्दभावं वा भजतीति प्रमद्वरेण
प्रमत्ततायुक्तेन मया नियमा अभिग्रहविशेषा बभञ्जिरे भग्नाः गृहीत्वा मुक्ताः । किंभू-
तेन मया । भवेषु कर्मवैचित्र्यान्नानाविधजन्मपरम्परासु भ्रान्ति भ्रमणीं विभर्तीति भ्रा-
म्यतेत्यर्थः । केनेव । उद्धुरसिन्धुरेणेव । यथा गण्डयोः कपोलस्थलयोर्गलद्भिरनवरतनि-
ष्पतद्भिर्मदैः दानवारिभिरन्धं भविष्णुनागतनयनीभवनशीलेन विचेतनीभावुकैः मद्भुदो-
द्धुरसिन्धुरेण उन्मादोत्कटकरटिना गम्भीरवेदिद्विरदेन छायाया उपलक्षितास्तरवो येषां
कदाचिदपि परावृत्तिं न भजते, पूर्वस्यां पश्चिमायां दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च नायाति,
यथास्थानमवस्थितैव तिष्ठति । अथ वा पल्लवपत्रपुष्पफलप्रमुखसुषमाविभूषितास्ते छा-
याद्भुमा भज्यन्ते ॥ इति सर्वनियमविरोधनालोचनम् ॥

अपेक्षया पञ्चमहाव्रतानां स्वर्भूधराणामिव भूधरेषु ।

अणुष्वहर्बन्धुमितव्रतेषु मया विराड्गं गृहमेधिना यत् ॥ १४५ ॥

गृहमेधिना गृहस्थेन सता मया यदहर्बन्धवः सूर्या द्वादशादित्याः तैर्मितानि प्रमाणी-
कृतानि व्रतानि द्वादशव्रतानि । स्थूलप्राणातिपातविरमणम्, स्थूलमृषावादविरमणम्,
स्थूलादत्तादानविरमणम्, स्वदारसंतोषपरस्त्रीविधवावेश्याकन्याभिगमनादिविरमणम्, इ-
च्छा-परिग्रहः-परिमाणम्, सर्वदिग्गमनादिविरमणं प्रमाणं च, भोगोपभोगप्रमाणम्,
अनर्थदण्डविरमणम्, सामायककरणम्, प्रतिदिनं निशां च देशावकासिकं दिगवकाश-
करणम्, पर्वादिषु पोषधौपवासविधानम्, अतिथिसंविभागविधानम्, इत्यभिधानेषु
गृहस्थानां पञ्चाणुव्रतानि । त्रीणि गुणव्रतानि । चत्वारि शिक्षाव्रतानि । इति द्वादशसु
व्रतेषु यत्किञ्चिन्मया विराड्गम् अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतीचार-अनाचाराचरणादिना
विराधना कृता । किंभूतानाम् । पञ्चानां महाव्रतानामपेक्षया । पञ्चमहाव्रतेषु हि सर्वथैव
सर्वेभ्योऽपि प्रोक्तवस्तुभ्यो विरमणम् । द्वादशव्रतेषु तु देशत एव न सर्वतः । इत्यपे-
क्षया अणुषु द्वस्त्रेषु लघुषु । केष्विव । भूधरेष्विव । यथा स्वर्भूधराणां मेरूणां लक्षयो-
जनप्रमाणत्वेन महत्त्वं महत्त्वाच्च बहुवचनम् । अपेक्षया अपरेषु भूधरेष्वणुलं लघुतास्ते
सुदर्शनमेवं विना केष्वपि गिरिषु लक्ष्योजनप्रमाणता नास्ति ॥

संसाधकेषु त्रिदिवापवर्गदुर्गस्य योगेष्विह योगिनेव ।

वीर्यं प्रयुक्तं न मया कथञ्चित्प्रमादमन्दीकृतमानसेन ॥ १४६ ॥

इह भवे मया योगेषु यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिनामाष्टाङ्गवत्सु योगेषु । अथ वा मनोयोग-वचोयोग-काययोगलक्षणेषु विविधेषु । अथ वा सत्यमनोयोग-असत्यमनोयोग-मिश्रमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोग-सत्यवचनयोग-असत्यवचनकाययोग-मिश्रवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोग-औदारिकाययोग-औदारिकमिश्रकाययोग-विक्रियाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-आहारकाययोग-आहारमिश्रकाययोग-कामेणयोग इत्यपि मनोवाक्कायैः कृत्वा पञ्चदशधापि योगा योजनानि । गुज्यन्ते धावनवल्गनक्रियासु व्यापार्यतेऽसाविति वा गुज्यन्ते संवध्यन्ते वल्गनक्रियाया जीव एभिरिति वा व्युत्पत्तिमात्रं योगो वीर्यं शक्तिः । उत्साह इति यावत् । योगेषु मोक्षप्राप्तिकरणीभूतेषु ध्यानविशेषेषु च मया वीर्यं पुरुषकारो न प्रयुक्तः सम्यगुद्यमो न विहितः । केनेव । योगिनेव । यथा योगभाजा आसन्नोत्पत्त्यमानकेवलज्ञानेन क्षपकश्रेणिमारूढेन योगेषु यत्नः क्रियते । किंभूतेषु योगेषु । त्रिदिवं स्वर्लोकस्तद्युक्तोऽपवर्गो मोक्षः स एव दुर्गः दुःखेन गम्यते प्राप्यते गृह्यते वा पर्वतादिविषमस्थानस्थकोटस्तस्य संसाधकेषु आत्मायत्तीकारकेषु मया कथंचित् गुर्वादिप्रेरणया पञ्चेन्द्रियपाटवशरीरसामर्थ्यसहायकरणसामग्र्यापि प्रमादेन अनवधानतया आलस्येन वा मन्दीकृतं क्रियानुष्ठानकरणेषु कुण्ठीकृतं मानसं मनो येन यस्य वा ॥

एतद्यदन्यच्च मयार्जि पापमस्मिन्भवेऽन्येषु पुनर्भवेषु ।

अधर्मिणानर्थ इव त्रिधापि निन्दामि सम्यक्तदहं समग्रम् ॥ १४७ ॥

अस्मिन् वर्तमाने भवे जन्मनि पुनरन्येष्वतिक्रान्तेष्वनन्तेषु भवेष्ववतारेषु मया प्रान्तावस्थास्थायुकेन एतत्पूर्वोक्तमन्यदितरद्विस्मृतमविस्मृतं वा यत्पापं दुष्कृतमार्जि उपाजितं स्यात् । केनेव । अधर्मिणेव । यथा अधर्मकारिणा पापिना पुंसा अनर्थः परघात-परदारगमनपरद्रव्यापहारादिरुत्पातः क्रियते तत्समग्रं सर्वमपि पापं दुष्कृतं त्रिधापि मनोवाक्कायैरपि त्रिकरणशुद्ध्या इदानीं निन्दामि आत्मसाक्षिकं गृह्णामि देवगुरुसाक्षिकं व्युत्सृजामि ॥ ‘एकेन्द्रियाः-’ (१७।१३१) इत्यत आरभ्य ‘एतद्यत्-’ (१७।१४७) इति पर्यन्तं निन्दनादिना सप्तदशभिः कुलकम् ॥

अष्टादशाब्रह्मवदहंसां तु स्थानानि यान्याचरितानि पूर्वम् ।

तान्यप्यशेषाणि मृषा भवन्तु क्षणाद्यथा द्यूतकृतां वचांसि ॥ १४८ ॥

तु पुनरष्टादशसंख्याकानि अहंसां पापानां स्थानानि प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-कलह-अत्याख्यान-पैशुन्य-रत्नरति-परपरीवाद-मायामृषा-मिथ्यात्वशक्त्य इत्यष्टादश पापस्थानानि । पूर्वमस्मात्प्रस्तावान्मयाचरितानि यानि स्वयंकृतानि परैर्वा कारितानि अष्टादशसंख्याकानि । किंवत् । अब्रह्मवत् । यथा मनसौदारिकाब्रह्म न करोमि, वचसौदारिकाब्रह्म न करोमि, कायेनौदारिकाब्रह्म न करोमि, मनसौदारिकाब्रह्म न कारयामि, वचसौदारिकाब्रह्म न कार-

यामि, कायेनौदारिकाब्रह्म न कारयामि, मनसौदारिकाब्रह्म नानुमोदे, वचसौदारिकाब्रह्म नानुमोर्दे, कायेनौदारिकाब्रह्म नानुमोदे, इत्यौदारिकेन मनोवाक्कार्यैः करणकारणानुमो-
दनैर्नव भेदाः । तथैव वैक्रियेण सममनया रीत्या नव भेदा भवन्ति । संघीभूय सर्वेऽप्य-
ष्टादश जाताः । एवमष्टादश ब्रह्मस्थानानि । अथ तान्यशेषाणि समस्तान्यपि अष्टादश
पापस्थानानि क्षणान्निमेषमात्रादपि मृषा मिथ्या भवन्तु । कानीव । वचांसीव । यथा
वृतकृतां दौरोदरिकाणां वचनानि क्षणान्मिथ्या भवन्ति ॥

कोपं हृदः शल्यमिव प्रहाय सत्त्वानशेषान्क्षमयामि सम्यक् ।

मयार्दिताः प्राणिह वैरिणेव क्षाम्यन्तु ते मय्यनुदीतवैराः ॥ १४९ ॥

एतस्यामवस्थायामहमशेषान् समस्तान् सप्त लक्षाः पृथ्वीकाययोनयः, सप्त
लक्षाः अप्काययोनयः, सप्त लक्षाः तेजस्काययोनयः, दश लक्षाः प्रत्येकवनस्पति-
काययोनयः, चतुर्दश लक्षाः अनन्तवनस्पतिकाययोनयः, द्वे लक्षे द्वीन्द्रियाणां योनयः,
द्वे लक्षे त्रीन्द्रिययोनयः, द्वे लक्षे चतुरिन्द्रिययोनयः, चतस्रो लक्षाः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां
योनयः, चतस्रो लक्षाः नारकाणां योनयः, चतस्रो लक्षाः देवानां योनयः, चतुर्दश
लक्षा मनुष्याणां योनयः । एवं सर्वा अपि संमिलिताः सन्त्यश्चतुरशीतिलक्षजीवयोनयो
भवन्ति । एतांश्चतुरशीतिलक्षयोनिसत्त्वान् सत्त्वान् जीवान् सम्यक् मनोवाक्कार्यैः कृत्वा
क्षमयामि पादयोर्लंगित्वा ममापराधं तितिक्षे विनयामि । किं कृत्वा । हृदो हृदया-
त्कोपं क्रोधं प्रहाय संयज्य । किमिव । शल्यमिव । यथा केनापि प्रकारेण केनचिद्वै-
रिणा परमवैरेण कृत्वा हृदि विषये निक्षिप्तमायसशस्त्रं नाराचं वा शङ्कुं वा काष्ठघटित-
कीलिकां वा उद्ध्रियते । तथा ये सत्त्वा मया प्राग्जन्मनि इहास्मिन् भवे वा वैरिणेव शत्रु-
णेव अर्दिताः पीडिताः ते सर्वे मां क्षाम्यन्तु मयिविषये क्षमां कुर्वन्तु । उपशाम्यन्ति-
त्यर्थः । किंभूताः । अनुदीतवैराः मयि विषये अप्रकटितविरोधाः मुक्तविद्वेषाः क्षाम्यन्तु ॥

मैत्री मम स्वेष्विव सर्वसत्त्वेष्वास्तां क्षितिस्वर्बलिवेश्मजेपु ।

धर्मोऽर्जितो वैभववन्मया यस्तं प्रीतचेता अनुमोदयामि ॥ १५० ॥

क्षितिः भूलोकः, स्वर्देवलोकः, बलिवेश्म पाताललोकः, तेषु जायन्ते स्मेति क्षितिस्व-
र्बलिवेश्मजास्तेषु त्रिजगज्जन्मसु सर्वतिर्यङ्मुरनागासुरव्यन्तर्ज्योतिर्वैमानिकनाकिनामसक-
लसत्त्वेषु समस्तजन्तुजातेषु विषये मम मैत्री सखिता आस्ताम् । केष्विव । स्वेष्विव । यथा
आत्मीयजनेषु सख्यं स्यात् । अथवा 'मैत्री मम स्वैरिव सर्वसत्त्वैरास्तां क्षितिस्वर्बलिवेश्म-
जातैः' इति पाठः । तत्र स्वर्बलिवेश्मजातैः सर्वसत्त्वैः सार्धं स्वैरिव मम मैत्री अस्तु ।
पूर्वपाठस्तु 'मिती मे सव्वभूएसु' इति प्रतिक्रमसूत्रानुसारेण । अथ पुनरर्थः—यो
मया वैभववत् संपन्निरिव धर्मोऽर्जितः संचितः । प्रीतचेताः हृष्टमनाः सन् तं धर्मं पुण्यं
सुकृतमनुमोदयामि प्रशंसामि ॥

वृन्दं द्रुमाणामिव पुष्पकालाद्यस्मादृतेऽन्यद्विफलं व्रतादि ।

शुभः स भावोऽस्तु ममापवर्गमार्गानुलमाङ्गभृतां सहायः ॥ १९१ ॥

यस्मात् शुभभावादृते विना अन्यदितरद्वतादि सर्वेनियमचारित्रादिपालनप्रमुखं सकलमपि विफलं वन्द्यमेव । किमिव । वृन्दमिव । यथा पुष्पकालाद्वसन्तसमयादृते समस्तं द्रुमाणां पादपानां वृन्दं कदम्बकं निष्फलं भवेत् । स शुभो भावो ममास्तु निर्मलपरिमाणो मम भवतु । किंभूतः । अपवर्गो मोक्षः अर्थान्नगरं तस्य मार्गः पन्थाः तत्रानुलमा-स्तमनुप्रस्थिता येऽङ्गभृतो भव्यजनास्तेषां सहायः ॥ .

भुक्तेन येनात्र कदाचिदात्मा न दारुणा वह्निमिवाप तृप्तिम् ।

शिवंगमीव स्वजनानुषङ्गं कृत्स्नं तमाहारमहं जहामि ॥ १९२ ॥

अहं तं त्रिजगत्प्रसिद्धं यच्छब्दसंबद्धं च कृत्स्नम् अनशनपानखादिमत्खादिमरूपं सर्व-जातीयं चतुर्विधाहारं जहामि । अत्र पानशब्देनापरपानकादि गृह्यते । जलमुत्कलं त्यजामि । क इव । शिवंगमीव । यथा मोक्षं गमिष्यतीत्येवंशीलो नीरागः पुमान् सर्वस्वजनानां निजकुटुम्बानामनुषङ्गं निजपरिजनवर्गस्य संबन्धं जहाति । स कः । अत्र जगति संसारे वा येनाहारेण भुक्तेन भक्षितेन कृत्वा कदाचित्कस्मिन्नप्यतीता-नागतवर्तमानलक्षणे काले आत्मा जीवस्तृप्तिं संतोषं नाप न लेभे । क इव । वह्निव । यथा दारुणा काष्ठेन । जातावेकवचनम् । हुताशो न तृप्यति । यदुक्तम्—‘नाग्निस्तृ-प्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः’ इति ॥

सप्तास्ति यः पद्ममिवाष्टसिद्धिः श्रीणां जगत्कल्पितकल्पसालः ।

अलीव पद्मे रमतां मदीये चित्ते चिरं श्रीपरमेष्ठिमन्त्रः ॥ १९३ ॥

स श्रीपरमेष्ठिमन्त्रः श्रीमन्मस्कारश्चिरमासंसारं यावन्मदीये चित्ते रमतां मम मानसे हंसवत्खेलतु । क इव । अलीव । यथा भृङ्गो भ्रमरः पद्मे विकसितकमले सुचिरं रमते । स कः । यः श्रीनमस्कारः अष्टानाम् अणिमा-वशिता-ईशित्वं-प्राकाम्यं-महिमा-लधि-मा-कामावसायित्वं-प्राप्तिः इत्यभिधानामपरासां वा मनःकल्पितानामष्टानां महासिद्धी-नामेव श्रीणां लक्ष्मीणां पद्ममिव स्मेरत्कमलमिव सद्य वाससौधमस्ति । पद्मवासेति लक्ष्म्या अभिधानत्वात् । परमेष्ठिमन्त्रो जगतां त्रिभुवनजनानां कल्पितेषु कामितेषु कल्पसालः वाञ्छितसंपूरणे कल्पद्रुमोऽस्ति ॥

वाध्रीणसस्येव विषाणमेको वर्तते मे कश्चन वर्ततेऽन्यः ।

पुनर्धरित्र्या इव वृत्रशत्रुः कस्यापि न स्यामहमत्र विश्वे ॥ १९४ ॥

अत्र विश्वे अस्मिन्नगति अहमेको वर्ते । किमिव । विषाणमिव । यथा वाध्रीणसस्य खड्गिनः गण्डको वन्यजीवविशेषजीवविशेषं तस्य विषाणं शृङ्गमेकमेव भवति । यदुक्तं कल्पसूत्रे—‘खगिसिगच्चणगे’ इति । तथा मे मम कश्चन कोऽप्यन्यः परो न वर्तते नास्ति ।

पुनरत्र भुवने अहं कस्यापि न स्यां भवेयम् । अहं कस्यापि नास्मीत्यर्थः । क इव । वृत्र-
शत्रुर्विव । यथा धरित्र्या भूमेः शक्रो राजा कस्यापि न स्यान्न भवेत् । 'काके शौक्ल्यं
यूतकारेषु सत्यं सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः । क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥' इति वचनात् ॥

भवेन्मदीयेन्द्रियमन्दिरस्य यदि प्रमादोऽवसरेऽत्र दैवात् ।

त्रिधापि देहादिममात्मनाहं परिग्रहं बाह्यमिव त्यजामि ॥ १९५ ॥

यदि अत्रावसरे अस्मिन् प्रस्तावे दैवात्कर्मयोगादायुःकर्मणल्लुटेः क्षयान्मदीयेन्द्रिय-
मन्दिरस्य मत्संबन्धिनः शरीरस्य । 'जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम्' इति नैषधे । प्रमादो
नाम जीवेन समं वियोगो भवेत् । मरणं स्यादित्यर्थः । तदाहमात्मना स्वयमेव देहादिमं
कायप्रमुखमन्तरङ्गपरिग्रहं क्रोधमानमायालोभादिपरीवारोपध्यादिकं सर्वमपि त्रिधा
मनोवाक्यैः कृत्वा त्रिकरणशुद्धयै त्यजामि मुञ्चामिव । कमिव । बाह्यमिव । यथा
बहिर्भावो बाह्यः स चासौ परिग्रहश्च पुत्रकलत्रभ्रातृधनधान्यादिपरिग्रहः सर्वस्वको-
ऽस्ति, तथा वपुराद्यपि व्युत्सृजामीति ॥ इत्याराधनाविधानम् ॥

शमी शमीगर्भमिवैकतानमना दधानः प्रणिधानमन्तः ।

अर्हत्समक्षं दशमी दशम्यां व्यधाद्विधिज्ञोऽनशनं शमीशः ॥ १९६ ॥

शमिनां प्रशमवतां योगिनामीशः स्वामी यतिपतिर्दशम्यां तिथौ यावज्जीवं त्रिविधा-
हारपरित्यागरूपमनशनं व्यधाच्चकार । कथम् । अर्हत्समक्षं भगवत्प्रत्यक्षं प्रति पुरस्तात्प्र-
त्याख्यानोच्चारपूर्वम् । दशमी वर्षीयान् प्रान्तावस्थावस्थितान् । 'निशि दशमितामालिङ्ग-
न्यां विबोधविधित्सुभिः' इति नैषधे । निशाया अवसानसमये दशमितेति पदं दृश्यते ।
पुनः किंभूतः । विधिज्ञः शास्त्रोक्तप्रकारवेत्ता प्रान्तसमये अनशनं विहितं विलोक्यते इति
वा विधिः । किं कुर्वाणः । अन्तर्मनोमध्ये प्रणिधानं पञ्चपरमेष्ठिध्यानं दधानो विभ्राणः ।
किलक्षणः सन् । एकतानं लयानुगं मनो मानसं यस्य तादृशः सन् । कमिव । शमीगर्भमिव ।
यथा शमीद्रुमः खेजडिकाभिधानपादपः शमीगर्भं पावकमन्तर्धत्ते । 'अर्चिः शमीगर्भत-
मोग्रशुक्राः' इति हैम्यामग्निनामसु । तथा 'शमीसिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्' इति रघ्वा ॥

अथ सप्तभिः कुलकं प्रारभ्यते—

भोक्तुं भुवं द्यां च समं मघोनो द्वितीयरूपादिव विक्रमार्कात् ।

नेत्रत्रिनेत्राननकेकियानवक्रत्रियामापतिसंमितेऽब्दे ॥ १९७ ॥

तत्र पञ्चमीमक्षमालां गणयितुमारभतेति संबन्धः । आदित एव काव्यानि पृथक्
पृथक् व्याख्यायन्ते । नेत्रे द्वे चक्षुषी, त्रिनेत्रस्येश्वरस्याननानि मुखानि पञ्च । 'पञ्चमुखो-
ऽष्टमूर्तिः' इति हैमीवचनात् पञ्चसंख्याकानि वदनानि, तथा केकियानस्य मयूरवाहनस्य
स्वामिकार्तिकस्य वदनानि वक्राणि षट् । षण्मुखत्वात् । तथा त्रियामापतिश्चन्द्र एकः । एभिः
पदार्थैः संमिते सम्यक्प्रमाणीकृते अब्दे वर्षे । कस्मात् । विक्रमार्कात् विक्रमादित्यनाम्नो

नृपात् । उत्प्रेक्ष्यते—मघोन इन्द्रस्य द्वितीयरूपादिव अपरशरीरादिव । किं कर्तुम् । वां देवलोकं च पुनर्भुवं भूमण्डलं समं सार्धमेककालं भोक्तुं पालयितुं मुक्तिविषयीकर्तुं वा । एतावता विक्रमार्कात् द्विपञ्चाशदधिकषोडशशतप्रमाणे वर्षे संवत् १६५२ वर्षे इत्युक्तम् ॥

नभस्यमासस्य नमत्पयोदकदम्बकाडम्बरिणो नभोवत् ।

प्रभोः प्रभावादिव शुभ्रितायां तिथौ सुरद्वेषिनिषूदनस्य ॥ १९८ ॥

सुराणां देवानां द्वेषिणो वैरिणो दानवाः । ‘असुरा दितिदनुजाः पातालौकःसुरा-
रयः’ इति हैम्याम् । तेषां निषूदनस्य उच्छेदकस्य हरेः । ‘दैत्यारिश्च पुराणयज्ञपुस्त-
षस्ताक्षर्यध्वजः’ इति हैम्याम् । तिथौ दिवसे एकादशीदिने । किंभूतायां तिथौ । शुभ्रि-
तायामुज्ज्वलीभूतायाम् । अर्धाच्छन्द्रमसश्चन्द्रिकाभिर्ध्रुवलितायाम् । तिथिशब्दः पुंस्त्रीलिङ्गे ।
उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्होराविजयसूरेः प्रभावान्महिम्नो माहात्म्यात् शुभ्रितायामिव । तिथिः
कस्य । नभस्यमासस्य नभस्यो भाद्रपदसंज्ञो मासस्तस्य । ‘श्रावणिकोधनभस्यः प्रोष्ठभाद्रपदः
पदः’ इति हैम्याम् । किंभूतस्य । नमन्तः पयोभरैर्नग्रीभवनन्तो भूमौ लग्नन्तो ये पयोदा
मेघास्तेषां कदम्बकानि पटलानि तेषामाडम्बरः आटोपः अस्यस्मिस्तस्य किंवत् । नभो-
वत् श्रावणमासस्येव । श्रावणभाद्रपदमासौ वर्षा ऋतुः । यथा श्रावणे तथा भाद्रपदे यथा
भाद्रपदे तथा श्रावणे मेघः स्यादिति । तथा ‘नभोनभस्यत्वमलम्भयदृशौ’ इति नैषधे ।
सेवनावसरे दमयन्त्याः खट्वशौ श्रावणभाद्रपदीकृते । अयं तु वर्षाऋतुत्वान्मासस्वभावः ।
एकादशी तु स्वभावेनोज्ज्वला । तत्रेयमुत्प्रेक्षा । अथ वा नभोवद्गगनस्येव । यथा प्रावृद्ध-
काले नभो व्योम घनघनाघनमण्डलाडम्बरितं भवेत् ॥ एतावता भाद्रपदमाससितैकाद-
शीतिथौ निशासमये ॥

कान्ते तमीनामुदिते मुनीन्दोस्तत्प्रक्रमे वक्रदिदृक्षयेव ।

स्फुरत्सु तारेषु गुरोः पथीव यातुर्दिवं क्षिप्तसुमेषु देवैः ॥ १९९ ॥

पुनस्तमीनां रात्रीणां कान्ते वल्लभे चन्द्रे उदिते सति उदयं प्राप्ते सति । उत्प्रेक्ष्यते—
तत्प्रक्रमे तस्मिन्नवसरे अनशनिनो मुनीन्दोर्होराविजयसूरेर्वक्रस्य वदनस्य दिदृक्षया द्र-
ष्टुमिच्छयेव । पुनस्तारेषु उपलक्षणाद्ब्रह्मक्षत्रतारकेषु स्फुरत्सु दीप्यमानेषु झगज्जगिति
कुर्वत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—दिवं स्वर्गलोकं यास्यति गमिष्यतीत्येवंशीलस्य यातुर्गुरोर्होरासूरेः
पथि मार्गे देवैः क्षिप्तेषु विकीर्णेषु सुमेषु पुष्पेष्विव पुष्पप्रकरेष्विव ॥ घनोपरोधनिर्मु-
क्तग्रहनक्षत्रतारकलितकौमुदीकान्तोदये जाते ॥

महेभ्यवत्संनिविशालमानानाकार्यं कार्यज्ञतयानगारान् ।

तदैहिकामुष्मिकसर्वशर्मनिर्माणदक्षाः प्रवितीर्य शिक्षाः ॥ १६० ॥

एवंविधे व्यतिकरे सति । किं कृत्वा । कार्यं जातावसरे कृत्याकृत्यविधिं जानातीति
कार्यज्ञस्तस्य भावस्तया शिक्षाप्रदानादिषु निपुणत्वेन संनिधौ समीपे शालमानान् शोभ-

मानान् । किंवत् । महैभ्यवत् यथा महाव्यवहारिणः सद्भिर्विद्यमानै रत्नादिभिः शोभ-
मानैर्वो निधिभिर्निधानैः शालन्ते राजन्ते तान् तादृशाननगारान् निजपारिपार्श्वका-
न्मुनीनाकार्याद्वय पुनस्तेषामाकारितयतीनामैहिकानीहलोकसंबन्धीनि आमुष्मिकाणि
परलोकसंबन्धीनि सर्वाणि समस्तानि शर्माणि सुखानि तेषां निर्माणे करणे दक्षाः कु-
शलाः शिक्षा अनुशास्तीः प्रवितीर्य दत्वा ॥

अहो युवाभ्यां विजयादिसेनव्रतिक्षितीन्द्रान्प्रति वाच्यमेतत् ।

युष्माकमङ्गेऽस्ति गणोऽखिलोऽपि स शासनीयः शिशुवत्स्वकीयः ॥ १६१ ॥

अहो इति संबोधने । विमलहर्षसोमवाचकौ युवाभ्यां संभूय विजय इति पदमादौ
यस्य तादृशः सन् एतावता विजयसेननाम्नः व्रतिक्षितीन्द्रान् साधुवसुधाधिपान् प्रति
एतदुच्यमानं वाच्यं कथनीयम् । तदेवोच्यते—अखिलोऽपि समस्तोऽपि गणस्तपागच्छो
युष्माकं श्रीमतामङ्गे उत्सङ्गेऽस्ति वर्तते । स तपागच्छश्रमणगणः शासनीयः सम्यक्
पालनीयः । किंवत् । शिशुवत् । यथा स्वकीयो बालः पाल्यते । गणः किंभूतः । स्व-
कीयो गुरुपरम्परया आगतः । आत्मीयः अथ श्रीमदीयः ॥

श्रीवाचकेन्द्रौ विमलादिहर्षसोमादिराजद्विजयाभिधानौ ।

सदाश्रवौ स्वौ सचिवाविवाथ संयोज्य वाचेति निजं मुखाब्जम् ॥ १६२ ॥

अथ पुनः किं कृत्वा । विमल इति पदमादौ यस्य तादृशो हर्षः, तथा सोम इति
पदमादौ यस्य स सोमादिः, तेन राजत् शोभमानं विजय इति पदं यस्य एतावता
विमलहर्ष-सोमविजय इत्यभिधाने ययोस्तौ । किंभूतौ । श्रीवाचकेन्द्रौ श्रीमदुपाध्यायाधि-
राजौ प्रति इति पूर्वोक्तेन गणशासनलक्षणविजयसेनसूरिशिक्षाप्रदानरूपप्रकरणवाचा
वाण्या समं निजं मुखाब्जं बदनकमलं संयोज्य योजयित्वा । उक्त्वेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
वाचकौ स्वौ सचिवाविवा आत्मीयामाल्याविवा । किंभूतौ । सदा सर्वदा कालमाश्रवौ
वचनस्थितौ निजकथनकारकौ ॥

प्रणीय पूर्णाश्चतुरक्षमालाश्चतुर्गतीनामिव वारयित्रीः ।

गन्तुं गतिं पञ्चमिकामिवाथो स पञ्चमीं प्रारभताक्षमालाम् ॥ १६३ ॥

पुनः किं कृत्वा । चतुरक्षमालाश्चतस्रो जपमालिकाः पूर्णाः समाप्तिं प्राप्ताः संपूर्णाः
संजाताः प्रणीय कृत्वा आदितो गणयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—चतस्रणां नरकतिर्यङ्गुरसुरलक्ष-
णानां गतीनां कुतिसितानां स्थानकानां वारयित्रीर्निषेधयित्रीर्निषेधिका इव । अथो पुनः स
सूरिः पञ्चमीं पञ्चानां संख्यापूरणीमक्षमालां प्रारभत । गणयितुमिति शेषः । उत्प्रेक्ष्यते—
पञ्चमिकां पञ्चानां गतीनां पूरणीं पूरकां गतिमनन्तमुखावासलक्षणां गतिं गन्तुं यातु-
मिव ॥ सप्तभिः कुलकम् ॥

अथोन्नताख्यस्य पुरस्य पार्श्वे ग्रामे सपद्मे सरसीरुहीव ।

समुद्रशायीव युतोऽङ्गजेन द्विजाग्रणीः कोऽपि बभूव भट्टः ॥ १६४ ॥

अथापराधिकारे एतस्मिन् समये च कोऽपि कश्चिदनिर्दिष्टनामा भट्टः । स्वयमध्येतुः पराध्यापयितुश्च विद्वद्विजस्य भट्ट इति नामोच्यते । स भट्टो बभूव । किलक्षणः । द्विजाग्रणीर्ब्राह्मणमुख्यः । पुनः किंभूतः । अङ्गजेन खनन्दनेन युतः । क इव । समुद्रशा-
यीव । 'दासार्हः पुरुषोत्तमोऽब्धिशयनः' इति हैम्याम् । यथा नारायणः अङ्गजेन लक्ष्मी-
तनुजेन प्रद्युम्नेन सहितः कमनः । 'कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः' इत्यपि हैम्याम् । भट्टः
कुत्रस्थाने । उन्नत इत्याख्या नाम यस्य तादृशस्य पुरस्य पार्श्वे समीपभाजि कापि सं-
निधिवर्तिनि ग्रामे । किंभूते । सपञ्चे सह पद्मया लक्ष्म्या वर्तते यः सः । कस्मिन्निव ।
सरसीरुहीव । यथा कमलं लक्ष्मीकलितं भवेत् ॥

दिव्यं विमानं पवमानमार्गे नक्तं दृशा विम्बमिवैन्दवीयम् ।

सनन्दनो मन्दिरचन्द्रशालामालम्बमानः स विलोकते स्म ॥ १६५ ॥

स भट्टो नक्तं प्रथमरात्रिसमये दृशा खलोचनेन पवमानमार्गे गगनाङ्गणे दिव्यं देव-
तासंबन्धि विमानं देवानां गमनगमनासनयानं विलोकते स्म दृष्टवान् । उत्प्रेक्ष्यते—
ऐन्दवीयं चन्द्रसंबन्धि विम्बं मण्डलमिव । किंभूतो भट्टः । सनन्दनः तत्रावसरे पुत्र-
युक्तः स्वाङ्गजेन सहोपविष्टोऽस्ति । किं कुर्वाणः । मन्दिरस्य खगृहस्य चन्द्रशालां
शिरोगृहमुपरितनभूमिकामालम्बमान आश्रयन् ॥

परस्परं वार्तयतां सुराणां तदा नराणामिव देवमार्गे ।

इदं तदन्तर्ध्वनितं तमायां शुश्राव स श्रोत्रपुटेन भट्टः ॥ १६६ ॥

स पूर्वकथितो भट्टस्तमायां रजन्यां श्रोत्रपुटेन निजश्रवणपुटकेन इदमप्रे प्रोच्यमानं
तस्य विमानस्यान्तर्मध्ये ध्वनितं शब्दं शुश्राव आकर्णयामास । केषाम् । सुराणां देवानाम् ।
किं कुर्वताम् । परस्परं मिथो वार्तयतां किंवदन्तीं कुर्वताम् । क । देवमार्गे आकाशे ।
कदा । तदा सूरैर्निर्वाणसमये । केषामिव । नराणामिव । यथा मानवा अन्योन्यं
वार्तयन्ति तथा वार्तयतां मनुष्याणां शब्दः श्रूयते ॥

सौमङ्गलाद्या इव नाभिसूनोर्वक्त्रं व्रतीन्दोरिह जीवतोऽस्य ।

विलोकयामश्च यथा कृतार्थाः स्यामः सुरास्तत्त्वरितं चरन्तु ॥ १६७ ॥

यद्यस्मात्कारणादिहोन्नतनगरे इह सूरिभवे वा जीवतः प्राणान्धारयतोऽस्य व्रतीन्दो-
रेतस्यैव हीरविजयसूरैः वक्त्रं वदनं विलोकयामः पश्यामः । के इव । सौमङ्गलाद्या इव ।
यथा स्वनिर्वाणसमयमवसायानशनं निर्मातुमष्टापदपर्वते निवेदिते समवस्रतस्य नाभि-
सूनोः श्रीऋषभदेवस्य अष्टापदाद्रिरक्षकैर्भरतचक्रिणः पुरस्तात्तदुदन्ते जीवतो भगवतः
पितुः पितामहस्य स्वामिनो वदनारविन्दं विलोकयाम इति कृत्वा गलद्बहुलाष्पप्लव-
वित्तविलोचनयुगला भरतचक्रितदङ्गजप्रमुखा इक्ष्वाकुवंशोद्भवा बहवो जना ओजाय-
माना अष्टापदाचलं प्रचेष्टुः—इति शत्रुञ्जयमाहात्म्ये विस्तारोऽस्ति । पुनर्यथा येन प्रका-

रेण सूरिवक्त्रवीक्षणविधिना कृतार्थाः कृतकृत्याः स्यामो भवामः । तत्तस्मात्कारणान् हे
आतरः सुरा देवाः, त्वरितं शीघ्रतरं चरन्तु प्रचलन्तु ॥

एवं सुराणां वदतां तदानीं क्षणाददृश्यं तदभूद्विमानम् ।

सौदामिनीमण्डलमम्बुदानामिवातिगर्जी सृजतां गभीराम् ॥ १६८ ॥

तदानीं तस्मिन्नेव वार्ताकरणसमये एवममुना पूर्वोक्तप्रकारेण वदतां परस्परं वार्तयतां
प्रवृत्तिं विदधतां सतां सुराणां देवानां तद्भट्टेन तत्स्वयं दृष्ट्या दृष्टं विमानं क्षणान्निमेष-
षमात्राददृश्यं दृष्टेरगोचरमभूदजायत । किमिव । सौदामिनीमण्डलमिव । यथा गभीरां
भेन्द्रामतिशयेन गर्जारवं सृजतां कुर्वतां सतामम्बुदानां जलदानां विशुद्धितानं क्षणाददृश्यं
दृग्गोचरातीतं भवति ॥ इत्युन्नतपुरपार्श्वग्रामस्थभट्टस्य दिव्यविमानदर्शनम् ॥

सूरिस्ततः संश्रयति स्म शुक्लध्यानं दधानः स सुधाशसौधम् ।

काङ्क्षन्महानन्दपुरे प्रयातुं प्राक्तस्य मार्गस्य दिदृक्षेयव ॥ १६९ ॥

ततो विमानागमनानन्तरं सूरिर्हीरविजयसूरिः सुधाममृतमश्नन्ति भजन्तीति सु-
धाशा देवास्तेषां सौधं गृहम् । देवलोकमित्यर्थः । संश्रयति स्म भजते स्म । स्वर्गं गत
इत्यर्थः । किं कुर्वाणः । शुक्लध्यानं दधानः धारयन् । ध्यायन्नित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
महानन्दपुरे मोक्षनगरे प्रयातुं गन्तुं काङ्क्षन् सन् प्राक् पूर्वं तस्य मोक्षनगरस्य मार्गस्य
समीचीनताशालितस्य मार्गस्य पथो दिदृक्ष्य द्रष्टुमिच्छया । अथ वा कीदृक् प्रध्वरो
वा वक्रो वा समो वा विषमो वा, कथं कया रीत्या गन्तव्यमित्यादिदर्शनेच्छया इव ॥
इति हीरविजयसूरिगुरोः स्वर्गमनम् ॥

अस्तं गभस्तेरिव कोकलोकः शोकाकुलो बाष्पजलाविलाक्षः ।

श्रुत्वा गुरोः स्वर्गमनं निशायां जनव्रजो द्वीपपुरादुपागात् ॥ १७० ॥

जनव्रजः श्राद्धवर्गो निशायां रजन्यामेव त्वरितं द्वीपपुराद्वीपवन्दिरादुपागादुन्नत-
पुरे समेतः । किं कृत्वा । निशायामेकादशीरजन्यां गुरोः सूरैः स्वर्गमनं देवलोकं पा-
दावधारणं श्रुत्वा आकर्ष्य । किलक्षणो जनः । बाष्पजलैरतिदुःखनिपतत्रयनाधुसलिलै-
राविले व्याप्ते अक्षिणी नेत्रे यस्य । पुनः किंभूतः । शोकेन खेदेन आकुलः उत्पिञ्जलः ।
क इव । कोकलोक इव । यथा गभस्तेर्भास्करखास्तं द्वीपान्तरगमनं श्रुत्वा चक्रवाकचक्रं
शोकाकुलं बाष्पजलाविलाक्षं भवेत् । 'आलोकतालोकमुल्लूकलोकः' इति नैषधे । उल्लूक-
लोकस्तथा कोकलोकः । तथा 'आकाशे सावकाशे तमसि सममिते कोकलोके सशोके'
इति नाटककाव्ये ॥

त्यारीसहस्रद्वयसंगृहीतकथीपकाख्यादिमदिव्यवस्त्रैः ।

श्राद्धा व्यधुर्मण्डपिकां सुनीन्दोरिवासभर्तुः शिविकां महेन्द्राः ॥ १७१ ॥

शलाककाराणां द्विपुटीकृतानां कलधौतमयानां त्यारिका इति नाम्नां नाणकविशे-

पाणां सहस्रद्वयेन विंशतिशत्या व्ययेन संगृहीतैरानीतैः कथीपका इत्याख्या नामवि-
शेषा येषाम् । 'कथीपो' इति प्रसिद्धाः । ते आदिमाः प्रथमा येषां तादृशैर्विष्यैर्देवदुकू-
लोपमैर्वैभ्रैः कृत्वा श्राद्धा द्वीपोन्नतपुरश्रावकाः मुनीन्द्रोर्हारसूरेर्मण्डपिकां 'मांडवो'
इति प्रसिद्धां व्यधुश्चक्रिरे । के इव । महेन्द्रा इव । यथा पुरंदरा आत्मभर्तुः तीर्थकरस्य
शिविकां आप्ययानं विदधते ॥

ते ल्यारिकाभिर्व्रतिपस्य सार्धसहस्रयुग्मप्रमिताभिरङ्गम् ।

अपूपुजन्भक्तिभरोल्लसन्तो जिनेशितुर्मूर्तिमिव प्रसूनैः ॥ १७२ ॥

ते श्राद्धाः सद्गर्धेन वर्तते तत्सार्धम्, सहस्रयोर्दशशत्योर्द्वयं युगलम्, सार्धं च तत्सह-
स्रयुग्मं च । तेन प्रमिताभिः प्रमाणं प्रापिताभिः पञ्चविंशतिशतप्रमाणाभिर्यारिकाभिः
कृत्वा व्रतिपस्य सूरेः अङ्गं शरीरमपूपुजन्नर्चयन्ति स्म । कामिव । मूर्तिमिव । यथा श्राद्धा
जिनेशितुस्तार्थिकरस्य प्रतिमां प्रसूनैः कुसुमैः पूजयन्ति । किंभूताः । भक्तेः सेवासक्तेः
भरेणातिशयेनोल्लसन्तः रोमाञ्चकल्लुकीभवन्तः ॥

नभोनभस्याविव निःसरद्भिः पयःप्रवाहैर्नयने वितन्वन् ।

यावज्जनो मण्डपिकाममुष्यालंकारयामास शरीरयष्ट्या ॥ १७३ ॥

जनः श्राद्धलोकः यावद्यावता समयेन अथवा यस्मिन् समये अमुष्य स्वर्गतस्य सूरेः
शरीरयष्ट्या तनूलतया कृत्वा मण्डपिकामलंकारयामास भूषयति स्म । वसनाद्यैर्भूषि-
तायां मण्डपिकायां सूरिशरीरं शाययति स्मेत्यर्थः । जनः किं कुर्वन् । नयने खनेत्रे
नभोनभस्याविव श्रावणभाद्रपदाविव वितन्वन् विदधत् । कैः । निःसरद्भिर्दुःखप्रकर्षा-
विरलधारनिवहनिःसरद्भिः पयःप्रवाहैर्वाष्पजलप्रवैः ॥

विमानघण्टापटुनादसान्द्रध्वनत्सुघोषेव गभीररावा ।

घण्टावली तावददृश्यमानाप्यध्वानितादिध्वनदभ्रमार्गे ॥ १७४ ॥

तावता समयेन तस्मिन् समये वा अध्वानिताः कैश्चनापि मानवैरवादिताः कैरपि
जनमात्रैरताड्यमानापि स्वयमेवादृश्यमाना नापि केषांचिच्चक्षुर्गोचरे भवन्ती तादृशी
घण्टानामत्र मण्डले देवगृहे वादनवाद्यविशेषाणां द्वीपवन्दिरादौ च घटिकायामादिमा-
नविशेषकृत्यै वादनीयानां 'घांट' इति प्रसिद्धनाम्नाम् आवली श्रेणी अदिध्वनत् गाढं
शब्दायते स्म । क । अभ्रमार्गे मेघाध्वनि व्योमाङ्गणे । किंभूता । गभीरो मन्द्रो रावो
ध्वनिर्धस्याः । केव । विमानानां सौधर्मदेवलोकसंवन्धिनां द्वात्रिंशलक्षैर्मितानां देवनिव-
सनकृते नगरूपाणां घण्टानामेकसमयदध्वनन्महद्दृष्टिकानां पटुभिरतिपञ्चविषयसुखसं-
लीनतया किमप्यन्यत्कृत्याकृत्येष्वदत्तावधानानां देवानां स्वस्वामिकार्यनिर्माणप्रगुणीकार-
णप्रवणैः नादैः निःक्राणैः प्रकटध्वनिभिः सान्द्रध्वनत् बहलीभूतशब्दायमाना सुघोषा
घण्टेव ॥ इति मण्डपिकाकरणसूरिशरीरशायनम् ॥

वाद्यौघमाद्यन्निनदैर्जिनस्येवामुष्य निर्वाणमहं प्रणेतुम् ।

किंमाह्वयन्तस्त्रिदशानशेषानादाय तां श्राद्धजनाः प्रचेलुः ॥ १७५ ॥

श्राद्धजनाः श्रावकत्रजाः तां मण्डपिकामादाय स्कन्धेषु समधिरोष्य प्रचेलुः संस्कारभूमिं प्रति प्रचलन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वाद्यौघानां वादित्रसंदोहानां माद्यद्विवहली-भवद्विनिनदैः शब्दैः कृत्वा अशेषान् सर्वानपि महेन्द्रप्रमुखान् त्रिदशान् देवान् किंमाह्वयन्त आकारयन्त इव । किं कर्तुम् । अमुष्य सूरैर्जिनस्य तीर्थकरस्यैव निर्वाणमहं परलोकगमनमहोत्सवं प्रणेतुं विधातुम् ॥

ध्वजत्रजैर्जितसांध्यरागोपयुक्तवद्विष्णुपदं सृजन्तः ।

आदाय तां मण्डपिकां मुनीन्दोः संस्कारभूमीमनयञ्जनाग्रे ॥ १७६ ॥

ते जना द्वीपोन्नतनगरश्राद्धलोका मुनीन्दोर्हीरसूरैर्मण्डपिकामादाय गृहीत्वा संस्कारस्य परलोकोपगतशरीरिशरीरस्य कृशानुना संस्कृतिकरणस्य भूमीं स्नानकमगमन् गच्छन्ति अनयन् प्रापयन्ति स्म वा । किं कुर्वन्तः । सृजन्तः विदधतः । किम् । विष्णुपदं हरिचरणमाकाशम् । किंवत् । ऊर्जितेन प्रवलेन संध्यायां दिवसावसाने भवः सांध्यः स चाद्यौ रागश्च सायंतनसंध्यासंबन्धिरक्तिम्णा युक्तवत्कलितसिव । कैः । ध्वजत्रजैः पताकाप्रकारैः । विविधवर्णवैजयन्तीराजिभिः संध्यायामनेके नीलपीतरत्नादिका रक्षा भवेयुः ॥

महीन्दिरायाः शिरसीव नीलमणीप्रणीतातपवारणस्य ।

रसालसालस्य तलेऽखिलास्ते स्वांसस्थलान्मण्डपिकामुञ्चन् ॥ १७७ ॥

अखिलाः समस्ता अपि श्राद्धजना द्वीपोन्नतपुरलोकाः स्वांसस्थलान्निजस्कन्धदेशात् । आत्मीयस्कन्धेभ्य इत्यर्थः । रसालसालस्य सहकारमहीरहस्य तले अधःप्रदेशभूमौ मण्डपिकाममुञ्चन् शुद्धधरणीमण्डले स्थापयन्ति स्म । कथंभूतस्य रसालसालस्य । नीलमणीप्रणीता-तपवारणस्य । उत्प्रेक्ष्यते—महीन्दिरायाः ॥

अथोपस्कारमेतन्म—

संस्कारोपस्करमथ तत्रानिन्युर्जना गतोत्साहाः ।

चन्दनदलिकादिममिव गीर्वाणाः सार्वनिर्वाणे ॥ १७८ ॥

अथ संस्कारभूमौ मण्डपिकाया आनयनानन्तरं गतोत्साहाः शिथिलोद्यमा उद्यमरहिताः । 'उत्साहः प्रगल्भता । अभियोगोद्यमौ प्रौढिः' इति हैम्याम् । जनास्त्रय संस्कारोचितसहकारतरुसमीपभूमौ संस्कारोपस्करं सूरिशरीरसंस्कारकरणसमुदायमानिन्युरानयन्ति स्म । संस्कारोपस्करं किंभूतम् । चन्दनदलिकादिमं श्रीखण्डकाष्ठप्रमुखम् । क इव । गीर्वाणा इव । यथा देवा विगतोद्यमाः सन्तः सार्वस्य जिनस्य निर्वाणे सिद्धिधिधाने तदर्हत्तमसंस्कारोपस्करं मेरुभूमेश्चन्दनादिकमानयन्ति ॥

व्यालानुषङ्गवशतो वसतेर्वनान्ते

पुष्पश्रिया फलभरैरपि बन्ध्यभावात् ।

आगान्मुमूर्षुरतिदुःखगणेन गन्ध-

सारः किमत्र तिथिसंख्यमणप्रमाणः ॥ १७९ ॥

अत्र संस्कारभूमौ तिथीनां पञ्चदशकर्मवादिनां संख्या मानं येषां तादृशानां चत्वारिंशत्सेरप्रमाणानां मणानां मानविशेषाणां प्रमाणं यस्य । पञ्चदशमणा इत्यर्थः । गन्धसारश्चन्दन आयात् । उत्प्रेक्ष्यते—अतिदुःखगणेन अत्यभ्यधिकानां हृदयंतुदानां दुःखानामसातानां गणेन भरेण कृत्वा मुमूर्षुर्मर्तुमिच्छुरिव । दुःखं कुतः । व्यालानां दुष्टद्विजिह्वानामनुषङ्गस्य सर्वदा सङ्गस्य वशत आयातत्वात् । पुनः कस्य । वनानामन्ते काननानां प्रान्ते मध्ये वा वसतेर्निवासात् च । अपि पुनः पुष्पश्रिया कुसुमलक्ष्म्या अथ च पुष्पवद्दशदिक्षु विकसन्त्या व्यापारव्यवहारैः सर्वत्र जनस्थलदेशेषु विस्तृतया इन्दिरया समृद्धया । अपि पुनः फलानां सस्यानां पुत्रपौत्रादीनां भरैर्द्वारिकाप्राप्तयादववंशवद्द्वन्द्वैर्वन्ध्यभावान्मोघत्वात् । ‘यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलपुष्पवर्जितो विहितः । निजवपुषैव परेषां तथापि संतापमपनयति ॥’ इति सूक्तवचनात् । इत्यादिकारणात्संजातमुमूर्षा ॥

घृतमिव पितृनिधनभवोऽगुरुद्रवस्तत्र पञ्चसेरमितः ।

सुहृदिव सखेहोऽगुरुरप्यानीतो मणत्रितयः ॥ १८० ॥

तत्र संस्कारोपस्करे संस्कारभूमौ वा अगुरुद्रवः ‘चूओ’ इति प्रसिद्धनामा पञ्चभिः सेरैर्मितः प्रमाणीकृतः पञ्चसेर आनीतः । किंभूतः । पितुर्गुरोर्निधनात् मरणात् निदाषाद्भव उत्पत्तिर्यस्य । किमिव । घृतमिव । यथा आज्यं पितुर्द्वौ मथनान्नाशात् अथ वा म्रक्षणस्य विनाशात्तापनगालनात्संजातम्, तथा चूआकोऽपि तातस्य कृष्णागुरोर्गालादुत्पन्नः । अपि पुनः सुहृदिव सखेव सह स्नेहेन प्रेम्णा चूआनामतैलद्रवेण च युक्तः कलितः । मणानां त्रितयं त्रिकं यस्य तादृशोऽगुरुः काकतुण्डः समानीतः ॥

श्यामत्वमात्मपितृघातजपातकं च

गौरीशविग्रहहुताशनसेवनाभिः ।

सारङ्गनाभिनिवहः प्रणिहन्तुकाम-

स्तत्राजगाम किमु सेरयुगप्रमाणः ॥ १८१ ॥

सारङ्गनाभिनिवहः कस्तूरीप्रकरः सेरयोर्युगं द्वन्द्वं प्रमाणं यस्य स सेरयुगप्रमाणः तत्रोपस्करे संस्कारभूमौ वा आजगाम आगच्छति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्यामत्वमात्मकालिमानं च पुनः पितुः कस्तूरिकामृगस्य घातान्सारणाज्जातमुत्पन्नं पातकं दुःकृतं गौरीशस्य पार्वतीमर्तुः शिवस्य विग्रहः शरीरं यो हुताशनः कृशातुस्तस्य सेवनाभिर्भक्तिभिः

परिचर्याभिः । 'क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाकाशसोमसूर्याद्या । अष्टौ शिवमूर्तयः'
इति वज्रनात् वह्निसेवाभिरग्निमध्ये प्रवेदैः प्रणिहन्तुकामः किमु निवारयितुमिच्छुरिव ॥

दिवं गतस्यापि विभोरमुष्य श्लोकस्त्रिलोक्यामपि पोस्फुरीति ।

विवक्षयेतीव पुरो नराणामागात्रिसेरीप्रमितः सिताभ्रः ॥ १८२ ॥

त्रयाणां सेराणां समाहारत्रिसेरी तथा प्रमितः प्रमाणीकृतः सेरत्रयमानः सिताभ्रः
कर्पूरः समागात् । उत्प्रेक्ष्यते—नराणां समग्रजनानां पुरोऽग्रे इति विवक्षया वस्तुमिच्छ-
येव । इति किम् । दिवं गतस्यापि स्वर्गं यातस्यापि अमुष्य विभोः गुरोः श्लोकौ यश-
स्त्रिलोक्यामपि पोस्फुरीति जगत्रयेऽपि स्फूर्तिमियति इति हेतोस्त्रिसेरीमितः ॥ इति
संस्कारोपस्करमेलनमानयनं च ॥

ज्योतिःकुमारा इव तीर्थभर्तुः प्रज्वाल्य पूर्वं ज्वलनं चितायाम् ।

सूरैः शरीरस्य शरीरिणस्ते संस्कारमातन्वत चन्दनाद्यैः ॥ १८३ ॥

ते शरीरिणः श्राद्धजनाः सूरैः शरीरस्य चन्दनाद्यैः श्रीखण्डागुरुचूआककर्पूरक-
स्तूरिकाभिः कृत्वा संस्कारं वह्निना संस्करणं भस्मसाद्विधानमातन्वत चक्रुः । किं
कृत्वा । पूर्वं प्रथमं चितायां ज्वलनमग्निं प्रज्वाल्य संभूष्योदीप्य वा । क इव । ज्योतिः-
कुमारा इव । यथा अग्निकुमारास्तीर्थभर्तुश्चितायां पुरं प्रदत्तादेशा नयननिःपतद्ब्रह्म-
बाष्पप्लवाः पूर्वंज्वलनं प्रज्वालयन्ति ॥

सप्तसहस्राः सर्वाः संभूय ल्यारिका इह व्यथिताः ।

सप्तापि दुर्गतीरिव निषेद्धुमेतैः समुत्सुकितैः ॥ १८४ ॥

तैः श्राद्धैः पूजादीनां वस्त्रादीनां सर्वाः समस्ता अपि संभूय मेलयित्वा इह मूरि-
शरीरसंस्कारसमये सप्तसहस्रप्रमाणा ल्यारिका व्यथिता व्यथीकृताः । उत्प्रेक्ष्यते—
सप्तसंख्या अपि दुर्गतीः नरकान्निषेद्धं निवारयितुं समुत्सुकितैरुत्कण्ठितैरिव ॥ इति ग-
रिशरीरसंस्कारकरणम् ॥

चैत्ये श्रीफलतन्दुलाञ्जिनपुरस्ते दौकयित्वा ततः

संस्तुत्य प्रणिपत्य भक्तिभरिता जग्मुर्गृहानात्मनाम् ।

गीर्वाणा इव वासवप्रभृतयो नन्दीश्वरेऽष्टाहिकां

निर्मायानुसमेतयौवतयुता निर्वाणकल्याणके ॥ १८५ ॥

ते समस्ता अपि संस्कारकारिणः उपलक्षणात्परेऽपि द्वीपोन्नतादिनगरावाकास्ततः
संस्कारकरणानन्तरं चैत्ये जिनप्रासादे श्रीजिनपुरस्तीर्थकृतप्रतिमानां पुरस्तात् श्रीफ-
लानि नालिकेरानि तथा तन्दुलाश्चोक्षा उपलक्षणादपरगोधूमयुगंधरीप्रमुखधान्यश्रेणी
दौकयित्वा ततस्तदनन्तरं च संस्तुत्याष्टस्तुतिभिर्देववन्दनां विधाय मध्ये अजिनशान्ति-

स्त्वं प्रान्ते च बृहच्छान्तिप्रमुखस्तुतिं कृत्वा ततस्तस्मादनु पश्चात् प्रणिपत्य । प्रणामस्तु भक्तिसेवातः । अत एव कारणात् किंभूताः । भक्तिभरिताः सेवासकत्वा व्याप्ताः सन्तो नमस्यित्वा आत्मनां स्वेषां स्वेषां गृहान् जग्मुर्गताः । ते किंभूताः । अनु पश्चात् देव-गृहागमनानन्तरं समेतं समागतं यथौवतं युवतीसमूहस्तेन युताः सहिताः । के इव । गीर्वाणा इव यथा वासवप्रभृतयः पुरंदरप्रमुखाश्चतुर्निकायामराः निर्वाणनाम्नि तीर्थकृतां मोक्षगमनाभिधाने कल्याणकसमये नन्दीश्वरेऽष्टमद्वीपे अष्टाहिकां स्वस्वजनरतिकरदधि-मुखप्रमुखपर्वतप्रासादेष्वष्टाहिकामष्टवासरीं यावन्महोत्सवमतिशायिनं महं निर्माय आत्मनां नगरभवनज्योतिर्विमानान् वानव्यन्तरभवनवासिज्योतिष्कविमानवासिनश्चतु-र्निकायिकाः सर्वे सुरा गच्छन्ति । तेऽपि किंविशिष्टाः । अनु पश्चात्पृष्ठे समेतं समायातं यथौवतं स्वस्वनिकायकामिनीकदम्बकं तेन कलिताः ॥ इति सूरिनिर्वाणप्रस्तावनम् ॥

तस्मिन्नेव निशावसानसमये दिव्यश्रियं संश्रय-

न्साहिश्रीमदकब्बरावनपतेः श्रीहीरसूरीश्वरः ।

प्राग्वाग्बद्ध इवाभ्युपेत्य सविधे प्राचीनरूपाञ्चितो

मित्रस्येव निजं द्युलोकगमनं प्राक्स्नेहतः प्रोचिवान् ॥ १८६ ॥

श्रीपार्श्वदेवलोकलक्ष्म्या कलितो हीरविजयनामा सूरीणामाचार्यभट्टारकाणां मध्ये इष्टे इशिता ऐश्वर्यवान् भवतीति ईश्वरः प्राक् स्नेहतः प्राचीनमिलनसंजातप्रीतिप्रकर्षात् पा-तिसाहेः श्रीमतश्चतुर्दिगन्तदेशाधिपत्यहस्त्यश्वरथपदातिपुरनगरग्रामकोट्टहैमरूप्यमणिमौ-क्तिकप्रमुखाशेषसंपच्छालिनः अकब्बरनाम्नोऽवनपते राज्ञः निजमात्मीयं द्युलोकगमनं स्वर्लोके यानं प्रोचिवान् । कस्येव । मित्रस्येव । यथा प्रियसुहृदः स्वेप्सितप्रामनगरादिगमनं प्रोच्यते । किं कृत्वा । अभ्युपेत्य समेत्य । क । सविधे समीपे अर्थात् साहेः पार्श्वे । क इव । प्राग्वाग्बद्ध इव । यथा कश्चित्सुरः प्राक् पूर्वजन्मनि दत्तया वाचा बद्धो नियत्रितः कस्य-चित्पार्श्वे समायाति । कदाभ्युपेतः । तस्मिन्नेव निशावसानसमये । यस्यां निशायां स्वर्लो-कमलंकृतवान् तस्या एव निशाया अवसानं प्रान्तः स एव समयः कालः पाश्चात्यरात्रि-प्रस्तावे समेत्य । प्रोक्तवानित्यर्थः । किंविशिष्टः सूरिः । प्राचीनेन हीरसूरिसंबन्धिनो रूपे-णाञ्चितः वपुषा तत्स्वरूपेणैव वर्तमानः दृश्यमानः । च पुनः किंलक्षणः । दिव्यां दिवि-भवां देवतासंबन्धिनीं श्रियं वपुःशोभां संश्रयन् भजन् ॥ इति पातिसाहेः स्वप्ने स्वस्य स्वर्लोकगमनकथनम् ॥

तन्मूर्तिसंस्कृतिपदे सुरसृष्टनाट्य-

मालोक्य तीर्थ इव नागरनैगमेन ।

तत्संनिधिस्थकृषिरक्षणदीक्षितेन

प्रातः पुरीजनपुरस्तदुदीर्यते स्म ॥ १८७ ॥

नागरजातीयैर्न नैगमेन वणिजा प्रातस्त्रयोदशीवासरस्य विभाते दिवसप्रारम्भसमये पुरीजनानामुन्नतनगरलोकानां पुरोऽग्रे तन्नाटकदर्शनादिकमुदीर्यते स्म प्रोवाच । किं कृत्वा । तस्य सूरैर्मूर्तेः शरीरस्य संस्कृतिपदे संस्कारकरणस्थानके नक्तं सुरसृष्टं देवैर्निर्मितं नाट्यं नाटकमालोक्य दृष्ट्वा तस्मिन्निव तीर्थं इव । यथा शत्रुंजयादितीर्थभूमौ सुरकृतं ताण्डवम् । केनचिद्भाग्यवता इति शेषः । विलोक्यते । किंभूतेन नागरनैगमेन । तस्य सूरिशरीरसंस्कारस्थानकस्य संनिधौ समीपे तिष्ठतीति तादृशी कृषिः कर्षणं तस्या रक्षणे पालने दीक्षितेन गृहीतप्रतिज्ञेन । नक्तं कृषिरक्षकेणेत्यर्थः । स्वस्य वान्यस्य वा ॥ इति नागरनैगमस्य नक्तं नाटकदर्शनकथनम् ॥

• दिव्यविमानविलोकनवार्ता पुनरेत्य स त्यवाग्विप्रः ।

न्यगदन्नगरजनानां स्वप्नविदां स्वप्नमिव पुरतः ॥ १८८ ॥

सत्या अवतिथा वागवाणी यस्य तादृशो विप्रः पूर्वप्रोक्तभट्टः पुनरेत्यागल्योन्नतनगरे समेत्य नगरजनानां पुरतः अग्रे दिव्यविमानविलोकनवार्तां यन्मया नक्तं हीरविजयसूरिनिर्वाणगमनरजनीप्रथमचतुर्थटिकासमये दिव्यविमानं देवतासंबन्धि यानं निजनयनाभ्यां दृष्टं तन्मध्ये च देवानां 'हीरविजयसूरिवदनं विलोकयामस्त्वरितं चलन्तु' इति वार्तापि श्रवणाभ्यां श्रुता चेति न्यगदद्वदति स्म । कमिव । स्वप्नमिव । यथा कोऽपि स्वप्नदृष्टा पुमान् स्वप्नविदां स्वप्नाध्यायपाठकानां पुरतः स्वप्नं निगदति ॥ इति विमानदर्शनवार्ताकथनम् ॥

तस्यामेव त्रियामायां स माकन्दो वसन्तवत् ।

पूर्वं मञ्जरितोऽनल्पैः फलैः संपूरितस्ततः ॥ १८९ ॥

यदधोभूमिभागे सूरिशरीरं संस्कृतं स एव माकन्दः सहकारतरुस्तस्यामेव गुरुगात्र-संस्कारकरणदिवसस्यैव त्रियामायां विभावर्यामेव पूर्वं प्रथमसमये एव मञ्जरितः मञ्जरीभिः कलिकाभिः कलितो जातः ततो मञ्जरीणां 'मउर' इति प्रसिद्धानां पूरणानन्तरमनल्पैः संख्यातीतैः फलैराम्रसस्यैः संपूरितः पूरणीभूतः । यथा पत्राण्यपि चक्षुषा नेक्षन्ते तथा फलावलीभिरलंकृतो जातः ॥

चित्रीयमाणैश्चित्तान्तर्यात्रायामिव यात्रिकैः ।

समाजग्मे समं तत्र नागरैर्नागरीसखैः ॥ १९० ॥

तत्र हीरसूरिशरीरसंस्कारस्थाने सहकारसालसमीपे नागरीसखैः पौरपुरं प्रीपरं परापरीतैर्नागरैर्नागरीलोकैः सममेककालं तदाम्रमञ्जरीसहकारिकाप्रादुर्भावश्रवणानन्तरमेवानुपश्यात्समाजग्मे समागतम् । कैरिव । यात्रिकैरिव । यथा यात्राकारकैर्लोकैः यात्रायां शत्रुंजयादितीर्थयात्राकृते चैत्रीपूर्णिमादिवासरे । किंभूतैः । चित्तान्तर्येणोमध्ये चित्रीयमाणैराश्चर्यं विस्मयं प्राप्नुवद्भिः । मञ्जरीफलदर्शनादिति शेषः ॥

शेषा इव त्रिभुवनाधिपतेः प्रमोदा-

ल्लोकाः सहैव जगृहुः सहकारिकास्ताः ।

प्रास्थापयन्पुनरकञ्चरपातिसाहे-

रद्वैतविस्मयकरीरुपदा इवैताः ॥ १९१ ॥

ते लोकाः श्रावका अपरेऽपि च नगरग्रामलोका यवनाश्च सहैव समकालमागत्य गुरु-
माहात्म्यादेककालोत्पन्नास्ताः मञ्जरीः सहकारिकाश्च 'कइरी' इति प्रसिद्धाः जगृहुर्गृह्णन्ति ।
कस्मात् । प्रमोदात् हर्षात् । का इव । शेषा इव । यथा त्रिभुवनाधिपतेः त्रैलोक्यना-
यकस्य परमेश्वरस्य शेषाः 'सेख' इति प्रसिद्धाः गृह्यन्ते । पुनस्ते तन्नगराधिपयवना
अकञ्चरपातिसाहेरेताः सहकारिकाः प्रास्थापयन् प्रेषयामासुः । किंभूताः । अद्वैतं न
विद्यते द्वैतं द्वितयं यत्र तदद्वैतमसाधारणं मनस्यसामान्यं विस्मयमाश्चर्यं चित्रं कुर्व-
न्तीति ता अद्वैतविस्मयकरीः । उत्प्रेक्ष्यते—उपदा ङौकनिका इव । अथ वोपमानम् ।
का इव । उपदा इव प्राभृतानीव । 'भेट' इति प्रसिद्धाः ॥ इति माकन्दस्य फलनं तत्फल-
ग्रहणं साहेः प्रेषणं च ॥

लाडकीति प्रिया यस्य मूर्ता श्रीरिव वेश्मनि ।

स्वर्गवी किमुत स्वर्गाद्भूमण्डलमुपागता ॥ १९२ ॥

स द्वीपवन्दिरश्रेष्ठी मेघनामा परीक्षकः ।

आर्षभिर्वृषभस्येव सूरैः स्तूपमकारयत् ॥ १९३ ॥

मेघनामा परीक्षकः मेघपारिखनामा सूरैर्हीरविजयव्रतीन्द्रस्य स्तूपमकारयत्कारया-
मास । क इव । आर्षभिरिव । यथा ऋषभस्यापत्यं नन्दनः आर्षभिर्भरतचक्री वृषभस्य ऋष-
भदेवस्य अष्टापदपर्वते ऋषभदेवदेहसंस्कारस्थाने स्तूपं कारितवान्, तथा वृषभस्वा-
मिप्रतिमां च तथा भ्रातृणां नवनवतिप्रतिमां च आत्मप्रतिमां च स्तूपशतं च मा
कश्चिदाक्रमणं करिष्यतीति तत्रैकं भगवतः स्तूपं शेषाण्येकोनशतभ्रातृणाम्—इति
हारिभद्रां मलयगिर्यां चावश्यवृत्तौ । किंभूतः । द्वीपवन्दिरस्य । यत्र द्वीपान्तरेभ्यो
यानपात्राः समायान्ति तेषु यान्ति च तद्वन्दिरमित्युच्यते । द्वीपनाम्नो नगरस्य श्रेष्ठी
नगरमध्ये मुख्यपदभाक् । स कः । यस्य लाडकी नाप्ती प्रिया पत्नी वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—
वेश्मनि मेघपरीक्षकसौधे मूर्ता मूर्तिमती लाडकीशरीरिणी श्रीलक्ष्मीरिव । उताथवा
असौ लाडकीरूपा स्वर्गाद्देवलोकान्द्रभूमण्डले पृथिवीपीठे उपागता समायाता स्वर्गवी काम-
धेजुरिव ॥ युग्मम् ॥

आकृष्टा इव तिष्ठन्तः प्रभावैस्तत्प्रभोरिह ।

अर्हन्मूर्तेरिवैतस्य सुराः सानिध्यमादधुः ॥ १९४ ॥

- सुरा देवास्तस्य गुरुपादुकापवित्रीकृतस्तूपस्य सान्निध्यं संनिधितां पार्श्ववर्तिकताम् ।
 आराधकानां कामितपूरकतामिति यावत् । आदधुश्चक्रुः । लोकरक्षासमीहितपूरणादिकं
 सान्निध्यं विदधते । कस्या इव । अर्हन्मूर्तेरिव । यथा भगवत्प्रतिमायाः सुराः सान्निध्यं
 कुर्वन्ते । सुराः किं कुर्वन्तः । तिष्ठन्तः । कुत्र । इह सूरिस्तूपे । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य प्रभोः
 • हीरसूरः प्रभावैर्माहात्म्यैराकृष्टा इव आकृष्ट्यानीता इव ॥

तत्रार्चितुं स्तूपमकम्बरेण समीपभूमी कियती वितीर्णा ।

सिद्धाचले सिद्धनृपेण नाभिभवं यथा द्वादश संनिवेशाः ॥ १९५ ॥

तत्रोन्नतनगरसीमभूमीमण्डले स्तूपं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्सूरिपादुकां गुरुपादुकाधि-
 ष्ठानमर्चितुं पूजयितुमकम्बरेण पातिसाहिना कियती कियत्प्रमाणा द्वाविंशतिबीधाप्र-
 मिता । क्षेत्रादिषु मानविशेषे बीधा इत्युच्यन्ते । ते च सौराष्ट्रगुर्जरजनपदेषु प्रसिद्धाः ।
 समीपस्य अर्थात्स्तूपस्य पार्श्ववर्तिनी भूमी वितीर्णा प्रदत्ता । केनेव । सिद्धनृपेणैव । अत्र यथा
 सिद्धाचले श्रीशत्रुंजयपर्वते नाभिभवं श्रीकृष्णभदेवमर्चितुं सिद्धराजजयसिंहदेवेन समी-
 पभूमौ विमलाचलसमीपवर्तिनो द्वादश संनिवेशा ग्रामा वितीर्यन्ते स्म । 'देवकपत्तने
 खनिर्मापितप्रासादपूर्णाभवनानन्तरं सोमेश्वरयात्रानिमित्तप्रस्थितेनाध्वनि स्वसार्धं स-
 मानीतमाननीयश्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रेणार्धमार्गागतान्तातीततीर्थकृन्मुनिजनसिद्धिगमनक्षेत्रा-
 दिमाहात्म्यकथनादत्युन्नतरागेण प्रच्छन्नमागत्य विमलगिरियात्रां विधायादिदेवपूजाकृते
 द्वादश ग्रामान्दत्त्वा खानीकमलंकृतवान् ।' इति कुमारपालप्रबन्धचरित्रादिषु
 प्रोक्तमस्तीति ॥

माकन्दमोचावकुलप्रियालकङ्कलिकुन्दादितरूपयुक्तम् ।

तस्याभितोऽभूत्सुमनोदुमाङ्गं वनं सुमेरोरिव भद्रसालम् ॥ १९६ ॥

तस्य स्तूपस्याभितः परितो वनं काननमभूत् । किंभूतं वनम् । माकन्दाः सहकाराः,
 मोचाः कदल्यः, वकुलाः केसराः 'बडलसिरी' इति प्रसिद्धाः, प्रियाला राजादनाः, कङ्क-
 ल्यः अशोकाः, कुन्दा मुचकुन्दाः, ते आदौ येषां तादृशैस्तरुभिर्दुमैः उपयुक्तम् । किमिव ।
 भद्रसालमिव । यथा सुमेरोः सुवर्णाचलस्याभितः परितो भूमौ भद्रसालं नाम वनमभूत् ।
 किंभूतम् । सुमनोदुमाः कल्पवृक्षाः अङ्गे उत्सङ्गे मध्ये यस्य । तथा माकन्दादिपादपैः
 कलितं च । स्तूपवनं तु अर्थार्थिकभूतम् । सुमनोभिः कुसुमैरुपलक्षणात्पत्रपल्लवफलैर्ललिता
 दुमाः पूर्वोक्ता इतरे च तरवः अङ्गे मध्ये यस्य तत् ॥

अन्वतिष्ठंश्चतुर्दिग्विभागागता यात्रिकास्तत्र यात्रां जिनेन्द्राद्विवत् ।

कामिकस्वर्गिणेषामुना कामितं पूर्यतेऽन्यच्च सेवासु हेवाकिनाम् ॥ १९७ ॥

चतसृणां चतुःसंख्याकानां पूर्वा-दक्षिणा-पश्चिमा-उत्तरानाम्नां दिशां हरितां विभा-
 गेभ्यः प्रदेशेभ्यः आगताः आयाता यात्रिका यात्राकारका जनास्तत्र स्तूपे यात्रां प्रभु-

पादुकाप्रणतिलक्षणामन्वतिष्ठन्कुर्वन्ति स्म । किं वत् । जिनेन्द्रादिवत् । यथा शत्रुं जयस्यैले-
यात्रिकजनो यात्रां करोति । 'मानं वदन्तीह जिनेश्वराद्रेः' इदं काव्यं पूर्वल्लिखितमस्ति
पुराणान्तर्गतं च । पुनरन्यदपि अमुना गुरुपादुकाङ्कितस्तूपेन सेवासु स्वसेवनाकरणेषु
हेवाकिनां हेवा स्वभावः स एव शीलमस्त्येषामिति हेवाकिनस्तेषां भक्तिभरनिर्भरभा-
वानां यात्रिकजनानां कामितं वाञ्छितं पूर्यते पूर्णाक्रियते । केनेव । कामिकस्वर्गिणेव ।
यथा कामितपूरकेण गीर्वाणे भक्तकामितं पूर्यते ॥ इति स्तूपकरणतन्माहात्म्यं च ॥

तत्प्रक्रमे विजयसेनविभुर्हमांऊ-

सूनुं पृणन्सदसि लाभपुरे बभूव ।

धर्मावनीप्रियतमं पुरि लक्षणाद्य-

वत्यामिव व्रतिपुरंदरबप्पभट्टिः ॥ १९८ ॥

तत्प्रक्रमे तस्मिन् हीरविजयसूरेरुन्नतनगरे द्वितीयचतुर्मासकरणावसरे विजयसेन-
नामा विभुर्गच्छपतिलांभपुरे 'लाहोर' इति प्रसिद्धे नगरे वभूव । किं कुर्वन् । सदसि
सभायां सर्वसामन्ताद्यनेकपार्षद्यभूषितपर्वन्मध्ये हमांऊसूनुमकब्बरपातिसाहिं पृणन् संतु-
ष्टिमुत्पादयन् । क इव । बप्पभट्टिरिव । यथा व्रतिषु साधुषु पुरंदरो वासवो बप्पभट्टिनामा
सूरिः सदसि धर्मेनामा अवनी गौडजनपदमेदिनी तस्याः प्रियतमं भर्तारं धर्मेनृ-
पतिं प्रीणन् लक्षणा इति पदमाद्यं यस्यां तादृशी वती एतावता लक्षणावती गौडमण्ड-
लमण्डनं नृपराजधान्यां लक्षणावतीनामनगर्या भवति स्म ॥

वादे वादिगणान्विजित्य समरे दैत्यानिव श्रीपतिः

कीर्तिस्तम्भमिवात्मनो नृपपुरः संस्थाप्य धर्मं पुनः ।

श्यामीकृत्य मुखान्यशेषकुट्टशां पूषेव काकद्विषां

सूरिः कारयति स्म भूमिवलये स्वीयां जयोद्धोषणाम् ॥ १९९ ॥

सूरिर्विजयसेनाचार्यः भूमिवलये अखिलक्षोणीमण्डले स्वीयामात्मीयां जयोद्धोषणां
कारयति स्म सर्ववादिबृन्दविजयदक्कां वादयति स्म । किं कृत्वा । नृपपुरः पातिसाहेरग्रे
आत्मनो निजस्य प्रत्यर्थिभूतानां वादिनां पण्डितमन्यानां गणान् वादे युक्तिप्रतिगुक्ति-
स्थापनसमये विजित्य सर्वानपि पराभूय कैश्चित्कुमतिभिः कौशिकैरिव रवेस्तस्योदयम-
सहिष्णुभिः अतिद्विष्टतया बहुद्रविणप्रदानपूर्वकं विभेद्यातीव प्रेरितान् त्रिषष्ठ्यधिकत्रि-
शतीमितद्विजातीनिरुत्तरीकृत्य । क इव । श्रीपतिरिव । यथा कृष्णः समरे दैत्यान्दानवा-
न्विजयते स्म । पुनः किं कृत्वा । नृपपुरः पातिसाहेः पुरस्तात् आत्मनो निजस्य धर्मं
निजकीयजैनधर्मं संस्थाप्य जगति जैन एव धर्मः सत्यो नान्य इति स्थापयित्वा । कस्मिन् ।
कीर्तिस्तम्भमिव । यथा कश्चिद्विजयी राजा रिपून्निर्जित्य स्वकीर्तिस्तम्भं स्थापयति । पुनः
किं कृत्वा । अशेषकुट्टशां समस्तपरवादिनां मुखानि श्यामीकृत्य सकलकुपाक्षिकान्

कृष्णमुखान्निर्मय । क इव । पूषेव । यथा भानुमान् काकद्विषां कौशिकानां श्यामानि वक्राणि कुरुते ॥ इति वादे विजयसेनसूरिविजयः ॥

तस्य स्फुरन्मानमकब्धरेण प्रीत्या स्फुरन्मानमिवार्पयित्वा ।

• स बन्धुवत्स्वीयजनैरुपेतः संप्रेषितो हीरगुरोः समीपे ॥ २०० ॥

स विजयसेनसूरिः बन्धुवत् आतेव स्वीयजनैरात्मीयमनुजैरुपेतः सहितः सन् गुरोः स्वर्गगमनात्प्राक्समये हीरगुरोः समीपे संप्रेषितः पातिसाहिना प्रहितः । किं कृत्वा । प्रस्थापितः स्फुरद्दीप्यमानं जगच्चेतश्चमत्कारकारि मानं संमानमिव स्फुरन्मानम् महिषी-महिषगोवृषभा एते चत्वारोऽपि कदापि केनापि न हन्तव्याः तथा केनापि मदाज्ञावशव-र्तिनां मत्सेवकेन जना बन्दीकर्तव्या न नैवावश्यम् इति खहस्तमुद्राङ्कितलेखमर्पयित्वा । कस्य । तस्य विजयसेनसूरेः । कया । प्रीत्या स्नेहेन प्रमोदेन वा ॥ इति साहिना विजय-सेनसूरेर्गुरुसमीपे प्रेषणम् ॥

सोऽप्याकर्णितहीरसूरिमघवाङ्गापाटवः संचर-

न्यावद्गुर्जरदेशलक्ष्मितिलकं संप्राप्तवान्पत्तनम् ।

संतप्तत्रपुराशिसिञ्चनमिव श्रुत्योरशर्मावहं

स्वर्लोकोपगमं गुरोर्गणधरस्तावत्समाकर्णयत् ॥ २०१ ॥

सोऽपि विजयसेनसूरिरपि तावद्गुरोः हीरसूरेः स्वर्लोकोपगमं देवलोके पादावधारणं समाकर्णयत् सम्यक् सत्यत्वेन श्रुतवान् । स किंभूतः । गणधरो गुराडुपरते स एव ग-च्छधारकः । किम् । श्रुत्योः श्रवणयोर्बहुजनस्य मिथ्यादृशमपि अशर्मावहं दुःखविधाय-कम् । किमिव । संतप्तानामुष्णीकृतानां रसीभूतानां च त्रपुणां राशिर्वजस्तस्य सिञ्चनं निर्भ-रतया मध्येऽभिषेचनमिव । तावत्किम् । यावत्सोऽपि सूरिरपि आकर्णितं लोकप्रवृत्ति-परम्परया लेखोदन्तावगमनेन श्रुतं हीरसूरिमघोनः श्रीहीरविजयसूरीन्द्रस्याङ्गे शरीरे अपाटवं रोगादिभिरपटुतामसमाधियेन । अत एव संचरन्ननवच्छिन्नप्रयाणैश्चतुर्मासकम-ध्येऽपि त्वरिततरं पथि प्रतिष्ठमानः प्रचलन् सन् गुर्जरदेशस्य तिलके लक्ष्मितिलको-पमानं पत्तनमणहिलपाटकपुटभेदनं यावता कालेन यस्मिन् समये वा संप्राप्तवान् । यावता पत्तने समेत इत्यर्थः ॥

श्रुत्वा तद्वज्राहत इवाभवद्वाष्पपूर्णनयनयुगः ।

एष पुनर्दुःखादिदमजीगदद्गदध्वनितः ॥ २०२ ॥

एषः विजयसेनसूरिः तद्गुरोः स्वर्लोकगमनं श्रुत्वाकर्ण्य वाष्पैरभ्युज्जलैः पूर्णं निर्भर-भूतं नयनयुगं लोचनद्वन्द्वं यस्य तादृशः सन् वज्रेण पुरंदरदम्भोलिना उरसि वक्षसि वा आहतस्ताडित इवाभवत्संजातः । पुनः श्रवणानन्तरमेष सूरिः दुःखादसातोदयाद्-

द्रदः अपटुरस्पष्टाक्षरमुपविष्टकण्ठपीठं वा यत्र तादृक् ध्वनितं शब्दो यस्य तादृशः
सन्निदमग्रे वक्ष्यमाणमजीगदद्रदति स्म ॥

उच्छिन्नः सुरभूरुहोऽप्यपगता स्वर्धामधेनुः पुन-

र्भन्नः कामघटो मणिः सुमनसां चूर्णीवभूव क्षणात् ।

दग्धा चित्रलता गतः शकलतां हा दक्षिणावर्तभू-

त्कम्बुः स्वर्गिगृहं गते त्वयि गुरौ श्रीहीरसूरीश्वरः ॥ २०३ ॥

हे श्रिया गणलक्ष्म्या शोभया वा युक्त हीरविजयसूरीश्वरगुरो, त्वयि श्रीमति स्व-
र्गिणां देवानां गृहं गते देवलोकं प्राप्ते सति अत्र जगति सुरभूरुह उच्छिन्न उच्छेदं प्राप्ते
पुनर्न भविता । हा इति खेदे । सर्वत्र योज्यम् । अपि पुनः स्वर्धामानो देवास्तेषां धेनुः
गौः । कामधेनुरित्यर्थः । अपगता मृता । 'व्यापन्नोऽपगतो मृतः' इति हेम्याम् । हा इति
खेदे । कामघटः कामकुम्भो भग्नः विकरीभूतः । पुनर्हा दक्षिणदेशे आवर्तं बलयाकारं
विभर्तीति तादृशः कम्बुः दक्षिणावर्तशङ्खः शकलतां खण्डभावं गतः प्राप्तवान् ॥

हा हा भूधनबोधनैकविविध श्रीसूरिचूडामणे

हा सिद्धान्तसमुद्रमन्दरगिरे हा शासनाहर्मणे ।

हा हा यौक्तिकवाक्पुरंदरगुरो वैराग्यवारांनिधे

हा कारुण्यनिधे विधेर्वशतया त्वं कुत्र यातः प्रभो ॥ २०४ ॥

हा हा इति पुनः पुनः खेदवाक्ये । यथा नाचराजकविकृतायां भोजमुञ्जराजादिप्रतिमानां
पुरो दुःखोद्गारस्तुतौ 'हा हा हालनितान्तकान्तकवितालंकार हा मा क्षोणीनायक-
मुञ्जपुञ्जयशसां हा भोज भूवल्लभ' इत्यादि । हे भूधनस्य राज्ञः मुद्रलपातिसाहेरकम्बरस्य
बोधने प्रतिबोधविधाने एकविविध अद्वैतनैपुण्यवान् । तथा श्रिया ज्ञानवैराग्यप्रतिरूपा-
दिलक्ष्मीकलिता ये सूरयो भञ्जरकास्तेषां चूडामणे । हा इति दुःखबाहुल्यात्पुनर्हाशब्दो-
च्चारणम् । हे सिद्धान्तः समग्रजैनागमः स एव दुरवगाहत्वाद्वहुत्वाच्च समुद्रस्तस्यावगा-
हने मध्यप्रवेशनागाघतापरिच्छेदपरिच्छेदरहस्यामृतग्रहणे मन्दरगिरे । पुनर्हा शासनं
जैनदर्शनं तत्राहर्मणे सहस्रकिरण । पुनर्हा इत्यनन्यसामान्यदुःखशोके । यौक्तिका
सम्यक्सिद्धान्तानुगतकुमतनिराकरणादियुक्त्या उपेता । अथ वा परकृतपूर्वपक्षनिराक-
रणैकप्रगल्भा या सिद्धान्तरूपा सिद्धान्त उत्तरपक्षः प्रतिपक्षकृतपूर्वपक्षनिरुत्तरीकरणं
संदेहनिराकरणं च । यथा 'अनुरूपमिदं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् । गुवसु
व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥' इति नैषधे । यौक्तिका चासौ वाक् तत्र
पुरंदरगुरो वाचस्पते । पाठान्तरे सैद्धान्तिकवाक् इति । तथा वैराग्यं संसारविरक्तताया
वारांनिधे समुद्र । हा इति शोचने । कारुण्यस्य कृपाया निधे निधान । एतानि सर्वा-

अपि संबोधनानि । विधेदैवस्य वशतया आयत्तत्वात् हे प्रभो, त्वं कुत्र कस्मिन् स्थाने ।
अस्मान्प्रियविनेयान्मुक्त्वेत्यध्याहार्यम् । यातोऽसि गतवानसि ॥

अद्यास्तं गतवान्सहस्रकिरणश्चन्द्रोऽपि तन्द्रां गतः

शुष्कः क्षीरनिधिविधेर्विलसितैर्मैरुर्विलीनः पुनः ।

भूमौ श्रीजिनसार्वभौमविभवभ्राजिष्णुतां बिभ्रति

श्रीसूरीश्वरहीरहीरविजये गीर्वाणगेहं गते ॥ २०५ ॥

● भूमौ निखिले मेदिनीमण्डले जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेषां सार्वभौमाश्चकवर्तिनस्ती-
र्थकरास्तद्विभवो मतिमाहात्म्यलक्ष्मीस्तेन भ्राजिष्णुतां शोभनशीलताम् । 'तिच्छयरस-
भोसूरी' इति वचनात् । बिभ्रति धारयति श्रिया सूरिलक्ष्म्या युक्ता ये सूरय आचार्या-
स्तेषामीश्वराः स्वामिनः भट्टारकाः । एकेषां भट्टारकाणां बहवः सूरिपदधारिणो भवेयुरिति
अतिशोभाभाजो वा भट्टारकास्तेषु हीरे रत्नमुख्यायमाने नायकमणौ 'नगीना' इति प्र-
सिद्धे हीरविजयसूरीन्द्रे गीर्वाणगेहं स्वर्गं गते सति एवंविधः समयः संजातः । अथ वा
एवं ज्ञायते अस्मद्विधैः । अथैव सहस्रकिरणः सूर्योऽस्तं गतवान् जिनशासनदिवाकरो-
ऽस्तमितः । तथा चन्द्रोऽपि सुधाकरोऽपि तन्द्रां निद्रां प्रमादम् । अत्र दीर्घनिद्रामित्यर्थः ।
गतः । 'जइ मेहु जम्पमाऊ इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए' इति संस्कारकविधिवचनात् । तथा
'तन्द्रा निद्राप्रमादयोः' इत्यनेकार्थतिलके । सर्वेषामप्याह्लादकत्वेन जिनशासनचन्द्रः काल-
धर्ममुपेतः । पुनरथ क्षीरनिधिः दुग्धार्णवः शुष्कः शोषं प्राप्तः । असाधारणसिद्धान्तरह-
स्यक्षीरसमुद्रो निर्नीरीभूतः । कैः । विधेदैवस्य विलसितैर्विजृम्भितैर्दैवनिर्माणैः । एतत्पदमत्र
काव्ये चतुर्विध्यर्थेषु योज्यम् । पुनर्मैरुलक्षयोजनमितो मन्दरगिरिर्विलीनो गलित्वा गतो
विलयं क्षयं वा प्राप्तः । माहात्म्यमेरुपर्वतोऽपि विलीय गतः ॥

गर्जन्ति प्रतिमन्दिरं प्रमुदिता मिथ्यादृशः कौशिकाः

श्रीमत्संघसरोजकाननमिदं म्लानि च धत्तेऽधुना ।

संप्राप्तप्रसराः स्फुरन्ति परितो नक्तंचरा दुर्दृशो

यातेऽस्तं गवि हीरसूरितरणौ स्फूर्तिं तमः शीलति ॥ २०६ ॥

गवि पृथिव्यां गगने च हीरसूरीर्हीरविजयसूरिरेव तरणिः सहस्रकिरणस्तस्मिन्नास्तं
निधनं द्वीपान्तरं च । यदुक्तं सूक्तम्—'तेजोवसाने व्रजति द्वीपान्तरमहर्मणिः' इति । याते
प्राप्ते सति प्रतिमन्दिरं गृहं गृहं प्रति प्रमुदिताः प्रमोदं प्राप्ताः सन्तः कौशिकाः घूका इवेति
गमितोपमा । उत्प्रेक्ष्यते वा—उल्ला इव । मिथ्यादृशो मिथ्यात्वभाजो गर्जन्ति गर्जारवं
कुर्वते । यदथास्मन्मतोच्छेदकः कोऽपि नास्ति तपु(?) नाव्यन्ति । च पुनरधुना इदानींत-
नसमये इदं प्रत्यक्षं श्रीमन्नरारविन्दचञ्चरीकोपमं श्रीमत्पञ्चमहाव्रताणुव्रतप्रमुखगुणल-

क्षमीकलितं शोभायुक्तं वा साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपचातुर्वर्ण्यसंघः स एव सरोजं-
काननं कमलवनं म्लानिं संकोचं धत्तेऽञ्चति विच्छाद्यीभूतमास्ते । पुनः संप्राप्तप्रसरा-
दितावकाशा लब्धप्रस्तावा नक्तंचरा राक्षसा इव चौरा इव वा कदाचारा दुर्दृशो दुष्ट-
दर्शनाः कुपाक्षिकाः कुमतानि परितश्चतुर्दिक्षु प्रसरन्ति सर्वतो भ्राम्यन्ति । पुनस्तमः
शोकोऽज्ञानं पापं च । 'तमो गुणोऽपि ध्वान्तं तमः शोके तस्मिन्ने च । गुणभेदे विध्वान्तं
पापे च' इत्यनेकार्थतिलके । स्फूर्तिं बलवत्तां प्रकटीभावं च शीलति भजते । रजनीवि-
लसितमासीदिति श्रीमत्सु सत्सु चतुर्थारक एव केवलं संजातोऽभूत्, अधुना पुनः
पञ्चमारकः प्रादुरासीदिति ॥ इति विजयसेनसूरेर्गुरौ दिवं गते खेदवाक्यानि ॥

कातर्यमुत्सृज्य विधाय धैर्यं दुःखं तनूकृत्य स कृत्यविज्ञः ।

गणं गणेन्द्रो गुणिनां वरेण्यः प्राचीनसूरीन्द्र इवावति स्म ॥ २०७ ॥

स गणेन्द्रो विजयसेनगणनायकः प्राचीनसूरीन्द्रः पूर्वाचार्य इव गणं तपागच्छम्
अवति स्म पालयामास । किंभूतः । गुणिनां गुणवतां वरेण्यः श्रेष्ठः । किं कृत्वा । कातर्यं
कातरत्वं श्रीगुरुविरहेण विधुरीभावमुत्सृज्य त्यक्त्वा । च पुनः किं कृत्वा । धैर्यं धीरभावं
विधाय आलम्ब्य । पुनर्दुःखं गुरुविरहासादितं तनूकृत्य स्वल्पं प्रणीय । किंभूतः । कृत्येषु
धर्मादिकार्येषु विज्ञश्चतुरः ॥

श्रीसूरिहीरविजये भजति द्युलोक-

मभ्युद्गते विजयसेनगणावनीन्द्रे ।

प्रीतिं जना दधति शीतरुचौ प्रयाते

क्षेत्रान्तरं समुदितैः शुभतीव कोकाः ॥ २०८ ॥

श्रिया युक्तः सूरिर्हीरविजय एतावता हीरविजयसूरिवरे द्युलोकं स्वर्गं भजति तथा
विजयसेनान्नि गणावनीन्द्रे गणनायके अभ्युद्गते उदयं भजमाने सति जना भविक-
लोकाः प्रीतिं धर्मेक्षेहं प्रमोदं वा दधति बिभ्रति । के इव । यथा शीतरुचौ चन्द्रे क्षे-
न्तरमन्यक्षेत्रं पश्चिममहाविदेहक्षेत्रं प्रयाते । तथा अंशुमति भासुमालिनि समु-
सति कोकाः चक्रवाकाः प्रीतिं परस्परवियोगापगमादानं दधते ॥

सोः

॥

तत्पट्टोदयभूधरभास्वान्श्रीविजयदेवसूरीन्द्रः ।

भजते तपगणराज्यश्रियमुर्वीसार्वभौम इव ॥ २०९ ॥

सौ-

तस्य विजयसेनसूरेः पट्टः पदं स एवोदयभूधर उदयाचलस्तत्र भास्वान् सहस्रकि-
रणः श्रिया तपागणलक्ष्म्यान्वितो विजयदेवसूरीन्द्रः अधुना इदानींतनसमये वृत्तिवि-
धानावसरं तपगणस्य तपागच्छस्य राज्यश्रियं भजते । क इव । उर्वीसार्वभौम इव ।
यथा चक्रवर्ती उर्वी भजते पालयति ॥

सीहगिरेरिव वज्रस्वामी तस्यैष पदपयोधिविधुः ।

• श्रीविजयदेवसूरिक्षोणीन्द्रः पर्वतायुः स्यात् ॥ २१० ॥

श्रीसीहगिरिसूरेरिव श्रीमान् वज्रस्वामी तस्य विजयसेनसूरेः पदं पटः स एव प-
योधिः समुद्रः तदुल्लासविधाने विधुः शारदीनशर्वरीवरयिता एष सकलकुवलयप्रतिबो-
धविधायकः श्रीमान् सर्वत्र शोभाविभ्राजिष्णुः विजयदेवसूरिः पर्वतायुः पर्वतानां
महागिरीणामिवासंख्यवर्षायुस्तस्याद्भवतात् ॥

अथाशीर्वचनम्—

यावन्मार्तण्डमुख्यग्रहगणकलितो भूभृतां चक्रवर्ती

प्रीतिं पीयूषपूरैः सृजति जनदृशां शार्वरीसार्वभौमः ।

यावत्पाथोजपाणिर्हरिदलसदृशामास्यपद्मप्रकाशी

यावद्भूपीठभारं भजति निजफणामण्डलैः कुण्डलीन्द्रः ॥ २११ ॥

तावदिति काव्यसंबन्धोऽप्रे वक्ष्यते । यावन्तं समयं भूभृतां सर्वपर्वतानां सर्वोन्न-
तत्वात् लक्ष्ययोजनमितत्वात्तीर्थकृतां जन्माभिषेकस्थानत्वाच्च परशासनेऽपि 'दिवमङ्गा-
दमराद्रिरागताम्' इत्युक्तत्वेन स्वर्गाधारत्वाच्च चक्रवर्ती सुमेरुः । अथ वा 'सातकुम्भाव-
नीभृत्' इति पाठः । सुवर्णाचलो वर्तते । किंभूतः । मार्तण्डो भास्करो मुखयोऽग्रणीः
प्रधानो येषु तादृशाः ग्रहाः सोममङ्गलाद्या अष्टाशीतिसंख्या उपलक्षणान्नक्षत्रतारकास्तेषां
गणाः समूहास्तैः कलितो युक्तः । तथा यावन्तमनेहसं शार्वरीसार्वभौमश्चन्द्रमाः । किं-
भूतः । जनदृशां लोकलोचनानां पीयूषपूरैः सुधारसप्रसरैः प्रीतिं सृजति । प्रीणातीत्यर्थः ।
तथा यावत्पाथोजपाणिः सहस्रकिरणो विद्यते । किंभूतः । हरितो दिश एवालसदृशो मृ-
गाक्ष्यस्तासामास्यानि मुखान्येव पद्मानि विकाशयतीत्येवंशीलः । तथा यावत्कुण्डलीन्द्रो
नागराजः शेषनागः भूपीठभारं मेदिनीमण्डलभारं भजति । वहतीत्यर्थः । कैः । निजैरा-
स्यैः फणामण्डलैः सहस्रफणैः ॥

यावज्जम्भारिधूमध्वजजलजसुहृत्सूनुर्क्षःसवन्ती-

कान्तावासाहिकान्तत्रिनयनसवयःपार्वतीशा दिगीशाः ।

यावत्पाथोधिपृथ्वीधरगुरुगुरुतां बिभ्रती रत्नगर्भा

जन्तूयावत्पुनाति त्रिभुवनभवनान्भारती विश्वभर्तुः ॥ २१२ ॥

यान्तं कालं जम्भारिः पुरंदरः, धूमध्वजो वह्निः, जलजानां पद्मानां सुहृन्मित्रं
न्, तस्य सूनुर्नन्दनो यमः, रक्षो नैर्ऋतिः, सवन्तीकान्तो नदीपतिः समुद्रः तत्र वासो
यस्य सोऽर्णवमन्दिरो वरुणः, अहिकान्तो वायुः, त्रिनयनस्य सवयः मित्रमीशसखा
ः, पार्वत्या गौर्या ईशो वल्लभः शंभुः । 'दण्डधरोऽर्कसूनुः', तथा 'वरुणस्त्वर्णवमन्दिरः

प्रचेताः', तथा 'वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्प्रकम्पनाः', तथा 'पशुप्रमथभूतोमापतिः', एतानि चत्वार्यप्युक्तपदानि हैम्याम् । एते सर्वेऽपि दिगीशा दिक्पाला वर्तन्ते । तथा यावद्रत्नगर्भा भूरास्ते । किं कुर्वती । पाथोधीनां सर्वसमुद्राणां तथा यावद्रसुधावलयवर्तिनां पृथ्वीधराणां मेरुप्रमुखपर्वतानां च गुरुमतिशायिनीं गुरुतां गरिमाणं भारभरं विभ्रती धारयन्ती । तथा यावद्विश्वभर्तुर्ब्रैलोक्यनायकस्य तीर्थंकरस्य भारती सिद्धान्तरूपा वाणी त्रिभुवनभववान् स्वर्गपातालभूमिषु गृहाणि येषां तादृशान्नाकिनागनागराजन्तून् प्राणिनः पुनाति पवित्रयति तारयति ॥

स्थेमानं गाहमानो बलमथनपथे यावदौत्तानपादि-

यावत्कल्लोलमालाविलिखितदिविषद्विधतिः सिन्धुकान्तः ।

यावत्सिद्धस्रवन्तीतपनतनुरुहाभारतीसंगमश्च

श्रीमत्पाश्र्वप्रसादाज्जगति विजयतां हीरसौभाग्यकाव्यम् ॥ २१३ ॥

यावत्समयं बलमथनपथे गगनाङ्गणे उत्तानपादस्य राज्ञोऽपत्यमौत्तानपादिः ध्रुवः स्थेमानमतिशयेन स्थिरतां गाहते अवलम्बते । च पुनर्यावत् कल्लोलमालाभिस्तरङ्गराजीभिः विलिखिता स्पृष्टा व्याप्ता दिविषदां देवानां पद्धतिर्माणो व्योम येन तादृशः सिन्धुकान्तः । तथा च पुनर्यावत्सिद्धस्रवन्ती गङ्गा, तथा तपनतनुरुहा सूर्यपुत्री यमुना, तथा भारती सरस्वती, तासां तिसृणां संगमो वर्तते । तावन्तं समयं श्रीमत्ब्रैलोक्यलक्ष्मीकलितस्य पार्श्वस्य श्रीपार्श्वनाथस्यार्थात् श्रीमच्चिन्तामणिपार्श्वनाथस्य प्रसादाज्जगति महीमण्डले इदं हीरसौभाग्यं काव्यं विजयतां सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रवर्तताम् ॥ इति ग्रन्थावसाने श्रीमत्पार्श्व इति मङ्गलाभिधानम् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते संमदा-

त्सर्गः सप्तदशो बभूव चरिते श्रीहीरसूरिप्रभोः ॥ २१४ ॥

अत्र हीरसौभाग्यनामकाव्ये संमदादानन्दादेवविमलेन व्यावर्णिते श्रीहीरसूरिप्रभोः श्रीहीरविजयसूरीश्वरस्य चरिते गुणोत्कीर्तनरूपे चरित्रे सप्तदशः सर्गो बभूव संजातः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्वोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ श्रीशत्रुंजयोत्तरणप्रस्थानशत्रुंजयासिन्धूत्तरणाजयपार्श्वनाथयात्रावृत्तौ तदागमागतमहिमवर्णनद्वीपसंघसंमुखागमनोन्नतनगरपवित्रीकरणसंलेखनाराधनाविनाशनाविधाननशनपूर्वकखलौकगमनविजयसेनसूरिगणैश्वर्यकथनविजयदेवसूरिपुरंदरसंप्रतिराज्यप्रवर्तनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

प्रशस्तिसूत्रम् ।

श्रीपतिरिव संपद्भिः श्रीपतिनामा विशारदेन्दुरभूत् ।
 दिक्कुम्भिवद्धभूर्यस्याष्टौ पण्डितोत्तंसाः ॥ १ ॥
 वैराग्यैर्लब्धभिरपि भाग्यैः सौभाग्यवैभवैरधिकैः ।
 यस्य समो न परोऽभूद्भानोरिव कोऽपि तेजोभिः ॥ २ ॥
 यन्मनुजशिष्यवृषभस्त्रिजगद्विद्वत्पुरंदरः समभूत् ।
 चतुरास्यः कविरगणितयदुणगणनाचिकीरासीत् ॥ ३ ॥
 श्रीमज्जगर्षिविवुधो जम्बुरिव शीललीलया जज्ञे ।
 यत्तपसस्तेजोरविरसासहिर्गगन इव गतवान् ॥ ४ ॥
 षट्पायानामिव यो विराधनाः प्रोज्झति स्म षड्विकृतीः ।
 निर्विकृतिकान्यशेषाप्यपि विजहौ दुःकृतानीव ॥ ५ ॥
 यावज्जीवं गौतम इव षष्ठैः पारणां विभुर्विदधे ।
 पुनरेकस्मिन्स्थाने भक्तजले विरचयांचक्रे ॥ ६ ॥
 लुम्पाकैर्लुण्टाकैरिव लुण्ठितनिखिलबोधिबीजधनम् ।
 व्याप्तं तद्वर्गेण च तमोगुणेनेव भूतपतिम् ॥ ७ ॥
 सौराष्ट्रजनपदं यः प्रतिबोधितवाननन्यमहिमनिधिः ।
 वज्रस्त्रामी सौगतजनैर्यथा बौद्धधरणिधवम् ॥ ८ ॥ (युग्मम्)
 प्रस्रवणममृतमिव गदगणान्गुरोः शमयति स्म मूर्तिमताम् ।
 देवा अपि यत्सेवां भक्ता इव कुर्वते तपसा ॥ ९ ॥
 नृपमालदेवपृष्ठे प्रविष्टवान्यद्विवाददरितमनाः ।
 योधपुरे किल पाशादिनचन्द्रो वाचकः सुचिरम् ॥ १० ॥
 विष्णोः श्रीरिव हृदये रमते स्मैकादशाङ्गि(ङ्गि)कायस्य ।
 भेजुरनेके मुनयोऽप्युपकारिणमिव गणाधीशम् ॥ ११ ॥
 श्रीसीहविमलविबुधस्तस्य विनेयोऽजनिष्ट शिष्टबुधः ।
 यद्विषणाजितधिषणोऽध्येतुं दिवि कविसमीपेऽगात् ॥ १२ ॥

प्रचेताः', तथा 'वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्प्रकम्पनाः', तथा 'पशुप्रमथभूतोमापतिः', एतानि चत्वार्यप्युक्तपदानि हैम्याम् । एते सर्वेऽपि दिगीशा दिक्पाला वर्तन्ते । तथा यावद्रत्नगर्भा भूरास्ते । किं कुर्वती । पाथोधीनां सर्वसमुद्राणां तथा यावद्वसुधावलयवर्तिनां पृथ्वीधराणां मेरुप्रमुखपर्वतानां च गुरुमतिशायिनीं गुरुतां गरिमाणं भारभरं बिभ्रती धारयन्ती । तथा यावद्विश्वभर्तुर्लोक्यनायकस्य तीर्थंकरस्य भारती सिद्धान्तरूपा वाणी त्रिभुवनभवनान् स्वर्गपातालभूमिषु गृहाणि येषां तादृशान्नाकिनागनागराज्रन्तून् प्राणिनः पुनाति पवित्रयति तारयति ॥

स्थेमानं गाहमानो बलमथनपथे यावदौत्तानपादि-

र्यावत्कलोलमालाविलिखितदिविषत्पद्धतिः सिन्धुकान्तः ।

यावत्सिद्धस्रवन्तीतपनतनुरुहाभारतीसंगमश्च

श्रीमत्पार्श्वप्रसादाज्जगति विजयतां हीरसौभाग्यकाव्यम् ॥ २१३ ॥

यावत्समयं बलमथनपथे गगनाङ्गणे उत्तानपादस्य राज्ञोऽपत्यमौत्तानपादिः ध्रुवः स्थेमानमतिशयेन स्थिरतां गाहते अवलम्बते । च पुनर्यावत् कलोलमालाभिस्तरङ्गराजीभिः विलिखिता स्पृष्टा व्याप्ता दिविषदां देवानां पद्धतिर्माणो व्योम येन तादृशः सिन्धुकान्तः । तथा च पुनर्यावत्सिद्धस्रवन्ती गङ्गा, तथा तपनतनुरुहा सूर्यपुत्री यमुना, तथा भारती सरस्वती, तासां तिष्ठणां संगमो वर्तते । तावन्तं समयं श्रीमत्तल्लोक्यलक्ष्मीकलितस्य पार्श्वस्य श्रीपार्श्वनाथस्यार्थात् श्रीमच्चिन्तामणिपार्श्वनाथस्य प्रसादाज्जगति महीमण्डले इदं हीरसौभाग्यं काव्यं विजयतां सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रवर्तताम् ॥ इति ग्रन्थावसाने श्रीमत्पार्श्व इति मङ्गलभिधानम् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते संमदा-

तर्गः सप्तदशो बभूव चरिते श्रीहीरसूरिप्रभोः ॥ २१४ ॥

अत्र हीरसौभाग्यनामकाव्ये संमदादानन्दाद्देवविमलेन व्यावर्णिते श्रीहीरसूरिप्रभोः श्रीहीरविजयसूरीश्वरस्य चरिते गुणोत्कीर्तनरूपे चरित्रे सप्तदशः सर्गो बभूव संजातः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ श्रीशत्रुंजयोत्तरणप्रस्थानशत्रुंजयासिन्धूत्तरणाजयपार्श्वनाथयात्राकुराणतदागमागतमहिमवर्णनद्वीपसंघसंमुखगमनोन्नतनगरपवित्रीकरणसंलेखनाराधनाविनाशनाविधाननशनपूर्वकखलोकगमनविजयसेनसूरिगणैश्वर्यकधनविजयदेवसूरिपुरंदरसंप्रति राज्यप्रवर्तनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

प्रशस्तिसूत्रम् ।

- श्रीपतिरिव संपद्भिः श्रीपतिनामा विशारदेन्दुरभूत् ।
दिक्कुम्भिवह्नभूर्वर्यस्याष्टौ पण्डितोत्तंसाः ॥ १ ॥
वैराग्यैर्लब्धभिरपि भाग्यैः सौभाग्यवैभवैरधिकैः ।
यस्य समो न परोऽभूद्भानोरिव कोऽपि तेजोभिः ॥ २ ॥
यन्मनुजशिष्यवृषभस्त्रिजगद्विद्वत्पुरंदरः समभूत् ।
चतुरास्यः कविरगणितयदुणगणनाचिकीरासीत् ॥ ३ ॥
श्रीमज्जगर्षिविवुधो जम्बुरिव शीललीलया जज्ञे ।
यत्तपसस्तेजोरविरसासहिर्गगन इव गतवान् ॥ ४ ॥
षट्पायानामिव यो विराधनाः प्रोज्झति स्म षड्विकृतीः ।
निर्विकृतिकान्यशेषाण्यपि विजहौ दुःकृतानीव ॥ ५ ॥
यावज्जीवं गौतम इव षष्ठैः पारणां विभुर्विदधे ।
पुनरेकस्मिन्स्थाने भक्तजले विरचयांचक्रे ॥ ६ ॥
लुम्पाकैर्लुण्टाकैरिव लुण्ठितनिखिलबोधिबीजधनम् ।
व्यासं तद्वर्गेण च तमोगुणेनेव भूतपतिम् ॥ ७ ॥
सौराष्ट्रजनपदं यः प्रतिबोधितवाननन्यमहिमनिधिः ।
वज्रस्वामी सौगतजनैर्यथा बौद्धधरणिधवम् ॥ ८ ॥ (युग्मम्)
प्रस्रवणममृतमिव गदगणान्गुरोः शमयति स्म मूर्तिमताम् ।
देवा अपि यत्सेवां भक्ता इव कुर्वते तपसा ॥ ९ ॥
नृपमालदेवपृष्ठे प्रविष्टवान्यद्विवाददरितमनाः ।
योधपुरे किल पाशादिनचन्द्रो वाचकः सुचिरम् ॥ १० ॥
विष्णोः श्रीरिव हृदये रमते सैकादशाङ्गि(ङ्गि)कायस्य ।
भेजुरनेके मुनयोऽप्युपकारिणमिव गणाधीशम् ॥ ११ ॥
श्रीसीहविमलविबुधस्तस्य विनेयोऽजनिष्ट शिष्टबुधः ।
यद्विषणाजितधिषणोऽध्येतुं दिवि कविसमीपेऽगात् ॥ १२ ॥

यो गौतमनामानं सभासमक्षं जिगाय वादीन्द्रम् ।

श्रीदेवसूरिविरिव कुमुदादिमचन्द्रदिग्वसनम् ॥ १३ ॥

नारायणदुर्गाद्या भूमीन्द्रा येन रञ्जिताः स्वर्गे ।

राजसिंहदेवमुख्या हेमादिमचन्द्रगुरुणेव ॥ १४ ॥

यश्चन्द्रभाणसंज्ञं कायस्थं मण्डलीकमिव भूमौ ।

निजभक्तं शिष्यमिव प्रणीतवान्वचनचातुर्यात् ॥ १५ ॥

मिथ्यात्व मनसो निरस्य विलसद्वाचां विलासैर्निजै-

स्तस्मिन्स्थापयति स धर्ममनघं स्थानादिसिंहस्य यः ।

दाघं घोरनिदाघधर्मघटितं प्रावृट्पयोद्वजो

दृष्टीनां पटलैरिवामृतरसं भूमण्डलस्यान्तरा ॥ १६ ॥

जिनवृषभसमवसरणप्रकरं यः कारयांचकार जनैः ।

सूर्यभदेव इव निजयज्ञाभ्यवहारनिवहेन ॥ १७ ॥

योऽर्चा भागवतीया भविकप्रकरेण कारयांचक्रे ।

आर्यसुहृस्तिव्रतिपतिरिव संप्रति वसुमतीविधुना ॥ १८ ॥

तच्चरणकमलमानससद्गोपमविबुधदेवविमलेन ।

निरमायि काव्यमेतत्प्रमोदतो हीरसौभाग्यम् ॥ १९ ॥

तस्य स एव व्यदधात्सुखावबोधाभिधां पुनर्वृत्तिम् ।

श्रीहेमचन्द्रगुरुरिव निजनिर्मितनाममालायाः ॥ २० ॥

कल्याणविजयवाचकवासवशिष्येण काव्यमिदमखिलम् ।

समशोध्यत धनविजयाभिधवाचकवसुमतीपतिना ॥ २१ ॥

यत्किंचिदप्यवद्यं भवेदिहानुग्रहं प्रणीय मयि ।

संशोध्यं तद्विबुधैः साधिममुखगुणमणीनिधिभिः ॥ २२ ॥

इति ग्रन्थप्रशस्तिः ।

॥ शुभं भूयात् ॥